श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

महर्षि वेदव्यास-प्रणीत

श्रीमद्भागवत-महापुराण

(सचित्र, हिन्दी-अनुवादसहित)

द्वितीय खण्ड

(स्कन्ध ८ से १२ तक)

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

महर्षि वेदव्यास-प्रणीत

श्रीमद्भागवत-महापुराण

(सचित्र, हिन्दी-अनुवादसहित)

द्वितीय खण्ड

(स्कन्ध ८ से १२ तक)

अनुवादक—

मुनिलाल

श्रीभगवान्

तत्कैशोरं तच्च वक्त्रारविन्दं तत्कारुण्यं ते च लीलाकटाक्षाः ।
तत्सौन्दर्यं सा च मन्दस्मितश्रीः सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेषु ॥

श्रीकृष्णः शरणं मम

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्

पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्

कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

जिनके कोमल हाथ मुरलीसे सुशोभित हो रहे हैं, जिनके शरीरकी आभा नूतन जलधरके समान नीली है, तथा जिनके पीले वस्त्र, बिम्बफलके समान लाल-लाल ओठ, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश सुन्दर मुख और कमल-जैसे खिले हुए बड़े-बड़े नेत्र हैं—उन श्रीकृष्णको छोड़कर मैं दूसरे किसी तत्त्वको नहीं जानता ।

श्रीभगवान्

तत्कैशोरं तच्च वक्त्रारविन्दं तत्कारुण्यं ते च लीलाकटाक्षाः ।
तत्सौन्दर्यं सा च मन्दस्मितश्रीः सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेषु ॥

श्रीकृष्णः शरणं मम

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

जिनके कोमल हाथ मुरलीसे सुशोभित हो रहे हैं, दिव्य अङ्गोंकी आभा नूतन जलधरके समान साँवली है; तथा जिनके पीले वस्त्र, बिम्बफलके समान लाल-लाल ओठ, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश सुन्दर मुख और कमल-जैसे खिले हुए बड़े-बड़े नेत्र हैं—उन श्रीकृष्णसे बढ़कर मैं दूसरे किसी तत्त्वको नहीं जानता ।

वंशीवट कालिन्दी तट नट नागर नित्य निहारें ।

श्रीहरिः

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

अध्याय विषय	पृष्ठ

एकादश स्कन्ध

द्वादश स्कन्ध

चित्र-सूची

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

अष्टम स्कन्ध

ईश्वरोऽप्यभवद्भिक्षुर्वामनोऽपि त्रिभिः क्रमैः ।
त्रीँल्लोकान् क्रान्तवान् यो वै स कृष्णः कुरुतात्कृपाम् ।।

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवत

अष्टम स्कन्ध

पहला अध्याय

पहले चार मन्वन्तरोंका वर्णन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

राजोवाच

स्वायम्भुवस्येह[1] गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः ।
यत्र[2] विश्वसृजां सर्गो मनूनन्यान्वदस्व नः ॥ १ ॥
यत्र[3] यत्र हरेर्जन्म कर्माणि च महीयसः ।
गृणन्ति कवयो ब्रह्मंस्तानि नो वद शृण्वताम् ॥ २ ॥
यद्यस्मिन्नन्तरे[4] ब्रह्मन्भगवान्विश्वभावनः ।
कृतवान्कुरुते कर्ता[5] ह्यतीतेऽनागतेऽद्य वा ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—हे गुरो! जिसमें [देवहूति आदि कन्याओंके द्वारा मरीचि आदि] प्रजापतियोंकी वंशपरम्परा चली थी उस स्वायम्भुव मनुके वंशका विवरण मैं विस्तारपूर्वक सुन चुका । अब मुझसे अन्य मनुओंका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥ हे ब्रह्मन् ! जिस-जिस प्रसङ्गमें महामहिम श्रीहरिके जन्म और कर्मोंका कवियोंने वर्णन किया है, वह सब सुननेकी इच्छावाले हमको बताइये ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् ! विश्वभावन श्रीभगवान्ने अतीत मन्वन्तरोंमें जो-जो कर्म किये हैं, वर्तमान मन्वन्तरमें वे जो कुछ करते हैं तथा आगे जो कुछ करेंगे वह सब हमसे कहिये ॥ ३ ॥

ऋषिरुवाच

मनवोऽस्मिन्व्यतीताः षट्[6] कल्पे स्वायम्भुवादयः ।
आद्यस्ते[7] कथितो यत्र देवादीनां च संभवः ॥ ४ ॥
आकूत्यां देवहूत्यां च[8] दुहित्रोस्तस्य वै मनोः ।
धर्मज्ञानोपदेशार्थं[9] भगवान्पुत्रतां गतः ॥ ५ ॥
कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम् ।

श्रीशुकदेव मुनि बोले—हे राजन् ! इस कल्पमें स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर बीत चुके हैं, उनमेंसे, जिसमें देवता आदिकी उत्पत्ति हुई थी, उस प्रथम मन्वन्तरका वर्णन तो तुमसे कर दिया ॥ ४ ॥ स्वायम्भुव मनुकी पुत्री आकूति और देवहूतिके गर्भसे श्रीहरि क्रमशः धर्म और ज्ञानका उपदेश करनेके लिये पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए थे ॥ ५ ॥ हे कुरुनन्दन ! [देवहूतिके पुत्र] भगवान् कपिलदेवका वर्णन तो

---

१. वस्य च गुरो । २. प्राचीन प्रतिमें 'यत्र विश्वसृजां सर्गो…' इस उत्तरार्धके स्थानपर 'अत्र धर्माश्च विविधाश्चातुर्वर्ण्याश्रिताः शुभाः' ऐसा पाठ है । ३. मन्वन्तरे । ४. सर्वमन्वन्तरे । ५. चान्यमतीते । ६. ये । ७. आद्यः स । ८. नु । ९. प्राचीन प्रतिमें 'धर्मज्ञानोपदेशार्थं…'से लेकर'…'कपिलस्यानुवर्णितम्' यहाँतकका पाठ इस प्रकार है—'उत्पत्तिः सर्वजन्तूनां वर्णिता पुरुषर्षभ । चरितं पुण्यकीर्तेश्च कपिलस्यानुवर्णितम् ॥'

आख्यास्ये भगवान्यज्ञो यच्चकार कुरूद्वह ॥ ६ ॥

विरक्तः कामभोगेषु शतरूपापतिः प्रभुः ।
विसृज्य राज्यं तपसे सभार्यो वनमाविशत् ॥ ७ ॥
सुनन्दायां वर्षशतं पदैकेन भुवं स्पृशन् ।
तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह[1] भारत ॥ ८ ॥

मनुरुवाच

येन[2] चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् ।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद[3] वेद सः ॥ ९ ॥
आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १० ॥
यं न पश्यति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति ।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ॥ ११ ॥
न[4] यस्याद्यन्तौ मध्यं च स्वः परो नान्तरं बहिः ।
विश्वस्यामूनि यद्यस्माद्विश्वं च तदृतं महत् ॥ १२ ॥
स विश्वकायः पुरुहूत ईशः
सत्यः[5] स्वयंज्योतिरजः पुराणः ।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयात्मशक्त्या
तां[6] विद्ययोदस्य निरीह आस्ते ॥ १३ ॥

मैं पहले ही कर चुका हूँ; अब जो कुछ भगवान् यज्ञपुरुषने किया था वह और सुनाता हूँ ॥ ६ ॥

हे राजन् ! शतरूपापति भगवान् स्वायम्भुव मनु सम्पूर्ण कामना और भोगोंसे विरक्त हो अपना राज-पाट त्यागकर तपस्या करनेके लिये स्त्रीके सहित वनको चले गये ॥ ७ ॥ हे भारत ! वहाँ सुनन्दा नदीके तीरपर पृथिवीको एक चरणसे ही स्पर्श कर कठोर तपस्या करते हुए वे प्रतिदिन इस प्रकार कहा करते थे ॥ ८ ॥

मनुजी कहते थे—जिससे सम्पूर्ण विश्व चेतना लाभ करता है किन्तु विश्व जिसको चेतित नहीं कर सकता, जो इसके शयन करनेपर भी [इसके साक्षीरूपसे] जागता रहता है तथा जिसे यह जगत् नहीं जानता वह परमात्मा इस जगत्को भली प्रकार जानता है, इस संसारमें जो कुछ भूतसमुदाय है वह सब-का-सब परमात्मासे व्याप्त है । इसलिये उस परमात्माको समर्पण करके ही धनादिका उपभोग करना चाहिये [अपने या पराये] किसीके भी धनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ ९-१० ॥ जिस सर्वसाक्षीको चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं देख सकतीं, किन्तु जिसका ज्ञान कभी क्षीण नहीं होता [अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंका अविषय होनेपर भी जो स्वयं सब कुछ जानता है] उस सर्वान्तर्यामी असङ्ग परमात्माका तुम भजन करो ॥ ११ ॥ जिसके आदि, अन्त, मध्य, अपना-पराया, बाहर-भीतर कुछ भी नहीं है, किन्तु जो स्वयं जगत्के आदि-अन्तादि सब कुछ है, तथा जिससे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है वही सत्य और परिपूर्ण ब्रह्म है ॥ १२ ॥ वह परमात्मा विश्वरूप, अनेकों नामोंवाला, ईश्वर, सत्यस्वरूप, स्वयंप्रकाश, अजन्मा और पुरातन है; वह अपनी मायाशक्तिसे ही इस जगत्के रचना-पालनादि करता रहता है, तथा अपनी नित्यसिद्ध ज्ञानशक्तिसे उसे त्यागकर निरीहभावसे स्थित रहता है ॥ १३ ॥

---

१. माह स । २. प्राचीन प्रतिमें 'येन चेतयते विश्वं...' इस पूर्वार्धके स्थानपर 'वासुदेवो वसत्येष सर्व-देहेष्वनन्यदृक्' ऐसा पाठ है । ३. मेधसा । ४. प्राचीन प्रतिमें 'न यस्याद्यन्तौ...' से लेकर '...तदृतं महत्' यहाँतकका पाठ इस प्रकार है—'न यस्यादिस्तथा मध्यं देवदेवस्य चात्मनः । सर्वस्य मूलभूतोऽसौ भूता येऽनन्तरं यतः ॥' ५. सर्वस्य गोप्ता त्वजरः पुराणः । ६. तं वै विदित्वा तु ।

अथाग्रे[1] ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे ।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते ॥१४॥
ईहते भगवानीशो नहि तत्र विषज्जते ।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम् ॥१५॥
तमीहमानं[2] निरहंकृतं बुधं
निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम् ।
नॄञ् शिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं
प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम् ॥१६॥

इसीलिये मुनिगण भी नैष्कर्म्यसिद्धिके लिये पहले कर्मोंका आचरण करते हैं, क्योंकि [निष्कामभावसे] कर्म करनेवाला पुरुष ही प्रायः निरीहता प्राप्त कर सकता है ॥ १४ ॥ देखो, भगवान् परमेश्वर भी कर्म करते हैं, किन्तु आत्मलाभसे पूर्णकाम होनेके कारण उसमें आसक्त नहीं होते । इसी प्रकार उनका अनुवर्तन करनेवाले पुरुष भी कर्मोंमें आसक्त नहीं होते ॥ १५ ॥ अहो ! जो ज्ञानवान् होनेके कारण अहङ्काररहित और पूर्णकाम होनेके कारण निष्काम हैं तथा किसी अन्यसे प्रेरित नहीं होते, लोगोंको शिक्षा देनेके लिये अपने मार्गपर स्थित होकर कर्मोंका भली प्रकार आचरण करनेवाले तथा सम्पूर्ण धर्मोंकी प्रवृत्ति करनेवाले उन परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ॥१६॥

श्रीशुक उवाच

इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तं समाहितम् ।
दृष्ट्वाऽसुरा यातुधाना जग्धुमभ्यद्रवन्क्षुधा ॥१७॥
तांस्तथावसितान्वीक्ष्य यज्ञः सर्वगतो हरिः ।
यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाशासत्त्रिविष्टपम् ॥१८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! मनुको इस प्रकार एकाग्र चित्तसे मन्त्रोपनिषद् उच्चारण करते देख [उन्हें निद्रामें अचेत होकर बड़बड़ाते जान] भूखसे व्याकुल हुए असुर और राक्षस उन्हें भक्षण करनेके लिये वहाँ आये ॥ १७ ॥ तब सर्वान्तर्यामी यज्ञपुरुष श्रीहरि उनका ऐसा विचार जान [अपने पुत्र] यामनामक देवताओंके सहित वहाँ आये, और उन असुरोंका संहार कर [इन्द्ररूपसे] स्वर्गलोकका पालन करने लगे ॥ १८ ॥

स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत् ।
द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः ॥१९॥
तत्रेन्द्रो रोचनस्त्वासीद्देवाश्च तुषितादयः ।
ऊर्जस्तम्भादयः सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥२०॥
ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत् ।
तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः ॥२१॥
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः ।
अन्वशिक्षन्व्रतं[3] तस्य कौमारब्रह्मचारिणः ॥२२॥

हे राजन् ! [स्वायम्भुव मनुके पश्चात्] अग्निपुत्र स्वारोचिष दूसरा मनु हुआ । उसके द्युमान्, सुषेण एवं रोचिष्मान् आदि पुत्र थे ॥ १९ ॥ उस मन्वन्तरमें रोचननामक इन्द्र, तुषित आदि देवगण तथा वेदवादी ऊर्जस्तम्भ आदि सप्तर्षिगण थे ॥ २० ॥ मुनिवर वेदशिराकी तुषिता नामवाली पत्नी थी । उस समय उसके गर्भसे भगवान्ने विभुनामसे विख्यात अवतार लिया ॥२१॥ हे राजन् ! कुमार अवस्थासे ही ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले तथा यम-नियमादि साधनोंसे सम्पन्न अट्ठासी सहस्र ऋषियोंने उन [भगवान् विभु] के आचरणसे ही अपने व्रतकी शिक्षा ग्रहण की थी॥२२॥

१. अथ यत्रर्षयः । २ आनन्दमेकं परमं सनातनं । ३. शिक्षन्सुतं ।

तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः ।
पवनः सृञ्जयो यज्ञहोत्राद्यास्तत्सुता नृप ॥२३॥
वसिष्ठतनयाः सप्त ऋषयः प्रमदादयः ।
सत्या वेदश्रुता भद्रा देवा इन्द्रस्तु सत्यजित् ॥२४॥
धर्मस्य सूनृतायां तु भगवान्पुरुषोत्तमः ।
सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह ॥२५॥
सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान् ।
भूतद्रुहो भूतगणांस्त्ववधीत्सत्यजित्सखः ॥२६॥

हे राजन्! प्रियव्रतका पुत्र उत्तम तीसरा मनु था; उसके पवन, सृञ्जय और यज्ञहोत्रादि पुत्र थे ॥२३॥ उस मन्वन्तरमें वशिष्ठजीके पुत्र प्रमद आदि सप्तर्षि थे; सत्य, वेदश्रुत और भद्र नामक देवगण थे तथा सत्यजित् नामक इन्द्र था ॥२४॥ उस समय धर्मकी सूनृता नाम भार्यासे भगवान् पुरुषोत्तम सत्यसेन नामसे विख्यात होकर सत्यव्रतोंके सहित अवतीर्ण हुए ॥२५॥ देवराज सत्यजित्के सखा होकर उन्होंने असत्यपरायण दुःशील और असत्स्वभाव यक्ष-राक्षसोंको एवं प्राणियोंसे द्रोह करनेवाले भूतगणको नष्ट कर दिया ॥२६॥

चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः ।
पृथुः[2] ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः ॥२७॥
सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः ।
ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे ॥२८॥
देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप ।
नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा ॥२९॥
तत्रापि जज्ञे भगवान्हरिण्यां हरिमेधसः ।
हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् ॥३०॥

तत्पश्चात्, उत्तमका भाई, जिसका नाम तामस था, चौथा मनु हुआ । उसके पृथु, ख्याति, नर और केतु आदि दश पुत्र थे ॥२७॥ इस तामस मन्वन्तरमें सत्यक, हरि और वीर नामक देवगण थे, त्रिशिख इन्द्र था तथा ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे ॥२८॥ हे राजन्! उस समय विधृतिके पुत्र विधृति नामक कुछ और भी देवगण हुए थे, जिन्होंने कालक्रमसे नष्ट हुए वेदोंकी अपने तेजसे रक्षा की थी ॥२९॥ उसी मन्वन्तरमें हरिमेधा नामक ऋषिकी भार्या हरिणीसे भगवान्ने हरिनामसे विख्यात अवतार लिया, और गजको ग्राहसे छुड़ाया ॥ ३० ॥

राजोवाच

बादरायण एतत्ते श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।
हरिर्यथा गजपतिं ग्राहग्रस्तममूमुचत् ॥३१॥
तत्कथासु महत्पुण्यं धन्यं[3] स्वस्त्ययनं शुभम्[4] ।
यत्र यत्रोत्तमश्लोको भगवान्गीयते हरिः ॥३२॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे व्यासनन्दन! जिस प्रकार श्रीहरिने गजको ग्राहसे छुड़ाया था वह सब चरित्र हम आपके मुखसे सुनना चाहते हैं ॥ ३१ ॥ क्योंकि सम्पूर्ण कथाओंमें वही प्रसङ्ग परम पवित्र, धन्य, मङ्गलकारी और शुभ होता है जिसमें कि पवित्रकीर्ति भगवान् हरिका कीर्तन किया जाता है ॥ ३२ ॥

सूत उवाच

परीक्षितैवं स तु बादरायणिः
प्रायोपविष्टेन कथासु चोदितः ।
उवाच विप्राः प्रतिनन्द्य पार्थिवं
मुदा मुनीनां सदसि स्म शृण्वताम् ॥३३॥

श्रीसूतजी कहते हैं—हे विप्रगण! अन्न-जल छोड़कर मरनेका निश्चय करके बैठे हुए राजा परीक्षित्-द्वारा इस प्रकार कथा कहनेके लिये प्रेरित हो श्रीशुकदेव-जी कथा-श्रवण करनेवाले मुनियोंके समाजमें राजाकी प्रशंसा करते हुए प्रसन्नतापूर्वक यों कहने लगे—॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुचरिते[5] प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

१. नृपाः । २. वृषः । ३. धर्म्यं । ४. शिवम् । ५. रानुवर्णनं ।

दूसरा अध्याय

ग्राहद्वारा गजेन्द्रका पकड़ा जाना ।

श्रीशुक उवाच

आसीद्गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः ।
क्षीरोदेनावृतः श्रीमान्योजनायुतमुच्छ्रितः ॥ १ ॥

तावता विस्तृतः पर्यक् त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिम् ।
दिशः खं रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः ॥ २ ॥

अन्यैश्च ककुभः सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः ।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् ॥ ३ ॥

स चावनिज्यमानाङ्घ्रिः समन्तात्पयऊर्मिभिः ।
करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभिः ॥ ४ ॥

सिद्धचारणगन्धर्वविद्याधरमहोरगैः ।
किन्नरैरप्सरोभिश्च क्रीडद्भिर्जुष्टकन्दरः ॥ ५ ॥

यत्र संगीतसन्नादैर्नदद्गुहममर्षया ।
अभिगर्जन्ति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया ॥ ६ ॥

नानारण्यपशुव्रातसंकुलद्रोण्यलंकृतः ।
चित्रद्रुमसुरोद्यानकलकण्ठविहङ्गमः ॥ ७ ॥

सरित्सरोभिरच्छोदैः पुलिनैर्मणिवालुकैः ।
देवस्त्रीमज्जनामोदसौरभाम्ब्वनिलैर्युतः ॥ ८ ॥

तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः ।
उद्यानमृतुमन्नाम आक्रीडं सुरयोषिताम् ॥ ९ ॥

सर्वतोऽलंकृतं दिव्यैर्नित्यं पुष्पफलद्रुमैः ।
मन्दारैः पारिजातैश्च पाटलाशोकचम्पकैः ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! क्षीरसागरसे घिरा हुआ त्रिकूट नामसे विख्यात एक पर्वतश्रेष्ठ था, जो अत्यन्त शोभायमान और दश सहस्र योजन ऊँचा था ॥ १ ॥ तथा विस्तारमें भी सब ओर इतना ही फैला हुआ था । वह अपने चाँदी, लोहे और सोनेके तीन शिखरोंसे समुद्र, दिशा और आकाशको सुशोभित कर रहा था ॥२॥ इनके सिवा नाना प्रकारके रत्न और धातुओंके कारण चित्र-विचित्र दीखनेवाले अन्य शृङ्गोंसे, भाँति-भाँतिके वृक्ष, लता, एवं गुल्मोंसे और झरनोंके पानीके घोषसे वह सभी दिशाओंको शोभासम्पन्न कर रहा था ॥ ३ ॥ अपने मूल प्रदेशमें सब ओर क्षीरसागरकी दुग्धमयी तरङ्गोंसे प्रक्षालित हो वह अपनी हरितवर्ण मरकतमयी शिलाओंसे पृथिवीको कुछ श्यामवर्ण कर रहा था ॥ ४ ॥ उसकी कन्दराएँ क्रीडासक्त सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, किन्नर और अप्सराओंसे सुसेवित रहती थीं ॥ ५ ॥ उनके गानादिकी ध्वनिसे जहाँकी कन्दराएँ प्रतिध्वनित होती रहती हैं उस प्रदेशमें रहनेवाले सिंह दूसरे सिंहके आगमनकी शङ्कासे ईर्ष्या और असहिष्णुतावश गर्जन करते रहते थे ॥ ६ ॥

उस पर्वतकी कन्दराओंमें तरह-तरहके जङ्गली जीवोंके झुण्ड रहकर उसकी शोभा बढ़ाते थे । और वहाँ नाना प्रकारके तरुवरोंसे सङ्कुलित देवोद्यानोंमें पक्षीगण मधुर कलरव कर रहे थे ॥ ७ ॥ वहाँ स्वच्छ जलसे भरे हुए एवं किनारेपर मणिमय वालुकासे सुशोभित बहुत-से नदी और तालाब थे तथा वहाँके जल और वायु देवाङ्गनाओंके स्नान करनेसे आमोदित हो रहे थे ॥ ८ ॥

उस पर्वतश्रेष्ठकी गुहामें महामना भगवान् वरुणजीका ऋतुमान् नामक एक बगीचा है जो देवस्त्रियोंका क्रीडास्थल है । वह सर्वदा सब ओरसे दिव्य पुष्प और फलवाले वृक्षोंसे सुशोभित रहता है । तथा मन्दार, पारिजात, पाटल, अशोक, चम्पक,

१. तावान् सुविस्तृतो ह्यासीत् । २. सरः सरिद्भिरक्षो० ।

चूतैः प्रियालैः पनसैराम्रैराम्रातकैरपि ।
क्रमुकैर्नालिकेरैश्च खर्जूरैर्बीजपूरकैः ॥११॥
मधूकैः सालतालैश्च तमालैरसनार्जुनैः ।
अरिष्टोदुम्बरप्लक्षैर्वटैः किंशुकचन्दनैः ॥१२॥
पिचुमन्दैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः ।
द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बूभिर्बदर्यक्षाभयामलैः ॥१३॥
बिल्वैः कपित्थैर्जम्बीरैर्वृतो भल्लातकादिभिः ।
तस्मिन्सरः सुविपुलं लसत्काञ्चनपङ्कजम् ॥१४॥
कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रश्रियोर्जितम् ।
मत्तषट्पदनिर्घुष्टं शकुन्तैश्च कलस्वनैः ॥१५॥
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्राह्वैः सारसैरपि ।
जलकुक्कुटकोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम् ॥१६॥
मत्स्यकच्छपसंचारचलत्पद्मरजः पयः ।
कदम्बवेतसनलनीपवञ्जुलकैर्वृतम् ॥१७॥
कुन्दैः कुरबकाशोकैः शिरीषैः कुटजेङ्गुदैः ।
कुब्जकैः स्वर्णयूथीभिर्नागपुन्नागजातिभिः ॥१८॥
मल्लिकाशतपत्रैश्च माधवीजालकादिभिः ।
शोभितं तीरजैश्चान्यैर्नित्यर्तुभिरलं द्रुमैः ॥१९॥

तत्रैकदा तद्गिरिकाननाश्रयः
करेणुभिर्वारणयूथपश्चरन् ।
सकण्टकान्कीचकवेणुवेत्रव-
द्विशालगुल्मं प्ररुजन्वनस्पतीन् ॥२०॥
यद्गन्धमात्राद्धरयो गजेन्द्रा
व्याघ्रादयो व्यालमृगाः सखड्गाः ।
महोरगाश्चापि भयाद्द्रवन्ति
सगौरकृष्णाः शरभाश्चमर्यः ॥२१॥
वृका वराहा महिषर्क्षशल्या
गोपुच्छसालावृकमर्कटाश्च ।
अन्यत्र क्षुद्रा हरिणाः शशादय-
श्चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण ॥२२॥

चूतफल प्रियाल, पनस, आम, आम्रातक, क्रमुक, नारियल, खजूर, बिजौरा, मधूक, साल, ताल, तमाल, असन, अर्जुन, अरिष्ट, उदुम्बर, पाकड़, वट, किंशुक, चन्दन, पिचुमन्द, कोविदार, सरल, देवदारु, दाख, ईख, कदली, जामुन, बेर, बहेड़ा, हरीतकी, आँवला, बेल, कैथा, नीबू और भिलावे आदिके वृक्षोंसे भरा हुआ था। उस पर्वतपर सुनहरी कमलोंसे सुशोभित एक बहुत बड़ा सरोवर था ॥ ९–१४ ॥ जिसकी शोभा कुमुद, उत्पल, कल्हार और शतपत्रादिके कारण बहुत अधिक बढ़ गयी थी। वह मतवाले भौंरों और कलरवकारी विहङ्गमोंसे गुञ्जायमान था तथा सब ओर हंस, कारण्डव, चक्रवाक और सारसादिसे पूर्ण एवं जलकुक्कुट कोयष्टि और पपीहा आदिसे कूजित था ॥ १५-१६ ॥ उसका जल इधर-उधर चलते हुए मत्स्य और कच्छपों-के कारण हिलनेवाले कमलपुष्पोंसे झड़े हुए केसरसे युक्त तथा कदम्ब, बेत, नरकुल, नीप और वञ्जुल आदिसे घिरा हुआ था ॥ १७ ॥ वह सरोवर अपने तीरपर उगे हुए कुन्द, कुरबक, अशोक, सिरस, कुटज, इङ्गुद, कुब्जक, सुवर्णयूथी (सुनहरी जूही), नाग, पुन्नाग, जाती, मल्लिका, शतपत्र, माधवी और मोगरा आदि [फूलोंके वृक्षों] से तथा और भी सम्पूर्ण ऋतुओंके तरुवरोंसे सुशोभित था ॥ १८-१९ ॥

एक दिन उस पर्वतके वनमें रहनेवाला एक यूथपति गजराज, जिसके गन्धमात्रसे सिंह, व्याघ्र, हाथी, सर्प, मृग, गैंडे, नाग तथा काले-भूरे शरभ और चमरी (वन-गौ) आदि जङ्गली जीव डरकर भाग जाते थे तथा जिसकी कृपासे भेड़िये, शूकर, भैंसे, रीछ, शल्य, गोपुच्छ (वानरविशेष), कुत्ते, बन्दर तथा हरिण और खरगोश आदि क्षुद्र जीव भी अन्यत्र निर्भय विचरते थे, दूरहीसे उस सरोवरकी कमलकेसरसे सुवासित पवनकी गन्ध सूँघकर अपनी हथिनियोंके साथ घूमता तथा काँटेवाले कीचक, बाँस, बेंत, और बड़ी-बड़ी झाड़ियोंको रौंदता अपने तृषातुर यूथके सहित बड़ी शीघ्रतासे वहाँ उसके

१. नसैर्निम्बैरा० । २. शिंशपचन्द्र० । ३. त्पङ्करजः । ४. लसद्विविधैः पुलिनैर्वृतम् । ५. कुटजद्रुमैः । ६. सकण्टकं ।

स घर्मतप्तः करिभिः करेणुभि-
वृतो मदच्युत्कलभैरनुद्रुतः ।
गिरिं गरिम्णा परितः प्रकम्पय-
न्निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदाशनैः ॥२३॥
सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितं
जिघ्रन्विदूरान्मदविह्वलेक्षणः ।
वृतः स्वयूथेन तृषार्दितेन त-
त्सरोवराभ्याशमथागमद्द्रुतम् ॥२४॥

पास आया । जिसके कपोलोंसे मद चू रहा था ऐसा वह गजराज घामसे घबड़ाया हुआ था, उसके चारों ओर बहुत-से हाथी और हथिनी चल रहे थे तथा उनके बच्चे पीछे-पीछे दौड़े आ रहे थे। वह अपनी धमकसे सम्पूर्ण पर्वतको कम्पायमान कर देता था। उसके गण्डस्थलपर मदका आस्वादन करनेवाले मधुकरोंके झुण्ड जुटे हुए थे तथा उसके नेत्र मदसे विह्वल हो रहे थे ॥ २०–२४ ॥

विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं
हेमारविन्दोत्पलरेणुवासितम् ।
पपौ निकामं निजपुष्करोद्धृत-
मात्मानमद्भिः स्नपयन्गतक्लमः ॥२५॥
स्वपुष्करेणोद्धृतसीकराम्बुभि-
र्निपाययन्संस्नपयन्यथा गृही ।
घृणी करेणूः कलभांश्च दुर्मदो
नाचष्ट कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया ॥२६॥

वहाँ आकर उसने उस सरोवरमें घुसकर स्नान किया और फिर श्रमहीन हो, अपनी सूँड़से उसका पीले और लाल कमलोंकी केसरसे सुवासित सुधा-सदृश जल जी भरकर पिया ॥ २५ ॥ वह गजराज गृहस्थ पुरुषोंके समान मोहग्रस्त होकर अपनी सूँड़के अग्र भागसे जलकी फुहारें छोड़कर अपने साथकी हथिनियों और बच्चोंको नहलाने तथा जल पिलाने लगा। इस प्रकार भगवान्‌की मायासे मोहित हुआ वह उन्मत्त हाथी आनेवाले कष्टको न सोच सका ॥ २६ ॥

तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो
ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत् ।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो
यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे ॥२७॥
तथातुरं यूथपतिं करेणवो
विकृष्यमाणं तरसा बलीयसा ।
विचुक्रुशुर्दीनधियोऽपरे गजाः
पार्ष्णिग्रहास्तारयितुं न चाशकन् ॥२८॥
नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयो-
र्विकर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः ।
समाः सहस्रं व्यगमन्महीपते
सप्राणयोश्चित्रममंसतामराः ॥२९॥

हे राजन्! इसी समय दैवेच्छासे किसी महा-बलवान् ग्राहने रोषमें भरकर उसका चरण पकड़ लिया। इस प्रकार अकस्मात् विपत्तिग्रस्त होनेपर उस महाबली गजेन्द्रने [उसके मुखसे निकलनेके लिये] अपनी शक्तिके अनुसार बहुतेरा जोर लगाया [किन्तु सफल न हुआ] ॥ २७ ॥ अपने यूथनायक-को अति बलवान् ग्राहद्वारा बलपूर्वक खींचे जानेसे अति आतुर देख उसके पास खड़े हुए अन्य हाथी और हथिनियाँ भी अति आतुर होकर चिंघाड़ने लगे, किन्तु उसका उद्धार करनेमें समर्थ न हुए ॥ २८॥ हे राजन्! उन महाबली गजराज और ग्राहको इस प्रकार परस्पर युद्ध करते और एक-दूसरेको जलके भीतर और बाहर खींचते एक सहस्र वर्ष बीत गये। इससे देवताओंको भी बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २९ ॥

ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौजसां
कालेन दीर्घेण महानभूद्व्ययः ।

अन्तमें, बहुत दिनोंतक जलके भीतर बारम्बार खींचे जानेसे शिथिल हुए गजराजके उत्साह, बल और

१. वृतं स यूथेन । २. वियुध्यतोरेव गजेन्द्रनक्र० ।

विकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतो
　　विपर्ययोऽभूत्सकलं जलौकसः ॥३०॥
इत्थं गजेन्द्रः स यदाप सङ्कटं
　　प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया ।
अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं
　　दध्याविमां[1] बुद्धिमथाभ्यपद्यत ॥३१॥
न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः
　　कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम् ।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतो-
　　ऽप्यहं च तं यामि परं परायणम् ॥३२॥
यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगा-
　　त्प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम् ।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
　　न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥३३॥

तेज क्रमशः अत्यन्त क्षीण होने लगे; तथा उस जलचर (ग्राह) के लिये सब बातें इसके विपरीत हुईं ॥ ३० ॥ इस प्रकार, जिस समय उस देहधारी गजराजको प्राणोंका संकट उपस्थित हुआ और वह अपना छुटकारा करनेमें असमर्थ रहा तो बहुत समयतक विचार करनेपर उसे अकस्मात् ऐसा विचार हुआ–॥ ३१ ॥ 'अहो ! विधाताके इस ग्राहरूप पाशमें पड़नेपर अत्यन्त आतुर हुए मुझको जब ये मेरे साथी हाथी ही नहीं उबार सके तब हथिनियाँ तो छुड़ा ही कैसे सकती हैं; अतः अब मैं सबके परमाश्रय उन हरिकी ही शरण लेता हूँ ॥३२॥ जो अति बलवान् कालरूप सर्पके प्रचण्ड वेगसे भयभीत होकर भागते हुए शरणागत व्यक्तिकी रक्षा करता है तथा जिसके भयसे मृत्यु भी दौड़ता [अपने कार्यमें प्रवृत्त होता] है, ऐसा जो कोई ईश्वर है, उस शरणप्रद प्रभुकी हम शरण लेते हैं' ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे
मन्वन्तरानुवर्णने[2] गजेन्द्रोपाख्याने
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

१. दैवादिमां । २. प्राचीन प्रतिमें 'मन्वन्तरानुवर्णने' यह पाठ नहीं है ।
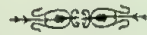
तीसरा अध्याय

गजेन्द्रकर्तृक भगवत्स्तुति और उसका संकटसे मुक्त होना ।

श्रीशुक[1] उवाच

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि ।
जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥ १ ॥

गजेन्द्र उवाच

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥ २ ॥
यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात्परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥ ३ ॥
यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं
क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम् ।
अविद्धदृक्साक्ष्युभयं तदीक्षते
स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥ ४ ॥
कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो
लोकेषु पालेषु[2] च सर्वहेतुषु ।
तमस्तदासीद्गहनं गभीरं
यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ॥ ५ ॥
न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-
र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥ ६ ॥
दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं
विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः ।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं[3] वने
भूतात्मभूताः[4] सुहृदः स मे गतिः ॥ ७ ॥
न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा
न नामरूपे गुणदोष एव वा[5] ।
तथापि लोकाप्ययसंभवाय यः

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपनी बुद्धिसे ऐसा निश्चय कर गजेन्द्रने अपने मनको हृदयदेशमें स्थिर किया और फिर वह अपने पूर्वजन्ममें सीखे हुए इस श्रेष्ठ स्तोत्रका जप करने लगा ॥ १ ॥

गजेन्द्र बोला—ॐ जिनके कारण इस शरीर आदिको चेतनता प्राप्त होती है, जगत्के आदिकारण उन परम पुरुष भगवान् परमेश्वरको मैं नमस्कारपूर्वक स्मरण करता हूँ ॥ २ ॥ जिनमें यह जगत् स्थित है, जिनसे यह उत्पन्न हुआ है, जिनसे यह व्याप्त है, जो स्वयं ही यह जगत् है तथा जो इस कार्य-कारणरूप जगत्से परे हैं उन भगवान् स्वयम्भूकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ३ ॥ जिनकी दृष्टि कभी लुप्त नहीं होती ऐसे जो प्रभु अपने भीतर अपनी मायाद्वारा स्थापित, कभी प्रकट और कभी तिरोहित हो जानेवाले इस कार्य-कारणरूप दोनों प्रकारके प्रपञ्चको साक्षीरूपसे निरन्तर देखते रहते हैं तथा कालक्रमसे सम्पूर्ण लोक, लोकपाल और जगत्के कारणोंके विनष्ट हो जानेपर जब अति गहन और गम्भीर अन्धकार ही रह जाता है उस समय जो सर्वव्यापक भगवान् उसके उस पार विराजते हैं वे आत्मयोनि परात्पर प्रभु मेरी रक्षा करें ॥ ४-५ ॥ अहो ! जिनके स्वरूपको देवता और ऋषिगण भी नहीं जानते उन्हें कोई अन्य प्राणी तो कैसे जान सकता या वर्णन कर सकता है ? नाना प्रकारके वेष धारण कर विचित्र चेष्टाएँ करनेवाले नटके समान दुर्गम लीलाएँ करनेवाले वे प्रभु मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥ जिनके मङ्गलमय स्वरूपका साक्षात्कार करनेकी इच्छासे सम्पूर्ण जीवोंके आत्मस्वरूप, सुहृद्, जनसंगशून्य और साधुस्वभाव मुनिजन वनमें रहकर अखण्डभावसे ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करते हैं वे भगवान् ही मेरी गति हैं ॥ ७ ॥ जिनके जन्म-कर्म, नाम-रूप अथवा गुण-दोषादि कुछ भी नहीं हैं, तथापि लोकोंकी

१. बादरायणिरुवाच । २. वै सर्वगतेषु हेतुषु । ३. चरन्ति लोके व्रत० । ४. सर्वात्मभूताः । ५. च ।

स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥ ८ ॥
तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ॥ ९ ॥
नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ॥१०॥
सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता ।
नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥११॥
नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे ।
निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥१२॥
क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे ।
पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे ।
असता छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ॥१४॥
नमो नमस्तेऽखिलकारणाय
निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय
नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥१५॥
गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय
तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ।
नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागम-
स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि ॥१६॥
मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।

रचना और प्रलयके लिये जो अपनी मायासे समयानुसार उन्हें स्वीकार कर लेते हैं, उन अनन्तशक्ति, आश्चर्यकर्मा, रूपरहित होकर भी अनेकों रूप धारण करनेवाले परब्रह्म परमेश्वरको पुनः-पुनः नमस्कार है ॥ ८-९ ॥ जो स्वयंप्रकाश, सबके साक्षी तथा मन, वाणी और चित्तसे भी अत्यन्त दूर हैं उन परमात्माको बारम्बार नमस्कार है ॥१०॥

जो विद्वानोंको, संन्यासद्वारा शुद्ध हुए चित्तमें उपलब्ध होते हैं उन निर्वाणानन्दानुभवरूप मोक्षपतिको नमस्कार है ॥११॥ जो शान्त, घोर, मूढरूप और सत्त्वादि गुणोंके धर्मोंका अनुकरण करनेवाले हैं, उन निर्विशेष, सर्वत्र समान भावसे स्थित और विज्ञानघन परमात्माको नमस्कार है ॥१२॥ जो क्षेत्रज्ञ, सबके अध्यक्ष और साक्षी, सबके पहले विद्यमान, जीवोंके आदिकारण और मूल प्रकृतिके भी उद्भवस्थान हैं उन आपको नमस्कार है ॥१३॥ जो समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको देखनेवाले हैं, सकल प्रतीतियोंके कारण हैं, छायारूप असत् अहंकारादिसे जिनकी सत्ता सूचित होती है और जो [सम्पूर्ण वस्तुओंमें] सत्-रूपसे प्रकाशित हैं ऐसे आपको नमस्कार है ॥१४॥ जो सबके कारण, स्वयं कारणरहित, तथा [कारण होनेपर भी मृत्तिका आदिके समान विकारको प्राप्त न होनेसे] अद्भुत कारणरूप हैं; [नदियोंके लयस्थान समुद्रके समान] जो सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंके [परमाश्रय होनेसे] महासागररूप, मोक्ष-स्वरूप तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके आश्रयस्थान हैं ऐसे आपको बारम्बार नमस्कार है ॥१५॥ जो गुणरूप अरणिमें छिपे हुए ज्ञानाग्निस्वरूप हैं, गुणक्षोभके कारण ही जिनमें मनकी स्फूर्ति होती है, आत्मतत्त्वकी भावनाद्वारा विधिनिषेधरूप शास्त्रकी उपेक्षा कर देनेवाले ज्ञानियोंके प्रति जो स्वयं ही प्रकाशित होते हैं उन आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१६॥

जो मेरे-जैसे शरणागत पशुके पाशोंको काटनेवाले हैं, मुक्तस्वरूप, अति करुणामय और आलस्य-

१. कूल० । २. विवर्तिताय ।

स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत-
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥१७॥
आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै-
र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय ।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥१८॥
यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।
किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं
करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥१९॥
एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं
वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं
गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥२०॥
तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥२१॥
यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः ।
नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृताः ॥२२॥
यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत्स्वरोचिषः ।
तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो
बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ॥२३॥
स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान्न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चास-
न्निषेधशेषो जयतादशेषः ॥२४॥
जिजीविषे नाहमिहामुया कि-
मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव-
स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥२५॥

हीन हैं, अपने अंशसे सम्पूर्ण देहधारियोंके अन्तःकरणोंमें प्रतीत होनेवाले उन अपरिच्छिन्न अन्तर्यामी भगवान्‌को नमस्कार है ॥१७॥ जो देह, पुत्र, स्वजन, गृह, धन और भृत्यादिमें आसक्तचित्त पुरुषोंको अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं, गुणसंगसे रहित हैं, जीवन्मुक्त पुरुषोंद्वारा अपने हृदयमें चिन्तन किये जाते हैं उन ज्ञानस्वरूप भगवान् ईश्वरको नमस्कार है ॥१८॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी इच्छावाले पुरुष जिनका भजन करते हुए अपनी अभीष्ट गति प्राप्त करते हैं; यही नहीं, जो उन्हें नाना प्रकारके भोग और सुदृढ़ शरीर प्रदान करते हैं वे परमदयालु प्रभु मेरा उद्धार करें ॥१९॥

भगवत्परायण अनन्य भक्तजन जिनके अति अद्भुत और मङ्गलमय चरित्रोंका गान करते हुए परमानन्दसमुद्रमें मग्न होकर किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करते उन अविनाशी, परमेश्वर, अव्यक्त, आत्मज्ञानसे जाननेयोग्य, अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अतिदूर अनन्त, आद्य और परिपूर्ण परब्रह्मकी मैं स्तुति करता हूँ ॥२०-२१॥ जिनके अत्यन्त सूक्ष्म अंशसे नामरूपके भेदसे ब्रह्मादि देवगण, सम्पूर्ण वेद और चराचर लोकोंकी रचना हुई है ॥२२॥ जिस प्रकार अग्निकी ज्वालाएँ और सूर्यकी किरणें निरन्तर अग्नि और सूर्यसे निकलती और उन्हींमें लीन हो जाती हैं उसी प्रकार जिनसे बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीररूप यह गुणोंका प्रवाह होता रहता है वे भगवान् देवता, असुर, मनुष्य, तिर्यक्, स्त्री, नपुंसक, पुरुष अथवा जीव कुछ भी नहीं हैं और न वे गुण, कर्म, सत् अथवा असत् ही हैं; अतः सबके निषेध कर देनेपर जो निषेधावधिरूपसे बच रहते हैं उन सर्वरूप परमेश्वरकी जय हो [वे मेरा उद्धार करनेके लिये प्रकट हों] ॥२३-२४॥ मुझे इस ग्राहके मुखसे छूटकर जीवित रहनेकी इच्छा नहीं है क्योंकि जो बाहर-भीतर सब ओर अज्ञानसे आवृत है उस हाथीकी योनिसे मुझे क्या प्रयोजन है । मैं तो आत्मप्रकाशको ढकनेवाले उस अज्ञानसे ही मुक्त होना चाहता हूँ जिसका कालसे अन्त नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥२६॥
योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥२७॥
नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग-
शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये
कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥२८॥
नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम् ।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥२९॥

श्रीशुक उवाच

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः ।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वा-
त्तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत् ॥३०॥
तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः
स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः ।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमान-
श्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः ॥३१॥
सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम् ।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥३२॥
तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य

अतः संसारसे मुक्त होनेकी कामनावाला मैं उन परब्रह्मकी शरण लेता हूँ जो विश्वके रचयिता, विश्वस्वरूप, विश्वातीत, विश्वरूप सामग्रीसे क्रीडा करनेवाले, विश्वके अन्तरात्मा और अजन्मा हैं ॥२६॥ योगाभ्यास-से जिनके कर्म दग्ध हो गये हैं वे योगिजन जिनका अपने योगपरिशुद्ध अन्तःकरणमें साक्षात्कार करते हैं उन योगेश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२७॥ जो असह्य वेगवाली तीन शक्तियोंसे युक्त हैं, और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके शब्दादि गुणरूपसे प्रतीत होते हैं, शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले हैं, तथा अजितेन्द्रिय पुरुष जिनकी प्राप्तिका मार्ग नहीं पा सकते उन आप अनन्तशक्ति भगवान्‌को बारम्बार नमस्कार है ॥२८॥ जिनकी मायासे उत्पन्न हुई अहंबुद्धिद्वारा आवृत हुए अपने आत्मस्वरूपको यह जीव नहीं जान सकता उन अपारमहिमामय भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२९॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! गजेन्द्रके इस प्रकार निर्विशेष भावसे स्तुति करनेपर जब भिन्न-भिन्न रूपोंका अभिमान रखनेवाले ब्रह्मादि देवताओंमेंसे कोई भी उसे छुड़ानेके लिये नहीं आये तो सर्वरूप होनेके कारण वहाँ सर्वदेवमय भगवान् हरि प्रकट हुए ॥३०॥ गजेन्द्रको, इस प्रकार अत्यन्त आर्त्त देख, उसके किये हुए स्तोत्रको सुन जगन्निवास श्रीहरि, वेदमय गरुडपर आरूढ़ हो, हाथमें चक्ररूप आयुध ले, स्तुति करते हुए देवताओंके सहित जहाँ गजेन्द्र था वहाँ बहुत शीघ्र आये ॥३१॥ तब सरोवरके भीतर महाबली ग्राहद्वारा पकड़े हुए अत्यन्त आर्त्त गजराजने आकाशमें चक्रधारी हरिको गरुडपर चढ़-कर आते देख [भगवान्‌को समर्पण करनेके लिये] अपनी सूँड़में एक कमलपुष्प ले उसे ऊपरकी ओर उठा बड़े कष्टसे इस प्रकार कहा—"हे नारायण ! हे अखिलगुरो ! हे भगवन् ! आपको नमस्कार है" ॥३२॥ गजेन्द्रको अत्यन्त पीड़ित देख अजन्मा हरि [गरुडको भी मन्दगामी जान] सहसा उससे

१. वन्तं नतोऽस्म्यहम् ।

सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।
ग्राहाद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
संपश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणाम् ॥२३॥

उतर पड़े और अति कृपापूर्वक तुरन्त ही उसे ग्राह-सहित सरोवरसे बाहर निकाल लिया तथा समस्त देवताओंके देखते-देखते श्रीहरिने अपने चक्रसे ग्राहका मुख फाड़कर गजेन्द्रको छुड़ा दिया ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे
गजेन्द्रमोक्षणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

गज और ग्राहका पूर्वचरित्र तथा उनका उद्धार ।

श्रीशुक उवाच

तदा देवर्षिगन्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः ।
मुमुचुः कुसुमासारं शंसन्तः कर्म तद्धरेः ॥ १ ॥
नेदुर्दुन्दुभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः ।
ऋषयश्चारणाः सिद्धास्तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम् ॥ २ ॥
योऽसौ ग्राहः स वै सद्यः परमाश्चर्यरूपधृक् ।
मुक्तो देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तमः ॥ ३ ॥
प्रणम्य शिरसाधीशमुत्तमश्लोकमव्ययम् ।
अगायत यशोधाम कीर्तन्यगुणसत्कथम् ॥ ४ ॥
सोऽनुकम्पित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम् ।
लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्तकिल्बिषः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब ब्रह्मा और महादेव आदि देवता, ऋषि और गन्धर्वगण भगवान्के इस कर्मकी प्रशंसा करते हुए फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥१॥ [आकाशमें] दिव्य दुन्दुभियोंका घोष होने लगा, गन्धर्वगण नाचने और गाने लगे तथा ऋषि, चारण और सिद्धगण भगवान् पुरुषोत्तमकी स्तुति करने लगे ॥२॥ हे राजन् ! यह जो ग्राह था वह (पूर्वजन्ममें) गन्धर्वश्रेष्ठ हूहू था । उसने देवलऋषिके शापसे [जिससे कि उसे यह निन्द्य योनि प्राप्त हुई थी] मुक्त होकर तुरन्त ही अति आश्चर्यमय दिव्य शरीर धारण किया और जिनके गुण एवं चरित्र अति कीर्तनीय हैं उन कीर्तिधाम, उत्तम-श्लोक अविनाशी, जगदीश्वरको शिर झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर उनका सुयश गाने लगा ॥३-४॥ फिर भगवान्से कृपान्वित हो उनकी परिक्रमा की तथा सब लोकोंके देखते-देखते भगवान्को प्रणाम कर पापहीन हो अपने लोकको चला गया ॥५॥

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् ।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥ ६ ॥
स वै पूर्वमभूद्राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः ।

भगवान्का स्पर्श होनेसे गजेन्द्र भी अज्ञानबन्धनसे मुक्त हो गया तथा पीताम्बरसुशोभित चतुर्भुजरूप धारण कर भगवान्के सारूप्यको प्राप्त हुआ ॥६॥ गजेन्द्र अपने पूर्वजन्ममें इन्द्रद्युम्न नामसे विख्यात पाण्ड्यदेशका राजा था । उस समय वह विष्णुभगवान्-

१. दिन्द्रियाणाम् । २. क्षणं नाम ।

इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः ॥ ७ ॥
स एकदाराधनकाल आत्मवा-
न्गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम्[1] ।
जटाधरस्तापस आप्लुतोऽच्युतं
समर्चयामास कुलाचलाश्रमः ॥ ८ ॥
यदृच्छया तत्र महायशा मुनिः
समागमच्छिष्यगणैः परिश्रितः ।
तं वीक्ष्य तूष्णीमकृतार्हणादिकं
रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ह ॥ ९ ॥
तस्मा इमं शापमदादसाधु-
रयं दुरात्माऽकृतबुद्धिरद्य ।
विप्रावमन्ता विशतां तमोऽन्धं[2]
यथा गजः स्तब्धमतिः स एव ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यो भगवान्नृप सानुगः ।
इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिर्दिष्टं[3] तदुपधारयन् ॥११॥
आपन्नः कौञ्जरीं योनिमात्मस्मृतिविनाशिनीम्।
हर्यर्चनानुभावेन यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः ॥१२॥
एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभ-
स्तेनापि पार्षदगतिं[5] गमितेन युक्तः ।
गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमान-
कर्माद्भुतं स्वभवनं गरुडासनोऽगात् ॥१३॥
एतन्महाराज तवेरितो मया
कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम् ।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहं
दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम् ॥१४॥
यथानुकीर्तयन्त्येतच्छ्रेयस्कामा द्विजातयः ।
शुचयः प्रातरुत्थाय दुःस्वप्नाद्युपशान्तये ॥१५॥

की उपासनामें तत्पर रहता था और द्रविडजातिमें श्रेष्ठ समझा जाता था ॥७॥ एक बार वह मनस्वी राजा जटा धारणकर तपस्यामें तत्पर हो मलय पर्वतपर अपने आश्रममें उपासनाके समय स्नान कर मौनावलम्बनपूर्वक अच्युत परमेश्वर श्रीहरिकी आराधना कर रहा था ॥८॥ इसी समय दैवयोगसे अपनी शिष्यमण्डलीके सहित महायशस्वी मुनिवर अगस्त्यजी वहाँ आये और यह देखकर कि मेरा पूजा-सत्कार आदि कुछ भी न कर राजा चुपचाप एकान्तमें बैठा हुआ है वे उसपर कुपित हुए ॥९॥ और उसे यह शाप दिया—'यह बड़ा ही असाधु दुरात्मा और मूर्ख है, इसीसे इसने आज इस प्रकार ब्राह्मण जातिका तिरस्कार किया है । यह हाथीके समान जडबुद्धि है इसलिये उसी घोर अज्ञानमयी योनिको प्राप्त हो' ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार शाप दे भगवान् अगस्त्यजी अपने अनुयायियोंसहित वहाँसे चले गये तथा इन्द्रद्युम्न उसे प्रारब्धभोग समझ आत्मज्ञानको नष्ट कर देनेवाली हाथीकी योनिको प्राप्त हुए । भगवान्की आराधनाके प्रभावसे ही उन्हें गजयोनिमें भी आत्मस्वरूपकी स्मृति बनी रही ॥११-१२॥

इस प्रकार गजराजका उद्धार कर भगवान् कमलनाभ अपने पार्षदत्वको प्राप्त हुए उस गजेन्द्रको भी साथ ले गरुडपर आरूढ हो, गन्धर्व, सिद्ध और देवताओंद्वारा अपनी लीलाओंका गान किये जाते हुए, अपने अद्भुत धामको चले गये ॥ १३ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ महाराज परीक्षित् ! इस प्रकार भगवान् कृष्णका यह गजेन्द्रमोक्षरूप प्रभाव मैंने तुम्हें सुना दिया । यह प्रसङ्ग कलिके दोषों तथा श्रोताओंके दुःस्वप्नोंको नष्ट करनेवाला है और उन्हें स्वर्ग एवं सुयश प्राप्त करानेवाला है ॥ १४ ॥ अतः अपना मङ्गल चाहनेवाले द्विजगण दुःस्वप्नादिकी शान्तिके लिये प्रातःकाल उठकर पवित्र हो इसका पाठ करते हैं ॥१५॥

१. तो हरिं । २. तमिस्रं यथा । ३. दिष्ट्या । ४, प्राचीन प्रतिमें 'हर्यर्चनानुभावेन…' यह उत्तरार्ध नहीं है । ५. पारिषदतां गमि० ।

इदमाह हरिः प्रीतो गजेन्द्रं कुरुसत्तम ।
शृण्वतां सर्वभूतानां सर्वभूतमयो विभुः ॥१६॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! सर्वभूतमय भगवान् हरिने सम्पूर्ण भूतोंके सुनते हुए गजेन्द्रसे प्रसन्न होकर यह बात कही थी ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

ये मां त्वां च सरश्चेदं गिरिकन्दरकाननम् ।
वेत्रकीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान् ॥१७॥
शृङ्गाणीमानि धिष्ण्यानि ब्रह्मणो मे शिवस्य च ।
क्षीरोदं मे प्रियं धाम श्वेतद्वीपं च भास्वरम् ॥१८॥
श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं मम ।
सुदर्शनं पाञ्चजन्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥१९॥
शेषं च मत्कलां सूक्ष्मां श्रियं देवीं मदाश्रयाम् ।
ब्रह्माणं नारदमृषिं भवं प्रह्लादमेव च ॥२०॥
मत्स्यकूर्मवराहाद्यैरवतारैः कृतानि मे ।
कर्माण्यनन्तपुण्यानि सूर्यं सोमं हुताशनम् ॥२१॥
प्रणवं सत्यमव्यक्तं गोविप्रान्धर्ममव्ययम् ।
दाक्षायणीर्धर्मपत्नीः सोमकश्यपयोरपि ॥२२॥
गङ्गां सरस्वतीं नन्दां कालिन्दीं सितवारणम् ।
ध्रुवं ब्रह्मऋषीन्सप्त पुण्यश्लोकांश्च मानवान् ॥२३॥
उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः[1] सुसमाहिताः ।
स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते ह्येनसोऽखिलात्[2]॥२४॥
ये मां स्तुवन्त्यनेनाङ्ग प्रतिबुध्य निशात्यये ।
तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विमलां मतिम् ॥२५॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे गजेन्द्र ! जो लोग रात्रिके पिछले पहरमें उठकर इन्द्रियनिग्रहपूर्वक एकाग्रचित्तसे मुझे, तुझे, तथा इस सरोवर, पर्वत, कन्दरा, वन, वेत, कीचक और बाँसोंके गुल्म, देववृक्ष, पर्वत-शिखर, मेरे ब्रह्माजीके और श्रीशङ्करके निवासस्थान, मेरे प्रियधाम, क्षीरसागर, प्रकाशमय श्वेतद्वीप, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला, मेरी कौमोदकी गदा, सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, पक्षिराज गरुड, मेरे सूक्ष्म अंश शेषजी, मेरे आश्रय रहनेवाली लक्ष्मीदेवी, ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, महादेवजी, प्रह्लादजी, मत्स्य, कूर्म, वराह आदि अवतारोंसे किये हुए मेरे अनन्तपुण्यमय चरित्र, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, ॐकार, सत्य, अव्यक्त, गौ, ब्राह्मण, अविनाशी धर्म, धर्मकी और चन्द्रमा तथा कश्यपकी पत्नियाँ दक्षकन्याएँ, गङ्गा, सरस्वती, नन्दा, कालिन्दी, ऐरावत, ध्रुव, सात ब्रह्मर्षिगण और पवित्रकीर्ति मनुष्य आदि मेरे रूपोंको स्मरण करेंगे वे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायँगे ॥ १७—२४ ॥ और हे प्रिय ! जो लोग रात्रिके बीतनेपर [तुम्हारे कहे हुए] इस स्तोत्रसे मेरी स्तुति करेंगे उन्हें प्राणान्तके समय भी मैं पवित्र बुद्धि दूँगा ॥ २५ ॥

श्रीशुक उवाच[3]

इत्यादिश्य हृषीकेशः प्रध्माय जलजोत्तमम् ।
हर्षयन्विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम् ॥२६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ऐसा कह भगवान् हृषीकेश अपना श्रेष्ठ शंख बजाकर देवताओं-को आनन्दित करते हुए गरुडपर आरूढ हुए ॥२६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे गजेन्द्रमोक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥[4]
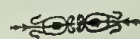
१. प्रणताः । २. तेऽघ्रशोऽखि० । ३. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' नहीं है । ४. मन्वन्तरानुवर्णने गजेन्द्र-मोक्षोपाख्याने चतु० ।

पाँचवाँ अध्याय

असुरोंद्वारा पराजित देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाना तथा ब्रह्माजीका देवताओंका दुःख दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करना ।

श्रीशुक उवाच

राजन्नुदितमेतत्ते हरेः कर्माघनाशनम् ।
गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं रैवतं त्वन्तरं शृणु ॥ १ ॥
पञ्चमो रैवतो नाम मनुस्तामससोदरः ।
बलिविन्ध्यादयस्तस्य सुता अर्जुनपूर्वकाः ॥ २ ॥
विभुरिन्द्रः सुरगणा राजन्भूतरयादयः ।
हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः ॥ ३ ॥
पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः ।
तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान्स्वयम् ॥ ४ ॥
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः ।
रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया ॥ ५ ॥
तस्यानुभावः कथितो गुणाश्च परमोदयाः ।
भौमान्रेणून्स विममे यो विष्णोर्वर्णयेद्गुणान् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला यह गजेन्द्रमोक्ष नामक श्रीहरिका पवित्र चरित्र तुमसे कहा; अब तुम रैवत मन्वन्तरका वृत्तान्त सुनो ॥ १ ॥ तामस मनुके सहोदर भाई रैवत पाँचवें मनु थे; उनके अर्जुन, बलि, विन्ध्य आदि कई पुत्र थे ॥ २ ॥ हे राजन् ! उस मन्वन्तरमें विभु इन्द्र थे, भूतरय आदि देवगण थे तथा हिरण्यरोमा, वेदशिरा और ऊर्ध्वबाहु आदि सप्तर्षिगण थे ॥ ३ ॥ उस समय जो शुभ्र ऋषिकी भार्या विकुण्ठा थी उसके गर्भसे साक्षात् भगवान्ने वैकुण्ठनामक देवश्रेष्ठोंके सहित अपने अंशसे वैकुण्ठ अवतार लिया था ॥ ४ ॥ जिन्होंने श्रीलक्ष्मीदेवीका प्रिय करनेके लिये उनकी प्रार्थनासे निखिल लोक-नमस्कृत वैकुण्ठधामकी रचना की ॥ ५ ॥ उन वैकुण्ठ भगवान्के परम उदार गुण और माहात्म्यका हम पहले [तृतीय स्कन्धमें संक्षेपसे] वर्णन कर चुके हैं, क्योंकि जो पुरुष उन भगवान् विष्णुके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन कर सकेगा वह तो पृथिवीके परमाणुओंकी भी गणना कर लेगा ॥ ६ ॥

षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः ।
पूरुपूरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः ॥ ७ ॥
इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्यादयो गणाः ।
मुनयस्तत्र वै राजन्हविष्मद्वीरकादयः ॥ ८ ॥
तत्रापि देवः संभूत्यां वैराजस्याभवत्सुतः ।
अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः ॥ ९ ॥
पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा ।
भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः ॥१०॥

छठा मनु चक्षुष्का पुत्र चाक्षुष था । उसके पूरु, पूरुष और सुद्युम्न आदि पुत्र थे ॥ ७ ॥ उस समय मन्त्रद्रुम नामक इन्द्र था, आप्य आदि देवगण थे तथा हविष्मान् और वीरक आदि सप्तर्षिगण थे ॥ ८ ॥ उस मन्वन्तरमें भी जगत्पति श्रीहरि अपने अंशसे वैराजकी भार्या सम्भूतिके गर्भसे उत्पन्न होकर 'अजित' नामसे विख्यात हुए ॥ ९ ॥ जिन्होंने समुद्रका मन्थन कर देवताओंको अमृत प्राप्त कराया था तथा जलमें घूमते हुए मन्दराचलको कूर्मरूपसे धारण किया था ॥ १० ॥

राजोवाच

यथा भगवता ब्रह्मन्मथितः क्षीरसागरः ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! जिस प्रकार भगवान्ने क्षीरसागरका मन्थन कराया, जिसके निमित्त

१. राजंश्चरितमेतत्ते । २. सपूर्वकः ।

यदर्थं वा यतश्चाद्रिं दधाराम्बुचरात्मना ॥११॥
यथामृतं सुरैः प्राप्तं किञ्चान्यद्भवत्ततः[1] ।
एतद्भगवतः कर्म वदस्व परमाद्भुतम् ॥१२॥
त्वया संकथ्यमानेन[2] महिम्ना सात्वतां पतेः ।
नातितृप्यति मे चित्तं सुचिरं तापतापितम् ॥१३॥

और जिस कारणसे कूर्मरूप होकर मन्दराचलको धारण किया, जिस प्रकार देवताओंको अमृत प्राप्त हुआ तथा उस समय अमृतके अतिरिक्त और जो-जो पदार्थ उत्पन्न हुए, भगवान्‌के उन सम्पूर्ण अद्भुत कर्मोंका हमसे वर्णन कीजिये ॥ ११-१२ ॥ चिरकालसे आध्यात्मिकादि तापोंसे सन्तप्त हुआ मेरा चित्त आपकी कही हुई भक्तभावन भगवान्‌की महिमाको सुनते-सुनते पूर्णतया तृप्त नहीं होता ॥ १३ ॥

सूत उवाच

सम्पृष्टो भगवानेवं द्वैपायनसुतो द्विजाः[3] ।
अभिनन्द्य हरेर्वीर्यमभ्याचष्टुं[4] प्रचक्रमे ॥१४॥

श्रीसूतजी बोले—हे विप्रगण ! राजाके इस प्रकार प्रश्न करनेपर व्यासपुत्र भगवान् श्रीशुकदेवजीने उनकी प्रशंसा करते हुए श्रीहरिके चरित्रोंका वर्णन करना आरम्भ किया ॥ १४ ॥

श्रीशुक उवाच

यदा युद्धेऽसुरैर्देवा बाध्यमानाः[5] शितायुधैः ।
गतासवो निपतिता नोत्तिष्ठेरन्स्म भूयशः ॥१५॥
यदा दुर्वाससः[6] शापात्सेन्द्रा लोकास्त्रयो नृप ।
निःश्रीकाश्चाभवंस्तत्र नेशुरिज्यादयः क्रियाः ॥१६॥
निशाम्यैतत्सुरगणा महेन्द्रवरुणादयः ।
नाध्यगच्छन्स्वयं मन्त्रैर्मन्त्रयन्तो विनिश्चयम् ॥१७॥
ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मेरोर्मूर्धनि सर्वशः ।
सर्वं विज्ञापयाञ्चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने ॥१८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जब युद्धमें असुरोंके तीक्ष्ण आयुधोंसे व्यथित हो प्राणहीन होकर पृथिवीपर गिरे हुए देवताओंमेंसे अधिकांश फिर [जीवित होकर] न उठे ॥ १५ ॥ और हे राजन् ! जब दुर्वासाजीके शापसे* इन्द्रके सहित तीनों लोक श्रीहीन हो गये, उनमें यज्ञादि कर्मोंका सर्वथा उच्छेद हो गया तथा यह सब दुर्दशा देखकर जब इन्द्र एवं वरुणादि देवगण आपसमें बहुत-कुछ विचार करनेपर भी स्वयं किसी बातका निश्चय न कर सके तो वे सब-के-सब सुमेरुके मध्य शिखरपर स्थित ब्रह्माजीकी सभामें गये और अति विनयपूर्वक सब बातें श्रीब्रह्माजीसे निवेदन कर दीं ॥ १६—१८ ॥

स विलोक्येन्द्रवाय्वादीन्निःसत्त्वान्विगतप्रभान् ।
लोकानमङ्गलप्रायानसुरानयथा विभुः ॥१९॥
समाहितेन मनसा संस्मरन्पुरुषं परम् ।
उवाचोत्फुल्लवदनो देवान्स भगवान्परः ॥२०॥

ब्रह्माजीने देखा कि इन्द्र, वायु आदि सम्पूर्ण देवगण निःसत्त्व एवं कान्तिहीन हो रहे हैं तथा समस्त लोक दुर्दशाग्रस्त हो गये हैं और दैत्योंकी दशा सर्वथा इसके विपरीत है [वे सब प्रकार फल-फूल रहे हैं] तो उन भगवान् परमेष्ठीने एकाग्रचित्तसे परमपुरुष श्रीनारायणका चिन्तन कर प्रसन्नवदन हो उनसे इस प्रकार कहा—॥ १९-२० ॥

१. किमन्यदभ० । २. संकीर्त्यमाने० । ३. द्विजः । ४. वीर्यं क्रमशो वक्तुमारभे । ५. वद्ध्यमानास्तथायुधैः । ६. दुर्वासशापेन ।

* यह प्रसंग विष्णुपुराणमें इस प्रकार आया है । एक बार श्रीदुर्वासाजी वैकुण्ठलोकसे आ रहे थे । मार्गमें ऐरावतपर चढ़े देवराज इन्द्र मिले । उन्हें त्रिलोकाधिपति जानकर दुर्वासाजीने भगवान्‌के प्रसादकी माला दी; किन्तु इन्द्रने ऐश्वर्यके मदसे उसका कुछ भी आदर न कर ऐरावतके मस्तकपर डाल दी । ऐरावतने उसे सूँड़में लेकर पैरोंसे कुचल डाला । इससे दुर्वासाजीने क्रोधित होकर शाप दिया कि तू तीनों लोकोंसहित शीघ्र ही श्रीहीन हो जायगा ।

अहं भवो यूयमथोऽसुरादयो
मनुष्यतिर्यग्द्रुमघर्मजातयः ।
यस्यावतारांशकलाविसर्जिता
व्रजाम सर्वे शरणं तमव्ययम् ॥२१॥
न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो
नोपेक्षणीयादरणीयपक्षः ।
अथापि[1] सर्गस्थितिसंयमार्थं
धत्ते रजःसत्त्वतमांसि काले ॥२२॥
अयं च[2] तस्य स्थितिपालनक्षणः
सत्त्वं जुषाणस्य भवाय देहिनाम् ।
तस्माद्व्रजामः शरणं जगद्गुरुं
स्वानां स नो धास्यति शं सुरप्रियः ॥२३॥

श्रीशुक उवाच

इत्याभाष्य सुरान्वेधाः सह देवैररिन्दम ।
अजितस्य पदं साक्षाज्जगाम तमसः परम् ॥२४॥
तत्रादृष्टस्वरूपाय श्रुतपूर्वाय वै विभो ।
स्तुतिमब्रूत दैवीभिर्गीर्भिस्त्ववहितेन्द्रियः ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं
गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं
नमामहे देववरं वरेण्यम् ॥२६॥
विपश्चितं प्राणमनोधियात्मना-
मर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमव्रणम् ।
छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ
तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे[3] ॥२७॥
अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं
मनोमयं पञ्चदशारमाशु ।

हे देवगण! मैं, महादेवजी, तुमलोग, असुरगण तथा मनुष्य, तिर्यक्, वृक्ष एवं स्वेदजादि सम्पूर्ण जीव जिन पुरुषावतारके एक अंशके भी अंशसे रचे गये हैं हम सब उन्हीं अविनाशी प्रभुकी शरण लेते हैं ॥ २१ ॥ उनकी दृष्टिमें न कोई वध करने योग्य है, न रक्षा करने योग्य है और न उपेक्षा अथवा आदर करने योग्य है, तो भी संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये वे समयानुसार क्रमशः रजोगुण, सत्त्वगुण एवं तमोगुणको स्वीकार करते हैं ॥ २२ ॥ इस समय प्राणियोंके अभ्युदयके लिये वे सत्त्वगुणको स्वीकार किये हुए हैं; यह उनका जगत्की रक्षा करनेका अवसर है । अतः हम उन जगद्गुरुकी शरण लेते हैं । वे देवताओंके सुहृद् हैं, अतः वे अवश्य ही हम स्वजनोंका कल्याण करेंगे ॥२३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे शत्रुदमन! देवताओंसे इस प्रकार कह भगवान् ब्रह्माजी उनको साथ ले तमोगुणके उस पार भगवान् अजितके निवासस्थान क्षीरसागरको गये ॥ २४ ॥ वहाँ इन्द्रियोंको एकाग्र कर, जिनका स्वरूप कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ किन्तु जिनका पहले [बारम्बार] श्रवण किया गया है उन सर्वव्यापक हरिकी लोकमें अप्रसिद्ध वैदिक वाणीसे स्तुति करने लगे ॥ २५ ॥

श्रीब्रह्माजी बोले—जो निर्विकार, सत्य, अनन्त, आदि पुरुष बुद्धिरूपी गुहामें स्थित, निष्कल, अतर्क्य, मनसे भी आगे चलनेवाले, वाणीके अविषय और भजनीय हैं उन देवश्रेष्ठको हम नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥ जो प्राण, मन, बुद्धि और अहंकारको जाननेवाले, शब्दादि विषय और इन्द्रियोंसे भासित होनेवाले, अज्ञाननिद्रासे रहित और देहहीन हैं तथा जिनमें जीवके पक्षरूप अविद्या और विद्या दोनों ही नहीं हैं उन अक्षर आकाशशरीर त्रियुगकी हम शरण लेते हैं ॥ २७ ॥ जिसमें मन प्रधान है, पन्द्रह (दश इन्द्रियाँ और पाँच प्राण) अरे हैं, त्रिगुणरूप नाभि है, जो बिजलीके समान चञ्चल और अत्यन्त शीघ्रगामी है, आठ प्रकृतियाँ ही जिसके नेमियोंके समान

१. तथापि । २. तु । ३. नमामहे ।

त्रिणाभि विद्युच्चलमष्टनेमि
यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये ॥२८॥

यं एकवर्णं तमसः परं त-
दलोकमव्यक्तमनन्तपारम् ।
आसाञ्चकारोपसुपर्णमेन-
मुपासते योगरथेन धीराः ॥२९॥

न यस्य कश्चातितितर्ति मायां
यया जनो मुह्यति वेद नार्थम् ।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं
ननाम भूतेषु समं चरन्तम् ॥३०॥

इमे वयं यत्प्रिययैव तन्वा
सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्तराविः ।
गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे
कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः ॥३१॥

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य
चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः ।
स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥३२॥

अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं
सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः ।
लोकास्त्रयोऽथाखिललोकपालाः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥३३॥

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः ।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३४॥

अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा ।
अन्तःसमुद्रेऽनुपचन्स्वधातून्

आवरण हैं, अजन्मा जीवके मायाद्वारा प्रेरित उस शरीररूप चक्रके जो आधार हैं उन सत्यस्वरूप भगवान्‌की हम शरण लेते हैं ॥ २८ ॥

जो एकमात्र ज्ञानस्वरूप, प्रकृतिसे परे, अदृश्य, अव्यक्त, अनन्तपार (देश-कालादि परिच्छेदशून्य) और जीवके समीप उसके नियन्तारूपसे स्थित हैं, विवेकीजन जिनकी योगमार्गसे उपासना करते हैं ॥ २९ ॥ जिससे मोहित होकर जीव अपने आत्मस्वरूप-को नहीं जानता ऐसी जिनकी मायाको कोई पार नहीं कर सकता, किन्तु उस अपनी मायारूप शक्तिको जिन्होंने जीत लिया है, सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानभावसे स्थित उन परमेश्वरको हम नमस्कार करते हैं ॥ ३० ॥ रजोगुण-तमोगुण-प्रधान असुरादिका तो कहना ही क्या, जिनके परमप्रिय सात्त्विकांशसे उत्पन्न हुए हम देवता और ऋषिगण भी [सत्ता और प्रकाशरूपसे] अपने बाहर-भीतर विराजमान जिनके सूक्ष्म स्वरूपको नहीं जान सकते [उन परमेश्वरको हम नमस्कार करते हैं] ॥ ३१ ॥

जिसमें [जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज] चार प्रकारके प्राणी रहते हैं वह अपनी ही रची हुई पृथिवी ही जिनकी चरणस्थान हैं वे परमस्वतन्त्र परमपुरुष परमेश्वर परब्रह्म हमपर प्रसन्न हों ॥ ३२ ॥ जिनसे तीनों लोक और सम्पूर्ण लोकपाल उत्पन्न होते, बढ़ते और जीवित रहते हैं वह महान् शक्तिसम्पन्न जल जिनका वीर्य है वे परमऐश्वर्यवान् परब्रह्म हमपर प्रसन्न हों ॥ ३३ ॥ जिसे देवताओंका बल अन्न एवं आयु कहते हैं तथा जो वृक्षोंका अधीश्वर और प्रजाओं-की वृद्धि करनेवाला है वह चन्द्रमा जिनका मन है वे परमऐश्वर्यशाली प्रभु हमपर प्रसन्न हों ॥ ३४ ॥ जिसका जन्म यज्ञादि कर्मकाण्डको सम्पादन करनेके लिये हुआ है, जो [जठराग्निरूपसे] शरीरके भीतर और [वडवानलरूपसे] समुद्रमें वहाँ रहनेवाले धातुओं (अन्न और जल) को पचाता है, सम्पूर्ण द्रव्योंकी उत्पत्तिका कारणरूप वह अग्नि जिनका मुख

१. यदेकवर्णं मनसः परं । २. मन्नमायुः । ३. ब्रह्म महा० ।

प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३५॥
यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३६॥
प्राणादभूद्यस्य चराचराणां
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः ।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३७॥
श्रोत्राद्दिशो यस्य हृदश्च खानि
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः ।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३८॥
बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादा-
न्मन्योर्गिरीशो धिषणाद्विरिञ्चः ।
खेभ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥३९॥
श्रीर्वक्षसः पितरश्छाययास-
न्धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत् ।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारा-
त्प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४०॥
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं
राजन्य आसीद्भुजयोर्बलं च ।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४१॥
लोभोऽधरात्प्रीतिरुपर्यभूद्द्युति-
र्नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः ।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४२॥
द्रव्यं वयः कर्मगुणान्विशेषं
यद्योगमायाविहितान्वदन्ति ।

है वे परमऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा हमपर प्रसन्न हों ॥ ३५ ॥ अर्चिरादि मार्गके अधिष्ठातृदेव, वेदत्रयीमय, परब्रह्मकी उपासनाके आश्रय, मुक्तिके द्वार, [पुण्य लोकस्वरूप होनेसे] अमृतमय तथा [कालात्मक होनेसे] मृत्युरूप सूर्यदेव जिनके नेत्र हैं वे परम-ऐश्वर्यवान् भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥३६॥ जो चराचर जीवोंका मानसिक, शारीरिक और ऐन्द्रियिक बल है तथा चक्रवर्ती सम्राटके अनुयायियोंके समान हम सब जिसका अनुगमन करते हैं वह प्राणवायु जिनके प्राणसे प्रकट हुआ है वे परमऐश्वर्यशाली प्रभु हमपर प्रसन्न हों ॥ ३७ ॥

जिनके श्रोत्रसे दिशाएँ, हृदयसे इन्द्रियगोलक तथा नाभिसे प्राण (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान), इन्द्रिय, मन, असु (नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय) और शरीरका आश्रयरूप आकाश उत्पन्न हुआ है वे परमऐश्वर्यसम्पन्न स्वामी हमपर प्रसन्न हों ॥ ३८ ॥ जिनके बलसे इन्द्र, प्रसाद-से सकल देवगण, क्रोधसे महादेवजी, बुद्धिसे ब्रह्मा, इन्द्रियोंसे वेद और ऋषिगण तथा शिश्नसे प्रजापति उत्पन्न हुए हैं वे परमऐश्वर्यवान् भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ३९ ॥ जिनके वक्षःस्थलसे लक्ष्मी, छाया-से पितृगण, स्तनसे धर्म, पीठसे अधर्म, शिरसे आकाश और विहारसे अप्सराएँ प्रकट हुई हैं वे परम ऐश्वर्य-शाली प्रभु हमपर प्रसन्न हों ॥ ४० ॥ जिनके मुखसे ब्राह्मण और गुह्यार्थविशिष्ट वेद, भुजाओंसे क्षत्रिय और बल, उरुओंसे वैश्य और उनकी वृत्ति तथा चरणोंसे वेदबाह्य शुश्रूषादि वृत्ति तथा उससे युक्त शूद्रगण उत्पन्न हुए हैं वे परमऐश्वर्यवान् परमात्मा हमपर प्रसन्न हों ॥ ४१ ॥ जिनके नीचेके अधरसे लोभ, ऊपरके ओष्ठसे प्रीति, नासिकासे कान्ति, स्पर्शसे पशुओंका प्रिय काम, भ्रुकुटियोंसे यम और नेत्रके पलकोंसे कालका आविर्भाव हुआ है वे महाविभूतिशाली परमेश्वर हमपर प्रसन्न हों ॥ ४२ ॥ पञ्चभूत, काल, कर्म, सत्त्वादि गुण तथा सर्वथा अनिर्वचनीय और विद्वानोंद्वारा अनात्मरूपसे

१. ब्रह्म महा० । २. गिरित्रो । ३. मुखाद् । ४. सीत्करयो० । ५. उर्वोर्विशोऽङ्घ्रेरभवच्च शूद्रः । ६. णावशेषं ।

यद्दुर्विभाव्यं प्रबुधापबाधं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥४३॥
नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये
स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने ।
गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभि-
र्न सज्जमानाय नभस्वदूतये ॥४४॥

स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम् ।
प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम् ॥४५॥
तैस्तैः स्वेच्छाधृतै रूपैः काले काले स्वयं विभो[1] ।
कर्म दुर्विषहं यन्नो भगवांस्तत्करोति हि ॥४६॥
क्लेशभूर्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा ।
देहिनां विषयार्तानां न तथैवार्पितं त्वयि ॥४७॥
नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्वरार्पितः ।
कल्पते पुरुषस्यैष स ह्यात्मा दयितो हितः ॥४८॥
यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम् ।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ॥४९॥
नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे ।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम् ॥५०॥

त्याग किये जानेयोग्य सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्च—ये सब जिनकी योगमायासे उत्पन्न हुए कहे जाते हैं वे महाविभूतिशाली प्रभु हमपर प्रसन्न हों ॥ ४३ ॥ जिनमें सम्पूर्ण शक्तियाँ शान्त हो गयी हैं, जिनका मन आत्मानन्दके लाभसे परिपूर्ण है, जो दर्शनादि वृत्तियोंसे मायिक गुणोंमें आसक्त नहीं होते, वायुके समान सर्वत्र असंगभावसे क्रीडा करनेवाले उन परमात्माको नमस्कार है ॥ ४४ ॥

[जो इस प्रकार महाविभूतिसम्पन्न हैं] ऐसे आप, अपने मधुर मुसकानमय मुखारविन्दके दर्शनकी अभिलाषा रखनेवाले तथा आपकी शरणमें आये हुए हम दासोंको अपना वह स्वरूप दिखाइये जो हमारी इन्द्रियोंका विषय हो सके ॥४५॥ प्रभो! [आपकी भक्तवत्सलता तो प्रसिद्ध ही है क्योंकि] आप समय-समयपर अपनी इच्छासे ही, भिन्न-भिन्न रूप धारण कर, जिनका करना हमारे लिये अत्यन्त कठिन है ऐसे दुष्कर कर्मोंको करते रहते हैं ॥४६॥ विषयासक्त पुरुषोंके कर्म जिस प्रकार क्लेश-बहुल किन्तु सारहीन अथवा निष्फल होते हैं उस प्रकार आपको समर्पित किये हुए कर्म नहीं होते ॥४७॥ भगवान् जीवके आत्मा, प्रिय और हितकारी हैं; अतः उन्हें समर्पण किया हुआ स्वल्प कर्माभास भी विफल नहीं होता ॥४८॥ जिस प्रकार वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसके स्कन्ध और शाखा आदिका भी सिञ्चन हो जाता है, उसी प्रकार श्रीविष्णु भगवान्‌की आराधनासे सम्पूर्ण देवगणोंकी और अपनी भी आराधना हो जाती है ॥४९॥ जो अनन्त, अचिन्त्य-कर्मा, निर्गुण, गुणाधीश तथा इस समय सत्त्वगुणमें स्थित हैं ऐसे आपको नमस्कार है ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे-
ऽमृतमथने पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

१. प्रभो। २. विभुः।
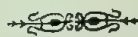
छठा अध्याय

भगवान्‌की आज्ञासे देवताओंका असुरोंके साथ मिलकर समुद्र-मन्थनके लिये उद्योग करना।

श्रीशुक उवाच

एवं स्तुतः सुरगणैर्भगवान्हरिरीश्वरः ।
तेषामाविरभूद्राजन्सहस्रार्कोदयद्युतिः ॥ १ ॥
तेनैव महसा सर्वे देवाः प्रतिहतेक्षणाः ।
नापश्यन्खं दिशः क्षोणिमात्मानं च कुतो विभुम् ॥ २ ॥
विरिञ्चो भगवान्दृष्ट्वा सह शर्वेण तां तनुम् ।
स्वच्छां मरकतश्यामां कञ्जगर्भारुणेक्षणाम् ॥ ३ ॥
तप्तहेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा ।
प्रसन्नचारुसर्वाङ्गीं सुमुखीं सुन्दरभ्रुवम् ॥ ४ ॥
महामणिकिरीटेन केयूराभ्यां च भूषिताम् ।
कर्णाभरणनिर्भातकपोलश्रीमुखाम्बुजाम् ॥ ५ ॥
काञ्चीकलापवलयहारनूपुरशोभिताम् ।
कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीं बिभ्रतीं वनमालिनीम् ॥ ६ ॥
सुदर्शनादिभिः स्वास्त्रैर्मूर्तिमद्भिरुपासिताम् ।
तुष्टाव देवप्रवरः सशर्वः पुरुषं परम् ॥
सर्वामरगणैः साकं सर्वाङ्गैरवनिं गतैः ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! देवताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर सहस्रों सूर्योदयोंके समान देदीप्यमान भगवान् हरि उनके सामने प्रकट हुए ॥ १ ॥ भगवान्‌के उस तेजसे नेत्रोंमें चकाचौंध हो जानेके कारण देवगण, भगवान्‌को तो क्या, आकाश, दिशा, पृथिवी और स्वयं अपनेको भी नहीं देख सके ॥ २ ॥ जब, श्रीमहादेवजीके सहित भगवान् ब्रह्माजी-ने श्रीहरिका वह मरकतमणिके समान श्याम तथा कमलकोशके सदृश अरुणनयनयुक्त स्वच्छ शरीर देखा, जो तपाये हुए सुवर्णकी-सी आभावाले रेशमी पीताम्बरसे सुशोभित, प्रसन्न और सुन्दर अङ्गोंसे युक्त, मनोहर मुखवाला, सुन्दर भ्रुकुटियोंवाला तथा महामणिमय किरीट और केयूरोंसे विभूषित था, जिसका मुखकमल कानोंमें झलकते हुए कुण्डलोंकी कान्तिसे शोभायमान कपोलोंसे युक्त था, जो कर्धनीकी लड़ियों, कंकड़ों, हारों और नूपुरोंसे सुशोभित, कौस्तुभमणिमण्डित, (वक्षःस्थलमें) लक्ष्मीजी और (गलेमें) वनमाला धारण किये तथा सुदर्शन चक्रादि अपने मूर्तिमान् आयुधोंसे सेवित था, तो उसे देखते ही श्रीमहादेवजी और पृथिवीपर साष्टाङ्ग-भावसे पड़े हुए समस्त देवताओंके सहित देवश्रेष्ठ ब्रह्माजी उन परमपुरुषकी स्तुति करने लगे ॥ ३—७ ॥

ब्रह्मोवाच

अजातजन्मस्थितिसंयमाया-
गुणाय निर्वाणसुखार्णवाय ।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने
महानुभावाय नमो नमस्ते ॥ ८ ॥
रूपं तवैतत्पुरुषर्षभेज्यं
श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ।
योगेन धातः सह नस्त्रिलोका-
न्पश्याम्यमुष्मिन्नु ह विश्वमूर्तौ ॥ ९ ॥
त्वय्यग्र आसीत्त्वयि मध्य आसी-

श्रीब्रह्माजी बोले—जिनके जन्म, स्थिति और प्रलय कभी नहीं होते उन निर्गुण, मोक्षानन्दके समुद्र, अणुसे भी अणु, अपरिच्छिन्नस्वरूप महामहिम प्रभुको बारम्बार नमस्कार है ॥ ८ ॥ हे पुरुषोत्तम ! अपना श्रेय चाहनेवाले पुरुषोंको आपके इस दिव्य रूपकी वैदिक और तान्त्रिक विधिसे पूजा करनी चाहिये । हे धातः ! आपके इस विश्वमय स्वरूपमें मुझे, हम देवगणके सहित तीनों लोक दिखायी देते हैं ॥ ९ ॥ आप प्रकृतिसे भी परे हैं । यह सम्पूर्ण जगत् पहले आपहीमें लीन था तथा मध्य और अन्तमें भी आप

स्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे ।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥१०॥
त्वं माययात्माश्रयया स्वयेदं
निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः ।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो
गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः ॥११॥
यथाग्निमेधस्यमृतं च गोषु
भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम् ।
योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां
गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति ॥१२॥
तं त्वां वयं नाथ समुज्जिहानं
सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थम् ।
दृष्ट्वा गता निर्वृतिमद्य सर्वे
गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः ॥१३॥
स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला
वयं यदर्थास्तव पादमूलम् ।
समागतास्ते बहिरन्तरात्म-
न्किं वान्यविज्ञाप्यमशेषसाक्षिणः ॥१४॥
अहं गिरित्रश्च सुरादयो ये
दक्षादयोऽग्नेरिव केतवस्ते ।
किंवा विदामेश पृथग्विभाता
विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम् ॥१५॥

श्रीशुक उवाच

एवं विरिञ्चादिभिरीडितस्त-
द्विज्ञाय तेषां हृदयं तथैव ।
जगाद जीमूतगभीरया गिरा
बद्धाञ्जलीन्संवृतसर्वकारकान्[१] ॥१६॥
एक एवेश्वरस्तस्मिन्सुरकार्ये[२] सुरेश्वरः ।

स्वतन्त्र परमात्मामें ही स्थित रहता है। घटके उपादान कारण मृत्तिकाके समान इस जगत्के आदि, अन्त और मध्यमें आप ही स्थित हैं ॥१०॥ आप अपने आश्रित रहनेवाली मायासे इस जगत्की रचना-कर इसमें अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। इसलिये सावधान-चित्त विवेकी और शास्त्रज्ञजन अपने मनसे गुणोंके कार्यभूत इस संसारमें भी निर्गुणरूपसे आपका ही साक्षात्कार करते हैं ॥११॥ जिस प्रकार मनुष्य [घर्षण, दोहन, कर्षण और खनन आदि] उपायों-से लकड़ीमें अग्नि, गौमें दूध, भूमिमें अन्न और जल तथा व्यापारमें जीविका प्राप्त करते हैं उसी प्रकार विवेकीजन अपनी विशुद्ध बुद्धिसे आपको सम्पूर्ण विषयोंमें उपलब्ध कर आपका वर्णन करते हैं ॥१२॥ हे पद्मनाभ ! जिस प्रकार दावाग्निसे सन्तप्त हुआ हाथी गङ्गाजल पाकर शान्त हो जाता है उसी प्रकार जिनके लिये हम बहुत दिनोंसे लालायित थे ऐसे आपको आविर्भूत हुए देखकर आज हम सबको परमानन्द प्राप्त हुआ है ॥१३॥ हे बहिरन्तरात्मन् ! हम समस्त लोकपालगण जिसके लिये आपके चरणों-की शरणमें आये हैं वह सब कार्य आप पूर्ण कीजिये। आप सबके साक्षी हैं; अतः इस विषयमें आपको और क्या बताया जाय ? ॥१४॥ मैं, महादेवजी, अन्य देवगण तथा दक्ष आदि प्रजापति-गण अग्निसे उत्पन्न हुई चिनगारियोंके समान अपनेको आपसे पृथक् समझकर क्या अपना श्रेय समझ सकते हैं ? अतः हे ईश ! अब आप ही हम देवता और ब्राह्मणोंके लिये जो कर्तव्य हो उसका आदेश दीजिये ॥१५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ब्रह्मादि देवगणके इस प्रकार स्तुति करनेपर तथा उनके आन्तरिक भावको जानकर श्रीभगवान्ने, सकल इन्द्रियोंको रोककर सामने हाथ जोड़े खड़े हुए उन देवगणसे, मेघके समान गम्भीर वाणीसे कहा ॥१६॥ हे राजन् ! देवेश्वर हरि देवताओंके उस कार्यको करनेमें यद्यपि अकेले ही समर्थ थे; तथापि समुद्रमन्थनादिद्वारा क्रीडा

१. कायान्। २. एव वृतस्तस्मि०।

विहर्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो हे देवा मम भाषितम् ।
शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद्यथा सुराः ॥१८॥
यात दानवदैतेयैस्तावत्सन्धिर्विधीयताम् ।
कालेनानुगृहीतैस्तैर्यावद्वो भव आत्मनः ॥१९॥
अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे ।
अहिमूषकवद्देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥२०॥
अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलम्बितम् ।
यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत् ॥२१॥
क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम् ॥२२॥
सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः ।
क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः ॥२३॥
यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः ।
न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा॥२४॥
न भेतव्यं कालकूटाद्विषाज्जलधिसम्भवात् ।
लोभः कार्यो न वो जातु रोषः कामस्तु वस्तुषु ॥२५॥

श्रीशुक उवाच

इति देवान्समादिश्य भगवान्पुरुषोत्तमः ।
तेषामन्तर्दधे राजन्स्वच्छन्दगतिरीश्वरः ॥२६॥
अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामहः ।

करनेकी इच्छासे वे उनसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १७ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे ब्रह्माजी ! हे शङ्कर ! हे देवगण ! तुम सब लोग सावधान होकर मेरा कथन सुनो, जिस प्रकार कि तुम्हारा कल्याण होगा ॥१८॥ जाओ, जबतक तुम्हारे अभ्युदयका समय न आवे तबतकके लिये दैत्य और दानवोंसे सन्धि कर लो, क्योंकि यह समय उनके अनुकूल है ॥१९॥ हे देवगण ! कोई बड़ा कार्य सिद्ध करना हो तो शत्रुओंसे भी मेल कर लेना चाहिये । हाँ, कार्य सिद्ध हो जानेपर फिर सर्प और चूहेके समान * बर्ताव करना उचित है ॥२०॥ तुम सब लोग मिलकर अमृत निकालनेका प्रयत्न करो जिसको पी लेनेपर मरणधर्मा जीव अमर हो जाता है ॥२१॥ (पहले) क्षीरसमुद्रमें सब प्रकारके तृण, लता और ओषधियाँ डालो, फिर मन्दराचलको मथानी और वासुकिनागको नेती बनाकर सावधानतापूर्वक मेरे साथ मिलकर मन्थन करो । इससे दैत्योंके भागमें तो केवल क्लेश ही आवेगा, फल सारा तुम्हींको मिलेगा ॥२२-२३॥ हे देवगण ! इस समय दैत्यलोग जैसा चाहें उसीका तुम अनुमोदन कर दो, क्योंकि सभी कार्य जैसे शान्तिपूर्वक सिद्ध होते हैं वैसे क्रोधसे नहीं होते ॥२४॥ समुद्रसे जो कालकूट विष उत्पन्न हो उससे तुम किसी प्रकारका भय मत करना तथा अन्य रत्नोंके लिये किसी प्रकारका लोभ, उनकी कामना अथवा [उनके प्राप्त न होनेपर] क्रोध भी मत करना ॥२५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! देवताओंको इस प्रकार आज्ञा दे स्वच्छन्दगति जगदीश्वर भगवान् पुरुषोत्तम उनके सामनेसे अन्तर्धान हो गये ॥२६॥ तदनन्तर उन श्रीभगवान्‌को नमस्कार कर पितामह

१. समुद्रमथनादिभिः । २. गताः । ३. जलौषधीः । ४. च । ५. कामः स्ववस्तुषु । ६. मति० ।

* एक बार एक चूहा पिटारीमें बन्द हो गया । उसमें एक सर्प भी था । सर्पने उससे प्रेम-प्रकट करते हुए उस पिटारीको काटनेका अनुरोध किया और सुझाया कि हम दोनों उसी मार्गसे निकल चलेंगे । चूहेने वैसा ही किया, किन्तु जब छिद्र तैयार हो गया तो सर्प उस चूहेको निगलकर पिटारीसे निकल गया ।

भवश्च जग्मतुः स्वं स्वं धामोपेयुर्बलिं सुराः ॥२७॥

दृष्ट्वारीनप्यसंयत्ताञ्जातक्षोभान्स्वनायकान् ।
न्यषेधद्दैत्यराट् छ्लोक्यः सन्धिविग्रहकालवित् ॥२८॥

ते वैरोचनिमासीनं गुप्तं चासुरयूथपैः ।
श्रिया परमया जुष्टं जिताशेषमुपागमन् ॥२९॥

महेन्द्रः श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयित्वा महामतिः ।
अभ्यभाषत तत्सर्वं शिक्षितं पुरुषोत्तमात् ॥३०॥

तदरोचत[1] दैत्यस्य तत्रान्ये येऽसुराधिपाः ।
शम्बरोऽरिष्टनेमिश्च ये च त्रिपुरवासिनः ॥३१॥

ततो देवासुराः कृत्वा संविदं कृतसौहृदाः ।
उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परंतप ॥३२॥

ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः ।
नदन्त उदधिं निन्युः शक्ताः परिघबाहवः ॥३३॥

दूरभारोद्वहश्रान्ताः शक्रवैरोचनादयः ।
अपारयन्तस्तं वोढुं विवशा विजहुः पथि ॥३४॥

निपतन्स गिरिस्तत्र बहूनमरदानवान् ।
चूर्णयामास महता भारेण कनकाचलः ॥३५॥

तांस्तथा भग्नमनसो भग्नबाहूरुकन्धरान् ।
विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः ॥३६॥

गिरिपातविनिष्पिष्टान्विलोक्यामरदानवान् ।
ईक्षया जीवयामास निर्जरान्निर्व्रणान्यथा ॥३७॥

ब्रह्माजी और श्रीमहादेव तो अपने-अपने लोकोंको चले गये तथा देवगण राजा बलिके पास आये ॥२७॥ उस समय शत्रुओंको युद्धके लिये सजे हुए न देख सन्धि और विग्रहके अवसरको जाननेवाले परमयशस्वी दैत्यराजने अपने युद्धोत्सुक सेनानायकोंको रोक दिया ॥२८॥

तब देवतालोग असुरसेनापतियोंसे सुरक्षित, राजसिंहासनपर विराजमान, अत्यन्त शोभासम्पन्न तथा सम्पूर्ण लोकोंको जीतनेवाले विरोचननन्दन बलिके पास आये ॥२९॥ वहाँ पहुँचकर महामति इन्द्रने मधुर वाणीसे समझाते हुए राजा बलिसे वे सब बातें कहीं जो उन्हें श्रीपुरुषोत्तम भगवान्ने सिखलायी थीं ॥३०॥ देवराजकी यह बात दैत्यपति बलि तथा वहाँ बैठे हुए शम्बर, अरिष्टनेमि और अन्यान्य त्रिपुरवासी असुर-यूथपोंको भी अच्छी मालूम हुई ॥३१॥ हे परन्तप ! तब देवता और असुरोंने एक दूसरेकी बात मानकर आपसमें सन्धि कर ली और अमृत-प्राप्तिके लिये महान् उद्योग आरम्भ किया ॥३२॥ तदनन्तर, परिघके समान भुजाओंवाले और परम शक्तिशाली उन दुर्मद देवता और दैत्योंने अति उत्साहपूर्वक मन्दराचलको उखाड़ लिया और गर्जना करते हुए उसे समुद्रके पास ले जाने लगे ॥३३॥ उस पर्वतके भारको बहुत दूरतक ले जानेके कारण इन्द्र और बलि आदि देवता एवं असुरगण बहुत थक गये और उसे आगे ले जानेमें असमर्थ होनेके कारण विवश हो मार्गहीमें छोड़ दिया ॥३४॥ वहाँ गिरते-गिरते उस कनकाचलने अपने भारी भारसे बहुत-से देवता और दानवोंको पीस डाला ॥३५॥

तब यह जानकर कि उन देवता और दानवोंके भुजा, ऊरु एवं कन्धे आदि क्षत-विक्षत हो गये हैं तथा उनका मानसिक उत्साह ढीला पड़ गया है, वहाँ भगवान् गरुडध्वज प्रकट हुए ॥३६॥ उन्होंने देवता और असुरोंको पर्वतके गिरनेसे कुचले हुए देखकर देवताओंको अपनी दृष्टिसे ही पूर्ववत् क्षतिसे रहित (स्वस्थ) एवं जीवित कर दिया। तब वे पहलेहीके समान सशक्त और व्रणहीन हो गये ॥३७॥

[1] तत्त्वरो० ।

गिरिं चारोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया ।
आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः ॥३८॥
अवरोप्य गिरिं स्कन्धात्सुपर्णः पततां वरः ।
ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः ॥३९॥

तदनन्तर, उस पर्वतको लीलापूर्वक एक ही हाथसे उठाकर गरुडपर रख लिया और फिर स्वयं भी चढ़कर समस्त देवता और असुरोंके सहित समुद्रतटपर आये ॥३८॥ फिर पक्षिश्रेष्ठ गरुड उस पर्वतको अपने कन्धेसे जलमें उतारकर श्रीहरिके विदा* करनेपर वहाँसे चले गये ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे अमृतमथने
मन्दराचलानयनं[1] नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

समुद्रमन्थनका आरम्भ; भगवान् शङ्करका विषपान।

श्रीशुक उवाच

ते नागराजमामन्त्र्य फलभागेन वासुकिम् ।
परिवीय गिरौ तस्मिन्नेत्रमब्धिं मुदान्विताः ॥ १ ॥
आरेभिरे सुसंयत्ता[2] अमृतार्थं कुरूद्वह ।
हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन् ॥ २ ॥
तन्नैच्छन्दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम् ।
न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम् ॥ ३ ॥
स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः प्रख्याता जन्मकर्मभिः ।
इति तूष्णीं स्थितान्दैत्यान्विलोक्य पुरुषोत्तमः ।
स्मयमानो विसृज्याग्रं पुच्छं जग्राह सामरः ॥ ४ ॥
कृतस्थानविभागास्त एवं कश्यपनन्दनाः ।
ममन्थुः परमायत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम् ॥ ५ ॥
मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत् ।
ध्रियमाणोऽपि[3] बलिभिर्गौरवात्पाण्डुनन्दन ॥ ६ ॥
ते सुनिर्विण्णमनसः[4] परिम्लानमुखश्रियः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! फिर उन्होंने समुद्रमन्थनसे प्राप्त होनेवाले फलमें साझी बनाकर नागराज वासुकिको भी आमन्त्रित कर उस पर्वतके चारों ओर नेतीके समान लपेटा और अमृतप्राप्तिके लिये अति प्रयत्नपूर्वक समुद्रको मथना आरम्भ किया । उस समय पहले-पहल श्रीहरिने वासुकिका मुख पकड़ा, तब अन्य देवगण भी उसी ओर लग गये ॥१-२॥ दैत्योंको परमपुरुष श्रीनारायणकी यह चेष्टा अच्छी नहीं लगी । [वे कहने लगे—] 'हम वेद-शास्त्रके ज्ञाता और जन्म-कर्मादिमें भी प्रशस्त हैं, अतः सर्पके इस अमंगल अंग पूँछको नहीं पकड़ सकते ।' उन दैत्योंको ऐसा कहकर चुपचाप बैठे देख पुरुषोत्तम श्रीहरिने मुसकाते हुए वासुकिका मुख छोड़ दिया और देवताओंके सहित उन्होंने उसकी पूँछ पकड़ ली ॥३-४॥ इस प्रकार अपने स्थानोंका विभाग कर वे कश्यपजीके पुत्र देवता और असुरगण अमृतप्राप्तिके लिये बड़ी तत्परतासे समुद्रको मथने लगे ॥५॥

हे पाण्डुपुत्र ! किन्तु जब समुद्र मथा जाने लगा तो महाबली देवता और असुरोंके बहुत कुछ साधनेपर भी कोई आधार न होनेके कारण वह पर्वत जलमें डूबने लगा ॥६॥ इस प्रकार अति बलवान् विधाताद्वारा

१. प्राचीन प्रतिमें 'मन्दराचलानयनं नाम' इतना अंश नहीं है । २. सुरायत्ता अमृतार्थाः । ३. ऽतिबलि० । ४. तु नि० ।

* गरुडजीके रहते हुए वहाँ वासुकि सर्प नहीं आ सकता था, इसलिये भगवान्‌ने उन्हें विदा कर दिया ।

आसन्स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिबलीयसा ॥ ७ ॥
विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं मह-
त्प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥ ८ ॥
तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः
समुत्थिता[1] निर्मथितुं सुरासुराः ।
दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन-
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥ ९ ॥
सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्यवेपितं
परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः ।
बिभ्रत्तदावर्तन[2]मादिकच्छपो
मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः ॥१०॥

अपना पुरुषार्थ नष्ट होता देख वे मनमें अत्यन्त खिन्न हुए और उनके मुखकी कान्ति मलिन हो गयी ॥७॥ तब विघ्नेश्वर (श्रीगणेशजी) के किये हुए इस महान् विघ्नको देख अनन्तपराक्रमी तथा अमोघसंकल्प श्रीभगवान्‌ने अति अद्भुत और महान् कूर्मरूप धारण कर जलमें प्रवेश किया और उस पर्वतको ऊँचा उठा दिया ॥८॥ उस कुलपर्वतको उठा हुआ देख देवता और असुरगण फिर समुद्र मथनेके लिये उठे । उस समय श्रीहरिने दूसरे जम्बूद्वीपके समान अपनी एक लाख योजन विस्तारवाली अति विस्तृत पीठपर उस पर्वतको धारण किया ॥९॥ हे प्रिय ! देवता और असुरोंके भुजबलसे प्रेरित होकर अपनी पीठपर घूमते हुए उस पर्वतको उसके चक्कर लगाते समय उन अपरिमित बलशाली आदिकच्छपने अपने अङ्गका खुजलाना ही समझा ॥१०॥

तथासुरानाविशदासुरेण
रूपेण तेषां बलवीर्यमीरयन् ।
उद्दीपयन्देवगणांश्च विष्णु-
र्दैवेन नागेन्द्रमबोधरूपः ॥११॥
उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवान्य
आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः ।
तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यै-
रभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः ॥१२॥

फिर [मन्थनकार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न करानेके लिये] श्रीहरिने असुरोंमें, उनका बल-वीर्य बढ़ानेके लिये असुराकारसे, देवताओंमें उन्हें उत्साहित करनेके लिये देवरूपसे तथा नागराज वासुकिमें निद्रारूपसे प्रवेश किया ॥११॥ और जिस समय वे सहस्रों भुजाओंवाले प्रभु दूसरे पर्वतराजके समान विशाल विग्रह धारण कर उस पर्वतराजको ऊपरसे हाथसे रोककर स्थित हुए तब स्वर्गलोकमें ब्रह्मा, महादेव और इन्द्र आदि देवगण स्तुति करते हुए उनपर फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥१२॥

उपर्यधश्चात्मनि गोत्रनेत्रयोः
परेण ते प्राविशता समेधिताः ।
ममन्थुरब्धिं तरसा मदोत्कटा
महाद्रिणा[3] क्षोभितनक्रचक्रम् ॥१३॥
अहीन्द्रसाहस्रकठोरदृङ्मुख-
श्वासाग्निधूमाहतवर्चसोऽसुराः ।

इस प्रकार पर्वतके ऊपर-नीचे, अपने शरीरोंमें, पर्वतमें तथा नेतीमें प्रविष्ट हुए परमात्मासे शक्ति-सम्पन्न और मदोन्मत्त हो वे देवता और असुरगण उस महान् पर्वतसे बड़े वेगके साथ समुद्रको, उसके नाके आदि जीवोंको व्याकुल करते हुए, मथने लगे ॥ १३ ॥ उस समय नागराज वासुकिके सहस्रों कठोर नयन, मुख और श्वासोंसे निकलते हुए विषाग्नि-के धूएँसे निस्तेज होकर पौलोम, कालेय, बलि और

१. समुद्यता । २. दामन्थनमा० । ३. महाबलाः ।

पौलोमकालेयबलील्वलादयो
दवाग्निदग्धाः सरला इवाभवन् ॥१४॥
देवांश्च तच्छ्वासशिखाहतप्रभा-
न्धूम्राम्बरस्रग्वरकञ्चुकाननान्[1] ।
समभ्यवर्षन्भगवद्वशा घना
ववुः समुद्रोर्म्युपगूढवायवः ॥१५॥
मथ्यमानात्तथा[2] सिन्धोर्देवासुरवरूथपैः ।
यदा सुधा न जायेत निर्ममन्थाजितः स्वयम् ॥१६॥
मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्यु-
न्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः ।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा
मथ्नन्मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताथोद्धृताद्रिः ॥१७॥
निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं
महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः ।
सम्भ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपा-
त्तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात् ॥१८॥
तदुग्रवेगं दिशिदिश्युपर्यधो
विसर्पदुत्सर्पदसह्यमप्रति[3] ।
भीताः प्रजा दुद्रुवुरङ्ग सेश्वरा
अरक्ष्यमाणाः शरणं सदाशिवम् ॥१९॥
विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या
भवाय देव्याभिमतं मुनीनाम् ।
आसीनमद्रावपवर्गहेतो-
स्तपो जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः ॥२०॥

प्रजापतय ऊचुः

देवदेव महादेव भूतात्मन्भूतभावन ।

इल्वल आदि दैत्यगण दवानलसे झुलसे हुए सरल (साँखू) वृक्षोंके समान हो गये ॥ १४ ॥ तथा वासुकिके श्वासाग्निसे जिनकी कान्ति फीकी पड़ गयी है और जिनके वस्त्र, माला, कञ्चुक एवं मुख धूम्रवर्ण हो गये हैं उन देवताओंके ऊपर, भगवान्‌के अधीन रहनेवाले मेघ वर्षा करने लगे तथा समुद्रकी तरङ्गोंका स्पर्श करके शीतल हुआ वायु चलने लगा ॥ १५ ॥

इस प्रकार, देवता और असुरयूथपोंके मन्थन करनेपर जब समुद्रसे अमृत नहीं निकला तो भगवान् अजित स्वयं ही मथने लगे ॥ १६ ॥ अहो ! जिनके कानोंमें कुण्डलरूप बिजली चमक रही है, शिरपर हिलती हुई अलकावली सुशोभित है तथा जो गलेमें वनमाला धारण किये हैं वे सुवर्णवर्ण पीताम्बरधारी, अरुणनयन तथा मेघके समान श्यामशरीर श्रीहरि जगत्‌को निर्भय करनेवाली अपनी विजयिनी बाहुओंसे सर्पराज वासुकिको पकड़कर जब मन्दराचलरूप मथानीसे समुद्रको मथने लगे तो उस समय वे गिरिवर-धारी भगवान् दूसरे पर्वतराजके समान सुशोभित हुए ॥ १७ ॥ इस प्रकार मन्थन करनेपर जिसकी मछलियाँ खलबला गयी हैं, मकर, सर्प और कछुए ऊपर आ गये हैं तथा तिमि नामक मत्स्य, गज, ग्राह और तिमिङ्गिलादि व्याकुल हो गये हैं उस सागरसे सबसे पहले हालाहल नामक उग्र विष उत्पन्न हुआ ॥ १८ ॥ दिशा-विदिशाओंमें ऊपर-नीचे फैलनेवाले उस उग्रवेगशाली असह्य विषसे रक्षाका कोई उपाय न देख प्रजापतियोंके सहित सम्पूर्ण प्रजा भयभीत होकर श्रीसदाशिवकी शरणमें गयी ॥ १९ ॥ त्रिलोकीके अभ्युदयके लिये श्रीपार्वतीजीसहित कैलास-पर्वतपर विराजमान, मुनिमण्डलीसे माननीय तथा मुनिजनको मोक्ष प्रदान करनेके लिये तपस्या करनेवाले उन देवश्रेष्ठको देखकर उन प्रजापतियोंने स्तुति करते हुए उन्हें प्रणाम किया ॥ २० ॥

प्रजापतिगण बोले—हे देवदेव ! हे महादेव ! हे सर्वभूतात्मन् ! हे भूतभावन ! त्रिलोकीको भस्म

१. म्बरारक्तककञ्चु० । २. प्राचीन प्रतिमें 'मथ्यमानात्तथा…' से लेकर '…धृताद्रिः' तक दो श्लोक नहीं हैं । ३. विषं तदुत्थं यदसह्यमप्रति ।

त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद्विषात् ॥२१॥
त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥२२॥
गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान्विभो ।
धत्से यदा स्वदृग्भूमन्ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ॥२३॥
त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनः ।
नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जगदीश्वरः ॥२४॥

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा
प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः ।
कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्म-
स्त्वय्यक्षरं यत्त्रिवृदामनन्ति ॥२५॥
अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा[2]
क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम् ।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो
दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ॥२६॥
नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वा-
न्सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः ।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा
सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते ॥२७॥
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा
रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते ।
छन्दांसि साक्षात्तव सप्त धातव-
स्त्रयीमयात्मन्हृदयं सर्वधर्मः ॥२८॥
मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः ।
यत्तच्छिवाख्यं परमार्थतत्त्वं[3]
देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते ॥२९॥

करनेवाले इस विषसे हम शरणागतोंकी रक्षा कीजिये ॥ २१ ॥ एकमात्र आप ही सम्पूर्ण जगत्के बन्धन और मोक्षके अधीश्वर हैं; अतः विचक्षण पुरुष आप शरणागतभयहारी जगद्गुरुकी ही पूजा करते हैं ॥ २२ ॥ हे सर्वव्यापक प्रभो ! आपका ज्ञान स्वतःसिद्ध है । जब अपनी गुणमयी शक्तिसे आप इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करना चाहते हैं तो आप ही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव इन नामों-को स्वीकार कर लेते हैं ॥ २३ ॥ आप ही देवता, मनुष्य, तिर्यगादि सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति करनेवाले सबसे गुह्य परब्रह्म हैं तथा आप जगदीश्वर परमात्मा ही अपनी अनेक शक्तियोंसे जगद्रूपसे भासमान हो रहे हैं ॥ २४ ॥ आप वेदके उत्पत्तिस्थान हैं [अतः स्वतःसिद्धज्ञानवान् हैं], आप ही जगत्के आदि-कारण महत्तत्त्व और [त्रिविध] अहङ्कार हैं तथा आप ही इन्द्रिय, प्राण, पञ्च महाभूत और शब्दादि गुणोंके कारण हैं एवं आप ही काल, सङ्कल्प, सत्य, ऋत और धर्म हैं । वेदवादीगण त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृतिको भी आपहीके आश्रित बतलाते हैं ॥२५॥ सर्वदेवमय अग्नि आपका मुख है, पृथिवीलोक आपका चरणकमल समझा जाता है, आप सर्वदेवमय हैं; काल आपकी गति है, दिशाएँ कान हैं, वरुण रसना है, आकाश नाभि है, वायु श्वास है, सूर्य नेत्र हैं, जल वीर्य है, सम्पूर्ण उत्तमाधम जीवोंका आश्रय आपका अहङ्कार है, चन्द्रमा मन है और हे भगवन् ! स्वर्ग आपका शिर है ॥ २६-२७ ॥ हे वेदत्रयीमय प्रभो ! समुद्र आपकी कुक्षि हैं, पर्वत अस्थिसमूह हैं, समस्त ओषधियाँ और लताएँ रोम हैं, गायत्री आदि छन्द साक्षात् सातों धातुएँ हैं तथा सब प्रकारका धर्म आपका हृदय है ॥ २८ ॥ हे ईश्वर ! जिनसे [उनका परिच्छेद होनेपर] अड़तीस मन्त्रोंका समूह उत्पन्न हुआ है वे [तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान नामक] पाँच उपनिषद् आपके मुख हैं और हे देव ! जो शिवनामक स्वयंप्रकाश परमार्थ-तत्त्व है वह आपकी उपरतावस्था है ॥ २९ ॥

१. राभासे त्व० । २. देवतात्मन् । ३. परमात्मतत्त्वं ।

छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो
नेत्रत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि ।
सांख्यात्मनः शास्त्रकृतस्तवेक्षा
छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः ॥३०॥

न ते गिरित्राखिललोकपाल-
विरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् ।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च
सत्त्वं न यद्ब्रह्म निरस्तभेदम् ॥३१॥

कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेक-
भूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न तत्ते ।
यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्र-
वह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद ॥३२॥

ये त्वात्मरामगुरुभिर्हृदि चिन्तिताङ्घ्रि-
द्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम् ।
कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने
ते नूनमूतिमविदंस्तव हातलज्जाः ॥३३॥

तत्तस्य ते सदसतोः परतः परस्य
नाञ्जः स्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः ।
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयं तु
तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम् ॥३४॥

एतत्परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर ।
मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः ॥३५॥

श्रीशुक उवाच

तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः ।

अधर्मकी दम्भ तथा लोभ आदि तरङ्गोंमें आपकी छाया हैं, जिनसे विविध प्रकारकी सृष्टि होती है, वे सत्त्व, रज और तमोगुण आपके तीन नेत्र हैं और हे देव ! गायत्री आदि छन्दोंवाला सनातन वेद आप सांख्यमूर्ति शास्त्र-कर्ताका ईक्षण (विचार) है ॥ ३० ॥ हे कैलासपते ! जिसमें सत्त्व, रज, तम तीनों गुण नहीं हैं तथा जो सब प्रकारके भेदसे रहित है उस ब्रह्मरूप आपके परम तेजको सकल लोकपालगण तथा ब्रह्मा और विष्णु आदि देवेन्द्रगण भी नहीं जान सकते ॥ ३१ ॥ हे प्रभो ! आप कामदेव, दक्षयज्ञ, त्रिपुरासुर और कालकूट विष आदि अनेकों भूतद्रोहियोंको नष्ट करनेवाले हैं; परन्तु ये सब कर्म आपके लिये कुछ स्तुतियोग्य नहीं हैं, क्योंकि आप तो अपने ही रचे हुए इस विश्वको प्रलयकालमें अपने नेत्राग्निकी ज्वालासे भस्मीभूत हो जानेपर देखतेतक नहीं हैं ॥ ३२ ॥ आत्माराम गुरुजन जिनके चरणयुगलका हृदयमें चिन्तन करते हैं तथा जो निरन्तर तपस्यामें तत्पर रहते हैं ऐसे आपको जो व्यक्ति उमादेवीके साथ विहार करनेसे उनमें आसक्त और श्मशानमें रहनेसे क्रूर अथवा हिंस्र बतलाते हैं, वे निर्लज्ज तो निश्चय ही आपकी लीलाको जानते हैं ! [अर्थात् उन्हें आपकी लीलाका कुछ भी ज्ञान नहीं है] ॥ ३३ ॥ हे नाथ ! कार्य-कारणरूप जगत्से परे जो माया है उससे भी आप परे हैं । आप भूमा पुरुषके स्वरूपकी स्तुति करनेमें एकाएकी ब्रह्मादिक भी समर्थ नहीं हैं । फिर हम लोग, जो उनके सर्गके सर्ग और अत्यन्त अर्वाचीन हैं, किस प्रकार आपकी स्तुति कर सकते हैं ? फिर भी अपनी शक्तिके अनुसार आपका कुछ गुणगान किया ही है ॥ ३४ ॥ हे महेश्वर ! हमें तो आपका यह (त्रिनयनादिविशिष्ट साकार) रूप ही सर्वश्रेष्ठ जान पड़ता है, आपका पररूप तो हम देख ही नहीं सकते । हे देव ! आप अव्यक्तकर्माका आविर्भाव संसारका कल्याण करनेके लिये ही हुआ करता है [अतः आप हमें भी सङ्कट-मुक्त कीजिये] ॥ ३५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! देवताओंका वह सङ्कट देख सर्वभूतहितकारी श्रीमहादेवजी

१. मोक्षात्मनः । २. नमस्ते । ३. कथन्नु उग्रतपसि निर० । ४. भूतमूर्ति० । ५. प्रार्थयामो । ६. तेषां ।

सर्वभूतसुहृद्देव इदमाह सतीं[1] प्रियाम् ॥३६॥

करुणावश अति दुःखित हुए और अपनी प्रिया सतीसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३६ ॥

शिव उवाच

अहो बत भवान्येतत्प्रजानां पश्य वैशसम् ।
क्षीरोदमथनोद्भूतात्कालकूटादुपस्थितम् ॥३७॥
आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे ।
एतावान्हि प्रभोरर्थो यद्दीनपरिपालनम् ॥३८॥
प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः ।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥३९॥
पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः ।
प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं[2] सचराचरः ।
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥४०॥

श्रीशिवजी बोले—देवि भवानी ! देखो, क्षीर-सागरके मथनेसे प्रकट हुए इस कालकूट विषके कारण प्रजाओंपर कैसा सङ्कट आ पड़ा है ? ॥ ३७ ॥ इस समय, अपनी प्राणरक्षाके लिये आतुर इन सबको मुझे अभयदान देना चाहिये, क्योंकि दीनोंकी रक्षा करना—यही समर्थ पुरुषोंका कार्य है ॥ ३८ ॥ हे भद्रे ! साधुजन अपने क्षणभंगुर प्राणोंकी बाजी लगाकर भी अन्य जीवोंकी रक्षा करते हैं । भगवान्‌की मायासे मोहित तथा परस्पर वैर ठाननेवाले जीवोंपर जो पुरुष कृपा करता है उससे सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न होते हैं तथा श्रीहरि भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण चराचरके सहित मैं भी प्रसन्न होता हूँ । अतः मैं इस विषको भक्षण करूँगा, इससे मेरी प्रजाओंका कल्याण हो ॥ ३९-४० ॥

श्रीशुक उवाच

एवमामन्त्र्य भगवान्भवानीं विश्वभावनः ।
तद्विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञान्वमोदत ॥४१॥
ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम् ।
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः[3] ॥४२॥
तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः ।
यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥४३॥
तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥४४॥
निशम्य कर्म तच्छम्भोर्देवदेवस्य मीढुषः ।
प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुण्ठश्च शशंसिरे ॥४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! देवी सतीसे इस प्रकार कह विश्वभावन भगवान् शंकरने उस विषको भक्षण करना आरम्भ किया । उनका प्रभाव जाननेवाली भवानीने भी इस विषयमें अपनी सम्मति दे दी ॥४१॥ तब सब लोगोंपर कृपा करके भूतभावन महादेवजीने सर्वत्र फैले हुए उस हालाहल विषको अपनी हथेलीपर रखकर भक्षण कर लिया ॥४२॥ किन्तु उस जलके मल (हालाहलविष) ने महादेवजी-पर भी अपना प्रभाव प्रकट कर दिया, क्योंकि इससे उनका कण्ठ नीला पड़ गया; किन्तु यह नीलापन उन साधुशिरोमणिका अलंकार ही हुआ ॥४३॥ साधुजन प्रायः संसारके दुःखसे दुःखी हुआ ही करते हैं; क्योंकि दूसरोंके लिये दुःख उठाना सर्वात्मा श्रीहरिकी अति उत्कृष्ट आराधना है ॥४४॥

सबकी कामना पूर्ण करनेवाले देवदेव श्रीमहादेवके उस अद्भुत कर्मको देखकर सम्पूर्ण प्रजा, दक्षकन्या सती, ब्रह्माजी तथा विष्णुभगवान् उनकी प्रशंसा करने लगे ।४५।

---

१. प्रियां सतीम् । २. संप्रीयेत चराचरम् । ३. भक्तवत्सलः ।

प्रस्कन्नं पिबतः पाणेर्यत्किञ्चिज्जगृहुः स्म तत्।
वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च येऽपरे ॥४६॥

हे राजन्! विषपान करते समय उनके हाथसे जो थोड़ा-सा विष गिरा उसे बिच्छू, साँप, विषैली ओषधियों तथा अन्य विषैले जीवोंने ग्रहण कर लिया ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे-
ऽमृतमथने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥
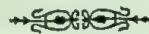
आठवाँ अध्याय

समुद्रसे अन्यान्य रत्नोंके सहित अमृतका प्रकट होना।

श्रीशुक उवाच

पीते गरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः।
ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत् ॥ १ ॥
तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः।
यज्ञस्य देवयानस्य मेध्याय[1] हविषे नृप ॥ २ ॥
तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः।
तस्मिन्बलिः स्पृहां चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥
तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः।
दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हरन्[2]भगवतो महिम् ॥ ४ ॥
कौस्तुभाख्यमभूद्रत्नं पद्मरागो महोदधेः।
तस्मिन्हरिः स्पृहां चक्रे वक्षोऽलङ्करणे मणौ ॥ ५ ॥
ततोऽभवत्पारिजातः सुरलोकविभूषणम्।
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः शश्वद्भुवि यथा भवान् ॥ ६ ॥
ततश्चाप्सरसो जाता निष्ककण्ठ्यः[3] सुवाससः।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! वृषध्वज महादेवजीके विष पी लेनेपर देवता और असुरगण प्रसन्न होकर बड़े वेगसे समुद्र-मन्थन करने लगे ! तब उससे कामधेनु प्रकट हुई ॥१॥ वह अग्निहोत्रकी सामग्री उत्पन्न करनेवाली थी; अतः ब्रह्मलोकके मार्गस्वरूप यज्ञादिमें उपयोगी घृत आदि हविके लिये उसे वेदवादी मुनिगणने ग्रहण कर लिया ॥२॥ उसके पश्चात् चन्द्रमाके समान शुभ्रवर्ण उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा प्रकट हुआ। उसे लेनेके लिये बलिने अपनी इच्छा प्रकट की, भगवान्‌के आदेशानुसार इन्द्रने उसकी अभिलाषा नहीं की ॥३॥ तदनन्तर [चन्द्रमाके समान शुभ्र और] अपने चारों दाँतोंसे भगवान् शिवके आश्रय-स्वरूप श्वेतगिरि (कैलास) की कान्तिको भी हरनेवाला ऐरावत नामक गजराज उत्पन्न हुआ ॥४॥

फिर उस महासागरसे कौस्तुभ नामक एक पद्मराग मणि प्रकट हुआ; उसे अपने वक्षःस्थलको विभूषित करनेके लिये श्रीहरिने लेना चाहा ॥५॥ तत्पश्चात् स्वर्गलोककी शोभा बढ़ानेवाला कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ। हे राजन्! भूलोकमें जैसे आप अर्थियोंकी सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं उसी प्रकार (स्वर्गलोकमें) इच्छित वस्तुएँ देकर वह भी समस्त याचकोंकी इच्छा पूर्ण करता है ॥६॥ तदनन्तर सुन्दर वस्त्र और गलेमें पदक धारण किये अप्सराएँ प्रकट हुईं, जो अपनी मनोहर गति

१. मेध्यस्य। २. हरञ्छुभ्रव०। ३. निष्कग्रीवाः।

रमण्यः स्वर्गिणां वल्गुगतिलीलावलोकनैः ॥ ७ ॥

ततश्चाविरभूत्साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा ।
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत्सौदामनी यथा ॥ ८ ॥
तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्वे ससुरासुरमानवाः ।
रूपौदार्यवयोवर्णमहिमाक्षिप्तचेतसः ॥ ९ ॥
तस्या आसनमानिन्ये महेन्द्रो महदद्भुतम् ।
मूर्तिमत्यः सरिच्छ्रेष्ठा हेमकुम्भैर्जलं शुचि ॥१०॥
आभिषेचनिका भूमिराहरत्सकलौषधीः ।
गावः पञ्च पवित्राणि वसन्तो मधुमाधवौ ॥११॥
ऋषयः कल्पयाञ्चक्रुरभिषेकं यथाविधि ।
जगुर्भद्राणि गन्धर्वा नट्यश्च ननृतुर्जगुः ॥१२॥
मेघा मृदङ्गपणवमुरजानकगोमुखान् ।
व्यनादयञ्छङ्खवेणुवीणास्तुमुलनिःस्वनान् ॥१३॥
ततोऽभिषिषिचुर्देवीं श्रियं पद्मकरां सतीम् ।
दिगिभाः पूर्णकलशैः सूक्तवाक्यैर्द्विजेरितैः ॥१४॥
समुद्रः पीतकौशेयवाससी समुपाहरत् ।
वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषट्पदाम् ॥१५॥
भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः ।
हारं सरस्वती पद्ममजो नागाश्च कुण्डले ॥१६॥

ततः कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजं
नदद्द्विरेफां परिगृह्य पाणिना ।
चचाल वक्त्रं सुकपोलकुण्डलं
सव्रीडहासं दधती सुशोभनम् ॥१७॥
स्तनद्वयं चातिकृशोदरी समं
निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम् ।
ततस्ततो नूपुरवल्गुशिञ्जितै-
र्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ ॥१८॥

और विलासपूर्ण चितवनसे स्वर्गनिवासी देवताओंको आनन्दित करनेवाली थीं ॥७॥

फिर, सुदामा पर्वतपर चमकनेवाली बिजलीके समान अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको अनुरञ्जित करती हुई भगवत्परायणा साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी प्रकट हुईं ॥८॥ उनके रूप, औदार्य, यौवन, वर्ण तथा महिमासे मुग्धचित्त होकर उन्हें देवता, असुर और मनुष्यादि सभीने लेना चाहा ॥९॥ उन्हें देवराज इन्द्रने एक अति अद्भुत आसन समर्पण किया तथा मुख्य-मुख्य नदियोंने मूर्तिमती होकर सुवर्णकलशोंमें पवित्र जल दिया ॥१०॥ भूमिने अभिषेकमें उपयोगी सकल ओषधियाँ भेंट कीं तथा गौओंने दुग्धादि पञ्चगव्य और वसन्तने चैत्र-वैशाखमें होनेवाले फल-फूल समर्पण किये ॥११॥ फिर ऋषियोंने उनका विधिपूर्वक अभिषेक किया । उस समय गन्धर्वगण मङ्गलमय गीत गाने लगे और नर्तकियोंने नाचना-गाना आरम्भ किया ॥१२॥ फिर मेघगण मृदङ्ग, पणव, मुरज, आनक, गोमुख, शंख, बाँसुरी और वीणा आदि गम्भीर शब्दवाले बाजे बजाने लगे ॥१३॥ तब, विप्रगणद्वारा स्तुतिवाचनपूर्वक दिक्पालोंने भरे हुए कलशोंसे परमसाध्वी पद्महस्ता श्रीलक्ष्मीदेवीका अभिषेक किया ॥१४॥ उस समय समुद्रने दो रेशमी पीताम्बर, वरुणने मधुसे मधुकरोंको मतवाले बना देनेवाली वैजयन्ती माला, प्रजापति विश्वकर्माने भाँति-भाँतिके आभूषण, सरस्वतीने हार, ब्रह्माजीने कमल और नागोंने दो कुण्डल समर्पण किये ॥१५-१६॥

तदनन्तर [ऋषियोंद्वारा] स्वस्तिवाचन किये जानेपर हाथमें भ्रमरोंसे गुञ्जायमान कमलोंकी माला ले कुण्डल-मण्डित कपोल और सलज्ज हाससे शोभायमान सुमुखी लक्ष्मीजी [अपने योग्य वर देखनेके लिये] चलीं ॥१७॥ उस समय जिनके दोनों स्तन परस्पर सटे हुए, समान एवं चन्दन-कुङ्कुमादिसे अनुरञ्जित हैं वे अत्यन्त कृशोदरी लक्ष्मीजी जहाँ-तहाँ नूपुरोंकी सुमधुर झनकार करके चलती हुई सुवर्णकी लताके समान जान पड़ती थीं ॥१८॥

१. तस्याश्चा० । २. नार्यश्च ।

विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः
पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम्[1] ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धचारण-
त्रैविष्टपेयादिषु नान्वविन्दत ॥१९॥
नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो
ज्ञानं क्वचित्तच्च न सङ्गवर्जितम् ।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः
स ईश्वरः किं परतोव्यपाश्रयः ॥२०॥
धर्मः क्वचित्तत्र न भूतसौहृदं
त्यागः क्वचित्तत्र[2] न मुक्तिकारणम् ।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं
न हि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः ॥२१॥
क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं
क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः ।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः
सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम् ॥२२॥

वे गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण और देवता आदिमें अपने लिये ऐसा निर्दोष और निश्चल (पतिरूप) आश्रय ढूँढ़ने लगीं जो नित्यसद्गुण-सम्पन्न हो; परन्तु उन्हें ऐसा कोई न मिला ॥१९॥ [उन्होंने देखा] जिन [दुर्वासा आदि] में तपस्या है उन्होंने क्रोधको नहीं जीता, कहीं [बृहस्पति आदिमें] ज्ञान है तो निःसंगता नहीं है, कोई (ब्रह्मा आदि) बड़े महत्त्वशाली हैं तो भी उन्होंने कामदेवको नहीं जीता है और जो (इन्द्रादि) दूसरोंके आश्रयकी इच्छा करते हैं उन्हें ईश्वर भी कैसे कहा जाय? ॥२०॥ कहीं (परशुरामादिमें) धर्म तो है परन्तु प्राणियोंके प्रति सौहार्द नहीं है, कहीं (राजा शिबि आदिमें) त्याग है किन्तु वह उनकी मुक्तिका कारण नहीं है। किन्हीं (कार्तवीर्यादि) में बल तो है परन्तु वे कालके वेगसे मुक्त नहीं हैं तथा दूसरे (सनकादि) लोग विषया-सक्तिसे रहित होनेपर भी [निरन्तर समाधिनिष्ठ रहनेके कारण] वरण करने योग्य नहीं हैं ॥२१॥ कहीं (मार्कण्डेयादिमें) दीर्घायु है किन्तु स्त्रियोंको प्रसन्न रखने योग्य शील और मंगल नहीं है, कहीं [हिरण्यकशिपु आदिमें] वैसा स्वभाव देखा जाता है तो उनकी आयुका कोई निश्चय नहीं और कहीं (श्रीमहादेवादिमें) ये दोनों गुण भी हैं तो वह अमंगलरूप दिखायी देते हैं; हाँ, एक पुरुष (विष्णु भगवान्) तो मंगलमय भी हैं, किन्तु उन्हें मेरी इच्छा नहीं है ॥२२॥

एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै-
र्वरं निजैकाश्रयता[3]गुणाश्रयम् ।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥२३॥
तस्यांसदेश उशतीं नवकञ्जमालां
माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ।
तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम
सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता ॥२४॥

ऐसा विचारकर श्रीलक्ष्मीजीने नित्यसद्गुण-सम्पन्न, प्राकृत गुणोंसे अतीत और अणिमादि सम्पूर्ण गुणोंसे अङ्गीकृत अपने अभीष्ट वर श्रीमुकुन्दको उनके निरपेक्ष होनेपर भी अपने एकमात्र आश्रयरूपसे वरण कर लिया ॥२३॥ तब उन्होंने मतवाले मधुकर-निकरकी गुञ्जारसे युक्त वह नवीन कमलोंकी सुन्दर माला उनके गलेमें डाल दी और सलज्ज मुसकानयुक्त विकसित नयनोंसे अपने निवासस्थानरूप भगवान्के वक्षःस्थलकी ओर निहारती हुई उनके पास खड़ी हो गयीं ॥२४॥

१. चारस० । २. क्वचिद्यस्तु । ३. श्रयसद्गुणा० ।

तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या
वक्षोनिवासमकरोत्परमं विभूतेः ।
श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन
यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान् ॥२५॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गानां वादित्राणां पृथुः स्वनः ।
देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत् ॥२६॥
ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः सर्वे विश्वसृजो विभुम् ।
ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रैस्तल्लिङ्गैः पुष्पवर्षिणः ॥२७॥
श्रिया विलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः ।
शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम् ॥२८॥
निःसत्त्वा लोलुपा राजन्निरुद्योगा गतत्रपाः ।
यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवुर्दैत्यदानवाः ॥२९॥
अथासीद्वारुणी देवी कन्या कमललोचना ।
असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते ॥३०॥
अथोदधेर्मथ्यमानात्काश्यपैरमृतार्थिभिः ।
उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः ॥३१॥
दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः ।
श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः ॥३२॥
पीतवासा महोरस्कः[1] सुमृष्टमणिकुण्डलः ।
स्निग्धकुञ्चितकेशान्तः[2] सुभगः[3] सिंहविक्रमः ॥३३॥
अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद्वलयभूषितः ।
स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः ॥३४॥
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् ।
तमालोक्यासुराः सर्वे कलशं चामृताभृतम् ॥३५॥

हे राजन् ! तब जगत्पिता श्रीहरिने अपने वक्षःस्थलको ही सर्वैश्वर्यशालिनी जगज्जननी श्रीलक्ष्मीजीका अत्युत्तम निवासस्थान बनाया, जहाँ स्थित होकर उन्होंने करुणामयी दृष्टिसे अपनी प्रजा लोकपालोंके सहित तीनों लोकोंकी वृद्धि की ॥२५॥ उस समय शङ्ख, तूर्य और मृदङ्ग आदि बाजोंका तथा अपनी स्त्रियोंके सहित नृत्य और गान करनेवाले देवानुचरों (गन्धर्वों) का अति महान् शब्द होने लगा ॥२६॥ ब्रह्मा, महादेव और अङ्गिरा आदि सकल प्रजापतिगण पुष्पोंकी वर्षा करते हुए विष्णु-प्रतिपादक यथार्थ मन्त्रोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करने लगे ॥२७॥

तब श्रीलक्ष्मीजीके दृष्टिपात करनेपर सम्पूर्ण देवगण और प्रजापतियोंके सहित सकल प्रजावर्ग शीलादि गुणोंसे सम्पन्न होकर अति आनन्दित हुए ॥२८॥ हे राजन् ! जब लक्ष्मीदेवीने दैत्य और दानवोंकी उपेक्षा कर दी तो वे असमर्थ, लोलुप, निरुद्यम और निर्लज्ज हो गये ॥२९॥

इसके पश्चात्, उस क्षीरसमुद्रसे कन्यारूपिणी कमलनयनी वारुणीदेवी प्रकट हुई, उसे श्रीहरिकी अनुमतिसे असुरोंने ले लिया ॥३०॥ हे राजन् ! फिर कश्यपपुत्र देवता और असुरोंके अमृतप्राप्तिकी इच्छासे समुद्रमन्थन करनेपर उससे एक अति अद्भुत पुरुष प्रकट हुआ ॥३१॥ जिसकी भुजाएँ स्थूल और लम्बी-लम्बी थीं, कण्ठ शङ्खके समान था और नेत्र अरुणवर्ण थे; जो श्यामशरीर, तरुण अवस्थावाला, गलेमें माला धारण किये और सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित था ॥३२॥ जो पीताम्बरधारी, विशाल वक्षःस्थलयुक्त और अति स्वच्छ मणिमय कुण्डल धारण किये था; जिसकी अलकें चिकनी और घुँघराली थीं तथा जो देखनेमें अति सुन्दर, सिंहके समान पराक्रमी, कङ्कणादिसे विभूषित और अमृतपूर्ण कलश लिये हुए था। ये साक्षात् विष्णुभगवान्‌के अंशसे अवतीर्ण सुप्रसिद्ध धन्वन्तरिजी थे, जो आयुर्वेदके प्रवर्त्तक और यज्ञमें भाग लेनेवाले हैं। उन्हें तथा अमृतसे भरे हुए कलशको देखकर

१. महास्कन्धः । २. नील० । ३. शुभाङ्गः ।

लिप्सन्तः सर्ववस्तूनि कलशं तरसाहरन् ।
नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन्कलशेऽमृतभाजने ॥३६॥
विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः ।
इति तद्दैन्यमालोक्य भगवान्भृत्यकामकृत् ।
मा खिद्यत मिथोऽर्थं वः साधयिष्ये स्वमायया ॥३७॥
मिथः कलिरभूत्तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो ॥३८॥
देवाः स्वं भागमर्हन्ति ये तुल्यायासहेतवः ।
सत्रयाग इवैतस्मिन्नेष धर्मः सनातनः ॥३९॥
इति स्वान्प्रत्यषेधन्वै दैतेया जातमत्सराः ।
दुर्बलाः प्रबलान्राजन्गृहीतकलशान्मुहुः ॥४०॥
एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः ।
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥४१॥
प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम् ।
समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम् ॥४२॥
नवयौवननिर्वृत्तस्तनभारकृशोदरम् ।
मुखामोदानुरक्तालिझङ्कारोद्विग्नलोचनम् ॥४३॥
बिभ्रत्स्वकेशभारेण मालामुत्फुल्लमल्लिकाम् ।
सुग्रीवकण्ठाभरणं सुभुजाङ्गदभूषितम् ॥४४॥
विरजाम्बरसंवीतनितम्बद्वीपशोभया ।
काञ्च्या प्रविलसद्वल्गुचलच्चरणनूपुरम् ॥४५॥
सव्रीडस्मितविक्षिप्तभ्रूविलासावलोकनैः ।
दैत्ययूथपचेतःसु काममुद्दीपयन्मुहुः ॥४६॥

सब वस्तुओंकी कामना करनेवाले असुरोंने बड़ी शीघ्रतासे वह कलश छीन लिया । जब दैत्यगण अमृतके पात्ररूप उस कलशको छीन ले गये तो देवताओंने अति खिन्नचित्त हो श्रीहरिकी शरण ली । उनकी वह दीन दशा देख, भक्तोंकी सकल कामनाएँ पूर्ण करनेवाले श्रीभगवान्ने कहा—"तुम खेद न करो, मैं अपनी मायासे दैत्योंमें परस्पर कलह उत्पन्न कर तुम्हारा कार्य सिद्ध करूँगा" ॥३३–३७॥

हे राजन् ! फिर अमृतलोलुप दैत्योंमें 'पहले मैं पीऊँगा, पहले मैं पीऊँगा—तू नहीं, तू नहीं' इस प्रकार परस्पर कलह होने लगा ॥३८॥ उनमें जो दुर्बल थे वे कलश ले जानेवाले अपने सजातीय प्रबल दैत्योंको डाहवश बारम्बार ऐसा कहकर रोकने लगे—'जिन्होंने अमृतमन्थनमें समान परिश्रम किया है उन देवताओंको भी यज्ञभागके समान इसका भाग मिलना चाहिये—यही सनातन धर्म है' ॥३९-४०॥

इसी समय सब प्रकारके उपाय जाननेवाले भगवान् विष्णुने एक अति अद्भुत और अनिर्वचनीय स्त्रीरूप धारण किया ॥४१॥ जो अति दर्शनीय नीलकमलके समान श्यामवर्ण, सर्वाङ्गसुन्दर, समान कर्ण और आभूषणोंसे सुशोभित तथा सुन्दर कपोल और उन्नत नासिकायुक्त मनोहर मुखवाला था ॥४२॥ नवयौवनके वेगसे गोलाकार बढ़े हुए स्तनोंके भारसे जिसका उदरदेश अति कृश हो गया था तथा मुखारविन्दकी गन्धमें अनुरक्त हुए भौंरोंकी गुंजारसे जिसके नयन चञ्चल हो रहे थे ॥४३॥ जो अपने केशपाशमें खिले हुए मल्लिकाकुसुमोंकी माला धारण किये था तथा सुन्दर ग्रीवामें गलेके आभूषणोंसे और भुजाओंमें अंगदादिसे विभूषित था ॥४४॥ जो निर्मल वस्त्रसे वेष्टित, नितम्बद्वीपमें विराजमान सुवर्णमयी करधनीसे सुशोभित और अति सुन्दर चञ्चल चरणोंमें नूपुर धारण किये था ॥४५॥ भगवान्का वह अति अद्भुतरूप सलज्ज मुसकानके कारण चलायमान भ्रूभङ्गीसे निहारता हुआ दैत्ययूथपतियोंके हृदयमें बारम्बार कामोद्दीपन करने लगा ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भगवन्मायोपलम्भनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

मोहिनीभगवान्‌द्वारा अमृतवितरण।

श्रीशुक उवाच

तेऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः ।
क्षिपन्तो दस्युधर्माण आयान्तीं ददृशुः स्त्रियम् ॥ १ ॥
अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः ।
इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः ॥ २ ॥
का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि ।
कस्यासि वद वामोरु मथ्नन्तीव[1] मनांसि नः ॥ ३ ॥
न वयं त्वामरैर्दैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः ।
नास्पृष्टपूर्वां जानीमो लोकेशैश्च[2] कुतो नृभिः ॥ ४ ॥
नूनं त्वं विधिना सुभ्रूः प्रेपितासि शरीरिणाम् ।
सर्वेन्द्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किम् ॥ ५ ॥
सा त्वं[3] नः स्पर्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि ।
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे ॥ ६ ॥
वयं कश्यपदायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः ।
विभजस्व यथान्यायं नैव भेदो यथा भवेत् ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार जब असुरगण सौहार्दको तिलाञ्जलि दे दस्युधर्ममें प्रवृत्त हो एक-दूसरेसे अमृतके पात्रकी छीना-झपटी कर रहे थे, उस समय उन्होंने वहाँ आती हुई एक स्त्री देखी ॥ १ ॥ इससे कामातुर हो, उन्होंने 'अहो ! इसका कैसा विचित्र रूप है ! कैसी कमनीय कान्ति है ! कैसी नयी अवस्था है !' इस प्रकार कहते हुए उसके पास जाकर पूछा—॥ २ ॥ हे कमलदल-लोचने ! तू कौन है ? कहाँसे आयी है ? और क्या करना चाहती है ? हे वरोरु ! तू तो हमारे चित्तोंको मानो मथे डालती है; बता तो, तू किसकी कन्या है ? ॥ ३ ॥ हम तो समझते हैं, अभीतक देवता, असुर, सिद्ध, गन्धर्व, चारण और लोकपालगण भी तुझे स्पर्श नहीं कर सके हैं, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४ ॥ हे सुन्दर भृकुटिवाली ! जान पड़ता है, साक्षात् विधाताने ही दया करके देहधारियोंके सम्पूर्ण इन्द्रिय और मनोंको प्रसन्न करनेके लिये तुझे यहाँ भेजा है ॥ ५ ॥ हे मानिनि ! हे सुमध्यमे ! एक ही वस्तुके लिये वैर बाँधकर आपसमें डाह करनेवाले हम जातिबन्धुओंमें तुम शान्ति स्थापित करो ॥ ६ ॥ हम लोग कश्यपजीके पुत्र हैं, अतः परस्पर भाई-भाई हैं। हम सभीने समान पुरुषार्थ किया है इसलिये तुम हम सबमें इस अमृतको इस प्रकार न्यायानुकूल विधिसे बाँट दो, जिससे हम लोगोंमें किसी प्रकारका झगड़ा न हो ॥ ७ ॥

इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोपिद्वपुर्हरिः ।
प्रहस्य रुचिरापाङ्गैर्निरीक्षन्निदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

असुरोंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर मायाहीसे स्त्रीरूप धारण करनेवाले श्रीहरिने हँसकर उनकी ओर कुटिल कटाक्षभङ्गीसे निहारते हुए कहा ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

कथं कश्यपदायादाः पुंश्चल्यां मयि सङ्गताः ।
विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि ॥ ९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे कश्यपकुमारो ! तुम लोग मुझ व्यभिचारिणी स्त्रीका अनुसरण क्यों करते हो ? पण्डितजन स्त्रियोंका विश्वास कभी नहीं किया करते ॥ ९ ॥

१. मथ्नासीव । २. योगेशैश्च । ३. त्वं संस्पर्ध० ।

सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विषः ।
सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम् ॥१०॥

हे दैत्यगण ! श्वान और व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी मित्रता अनित्य ही कही गयी है, क्योंकि वे नित्यप्रति नये-नये प्रेमीकी खोज किया करती हैं॥१०॥

श्रीशुक उवाच

इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आश्वस्तमनसोऽसुराः ।
जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चामृतभाजनम् ॥११॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! मोहिनी-भगवान्के इस परिहासयुक्त वचनसे दैत्योंको उनपर और भी विश्वास बढ़ गया। वे गम्भीरभावसे हँसे और फिर वह अमृतका पात्र उनके हाथमें दे दिया ॥ ११ ॥

ततो गृहीत्वामृतभाजनं हरि-
र्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा ।
यद्यभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा
कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम् ॥१२॥

तब श्रीहरिने वह अमृतका पात्र ले मन्द-मन्द मुसकानके कारण मनोहर लगनेवाली वाणीसे कहा—'मैं अच्छा करूँ या बुरा—यदि वह सब तुम्हें स्वीकृत हो तो मैं इस अमृतको बाँट सकती हूँ' ॥ १२ ॥

इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्यासुरपुङ्गवाः ।
अप्रमाणविदस्तस्यास्तत्तथेत्यन्वमंसत ॥१३॥

उनका यह कथन सुन उनके वास्तविक स्वरूपको न जाननेवाले असुरोंने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उनके कथनका अनुमोदन किया ॥ १३ ॥

अथोपोष्य कृतस्नाना हुत्वा च हविषानलम् ।
दत्त्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्विजैः ॥१४॥
यथोपजोषं वासांसि परिधायाहतानि ते ।
कुशेषु प्राविशन्सर्वे प्रागग्रेष्वभिभूषिताः ॥१५॥

फिर उन सबने उपवास किया और (दूसरे दिन) स्नान तथा अग्निमें हविष्यान्नसे आहुति दे गौ, ब्राह्मण और समस्त प्राणियोंको यथायोग्य दान देकर ब्राह्मणोंके स्वस्तिवाचन करनेपर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार नये वस्त्र धारणकर भली प्रकार विभूषित हो, पूर्वकी ओर अग्रभाग करके बिछाये हुए कुशाओंपर बैठे॥१४-१५॥

प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च ।
धूपामोदितशालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः ॥१६॥
तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्दुकूल-
श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।
सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन
कुम्भस्तनी कलशपाणिरथाविवेश ॥१७॥

हे राजेन्द्र ! इस प्रकार धूपधूमसे आमोदित तथा माला और दीपावलिसे सुशोभित एक भव्य भवनमें सम्पूर्ण देवता और असुरोंके पूर्वाभिमुख होकर बैठ जानेपर वह नितम्बदेशमें दिव्य दुकूलसे सुशोभित गजशावककी-सी जङ्घाओंवाली और कलश-जैसे स्तनोंवाली मदमत्तनयनी बाला हाथमें अमृतका कलश लिये सुवर्णनूपुरोंकी झनकार करती आयी॥१६-१७॥

तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्ण-
नासाकपोलवदनां परदेवताख्याम् ।
संवीक्ष्य संमुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन
देवासुरा विगलितस्तनपट्टिकान्ताम् ॥१८॥

जो कानोंमें सुवर्ण-कुण्डल धारण किये है, जिसके कर्ण, नासिका, कपोल और मुखारविन्द अति मनोहर हैं तथा जिसके स्तनोंका अञ्चल कुछ खिसका हुआ है साक्षात् लक्ष्मीजीकी सहचरी उस परदेवताको देखकर उसकी मुसकानमयी चितवनसे सम्पूर्ण देवता और असुर मोहित हो गये ॥ १८ ॥

१. प्राक्काले० । २. लसद्दु० ।

असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम् ।
मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः ॥१९॥
कल्पयित्वा पृथक्पङ्क्तीरुभयेषां जगत्पतिः ।
तांश्चोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु ॥२०॥
दैत्यान्गृहीतकलशो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः ।
दूरस्थान्पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम् ॥२१॥
ते पालयन्तः समयमसुराः स्वकृतं नृप ।
तूष्णीमासन्कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजुगुप्सया ॥२२॥
तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः ।
बहुमानेन चाबद्धा नोचुः किञ्चन विप्रियम् ॥२३॥

उस समय [मोहिनीरूप] श्रीहरिने सर्पोंके समान स्वभावसे ही क्रूर दैत्योंको अमृत पिलाना अनुचित समझ उन्हें उसका भाग नहीं दिया ॥१९॥ श्रीजगदीश्वरने उनकी पृथक्-पृथक् दो पङ्क्तियाँ बना उन्हें अपनी-अपनी पङ्क्तिमें बैठाया ॥ २० ॥ तब हाथमें कलश ले श्रीहरिने दैत्योंको अपने हाव-भाव और कटाक्षादिसे छलकर उनकी अपेक्षा दूर बैठे हुए देवताओंको वह जरामरणहारी अमृत पिला दिया ॥ २१ ॥ हे राजन् ! असुरगण, स्त्रीके साथ झगड़ा करना निन्दनीय है और इसने भी हमारे प्रति प्रेम प्रदर्शन किया है—ऐसा समझकर अपनी शर्तका पालन करते हुए चुपचाप बैठे रहे ॥ २२ ॥ उस कामिनीमें उनका अत्यन्त प्रेम हो गया था, अतः प्रणयभङ्गके भयसे और अपने प्रति दिखाये हुए उसके अत्यन्त सत्कारसे बँधकर वे कोई अप्रिय वचन न बोल सके ॥ २३ ॥

देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि ।
प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः ॥२४॥
चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः ।
हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत् ॥२५॥
शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्लृपत् ।
यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः ॥२६॥
पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवाँल्लोकभावनः ।
पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः ॥२७॥

इसी समय राहुनामक दैत्यने देवताओंका वेष धारण कर देवसमाजमें घुसकर अमृत पी लिया । तब चन्द्रमा और सूर्यने भगवान्‌को यह बात जता दी ॥२४॥ भगवान्‌ने अमृत पान करते समय ही छुरेकी-सी धारवाले अपने चक्रसे उसका शिर काट डाला । अमृतका संसर्ग न होनेके कारण उसका धड़ प्राणहीन होकर गिर पड़ा ॥ २५ ॥ किन्तु शिर अमर हो गया । तब ब्रह्माजीने उसे भी एक 'ग्रह' बना दिया जो पूर्व वैरके कारण इस समय भी पर्व दिनों (पूर्णिमा-अमावस्या) में चन्द्रमा और सूर्यपर आक्रमण करता है ॥ २६ ॥ तदनन्तर देवताओंके अमृत पी चुकनेपर लोकभावन श्रीहरिने समस्त दैत्यराजोंके देखते-देखते अपना रूप धारण कर लिया ॥ २७ ॥

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-
हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः ।
तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसापु-

हे राजन् ! इस प्रकार देश, काल, हेतु, अर्थ, कर्म और मतिके समान होनेपर भी देवता और दैत्योंको प्राप्त हुए फलमें भेद रहा । अतः जिनकी चरण-कमलरजका सेवन करनेसे देवताओंने सुगमतासे ही अमृत प्राप्त कर लिया और [उससे विमुख रहनेके

१. प्रभुः ।

यत्पादपङ्कजरजःश्रयणान्न दैत्याः ॥२८॥

कारण] दैत्यगण उस (अमृत) से वञ्चित रहे [उन श्रीहरिकी सबको सेवा करनी चाहिये] ॥ २८ ॥

यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत्पृथक्त्वात् ।
तैरेव सद्भवति यत्क्रियतेऽपृथक्त्वा-
त्सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत् ॥२९॥

क्योंकि मनुष्य अपने प्राण, धन, कर्म, मन और वाणी आदिसे शरीर और पुत्रादिके लिये जो-जो कर्म करता है वह भेदबुद्धिकृत होनेके कारण व्यर्थ ही होता है, किन्तु उन्हीं प्राणादिके योगसे जो कार्य ईश्वरके उद्देश्यसे किया जाता है वह अभेदभावयुक्त होनेसे सफल होता है। वह तो वृक्षकी जडमें जल छोड़नेके समान [पुत्रादि] सभीकी तृप्ति करनेवाला होता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवतेऽष्टमस्कन्धेऽमृतमथने
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥
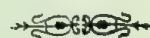
दशवाँ अध्याय

दैवासुरसंग्राम ।

श्रीशुक उवाच

इति दानवदैतेया नाविन्दन्नमृतं नृप ।
युक्ताः कर्मणि यत्ताश्च वासुदेवपराङ्मुखाः ॥ १ ॥
साधयित्वामृतं राजन्पाययित्वा स्वकान्सुरान् ।
पश्यतां सर्वभूतानां ययौ गरुडवाहनः ॥ २ ॥
सपत्नानां परामृद्धिं[1] दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः ।
अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान्प्रत्युद्यतायुधाः ॥ ३ ॥
ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः ।
प्रतिसंयुयुधुः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः ॥ ४ ॥
तत्र दैवासुरो नाम रणः परमदारुणः ।
रोधस्युदन्वतो राजंस्तुमुलो रोमहर्षणः ॥ ५ ॥
तत्रान्योन्यं सपत्नास्ते संरब्धमनसो रणे ।
समासाद्यासिभिर्बाणैर्निजघ्नुर्विविधायुधैः ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार सावधानतापूर्वक समुद्रमन्थनके कार्यमें उद्योग करनेपर भी भगवान् वासुदेवसे विमुख होनेके कारण दैत्य और दानवोंको अमृत नहीं मिला ॥ १ ॥ तदनन्तर गरुड-वाहन भगवान् हरि [समुद्रमन्थनद्वारा] अमृत पाकर और उसे अपने भक्त देवताओंको पिलाकर समस्त प्राणियोंके देखते-देखते वहाँसे चले गये ॥ २ ॥ अपने विपक्षियोंका परम ऐश्वर्य देखकर वे दैत्यगण उसे सहन न कर सके; और अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर देवताओंपर चढ़ आये ॥ ३ ॥ तब अमृतपानसे सबल हुए भगवच्चरणाश्रित देवगण भी अपने आयुधोंसे दैत्योंके साथ लड़ने लगे ॥ ४ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार वहाँ क्षीरसागरके तीरपर 'दैवासुर' नामक एक बड़ा ही दारुण, रोमाञ्चकारी और घनघोर युद्ध होने लगा ॥ ५ ॥ उस युद्धमें वे दोनों विपक्षी वीर अत्यन्त रोषमें भरकर आपसमें भिड़ गये और एक-दूसरेपर खड्ग और बाणादि नाना प्रकारके शस्त्रोंसे आघात करने लगे ॥ ६ ॥

१. परां सिद्धिं ।

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां [1]भेरीडमरुणां महान् ।
[2]हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निःस्वनोऽभवत् ॥ ७ ॥
रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिः सह पत्तयः ।
हया हयैरिभाश्चेभैः समसज्जन्त संयुगे ॥ ८ ॥
उष्ट्रैः केचि[3]दिभैः केचिदप[4]रे युयुधुः खरैः ।
केचिद्गौरमृगैर्ऋक्षैर्द्वीपिभिर्हरिभिर्भटाः ॥ ९ ॥
गृध्रैः कङ्कैर्बकैरन्ये श्येनभासैस्तिमिङ्गिलैः ।
शरभैर्महिषैः खड्गैर्गोवृषैर्गवयारुणैः ॥१०॥
शिवाभिराखुभिः केचित्कृकलासैः [5]शशैर्नरैः ।
[6]बस्तैरेके कृष्णसारैर्हंसैरन्ये च सूकरैः ॥११॥
अन्ये जलस्थलखगैः सत्त्वैर्विकृतविग्रहैः ।
सेनयोरुभयो राजन्विविशुस्तेऽग्रतोऽग्रतः ॥१२॥

चित्रध्वजपटै राजन्नातपत्रैः सितामलैः ।
[7]महाधनैर्वज्रदण्डैर्व्यजनैर्बार्हचामरैः ॥१३॥
वातोद्धूतोत्तरोष्णीषैरर्चिर्भिर्वर्मभूषणैः ।
स्फुरद्भिर्विशदैः शस्त्रैः सुतरां सूर्यरश्मिभिः ॥१४॥
देवदानववीराणां ध्वजिन्यौ पाण्डुनन्दन ।
रेजतुर्वीरमालाभिर्यादसामिव सागरौ ॥१५॥
वैरोचनो बलिः संख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः ।
यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम् ॥१६॥
सर्वसाङ्ग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं प्रभो ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं दृश्यमानमदर्शनम् ॥१७॥
आस्थितस्तद्विमानाग्र्यं सर्वानीकाधिपैर्वृतः ।
बालव्यजनछत्राग्र्यै रेजे चन्द्र इवोदये ॥१८॥
तस्यासन्सर्वतो यानैर्यूथानां पतयोऽसुराः ।

उस समय गर्जते हुए हाथी, घोड़े, रथ और पदातियोंका तथा शङ्ख, तूर्य, मृदङ्ग, भेरी और डमरू आदि बाजोंका अति महान् शब्द होने लगा ॥ ७ ॥ उस युद्धमें रथियोंके साथ रथी, पदातियोंके साथ पदाति, घुड़सवारोंके साथ घुड़सवार और गजारोहियोंके साथ गजारोही भिड़ गये ॥८॥ हे राजन्! उन वीरोंमेंसे कोई ऊँटोंपर, कोई हाथियोंपर और कोई गधोंपर चढ़कर युद्ध करने लगे; कोई गौरमृगोंपर, कोई रीछोंपर, कोई व्याघ्रोंपर, कोई सिंहोंपर, कोई गिद्ध, कङ्क और बगुलोंपर, कोई श्येन, भास और तिमिङ्गिलोंपर, कोई शरभ, भैंसे, गेंडे, बैल, नीलगाय और साँडोंपर, कोई लोमड़ी, चूहे, गिरगिट, खरहे, मनुष्य और बकरोंपर, कोई कृष्णसार मृगोंपर, कोई हंसोंपर, कोई शूकरोंपर और कोई जल, स्थल एवं आकाशमें रहनेवाले विकराल शरीरधारी प्राणियोंपर चढ़कर दोनों सेनाओंमें आगेकी ओर घुस गये ॥ ९–१२ ॥

हे पाण्डुपुत्र ! उस समय, नाना प्रकारकी ध्वजा-पताका, शुभ्र और निर्मल छत्र, रत्नदण्डयुक्त बहुमूल्य व्यजन, मोरछल, चमर, वायुमें उड़ते हुए दुपट्टे, पगड़ी, कलँगी, कवच, आभूषण तथा सूर्यकी किरणोंसे निरन्तर दमकते हुए उज्ज्वल शस्त्रोंके कारण वे देवता और असुरोंकी सेनाएँ वीरश्रेणीरूप जलचरोंसे युक्त दो महासागरोंके समान सुशोभित हुईं ॥१३-१५॥ हे राजन् ! तब उस रणभूमिमें दैत्यसेनापति विरोचन-पुत्र बलि मयदानवके बनाये हुए वैहायसनामक विमानपर चढ़ा, जो इच्छानुसार सर्वत्र आने-जाने-वाला, सम्पूर्ण युद्धसामग्रीसे पूर्ण, सर्वाश्चर्यमय, तथा कभी दिखलायी देने और कभी अदृश्य हो जानेके कारण अप्रतर्क्य और अनिर्देश्य था । उस श्रेष्ठ विमानपर बैठकर सम्पूर्ण सेनानायकोंसे घिरा हुआ वह (बलि) अत्युत्तम बालव्यजन (चमर) और छत्रोंसे युक्त हो उदित होते हुए चन्द्रमाके समान सुशोभित हुआ ॥१६-१८॥ उसके सब ओर अपने-अपने विमानोंपर चढ़े हुए

१. भेरीणां निःस्वनो । २. प्राचीन प्रतिमें 'हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निःस्वनोऽभवत्' इतने अंशका पाठ पाँचवें श्लोक '……रोमहर्षणः' के बाद है, शेषका क्रम इसी प्रतिके अनुसार है । ३. चिद्द्विपैः । ४. रेऽपि ययुः खरैः । ५. शशैर्नरैः खगैः । ६. मृगैरन्ये कृष्ण० । ७. महायुधैर्वज्र० ।

नमुचिः शम्बरो बाणो विप्रचित्तिरयोमुखः ॥१९॥
द्विमूर्धा कालनाभो[1]ऽथ प्रहेतिर्हेतिरिल्वलः ।
शकुनिर्भूतसंतापो वज्रदंष्ट्रो विरोचनः ॥२०॥
हयग्रीवः शङ्कुशिराः कपिलो मेघदुन्दुभिः ।
तारकश्चक्रदृक्छुम्भो निशुम्भो जम्भ उत्कलः ॥२१॥
अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च मयश्च त्रिपुराधिपः ।
अन्ये पौलोमकालेया निवातकवचादयः ॥२२॥
अलब्धभागाः सोमस्य केवलं क्लेशभागिनः ।
सर्व एते रणमुखे बहुशो निर्जितामराः ॥२३॥
सिंहना[2]दान्विमुञ्चन्तः शङ्खान्दध्मुर्महारवान् ।
दृष्ट्वा सपत्नानुत्सिक्तान्बलभित्कुपितो भृशम् ॥२४॥
ऐरावतं दिक्करिणमारूढ[3]ः शुशुभे स्वराट् ।
यथा स्रवत्प्रस्रवणमुदयाद्रिमहर्पतिः ॥२५॥
तस्यासन्सर्वतो देवा नानावाहध्वजायुधाः ।
लोकपालाः सह गणैर्वाय्वग्निवरुणादयः ॥२६॥

नमुचि, शम्बर, बाण, विप्रचित्ति, अयोमुख, द्विमूर्धा, कालनाभ, प्रहेति, हेति, इल्वल, शकुनि, भूतसन्ताप, वज्रदंष्ट्र, विरोचन, हयग्रीव, शङ्कुशिरा, कपिल, मेघदुन्दुभि, तारक, चक्राक्ष, शुम्भ, निशुम्भ, जम्भ, उत्कल, अरिष्ट, अरिष्टनेमि, मय, त्रिपुराधिप, पौलोम, कालेय और निवातकवचादि दैत्ययूथपति थे ॥१९–२२॥ ये सभी अमृतका भाग न मिलनेसे केवल क्लेशके ही भागी हुए थे और पहले युद्धमें कई बार देवताओंको परास्त कर चुके थे ॥२३॥ वे सिंहनाद करते हुए ऊँची आवाजवाले शङ्ख बजाने लगे । उस समय अपने शत्रुओंको गर्वयुक्त हुए देख स्वर्गाधिपति इन्द्र बड़े कुपित हुए और अपने मस्तकसे मद बहाते हुए ऐरावत नामक दिग्गजपर आरूढ़ होकर ऐसे सुशोभित हुए जैसे बहते हुए झरनोंसे युक्त उदयाचलपर दिननाथ सूर्य शोभा पाते हैं ॥२४-२५॥ उनके चारों ओर नाना प्रकारके वाहन, ध्वजा और आयुधोंसे युक्त देवगण तथा अपने गणोंके सहित वायु, अग्नि और वरुण आदि लोकपालगण चले ॥२६॥

तेऽन्योन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः[4] ।
आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः ॥२७॥
युयोध बलिरिन्द्रेण तारकेण गुहोऽस्यत[5] ।
वरुणो हेतिनायुध्यन्मित्रो राजन्प्रहेतिना ॥२८॥
यमस्तु कालनाभेन विश्वकर्मा मयेन वै ।
शम्बरो युयुधे त्वष्ट्रा सवित्रा तु विरोचनः ॥२९॥
अपराजितेन नमुचिरश्विनौ वृषपर्वणा ।
सूर्यो बलिसुतैर्देवो बाणज्येष्ठैः शतेन च ॥३०॥
राहुणा च तथा सोमः पुलोम्ना युयुधेऽनिलः ।
निशुम्भशुम्भयोर्देवी भद्रकाली तरस्विनी ॥३१॥
वृषाकपिस्तु जम्भेन महिषेण विभावसुः ।
इल्वलः सह वातापिर्ब्रह्मपुत्रैररिन्दम ॥३२॥

तब वे [देवता और दैत्यगण] एक-दूसरेके सामने आकर मर्मभेदी शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए युद्धमें आगे बढ़कर एक-दूसरेको ललकारते हुए दो-दो मिलकर लड़ने लगे ॥२७॥ हे राजन् ! उस समय इन्द्रके साथ बलि, तारकासुरके साथ स्वामिकार्तिकेय, हेतिके साथ वरुण, प्रहेतिके साथ मित्र, कालनाभके साथ यमराज, मयके साथ विश्वकर्मा, त्वष्टाके साथ शम्बरासुर, सविताके साथ विरोचन, अपराजितके साथ नमुचि, वृषपर्वाके साथ अश्विनीकुमार और बलिके सौ पुत्रोंके साथ, जिनमें बाणासुर ज्येष्ठ था, सूर्य लड़ने लगे । तथा राहुके साथ चन्द्रमा और पुलोमाके साथ वायु युद्ध करने लगा । इसी प्रकार निशुम्भ और शुम्भके साथ वेगवती देवी भद्रकाली, जम्भसे वृषाकपि (महादेव), महिषासुरके साथ अग्निदेव और हे शत्रुदमन ! ब्रह्माजीके पुत्रोंसे इल्वल तथा वातापी लड़ने लगे॥ २८–३२॥

१. ऽत्र । २. नादं वि० । ३. रूढोऽधिपतिं स्वराट् । ४. नामभिर्मिथः । ५. ऽप्युत ।

कामदेवेन दुर्मर्ष उत्कलो मातृभिः सह ।
बृहस्पतिश्चोशनसा नरकेण शनैश्चरः ॥३३॥
मरुतो निवातकवचैः कालेयैर्वसवोऽमराः ।
विश्वेदेवास्तु पौलोमै रुद्राः क्रोधवशैः सह ॥३४॥

कामदेवके साथ दुर्मर्ष, मातृगणके साथ उत्कल, शुक्राचार्यके साथ बृहस्पति, नरकासुरके साथ शनैश्चर, निवातकवचों-के साथ मरुद्गण, कालेयोंके साथ वसुगण, पौलोमोंके साथ विश्वेदेवगण, तथा क्रोधवशोंके साथ रुद्रगणका संग्राम होने लगा ॥३३-३४॥

त एवमाजावसुराः सुरेन्द्रा
द्वन्द्वेन संहत्य च युध्यमानाः ।
अन्योन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा
जिगीषवस्तीक्ष्णशरासितोमरैः ॥३५॥
भुशुण्डिभिश्चक्रगदर्ष्टिपट्टिशैः
शक्त्युल्मुकैः प्रासपरश्वधैरपि ।
निस्त्रिंशभल्लैः परिघैः समुद्गरैः
सभिन्दिपालैश्च शिरांसि चिच्छिदुः ॥३६॥
गजास्तुरङ्गाः सरथाः पदातयः
सारोहवाहा विविधा विखण्डिताः ।
निकृत्तबाहूरुशिरोधराङ्घ्रय-
श्छिन्नध्वजेष्वासतनुत्रभूषणाः ॥३७॥
तेषां पदाघातरथाङ्गचूर्णिता-
दायोधनादुल्बण उत्थितस्तदा ।
रेणुर्दिशः खं द्युमणिं च छादय-
न्न्यवर्ततासृक्स्रुतिभिः परिप्लुतात् ॥३८॥
शिरोभिरुद्धूतकिरीटकुण्डलैः
संरम्भदृग्भिः परिदष्टदच्छदैः ।
महाभुजैः साभरणैः सहायुधैः
सा प्रास्तृता भूः करभोरुभिर्बभौ ॥३९॥
कबन्धास्तत्र चोत्पेतुः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः[1] ।
उद्यतायुधदोर्दण्डैराधावन्तो भटान्मृधे ॥४०॥

इस प्रकार वे दैत्य और देवेन्द्रगण उस रणभूमिमें एकत्रित हो द्वन्द्वयुद्धमें प्रवृत्त होकर एक-दूसरेसे भिड़कर जयकी इच्छासे बड़े उत्साहपूर्वक तीक्ष्ण बाण, तलवार एवं भालोंद्वारा प्रहार करने लगे ॥३५॥ वे भुशुण्डी, चक्र, गदा, ऋष्टि, पट्टिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, परश्वध, निस्त्रिंश, भाले, मुद्गर और भिन्दिपालोंके सहित परिघोंसे एक-दूसरोंके शिर काटने लगे ॥३६॥ उस समय अपने आरोहियोंके सहित हाथी, घोड़े तथा रथ आदि नाना प्रकार-के वाहन और पदातिगण छिन्न-भिन्न होने लगे—किन्हीं-की भुजाएँ, किन्हींकी जङ्घाएँ तथा किन्हींकी ग्रीवा और चरण आदि कट गये तथा किन्हींकी ध्वजा, धनुष, कवच और आभूषणादि छिन्न-भिन्न हो गये ॥३७॥ उनके पादप्रहार और रथचक्रोंके आघातसे मर्दित हुई रणभूमिसे प्रचण्ड धूलि उठी; उसने सम्पूर्ण दिशाओं और सूर्यसहित आकाशको आच्छादित कर लिया । किन्तु रुधिरकी धाराओंसे उस भूमिके भीग जानेके कारण वह फिर बैठ गयी ॥३८॥ तदनन्तर सारी रणभूमि, जिनके मुकुट और कुण्डल गिर गये थे तथा जिनके नेत्र क्रोधयुक्त और ओठ दाँतोंके तले दबाये हुए थे ऐसे मस्तकों, आभूषण और आयुधोंके सहित बड़ी-बड़ी भुजाओं तथा हाथीकी सूँडके समान स्थूल जङ्घाओंसे भर गयी ॥३९॥ वहाँ बहुत-से कबन्ध (मुण्डहीन रुण्ड) उठे, जो युद्धस्थलमें कटकर गिरे हुए अपने शिरोंके नेत्रोंसे देखकर हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर अन्य वीरोंकी ओर दौड़ने लगे ॥४०॥

बलिर्महेन्द्रं दशभिस्त्रिभिरैरावतं शरैः ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकेनारोहमर्च्छयत्[2] ॥४१॥

फिर राजा बलिने दश बाणोंसे इन्द्रको, तीनसे ऐरावतको, चारसे ऐरावतके चार चरणरक्षक महावतोंको और एकसे मुख्य महावतको बींधने-के लिये कुल अठारह बाण छोड़े ॥४१॥

१. पतिताः स्वशिरोरुभिः । २. मर्पयत् ।

स तानापततः शक्रस्तावद्भिः शीघ्रविक्रमः ।
चिच्छेद निशितैर्भल्लैरसम्प्राप्तान्हसन्निव ॥४२॥
तस्य कर्मोत्तमं वीक्ष्य दुर्मर्षः शक्तिमाददे ।
तां ज्वलन्तीं महोल्काभां हस्तस्थामच्छिनद्धरिः ॥४३॥
ततः शूलं ततः प्रासं ततस्तोमरमृष्टयः ।
यद्यच्छस्त्रं समादद्यात्सर्वं तदच्छिनद्विभुः ॥४४॥

किन्तु शीघ्रपराक्रमी इन्द्रने उन्हें अपनी ओर आते देख वहाँ पहुँचनेसे पहले ही भल्लनामक उतने ही तीक्ष्ण बाण छोड़कर हँसते-हँसते बीचहीमें काट डाला ॥४२॥ इन्द्रके इस उत्तम पराक्रमको देखकर उसे सहन न कर सकनेके कारण बलिने एक शक्ति ली; किन्तु शक्रने उल्काके समान जलती हुई उस शक्तिको उसके हाथमें रहते हुए ही काट डाला ॥४३॥ इसी प्रकार फिर बलिने एकके पीछे एक क्रमशः शूल, प्रास, तोमर और शक्ति आदि जितने शस्त्र लिये उन सभीको समर्थ इन्द्रने काट डाला ॥४४॥

ससर्जाथासुरीं मायामन्तर्धानगतोऽसुरः ।
ततः प्रादुरभूच्छैलः सुरानीकोपरि प्रभो ॥४५॥
ततो निपेतुस्तरवो दह्यमाना दवाग्निना ।
शिलाः सटङ्कशिखराश्चूर्णयन्त्यो द्विषद्बलम् ॥४६॥
महोरगाः समुत्पेतुर्दन्दशूकाः सवृश्चिकाः ।
सिंहव्याघ्रवराहाश्च मर्दयन्तो महागजान् ॥४७॥
यातुधान्यश्च शतशः शूलहस्ता विवाससः ।
छिन्धि भिन्धीति वादिन्यस्तथा रक्षोगणाः प्रभो ॥४८॥
ततो महाघना व्योम्नि गम्भीरपरुषस्वनाः ।
अङ्गारान्मुमुचुर्वातैराहताः स्तनयित्नवः ॥४९॥
सृष्टो दैत्येन सुमहान्वह्निः श्वसनसारथिः ।
सांवर्तक इवात्युग्रो विबुधध्वजिनीमधाक् ॥५०॥
ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्रत्यदृश्यत ।
प्रचण्डवातैरुद्धूततरङ्गावर्तभीषणः ॥५१॥

हे राजन् ! फिर वह असुर अन्तर्धान होकर बहुत-सी आसुरी मायाएँ रचने लगा । इसी समय देवसेनाके ऊपर एक पर्वत प्रकट हुआ ॥४५॥ वहाँसे दावाग्निसे जलते हुए वृक्ष तथा तीखी धारोंवाले शिखर एवं शिलाखण्ड गिरकर सुरसेनाको कुचलने लगे ॥४६॥ फिर बड़े-बड़े सर्प, बिच्छू एवं अन्य विषधर जीव उत्पन्न हुए तथा सिंह, व्याघ्र और वराह आदि प्रकट होकर बड़े-बड़े गजराजोंको पीडित करने लगे ॥४७॥ हे राजन् ! फिर हाथोंमें शूल लिये 'छेदो-काटो' इस प्रकार चिल्लाती हुई सैकड़ों वस्त्रहीना राक्षसियाँ और राक्षसगण प्रकट हुए ॥४८॥ तदनन्तर आकाशमें गम्भीर और कठोर शब्द करनेवाले महामेघ और बिजलियाँ प्रकट होकर वायुसे आहत हो अंगारोंकी वर्षा करने लगे ॥४९॥ फिर दैत्यराजका उत्पन्न किया हुआ वायुरूप सारथीसे युक्त तथा प्रलयकालीन अग्निके समान अति प्रचण्ड महान् अग्नि देवसेनाको भस्म करने लगा ॥५०॥ उस समय प्रबल प्रभञ्जनके थपेड़ोंसे उछलती हुई तरङ्ग और भँवरोंके कारण अत्यन्त भीषण समुद्र सब ओर मर्यादाको लाँघता दिखायी देने लगा ॥५१॥

एवं दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभीषणैः ।
सृज्यमानासु मायासु विषेदुः सुरसैनिकाः ॥५२॥
न तत्प्रतिविधिं यत्र विदुरिन्द्रादयो नृप ।

इस प्रकार जो अपनी अलक्ष्य गतिके कारण अति भीषण थे उन महामायावी दैत्योंके अनेकों मायाएँ रचनेपर सुरसैनिकगण बहुत दुःखी होने लगे ॥५२॥ हे राजन् ! जब इन्द्रादि देवताओंको उन मायाओंके

१. यष्टयः । २. यद्यद्दुर्मर्ष आद० । ३. महागजाः । ४. मधात् । ५. नैतत् ।

ध्यातः प्रादुरभूत्तत्र भगवान्विश्वभावनः ॥५३॥
ततः सुपर्णांसकृताङ्घ्रिपल्लवः
पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः ।
अदृश्यताष्टायुधबाहुरुल्लस-
च्छ्रीकौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः ॥५४॥
तस्मिन्प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा
माया विनेशुर्महिना महीयसः ।
स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्[2] ॥५५॥
दृष्ट्वा मृधे गरुडवाहमिभारिवाह
आविध्य शूलमहिनोदथ कालनेमिः ।
तल्लीलया गरुडमूर्ध्नि पतद्गृहीत्वा
तेनाहनन्नृप सवाहमरिं त्र्यधीशः ॥५६॥
माली सुमाल्यतिबलौ युधि पेततुर्य-
च्चक्रेण कृत्तशिरसावथ माल्यवांस्तम् ।
आहत्य तिग्मगदयाहनदण्डजेन्द्रं
तावच्छिरोऽच्छिनदरेर्नदतोऽरिणाद्यः ।५७।

नाशका कोई उपाय न सूझा तो उनके स्मरण करते ही विश्वभावन भगवान् प्रकट हुए ॥५३॥ तब, जिन्होंने गरुडजीके कन्धेपर अपना सुकोमल चरण रखा है, जो पीताम्बर धारण किये हैं, जिनके नवीन कमलके समान नेत्र हैं तथा जो अपनी आठों भुजाओं- में आयुध धारण किये हुए हैं वे लक्ष्मी, कौस्तुभ और महामूल्य मुकुट एवं कुण्डलोंसे सुशोभित श्रीहरि वहाँ दिखायी दिये ॥५४॥ भगवान्‌के देवसेनामें प्रवेश करते ही उन महात्माके तेजसे दैत्योंके कूटकर्मसे प्रकट हुई सारी मायाएँ तत्काल नष्ट हो गयीं, जिस प्रकार जग पड़नेपर स्वप्नका नाश हो जाता है; [सच है] भगवान्‌की स्मृति सम्पूर्ण विपत्तियोंसे मुक्त कर देनेवाली है ॥५५॥ युद्धस्थलमें भगवान् गरुडवाहनको प्रकट हुए देख सिंहारोही दैत्य कालनेमिने उनके ऊपर एक त्रिशूल फेंका । हे राजन् ! उसे गरुडके मस्तकपर गिरता देख श्रीहरिने उसे लीलाहीसे पकड़ लिया और उसीसे वाहनसहित उस शत्रुको मार डाला ॥५६॥ फिर भगवान्‌के चक्रसे शिर कट जानेपर माली और सुमालीनामक महाबली दैत्य युद्धस्थलमें मरकर गिरे । तदनन्तर माल्यवान्‌ने अपनी प्रचण्ड गदासे भगवान्- पर प्रहार कर गरुडपर आक्रमण किया, किन्तु इसी समय आदिपुरुष श्रीहरिने अपने चक्रसे उस गरजते हुए शत्रुका मस्तक काट डाला ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे
दैवासुरसंग्रामे[3] दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

१. तस्मिन् म० । २. मोक्षिणी । ३. देवासुररणे ।
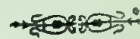
ग्यारहवाँ अध्याय

दैवासुरसंग्रामकी समाप्ति।

श्रीशुक उवाच

अथो सुराः प्रत्युपलब्धचेतसः
परस्य पुंसः परयानुकम्पया।
जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादय-
स्तांस्तान्रणे यैरभिसंहताः पुरा ॥ १ ॥
वैरोचनाय संरब्धो भगवान्पाकशासनः।
उदयच्छद्यदा वज्रं प्रजा हाहेति चुक्रुशुः ॥ २ ॥
वज्रपाणिस्तमाहेदं तिरस्कृत्य पुरःस्थितम्।
मनस्विनं सुसम्पन्नं विचरन्तं महामृधे ॥ ३ ॥
नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान्नो जिगीषसि।
जित्वा बालान्निबद्धाक्षान्नटो हरति तद्धनम् ॥ ४ ॥
आरुरुक्षन्ति मायाभिरुत्सिसृप्सन्ति ये दिवम्।
तान्दस्यून्विधुनोम्यज्ञान्पूर्वस्माच्च पदादधः[1] ॥ ५ ॥
सोऽहं दुर्मायिनस्तेऽद्य वज्रेण शतपर्वणा।
शिरो हरिष्ये मन्दात्मन्घटस्व ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! फिर परमपुरुष श्रीहरिकी अत्यन्त कृपासे सचेत होनेपर इन्द्र और वायु आदि देवगण, पहले जिन-जिनसे समराङ्गणमें आहत हुए थे उन-उन दैत्योंपर प्रबल प्रहार करने लगे ॥ १ ॥ जिस समय भगवान् इन्द्रने कुपित होकर बलिको मारनेके लिये अपना वज्र उठाया उस समय सम्पूर्ण प्रजा हाहाकार करने लगी ॥ २ ॥ वज्रपाणि इन्द्रने युद्धस्थलमें विचरते हुए अपने सामने स्थित मनस्वी और अस्त्र-शस्त्रसम्पन्न बलिका तिरस्कार करते हुए उससे कहा—॥ ३ ॥ "रे मूढ! जिस प्रकार बालकोंकी आँखें बाँधकर उन्हें अपने अधीन कर नट उनका धन हर लेते हैं उसी प्रकार तू अपनी तुच्छ मायाओंसे हम मायापतियोंको जीतनेकी इच्छा करता है! ॥ ४ ॥ जो लोग मायाका आश्रय लेकर स्वर्गपर चढ़ना चाहते हैं तथा जिन्हें स्वर्गको भी लाँघकर मुक्तिपद प्राप्त करनेकी इच्छा है उन अज्ञानी लुटेरोंको मैं उनके पूर्वपदसे भी नीचे गिरा देता हूँ ॥ ५ ॥ रे मन्दात्मन्! तू नाना प्रकारकी दुष्ट मायाएँ रचनेवाला है; आज अपने शतपर्वा वज्रसे मैं तेरा शिर काटूँगा। तू अपने जाति-भाइयोंके साथ इससे बचनेकी चेष्टा कर" ॥ ६ ॥

बलिरुवाच

संग्रामे वर्तमानानां कालचोदितकर्मणाम्।
कीर्तिर्जयोऽजयो[2] मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात् ॥ ७ ॥
तदिदं[3] कालरशनं जनाः पश्यन्ति सूरयः।
न हृष्यन्ति न शोचन्ति तत्र यूयमपण्डिताः ॥ ८ ॥
न वयं[4] मन्यमानानामात्मानं तत्र साधनम्।
गिरो वः साधुशोच्यानां[5] गृह्णीमो मर्मताडनाः ॥ ९ ॥

बलि बोले—हे इन्द्र! कालकी प्रेरणासे संग्राममें नियुक्त हुए सभी पुरुषोंको कीर्ति, जय, पराजय और मृत्यु आदि क्रमशः प्राप्त हुआ करते हैं ॥ ७ ॥ अतः विज्ञजन संसारको कालाधीन समझकर इनसे हर्ष या शोक नहीं करते; किन्तु तुमलोग इस विषयमें सर्वथा अज्ञानी हो ॥ ८ ॥ इसलिये उन जय-पराजय आदिके सम्बन्धमें अपनेहीको साधन माननेवाले और साधुजनोंके शोचनीय तुम लोगोंके इन मर्मभेदी वाक्यों-की ओर हम कोई ध्यान नहीं देते ॥ ९ ॥

---

१. परादधः। २. र्जयाजयौ। ३. तदिमं। ४. न ये। ५. सर्व०।

श्रीशुक उवाच[1]

इत्याक्षिप्य विभुं वीरो नाराचैर्वीरमर्दनः[2]।
आकर्णपूर्णैरहनदाक्षेपैराहतं पुनः ॥१०॥
एवं निराकृतो देवो वैरिणा तथ्यवादिना।
नामृष्यत्तदधिक्षेपं तोत्राहत इव द्विपः ॥११॥
प्राहरत्[3]कुलिशं तस्मा अमोघं[4] परमर्दनः।
सयानो न्यपतद्भूमौ छिन्नपक्ष इवाचलः ॥१२॥
सखायं पतितं दृष्ट्वा जम्भो बलिसखः सुहृत्।
अभ्ययात्सौहृदं सख्युर्हतस्यापि समाचरन् ॥१३॥
स सिंहवाह आसाद्य गदामुद्यम्य रंहसा।
जत्रावताडयच्छक्रं गजं च सुमहाबलः[5] ॥१४॥
गदाप्रहारव्यथितो भृशं विह्वलितो गजः।
जानुभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा कश्मलं[6] परमं ययौ ॥१५॥
ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः।
आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथमारुरुहे विभुः ॥१६॥
तस्य तत्पूजयन्कर्म यन्तुर्दानवसत्तमः।
शूलेन ज्वलता तं तु स्मयमानोऽहनन्मृधे ॥१७॥
सेहे रुजं सुदुर्मर्षां सत्त्वमालम्ब्य मातलिः।
इन्द्रो जम्भस्य संक्रुद्धो वज्रेणापाहरच्छिरः ॥१८॥
जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः।
नमुचिश्च[7] बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः[8] ॥१९॥
वचोभिः परुषैरिन्द्रमर्दयन्तोऽस्य मर्मसु।
शरैरवाकिरन्मेघा धाराभिरिव पर्वतम् ॥२०॥
हरीन्दशशतान्याजौ हर्यश्वस्य बलः शरैः।
तावद्भिरर्दयामास युगपल्लघुहस्तवान् ॥२१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—इन्द्रका इस प्रकार तिरस्कार कर विपक्षी वीरोंका मर्दन करनेवाले राजा बलिने कानतक खींचे हुए धनुषसे बहुत-से बाण छोड़कर आक्षेपोंसे विद्ध हुए इन्द्रको पुनः बींध दिया॥१०॥ उस सत्यवादी शत्रुसे इस प्रकार तिरस्कृत हुए देवराज इन्द्र उसके आक्षेपोंको अङ्कुशाहत गजराजके समान सहन न कर सके॥११॥ अतः उन शत्रुमर्दनने बलिपर अपना अमोघ वज्र छोड़ा, इससे वे पंख कटे हुए पर्वतके समान अपने वाहनसहित पृथिवीपर गिर पड़े॥१२॥ तब बलिका सुहृद् सखा जम्भ अपने मित्रको गिरा हुआ देख मरे हुए सखाका भी स्नेह निभानेके लिये इन्द्रके सामने आया॥१३॥ उस समय सिंहपर चढ़कर सामने आये हुए महाबली जम्भासुरने अपनी गदा उठाकर बड़े वेगसे इन्द्रके कन्धे-पर और उनके वाहनपर प्रहार किया॥१४॥ जम्भासुरकी गदाके प्रहारसे अत्यन्त व्यथित और व्याकुल हुआ ऐरावत पृथिवीपर घुटने टेककर अत्यन्त तिलमिला उठा॥१५॥ इसी समय मातलि एक सहस्र अश्वोंसे जुता हुआ रथ ले आया। तब देवराज इन्द्र हाथीको छोड़कर रथपर चढ़ गये॥१६॥ दानवश्रेष्ठ जम्भने सारथीके इस कार्यकी प्रशंसा की और युद्धस्थलमें मुसकाते हुए एक जाज्वल्यमान त्रिशूलसे उसपर आघात किया॥१७॥ उस समय मातलिने धैर्य धारण कर उस दुःसह व्यथाको सहन किया; तब इन्द्रने अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने वज्रसे जम्भका शिर काट लिया॥१८॥

तदनन्तर देवर्षि नारदके मुखसे जम्भको मारा गया सुन उसके बन्धु नमुचि, बल और पाक बड़ी शीघ्रतासे वहाँ आये॥१९॥ और अपने कटु वाक्योंसे देवराज इन्द्रके मर्मस्थानोंको पीडित करते हुए उनपर इस प्रकार बाणवर्षा करने लगे जैसे मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ बरसाते हैं॥२०॥ फुर्तीसे हाथ चलानेवाले बलने युद्धस्थलमें इन्द्रके एक हजार घोड़ोंको उतने ही बाण छोड़कर एक साथ बींध डाला॥२१॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' नहीं है। २. मानदः। ३. हनत्। ४. घमरिमर्दनम्। ५. बलम्। ६. लं च परं ययौ। ७. मुचिः सबलः। ८. पेतुश्च रोषिताः।

शताभ्यां मातलिं पाको रथं सावयवं पृथक् ।
सकृत्सन्धानमोक्षेण तदद्भुतमभूद्रणे ॥२२॥
नमुचिः पञ्चदशभिः स्वर्णपुङ्खैर्महेषुभिः ।
आहत्य व्यनदत्संख्ये सतोय इव तोयदः ॥२३॥
सर्वतः शरकूटेन शक्रं सरथसारथिम् ।
छादयामासुरसुराः प्रावृट्सूर्यमिवाम्बुदाः ॥२४॥

पाकने एक ही साथ सौ बाण चढ़ाते और छोड़ते हुए मातलि और अङ्गोपाङ्गसहित रथको पृथक्-पृथक् वेध दिया। यह उस युद्धमें बड़ी विचित्र घटना हुई ॥ २२ ॥ नमुचिने भी सुवर्णपङ्खयुक्त पन्द्रह महाबाणोंसे इन्द्रको आहत कर युद्धस्थलमें सजल मेघके समान अति गम्भीर नाद किया ॥ २३ ॥ इस प्रकार मेघ जैसे वर्षाकालीन सूर्यको आच्छादित कर लेते हैं उसी प्रकार उन दानवोंने रथ और सारथीके सहित इन्द्रको सब ओरसे बाणसमूहसे ढँक दिया ॥ २४ ॥

अलक्षयन्तस्तमतीव विह्वला
विचुक्रुशुर्देवगणाः सहानुगाः ।
अनायकाः शत्रुबलेन निर्जिता
वणिक्पथा भिन्ननवो यथार्णवे[1] ॥२५॥
ततस्तुराषाडिषुबद्धपञ्जरा-
द्विनिर्गतः साश्वरथध्वजाग्रणीः ।
बभौ दिशः खं पृथिवीं च रोचय-
न्स्वतेजसा सूर्य इव क्षपात्यये ॥२६॥
निरीक्ष्य पृतनां देवः परैरभ्यर्दितां रणे ।
उदयच्छद्रिपुं हन्तुं वज्रं वज्रधरो रुषा ॥२७॥
स तेनैवाष्टधारेण शिरसी बलपाकयोः ।
ज्ञातीनां पश्यतां राजञ्जहार जनयन्भयम् ॥२८॥

इस प्रकार शत्रुसेनासे पराजित हुए देवगण देवराज इन्द्रको न देखकर अति व्याकुल हो गये और नायकहीन होकर अपने अनुचरोंसहित उन वणिकोंके समान, जिनकी नौका समुद्रके बीचमें टूट गयी हो, हाहाकार करने लगे ॥ २५ ॥ तब इन्द्रदेव अश्व, रथ, ध्वजा और सारथीके सहित शत्रुओंके बनाये हुए उस बाणसमूहके पिंजड़ेसे निकलकर अपने तेजसे दिशा, आकाश और पृथिवीको प्रकाशित करते हुए रात्रिके अन्तमें उदित हुए सूर्यके समान सुशोभित होने लगे ॥ २६ ॥ फिर अपनी सेनाको समराङ्गणमें शत्रुओंसे पीडित हुई देख वज्रधर इन्द्रने अति कुपित होकर अपने शत्रुओंका वध करनेके लिये वज्र उठाया ॥ २७ ॥ हे राजन् ! उन्होंने उस आठ धारोंवाले वज्रसे बल और पाकके शिरोंको, उनके अन्य जाति-बन्धुओंके देखते-देखते उन्हें भय उत्पन्न करते हुए, काट डाला ॥ २८ ॥

नमुचिस्तद्वधं दृष्ट्वा शोकामर्षरुषान्वितः ।
जिघांसुरिन्द्रं नृपते चकार परमोद्यमम् ॥२९॥
अश्मसारमयं शूलं घण्टावद्धेमभूषणम् ।
प्रगृह्याभ्यद्रवत्क्रुद्धो हतोऽसीति वितर्जयन् ।
प्राहिणोद्देवराजाय निनदन्[2]मृगराडिव ॥३०॥
तदापतद्गगनतले महाजवं
विचिच्छिदे हरिरिषुभिः सहस्रधा ।

हे राजन् ! उनका वध होता देख नमुचिने शोक, अमर्ष (असहनशीलता) और रोषसे भरकर इन्द्रको मारनेके लिये अत्यन्त उद्योग किया ॥ २९ ॥ वह क्रोधमें भरकर घण्टा और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित एक लोहेका त्रिशूल लेकर इन्द्रकी ओर दौड़ा और 'अरे ! तू मारा गया !' इस प्रकार ललकारते हुए सिंहके समान गर्जकर उनपर वह त्रिशूल छोड़ दिया ॥ ३० ॥ हे राजन् ! उस त्रिशूल-को बड़े वेगसे अपनी ओर आते देख देवराज इन्द्रने बाण छोड़कर आकाशमें ही उसके सहस्रों टुकड़े कर दिये

१. महार्णवे । २. विन० ।

तमाहनन्नृप कुलिशेन कन्धरे
रुषान्वितस्त्रिदशपतिः शिरो हरन् ॥३१॥
न तस्य हि त्वचमपि वज्र ऊर्जितो
बिभेद यः सुरपतिनौजसेरितः ।
तदद्भुतं परमतिवीर्यवृत्रभि-
त्तिरस्कृतो नमुचिशिरोधरत्वचा ॥३२॥
तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रोर्वज्रः प्रतिहतो यतः ।
किमिदं दैवयोगेन भूतं लोकविमोहनम् ॥३३॥
येन मे पूर्वमद्रीणां पक्षच्छेदः प्रजात्यये ।
कृतो निविशतां भारैः पतत्रैः पततां भुवि ॥३४॥
तपः सारमयं त्वाष्ट्रं वृत्रो येन विपाटितः ।
अन्ये चापि बलोपेताः सर्वास्त्रैरक्षतत्वचः ॥३५॥
सोऽयं प्रतिहतो वज्रो मया मुक्तोऽसुरेऽल्पके ।
नाहं तदाददे दण्डं ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम् ॥३६॥
इति शक्रं विषीदन्तमाह वागशरीरिणी ।
नायं शुष्कैरथो नार्द्रैर्वधमर्हति दानवः ॥३७॥
मयास्मै यद्वरो दत्तो मृत्युर्नैवार्द्रशुष्कयोः ।
अतोऽन्यश्चिन्तनीयस्त उपायो मघवन्रिपोः ॥३८॥
तां दैवीं गिरमाकर्ण्य मघवान्सुसमाहितः ।
ध्यायन्फेनमथापश्यदुपायमुभयात्मकम् ॥३९॥
न शुष्केण न चार्द्रेण जहार नमुचेः शिरः ।
तं तुष्टुवुर्मुनिगणा माल्यैश्चावाकिरन्विभुम् ॥४०॥

और फिर अति क्रुद्ध होकर उसका शिर काटनेके लिये उसकी ग्रीवापर अपने वज्रसे प्रहार किया ॥३१॥ किन्तु देवराजने जिसे बड़े वेगसे छोड़ा था वह ओजस्वी वज्र नमुचिके कण्ठकी त्वचाको भी नहीं काट सका। यह बड़े ही आश्चर्यकी बात हुई कि जिस वज्रने महाबलवान् वृत्रासुरका छेदन किया था वह नमुचिके गलेकी त्वचासे भी तिरस्कृत हो गया ॥ ३२ ॥ इस प्रकार जब शत्रुसे वज्र प्रतिहत हो गया तो इन्द्रको बड़ा भय हुआ [और वे सोचने लगे—] 'अहो! दैवयोगसे सम्पूर्ण लोकोंको मोहित करनेवाला यह कैसा चरित्र हो गया? ॥ ३३ ॥ पूर्वकालमें पङ्खोंके कारण जहाँ-तहाँ जाते और भारवश पृथिवीपर गिरते हुए पक्षयुक्त पर्वतोंसे प्रजाका नाश होता देखकर जिससे मैंने उनके पङ्ख काटे, जिसके द्वारा त्वष्टाकी बलवती तपस्याके फलस्वरूप वृत्रासुरका छेदन किया तथा अन्य सभी अस्त्र-शस्त्रोंसे जिनकी त्वचाका छेदन नहीं किया जा सका था ऐसे अनेकों महाबली वीरोंका वध किया, वही मेरा छोड़ा हुआ वज्र इस समय इस तुच्छ दानवसे प्रतिहत हो गया! अतः ब्रह्मतेजोमय होनेपर भी इस प्रकार निकम्मे हुए इस दण्डको अब मैं नहीं लेना चाहता' ॥ ३४—३६ ॥

तब, इस प्रकार विषाद करते हुए इन्द्रसे आकाशवाणीने कहा—"हे इन्द्र! यह दानव किसी सूखी या गीली वस्तुसे नहीं मारा जा सकता, क्योंकि मैंने इसे वर दिया है कि 'किसी गीली या सूखी वस्तुसे तेरी मृत्यु नहीं हो सकती।' इसलिये इस शत्रुके वधका तुम्हें कोई और उपाय सोचना चाहिये" ॥ ३७-३८ ॥

उस दैवी वाणीको सुनकर देवराजने अति समाहित-चित्तसे चिन्तन करते हुए गीलापन और सूखापन दोनों गुणोंसे युक्त जलके फेनको उसके वधका उपाय देखा ॥ ३९ ॥ अतः गीलेपन और सूखेपनसे रहित उस जलफेनसे ही इन्द्रने नमुचिका शिर काट डाला। तब मुनिजन भगवान् इन्द्रपर पुष्पावली बरसाते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ ४० ॥

१. हकृत्। २. जाक्षये। ३. वि०। ४. चातिबलो०। ५. वज्रं। ६. ल्यैरवाकिर०।

गन्धर्वमुख्यौ जगतुर्विश्वावसुपरावसू ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्नर्तक्यो ननृतुर्मुदा ॥४१॥
अन्येऽप्येवं प्रतिद्वन्द्वान्वाय्वग्निवरुणादयः ।
सूदयामासुरस्त्रौघैर्मृगान्केसरिणो यथा ॥४२॥
ब्रह्मणा प्रेषितो देवान्देवर्षिर्नारदो नृप ।
वारयामास विबुधान्दृष्ट्वा दानवसंक्षयम् ॥४३॥

नारद उवाच

भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः ।
श्रिया समेधिताः सर्व उपारमत विग्रहात् ॥४४॥

श्रीशुक उवाच

संयम्य मन्युसंरम्भं मानयन्तो मुनेर्वचः ।
गीयमाना अनुचरैर्ययुः सर्वे त्रिविष्टपम् ॥४५॥
येऽवशिष्टा रणे तस्मिन्नारदानुमतेन ते ।
बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन् ॥४६॥
तत्राविनष्टावयवान्विद्यमानशिरोधरान् ।
उशना जीवयामास संजीविन्या स्वविद्यया ॥४७॥
बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः ।
पराजितोऽपि नाखिद्यल्लोकतत्त्वविचक्षणः ॥४८॥

गन्धर्वश्रेष्ठ विश्वावसु और परावसु गान करने लगे, देव-दुन्दुभियोंका घोष होने लगा और नर्तकियाँ आनन्दित होकर नृत्य करने लगीं ॥ ४१ ॥ इसी प्रकार वायु, अग्नि और वरुण आदि अन्य देवताओंने भी अपने प्रतिपक्षियों को शस्त्रसमूहसे इस प्रकार नष्ट कर दिया जैसे सिंह मृगोंको ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! तब ब्रह्माजीद्वारा भेजे हुए देवर्षि नारदने दानवोंको नष्ट होते देख देवताओं-को युद्ध करनेसे रोक दिया ॥ ४३ ॥

नारदजी बोले—आप लोगोंने श्रीभगवान्‌की भुजाके आश्रयसे अमृत पा लिया है और लक्ष्मीने तुम्हारे वैभवकी वृद्धि की है; अतः अब युद्धसे उपरत हो जाओ ॥ ४४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—तब वे समस्त देवगण क्रोध-के वेगको रोककर मुनिके वचनोंका मान करते हुए स्वर्ग-लोकको चले गये, उस समय उनके अनुचरगण उनका यशोगान कर रहे थे ॥ ४५ ॥ उस युद्धमें जो असुरगण बच गये थे वे नारदजीकी अनुमतिसे वज्राहत बलिको अस्ताचलपर ले आये ॥ ४६ ॥ वहाँ, जिनके अवयव नष्ट नहीं हुए थे और जिनकी ग्रीवाएँ मौजूद थीं उन सब दैत्योंका शुक्राचार्यजीने अपनी संजीविनी विद्यासे जीवित कर दिया ॥ ४७ ॥ राजा बलि शुक्राचार्यजी-का स्पर्श पाते ही इन्द्रियों और स्मरणशक्तिसे सम्पन्न हो गये । वे संसारके तत्त्वको जाननेवाले थे, इसलिये इस प्रकार पराजित होकर भी उन्हें किसी प्रकारका खेद नहीं हुआ ॥ ४८ ॥
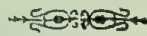
इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे दैवासुर-
संग्रामे एकादशोऽध्यायः ॥११॥

बारहवाँ अध्याय

मोहिनीरूप देखकर महादेवजीका मोहित होना।

श्रीबादरायणिरुवाच

वृषध्वजो निशम्येदं योषिद्रूपेण दानवान्।
मोहयित्वासुरगणान्हरिः सोममपाययत् ॥ १ ॥
वृषमारुह्य गिरिशः सर्वभूतगणैर्वृतः।
सह देव्या ययौ द्रष्टुं यत्रास्ते मधुसूदनः ॥ २ ॥
सभाजितो भगवता सादरं सोमया भवः।
सूपविष्ट उवाचेदं प्रतिपूज्य[1] स्मयन्हरिम् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! जब श्रीमहादेवजीने सुना कि श्रीहरिने अपने स्त्रीवेषसे दैत्योंको मुग्ध कर देवताओंको अमृतपान कराया है तो वे उनका वह रूप देखनेके लिये बैलपर चढ़कर सब भूतगणोंसे घिरे हुए पार्वतीजीके सहित उस स्थानपर गये जहाँ भगवान् मधुसूदन थे ॥ १-२ ॥ भगवान्‌ने देवी उमाके सहित श्रीमहादेवजीका खूब सत्कार किया। तब आसनपर स्वस्थचित्तसे विराजमान होनेपर श्रीमहादेवजी भगवान्‌की प्रशंसा करते हुए उनसे मुसकाकर बोले ॥ ३ ॥

श्रीमहादेव उवाच[2]

देवदेव जगद्व्यापिञ्जगदीश जगन्मय।
सर्वेषामपि[3] भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥ ४ ॥
आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः।
यतोऽव्ययस्य नैतानि तत्सत्यं ब्रह्म चिद्भवान् ॥ ५ ॥
तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः।
विसृज्योभयतः सङ्गं मुनयः समुपासते ॥ ६ ॥
त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोक-
मानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत्[4]।
विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मात्मेश्वरश्च तदपेक्षतयानपेक्षः ॥ ७ ॥
एकस्त्वमेव सदसद्द्वयमद्वयं च
स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः।
अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो
यस्माद्गुणव्यतिकरो निरुपाधिकस्य ॥ ८ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे देवाधिदेव! हे जगद्व्यापिन्! हे जगदीश! हे जगन्मय! आप सभी भावोंके आत्मा, हेतु और ईश्वर हैं ॥ ४ ॥ जिससे इस जगत्‌के आदि, अन्त और मध्य होते हैं किन्तु जिस अविनाशीके कोई आदि, अन्त अथवा मध्य नहीं हैं और न जिसमें इदम् (दृश्य), अहम् (द्रष्टा), अन्यत् (भोक्ता) और बाह्य (भोग) ही हैं वह सत्य और चेतनरूप ब्रह्म आप ही हैं ॥ ५ ॥ निष्काम और कल्याणकामी मुनिजन इस लोक और परलोक दोनोंकी आसक्ति छोड़कर आपके चरणकमलोंकी ही उपासना करते हैं ॥ ६ ॥ आप अमृतमय, निर्गुण, निःशोक, आनन्दमात्र, निर्विकार, सर्वमय और सबसे पृथक् पूर्ण ब्रह्म हैं; तथापि आप विश्वके जन्म, स्थिति और अन्तके कारण हैं तथा उसके आत्मा और ईश्वर (शासक) हैं; अतः स्वयं निरपेक्ष होते हुए भी जीवोंकी अपेक्षासे उन्हें शुभाशुभ फल देते हैं ॥७॥ हे नाथ! एकमात्र आप ही द्वैतरूप कार्यवर्ग और अद्वैतरूप कारण हैं, जिस प्रकार कुण्डलादि कार्यरूपमें परिणत हुआ और प्राकृत सुवर्ण एक ही होता है—उनमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं होता। लोगोंने अज्ञानसे ही आपमें विकल्प मान लिया है, क्योंकि आप उपाधिहीनमें गुणोंके कारण ही भेद प्रतीत होता है [स्वतः नहीं] ॥ ८ ॥

१. प्रतिगृह्य। २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीमहादेव उवाच' यह पाठ नहीं है। ३. मसि भूतानां त्व०। ४. मनन्तमन्यत्।

त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेक
एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम् ।
अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां
केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥ ९ ॥

नाहं परायुर्ऋषयो न मरीचिमुख्या
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः ।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्य-
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः ॥१०॥

स त्वं समीहितमदःस्थितिजन्मनाशं
भूतेहितं च जगतो भवबन्धमोक्षौ ।
वायुर्यथा विशति खं च चराचराख्यं
सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से ॥११॥

अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः ।
सोऽहं तद्द्रष्टुमिच्छामि यत्ते योषिद्वपुर्धृतम् ॥१२॥

येन सम्मोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः ।
तद्दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः ॥१३॥

श्रीशुक[२] उवाच

एवमभ्यर्थितो विष्णुर्भगवाञ्छूलपाणिना ।
प्रहस्य भावगम्भीरं गिरिशं प्रत्यभाषत ॥१४॥

श्रीभगवानुवाच[३]

कौतूहलाय दैत्यानां योषिद्वेषो मया कृतः[४] ।
पश्यता सुरकार्याणि गते पीयूषभाजने ॥१५॥
ततेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम ।

हे प्रभो ! कोई (वेदान्तीलोग) तो आपको ब्रह्म समझते हैं और कोई (मीमांसक) धर्म कहकर आपका बखान करते हैं । इसी प्रकार कोई (सांख्यवादी) प्रकृति और पुरुषसे परे परमेश्वर, कोई (पाञ्चरात्रमतावलम्बी) नौ* शक्तियोंसे युक्त परमपुरुष और कोई (पातञ्जल-योगको माननेवाले) आत्मतन्त्र अविनाशी महापुरुष समझते हैं ॥ ९ ॥ हे ईश ! सत्त्वगुणसे उत्पन्न हुए मैं, ब्रह्माजी और मरीचि आदि मुनिगण भी जिन आपके रचे हुए संसारको भी नहीं जान पाते उन्हीं आपको, आपकी मायासे मोहित असदाचारी [अर्थात् राजस-तामस प्रकृतिवाले] दैत्य और मनुष्यादि कैसे जान सकते हैं ? ॥१०॥ किन्तु हे प्रभो ! आप सर्वात्मक और ज्ञानस्वरूप होनेके कारण वायु जिस प्रकार आकाशमें व्याप्त रहता है उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचर जगत्में अनुप्रविष्ट होकर इसकी चेष्टा, स्थिति, जन्म, नाश, प्राणियोंके कर्म तथा संसारके बन्धन और मोक्ष सभीको जानते हैं ॥ ११ ॥ हे नाथ ! गुणोंके आश्रयसे क्रीडा करते हुए आपने जो-जो अवतार लिये हैं, मैंने वे सभी देखे हैं; अतः आपने जो स्त्रीरूप धारण किया था उसे भी मैं देखना चाहता हूँ ॥ १२ ॥ जिस रूपसे आपने दैत्योंको मोहितकर देवताओंको अमृत पिलाया था उसे देखनेका हमें बड़ा कुतूहल है और उसके दर्शनकी इच्छासे ही हम यहाँ आये हैं ॥१३॥

श्रीशुकदेवजी बोले—शूलपाणि भगवान् शंकरके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर श्रीविष्णुभगवान्ने उनसे गम्भीर भावसे हँसकर कहा ॥१४॥

श्रीभगवान् बोले—हे शङ्कर ! जब अमृतका पात्र दैत्योंके हाथमें चला गया तो देवताओंका कार्य विचारकर मैंने दैत्योंको कुतूहलमें डालनेके लिये स्त्रीवेष धारण किया था ॥१५॥ हे सुरश्रेष्ठ ! आप उसे देखनेके लिये उत्सुक हैं, इसलिये कामी पुरुषोंका

१. मिश्रा । २. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' नहीं है । ३. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' नहीं है । ४. धृतः ।

* विमला, उत्कर्षणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—ये नौ शक्तियाँ हैं ।

कामिनां बहुमन्तव्यं सङ्कल्पप्रभवोदयम् ॥१६॥

अत्यन्त माननीय और कामोद्दीपन करनेवाला वह रूप मैं आपको दिखाऊँगा ॥१६॥

श्रीशुक उवाच[1]

इति ब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।
सर्वतश्चारयंश्चक्षुर्भव आस्ते सहोमया ॥१७॥

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं
विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे ।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लस-
द्दुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम् ॥१८॥

आवर्तनोद्वर्तनकम्पितस्तन-
प्रकृष्टहारोरुभरैः पदे पदे ।
प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चल-
त्पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः ॥१९॥

दिक्षु भ्रमत्कन्दुकचापलैर्भृशं
प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनाम् ।
स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लस-
त्कपोलनीलालकमण्डिताननाम् ॥२०॥

श्लथद्दुकूलं कबरीं च विच्युतां
सन्नह्यतीं वामकरेण वल्गुना ।
विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकं
विमोहयन्तीं जगदात्ममायया ॥२१॥

तां वीक्ष्य देव इति कन्दुकलीलयेष-
द्व्रीडास्फुटस्मितविसृष्टकटाक्षमुष्टः ।
स्त्रीप्रेक्षणप्रतिसमीक्षणविह्वलात्मा
नात्मानमन्तिक उमां स्वगणांश्च वेद ॥२२॥

तस्याः कराग्रात्स तु कन्दुको यदा
गतो विदूरं तमनुव्रजत्स्त्रियाः ।
वासः ससूत्रं लघु मारुतोऽहरद्-

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ऐसा कहकर भगवान् उसी जगह अन्तर्धान हो गये । उस समय पार्वतीजीके सहित भगवान् शङ्कर सब ओर दृष्टि फैलाकर देखने लगे ॥१७॥ इतनेहीमें उन्होंने रंग-बिरंगे पुष्प और अरुणवर्ण नवपल्लवयुक्त वृक्षोंसे सुशोभित उपवनमें एक सुन्दरी स्त्री देखी, जो गेंद उछाल-उछालकर खेल रही थी और जिसके देदीप्यमान दुकूलसे सुशोभित नितम्बदेशपर मेखला (करधनी) पड़ी हुई थी ॥१८॥ गेंदको लपकने और उछालनेके कारण हिलते हुए स्तन और मनोहर मालाओंके भारी भारसे जिसकी पतली कमर पद-पदपर टूटी-सी जाती थी और जो अपने चञ्चल चरण-पल्लवोंको इधर-उधर ले जाती थी ॥१९॥ दिशा-विदिशाओंमें उछलते हुए कन्दुककी चपलतासे जिस विशाल और चञ्चल नयनोंवाली तरुणीके नेत्रोंके तारे अति उद्विग्न हो रहे थे तथा जिसका मुखमण्डल कानोंमें पहने हुए सुन्दर कुण्डलोंसे सुशोभित कपोलोंपर छिटकी हुई नीली अलकोंसे शोभायान हो रहा था ॥२०॥ जो खिसकी हुई साड़ी एवं शिथिल हुई वेणीको अपने अति मनोहर बायें करकमलसे सँवारती जाती थी तथा दूसरे हाथसे गेंद उछाल-उछालकर अपनी मायासे सम्पूर्ण जगत्को मोहित कर रही थी ॥ २१ ॥

उसे देखकर श्रीमहादेवजी उसके इस प्रकार कन्दुकक्रीडासे कुछ सलज्ज और स्फुट मुसकानयुक्त छोड़े हुए कटाक्षसे मोहित हो गये । उस कामिनीकी ओर देखने और उसके द्वारा एकटक निहारे जानेसे उनका चित्त चञ्चल हो उठा तथा उन्हें अपना और अपने पास बैठी हुई पार्वती एवं अपने गणोंका भी कोई ज्ञान न रहा ॥२२॥ एक बार जब उस रमणीके हाथसे वह कन्दुक बहुत दूर चला गया तो श्रीमहादेवजीके देखते-देखते उस कन्दुकके पीछे

१. ऋषिरुवाच ।

ध्रुवस्य देवस्य किलानुपश्यतः ॥२३॥
एवं तां रुचिरापाङ्गीं दर्शनीयां मनोरमाम् ।
दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विषज्जन्त्यां भवः किल ॥२४॥
तयापहृतविज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः ।
भवान्या अपि पश्यन्त्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ ॥२५॥
सा तमायान्तमालोक्य विवस्त्रा व्रीडिता भृशम् ।
निलीयमाना वृक्षेषु हसन्ती नान्वतिष्ठत ॥२६॥
तामन्वगच्छद्भगवान्भवः प्रमुषितेन्द्रियः ।
कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः ॥२७॥
सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम् ।
केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥२८॥
सोपगूढा भगवता करिणा करिणी यथा ।
इतस्ततः प्रसर्पन्ती विप्रकीर्णशिरोरुहा ॥२९॥
आत्मानं मोचयित्वाङ्ग सुरर्षभभुजान्तरात् ।
प्राद्रवत्सा पृथुश्रोणी माया देवविनिर्मिता ॥३०॥
तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जितः ॥३१॥
तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः ।
शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनु धावतः ॥३२॥
यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः ।
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन्महीपते ॥३३॥
सरित्सरस्सु शैलेषु वनेषूपवनेषु च ।
यत्र क्व चासन्नृषयस्तत्र संनिहितो हरः ॥३४॥

दौड़ती हुई उस बालाकी झीनी साड़ी वायुने कटिसूत्रसहित उड़ाकर शरीरसे पृथक् कर दी ॥२३॥ इस प्रकार उस सुन्दर कटाक्षवाली दर्शनीया और मनोहारिणी ललनाको देखकर [उसे अपनी ओर तिरछी चितवनसे देखनेके कारण] आसक्त हुई जान उसमें श्रीमहादेवजीका मन फँस गया; उसने उनका विवेक हर लिया और वे उसकी चेष्टासे कामातुर होकर पार्वतीजीके देखते हुए भी लज्जा छोड़कर उसकी ओर चल दिये ॥२४-२५॥

महादेवजीको अपनी ओर आते देख वह कामिनी वस्त्रहीना होनेके कारण अति लज्जित हुई और वहाँ न ठहरकर हँसती हुई वृक्षोंमें छिपने लगी ॥२६॥ किन्तु भगवान् शंकर इन्द्रियोंके उसकी ओर आकृष्ट हो जानेके कारण इस प्रकार उसके पीछे हो लिये जैसे हथिनीके पीछे कामदेवके वशीभूत हुआ हाथी ॥२७॥ उन्होंने बड़े वेगसे जाकर उसका केशपाश पकड़ लिया और उस अबलाकी इच्छा न होनेपर भी अपनी दोनों भुजाओंसे उसका आलिंगन किया ॥२८॥ जिस प्रकार हाथी हथिनीका आलिंगन करता है उसी प्रकार भगवान् शंकरसे आलिंगित हुई वह बाला इधर-उधर खिसककर छुड़ानेकी चेष्टा करने लगी; इससे उसके बाल बिखर गये ॥२९॥ हे तात ! अन्तमें अपनेको महादेवजीके बाहुपाशसे छुड़ाकर वह भगवान्की रची हुई स्थूल नितम्बोंवाली माया वहाँसे भागी ॥ ३० ॥

तब अपने शत्रु कामदेवसे पराजित हुए-से भगवान् शंकर अद्भुतकर्मा श्रीहरिके पीछे चले ॥३१॥ उस समय मैथुनकी इच्छावाली हथिनीके पीछे दौड़ते हुए मदोन्मत्त हाथीके समान उस कामिनीके पीछे-पीछे दौड़ते हुए अमोघवीर्य महादेवजीका वीर्य स्खलित हो गया ॥३२॥ हे राजन् ! महात्मा रुद्रका वीर्य पृथिवीमें जहाँ-जहाँ गिरा वहीं-वहीं सोने-चाँदीकी खानें उत्पन्न हो गयीं ॥३३॥ नदी, सरोवर, पर्वत, वन और उपवनमें तथा जहाँ-जहाँ ऋषिलोग रहते थे उन सभी स्थानोंमें भगवान् शंकर मोहिनी भगवान्का पीछा करते हुए गये ॥३४॥

१. रुद्रत० ।

स्कन्ने रेतसि सोऽपश्यदात्मानं देवमायया ।
जडीकृतं[1] नृपश्रेष्ठ संन्यवर्तत कश्मलात् ॥३५॥
अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः ।
अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदुहाद्भुतम् ॥३६॥
तमविक्लवमव्रीडमालक्ष्य[2] मधुसूदनः ।
उवाच परमप्रीतो बिभ्रत्स्वां पौरुषीं तनुम् ॥३७॥

हे देवश्रेष्ठ ! अन्तमें वीर्यपात होनेपर महादेवजीने अपनेको भगवान्‌की मायासे मुग्ध हुआ देखा और वे उस विषयासक्तिसे निवृत्त हो गये ॥३५॥ फिर इसे अचिन्त्य वीर्य जगन्मय परमात्माका माहात्म्य समझनेसे उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ ॥३६॥ महादेवजीको विषाद और लज्जासे रहित देख भगवान् मधुसूदन पुरुषरूप धारण कर प्रकट हुए और उनसे अति प्रसन्न होकर कहने लगे ॥३७॥

श्रीभगवानुवाच

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मना[3] स्थितः ।
यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया ॥३८॥
को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान् ।
तांस्तान्विसृजतीं भावान्दुस्तरामकृतात्मभिः ॥३९॥
सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति ।
मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः ॥४०॥

श्रीभगवान् बोले—हे देवश्रेष्ठ ! मेरी स्त्रीरूपिणी मायासे कामनावश अत्यन्त मोहित होकर भी अन्तमें तुम अपनी निष्ठामें स्थित हो गये—यह बड़े आनन्दकी बात है ॥३८॥ तुम्हारे सिवा और ऐसा कौन पुरुष है जो नाना प्रकारके हाव-भाव रचनेवाली और अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुस्त्यज मेरी माया-में एक बार आसक्त होकर फिर उसे पार कर सके ? ॥३९॥ सृष्टिके कारणभूत कालरूप मुझ परमेश्वरके एक अंशसे युक्त हुई वह गुणमयी माया अब तुम्हारा पराभव नहीं कर सकेगी ॥४०॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजञ्छ्रीवत्साङ्केन सत्कृतः ।
आमन्त्र्य तं परिक्रम्य सगणः स्वालयं ययौ ॥४१॥
आत्मांशभूतां[4] तां मायां भवानीं भगवान्भवः ।
शंसतामृषिमुख्यानां प्रीत्याचष्टाथ[5] भारत ॥४२॥
अपि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां
परस्य पुंसः परदेवतायाः ।
अहं कलानामृषभो विमुह्ये
ययावशोऽन्ये[6] किमुतास्वतन्त्राः ॥४३॥
यं[7] मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगा-
त्समासहस्रान्त[8] उपारतं[9] वै ।
स[10] एष साक्षात्पुरुषः पुराणो
न यत्र कालो विशते न वेदः ॥४४॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार श्रीवत्सलाञ्छन श्रीहरिसे सत्कृत हो श्रीमहादेवजी उनसे आज्ञा ले अपने गणोंके सहित निजधामको चले गये ॥४१॥ हे भारत ! फिर मुख्य-मुख्य ऋषियोंके सुनते हुए भगवान् शंकर अपने [विष्णुरूप] अंशसे उत्पन्न हुई उस मायाका श्रीपार्वतीजीसे इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक वर्णन करने लगे—॥४२॥ 'हे देवि ! क्या तुमने परमपुरुष परदेवता अजन्मा श्रीहरिकी माया देखी ? अहो ! जिससे मैं भगवान्‌की कलाओंमें श्रेष्ठ और परम स्वतन्त्र होकर भी मोहित हो गया, फिर अन्य परतन्त्र जीव मोहित हो जायँगे—इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥४३॥ एक सहस्र वर्ष समाधि साधनेके अनन्तर उससे उपरत होनेपर जिनके विषयमें तुमने मेरे पास आकर मुझसे पूछा था वे साक्षात् पुराणपुरुष ये ही हैं जिनमें न कालकी गति है और न वेदकी' ॥४४॥

१. जडीकृतो । २. मालोक्य । ३. मात्मनि । ४. आत्मानुरूपां । ५. प्रत्यक्षमभिभाषत । ६. ययाञ्जसा वै किमुतापरो यः । ७. यन्माम० । ८. योगं समा० । ९. उपारमद्वै । १०. स एव ।

श्रीशुक उवाच

इति तेऽभिहितस्तात विक्रमः शार्ङ्गधन्वनः ।
सिन्धोर्निर्मथने येन धृतः पृष्ठे महाचलः ॥४५॥
एतन्मुहुः कीर्तयतोऽनुशृण्वतो
न रिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित् ।
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनं
समस्तसंसारपरिश्रमापहम् ॥४६॥
असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्ना-
नमृतममरवर्यानाशयत्सिन्धुमथ्यम् ।
कपटयुवतिवेषो मोहयन्यः सुरारीं-
स्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि ॥४७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे तात ! इस प्रकार मैंने तुम्हें शार्ङ्गधन्वा भगवान् विष्णुका यह विक्रम सुना दिया, जिन्होंने समुद्रमन्थनके समय अपनी पीठपर महान् मन्दराचल धारण किया था ॥४५॥ इसे बारम्बार श्रवण और कीर्तन करनेवाले पुरुषका कभी कोई उद्योग निष्फल नहीं होता, क्योंकि उत्तमश्लोक भगवान् विष्णुका गुणोपकथन सम्पूर्ण संसारश्रमको दूर कर देनेवाला है ॥४६॥ मायासे मोहिनी युवतीका रूप धारण करनेवाले जिन श्रीहरिने देवद्रोही दानवोंको मोहित कर, असत् पुरुषोंको अप्राप्य और केवल भक्तिहीसे प्राप्त होने योग्य अपने चरणोंकी शरणमें आये हुए सुरसमुदायको समुद्रमन्थनसे प्राप्त हुआ अमृत पिलाया, शरणागतोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करनेवाले उन परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४७॥
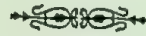
इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे शङ्करमोहनं
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

तेरहवाँ अध्याय

आगामी सात मन्वन्तरोंका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः ।
सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु ॥ १ ॥
इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च ।
नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते ॥ २ ॥
करूषश्च पृषध्रश्च दशमो वसुमान्स्मृतः ।
मनोर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परन्तप ॥ ३ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः ।
अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः ॥ ४ ॥
कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः ।
जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः ॥ ५ ॥
अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत् ।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! श्राद्धदेव नामसे विख्यात विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र वर्तमानकालीन सातवें मनु हैं; उनकी सन्तानका विवरण मुझसे सुनो ॥ १ ॥ हे परन्तप ! इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, सातवाँ दिष्ट, करूष, पृषध्र और दशवाँ वसुमान्—ये वैवस्वत मनुके दश पुत्र कहे जाते हैं ॥ २-३ ॥ हे राजन् ! इस मन्वन्तरके आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार और ऋभुगण देवता हैं और पुरन्दर इनका इन्द्र है ॥ ४ ॥ तथा कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज—ये सप्तर्षिगण माने गये हैं ॥ ५ ॥ इस मन्वन्तरमें भी भगवान्का कश्यपजीद्वारा अदितिके गर्भसे अवतार हुआ था, इसमें भगवान् विष्णु द्वादश आदित्योंके अनुज वामनके रूपमें प्रकट हुए थे ॥ ६ ॥

१. गुणानुकीर्तनं । २. अमृतमथने नारायणशङ्करसंवादे द्वाद० ।

संक्षेपतो मयोक्तानि सप्त मन्वन्तराणि ते ।
भविष्याण्यथ वक्ष्यामि विष्णोः शक्त्यान्वितानि च ।७।

हे राजन् ! इस प्रकार मैंने तुम्हें संक्षेपसे सात मन्वन्तरोंका विवरण सुना दिया; अब मैं तुम्हें भगवान् विष्णुकी शक्तिसे युक्त आगामी सात मन्वन्तरोंका भी वृत्तान्त सुनाता हूँ ॥ ७ ॥

विवस्वतश्च द्वे जाये[1] विश्वकर्मसुते उभे ।
संज्ञा छाया च राजेन्द्र ये प्रागभिहिते तव ॥ ८ ॥
तृतीयां बडवामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः ।
यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुताञ्छृणु ॥ ९ ॥
सावर्णिस्तपती कन्या भार्या संवरणस्य या ।
शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ बडवात्मजौ ॥१०॥
अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिर्भविता मनुः ।
[2]निर्मोकविरजस्काद्याः सावर्णितनया नृप[3] ॥११॥
तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः ।
तेषां विरोचनसुतो बलिरिन्द्रो भविष्यति ॥१२॥
दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम् ।
राद्धमिन्द्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति ॥१३॥
योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः ।
निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनास्ते स्वराडिव ॥१४॥
गालवो दीप्तिमान्रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा ।
ऋष्यशृङ्गः पितास्माकं भगवान्बादरायणः ॥१५॥
इमे सप्तर्षयस्तत्र[4] भविष्यन्ति स्वयोगतः ।
इदानीमासते राजन्स्वे स्व आश्रममण्डले ॥१६॥
देवगुह्यात्सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः ।
स्थानं पुरन्दराद्धृत्वा बलये दास्यतीश्वरः ॥१७॥
नवमो दक्षसावर्णिर्मनुर्वरुणसम्भवः ।
भूतकेतुर्दीप्तकेतुरित्याद्यास्तत्सुता नृप[5] ॥१८॥

हे राजेन्द्र ! विश्वकर्माकी दो पुत्री संज्ञा और छाया विवस्वान्‌की स्त्रियाँ थीं, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥ ८ ॥ इनके सिवा कोई लोग बडवा नामकी उनकी तीसरी स्त्री और बतलाते हैं । उनमेंसे यम, यमी और श्राद्धदेव—ये तीन संज्ञाकी सन्तान हैं। अब, छायाके पुत्रोंका विवरण सुनो ॥ ९ ॥ सावर्णि-नामक पुत्र, और तपती नामकी कन्या जो राजा संवरणकी स्त्री हुई तथा शनैश्चर—ये तीन छायाकी सन्तान हैं । और दोनों अश्विनीकुमार बडवाके पुत्र हैं ॥१०॥ हे राजन् ! आठवाँ मन्वन्तर लगनेपर सावर्णि मनु होगा और निर्मोक तथा विरजस्क आदि उसके पुत्र होंगे ॥११॥ उस समय सुतपा, विरज और अमृतप्रभनामक देवगण होंगे और जिसने [सातवें मन्वन्तरमें] अपनेसे याचना करते हुए विष्णु भगवान्‌को तीन पग पृथिवी देकर यह सम्पूर्ण त्रिलोकी दे डाली थी, जिसे भगवान्‌ने बाँधकर फिर प्रसन्न होकर इन्द्रलोकसे भी बढ़े-चढ़े सुतललोकमें स्थापित कर दिया था और जो इस समय इन्द्रके समान ऐश्वर्य भोग रहा है वह विरोचनपुत्र बलि उनका इन्द्र होगा; वह भगवत्कृपासे प्राप्त हुए उस इन्द्रपदको भी त्यागकर फिर मोक्ष प्राप्त करेगा ॥१२–१४॥ हे राजन् ! उस समय गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृंग और हमारे पिता भगवान् बादरायण—ये सप्तर्षि होंगे, जो इस समय अपने-अपने आश्रमोंमें योगसमाधिमें स्थित हैं ॥१५-१६॥ उस मन्वन्तरमें भगवान् देवगुह्य ब्राह्मणसे उसकी भार्या सरस्वतीके गर्भसे सार्वभौमनामक अवतार लेकर पुरन्दरसे इन्द्रपद हरण कर उसे बलिको देंगे ॥१७॥

हे राजन् ! नवाँ मनु वरुणका पुत्र दक्षसावर्णि होगा; उसके भूतकेतु, दीप्तकेतु आदि पुत्र होंगे ॥१८॥

१ भार्ये । २. निर्मोह० । ३. नृपाः । ४. स्तस्मिन् । ५. नृपाः ।

पारा मरीचिगर्भाद्या देवा इन्द्रोऽद्भुतः स्मृतः ।
द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र[1] भविष्यन्त्यृपयस्ततः ॥१९॥
आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला[2] ।
भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः ॥२०॥

उस समयके पार और मरीचिगर्भ आदि देवता तथा अद्भुत नामक इन्द्र कहे गये हैं एवं द्युतिमान् आदि उस समयके सप्तर्षि होंगे ॥१९॥ उस मन्वन्तरमें आयुष्मान्से अम्बुधाराके गर्भमें ऋषभनामक भगवान्‌का अंश अवतीर्ण होगा जिसकी दी हुई त्रिलोकीको अद्भुतनामक इन्द्र भोगेगा ॥२०॥

दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो महान् ।
तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः ॥२१॥
हविष्मान्सुकृतिः सत्यो जयो मूर्तिस्तदा द्विजाः ।
सुवासनविरुद्धाद्या[3] देवाः शम्भुः सुरेश्वरः ॥२२॥
विष्वक्सेनो विषूच्यां तु शम्भोः सख्यं[4] करिष्यति ।
जातः स्वांशेन भगवान्गृहे विश्वसृजो विभुः ॥२३॥

तदनन्तर उपश्लोकका पुत्र अतिगुणवान् ब्रह्मसावर्णि दशवाँ मनु होगा; उसके भूरिषेण आदि पुत्र होंगे तथा हविष्मान् आदि ऋषिगण होंगे ॥ २१ ॥ उस समय हविष्मान्, सुकृति, सत्य, जय और मूर्ति आदि सप्तर्षि, सुवासन और विरुद्ध आदि देवगण तथा शम्भुनामक इन्द्र होंगे ॥२२॥ और विश्वस्रष्टाके घर विषूचिके गर्भसे अपने अंशसे अवतीर्ण हुए भगवान् विष्वक्सेन शम्भुकी सहायता करेंगे ॥२३॥

मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान् ।
अनागतास्तत्सुताश्च सत्यधर्मादयो दश ॥२४॥
विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणरुचयः सुराः ।
इन्द्रश्च वैधृतस्तेषामृषयश्चारुणादयः ॥२५॥
आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः ।
वैधृतायां हरेरंशस्त्रिलोकीं धारयिष्यति ॥२६॥

ग्यारहवाँ मनु महामनस्वी धर्मसावर्णि होगा । उसके भविष्यमें होनेवाले सत्य और धर्म आदि दश पुत्र होंगे ॥२४॥ उस समय विहंगम, कामगम और निर्वाणरुचि नामक देवगण होंगे, वैधृत उनका इन्द्र होगा और अरुण आदि ऋषिगण होंगे ॥२५॥ तथा वैधृताके गर्भसे उत्पन्न हुआ आर्यकका पुत्र धर्मसेतु नामसे विख्यात भगवान् हरिका अंश त्रिलोकीको धारण करेगा ॥२६॥

भविता रुद्रसावर्णी राजन्द्वादशमो मनुः ।
देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयः सुताः ॥२७॥
ऋतधामा च तत्रेन्द्रो[5] देवाश्च हरितादयः ।
ऋषयश्च तपोमूर्तिस्तपस्व्याग्नीध्रकादयः ॥२८॥
स्वधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः ।
अन्तरं सत्यसहसः सूनृतायाः सुतो विभुः ॥२९॥

हे राजन् ! बारहवाँ मनु रुद्रसावर्णि होगा । उसके देववान्, उपदेव और देवश्रेष्ठ आदि पुत्र होंगे ॥२७॥ उस समय ऋतधामा नामक इन्द्र होगा तथा हरित आदि देवगण और तपोमूर्ति, तपस्वी एवं आग्नीध्रकादि सप्तर्षिगण होंगे ॥२८॥ तथा सत्यसहसे उत्पन्न हुआ सूनृताका पुत्र श्रीहरिका सुधामानामक अंश उस मन्वन्तरका पालन करेगा ॥२९॥

मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देवसावर्णिरात्मवान्[6] ।
चित्रसेनविचित्राद्या देवसावर्णिदेहजाः[7] ॥३०॥
देवाः सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः ।
निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यन्त्यृपयस्तदा ॥३१॥

तेरहवाँ मनु परम जितेन्द्रिय देवसावर्णि होगा तथा चित्रसेन और विचित्र आदि देवसावर्णिके पुत्र होंगे ॥३०॥ उस समय सुकर्म और सुत्रामनामक देवगण, दिवस्पतिनामक इन्द्र तथा निर्मोक और तत्त्वदर्श आदि सप्तर्षि होंगे ॥३१॥

१. खाः सप्त । २. भगवान् किल । ३. सुखासनविरुद्धाद्या देवा आसन् सुरेश्वराः । ४. सन्ध्यं । ५. देवेन्द्रो । ६. वेद० । ७. देवाः सा० ।

देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः ।
योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां सम्भविष्यति ॥३२॥

तथा दिवस्पतिको इन्द्रपद प्रदान करनेवाला भगवान् हरिका अंश बृहतीके गर्भसे देवहोत्रका पुत्र होकर योगेश्वर नामसे प्रकट होगा ॥३२॥

मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति ।
उरुगम्भीरबुद्ध्याद्या[1] इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः ॥३३॥
पवित्राश्चाक्षुषा देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति ।
अग्निर्बाहुः शुचिः शुद्धो मागधाद्यास्तपस्विनः ॥३४॥
सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः ।
वितानायां महाराज क्रियातन्तून्वितायिता ॥३५॥
राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते ।
प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः ॥३६॥

चौदहवाँ मनु इन्द्रसावर्णि होगा तथा उरु और गम्भीरबुद्धि आदि इन्द्रसावर्णिके पुत्र होंगे ॥३३॥ उस समय पवित्र और चाक्षुष आदि देवगण, शुचिनामक इन्द्र, तथा अग्निबाहु, शुचि, शुद्ध और मागध आदि ऋषिगण होंगे ॥३४॥ हे राजन् ! उस मन्वन्तरमें वितानाके गर्भसे उत्पन्न हुए सत्रायण-पुत्र बृहद्भानु-नामक भगवान् हरि कर्मकाण्डका विस्तार करेंगे ॥३५॥

हे राजन् ! इस प्रकार तीनों कालोंमें होनेवाले ये चौदह मन्वन्तर मैंने तुम्हें सुना दिये । इन्हींसे सहस्रयुगपरिमित कल्पका मान किया जाता है ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं नाम[2] त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चौदहवाँ अध्याय

मनु आदिके पृथक्-पृथक् कर्मोंका निरूपण ।

राजोवाच

मन्वन्तरेषु भगवन्यथा मन्वादयस्त्विमे ।
यस्मिन्कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद्वदस्व मे[3] ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें ये मनु आदि जिस-जिसके द्वारा जिस-जिस कार्यमें नियुक्त किये जाते हैं वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच

मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते ।
इन्द्राः[4] सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः ॥ २ ॥
यज्ञादयो[5] याः कथिताः पौरुष्यस्तनवो नृप[6] ।
मन्वादयो जगद्यात्रां नयन्त्याभिः प्रचोदिताः ॥ ३ ॥
चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्ताञ्छ्रुतिगणान्यथा ।
तपसा[7] ऋषयोऽपश्यन्यतो धर्मः सनातनः ॥ ४ ॥
ततो धर्मं चतुष्पादं मनवो हरिणोदिताः ।
युक्ताः सञ्चारयन्त्यद्धा स्वे स्वे काले महीं नृप ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे पृथिवीपते ! मनु, मनुपुत्र, मुनिगण, इन्द्र और देवगण ये सभी परमपुरुष परमात्मासे शासित हैं ॥ २ ॥ हे राजन् ! भगवान्‌के जो यज्ञ-पुरुष आदि रूप बतलाये गये हैं उन्हींकी प्रेरणासे मनु आदि संसारयात्राका निर्वाह करते हैं ॥ ३ ॥ तथा मुनिजन चतुर्युगके अन्तमें कालके गालमें पड़ी हुई श्रुतिका तपोबलसे पुनः यथावत् साक्षात्कार करते हैं, जिससे सनातनधर्मका प्रचार होता है ॥ ४ ॥ हे राजन् ! फिर श्रीहरिकी प्रेरणासे मनुगण सावधान रहकर अपने-अपने समयमें पृथिवीपर चतुष्पाद (चार चरणोंवाले) धर्मका प्रजाजनोंसे आचरण कराते हैं ॥ ५ ॥

१. वर्णाद्या । २. प्राचीन प्रतिमें 'नाम' शब्द नहीं है । ३. नः । ४. इन्द्रः । ५. मन्वादयो ये । ६. नृपाः ।
७. तपसर्षयः पश्यन्ति य० ।

पालयन्ति प्रजापाला यावदन्तं विभागशः ।
यज्ञभागभुजो देवा ये च तत्रान्विताश्च तैः ॥ ६ ॥
इन्द्रो भगवता दत्तां त्रैलोक्यश्रियमूर्जिताम् ।
भुञ्जानः पाति लोकांस्त्रीन्कामं लोके प्रवर्षति ॥ ७ ॥
ज्ञानं चानुयुगं ब्रूते हरिः सिद्धस्वरूपधृक् ।
ऋषिरूपधरः कर्म योगं योगेशरूपधृक् ॥ ८ ॥
सर्गं प्रजेशरूपेण दस्यून्हन्यात्स्वराड्वपुः ।
कालरूपेण सर्वेषामभावाय पृथग्गुणः ॥ ९ ॥
स्तूयमानो जनैरेभिर्मायया नामरूपया ।
विमोहितात्मभिर्नानादर्शनैर्न च दृश्यते ॥१०॥
एतत्कल्पविकल्पस्य प्रमाणं परिकीर्तितम् ।
यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविदः ॥११॥

मनुपुत्र मन्वन्तरकी समाप्तिपर्यन्त पुत्र-पौत्रादिक्रमसे प्रजाका पालन करते हैं तथा पञ्चमहायज्ञादि कर्मोंमें जिन ऋषि, पितृ, भूत और मनुष्य आदिका भोक्तारूपसे सम्बन्ध है उनके साथ देवगण उस मन्वन्तरमें यज्ञका भाग ग्रहण करनेवाले होते हैं ॥ ६ ॥ इन्द्र भगवान्‌की दी हुई त्रिभुवनकी अति उत्कृष्ट लक्ष्मीको भोगता हुआ तीनों लोकोंकी रक्षा करता है और संसारमें यथेष्ट वर्षा करता है ॥ ७ ॥ श्रीहरि सनकादि सिद्धोंका रूप धारण कर प्रत्येक युगमें ज्ञानोपदेश करते हैं, याज्ञवल्क्यादि ऋषिरूपसे कर्मकाण्ड प्रचार करते हैं और दत्तात्रेयादि योगेश्वर होकर योगमार्गकी प्रवृत्ति करते हैं ॥ ८ ॥ वे प्रजापतिरूपसे सृष्टि करते हैं, सम्राट् होकर दस्युओंका वध करते हैं और शीतोष्णादि भिन्न-भिन्न गुणवाले कालरूपसे सबका संहार करते हैं ॥ ९ ॥ भगवान् नामरूपात्मिका मायासे मोहित हुए पुरुषोंद्वारा विभिन्न शास्त्रोंसे निरूपण किये जानेपर भी किसीसे नहीं जाने जाते ॥१०॥

हे राजन् ! इस प्रकार मैंने तुम्हें यह महाकल्प और अवान्तर कल्पोंका परिमाण सुना दिया, जिनमेंसे प्रत्येक अवान्तर कल्पमें पुरातत्त्वके ज्ञाताओंने चौदह मन्वन्तर बतलाये हैं ॥११॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

बलिका स्वर्गविजय ।

राजोवाच

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्धरिरयाचत ।
भूत्वेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम् ॥ १ ॥
एतद्वेदितुमिच्छामो महत्कौतूहलं हि नः ।
यज्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्यनागसः ॥ २ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! श्रीहरिने जगदीश्वर होकर भी बलिसे कृपणके समान तीन पग पृथिवी क्यों माँगी ? और फिर अपना मनोरथ सिद्ध हो जानेपर भी बलिको बन्धनमें क्यों डाला ? ॥ १ ॥ हम यह सब वृत्तान्त सुनना चाहते हैं । पूर्णकाम श्रीयज्ञेश्वरका भिक्षा माँगना और निरपराधको बाँधना इन दोनों बातोंके विषयमें हमें बड़ा ही कुतूहल है ॥२॥

१. यत्रा० । २. सर्वस्व० । ३. सर्गे । ४. हन्ता स्व० । ५. प्राचीन प्रतिमें 'मन्वन्तरानुवर्णने' इतना अधिक पाठ है ।

श्रीशुक उवाच

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो
हीन्द्रेण राजन्भृगुभिः स जीवितः ।
सर्वात्मना तानभजद्भृगून्बलिः
शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन ॥ ३ ॥

तं ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणा
अयाजयन्विश्वजिता त्रिणाकम् ।
जिगीषमाणं विधिनाभिषिच्य
महाभिषेकेण महानुभावाः ॥ ४ ॥

ततो रथः काञ्चनपट्टनद्धो
हयाश्च हर्यश्वतुरङ्गवर्णाः ।
ध्वजश्च सिंहेन विराजमानो
हुताशनादास हविर्भिरिष्टात् ॥ ५ ॥

धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धं
तूणावरिक्तौ कवचं च दिव्यम् ।
पितामहस्तस्य ददौ च माला-
मम्लानपुष्पां जलजं च शुक्रः ॥ ६ ॥

एवं स विप्रार्जितयोधनार्थ-
स्तैः कल्पितस्वस्त्ययनोऽथ विप्रान् ।
प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामः
प्रह्लादमामन्त्र्य नमश्चकार ॥ ७ ॥

अथारुह्य रथं दिव्यं भृगुदत्तं महारथः ।
सुस्रग्धरोऽथ संनह्य धन्वी खड्गी धृतेषुधिः ॥ ८ ॥

हेमाङ्गदलसद्बाहुः स्फुरन्मकरकुण्डलः ।
रराज रथमारूढो धिष्ण्यस्थ इव हव्यवाट् ॥ ९ ॥

तुल्यैश्वर्यबलश्रीभिः स्वयूथैर्दैत्ययूथपैः ।
पिबद्भिरिव खं दृग्भिर्दहद्भिः[1] परिधीनिव ॥१०॥

वृतो विकर्षन्महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः ।
ययाविन्द्रपुरीं स्वृद्धां[2] कम्पयन्निव रोदसी ॥११॥

रम्यामुपवनोद्यानैः[3] श्रीमद्भिर्नन्दनादिभिः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जब इन्द्रद्वारा श्रीहीन और प्राणविहीन किये हुए राजा बलिको भृगुनन्दन शुक्राचार्यजीने जीवनदान दिया तो उनका शिष्य महात्मा बलि [गुरुसेवाको ही अभ्युदयका मुख्य कारण समझ] शुक्राचार्यजीको अपना सर्वस्व समर्पण कर सब प्रकार उन्हींकी सेवा करने लगा ॥३॥ उनसे प्रसन्न हुए महानुभाव भृगुवंशी ब्राह्मणोंने स्वर्ग-विजयकी कामनावाले बलिको विधिपूर्वक ऐन्द्र महाभिषेकसे अभिषिक्त किया और उससे विश्वजित् यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ ४ ॥ हे राजन् ! तब हवन-सामग्रीद्वारा पूजित हुए अग्निसे सुवर्णकी चद्दरसे मढ़ा हुआ रथ, इन्द्रके घोड़ोंके समान हरितवर्ण घोड़े, सिंहके चिह्नसे सुशोभित ध्वजा, सुवर्णजटित दिव्य धनुष, दो अक्षय तूणीर और दिव्य कवच प्रकट हुए। पितामह प्रह्लादजीने उन्हें कभी न कुम्हलानेवाले पुष्पोंकी माला दी तथा शुक्राचार्यजीने एक शंख दिया ॥ ५—६ ॥ इस प्रकार ब्राह्मणोंद्वारा युद्धसामग्री प्राप्त कर उनके स्वस्तिवाचन करनेपर महारथी राजा बलिने प्रदक्षिणा करनेके अनन्तर उन्हें प्रणाम किया और प्रह्लादजीको भी नमस्कार कर उनकी अनुमति ले भृगुवंशी ब्राह्मणोंके दिये हुए दिव्य रथपर आरूढ हो सुन्दर माला पहिन, धनुष, कवच, खड्ग और तरकश धारण कर, भुजाओंमें सुवर्णमय बाजूबन्द तथा कानोंमें मकराकृत कुण्डलोंसे सुशोभित रथारूढ राजा बलि अग्निकुण्डमें प्रज्वलित हुए भगवान् हव्यवाहन (अग्नि) के समान शोभायमान हुए ॥ ७—९ ॥ फिर, जो मानो आकाशको पिये जाते थे और नेत्रोंसे सम्पूर्ण दिशाओं-को दग्ध कर रहे थे ऐसे तुल्य ऐश्वर्य, बल और विभूतिवाले दैत्ययूथपतिरूप अपने गणोंके सहित वे एक महान् असुरसेनाको साथ ले पृथिवी और आकाशको कम्पायमान करते हुए परम समृद्धिशालिनी इन्द्रपुरीको गये ॥१०-११॥ जो चहचहाते हुए पक्षियोंके जोड़ों और गूँजते हुए मत्त मधुकरोंसे युक्त

१. वृंहद्भिः । २. रीमृद्धां । ३. रम्यां नृप गृहोद्यानैः ।

कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥१२॥
प्रवालफलपुष्पोरुभारशाखामरद्रुमैः ।
हंससारसचक्राह्वकारण्डवकुलाकुलाः ।
नलिन्यो यत्र क्रीडन्ति प्रमदाः सुरसेविताः ॥१३॥
आकाशगङ्गया देव्या वृतां परिखभूतया ।
प्राकारेणाग्निवर्णेन साट्टालेनोन्नतेन च ॥१४॥
रुक्मपट्टकपाटैश्च द्वारैः स्फटिकगोपुरैः ।
जुष्टां विभक्तप्रपथां विश्वकर्मविनिर्मिताम् ॥१५॥
सभाचत्वररथ्याढ्यां विमानैर्न्यर्बुदैर्युताम् ।
शृङ्गाटकैर्मणिमयैर्वज्रविद्रुमवेदिभिः ॥१६॥
यत्र नित्यवयोरूपाः श्यामा विरजवाससः ।
भ्राजन्ते रूपवन्नार्यो ह्यर्चिर्भिरिव वह्नयः ॥१७॥
सुरस्त्रीकेशविभ्रष्टनवसौगन्धिकस्रजाम् ।
यत्रामोदमुपादाय मार्ग आवाति मारुतः ॥१८॥
हेमजालाक्षनिर्गच्छद्धूमेनागुरुगन्धिना ।
पाण्डुरेण प्रतिच्छन्नमार्गे यान्ति सुरप्रियाः[1] ॥१९॥
मुक्तावितानैर्मणिहेमकेतुभि-
र्नानापताकावलभीभिरावृताम् ।
शिखण्डिपारावतभृङ्गनादितां
वैमानिकस्त्रीकलगीतमङ्गलाम् ॥२०॥
मृदङ्गशङ्खानकदुन्दुभिस्वनैः
सतालवीणामुरजर्ष्टिवेणुभिः[2] ।
नृत्यैः सवाद्यैरुपदेवगीतकै-
र्मनोरमां स्वप्रभयाजितप्रभाम्[3] ॥२१॥
यां न व्रजन्त्यधर्मिष्ठाः[4] खला भूतद्रुहः शठाः ।
मानिनः कामिनो लुब्धा एभिर्हीना व्रजन्ति यत् ॥२२॥

शोभाशाली नन्दनादि उपवनों और उद्यानोंसे शोभायमान है ॥१२॥ जो पल्लव, फल और फूलोंके भारी भारसे झुकी हुई शाखाओंवाले कल्पवृक्षोंसे सुशोभित है तथा जहाँ हंस, सारस, चक्रवाक और कारण्डव आदि पक्षिसमूहोंसे पूर्ण सरोवर हैं, जिनमें सुरसम्मानिता सुराङ्गनाएँ क्रीडा करती हैं ॥१३॥ जो चारों ओरसे खाईरूप आकाश-गंगासे तथा अट्टालिकाओंके सहित अति उन्नत अग्निवर्ण परकोटेसे घिरी हुई है ॥१४॥ जो विश्वकर्माकी रची हुई है एवं सुवर्णपत्रसे मढ़े हुए कपाटवाले द्वारों और स्फटिक मणिके कँगूरोंसे सुशोभित है तथा जिसमें पृथक्-पृथक् सड़कें बनी हुई हैं ॥१५॥ जो सभा-भवन, चौराहे और गलियोंसे पूर्ण एवं दश करोड़ विमानोंसे सम्पन्न है और जिसमें जहाँ-तहाँ मणिमय चौक तथा हीरा और विद्रुमकी वेदियाँ बनी हुई हैं ॥१६॥ जहाँ नित्य नवयौवन और अमिट सौन्दर्यसे युक्त षोडशवर्षीया रूपवती रमणियाँ स्वच्छ वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित हो ज्वालाओंसे देदीप्यमान अग्निके समान शोभा पाती हैं ॥ १७ ॥ जहाँ वायु, सुराङ्गनाओंके केशपाशसे गिरी हुई नवीन सौगन्धिक पुष्पोंकी मालाका मनोहर आमोद (सुगन्ध) लेकर मार्गमें सुगन्ध फैलाता रहता है ॥ १८ ॥ तथा सुवर्णमय झरोखोंसे निकलते हुए पाण्डुवर्ण अगरके धूएँसे सुवासित मार्गमें देवललनाएँ विचरती हैं ॥ १९ ॥ इस प्रकार जो मुक्तादाममण्डित वितानों, मणि और सुवर्णजटित ध्वजाओं तथा नाना प्रकारकी पताका तथा छज्जोंसे युक्त मयूर, कपोत और भ्रमरोंसे शब्दायमान एवं देवाङ्गनाओंके मनोहर गानसे मङ्गलमयी हुई रहती है ॥ २० ॥ मृदंग, शंख, आनक और दुन्दुभियोंके घोषसे तालयुक्त वीणा, मुरज, ऋष्टि और बाँसुरियोंसे तथा [गन्धर्व और अप्सरादि] उपदेवोंके नृत्य, वाद्य और गानसे जो अति मनोहर जान पड़ती है, जिसने अपनी प्रभासे प्रभाकी अधिष्ठात्री देवताको भी जीत लिया है ॥ २१ ॥ जिसमें अधर्मी, दुष्ट, भूतद्रोही, ठग, मानी, कामी और लोभी पुरुषोंका प्रवेश नहीं हो सकता; बल्कि जहाँ इन दोषोंसे रहित पुरुष ही जा सकते हैं ॥२२॥

१. सुरस्त्रियः । २. सवेणुवीणामुरजेषुवादिभिः । ३. ग्रहाम् । ४. गच्छन्त्य० ।

तां देवधानीं स वरूथिनीपति-
बहिः समन्ताद्रुरुधे पृतन्यया ।
आचार्यदत्तं जलजं महास्वनं
दध्मौ प्रयुञ्जन्भयमिन्द्रयोषिताम् ॥२३॥

उस देवनगरीको असुरसेनानायक बलिने अपनी सेनासे बाहर सब ओरसे घेर लिया और इन्द्राणियोंको भयभीत करते हुए शुक्राचार्यजीका दिया हुआ महान् शब्दशाली शङ्ख बजाया ॥ २३ ॥

मघवांस्तमभिप्रेत्य बलेः परममुद्यमम् ।
सर्वदेवगणोपेतो गुरुमेतदुवाच ह ॥२४॥
भगवन्नुद्यमो भूयान्बलेर्नः पूर्ववैरिणः ।
अविषह्यमिमं मन्ये केनासीत्तेजसोर्जितः[1] ॥२५॥
नैनं कश्चित्कुतो वापि प्रतिव्योढुमधीश्वरः ।
पिबन्निव मुखेनेदं लिहन्निव दिशो दश ।
दहन्निव दिशो दृग्भिः संवर्ताग्निरिवोत्थितः ॥२६॥
ब्रूहि कारणमेतस्य दुर्धर्षत्वस्य मद्रिपोः ।
ओजः सहो बलं तेजो यत एतत्समुद्यमः ॥२७॥

तब इन्द्रने बलिका वह महान् उद्योग देख सम्पूर्ण देवताओंके सहित गुरु बृहस्पतिजीसे इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥ "भगवन् ! हमारे पूर्व वैरी बलिका बड़ा भारी उद्योग है; मैं तो इसे असह्य समझता हूँ । इस बार यह किस तेजसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है ? ॥ २५ ॥ इसे तो कोई भी किसी प्रकार रोकनेमें समर्थ नहीं है; यह तो प्रलयाग्निके समान मानो मुखसे इस सम्पूर्ण जगत्को पीता हुआ, दशों दिशाओंको चाटता हुआ और नेत्रोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको दग्ध करता हुआ उठा चला आ रहा है ॥ २६ ॥ हे गुरो ! मेरे इस शत्रुकी दुर्धर्षताका कारण बताइये, जिससे इसे ऐसे इन्द्रिय, मन और शरीरसम्बन्धी बल और तेज प्राप्त हुए हैं कि यह इस प्रकार असह्य उद्यम करनेपर उतारू हुआ है" ॥ २७ ॥

गुरुरुवाच

जानामि मघवञ्छत्रोरुन्नतेरस्य कारणम् ।
शिष्यायोपभृतं[2] तेजो भृगुभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥२८॥
भवद्विधो भवान्वापि वर्जयित्वेश्वरं हरिम् ।
नास्य[3] शक्तः पुरः स्थातुं कृतान्तस्य यथा जनाः ॥२९॥
तस्मान्निलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम् ।
यात कालं प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः ॥३०॥
एष विप्रबलोदर्कः सम्प्रत्यूर्जितविक्रमः ।
तेषामेवापमानेन[4] सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति ॥३१॥
एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना ।

गुरुजी बोले—हे इन्द्र ! मैं इसकी उन्नतिका कारण जानता हूँ । वेदवादी भृगुपुत्रोंने अपने शिष्यके लिये यह महान् तेज सम्पादन किया है ॥ २८ ॥ इस समय एकमात्र परमेश्वर श्रीहरिको छोड़कर आप या आपके समान कोई और इसके सामने इसी प्रकार नहीं टिक सकता जैसे कालके सामने साधारण जीव ॥ २९ ॥ इसलिये तुम लोग स्वर्गको छोड़कर कहीं छिप जाओ और जिससे शत्रुका अधःपतन हो उस कालकी प्रतीक्षा करते रहो ॥ ३० ॥ इस समय यह ब्रह्मतेजसे समृद्ध और परमपराक्रमी हो रहा है; किसी समय उन्हींका अपमान करनेसे यह अपने कुटुम्बसहित नष्ट हो जायगा ॥ ३१ ॥

इस प्रकार अपने स्वार्थका यथार्थस्वरूप समझाने-

---

१. केनापि स्वेन तेजसा । २. धृतं । ३. प्राचीन प्रतेमें 'नास्य शक्तः' 'यथा जनाः' यह श्लोकार्ध मूलमें नहीं है । टिप्पणीमें इसके स्थानमें एक पाठान्तरका उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है—'विजेष्यति न कोऽप्येनं ब्रह्मतेजः समो…'।
४. मेवावमा० ।

हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणाः कामरूपिणः ॥३२॥
देवेष्वथ निलीनेषु बलिर्वैरोचनः पुरीम्[1] ।
देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम् ॥३३॥
तं विश्वजयिनं शिष्यं भृगवः शिष्यवत्सलाः ।
शतेन हयमेधानामनुव्रतमयाजयन् ॥३४॥
ततस्तदनुभावेन भुवनत्रयविश्रुताम् ।
कीर्तिं दिक्षु वितन्वानः स रेज उडुराडिव ॥३५॥
बुभुजे च श्रियं स्वृद्धां[3] द्विजदेवोपलम्भिताम् ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानो महामनाः ॥३६॥

वाले गुरुजीकी सम्मतिसे वे समस्त देवगण इच्छानुसार रूप धारणकर स्वर्गको छोड़कर चले गये ॥ ३२ ॥ देवताओंके छिप जानेपर विरोचनपुत्र बलिने देवपुरीपर अधिकार जमाकर तीनों लोकोंको अपने अधीन कर लिया ॥ ३३ ॥ तब [प्राप्त हुए इन्द्रपदको स्थिर रखनेके लिये] शिष्यवत्सल भृगुपुत्रोंने अपने अनुगत शिष्य विश्वविजयी बलिसे सौ अश्वमेध यज्ञ कराने आरम्भ किये ॥ ३४ ॥ उन यज्ञोंके प्रभावसे राजा बलि अपनी त्रिलोकविख्यात कीर्तिको दिशाओंमें फैलाते हुए नक्षत्रनाथ चन्द्रमाके समान सुशोभित हुए ॥ ३५ ॥ और अपनेको कृतकृत्य-सा मानते हुए वे महामना दैत्यराज ब्राह्मणदेवताओंद्वारा प्राप्त करायी हुई उस महती लक्ष्मीको भोगने लगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे
पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥
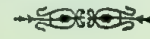
सोलहवाँ अध्याय

कश्यपजीद्वारा अदितिको पयोव्रतका उपदेश ।

श्रीशुक उवाच

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा ।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत् ॥ १ ॥
एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात् ।
निरुत्सवं निरानन्दं समाधेर्विरतश्चिरात् ॥ २ ॥
स पत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः ।
सभाजितो यथान्यायमिदमाह कुरूद्वह ॥ ३ ॥
अप्यभद्रं न विप्राणां भद्रे लोकेऽधुनागतम् ।
न धर्मस्य न लोकस्य मृत्योश्छन्दानुवर्तिनः ॥ ४ ॥
अपि वाकुशलं किञ्चिद्गृहेषु गृहमेधिनि ।
धर्मस्यार्थस्य कामस्य यत्र योगो ह्ययोगिनाम् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पुत्रोंके इस प्रकार भागकर छिप जानेपर और दैत्योंद्वारा स्वर्गलोकके हर लिये जानेपर देवमाता अदिति अनाथोंकी भाँति परिताप करने लगी ॥ १ ॥ एक बार भगवान् कश्यपजी बहुत दिनों पीछे समाधिसे उठकर उसके उत्सव और आनन्दहीन आश्रमपर आये ॥ २ ॥ हे कुरुनन्दन ! वहाँ अदितिसे विधिवत् सम्मानित हो आसनपर बैठकर उन्होंने अपनी दीन-वदना प्रियासे कहा—॥ ३ ॥ "हे भद्रे ! इस समय लोकमें ब्राह्मणोंको, धर्मको अथवा मृत्युकी इच्छाके अधीन रहनेवाले पुरुषोंको किसी प्रकारका अमङ्गल तो प्राप्त नहीं हुआ है ? ॥ ४ ॥ हे गृहस्वामिनि ! जिसमें योगसाधन न करनेवाले लोगोंको भी स्वधर्म-पालनसे योगका फल प्राप्त हो जाता है उस गृहमें धर्म, अर्थ एवं कामकी किसी प्रकारकी हानि तो नहीं हुई है ? ॥ ५ ॥

१. वि० । २. चनिः । ३. शुद्धां ।

अपि वातिथयोऽभ्येत्य[1] कुटुम्बासक्तया त्वया ।
गृहादपूजिता याताः प्रत्युत्थानेन वा क्वचित् ॥ ६ ॥
गृहेषु येष्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि ।
यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः ॥ ७ ॥
अप्यग्नयस्तु वेलायां न हुता हविषा सति ।
त्वयोद्विग्नधिया भद्रे प्रोषिते मयि कर्हिचित् ॥ ८ ॥
यत्पूजया कामदुघान्याति लोकान्गृहान्वितः ।
ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णोः सर्वदेवात्मनो मुखम् ॥ ९ ॥
अपि सर्वे कुशलिनस्तव पुत्रा मनस्विनि[2] ।
लक्षयेऽस्वस्थमात्मानं भवत्या लक्षणैरहम् ॥१०॥

अथवा तुम्हारे गृहकार्योंमें व्यग्र रहनेके कारण किसी समय घर आये हुए अतिथि प्रत्युत्थानादिसे पूजित हुए बिना ही तो नहीं लौट गये ? ॥ ६ ॥ जिन घरोंमें अतिथियोंका जलसे भी सत्कार नहीं होता और वे यों ही लौट जाते हैं वे निश्चय ही गीदड़ोंके घरके समान ही होते हैं ॥ ७ ॥ अथवा हे भद्रे ! क्या कभी मेरे बाहर चले जानेपर तूने उद्विग्नचित्त रहनेके कारण होमकालमें अग्नियोंमें हविकी आहुति नहीं दी ? ॥ ८ ॥ जिनका पूजन करनेसे गृहस्थपुरुष इच्छित भोग प्रदान करनेवाले लोकोंको जाता है वे ब्राह्मण और अग्नि सर्वदेवमय श्रीविष्णुभगवान्‌का मुख हैं ॥ ९ ॥ हे मनस्विनि ! तुम्हारे सब पुत्र तो अच्छी तरह हैं न ? मुझे अनेक लक्षण देखकर तुम्हारा चित्त कुछ अस्वस्थ जान पड़ता है" ॥ १० ॥

अदितिरुवाच

भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन्धर्मस्यास्य जनस्य च ।
त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रं गृहमेधिन्गृहा इमे ॥११॥
अग्नयोऽतिथयो भृत्या भिक्षवो ये च लिप्सवः ।
सर्वं भगवतो ब्रह्मन्ननुध्यानान्न रिष्यति ॥१२॥
को नु मे भगवन्कामो न सम्पद्येत मानसः ।
यस्या भवान्प्रजाध्यक्ष एवं धर्मान्प्रभाषते ॥१३॥
तवैव मारीच मनःशरीरजाः
प्रजा इमाः सत्त्वरजस्तमोजुषः ।
समो भवांस्तास्वसुरादिषु प्रभो
तथापि भक्तं भजते महेश्वरः ॥१४॥
तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिन्तय सुव्रत ।
हृतश्रियो हृतस्थानान्सपत्नैः पाहि नः प्रभो ॥१५॥
परैर्विवासिता साहं मग्ना व्यसनसागरे ।

अदितिने कहा—हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मण, गौ, धर्म और यह लोक सब प्रकार सकुशल है; तथा हे गृहस्वामिन् ! यह घर धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गका मुख्य स्थान है ॥ ११ ॥ हे ब्रह्मन् ! आपका निरन्तर स्मरण रहनेके कारण मुझसे अग्नि, अतिथि, भृत्यवर्ग और भोजनादिकी इच्छा करनेवाले भिक्षुओंका भी तिरस्कार नहीं हुआ है ॥ १२ ॥ भगवन् ! आप-जैसे प्रजापति मुझे इस प्रकार धर्मका उपदेश दिया करते हैं; फिर मेरी कौन-सी मनोऽभिलाषा पूर्ण हुए बिना रह सकती है ? ॥ १३ ॥ हे मरीचिनन्दन ! सत्त्व, रज और तमोगुणसे युक्त यह सारी प्रजा आपहीके मन या शरीरसे उत्पन्न हुई है । इसलिये हे प्रभो ! आप उन असुरादि सभी प्रजाओंके प्रति समान ही हैं; तथापि साक्षात् महेश्वर भी अपने भक्तोंकी इच्छा पूर्ण किया करते हैं ॥ १४ ॥ इसलिये हे ईश ! हे सुव्रत ! आप भी आपका भजन करनेवाली मुझ दासीके हितका विचार कीजिये । हे प्रभो ! शत्रुओंसे श्रीहीन और पदच्युत हुए हम लोगोंकी आप रक्षा कीजिये ॥ १५ ॥ हे नाथ ! प्रबल दैत्योंने मेरे ऐश्वर्य, धन, यश और

१. ऽभ्येताः । २. यशस्विनि ।

ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानं हृतानि प्रबलैर्मम ॥१६॥
यथा तानि पुनः साधो प्रपद्येरन्ममात्मजाः ।
तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणकृत्तम ॥१७॥

स्थान हरण कर लिये हैं। इस प्रकार उनसे निर्वासित हुई मैं शोकसागरमें डूब रही हूँ ॥ १६ ॥ हे कल्याण-कर्ताओंमें श्रेष्ठ ! हे साधो ! आप अपनी बुद्धिसे मेरा ऐसा हित कीजिये जिससे मेरे पुत्र पुनः उन ऐश्वर्या-दिको प्राप्त कर सकें ॥ १७ ॥

श्रीशुक उवाच

एवमभ्यर्थितोऽदित्या कस्तामाह स्मयन्निव ।
अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत् ॥१८॥
क्व देहो भौतिको[1]ऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः ।
कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम् ॥१९॥
उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम् ।
सर्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम् ॥२०॥
स विधास्यति ते कामान्हरिर्दीनानुकम्पनः[2] ।
अमोघा भगवद्भक्ति[3]र्नेतरेति मतिर्मम ॥२१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अदितिके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर कश्यपजीने कुछ विस्मित-से होकर कहा—"अहो ! भगवान्‌की मायाका कैसा बल है ! यह सारा जगत् स्नेहबन्धनसे बँधा हुआ है ॥ १८ ॥ कहाँ तो पञ्चभूतोंका बना हुआ यह अनात्मा देह ! और कहाँ प्रकृतिसे परे आत्मा !! अतः ये पति-पुत्रादि भी कौन किसके हैं ? इनके स्नेहबन्धनका कारण भी मोह ही है ॥ १९ ॥ इसलिये तुम सम्पूर्ण भूतोंके अन्तःकरणमें विराजमान जगद्गुरु वासुदेव भगवान् जनार्दनकी उपासना करो ॥ २० ॥ वे दीनवत्सल हरि तुम्हारी कामनाएँ पूर्ण करेंगे । भगवान्‌की ही भक्ति अमोघ है और किसी देवताकी नहीं—ऐसी मेरी मति है" ॥ २१ ॥

अदितिरुवाच

केनाहं विधिना ब्रह्मन्नुपस्थास्ये जगत्पतिम् ।
यथा मे सत्यसङ्कल्पो विदध्यात्स मनोरथम् ॥२२॥
आदिश त्वं द्विजश्रेष्ठ विधिं तदुपधावनम् ।
आशु तुष्यति मे देवः सीदन्त्याः सह पुत्रकैः ॥२३॥

अदिति बोली—हे ब्रह्मन् ! मुझे जगत्पति श्रीहरि-की उपासना किस प्रकार करनी चाहिये जिससे वे सत्यसङ्कल्प प्रभु मेरा मनोरथ पूर्ण कर दें ॥ २२ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! आप मुझे उनकी उपासनाविधिका उपदेश दीजिये, जिससे अपने पुत्रोंके साथ कष्ट पाती हुई मुझपर भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न हो जायँ ॥ २३ ॥

कश्यप उवाच

एतन्मे भगवान्पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मजः ।
यदाह ते प्रवक्ष्यामि व्रतं केशवतोषणम् ॥२४॥
फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतः ।
अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयान्वितः ॥२५॥
सिनीवाल्यां मृदालिप्य स्नायात्क्रोडविदीर्णया ।
यदि लभ्येत वै स्रोतस्येतं मन्त्रमुदीरयेत्[4] ॥२६॥

कश्यपजीने कहा—हे देवि ! पूर्वकालमें मैंने प्रजाकी कामनासे इस उपासनाके विषयमें भगवान् ब्रह्माजीसे पूछा था; उस समय उन्होंने भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाला जो व्रत बतलाया था वही मैं तुमसे कहता हूँ ॥ २४ ॥ फाल्गुनमासके शुक्लपक्षमें बारह दिनतक केवल दुग्धाहार करते हुए अत्यन्त भक्तिपूर्वक कमलनयन भगवान्‌का पूजन करे ॥ २५ ॥ अमावास्याके दिन यदि मिल सके तो शूकरकी खोदी हुई मिट्टी लेकर इस मन्त्रको कहते हुए कि 'हे देवि ! प्राणियोंको स्थान प्राप्त हो इस इच्छासे श्रीआदिवराहने

१. को नाम । २. कम्पकः । ३. द्भक्तिः परा चेति मति० । ४. दाहरेत् ।

त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता ।
उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय ॥२७॥
निर्वर्तितात्मनियमो देवमर्चेत्समाहितः ।
अर्चायां स्थण्डिले सूर्ये जले वह्नौ गुरावपि ॥२८॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे ।
सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे ॥२९॥
नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च ।
चतुर्विंशद्गुणज्ञाय गुणसंख्यानहेतवे ॥३०॥
नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे ।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ॥३१॥
नमः शिवाय रुद्राय नमः शक्तिधराय च ।
सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः ॥३२॥
नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय जगदात्मने ।
योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे ॥३३॥
नमस्त आदिदेवाय साक्षिभूताय ते नमः ।
नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः ॥३४॥
नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये ।
केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे ॥३५॥
त्वं सर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ ।
अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते ॥३६॥
अन्ववर्तन्त यं देवाः श्रीश्च तत्पादपद्मयोः ।

तेरा रसातलसे उद्धार किया था, तुझे नमस्कार है; तू मेरे पापोंका नाश कर' उसे अपने शरीरमें लगाकर नदीमें स्नान करे ॥ २६-२७ ॥ फिर नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको पूर्ण करके समाहितचित्तसे मूर्त्ति, वेदी, सूर्य, जल, अग्नि और गुरुमें भगवान्‌की पूजा करे॥ २८ ॥ [और इन मन्त्रोंसे स्तुति करे—] 'आप सम्पूर्ण भूतोंके निवासस्थान, सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी, परमपूजनीय, षडैश्वर्यसम्पन्न सर्वान्तर्यामीको नमस्कार है ॥ २९ ॥ जो अव्यक्त, अति सूक्ष्म, प्रकृति-पुरुषस्वरूप, चौबीस तत्त्वोंको जाननेवाले और सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक हैं ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥ जिनके दो शिर, तीन चरण, चार शृङ्ग और सात हाथ हैं ऐसे यज्ञफलदायक यज्ञमूर्त्ति आप त्रयीविद्यामय प्रभुको नमस्कार है *॥३१॥ शक्तिधर, सकल विद्याओंके अधिपति और सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी आप रुद्ररूप शिवको नमस्कार है॥३२॥ जो प्राणस्वरूप, जगन्मय, योग और ऐश्वर्यमूर्ति तथा योगके हेतुस्वरूप हैं, उन हिरण्यगर्भरूप आपको नमस्कार है ॥ ३३ ॥ आप, सबके साक्षी आदिदेव ऋषिवर नारायण तथा हरिरूप भगवान् नरको बारम्बार नमस्कार है ॥ ३४ ॥ जिनका मरकतमणिके समान श्याम शरीर है उन पीताम्बरधारी श्रीसम्पन्न आप श्रीकेशवको नमस्कार है ॥ ३५ ॥ हे वरेण्य ! हे वरदानियोंमें श्रेष्ठ ! आप पुरुषोंको सब प्रकारके वर देनेवाले हैं; अतः धीर पुरुष अपने कल्याणके लिये आपके पद-परागकी उपासना किया करते हैं ॥ ३६ ॥ जिनके चरणकमलोंकी सुगन्धमें स्पृहा रखते हुए-से देवगण

१. देवाय । २. देवदेवाय ते । ३. यत्पा० ।

* यहाँ भगवान्‌का धर्मवृषभरूपसे वर्णन किया गया है; इस सम्बन्धमें निम्नाङ्कित वेदमन्त्र प्रसिद्ध है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

इस मन्त्रकी व्याख्या निम्नाङ्कित श्लोकोंके रूपमें है—

चत्वारि शृङ्गा वेदास्तु पादास्त्रिसवनानि च । प्रायणीयं शिरस्त्वेकमन्यच्चोदयनीयकम् ॥
हस्तास्तु सप्त छन्दांसि तैर्गृह्णाति फलान्यसौ । मन्त्रब्राह्मणकल्पैस्तु त्रिधा बद्ध इतीर्यते ॥
शास्त्रोद्गारस्तुतिरेव रोरवीत्यृत्विजो मुखात् । वृषभो महांश्च धर्मत्वाद्देवस्तु फलभावनात् ॥

चार वेद ही चार सींग हैं, [प्रातः, मध्याह्न और तृतीय ये] तीन सवन ही तीन पाद हैं, प्रायणीय और उदयनीयनामक यज्ञकर्म ही दो सिर हैं, गायत्री आदि सात छन्द ही सात हाथ हैं जिनसे वह यज्ञफल ग्रहण करता है, वह मन्त्र, ब्राह्मण और कल्परूप तीन वेदविद्याओंसे बँधा हुआ कहा जाता है, ऋत्विजके मुखसे शास्त्रोच्चारणरूप स्तुति ही उसका चिल्लाना है । ऐसा यह वृषभ धर्मरूप होनेसे महान् है और यज्ञफलदायक होनेसे देव है ।

स्पृहयन्त इवामोदं भगवान्मे प्रसीदताम् ॥३७॥
एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशमावाहनपुरस्कृतम् ।
अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः पाद्योपस्पर्शनादिभिः ॥३८॥
अर्चित्वा गन्धमाल्याद्यैः पयसा स्नपयेद्विभुम् ।
वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः ।
गन्धधूपादिभिश्चार्चेद्द्वादशाक्षरविद्यया ॥३९॥
शृतं पयसि नैवेद्यं शाल्यन्नं विभवे सति ।
ससर्पिः सगुडं दत्त्वा जुहुयान्मूलविद्यया ॥४०॥
निवेदितं तद्भक्ताय दद्याद्भुञ्जीत वा स्वयम् ।
दत्त्वाचमनमर्चित्वा ताम्बूलं च निवेदयेत् ॥४१॥
जपेदष्टोत्तरशतं स्तुवीत स्तुतिभिः प्रभुम् ।
कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ प्रणमेद्दण्डवन्मुदा ॥४२॥
कृत्वा शिरसि तच्छेषां देवमुद्वासयेत्ततः ।
द्व्यवरान्भोजयेद्विप्रान्पायसेन यथोचितम् ॥४३॥
भुञ्जीत तैरनुज्ञातः शेषं सेष्टः सभाजितैः ।
ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्यां श्वोभूते प्रथमेऽहनि ॥४४॥
स्नातः शुचिर्यथोक्तेन विधिना सुसमाहितः ।
पयसा स्नापयित्वार्चेद्यावद्व्रतसमापनम् ॥४५॥
पयोभक्षो व्रतमिदं चरेद्विष्णवर्चनादृतः ।
पूर्ववज्जुहुयादग्निं ब्राह्मणांश्चापि भोजयेत् ॥४६॥
एवं त्वहरहः कुर्याद्द्वादशाहं पयोव्रतः ।
हरेराराधनं होममर्हणं द्विजतर्पणम् ॥४७॥

और लक्ष्मीजी उनकी सेवामें लगे रहते हैं वे भगवान् मुझपर प्रसन्न हों' ॥ ३७ ॥ हे अदिति ! इन मन्त्रोंद्वारा आवाहनपूर्वक सम्मानित भगवान् हृषीकेशकी पाद्य और आचमनादिके द्वारा अति श्रद्धायुक्त हो पूजा करे ॥ ३८ ॥ तदनन्तर गन्ध और पुष्पमाला आदिसे पूजन कर प्रभुको दुग्धसे स्नान करावे। उसके बाद वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पाद्य, आचमन तथा गन्ध और धूपादि सामग्रियोंसे द्वादशाक्षर मन्त्र पढ़ता हुआ उनका पूजन करे ॥ ३९ ॥ फिर यदि सम्पत्तिशाली हो तो दूधमें पकाये हुए तथा घी और गुड़ मिले हुए शालिके चावलका नैवेद्य अर्पण करे और द्वादशाक्षरमन्त्रसे हवन करे ॥ ४० ॥ इस प्रकार भगवान्को निवेदन किया हुआ अन्न भगवान्के भक्तोंको दे अथवा स्वयं ही भक्षण करे; फिर पूजाके अनन्तर प्रभुको आचमन करा ताम्बूल समर्पण करे ॥ ४१ ॥ तत्पश्चात् मूलमन्त्रका एक सौ आठ बार जप करके स्तुतियोंद्वारा भगवान्का स्तवन करे और फिर परिक्रमा कर अति प्रसन्न चित्तसे पृथिवीपर साष्टाङ्ग प्रणाम करे ॥४२॥ तदनन्तर निर्माल्यको शिरसे लगाकर देवताका विसर्जन करे और यथासम्भव दोसे अधिक [सामर्थ्य न होनेपर दो ही] ब्राह्मणोंको यथोचित रीतिसे खीरसे भोजन करावे ॥ ४३ ॥ फिर दक्षिणा आदिसे सत्कार किये हुए उन ब्राह्मणोंके आज्ञा देनेपर अपने बन्धुजनोंके सहित शेष अन्नको भोजन करे, उस रात्रिको ब्रह्मचर्यसे रहे; दूसरे दिन (प्रतिपदाको) प्रातःकाल होनेपर स्नानादिसे पवित्र हो समाहितचित्तसे विधिपूर्वक भगवान्को दूधसे स्नान करा व्रतकी समाप्तिपर्यन्त इसी प्रकार पूजन करता रहे ॥ ४४-४५ ॥

इस प्रकार विष्णुपूजामें आदर रखनेवाला पुरुष दुग्धाहार करता हुआ इस व्रतका आचरण करे। प्रतिदिन पहले [द्वादशाक्षर मन्त्रसे] अग्निमें हवन-कर ब्राह्मणोंको भोजन करावे ॥ ४६ ॥ इसी प्रकार बारह दिनतक केवल दुग्धपान करता हुआ प्रतिदिन होम, पूजन और ब्राह्मणभोजन कराता हुआ श्रीहरिकी आराधना करे ॥ ४७ ॥

१. स्पर्शनादिभिः । २. पयः सनैवेद्यं । ३. नादितः ।

प्रतिपद्दिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशी ।
ब्रह्मचर्यमधःस्वप्नं स्नानं त्रिषवणं चरेत् ॥४८॥
वर्जयेदसदालापं भोगानुच्चावचांस्तथा ।
अहिंस्रः सर्वभूतानां वासुदेवपरायणः ॥४९॥
त्रयोदश्यामथो विष्णोः स्नपनं पञ्चकैर्विभोः ।
कारयेच्छास्त्रदृष्टेन विधिना विधिकोविदैः ॥५०॥
पूजां च महतीं कुर्याद्वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
चरुं निरूप्य पयसि शिपिविष्टाय विष्णवे ॥५१॥
शृतेन तेन पुरुषं यजेत सुसमाहितः ।
नैवेद्यं चातिगुणवद्दद्यात्पुरुषतुष्टिदम् ॥५२॥
आचार्यं ज्ञानसम्पन्नं वस्त्राभरणधेनुभिः ।
तोषयेदृत्विजश्चैव तद्विद्ध्याराधनं हरेः ॥५३॥
भोजयेत्तान्गुणवता सदन्नेन शुचिस्मिते ।
अन्यांश्च ब्राह्मणाञ्छ[1]क्त्या ये च तत्र समागताः ॥५४॥
दक्षिणां गुरवे दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथार्हतः ।
अन्नाद्येनाश्वपाकांश्च प्रीणयेत्समुपागतान् ॥५५॥
भुक्तवत्सु च सर्वेषु दीनान्धकृ[2]पणेषु च ।
विष्णोस्तत्प्रीणनं विद्वान्भुञ्जीत सह बन्धुभिः ॥५६॥
नृत्यवादित्रगीतैश्च स्तुतिभिः स्वस्तिवाचकैः ।
कारये[3]त्तत्कथाभिश्च पूजां भगवतोऽन्वहम् ॥५७॥

एतत्पयोव्रतं नाम पुरुषाराधनं परम् ।
पितामहेनाभिहितं म[4]या ते समुदाहृतम् ॥५८॥
त्वं चानेन महाभागे सम्यक्चीर्णेन केशवम् ।
आत्मना शुद्धभावेन [5]नियतात्मा भजाव्ययम् ॥५९॥

[इस व्रतका आचरण करनेवाला पुरुष] प्रतिपदासे लेकर शुक्ला त्रयोदशीतक ब्रह्मचर्यका पालन करे, पृथिवीपर सोवे और त्रिकाल स्नान करे ॥४८॥ मिथ्या एवं अनुचित भाषण और छोटे-बड़े सब प्रकारके भोगोंका त्याग करे तथा सब प्राणियोंके प्रति अहिंसा-भाव रखता हुआ भगवान् वासुदेवकी उपासनामें तत्पर रहे ॥४९॥ त्रयोदशीके दिन पूजा-विधिको जाननेवाले ब्राह्मणोंद्वारा भगवान् विष्णुका विधिपूर्वक पञ्चामृतसे स्नान करावे ॥५०॥ और धनका लोभ न करके बड़ी धूमधामसे भगवान्‌की पूजा करे । फिर शिपिविष्ट भगवान् विष्णुको दूधमें पकाया हुआ चरु अर्पण कर उसीके द्वारा अति एकाग्र चित्तसे उन पुरुषोत्तमका यजन करे तथा भगवान्‌को तृप्ति देनेवाला अति गुणयुक्त नैवेद्य निवेदन करे ॥ ५१-५२ ॥ तत्पश्चात् ज्ञानसम्पन्न आचार्य और ऋत्विजको वस्त्र, आभूषण एवं गौ आदि देकर सन्तुष्ट करे । हे अदिति ! इसे भी तुम भगवान्‌की आराधना ही समझो ॥ ५३ ॥ हे मधुर मुसकानवाली ! उन्हें तथा उस व्रतके समय जो अन्य ब्राह्मण वहाँ आवें उन्हें भी यथाशक्ति गुणयुक्त शुद्ध अन्नसे भोजन करावे ॥ ५४ ॥ फिर गुरु और ऋत्विजोंको यथायोग्य दक्षिणा देकर वहाँ आये हुए चाण्डाल-पर्य्यन्त सभी प्राणियोंको अन्नादिसे सन्तुष्ट करे ॥ ५५ ॥ दीन, अन्धे तथा कृपण पुरुषोंतक सबके भोजन कर लेनेपर उनके सत्कारको भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताका कारण समझे और बचे हुए अन्नको अपने बन्धुओंके साथ स्वयं भी भोजन करे ॥ ५६ ॥ इस प्रकार [प्रतिपदासे लेकर त्रयोदशीपर्यन्त] प्रतिदिन नृत्य, वाद्य, गान, स्तुति, स्वस्तिवाचन और भगवत्कथाओंसे भगवान्‌की पूजा करावे [और यदि अपनेमें सामर्थ्य हो तो इन सब उपचारोंसे स्वयं ही पूजा करे] ॥५७॥

हे अदिति ! पितामह ब्रह्माजीने मुझे यह पयोव्रत नामक भगवान् विष्णुका श्रेष्ठ पूजन बताया था, सो मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ ५८ ॥ हे महाभागे ! तुम संयतेन्द्रिय होकर अपने शुद्ध भावयुक्त चित्तसे इस व्रतका भली प्रकार आचरण करती हुई अविनाशी भगवान् केशवकी आराधना करो ॥ ५९ ॥

१. मुक्तान् । २. कृपणादिषु । ३. त्वत्कथा० । ४. मम । ५. भजनीयं ।

अयं वै सर्वयज्ञाख्यः सर्वव्रतमिति स्मृतम् ।
तपःसारमिदं भद्रे दानं चेश्वरतर्पणम् ॥६०॥
त एव नियमाः साक्षात्त एव च यमोत्तमाः ।
तपो दानं व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः ॥६१॥
तस्मादेतद्व्रतं भद्रे प्रयता श्रद्धया चर ।
भगवान्परितुष्टस्ते वरानाशु विधास्यति ॥६२॥

हे भद्रे ! यह व्रत भगवान्‌को प्रसन्न करनेवाला है; इसलिये इसका नाम 'सर्वयज्ञ' है, यही 'सर्वव्रत' कहा जाता है और यही सम्पूर्ण तपका सार तथा मुख्य दान है ॥ ६० ॥ हे देवि ! जिनसे भगवान् अधोक्षज प्रसन्न हों वे ही सच्चे नियम हैं, वे ही उत्तम यम हैं और वे ही तप, दान, व्रत एवं यज्ञ हैं ॥ ६१ ॥ अतः हे भद्रे ! तू संयतचित्त होकर श्रद्धापूर्वक इस व्रतका आचरण कर; इससे भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न होकर तेरा कल्याण करेंगे ॥ ६२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे अष्टमस्कन्धेऽदिति-[१]
पयोव्रतं नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सत्रहवाँ अध्याय

भगवान्‌का प्रकट होकर अदितिको वर देना ।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता सादिती राजन्स्वभर्त्रा कश्यपेन वै ।
अन्वतिष्ठद्व्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता ॥ १ ॥
चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरम् ।
प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान्मनसा बुद्धिसारथिः ॥ २ ॥
मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि ।
वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम् ॥ ३ ॥
तस्याः प्रादुरभूत्तात भगवानादिपूरुषः ।
पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ४ ॥
तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरम् ।
ननाम भुवि कायेन दण्डवत्प्रीतिविह्वला ॥ ५ ॥
सोत्थाय बद्धाञ्जलिरीडितुं स्थिता
नोत्सेह आनन्दजलाकुलेक्षणा ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने स्वामी महर्षि कश्यपजीसे ऐसा उपदेश पाकर अदितिने सावधानतापूर्वक इस बारह दिनके व्रतका अनुष्ठान आरम्भ किया ॥ १ ॥ उसने अपनी एकनिष्ठ बुद्धिसे परमपुरुष परमेश्वरका चिन्तन करते हुए बुद्धिको सारथी बनाकर मनरूपी लगामसे इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़ोंको अपने अधीन किया ॥ २ ॥ इस प्रकार एकाग्रबुद्धिसे अपने मनको सर्वात्मा श्रीहरिमें समाहित कर वह पयोव्रतका अनुष्ठान करने लगी ॥ ३ ॥ हे तात ! [उस व्रतके प्रभावसे] उसके सामने पीताम्बर-सुशोभित चतुर्भुजमूर्ति शंखचक्रगदाधारी भगवान् आदिपुरुष आविर्भूत हुए ॥ ४ ॥ उन्हें अपने नेत्रोंके सामने प्रत्यक्ष विराजमान देख अदिति आदरपूर्वक सहसा खड़ी हो गयी और प्रेमसे विह्वल होकर उसने पृथिवीपर दण्डके समान लोटकर भगवान्‌को प्रणाम किया ॥ ५ ॥ फिर वह खड़ी होकर अञ्जलि बाँधकर भगवान्‌की स्तुति करनेको उद्यत हुई, किन्तु ऐसा करनेमें समर्थ न हुई । उसकी आँखें आनन्दाश्रुओंसे

१. कश्यपादितिसंवादे ।

बभूव तूष्णीं पुलकाकुलाकृति-
स्तद्दर्शनात्युत्सवगात्रवेपथुः ॥ ६ ॥
प्रीत्या शनैर्गद्गदया गिरा हरिं
तुष्टाव सा देव्यदितिः कुरूद्वह ।
उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा
रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ॥ ७ ॥

डबडबाने लगीं, सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चसे पूर्ण हो गया तथा भगवद्दर्शनके उल्लाससे उसमें कम्प होने लगा; अतः वह चुपचाप रह गयी ॥ ६ ॥ हे कुरुनन्दन ! जगन्नाथ यज्ञेश्वर भगवान् रमापतिको अपने नेत्रोंसे मानो पी जायगी इस प्रकार अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक निहारते हुए देवी अदितिने अति प्रीतिपूर्वक मन्द-मन्द स्वरसे भगवान्‌की स्तुति करनी आरम्भ की ॥ ७ ॥

अदितिरुवाच

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य
शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥ ८ ॥
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय
स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने ।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोध-
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥ ९ ॥
आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मी-
र्द्यौर्भूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः ।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टा-
त्त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥ १० ॥

अदिति बोलीं—हे यज्ञेश्वर ! हे यज्ञपुरुष ! हे अच्युत ! हे पवित्रपाद ! हे पवित्रकीर्ते ! हे श्रवण-मात्रसे मंगलकारी नामोंवाले ! हे शरणागत पुरुषोंके दुःख दूर करनेके लिये प्रकट होनेवाले आदिपुरुष ! आप दीनोंके प्रभु हैं, हे भगवन् ! हे ईश ! आप हमारा कल्याण कीजिये ॥ ८ ॥ जो विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण, स्वेच्छासे नाना शक्ति और गुणोंको स्वीकार करनेवाले, भूमा, अपने स्वरूपमें स्थित और निरन्तर बढ़ते हुए पूर्ण बोधसे आत्मान्ध-कारको दूर करनेवाले हैं उन आप विश्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥ ९ ॥ हे अनन्त ! आपके प्रसन्न हो जानेपर तो मनुष्योंको ब्रह्माजीकी परम आयु, इच्छित शरीर, अतुलित ऐश्वर्य, स्वर्ग, पृथिवी और पाताल, सम्पूर्ण योगसिद्धियाँ, अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्ग तथा मोक्षका साधनरूप ज्ञान—ये सभी प्राप्त हो सकते हैं; फिर शत्रुओंपर विजय पाना आदि कामना-ओंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

अदित्यैवं स्तुतो राजन्भगवान्पुष्करेक्षणः ।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति होवाच भारत ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे भारत ! अदितिके इस प्रकार स्तुति करनेपर सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा कमलनयन भगवान् विष्णुने इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

श्रीभगवानुवाच

देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम् ।
यत्सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः ॥ १२ ॥
तान्विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान् ।
प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम् ॥ १३ ॥
इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषाम् ।

श्रीभगवान् बोले—हे देवमातः ! अपने शत्रुओंसे हतश्री और पदच्युत हुए पुत्रोंके विषयमें जो तुम्हारी बहुत दिनोंसे अभिलाषा है वह मैं जानता हूँ ॥ १२ ॥ तुम उन दुर्मद दानवोंको युद्धमें जीतकर विजयलक्ष्मी-सम्पन्न हुए पुत्रोंके साथ रहना चाहती हो ॥ १३ ॥ तुम, जिनमें इन्द्र बड़ा है उन अपने पुत्रोंद्वारा युद्धमें मारे हुए शत्रुओंकी स्त्रियोंको उनके पास आ-आकर

स्त्रियो रुदन्तीरासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दुःखिताः ॥१४॥
आत्मजान्सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशःश्रियः ।
नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि ॥१५॥

प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा
अपारणीया इति देवि मे मतिः ।
यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता
न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति ॥१६॥

अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः
संतोषितस्य व्रतचर्यया ते ।
ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा
श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात् ॥१७॥

त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये
पयोव्रतेनानुगुणं समेधितः ।
स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुता-
न्गोप्तास्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः ॥१८॥

उपधाव पतिं भद्रे प्रजापतिमकल्मषम् ।
मां च भावयती पत्यावेवंरूपमवस्थितम् ॥१९॥
नैतत्परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथंचन ।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम् ॥२०॥

श्रीशुक उवाच

एतावदुक्त्वा भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।
अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा हरेर्जन्मात्मनि प्रभोः ॥२१॥
उपाधावत्पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत् ।
स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत ॥२२॥
प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः ।
सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसंभृतम् ।
समाहितमना राजन्दारुण्यग्निं यथानिलः ॥२३॥
अदितेर्धिष्ठितं गर्भं भगवन्तं सनातनम् ।
हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे गुह्यनामभिः ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

जयोरुगाय भगवन्नुरुक्रम नमोऽस्तु ते ।

रोती हुई देखना चाहती हो ॥१४॥ और तुम्हें अपने खोये हुए यश और वैभवको वापस पाकर पुनः श्रीसम्पन्न हुए पुत्रोंको फिर स्वर्गपर अधिकार जमाकर क्रीडा करते देखनेकी इच्छा है ॥ १५ ॥ हे देवि ! मेरा तो ऐसा विचार है कि वे असुर-यूथपतिगण अभी प्रायः अजेय ही हैं, क्योंकि इस समय वे अपने अनुकूल और समर्थ ब्राह्मण (शुक्राचार्य) से सुरक्षित हैं, उनके प्रति किया हुआ उद्योग इस समय सुखदायक नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ तो भी, हे देवि ! मैं तुम्हारे व्रतसे बहुत सन्तुष्ट हूँ, इसलिये मुझे कोई उपाय सोचना ही होगा । मेरा पूजन व्यर्थ नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह श्रद्धाके अनुकूल फल देनेवाला होता है ॥१७॥ तुमने भी अपने पुत्रोंकी रक्षाके लिये ही यथोचित रीतिसे पयोव्रतद्वारा मेरी पूजा की है । अतः मैं अपने अंशसे पुत्ररूपसे मरीचिनन्दन श्रीकश्यपजीके तपरूप वीर्यमें स्थित होकर तुम्हारे पुत्रोंकी रक्षा करूँगा ॥ १८ ॥ अतः हे भद्रे ! अपने निष्पाप पति कश्यपजीमें मुझे इसी रूपसे विराजमान देखती हुई तुम उनकी सेवा करो ॥ १९ ॥ हे देवि ! इस विषयमें किसीके पूछनेपर भी तुम कुछ मत कहना, क्योंकि देवताओंके सब काम गोपनीय रहनेसे ही भली प्रकार सिद्ध होते हैं ॥ २० ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—ऐसा कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये । तब अदिति यह जानकर कि मेरे गर्भसे प्रभु श्रीहरिका दुर्लभ जन्म होगा कृतकृत्य-सी होकर अति भक्तिपूर्वक पतिकी सेवा करने लगी । इधर अमोघदृष्टि श्रीकश्यपजीने समाधियोगसे अपने शरीरमें श्रीहरिका अंश प्रविष्ट हुआ देखा । हे राजन् ! तब जिस प्रकार वायु [पारस्परिक संघर्षसे] काष्ठमें अग्नि उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार उन्होंने समाहितचित्तसे अदितिके गर्भमें अपना चिरकालसे तपस्याद्वारा सुरक्षित वीर्य स्थापित किया ॥२१–२३॥ अदितिके गर्भमें भगवान् सनातनपुरुषको स्थित जान श्रीब्रह्माजी उनके गुह्य नामोंसे स्तुति करने लगे ॥२४॥

श्रीब्रह्माजी बोले—हे महान् कीर्तिमान् भगवन् ! आपकी जय हो । हे परमपराक्रमी ! आपको नमस्कार

नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः ॥२५॥
नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे।
त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे ॥२६॥
त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्य-
मनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः।
कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं
स्रोतो यथाऽन्तःपतितं गभीरम् ॥२७॥
त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां
प्रजापतीनामसि संभविष्णुः।
दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां
परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु ॥२८॥

है। हे ब्रह्मण्यदेव! हे त्रिगुणनियामक प्रभो! आपको बारम्बार नमस्कार है॥ २५॥ जो पृश्निके पुत्र, वेदोंमें निहित और सबके विधाता हैं; त्रिलोकी जिनके नाभिस्थानमें स्थित है, त्रिलोकीका पृष्ठभागरूप वैकुण्ठ जिनका निवासस्थान है तथा जो सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणमें स्थित हैं उन आप विष्णु भगवान्‌को नमस्कार है॥ २६॥ आप ही इस त्रिभुवनके आदि, अन्त और मध्य हैं; इसीसे शास्त्रमें आपको अनन्तशक्ति पुरुष कहा है। हे ईश! जिस प्रकार स्रोत अपने भीतर पड़े हुए तृण आदिको बहा ले जाता है उसी प्रकार आप कालरूपसे सम्पूर्ण जगत्‌को खींचते हैं॥ २७॥ आप ही चराचर प्रजा और प्रजापतियोंको उत्पन्न करनेवाले हैं, तथा डूबते हुओंको नौकाके समान आप ही स्वर्गच्युत देवताओंके एकमात्र आश्रय हैं॥ २८॥
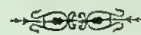
इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे
सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अठारहवाँ अध्याय

वामन भगवान्‌का प्रादुर्भाव और उनका राजा बलिकी यज्ञशालामें पधारना।

श्रीशुक उवाच

इत्थं विरिञ्चस्तुतकर्मवीर्यः
प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम्।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः
पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः॥ १॥
श्यामावदातो झषराजकुण्डल-
त्विषोल्लसच्छ्रीवदनाम्बुजः पुमान्।
श्रीवत्सवक्षा वलयाङ्गदोल्लस-
त्किरीटकाञ्चीगुणचारुनूपुरः॥ २॥
मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया
विराजितः श्रीवनमालया हरिः।
प्रजापतेर्वेश्मतमः स्वरोचिषा
विनाशयन्कण्ठनिविष्टकौस्तुभः॥ ३॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! ब्रह्माजीद्वारा अपने कर्म और वीर्यकी इस प्रकार स्तुति की जानेपर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और पीताम्बरधारी जन्म-मृत्युसे रहित चतुर्भुजमूर्ति भगवान् कमलनयन अदितिके गर्भसे आविर्भूत हुए॥ १॥ उन पुरुषोत्तम भगवान्‌का शरीर श्यामसुन्दर था, उनके मुखकमलकी आभा मकराकृत कुण्डलोंकी कान्तिसे उल्लसित हो रही थी, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न सुशोभित था तथा अन्यान्य अङ्गोंमें कङ्कण, केयूर, किरीट, करधनीकी लड़ियाँ और नूपुर आदि शोभायमान थे॥२॥ श्रीहरि मधुकरनिकरके गुंजारसे युक्त अपनी वनमालासे विभूषित थे तथा उन्होंने गलेमें अपनी कान्तिसे प्रजापति कश्यपजीके घरके अन्धकारको दूर करनेवाली कौस्तुभमणि धारण कर रखी थी॥ ३॥

१. 'भगवदवतारः'।

दिशः प्रसेदुः सलिलाशयास्तदा
प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः ।
द्यौरन्तरिक्षं क्षितिरग्निजिह्वा
गावो द्विजाः संजहृषुर्नगाश्च ॥ ४ ॥

उस समय [भगवान्का प्रादुर्भाव होनेपर] सम्पूर्ण दिशाएँ और जलाशय निर्मल हो गये, प्रजावर्गको अत्यन्त हर्ष हुआ और ऋतुएँ अपने-अपने गुणोंसे युक्त हो गयीं तथा स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, देवता, गौ, द्विज और पर्वत—ये सभी अत्यन्त हर्षित हुए ॥ ४ ॥

श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां मुहूर्तेऽभिजिति प्रभुः ।
सर्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम् ॥ ५ ॥
द्वादश्यां सवितातिष्ठन्मध्यंदिनगतो नृप ।
विजया नाम सा प्रोक्ता यस्यां जन्म विदुर्हरेः ॥ ६ ॥
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवानकाः ।
चित्रवादित्रतूर्याणां निर्घोषस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७ ॥
प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन्गन्धर्वप्रवरा जगुः ।
तुष्टुवुर्मुनयो देवा मनवः पितरोऽग्नयः ॥ ८ ॥
सिद्धविद्याधरगणाः सकिंपुरुषकिन्नराः ।
चारणा यक्षरक्षांसि सुपर्णा भुजगोत्तमाः ॥ ९ ॥
गायन्तोऽतिप्रशंसन्तो नृत्यन्तो विबुधानुगाः ।
अदित्या आश्रमपदं कुसुमैः समवाकिरन् ॥१०॥

हे राजन् ! चन्द्रमाके श्रवण नक्षत्रमें होनेपर श्रवणद्वादशी (भाद्रपद शुक्ला द्वादशी) के दिन अभिजित्-मुहूर्तमें भगवान्ने अवतार लिया । उस समय सभी नक्षत्र और ताराओंने प्रभुके जन्मको मङ्गलमय सूचित किया ॥५॥ हे नृप ! जिस द्वादशीमें भगवान्का अवतार हुआ था वह 'विजया द्वादशी' नामसे भी विख्यात है; उस समय सूर्य मध्याह्नमें स्थित थे ॥ ६ ॥ भगवान्के अवतीर्ण होते ही शङ्ख, दुन्दुभि, मृदङ्ग, पणव और आनक आदि बाजे बजने लगे तथा इन तरह-तरहके बाजों और तूर्य आदिका घनघोर शब्द होने लगा ॥ ७ ॥ अप्सराएँ प्रसन्न होकर नाचने लगीं, गन्धर्वश्रेष्ठोंने गान आरम्भ किया तथा मुनि, देव, मनु, पितृगण और अग्निदेव स्तुति करने लगे ॥ ८ ॥ सिद्ध, विद्याधर, किम्पुरुष, किन्नर, चारण, यक्ष, राक्षस, पक्षी, मुख्य-मुख्य नागगण और देवताओंके अनुचरगण गाते-नाचते एवं अत्यन्त प्रशंसा करते हुए अदितिके आश्रमपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ ९-१० ॥

दृष्ट्वादितिस्तं निजगर्भसंभवं
परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता ।
गृहीतदेहं निजयोगमायया
प्रजापतिश्चाह जयेति विस्मितः ॥११॥
यत्तद्वपुर्भाति[1] विभूषणायुधै-
रव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्धरिः ।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः

उस समय अदिति अपने गर्भसे प्रकट हुए उन परम पुरुषको देखकर अति आश्चर्यचकित और आनन्दित हुई तथा प्रजापति कश्यपजीने भी भगवान्को अपनी योगमायासे शरीर धारण किए देख अति विस्मयपूर्वक 'जय हो' ऐसा कहा ॥ ११ ॥ हे राजन् ! फिर अव्यक्त और चित्स्वरूप श्रीहरिने अपनी योगमायासे जो भूषण और आयुधादिसे शोभायमान व्यक्त रूप धारण किया था उसीसे वे

१. प्राचीन प्रतिमें 'यत्तद्वपुर्भाति···' इस श्लोकके पहले एक श्लोक अधिक है जो इस प्रकार है—'जय जय जगदादेरादिमध्यान्त विष्णो सकलभुवनसृष्टित्राणसंहारहेतो । परमपुरुष पद्म······काराय करुत्वं कनककमलनेत्रानन्त भोगीन्द्रशायिन् ।

संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः ॥१२॥
तं वटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः ।
कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम् ॥१३॥
तस्योपनीयमानस्य सावित्रीं सविताब्रवीत् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मसूत्रं मेखलां कश्यपोऽददात् ॥१४॥
ददौ कृष्णाजिनं भूमिर्दण्डं सोमो वनस्पतिः ।
कौपीनाच्छादनं माता द्यौश्छत्रं जगतः पतेः ॥१५॥
कमण्डलुं वेदगर्भः कुशान्सप्तर्षयो ददुः ।
अक्षमालां महाराज सरस्वत्यव्ययात्मनः ॥१६॥
तस्मा इत्युपनीताय यक्षराट् पात्रिकामदात् ।
भिक्षां भगवती साक्षादुमादादम्बिका सती ॥१७॥
स ब्रह्मवर्चसेनैवं सभां संभावितो वटुः ।
ब्रह्मर्षिगणसंजुष्टामत्यरोचत मारिषः ॥१८॥
समिद्धमाहितं वह्निं कृत्वा परिसमूहनम् ।
परिस्तीर्य समभ्यर्च्य समिद्भिरजुहोद्द्विजः ॥१९॥

श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं
बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः ।
जगाम तत्राखिलसारसंभृतो
भारेण गां सन्नमयन्पदेपदे ॥२०॥
तं नर्मदायास्तट उत्तरे बले-
र्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके ।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं
व्यचक्षतारादुदितं तथा रविम् ॥२१॥
त ऋत्विजो यजमानः सदस्या
हतत्विषो वामनतेजसा नृप ।
सूर्यः किलायात्युत वा विभावसुः

विचित्र लीला करनेवाले नटके समान सबके देखते-देखते वामन (बौने) ब्रह्मचारीरूप हो गये ॥१२॥

उस बौने ब्रह्मचारीको देखकर महर्षियोंने अति आनन्दित हो कश्यप प्रजापतिको आगेकर उसके जातकर्म आदि सब संस्कार कराये ॥ १३ ॥ उनका उपनयन संस्कार होते समय सविता देवताने उन्हें गायत्रीका उपदेश किया, बृहस्पतिजीने यज्ञोपवीत दिया, कश्यपजीने मेखला समर्पण की ॥ १४ ॥ पृथिवीने कृष्णमृगचर्म दिया, वनके स्वामी चन्द्रमाने दण्ड दिया, माताने कौपीन और ओढ़नेका वस्त्र दिया तथा स्वर्गने उन जगत्पतिको छत्र अर्पण किया ॥ १५ ॥ हे महाराज ! इसी प्रकार उन अव्ययात्माको ब्रह्माजीने कमण्डलु, सप्तर्षियोंने कुशा और सरस्वतीने अक्षमाला दी ॥ १६ ॥ यज्ञोपवीत हो जानेपर यक्षपति कुबेरने उन्हें भिक्षाका पात्र दिया तथा सती-शिरोमणि साक्षात् अम्बिका भगवती उमाने भिक्षा दी ॥ १७ ॥ इस प्रकार सम्मानित हो वे श्रेष्ठ वटु वामनजी अपने ब्रह्मतेजके कारण उस ब्रह्मर्षिसेवित सभामें सबसे अधिक देदीप्यमान हुए ॥ १८ ॥ फिर उन द्विजश्रेष्ठने [उपनयनसंस्कारके लिये] स्थापित और प्रज्वलित किये हुए अग्निका परिसमूहन परिस्तरण और पूजन कर उसमें समिधाओंकी आहुति दी ॥ १९ ॥

हे राजन् ! फिर वृद्धिको प्राप्त हुए बलिको भृगुवंशी ब्राह्मणोंद्वारा रचाये हुए अश्वमेध यज्ञद्वारा भगवान्का यजन करते सुन वे सर्वशक्तिसमन्वित हो अपने भारसे पृथिवीको पद-पदपर झुकाते हुए उनके पास गये ॥ २० ॥ तब नर्मदा नदीके उत्तरीय तटपर भृगुकक्ष नामक क्षेत्रमें यज्ञश्रेष्ठ अश्वमेधका अनुष्ठान करते हुए बलिके भृगुगोत्रीय ऋत्विजोंने सूर्यके समान उदित हुए वामन भगवान्को देखा ॥ २१ ॥ हे राजन् ! वामनजीके तेजसे निस्तेज हुए वे ऋत्विज, यजमान और सदस्यगण सोचने लगे कि 'क्या ये साक्षात् सूर्य, अग्नि अथवा

१. यात्यथवा ।

सनत्कुमारोऽथ दिदृक्षया क्रतोः ॥२२॥
इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा
वितर्क्यमाणो भगवान्स वामनः ।
छत्रं[1] सदण्डं सजलं कमण्डलुं
विवेश बिभ्रद्धयमेधवाटम् ॥२३॥
मौञ्ज्या मेखलया वीतमुपवीताजिनोत्तरम् ।
जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरिम् ॥२४॥
प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः सशिष्यास्ते सहाग्निभिः ।
प्रत्यगृह्णन्समुत्थाय संक्षिप्तास्तस्य तेजसा ॥२५॥
यजमानः प्रमुदितो दर्शनीयं मनोरमम् ।
रूपानुरूपावयवं तस्मा आसनमाहरत् ॥२६॥
स्वागतेनाभिनन्द्याथ पादौ भगवतो बलिः ।
अवनिज्यार्चयामास मुक्तसङ्गं मनोरमम् ॥२७॥
तत्पादशौचं जनकल्मषापहं[2]
स[3] धर्मविन्मूर्ध्न्यदधात्सुमङ्गलम् ।
यद्देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलि-
र्दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या ॥२८॥

सनत्कुमारजी ही यज्ञ देखनेके लिये पधारे हैं !' ॥२२॥ अपने शिष्योंसहित भृगुपुत्रोंके इसी प्रकार तरह-तरहसे तर्कना करते हुए भगवान् वामनजी छत्र, दण्ड और जलसे भरा हुआ कमण्डलु लिये अश्वमेध यज्ञके मण्डपमें पधारे ॥ २३ ॥ तदनन्तर जिन्होंने मूँजकी मेखला, यज्ञोपवीत और कृष्णमृगचर्म धारण किया था तथा जो मायासे बटुरूप धारणकर आये थे उन जटाधारी वामन ब्राह्मणरूप श्रीहरिको आये देखकर उनके तेजसे प्रभावित हो भृगुपुत्रोंने शिष्य और अग्नियोंके सहित उठकर उनका सत्कार किया ॥ २४-२५ ॥ भगवान्‌के उस रूपके अनुरूप अवयवोंवाले अति मनोहर और दर्शनीय विग्रहको देख यजमान (बलि) ने अति प्रसन्नतापूर्वक उन्हें आसन दिया ॥ २६ ॥ फिर स्वागतोक्तियोंसे भगवान्‌का अभिनन्दन कर राजा बलिने चरण धोकर उन निःसंग और मनोरम प्रभुका पूजन किया ॥ २७ ॥ तदनन्तर धर्मज्ञ दैत्यराजने जीवोंके पापोंको दूर करनेवाले उस मंगलमय चरणोदकको, जिसे देवाधिदेव चन्द्रशेखर भगवान् शंकरने अत्यन्त भक्तिभावसे शिरपर धारण किया है, अपने मस्तकपर रक्खा ॥ २८ ॥

बलिरुवाच

स्वागतं ते नमस्तुभ्यं ब्रह्मन्किं करवाम ते ।
ब्रह्मर्षीणां तपः साक्षान्मन्ये त्वार्य वपुर्धरम् ॥२९॥
अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम् ।
अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद्भवानागतो गृहान् ॥३०॥
अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि
द्विजात्मज त्वच्चरणावनेजनैः ।
हतांहसो वार्भिरियं च भूरहो
तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव ॥३१॥
यद्यद्बटो वाञ्छसि तत्प्रतीच्छ मे
त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये ।
गां काञ्चनं गुणवद्धाम[4] मृष्टं
तथान्नपेयमुत वा विप्रकन्याम् ।

बलि बोले—हे ब्रह्मन् ! आप भले आये, आपको नमस्कार है । कहिये, मैं आपका क्या कार्य करूँ । हे आर्य ! मैं तो आपको साक्षात् ब्रह्मर्षियोंका मूर्तिमान् तप ही समझता हूँ ॥ २९ ॥ आज आप हमारे घर आये हैं; इसलिये आज हमारे पितृगण तृप्त हो गये, हमारा कुल पवित्र हो गया और यह यज्ञ भली प्रकार निष्पन्न हो गया ॥ ३० ॥ हे विप्रकुमार ! आपके पाद-प्रक्षालनसे निष्पाप हो जानेके कारण आज मैंने विधि-पूर्वक अग्नियोंमें आहुतियाँ दे लीं; अहो ! इस चरणोदक और आपके इन नन्हें-नन्हें चरणोंसे यह भूमि पवित्र हो गयी ॥ ३१ ॥ हे ब्राह्मणकुमार ! मुझे आप अर्थी जान पड़ते हैं; अतः हे परमपूज्य वटो ! गौ, सुवर्ण, सामग्री-सहित गृह, पवित्र अन्न, जल, विप्रकन्या, सम्पत्तिमान्

१. सदण्डछत्रं । २. कुलकल्म० । ३. स्वधर्मविन्मू० । ४. गुणवद्वाथ धाम ।

ग्रामान्समृद्धांस्तुरगान्गजान्वा
रथांस्तथार्हत्तम सम्प्रतीच्छ ॥३२॥

ग्राम, घोड़े, हाथी अथवा रथ जिस वस्तुकी आपको इच्छा हो वही माँग लीजिये ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे
बलिवामनसंवादेऽष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

उन्नीसवाँ अध्याय

वामन भगवान्‌का राजा बलिसे तीन पग पृथिवी माँगना ।

श्रीशुक उवाच

इति वैरोचनेर्वाक्यं धर्मयुक्तंससूनृतम् ।
निशम्य भगवान्प्रीतः प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतं
कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम् ।
यस्य प्रमाणं भृगवः सांपराये
पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः ॥ २ ॥

न ह्येतस्मिन्कुले कश्चिन्निःसत्त्वः कृपणः पुमान् ।
प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वादाता द्विजातये ॥ ३ ॥

न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनार्थिताः
पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृपाः ।
युष्मत्कुले[2] यद्यशसामलेन
प्रह्लाद उद्भाति यथोडुपः खे ॥ ४ ॥

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम् ।
प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः ॥ ५ ॥

यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्ष्मोद्धार आगतम् ।
नात्मानं[3] जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन् ॥ ६ ॥

निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! राजा बलिके ये धर्मयुक्त और सुमधुर वचन सुन भगवान्‌ने अति प्रसन्न हो उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे नरदेव ! तुम्हारे ये कीर्तिशाली धर्मयुक्त और सुमधुर वचन तुम्हारे कुलके योग्य ही हैं, जिसमें पारलौकिक धर्ममें भृगुपुत्र, शुक्राचार्यजी और तुम्हारे कुलवृद्ध शान्तिमय पितामह प्रह्लादजी प्रमाणस्वरूप हुए हैं ॥ २ ॥ अहा ! इस कुलमें ऐसा निःसत्व और कृपण पुरुष तो कोई भी नहीं हुआ जिसने किसी ब्राह्मणकी याचनाको ठुकरा दी हो अथवा किसीके लिये भी एक बार देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर नहीं दिया हो ॥ ३ ॥ देखो, जिस प्रकार आकाशमें चन्द्रमा प्रकाशित होता है उसी प्रकार जिस कुलमें श्रीप्रह्लादजी अपने निर्मल सुयशसे देदीप्यमान हो गये हैं उस आपके कुलमें ऐसे धैर्यहीन राजा कोई नहीं हुए जो तीर्थ अथवा युद्धस्थलमें [धन अथवा युद्धके] अर्थियोंद्वारा याचना की जानेपर कभी पीछे हटे हों ॥ ४ ॥ जिस कुलमें हिरण्याक्षका जन्म हुआ, जिसे दिग्विजयके लिये गदा लेकर अकेले ही इस सम्पूर्ण भूमण्डलमें घूमते रहनेपर भी कोई प्रतिपक्षी वीर नहीं मिला ॥ ५ ॥ जिसे पृथिवीका उद्धार करते समय अपने सामने आनेपर [वराहरूपधारी] श्रीविष्णुभगवान्‌ने भी बड़ी कठिनतासे परास्त किया और उसके महान् पराक्रमका स्मरण कर अपनेको कुछ विजयी नहीं माना ॥ ६ ॥ जब उसके वधका समाचार पाकर उसका भाई हिरण्यकशिपु क्रोधित

१. महीं तुरङ्गानिभयूथपान् वा रथानतो वार्हत्त० । २. यस्मिन्कुले । ३. आत्मानं वञ्चितं ।

हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः ॥ ७ ॥
तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत् ।
चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः ॥ ८ ॥
यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव ।
अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि पराग्दृशः ॥ ९ ॥

एवं स निश्चित्य रिपोः शरीर-
माधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र ।
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेह-
स्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः ॥१०॥

स तन्निकेतं परिमृश्य शून्य-
मपश्यमानः कुपितो ननाद ।
क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान्समुद्रा-
न्विष्णुं विचिन्वन्न ददर्श वीरः ॥११॥

अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत् ।
भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्तते पुमान्[2] ॥१२॥
वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनाम् ।
अज्ञानप्रभवो मन्युरहंमानोपबृंहितः ॥१३॥
पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान्द्विजवत्सलः ।
स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात्स याचितः॥१४॥
भवानाचरितान्धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः ।
ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोद्दामकीर्तिभिः ॥१५॥
तस्मात्त्वत्तो महीमीषद्वृणेऽहं वरदर्षभात् ।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र संमतानि पदा मम ॥१६॥

होकर अपने भाईकी हत्या करनेवालेका वध करनेके लिये श्रीहरिके निवासस्थानको गया तो उसे हाथमें त्रिशूल लिये कालके समान आता देख समयको समझनेवाले मायावियोंमें श्रेष्ठ श्रीविष्णु भगवान्‌ने सोचा—॥ ७-८ ॥ 'मृत्यु जिस प्रकार प्राणियोंके पीछे फिरा करती है उसी प्रकार यह बाह्यदर्शी दैत्य भी जहाँ-जहाँ मैं जाऊँगा वहीं मेरा अनुगमन करेगा; इसलिये मैं इसके हृदयमें प्रवेश किये जाता हूँ' ॥ ९ ॥ हे दैत्यराज ! ऐसा निश्चय कर वे विष्णुभगवान् भी, जिनका हृदय [भयके कारण] अत्यन्त काँप रहा था, अपनी ओर दौड़कर आते हुए अपने शत्रु हिरण्यकशिपुके शरीरमें, जो श्वासवायुमें ही लीन हो जाय ऐसा सूक्ष्म शरीर धारण कर प्रविष्ट हो गये ॥ १० ॥ तब उस सूने स्थानमें सब ओरसे ढूँढ़नेपर भी विष्णुभगवान्‌को न पाकर वह क्रोधपूर्वक गरजने लगा । उस वीरने पृथिवी, स्वर्ग, दिशा, आकाश, सातों पाताल और समुद्रमें सर्वत्र ढूँढ़नेपर भी विष्णुको नहीं पाया ॥ ११ ॥ इस प्रकार उन्हें न देख पानेपर वह कहने लगा—'मैंने सारा जगत् छान डाला, माल्रम होता है मेरे भाईको मारनेवाला निश्चय ही उस लोकको चला गया है जहाँ गया हुआ जीव फिर नहीं लौटता ॥ १२ ॥ सो, देहधारियोंका वैरानुबन्ध तो तभीतक रहता है, जबतक उसकी मृत्यु नहीं हो जाती । क्रोध तो अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला है और उसकी वृद्धि अहङ्कारसे होती है' ॥१३॥ तुम्हारे पिता प्रह्लादपुत्र विरोचन भी ऐसे ब्राह्मणभक्त थे कि उन्होंने जान-बूझकर भी ब्राह्मणवेषधारी देवताओंको, उनके याचना करनेपर अपनी आयु दे दी ॥ १४ ॥ आप भी शुक्राचार्यादि गृहस्थ ब्राह्मण, प्रह्लादादि अपने पूर्वज तथा अन्य कीर्तिशाली शूरवीरोंद्वारा आचरण किये हुए धर्मोंमें ही स्थित हैं ॥ १५ ॥ अतः हे दैत्येन्द्र ! वरदानियोंमें श्रेष्ठ आपसे मैं थोड़ी-सी पृथिवी माँगता हूँ, जो मेरे ही पगोंसे नापी हुई तीन डगमात्र हो ॥ १६ ॥

१. विदां वरः । २. पुनः ।

नान्यत्ते कामये राजन्वदान्याज्जगदीश्वरात् ।
नैनः प्राप्नोति वै विद्वान्यावदर्थप्रतिग्रहः ॥१७॥

हे राजन् ! तुम बड़े उदार और सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी हो, किन्तु मुझे इसके सिवा और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं है, क्योंकि केवल अपनी आवश्यकतानुसार दान स्वीकार करनेवाले विद्वान्‌को किसी प्रकारका पाप नहीं लगता ॥ १७ ॥

बलिरुवाच

अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसंमताः ।
त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा ॥१८॥
मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम् ।
पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान्द्वीपदाशुषम्[1] ॥१९॥
न पुमान्मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति ।
तस्माद्वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे ॥२०॥

राजा बलिने कहा—हे ब्राह्मणकुमार ! तुम्हारी बातें तो वृद्ध पुरुषोंकी-सी हैं; परन्तु अभी तुम बालक हो, इसलिये तुम्हारी बुद्धि भी बच्चोंकी-सी ही है, क्योंकि तुम्हें अपने स्वार्थका कुछ भी पता नहीं है ॥ १८ ॥ सम्पूर्ण त्रिलोकीके एकमात्र अधिपति और द्वीपोंका दान करनेमें भी समर्थ मुझको स्तुतियोंसे प्रसन्न करके जो तुम केवल तीन पग पृथिवी माँगते हो—इससे बुद्धिहीन ही जान पड़ते हो ॥ १९ ॥ हे वटो ! किसी भी पुरुषको एक बार मेरे पास याचना करनेके लिये आकर फिर अन्यत्र माँगनेकी आवश्यकता नहीं रहनी चाहिये; इसलिये तुम मुझसे इच्छानुसार आजीविका चलानेयोग्य पृथिवी माँग लो ॥ २० ॥

श्रीभगवानुवाच

यावन्तो विषयाः प्रेष्ठास्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम्[2] ।
न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप ॥२१॥
त्रिभिः क्रमैरसंतुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते ।
नववर्षसमेतेन सप्तद्वीपवरेच्छया ॥२२॥
सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैन्यगयादयः ।
अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम् ॥२३॥
यदृच्छयोपपन्नेन संतुष्टो वर्तते सुखम् ।
नासंतुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः ॥२४॥
पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसंतोषोऽर्थकामयोः ।
यदृच्छयोपपन्नेन संतोषो मुक्तये स्मृतः ॥२५॥
यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्धते ।
तत्प्रशाम्यत्यसंतोषादम्भसेवाशुशुक्षणिः ॥२६॥

श्रीभगवान् बोले—हे राजन् ! त्रिलोकीमें जितने भी प्रियतम विषय हैं वे सब मिलकर भी अजितेन्द्रिय पुरुषोंके मनोरथोंको पूर्ण नहीं कर सकते ॥२१॥ जो पुरुष तीन पग पृथिवीसे सन्तुष्ट नहीं है वह सातों द्वीपों-की इच्छा रहनेके कारण नववर्षविशिष्ट एक द्वीपसे भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता ॥२२॥ हमने सुना है कि पृथु और गय आदि राजालोग सातों द्वीपके स्वामी होकर भी धन और भोगोंके संग्रहसे तृष्णाको पार नहीं कर सके ॥२३॥ जो कुछ प्रारब्धवश मिल जाय उसीसे सन्तुष्ट रहनेवाला पुरुष सदा सुखी रहता है, किन्तु असन्तुष्ट रहनेवाला अजितेन्द्रिय पुरुष तीनों लोक मिलनेपर भी सुख नहीं पा सकता ॥२४॥ अर्थ और कामसे सन्तोष न होना ही पुरुषके जन्म-मरणरूप संसारका कारण है तथा अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थोंसे सन्तुष्ट रहना ही उसके मोक्षका कारण कहा गया है ॥२५ ॥ जो ब्राह्मण यदृच्छालाभमें सन्तुष्ट रहता है उसके तेजकी वृद्धि होती है और असन्तोषसे वह तेज उसी प्रकार शान्त हो जाता है जैसे जलसे अग्नि ॥२६॥

१. द्विपदाशुषम् । २. श्रेष्ठाः ।

तस्मात्त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद्वरदर्षभात्[1] ।
एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत्प्रयोजनम् ॥२७॥

इसलिये आप वरदशिरोमणिसे मैं केवल तीन पग भूमि ही माँगना चाहता हूँ। इतनेहीसे मेरा कार्य पूर्ण हो जायगा, क्योंकि अपनी आवश्यकताके अनुसार ही अर्थसंग्रह करना ठीक होता है ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तः स हसन्नाह वाञ्छातः प्रतिगृह्यताम् ।
वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम् ॥२८॥
विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम् ।
जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः॥२९॥

श्रीशुकदेवजी बोले—भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर बलिने हँसते हुए कहा—'अच्छा, तुम्हारी जैसी इच्छा है वही लो।' [ऐसा कहकर] उन्होंने वामन भगवान्‌को पृथिवी देनेके लिये जलका पात्र उठाया ॥ २८ ॥ तब ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ शुक्राचार्यजीने 'भगवान् क्या करना चाहते हैं' यह जानकर उन्हें पृथिवीदान करते हुए अपने शिष्य दैत्यराज बलिसे कहा ॥२९॥

शुक्र उवाच

एष वैरोचने साक्षाद्भगवान्विष्णुरव्ययः ।
कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः ॥३०॥
प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता ।
न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः ॥३१॥
एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम् ।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥३२॥
त्रिविक्रमैरिमाँल्लोकान्[2]विश्वकायः क्रमिष्यति ।
सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ॥३३॥
क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः ।
खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः ॥३४॥
निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम् ।
प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान् ॥३५॥
न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते ।
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः ॥३६॥

शुक्राचार्यजी बोले—हे विरोचनपुत्र ! ये कश्यपके वीर्यसे अदितिके गर्भमें उत्पन्न हुए देवताओंका कार्य सिद्ध करनेवाले साक्षात् अव्यय भगवान् विष्णु हैं ॥३०॥ तुमने भावी अनर्थको न जानकर जो इन्हें पृथिवी देना स्वीकार कर लिया है उसे मैं अच्छा नहीं समझता; इससे दैत्योंके प्रति बड़ा अन्याय होनेवाला है ॥३१॥ ये मायावामनरूप विष्णु तुम्हारा स्थान, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, तेज और विश्वविख्यात सुयश छीनकर उन्हें इन्द्रको दे देंगे ॥३२॥ ये विश्वरूप होकर तीन ही पगमें सम्पूर्ण त्रिलोकीको माप लेंगे। रे मूढ ! इस प्रकार विष्णुको अपना सर्वस्व देकर तू किस प्रकार अपना निर्वाह करेगा ? ॥३३॥ ये विश्वव्यापक भगवान् अपने एक पगसे पृथिवी, दूसरेसे स्वर्ग और विशाल विग्रहसे आकाशको व्याप्त कर लेंगे; फिर तीसरे पगकी भी क्या गति होगी ? ॥३४॥ इस प्रकार मैं तो समझता हूँ कि प्रतिज्ञा की हुई वस्तु न दे सकनेके कारण तुम्हें नरकहीमें जाना पड़ेगा, क्योंकि तुमने जो प्रतिज्ञा की है उसे पूर्ण करनेमें तुम समर्थ नहीं हो सकोगे ॥३५॥ जिससे अपनी आजीविका भी नष्ट हो जाय उस दानकी पण्डितजन प्रशंसा नहीं करते, क्योंकि लोकमें आजीविकायुक्त पुरुष ही दान, यज्ञ, तप और कर्मोंका अनुष्ठान कर सकते हैं ॥३६॥

१. र्षभ । २. लोकान् द्विजका० ।

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥३७॥
अत्रापि बह्वृचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम ।
सत्यमोमिति यत्प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत् ॥३८॥
सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते ।
वृक्षेऽजीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः ॥३९॥
तद्यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्वर्ततेऽचिरात् ।
एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः ॥४०॥
पराग्रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत्तदोमिति ।
यत्किञ्चिदोमिति ब्रूयात्तेन रिच्येत वै पुमान् ।
भिक्षवे सर्वमोंकुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥४१॥
अथैतत्पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः ।
सर्वं नेत्यनृतं[1] ब्रूयात्स दुष्कीर्तिः श्वसन्मृतः ॥४२॥
स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे ।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥४३॥

जो मनुष्य अपने धनका पाँच प्रकारसे विभाग करके [उसे पृथक्-पृथक्] धर्म, यश, अर्थवृद्धि, भोग और स्वजनोंके लिये व्यय करता है वह इहलोक और परलोक दोनों जगह सुख पाता है ॥३७॥ [अब यदि तुम्हें यह चिन्ता हो कि मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, उसका उल्लङ्घन करके मिथ्या भाषणका अपराध कैसे कर सकता हूँ तो] हे असुर-श्रेष्ठ ! इस सत्य-मिथ्याके विषयमें भी ऋग्वेदकी श्रुतियोंने जैसा कहा है वह सुनो—लोकमें जो 'ॐ' ऐसा कहकर स्वीकार किया जाय वह सत्य है और जो 'न' ऐसा कहा जाय वही असत्य है ॥३८॥ उस श्रुतिमें कहा है कि सत्यको इस देहरूप वृक्षका पुष्प और फल समझे; उस वृक्षके न रहनेपर वे भी नहीं रह सकते और देहका मूल असत्य ही है ॥३९॥ जिस प्रकार जड़ कट जानेपर वृक्ष शीघ्र ही सूखकर गिर पड़ता है इसी प्रकार जिसका असत्य नष्ट हो गया है वह शरीर तत्काल सूख जाता है—इसमें सन्देह नहीं ॥४०॥ * ॐ (हाँ देंगे) यह अक्षर तो धनको दूर ले जानेवाला है; इसलिये यह अक्षर अपूर्ण अर्थात् दाताको धनसे खाली कर देनेवाला है । जो पुरुष 'ॐ' (हाँ दूँगा) ऐसा कहता है वह धनसे खाली हो जाता है । भिक्षुको अपना सर्वस्व दान करना स्वीकार करनेवाला पुरुष अपने भोगोंको सुरक्षित रखनेमें भी समर्थ नहीं होता ॥४१॥ इसके विपरीत 'नहीं' ऐसा जो मिथ्या वचन है वह अपनेको पूर्ण (धनधान्यसम्पन्न) करनेवाला है; किन्तु जो पुरुष सर्वदा 'नहीं' (मेरे पास कुछ नहीं है—मैं नहीं दूँगा) ऐसा अनृतभाषण ही करता रहता है वह दुष्कीर्तिमान् होता है और श्वास लेते हुए भी मरेके समान है ॥४२॥ अतः हे राजन् ! स्त्रियोंको अपने अधीन रखनेमें, हास-परिहासमें, विवाहमें [वर आदिकी स्तुति करते समय], आजीविकाकी रक्षाके लिये, प्राणसंकट उपस्थित होनेपर, गौ या ब्राह्मणोंके हितके लिये और किसीकी हिंसा होते समय असत्यभाषण करना निन्दनीय नहीं है ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे वामन[2]प्रादुर्भावे
एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

१. नेत्यतिथिं । २. नानुचरिते एकोनविंशतितमो ।

* केवल सत्यभाषणसे तो शरीरका निर्वाह भी नहीं हो सकता—यह दिखानेके लिये सत्यके दोष और असत्यके गुण बतलाते हैं ।

बीसवाँ अध्याय

बलिका तीन पग पृथिवी-दान और वामन भगवान्‌का विश्वरूप धारण करना ।

श्रीशुक उवाच

बलिरेवं गृहपतिः कुलाचार्येण भाषितः ।
तूष्णीं भूत्वा क्षणं राजन्नुवाचावहितो गुरुम् ॥ १ ॥

बलिरुवाच

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम् ।
अर्थं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित् ॥ २ ॥
स चाहं वित्तलोभेन[1] प्रत्याचक्षे कथं द्विजम् ।
प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा ॥ ३ ॥
न ह्यसत्यात्परोऽधर्म इति होवाच भूरियम् ।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥ ४ ॥
नाहं बिभेमि निरयान्नाधन्यादसुखार्णवात् ।
न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रप्रलम्भनात् ॥ ५ ॥
यद्यद्धास्यति लोकेऽस्मिन्संपरेतं धनादिकम् ।
तस्य त्यागे निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत् ॥ ६ ॥
श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः ।
दध्यङ्शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु ॥ ७ ॥
यैरियं बुभुजे ब्रह्मन्दैत्येन्द्रैरनिवर्तिभिः ।
तेषां कालोऽग्रसील्लोकान्न यशोऽधिगतं भुवि ॥ ८ ॥
सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः ।
न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥ ९ ॥
मनस्विनः कारुणिकस्य शोभनं
यदर्थिकामोपनयेन दुर्गतिः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! कुलगुरु शुक्राचार्यजीके इस प्रकार कहनेपर गृहस्थ राजा बलिने एक क्षण चुप रहकर फिर सावधानतापूर्वक यों कहा ॥१॥

राजा बलि बोले—भगवन्! आपने जो कहा कि गृहस्थोंका धर्म वही है जिससे कभी अर्थ, काम, यश एवं आजीविकामें बाधा न पड़े सो ठीक ही है ॥ २ ॥ किन्तु मैं प्रह्लादनन्दन विरोचनका पुत्र होकर ब्राह्मणसे 'दूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर धूर्त या कृपणके समान धनका लोभ करके कैसे इनकार कर सकता हूँ? ॥३॥ इस पृथिवीने भी कहा है कि 'असत्यसे बढ़कर और कोई अधर्म नहीं है, मैं असत्यपरायण पुरुषके सिवा और सभीको धारण करनेमें समर्थ हूँ' ॥ ४ ॥ और मैं भी ब्राह्मणकी वञ्चना करनेसे जितना भय मानता हूँ उतना नरकसे, दुःखकी समुद्ररूप दरिद्रतासे, पदच्युतिसे और मृत्युसे भी नहीं डरता ॥५॥ इस लोकमें जो धनादि मरनेपर इस जीवको एक दिन अवश्य छोड़ देंगे उन्हें जीवितावस्थामें ही स्वतः त्याग देनेमें कारणका क्या विचार करना है? यदि दिये हुए दानसे ब्राह्मण सन्तुष्ट नहीं हुआ तो ऐसे दानसे क्या लाभ है? ॥६॥ हे ब्रह्मन्! दधीचि और शिबि आदि साधुजनोंने तो अपने दुस्त्यज प्राण निछावर करके भी प्राणियोंका हित किया है फिर पृथिवी आदि देनेके विषयमें तो सोचना ही क्या है? ॥ ७ ॥ युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले जिन दैत्यराजोंने इस भूमिको भोगा है उनके [ऐहिक और आमुष्मिक] लोकोंको तो कालने ग्रस लिया किन्तु यश पृथिवीसे लुप्त नहीं हुआ ॥ ८ ॥ हे ब्रह्मर्षे! लोकमें युद्धमें पीठ न दिखाकर अपने प्राण त्याग करनेवाले तो बहुत मिलते हैं किन्तु पात्रके उपस्थित होनेपर श्रद्धापूर्वक धन-दान करनेवाले वैसे सुलभ नहीं हैं ॥ ९ ॥ हे गुरो! जब कि धीर और करुणामय पुरुषको जिस-तिस याचककी याचना पूर्ण करनेमें प्राप्त हुई दुर्गति भी कल्याणकारिणी होती

[1] वृत्तिलोभेन ।

कुतः पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशां
ततो वटोरस्य ददामि वाञ्छितम्॥१०॥
यजन्ति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता
भवन्त आम्नायविधानकोविदाः।
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो
दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने॥११॥
यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम्।
तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम्॥१२॥
एष वा उत्तमश्लोको न जिहासति यद्यशः।
हत्वा मैनां हरेद्युद्धे शयीत निहतो मया॥१३॥

है तब आप-जैसे ब्रह्मवेत्ताओंकी कामनापूर्तिसे प्राप्त हुई दरिद्रताके लिये तो कहना ही क्या है? इसलिये मैं इस वटुकी इच्छित वस्तु अवश्य दूँगा॥१०॥ हे मुने! वेदविधिको जाननेवाले आपलोग यज्ञोंद्वारा जिनका आदरपूर्वक यजन करते हैं, ये ब्राह्मणकुमार वे ही वरदायक विष्णुभगवान् हों अथवा कोई और हों, मैं इन्हें इनकी माँगी हुई पृथिवी अवश्य दूँगा॥११॥ यदि [मेरा सर्वस्व हरण करके] मुझ निरपराधको ये अधर्मपूर्वक बाँध भी लें, तो भी मैं इनका वध नहीं करूँगा, क्योंकि मेरे शत्रु होकर इन्होंने भयवश ब्राह्मणका रूप धारण किया है॥१२॥ और यदि ये पवित्रकीर्ति विष्णुभगवान् ही हैं तो अपना सुयश नहीं छोड़ेंगे। ये [याचना पूर्ण न होनेपर यदि चाहें तो] युद्धमें मुझे मार कर इस पृथिवीको हर लेंगे अथवा [यदि दूसरे कोई होंगे तो ये ही] मुझसे मारे जाकर युद्धस्थलमें शयन करेंगे॥१३॥

श्रीशुक उवाच

एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः।
शशाप दैवप्रहितः सत्यसन्धं मनस्विनम्॥१४॥
दृढं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया।
मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद्भ्रश्यसे श्रियः॥१५॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! तब विधाताकी प्रेरणासे गुरु शुक्राचार्यने इस प्रकार अपने ऊपर अश्रद्धा करनेवाले और अपनी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले उस सत्यपरायण और मनस्वी शिष्यको शाप दे दिया॥१४॥ "अरे! तू अज्ञानी और मूढ़मति होकर भी अपनेको बड़ा पण्डित माननेवाला है; तूने उपेक्षा करते हुए हमारी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है, इसलिये तू शीघ्र ही ऐश्वर्यभ्रष्ट हो जायगा"॥१५॥

एवं शप्तः स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान्।
वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम्[1]॥१६॥
विन्ध्यावलिस्तदागत्य पत्नी जालकमालिनी।
आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां भृतम्॥१७॥
यजमानः स्वयं तस्य श्रीमत्पादयुगं मुदा।
अवनिज्यावहन्मूर्ध्नि तदपो विश्वपावनीः॥१८॥

गुरुके इस प्रकार शाप देनेपर भी महात्मा बलि सत्यसे विचलित नहीं हुआ और वामनभगवान्‌का पूजन-कर हाथमें जल लेकर संकल्प पढ़ते हुए उन्हें पृथिवी दान कर दी॥१६॥ इसी समय वहाँ मोतियोंके आभरण और मालाओंसे विभूषिता राजपत्नी विन्ध्यावली आयी और उसने राजाको पैर धोनेके लिये जलसे भरा हुआ सोनेका कलश लाकर दिया॥१७॥ तब यजमानने अति प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही उनके श्रीसम्पन्न चरणयुगल धोकर वह त्रिलोकपावन चरणोदक अपने मस्तकपर रखा॥१८॥

तदासुरेन्द्रं दिवि देवतागणा
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः।

उस समय आकाशमें स्थित हुए सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध और चारणगण राजा बलिके

१. वेतामर्चित्वोदकपूर्विकाम्।

तत्कर्म सर्वेऽपि गृणन्त आर्जवं
प्रसूनवर्षैर्ववृषुर्मुदान्विताः ॥१९॥
नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयः सहस्रशो
गन्धर्वकिंपूरुषकिन्नरा जगुः।
मनस्विनानेन कृतं सुदुष्करं
विद्वानदाद्यद्रिपवे जगत्त्रयम् ॥२०॥
तद्वामनं रूपमवर्धताद्भुतं
हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम्।
भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधय-
स्तिर्यङ्नृदेवा ऋषयो यदासत ॥२१॥
काये बलिस्तस्य महाविभूतेः
सहर्त्विगाचार्यसदस्य एतत्।
ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके
भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम् ॥२२॥
रसामचष्टाङ्घ्रितलेऽथ पादयो-
र्महीं महीध्रान्पुरुषस्य जङ्घयोः।
पतत्त्रिणो जानुनि विश्वमूर्ते-
रूर्वोर्गणं मारुतमिन्द्रसेनः ॥२३॥
सन्ध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत्
प्रजापतीञ्जघने आत्ममुख्यान्।
नाभ्यां नभः कुक्षिषु सप्तसिन्धू-
नुरुक्रमस्योरसि चर्क्षमालाम् ॥२४॥
हृद्यङ्ग धर्मं स्तनयोर्मुरारे-
ऋतं च सत्यं च मनस्यथेन्दुम्।
श्रियं च वक्षस्यरविन्दहस्तां
कण्ठे च सामानि समस्तरेफान् ॥२५॥
इन्द्रप्रधानानमरान्भुजेषु
तत्कर्णयोः ककुभो द्यौश्च मूर्ध्नि।
केशेषु मेघाञ्छ्वसनं नासिकाया-
मक्ष्णोश्च सूर्यं वदने च वह्निम् ॥२६॥
वाण्यां च छन्दांसि रसे जलेशं
भ्रुवोर्निषेधं च विधिं च पक्ष्मसु।
अहश्च रात्रिं च परस्य पुंसो
मन्युं ललाटेऽधर एव लोभम् ॥२७॥
स्पर्शे च कामं नृप रेतसाम्भः
पृष्ठे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम्।

इस विचित्र कर्म और आर्जव (सरलता) का बखान करते हुए अति आनन्दित हो उनपर फूल बरसाने लगे ॥१९॥ तब बारम्बार सहस्रों दुन्दुभियोंका शब्द होने लगा तथा गन्धर्व, किम्पुरुष और किन्नरगण 'अहो ! इस मनस्वी दैत्यराजने जान-बूझकर भी अपने शत्रुको त्रिलोकी दे डाली—यह बड़ा ही दुष्कर कार्य किया है, ऐसा कहकर गान करने लगे ॥२०॥ फिर देखते-ही-देखते भगवान् अनन्तका वह त्रिगुणात्मक वामनरूप विचित्र ढंगसे बढ़ने लगा; और पृथिवी, आकाश, दिशा, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पक्षी, मनुष्य, देवता एवं ऋषिगण ये सब-के-सब उसीमें समा गये ॥२१॥ उन महाविभूति भगवान्के उस गुणमय शरीरमें ऋत्विक्, आचार्य और सदस्योंके सहित महाराज बलिने भूत, इन्द्रिय, विषय, अन्तःकरण और जीवोंके सहित यह सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत् देखा ॥२२॥ राजा बलिने विश्वरूप भगवान्के चरणतलमें रसातल, चरणोंमें पृथिवी, जंघाओंमें पर्वत, जानुओंमें पक्षिगण तथा उरुओंमें मरुद्गण (वायु) को देखा ॥२३॥ इसी प्रकार भगवान् उरुक्रमके वस्त्रोंमें सन्ध्या, गुह्यदेशमें प्रजापतिगण, जघनस्थलमें अपने सहित सब असुरगण, नाभिमें आकाश, कुक्षिमें सातों समुद्र, उरःस्थलमें नक्षत्रमाला, हृदयमें धर्म, स्तनोंमें ऋत और सत्य, मनमें चन्द्रमा, वक्षःस्थलमें पद्महस्ता लक्ष्मीजी, कण्ठमें सामश्रुति और सम्पूर्ण शब्द, भुजाओंमें इन्द्रादि समस्त देवगण, कानोंमें दिशाएँ, मस्तकमें स्वर्ग, केशोंमें मेघमाला, नासिकामें वायु, नेत्रोंमें सूर्य, मुखमें अग्नि, वाणीमें वेद, रसनामें वरुण, भृकुटियोंमें विधि और निषेध, पलकोंमें दिन और रात, ललाटमें क्रोध, अधरमें लोभ, स्पर्शमें काम, वीर्यमें जल, पृष्ठभागमें अधर्म,

१. र्वविद्याधरकिन्न० । २. चर्षिं० ।

छायासु मृत्युं हसिते च मायां
तनूरुहेष्वोषधिजातयश्च ॥२८॥
नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु
बुद्धावजं देवगणानृषींश्च ।
प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि
सर्वाणि भूतानि ददर्श वीरः ॥२९॥
सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य
सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग ।
सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो
धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नुघोषम् ॥३०॥
पर्जन्यघोषो जलजः पाञ्चजन्यः
कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी ।
विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्त-
स्तूणोत्तमावक्षयसायकौ च ॥३१॥
सुनन्दमुख्या उपतस्थुरीशं
पार्षदमुख्याः सहलोकपालाः ।
स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डल-
श्रीवत्सरत्नोत्तममेखलाम्बरैः ॥३२॥
मधुव्रतस्रग्वनमालया वृतो
रराज राजन्भगवानुरुक्रमः ।
क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे
नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः॥३३॥
पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं
न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि ।
उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो
महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः ॥३४॥

पादन्यासमें यज्ञ, छायामें मृत्यु, हँसीमें माया, रोमसमूहमें सब प्रकारकी ओषधियाँ, नाड़ियोंमें नदियाँ, नखोंमें शिलाएँ तथा बुद्धिमें ब्रह्मा, देवता और ऋषिगणको देखा। इस प्रकार वीरवर बलिने भगवान्‌के प्राण और शरीरमें सभी स्थावर-जंगम प्राणियोंका दर्शन किया॥२४—२९॥

हे तात! इस प्रकार सर्वात्मा भगवान्‌में यह सम्पूर्ण भुवन देखकर समस्त दैत्यगण बहुत भयभीत हो गये। इसी समय भगवान्‌के पास असह्य तेजोमय सुदर्शनचक्र, गर्जनेवाले बादलके समान भयंकर टंकार करनेवाला शार्ङ्गधनुष,मेघके समान गम्भीर घोषवाला पाञ्चजन्य शंख, विष्णुभगवान्‌की अत्यन्त वेगवती कौमोदकी नामकी गदा, ढालके सहित विद्याधरनामक खड्ग, अक्षय-बाणयुक्त दो तरकश और लोकपालोंके सहित प्रभुके सुनन्द आदि प्रमुख पार्षदगण आकर उपस्थित हो गये। हे राजन्! उस समय देदीप्यमान मुकुट, अंगद, मकराकृत कुण्डल, श्रीवत्स, मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ, मेखला,पीताम्बर और भ्रमरनिकरसे गुञ्जायमान वनमाला-से विभूषित हो भगवान् उरुक्रम अत्यन्त सुशोभित होने लगे। उन्होंने अपने एक पगसे बलिकी सम्पूर्ण पृथिवी नाप ली तथा शरीरसे आकाशको और भुजाओंसे दिशाओंको घेर लिया॥३०—३३॥ तदनन्तर दूसरे पदसे स्वर्गको भी नाप लेनेपर उनके तीसरे चरणके लिये तो अणुमात्र स्थान भी नहीं रहा, क्योंकि भगवान् उरुक्रमका वह दूसरा पद ही ऊपर-ऊपरकी ओर जाता हुआ महर्लोक, जनलोक और तपलोकसे भी ऊपर [सत्यलोकमें] पहुँच गया॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे विश्वरूपदर्शनं[2] नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

१. नद्यश्च। २. महापुरुषविश्वरूपं।

इक्कीसवाँ अध्याय

तीन पग पूर्ण न होनेके कारण वामन भगवान्-द्वारा बलिका बाँधा जाना ।

श्रीशुक उवाच

सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभि-
र्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात् ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो बृहद्व्रताः
सनन्दनाद्या नरदेव योगिनः ॥ १ ॥
वेदोपवेदा नियमान्विता यमा-
स्तर्केतिहासाङ्गपुराणसंहिताः ।
ये चापरे योगसमीरदीपित-
ज्ञानाग्निना रन्धितकर्मकल्मषाः[1] ।
ववन्दिरे यत्स्मरणानुभावतः
स्वायम्भुवं धाम गता अकर्मकम् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! सत्यलोकमें प्राप्त हुए भगवान्के चरणकमलको देखकर उसके नखचन्द्रकी चन्द्रिकासे जिनके धामकी आभा फीकी पड़ गयी है और जो स्वयं भी उसकी कान्तिसे आच्छादित हो गये हैं वे ब्रह्माजी, मरीचि आदि ऋषिगण, सनन्दनादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और योगिगण, वेद, उपवेद, नियमोंके सहित यम, तर्क, इतिहास, वेदाङ्ग, पुराण, पुराणसंहिता तथा योगरूप पवनसे प्रज्वलित हुए ज्ञानाग्निसे जिनके कर्मरूप मल भस्म हो गये हैं वे सब लोग भी भगवान्के पास आये और जिनके स्मरणके प्रभावसे उन्होंने कर्म-कलापसे प्राप्त न होनेयोग्य ब्रह्मलोक प्राप्त किया था उन भगवच्चरणारविन्दोंकी वन्दना की ॥१-२॥

अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णो-
रुपाहरत्पद्मभवोऽर्हणोदकम् ।
समर्च्य भक्त्याभ्यगृणाच्छुचिश्रवा
यन्नाभिपङ्केरुहसंभवः स्वयम् ॥ ३ ॥
धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥४॥

फिर पवित्रकीर्ति भगवान् ब्रह्माजीने, जिनके नाभिकमलसे वे स्वयं उत्पन्न हुए थे उन विष्णु भगवान्-के ऊपरकी ओर उठे हुए चरणके जलसे पूजाकर अति भक्तिभावसे स्तुति की ॥३॥ हे राजेन्द्र ! भगवान् उरुक्रमके पादप्रक्षालनसे परम पवित्र हुआ वह ब्रह्मा-जीके कमण्डलुका जल ही श्रीगंगाजी हुईं, जो मानो भगवान्की पवित्र कीर्ति ही हैं और आकाशसे पृथिवीपर गिरती हुई तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं ॥४॥

ब्रह्मादयो लोकनाथाः स्वनाथाय समादृताः ।
सानुगा बलिमाजह्रुः संक्षिप्तात्मविभूतये ॥ ५ ॥
तोयैः समर्हणैः स्रग्भिर्दिव्यगन्धानुलेपनैः ।
धूपैर्दीपैः सुरभिभिर्लाजाक्षतफलाङ्कुरैः ॥ ६ ॥
स्तवनैर्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ७ ॥[2]

फिर अपने विस्तारको कम कर लेनेपर अनुचरोंके सहित ब्रह्मा आदि लोकपालोंने अपने प्रभु वामन भगवान्को आदरपूर्वक बलि (भेटें) समर्पण कीं ॥५॥ तथा जल, उपहार, माला, दिव्य गन्धमय अनुलेपन, सुगन्धित धूप, दीप, लाजा, अक्षत, फल, अङ्कुर, भगवान्की महिमासे युक्त स्तोत्र, जयघोष, नृत्य, वाद्य, गान एवं शंख और दुन्दुभिके शब्दोंसे [भगवान्का अर्चन करने लगे] ॥ ६-७ ॥

---

१. निर्जितकर्मकिल्विषाः । २. प्राचीन प्रतिमें इस श्लोकका पाठ इस प्रकार है—स्तवनैर्जयशब्दैश्च शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः । नृत्यवादित्रगीतैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः । इसमेंसे उत्तरार्धका अंश मूलमें नहीं टिप्पणीमें है ।

जाम्बवानृक्षराजस्तु[1] भेरीशब्दैर्मनोजवः ।
विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत् ॥ ८ ॥

उस समय मनके समान वेगवान् ऋक्षराज जाम्बवान् बड़े उत्साहसे भेरी बजाते हुए सब दिशाओंमें भगवान्‌के विजयकी घोषणा कर आये ॥८॥

महीं सर्वां हृतां दृष्ट्वा त्रिपदव्याजयाच्ञया ।
ऊचुः स्वभर्तुरसुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः ॥ ९ ॥

इस प्रकार तीन पग पृथिवीकी याचनाके मिससे ही यज्ञकर्ममें दीक्षित अपने स्वामीकी सम्पूर्ण पृथिवी हरी गयी देख दैत्यगण अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहने लगे ॥९॥

न वा अयं ब्रह्मबन्धुर्विष्णुर्मायाविनां वरः ।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नो देवकार्यं चिकीर्षति ॥१०॥

'अरे ! यह ब्राह्मण नहीं है यह तो मायावियोंमें प्रधान विष्णु है; इस प्रकार ब्राह्मणवेषसे छिपकर यह देवताओंका कार्य करना चाहता है ॥१०॥

अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा ।
सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि ॥११॥

देखो, वटुरूप धारण करके याचना करते हुए इस हमारे शत्रुने हमारे स्वामीका, जिन्होंने यज्ञानुष्ठानमें दीक्षित होनेके कारण सब प्रकारका दण्ड त्याग दिया है, सर्वस्व हरण कर लिया है ॥११॥

सत्यव्रतस्य सततं दीक्षितस्य विशेषतः ।
नानृतं भाषितुं शक्यं ब्राह्मणस्य दयावता ॥१२॥

हमारे स्वामी सत्य-परायण, ब्राह्मणभक्त और बड़े दयालु हैं, इसलिये और विशेषतया दीक्षित होनेके कारण वे झूठ तो बोल ही नहीं सकते ॥१२॥

तस्मादस्य वधो धर्मो भर्तुः शुश्रूषणं च नः ।
इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः ॥१३॥

ऐसी अवस्थामें इस वटुका वध कर देना ही धर्म है और इसमें हमारे स्वामीकी भी सेवा है ।' ऐसी सम्मति कर बलिके अनुयायी दैत्योंने अस्त्र-शस्त्र उठा लिये ॥१३॥

ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः ।
अनिच्छतो बले[2] राजन्प्राद्रवञ्जातमन्यवः ॥१४॥

हे राजन् ! फिर वे सब-के-सब अति क्रुद्ध हो, राजा बलिकी इच्छा न होनेपर भी शूल और पट्टिश आदि लेकर श्रीवामनजी-को मारनेके लिये दौड़े ॥१४॥

तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान्नृप ।
प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः ॥१५॥

हे नृप ! उन दैत्य-सेनानायकोंको हथियार लेकर अपनी ओर आते देख श्रीविष्णुभगवान्‌के पार्षदोंने हँसते हुए अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर उन्हें रोक दिया ॥१५॥

नन्दः सुनन्दोऽथ जयो विजयः प्रबलो बलः ।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्त्रिराट् ॥१६॥
जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः ।
सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूं ते जघ्नुरासुरीम् ॥१७॥

नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, गरुड, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त और सात्वत—इन सभी दश-दश हजार हाथियोंके बलवाले विष्णुपार्षदोंने उस असुरसेनाका नाश कर दिया ॥१६-१७॥

हन्यमानान्स्वकान्दृष्ट्वा पुरुषानुचरैर्बलिः ।
वारयामास संरब्धान्काव्यशापमनुस्मरन् ॥१८॥

तब भगवान्‌के पार्षदोंद्वारा अपने कुपित अनुचरोंको मारे जाते देख राजा बलिने शुक्राचार्यजीके शापको स्मरण कर उन्हें मना कर दिया ॥१८॥

हे विप्रचित्ते हे राहो हे नेमे श्रूयतां वचः ।
मा युध्यत निवर्तध्वं न नः कालोऽयमर्थकृत् ॥१९॥

[उन्होंने कहा—] 'हे विप्रचित्ते ! हे राहो ! हे नेमे ! मेरी बात सुनो । अब युद्ध करना बन्द करो और पीछे लौट आओ; अभी हमारे लिये यह समय कार्यकी सिद्धि करनेवाला नहीं है ॥१९॥

१. क्षाधिपतिर्मे० । २. बले राज्ञः ।

यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये ।
तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान् ॥२०॥
यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम् ।
स एव भगवानद्य वर्तते तद्विपर्ययम् ॥२१॥
बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः ।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः ॥२२॥
भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः ।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः ॥२३॥
एतान्वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति ।
तस्मात्कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते ॥२४॥

हे दैत्यगण ! जो काल सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख-दुःखादिकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है उसे कोई भी पुरुष पुरुषार्थद्वारा नहीं जीत सकता ॥२०॥ जो पूर्व कालमें हमारी उन्नति और देवताओंकी अवनतिके हेतु हुए थे वे ही भगवान् काल इस समय उससे विपरीत हो रहे हैं ॥२१॥ बल, मन्त्री, बुद्धि, दुर्ग, मन्त्र, ओषधि तथा सामादि उपाय—इन किसी भी साधनोंसे मनुष्य कालको नहीं जीत सकता ॥ २२ ॥ विधाताकी अनुकूलताके समय तुमने भगवान्के इन पार्षदोंको कई बार जीता है; किन्तु देखो, आज वे ही हमें जीतकर गर्जना कर रहे हैं ॥२३॥ यदि दैव अनुकूल होगा तो हम इन्हें फिर जीत लेंगे; अतः जिससे हमें सफलता प्राप्त होगी उस कालकी प्रतीक्षा करो' ॥२४॥

श्रीशुक उवाच

पत्युर्निगदितं श्रुत्वा दैत्यदानवयूथपाः ।
रसां निर्विविशू राजन्विष्णुपार्षदताडिताः ॥२५॥
अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट्प्रभुचिकीर्षितम् ।
बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ ॥२६॥
हाहाकारो महानासीद्रोदस्योः सर्वतोदिशम् ।
गृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना ॥२७॥
तं बद्धं वारुणैः पाशैर्भगवानाह वामनः ।
नष्टश्रियं स्थिरप्रज्ञमुदारयशसं नृप ॥२८॥
पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयासुर ।
द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय ॥२९॥
यावत्तपत्यसौ गोभिर्यावदिन्दुः सहोडुभिः ।
यावद्वर्षति पर्जन्यस्तावती भूरियं तव ॥३०॥
पदैकेन मया क्रान्तो भूर्लोकः खं दिशस्तनोः ।
स्वर्लोकस्तु द्वितीयेन पश्यतस्ते स्वमात्मना ॥३१॥
प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते ।
विश त्वं निरयं तस्माद्गुरुणा चानुमोदितः ॥३२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने स्वामीका कथन सुनकर विष्णु भगवान्के पार्षदोंसे ताड़ित हुए वे दैत्य और दानवयूथपतिगण रसातलको चले गये ॥२५॥ तब तार्क्ष्यनन्दन गरुडजीने विराट् भगवान्का आशय जान यज्ञके सोमाभिषवके दिन राजा बलिको वरुणके पाशोंसे बाँध दिया ॥ २६ ॥ उस समय सर्वसमर्थ भगवान् विष्णुद्वारा दैत्यराज बलिके बाँध लिये जानेपर पृथिवी और आकाशमें सब ओर महान् हाहाकार होने लगा ॥२७॥ हे राजन् ! इस प्रकार श्रीहीन होकर वारुण-पाशोंसे बँधे हुए उस उदारकीर्ति स्थित-प्रज्ञ राजा बलिसे श्रीवामन भगवान्ने कहा—॥२८॥ 'हे असुर ! तुमने मुझे तीन पग पृथिवी देनी स्वीकार की थी, जिनमेंसे दो पगमें तुम्हारी सम्पूर्ण पृथिवी आ गयी, अब तीसरा पग और पूरा करो ॥२९॥ जहाँतक सूर्य अपनी किरणोंसे ताप प्रदान करता है, ग्रहगणके सहित चन्द्रमा प्रकाशित होता है तथा मेघ वर्षा करता है वहाँतक सारी पृथिवी तुम्हारे अधिकारमें है ॥३०॥ इस समय तुम्हारे देखते-देखते मैंने अपने एक पगसे सम्पूर्ण भूलोक, शरीरसे आकाश और दिशाएँ तथा दूसरे पगसे स्वर्लोक नाप लिया है ॥३१॥ अब प्रतिज्ञा की हुई वस्तु न दे सकनेके कारण तुझे नरकमें रहना पड़ेगा; अतः इस विषयमें अपने गुरुकी भी अनुमति होनेसे तू नरकमें प्रवेश कर ॥ ३२ ॥

वृथा मनोरथस्तस्य दूरे स्वर्गः पतत्यधः ।
प्रतिश्रुतस्य दानेन योऽर्थिनं विप्रलम्भते ॥३३॥
विप्रलब्धो ददामीति त्वयाहं चाढ्यमानिना ।
तद्व्यलीकफलं भुङ्क्ष्व निरयं कतिचित्समाः ॥३४॥

जो पुरुष प्रतिज्ञा की हुई वस्तुके देनेमें याचकको धोखा देता है उसके सब मनोरथ व्यर्थ हो जाते हैं और स्वर्ग तो दूर रहा, उसे तो उलटा नरकमें गिरना पड़ता है ॥३३॥ अपनेको बड़ा सम्पन्न माननेवाले तूने 'दूँगा' ऐसा कहकर मुझे बड़ा धोखा दिया है; अतः तू कुछ वर्षतक उस मिथ्या भाषणका फलरूप नरक भोग ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे बलिनिग्रहो[2] नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

बाईसवाँ अध्याय

भगवान्‌का बलिपर प्रसन्न होकर उन्हें सुतललोक जानेका आदेश देना ।

श्रीशुक उवाच

एवं विप्रकृतो राजन्बलिर्भगवतासुरः ।
भिद्यमानोऽप्यभिन्नात्मा प्रत्याहाविक्लवं वचः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वामन भगवान्‌द्वारा इस प्रकार तिरस्कृत और सत्यसे डिगाये जानेपर भी असुरराज बलि चलितचित्त न होकर स्थिरतापूर्वक बोले ॥१॥

बलिरुवाच

यद्युत्तमश्लोक भवान्ममेरितं
वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते ।
करोम्यृतं तन्न भवेत्प्रलम्भनं
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥ २ ॥
बिभेमि नाहं निरयात्पदच्युतो
न पाशबन्धाद्व्यसनाद्दुरत्ययात् ।
नैवार्थकृच्छ्राद्भवतो विनिग्रहा-
दसाधुवादाद्भृशमुद्विजे यथा ॥ ३ ॥
पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम् ।
यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि ॥ ४ ॥
त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः ।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत् ॥ ५ ॥
यस्मिन्वैरानुबन्धेन रूढेन विबुधेतराः ।
बहवो लेभिरे सिद्धिं यामु हैकान्तयोगिनः ॥ ६ ॥

राजा बलिने कहा—हे पवित्रकीर्ति सुरश्रेष्ठ ! यदि आप मेरे कहे हुए वाक्यको मिथ्या मानते हैं तो मैं उसे अवश्य सत्य करूँगा; आपको किसी प्रकारका धोखा नहीं दिया जायगा । आप अपना तीसरा पग मेरे शिरपर रखें ॥२॥ भगवन् ! मैं जैसा अपकीर्तिसे डरता हूँ वैसा नरक, पदच्युति, पाशबन्धन, दुस्तर दुःख, अर्थकष्ट और आपके दण्डसे भी नहीं डरता ॥३॥ मैं मनुष्योंके लिये पूज्यतम पुरुषोंका दिया हुआ दण्ड अत्यन्त वाञ्छनीय समझता हूँ, क्योंकि माता, पिता, भाई और सुहृद् आदि [मोहवश] वैसा दण्ड नहीं दे सकते ॥४॥ आप परोक्षरूपसे निश्चय ही हम असुरगणोंके गुरु हैं; क्योंकि अनेक प्रकारके मदोंसे अन्धे हुए हमलोगोंको आप ऐश्वर्यनाशरूप नेत्र प्रदान करते हैं ॥५॥ अहो ! आपके साथ वैर बाँधनेसे भी अनेकों दैत्योंने वह परमसिद्धि प्राप्त कर ली है जिसे केवल एकान्त योगीगण ही पा सकते हैं ॥६॥

१. प्राचीन प्रतिमें इस उत्तरार्धके स्थानमें ऐसा पाठ है—'यो विप्राय प्रतिश्रुत्य न तदर्पयतेऽर्थितम् ।' २. न्थे बलिनिग्रहणमेक० ।

तेनाहं निगृहीतोऽस्मि भवता भूरिकर्मणा ।
बद्धश्च वारुणैः पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे ॥ ७ ॥

उन्हीं परमपराक्रमी आप प्रभुके द्वारा मैं पकड़ा गया हूँ और वारुणपाशोंसे बाँधा गया हूँ, इसलिये मुझे न तो विशेष लज्जा ही है और न किसी प्रकारकी व्यथा ही ॥७॥

पितामहो मे भवदीयसंमतः
प्रह्लाद आविष्कृतसाधुवादः ।
भवद्विपक्षेण विचित्रवैशसं
संप्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा ॥ ८ ॥
किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः
किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः ।
किं जायया संसृतिहेतुभूतया
मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः ॥ ९ ॥
इत्थं स निश्चित्य पितामहो महा-
नगाधबोधो भवतः पादपद्मम् ।
ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जना-
द्भीतः स्वपक्षक्षपणस्य सत्तमः ॥१०॥
अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं
दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः ।
इदं कृतान्तान्तिकवर्ति जीवितं
यथाध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते ॥११॥

हे प्रभो ! जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध हो रही है वे मेरे पितामह प्रह्लादजी आपके निजजनोंमें माने गये हैं। वे एकमात्र आपहीके परायण थे; इसलिये उन्हें आपके विरोधी पिता हिरण्यकशिपुद्वारा नाना प्रकारकी पीड़ाएँ पहुँचायी गयीं ॥८॥ किन्तु मेरे उन अगाधबोध साधुश्रेष्ठ पितामहने यह सोचकर कि 'जो आयु समाप्त होनेपर एक दिन छोड़ ही देता है उस शरीरसे, जो केवल धनका हरण करना ही जानते हैं उन स्वजननामक चोरोंसे, जन्ममरणरूप संसारचक्रकी हेतुभूता भार्यासे तथा गृह आदिसे इस मरणधर्मा पुरुषको क्या लाभ है ? इनमें केवल आयुको बरबाद करना ही है' जनसंसर्गसे भयभीत होकर, अपने ही पक्षका क्षय करनेवाले आपके निर्भय और निश्चल पादपद्मोंका आश्रय लिया था ॥९-१०॥ इस समय, जिससे उन्मत्त होकर पुरुष मृत्युके समीप पड़े हुए अपने जीवनको अनिश्चित नहीं समझता उस वैभवसे बलपूर्वक वञ्चित करके विधाताने मुझे भी अपने शत्रुरूप आप परमेश्वरके पास पहुँचा दिया है ॥११॥

श्रीशुक उवाच

तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः ।
आजगाम कुरुश्रेष्ठ राकापतिरिवोत्थितः ॥१२॥
तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया
विराजमानं नलिनायतेक्षणम् ।
प्रांशुं पिशङ्गाम्बरमञ्जनत्विषं
प्रलम्बबाहुं सुभगं समैक्षत ॥१३॥
तस्मै बलिर्वारुणपाशयन्त्रितः
समर्हणं नोपजहार पूर्ववत् ।
ननाम मूर्ध्नाश्रुविलोललोचनः
सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह ॥१४॥

श्रीशुकदेवजी बोले--हे कुरुश्रेष्ठ ! जिस समय राजा बलि इस प्रकार कह रहे थे उसी समय उदय होते हुए चन्द्रमाके समान भगवान्के प्रिय भक्त प्रह्लादजी वहाँ आ गये ॥१२॥ तब राजा बलिने अपने श्रीसम्पन्न, कमलके समान विशाल नयनोंवाले, उन्नतकाय, पीताम्बरधारी, कृष्णकान्ति-विशिष्ट, विशालबाहु अति मनोहर पितामहको देखा ॥१३॥ किन्तु वारुणपाशसे बँधे होनेके कारण राजा बलिने उन्हें पूर्ववत् पूजा समर्पण नहीं की, किन्तु आँसुओंसे डबडबाती आँखोंसे उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया और लज्जावश नीचेको मुख कर लिया

१. विव्यथे । २. अथाह० । ३. डनिर्वातमु० ।

स तत्र हासीनमुदीक्ष्य सत्पतिं
सुनन्दनन्दाद्यनुगैरुपासितम् ।
उपेत्य भूमौ शिरसा महामना
ननाम मूर्ध्ना पुलकाश्रुविक्लवः ॥१५॥

प्रह्लाद उवाच

त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं
हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम् ।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो
विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात् ॥१६॥
यया हि विद्वानपि मुह्यते यत-
स्तत्को विचष्टे गतिमात्मनो यथा ।
तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै
नारायणायाखिललोकसाक्षिणे ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

तस्यानु[1] शृण्वतो राजन्प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः ।
हिरण्यगर्भो भगवानुवाच मधुसूदनम् ॥१८॥
बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी तत्पत्नी भयविह्वला ।
प्राञ्जलिः प्रणतोपेन्द्रं बभाषेऽवाङ्मुखी नृप ॥१९॥

विन्ध्यावलिरुवाच[2]

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः ।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति
त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

भूतभावन भूतेश देवदेव जगन्मय ।
मुञ्चैनं हृतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम् ॥२१॥
कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये ।
निवेदितं च सर्वस्वमात्माविक्लवया धिया ॥२२॥

॥१४॥ तब पुलकावली और नेत्रजलसे विह्वल हुए महामना प्रह्लादजीने सुनन्द और नन्द आदि पार्षदोंसे सेवित साधुजनोंके स्वामी श्रीहरिको वहाँ विराजमान देख उनके समीप जा पृथिवीपर शिर रखकर प्रणाम किया ॥१५॥

श्रीप्रह्लादजी बोले—प्रभो ! इस बलिको आपहीने यह अति समृद्धिशाली इन्द्रपद दिया था, और आपहीने आज इसे हर लिया है—सो बड़ा ही अच्छा किया । आपने इसे आत्माके लिये मोहरूपा राज्य-लक्ष्मीसे भ्रष्ट कर दिया यह इसपर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है ॥१६॥ जिससे विद्वान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं उस लक्ष्मीके रहते हुए ऐसा कौन पुरुष है जो अपने स्वरूपको यथावत् जान सके ? अतः [उस लक्ष्मीको हरनेवाले] आप अखिल लोकसाक्षी जगदीश्वर श्रीनारायणदेवको नमस्कार है ॥१७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् हाथ जोड़कर खड़े हुए श्रीप्रह्लादजीके सुनते हुए भगवान् ब्रह्माजी श्रीमधुसूदनसे कुछ कहने लगे ॥१८॥ इतनेहीमें हे नृप ! अपने पतिको बँधा हुआ देख राजा बलिकी परम साध्वी भार्या विन्ध्यावली भयसे व्याकुल होकर नीचेको मुख किये अति विनीत भावसे हाथ जोड़कर वामन भगवान्-के प्रति कहने लगी ॥१९॥

विन्ध्यावलीने कहा—हे ईश ! आपने अपनी क्रीडाके लिये ही इस जगत्की रचना की है; इसमें अन्य कुबुद्धिलोग अपना स्वामित्व मानते हैं । आप जगत्के कर्ता प्रभु और संहारक हैं, जिनमें आपने कर्तृत्वका आरोप कर दिया है वे निर्लज्ज पुरुष आपको क्या समर्पण करेंगे ? ॥२०॥

ब्रह्माजी कहने लगे—हे भूतभावन ! हे भूतेश्वर ! हे देवाधिदेव ! हे विश्वरूप ! आप इसे छोड़ दीजिये । इसका सर्वस्व हरा जा चुका है; इसलिये अब यह दण्डका पात्र नहीं है ॥२१॥ इसने अपने मनको मलिन न करते हुए सम्पूर्ण पृथिवी, पुण्यकर्मोंसे उपार्जित स्वर्गादि लोक और अपना शरीर—ये सभी आपको समर्पण कर दिये हैं ॥२२॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'तस्यानु…' यह श्लोक मूलमें नहीं टिप्पणीमें है । २. प्राचीन प्रतिमें 'विन्ध्यावलिरुवाच' यह पाठ नहीं है ।

यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय
दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम् ।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत् ॥२३॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन्यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥२४॥
यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन्निजकर्मभिः ।
नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषीं गतिमाव्रजेत् ॥२५॥
जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद्यस्य न भवेत्स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥२६॥
मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः ।
सर्वश्रेयःप्रतीपानां हन्त मुह्येन्न मत्परः ॥२७॥
एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्तिवर्धनः ।
अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति ॥२८॥
क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात्क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः ।
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः ॥२९॥
गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः ।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक् ॥३०॥
एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि ।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः ॥३१॥
तावत्सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम् ।
यत्राधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्रा पराभवः ।

प्रभो ! जिनके चरणकमलोंमें निष्कपटभावसे जलका अर्घ्य देकर तथा दूब और अंकुरोंसे ही श्रेष्ठ पूजा कर मनुष्य उत्तम गति प्राप्त कर लेता है, उन्हीं आपको अखिन्नचित्तसे त्रिलोकी समर्पण करनेवाला बलि किस प्रकार कष्ट पा सकता है ? ॥२३॥

श्रीभगवान् बोले—हे ब्रह्मन् ! मैं जिसपर कृपा करता हूँ उसका सारा धन हर लेता हूँ, क्योंकि धनके मदसे उन्मत्त होकर पुरुष मेरा और पुण्य-लोकोंका तिरस्कार करने लगता है ॥२४॥ यह जीवात्मा अपने कर्मोंके कारण विवश होकर अनेकों योनियोंमें भ्रमता हुआ जब-तब ही [पुण्योंका उदय होनेसे] मनुष्यशरीर पाता है ॥२५॥ उसमें यदि जन्म, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धनादि-के कारण इसे गर्व न हो तो यह मेरा अनुग्रह ही है ॥२६॥ अहो ! जो पुरुष मेरी शरणमें आ जाता है वह सब प्रकारके श्रेयके विरोधी तथा मान और उद्धतताके हेतुभूत जाति आदिके अभिमानसे किसी प्रकार मोहित नहीं होता ॥२७॥ हे ब्रह्मन् ! दैत्य और दानवोंमें मुख्य तथा अपनी कीर्तिको बढ़ानेवाले इस राजा बलिने दुर्जय मायाको जीत लिया है; इसीलिये यह इस प्रकार कष्ट उठानेपर भी मोहको प्राप्त नहीं हुआ ॥२८॥ यह धनहीन और अपने स्थानसे भ्रष्ट हो गया, शत्रुओंद्वारा तिरस्कृत किया गया, बन्धनमें डाला तथा जातिवालोंसे त्याग दिया गया, इस प्रकार इसे नाना प्रकारकी यातनाएँ दी गयीं तथा इसे गुरुके द्वारा भय दिखाया गया और शाप दिया गया तथापि दृढसंकल्प होनेके कारण इसने सत्य वचनको नहीं त्यागा । मैंने इससे छलपूर्वक बातें कीं तो भी इस सत्यभाषीने अपना धर्म नहीं छोड़ा ॥२९-३०॥ अतः मैंने इसे वह स्थान दिया है जहाँ देवताओंका पहुँचना भी अत्यन्त कठिन है । इसके पश्चात् सावर्णिमन्वन्तरमें यह मेरे आश्रय रहनेवाला इन्द्र होगा ॥ ३१ ॥ तबतक यह विश्वकर्मा-के रचे हुए सुतललोकमें निवास करे, जहाँके निवासियोंको मेरी कृपादृष्टिसे आधि-व्याधि, क्लान्ति,

१. क्षीणो विध्वंसितः स्था० । २. ममाश्रयः । ३. यत्राघयो ।

नोपसर्गो निवसतां संभवन्ति ममेक्षया ॥३२॥

इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते ।
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः ॥३३॥

न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे ।
त्वच्छासनातिगान्दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति ॥३४॥

रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम् ।
सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ॥३५॥

तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात्ते भाव आसुरः ।
दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यःकुण्ठो विनङ्क्ष्यति ॥३६॥

तन्द्रा, पराभव और किसी प्रकारके विघ्न नहीं होते ॥ ३२ ॥ महाराज इन्द्रसेन ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपने जाति-बन्धुओंके साथ देवताओंसे भी प्रार्थनीय सुतललोकको चले जाओ ॥ ३३ ॥ वहाँ औरोंका तो कहना ही क्या, लोकपालगण भी तुम्हारा पराभव नहीं कर सकेंगे। जो दैत्यगण तुम्हारी आज्ञा-का उल्लङ्घन करेंगे उन्हें मेरा चक्र नष्ट कर देगा॥३४॥ हे वीर ! वहाँ अनुचरगण और भोगसामग्रीके सहित रहते हुए तुम्हारी मैं सब प्रकार रक्षा करूँगा और तुम मुझे सर्वदा अपने समीप विद्यमान देखोगे ॥३५॥ वहाँ दैत्य और दानवोंके सहवाससे प्राप्त हुआ तेरा आसुर भाव मेरे प्रभावसे कुण्ठित हो तत्काल नष्ट हो जायगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे[1] वामनप्रादुर्भावे बलिवामन-संवादो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

तेईसवाँ अध्याय

बलिका सुतललोकको प्रस्थान तथा वामन भगवान्का उपेन्द्रपदपर अभिषिक्त होना।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनं
महानुभावोऽखिलसाधुसंमतः ।
बद्धाञ्जलिर्बाष्पकलाकुलेक्षणो
भक्त्युद्गलो गद्गदया गिराब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—भगवान्के इस प्रकार कहने-पर जिनके नेत्र अश्रुजलकी बाढ़से डबडबा आये हैं उन सकल साधुसम्मानित महानुभाव महाराज बलिने हाथ जोड़कर भक्तिवश कण्ठ रुक जानेके कारण गद्गद वाणीसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

बलिरुवाच

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः
प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः ।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरै-
रलब्धपूर्वोपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ २ ॥

राजा बलि बोले—अहो ! आपको प्रणाम करनेके लिये किया हुआ भी उद्यम आज शरणागत भक्तको प्राप्त होनेवाला फल देनेमें समर्थ हुआ ! आपका जो अनुग्रह लोकपाल देवगणोंको भी पहले प्राप्त नहीं हुआ वही आज आपने मुझ असुराधमको समर्पण किया ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा हरिमानम्य ब्रह्माणं सभवं ततः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ऐसा कह-कर राजा बलि वारुणपाशोंसे मुक्त हो महादेव और

[1] १. न्धे बलिविमोक्षणं द्वाविंशतितमो ।

विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः ॥ ३ ॥
एवमिन्द्राय भगवान्प्रत्यानीय त्रिविष्टपम् ।
पूरयित्वादितेः काममशासत्सकलं जगत् ॥ ४ ॥
लब्धप्रसादं निर्मुक्तं पौत्रं वंशधरं बलिम् ।
निशाम्य भक्तिप्रवणः प्रह्लाद इदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीके सहित श्रीहरिको प्रणाम कर अन्य असुरगण-के सहित प्रसन्नतापूर्वक सुतललोकको चले गये ॥३॥ इस प्रकार भगवान्ने बलिसे लेकर इन्द्रको स्वर्गलोक प्रदान किया और अदितिकी कामना पूर्ण कर स्वयं उपेन्द्ररूपसे सम्पूर्ण जगत्का शासन करने लगे ॥४॥ तदनन्तर अपने वंशधर पौत्र बलिको भगवान्का प्रसाद पाकर वारुण-पाशोंसे मुक्त हुआ देख श्रीप्रह्लादजीने भक्तिसे विनम्र हो इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

प्रह्लाद उवाच

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं
न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते ।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो
विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥
यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन
ब्रह्मादयः शरणदाश्नुवते विभूतीः ।
कस्माद्वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते
दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवतः प्रणीताः ॥ ७ ॥
चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य ।
सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो
भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः ॥ ८ ॥

प्रह्लादजी बोले—हे प्रभो ! जिनकी सकल चराचर वन्दना करते हैं वे ब्रह्मादिक भी जिनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं वे ही आप हम असुरोंके दुर्गपाल हुए ! आपका ऐसा प्रसाद तो ब्रह्माजी, लक्ष्मीजी और श्रीमहादेवजीको भी नहीं मिल पाता; फिर औरोंको तो कहना ही क्या है ? ॥ ६ ॥ हे शरणदायक प्रभो ! जिनके चरणकमलमकरन्दका सेवन करनेसे ही ब्रह्मादिको सृष्टिरचना आदि विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं, उन्हीं आपकी दयादृष्टिके पात्र हम कुमार्गी और दुष्ट योनिमें उत्पन्न हुए असुरगण कैसे बना लिये गये ! [यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है] ॥ ७ ॥ अहो ! आपकी लीला बड़ी विचित्र है, जिन्होंने अपनी अपरिमित योगमायासे लीलाहीसे यह सम्पूर्ण जगत् रच दिया है उन सर्वज्ञ, सर्वात्मा और समदर्शी आप-का यह भक्तवत्सलस्वभाव बड़ा विषम जान पड़ता है; परन्तु आप तो कल्पवृक्षके समान हैं । [इसीलिये समदर्शी होनेपर भी सबको उनकी भावनाओंके अनुसार विभिन्न फल देते हैं] ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते प्रयाहि सुतलालयम् ।
मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह ॥ ९ ॥
नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम् ।
मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥१०॥

श्रीभगवान् बोले—वत्स प्रह्लाद ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम सुतललोकको जाओ और अपने पौत्रके साथ आनन्दपूर्वक रहते हुए अपने ज्ञातिबन्धुओंको सुखी करो ॥ ९ ॥ वहाँ तुम मुझे हाथमें गदा लिये नित्य उपस्थित देखोगे, और मेरे दर्शनके परमानन्दसे तुम्हारे सब कर्मबन्धन नष्ट हो जायँगे ॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

आज्ञां भगवतो राजन्प्रह्लादो बलिना सह ।
बाढमित्यमलप्रज्ञो मूर्ध्न्याधाय कृताञ्जलिः ॥११॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब राजा बलिके सहित सम्पूर्ण दैत्यसेनाके नायक निर्मलबुद्धि श्रीप्रह्लादजीने हाथ जोड़कर 'बहुत अच्छा' ऐसा कहते

परिक्रम्यादिपुरुषं सर्वासुरचमूपतिः ।
प्रणतस्तदनुज्ञातः प्रविवेश महाबिलम् ॥१२॥
अथाहोशनसं राजन्हरिर्नारायणोऽन्तिके ।
आसीनमृत्विजां मध्ये सदसि ब्रह्मवादिनाम् ॥१३॥
ब्रह्मन्संतनु शिष्यस्य कर्मच्छिद्रं वितन्वतः ।
यत्तत्कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् ॥१४॥

हुए भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्य की और अति विनयपूर्वक आदिपुरुष श्रीहरिकी परिक्रमा कर उनकी आज्ञा पा सुतल लोकको चले गये ॥ ११-१२ ॥ हे राजन् ! फिर नारायण भगवान् हरिने अपने समीप वेदवादी ऋत्विजोंकी मण्डलीके बीच बैठे हुए शुक्राचार्यजीसे कहा—॥ १३ ॥ 'ब्रह्मन्! कर्मानुष्ठान करते हुए आपके शिष्यके यज्ञमें जो त्रुटि रह गयी हो उसे पूर्ण कीजिये । कर्मकी विषमता तो ब्राह्मणोंकी दृष्टि पड़नेसे ही सम हो जाती है [फिर आपके अनुष्ठान करनेसे उसकी पूर्ति होनेमें तो सन्देह ही क्या है ?] ॥ १४ ॥

शुक्र उवाच

कुतस्तत्कर्मवैषम्यं यस्य कर्मेश्वरो भवान् ।
यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः ॥१५॥
मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव ॥१६॥
तथापि वदतो भूमन्करिष्याम्यनुशासनम् ।
एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत्तवाज्ञानुपालनम् ॥१७॥

शुक्राचार्यजीने कहा—प्रभो ! जिसने अपना सर्वस्व समर्पण कर कर्म और यज्ञोंके अधीश्वर आप यज्ञपुरुषका पूजन किया है उसके कर्ममें कोई विषमता कैसे रह सकती है ? ॥ १५ ॥ प्रभो ! आपका नामसङ्कीर्तन मन्त्र, तन्त्र, देश, काल, पात्र और वस्तुके कारण होनेवाली सभी त्रुटियोंको पूर्ण कर देता है ॥ १६ ॥ तथापि हे भूमन् ! आप कहते हैं तो मैं आपकी आज्ञाका पालन अवश्य करूँगा । मनुष्योंका सबसे बड़ा श्रेय इसीमें है कि आपकी आज्ञाका पालन किया जाय ॥ १७ ॥

श्रीशुक उवाच

अभिनन्द्य हरेराज्ञामुशना भगवानिति ।
यज्ञच्छिद्रं समाधत्त बलेर्विप्रर्षिभिः सह ॥१८॥
एवं बलेर्महीं राजन्भिक्षित्वा वामनो हरिः ।
ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत्परैर्हृतम् ॥१९॥
प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा देवर्षिपितृभूमिपैः ।
दक्षभृग्वङ्गिरोमुख्यैः कुमारेण भवेन च ॥२०॥
कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै सर्वभूतभवाय च ।
लोकानां लोकपालानामकरोद्वामनं पतिम् ॥२१॥
वेदानां सर्वदेवानां धर्मस्य यशसः श्रियः ।
मङ्गलानां व्रतानां च कल्पं स्वर्गापवर्गयोः ॥२२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! फिर भगवान् शुक्राचार्यजीने श्रीहरिकी आज्ञाको स्वीकार कर अन्य ब्रह्मर्षियोंके साथ मिलकर बलिके यज्ञकी त्रुटियोंको पूर्ण किया ॥ १८ ॥ हे नृप ! इस प्रकार श्रीवामन भगवान्‌ने राजा बलिसे पृथिवीकी याचना कर अपने भाई इन्द्रको स्वर्गलोक दिया, जिसे कि शत्रुओंने हर लिया था ॥ १९ ॥ फिर महादेव, सनत्कुमार, दक्ष, भृगु और अङ्गिरा आदि, देवता, ऋषि, पितृगण और राजाओंके सहित सकल प्रजापतियोंके स्वामी श्रीब्रह्माजीने प्रजापति कश्यप और अदितिकी प्रसन्नताके लिये तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके पालनके लिये वामन भगवान्‌को समस्त लोक और लोकपालोंका स्वामी बना दिया ॥ २०-२१ ॥ हे राजन् ! वेद, सकल देवता, धर्म, यश, लक्ष्मी, मङ्गल, व्रत तथा स्वर्ग और अपवर्ग सभीकी रक्षा

१. प्रति० ।

उपेन्द्रं कल्पयाञ्चक्रे पतिं सर्वविभूतये ।
तदा सर्वाणि भूतानि भृशं मुमुदिरे नृप ॥२३॥
ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य देवयानेन वामनम् ।
लोकपालैर्दिवं निन्ये ब्रह्मणा चानुमोदितः ॥२४॥
प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितः ।
श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः ॥२५॥
ब्रह्मा शर्वः कुमारश्च भृग्वाद्या मुनयो नृप ।
पितरः सर्वभूतानि सिद्धा वैमानिकाश्च ये ॥२६॥
सुमहत्कर्म तद्विष्णोर्गायन्तः परमाद्भुतम् ।
धिष्ण्यानि स्वानि ते जग्मुरदितिं च शशंसिरे ॥२७॥
सर्वमेतन्मयाख्यातं भवतः कुलनन्दन ।
उरुक्रमस्य चरितं श्रोतॄणामघमोचनम् ॥२८॥
पारं महिम्न उरुविक्रमतो गृणानो
यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः ।
किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य
इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य ॥२९॥
य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।
अवतारानुचरितं[1] शृण्वन्याति परां गतिम् ॥३०॥
क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे पित्र्येऽथ मानुषे ।
यत्र यत्रानुकीर्त्येत तत्तेषां सुकृतं विदुः ॥३१॥

करनेमें समर्थ श्रीवामन भगवान्‌को उन्होंने सबके उत्कर्षके लिये उपेन्द्र बनाया; इससे उस समय सभी प्राणियोंको परम आनन्द प्राप्त हुआ ॥ २२-२३ ॥ तदनन्तर ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर सकल लोकपालोंके सहित देवराज इन्द्र वामन भगवान्‌को विमानपर चढ़ाकर अपने आगे कर देवलोकको ले गये ॥२४॥ इस प्रकार उपेन्द्रके बाहुबलसे सुरक्षित देवराज इन्द्र त्रिलोकीका आधिपत्य पा परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न और निर्भय हो अति आनन्दित हुए ॥ २५ ॥ तदनन्तर हे राजन्! ब्रह्मा, महादेव, सनत्कुमार, भृगु आदि मुनिगण, पितृगण, समस्त भूत, सिद्ध तथा अन्य विमानारोही देवगण भगवान् विष्णुके उस अति अद्भुत और महान् कर्मका गान करते हुए अपने-अपने स्थानोंको चले गये। उन सभीने अदितिकी बहुत प्रशंसा की ॥ २६-२७ ॥

हे कुलनन्दन! इस प्रकार श्रोताओंके सकल पापोंको नष्ट करनेवाला श्रीउरुक्रमभगवान्‌का यह सारा चरित्र मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ २८ ॥ जो मनुष्य परम पराक्रमी श्रीहरिकी महिमाका पार पाना चाहता है वह कदाचित् पृथिवीके परमाणुओंको भी गिन सकता है, जिन महामहिम प्रभुके विषयमें मन्त्रद्रष्टा ऋषि वशिष्ठजीने कहा है कि 'क्या उत्पन्न हुआ और क्या आगे उत्पन्न होनेवाला कोई भी पुरुष आपकी महिमाका पार पा सकता है?' ॥ २९ ॥ जो पुरुष अद्भुतकर्मा देवदेव श्रीहरिके इस अवतारचरितको सुनता है वह परमगति प्राप्त करता है ॥ ३० ॥ देवयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ आदि कर्मोंको करते समय जहाँ-जहाँ इस चरित्रका कीर्तन किया जाता है वे कर्म सफलतापूर्वक सम्पन्न होते हैं—ऐसा सब लोग जानते हैं ॥ ३१ ॥
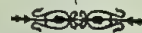
इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे वामनावतारचरिते त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥२३॥

१. नानुचरि०।

चौबीसवाँ अध्याय

मत्स्यावतारकी कथा ।

राजोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मणः ।
अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनम् ॥ १ ॥
यदर्थमदधाद्रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम् ।
तमःप्रकृति दुर्मर्षं कर्मग्रस्त इवेश्वरः ॥ २ ॥
एतन्नो भगवन्सर्वं यथावद्वक्तुमर्हसि ।
उत्तमश्लोकचरितं सर्वलोकसुखावहम् ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित् बोले—भगवन् ! मैं अद्भुतकर्मा श्रीहरिकी वह आरम्भिक अवतारकथा सुनना चाहता हूँ, जिसमें उन्होंने मायासे मत्स्यरूपका अनुकरण किया है ॥ १ ॥ स्वामिन् ! उन्होंने सर्वसमर्थ होकर भी कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवोंके समान जिस-लिये यह अत्यन्त तमोगुणी, लोकमें निन्दनीय और दुःसह मत्स्यशरीर धारण किया था, श्रीउत्तमश्लोक भगवान्‌का सकल लोकोंको सुख पहुँचानेवाला वह सम्पूर्ण चरित यथावत् रीतिसे वर्णन कीजिये ॥२-३॥

सूत उवाच

इत्युक्तो विष्णुरातेन भगवान्बादरायणिः ।
उवाच चरितं विष्णोर्मत्स्यरूपेण यत्कृतम् ॥ ४ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—राजा परीक्षित्‌के इस प्रकार पूछनेपर भगवान् शुकदेवजीने श्रीविष्णुभगवान्‌का वह चरित वर्णन करना आरम्भ किया जिसका प्रभुने मत्स्यरूपसे आचरण किया था ॥ ४ ॥

श्रीशुक उवाच

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः ।
रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि ॥ ५ ॥
उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरिवेश्वरः ।
नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धि यो गुणैः ॥ ६ ॥
आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः ।
समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप ॥ ७ ॥
कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली ।
मुखतो निःसृतान्वेदान्हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत् ॥ ८ ॥
ज्ञात्वा तद्दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम् ।
दधार शफरीरूपं भगवान्हरिरीश्वरः ॥ ९ ॥
तत्र राजऋषिः कश्चिन्नाम्ना सत्यव्रतो महान् ।
नारायणपरोऽतप्यत्तपः स सलिलाशनः ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान् सबके ईश्वर होनेपर भी गौ, ब्राह्मण, देवता, साधु, वेद तथा धर्म और अर्थकी रक्षा करनेके लिये शरीर धारण किया करते हैं ॥ ५ ॥ भगवान् निर्गुण हैं; इसलिये वायुके समान ऊँच-नीच प्राणियोंमें [उनके नियन्तारूपसे] विचरते हुए भी वे उनकी बुद्धिके गुणोंसे ऊँच-नीच भावको प्राप्त नहीं होते ॥ ६ ॥ हे राजन् ! पिछले कल्पके अन्तमें ब्राह्मनामक नैमित्तिक प्रलय हुआ था; उस समय भू आदि सम्पूर्ण लोक समुद्रमें डूब गये थे ॥ ७ ॥ कालक्रमसे ब्रह्माजीके निद्रित होकर सो जानेपर उनके मुखसे निकलकर पास ही पड़े हुए वेदोंको हयग्रीवनामक दैत्य हर ले गया ॥ ८ ॥ दानवराज हयग्रीवकी इस चेष्टाको जान सर्वेश्वर भगवान् हरिने मछलीका रूप धारण किया ॥ ९ ॥

हे राजन् ! उस समय सत्यव्रतनामक एक महान् राजर्षि भगवत्परायण रहकर केवल जलका आहार करते हुए तपस्या कर रहे थे ॥ १० ॥

१. एतन्मे ।

योऽसावस्मिन्महाकल्पे तनयः स विवस्वतः ।
श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः ॥११॥
एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम् ।
तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत ॥१२॥
सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत ।
उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः ॥१३॥

जो इस [वाराहनामक] महाकल्पमें सूर्यके पुत्र श्राद्धदेव होकर विख्यात हुए हैं और जिन्हें श्रीहरिने इस समय मनुपदपर नियुक्त किया है ॥ ११ ॥ एक बार वे कृतमाला नदीमें जलसे तर्पण कर रहे थे। इसी समय उनको अञ्जलिमें एक छोटी-सी मछली आ गयी ॥ १२ ॥ हे भरतनन्दन ! तब द्रविड़राज सत्यव्रतने अपनी अञ्जलिमें आयी हुई उस मछलीको पानीके सहित नदीके जलमें छोड़ दिया ॥ १३ ॥

तमाह सातिकरुणं महाकारुणिकं नृपम् ।
यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां मां दीनवत्सल ।
कथं विसृजसे राजन्भीतामस्मिन्सरिज्जले ॥१४॥

इसपर उस मछलीने उस परम दयालु राजासे अति करुणापूर्वक कहा—'हे राजन् ! हे दीनवत्सल ! अपनी जातिकी हिंसा करनेवाले जलजन्तुओंसे डरी हुई मुझ अत्यन्त दीनाको तुम इस नदीके जलमें क्यों छोड़ते हो ?' ॥ १४ ॥

तमात्मनोऽनुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यवपुर्धरम् ।
अजानन्रक्षणार्थाय शफर्याः स मनो दधे ॥१५॥
तस्या दीनतरं वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः ।
कलशाप्सु निधायैनां दयालुर्निन्य आश्रमम् ॥१६॥
सा तु तत्रैकरात्रेण वर्धमाना कमण्डलौ ।
अलब्ध्वात्मावकाशं वा इदमाह महीपतिम् ॥१७॥
नाहं कमण्डलावस्मिन्कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहे ।
कल्पयौकः सुविपुलं यत्राहं निवसे सुखम् ॥१८॥

तब राजा सत्यव्रतने अपने ऊपर अनुग्रह करनेके लिये प्रसन्न होकर मत्स्यरूप धारण करनेवाले भगवान्‌को न जानकर उस मछलीकी रक्षा करनेका चित्तमें निश्चय किया ॥ १५ ॥ उस मत्स्यके ये अत्यन्त दीन वचन सुन वे दयालु राजेश्वर उसे कलशके जलमें रखकर अपने आश्रमपर ले आये ॥ १६ ॥ वह मछली एक रात्रिमें ही बहुत बढ़ गयी और उस कमण्डलुमें अपने योग्य स्थान न पा सकनेके कारण राजासे इस प्रकार कहने लगी ॥ १७ ॥ 'अब इस कमण्डलुमें मैं बहुत कठिनतासे भी नहीं रह सकती । इसलिये अब मेरे लिये कोई ऐसा विस्तृत स्थान नियुक्त करो जहाँ मैं सुखपूर्वक रह सकूँ' ॥१८॥

स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके ।
तत्र क्षिप्ता मुहूर्तेन हस्तत्रयमवर्धत ॥१९॥
न म एतदलं राजन्सुखं वस्तुमुदञ्चनम् ।
पृथु देहि पदं मह्यं यत्त्वाहं शरणं गता ॥२०॥

तब राजाने उसे कमण्डलुसे निकालकर मटकेके जलमें रखा; किन्तु वहाँ डालनेपर वह एक मुहूर्तमें ही तीन हाथ बढ़ गयी [और राजासे कहने लगी—] ॥ १९ ॥ 'हे राजन् ! अब यह मटका भी मेरे सुखपूर्वक रहनेयोग्य नहीं है । मैं तुम्हारी शरण आयी हूँ; इसलिये मुझे कोई और बड़ा स्थान दो' ॥ २० ॥

तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन्सरोवरे ।

हे राजन् ! फिर राजा सत्यव्रतने उसे मटकेसे निकालकर एक सरोवरमें डाल दिया; किन्तु वह

तदावृत्यात्मना सोऽयं महामीनोऽन्ववर्धत ॥२१॥
नैतन्मे स्वस्तये राजन्नुदकं सलिलौकसः ।
निधेहि[1] रक्षायोगेन ह्रदे मामविदासिनि[2] ॥२२॥
इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं तत्र तत्राविदासिनि ।
जलाशये संमितं तं समुद्रे प्राक्षिपज्झषम् ॥२३॥
क्षिप्यमाणस्तमाहेदमिह मां मकरादयः ।
अदन्त्यतिबला वीर मां नेहोत्स्रष्टुमर्हसि ॥२४॥
एवं विमोहितस्तेन वदता वल्गुभारतीम् ।
तमाह को भवानस्मान्मत्स्यरूपेण मोहयन् ॥२५॥
नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च[3] ।
यो भवान्योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः ॥२६॥
नूनं त्वं भगवान्साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः ।
अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम् ॥२७॥
नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर ।
भक्तानां नः[4] प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो॥२८॥
सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः ।
ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम् ॥२९॥
न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं
मृषा भवेत्सर्वसुहृत्प्रियात्मनः ।
यथेतरेषां पृथगात्मनां सता-
मदीदृशो यद्वपुरद्भुतं हि नः ॥३०॥

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पतिः

महामत्स्य अपने शरीरसे उस सरोवरके जलको भी घेरकर बढ़ गया [और कहने लगा—] ॥२१॥ 'राजन् ! मुझ जलचरके लिये यह सरोवर सुखपूर्वक रहनेयोग्य नहीं है; इसलिये मेरी रक्षा करते हुए मुझे किसी अक्षय सरोवरमें पहुँचा दीजिये' ॥ २२ ॥ उसके इस प्रकार कहनेपर राजाने उसे एक-एक करके कई अक्षय सरोवरोंमें पहुँचाया, और उन्हींके बराबर बढ़ जानेके कारण अन्तमें उसे समुद्रमें डाल दिया ॥ २३ ॥ समुद्रमें डाले जानेपर उसने राजासे कहा—'हे वीर ! यहाँ मुझे महाबलवान् मकर आदि खा जायँगे, इसलिये मुझे इस समुद्रके जलमें न छोड़िये' ॥ २४ ॥

इस प्रकार मधुर वाणी बोलते हुए उस मत्स्यसे मोहित हुए राजा सत्यव्रतने उससे कहा—'इस मत्स्यरूपसे मुझे मोहमें डालनेवाले आप कौन हैं ? ॥२५॥ अहो ! आपने एक दिनमें ही अपने शरीरसे सौ योजन विस्तारवाले सरोवरको घेर लिया ! ऐसा वीर्यशाली जलजीव तो हमने अभीतक न कोई देखा है और न सुना ही है ॥२६॥ अवश्य ही आप साक्षात् अविनाशी हरि श्रीनारायण हैं; आपने जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही यह जलचररूप धारण किया है ॥२७॥ जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें समर्थ हे पुरुषश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है । हे विभो ! हम शरणागत भक्तोंके आप ही मुख्य आत्मा और गति हैं ॥२८॥ यों तो आपके सभी लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिये हुआ करते हैं, तो भी जिस लिये आपने यह मत्स्यरूप धारण किया है वह मैं जानना चाहता हूँ ॥२९॥ हे कमलनयन ! देहादि अनात्मामें ही आत्मत्वका अभिमान करनेवाले अन्य पुरुषोंका आश्रय लेना जैसा व्यर्थ होता है वैसा सबके सुहृद् और प्रिय आत्मारूप आपके चरणकमलोंकी शरणमें जाना नहीं होता । इस समय आपने हमें जो रूप दिखाया है वह तो बड़ा ही विचित्र है ॥३०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब अपने अनन्य भक्तोंका प्रिय करनेवाले जगत्पति श्रीमत्स्य-

१. विधे० । २. विनाशिनि । ३. वा । ४. त्वं ।

सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये ।
विहर्तुकामः प्रलयार्णवेऽब्रवी-
च्चिकीर्षुरेकान्तजनप्रियः प्रियम्[1] ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

सप्तमेऽद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिन्दम ।
निमङ्क्ष्यत्यप्ययाम्भोधौ त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ॥३२॥
त्रिलोक्यां लीयमानायां संवर्ताम्भसि वै तदा ।
उपस्थास्यति नौः काचिद्विशाला त्वां मयेरिता ॥३३॥
त्वं तावदोषधीः सर्वा बीजान्युच्चावचानि च ।
सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥३४॥
आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्लवः ।
एकार्णवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा ॥३५॥
दोधूयमानां तां नावं समीरेण बलीयसा ।
उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना ॥३६॥
अहं त्वामृषिभिः साकं सहनावमुदन्वति ।
विकर्षन्विचरिष्यामि यावद्ब्राह्मी निशा प्रभो ॥३७॥
मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥३८॥
इत्थमादिश्य राजानं हरिरन्तरधीयत ।
सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत् ॥३९॥
आस्तीर्य दर्भान्प्राक्कूलान्राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः ।
निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन्मत्स्यरूपिणः ॥४०॥
ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन्महीम् ।
वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत ॥४१॥
ध्यायन्भगवदादेशं ददृशे नावमागताम् ।

भगवान्‌ने अपने भक्तका प्रिय करनेके लिये कल्पके अन्तमें प्रलयकालीन समुद्रके अन्दर विहार करनेकी इच्छासे, अपने साथ इस प्रकार सम्भाषण करते हुए राजा सत्यव्रतसे कहा—॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—हे शत्रुदमन ! आजसे सातवें दिन ये भूः भुवः आदि तीन लोक कल्पान्तके समुद्रमें डूब जायँगे ॥ ३२ ॥ उस समय जब सम्पूर्ण त्रिलोकी प्रलयकालीन जलराशिमें निमग्न होने लगेगी तो मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पास एक बहुत बड़ी नौका उपस्थित होगी ॥३३॥ तब सम्पूर्ण प्राणियोंसे गौरवान्वित हो तुम सप्तर्षियोंसे घिरकर सब प्रकारकी ओषधि और सब तरहके छोटे-बड़े बीज लेकर उस विशाल नौकापर चढ़कर सूर्यादिका प्रकाश न रहनेके कारण सप्तर्षियोंके तेजसे ही आलोकित हो निश्चिन्तभावसे उस प्रलयकालीन जलमें विचरोगे ॥३४-३५॥ जिस समय वह नाव प्रचण्ड पवनके कारण डगमगाने लगेगी उस समय मैं तुम्हारे पास उपस्थित होऊँगा; तब तुम उसे वासुकि नागके द्वारा मेरे सींगमें बाँध देना ॥३६॥ फिर हे राजन् ! जबतक ब्रह्माजीकी रात्रि रहेगी तबतक मैं नौका और सप्तर्षियोंके सहित तुम्हें खींचता हुआ उस प्रलय समुद्रमें विचरता रहूँगा ॥३७॥ उस समय तुम्हारे प्रश्न करनेपर मेरे अनुग्रहपूर्वक उपदेश करनेसे तुम अपने हृदयमें अपरोक्षरूपसे अनुभव हुई मेरी 'परब्रह्म' शब्दसे कही जानेवाली महिमाको जानोगे ॥३८॥

राजा सत्यव्रतको इस प्रकार आदेश कर श्रीहरि अन्तर्धान हो गये और वे जिसके लिये भगवान्‌ने सङ्केत किया था उस कालकी प्रतीक्षा करने लगे ॥३९॥ राजर्षि सत्यव्रत पूर्वको अग्रभाग करके बिछाये हुए कुशाओंपर पूर्वोत्तर मुख होकर बैठ गये और मत्स्यरूप श्रीहरिके चरणोंका चिन्तन करने लगे ॥४०॥ तब बरसते हुए महामेघोंसे बढ़ा हुआ समुद्र मर्यादाको लाँघकर चारों ओरसे पृथिवीको डुबाता हुआ दिखायी दिया ॥४१॥ उस समय भगवान्‌की आज्ञाका स्मरण करते ही उन्होंने वहाँ एक नौका उपस्थित हुई देखी ।

[1] प्रभुः ।

तामारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः ॥४२॥
तमूचुर्मुनयः प्रीता राजन्ध्यायस्व केशवम् ।
स वै नः संकटादस्मादविता शं विधास्यति ॥४३॥
सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे ।
एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः ॥४४॥
निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा ।
वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम् ॥४५॥

उसपर वे ओषधि और बीजोंको लेकर सप्तर्षियोंके सहित चढ़ गये ॥४२॥ तब उनसे प्रसन्न हुए मुनियों-ने कहा—"राजन् ! तुम श्रीकेशवका ध्यान करो, वे ही हमें इस संकटसे बचावेंगे और हमारा कल्याण करेंगे" ॥४३॥ तदनन्तर राजाके ध्यान करते ही उस महासमुद्रमें वह लक्षयोजन विस्तारवाला एक शृंगधारी सुवर्णवर्ण महामत्स्य प्रकट हुआ ॥४४॥ तब, जैसा कि भगवान्‌ने पहले कहा था उसीके अनुसार राजा सत्यव्रतने वासुकि नागरूप रस्सीसे वह नौका उनके सींगमें बाँध दी और फिर प्रसन्न चित्तसे श्रीमधुसूदन भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥४५॥

राजोवाच

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविद-
स्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयु-
र्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥४६॥
जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः
सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम् ।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं
ग्रन्थिं स भिन्द्याद्धृदयं स नो गुरुः ॥४७॥
यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनं
पुमान्विजह्यान्मलमात्मनस्तमः ।
भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो
भूयात्स ईशः परमो गुरोर्गुरुः ॥४८॥
न यत्प्रसादायुतभागलेश-
मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।
कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस-
स्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥४९॥
अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृत-
स्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः ।
त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम् ॥५०॥

राजाने कहा—अनादि अविद्यासे जिनका आत्म-ज्ञान आच्छादित हो गया है वे अविद्यामूलक संसार-श्रमसे आतुर पुरुष दैवात् जिन आपके अनुग्रहसे ही आपकी शरणमें पहुँचकर आपको प्राप्त कर लेते हैं वे आप हमारे मुक्तिदायक परमगुरु हैं ॥४६॥ जिसके कारण यह अज्ञानी पुरुष अपने कर्म-बन्धनमें बँधकर सुखकी इच्छासे दुःखमय कर्मोंमें प्रवृत्त होता है; उस असद्बुद्धिको वह जिनकी सेवाके प्रभावसे त्याग सकता है वे हमारे परमगुरु आप हमारी हृदयग्रन्थिका छेदन करें ॥४७॥ जिस प्रकार अग्नि सोने-चाँदीके मलको दूर कर देता है उसी प्रकार जिनकी सेवासे पुरुष अपने अन्तःकरणके अज्ञानरूप मलको त्यागकर अपने शुद्धस्वरूपमें स्थित हो जाता है वे गुरुजनोंके भी परमगुरु आप अविनाशी ईश्वर ही हमारे गुरु हों ॥४८॥ हे प्रभो ! देवता, गुरु और अन्य जन ये सब मिलकर भी जिनके अनुग्रहके दश हजारवें अंशके समान भी किसी पुरुषपर स्वयं कृपा नहीं कर सकते उन आप परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ॥४९॥ जिस प्रकार कोई नेत्रहीन व्यक्ति अन्धे आदमीको अगुआ बनाता है उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्योंका विवेकहीन पुरुषको गुरु बनाना व्यर्थ होता है। आप तो सूर्यके समान स्वयंप्रकाश और सकल इन्द्रियोंके साक्षी हैं; अतः आत्मतत्त्वके जाननेके इच्छुक हमने आपको अपना गुरु बनाया है ॥ ५० ॥

जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिं[1]
यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः ।
त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा
प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् ॥५१॥
त्वं सर्वलोकस्य सुहृत्प्रियेश्वरो
ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः[2] ।
तथापि लोको न भवन्तमन्धधी-
र्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः ॥५२॥
तं त्वामहं देववरं[3] वरेण्यं
प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय ।
छिन्ध्यर्थदीपैर्भगवन्वचोभि-
र्ग्रन्थीन्हृदय्यान्विवृणु स्वमोकः ॥५३॥

[अपनेको गुरु माननेवाला] अज्ञानी पुरुष तो अन्य अज्ञानी लोगोंको अर्थ-कामादिविषयक असद्बुद्धिका ही उपदेश देता है जिससे वे दुस्तर अन्धकार (संसार) में ही गिरते हैं; किन्तु आप तो अक्षय और अमोघ ज्ञानका ही उपदेश करते हैं, जिससे मनुष्य सुगमतासे ही आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ ५१ ॥ आप सम्पूर्ण लोकके सुहृद्, प्रिय, ईश्वर, आत्मा, गुरु तथा ज्ञान और इच्छित-फलस्वरूप हैं; किन्तु यह मोहान्ध और विषयासक्त लोक अपने हृदयमें विराजमान आप परमेश्वरको नहीं जान पाता ॥ ५२ ॥ इस समय मैं तत्त्वज्ञानका उपदेश पानेकी इच्छासे आप देवश्रेष्ठ परमपूजनीय परमेश्वरकी शरणमें आया हूँ । हे भगवन् ! आप परमार्थका प्रकाश करनेवाले अपने वचनोंसे मेरी हृदयग्रन्थियोंका छेदन कीजिये और अपने स्वरूपको प्रकाशित कीजिये ॥ ५३ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुषः ।
मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत् ॥५४॥
पुराणसंहितां दिव्यां सांख्ययोगक्रियावतीम्[4] ।
सत्यव्रतस्य राजर्षेरात्मगुह्यमशेषतः ॥५५॥
अश्रौषीदृषिभिः साकमात्मतत्त्वमसंशयम् ।
नाव्यासीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम् ॥५६॥
अतीतप्रलयापाय उत्थिताय स वेधसे ।
हत्वासुरं हयग्रीवं वेदान्प्रत्याहरद्धरिः ॥५७॥
स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः[5] ।
विष्णोः प्रसादात्कल्पेऽस्मिन्नासीद्वैवस्वतो मनुः ॥५८॥
सत्यव्रतस्य राजर्षेर्मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः ।
संवादं महदाख्यानं श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥५९॥
अवतारो हरेर्योऽयं कीर्तयेदन्वहं नरः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब मत्स्यरूपसे महासागरमें विहार करते हुए भगवान् आदिपुरुषने इस प्रकार प्रार्थना करते हुए राजा सत्यव्रतको आत्मतत्त्वका उपदेश किया ॥ ५४ ॥ भगवान्‌ने, जिसमें सांख्य, योग और कर्मका उल्लेख किया गया है उस आत्मरहस्ययुक्त मत्स्यपुराणसंहिताका राजर्षि सत्यव्रतसे पूर्णतया वर्णन किया ॥ ५५ ॥ तथा ऋषियोंके साथ नौकामें बैठे हुए राजाने भगवान्‌का कहा हुआ वह सनातन ब्रह्मतत्त्व निस्सन्देह होकर सुना ॥ ५६ ॥

तदनन्तर इस अतीत प्रलयका अन्त होनेपर जब ब्रह्माजी सोकर उठे तो उन मत्स्यभगवान्‌ने हयग्रीव दैत्यको मारकर उन्हें वेद लाकर दिये ॥ ५७ ॥ तथा वे ज्ञानविज्ञानसम्पन्न राजा सत्यव्रत ही श्रीविष्णुकी कृपासे इस कल्पमें वैवस्वत नामक मनु हुए ॥ ५८ ॥ हे राजन् ! राजर्षि सत्यव्रत और मायामत्स्यरूप श्रीविष्णु-भगवान्‌के संवादरूप इस महान् आख्यानको सुननेसे मनुष्य सब प्रकारके पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ५९ ॥ भगवान् श्रीहरिका जो यह अवतार है इसका जो पुरुष

१. गतिं । २. सिद्धिदः । ३. देवदेवं । ४. समन्विताम् । ५. सम्मतः ।

मत्स्यभगवान्‌की जलक्रीडा

इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुषः । मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत् ॥

[पृष्ठ १०४

सङ्कल्पास्तस्य सिध्यन्ति स याति परमां गतिम् ॥६०॥

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
दितिजमकथयद्यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥६१॥

नित्यप्रति कीर्तन करता है उसके सब सङ्कल्प सिद्ध हो जाते हैं और वह परमगति प्राप्त कर लेता है ॥६०॥

जिन्होंने प्रलयकालीन जलमें शयन करते हुए ब्रह्माजीके मुखसे चुराकर ले जाये गये वेदोंको हयग्रीव दैत्यका वध करके पुनः प्राप्त किया तथा सप्तर्षियोंके सहित राजा सत्यव्रतको ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया उन निखिलजगत्कारण मायामत्स्यरूप श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[1] वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मत्स्यावतारचरितानुवर्णनं नाम
चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

॥ इत्यष्टमस्कन्धः समाप्तः ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

१. जेऽष्टमे स्कन्धे मत्स्यमनुसंवादे चतुर्विंशतितमो ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

नवम स्कन्ध

लोकशोकापहाराय रावणं लोकरावणम् ।
रामो भूत्वावधीद्यस्तं गोविन्दं विन्दतां मनः ॥

श्रीरामचन्द्राय नमः

श्रीमद्भागवत

नवम स्कन्ध

पहला अध्याय

वैवस्वतमनुके पुत्र सुद्युम्नकी कथा ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

राजोवाच

मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च ॥ १ ॥
योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः ।
ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया ॥ २ ॥
स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम् ।
त्वत्तस्तस्य सुताश्चोक्ता इक्ष्वाकुप्रमुखा नृपाः ॥ ३ ॥
तेषां वंशं पृथग्ब्रह्मन्वंश्यानुचरितानि[1] च ।
कीर्तयस्व महाभाग नित्यं शुश्रूषतां हि नः ॥ ४ ॥
ये भूता ये भविष्याश्च भवन्त्यद्यतनाश्च ये ।
तेषां नः पुण्यकीर्तीनां सर्वेषां वद[2] विक्रमान् ॥ ५ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे सज्जन् ! मैंने आपके कहे हुए सम्पूर्ण मन्वन्तर और उनमें किये हुए अनन्तवीर्य श्रीहरिके पराक्रमोंका वर्णन सुना ॥ १ ॥ आपहीके मुखसे मैंने यह भी सुना है कि यह जो राजर्षि सत्यव्रतनामक द्रविडेश्वर थे और जिन्होंने पिछले कल्पके अन्तमें भगवत्सेवाके प्रभावसे ज्ञान प्राप्त किया था वे ही सूर्य भगवान्‌के पुत्र वैवस्वतमनु हुए । आपने इक्ष्वाकु आदि राजे उनके पुत्र बतलाये थे, सो हे ब्रह्मन् ! हे महाभाग ! अब हमें उनके वंश और उसमें उत्पन्न हुए राजाओंके चरित्र सुनाइये, क्योंकि हम सर्वदा कथाश्रवणके लिये उत्सुक रहते हैं ॥२–४॥ उस मनुवंशमें जो नृपतिगण पहले हो गये हैं, जो भविष्यमें होंगे और जो इस समय वर्तमान हैं उन सम्पूर्ण पवित्रकीर्ति भूपालोंके विक्रम हमें सुनाइये ॥ ५ ॥

सूत उवाच

एवं परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम् ।
पृष्टः प्रोवाच भगवाञ्छुकः परमधर्मवित् ॥ ६ ॥

श्रीसूतजी बोले—हे मुने ! ब्रह्मवादी मुनीश्वरोंकी सभामें राजा परीक्षित्‌के इस प्रकार पूछनेपर परम धर्मज्ञ भगवान् शुकदेवजीने कहा ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परंतप ।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे शत्रुदमन ! तुम मनुवंशका प्रायः संक्षेपसे वर्णन सुनो । उसका विस्तृत वर्णन तो सौ वर्षमें भी नहीं किया जा सकता ॥ ७ ॥

---

१. वंश्यादिचरि० । २. त्वमनुक्रमात् ।

परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः ।
स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन ॥ ८ ॥
तस्य नाभेः समभवत्पद्मकोशो हिरण्मयः ।
तस्मिञ्जज्ञे महाराज स्वयंभूश्चतुराननः ॥ ९ ॥
मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यपः ।
दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत्सुतः ॥१०॥
ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत ।
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान्स आत्मवान् ॥११॥
इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान् ।
नरिष्यन्तं पृषध्रं[2] च नभगं च कविं विभुः ॥१२॥

जो परम पुरुष परमात्मा छोटे-बड़े सभी प्राणियोंके आत्मा हैं, प्रलयकालमें यह सम्पूर्ण जगत् तद्रूप ही था; उस समय उनके सिवा और कुछ भी नहीं था ॥ ८ ॥ हे महाराज ! उनकी नाभिसे एक सुवर्णमय कमलकोश प्रकट हुआ; उससे चतुर्मुख ब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥९॥ उनके मनसे मरीचिका जन्म हुआ और उनके पुत्र कश्यपजी हुए तथा कश्यपजीके दक्षकुमारी अदितिके गर्भसे विवस्वान् (सूर्य) नामक पुत्र हुआ ॥ १० ॥ हे भारत ! उनके संज्ञाके उदरसे श्राद्धदेवमनुका जन्म हुआ तथा महामनस्वी महाराज श्राद्धदेवने अपनी पत्नी श्रद्धासे इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि—ये दश पुत्र उत्पन्न किये ॥ ११-१२ ॥

अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान्किल ।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत्प्रभुः ॥१३॥
तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत ।
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता ॥१४॥
प्रेषितोऽध्वर्युणा होता ध्यायंस्तत्सुसमाहितः ।
हविषि[3] व्यचरत्तेन वषट्कारं गृणन्द्विजः ॥१५॥
होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साभवत् ।
तां विलोक्य मनुः प्राह नातिहृष्टमना गुरुम् ॥१६॥
भगवन्किमिदं जातं कर्म वो ब्रह्मवादिनाम् ।
विपर्ययमहो कष्टं मैवं स्याद्ब्रह्मविक्रिया ॥१७॥
यूयं मन्त्रविदो युक्तास्तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
कुतः संकल्पवैषम्यमनृतं विबुधेष्विव ॥१८॥

कहते हैं, पहले जब वैवस्वतमनु सन्तानहीन थे तब भगवान् वसिष्ठजीने उनके सन्तान होनेके लिये मित्रावरुणका यज्ञ कराया था ॥ १३ ॥ उस समय केवल दुग्धाहार करनेवाली मनुकी पत्नीने होताके पास आकर उन्हें प्रणाम करके कन्याके लिये याचना की ॥ १४ ॥ तब अध्वर्युके प्रेरणा करनेपर ब्राह्मण होताने मनुपत्नीके कथनका स्मरण करते हुए एकाग्रचित्तसे वषट्कारका उच्चारण करते हुए हवि छोड़ी ॥ १५ ॥ होताके इस विपरीत कर्मसे वह सन्तान इला नामकी कन्या हुई । उसे देखकर मनुने चित्तमें कुछ अधिक प्रसन्न न होकर गुरु वसिष्ठजीसे कहा ॥ १६ ॥ "भगवन् ! आप वेदवादियोंका कर्म इस प्रकार विपरीत कैसे हो गया ? अहो ! बड़े दुःखकी बात है ! वैदिक कर्मका ऐसा विपरीत फल तो नहीं होना चाहिये ॥ १७ ॥ आपलोग मन्त्रशास्त्रको जाननेवाले, जितेन्द्रिय और तपके प्रभावसे निष्पाप हैं; फिर देवताओंमें असत्यकी प्राप्तिके समान आपके संकल्पका यह विपरीत फल कैसे हुआ ?" ॥ १८ ॥

तन्निशम्य वचस्तस्य भगवान्प्रपितामहः ।
होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम् ॥१९॥
एतत्संकल्पवैषम्यं होतुस्ते व्यभिचारतः ।

उनके ये वचन सुन हमारे प्रपितामह भगवान् वसिष्ठजी होताका व्यतिक्रम जानकर सूर्यपुत्र मनुसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १९ ॥ "हे राजन् ! आपके होताके विपरीत आचरणसे ही यह संकल्पके विपरीत फल

१. मात्मैष । २. पृषुं वस्वं नाभागं । ३. गृहीते हविषि वाचं वष० ।

तथापि साधयिष्ये ते सुप्रजास्त्वं स्वतेजसा ॥२०॥

हुआ है; तो भी अपने तपोबलसे ही मैं तुम्हें श्रेष्ठ पुत्रवाला बनाऊँगा* ॥ २० ॥

एवं व्यवसितो राजन्भगवान्स महायशाः ।
अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥२१॥
तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान्हरिरीश्वरः ।
ददाविलाभवत्तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः ॥२२॥

हे राजन्! इस प्रकार निश्चय कर परम यशस्वी भगवान् वसिष्ठजीने इलाको पुरुषत्व प्राप्त करानेकी इच्छासे आदिपुरुष श्रीनारायणदेवकी स्तुति की ॥२१॥ तब परमेश्वर भगवान् हरिने प्रसन्न हो उन्हें इच्छित वर दिया; इससे वह इला ही पुरुषश्रेष्ठ सुद्युम्न हो गयी ॥ २२ ॥

स एकदा महाराज विचरन्मृगयां वने ।
वृतः कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सैन्धवम् ॥२३॥
प्रगृह्य रुचिरं चापं शरांश्च परमाद्भुतान् ।
दंशितोऽनुमृगं वीरो जगाम दिशमुत्तराम् ॥२४॥
स कुमारो वनं मेरोरधस्तात्प्रविवेश ह ।
यत्रास्ते भगवाञ्छर्वो रममाणः सहोमया ॥२५॥
तस्मिन्प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा ।
अपश्यत्स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप ॥२६॥
तथा तदनुगाः सर्वे आत्मलिङ्गविपर्ययम् ।
दृष्ट्वा विमनसोऽभूवन्वीक्षमाणाः परस्परम् ॥२७॥

हे महाराज! एक बार राजा सुद्युम्न कवच धारण कर हाथमें सुन्दर धनुष और अति अद्भुत बाण ले एक सिन्धुदेशीय घोड़ेपर सवार हो कुछ मन्त्रियोंके साथ शिकार खेलने वनमें गया। वहाँ वह वीर एक मृगके पीछे पड़कर उत्तर दिशाको चला गया ॥ २३-२४ ॥ अन्तमें, वह कुमार सुमेरु पर्वतकी तलैटीमें एक वनमें घुस गया, जहाँ पार्वतीजीके साथ भगवान् शङ्कर रमण कर रहे थे ॥ २५ ॥ हे राजन्! उस वनमें प्रवेश करते ही शत्रुदमन सुद्युम्नने अपनेको स्त्री और घोड़ेको घोड़ीरूपमें देखा ॥ २६ ॥ इसी प्रकार उसके सब साथियोंने भी अपने स्वरूपको विपरीत हुए देखा। इससे वे एक-दूसरेकी ओर देखते हुए बड़े खिन्न हो गये ॥ २७ ॥

राजोवाच

कथमेवंगुणो देशः केन वा भगवन्कृतः ।
प्रश्नमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि नः ॥२८॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! उस देशको ऐसे गुणवाला क्यों और किसने कर दिया था? कृपया इस प्रश्नका उत्तर दीजिये, हमें यह जाननेके लिये बड़ा कुतूहल हो रहा है ॥ २८ ॥

श्रीशुक उवाच

एकदा गिरिशं द्रष्टुमृषयस्तत्र सुव्रताः ।
दिशो वितिमिराभासाः कुर्वन्तः समुपागमन् ॥२९॥
तान्विलोक्याम्बिका देवी विवासा व्रीडिता भृशम् ।
भर्तुरङ्कात्समुत्थाय नीवीमाश्वथ पर्यधात् ॥३०॥
ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्य प्रसङ्गं रममाणयोः ।
निवृत्ताः प्रययुस्तस्मान्नरनारायणाश्रमम् ॥३१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! एक बार अपने तेजसे दिशाओंको अन्धकारशून्य करनेवाले कुछ व्रतशील ऋषिलोग श्रीमहादेवजीका दर्शन करनेके लिये उस वनमें आये ॥ २९ ॥ उन्हें देखकर वस्त्रहीना अम्बिकादेवीको बड़ी लज्जा आयी और उन्होंने तुरन्त ही पतिदेवकी गोदसे उठकर वस्त्र पहन लिया ॥३०॥ वे ऋषिलोग भी शिव-पार्वतीके रमणका प्रसंग देखकर वहाँसे लौटकर नर-नारायणके आश्रमको चले गये॥३१॥

---

१. काम्य० । २. रथ० ।

* अर्थात् अपने तपके प्रभावसे इस कन्याको पुत्र बना दूँगा ।

तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया ।

स्थानं यः प्रविशेदेतत्स वै योषिद्भवेदिति ॥३२॥

तब अपनी प्रियाका प्रिय करनेकी कामनासे भगवान् शङ्करने कहा—"[मेरे सिवा] जो पुरुष इस स्थानमें प्रवेश करेगा वह निःसन्देह स्त्री हो जायगा" ॥३२॥

तत ऊर्ध्वं वनं तद्वै पुरुषा वर्जयन्ति हि ।
सा चानुचरसंयुक्ता विचचार वनाद्वनम् ॥३३॥

हे राजन् ! तबसे पुरुषोंने उस वनको छोड़ रखा था। फिर वह स्त्री (स्त्रीरूप सुद्युम्न) अपने अनुचरोंसहित एक वनसे दूसरे वनमें विचरने लगी ॥३३॥

अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम् ।
स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान्बुधः ॥३४॥
सापि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम् ।
स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम् ॥३५॥

उस स्त्री-रत्नको अन्य स्त्रियोंके साथ अपने आश्रमके समीप विचरती देख भगवान् बुधने उसकी कामना की ॥३४॥ उस सुभ्रुने भी उस चन्द्रकुमार (बुध) को अपना पति बनाना चाहा । तब बुधने उससे पुरूरवानामक पुत्र उत्पन्न किया ॥३५॥

एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः ।
सस्मार स्वकुलाचार्यं वसिष्ठमिति शुश्रुम ॥३६॥
स तस्य तां दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः ।
सुद्युम्नस्याशयन्पुंस्त्वमुपाधावत शङ्करम् ॥३७॥

हे राजन् ! हमने सुना है कि इस प्रकार स्त्रीत्वको प्राप्त हुए मनुपुत्र राजा सुद्युम्नने अपने कुलगुरु वसिष्ठजीको स्मरण किया ॥३६॥ सुद्युम्नकी ऐसी दशा देखकर वसिष्ठजी कृपावश अत्यन्त दुःखी हुए और उसे पुरुषत्व प्राप्त करानेके लिये भगवान् शङ्करकी आराधना करने लगे ॥३७॥

तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रियमावहन् ।
स्वां च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह विशांपते ॥३८॥
मासं पुमान्स भविता मासं[1] स्त्री तव गोत्रजः ।
इत्थं व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम् ॥३९॥

हे पृथ्वीपते ! तब वसिष्ठजीकी उपासनासे सन्तुष्ट हो भगवान् शिवने, उनका प्रिय करनेके लिये और अपने वचनोंको भी सत्य रखनेके लिये उनसे इस प्रकार कहा—॥३८॥"यह सुद्युम्न एक मास स्त्री और एक मास तुम्हारे गोत्रमें उत्पन्न हुआ पुरुष रहा करेगा। इस प्रकार व्यवस्थासे यह भूमण्डलका इच्छानुसार पालन करे"॥३९॥

आचार्यानुग्रहात्कामं लब्ध्वा पुंस्त्वं व्यवस्थया ।
पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन्स्म तं प्रजाः ॥४०॥

इस प्रकार गुरु वसिष्ठजीकी कृपासे व्यवस्थापूर्वक पुरुषत्व लाभ कर वह पृथिवीका पालन करने लगा । किन्तु [स्त्रीत्व प्राप्त होनेपर उसका एक मासतक छिपा रहना] प्रजाको अच्छा नहीं लगता था ॥४०॥

तस्योत्कलो गयो राजन्विमलश्च सुतास्त्रयः ।
दक्षिणापथराजानो बभूवुर्धर्मवत्सलाः ॥४१॥
ततः परिणते काले प्रतिष्ठानपतिः प्रभुः ।
पुरूरवस उत्सृज्य गां पुत्राय गतो वनम् ॥४२॥

हे राजन् ! उसके उत्कल, गय और विमलनामक तीन पुत्र हुए जो बड़े धर्मप्रेमी और दक्षिणापथके राजा थे ॥४१॥ फिर कालान्तरमें वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर प्रतिष्ठानपुराधीश महाराज सुद्युम्न अपने पुत्र पुरूरवाको राज्य सौंपकर वनको चले गये ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे इलोपाख्याने
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

१. स्त्री मासं ।

दूसरा अध्याय

पृषध्र, कवि, करूष, नरिष्यन्त और दिष्टके वंशोंका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

एवं गतेऽथ सुद्युम्ने मनुर्वैवस्वतः सुते ।
पुत्रकामस्तपस्तेपे यमुनायां शतं समाः ॥ १ ॥
ततोऽयजन्मनुर्देवमपत्यार्थं हरिं प्रभुम् ।
इक्ष्वाकुपूर्वजान्पुत्राँल्लेभे स्वसदृशान्दश ॥ २ ॥
पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणा कृतः ।
पालयामास गा यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः ॥ ३ ॥
एकदा प्राविशद्गोष्ठं शार्दूलो निशि वर्षति ।
शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे ॥ ४ ॥
एकां जग्राह बलवान्सा चुक्रोश भयातुरा ।
तस्यास्तत्क्रन्दितं श्रुत्वा पृषध्रोऽभिससार ह ॥ ५ ॥
खड्गमादाय तरसा प्रलीनोडुगणे निशि ।
अजानन्नहनद्बभ्रोः शिरः शार्दूलशङ्कया ॥ ६ ॥
व्याघ्रोऽपि वृक्णश्रवणो निस्त्रिंशाग्राहतस्ततः[1] ।
निश्चक्राम भृशं भीतो रक्तं पथि समुत्सृजन् ॥ ७ ॥
मन्यमानो हतं व्याघ्रं पृषध्रः परवीरहा ।
अद्राक्षीत्स्वहतां बभ्रुं व्युष्टायां निशि दुःखितः ॥ ८ ॥
तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः ।
न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भवितामुना ॥ ९ ॥
एवं शप्तस्तु गुरुणा प्रत्यगृह्णात्कृताञ्जलिः ।
अधारयद्व्रतं वीर ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम् ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार अपने पुत्र सुद्युम्नके चले जानेपर वैवस्वतमनुने पुत्रकी इच्छासे यमुनातटपर सौ वर्षोंतक तपस्या की ॥१॥ उसके बाद मनुने सन्तानके लिये देवदेव भगवान् श्रीहरिकी यज्ञद्वारा आराधना की । इससे उन्हें अपने ही समान इक्ष्वाकु आदि दश पुत्र प्राप्त हुए ॥२॥ मनुके पृषध्रनामक पुत्रको गुरु वसिष्ठजीने गौओंकी रक्षामें नियुक्त कर दिया था; अतः वह रात्रिके समय सावधानतापूर्वक वीरासनसे बैठकर गौओंकी रक्षा किया करता था ॥३॥ एक दिन रात्रिमें वर्षा होते समय गौओंके झुण्डमें एक व्याघ्र घुस आया । इससे भयभीत होकर सोयी हुई गौएँ उठ-उठकर गोष्ठमें घूमने लगीं ॥४॥ इसी समय उस बलवान् व्याघ्रने एक गौ पकड़ ली; तब वह अत्यन्त भयातुर होकर चिल्लाने लगी । उसका रुदन सुनकर पृषध्र उसके पास आया ॥५॥ और तलवार निकालकर, मेघोंके कारण जिसके तारे छिप गये हैं ऐसी रात्रिमें, बिना जाने व्याघ्र समझकर बड़े वेगसे उस कपिला गौका मस्तक काट डाला ॥६॥ उस तलवारके अग्रभागसे कान कट जानेके कारण वह व्याघ्र भी अत्यन्त भयभीत होकर मार्गमें खून गिराता हुआ वहाँसे चला गया ॥ ७ ॥ इससे शत्रुदमन पृषध्रने समझा कि व्याघ्र मारा गया; किन्तु रात्रि शेष होनेपर अपनी मारी हुई गौको देखकर वह अत्यन्त दुःखी हुआ ॥८॥ तब, इस प्रकार अनिच्छासे अपराध करनेवाले पृषध्रको कुलगुरु वसिष्ठजीने यह शाप दिया—'अरे ! इस कर्मके कारण तू क्षत्रियाधम भी नहीं रहेगा, शूद्र हो जायगा' ॥९॥

गुरुके इस प्रकार शाप देनेपर वीरवर पृषध्रने उसे हाथ जोड़कर स्वीकार किया, और फिर मुनियोंको प्रिय लगनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया ॥१०॥

---

१. शाग्रहत० ।

वासुदेवे भगवति सर्वात्मनि परेऽमले ।
एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत्समः ॥११॥
विमुक्तसङ्गः शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः ।
यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन्वृत्तिमात्मनः ॥१२॥
आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्तः समाहितः ।
विचचार महीमेतां जडान्धबधिराकृतिः ॥१३॥
एवं वृत्तो वनं गत्वा दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम् ।
तेनोपयुक्तकरणो ब्रह्म प्राप परं मुनिः ॥१४॥

वह सब प्राणियोंके प्रति सुहृद् और समदर्शी होकर भक्ति-भावसे परम विशुद्ध सर्वात्मा भगवान् वासुदेवमें अनन्य-भावको प्राप्त हो गया ॥११॥ उसने सब प्रकारका संग त्याग दिया और शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, परिग्रह-शून्य होकर दैववश प्राप्त हुए आहारसे ही निर्वाह करता हुआ, अपने चित्तको परमात्मामें स्थिर कर ज्ञानामृतसे तृप्त और समाहित हो जड, अन्धे और बहरे पुरुषोंके समान इस भूमण्डलपर विचरने लगा ॥१२-१३॥ ऐसी वृत्तिसे वनमें जाकर वहाँ दावानल लगा हुआ देख, उसमें अपने इन्द्रियगणको भस्म कर वह मुनि परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो गया ॥१४॥

कविः कनीयान्विषयेषु निःस्पृहो
विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम् ।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषं
विवेश कैशोरवयाः परं गतः ॥१५॥

मनुका सबसे छोटा पुत्र कवि भी विषयोंसे उदासीन हो अपने बन्धुजनोंके सहित राज्यको त्यागकर वनमें चला गया और अपने चित्तमें स्वयंप्रकाश पुरुषोत्तम भगवान्‌को स्थापित कर किशोरावस्थामें ही परमपदको प्राप्त हो भगवान्‌में लीन हो गया ॥१५॥

करूषान्मानवादासन्कारूषाः क्षत्रजातयः ।
उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः ॥१६॥
धृष्टाद्धार्ष्टमभूत्क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ ।
नृगस्य वंशः सुमतिर्भूतज्योतिस्ततो वसुः ॥१७॥
वसोः प्रतीकस्तत्पुत्र ओघवानोघवत्पिता ।
कन्या चौघवती नाम सुदर्शन उवाह ताम् ॥१८॥

मनुपुत्र करूषसे कारूषनामक क्षत्रियलोग हुए, जो उत्तरीय देशोंके रक्षक, ब्राह्मणभक्त और धर्ममें प्रीति रखनेवाले थे ॥१६॥ धृष्टसे धार्ष्टनामक क्षत्रिय हुए जो पृथिवीमें ब्राह्मणभावको प्राप्त हो गये थे। नृगका पुत्र सुमति हुआ, तथा सुमतिका भूतज्योति, भूतज्योतिका वसु, वसुका प्रतीक और प्रतीकका पुत्र ओघवान् हुआ जो ओघवान् नामके ही पुत्रका पिता था। ओघवान्‌के ओघवती नामकी एक कन्या थी, जिसे सुदर्शनने विवाहा था ॥१७-१८॥

चित्रसेनो नरिष्यन्तादृक्षस्तस्य सुतोऽभवत् ।
तस्य मीढ्वांस्ततः कूर्च इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः ॥१९॥
वीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात्तस्य सत्यश्रवा अभूत् ।
उरुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत् ॥२०॥
ततोऽग्निवेश्यो भगवानग्निः स्वयमभूत्सुतः ।
कानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महानृषिः ॥२१॥
ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप ।
नरिष्यन्तान्वयः प्रोक्तो दिष्टवंशमतः[2] शृणु ॥२२॥

नरिष्यन्तका पुत्र चित्रसेन था, चित्रसेनका ऋक्ष, ऋक्षका मीढ्वान्, मीढ्वान्‌का कूर्च और उसका पुत्र इन्द्रसेन हुआ ॥१९॥ इन्द्रसेनके वीतिहोत्र, वीतिहोत्रके सत्यश्रवा, सत्यश्रवाके उरुश्रवा और उसके देवदत्त-नामक पुत्र हुआ ॥२०॥ देवदत्तके अग्निवेश्यनामधारी स्वयं भगवान् अग्नि पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए, जो आगे चलकर कानीन तथा महर्षि जातूकर्ण्य नामसे विख्यात हुए ॥२१॥ हे राजन्! उनसे आग्निवेश्यायन गोत्रवाले ब्राह्मणवंशका विस्तार हुआ। इस प्रकार नरिष्यन्तकी सन्ततिका वर्णन हुआ, अब दिष्टका वंश सुनो ॥२२॥

१. ज्ञानद्रष्टः। २. मथो।

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः।
भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥२३॥

दिष्टका पुत्र नाभाग हुआ, जो आगे कहे जानेवाले नाभागसे अन्य है। वह अपने कर्मके कारण वैश्यत्वको प्राप्त हो गया था। उसका पुत्र भलन्दन था और भलन्दनके वत्सप्रीतिका जन्म हुआ ॥ २३ ॥

वत्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतं प्रमतिं विदुः।
खनित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः ॥२४॥

वत्सप्रीतिका पुत्र प्रांशु था और उसका पुत्र प्रमति माना जाता है। फिर प्रमतिसे खनित्र, खनित्रसे चाक्षुष और चाक्षुषसे विविंशतिका जन्म हुआ ॥ २४ ॥

विविंशतिसुतो रम्भः खनिनेत्रोऽस्य धार्मिकः।
करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप ॥२५॥

विविंशतिका पुत्र रम्भ था और हे राजन्! रम्भके पुत्र परम धार्मिक खनिनेत्र तथा उनके महाराज करन्धम हुए ॥२५॥

तस्यावीक्षित्सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत्।
संवर्तोऽयाजयद्यं वै महायोग्यङ्गिरःसुतः ॥२६॥

करन्धमके पुत्र अवीक्षित् हुए और उनके चक्रवर्ती महाराज मरुत्तका जन्म हुआ, जिनसे अंगिरा ऋषिके पुत्र महायोगी संवर्तने यज्ञ कराया था ॥२६॥

मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्यस्य कश्चन।
सर्वं हिरण्मयं त्वासीद्यत्किञ्चिच्चास्य शोभनम् ॥२७॥

जैसा यज्ञ मरुत्तका हुआ था वैसा और किसीका नहीं हुआ; उसमें जो कुछ पात्रादि थे वे सभी अति सुन्दर सुवर्णमय थे ॥२७॥

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
मरुतः परिवेष्टारो विश्वेदेवाः सभासदः ॥२८॥

उस यज्ञमें इन्द्र सोमपानसे मत्त हो गये थे और ब्राह्मणलोग दक्षिणाओंसे संतुष्ट थे; तथा उसमें परोसनेवाले स्वयं मरुद्गण और सभासद् विश्वेदेवगण थे ॥ २८ ॥

मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्यासीद्राज्यवर्धनः[1]।
सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः ॥२९॥

मरुत्तका पुत्र दम था तथा दमके राज्यवर्धन, उसके सुधृति और सुधृतिके नरनामक पुत्र हुआ ॥ २९ ॥

तत्सुतः केवलस्तस्माद्बन्धुमान्वेगवांस्ततः।
बन्धुस्तस्याभवद्यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः ॥३०॥

उसका पुत्र केवल हुआ, केवलका बन्धुमान्, बन्धुमान्का वेगवान् और वेगवान्से बन्धुका जन्म हुआ जिसका पुत्र पृथिवीपति तृणबिन्दु हुआ ॥३०॥

तं भेजेऽलम्बुषा देवी भजनीयगुणालयम्।
वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेडविडाभवत् ॥३१॥

सब प्रकारके सेवनीय गुणोंके आश्रयरूप उन तृणबिन्दुको देवी अलम्बुषा नामकी एक श्रेष्ठ अप्सराने वरण किया, जिससे उनके कई पुत्र और इडविडा नामकी एक कन्या हुई ॥३१॥

तस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं सुतम्।
प्रादाय विद्यां परमामृषिर्योगेश्वरात्पितुः ॥३२॥

उससे मुनिवर विश्रवाने, अपने पिता पुलस्त्यजीसे उत्तम विद्या प्राप्त कर, कुबेरनामक पुत्र उत्पन्न किया ॥३२॥

विशालः शून्यबन्धुश्च धूम्रकेतुश्च तत्सुताः।
विशालो वंशकृद्राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम् ॥३३॥

विशाल, शून्यबन्धु और धूम्रकेतु—ये महाराज तृणबिन्दुके पुत्र थे। उनमेंसे वंशकी वृद्धि करनेवाले राजा विशालने वैशाली नामकी पुरी बसायी ॥३३॥

हेमचन्द्रः सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चात्मजः।
तत्पुत्रात्संयमादासीत्कृशाश्वः सहदेवजः ॥३४॥

विशालका पुत्र हेमचन्द्र, हेमचन्द्रका धूम्राक्ष, उसका संयम और संयमके कृशाश्व तथा देवज दो पुत्र हुए ॥३४॥

---

१. चात्र। २. द्राजवर्ध०। ३. यस्या०। ४. धूम्रकेशश्च।

कृशाश्वात्सोमदत्तोऽभूद्योऽश्वमेधैरिडस्पतिम् ।
इष्ट्वा पुरुषमापाग्र्यां गतिं योगेश्वराश्रितः ॥३५॥
सौमदत्तिस्तु सुमतिस्तत्सुतो जनमेजयः ।
एते वैशालभूपालास्तृणबिन्दोर्यशोधराः ॥३६॥

कृशाश्वके सोमदत्तनामक पुत्र हुआ, जिसने अश्वमेध यज्ञोंद्वारा परमपुरुष भगवान् यज्ञेश्वरका यजन करके योगेश्वरोंका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त की ॥३५॥ सोमदत्तका पुत्र सुमति था और उसका पुत्र जनमेजय हुआ। ये सब तृणबिन्दुके यशको बढ़ानेवाले विशालवंशी नृपतिगण थे ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

महर्षि च्यवन और सुकन्याका चरित्र तथा श्रीबलराम और रेवतीका विवाह ।

श्रीशुक उवाच

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह ।
यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमह ऊचिवान् ॥ १ ॥
सुकन्या नाम तस्यासीत्कन्या कमललोचना ।
तया सार्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम् ॥ २ ॥
सा सखीभिः परिवृता विचिन्वत्यङ्घ्रिपान्वने ।
वल्मीकरन्ध्रे ददृशे खद्योते इव ज्योतिषी ॥ ३ ॥
ते दैवचोदिता बाला ज्योतिषी कण्टकेन वै ।
अविध्यन्मुग्धभावेन सुस्रावासृक् ततो बहु ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! कहते हैं, मनुका पुत्र राजा शर्याति वेदोंके तत्त्वको जाननेवाला था। उसने अङ्गिरागोत्रीय ऋषियोंके यज्ञमें दूसरे दिनका कर्म बतलाया था ॥१॥ उसके सुकन्या नामकी एक कमल-नयनी कन्या थी। उसके साथ वनको गये हुए राजा शर्याति च्यवन ऋषिके आश्रमपर पहुँचे ॥२॥ वह अपनी सखियोंके साथ वृक्षोंकी शोभा निहारती वनमें विचर रही थी। इसी समय उसे एक वल्मीकके छिद्रमें खद्योत-के समान दो ज्योतियाँ दिखायी दीं ॥३॥ तब उस बालाने विधाताकी प्रेरणासे मुग्धभावसे एक काँटा लेकर उन ज्योतियोंको बींध दिया। इससे उनसे बहुत-सा रक्त बहने लगा ॥४॥

शकृन्मूत्रनिरोधोऽभूत्सैनिकानां च तत्क्षणात् ।
राजर्षिस्तमुपालक्ष्य पुरुषान्विस्मितोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥
अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गवस्य विचेष्टितम् ।
व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणम् ॥ ६ ॥

उस समय तुरन्त ही शर्यातिके सैनिकोंका मल-मूत्र रुक गया। यह देखकर राजर्षि शर्यातिने अति विस्मित होकर अपने सैनिकोंसे कहा—॥५॥ "अरे! तुमलोगोंने भृगुनन्दन च्यवनजीका कोई अमङ्गल तो नहीं किया? मुझे तो स्पष्ट जान पड़ता है कि हम लोगोंमेंसे किसीने उनके आश्रमको दूषित कर दिया है" ॥६॥

सुकन्या प्राह पितरं भीता किञ्चित्कृतं मया ।
द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या निर्भिन्ने कण्टकेन वै ॥ ७ ॥

तब सुकन्याने डरते-डरते अपने पितासे कहा—"पिताजी! मैंने कुछ अवश्य किया है। मैंने बिना जाने दो ज्योतियोंको काँटेसे बींध दिया है" ॥७॥

१. संबभूव । २. च ।

दुहितुस्तद्वचः श्रुत्वा शर्यातिर्जातसाध्वसः ।
मुनिं प्रसादयामास वल्मीकान्तर्हितं शनैः ॥ ८ ॥
तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद्दुहितरं मुनेः ।
कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात्समाहितः ॥ ९ ॥
सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम् ।
प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः ॥१०॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमागतौ ।
तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ ॥११॥
ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः ।
क्रियतां मे वयो रूपं प्रमदानां यदीप्सितम् ॥१२॥
बाढमित्यूचतुर्विप्रमभिनन्द्य भिषक्तमौ ।
निमज्जतां भवानस्मिन्ह्रदे सिद्धविनिर्मिते ॥१३॥
इत्युक्त्वा जरया ग्रस्तदेहो धमनिसन्ततः ।
ह्रदं प्रवेशितोऽश्विभ्यां वलीपलितविप्रियः ॥१४॥
पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरपीच्या[1] वनिताप्रियाः ।
पद्मस्रजः कुण्डलिनस्तुल्यरूपाः सुवाससः ॥१५॥
तान्निरीक्ष्य वरारोहा सरूपान्[2] सूर्यवर्चसः ।
अजानती पतिं साध्वी अश्विनौ शरणं ययौ ॥१६॥
दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिव्रत्येन तोषितौ ।
ऋषिमामन्त्र्य ययतुर्विमानेन त्रिविष्टपम् ॥१७॥

पुत्रीका यह कथन सुनकर राजा शर्याति घबड़ा गये; और धीरे-धीरे [स्तुति करके] वल्मीकमें छिपे हुए मुनिको प्रसन्न करने लगे ॥८॥ तदनन्तर मुनिका अभिप्राय जानकर उन्होंने उन्हें अपनी कन्या दे दी और उस संकटसे मुक्त हो मुनिकी आज्ञा ले समाहित-चित्तसे अपने नगरको चले आये ॥९॥

इधर सुकन्याने महाक्रोधी च्यवन मुनिको पतिरूपसे पाकर उनकी मनोवृत्तिको जानकर बड़ी सावधानीसे सेवा करते हुए उन्हें प्रसन्न कर लिया ॥१०॥ तदनन्तर किसी समय उनके आश्रमपर दोनों अश्विनीकुमार आये । उनका यथोचित सत्कार कर मुनिने कहा—"तुम दोनों समर्थ हो, इसलिये मुझे युवावस्था दो ॥११॥ और मेरा रूप एवं वय ऐसा कर दो जो युवतियोंको परम प्रिय हो । इसके बदलेमें तुम्हें सोमपानका अधिकार न होनेपर भी, मैं यज्ञमें सोमरसका भाग दूँगा" ॥१२॥

तब उन वैद्यश्रेष्ठोंने मुनिका अभिनन्दन करते हुए 'ठीक है' ऐसा कहा । और इस सिद्धगणके रचे हुए कुण्डमें स्नान कीजिये, ऐसा कहकर जिनका देह जराजीर्ण, धमनियों (नसों) से व्याप्त तथा झुर्रियों और पके हुए बालोंके कारण अति अप्रिय हो गया था उन च्यवनजीको [अपने साथ ही] कुण्डमें प्रविष्ट किया ॥१३-१४॥ इससे उसी समय उस कुण्डसे अति सुन्दर और कामिनियोंको प्रिय लगनेवाले तीन पुरुष प्रकट हुए । वे तीनों ही समान रूपवान् तथा कमलकुसुमकी मालाएँ, कुण्डल और सुन्दर वस्त्र धारण किये थे ॥१५॥ उन सूर्यके समान तेजस्वी समान रूपवाले तीन पुरुषोंको देखकर परम साध्वी सुमध्यमा सुकन्याने अपने पतिको न पहचाननेके कारण उन अश्विनीकुमारोंकी ही शरण ली ॥१६॥ उसके पातिव्रत्यसे सन्तुष्ट हुए अश्विनीकुमारोंने उसे उसके पति च्यवनजी बतला दिये और फिर मुनिकी आज्ञा ले विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकको चले गये ॥१७॥

१. रापीच्या । २. पुरुषान् सू० ।

यक्ष्यमाणोऽथ शर्यातिश्च्यवनस्याश्रमं गतः ।
ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम् ॥१८॥
राजा दुहितरं प्राह कृतपादाभिवन्दनाम् ।
आशिषश्चाप्रयुञ्जानो नातिप्रीतमना इव ॥१९॥
चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया
प्रलम्भितो लोकनमस्कृतो मुनिः ।
यत्त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं
विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम् ॥२०॥
कथं मतिस्तेऽवगतान्यथा सतां
कुलप्रसूते कुलदूषणं त्विदम् ।
बिभर्षि जारं यदपत्रपा कुलं
पितुश्च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः ॥२१॥
एवं ब्रुवाणं पितरं स्मयमाना शुचिस्मिता ।
उवाच तात जामाता तवैष भृगुनन्दनः ॥२२॥
शशंस पित्रे तत्सर्वं वयोरूपाभिलम्भनम् ।
विस्मितः परमप्रीतस्तनयां परिषस्वजे ॥२३॥
सोमेन याजयन्वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत् ।
असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा ॥२४॥
हन्तुं तमाददे वज्रं सद्योमन्युरमर्षितः ।
सवज्रं स्तम्भयामास भुजमिन्द्रस्य भार्गवः ॥२५॥
अन्वजानंस्ततः सर्वे ग्रहं सोमस्य चाश्विनोः ।
भिषजाविति यत्पूर्वं सोमाहुत्या बहिष्कृतौ ॥२६॥

एक समय राजा शर्याति यज्ञ करनेके लिये उद्यत हो च्यवनऋषिके आश्रमपर गये । किन्तु वहाँ उन्होंने अपनी पुत्रीके पास एक सूर्यके समान तेजस्वी पुरुष देखा ॥१८॥ तब राजाने अपनी चरणवन्दना करती हुई पुत्रीसे कुछ अप्रसन्न-से होकर उसे आशीर्वाद न देते हुए कहा ॥१९॥ "अरी असति ! यह तू क्या करना चाहती है, जो यह समझकर कि 'यह बूढ़ा है, मेरे कामका नहीं है, तूने अपने सर्वलोकनमस्कृत पतिदेव च्यवनमुनिको धोखा दिया और उन्हें छोड़कर इस राह चलते जार पुरुषका सेवन कर रही है ? ॥२०॥ हे सत्कुलप्रसूते ! तुझे यह विपरीत मति कैसे उत्पन्न हुई ? तेरा यह व्यवहार तो कुलमें कलङ्क लगानेवाला है, क्योंकि तू निर्लज्ज होकर एक जार पुरुषको आश्रय दे रही है ! अरी ! तू तो अपने पिता और भर्ता दोनोंहीके कुलोंको घोर नरकमें ले जाना चाहती है" ॥२१॥

पिताके ऐसा कहनेपर उस मञ्जुहासिनीने कुछ मुसकाते हुए कहा—"पिताजी ! ये आपके जामाता भृगुनन्दन ही हैं" ॥२२॥ फिर उसने जिस प्रकार च्यवनजीको रूप और यौवन प्राप्त हुआ था वह सब वृत्तान्त अपने पिताको सुना दिया । इससे राजा शर्यातिने अति विस्मित हो अपनी कन्याको अत्यन्त प्यारसे गले लगा लिया ॥२३॥

तदनन्तर महर्षि च्यवनने वीरवर शर्यातिसे सोमयज्ञका अनुष्ठान करा अपने तपोबलसे सोमपानके अनधिकारी अश्विनीकुमारोंको सोमका भाग दिया ॥२४॥ तब शीघ्र ही कुपित हो जानेवाले इन्द्रने चिढ़कर राजा शर्यातिको मारनेके लिये वज्र उठाया; किन्तु भृगुश्रेष्ठ च्यवनजीने इन्द्रकी वज्रसहित भुजाको स्तम्भित कर दिया ॥२५॥ तबसे सब देवताओंने उन अश्विनीकुमारोंको सोमका भाग देना स्वीकार कर लिया, जिन्हें पहले 'ये वैद्य हैं' ऐसा समझकर सोमकी आहुतियोंके अधिकारसे वञ्चित कर दिया था ॥२६॥

१. आशिषो न प्रयु० । २. त्वं यज्ञ० । ३. ऽसुसंभ्रमम् । ४. तातं ।

उत्तानबर्हिरानर्तो भूरिषेण इति त्रयः ।
शर्यातेरभवन्पुत्रा आनर्ताद्रेवतोऽभवत् ॥२७॥
सोऽन्तःसमुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशस्थलीम् ।
आस्थितोऽभुङ्क्त विषयानानर्तादीनरिन्दम ॥२८॥
तस्य पुत्रशतं जज्ञे ककुद्मिज्येष्ठमुत्तमम् ।
ककुद्मी रेवतीं कन्यां स्वामादाय विभुं गतः ॥२९॥
कन्यावरं परिप्रष्टुं ब्रह्मलोकमपावृतम् ।
आवर्तमाने गान्धर्वे स्थितोऽलब्धक्षणः क्षणम् ॥३०॥
तदन्त आद्यमानम्य स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् ।
तच्छ्रुत्वा भगवान्ब्रह्मा प्रहस्य तमुवाच ह ॥३१॥
अहो राजन्निरुद्धास्ते कालेन हृदि ये कृताः ।
तत्पुत्रपौत्रनप्तृणां गोत्राणि च न शृण्महे ॥३२॥
कालोऽभियातस्त्रिणवचतुर्युगविकल्पितः ।
तद्गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबलः ॥३३॥
कन्यारत्नमिदं राजन्नररत्नाय देहि भोः ।
भुवो भारावताराय भगवान्भूतभावनः ॥३४॥
अवतीर्णो निजांशेन पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
इत्यादिष्टोऽभिवन्द्याजं नृपः स्वपुरमागतः ।
त्यक्तं पुण्यजनत्रासाद्भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितैः ॥३५॥
सुतां दत्त्वानवद्याङ्गीं बलाय बलशालिने ।
बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं[1] नारायणाश्रमम् ॥३६॥

हे राजन् ! शर्यातिके उत्तानबर्हि, आनर्त और भूरिषेण—ये तीन पुत्र हुए । उनमेंसे आनर्तसे रेवतका जन्म हुआ ॥ २७ ॥ हे शत्रुदमन परीक्षित् ! राजा रेवत समुद्रके बीचमें कुशस्थली नामकी पुरी बसाकर उसमें रहते हुए आनर्तादि-देशोंका राज्य भोगते थे ॥२८॥ उनके सौ उत्तम पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें सबसे बड़े ककुद्मी थे । राजा ककुद्मी अपनी कन्या रेवतीको लेकर उसके लिये वर पूछनेके लिये, किसी प्रकारकी रोक-टोक न होनेके कारण, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके पास गये । किन्तु वहाँ गाने-बजानेकी धूम होनेके कारण [बात-चीतके लिये] अवकाश न होनेसे एक क्षण रुके रहे ॥ २९-३० ॥ उसके पीछे आदिदेव भगवान् ब्रह्माजीको नमस्कार कर उनसे अपना आशय निवेदन किया । उसे सुनकर ब्रह्माजीने हँसते हुए उनसे कहा—॥३१॥ "अहो राजन् ! तुमने जिन-जिनको इसका वर बनानेका विचार किया था वे सब तो कालके गालमें चले गये । अब तो हम उनके पुत्र, पौत्र, नाती और वंशधरोंके विषयमें भी कुछ नहीं सुनते ॥३२॥ अबतक सत्ताईस चौकड़ी युग समय बीत चुका है । अतः अब तुम जाओ, इस समय देवदेव श्रीनारायणके अंशभूत महाबली बलदेवजी पृथिवीपर अवतीर्ण हुए हैं ॥३३॥ हे राजन् ! यह कन्यारत्न उन्हीं नररत्नको दो । जिनका श्रवण और कीर्तन परम पवित्र है वे भूतभावन भगवान् इस समय भूमिका भार उतारनेके लिये अपने अंशसे अवतीर्ण हुए हैं ।" ब्रह्माजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर राजा ककुद्मी उन्हें प्रणाम कर अपने नगरको लौट आये, जिसे दिशा-विदिशाओंमें रहनेवाले उनके बन्धु-बान्धवोंने यक्षोंके भयसे त्याग दिया था ॥३४-३५॥ तदनन्तर, महाबलवान् बलरामजीको अपनी सर्वाङ्गसुन्दरी पुत्री दे राजा ककुद्मी तपस्या करनेके लिये भगवान् नारायणके बदरीनामक आश्रमको चले गये ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

१. ययौ ।

चौथा अध्याय

नाभाग और अम्बरीषकी कथा ।

श्रीशुक उवाच

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम् ।
यविष्ठं व्यभजन्दायं ब्रह्मचारिणमागतम् ॥ १ ॥
भ्रातरोऽभाक्त किं मह्यं भजाम पितरं तव ।
त्वां ममार्यास्तताभाङ्क्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः ॥ २ ॥
इमे अङ्गिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः ।
षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥ ३ ॥
तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः ।
ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः ॥ ४ ॥
दास्यन्त्यथ ततो गच्छ तथा स कृतवान्यथा ।
तस्मै दत्त्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषितम्[१] ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—मनुपुत्र नभगका एक पुत्र नाभाग हुआ, जिसके बड़े भाइयोंने गुरुकुलसे लौटकर आये हुए उस अपने छोटे भाई ब्रह्मचारी विद्वान् नाभागको उसके दायभागमें केवल पिताको ही दिया था ॥ १ ॥ जब उसने अपने भाइयोंसे पूछा कि "भाइयो! आप लोगोने मेरे लिये क्या भाग दिया है ?" तब उन्होंने कहा—"हम पिताजीको ही तुम्हारे भागमें देते हैं।" [तब उसने पितासे जाकर कहा—] "हे तात ! मुझे बड़े भाइयोंने आपको मेरे दायभागमें दिया है।" [पिताने कहा—] "बेटा ! तू उनकी बात स्वीकार मत कर ॥ २ ॥ [तथापि मैं तुझे एक आजीविकाका साधन बताता हूँ—] देख, ये परम बुद्धिमान् आङ्गिरस गोत्रीय ब्राह्मणलोग यज्ञ आरम्भ करके बैठे हैं; किन्तु हे विद्वन् ! प्रत्येक छठा दिन आनेपर वे उस कर्ममें भूल कर बैठते हैं ॥ ३ ॥ उन महात्माओंको तुम वैश्वदेव-सम्बन्धी ['इदमित्थारौद्रम्' तथा 'ये यज्ञेन दक्षिणया' इत्यादि] दो सूक्त सुनाओ । इससे, यज्ञ समाप्त होनेपर जब वे स्वर्गलोकको जाने लगेंगे तो अपना यज्ञसे बचा हुआ धन तुम्हें दे देंगे । अतः अब तुम वहाँ जाओ ।" तब नाभागने वैसा ही किया । और वे ऋषिलोग उसे यज्ञसे बचा हुआ धन देकर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४-५ ॥

तं कश्चित्स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः ।
उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु ॥ ६ ॥
ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः ।
स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान्पितरं तथा ॥ ७ ॥

उस धनको लेते समय किसी कृष्णवर्ण पुरुषने उत्तर दिशासे आकर उससे कहा—"यह यज्ञभूमिमें बचा हुआ धन तो मेरा है" ॥ ६ ॥ इसपर मनुपुत्र नाभागने कहा—"ऋषियोंने यह धन मुझे दिया है, इसलिये यह मेरा है ।" [तब रुद्रने कहा—] "अच्छा, हमारे इस विवादके विषयमें तुम्हारे पितासे ही प्रश्न होना चाहिये ।" तब उन्होंने इस विषयमें पितासे जाकर पूछा ॥ ७ ॥

१- शेषणम् ।

यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित् ।
चक्रुर्विभागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति ॥ ८ ॥
नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम् ।
इत्याह मे पिता ब्रह्मञ्छिरसा त्वां प्रसादये ॥ ९ ॥
यत्ते पितावदद्धर्मं त्वं च सत्यं प्रभाषसे ।
ददामि ते मन्त्रदृशे ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् ॥१०॥
गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रे परिशेषितम् ।
इत्युक्त्वान्तर्हितो[1] रुद्रो भगवान्सत्यवत्सलः ॥११॥
य एतत्संस्मरेत्प्रातः सायं च सुसमाहितः ।
कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिं चैव तथात्मनः ॥१२॥
नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती ।
नास्पृशद्ब्रह्मशापोऽपि यं न प्रतिहतः क्वचित् ॥१३॥

राजोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः ।
न प्राभूद्यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः ॥१४॥

श्रीशुक उवाच

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम् ।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥१५॥
मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत्स्वप्नसंस्तुतम् ।
विद्वान्विभवनिर्वाणं तमो विशति यत्पुमान् ॥१६॥
वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु ।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्टवत्स्मृतम् ॥१७॥

[पिताने कहा—] "किसी समय (दक्ष प्रजापतिके यज्ञमें) ऋषियोंने यह निश्चय कर दिया है कि यज्ञभूमिमें बचा हुआ सारा धन रुद्रका भाग होगा, इसलिये यह सब उन महादेवजीको ही मिलना चाहिये" ॥ ८ ॥

तब नाभागने उन (रुद्रदेव) को प्रणाम करके कहा—"भगवन् ! ये सब वस्तुएँ आपहीकी हैं—ऐसा मेरे पिताने कहा है । ब्रह्मन् ! मैं शिर झुकाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ" ॥ ९ ॥

[श्रीरुद्र भगवान्ने कहा—] "तुम्हारे पिताने धर्मयुक्त वचन कहा है और तुम भी सत्य ही बोलते हो, इसलिये वेदका अर्थ जाननेवाले तुमको मैं सनातन ब्रह्मज्ञानका उपदेश करता हूँ ॥ १० ॥ और यह यज्ञमें बचा हुआ धन भी मेरे देनेसे तुम ही ग्रहण करो ।" ऐसा कहकर सत्यवत्सल भगवान् रुद्र अन्तर्धान हो गये ॥ ११ ॥ जो पुरुष भली प्रकार एकाग्रचित्त होकर प्रातः और सायंकाल इस आख्यानका स्मरण करता है वह विद्वान् और वेदज्ञ होता है तथा आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥ नाभागसे परम भगवद्भक्त और उदारस्वभाव अम्बरीषका जन्म हुआ, जिसे कभी प्रतिहत न होनेवाला ब्राह्मणका शाप भी स्पर्श नहीं कर सका था ॥ १३ ॥

राजा परीक्षित्ने कहा—भगवन् ! मैं उस परम बुद्धिमान् राजर्षिका चरित्र सुनना चाहता हूँ, जिसपर छोड़ा हुआ दुस्तर ब्रह्मदण्ड भी अपना प्रभाव प्रकट करनेमें समर्थ नहीं हुआ था ॥ १४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! महाभाग अम्बरीषने सप्तद्वीपवती पृथिवी और इस भूतलपर मनुष्योंको अत्यन्त दुर्लभ अविचल सम्पत्ति तथा अतुलित ऐश्वर्य प्राप्त करके भी उन सबको स्वप्नमें प्राप्त हुए पदार्थोंके समान ही समझा, क्योंकि जिसके कारण मनुष्य अन्धकारमें डूब जाता है उस ऐश्वर्यके नाशका उसे ज्ञान था ॥ १५-१६ ॥ उसे भगवान् वासुदेव और उनके साधुस्वभाव भक्तोंमें वह परम भक्ति प्राप्त थी जिसके कारण यह जगत् मिट्टीके ढेलेके समान समझा जाता है ॥ १७ ॥

१. न्तर्दधे ।

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥१८॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥१९॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥२०॥
एवं सदा कर्मकलापमात्मनः
परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे ।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां
तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह ॥२१॥
ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं
महाविभूत्योपचिताङ्गदक्षिणैः ।
ततैर्वसिष्ठासितगौतमादिभि-
र्धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वतीम् ॥२२॥
यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः ।
तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यन्त सुवाससः ॥२३॥
स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः ।
शृण्वद्भिरुपगायद्भिरुत्तमश्लोकचेष्टितम् ॥२४॥
समर्द्धयन्ति तान्कामाः स्वाराज्यपरिभाविताः ।
दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः ॥२५॥

उसने अपने मनको श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दोंमें, वाणीको भगवान्‌के गुणगानमें, हाथोंको श्रीहरिके मन्दिरका मार्जन करने आदिमें, कानोंको श्रीअच्युतके कथाश्रवणमें, नेत्रोंको भगवान्‌की मूर्ति और मन्दिरोंका दर्शन करनेमें, अङ्गोंको भगवद्भक्तोंका शरीरस्पर्श करनेमें, घ्राणेन्द्रियको भगवान्‌के चरणकमलोंपर चढ़ी हुई श्रीतुलसीके गन्धमें, रसनाको प्रभुके लिये अर्पित किये हुए नैवेद्यादिमें, चरणोंको भगवान्‌के क्षेत्रादिकी यात्रा करनेमें, शिरको श्रीहृषीकेशके चरणोंकी वन्दना करनेमें और माला-चन्दनादि भोग-सामग्रीको, भोगनेकी इच्छासे नहीं बल्कि, इसलिये भगवत्सेवामें लगा दिया था, जिससे उत्तमश्लोक श्रीहरिके भक्तोंके आश्रित रहनेवाली भगवत्प्रीति प्राप्त हो ॥ १८—२० ॥

इस प्रकार वे अपने सम्पूर्ण कर्मोंको यज्ञपुरुष भगवान् अधोक्षजमें उनको सबके आत्मा समझकर अर्पण करते हुए, भगवत्परायण ब्राह्मणोंके आदेशानुसार अपना राज्यशासन करने लगे ॥ २१ ॥ उन्होंने धन्व (मारवाड़) देशमें सरस्वती नदीके प्रवाहके सम्मुख* वसिष्ठ, असित और गौतम आदि भिन्न-भिन्न आचार्योंद्वारा महान् ऐश्वर्यसे बढ़े हुए [अनुयाज-प्रयाज आदि] अङ्ग और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले अनेकों अश्वमेधोंसे भगवान् यज्ञपुरुषका यजन किया था ॥ २२ ॥ उनके यज्ञोंमें देवताओंके साथ सदस्य और ऋत्विजलोग भी अपने सुन्दर वेष-भूषाके कारण उन्हींके समान ही रूपवान् और निमेषशून्य दीख पड़ते थे ॥ २३ ॥ पुण्यकीर्ति श्रीहरिकी लीलाओंका निरन्तर श्रवण और गान करनेवाले उनके आश्रित पुरुष देवताओंको प्रिय लगनेवाले स्वर्गलोककी भी इच्छा नहीं करते थे ॥ २४ ॥ क्योंकि अपने हृदयमें मुक्तिदाता श्रीहरिका साक्षात्कार करनेवाले उन लोगोंको [स्वर्ग तो क्या ?] सिद्ध पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ भोग्य पदार्थ भी आत्मानन्दसे तिरस्कृत हो जानेके कारण हर्षित नहीं कर सकते थे ॥ २५ ॥

१. पद्यानुसर्पणे । २. तथो० । ३. भिः स्वर्धुन्यभिस्रोतवतीं सर० । ४. वेष्टिताः । ५. पश्यताम् ।

* क्योंकि मारवाड़देशमें सरस्वतीका प्रवाह सूख जाता है ।

स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः ।
स्वधर्मेण हरिं प्रीणन्सङ्गान्सर्वाञ्छनैर्जहौ ॥२६॥
गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु
द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिपत्तिषु[1] ।
अक्षय्यरत्नाभरणायुधादि-
ष्वनन्तकोशेष्वकरोदसन्मतिम् ॥२७॥
तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम् ।
एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भृत्याभिरक्षणम्[2] ॥२८॥

हे राजन् ! इस प्रकार महाराज अम्बरीषने तपोयुक्त भक्तियोग और अपने धर्मके द्वारा श्रीहरिको प्रसन्न करते हुए धीरे-धीरे सब प्रकारकी आसक्तियोंको त्याग दिया ॥ २६ ॥ उन्होंने गृह, स्त्री, पुत्र, बन्धु, उत्तम-उत्तम हाथी, रथ, घोड़े, पैदल सेना, अक्षय रत्न, आभूषण और आयुध आदि वस्तुओंमें तथा कभी समाप्त न होनेवाले कोशोंमें 'ये सब असत्य हैं' ऐसी बुद्धि कर ली ॥ २७ ॥ उनके अनन्य भक्तिभावसे सन्तुष्ट होकर श्रीहरिने उन्हें, भक्तोंकी रक्षा करनेवाला और उनके विरोधियोंको भय उत्पन्न करनेवाला सुदर्शन चक्र दे रखा था ॥ २८ ॥

आरिराधयिषुः कृष्णं[3] महिष्या तुल्यशीलया ।
युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥२९॥
व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः ।
स्नातः कदाचित्कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥३०॥
महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा ।
अभिषिच्याम्बराकल्पैर्गन्धमाल्यार्हणादिभिः[4] ॥३१॥
तद्गतान्तरभावेन पूजयामास केशवम् ।
ब्राह्मणांश्च महाभागान्सिद्धार्थानपि भक्तितः ॥३२॥
गवां रुक्मविषाणीनां रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम् ।
पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम् ॥३३॥
प्राहिणोत्साधु विप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानि षट् ।
भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं गुणवत्तमम्[5] ॥३४॥

एक बार वीरवर अम्बरीषने भगवान् कृष्णकी आराधना करनेके लिये, अपने ही समान स्वभाववाली राजमहिषीके सहित एक वर्षपर्यन्त द्वादशीव्रत करनेका नियम धारण किया ॥ २९ ॥ व्रतकी समाप्ति होनेपर कार्तिकमासमें तीन राततक उपवास कर उन्होंने श्रीयमुनाजीमें स्नान किया और मधुवनमें भगवान् कृष्णचन्द्रकी पूजा की ॥ ३० ॥ फिर महाभिषेककी विधिसे सब प्रकारकी सामग्री और सम्पत्तिद्वारा अभिषेक कर वस्त्र, आभूषण, चन्दन, माला और अर्घ्यादिद्वारा तद्गत चित्तसे श्रीकेशवका पूजन किया और सब प्रकारसे आप्तकाम महाभाग ब्राह्मणोंका भी भक्तिभावसे सत्कार किया ॥३१-३२॥ तत्पश्चात् उन द्विजश्रेष्ठोंको अति गुणवान् और स्वादिष्ट अन्न भोजन करा, उन साधु ब्राह्मणोंके घरोंमें जिनके सींग सुवर्णसे तथा खुर चाँदीसे मढ़े हुए थे ऐसी सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित तथा दुग्ध, शील, नवयौवन, रूप और वस्त्राभूषणसे युक्त साठ करोड़ गौएँ भेज दीं ॥ ३३-३४ ॥

लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे ।
तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षाद्दुर्वासा भगवानभूत् ॥३५॥
तमानर्चातिथिं भूपः प्रत्युत्थानासनार्हणैः ।

तदनन्तर, अपने इच्छित पदार्थोंको पाकर जब उन ब्राह्मणोंने आज्ञा दी, तो राजा अम्बरीषने पारण-की तैयारी की । इसी समय साक्षात् भगवान् दुर्वासाजी उनके अतिथि हुए ॥ ३५ ॥ राजाने अभ्युत्थान, आसन और पूजादिसे उन अतिथि-देवताकी पूजा

१. जिवस्तुषु । २. भूताभि० । ३. विष्णुं । ४. र्लब्ध० । ५. गुणवन्मधु ।

ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः ॥३६॥
प्रतिनन्द्य स तद्याच्ञां[1] कर्तुमावश्यकं गतः ।
निममज्ज[2] बृहद्ध्यायन्कालिन्दीसलिले शुभे[3] ॥३७॥
मुहूर्तार्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति ।
चिन्तयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटे ॥३८॥
ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यां यदपारणे ।
यत्कृत्वा साधु मे भूयादधर्मो वा न मां स्पृशेत् ॥३९॥
अम्भसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम् ।
प्राहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितं च तत् ॥४०॥
इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन्मनसाच्युतम् ।
प्रत्याचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः ॥४१॥
दुर्वासा यमुनाकूलात्कृतावश्यक आगतः ।
राज्ञाभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया ॥४२॥
मन्युना प्रचलद्गात्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः ।
बुभुक्षितश्च सुतरां कृताञ्जलिमभाषत ॥४३॥
अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य[4] पश्यत ।
धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः[5] ॥४४॥
यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च ।
अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ॥४५॥
एवं ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषविदीपितः ।

की और उनके चरणोंमें प्रणाम कर भोजनके लिये प्रार्थना की ॥ ३६ ॥ तब दुर्वासाजी उनकी याचना स्वीकार कर आवश्यक कृत्योंसे निवृत्त होनेके लिये चले गये और परब्रह्मका ध्यान करते हुए श्रीयमुनाजी-के पवित्र जलमें घुसकर स्नान करने लगे ॥ ३७ ॥

जब केवल द्वादशी आधे मुहूर्त ही शेष रही तो धर्मज्ञ अम्बरीषने धर्मसङ्कटमें पड़कर पारण करनेके विषयमें ब्राह्मणोंके साथ विचार किया ॥ ३८ ॥ [वे बोले—] "हे विप्रगण ! ब्राह्मणको भोजन कराये बिना स्वयं खा लेनेमें और द्वादशीको पारण न करनेमें—दोनों ही प्रकार बड़ा दोष होता है। इसलिये इस समय जैसा करनेसे मेरा हित हो और मुझे पाप भी स्पर्श न करे, वह कहिये" ॥ ३९ ॥ [इस प्रकार ब्राह्मणोंके साथ विचार करके वे बोले-] "हे विप्रो ! केवल जलपान कर लेना भोजन करने और न करने दोनोंहीके समान है—ऐसा श्रुतियोंने कहा है ।* इसलिये मैं केवल जलसे पारण किये लेता हूँ" ॥ ४० ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! ऐसा विचार-कर राजर्षि अम्बरीष केवल जल पीकर चित्तमें श्रीअच्युत भगवान्का चिन्तन करते हुए दुर्वासाजीके आनेकी बाट देखने लगे ॥ ४१ ॥

इतनेहीमें दुर्वासाजी आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होकर यमुनातटसे लौट आये और राजाके प्रणाम करनेपर अपने बुद्धि-बलसे उनकी सब चेष्टा जान गये ॥ ४२ ॥ उस समय उन्हें बहुत भूख लगी हुई थी; इसलिये [यह जानकर कि राजाने मेरे बिना आये ही भोजन कर लिया है] उनका शरीर क्रोधसे थर-थर काँपने लगा, भ्रुकुटि चढ़ जानेके कारण उनका मुख विकट हो गया और वे हाथ जोड़े खड़े हुए राजा अम्बरीषसे कहने लगे—॥ ४३ ॥ "अहो ! भगवद्भक्तिसे शून्य और अपनेको बड़ा समर्थ माननेवाले इस धनोन्मत्त एवं क्रूर राजाका अन्याय तो देखो ॥ ४४ ॥ जिसने अतिथिरूपसे आये हुए मुझको आतिथ्यभावसे निमन्त्रित कर मुझे भोजन दिये बिना ही स्वयं भोजन कर लिया ! अच्छा, इसका मैं तुझे शीघ्र ही फल दिखलाऊँगा" ॥ ४५ ॥

ऐसा कहते हुए उन्होंने क्रोधसे प्रज्वलित होकर अपनी एक जटा उखाड़ी और उससे, अम्बरीषको

१. तद्वाक्यं । २. निर्म० । ३. शुचौ । ४. श्रिया मत्तस्य । ५. स्येष्टमानिनः ।

* श्रुतिका मत इस प्रकार है—'अपोऽश्नाति तन्नैवाशितं नैवानशितम्' इत्यादि ।

तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम् ॥४६॥
तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम् ।
वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचाल पदान्नृपः ॥४७॥
प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना ।
ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः ॥४८॥
तदभिद्रवदुद्वीक्ष्य स्वप्रयासं च निष्फलम् ।
दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया ॥४९॥

तमन्वधावद्भगवद्रथाङ्गं
दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाहिम् ।
तथानुषक्तं मुनिरीक्षमाणो
गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः ॥५०॥
दिशो नभः क्ष्मां विवरान्समुद्रॉ-
ल्लोकान्सपालांस्त्रिदिवं गतः सः ।
यतो यतो धावति तत्र तत्र
सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥५१॥
अलब्धनाथः स यदा कुतश्चि-
त्संत्रस्तचित्तोऽरणमेषमाणः ।
देवं विरिञ्चं समगाद्विधात-
स्त्राह्यात्मयोनेऽजिततेजसो माम् ॥५२॥

मारनेके लिये, प्रलयकालके अग्निके समान एक प्रचण्ड कृत्या उत्पन्न कर दी ॥ ४६ ॥ उस प्रज्वलित अङ्गोंवाली कृत्याको हाथमें खड्ग लिये अपने पाद-प्रहारसे पृथिवीको कम्पायमान करते हुए अपनी ओर आती देख राजा अम्बरीष अपने स्थानसे तनिक भी नहीं डिगे ॥ ४७ ॥ किन्तु भगवान् पुरुषोत्तमद्वारा अपने दासकी रक्षाके लिये पहलेसे ही नियुक्त सुदर्शन चक्रने उस कृत्याको जैसे अग्नि क्रोधित हुए सर्पको जला देता है उसी प्रकार जला डाला ॥ ४८ ॥ इस प्रकार अपने प्रयासको निष्फल और उस चक्रको अपनी ओर आते देख दुर्वासाजी अत्यन्त भयभीत होकर अपने प्राण बचानेके लिये दिशा-विदिशाओंमें दौड़ने लगे ॥४९॥ जैसे सर्पके पीछे ऊँची-ऊँची लपटों-वाला दावानल दौड़ता हो उसी प्रकार उनके पीछे वह भगवान्का चक्र दौड़ने लगा । उसे इस प्रकार अपने पीछे लगा देख दुर्वासाजी मेरुपर्वतकी गुहामें प्रविष्ट होनेकी इच्छासे दौड़े ॥ ५० ॥ वे मुनीश्वर दिशा, आकाश, पृथिवी, [अतल-वितल आदि] भूविवर, समुद्र, लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोक और स्वर्ग-लोकमें भी गये; किन्तु वे जहाँ-जहाँ भी गये वहीं दुःसह सुदर्शन चक्रको अपने पीछे लगा देखा ॥५१॥ जब उन्हें कहीं भी कोई रक्षक न मिला तो वे भयभीत चित्तसे कोई आश्रय ढूँढ़ते हुए देवाधिदेव ब्रह्माजीके पास आये, और बोले—"हे विधातः ! हे आत्मयोने ! इस विष्णु भगवान्के तेजसे आप मेरी रक्षा कीजिये" ॥५२॥

ब्रह्मोवाच

स्थानं मदीयं सहविश्वमेत-
त्क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे ।
भ्रूभङ्गमात्रेण हि संदिधक्षोः
कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति ॥५३॥
अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः
प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ।

ब्रह्माजीने कहा—जब द्विपरार्धसंज्ञक समयकी समाप्ति होगी और भगवान्की सृष्टिमयी लीलाका अन्त होने लगेगा तो जगत्को दग्ध करनेके इच्छुक जिन कालस्वरूप श्रीहरिके भ्रूभङ्गमात्रसे सम्पूर्ण विश्वके सहित मेरा यह स्थान भी लीन हो जायगा ॥ ५३ ॥ तथा जिनके नियममें बँधकर मैं, महादेवजी, दक्ष और भृगु आदि प्रजापति तथा भूतेश्वर और देवेश्वरगण उनकी आज्ञाको शिरपर

१. तपसा नि० । २. लन्तीमसि० । ३. द्रवमुद्वी० । ४. दवाग्नि० । ५. थावसक्तं ।

सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना
मूर्ध्न्यर्पितं लोकहितं वहामः ॥५४॥
प्रत्याख्यातो विरिञ्चेन विष्णुचक्रोपतापितः ।
दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलासवासिनम् ॥५५॥

श्रीरुद्र उवाच

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि
यस्मिन्परेऽन्येऽप्यज जीवकोशाः ।
भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः
सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः ॥५६॥
अहं सनत्कुमारश्च नारदो भगवानजः ।
कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः ॥५७॥
मरीचिप्रमुखाश्चान्ये सिद्धेशाः पारदर्शिनः ।
विदाम न वयं सर्वे यन्मायां माययावृताः ॥५८॥
तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः ।
तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति ॥५९॥
ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ ।
वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह ॥६०॥
संदह्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना
तत्पादमूले पतितः सवेपथुः ।
आहाच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो
कृतागसं मव[1] हि विश्वभावन ॥६१॥
अजानता ते परमानुभावं
कृतं मयाघं भवतः प्रियाणाम् ।
विधेहि तस्यापचितिं विधात-
र्मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि ॥६२॥

श्रीभगवानुवाच

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥६३॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।

रखकर लोकहितमें तत्पर रहते हैं [उन विष्णु-भगवान्के भक्तसे द्रोह करनेवालेकी रक्षा करनेमें हम समर्थ नहीं हैं ?] ॥ ५४ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीके त्याग देनेपर श्रीविष्णु-भगवान्के चक्रसे सन्तप्त हुए दुर्वासाजी कैलाशवासी महादेवजीकी शरणमें गये ॥ ५५ ॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे तात ! जिनमें हम-जैसे सहस्रों लोकपालगण भटकते रहते हैं ऐसे अनेकों ब्रह्माण्ड जिन सर्वव्यापक परमात्मामें कालक्रमसे कभी उत्पन्न होते और कभी लीन हो जाते हैं, उनके चक्रसे रक्षा करनेमें हम किसी प्रकार समर्थ नहीं हैं ॥५६॥ मैं, सनत्कुमार, नारद, भगवान् ब्रह्माजी, कपिलदेव, अपान्तरतम, देवल, धर्म, आसुरि ॥ ५७ ॥ और मरीचि आदि अन्य सर्वज्ञ सिद्धेश्वरगण—हम सभी जिनकी मायाको उससे आवृत होनेके कारण नहीं जान सकते ॥ ५८ ॥ उन विश्वेश्वरका यह शस्त्र हमारे लिये सर्वथा असह्य है । अतः तुम उन्हींकी शरणमें जाओ; श्रीहरि अवश्य तुम्हारा कल्याण करेंगे ॥ ५९ ॥

तब, अन्तमें दुर्वासाजी निराश होकर भगवान्के वैकुण्ठनामक लोकको गये, जहाँ श्रीलक्ष्मीपति लक्ष्मी-जीके सहित विराजते हैं ॥६०॥ वहाँ पहुँचकर वे भगवान्के शस्त्रकी अग्निसे सन्तप्त हो काँपते हुए उनके चरणोंमें गिर पड़े; और बोले—"हे अच्युत ! हे अनन्त ! हे भक्तप्रिय ! हे प्रभो ! हे विश्वभावन ! मुझ अपराधीको बचाइये ॥६१॥ भगवन् ! आपका प्रभाव न जाननेके कारण ही मैंने आपके प्रिय भक्तोंका अपराध किया है; हे विधातः ! आप मुझे उससे छुड़ाइये, क्योंकि आपका नामोच्चारण करनेसे नारकी जीव भी मुक्त हो जाता है" ॥६२॥

श्रीभगवान् बोले—हे द्विज ! मैं अस्वतन्त्रके समान भक्तोंके अधीन हूँ । उन साधु भक्तोंने मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया है और मैं भी उन भक्तजनोंका सर्वदा प्रिय हूँ ॥६३॥ हे ब्रह्मन् ! जिनका मैं ही एकमात्र परम आश्रय हूँ उन अपने साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर

[1] मामव विश्व ।

श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा ॥६४॥

ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम् ।

हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥६५॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः[1] ।

वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥६६॥

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम् ॥६७॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्[2] ।

मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥६८॥

उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत् ।

अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं यातु वै भवान् ।

साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम् ॥६९॥

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे ।

त एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा ॥७०॥

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम् ।

क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥७१॥

तो मैं अपने आत्मा और अनपायिनी लक्ष्मीकी भी इच्छा नहीं करता हूँ ॥६४॥ जो अपने स्त्री, पुत्र, गृह, परमप्रिय प्राण, धन और इहलोक तथा परलोकको छोड़कर मेरी ही शरणमें आ गये हैं उन भक्तजनोंको मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ? ॥६५॥ जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने साधु पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार जिन्होंने अपने हृदयको मुझमें ही लगा दिया है वे समदर्शी साधु पुरुष मुझे अपने अधीन कर लेते हैं ॥६६॥ मेरे अनन्य भक्त मेरी सेवासे ही आप्तकाम रहकर उस सेवाके प्रभावसे ही प्राप्त होनेवाली सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य नामकी चार प्रकारकी मुक्तियोंकी भी इच्छा नहीं करते; फिर कालक्रमसे नष्ट हो जानेवाले अन्य भोगोंकी तो बात ही क्या है ? ॥६७॥ अधिक क्या, वे साधु पुरुष साक्षात् मेरे हृदय हैं और मैं उन साधुजनोंका हृदय हूँ, क्योंकि वे मेरे सिवा और किसी वस्तुको प्रिय नहीं समझते और मुझे उनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु तनिक भी प्रिय नहीं है ॥६८॥

हे विप्र ! सुनो, मैं एक उपाय बतलाता हूँ। जिसपर प्रयोग करनेके कारण तुम्हें यह विपरीत फल देनेवाला अभिचार प्राप्त हुआ है, उस अम्बरीषके ही पास तुम जाओ, क्योंकि निरपराध साधु पुरुषोंपर प्रयोग किया हुआ तेज उस प्रयोग करनेवालेका ही अहित करता है ॥६९॥ तप और विद्या—ये दोनों ही ब्राह्मणोंका कल्याण करनेवाले हैं, किन्तु वे ही अन्याय करनेवाले ढीठ ब्राह्मणको विपरीत फल देनेवाले हो जाते हैं ॥७०॥ अतः हे ब्रह्मन् ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम राजा अम्बरीषके ही पास जाओ और उस महाभागसे अपना अपराध क्षमा कराओ। इससे तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी ॥७१॥
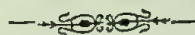
इति श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धेऽम्बरीषचरिते
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

१. दर्शिनः । २. ह्यहम् ।

पाँचवाँ अध्याय

दुर्वासाजीकी दुःखनिवृत्ति।

श्रीशुक उवाच

एवं भगवतादिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः ।
अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत् ॥ १ ॥
तस्य सोद्यमनं[1] वीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितः[2] ।
अस्तावीत्तद्धरेरस्त्रं कृपया पीडितो भृशम् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान्‌से इस प्रकार आज्ञा पा सुदर्शनचक्रसे सन्तप्त हुए दुर्वासाजीने अम्बरीषके पास पहुँचकर अति दुःखित हो उनके पाँव पकड़ लिये ॥१॥ दुर्वासाजीका यह प्रयत्न देख उनके चरणस्पर्श करनेसे लज्जित हो राजा अम्बरीष करुणासे अत्यन्त द्रवीभूत होकर उस भगवान्‌के शस्त्रकी स्तुति करने लगे ॥२॥

अम्बरीष उवाच

त्वमग्निर्भगवान्सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः ।
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च ॥ ३ ॥
सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय ।
सर्वास्त्रघातिन्विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते ॥ ४ ॥
त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक् ।
त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम् ॥ ५ ॥
नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे
ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे ।
त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे
मनोजवायाद्भुतकर्मणे गृणे ॥ ६ ॥
त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं
तमः प्रकाशश्च धृतो[3] महात्मनाम् ।
दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते
त्वद्रूपमेतत्सदसत्परावरम् ॥ ७ ॥
यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै
बलं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम् ।
बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि
वृश्चन्नजस्रं प्रधने विराजसे ॥ ८ ॥
स त्वं जगत्त्राण खलप्रहाणये
निरूपितः सर्वसहो गदाभृता ।

राजा अम्बरीष बोले—हे सुदर्शन ! तुम अग्नि हो, तुम्हीं भगवान् सूर्य हो और तुम्हीं नक्षत्रनाथ चन्द्रमा हो तथा तुम्हीं जल, पृथिवी, आकाश, वायु, पञ्चतन्मात्रा और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ हो ॥३॥ हे भगवान्‌के प्रिय सहस्र धाराओंवाले सुदर्शनचक्र ! तुम्हें नमस्कार है। हे सर्वशस्त्रसंहारक और पृथिवीकी रक्षा करनेवाले ! इन विप्रवरको शान्ति प्राप्त हो ॥४॥ तुम धर्म हो, तुम ऋत और सत्य हो, तुम यज्ञ हो तथा सम्पूर्ण यज्ञोंके भोक्ता यज्ञपुरुष हो, तुम सकल लोकोंके रक्षक एवं सर्वस्वरूप हो तथा परमपुरुष नारायणके उत्कृष्ट तेज हो ॥५॥ हे सुनाभ ! सम्पूर्ण धर्मकी मर्य्यादा रखनेवाले, अधर्मशील असुरोंको दहन करनेके लिये अग्निस्वरूप, त्रिलोकीकी रक्षा करनेवाले, विशुद्ध तेजोमय, मनके समान वेगवाले और अद्भुतकर्म करनेवाले तुम्हारी मैं स्तुति करता हूँ ॥६॥ हे वेदवाणीके अधीश्वर ! तुम्हारे धर्ममय तेजने महापुरुषोंके अज्ञानको नष्ट कर दिया है और सूर्यादिके तेजको धारण कर रखा है; तुम्हारी महिमाका पार पाना अत्यन्त कठिन है, यह कार्य-कारणात्मक सम्पूर्ण चराचर जगत् तुम्हारा ही स्वरूप है ॥७॥ हे अजित ! जिस समय तुम श्रीनिरञ्जन देवसे छोड़े जाकर दैत्य और दानवोंकी सेनामें प्रवेश करते हो उस समय उनकी भुजा, उदर, ऊरु, चरण और ग्रीवा आदि काटते हुए युद्धस्थलमें अत्यन्त शोभाको प्राप्त होते हो ॥८॥ हे विश्वरक्षक ! तुम युद्धमें सब शत्रुओंको सहन करनेवाले हो। भगवान् गदाधरने तुम्हें दुष्टोंका दमन करनेके लिये ही नियुक्त किया है।

---

१. तद्व्यसनं । २. स्पर्शेन लज्जि० । ३. भृतो ।

विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे
विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः ॥ ९ ॥
यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः ।
कुलं नो विप्रदैवं चेद्द्विजो भवतु विज्वरः ॥१०॥
यदि नो भगवान्प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः ।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः ॥११॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ।
अशाम्यत्सर्वतो विप्रं प्रदहद्राजयाच्ञया ॥१२॥
स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः ।
प्रशशंस तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः ॥१३॥

दुर्वासा उवाच

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे ।
कृतागसोऽपि यद्राजन्मङ्गलानि समीहसे ॥१४॥
दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् ।
यैः संगृहीतो भगवान्सात्वतामृषभो हरिः ॥१५॥
यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान्भवति निर्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥१६॥
राजन्ननुगृहीतो[1]ऽहं त्वयातिकरुणात्मना ।
मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः ॥१७॥
राजा तमकृताहारः प्रत्यागमनकाङ्क्षया ।
चरणावुपसंगृह्य प्रसाद्य समभोजयत्[2] ॥१८॥
सोऽशित्वादृतमानीतमातिथ्यं सार्वकामिकम् ।

अतः तुम हमारे कुलके भाग्योदयके लिये इन विप्रवर-का कल्याण करो; यह हमपर तुम्हारी बड़ी कृपा होगी ॥९॥ यदि हमने दान, यज्ञ और अपने धर्मका भली प्रकार अनुष्ठान किया है और यदि हमारा कुल ब्राह्मणभक्त रहा है तो ये विप्रवर दुःखहीन हो जायँ ॥ १० ॥ यदि सकल प्राणियोंमें परमेश्वरको आत्म-रूपसे स्थित देखनेके कारण सम्पूर्ण गुणोंके आश्रय-स्थान श्रीभगवान् हमपर प्रसन्न हैं तो ये ब्राह्मणदेवता दुःखहीन हो जायँ ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! राजा अम्बरीषके इस प्रकार स्तुति करनेपर दुर्वासाजीको चारों ओरसे जलानेवाला सुदर्शनचक्र उनकी प्रार्थना-से शान्त हो गया ॥ १२ ॥ उस शस्त्राग्निके तापसे मुक्त होकर स्वस्थचित्त हुए श्रीदुर्वासाजी महाराज अम्बरीषको अनेकों आशीर्वाद देते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥१३॥

दुर्वासाजी बोले—अहो ! आज मैंने भगवान् अनन्तके दासोंका महत्त्व देखा कि राजन् ! अपराध करनेपर भी तुम मेरे मङ्गलहीकी कामना करते हो ॥१४॥ जिन्होंने भक्तोंके परम आराध्य भगवान् हरिको दृढतापूर्वक पकड़ लिया है उन साधु पुरुषोंके लिये क्या दुष्कर है ? वे महात्मा किस वस्तुका त्याग नहीं कर सकते ? ॥ १५ ॥ जिनके नामश्रवणमात्रसे पुरुष निर्मल हो जाता है उन तीर्थपाद श्रीहरिके दासोंके लिये कौन कर्तव्य शेष रह जाता है ? ॥ १६ ॥ हे राजन् ! परम करुणामय स्वभाववाले तुमने मेरे अपराधकी ओर दृष्टि न डालकर जो मेरे प्राणोंकी रक्षा की है इससे मैं अत्यन्त अनुगृहीत हुआ हूँ ॥ १७ ॥

हे राजन् ! तदनन्तर, जो दुर्वासाजीके लौटनेकी प्रतीक्षामें अबतक निराहार रहे उन राजा अम्बरीषने उनके पाँव पकड़कर उन्हें प्रसन्न करते हुए भोजन कराया ॥ १८ ॥ तब दुर्वासाजीने उनके आदरपूर्वक लाये हुए सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले अन्नको

१. तोऽस्मि । २. भोजत ।

तृप्तात्मा नृपतिं प्राह भुज्यतामिति सादरम् ॥१९॥
प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै ।
दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनात्ममेधसा ॥२०॥
कर्मावदातमेतत्ते गायन्ति स्वःस्त्रियो मुहुः ।
कीर्तिं[1] परमपुण्यां च कीर्तयिष्यति भूरियम् ॥२१॥

श्रीशुक उवाच

एवं संकीर्त्य राजानं दुर्वासाः परितोषितः ।
ययौ विहायसामन्त्र्य ब्रह्मलोकमहैतुकम् ॥२२॥
संवत्सरोऽत्यगात्तावद्यावता नागतो गतः[2] ।
मुनिस्तद्दर्शनाकाङ्क्षो राजाऽब्भक्षो बभूव ह ॥२३॥
गते च दुर्वाससि सोऽम्बरीषो
द्विजोपयोगातिपवित्रमाहरत्[3] ।
ऋषेर्विमोक्षं व्यसनं च बुद्ध्वा
मेने स्ववीर्यं च परानुभावम्[4] ॥२४॥
एवंविधानेकगुणः स राजा
परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे ।
क्रियाकलापैः समुवाह भक्तिं
ययाविरिञ्च्यान्निरयांश्चकार ॥२५॥
अथाम्बरीषस्तनयेषु राज्यं
समानशीलेषु विसृज्य धीरः[5] ।
वनं विवेशात्मनि वासुदेवे
मनो दधद्ध्वस्तगुणप्रवाहः ॥२६॥
इत्येतत्पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः ।
संकीर्तयन्ननुध्यायन्भक्तो भगवतो भवेत् ॥२७॥

भोजन कर, चित्तमें सन्तुष्ट हो राजासे आदरपूर्वक कहा—"अब तुम भी भोजन करो ॥१९॥ हे राजन् ! तुम परम भगवद्भक्त हो; मैं तुमसे अनुगृहीत होकर तुम्हारे दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और परमात्मामें मन लगानेवाले आतिथ्यसे अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ ॥२०॥ तुम्हारे इस पवित्र कर्मका देवाङ्गनाएँ बारम्बार गान करेंगी और यह पृथिवी भी तुम्हारी परम पावन कीर्तिका बखान करेगी" ॥ २१ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! चित्तमें परम सन्तुष्ट हुए दुर्वासाजी राजा अम्बरीषका इस प्रकार गुणकीर्तन कर उनसे आज्ञा ले आकाशमार्गसे ब्रह्मलोकको चले गये, जो केवल निष्काम कर्मद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ॥ २२ ॥ जितने समयमें सुदर्शनचक्रके भयसे भागे हुए दुर्वासाजी फिर लौटकर नहीं आये थे उतने कालमें एक वर्ष बीत गया था, किन्तु उनके दर्शनाकांक्षी महाराज अम्बरीष तबतक केवल जल पीकर ही रहे थे ॥ २३ ॥ दुर्वासाजीके चले जानेपर महाराज अम्बरीषने ब्राह्मणके भोजन करनेसे बचा हुआ अति पवित्र अन्न ग्रहण किया और ऋषिके कष्ट एवं कष्टनिवृत्तिको देखकर उन्होंने अपने प्रभावको भी श्रीपरमात्माका ही प्रभाव समझा ॥ २४ ॥ इस प्रकार उन अनेकगुणसम्पन्न राजाने नाना प्रकारके क्रिया-कलापोंद्वारा परब्रह्म भगवान् वासुदेवमें अपना भक्तिभाव बढ़ाया, जिससे वे ब्रह्मलोकके सहित सम्पूर्ण भोगोंको नरकवत् देखने लगे ॥ २५ ॥ तदनन्तर जितेन्द्रिय महाराज अम्बरीष अपने ही समान स्वभाव-वाले पुत्रोंको अपना राज्य सौंपकर वनको चले गये और भगवान् वासुदेवमें चित्त लगाकर गुणोंके प्रवाह-रूप संसारसे मुक्त हो गये ॥ २६ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार महाराज अम्बरीषके इस परमपवित्र आख्यानका संकीर्तन और ध्यान करनेसे मनुष्य भगवान्‌का भक्त हो जाता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धेऽम्बरीषचरितं[6] नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

---

१. कीर्तिं तां परमां पुण्यां कीर्त० । २. गतेऽथ । ३. गाभिपवि० । ४. महानुभावम् । ५. वीरः । ६. चरिते ।

छठा अध्याय

इक्ष्वाकुके वंशका वर्णन; मान्धाता और सौभरि ऋषिकी कथा।

श्रीशुक उवाच

विरूपः केतुमाञ्छम्भुरम्बरीपसुतास्त्रयः।
विरूपात्पृषदश्वोऽभूत्तत्पुत्रस्तु रथीतरः॥ १॥
रथीतरस्याप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्थितः।
अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान्॥ २॥
एते क्षेत्रे[1] प्रसूता वै पुनस्त्वाङ्गिरसाः स्मृताः।
रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः॥ ३॥
क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः।
तस्य पुत्रशतज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः॥ ४॥
तेषां पुरस्तादभवन्नार्यावर्ते नृपा नृप।
पञ्चविंशतिः पश्चाच्च त्रयो मध्ये परेऽन्यतः॥ ५॥
स एकदाष्टकाश्राद्ध इक्ष्वाकुः सुतमादिशत्।
मांसमानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छ मा चिरम्॥ ६॥
तथेति स वनं गत्वा मृगान्हत्वा क्रियार्हणान्[2]।
श्रान्तो बुभुक्षितो वीरः शशं चाददपस्मृतिः॥ ७॥
शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः।
चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम्॥ ८॥
ज्ञात्वा पुत्रस्य तत्कर्म गुरुणाभिहितं नृपः।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! अम्बरीपके विरूप, केतुमान् और शम्भुनामक तीन पुत्र थे। विरूपसे पृषदश्वका जन्म हुआ और उसका पुत्र रथीतर हुआ॥ १॥ रथीतर निःसन्तान था; सन्तानके लिये प्रार्थना किये जानेपर महर्षि अङ्गिराने उसकी भार्यासे ब्रह्मतेजोयुक्त पुत्र उत्पन्न किये॥ २॥ ये रथीतरकी भार्याके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्र [रथीतरगोत्री होकर भी] आङ्गिरस कहलाये तथा रथीतरके अन्य पुत्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ एवं क्षत्रोपेत (क्षत्रियकर्मसे युक्त) ब्राह्मण हुए॥ ३॥

हे राजन्! एक बार मनुजीके छींकनेपर उनकी नासिकासे इक्ष्वाकुनामक पुत्र उत्पन्न हुआ; उसके सौ पुत्रोंमें विकुक्षि, निमि और दण्डक—ये तीन सबसे बड़े थे॥ ४॥ हे नृप! उनसे छोटे पच्चीस पुत्र आर्यावर्त्तदेशके पूर्वीय भागके और पच्चीस पश्चिमी भागके राजे हुए। पूर्वोक्त तीन मध्य-भागके अधिपति हुए और शेष सैंतालीस दक्षिणादि अन्य देशोंके अधिकारी हुए॥ ५॥

एक बार राजा इक्ष्वाकुने अष्टकाश्राद्धके समय अपने बड़े पुत्रको आज्ञा दी—"हे विकुक्षे! शीघ्र ही श्राद्धके योग्य मांस लाओ—देरी न करो"॥ ६॥ इसपर वीरवर विकुक्षिने 'बहुत अच्छा' कह वनमें जाकर बहुत-से श्राद्धयोग्य मृगोंको मारा और अत्यन्त थक जानेसे ['श्राद्धके लिये मारे गये पशुको नहीं खाना चाहिये' इस नियमको] भूलकर उसने एक शश (खरगोश) खा लिया॥ ७॥ और बचा हुआ मांस पिताको निवेदन कर दिया। पिता इक्ष्वाकुके उसका प्रोक्षण करनेके लिये कहनेपर गुरु वशिष्ठजीने उसे दूषित और श्राद्धकर्मके अयोग्य बतलाया॥ ८॥ हे राजन्! फिर गुरुजीके कहनेसे अपने पुत्रके उस कर्मको जानकर इक्ष्वाकुने शास्त्रविधिका त्याग

१. क्षेत्रप्रसू०। २. ह्यपाहरन्।

देशान्निःसारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा ॥ ९ ॥
स तु विप्रेण संवादं जापकेन समाचरन् ।
त्यक्त्वा कलेवरं योगी स तेनावाप यत्परम् ॥१०॥

करनेवाले उस पुत्रको क्रोधवश अपने देशसे निकाल दिया ॥ ९ ॥ और स्वयं गुरु वशिष्ठजीके साथ तत्त्व-ज्ञान-विषयक वार्तालाप कर योगयुक्त हो इस शरीरको त्यागकर अपनी तत्त्वनिष्ठासे परमपद प्राप्त किया ॥ १० ॥

पितर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम् ।
शासदीजे हरिं यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः ॥११॥
पुरंजयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरितः ।
ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः[1] शृणु नामानि कर्मभिः ॥१२॥

इस प्रकार पिताका देहान्त हो जानेपर विकुक्षिने घर लौटकर इस पृथिवीका शासन किया और 'शशाद' नामसे विख्यात हो अनेकों यज्ञोंद्वारा श्रीहरिका यजन किया ॥ ११ ॥ उसका पुत्र पुरञ्जय था, जो 'इन्द्रवाह' कहलाया तथा 'ककुत्स्थ' नामसे भी प्रसिद्ध हुआ । हे राजन् ! जिन कर्मोंके कारण उसके ये नाम पड़े थे सो सुनो ॥ १२ ॥

कृतान्त आसीत्समरो देवानां सह दानवैः ।
पार्ष्णिग्राहो वृतो वीरो देवैर्दैत्यपराजितैः ॥१३॥
वचनाद्देवदेवस्य विष्णोर्विश्वात्मनः प्रभोः ।
वाहनत्वे वृतस्तस्य बभूवेन्द्रो महावृषः ॥१४॥
स संनद्धो धनुर्दिव्यमादाय विशिखान्सितान् ।
स्तूयमानः[2] समारुह्य युयुत्सुः ककुदि स्थितः ॥१५॥
तेजसाप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य परात्मनः ।
प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां न्यरुणत्त्रिदशैः पुरम् ॥१६॥

सत्ययुगके अन्तमें देवताओंका दानवोंके साथ बड़ा घोर संग्राम हुआ; उसमें दैत्योंद्वारा पराजित हुए देवताओंने राजा पुरञ्जयको अपनी सहायताके लिये चुना ॥ १३ ॥ उस समय वाहनरूपसे वरण किये हुए देवराज इन्द्र [पहले लज्जावश अस्वीकार करके भी फिर] अखिलात्मा देवदेव श्रीविष्णु भगवान्‌के कहनेसे उनके लिये महान् वृषभ बन गये ॥ १४ ॥ तब युद्धके लिये तत्पर हुए महाराज पुरञ्जय परम पुरुष परमात्मा विष्णुके तेजसे वृद्धिको प्राप्त हो, कवच धारण कर, हाथमें दिव्य धनुष और तीखे बाण ले उस महावृषभपर चढ़कर उसके ककुद्पर स्थित हुए और देवताओंको साथ ले उन्होंने दैत्योंके नगरको पश्चिमकी ओरसे घेर लिया ॥ १५-१६ ॥

तैस्तस्य चाभूत्प्रधनं[3] तुमुलं लोमहर्षणम् ।
यमाय भल्लैरनयद्दैत्यान्येऽभिययुर्मृधे ॥१७॥
तस्येषुपाताभिमुखं युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ।
विसृज्य दुद्रुवुर्दैत्या हन्यमानाः स्वमालयम् ॥१८॥
जित्वा पुरं धनं सर्वं सश्रीकं वज्रपाणये ।

फिर दैत्योंके साथ उनका बड़ा घोर और रोमाञ्चकारी संग्राम हुआ । उस समय युद्धस्थलमें जो-जो दैत्य उनके सामने आये उन्हींको उन्होंने बाणोंसे यमराजके पास भेज दिया ॥ १७ ॥ तब बहुत-से दैत्यगण उनकी प्रलयकालीन अग्निके समान प्रचण्ड बाण-वर्षाके सामने हताहत हो युद्धस्थल छोड़कर अपने घरको भाग गये ॥ १८ ॥ तब उन राजर्षिने दैत्योंकी सम्पत्तिके सहित उनका पुर और

१. च प्रोक्तः । २. स गन्धर्वैः । ३. भूत्सुमहत् ।

प्रत्ययच्छत्स राजर्षिरिति नामभिराहृतः ॥१९॥

पुरञ्जयस्य पुत्रोऽभूदनेनास्तत्सुतः पृथुः ।
विश्वरन्धिस्ततश्चन्द्रो युवनाश्वश्च तत्सुतः ॥२०॥
शाबस्तस्तत्सुतो येन शावस्ती निर्ममे पुरी ।
बृहदश्वस्तु शावस्तिस्ततः कुवलयाश्वकः ॥२१॥
यः प्रियार्थमुतङ्कस्य धुन्धुनामासुरं बली ।
सुतानामेकविंशत्या सहस्रैरहनद्वृतः ॥२२॥
धुन्धुमार इति ख्यातस्तत्सुतास्ते च जज्वलुः ।
धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवावशेषिताः ॥२३॥
दृढाश्वः कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत ।
दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वो निकुम्भस्तत्सुतः स्मृतः ॥२४॥
बर्हणाश्वो[2] निकुम्भस्य कृशाश्वोऽथास्य[3] सेनजित् ।
युवनाश्वोऽभवत्तस्य सोऽनपत्यो वनं गतः ॥२५॥
भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः ।
इष्टिं स्म वर्तयाञ्चक्रुरैन्द्रीं ते सुसमाहिताः ॥२६॥
राजा तद्यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः ।
दृष्ट्वा शयानान्विप्रांस्तान्पपौ मन्त्रजलं स्वयम् ॥२७॥

उत्थितास्ते निशाम्याथ व्युदकं कलशं प्रभो ।
पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं पुंसवनं जलम् ॥२८॥
राज्ञा पीतं विदित्वाथ ईश्वरप्रहितेन ते ।
ईश्वराय नमश्चक्रुरहो दैवबलं बलम् ॥२९॥
ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम् ।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान[4] ह ॥३०॥

धन जीतकर वह सबका सब इन्द्रको दे दिया; इसीसे वे इन नामोंसे कहे जाते हैं * ॥ १९ ॥

पुरञ्जयका पुत्र अनेना हुआ; उसका पुत्र पृथु था। तथा पृथुका विश्वरन्धि, विश्वरन्धिका चन्द्र और चन्द्रका युवनाश्व हुआ ॥ २० ॥ युवनाश्वका पुत्र शाबस्त हुआ, जिसने शावस्ती नामकी पुरी बसायी; फिर शावस्तके बृहदश्व और उसके कुवलयाश्वका जन्म हुआ ॥ २१ ॥ जिसने उतङ्क ऋषिका प्रिय करनेके लिये अपने इक्कीस सहस्र पुत्रोंसे घिरकर धुन्धुनामक दैत्यको मारा था ॥ २२ ॥ इसीलिये उसका नाम 'धुन्धुमार' हुआ। उस युद्धमें उसके वे सब पुत्र धुन्धुके मुखसे निकले हुए अग्निसे जल गये; उनमेंसे केवल तीन ही शेष रहे ॥ २३ ॥ हे भारत ! उनके नाम दृढाश्व, कपिलाश्व और भद्राश्व थे। दृढाश्वका पुत्र हर्यश्व था और उसका पुत्र निकुम्भ कहा जाता है ॥ २४ ॥ निकुम्भके बर्हणाश्वनामक पुत्र हुआ; उसके कृशाश्व, कृशाश्वके सेनजित् तथा सेनजित्के युवनाश्वका जन्म हुआ। वह पुत्रहीन होनेके कारण खिन्न होकर अपनी सौ भार्याओंके सहित वनको चला गया। वहाँ कृपालु मुनीश्वरोंने [उन्हें पुत्र प्राप्त करानेके लिये] बड़े समाहित चित्तसे ऐन्द्र यज्ञ कराया ॥ २५-२६ ॥ एक दिन रात्रिके समय पिपासाकुल होकर राजा यज्ञशालामें गया और ऋषियोंको सोते देख वहाँ रखा हुआ मन्त्रपूत जल पी लिया ॥ २७ ॥

हे राजन् ! ऋषियोंने उठनेपर कलशको जलहीन देखकर पूछा—"यह किसका काम है ? किसने पुत्र उत्पन्न करनेवाला जल पी लिया ?" ॥ २८ ॥ तब यह जानकर कि ईश्वरकी प्रेरणासे राजाने ही वह जल पी लिया है उन्होंने 'अहो ! दैवबल ही प्रधान बल है !' ऐसा कहते हुए ईश्वरको नमस्कार किया ॥२९॥ तदनन्तर प्रसवका समय आनेपर राजा युवनाश्वकी दाहिनी कोख फाड़कर एक चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हुआ ॥३०॥

१. निर्मिता । २. बार्हस्वासो । ३. शाश्वश्चास्य । ४. ह्यजायत ।

* अर्थात् दैत्योंका पुर जीतनेके कारण 'पुरञ्जय', इन्द्रको वाहन बनानेके कारण 'इन्द्रवाह' और वृषभके ककुद्पर स्थित होनेके कारण 'ककुत्स्थ' कहे जाते हैं ।

कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्यं रोरूयते भृशम् ।
मां धाता वत्स मारोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात् ॥३१॥

न ममार पिता तस्य विप्रदेवप्रसादतः ।
युवनाश्वोऽथ तत्रैव तपसा सिद्धिमन्वगात् ॥३२॥

त्रसद्दस्युरितीन्द्रोऽङ्ग विदधे नाम तस्य[1] वै ।
यस्मात्त्रसन्ति ह्युद्विग्ना दस्यवो रावणादयः ॥३३॥

यौवनाश्वोऽथ मान्धाता चक्रवर्त्यवनीं प्रभुः ।
सप्तद्वीपवतीमेकः शशासाच्युततेजसा ॥३४॥

ईजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविद्भूरिदक्षिणैः ।
सर्वदेवमयं देवं सर्वात्मकमतीन्द्रियम् ॥३५॥

द्रव्यं मन्त्रो विधिर्यज्ञो यजमानस्तथर्त्विजः ।
धर्मो देशश्च कालश्च सर्वमेतद्यदात्मकम् ॥३६॥

यावत्सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति ।
सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥३७॥

शशबिन्दोर्दुहितरि बिन्दुमत्यामधान्नृपः[2] ।
पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दं च योगिनम् ।
तेषां स्वसारः पञ्चाशत्सौभरिं वव्रिरे पतिम् ॥३८॥

यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः परंतपः ।
निर्वृतिं मीनराजस्य वीक्ष्य मैथुनधर्मिणः ॥३९॥

जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेकामयाचत ।
सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन्कामं कन्या स्वयंवरे ॥४०॥

स विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽयमसंमतः ।

उस बालकको दूध पीनेके लिये अत्यन्त रोते देख ऋषियोंने कहा—"यह किसका दूध पियेगा ?" तब इन्द्रने यह कहकर कि 'मां धाता (मेरा पियेगा), वत्स ! रोवे मत' अपनी तर्जनी अँगुली उसके मुखमें दे दी ॥ ३१ ॥ उसका पिता युवनाश्व भी ब्राह्मणों और देवताओंकी कृपासे मृत्युको प्राप्त नहीं हुआ और तपस्याद्वारा उसी जगह सिद्धिको प्राप्त हो गया ॥ ३२ ॥

हे तात ! इन्द्रने उस बालकका नाम 'त्रसद्दस्यु' रखा, क्योंकि उससे उद्विग्न होकर रावणादि दस्युगण अत्यन्त भयभीत हो जाते थे ॥ ३३ ॥ तदनन्तर युवनाश्वकुमार मान्धाता सार्वभौम राजा होकर भगवान्के तेजसे सम्पन्न हो अकेले ही सप्तद्वीपवती पृथिवीका शासन करने लगे ॥ ३४ ॥ उन्होंने आत्मज्ञानी होकर भी, द्रव्य (यज्ञसामग्री), मन्त्र, विधि, यज्ञ, यजमान, ऋत्विज, धर्म, देश और काल—ये सब जिनका स्वरूप हैं उन सर्वदेवमय, सर्वात्मक, अतीन्द्रिय, देवाधिदेव, भगवान् यज्ञपुरुषका अनेकों बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे यजन किया था ॥ ३५-३६ ॥ जहाँसे सूर्यका उदय होता है और जहाँ वह अस्त होता है वह सारा देश युवनाश्व-नन्दन मान्धाताका ही क्षेत्र (अधिकृत भूमण्डल) कहा जाता है ॥ ३७ ॥

राजा मान्धाताने शशबिन्दुकी पुत्री बिन्दुमतीसे पुरुकुत्स, अम्बरीष और योगी मुचुकुन्दनामक पुत्र उत्पन्न किये थे । उनकी पचास बहिनोंने सौभरि ऋषिको अपने पतिरूपसे वरण किया था ॥ ३८ ॥ परम तपस्वी सौभरिजी यमुनाजलमें गोता लगाकर तपस्या कर रहे थे । वहाँ मैथुनधर्ममें तत्पर एक मत्स्यराजका सुख देखकर उन्हें भी विवाह करनेकी इच्छा हुई; अतः उन्होंने राजाके पास जाकर उनसे एक कन्या माँगी । राजाने कहा—"ब्रह्मन् ! आप स्वयंवरमें [कन्याद्वारा वरण किये जानेपर] प्रसन्नतासे एक कन्या ले सकते हैं" ॥ ३९-४० ॥

तब ऋषिने सोचा, 'राजाने यह विचारकर कि यह बूढ़ा है. इसलिये स्त्रियोंको प्रिय नहीं हो सकता,

१. यस्य । २. मजीजनत् ।

वली पलित एजत्क इत्यहं प्रत्युदाहृतः ॥४१॥
साधयिष्ये तथात्मानं सुरस्त्रीणामपीप्सितम् ।
किं पुनर्मनुजेन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः ॥४२॥

मुनिः प्रवेशितः क्षत्त्रा कन्यान्तःपुरमृद्धिमत् ।
वृतश्च[1] राजकन्याभिरेकः पञ्चाशता वरः ॥४३॥
तासां कलिरभूद्भूयांस्तदर्थेऽपोह्य सौहृदम् ।
ममानुरूपो नायं व इति तद्गतचेतसाम् ॥४४॥

स बह्वृचस्ताभिरपारणीय-
तपःश्रियानर्घ्यपरिच्छदेषु ।
गृहेषु नानोपवनामलाम्भः-
सरस्सु सौगन्धिककाननेषु ॥४५॥
महार्हशय्यासनवस्त्रभूषण-
स्नानानुलेपाभ्यवहारमाल्यकैः ।
स्वलंकृतस्त्रीपुरुषेषु नित्यदा
रेमेऽनुगायद्द्विजभृङ्गवन्दिषु ॥४६॥

यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्तद्वीपवतीपतिः ।
विस्मितः स्तम्भमजहात्सार्वभौमश्रियान्वितम् ॥४७॥
एवं गृहेष्वभिरतो विषयान्विविधैः सुखैः ।
सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥४८॥

स कदाचिदुपासीन आत्मापह्नवमात्मनः ।
ददर्श बह्वृचाचार्यो मीनसङ्गसमुत्थितम् ॥४९॥

अहो इमं पश्यत मे[2] विनाशं
तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात्
प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥५०॥

इसके शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, बाल पक गये हैं और शिर काँपने लगा है—मुझे ऐसा कहकर सूखा जवाब ही दे दिया है ॥ ४१ ॥ सो मैं अपनेको ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि राजमहिलाएँ तो क्या सुरसुन्दरियाँ भी मेरी कामना करेंगी—ऐसा सोचकर समर्थ सौभरिजीने वैसा ही किया ॥ ४२ ॥

तब अन्तःपुररक्षकने उन मुनिश्रेष्ठको कन्याओंके समृद्धिशाली अन्तःपुरमें पहुँचा दिया । वहाँ उन पचासों कन्याओंने उन अकेलेहीको अपना वर वरण कर लिया ॥ ४३ ॥ और उन्हींमें चित्त फँस जानेसे उन कन्याओंमें सौहार्दको तिलाञ्जलि देकर 'ये मेरे ही अनुरूप हैं, तुम्हारे योग्य नहीं हैं' ऐसा कहकर सौभरिजीके लिये कलह होने लगा ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर ऋग्वेदी सौभरि ऋषि अपने अपार तपके प्रभावसे बहुमूल्य परिच्छदोंसे युक्त गृहोंमें, अनेकों उपवनोंसे सुशोभित निर्मल जलपूर्ण सरोवरोंमें, कह्लारके वनोंमें तथा पक्षी, भौंरे और वन्दीजनोंसे गुंजायमान एवं सुन्दर अलंकारोंसे विभूषित स्त्री और पुरुषोंसे सुशोभित महलोंमें महामूल्य शय्या, आसन, वस्त्र, आभूषण, स्नान, उबटन, सुस्वादु भोजन और पुष्पमालाओंका व्यवहार करते हुए सर्वदा विहार करने लगे ॥ ४५-४६ ॥ इनके गार्हस्थ्यसुखको देखकर सप्तद्वीपवती पृथिवीके प्रभु राजा मान्धाताने भी विस्मित होकर अपने सार्वभौम सम्पत्तिमान् होनेका गर्व त्याग दिया था ॥ ४७ ॥ इस प्रकार गार्हस्थ्यमें आसक्त होकर विषयोंको विभिन्न इन्द्रियोंद्वारा भोगते हुए भी वे इस प्रकार सन्तुष्ट नहीं हुए जैसे घृतकी बूँदोंसे अग्नि ॥ ४८ ॥

एक दिन [स्वस्थचित्तसे] बैठे हुए उन ऋग्वेदाचार्यने अपने मनमें मत्स्यके सहवाससे प्राप्त हुए अपने तपोभङ्गपर विचार किया ॥ ४९ ॥ [वे सोचने लगे—] 'अहो ! जिसने सम्यक् प्रकारसे व्रतादिका आचरण किया था ऐसे मुझ तपस्वीका यह अधःपतन तो देखो ! जिस ब्रह्मतेजको मैंने चिरकालसे धारण किया था उससे मैं जलके भीतर एक जलजन्तुका संग करनेसे च्युत हो गया ! ॥ ५० ॥

१. वृतः स । २. सङ्गदोषं ।

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः

सर्वात्मना न विसृजेद्बहिरिन्द्रियाणि ।

एकश्चरन्रहसि चित्तमनन्त ईशे

युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥५१॥

एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसङ्गात्

पञ्चाशतासमुत पञ्चसहस्रसर्गः ।

नान्तं व्रजाम्युभयकृत्यमनोरथानां

मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः ॥५२॥

एवं वसन्गृहे कालं विरक्तो न्यासमास्थितः ।

वनं जगामानुययुस्तत्पत्न्यः पतिदेवताः ॥५३॥

तत्र तप्त्वा तपस्तीक्ष्णमात्मकर्षणमात्मवान्[२][३] ।

सहैवाग्निभिरात्मानं युयोज परमात्मनि ॥५४॥

ताः स्वपत्युर्महाराज निरीक्ष्याध्यात्मिकीं गतिम् ।

अन्वीयुस्तत्प्रभावेण अग्निं शान्तमिवार्चिषः ॥५५॥

मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह दाम्पत्यधर्ममें स्थित प्राणियोंका सहवास सर्वथा त्याग दे; अपनी इन्द्रियोंको बहिर्मुख न होने दे। सदा एकान्तदेशोंमें अकेला ही विचरता हुआ एकमात्र अनन्त ईश्वरमें ही अपना चित्त लगा दे और यदि संग ही करना हो तो भगवत्परायण साधु पुरुषोंका ही सहवास करे ॥ ५१ ॥ अहो! पहले मैं अकेला तपस्वी ही था। फिर जलमें मत्स्यका संग होनेसे [पचास स्त्रियोंका पति बनकर] पचास हो गया और तदनन्तर [सन्तानरूपसे बढ़कर] पाँच हजार हो गया। अब विषयोंमें मेरी सत्यबुद्धि हो गयी है, इसलिये बुद्धिके मायिक गुणोंमें फँस जानेसे मैं अपने ऐहिक और पारलौकिक—दोनों प्रकारके मनोरथोंका पार नहीं पाता' ॥ ५२ ॥

इस प्रकार कुछ काल घरमें रहकर अन्तमें विरक्त हो वे घर त्यागकर वनको चले गये। उनके साथ ही उनकी पतिपरायणा पत्नियाँ भी गयीं ॥ ५३ ॥ वहाँ आत्म-चिन्तनमें लगे हुए सौभरिजीने शरीरको सुखानेवाले तपमें तत्पर हो आहवनीयादि अग्नियोंके सहित अपने-आपको परमात्मामें लीन कर दिया ॥५४॥ हे महाराज! अपने पतिकी उस आध्यात्मिक गतिको देखकर उनकी पत्नियाँ भी उन्हींके प्रभावसे, अग्निमें लीन हुई शान्त लपटोंके समान, उनकी अनुगामिनी हुईं [अर्थात् उनके साथ सती होकर मुक्त हो गयीं] ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे सौभर्याख्याने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

१. कामं । २. तीव्र० । ३. वित् ।
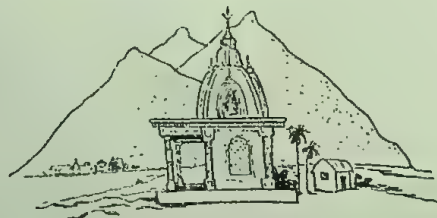
सातवाँ अध्याय

राजा त्रिशङ्कु और हरिश्चन्द्रकी कथा।

श्रीशुक उवाच

मान्धातुः पुत्रप्रवरो योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः।
पितामहेन प्रवृतो यौवनाश्वश्च[1] तत्सुतः।
हारीतस्तस्य[2] पुत्रोऽभून्मान्धातृप्रवरा इमे॥ १॥

नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकुत्साय योरगैः।
तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया॥ २॥

गन्धर्वानवधीत्तत्र वध्यान्वै विष्णुशक्तिधृक्[3]।
नागाल्लब्धवरः सर्पादभयं स्मरतामिदम्॥ ३॥

त्रसद्दस्युः पौरुकुत्सो योऽनरण्यस्य देहकृत्।
हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मादरुणोऽथ त्रिबन्धनः॥ ४॥

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः।
प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद्गुरोः कौशिकतेजसा॥ ५॥

सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते।
पातितोऽवाक्छिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात्॥ ६॥

त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
यन्निमित्तमभूद्युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम्॥ ७॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! मान्धाताके पुत्रोंमें श्रेष्ठ जिस अम्बरीषका वर्णन किया गया है उसे उसके दादा (युवनाश्व) ने पुत्ररूपसे स्वीकार कर लिया था। उसका पुत्र यौवनाश्व हुआ और उसके हारीतनामक पुत्र हुआ। ये तीनों मान्धातृ-गोत्रमें प्रवर (अवान्तर गोत्रप्रवर्त्तक) हुए॥ १॥

नर्मदा, जिसे उसके भाई नागगणने पुरुकुत्सको विवाह दिया था, नागराजके कहनेसे राजा पुरुकुत्सको रसातलमें ले गयी॥ २॥ वहाँ उन्होंने भगवान् विष्णुकी शक्तिसे सम्पन्न होकर वधयोग्य गन्धर्वोंका नाश किया और उस नागराजसे यह वर प्राप्त किया कि 'इस आख्यानको स्मरण करनेवाले पुरुषोंको सर्पसे भय न हो'॥ ३॥

राजा पुरुकुत्सका पुत्र त्रसद्दस्यु था। वह अनरण्यका जनक हुआ। अनरण्यका पुत्र हर्यश्व था और उससे अरुण तथा अरुणसे त्रिबन्धनका जन्म हुआ॥४॥ त्रिबन्धनका पुत्र सत्यव्रत था, जो त्रिशङ्कु नामसे विख्यात हुआ। वह गुरु (पिता और वसिष्ठजी*) के शापसे चाण्डालताको प्राप्त हो गया था; तो भी विश्वामित्रजीके तपोबलसे अपने शरीरसहित स्वर्गलोकको चला गया। वहाँ देवताओंने उसे नीचेको शिर करके गिरा दिया, किन्तु विश्वामित्रजीके बलात्कारसे वहीं रोक देनेके कारण वह इस समय भी आकाशमें लटका हुआ दिखायी देता है॥ ५-६॥

त्रिशङ्कुका पुत्र हरिश्चन्द्र था, जिसके लिये [पारस्परिक शापसे पक्षीरूप हुए] विश्वामित्र और वसिष्ठजीका कई वर्षोंतक युद्ध होता रहा था†॥७॥

---

१. युव०। २. हरीत०। ३. क्तिभृत्।

* त्रिशङ्कुने विवाह होती हुई ब्राह्मणकन्याका हरण किया था इसलिये उसके पिताने, तथा अज्ञानवश गुरु वसिष्ठजीकी गौका वध किया था इसलिये वसिष्ठजीने उसे शाप दिया था।

† विश्वामित्रजीने हरिश्चन्द्रसे राजसूय यज्ञ कराकर दक्षिणारूपसे उसका सारा धन हर लिया था। इससे कुलगुरु वसिष्ठजीने उन्हें शाप दिया कि 'तुम आडी पक्षी हो जाओ।' इसपर विश्वामित्रजीने उन्हें बक पक्षी होनेका शाप दिया। इस प्रकार पारस्परिक शापसे आडी और बक पक्षी हो जानेपर उनमें वर्षोंतक युद्ध होता रहा।

सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशतः ।
वरुणं शरणं यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो ॥ ८ ॥
यदि वीरो महाराज तेनैव त्वां यजे इति ।
तथेति वरुणेनास्य पुत्रो जातस्तु रोहितः ॥ ९ ॥
जातः सुतो ह्यनेनाङ्ग मां यजस्वेति सोऽब्रवीत् ।
यदा पशुर्निर्दशः स्यादथ मेध्यो भवेदिति ॥१०॥
निर्दशे च स आगत्य यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत् ।
दन्ताः पशोर्यज्जायेरन्नथ मेध्यो भवेदिति ॥११॥
जाता दन्ता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत् ।
यदा पतन्त्यस्य दन्ता अथ मेध्यो भवेदिति ॥१२॥
पशोर्निपतिता दन्ता यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत् ।
यदा पशोः पुनर्दन्ता जायन्तेऽथ पशुः शुचिः ॥१३॥
पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत् ।
सान्नाहिको यदा राजन्राजन्योऽथ पशुः शुचिः॥१४॥
इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितचेतसा ।
कालं वञ्चयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत ॥१५॥
रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म चिकीर्षितम् ।
प्राणप्रेप्सुर्धनुष्पाणिररण्यं प्रत्यपद्यत ॥१६॥
पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा जातमहोदरम् ।
रोहितो ग्राममेयाय तमिन्द्रः प्रत्यषेधत ॥१७॥
भूमेः पर्यटनं पुण्यं तीर्थक्षेत्रनिषेवणैः ।

राजा हरिश्चन्द्र पुत्रहीन था, अतः वह अत्यन्त खिन्न होकर नारदजीके उपदेशसे वरुणकी शरणमें गया, और उनसे प्रार्थना की कि "प्रभो ! मेरे पुत्र उत्पन्न हो ॥ ८ ॥ हे महाराज ! यदि मेरे वीर पुत्र हुआ तो मैं उसीसे आपका यजन करूँगा ।" तब वरुणके 'बहुत अच्छा' कहनेपर उसके रोहितनामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥ पुत्र उत्पन्न होते ही वरुणने कहा—"हे तात ! तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हो गया है, अब इससे मेरा यजन करो ।" [इसपर राजाने कहा–] "जब यह पुत्ररूप पशु दश दिनका हो जायगा तब मेध्य (पवित्र) होगा" ॥ १० ॥ दश दिन बीतनेपर भी वरुणने आकर कहा—"अब यज्ञ करो ।" किन्तु राजाने कहा—"जब पशुके दाँत निकल आयेंगे तब वह मेध्य होगा" ॥११॥ दाँत निकलनेपर वरुणने कहा "इसके दाँत निकल आये, अब तुम इससे मेरा यजन करो ।" तब हरिश्चन्द्र बोला—"जब इसके ये दाँत गिर जायँगे तब यह मेध्य होगा" ॥१२॥ फिर दाँत गिरनेपर वरुणने कहा—"अब पशुके दाँत गिर गये हैं, इसलिये मेरा यजन करो ।" इसपर राजा बोला "जब इस पशुके पुनः दाँत निकल आयेंगे तब यह पवित्र होगा" ॥ १३ ॥ तदनन्तर जब वरुणने कहा—"अब दाँत पुनः निकल आये हैं, इसलिये यजन करो ।" तब राजा बोला—"हे राजन् ! जिस समय राजपुरुषरूप पशु कवच धारण करने योग्य होता है तभी वह पवित्र माना जाता है" ॥ १४ ॥

इस प्रकार पुत्रके अनुरागवश स्नेहासक्त चित्तसे समयको टालते हुए वह भिन्न-भिन्न समय बतलाता गया और वरुण भी उसकी प्रतीक्षा करते रहे ॥१५॥ अन्तमें जब रोहितको अपने पिताके सङ्कल्पित कर्मका पता चला तो वह हाथमें धनुष लेकर अपने प्राण बचानेके लिये वनको चला गया ॥ १६ ॥ कुछ दिन पीछे अपने पिताको वरुण देवतासे ग्रस्त होकर महोदररोगसे पीडित सुन रोहित अपने नगरमें लौटनेको तैयार हुआ, किन्तु इन्द्रने उसे ऐसा करनेसे रोक दिया ॥ १७ ॥ इन्द्रने रोहितसे कहा—"वत्स ! [यज्ञपशु बनकर मरनेकी अपेक्षा तो] पुण्यक्षेत्रोंका सेवन करते हुए पृथिवीमें विचरते रहना ही अच्छा

रोहितायादिशच्छक्रः सोऽप्यरण्येऽवसत्समाम्[1] ॥१८॥
एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे तथा ।
अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरो विप्रो भूत्वाह वृत्रहा ॥१९॥
षष्ठं संवत्सरं तत्र चरित्वा रोहितः पुरीम् ।
उपव्रजन्नजीगर्तादक्रीणान्मध्यमं सुतम् ॥२०॥
शुनःशेपं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत ।
ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः ॥२१॥
मुक्तोदरोऽयजद्देवान्वरुणादीन्महत्कथः ।
विश्वामित्रोऽभवत्तस्मिन्होता चाध्वर्युरात्मवान् ॥२२॥
जमदग्निरभूद्ब्रह्मा वसिष्ठोऽयास्यसामगः ।
तस्मै तुष्टो ददाविन्द्रः शातकौम्भमयं रथम् ॥२३॥
शुनःशेपस्य माहात्म्यमुपरिष्टात्प्रचक्ष्यते ।
सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ॥२४॥
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम् ।
मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसापोऽनिलेन तत् ॥२५॥
खे वायुं धारयंस्तच्च भूतादौ तं महात्मनि ।
तस्मिञ्ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाज्ञानं विनिर्दहन् ॥२६॥
हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा ।
अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धनः ॥२७॥

है।" इस प्रकार उपदेश पाकर रोहित एक वर्षतक और भी वनमें रहा ॥ १८ ॥ इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें वर्षके अन्तमें भी [जब-जब रोहित घर लौटनेको उद्यत हुआ तभी-तभी] इन्द्र वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें आकर उसे तीर्थयात्रा करते रहनेके लिये कहता रहा ॥ १९ ॥ छठा वर्ष समाप्त होनेपर जब रोहित अपने नगरको लौटने लगा तो उसने अजीगर्त्तसे उसका शुनःशेपनामक मध्यम पुत्र मोल ले लिया और उसे यज्ञपशुरूपसे पिताको सौंपकर प्रणाम किया। तब महायशस्वी और महापुरुषोंसे कीर्तित राजा हरिश्चन्द्रने उदररोगसे छूटकर पुरुषमेध यज्ञद्वारा वरुण आदि देवताओंका यजन किया। उस यज्ञमें विश्वामित्रजी होता हुए, आत्मवान् जमदग्निने अध्वर्युका कार्य किया, वसिष्ठजी ब्रह्मा बने और अयास्य मुनि उद्गाता हुए। तब इन्द्रने सन्तुष्ट होकर राजा हरिश्चन्द्रको एक सुवर्णमय रथ दिया ॥२०—२३॥

हे राजन्! शुनःशेपका माहात्म्य आगे [विश्वामित्रजीके पुत्रोंके प्रसङ्गमें] वर्णन करेंगे। अपनी स्त्रीके सहित राजा हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठामें दृढ़ता देख विश्वामित्रजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। उसके अनुसार राजा हरिश्चन्द्रने अपने मनको पृथिवीमें, पृथिवीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें और वायुको आकाशमें स्थिर कर उसे भूतादिमें और भूतादिको महत्तत्त्वमें लीन किया। फिर महत्तत्त्वमें ज्ञानकलाकी भावना करते हुए उससे अपने अज्ञानको भस्म किया ॥२४—२६॥ तदनन्तर निर्वाण-सुखके अनुभवद्वारा उस ज्ञानकलाको भी त्यागकर वे समस्त बन्धनोंसे छूटकर जिसका कथन और अनुमान भी नहीं किया जा सकता ऐसे स्वस्वरूपमें स्थित हो गये ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे हरिश्चन्द्रोपाख्यानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

१. रोहितं त्वदिश०। २. ऽचरत्।

आठवाँ अध्याय

सगर-चरित्र ।

श्रीशुक उवाच[1]

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्तस्माद्विनिर्मिता[2] ।
चम्पापुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥ १ ॥
भरुकस्तत्सुतस्तस्माद्वृकस्तस्यापि[3] बाहुकः ।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥२॥
वृद्धं तं पञ्चतां प्राप्तं महिष्यनुमरिष्यती ।
और्वेण जानतात्मानं प्रजावन्तं निवारिता ॥ ३ ॥
आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह ।
सह तेनैव संजातः[4] सगराख्यो महायशाः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! रोहितका पुत्र हरित था; उससे चम्प हुआ, जिसने चम्पापुरी बसायी। चम्पका पुत्र सुदेव था, जिसके विजयनामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥ विजयका पुत्र भरुक था, उससे वृक और वृकसे बाहुकका जन्म हुआ । राजा बाहुक शत्रुओंद्वारा पृथिवी छीन ली जानेसे अपनी स्त्रियोंसहित वनको चले गये ॥ २ ॥ वहाँ वृद्धावस्थाके कारण राजाके मृत्युको प्राप्त हो जानेपर उनकी महिषी सती होनेको उद्यत हुई, किन्तु गुरुवर और्वने उसके शरीरको गर्भयुक्त जान उसे ऐसा करनेसे रोक दिया ॥३॥ तब उसकी सौतोंने यह समाचार जानकर उसे भोजनके साथ गर (विष) दे दिया; किन्तु वह महायशस्वी बालक उस गरके सहित ही उत्पन्न हुआ, अतः उसका 'सगर' नाम पड़ा ॥ ४ ॥

सगरश्चक्रवर्त्यासीत्सागरो यत्सुतैः कृतः ।
यस्तालजङ्घान्यवनाञ्छकान्हैहयबर्बरान् ॥ ५ ॥
नावधीद्गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिणः ।
मुण्डाञ्छ्मश्रुधरान्कांश्चिन्मुक्तकेशार्धमुण्डितान् ॥६॥
अनन्तर्वाससः कांश्चिदबहिर्वाससोऽपरान् ।
सोऽश्वमेधैरयजत सर्ववेदसुरात्मकम् ॥ ७ ॥
और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् ।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥ ८ ॥

सगर चक्रवर्ती राजा हुआ । उसके पुत्रोंने सागरको उत्पन्न किया था । उसने गुरु और्वके कहनेसे तालजङ्घ, यवन, शक, हैहय और बर्बर जातिके मनुष्योंका वध नहीं किया, बल्कि उन्हें विरूप कर दिया । उनमेंसे किन्हींके शिर मुँड़वा दिये, किन्हींके मूँछ-दाढ़ी रखवा दिये, किन्हींको खुले केशवाला कर दिया और किन्हींको अर्धमुण्डित कर दिया ॥५-६॥ तथा किन्हींको [और सब कपड़े उतरवाकर] केवल ओढ़नेके वस्त्रसे युक्त और किन्हींको केवल लँगोटीबन्द कर दिया । राजा सगरने और्वऋषिकी उपदेश की हुई विधिसे सम्पूर्ण वेद और देवस्वरूप, सर्वात्मा, जगदीश्वर श्रीहरिका अश्वमेध यज्ञद्वारा यजन किया । उस यज्ञमें छोड़े हुए यज्ञपशुरूप घोड़ेको इन्द्र हर ले गया ॥ ७-८ ॥

सुमत्यास्तनया दृप्ताः पितुरादेशकारिणः ।
हयमन्वेषमाणास्ते समन्तान्न्यखनन्महीम् ॥ ९ ॥

तब राजाकी सुमतिनाम्नी महारानीके अति गर्वीले और पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले पुत्रोंने अश्वको खोजते-खोजते पृथिवीको सब ओरसे खोद डाला ॥९॥

१. बादरायणिरुवाच । २. म्पस्तेन विनि० । ३. करुक० । ४. न हतस्तेन संजा० ।

प्रागुदीच्यां दिशि हयं ददृशुः कपिलान्तिके ।
एष वाजिहरश्चौर आस्ते मीलितलोचनः ॥१०॥
हन्यतां हन्यतां पाप इति षष्टिसहस्रिणः ।
उदायुधा अभिययुरुन्मिमेष तदा मुनिः ॥११॥
स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहृतचेतसः ।
महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन्क्षणात् ॥१२॥

उस समय उन्हें पूर्वोत्तर दिशामें कपिलमुनिके पास अपना घोड़ा दिखायी दिया । उसे देखकर वे साठ सहस्र पुत्र अपने अस्त्र-शस्त्र उठाकर 'अरे ! यह घोड़ेको चुरानेवाला चोर आँख मूँदे बैठा है, इस पापीको मार डालो' ऐसा कहते हुए उनकी ओर दौड़े । इससे मुनिने अपने नेत्र खोल दिये ॥ १०-११ ॥ तब इन्द्रकी मायासे मोहितचित्त हुए वे सब राजकुमार महात्मा कपिलजीका अपराध करनेके कारण उनकी दृष्टि पड़ते ही एक क्षणमात्रमें अपने शरीरसे प्रकट हुए अग्निसे जलकर भस्म हो गये ॥ १२ ॥

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि ।
कथं तमो रोषमयं विभाव्यते
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥१३॥
यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौ-
र्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम् ।
भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चितः
परात्मभूतस्य कथं पृथङ्मतिः ॥१४॥

हे राजन् ! 'सगरपुत्र कपिलमुनिके क्रोधसे दग्ध हुए' ऐसा कहना उचित नहीं है । भला जिनका शरीर जगत्को पवित्र करनेवाला है उन सत्त्वस्वरूप कपिलजीमें क्रोधरूप तमोगुणकी सम्भावना कैसे की जा सकती है ? क्या कभी पृथिवीकी रजका आकाशसे सम्बन्ध हो सकता है ? ॥ १३ ॥ जिसके द्वारा मुमुक्षुजन मृत्युके मार्गरूप दुस्तर संसारको पार कर जाते हैं उस सांख्यमयी सुदृढ नौकाको जिन्होंने इस लोकमें प्रवृत्त किया है उन परमात्मस्वरूप सर्वज्ञ कपिलजीको भला 'यह शत्रु है, यह मित्र है' ऐसी भेदबुद्धि कैसे हो सकती है ? ॥ १४ ॥

योऽसमञ्जस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः ।
तस्य पुत्रोंऽशुमान्नाम पितामहहिते रतः ॥१५॥
असमञ्जस आत्मानं दर्शयन्नसमञ्जसम् ।
जातिस्मरः पुरा सङ्गाद्योगी योगाद्विचालितः ॥१६॥
आचरन्गर्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम् ।
सरय्वां क्रीडतो बालान्प्रास्यदुद्वेजयञ्जनम् ॥१७॥
एवं वृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै ।
योगैश्वर्येण बालांस्तान्दर्शयित्वा ततो ययौ ॥१८॥

हे नृप ! जो असमञ्जस नामसे कहा जाता है वह राजा सगरकी केशिनी नामकी रानीका पुत्र था । उसका अंशुमान्नामक पुत्र निरन्तर अपने पितामहके हितमें तत्पर रहता था ॥ १५ ॥ असमञ्जस पूर्वजन्ममें योगी था और संगके कारण योगभ्रष्ट हो गया था । उसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण था । इसलिये ['मुझे पुनः संग प्राप्त न हो' इस भावनासे] वह लोकमें अपने बन्धु-बान्धवोंको प्रिय न लगनेवाले निन्दनीय कर्म करता हुआ अपना विपरीत आचरण दिखाया करता था । यहाँतक कि उसने प्रजाजनको अपनेसे उद्विग्न करनेके लिये उनके खेलते हुए बालकोंको सरयू नदीमें डाल दिया ॥ १६-१७ ॥ उसका ऐसा आचरण देख पिताने पुत्रस्नेहको तिलाञ्जलि दे उसे त्याग दिया । तब वह अपने योगबलसे उन बालकोंको पुनः जीवित दिखाकर चला गया ॥ १८ ॥

अयोध्यावासिनः सर्वे बालकान्पुनरागतान् ।
दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन्राजा चाप्यन्वतप्यत ॥१९॥
अंशुमांश्चोदितो राज्ञा तुरङ्गान्वेषणे ययौ ।
पितृव्यखातानुपथं भस्मान्ति ददृशे हयम् ॥२०॥
तत्रासीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलाख्यमधोक्षजम् ।
अस्तौत्समाहितमनाः प्राञ्जलिः प्रणतो महान्॥२१॥

अंशुमानुवाच

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो
न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः ।
कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधी-
विसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः ॥२२॥
ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना
गुणान्विपश्यन्त्युत वा तमश्च ।
यन्मायया मोहितचेतसस्ते
विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः ॥२३॥
तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभाव-
प्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं
कथं हि मूढः परिभावयामि ॥२४॥
प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्ग-
मनामरूपं सदसद्विमुक्तम् ।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं
नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥२५॥
त्वन्मायारचिते लोके वस्तुबुद्ध्या गृहादिषु ।
भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः ॥२६॥
अद्य नः सर्वभूतात्मन्कामकर्मेन्द्रियाशयः ।
मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात् ॥२७॥

अपने बालकोंको पुनः आये देख सब अयोध्यावासी बड़े विस्मित हुए और राजाको भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ ॥ १९ ॥

फिर राजा सगरके कहनेसे अंशुमान् घोड़ा ढूँढ़नेके लिये गया और उसने अपने चाचाओंके खोदे हुए मार्गसे जाकर उस घोड़ेको भस्मके समीप देखा ॥ २० ॥ वहाँ भगवदवतार कपिल मुनिको बैठे देख अति समाहित चित्तसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक स्तुति करने लगा ॥ २१ ॥

अंशुमान् बोला—भगवन् ! अजन्मा भगवान् ब्रह्माजी भी अपनेसे अतीत आपको प्रत्यक्ष नहीं देख पाते और न आजतक समाधि तथा युक्तियोंसे आपको परोक्षरूपसे ही जान सके हैं । फिर उनके मन, बुद्धि और शरीरसे होनेवाली सृष्टिके द्वारा देव, मनुष्यादिके रूपमें रचे हुए हम अज्ञानीलोग आपको कैसे जान सकते हैं ? ॥२२॥ जिन आपकी मायासे मोहितचित्त हुए देहधारी प्राणी, जो तीनों गुणोंके वशीभूत रहते हैं, [जाग्रत् और स्वप्नमें] केवल गुणमय पदार्थोंको और [सुषुप्तिमें] अज्ञानको ही देखते हैं—बहिर्मुख होनेके कारण अपने अन्तःकरणमें स्थित आपको नहीं देख सकते ॥ २३ ॥ उन्हीं ज्ञानघन-स्वरूप आपकी मैं मूढमति किस प्रकार भावना कर सकता हूँ ? क्योंकि आप तो, जिनका आत्मस्वरूपके अनुभवसे गुणमय भेदरूप मोह दूर हो गया है उन सनन्दनादि मुनियोंसे निरन्तर चिन्तन किये जाने योग्य हैं ॥ २४ ॥ अतः जिनमें मायिक गुण, कर्म, लिङ्ग एवं नाम-रूपका तिरोभाव हो गया है तथा जो कार्य-कारणभावसे रहित हैं, केवल ज्ञानोपदेशके लिये ही शरीर धारण करनेवाले उन आप पुराण पुरुषको हम नमस्कार करते हैं ॥ २५ ॥ हे प्रभो ! काम, लोभ, ईर्ष्या और मोहादिसे भ्रान्तचित्त हुए पुरुष आपकी मायासे रचे हुए इस लोकमें परमार्थबुद्धि करके गृह आदिमें भटकते रहते हैं ॥ २६ ॥ हे सर्व-भूतात्मन् ! हे भगवन् ! आज आपका दर्शन पाकर विषयाभिलाषा, कर्म और इन्द्रियोंका आश्रयरूप हमारा सुदृढ मोहपाश नष्ट हो गया है ॥ २७ ॥

१. चाथान्व० । २. सृष्टावयवप्रकाशकाः । ३. प्रपश्य० । ४. मयमोहभेदैः । ५. द्वियुक्तम् । ६. तल्लिङ्गं । ७. यत्त्वया रचि० ।

श्रीशुक उवाच

इत्थं गीतानुभावस्तं भगवान्कपिलो मुनिः ।
अंशुमन्तमुवाचेदमनुगृह्य धिया नृप ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपना प्रभाव वर्णन किया जानेपर भगवान् कपिल मुनि अंशुमान्पर हृदयसे अनुग्रह करते हुए, उससे इस प्रकार कहने लगे ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अश्वोऽयं नीयतां वत्स पितामहपशुस्तव ।
इमे च पितरो दग्धा गङ्गाम्भोऽर्हन्ति नेतरत् ॥२९॥
तं परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत् ।
सगरस्तेन पशुना क्रतुशेषं समापयत् ॥३०॥
राज्यमंशुमति न्यस्य निःस्पृहो मुक्तबन्धनः ।
और्वोपदिष्टमार्गेण लेभे गतिमनुत्तमाम् ॥३१॥

भगवान् कपिलने कहा—वत्स ! यह घोड़ा तुम्हारे पितामहका यज्ञपशु है; तुम इसे ले जाओ । ये तुम्हारे दग्ध हुए पितृगण केवल गङ्गाजल पानेयोग्य हैं, और कुछ नहीं ॥ २९ ॥ तब अंशुमान्ने कपिलजीकी परिक्रमा की और उन्हें शिर झुकाकर प्रसन्न कर उस घोड़ेको ले आया । फिर सगरने उस यज्ञपशुसे अपना शेष यज्ञ सम्पन्न किया ॥ ३० ॥ और फिर अंशुमान्को राज्य सौंपकर उन्होंने निःस्पृह और बन्धनशून्य हो और्वऋषिके उपदेश किये मार्गसे परमपद प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे
सगरोपाख्यानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

गङ्गावतरण और राजा सौदासकी कथा ।

श्रीशुक उवाच

अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया ।
कालं महान्तं नाशक्नोत्ततः कालेन संस्थितः ॥ १ ॥
दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान् ।
भगीरथस्तस्य पुत्रस्तेपे स सुमहत्तपः ॥ २ ॥
दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते ।
इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः ॥ ३ ॥
कोऽपि धारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले ।
अन्यथा भूतलं भित्त्वा नृप यास्ये रसातलम् ॥ ४ ॥
किं चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम् ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अंशुमान्ने गङ्गाजीको लानेकी इच्छासे बहुत समयतक तपस्या की, किन्तु वह ऐसा करनेमें समर्थ न हुआ और अन्तमें काल उपस्थित होनेपर मर गया ॥ १ ॥ इसी प्रकार उसका पुत्र दिलीप भी असफल रहकर ही काल-कवलित हुआ । फिर उसके पुत्र भगीरथने बड़ी घोर तपस्या की ॥ २ ॥ तब गङ्गादेवीने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया और कहा कि मैं तुम्हें वर देनेके लिये आयी हूँ । उनके ऐसा कहनेपर राजाने अति विनयपूर्वक अपना अभिप्राय कह दिया ॥ ३ ॥

[तब गङ्गाजीने कहा—] हे राजन् ! जिस समय मैं स्वर्गसे पृथिवीतलपर गिरूँ उस समय कोई मेरे वेगको धारण करनेवाला होना चाहिये । नहीं तो मैं पृथिवीको फोड़कर रसातलको चली जाऊँगी ॥४॥ इसके सिवा एक कारणसे तो मैं पृथिवीपर जाऊँगी भी नहीं, क्योंकि लोग तो मुझमें अपने पाप धो देंगे,

मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यताम् ॥ ५ ॥

भगीरथ उवाच

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥ ६ ॥
धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम् ।
यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु ॥ ७ ॥
इत्युक्त्वा स नृपो देवं तपसातोषयच्छिवम् ।
कालेनाल्पीयसा राजंस्तस्येशः समतुष्यत ॥ ८ ॥
तथेति राज्ञाभिहितं सर्वलोकहितः शिवः ।
दधारावहितो गङ्गां पादपूतजलां हरेः ॥ ९ ॥
भगीरथः[२] स राजर्षिर्निन्ये भुवनपावनीम् ।
यत्र स्वपितणां देहा भस्मीभूताःस्म शेरते ॥१०॥
रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती ।
देशान्पुनन्ती निर्दग्धानासिञ्चत्सगरात्मजान् ॥११॥
यज्जलस्पर्शमात्रेण[३] ब्रह्मदण्डहता अपि ।
सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः ॥१२॥
भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्याताः सगरात्मजाः ।
किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः ॥१३॥
न ह्येतत्परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम् ।
अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः ॥१४॥
संनिवेश्य मनो यस्मिञ्छ्रद्धया मुनयोऽमलाः ।
त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम् ॥१५॥

फिर मैं उन्हें कहाँ धोऊँगी ? इस विषयमें भी तुम विचार कर लो ॥ ५ ॥

राजा भगीरथने कहा—मातः ! एषणात्रयको त्यागनेवाले, शान्त, ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले साधुजन अपने अंग-संगसे तुम्हारे पापोंको दूर कर देंगे, क्योंकि उनमें पापापहारी श्रीहरि विराजते हैं ॥ ६ ॥ जिनमें यह सम्पूर्ण जगत् तन्तुओंमें वस्त्रके समान ओतप्रोत है वे सम्पूर्ण देहधारियोंके आत्मा भगवान् रुद्र तुम्हारे वेगको धारण करेंगे ॥७॥

ऐसा कहकर राजा भगीरथने तपस्याद्वारा भगवान् शिवको प्रसन्न किया । हे राजन् ! थोड़े ही कालमें भगवान् ईश उनसे प्रसन्न हो गये ॥८॥ तब सर्वलोक-हितकारी श्रीशंकरने राजाके कथनको 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर स्वीकार किया और जिसका जल भगवान् विष्णुका चरणोदक होनेके कारण पवित्र है उस गङ्गा-को समाहितचित्तसे [अपने मस्तकपर] धारण किया ॥ ९ ॥

फिर राजर्षि भगीरथ त्रिभुवनपावनी गङ्गाजीको, जहाँ उनके पितृगणके भस्मीभूत शरीर पड़े हुए थे वहाँ ले गये ॥१०॥ तब वायुवेगशाली रथपर जाते हुए राजा भगीरथका अनुगमन करनेवाली गङ्गाजीने देश-देशान्तरोंको पवित्र करते हुए भस्मीभूत सगरपुत्रोंको सींच दिया ॥११॥ उनके जलका केवल अपने शरीर-की भस्मके साथ स्पर्शमात्र होनेके कारण सगरपुत्र ब्रह्मशापसे आहत होनेपर भी स्वर्गवासी हो गये—अहो ! वे सगरपुत्र तो केवल अपने भस्मीभूत शरीरोंका संसर्ग होनेसे ही स्वर्ग सिधार गये थे—फिर जो व्रत-शील लोग श्रीगङ्गादेवीका श्रद्धापूर्वक सेवन करते हैं उनके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥१२-१३॥ जिनमें निर्मलस्वभाव मुनिगण श्रद्धापूर्वक चित्त लगाकर, जिनका छूटना अत्यन्त कठिन है उन, तीनों गुणोंको त्यागकर तुरन्त ही तद्रूप हो जाते हैं उन भवबन्धन-छेदक भगवच्चरणारविन्दोंसे प्रकट हुई श्रीगङ्गाजीके विषयमें यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह कोई विशेष आश्चर्यकी बात नहीं है ॥१४-१५॥

१. शश्वानुतु० । २. थोऽथ रा० । ३. ते जल० ।

श्रुतो भगीरथाज्जज्ञे तस्य नाभोऽपरोऽभवत् ।
सिन्धुद्वीपस्ततस्तस्मादयुतायुस्ततोऽभवत् ॥१६॥
ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात् ।
दत्त्वाक्षहृदयं चास्मै[१] सर्वकामस्तु तत्सुतः ॥१७॥
ततः सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृप ।
आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित् ।
वसिष्ठशापाद्रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा ॥१८॥

राजा भगीरथसे श्रुतका जन्म हुआ, उससे नाभ-नामक पुत्र हुआ, फिर नाभसे सिन्धुद्वीप और उससे अयुतायुका जन्म हुआ। अयुतायुसे नलका मित्र ऋतुपर्ण हुआ। उसने नलको पासा फेंकनेकी विद्याका रहस्य बतलाकर उससे अश्वविद्या सीखी थी। उसका पुत्र सर्वकाम हुआ ॥१६-१७॥ हे राजन्! फिर सर्वकामका पुत्र मदयन्तीपति सुदास हुआ, जिसे कहीं मित्रसह और कहीं कल्माष-पाद भी कहा गया है। वह वशिष्ठजीके शापसे राक्षस हो गया था, और फिर अपने कर्मवश सन्तानहीन रहा ॥ १८ ॥

राजोवाच

किंनिमित्तो गुरोः शापः सौदासस्य महात्मनः ।
एतद्वेदितुमिच्छामः कथ्यतां न रहो यदि ॥१९॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हमें यह जाननेकी इच्छा है कि महात्मा सौदासको किस कारणसे गुरुका शाप हुआ? यदि गोपनीय न हो तो कहिये ॥१९॥

श्रीशुक उवाच

सौदासो मृगयां किञ्चिच्चरन्रक्षो जघान ह ।
मुमोच भ्रातरं सोऽथ गतः प्रतिचिकीर्षया ॥२०॥
स चिन्तयन्नघं राज्ञः सूदरूपधरो गृहे ।
गुरवे भोक्तुकामाय पक्त्वा निन्ये नरामिषम् ॥२१॥
परिवेक्ष्यमाणं भगवान्विलोक्याभक्ष्यमञ्जसा ।
राजानमशपत्क्रुद्धो रक्षो ह्येवं भविष्यसि ॥२२॥
रक्षःकृतं तद्विदित्वा चक्रे द्वादशवार्षिकम् ।
सोऽप्यपोऽञ्जलिनादाय गुरुं शप्तुं समुद्यतः ॥२३॥
वारितो मदयन्त्यापो रुशतीः पादयोर्जहौ ।
दिशः खमवनीं सर्वं पश्यञ्जीवमयं नृपः ॥२४॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! एक बार राजा सौदासने मृगयाके समय किसी राक्षसको मार डाला और उसके भाईको छोड़ दिया। तब वह राजाका अपराध सामने रखकर उसका बदला लेनेकी इच्छासे रसोइयेका रूप बनाकर राजाके घर आया और भोजन-की इच्छावाले गुरु वशिष्ठजीको नरमांस बनाकर दिया ॥२०-२१॥ तब परोसे जानेवाले अभक्ष्य भोजनको देखकर भगवान् वशिष्ठजीने सहसा कुपित होकर राजाको शाप दिया कि 'इस प्रकार नरमांस देनेके कारण तू राक्षस होगा' ॥२२॥ फिर यह जानकर कि यह एक राक्षस-की करतूत है उन्होंने उस शापकी बारह वर्षकी अवधि कर दी। उस समय राजा सौदास भी अञ्जलिमें जल लेकर गुरुको शाप देनेके लिये उद्यत हुआ ॥ २३ ॥ किन्तु रानी मदयन्तीके रोक देनेसे उसने वह तीक्ष्ण जल दिशा, आकाश और पृथिवी सभीको जीवमय जान अपने पैरोंपर डाल लिया। [इस प्रकार मित्र यानी स्त्रीका कथन सहने—माननेके कारण वह 'मित्र-सह' कहलाया] ॥२४॥

१. तस्मै।

राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्माषतां गतः ।
व्यवायकाले ददृशे वनौकोदम्पती द्विजौ ॥२५॥
क्षुधार्तो जगृहे विप्रं तत्पत्न्याहाकृतार्थवत् ।
न भवान्राक्षसः साक्षादिक्ष्वाकूणां महारथः ॥२६॥
मदयन्त्याः पतिर्वीर नाधर्मं कर्तुमर्हसि ।
देहि मेऽपत्यकामाया अकृतार्थं पतिं द्विजम् ॥२७॥
देहोऽयं मानुषो राजन्पुरुषस्याखिलार्थदः ।
तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थवध उच्यते ॥२८॥
एष हि ब्राह्मणो विद्वांस्तपःशीलगुणान्वितः ।
आरिराधयिषुर्ब्रह्म महापुरुषसंज्ञितम् ।
सर्वभूतात्मभावेन भूतेष्वन्तर्हितं गुणैः ॥२९॥
सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते राजर्षिप्रवराद्विभो ।
कथमर्हति धर्मज्ञ वधं पितुरिवात्मजः ॥३०॥
तस्य साधोरपापस्य भ्रूणस्य ब्रह्मवादिनः ।
कथं वधं यथा बभ्रोर्मन्यते सन्मतो भवान् ॥३१॥
यद्ययं क्रियते भक्षस्तर्हि मां खाद पूर्वतः ।
न जीविष्ये विना येन क्षणं च मृतकं यथा ॥३२॥
एवं करुणभाषिण्या विलपन्त्या अनाथवत् ।
व्याघ्रः पशुमिवाखादत्सौदासः शापमोहितः ॥३३॥
ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषुं पुरुषादेन भक्षितम् ।
शोचन्त्यात्मानमुर्वीशमशपत्कुपिता सती ॥३४॥

इस प्रकार वह राक्षसभावको प्राप्त हुआ और [शापका जल पड़नेसे] उसके पैर कल्माषवर्ण हो गये। एक दिन उसने मैथुन करते हुए वनवासी ब्राह्मण-दम्पतियोंको देखा ॥२५॥ उसने भूखे होनेके कारण ब्राह्मणको पकड़ लिया। तब उसकी पत्नी अपूर्णकामा-सी होकर कहने लगी—"आप राक्षस नहीं हैं, बल्कि साक्षात् इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए महारानी मदयन्तीके पति एक बहुत बड़े महारथी हैं। हे वीर! आपको ऐसा अधर्म न करना चाहिये। मुझे सन्तानकी इच्छा है, अतः मुझे मेरा अकृतार्थ पति यह ब्राह्मण लौटा दो ॥ २६-२७ ॥ हे राजन्! यह मनुष्यदेह जीवके सकल पुरुषार्थोंको देनेवाला है, अतः हे वीर! इसका वध करना सकल पुरुषार्थोंका वध कहा जाता है ॥२८॥ इसके सिवा यह ब्राह्मण तो बड़ा विद्वान् तथा तप, शील और गुणयुक्त है। यह, अहंकारादि गुणोंके कार्योंसे सम्पूर्ण भूतोंमें छिपे हुए परमपुरुषसंज्ञक परब्रह्म परमात्माकी सकल प्राणियोंके आत्मस्वरूपसे आराधना करना चाहता है ॥२९॥ हे समर्थ! हे धर्मज्ञ! पिताके हाथसे पुत्रके मारे जानेके समान आप राजर्षि-श्रेष्ठके हाथसे इन ब्रह्मर्षिश्रेष्ठका वध होना किस प्रकार उचित हो सकता है? ॥३०॥ और आप तो साधुसमाजमें सम्मानित हैं; फिर कपिला गौके समान इस साधुस्वभाव, निर्दोष, श्रोत्रिय और वेदवादी ब्राह्मणका वध क्यों करना चाहते हैं? ॥३१॥ और यदि आप इसे अपना भक्ष्य बनाना ही चाहते हैं तो पहले मुझे खा जाइये, क्योंकि इसके बिना मैं मृतकके समान होकर एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकूँगी" ॥३२॥

उस करुणभाषिणी अबलाके इस प्रकार अनाथके समान बहुत कुछ विलाप करते रहनेपर भी शापग्रस्त सौदास उस ब्राह्मणको इस प्रकार खा गया जैसे व्याघ्र पशुको खा जाता है ॥ ३३ ॥ तब ब्राह्मणीने उस गर्भाधानकर्ता ब्राह्मणको राक्षसद्वारा खाया गया देख अपने लिये बहुत शोक करते हुए अत्यन्त कुपित होकर उस राजाको यह शाप दिया—॥ ३४ ॥

१. ति। २. बभ्रोर्धर्मज्ञो मन्यते भवान्।

यस्मान्मे भक्षितः पाप कामार्तायाः पतिस्त्वया ।
तवापि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञ दर्शितः ॥३५॥

"रे पापात्मन्! तूने मुझ कामविह्वलाके पतिको खा लिया है; इसलिये हे मन्दमते! तेरी मृत्यु भी गर्भाधान करनेसे ही होगी" ॥ ३५ ॥

एवं मित्रसहं शप्त्वा पतिलोकपरायणा ।
तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ प्रास्य भर्तुर्गतिं[1] गता ॥३६॥

मित्रसहको इस प्रकार शाप दे वह पतिलोक-परायणा ब्राह्मणी अपने पतिकी अस्थियोंको प्रज्वलित अग्निमें डालकर [उनके साथ सती होकर] स्वयं भी पतिकी गतिको ही प्राप्त हो गयी ॥ ३६ ॥

विशापो द्वादशाब्दान्ते मैथुनाय समुद्यतः ।
विज्ञाय[2] ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारितः ॥३७॥
तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः[3] ।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥३८॥
सा वै सप्तसमा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत ।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥३९॥

इधर बारह वर्ष बीतनेपर जब राजा मित्रसह शापमुक्त होकर मैथुन करनेके लिये तत्पर हुआ तो महारानीने ब्राह्मणीका शाप जानकर उसे रोक दिया ॥ ३७ ॥ तभीसे आगेके लिये उसने स्त्रीसुख त्याग दिया । इस प्रकार अपने कर्मवश वह सन्तान-हीन रहा । तब उसको अनुमतिसे वसिष्ठजीने रानी मदयन्तीमें सन्तान उत्पन्न करनेके लिये गर्भाधान किया ॥ ३८ ॥ उस गर्भको रानी सात वर्षतक धारण किये रही, तो भी बालक उत्पन्न नहीं हुआ । तब वसिष्ठजीने उसके पेटपर पत्थरसे आघात किया । इससे जो बालक हुआ वह अश्मक कहलाया ॥ ३९ ॥

अश्मकान्मूलको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः ।
नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत् ॥४०॥
ततो दशरथस्तस्मात्पुत्र ऐडविडस्ततः[4] ।
राजा विश्वसहो यस्य खट्वाङ्गश्चक्रवर्त्यभूत् ॥४१॥
यो देवैरर्थितो दैत्यानवधीद्युधि दुर्जयः ।
मुहूर्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं संदधे मनः ॥४२॥
न मे ब्रह्मकुलात्प्राणाः कुलदैवान्न चात्मजाः ।
न श्रियो न मही राज्यं न दाराश्चातिवल्लभाः ॥४३॥
न बाल्येऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित् ।
नापश्यमुत्तमश्लोकादन्यत्किञ्चन यस्त्वहम् ॥४४॥

अश्मकसे मूलकका जन्म हुआ, जिसे [परशुराम-जीके पृथिवीको क्षत्रियहीन करते समय] स्त्रियोंने बचाया था । इसलिये वह नारीकवच कहलाया और पृथिवीके क्षत्रियहीन हो जानेपर क्षत्रियकुलका मूल हुआ ॥ ४० ॥ मूलकसे दशरथका जन्म हुआ, उससे ऐडविड-नामक पुत्र हुआ, उससे राजा विश्वसह हुआ जिसका पुत्र चक्रवर्ती खट्वाङ्ग था ॥ ४१ ॥ जिस दुर्जय वीरने देवताओंके प्रार्थना करनेपर युद्धमें दैत्योंका वध किया और फिर [देवताओंके कहनेसे] अपनी आयु केवल एक मुहूर्तमात्र जान अपने नगरमें आ मनको [भगवान्‌में] लगा दिया—॥ ४२ ॥ [वे विचार करने लगे—] 'मुझे अपने कुलदेव ब्राह्मण-वंशसे बढ़कर अपने प्राण, पुत्र, धन, धरती तथा राज्य और रानियाँ भी प्रिय नहीं हैं ॥ ४३ ॥ मेरी मति बाल्यावस्थामें भी कभी अधर्ममें प्रवृत्त नहीं हुई; और मैंने पवित्रकीर्ति श्रीहरिको छोड़कर कभी और कुछ नहीं देखा ॥४४॥

१. भर्तुर्गतिं । २. विशाप्य । ३. प्रजः । ४. ऐलिबिलः ।

देवैः कामवरो दत्तो मह्यं त्रिभुवनेश्वरैः ।
न वृणे तमहं कामं भूतभावनभावनः ॥४५॥
ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो देवास्ते स्वहृदि स्थितम् ।
न विन्दन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुतापरे ॥४६॥
अथेशमायारचितेषु सङ्गं
गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु ।
रूढं प्रकृत्यात्मनि विश्वकर्तु-
र्भावेन हित्वा तमहं प्रपद्ये ॥४७॥
इति व्यवसितो बुद्ध्या नारायणगृहीतया ।
हित्वान्यभावमज्ञानं ततः स्वं भावमाश्रितः ॥४८॥
यत्तद्ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितम् ।
भगवान्वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः ॥४९॥

त्रिभुवनपति देवताओंने मुझे इच्छित वर देनेको कहा था; किन्तु भूतभावन भगवान्‌में ही भावना रखनेवाले मैंने उनसे कोई भोग्य पदार्थ नहीं माँगा ॥ ४५ ॥ क्योंकि जिनके चित्त और इन्द्रियवर्ग अत्यन्त चञ्चल हैं वे देवगण [सत्त्वप्रधान होनेपर भी] अपने अन्तःकरणमें स्थित, परम प्रिय सनातन आत्मा श्रीहरिको नहीं जान पाते; फिर औरोंका तो कहना ही क्या है ? ॥ ४६ ॥ अतः भगवान्‌की मायासे रचित गन्धर्वनगरतुल्य विषयोंकी आसक्तिको, जो स्वभावसे ही चित्तपर चढ़ी हुई है, जगत्कर्ता जगदीशकी भावनासे त्यागकर मैं उन्हींकी शरण लेता हूँ' ॥४७॥ हे राजन् ! भगवदाकृष्ट बुद्धिसे इस प्रकार निश्चय कर राजा खट्वाङ्ग अन्यभाव (देहादिमें आत्मबुद्धि) रूप अज्ञानको त्यागकर आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया, जो कि अति सूक्ष्म परब्रह्म और शून्यसदृश होकर भी अशून्य (सत्य) रूप है, तथा जिसे भक्तजन 'भगवान् वासुदेव' कहकर वर्णन करते हैं॥४८-४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे
सूर्यवंशानुवर्णने[2] नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशवाँ अध्याय

श्रीरामचरित ।

श्रीशुक उवाच

खट्वाङ्गाद्दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात्पृथुश्रवाः ।
अजस्ततो महाराजस्तस्माद्दशरथोऽभवत् ॥ १ ॥
तस्यापि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशांशेन चतुर्धागात्पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया ॥ २ ॥
तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! खट्वाङ्गसे दीर्घबाहुका जन्म हुआ; उससे महायशस्वी रघु, रघुसे अज और अजसे महाराज दशरथ उत्पन्न हुए ॥ १ ॥ फिर देवताओंकी प्रार्थनासे राजा दशरथके साक्षात् ब्रह्मस्वरूप भगवान् हरि अपने अंशांशसे राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्ननामक चार रूप धारण कर पुत्रभावको प्राप्त हुए ॥ २ ॥ हे राजन् ! उन सीतापतिका चरित तत्त्वज्ञानी मुनीश्वरोंने बहुत वर्णन किया है और तुम भी कई बार सुन चुके हो; [तथापि प्रसङ्गवश संक्षेपमें यहाँ भी वर्णन किया जाता है] ॥ ३ ॥

१. सिद्धेषु गन्धर्वपुरोगणेषु । २. नं नाम ।

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं
पद्मपद्भ्यां प्रियायाः
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो
यो हरीन्द्रानुजाभ्याम् ।
वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषा-
रोपितभ्रूविजृम्भ-
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः
कोशलेन्द्रोऽवतान्नः ॥ ४ ॥

जो अपने पिताके लिये राज्यको तिलाञ्जलि दे प्रियाके पाणिपल्लवका स्पर्श सहन करनेमें भी असमर्थ अपने परम सुकुमार चरणकमलोंसे वनमें विचरे, उस समय कपिराज हनुमान् और लक्ष्मणजी जिनके मार्ग-श्रमको दूर करते थे, शूर्पणखाको विरूप करनेके कारण प्राप्त हुए प्रियाविरहके कारण क्रोधसे चढ़ी हुई जिनकी भ्रुकुटियोंसे समुद्र भयभीत हो गया था तथा जो समुद्रपर पुल बाँधकर दुष्टदलरूप वनके लिये दावानल हुए थे, वे कोशलराज हमारी रक्षा करें ॥ ४ ॥

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः ।
पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुङ्गवाः ॥ ५ ॥
यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं
सीतास्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम् ।
आदाय बालगजलील इवेक्षुयष्टिं
सज्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये ॥ ६ ॥
जित्वानुरूपगुणशीलवयोऽङ्गरूपां
सीताभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानाम् ।
मार्गे व्रजन्भृगुपतेर्व्यनयत्प्ररूढं
दर्पं महीमकृत यस्त्रिरराजबीजाम् ॥ ७ ॥
यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं
स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः ।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं
त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः ॥ ८ ॥

जिन्होंने विश्वामित्रजीके यज्ञमें लक्ष्मणजीके देखते-देखते राक्षसोंमें श्रेष्ठ मारीच आदि निशाचरोंका वध किया ॥ ५ ॥ हे नृप ! जिन्होंने सीताके स्वयंवर-भवनमें संसारके वीरोंके समाजमें तीन सौ वीरोंद्वारा लाया हुआ महादेवजीका अति प्रचण्ड धनुष ईखको तोड़नेवाले बालगजके समान लीला करते हुए उठाकर चढ़ा दिया और फिर खींचकर बीचमेंसे तोड़ डाला ॥ ६ ॥ ऐसा पराक्रम दिखाकर जिन्होंने पहलेहीसे अपने हृदयमें बसायी हुई रूप, गुण, शील, अवस्था और शरीरकी गठनमें अपने ही अनुरूप सीतानामकी लक्ष्मीको पुनः जीता और फिर मार्गमें जाते समय, जिन्होंने पृथिवीको इक्कीस बार क्षत्रियशून्य किया था, उन परशुरामजीके बढ़े हुए गर्वको दूर किया ॥७॥ तदनन्तर जिन्होंने स्त्रीके वशीभूत हुए भी सत्यपाशमें बँधे हुए अपने पिताके आदेशको प्राणप्रिया सीताके सहित शिरपर रखा और जो प्राणोंके समान राज्य, सम्पत्ति, प्रेमी, सुहृद् तथा निवासस्थानको त्यागकर असंगभावसे वनको चले गये [वे कोशलराज हमारी रक्षा करें] ॥ ८ ॥

रक्षःस्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धे-
स्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून् ।
जघ्ने चतुर्दशसहस्रमपारणीय-
कोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम् ॥ ९ ॥

[वनमें पहुँचकर] श्रीरघुनाथजीने राक्षसराज रावणकी बहिन अशुद्धबुद्धि शूर्पणखाके रूपको विकृत किया, उसके पृष्ठपोषक खर, दूषण और त्रिशिरा आदि चौदह सहस्र राक्षसबन्धुओंको मारा और फिर हाथमें दुर्जय धनुष धारण किये विचरते हुए बड़ी कठिनतासे वनमें रहे ॥ ९ ॥

---

१. ऽनुरू० । २. यः स्त्रिरराज० ।

सीताकथाश्रवणदीपितहृच्छयेन
सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण ।
जघ्नेऽद्भुतैणवपुषाश्रमतोऽपकृष्टो
मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः ॥१०॥
रक्षोऽधमेन वृकवद्विपिनेऽसमक्षं
वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् ।
भ्रात्रा वने कृपणवत्प्रियया वियुक्तः
स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार ॥११॥
दग्ध्वात्मकृत्यहतकृत्यमहन्कबन्धं
सख्यं विधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः ।
बुद्ध्वाथ[1] वालिनि हते प्लवगेन्द्रसैन्यै-
र्वेलामगात्स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः ॥१२॥
यद्रोषविभ्रमविवृत्तकटाक्षपात-[2]
संभ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोषः ।
सिन्धुः शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी
पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतत् ॥१३॥
न त्वां वयं जडधियो नु[3] विदाम भूमन्
कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम् ।
यत्सत्त्वतः[4] सुरगणा रजसः प्रजेशा
मन्योश्च भूतपतयः स भवान्गुणेशः ॥१४॥
कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं
त्रैलोक्यरावणमवाप्नुहि वीर पत्नीम् ।
बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै
गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः ॥१५॥

हे राजन् ! तदनन्तर, [शूर्पणखाके मुखसे] सीताके सौन्दर्यकी बात सुनकर कामातुर हुए रावणके भेजे हुए विचित्र मृगवेषधारी मारीचद्वारा आश्रमसे दूर ले जाये जानेपर भगवान् रामने उसे एक बाणसे शीघ्र ही इस प्रकार मार डाला जैसे दक्षप्रजापतिको वीरभद्रने ॥१०॥ इसी समय अपने परोक्षमें भेड़ियेके समान राक्षसाधम रावणद्वारा विदेहराजकुमारी श्रीजानकीजीके हर लिये जानेपर 'स्त्रीसंगियोंकी गति ऐसी होती है' यह दिखानेके लिये अपनी प्रियासे वियुक्त होनेके कारण अत्यन्त दीन-से होकर भाई लक्ष्मणसहित वनमें विचरते रहे ॥११॥ फिर अपने [भगवत्सेवारूप] विचित्र कृत्यके कारण जिसके कर्मसमूह दग्ध हो गये हैं उस जटायुका दाह कर कबन्धका वध किया तथा वानरोंसे मित्रता कर वालीका वध करनेके अनन्तर उनसे अपनी प्रियाका पता लगा, जिनके चरणकमल ब्रह्मा और महादेवजीसे भी पूजित हैं वे मनुष्यरूपधारी रघुनाथजी वानरराजकी सेनाके सहित समुद्रतटपर आये ॥१२॥ [वहाँ जब तीन दिनतक उपवासपूर्वक प्रार्थना करनेपर भी समुद्र नहीं आया तो रघुनाथजी बड़े कुपित हुए] उस समय जब उनकी क्रोधके कारण फैली हुई कटाक्षभङ्गीसे समुद्रवासी नाके और मकर आदि खलबलाने लगे तो भयके कारण जिसकी गर्जना स्तम्भित हो गयी थी वह समुद्र मूर्तिमान् होकर शिरपर बहुत-सी भेंटकी सामग्री लिये उनके चरणकमलोंमें उपस्थित हो इस प्रकार कहने लगा—॥१३॥ "हे भूमन् ! हम जडबुद्धि आपको नहीं जान सकते, क्योंकि आप कूटस्थ आदिपुरुष और सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर हैं; आपके सत्त्वगुणसे देवगण, रजोगुणसे प्रजापतिगण और तमोगुणसे भूतपति उत्पन्न हुए हैं तथा आप सम्पूर्ण गुणोंके नियन्ता हैं ॥१४॥ हे वीर ! आप प्रसन्नतापूर्वक जाइये और त्रिलोकीको रुलानेवाले इस विश्रवाके मलरूप रावणको मारकर अपनी प्रियाको प्राप्त कीजिये । आप अपने सुयशके विस्तारके लिये यहाँ सेतु बाँधिये, जिसके समीप पहुँचकर दिग्विजयी भूपालगण आपकी कीर्तिका गान करेंगे" ॥१५॥

१. बुद्ध्वा च । २. मकटाक्षविटङ्कपात० । ३. नूनं कूट० । ४. सात्त्वताः ।

बध्वोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः
सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्गैः ।
सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकै-
र्लङ्कां विभीषणदृशाविशदग्रदग्धाम् ॥१६॥

सा वानरेन्द्रबलरुद्धविहारकोष्ठ-
श्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटङ्का ।
निर्भज्यमानधिषणध्वजहेमकुम्भ-
शृङ्गाटका गजकुलैर्ह्रदिनीव घूर्णा ॥१७॥

रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भ-
धूम्राक्षदुर्मुखसुरान्तनरान्तकादीन् ।
पुत्रं प्रहस्तमतिकायविकम्पनादी-
न्सर्वानुगान्समहिनोदथ कुम्भकर्णम् ।१८।

तां यातुधानपृतनामसिशूलचाप-
प्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखड्गदुर्गाम् ।
सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमाद-
नीलाङ्गदर्क्षपनसादिभिरन्वितोऽगात् ।१९।

तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे
द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधैः ।
जघ्नुर्द्रुमैर्गिरिगदेषुभिरङ्गदाद्याः
सीताभिमर्शहतमङ्गलरावणेशान् ॥२०॥

रक्षःपतिः स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट
आरुह्य यानकमथाभिससार रामम् ।
स्वःस्यन्दने द्युमति मातलिनोपनीते
विभ्राजमानमहनन्निशितैः क्षुरप्रैः ॥२१॥

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः

तब रघुनाथजीने, जिनपर उगे हुए वृक्षोंकी शाखाएँ वानरवीरोंकी भुजाओंसे कम्पित हो गयी थीं ऐसे अनेकों शैलशिखरोंसे समुद्रपर सेतु बँधवाया और विभीषणके दिखाये हुए मार्गसे सुग्रीव, नील और हनुमान् आदि वानरयूथपतियोंके सहित लंकामें प्रवेश किया, जिसे पहले हनुमान्‌जीने जला दिया था ॥१६॥ उस समय, जिसके क्रीडास्थान, धान्यागार, कोष, गृह-द्वार, पुरद्वार, सभाभवन, छज्जे और पक्षियोंके रहनेके स्थान वानरराजकी सेनासे व्याप्त हो गये थे वह लङ्कापुरी वेदी, ध्वजाएँ, सुवर्णकलश और चौराहोंके टूट-फूट जानेसे गजयूथोंद्वारा मथी हुई नदीके समान [अस्त-व्यस्त] हो गयी ॥१७॥

यह देखकर राक्षसराज रावणने निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक, पुत्र मेघनाद, प्रहस्त, अतिकाय और विकम्पन आदि अपने समस्त अनुयायियोंको भेजकर अन्तमें कुम्भकर्णको भी [भगवान् रामसे युद्ध करनेके लिये] भेज दिया ॥१८॥ तब तलवार, त्रिशूल, धनुष, प्रास, ऋष्टि, शक्ति, बाण, भाले और खड्ग आदि आयुधोंके कारण दुर्गम उस राक्षससेनासे लड़नेके लिये श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव, लक्ष्मण, हनुमान्, गन्धमादन, नील, अङ्गद, जाम्बवान् और पनस आदि वीरोंके सहित चले ॥१९॥ रघुनाथजीके वे अङ्गदादि सकल सेनापति राक्षसोंकी हाथी, रथ, घुड़सवार और पैदल सेनाके साथ द्वन्द्वयुद्धकी रीतिसे भिड़ गये और सीताजीका स्पर्श करनेके कारण मङ्गल-हीन हुआ रावण ही जिनका स्वामी था उन वीरोंको वृक्ष, पर्वतशिखर, गदा और बाणोंसे मारने लगे ॥२०॥

तब अपनी सेनाका विध्वंस होता देखकर कुपित हुए राक्षसराज रावणने विमानपर चढ़कर भगवान् रामके सम्मुख आ, मातलिसे हाँके जाते हुए परम तेजस्वी स्वर्गीय रथपर विराजमान श्रीरामचन्द्रजीपर तीखे बाणोंसे आक्रमण किया ॥ २१ ॥ भगवान् रामने रावणसे कहा—"अरे राक्षसोंके विष्टारूप रावण ! तू पापात्मा

१. रनेकै० । २. कोष० । ३. पालक० । ४. महति ।

कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत्ते[1] ।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य
यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः ॥२२॥
एवं क्षिपन्धनुषि संधितमुत्ससर्ज
बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद ।
सोऽसृग्वमन्दशमुखैर्न्यपतद्विमाना-
द्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः ॥२३॥
ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्यः सहस्रशः ।
मन्दोदर्या समं तस्मिन्प्ररुदत्य[2] उपाद्रवन् ॥२४॥
स्वान्स्वान्बन्धून्परिष्वज्य लक्ष्मणेषुभिरर्दितान् ।
रुरुदुः सुस्वरं दीना घ्नत्य आत्मानमात्मना ॥२५॥
हा हताः स्म वयं नाथ लोकरावण रावण ।
कं यायाच्छरणं लङ्का त्वद्विहीना परार्दिता ॥२६॥
नैवं वेद महाभाग भवान्कामवशं गतः ।
तेजोऽनुभावः सीताया येन नीतो दशामिमाम् ॥२७॥
कृतैषा विधवा लङ्का वयं च कुलनन्दन ।
देहः कृतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे ॥२८॥

श्रीशुक उवाच

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोशलेन्द्रानुमोदितः ।
पितृमेधविधानेन यदुक्तं साम्परायिकम् ॥२९॥
ततो ददर्श भगवानशोकवनिकाश्रमे[3] ।
क्षामां स्वविरहव्याधिं शिंशपामूलमास्थिताम् ॥३०॥

कुत्तेकी तरह हमारी अनुपस्थितिमें हमारी प्राणप्रियाको हर लाया था; अतः जिस प्रकार अमोघवीर्य काल पापकर्मा पुरुषको उसके पापका फल देता है उसी प्रकार तुझ निर्लज्जको आज मैं तेरे निन्दित कर्मका फल देता हूँ ॥ २२ ॥ इस प्रकार रावणका तिरस्कार करते हुए भगवान्‌ने अपने धनुषपर चढ़ाया हुआ बाण छोड़ा और उसका वज्रके समान कठोर हृदय विदीर्ण कर दिया । इससे, कर्मोंके समाप्त होनेपर स्वर्गसे गिरे हुए पुण्यात्मा पुरुषके समान रावण अपने दशों मुखोंसे रुधिर वमन करता हुआ पुष्पकविमानसे गिर पड़ा । यह देखकर वहाँ खड़े हुए लोग हाहाकार करने लगे ॥ २३ ॥

तब मन्दोदरीके सहित सहस्रों राक्षसियाँ लङ्कासे बाहर निकलकर रोती-रोती वहाँ आयीं ॥ २४ ॥ और लक्ष्मणजीके बाणोंसे दलित हुए अपने-अपने बन्धु-बान्धवोंको हृदयसे लगाकर स्वयं ही अपने शरीरको कूटती हुई अति दीन होकर उच्च स्वरसे विलाप करने लगीं ॥२५॥ [वे बोलीं—] 'हा लोकोंको रुलानेवाले प्रभु रावण ! आज तुम्हारे बिना हम मारी गयीं । अब आपके बिना शत्रुओंसे पीडित हुई यह लङ्कापुरी किसकी शरणमें जायगी ? ॥ २६ ॥ हे महाभाग ! कामके वशीभूत होकर तुमने यह नहीं जाना कि सीताके तेजका प्रभाव ऐसा है; इसीसे तुम्हें इस दशाको प्राप्त होना पड़ा है ॥ २७ ॥ हे कुलनन्दन ! [सीताजीका हरण करके] तुमने इस लङ्कापुरी और हम सबोंको भी विधवा कर दिया, अपने शरीरको गृध्रोंका भक्ष्य बना दिया और आत्माको नरकमें जाने योग्य कर दिया' ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! तदनन्तर कोशलराज श्रीरामचन्द्रजीकी अनुमतिसे विभीषणने अपने कुटुम्बियोंका पितृयज्ञकी विधिसे शास्त्रने जैसा-जैसा कहा है वह सब और्ध्वदैहिक कर्म किया ॥ २९ ॥ फिर भगवान् रामने अशोकवनके आश्रममें एक शिंशपावृक्षके नीचे बैठी हुई अपने विरहकी व्याधिसे अत्यन्त दुर्बल श्रीसीताजीको देखा ॥ ३० ॥

१. स्वयन्ते । २. रुदत्यस्ता उपा० । ३. कावने।

रामः प्रियतमां भार्यां दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत ।
आत्मसंदर्शनाह्लादविकसन्मुखपङ्कजाम् ॥३१॥
आरोप्यारुरुहे यानं भ्रातृभ्यां हनुमद्युतः ।
विभीषणाय भगवान्दत्त्वा रक्षोगणेशताम् ॥३२॥
लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम् ।
अवकीर्यमाणः कुसुमैर्लोकपालार्पितैः पथि ॥३३॥

तब अपने दर्शनजनित आह्लादसे प्रसन्नमुखारविन्द हुई अत्यन्त दीना प्राणप्रिया सीताजीको देखकर श्रीरामने उनपर कृपा की ॥ ३१ ॥ और विभीषणको राक्षसोंका आधिपत्य, लङ्कापुरी तथा एक कल्पकी आयु दे, सीताजीको चढ़ाकर फिर भाइयों (लक्ष्मण और सुग्रीव) एवं हनुमान्‌जीके सहित विमानपर चढ़े; तथा चौदह वर्ष वनमें रहनेका नियम पूर्णकर मार्गमें लोकपालोंके बरसाये हुए पुष्पोंसे आकीर्ण होते अपने नगरको चले ॥ ३२-३३ ॥

उपगीयमानचरितः शतधृत्यादिभिर्मुदा ।
गोमूत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वल्कलाम्बरम् ॥३४॥
महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम् ।
भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः ॥३५॥
पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम्[1] ।
नन्दिग्रामात्स्वशिबिराद्गीतवादित्रनिःस्वनैः ॥३६॥
ब्रह्मघोषेण च मुहुः पठद्भिर्ब्रह्मवादिभिः[2] ।
स्वर्णकक्षपताकाभिर्हैमैश्चित्रध्वजै रथैः ॥३७॥
सदश्वै रुक्मसन्नाहैर्भटैः पुरटवर्मभिः ।
श्रेणीभिर्वारमुख्याभिर्भृत्यैश्चैव पदानुगैः ॥३८॥
पारमेष्ठ्यान्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च ।
पादयोर्न्यपतत्प्रेम्णा[3] प्रक्लिन्नहृदयेक्षणः ॥३९॥
पादुके न्यस्य पुरतः प्राञ्जलिर्बाष्पलोचनः ।
तमाश्लिष्य चिरं दोर्भ्यां स्नापयन्नेत्रजैर्जलैः ॥४०॥
रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्यो येऽर्हसत्तमाः[4] ।
तेभ्यः स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिश्च नमस्कृतः ॥४१॥

हे राजन् ! जिनका चरित्र ब्रह्मा आदि लोकेश्वरगण भी अति आनन्दित होकर गाते हैं वे महाकारुणिक रघुनाथजी यह सुनकर, कि मेरे भाई भरतजी [मेरे वनवासके कारण] भूमिकी वेदीपर शयन करते हुए, जटा और वल्कल वस्त्र धारण कर गोमूत्रमें पकाया हुआ जौका दलिया खाकर रहते हैं, बड़े दुःखी हुए । इधर, अपने बड़े भाई भगवान् रामको आये सुन भरतजी पुरवासी, अमात्य और पुरोहितको साथ ले, भगवान्‌की पादुकाएँ शिरपर रख, उनके पास चलनेको तैयार हुए । वे अपने निवासस्थान नन्दिग्रामसे ही वेदध्वनिके साथ बारम्बार स्तुतिपाठ करते हुए वेदवादी ब्राह्मणोंके सहित गाने-बजानेका शब्द कराते, साथमें सुनहरी कामदार पताकाएँ और चित्र-विचित्र ध्वजाओंसे सुशोभित तथा सुनहरी साजसे सजे हुए सुन्दर घोड़ोंसे युक्त सुवर्णमय रथ, कनककवचधारी योद्धागण, वाराङ्गनाओंकी मण्डलियाँ, पदाति सेवक तथा महाराजाओंके योग्य और सब छोटी-बड़ी सामग्रियाँ ले प्रेमसे गद्गदहृदय और आर्द्रनयन हो भगवान्‌के चरणोंमें गिरे ॥ ३४–३९ ॥ फिर भगवान्‌के सामने उनकी पादुकाएँ रख हाथ जोड़कर आँखोंसे आँसू बहाते हुए खड़े हो गये । भगवान्‌ने भी उन्हें हृदय लगाकर बहुत देरतक अपने नेत्रजलसे स्नान कराया ॥ ४० ॥ तदनन्तर सीता और लक्ष्मणजीके सहित भगवान् रामने भी, प्रजावर्गसे नमस्कृत होते हुए, ब्राह्मण तथा अन्य पूजनीयोंको स्वयं नमस्कार किया ॥ ४१ ॥

१. प्रत्युद्गतो । २. शंसद्भि० । ३. तन्मूर्ध्ना । ४. ऽर्हत्तमाः ।

धुन्वन्त उत्तरासङ्गान्पतिं वीक्ष्य चिरागतम् ।
उत्तराः कोशला माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा ॥४२॥
पादुके भरतोऽगृह्णाच्चामरव्यजनोत्तमे ।
विभीषणः ससुग्रीवः श्वेतच्छत्रं मरुत्सुतः ॥४३॥
धनुर्निषङ्गाञ्छत्रुघ्नः[1] सीता तीर्थकमण्डलुम् ।
अबिभ्रदङ्गदः खड्गं हैमं चर्मर्क्षराण्नृप ॥४४॥
पुष्पकस्थोऽन्वितः[2] स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ।
विरेजे भगवान्राजन्ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः ॥४५॥

उस समय अपने स्वामीको बहुत दिनोंमें आये देख उत्तरकोशलदेशवासी लोग अपने उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे) हिलाते और फूलोंकी वर्षा करते हुए आनन्दसे नाचने लगे ॥ ४२ ॥ फिर भरतजीने भगवान्‌की पादुकाएँ लीं, विभीषण और सुग्रीवने अति उत्तम चँवर और व्यजन लिये, हनुमान्‌जीने श्वेत छत्र थामा ॥ ४३ ॥ शत्रुघ्नजीने धनुष और तरकश लिये, सीताजीने तीर्थोंके जलसे भरा कमण्डलु लिया और हे नृप ! अङ्गदने सुवर्णमय खड्ग तथा जाम्बवान्‌ने ढाल ली ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! उस समय पुष्पक विमानपर स्त्रियोंके मध्यमें विराजमान तथा बन्दीजनसे स्तुति किये जाते हुए भगवान् नक्षत्रमण्डलके मध्यमें उदित हुए चन्द्रमाके समान सुशोभित होने लगे ॥ ४५ ॥

भ्रातृभिर्नन्दितः सोऽपि सोत्सवां प्राविशत्पुरीम् ।
प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः[3] स्वमातरम् ॥४६॥
गुरून्वयस्यावरजान्पूजितः प्रत्यपूजयत् ।
वैदेही लक्ष्मणश्चैव यथावत्समुपेयतुः ॥४७॥
पुत्रान्स्वमातरस्तास्तु प्राणांस्तन्व इवोत्थिताः ।
आरोप्याङ्केऽभिषिञ्चन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः ॥४८॥
जटा निर्मुच्य विधिवत्कुलवृद्धैः समं गुरुः ।
अभ्यषिञ्चद्यथैवेन्द्रं चतुःसिन्धुजलादिभिः[4] ॥४९॥
एवं कृतशिरःस्नानः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः ।
स्वलङ्कृतैः सुवासोभिर्भ्रातृभिर्भार्यया बभौ ॥५०॥

इस प्रकार भाइयोंसे सम्मानित हो भगवान्‌ने उत्सवपूर्ण अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया; तथा राजभवनमें पहुँचकर अपनी माता, पिता दशरथजीकी अन्य पत्नियों, गुरुजनों, बराबरवालों तथा अपनेसे छोटोंका, उनसे सम्मानित हो, यथोचित सत्कार किया । इसी प्रकार श्रीजानकीजी और लक्ष्मणजी भी यथावत् व्यवहार करते उनके साथ-साथ गये ॥४६-४७ ॥ उस समय, प्राण आनेपर जैसे शरीर सजीव हो जाता है उसी प्रकार कौशल्या आदि माताएँ अपने-अपने पुत्रोंको गोदमें लेकर उन्हें नेत्रजलसे नहला-नहलाकर शोक त्याग करने लगीं ॥ ४८ ॥ फिर गुरु वसिष्ठजीने अन्य कुलवृद्धोंके सहित विधिपूर्वक भगवान्‌की जटाएँ कटवाकर बृहस्पतिने जैसे इन्द्रका अभिषेक किया था वैसे ही चारों समुद्रोंके जलसे उनका अभिषेक किया ॥ ४९ ॥ इस प्रकार शिरसे स्नान कर सुन्दर वस्त्र और मालाओंसे विभूषित हो भगवान् राम सुन्दर वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित भार्या और भाइयोंके सहित विराजमान हुए ॥ ५० ॥

अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः ।
प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ।

फिर भाई भरतके प्रणामपूर्वक प्रार्थना करनेपर भगवान् रामने प्रसन्न होकर राजसिंहासन स्वीकार किया और अपने-अपने धर्ममें तत्पर तथा वर्णाश्रम-

१. शत्रु० । २. स्थो वृतः । ३. पत्नीं । ४. चतुर्भिः सागराम्बुभिः ।

सिंहासनारूढ राम
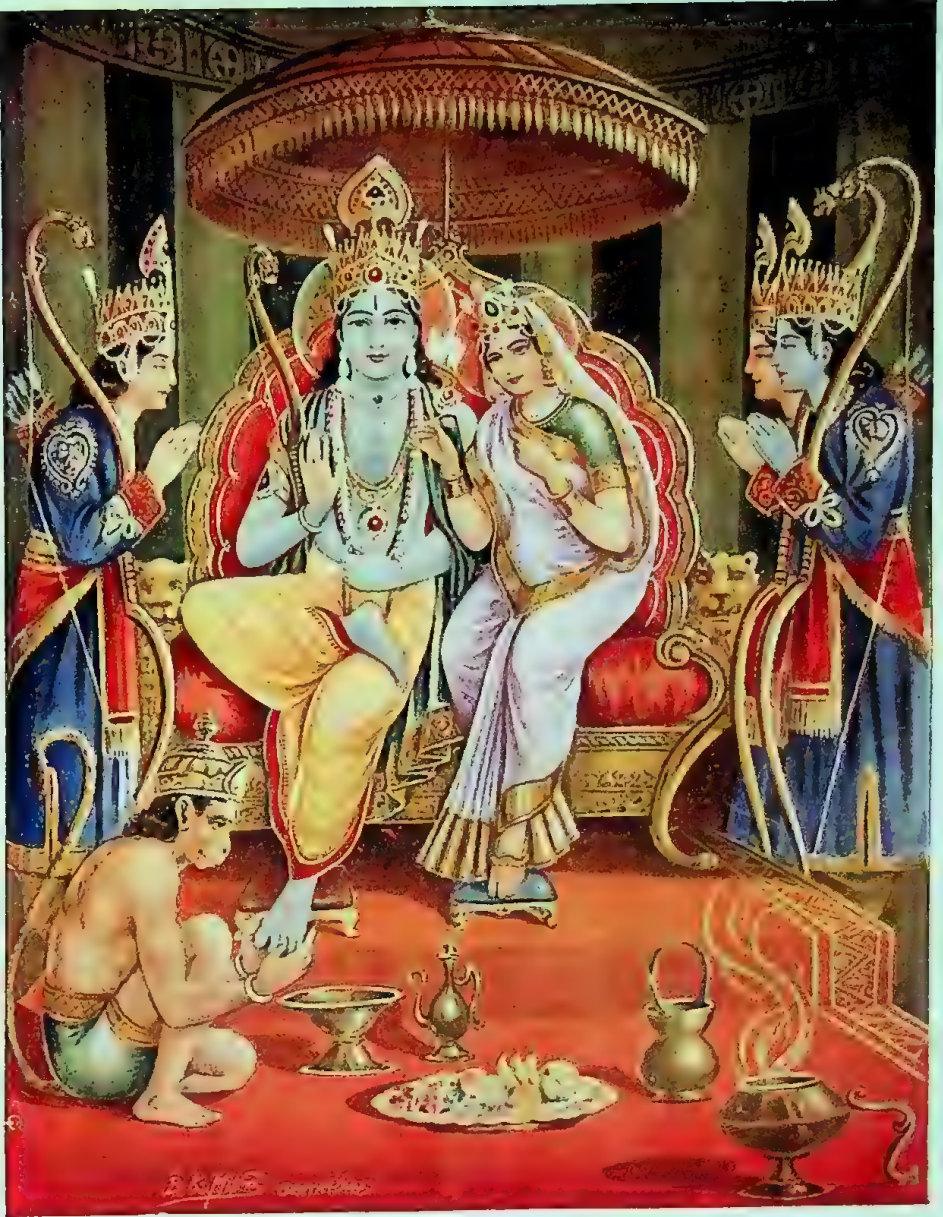
अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः ।

[पृष्ठ १५४

जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरं च तम् ॥५१॥
त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत् ।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे ॥५२॥
वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः ।
सर्वे कामदुघा आसन्प्रजानां भरतर्षभ ॥५३॥
नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः[1] ।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद्रामे राजन्यधोक्षजे ॥५४॥
एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः ।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन्स्वयमाचरन् ॥५५॥
प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती ।
धिया ह्रिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः ॥५६॥

धर्मयुक्त प्रजाका पिताके समान पालन करने लगे। उनकी प्रजा भी उन्हें पिताके समान ही मानती थी ॥ ५१ ॥ हे राजन् ! सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख देनेवाले परम धर्मज्ञ रामचन्द्रजीके राजा होनेपर वह समय त्रेतायुगके वर्तमान रहते भी सत्ययुगके समान हो गया ॥ ५२ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! उस समय वन, नदियाँ, पर्वत, वर्ष, द्वीप और समुद्र सब-के-सब प्रजाओंको इच्छित फल देनेवाले हो गये ॥ ५३ ॥ भगवान् रामके राज्यशासन करते समय आधि, व्याधि, जरा, ग्लानि, दुःख, शोक, भय और श्रमका सर्वथा अभाव हो गया था तथा बिना चाहे किसीकी मृत्यु भी नहीं होती थी ॥ ५४ ॥ श्रीरामचन्द्रजी एकपत्नीव्रतधारी, राजर्षियोंके-से आचरणवाले तथा राग-द्वेषादि मलसे रहित थे। वे गृहस्थसम्बन्धी अपने धर्मकी शिक्षा देनेके लिये ही स्वयं भी उसका आचरण करते थे ॥ ५५ ॥ तथा पतिके भावको जाननेवाली, विनयावनता सतीशिरोमणि सीताजीने भी प्रेम, सेवा, साधुस्वभाव, बुद्धि तथा लज्जा आदि गुणोंसे अपने पतिदेवका चित्त चुरा लिया था ॥ ५६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे रामचरिते[2]
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

श्रीरामचरित ।

श्रीशुक उवाच

भगवानात्मनात्मानं राम उत्तमकल्पकैः[3] ।
सर्वदेवमयं[4] देवमीज आचार्यवान्मखैः ॥ १ ॥
होत्रेऽददाद्दिशं[5] प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभुः ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं च उदीचीं सामगाय सः ॥ २ ॥
आचार्याय ददौ शेषां यावती भूस्तदन्तरा ।
मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निःस्पृहः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान् रामने आचार्य (वसिष्ठजी) के अधीन हो उत्तम सामग्रियोंसे युक्त यज्ञोंद्वारा सर्वदेवमय तथा प्रकाशस्वरूप अपना ही स्वयं यजन किया ॥ १ ॥ उन्होंने होताको पूर्व दिशा, ब्रह्माको दक्षिण दिशा, अध्वर्युको पश्चिम दिशा और उद्गाताको उत्तर दिशा दे दी ॥ २ ॥ तथा आचार्यको उनके बीचमें जितनी भूमि शेष रही वह सब दे डाली, क्योंकि वे यह मानते थे कि निःस्पृह ब्राह्मण ही इस सम्पूर्ण भूमण्डलको पानेयोग्य हैं ॥ ३॥

१. नाधिर्व्याधिर्जराग्लानिर्दुःख० । २. रामानुचरितं नाम । ३. कल्पकः । ४. मयो । ५. होत्रे तदादिशत्प्राचीं ।

इत्ययं तदलङ्कारवासोभ्यामवशेषितः ।
तथा राज्ञ्यपि वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता ॥ ४ ॥
ते तु ब्रह्मण्यदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतम् ।
प्रीताः क्लिन्नधियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं बभाषिरे ॥ ५ ॥
अप्रत्तं नस्त्वया किं नु भगवन्भुवनेश्वर ।
यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा ॥ ६ ॥
नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥ ७ ॥
कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः ।
चरन्वाचोऽशृणोद्रामो भार्यामुद्दिश्य कस्यचित् ॥ ८ ॥
नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतां परवेश्मगाम् ।
स्त्रीलोभी बिभृयात्सीतां रामो नाहं भजे पुनः ॥ ९ ॥
इति लोकाद्बहुमुखाद्दुराराध्यादसंविदः ।
पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम् ॥ १० ॥
अन्तर्वत्न्यागते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ ।
कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया मुनिः ॥ ११ ॥
अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ ।
तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते ॥ १२ ॥
सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः ।
गन्धर्वान्कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार स्वयं उन्होंने अपने शरीरपर धारण किये हुए वस्त्र और अलंकार ही अपने पास रखे। वैसे ही महारानी सीताजीके पास भी केवल माङ्गलिक वस्त्राभूषण ही शेष रह गये ॥ ४ ॥

ब्रह्मण्यदेव भगवान् रामका ब्राह्मणोंके प्रति ऐसा प्रशंसनीय वात्सल्यभाव देख वे आचार्यादि बड़े प्रसन्न हुए और प्रेमार्द्रहृदयसे उन्हें वह सब लौटाकर इस प्रकार कहने लगे—॥ ५ ॥ "हे सर्वलोकेश्वर भगवन् ! आप जो हमारे अन्तःकरणोंमें प्रविष्ट होकर अपनी कान्तिसे हमारा अज्ञानान्धकार दूर कर रहे हैं, सो आपने हमें क्या नहीं दे रखा है ? ॥ ६ ॥ ब्राह्मणोंको देवरूप माननेवाले, अकुण्ठबुद्धि, पुण्यश्लोकशिरोमणि तथा जिन्होंने परपीडाका त्याग कर दिया है ऐसे मुनीश्वरोंको अपने चरणकमल अर्पण करनेवाले भगवान् रामको हम नमस्कार करते हैं" ॥ ७ ॥

हे राजन् ! किसी समय 'लोक मेरे विषयमें क्या कहते हैं' यह जाननेके लिये किसीके भी बिना जाने रात्रिके समय गुप्तरूपसे विचरते हुए भगवान् रामने अपनी भार्यासे कहते हुए किसीके ये वचन सुने—॥ ८ ॥ "अरी तुझ दुष्टा, असती और पराये घरमें रहनेवालीको अब मैं अपने यहाँ नहीं रखूँगा। स्त्रीलोभी राम भले ही सीताको स्वीकार कर लें, मैं तुझे स्वीकार नहीं कर सकता" ॥ ९ ॥ इस प्रकार नाना प्रकारकी बातें बनानेवाले, हठी और मूर्ख लोगोंसे भयभीत हुए अपने पतिदेवके त्याग देनेपर श्रीसीताजी वाल्मीकि मुनिके आश्रमपर चली आयीं ॥ १० ॥ उस समय वे गर्भवती थीं। अतः समय आनेपर उन्होंने कुश और लव नामसे विख्यात दो यमज पुत्र उत्पन्न किये। उनके जातकर्मादि सब संस्कार मुनिवर वाल्मीकिजीने कराये ॥ ११ ॥

हे राजन् ! अङ्गद और चित्रकेतु लक्ष्मणजीके पुत्र कहे जाते हैं, तक्ष और पुष्कल भरतजीके पुत्र थे ॥ १२ ॥ तथा सुबाहु और श्रुतसेन दो पुत्र शत्रुघ्नजीके हुए। भरतने दिग्विजय करते समय करोड़ों गन्धर्वोंका संहार किया ॥ १३ ॥

१. ब्राह्मणदेवस्य । २. वचो० । ३. स्त्रैणो हि बि० । ४. दश्चन्द्रके० ।

तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत् ।
शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम् ।
हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम् ॥१४॥

और उनका धन लाकर सब-का-सब महाराज रामको निवेदन कर दिया । शत्रुघ्नजीने भी मधुके पुत्र लवणनामक राक्षसको मारकर मधुवनमें मथुरा नामकी पुरी बसायी ॥१४॥

मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा[1] विवासिता ।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा भगवान्रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः ।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद्रोद्‌धुमीश्वरः ॥१६॥

इधर पतिसे निर्वासित की हुई सीताजी मुनिवर वाल्मीकिको अपने बालक सौंपकर भगवान् रामके चरणोंका चिन्तन करती हुई भूमिके विवरमें प्रवेश कर गयीं ॥१५॥ इस समाचारको सुनकर श्रीरामचन्द्रने अपने शोकावेशको बुद्धिबलद्वारा बहुत कुछ रोकना चाहा; परन्तु परम समर्थ होनेपर भी वे, उनके भिन्न-भिन्न गुणोंका स्मरण हो आनेसे, उसे रोकनेमें समर्थ न हुए ॥१६॥

स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक्सर्वत्र[2] त्रासमावहः ।
अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः ॥१७॥

यह स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध सर्वत्र ऐसा ही त्रास देनेवाला है । इससे बड़े सामर्थ्यवान् भी विचलित हो जाते हैं, फिर अन्य गृहासक्त विषयी पुरुषोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥१७॥

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत्प्रभुः ।
त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥१८॥
स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः ।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः ॥१९॥

हे राजन् ! इसके पीछे प्रभु रामने ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर तेरह सहस्र वर्षतक अखण्डितरूपसे अग्निहोत्र किया ॥१८॥ तदनन्तर स्मरण करनेवाले पुरुषोंके हृदयमें दण्डकारण्यके काँटोंसे बिंधा हुआ अपना चरणकमल स्थापित कर भगवान् राम अपने धामको चले गये ॥१९॥

नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयात्त-
लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः ।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः[3]
किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः ॥२०॥
यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम् ।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

हे राजन् ! जिनसे बढ़कर और जिनके समान कोई भी प्रतापशाली नहीं है, देवताओंकी प्रार्थनासे लीलाहीसे मनुष्यशरीर धारण करनेवाले उन रघुनाथ-जीका शस्त्रसमूहोंसे राक्षसोंको मारना या समुद्रका पुल बाँधना—यह कोई बड़ा भारी सुयश नहीं है; और उन लीलाविहारीको शत्रुओंका वध करनेमें भी भला वानरोंकी सहायताकी क्या अपेक्षा थी ? [यह सब तो उनकी लीलामात्र ही है] ॥२०॥ जिनके समस्त दिशा-विदिशाओंमें फैलकर दिग्गजोंको आच्छादित करनेवाले वस्त्रकी भाँति पापापहारी निर्मल सुयशको इस समय भी मार्कण्डेयादि मुनिगण युधिष्ठिरादि भूपालोंकी सभाओंमें गाते हैं तथा जिनके चरण-कमल देवेन्द्र और नरेन्द्रोंके मुकुटोंसे सेवित हैं उन श्रीरघुनाथजीकी मैं शरण लेता हूँ ॥ २१ ॥

१. भर्तृविवा० । २. सर्वत्रोत्तापमावहत् । ३. स्वपाणेः ।

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा ।
कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥२२॥
पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन् ।
आनृशंस्यपरो राजन्कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥२३॥

राजोवाच

कथं स भगवान्रामो भ्रातृन्वा स्वयमात्मनः ।
तस्मिन्वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजाः पौराश्च ईश्वरे ॥२४॥

श्रीशुक उवाच

अथादिशद्दिग्विजये भ्रातृंस्त्रिभुवनेश्वरः ।
आत्मानं दर्शयन्स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः ॥२५॥
आसिक्तमार्गां गन्धोदैः करिणां मदशीकरैः ।
स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिह ॥२६॥
प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेवगृहादिषु ।
विन्यस्तहेमकलशैः पताकाभिश्च मण्डिताम् ॥२७॥
पूगैः सवृन्तै रम्भाभिः पट्टिकाभिः सुवाससाम् ।
आदर्शैरंशुकैः स्रग्भिः कृतकौतुकतोरणाम् ॥२८॥
तमुपेयुस्तत्र तत्र पौरा अर्हणपाणयः ।
आशिषो युयुजुर्देव पाहीमां प्राक् त्वयोद्धृताम् ॥२९॥
ततः प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतं
दिदृक्षयोत्सृष्टगृहाः स्त्रियो नराः ।
आरुह्य हर्म्याण्यरविन्दलोचनं
अतृप्तनेत्राः कुसुमैरवाकिरन् ॥३०॥

जिन्होंने रघुनाथजीका स्पर्श, दर्शन, सहवास या अनुगमन किया वे तथा कोशलवासी भी उसी स्थानको प्राप्त हुए जहाँ योगिजन जाते हैं ॥२२॥ हे राजन् ! इस रामचरितको अपने श्रवणपुटसे ग्रहण करनेवाला पुरुष सरलता-कोमलता आदि गुणोंसे युक्त होकर कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥२३॥

राजा परीक्षित् बोले—भगवन् ! भगवान् राम अपने ही अंशभूत अपने भाइयोंके साथ स्वयं किस प्रकार व्यवहार करते थे तथा ईश्वर रामके प्रति भी उनके भाई, प्रजाजन और पुरवासी लोगोंका कैसा बर्ताव था ? ॥२४॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! त्रिभुवनपति महाराज रामने राजसिंहासन स्वीकार करनेके अनन्तर अपने भाइयोंको दिग्विजयकी आज्ञा दी और स्वयं पुरवासियोंको दर्शन देते हुए अपने अनुचरोंसहित पुरीका निरीक्षण किया ॥२५॥ उस समय अयोध्यापुरीके मार्ग सुगन्धित जल और मतवाले हाथियोंके मदके कणोंसे सींचे गये थे तथा वह पुरी अपने स्वामीको आये देखकर बड़ी मतवाली-सी हो रही थी ॥२६॥ उसके महल, पुरद्वार, सभा, चैत्य और देवालयोंमें सुवर्णके कलश रखे हुए थे तथा वह पताकाओंसे सजायी गयी थी ॥२७॥ वह फलोंके गुच्छोंसहित पूगीफल (सुपारी), कदलीवृक्ष तथा मनोहर वस्त्रोंसे अलंकृता थी तथा दर्पण, वस्त्र और मालाओंकी उत्सवमयी बन्दनवारोंसे सुशोभित हो रही थी ॥२८॥ उस समय जहाँ-तहाँ पुरवासीलोग बहुत-सी भेटें लेकर भगवान्के पास आये और प्रार्थना की कि 'हे देव ! पूर्वकालमें [वाराहरूपसे] अपनेहीद्वारा उद्धार की हुई इस पृथिवीका पालन कीजिये' ॥२९॥ हे राजन् ! उस समय अपने स्वामीको बहुत दिनोंमें आये जान उन्हें देखनेके लिये नगरके नर-नारी अपने-अपने घरोंको छोड़कर अटारियोंपर चढ़ गये और कमललोचन रामको अतृप्त नयनोंसे निहारते हुए उनपर फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥३०॥

१. सर्वतो । २. बादरायणिरुवाच । ३. सदस्सभाचैत्यगृहादिषु । ४. युस्ततस्तत्र । ५. त्वया वृताम् । ६. चनं न तृप्त० ।

अथ प्रविष्टः स्वगृहं जुष्टं स्वैः पूर्वराजभिः ।
अनन्ताखिलकोशाढ्यमनर्घ्योरुपरिच्छदम् ॥३१॥
विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभिः ।
स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैर्भ्राजत्स्फटिकभित्तिभिः ॥३२॥
चित्रस्रग्भिः पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकैः ।
मुक्ताफलैश्चिदुल्लासैः कान्तकामोपपत्तिभिः ॥३३॥
धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनैः ।
स्त्रीपुम्भिः सुरसंकाशैर्जुष्टं भूषणभूषणैः ॥३४॥
तस्मिन्स भगवान्रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया ।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल ॥३५॥
बुभुजे च यथाकालं कामान्धर्ममपीडयन् ।
वर्षपूगान्बहूनृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः ॥३६॥

फिर भगवान् रामने अपने पूर्ववर्ती महीपालोंसे सेवित, सब प्रकारके अनन्त कोशोंसे पूर्ण और महामूल्य सामग्रियोंसे युक्त महलमें प्रवेश किया ॥३१॥ उस महलके द्वार विद्रुमकी देहलियोंवाले थे, उसके स्तम्भोंकी पङ्क्तियाँ वैदूर्यमणिकी थीं, उसका फर्श स्वच्छ मरकतमणिका था तथा वह स्फटिकमणिकी भीतसे सुशोभित था ॥३२॥ रंग-बिरंगी मालाओं, पताकाओं, वस्त्र और मणिगणकी दीप्तियों, शुद्धचेतनके समान उज्ज्वल मोतियों, सुन्दर भोगसामग्रियों, सुगन्धित धूप-दीपों तथा पुष्पमय आभूषणोंसे उसे खूब सजाया गया था तथा वह आभूषणोंको भी विभूषित करनेवाले देवतुल्य स्त्री-पुरुषोंसे सेवित था ॥३३-३४॥ हे राजन् ! उस महलमें आत्माराम जितेन्द्रिय पुरुषोंमें श्रेष्ठ भगवान् रामने अपनी परमप्रिय और अभिमत प्रियतमा श्रीसीताजीके साथ रमण किया ॥३५॥ और जिनके पादपल्लवका सभी लोग चिन्तन करते हैं उन भगवान् रामने धर्मका अतिक्रमण न करते हुए अनेकों वर्षोंतक यथासमय सब प्रकारके भोगोंको भोगा ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे श्रीरामोपाख्यान एकादशोऽध्यायः ॥११॥

बारहवाँ अध्याय

इक्ष्वाकुवंशके शेष राजाओंका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

कुशस्य चातिथिस्तस्मान्निषधस्तत्सुतो नभः ।
पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्रः क्षेमधन्वाभवत्ततः ॥ १ ॥
देवानीकस्ततोऽनीहः पारियात्रोऽथ तत्सुतः ।
ततो बलस्थलस्तस्माद्वज्रनाभोऽर्कसंभवः ॥ २ ॥
खगणस्तत्सुतस्तस्माद्विधृतिश्चाभवत्सुतः ।
ततो हिरण्यनाभोऽभूद्योगाचार्यस्तु जैमिनेः ॥ ३ ॥
शिष्यः कौशल्य आध्यात्मं याज्ञवल्क्योऽध्यगाद्यतः ।
योगं महोदयमृषिर्हृदयग्रन्थिभेदकम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कुशका पुत्र अतिथि हुआ; उसके निषध, निषधके नभ, नभके पुण्डरीक और फिर पुण्डरीकके क्षेमधन्वानामक पुत्र हुआ ॥ १ ॥ उसके देवानीक हुआ, देवानीकका पुत्र अनीह और उसका पुत्र पारियात्र था तथा पारियात्रसे बलस्थल और उससे सूर्यके अंशसे उत्पन्न हुए वज्रनाभका जन्म हुआ ॥२॥ वज्रनाभसे खगण और उससे विधृति-नामक पुत्र हुआ; विधृतिसे हिरण्यनाभका जन्म हुआ, जो जैमिनिका शिष्य और योगाचार्य था; तथा जिससे कोशलदेशवासी याज्ञवल्क्य ऋषिने, उसका शिष्य होकर, हृदयकी ग्रन्थिका छेदन करनेवाला और महान् सिद्धिप्रद अध्यात्मयोग सीखा था ॥३-४ ॥

१. तथा स्थलैर्मारकतैर्भात० । २. मण्डलैः । ३. बुभुजे स यथाकालं कामानन्यानपीडयन् । ४. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीरामोपाख्याने' इतना अंश नहीं है । ५. हीनः । ६. द्विसृष्टिश्चाभवत्ततः । ७. दनम् ।

पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत् ।
सुदर्शनोऽथाग्निवर्णः शीघ्रस्तस्य मरुः सुतः ॥ ५ ॥
योऽसावास्ते योगसिद्धः कलापग्राममाश्रितः ।
कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः ॥ ६ ॥

हिरण्यनाभका पुत्र पुष्य था, उससे ध्रुवसन्धि हुआ, तथा ध्रुवसन्धिसे सुदर्शन, सुदर्शनसे अग्निवर्ण, अग्निवर्णसे शीघ्र और शीघ्रसे मरुनामक पुत्र हुआ ॥ ५ ॥ जो इस समय योगमें सिद्धि लाभ कर कलापग्राममें रहता है और कलियुगके अन्तमें नष्ट हुए सूर्यवंशको पुनः प्रवृत्त करेगा ॥ ६ ॥

तस्मात्प्रसुश्रुतस्तस्य[1] सन्धिस्तस्याप्यमर्षणः ।
महस्वांस्तत्सुतस्तस्माद्विश्वसाह्वोऽन्वजायत ॥ ७ ॥
ततः[2] प्रसेनजित्तस्मात्तक्षको भविता पुनः ।
ततो बृहद्बलो यस्तु पित्रा ते समरे हतः ॥ ८ ॥

उस मरुसे प्रसुश्रुत, प्रसुश्रुतसे सन्धि और सन्धिसे अमर्पण हुआ; अमर्षणका पुत्र महस्वान् था और उससे विश्वसाह्वका जन्म हुआ ॥ ७ ॥ विश्वसाह्वसे प्रसेनजित्, प्रसेनजित्से तक्षक और तक्षकसे बृहद्बलका जन्म हुआ, जिसे तुम्हारे पिता (अभिमन्यु) ने युद्धमें मार डाला था ॥ ८ ॥

एते हीक्ष्वाकुभूपाला अतीताः शृण्वनागतान् ।
बृहद्बलस्य भविता पुत्रो नाम बृहद्रणः ॥ ९ ॥
उरुक्रियस्ततस्तस्य वत्सवृद्धो भविष्यति ।
प्रतिव्योमस्ततो भानुर्दिवाको वाहिनीपतिः ॥ १० ॥
सहदेवस्ततो वीरो बृहदश्वोऽथ भानुमान् ।
प्रतिकाश्वो भानुमतः सुप्रतीकोऽथ तत्सुतः ॥ ११ ॥
भविता मरुदेवोऽथ सुनक्षत्रोऽथ पुष्करः ।
तस्यान्तरिक्षस्तत्पुत्रः सुतपास्तदमित्रजित् ॥ १२ ॥
बृहद्राजस्तु[3] तस्यापि बर्हिस्तस्मात्कृतञ्जयः ।
रणञ्जयस्तस्य सुतः सञ्जयो भविता ततः ॥ १३ ॥
तस्माच्छाक्योऽथ[4] शुद्धोदो लाङ्गलस्तत्सुतः स्मृतः[5] ।
ततः प्रसेनजित्तस्मात्क्षुद्रको भविता ततः ॥ १४ ॥
रणको भविता तस्मात्सुरथस्तनयस्ततः ।
सुमित्रो नाम निष्ठान्त एते बार्हद्बलान्वयाः ॥ १५ ॥

हे राजन् ! ये सब इक्ष्वाकुवंशीय नृपतिगण बीत चुके हैं; अब आगे होनेवालोंके विषयमें भी सुनो । भविष्यमें बृहद्बलका पुत्र बृहद्रण होगा ॥ ९ ॥ फिर बृहद्रणका उरुक्रिय, उरुक्रियका वत्सवृद्ध, वत्सवृद्धका प्रतिव्योम, प्रतिव्योमका भानु और उसका पुत्र सेनापति दिवाक होगा ॥ १० ॥ दिवाकसे वीरवर सहदेव, सहदेवसे बृहदश्व, बृहदश्वसे भानुमान्, भानुमान्से प्रतीकाश्व और प्रतीकाश्वसे सुप्रतीकनामक पुत्र होगा ॥ ११ ॥ सुप्रतीकसे मरुदेव, मरुदेवसे सुनक्षत्र, सुनक्षत्रसे पुष्कर, पुष्करसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे सुतपा तथा उससे अमित्रजित्नामक पुत्र होगा ॥ १२ ॥ अमित्रजित्का पुत्र बृहद्राज होगा, उसका बर्हि, बर्हिका कृतञ्जय, कृतञ्जयका रणञ्जय और रणञ्जयका पुत्र सञ्जय होगा ॥ १३ ॥ सञ्जयसे शाक्य, शाक्यसे शुद्धोद और उसका पुत्र लाङ्गल होगा तथा लाङ्गलसे प्रसेनजित् और प्रसेनजित्से क्षुद्रकका जन्म होगा ॥ १४ ॥ क्षुद्रकसे रणक, रणकसे सुरथ और सुरथसे इस वंशका अन्तिम राजा सुमित्र होगा । ये सब बृहद्बलके वंशधर होंगे ॥ १५ ॥

१. तस्मात् प्रश्रुतपुत्रस्तु सन्धि० । २. प्राचीन प्रतिमें 'तत''''पुनः' यह पूर्वार्ध नहीं है, इसके स्थानपर वर्तमान प्रतिमें आया हुआ 'भविता''''मित्रजित्' यह बारहवाँ श्लोक दिया है, इसमें भी 'मरुदेवो' के स्थानमें 'मनुदेवो' पाठ है । ३. बृहद्भुजस्तु । ४. तस्मात्साध्योऽथ । ५. ...लाः स्मृताः ।

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥१६॥

इस प्रकार यह इक्ष्वाकुवंशीय राजाओंका वंश सुमित्रपर्यन्त ही होगा, क्योंकि उस राजाके होनेपर यह कलियुगमें समाप्त हो जायगा ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे इक्ष्वाकुवंशवर्णनं[1] नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

तेरहवाँ अध्याय

निमिवंश ।

श्रीशुक उवाच

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वसिष्ठमवृतर्त्विजम् ।
आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः ॥१॥
तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय ।
तूष्णीमासीद्गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम् ॥२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इक्ष्वाकुके पुत्र महाराज निमिने यज्ञ आरम्भ कर उसके लिये वशिष्ठजीको ऋत्विज वरण किया । किन्तु वशिष्ठजीने कहा—"मुझे इन्द्रने पहले ही वरण कर लिया है ॥ १ ॥ अतः जबतक मैं उनका यज्ञ समाप्त करके आऊँ तबतक तुम मेरी प्रतीक्षा करो ।" यह सुनकर यजमान निमि चुप हो रहे तथा वशिष्ठजीने भी इन्द्रका यज्ञ आरम्भ करा दिया ॥ २ ॥

निमिश्चलमिदं विद्वान्सत्रमारभतात्मवान् ।
ऋत्विग्भिरपरैस्तावन्नागमद्यावता गुरुः ॥ ३ ॥
शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुरागतः ।
अशपत्पततादेहो निमेः पण्डितमानिनः ॥ ४ ॥
निमिः प्रति ददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने ।
तवापि पततादेहो लोभाद्धर्ममजानतः ॥ ५ ॥
इत्युत्ससर्ज स्वं देहं निमिरध्यात्मकोविदः ।
मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः ॥ ६ ॥

आत्मज्ञानी निमिने यह सोचकर कि यह जीवन अत्यन्त चञ्चल है, जबतक गुरुजी लौटकर न आवें तबतकके लिये अन्य ऋत्विजोंद्वारा यज्ञ आरम्भ करा दिया ॥ ३ ॥ इन्द्रयज्ञसे निवृत्त होकर लौटनेपर गुरु वशिष्ठजीने अपने शिष्यको अपनी आज्ञाका उल्लङ्घन करते देखकर शाप दिया कि 'अपनेको बड़ा पण्डित माननेवाले राजा निमिका देह गिर जाय' ॥ ४ ॥ तब निमिने भी अधर्ममें प्रवृत्त होनेवाले गुरु वशिष्ठजीको उसके बदलेमें शाप दिया कि 'आपने लोभवश अपने धर्मको नहीं जाना, अतः आपका भी देह गिर जाय' ॥ ५ ॥ ऐसा कहकर आत्मविद्यामें कुशल राजा निमिने अपना शरीर त्याग दिया, तथा हमारे [वृद्ध] प्रपितामह महर्षि वशिष्ठजीने भी [अपना देह त्यागकर] फिर उर्वशीके गर्भसे मित्रावरुणके वीर्यद्वारा जन्म लिया ॥ ६ ॥

---

१. वंशानुकथने श्रीरामचरिते ।

गन्धवस्तुषु तद्देहं[1] निधाय मुनिसत्तमाः ।
समाप्ते सत्रयागेऽथ देवानूचुः समागतान् ॥ ७ ॥
राज्ञो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि ।
तथेत्युक्ते निमिः प्राह मा भून्मे देहबन्धनम् ॥ ८ ॥
यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः ।
भजन्ति चरणाम्भोजं मुनयो हरिमेधसः ॥ ९ ॥
देहं नावरुरुत्सेऽहं दुःखशोकभयावहम्[2] ।
सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्मत्स्यानामुदके यथा ॥१०॥

देवा ऊचुः

विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम् ।
उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः ॥११॥
अराजकभयं नृणां मन्यमाना महर्षयः ।
देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत ॥१२॥
जन्मना जनकः सोऽभूद्वैदेहस्तु विदेहजः ।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥१३॥

तस्मादुदावसुस्तस्य पुत्रोऽभून्नन्दिवर्धनः ।
ततः सुकेतुस्तस्यापि देवरातो[3] महीपते ॥१४॥
तस्माद्बृहद्रथस्तस्य महावीर्यः सुधृत्पिता ।
सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै[4] हर्यश्वोऽथ मरुस्ततः ॥१५॥
मरोः प्रतीपकस्तस्माज्जातः कृतिरथो[5] यतः ।
देवमीढस्तस्य सुतो विश्रुतोऽथ[6] महाधृतिः ॥१६॥
कृतिरातस्ततस्तस्मान्महारोमाथ तत्सुतः ।
स्वर्णरोमा सुतस्तस्य[7] ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥१७॥

राजा निमिके देहको उनके ऋत्विज मुनिश्रेष्ठोंने सुगन्धित तैल आदिमें रखवा दिया और उस सत्रयागके समाप्त होनेपर [अपना भाग लेनेके लिये] आये हुए देवताओंसे कहा ॥७॥ "हे देवगण ! यदि आपलोग प्रसन्न हैं तो राजा निमिका यह देह सजीव हो जाय ।" तब देवताओंके 'तथास्तु' कहनेपर निमिने कहा—"मुझे देहका बन्धन प्राप्त न हो ॥८॥ क्योंकि भगवत्परायण मुनिजन इसके वियोगसे भयभीत होकर इसका संयोग ही नहीं चाहते; इसीलिये [देहबन्धनसे मुक्त होनेके लिये] वे सर्वदा श्रीभगवच्चरणारविन्दोंका भजन करते हैं ॥९॥ अतः दुःख, शोक और भयकी प्राप्ति करानेवाले इस देहको ग्रहण करनेकी मुझे इच्छा नहीं है, क्योंकि जलमें रहनेवाली मछलियोंके समान इसे सर्वत्र मृत्यु प्राप्त हो सकती है" ॥१०॥

देवगण बोले—हे मुनिगण ! राजा निमि अपनी इच्छाके अनुसार बिना शरीरके ही देहधारियोंके नेत्रोंमें निवास करे । यह नेत्रोंमें स्थित होकर उनके खोलने-मूँदनेसे लक्षित होगा ॥११॥

तदनन्तर मनुष्योंमें अराजकता फैल जानेके भयसे महर्षियोंने निमिके देहका मन्थन किया; तब उससे एक कुमार उत्पन्न हुआ ॥१२॥ वह जन्म लेनेके कारण 'जनक', विदेहसे उत्पन्न होनेके कारण 'वैदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण 'मिथिल' कहलाया । इसीने मिथिलापुरी बसायी थी ॥१३॥

हे राजन् ! उससे उदावसु हुआ तथा उदावसुका पुत्र नन्दिवर्धन, नन्दिवर्धनका सुकेतु और सुकेतुका देवरात हुआ ॥१४॥ देवरातसे बृहद्रथ, बृहद्रथसे सुधृतिका पिता महावीर्य, सुधृतिसे धृष्टकेतु, धृष्टकेतुसे हर्यश्व और हर्यश्वसे मरुका जन्म हुआ ॥१५॥ मरुसे प्रतीपक हुआ और प्रतीपकसे कृतिरथ उत्पन्न हुआ; तथा कृतिरथका पुत्र देवमीढ, देवमीढका विश्रुत और विश्रुतका महाधृति हुआ ॥१६॥ उससे कृतिरात और कृतिरातसे महारोमाका जन्म हुआ । महारोमाका पुत्र स्वर्णरोमा था, तथा उससे ह्रस्वरोमा उत्पन्न हुआ ॥१७॥

१. तं देहं । २. याश्रयात् । ३. रीषो । ४. प्रतिरथस्त० । ५. कृत० । ६. विश्वनाथो मरुत्कृतिः । ७. विरुतस्तत्सुतस्तस्मा० । ८. तस्मात् ।

ततः[1] सीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम् ।
सीता सीराग्रतो जाता तस्मात्सीरध्वजः स्मृतः ॥१८॥
कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः ।
धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ ॥१९॥
कृतध्वजात्केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात् ।
कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः ॥२०॥
खाण्डिक्यः कर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजाद्द्रुतः ।
भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः ॥२१॥

हस्वरोमासे सीरध्वजका जन्म हुआ । महाराज सीरध्वज यज्ञके लिये भूमि जोत रहे थे; उस समय उनके सीर (हल) के अग्रभागसे सीताजीका जन्म हुआ । इसीलिये वे 'सीरध्वज' कहलाये ॥१८॥ उनका पुत्र कुशध्वज था और कुशध्वजका पुत्र राजा धर्मध्वज हुआ । धर्मध्वजके कृतध्वज और मितध्वजनामक दो पुत्र हुए ॥१९॥ उनमेंसे कृतध्वजसे केशिध्वज और मितध्वजसे खाण्डिक्य-का जन्म हुआ । हे राजन्! कृतध्वजका पुत्र केशिध्वज आत्मविद्यामें प्रवीण था ॥२०॥ और खाण्डिक्य कर्म-काण्डका मर्मज्ञ था । वह केशिध्वजसे भयभीत होकर भाग गया । केशिध्वजका पुत्र भानुमान् हुआ और उसका पुत्र शतद्युम्न था ॥२१॥

शुचिस्तत्तनयस्तस्मात्सनद्वाजस्ततोऽभवत् ।
ऊर्ध्वकेतुः सनद्वाजादजोऽथ पुरुजित्सुतः ॥२२॥
अरिष्टनेमिस्तस्यापि[2] श्रुतायुस्तत्सुपार्श्वकः ।
ततश्चित्ररथो यस्य क्षेमधिर्मिथिलाधिपः[3] ॥२३॥
तस्मात्समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः ।
आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसंभवः[4] ॥२४॥
वस्वनन्तोऽथ तत्पुत्रो युयुधो यत्सुभाषणः ।
श्रुतस्ततो जयस्तस्माद्विजयोऽस्मादृतः सुतः ॥२५॥
शुनकस्तत्सुतो जज्ञे वीतहव्यो[5] धृतिस्ततः ।
बहुलाश्वो[6] धृतेस्तस्य कृतिरस्य महावशी ॥२६॥
एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः ।
योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥२७॥

शतद्युम्नका पुत्र शुचि था, शुचिसे सनद्वाज हुआ, सनद्वाजसे ऊर्ध्वकेतु, उससे अज और अजसे पुरुजित्-नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२२॥ उसका पुत्र अरिष्टनेमि था तथा अरिष्टनेमिका श्रुतायु, श्रुतायुका सुपार्श्वक, सुपार्श्वकका चित्ररथ और चित्ररथका पुत्र मिथिलापति क्षेमधि हुआ ॥२३॥ क्षेमधिसे समरथ, समरथसे सत्यरथ, सत्यरथसे उपगुरु और उपगुरुसे अग्निके अंशसे उत्पन्न हुए उपगुप्तनामक पुत्रका जन्म हुआ ॥२४॥ उपगुप्त-का पुत्र वस्वनन्त और उसका युयुध हुआ तथा युयुधसे सुभाषण, सुभाषणसे श्रुत, श्रुतसे जय, जयसे विजय और विजयसे ऋतनामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२५॥ ऋतसे शुनकनामक पुत्रका जन्म हुआ, शुनकसे वीतहव्य, वीतहव्यसे धृति, धृतिसे बहुलाश्व, बहुलाश्वसे कृति तथा कृतिसे महावशी उत्पन्न हुआ ॥२६॥

हे राजन्! ये मिथिलके वंशमें उत्पन्न हुए नृपति-गण आत्मविद्यामें कुशल थे तथा [याज्ञवल्क्यादि] योगेश्वरोंकी कृपासे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे परे थे ॥२७॥
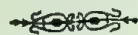
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे निमिवंशानुवर्णनं[7] नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

१. सीरध्वजस्ततो राजन् यज्ञार्थे । २. स्याभूत् । ३. लात्मजः । ४. गुप्तस्त्वग्नि० । ५. वीतिहव्यो । ६. बहुलास्यो । ७. जनकवंशस्त्रयो० ।

चौदहवाँ अध्याय

चन्द्रवंशवर्णन—बुधका जन्म और पुरूरवाका चरित्र ।

श्रीशुक उवाच

अथातः श्रूयतां राजन्वंशः सोमस्य पावनः ।
यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः ॥ १ ॥
सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात् ।
जातस्यासीत्सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः ॥ २ ॥
तस्य दृग्भ्योऽभवत्पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल ।
विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः ॥ ३ ॥
सोऽयजद्राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम् ।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात्तारां नामाहरद्बलात् ॥ ४ ॥
यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात् ।
नात्यजत्तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः ॥ ५ ॥
शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत्सासुरोडुपम्[1] ।
हरो गुरुसुतं स्नेहात्सर्वभूतगणावृतः ॥ ६ ॥
सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वगात् ।
सुरासुरविनाशोऽभूत्समरस्तारकामयः ॥ ७ ॥
निवेदितोऽथाङ्गिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत्[2] ।
तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत्पतिः ॥ ८ ॥
त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः ।
नाहं त्वां भस्मसात्कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकः सति ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अब, जिसमें पुरूरवा आदि पवित्रकीर्ति नृपतिगणका कीर्तन किया गया है उस परम पवित्र चन्द्रवंशका वर्णन सुनो ॥१॥ सहस्रशीर्षा भगवान् नारायणके नाभिसरोवरजनित कमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजीके उन्हींके समान गुणवान् अत्रिनामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२॥ कहते हैं, उनके नेत्रोंसे अमृतमय चन्द्रमानामक एक पुत्र हुआ । उसे ब्रह्माजीने ब्राह्मण, ओषधि और नक्षत्रोंका अधिपति बना दिया ॥३॥

उसने त्रिलोकीको जीतकर राजसूय यज्ञद्वारा भगवान्‌का यजन किया और गर्वमें भरकर बलात्कारसे बृहस्पतिजीकी पत्नी ताराको हर लिया ॥ ४ ॥ जब देवगुरु बृहस्पतिजीके बारम्बार माँगनेपर भी उसने अभिमानवश उसे न छोड़ा तो उसके लिये देवासुर-संग्राम छिड़ गया ॥ ५ ॥ बृहस्पतिजीसे द्वेष करनेके कारण शुक्राचार्यजीने अपने शिष्य असुरोंके सहित चन्द्रमाका पक्ष लिया और महादेवजीने स्नेहवश सम्पूर्ण भूतगणके सहित गुरुपुत्र* बृहस्पतिजीकी ओर रहना स्वीकार किया ॥ ६ ॥ इन्द्रने भी समस्त देवताओंके सहित अपने गुरु बृहस्पतिजीका ही अनुगमन किया। इस प्रकार [ताराके लिये ही] देवता और असुरोंका नाश करनेवाला घोर तारकामय संग्राम छिड़ गया ॥ ७ ॥

तदनन्तर, अङ्गिराजीके निवेदन करनेपर जगद्रचयिता भगवान् ब्रह्माजीने चन्द्रमाको झिड़ककर उससे तारा अपने पतिको दिलवा दी। तब बृहस्पतिजीने उसे गर्भिणी जानकर कहा—॥ ८ ॥ "ओ दुष्ट बुद्धिवाली ! मेरे क्षेत्रमें किसी अन्यद्वारा स्थापित किये हुए इस गर्भको तुरन्त त्याग दे । हे सति ! मैं तुझे जलाकर भस्म नहीं करूँगा, क्योंकि मुझे तुझसे सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छा है" ॥ ९ ॥

१- ह्रीदसुरोदयम् । २- विश्वराट् ।

* महादेवजीने बृहस्पतिजीके पिता महर्षि अङ्गिरासे विद्या पढ़ी थी । इसलिये बृहस्पतिजी उनके गुरुभाई थे ।

तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम् ।
स्पृहामाङ्गिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च ॥१०॥
ममायं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन्विवदमानयोः ।
प्रपच्छुर्ऋषयो देवा नैवोचे व्रीडिता तु सा ॥११॥
कुमारो मातरं प्राह कुपितोऽलीकलज्जया ।
किं न वोचस्यसद्वृत्ते आत्मावद्यं वदाशु मे ॥१२॥
ब्रह्मा तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन् ।
सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्रहीत् ॥१३॥
तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप ।
बुद्ध्या गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण्मुदम् ॥१४॥

तब ताराने अत्यन्त लज्जित होकर अपने गर्भसे एक सुवर्णकी-सी कान्तिवाला बालक निकाला । तथा उस बालकको बृहस्पति और चन्द्रमा दोनोंहीने लेना चाहा ॥१०॥ उन्हें 'यह मेरा है, तुम्हारा नहीं' इस प्रकार परस्पर अत्यन्त विवाद करते देख, देवता और ऋषियोंने इस विषयमें तारासे पूछा । किन्तु वह लज्जावश कुछ न बोली ॥ ११ ॥ तब वह कुमार ही उसकी व्यर्थ लज्जासे कुपित होकर अपनी मातासे बोला—"ओ पापाचारिणी ! तू बोलती क्यों नहीं है ? मुझे शीघ्र ही अपना कुकर्म बतला" ॥ १२ ॥ तदनन्तर उसे ब्रह्माजीने एकान्तमें बुलाकर समझा-बुझाकर पूछा । तब ताराने धीरेसे कहा, "चन्द्रमाका ।" अतः चन्द्रमाने उस बालकको ले लिया ॥ १३ ॥ हे राजन् ! भगवान् ब्रह्माने उस बालकका नाम 'बुध' रखा, क्योंकि वह गम्भीर बुद्धिसे युक्त था । उस पुत्रको पाकर चन्द्रमाको आनन्द प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः ।
तस्य रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान् ॥१५॥
श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान्सुरर्षिणा ।
तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता ॥१६॥
मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम् ।
निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम् ।
धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके ॥१७॥
स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनूरुहः ॥१८॥

उस बुधसे इलाके गर्भमें पुरूरवाका जन्म हुआ, जिसका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ । हे राजन् ! इन्द्रके भवनमें देवर्षि नारदद्वारा गाये हुए उसके रूप, गुण, औदार्य, शील, सम्पत्ति और पराक्रमादिका वर्णन सुनकर उर्वशीनामकी देवांगना कामबाणसे विद्ध होकर उसके पास आयी ॥ १५-१६ ॥ उर्वशीको मित्रावरुणका शाप होनेसे मर्त्यलोकमें आना पड़ा था; किन्तु उस पुरुषश्रेष्ठको कामदेवके समान रूपवान् सुन उसने धैर्य धारण किया और वह सुरसुन्दरी उसके पास आकर उपस्थित हुई ॥१७॥ उसे देख राजा पुरूरवाके नेत्र हर्षसे खिल गये और उसने पुलकितशरीर हो उससे अति मधुर वाणीमें कहा ॥ १८ ॥

राजोवाच

स्वागतं ते वरारोह आस्यतां करवाम किम् ।
संरमस्व मया साकं रतिर्नौ शाश्वतीः समाः ॥१९॥

राजा बोला—हे सुमध्यमे ! तुम भली आयीं । बैठो, हम तुम्हारा क्या कार्य करें ? [मेरी इच्छा है] तुम मेरे साथ रमण करो, हमारा तुम्हारा विहार अनन्त कालतक रहे ॥ १९ ॥

१. तारां समाहूय । २. श० । ३. सार्द्धं सुरतिः श० ।

उर्वश्युवाच

कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर ।
यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते ह रिरंसया ॥२०॥
एतावुरणकौ राजन्न्यासौ रक्षस्व मानद ।
संरंस्ये भवता[1] साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः ॥२१॥
घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात् ।
विवाससं तं[2]त्तथेति प्रतिपेदे महामनाः ॥२२॥
अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम् ।
को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम् ॥२३॥
तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः ।
रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु ॥२४॥
रममाणस्तया देव्या पद्मकिञ्जल्कगन्धया ।
तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽहर्गणान्बहून् ॥२५॥
अपश्यं[3]स्तुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान्समनोदयत् ।
उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते ॥२६॥
ते उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते ।
उर्वश्या उरणौ जह्रुर्न्यस्तौ राजनि जायया ॥२७॥
निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः ।
हतास्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना ॥२८॥

उर्वशीने कहा—हे सुन्दर ! तुम्हें देखकर भला किस कामिनीकी दृष्टि और मन तुममें आसक्त न होंगे ? जब कि आपके वक्षःस्थलको निहारकर हमारा मन और हमारे नेत्र भी रमण करनेकी इच्छासे अन्यत्र नहीं जाते ॥ २० ॥ हे राजन् ! जो पुरुष रूप-गुण आदिके कारण प्रशंसनीय होता है वही स्त्रियोंका वर होता है, अतः मैं आपके साथ रमण करूँगी । किन्तु, हे मानद ! [मेरी एक शर्त है] मैं तुम्हें ये दो भेड़के बच्चे धरोहरके रूपमें सौंपती हूँ, इनकी यत्नपूर्वक रक्षा करो ॥ २१ ॥ हे वीर ! मेरा आहार केवल घृत होगा और मैं मैथुनके सिवा और किसी समय तुम्हें वस्त्रहीन न देख सकूँगी । [ये सब बातें तुम्हें मंजूर हों तो मैं तुम्हारे पास रह सकती हूँ] । तब उदारचित्त पुरूरवाने 'बहुत अच्छा' कह उसकी बात स्वीकार कर ली ॥ २२ ॥ और उससे कहा—"अहो ! सम्पूर्ण मानवसमाजको मोहित करनेवाला तेरा रूप और भाव कैसा सुन्दर है ! अपने-आप ही आयी हुई तुझ सुरसुन्दरीको भला कौन मनुष्य सेवन न करेगा ?" ॥ २३ ॥

हे राजन् ! फिर यथायोग्य रमण करनेवाली उस देवाङ्गनाके साथ वह पुरुषश्रेष्ठ देवताओंके क्रीडास्थान चैत्ररथ आदि वनोंमें यथेच्छ क्रीडा करने लगा ॥ २४ ॥ कमलकेसरकी-सी गंधसे युक्त उस कामिनीके साथ विहार करते हुए वह उसके मुखकी सुवाससे मुग्ध होकर अनेकों वर्षोंतक आनन्द भोगता रहा ॥२५॥

एक समय उर्वशीको न देखकर देवराज इन्द्रने यह कहते हुए कि 'उर्वशीके बिना मुझे यह स्थान अच्छा नहीं लगता' उसे लानेके लिये गन्धर्वोंको भेजा ॥ २६ ॥ तब वे गन्धर्वगण आधी रातके समय अँधेरेमें उर्वशीके दोनों मेषोंको, जिन्हें उसने राजाके पास धरोहर रखा था, ले चले ॥ २७ ॥ इस प्रकार हरकर ले जाये जाते हुए अपने पुत्रतुल्य मेषोंका शब्द सुनकर उस अप्सराने कहा—"हाय ! अपनेको बड़ा वीर माननेवाले इस नपुंसकतुल्य निन्दनीय पतिके कारण मेरा सर्वनाश हो गया ॥ २८ ॥

१. ता शश्वच्छ्लाघ्यः । २. तथा वेति । ३. श्यन्नवतामिन्द्रो ।

यद्विश्रम्भादहं नष्टा हृतापत्या च दस्युभिः ।
यः शेते निशि संत्रस्तो यथा नारी दिवा पुमान् ॥२९॥

जो उसके भरोसे दस्युओंद्वारा अपने पुत्रोंके हर लिये जानेसे मुझे इस प्रकार नष्ट होना पड़ा। अहो! यह दिनमें तो बड़ा मर्द बनता है; परन्तु रात्रिके समय भयभीत होकर स्त्रियोंके समान सोता रहता है" ॥ २९ ॥

इति वाक्सायकैर्विद्धः प्रतोत्रैरिव कुञ्जरः ।
निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोऽभ्यद्रवद्रुषा ॥३०॥

हे राजन्! जैसे हाथी अंकुशसे बिंध जाता है उसी प्रकार उर्वशीके इन वाग्बाणोंसे बिंधकर राजा पुरूरवा क्रोधित हो उस रात्रिके अन्धकारमें हाथमें तलवार ले नङ्गा ही गन्धर्वोंके पीछे दौड़ा ॥ ३० ॥

ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त स्म विद्युतः ।
आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिम् ॥३१॥

तब उन्होंने मेषोंको वहीं छोड़ दिया और विशेष द्युतिमान् होकर चमकने लगे। इससे उर्वशीने मेषोंको लाते हुए अपने पतिको नग्नावस्थामें देख लिया। [अतः वह उसी समय उसे छोड़कर चली गयी] ॥ ३१ ॥

ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन्विमना इव ।
तच्चित्तो विह्वलः शोचन्बभ्रामोन्मत्तवन्महीम् ॥३२॥
स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यां च तत्सखीः ।
पञ्च प्रहृष्टवदनाः प्राह सूक्तं पुरूरवाः ॥३३॥
अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि ।
मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै ॥३४॥
सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया ।
खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम् ॥३५॥

हे राजन्! जब पुरूरवाने अपने शयनागारमें अपनी प्रियाको न देखा तो वह अनमना-सा हो उसीमें चित्त लगाये शोकसे विह्वल होकर उन्मत्तके समान पृथिवीमें विचरने लगा ॥ ३२ ॥ एक बार उसने कुरुक्षेत्रमें सरस्वती नदीके तीरपर उस उर्वशी और उसकी पाँच प्रसन्नमुखी सखियोंको देखकर ये सुन्दर वचन कहे—॥ ३३ ॥ "अरी प्रिये! ठहर, ठहर। अभी मुझे पूर्णतया आनन्दित किये बिना इस घोर दुःख-में छोड़कर तुझे नहीं जाना चाहिये। आ, हम दोनों कुछ बातें तो कर लें ॥ ३४ ॥ देख, तूने मेरे इस सुन्दर शरीरको दूर छोड़ दिया है, इसलिये यह यहीं गिर जायगा। इसे भेड़िये और गिद्ध ही खा जायँगे—यह बात भी तेरी प्रसन्नताका कारण न होगी" ॥३५॥

उर्वश्युवाच

मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मा स्म त्वाद्युर्वृका इमे ।
क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा ॥३६॥
स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः ।
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत ॥३७॥

उर्वशी बोली—राजन्! तुम पुरुष हो, इस प्रकार मत मरो। देखो, तुम्हें ये भेड़िये न खाने पावें। स्त्रियोंकी किसीके साथ मित्रता नहीं हुआ करती; इनका हृदय भेड़ियेके समान क्रूर होता है ॥ ३६ ॥ स्त्रियाँ निश्चय ही बड़ी निर्दय, क्रूर, असहनशील और अपने सुखके लिये बड़े साहसके काम करनेवाली होती हैं। ये थोड़े-से स्वार्थके लिये भी अपने विश्वासपात्र, पति और भाईकी भी हत्या कर डालती हैं, फिर औरोंका तो कहना ही क्या है ॥ ३७ ॥

१. विक्षताः। २. विह्वलः। ३. त्वयां हृतः। ४. दुर्मुखाः।

विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः ।
नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः ॥३८॥
संवत्सरान्ते हि भवानेकरात्रं महेश्वर ।
वत्स्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि भोः ॥३९॥

ये सर्वथा सौहार्दशून्य होनेके कारण भोले-भाले पुरुषोंको झूठे विश्वास दिलाती हैं और फिर व्यभिचारिणी तथा स्वेच्छाचारिणी होकर नये-नये पतिकी इच्छा करती रहती हैं ॥३८॥ हे राजराजेश्वर ! [तो भी तुम धैर्य धारण करो] एक वर्ष बीतनेपर तुम एक रात मेरे साथ रहोगे । उस समय तुम्हारे और सन्तानें भी उत्पन्न होंगी॥ ३९ ॥

अन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य देवीं स प्रययौ पुरम् ।
पुनस्तत्र गतोऽब्दान्त उर्वशीं वीरमातरम् ॥४०॥
उपलभ्य मुदा युक्तः समुवास[1] तया निशाम् ।
अथैनमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम् ॥४१॥
गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति ।
तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप ।
उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन्वने ॥४२॥
स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि ।
त्रेतायां संप्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत ॥४३॥
स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य[2] सः ।
तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया ॥४४॥
उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम् ।
आत्मानमुभयोर्मध्ये यत्तत्प्रजननं प्रभुः ॥४५॥
तस्य निर्मन्थनाज्जातो जातवेदा विभावसुः ।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥४६॥
तेनायजत यज्ञेशं[3] भगवन्तमधोक्षजम् ।
उर्वशीलोकमन्विच्छन्सर्वदेवमयं हरिम् ॥४७॥

तब, उर्वशीको गर्भवती जान राजा पुरूरवा अपने नगरको लौट गया । फिर एक साल बीतनेपर वह वहाँ गया और वीरमाता उर्वशीको देखकर अति आनन्दित हो उसके साथ एक रात्रि रहा । तब उर्वशीने अपनी विरहव्यथासे दुःखित उस दीन राजासे कहा— ॥ ४०-४१ ॥ "राजन् ! तुम इन गन्धर्वोंकी स्तुति करो, तो ये मुझको तुम्हें दे सकते हैं ।" हे परीक्षित् ! तदनन्तर पुरूरवाकी प्रार्थनासे प्रसन्न हुए गन्धर्वोंने उसे एक अग्निस्थाली दी । उसे उर्वशी समझकर वह [उसीको हृदयसे लगाये] वनमें विचरता रहा । जब उसे होश आया तो उस स्थालीको वनमें छोड़कर अपने घर चला आया । रात्रिके समय [सदाकी तरह] उर्वशीका ध्यान करते-करते त्रेतायुगके आरम्भमें उसके हृदयमें वेदत्रयीका आविर्भाव हुआ ॥ ४२-४३ ॥ फिर उसने स्थाली डालनेके स्थानपर जाकर शमी (ढाक) के गर्भसे उत्पन्न हुआ एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष देखा । उससे दो अरणि (मन्थनकाष्ठ) बनाकर उसने उर्वशीलोककी कामनासे नीचेकी अरणिको उर्वशी, ऊपरकी अरणिको पुरूरवा और मध्य काष्ठको पुत्ररूपसे चिन्तन करते हुए अग्नि प्रज्वलित करनेवाले मन्त्रोंद्वारा मन्थन किया ॥ ४४-४५ ॥ उनके मन्थनसे जो जातवेदानामक अग्नि प्रकट हुआ उसे उसने त्रयी विद्याके द्वारा [आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि] तीन भागोंमें विभक्त कर अपने पुत्ररूपसे स्वीकार कर लिया ॥ ४६ ॥ फिर उर्वशीलोककी इच्छासे पुरूरवाने उस त्रिविध अग्निद्वारा सर्वदेवमय अधोक्षज यज्ञेश्वर भगवान् हरिका यजन किया ॥ ४७ ॥

१. स उवा० । २. विलोक्य । ३. देवेशं ।

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः ।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥४८॥
पुरूरवस एवासीत्त्रयी त्रेतामुखे नृप ।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥४९॥

हे राजन् ! इससे पूर्व (सत्ययुगमें) सर्ववाङ्मय ओंकार ही एकमात्र वेद था, एकमात्र श्रीनारायण ही देवता थे—उनके सिवा और कोई देव नहीं था तथा एक ही [लौकिक] अग्नि और [हंसनामक] एक ही वर्ण था ॥४८॥ हे नृप ! त्रेताके आरम्भमें पुरूरवासे ही तीन प्रकारके अग्निका आविर्भाव हुआ । फिर पुत्ररूपसे माने हुए उस अग्निके द्वारा ही राजा पुरूरवा गन्धर्व-लोकको प्राप्त हुआ ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे ऐलोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

ऋचीक, जमदग्नि और परशुरामजीका चरित्र ।

श्रीशुक[2] उवाच

ऐलस्य चोर्वशीगर्भात्षडासन्नात्मजा नृप ।
आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः ॥ १ ॥
श्रुतायोर्वसुमान्पुत्रः सत्यायोश्च श्रुतञ्जयः ।
रयस्य सुत एकश्च जयस्य तनयोऽमितः ॥ २ ॥
भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः ।
तस्य जह्नुः सुतो गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत् ।
जह्नोस्तु पूरुस्तत्पुत्रो बलाकश्चात्मजोऽजकः ॥ ३ ॥
ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुर्[3]मूर्तयो वसुः ।
कुशनाभश्च चत्वारो गाधिरासीत्कुशाम्बुजः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पुरूरवाके उर्वशी-के गर्भसे आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय—ये छः पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १ ॥ उनमेंसे श्रुतायुके वसुमान्, सत्यायुके श्रुतञ्जय, रयके एक और जयके अमितनामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २ ॥ विजयका पुत्र भीम था, उसके काञ्चन हुआ तथा काञ्चनके होत्र और होत्रके जह्नुनामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने गङ्गाजीको अञ्जलीमें लेकर पी लिया था । फिर जह्नुके पूरु, पूरुके बलाक और बलाकके अजकनामक पुत्र हुआ ॥ ३ ॥ अजकसे कुश, कुशसे कुशाम्बु, मूर्तय, वसु और कुशनाभ ये चार पुत्र हुए तथा कुशाम्बुके पुत्र गाधि हुए ॥ ४ ॥

तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः ।
वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत् ॥ ५ ॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम् ॥ ६ ॥

हे राजन् ! गाधिसे ऋचीक ऋषिने उनकी कन्या सत्यवती माँगी । उन्हें कन्याके योग्य वर न समझकर राजा गाधिने भृगुनन्दन ऋचीकसे कहा—॥ ५ ॥ "हे मुने ! हमलोग कुशिकवंशी हैं [हमारी कन्या मिलनी अत्यन्त कठिन है] । इसलिये आप, जिनका एक कान श्यामवर्ण हो ऐसे चन्द्रमाके समान कान्तिमान् एक सहस्र घोड़े हमारी कन्याके शुल्कमें दीजिये" ॥ ६ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें इसके पहले 'सोमवंशे' यह पाठ अधिक है । २. बादरायणिरुवाच । ३. शाम्बुर्मूर्तयो ।

इत्युक्तस्तन्मतं ज्ञात्वा गतः स वरुणान्तिकम् ।

आनीय दत्त्वा तानश्वानुपयेमे वराननाम् ॥ ७ ॥

स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया ।

श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः ॥ ८ ॥

तावत्सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती ।

श्रेष्ठं मत्वा तयायच्छन्मात्रे मातुरदत्स्वयम् ॥ ९ ॥

तद्विज्ञाय मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः ।

घोरो दण्डधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः ॥१०॥

प्रसादितः सत्यवत्या मैवं भूदिति भार्गवः ।

अथ तर्हि भवेत्पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥११॥

सा चाभूत्सुमहापुण्या कौशिकी लोकपावनी ।

रेणोः सुतां रेणुकां वै जमदग्निरुवाह याम् ॥१२॥

तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः ।

यवीयाञ्जज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः ॥१३॥

यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम् ।

त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ॥१४॥

दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनशत् ।

रजस्तमोवृतमहन्फल्गुन्यपि कृतेंऽहसि ॥१५॥

राजोवाच

किं तदंहो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः ।

कृतं येन कुलं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्ष्णशः ॥१६॥

राजा गाधिके ऐसा कहनेपर मुनिवर ऋचीक उनका आशय समझ गये । और उन्होंने वरुणके पाससे वैसे घोड़े लाकर उन्हें राजाको देकर उस सुमुखीसे विवाह कर लिया ॥ ७ ॥

एक बार महर्षि ऋचीकसे उनकी पत्नी और सासुने पुत्र-प्राप्तिके लिये प्रार्थना की । तब दोनोंके लिये अलग-अलग मन्त्रोंसे चरु सिद्ध कर मुनि स्नान करनेको चले गये ॥ ८ ॥ इस बीचमें सत्यवतीकी माताने यह समझकर कि [पत्नीपर विशेष प्रेम होनेके कारण] सत्यवतीका चरु श्रेष्ठ होगा उससे उसका चरु माँग लिया और सत्यवतीने अपना चरु माताको देकर स्वयं माताका चरु खा लिया ॥ ९ ॥ जब मुनिको यह पता चला तो उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा—"तूने बड़ा अनर्थ कर डाला; अब तेरा पुत्र बड़ा दुर्दण्ड और घोर प्रकृतिका होगा तथा भाई ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होगा" ॥१०॥ तब सत्यवतीके 'ऐसा न हो' यों कहकर प्रार्थना करनेपर भृगुनन्दन ऋचीकने प्रसन्न होकर कहा—"अच्छा, पुत्र तो नहीं, परन्तु पौत्र ऐसा ही होगा ।" तदनन्तर उससे जमदग्निका जन्म हुआ ॥११॥ और वह सत्यवती सकल लोकोंको पवित्र करनेवाली परमपुण्यवती कौशिकी नदी हो गयी । जमदग्निने रेणुऋषिकी कन्या रेणुकासे विवाह किया ॥१२॥ उससे जमदग्निजीके वसुमान् आदि पुत्र उत्पन्न हुए । उनमें सबसे छोटा 'राम' नामसे विख्यात हुआ ॥१३॥ जिसे भगवान् वासुदेवका अंश कहा जाता है तथा जिसने हैहयवंशका अन्त किया था और इक्कीस बारमें इस सम्पूर्ण पृथिवीको क्षत्रियशून्य कर दिया था ॥१४॥ उसने थोड़ा-सा ही अपराध करनेपर पृथिवीके भारभूत, अब्रह्मण्य तथा रजोगुण-तमोगुणमयी वृत्तिवाले दुष्ट क्षत्रियोंको मार डाला था ॥१५॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे प्रभो ! उन अजितेन्द्रिय राजाओंने भगवान् परशुरामजीका ऐसा क्या अपराध किया था जिससे उन्होंने बार-बार क्षत्रियकुलका नाश किया ? ॥१६॥

१. सा चरुं । २. तु सा य० । ३. मुपाहरत् ।

श्रीशुक[1] उवाच

हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः ।
दत्तं नारायणस्यांशमाराध्य परिकर्मभिः ॥१७॥
बाहून्दशशतं[2] लेभे दुर्धर्षत्वमरातिषु ।
अव्याहतेन्द्रियौजःश्रीतेजोवीर्ययशोबलम्[3] ॥१८॥
योगेश्वरत्वमैश्वर्यं गुणा यत्राणिमादयः ।
चचाराव्याहतगतिर्लोकेषु पवनो यथा ॥१९॥
स्त्रीरत्नैरावृतः क्रीडन्रेवाम्भसि मदोत्कटः ।
वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रद्रुरोध सरितं भुजैः ॥२०॥
विप्लावितं स्वशिबिरं प्रतिस्रोतःसरिज्जलैः ।
नामृष्यत्तस्य तद्वीर्यं वीरमानी दशाननः ॥२१॥
गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः ।
माहिष्मत्यां संनिरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा ॥२२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ हैहयराज अर्जुनने भगवदवतार भगवान् दत्तात्रेयजीकी अनेक प्रकारकी सेवा-शुश्रूषादिसे आराधना कर [उनकी कृपासे] एक सहस्र भुजा, शत्रुओंसे अजेयता, अव्याहत इन्द्रियबल, सम्पत्ति, तेज, पुरुषार्थ, यश और शारीरिक बल प्राप्त किये थे ॥१७-१८॥ तथा जिसमें अणिमादि सिद्धियाँ हैं उस योगेश्वरत्वरूप ऐश्वर्यको पाकर वह वायुके समान अव्याहतगतिसे सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता था ॥ १९ ॥ एक बार गलेमें वैजयन्तीमाला धारण कर रमणीरत्नोंसे घिरा हुआ मदोन्मत्त सहस्रार्जुन नर्मदा नदीके जलमें क्रीडा कर रहा था, उस समय उसने अपनी भुजाओंसे नदीका प्रवाह रोक दिया ॥२०॥ इससे नदीका प्रवाह विपरीत हो जानेके कारण उसके बढ़े हुए जलमें अपने शिबिरको डूबता देख अपनेको बड़ा वीर माननेवाला रावण सहस्रार्जुनके उस पराक्रमको सहन न कर सका ॥२१॥ तब स्त्रियोंके सामने ही अपना तिरस्कार करनेवाले रावणको सहस्रार्जुनने लीलाहीसे पकड़कर माहिष्मतीपुरीमें बन्दरके समान कैद कर लिया और पीछे [पुलस्त्यजीके कहनेसे] छोड़ दिया ॥२२॥

स एकदा तु मृगयां विचरन्विपिने[4] वने ।
यदृच्छयाश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत् ॥२३॥
तस्मै स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत् ।
ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या तपोधनः ॥२४॥
स[5] वीरस्तत्र तद्दृष्ट्वा आत्मैश्वर्यातिशायनम् ।
तन्नाद्रियताग्निहोत्र्यां साभिलाषः सहैहयः ॥२५॥
हविर्धानीमृषेर्दर्पान्नरान्हर्तुमचोदयत् ।
ते च माहिष्मतीं निन्युः सवत्सां क्रन्दतीं बलात् ॥२६॥

एक दिन राजा सहस्रार्जुन गहन वनमें मृगया करते समय दैववश जमदग्नि मुनिके आश्रमपर जा निकला ॥ २३ ॥ वहाँ उन तपोधन मुनिश्रेष्ठने कामधेनुके आश्रयसे सेना, मन्त्रिमण्डल और हाथी-घोड़े आदि वाहनोंके सहित आये हुए उस नृपतिका खूब आतिथ्य-सत्कार किया ॥ २४ ॥ अन्य हैहय क्षत्रियोंके सहित वीरवर सहस्रार्जुनने जब उन मुनीश्वरका ऐश्वर्य अपनेसे भी बढ़ा-चढ़ा देखा तो उसने उस आतिथ्य-सत्कारका कुछ भी आदर न कर कामधेनुको लेना चाहा ॥ २५॥ तब उसने दर्पवश अपने सेवकोंको जमदग्नि ऋषिकी कामधेनु छीन लेनेके लिये आज्ञा दी और वे बलात्कारसे डकराती हुई कामधेनुको उसके बछड़ेसहित माहिष्मतीपुरीको ले गये ॥ २६ ॥

अथ राजनि निर्याते राम आश्रम आगतः ।

तदनन्तर, राजाके आश्रमसे निकलते ही परशुरामजी

१. बादरायणिरुवाच । २. बाहोर्द० । ३. शोऽतुलम् । ४. विजने । ५. स चैश्वर्यं तु त० ।

श्रुत्वा तत्तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः ॥२७॥
[२]घोरमादाय परशुं सतूणं चर्म कार्मुकम् ।
अन्वधावत [३]दुर्धर्षो मृगेन्द्र इव यूथपम् ॥२८॥

तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा
धनुर्धरं बाणपरश्वधायुधम् ।
ऐणेयचर्माम्बरमर्कधामभि-
र्युतं जटाभिर्ददृशे पुरीं विशन् ॥२९॥
अचोदयद्धस्तिरथाश्वपत्तिभि-
र्गदासिबाणर्ष्टिशतघ्निशक्तिभिः ।
अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणा-
स्ता राम एको भगवानसूदयत् ॥३०॥
यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वधो
मनोऽनिलौजाः परचक्रसूदनः ।
ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकन्धरा
निपेतुरुर्व्यां हतसूतवाहनाः ॥३१॥
दृष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्दमे
रणाजिरे रामकुठारसायकैः ।
विवृक्णचर्मध्वजचापविग्रहं
निपातितं हैहय आपतद्रुषा ॥३२॥
अथार्जुनः पञ्चशतेषु बाहुभि-
र्धनुःषु बाणान्युगपत्स सन्दधे ।
रामाय रामोऽस्त्रभृतां समग्रणी-
स्तान्येकधन्वेषुभिरा[४]च्छिनत्समम् ॥३३॥
पुनः स्वहस्तैरचलान्मृधे[५]ऽङ्घ्रिपा-
नुत्क्षिप्य वेगादभिधावतो युधि ।
भुजान्कुठारेण कठोरनेमिना
चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहेरिव ॥३४॥
कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृङ्गमिवाहरत् ।
हते पितरि तत्पुत्रा अयुतं दुद्रुवुर्भयात् ॥३५॥

आ गये, और उसकी दुष्टताका वृत्तान्त सुनकर वे चोट खाये हुए सर्पके समान क्रोधमें भर गये ॥ २७ ॥ तथा अपना भयङ्कर परशु, तरकश, ढाल एवं धनुष लेकर गजराजकी ओर दौड़ते हुए दुर्धर्ष मृगराजके समान चले ॥ २८ ॥

तब, राजा सहस्रार्जुनने अपने नगरमें प्रवेश करते समय देखा कि हाथमें धनुष, बाण और परशु लिये, कृष्णमृगचर्म पहने तथा सूर्यके समान तेजोमय जटाजूट धारण किये भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी बड़े वेगसे आ रहे हैं ॥२९॥ उन्हें देखते ही उसने गदा, खड्ग, बाण, ऋष्टि, शतघ्नी और शक्ति आदि आयुधोंसे सुसज्जित तथा हाथी, घोड़े, रथ और पदातियोंसे युक्त अति भयङ्कर सत्रह अक्षौहिणी सेना भेजी; किन्तु भगवान् परशुरामने उसे अकेले ही मार डाला ॥३०॥ मन और वायुके समान वेगवाले तथा शत्रुसेनाका संहार करनेवाले परशुरामजी उस समय जिस-जिस ओर अपना फरसा घुमाते थे उसी ओर, जिनके सारथी और वाहन नष्ट हो गये हैं ऐसे, अनेकों वीर भुजा, ऊरु एवं ग्रीवा आदिके कट जानेसे धराशायी हो जाते थे ॥३१॥ तब परशुरामजीके कुठार और बाणोंद्वारा ढाल, ध्वजा, धनुष एवं शरीरोंके छिन्न-भिन्न हो जानेसे अपनी सेनाको युद्धस्थलमें रुधिरकी कीचमें लोटते देख हैहयराज अर्जुन कुपित होकर स्वयं युद्ध करनेके लिये आ धमका ॥ ३२ ॥ और उसने अपनी सहस्र भुजाओंसे एक साथ ही पाँच सौ धनुषोंपर बाण चढ़ा उन्हें परशुरामजीकी ओर छोड़ा; किन्तु शस्त्रधारियोंमें अग्रगण्य परशुरामजीने उन्हें अपने एक धनुषसे छोड़े हुए बाणोंसे एक ही साथ काट डाला ॥ ३३ ॥ तब अपने हाथोंमें पर्वत और वृक्षादि लेकर युद्धस्थलमें बड़े वेगसे सामने आये हुए सहस्रार्जुनकी भुजाओंको परशुरामजीने अपनी तीखी धारवाले फरसेसे बड़ी फुर्तीके साथ सर्पोंके समान काट डाला ॥३४॥ इस प्रकार भुजाएँ कट जानेपर उन्होंने उसका पर्वतशिखरके समान मस्तक काट डाला। तब अपने पिताको मारा गया देख उसके दश सहस्र पुत्र भयभीत होकर भाग गये॥३५॥

१. स तस्य । २. परशुं घोरमादाय स क्षणादर्म कार्मुकम् । ३. दुर्मर्षो । ४. रच्छिनत्करात् । ५. मृधे ।

अग्निहोत्रीमुपावर्त्य सवत्सां परवीरहा ।
समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत् ॥३६॥
स्वकर्म तत्कृतं रामः पित्रे भ्रातृभ्य एव च ।
वर्णयामास तच्छ्रुत्वा जमदग्निरभाषत ॥३७॥
राम राम महाबाहो भवान्पापमकारषीत् ।
अवधीन्नरदेवं यत्सर्वदेवमयं वृथा ॥३८॥
वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः ।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात्पदम् ॥३९॥
क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा ।
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः ॥४०॥
राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद्गुरुः ।
तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः ॥४१॥

तदनन्तर, विपक्षी वीरोंका दमन करनेवाले परशुरामजीने अत्यन्त पीडिता कामधेनुको उसके बछड़ेके सहित आश्रमपर ले आकर अपने पिताजीको समर्पण कर दिया ॥३६॥ और अपना वह सारा कर्म पिताजीको तथा भाइयोंको सुना दिया । उसे सुनकर जमदग्निजीने कहा—॥३७॥ "हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो ! तुमने बड़ा पाप किया जो वृथा ही सर्वदेवमय नरदेवका वध किया ॥३८॥ हे तात ! हमलोग ब्राह्मण हैं, हम क्षमाके कारण ही पूजनीय हुए हैं, जिस क्षमाके प्रभावसे ही लोकगुरु ब्रह्माजी भी ब्रह्मपदको प्राप्त हुए हैं ॥३९॥ क्षमाके कारण ही ब्रह्मसम्पत्ति सूर्यकी प्रभाके समान प्रकाशित होती है तथा भगवान् हरि ईश्वर भी क्षमावानोंपर ही शीघ्र प्रसन्न होते हैं ॥४०॥ हे तात ! सार्वभौम राजाका वध ब्राह्मणके वधसे भी बढ़कर है । अतः तुम श्रीअच्युतमें चित्त लगाकर तीर्थसेवन करते हुए इस पापको नष्ट करो" ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे
पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

सोलहवाँ अध्याय

जमदग्निवध, परशुरामद्वारा क्षत्रियोंके संहार एवं विश्वामित्रकी संततिका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

पित्रोपशिक्षितो रामस्तथेति कुरुनन्दन ।
संवत्सरं तीर्थयात्रां[1] चरित्वाश्रममाव्रजत् ॥ १ ॥
कदाचिद्रेणुका याता गङ्गायां पद्ममालिनम् ।
गन्धर्वराजं क्रीडन्तमप्सरोभिरपश्यत ॥ २ ॥
विलोकयन्ती क्रीडन्तमुदकार्थं नदीं गता ।
होमवेलां न सस्मार किञ्चिच्चित्ररथस्पृहा ॥ ३ ॥
कालात्ययं तं विलोक्य मुनेः शापविशङ्किता ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुनन्दन ! पिताजीके इस प्रकार आज्ञा करनेपर परशुरामजी उसे स्वीकार कर एक वर्षतक तीर्थयात्रा करके फिर अपने आश्रममें लौट आये ॥१॥ एक बार उनकी माता रेणुका गङ्गातटपर गयी । वहाँ उसने कमलमालाधारी गन्धर्वराज चित्ररथको अप्सराओंके साथ क्रीडा करते देखा ॥ २ ॥ जल लानेके लिये नदीतटपर गयी हुई रेणुकाको, उसे क्रीडा करते देखकर, होमके समयका स्मरण न रहा और उसका चित्त कुछ-कुछ चित्ररथकी ओर लग गया ॥ ३ ॥ फिर हवनकालको बीता हुआ जान वह जमदग्नि मुनिके शापकी आशङ्का कर झटपट लौट

१. प्राचीन प्रतिमें इसके पहले 'रामचरिते हैहयार्जुनवधे' यह अधिक पाठ है । २. चर्या ।

आगत्य कलशं तस्थौ पुरोधाय कृताञ्जलिः ॥ ४ ॥

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीत् ।

घ्नतैनां[1] पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥ ५ ॥

रामः सञ्चोदितः पित्रा भ्रातॄन्मात्रा सहावधीत् ।

प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधेस्तपसश्च[2] सः ॥ ६ ॥

वरेण च्छन्दयामास प्रीतः सत्यवतीसुतः ।

वव्रे हतानां रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वधे ॥ ७ ॥

उत्तस्थुस्ते कुशलिनो निद्रापाय इवाञ्जसा ।

पितुर्विद्वांस्तपोवीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम् ॥ ८ ॥

आयी और जलका कलश सामने रख हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी ॥ ४ ॥

तब [योगबलसे] अपनी पत्नीका [मानसिक] व्यभिचार जान मुनिने अति क्रोधित होकर कहा—"पुत्रो ! इस पापिनीको मार डालो !" किन्तु मुनिके कहनेपर भी उन्होंने ऐसा न किया ॥ ५ ॥ तदनन्तर पिताके आज्ञा देनेपर, उनके योग और तपका प्रभाव भलीभाँति जाननेवाले परशुरामजीने माताके सहित अपने भाइयोंको मार डाला ॥ ६ ॥ इससे प्रसन्न होकर सत्यवतीनन्दन जमदग्निजीने उन्हें इच्छित वर माँगनेको कहा । तब परशुरामजीने मरे हुए माता और भाइयोंका पुनः जीवित हो जाना और उन्हें अपनी मृत्युका भी स्मरण न होना—यही वर माँगा ॥ ७ ॥ तब वे सबके सब निद्राभङ्ग होनेके पीछे उठे हुए व्यक्तियोंके समान अनायास ही कुशलपूर्वक उठ बैठे । इस प्रकार पिताके तपका प्रभाव जानकर ही परशुरामजीने अपने बन्धुओंका वध किया था ॥८॥

येऽर्जुनस्य[3] सुता राजन्स्मरन्तः स्वपितुर्वधम् ।
रामवीर्यपराभूता लेभिरे शर्म न क्वचित् ॥ ९ ॥
एकदाश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते ।
वैरं सिसाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन् ॥१०॥
दृष्ट्वाग्न्यगार आसीनमावेशितधियं मुनिम् ।
भगवत्युत्तमश्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः ॥११॥
याच्यमानाः कृपणया राममात्रातिदारुणाः ।
प्रसह्य शिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः[5] ॥१२॥

हे राजन् ! इधर जो सहस्रार्जुनके पुत्र परशुरामजीके पराक्रमसे पराभूत होकर भाग गये थे उन्हें भी अपने पिताके वधका स्मरण बना रहनेसे किसी समय चैन न था ॥ ९ ॥ एक दिन जब भाइयोंके सहित परशुरामजी आश्रमसे वनकी ओर गये हुए थे, वे अवसर पाकर अपना बैर चुकानेके लिये वहाँ आये ॥१०॥ वहाँ मुनिवर जमदग्निको भगवान् विष्णुमें चित्त लगाये अग्निशालामें बैठे देख, उनके वधरूप पापका निश्चय करके ही आये हुए उन राजकुमारोंने उन्हें मार डाला और वे अत्यन्त क्रूर क्षत्रियाधम राममाता रेणुकाके अति दीनतापूर्वक प्रार्थना करनेपर भी बलात्कारसे उनका शिर काटकर ले गये ॥११-१२॥

रेणुका दुःखशोकार्ता निघ्नत्यात्मानमात्मना ।

राम रामेहि तातेहि विचुक्रोशोच्चकैः सती ॥१३॥

तदुपश्रुत्य दूरस्थो हा रामेत्यार्तवत्स्वनम्[6] ।

तब दुःख और शोकसे व्याकुल सती रेणुका स्वयं ही अपना शरीर कूटती हुई 'हे राम ! हे राम ! हे तात ! शीघ्र आओ' इस प्रकार जोर-जोरसे चिल्लाने लगी ॥१३॥ उस समय दूरहीसे 'हा राम !' ऐसा आर्त्तनाद सुनकर परशुरामजी बड़ी शीघ्रतासे आश्रमपर

१. तेनोक्ताः पुत्रकाः पापा हन्यतां ते न । २. सः सुतः । ३. अर्जुनस्य । ४. न्तश्च पि० । ५. बान्धवाः । ६. स्वरम् ।

त्वरयाश्रममासाद्य ददृशे पितरं हतम् ॥१४॥
तद्दुःखरोषामर्षार्तिशोकवेगविमोहितः ।
हा तात साधो धर्मिष्ठ त्यक्त्वास्मान्स्वर्गतो भवान् ॥
विलप्यैवं पितुर्देहं निधाय भ्रातृषु स्वयम् ।
प्रगृह्य परशुं रामः क्षत्रान्ताय मनो दधे ॥१६॥

आये तो उन्होंने अपने पिताजीको मारे गये देखा ॥१४॥ उनके वियोगजनित दुःख तथा क्रोध, असहनशीलता, दीनता और शोकके वेगसे विमोहित हो वे 'हा तात! हा साधो! हा धर्मिष्ठ! आप हमलोगोंको छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये' इस प्रकार विलाप करने लगे, और फिर पिताका शरीर अपने भाइयोंको सौंप हाथमें परशु ले उन्होंने अपने चित्तमें क्षत्रियोंका अन्त कर डालनेका निश्चय किया ॥१५-१६॥

गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्मघ्नविहतश्रियाम् ।
तेषां[1] स शीर्षभी राजन्[2]मध्ये चक्रे महागिरिम् ॥१७॥
तद्रक्तेन नदीं घोरामब्रह्मण्यभयावहाम् ।
हेतुं कृत्वा पितृवधं क्षत्रेऽमङ्गलकारिणि ॥१८॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
स्यमन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान्नव ॥१९॥
पितुः कायेन सन्धाय शिर आदाय बर्हिषि ।
सर्वदेवमयं देवमात्मानमयजन्मखैः ॥२०॥
ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम् ॥२१॥
अन्येभ्योऽवान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः ।
आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम् ॥२२॥
ततश्चावभृथस्नानविधूताशेषकिल्बिषः ।
सरस्वत्यां ब्रह्मनद्यां रेजे व्यभ्र इवांशुमान् ॥२३॥

हे राजन्! फिर परशुरामजीने ब्रह्मघ्न राजाओंके कारण श्रीहीन हुई माहिष्मतीपुरीमें जाकर उसके बीचमें राजकुमारोंके शिरोंका एक महापर्वत खड़ा कर दिया तथा उनके रक्तसे ब्राह्मण-द्रोहियोंको भय उपजानेवाली एक घोर नदी बहा दी। इस प्रकार क्षत्रियोंके अत्याचारी हो जानेपर प्रभु परशुरामजीने पिताके वधको ही हेतु बनाकर इक्कीस बार सम्पूर्ण पृथिवीको क्षत्रियशून्य कर दिया और स्यमन्तपञ्चकक्षेत्रमें रुधिर-रूप जलके नौ तालाब बना दिये ॥१७-१९॥ तदनन्तर अपने पिताका शिर लाकर उसे यज्ञमें उनके शरीरसे जोड़कर अनेकों यज्ञोंद्वारा सर्वदेवमय सर्वात्मा श्रीहरिका यजन किया ॥२०॥ उन यज्ञोंमें उन्होंने होताको पूर्व दिशा, ब्रह्माको दक्षिण दिशा, अध्वर्युको पश्चिम दिशा और उद्गाताको उत्तर दिशा दक्षिणामें दे दी ॥२१॥ इसी प्रकार अन्य ऋत्विजोंको अग्निकोण आदि विदिशाएँ दीं, कश्यपजीको मध्य भूमि दी, उपद्रष्टाको आर्यावर्त्त देश दिया और सदस्योंको अन्यान्य देश दिये ॥२२॥ तदनन्तर अवभृथस्नान-द्वारा सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो वे ब्रह्मनदी सरस्वतीमें मेघावरणहीन सूर्यके समान सुशोभित होने लगे ॥२३॥

स्वदेहं जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम् ।
ऋषीणां मण्डले सोऽभूत्सप्तमो रामपूजितः ॥२४॥
जामदग्न्योऽपि भगवान्रामः कमललोचनः ।
आगामिन्यन्तरे राजन्वर्तयिष्यति वै बृहत् ॥२५॥

फिर परशुरामजीसे पूजित महर्षि जमदग्नि भी अपना स्मृतिस्वरूप (सङ्कल्पमय) शरीर ग्रहण कर कश्यपादि ऋषियोंके मण्डलमें सातवें ऋषि होकर स्थित हुए ॥२४॥ हे राजन्! जमदग्निनन्दन कमल-नयन भगवान् परशुरामजी भी आगामी मन्वन्तरमें [सप्तर्षियोंमें रहकर] वेदका प्रचार करेंगे ॥२५॥

---

१. तस्यां । २. राज्ञां ।

आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः ।
उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥२६॥

वे इस समय भी सब प्रकारका दण्ड त्यागकर शान्त-चित्तसे महेन्द्रपर्वतपर विराजमान हैं; वहाँ सिद्ध, गन्धर्व और चारणगण उनका चरित्र गान करते हैं ॥२६॥

एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान्हरिरीश्वरः[1] ।
अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन्बहुशो नृपान् ॥२७॥

हे राजन् ! इस प्रकार विश्वात्मा विश्वेश्वर भगवान् हरिने भृगुकुलमें अवतीर्ण हो पृथिवीके भारभूत राजाओंका अनेकों बार वध किया ॥२७॥

गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः ।
तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम् ॥२८॥

महाराज गाधिसे प्रज्वलित अग्निके समान परम तेजस्वी विश्वामित्रजीका जन्म हुआ, जिन्होंने अपने तपोबलसे क्षत्रियत्वको त्यागकर ब्रह्मतेज प्राप्त कर लिया था ॥ २८ ॥

विश्वामित्रस्य चैवासन्पुत्रा एकशतं नृप ।
मध्यमस्तु मधुच्छन्दा मधुच्छन्दस एव ते ॥२९॥

हे राजन् ! विश्वामित्रजीके सौ पुत्र थे । उनमें बिचले पुत्रका नाम मधुच्छन्दा था; इसलिये वे सभी मधुच्छन्दस् कहलाते थे ॥ २९ ॥

पुत्रं कृत्वा शुनःशेपं देवरातं च भार्गवम् ।
आजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम् ॥३०॥

विश्वामित्रजीने भृगुकुलमें उत्पन्न हुए [अपने भानजे तथा] अजीगर्तके पुत्र शुनःशेपको, जो देवरात भी कहलाता था, अपना पुत्र मानकर अपने औरस पुत्रोंसे कहा कि इसे तुम अपना बड़ा भाई मानो ॥ ३० ॥

यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीतः पुरुषः पशुः ।
स्तुत्वा देवान्प्रजेशादीन्मुमुचे पाशबन्धनात् ॥३१॥

यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु[2] तापसः ।
देवरात इति ख्यातः शुनःशेपः[3] स भार्गवः ॥३२॥

जिसे हरिश्चन्द्रके यज्ञमें पुरुषपशुरूपसे मोल लिया गया था और वहाँ प्रजापति आदि देवताओंकी स्तुति कर जिसे विश्वामित्रजीने पाश-बन्धनसे छुड़ाया था, तथा जो यज्ञमें देवताओंद्वारा दिया जानेके कारण गाधिकुलमें 'देवरात' नामसे प्रसिद्ध तपस्वी हुआ वही यह भृगुवंशी शुनःशेप था ॥ ३१-३२ ॥

ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत् ।
अशपत्तान्मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः ॥३३॥

मधुच्छन्दाओंमें जो ज्येष्ठ थे उन्हें विश्वामित्रजीका यह कथन अच्छा नहीं लगा; अतः मुनिने क्रोधित होकर उन्हें शाप दिया कि "रे दुष्टो ! तुम म्लेच्छ हो जाओ" ॥ ३३ ॥

स होवाच मधुच्छन्दाः सार्धं पञ्चाशता ततः ।
यन्नो भवान्संजानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम् ॥३४॥

तब अपनेसे छोटे पचास भाइयोंके सहित मधुच्छन्दाने कहा, "आप हमें जैसी आज्ञा करते हैं हम उसीका अनुसरण करेंगे" ॥ ३४ ॥

ज्येष्ठं मन्त्रदृशं चक्रुस्त्वामन्वञ्चो[4] वयं स्म हि ।
विश्वामित्रः सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ ।
ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त[5] माम् ॥३५॥

और यह कहकर कि 'हम सब तुम्हारे अनुयायी हैं' उन्होंने मन्त्रद्रष्टा देवरातको अपना बड़ा भाई मान लिया । तब विश्वामित्रजीने उन पुत्रोंसे कहा—"तुमने [मेरी बात मानकर] मेरे सम्मानकी रक्षा करते हुए मुझे पुत्रवान् किया है, इसलिये तुम भी पुत्रवान् होगे ॥३५॥

१. हरिरव्ययः । २. देवीगाथासु । ३. पस्तु । ४. त्रस्तु ताना० । ५. वीरभावकसत्तमाः ।

एष वः कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित ।
अन्ये चाष्टकहारीतजयक्रतुमदादयः ॥३६॥
एवं कौशिकगोत्रं तु विश्वामित्रैः पृथग्विधम् ।
प्रवरान्तरमापन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितम् ॥३७॥

हे कुशिकगण ! मेरा पुत्र यह वीर देवरात भी तुम्हारे ही गोत्रमें है, तुम इसका अनुगमन करो ।" हे राजन् ! इनके सिवा विश्वामित्रजीके अष्टक, हारीत, जय और क्रतुमान् आदि और भी पुत्र थे ॥ ३६ ॥ इस प्रकार विश्वामित्रजीकी सन्तानोंद्वारा कौशिकगोत्रमें कई भेद हो गये । तथा इस प्रकार [देवरातको बड़ा माननेके कारण] उस गोत्रका दूसरा ही प्रवर हो गया ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे[1]
षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सतरहवाँ अध्याय

क्षत्रवृद्ध, रजि, रम्भ और अनेनाके वंशका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच[2]

यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन्सुताः ।
नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी[3] रम्भश्च वीर्यवान् ॥ १ ॥
अनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रवृधोऽन्वयम् ।
क्षत्रवृद्धसुतस्यासन्सुहोत्रस्यात्मजास्त्रयः ॥ २ ॥
काश्यः कुशो गृत्समद इति गृत्समदादभूत् ।
शुनकः शौनको यस्य बह्वृचप्रवरो मुनिः ॥ ३ ॥
काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमःपिता ।
धन्वन्तरिर्दैर्घतम आयुर्वेदप्रवर्तकः ॥ ४ ॥
यज्ञभुग्वासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः ।
तत्पुत्रः केतुमानस्य जज्ञे भीमरथस्ततः ॥ ५ ॥
दिवोदासो द्युमांस्तस्मात्प्रतर्दन इति स्मृतः ।
स एव शत्रुजिद्वत्स ऋतध्वज इतीरितः ।
तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः ॥ ६ ॥
षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च ।
नालर्कादपरो राजन्[4]मेदिनीं बुभुजे युवा ॥ ७ ॥
अलर्कात्सन्ततिस्तस्मात्सुनीथोऽथ सुकेतनः[5] ।
धर्मकेतुः सुतस्तस्मात्सत्यकेतुरजायत ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पुरूरवाका जो आयुनामक पुत्र था उसके नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजि, वीर्यवान् रम्भ और अनेना ये पाँच पुत्र हुए । उनमेंसे क्षत्रवृद्धके वंशका वर्णन सुनो । क्षत्रवृद्धके पुत्र सुहोत्रके काश्य, कुश और गृत्समदनामक तीन पुत्र थे । गृत्समदका पुत्र शुनक हुआ और उसके ऋग्वेदियोंमें श्रेष्ठ मुनिवर शौनकका जन्म हुआ ॥ १-३ ॥ काश्यका पुत्र काशि था, उसका पुत्र दीर्घतमाका पिता राष्ट्र हुआ और दीर्घतमाके आयुर्वेदके प्रवर्त्तक धन्वन्तरिजी उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥ वे यज्ञभागके भोक्ता और भगवान् वासुदेवके अंश थे तथा अपने स्मरणमात्रसे ही सब प्रकारके रोगोंको दूर कर देनेवाले थे । उनका पुत्र केतुमान् था, केतुमान्के भीमरथका जन्म हुआ, भीमरथसे दिवोदास और दिवोदाससे द्युमान् हुआ जो प्रतर्दन कहा जाता है और हे वत्स ! वही शत्रुजित्, ऋतध्वज और कुवलयाश्व नामोंसे भी प्रसिद्ध है । उस द्युमान्से ही अलर्क आदि पुत्र हुए ॥ ५-६ ॥ हे राजन् ! अलर्कके सिवा और किसी राजाने छियासठ सहस्र वर्षतक युवा रहकर पृथिवीका राज्य नहीं भोगा ॥ ७ ॥ अलर्कसे सन्ततिका जन्म हुआ, उससे सुनीथ, सुनीथसे सुकेतन, सुकेतनसे धर्मकेतुनामक पुत्र हुआ और उससे सत्यकेतुका जन्म हुआ ॥ ८ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें इससे आगे 'परशुरामचरितं नाम' इतना अधिक पाठ है । २. बादरायणिरुवाच । ३. रजिरनाभश्च । ४. राजा । ५. सुतोत्तमः ।

धृष्टकेतुः सुतस्तस्मात्सुकुमारः क्षितीश्वरः ।
वीतिहोत्रस्य भर्गोऽतो भार्गभूमिरभून्नृपः ॥ ९ ॥

सत्यकेतुका पुत्र धृष्टकेतु हुआ, उससे पृथिवीपति सुकुमारका जन्म हुआ, सुकुमारसे वीतिहोत्र, वीतिहोत्रके भर्ग और भर्गके राजा भर्गभूमि उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥

इतीमे काशयो भूपाः क्षत्रवृद्धान्वयायिनः ।
रम्भस्य[1] रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः[2] ॥१०॥
तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे शृणु वंशमनेनसः ।
शुद्धस्ततः[3] शुचिस्तस्मात्त्रिककुद्धर्मसारथिः ॥११॥
ततः शान्तरयो जज्ञे कृतकृत्यः स आत्मवान् ।
रजेः पञ्चशतान्यासन्पुत्राणाममितौजसाम् ॥१२॥
देवैरभ्यर्थितो दैत्यान्हत्वेन्द्रायाददाद्दिवम् ।
इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्त्वा गृहीत्वा चरणौ रजेः ॥१३॥
आत्मानमर्पयामास प्रह्लादाद्यरिशङ्कितः ।
पितर्युपरते पुत्रा याचमानाय नो ददुः ॥१४॥
त्रिविष्टपं महेन्द्राय यज्ञभागान्समाददुः ।
गुरुणा हूयमानेऽग्नौ बलभित्तनयान्रजेः ॥१५॥
अवधीद्भ्रंशितान्मार्गान्न कश्चिदवशेषितः ।
कुशात्प्रतिः क्षात्रवृद्धात्सञ्जयस्तत्सुतो जयः ॥१६॥

ये सब क्षत्रवृद्धके वंशमें काशिसे उत्पन्न नृपतिगण हुए । रम्भके रभसनामक पुत्र हुआ, उससे गम्भीर और उससे अक्रिय हुआ ॥ १० ॥ उसकी स्त्रीसे ब्राह्मणसन्तति हुई । अब अनेनाका वंश सुनो । अनेनाका पुत्र शुद्ध हुआ, उससे शुचि, शुचिसे त्रिककुद् और त्रिककुद्से धर्मसारथि हुआ ॥ ११ ॥ धर्मसारथिसे शान्तरयका जन्म हुआ । वह कृतकृत्य और आत्मज्ञानी था । [इसलिये उसने सन्तान उत्पन्न नहीं की] । हे राजन् ! आयुके पुत्र रजिके अत्यन्त तेजस्वी पाँच सौ पुत्र थे ॥१२॥ रजिने देवताओंके प्रार्थना करनेपर दैत्योंका वध किया और इन्द्रको स्वर्गलोक दिया । किन्तु प्रह्लाद आदि अपने शत्रुओंसे भयभीत रहनेके कारण इन्द्रने वह स्वर्ग फिर रजिको ही लौटाकर उसके चरण पकड़कर आत्मसमर्पण कर दिया [अर्थात् अपनी रक्षाका भार रजिको ही सौंप दिया] । तदनन्तर पिता (रजि) के मर जानेपर उसके पुत्रोंने इन्द्रके माँगनेपर भी उसे स्वर्ग नहीं लौटाया और स्वयं ही यज्ञोंके भाग भी भोगने लगे । तब गुरु बृहस्पतिजीके [अभिचारविधिसे] अग्निमें आहुति देनेपर इन्द्रने धर्ममार्गसे भ्रष्ट हुए रजिपुत्रोंको मार डाला । उनमेंसे कोई भी नहीं बचा । क्षत्रवृद्धके वंशज कुशसे प्रति और प्रतिसे सञ्जयका जन्म हुआ तथा सञ्जयसे जय उत्पन्न हुआ ॥ १३–१६ ॥

ततः कृतः कृतस्यापि जज्ञे हर्यवनो नृपः ।
सहदेवस्ततो हीनो जयसेनस्तु तत्सुतः ॥१७॥
सङ्कृतिस्तस्य च[4] जयः क्षत्रधर्मा महारथः ।
क्षत्रवृद्धान्वया भूपाः शृणु वंशं च नाहुषात् ॥१८॥

जयसे कृत, कृतसे राजा हर्यवन, हर्यवनसे सहदेव, सहदेवसे हीन और हीनसे जयसेननामक पुत्र हुआ ॥ १७ ॥ उसके संकृति, संकृतिके जय तथा जयके महारथी क्षत्रधर्माका जन्म हुआ । ये सब क्षत्रवृद्धकी सन्तानमें हुए । अब नहुषसे उत्पन्न हुए राजाओंका वर्णन सुनो ॥१८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे चन्द्र-
वंशानुवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

---

१. नाभस्य । २. श्चक्रकस्ततः । ३. शुद्धः शुचिस्ततस्तस्मा० । ४. द्यवि० । ५. तनयः क्षत्र० । ६. आयुर्वंशः सत०।

अठारहवाँ अध्याय

ययाति-चरित ।

श्रीशुक उवाच

यतिर्ययातिः संयातिरायतिर्वियतिः कृतिः ।
षडिमे नहुषस्यासन्निन्द्रियाणीव देहिनः ॥ १ ॥
राज्यं नैच्छद्यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित् ।
यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते ॥ २ ॥
पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणाद्द्विजैः।
प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः ॥ ३ ॥
चतसृष्वादिशद्दिक्षु भ्रातॄन्भ्राता यवीयसः ।
कृतदारो जुगोपोर्वीं काव्यस्य वृषपर्वणः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जिस प्रकार देहधारी जीवके इन्द्रियाँ होती हैं उसी प्रकार नहुषके यति, ययाति, संयाति, आयति, वियति और कृति ये छः पुत्र थे ॥ १ ॥ जिसमें प्रविष्ट होकर मनुष्य आत्मतत्त्वको नहीं जान सकता उस राज्यका परिणाम जाननेवाले यतिने पिताका दिया हुआ राज्य नहीं लेना चाहा ॥ २ ॥ अतः इन्द्राणीके साथ भोग करनेकी अभिलाषाके कारण ब्राह्मणोंद्वारा पिता नहुषके स्थानभ्रष्ट कर दिये जानेपर और उसके अजगरयोनिको प्राप्त हो जानेपर उसकी जगह ययाति राजा हुआ ॥ ३ ॥ उसने अपने चारों छोटे भाइयोंको चारों दिशाओंमें नियुक्त कर दिया और शुक्राचार्यजी तथा वृषपर्वाकी कन्याओंको अपनी स्त्री बनाकर पृथिवीका पालन करने लगा ॥ ४ ॥

राजोवाच

ब्रह्मर्षिर्भगवान्काव्यः क्षत्रबन्धुश्च नाहुषः ।
राजन्यविप्रयोः कस्माद्विवाहः प्रतिलोमकः ॥ ५ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे मुने ! भगवान् शुक्राचार्यजी तो ब्राह्मण थे और ययाति क्षत्रिय था; फिर यह क्षत्रिय-वर और ब्राह्मण-कन्याका विधि-विपरीत विवाह कैसे हुआ ? ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

एकदा दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा नाम कन्यका ।
सखीसहस्रसंयुक्ता गुरुपुत्र्या च भामिनी ॥ ६ ॥
देवयान्या पुरोद्याने पुष्पितद्रुमसङ्कुले ।
व्यचरत्कलगीतालिनलिनीपुलिनेऽबला ॥ ७ ॥
ता जलाशयमासाद्य कन्याः कमललोचनाः ।
तीरे न्यस्य दुकूलानि विजहुः सिञ्चतीर्मिथः ॥ ८ ॥
वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं सह देव्या वृषस्थितम् ।
सहसोत्तीर्य वासांसि पर्यधुर्व्रीडिताः स्त्रियः ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—एक बार गुरुपुत्री देवयानीके सहित दानवराज वृषपर्वाकी मानिनी कन्या शर्मिष्ठा अपनी सहस्रों सखियोंको साथ लिये, फूले-फले वृक्षोंसे पूर्ण नगरोद्यानमें मधुकरोंकी मनोहर गुञ्जारसे युक्त कमलोंसे भरे हुए जलाशयके तटपर विचर रही थी ॥ ६-७ ॥ वे कमललोचना कन्याएँ उस जलाशयके पास पहुँचकर उसके तीरपर अपनी साड़ियाँ रख आपसमें जल उलीचती हुई विहार करने लगीं ॥ ८ ॥ इतनेहीमें देवी पार्वतीजीके सहित श्रीमहादेवजीको बैलपर चढ़कर जाते देख उन अबलाओंने लज्जित हो सहसा सरोवरसे निकलकर अपने-अपने वस्त्र पहन लिये ॥ ९ ॥

१. या० । २. भ्राता भ्रातॄन् यवी० । ३. धुर्लज्जिताः ।

शर्मिष्ठाजानती वासो गुरुपुत्र्याः समव्ययत् ।
स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत् ॥१०॥
अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसाम्प्रतम् ।
अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे ॥११॥
यैरिदं तपसा सृष्टं मुखं पुंसः परस्य ये ।
धार्यते यैरिह ज्योतिः शिवः पन्थाश्च दर्शितः ॥१२॥
यान्वन्दन्त्युपतिष्ठन्ते लोकनाथाः सुरेश्वराः ।
भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिकेतनः ॥१३॥
वयं तत्रापि भृगवः शिष्योऽस्या नः पितासुरः ।
अस्मद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवासती ॥१४॥

इस समय शर्मिष्ठाने बिना जाने अपने समझकर गुरुपुत्रीके वस्त्र पहन लिये। तब देवयानीने अति कुपित होकर इस प्रकार कहा—॥१०॥ "अहो ! इस दासीका यह अयोग्य व्यवहार तो देखो ! इसने, जैसे कुतिया यज्ञकी हवि ले जाय उसी प्रकार हमारे धारण करनेयोग्य वस्त्रको स्वयं पहन लिया है ॥११॥ जिन्होंने अपने तपोबलसे इस सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न किया है, जो परमपुरुष परमात्माके मुखस्वरूप हैं, जो अपने हृदयमें ज्योतिस्वरूप परब्रह्मको धारण किये रहते हैं, जिन्होंने परमकल्याणमय वेदमार्ग प्रदर्शित किया है ॥१२॥ जिनका लोकपाल तथा देवेश्वरगण भी वन्दन और पूजन करते हैं, यही नहीं, सर्वात्मा त्रिलोकपावन लक्ष्मीपति श्रीनारायण भी जिनकी स्तुति करते हैं ॥१३॥ उन ब्राह्मणोंमें भी हम भृगुवंशी हैं और इसका असुरजातीय पिता हमारा शिष्य है; तब भी जिस प्रकार शूद्र वेद पढ़ने लगे उसी प्रकार इस दुष्टाने हमारे पहननेयोग्य वस्त्रको स्वयं पहन लिया !" ॥१४॥

एवं शपन्तीं शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभाषत ।
रुषा श्वसन्त्युरङ्गीव धर्षिता दष्टदच्छदा ॥१५॥
आत्मवृत्तमविज्ञाय कत्थसे बहु भिक्षुकि ।
किं न प्रतीक्षसेऽस्माकं गृहान्बलिभुजो यथा ॥१६॥
एवंविधैः सुपरुषैः क्षिप्त्वाचार्यसुतां सतीम् ।
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत्कूपे वासः आदाय मन्युना ॥१७॥

तब इस प्रकार कुवचन बोलती हुई गुरुपुत्रीसे चोट खायी हुई सर्पिणीके समान क्रोधसे दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई शर्मिष्ठा अपना अधरपुट दातोंसे दबाये हुए इस प्रकार कहने लगी—॥१५॥ "अरी भिक्षुकि ! तू अपनी बात न जाननेके कारण ही इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बना रही है। अरी ! बलिभोजी [कुत्तों या कौओं] के समान क्या तू हमारे घरोंकी ओर नहीं देखती रहती ?" ॥१६॥ ऐसे ही और भी अनेकों कटुवाक्योंसे उस साध्वी गुरुपुत्रीका तिरस्कार कर शर्मिष्ठाने क्रोधवश उसके वस्त्र छीनकर उसे कुएँमें ढकेल दिया ॥१७॥

तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन् ।
प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह ॥१८॥
दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः ॥१९॥

तदनन्तर, शर्मिष्ठाके घर चले जानेपर राजा ययाति मृगया करता हुआ दैवयोगसे जलके लिये उस कुएँपर आया और वहाँ देवयानीको देखा ॥१८॥ तब दयालु राजाने उस वस्त्रहीनाको अपना दुपट्टा दे अपने हाथसे उसका हाथ पकड़कर कुएँसे बाहर निकाल लिया ॥१९॥

१-च साम्प्रतम् । २- वासश्चादा० ।

तं वीरमाहौशनसी प्रेमनिर्भरया गिरा ।
राजंस्त्वया गृहीतो मे पाणिः परपुरञ्जय ॥२०॥
हस्तग्राहो परो मा भूद्गृहीतायास्त्वया हि मे ।
एष ईशकृतो वीर सम्बन्धो नौ न पौरुषः ।
यदिदं कूपलग्नाया भवतो दर्शनं मम ॥२१॥
न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज ।
कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद्यमशपं पुरा ॥२२॥
ययातिरनभिप्रेतं दैवोपहृतमात्मनः[1] ।
मनस्तु[2] तद्गतं बुद्ध्वा प्रतिजग्राह तद्वचः ॥२३॥
गते राजनि सा वीरे तत्र स्म रुदती पितुः ।
न्यवेदयत्ततः सर्वमुक्तं शर्मिष्ठया कृतम् ॥२४॥
दुर्मना भगवान्काव्यः पौरोहित्यं विगर्हयन् ।
स्तुवन्वृत्तिं च कापोतीं दुहित्रा स ययौ पुरात् ॥२५॥
वृषपर्वा तमाज्ञाय प्रत्यनीकविवक्षितम् ।
गुरुं प्रसादयन्मूर्ध्ना पादयोः पतितः पथि ॥२६॥
क्षणार्धमन्युर्भगवान् शिष्यं व्याचष्ट भार्गवः ।
कामोऽस्याः क्रियतां राजन्नैनां[3] त्यक्तुमिहोत्सहे॥२७॥
तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम् ।
पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु ॥२८॥

तब शुक्रसुता देवयानीने वीरवर ययातिसे प्रेमगर्भित वाणीमें कहा—"हे शत्रुओंकी राजधानीको जीतनेवाले राजन् ! तुमने मेरा हाथ पकड़ा है ॥२०॥ इस प्रकार तुम्हारेद्वारा गृहीत होनेपर अब कोई अन्य पुरुष मेरा पाणिग्रहण न करे । हे वीर ! इस समय कुएँमें गिरी होनेपर मुझे जो अकस्मात् आपका दर्शन हुआ सो हमारा यह सम्बन्ध मनुष्यकृत नहीं बल्कि ईश्वरका ही किया हुआ है ॥२१॥ हे महाबाहो ! पूर्वकालमें, जिसे मैंने शाप दिया था उस बृहस्पतिकुमार कचके शापसे मेरा पाणिग्रहण करनेवाला ब्राह्मण नहीं होगा"* ॥२२॥ तब ययातिने [शास्त्रप्रतिकूल होनेके कारण] अनिच्छित किन्तु दैववश प्राप्त हुए देवयानीके भाषणको सुनकर और अपने चित्तको उसकी ओर प्रवृत्त जानकर उसका वचन स्वीकार कर लिया ॥२३॥

तत्पश्चात् वीरवर राजा ययातिके चले जानेपर देवयानीने रोते-रोते अपने पिताके पास जाकर वह सब वृत्तान्त सुना दिया जैसा-जैसा कि शर्मिष्ठाने कहा और किया था ॥२४॥ इससे भगवान् शुक्राचार्यजी चित्तमें दुःखित हो पुरोहिताईकी निन्दा करते और शिलोञ्छवृत्तिकी प्रशंसा करते अपनी पुत्रीके सहित उस नगरसे चल दिये ॥२५॥ तब यह जानकर कि आचार्य हमारे विपक्षियोंको जय दिलाना चाहते हैं वृषपर्वाने मार्गमें गुरुजीके चरणोंमें शिरके बल गिरकर उन्हें प्रसन्न किया ॥२६॥ भगवान् शुक्राचार्यजीका क्रोध तो आधे क्षण ही ठहरनेवाला था अतः उन्होंने अपने शिष्यसे कहा—"राजन् ! मैं देवयानीको नहीं छोड़ सकता; इसलिये तुम जैसी उसकी इच्छा हो वही करो" ॥२७॥ तब 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर खड़े हुए वृषपर्वासे देवयानीने अपना मनोगत भाव यों बताया "मैं अपने पिताके देनेपर जहाँ-कहीं जाऊँ वहीं शर्मिष्ठा अपनी सहेलियोंसहित मेरी सेवाके लिये जाय" ॥२८॥

१. मानसः । २. मनश्च । ३. न्नैतां ।

* बृहस्पतिजीका पुत्र कच शुक्राचार्यजीसे मृतसञ्जीविनी विद्या पढ़ता था । जब वह अध्ययन समाप्त करनेके अनन्तर अपने घर जाने लगा तो देवयानीने उसे वरण करना चाहा । परन्तु गुरुपुत्री होनेके कारण कचने स्वीकार नहीं किया । इसपर देवयानीने शाप दिया कि 'तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या निष्फल हो जाय ।' तब कचने भी कहा—'तेरा पति ब्राह्मण न हो' ।

स्वानां तत्सङ्कटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम् ।
देवयानीं पर्यचरत्स्त्रीसहस्रेण दासवत् ॥२९॥

तब अपने सम्बन्धियोंपर [शुक्राचार्यजीके रूठ जानेसे] संकट आता देख और उनके कार्यका गौरव समझ शर्मिष्ठा अपनी एक सहस्र सहेलियोंके सहित देवयानीकी दासीके समान सेवा करने लगी ॥२९॥

नाहुषाय सुतां दत्त्वा स ह शर्मिष्ठयोशना ।
तमाह राजञ्छर्मिष्ठामाधास्तल्पे न कर्हिचित् ॥३०॥

तदनन्तर शुक्रजीने ययातिको शर्मिष्ठाके सहित अपनी कन्या देकर कहा—"हे राजन् ! तुम अपनी सेजपर शर्मिष्ठाको कभी न आने देना" ॥३०॥

विलोक्यौशनसीं राजञ्छर्मिष्ठा सप्रजां[1] क्वचित् ।
तमेव वव्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सती ॥३१॥
राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मं चावेक्ष्य धर्मवित् ।
स्मरञ्छुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत ॥३२॥
यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥३३॥

हे राजन् ! एक बार ऋतुमती होनेपर शर्मिष्ठाने शुक्रसुता देवयानीको पुत्रवती देख अपनी सहेलीके स्वामी ययातिसे एकान्तमें सम्भोगके लिये प्रार्थना की ॥३१॥ तब राजपुत्रीद्वारा सन्तानके लिये प्रार्थना की जानेपर धर्मज्ञ ययातिने अपना धर्म समझकर शुक्राचार्यजीका वचन स्मरण रहते हुए भी दैवका ही अनुसरण किया ॥३२॥ इस प्रकार देवयानी-के यदु और तुर्वसु तथा वृषपर्वाकुमारी शर्मिष्ठाके द्रुह्यु, अनु एवं पूरुनामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥३३॥

गर्भसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय मानिनी ।
देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्च्छिता ॥३४॥
प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन् ।
न प्रसादयितुं शेके पादसंवाहनादिभिः ॥३५॥
शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष ।
त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥३६॥

जब मानिनी देवयानीको विदित हुआ कि शर्मिष्ठाके मेरे पतिद्वारा ही गर्भ रहा था तो वह क्रोधातुर होकर अपने पिताके घर चल दी ॥३४॥ कामी ययाति भी अनुनय-विनयसे मनाता हुआ अपनी प्रियाके पीछे चला; किन्तु वह चरणस्पर्शादि करके भी उसे प्रसन्न न कर सका ॥३५॥ शुक्राचार्यजीने अति कुपित होकर कहा—"रे स्त्रीकामी मन्दमति असत्पुरुष ! तुझे मनुष्योंको कुरूप कर देनेवाली वृद्धावस्था प्राप्त हो" ॥३६॥

ययातिरुवाच

अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन्दुहितरि स्म ते ।
व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति ॥३७॥

ययातिने कहा—ब्रह्मन् ! मैं आपकी पुत्रीके साथ विषय-भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ । [इससे आप मेरा ही नहीं अपनी कन्याका भी अनिष्ट कर रहे हैं । तब शुक्रने कहा—] "अच्छा, जो प्रसन्नतासे तुम्हें अपना यौवन दे उससे अपनी वृद्धावस्था बदल लो" ॥३७॥

इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं ज्येष्ठमवोचत ।
यदो तात प्रतीच्छेमां जरां देहि निजं वयः ॥३८॥

शुक्राचार्यजीसे ऐसी व्यवस्था पाकर ययातिने अपने ज्येष्ठ पुत्र यदुसे कहा—"वत्स यदो ! तुम अपने नानाकी दी हुई मेरी यह जरावस्था ले लो और

[1] सुप्रजां ।

मातामहकृतां वत्स न तृप्तो विषयेष्वहम् ।
वयसा भवदीयेन रंस्ये कतिपयाः समाः ॥३९॥

यदुरुवाच

नोत्सहे जरसा स्थातुमन्तरा प्राप्तया तव ।
अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः ॥४०॥

तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चानुश्च भारत ।
प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा ह्यनित्ये नित्यबुद्धयः ॥४१॥

अपृच्छत्तनयं पूरुं वयसोनं गुणाधिकम् ।
न त्वमग्रजवद्वत्स मां प्रत्याख्यातुमर्हसि ॥४२॥

पूरुरुवाच

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान् ।
प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद्विन्दते परम् ॥४३॥

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात्प्रोक्तकारी तु मध्यमः ।
अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ॥४४॥

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः ।
सोऽपि तद्वयसा कामान्यथावज्जुजुषे नृप ॥४५॥

सप्तद्वीपपतिः सम्यक् पितृवत्पालयन्प्रजाः ।
यथोपजोषं विषयाञ्जुजुषेऽव्याहतेन्द्रियः ॥४६॥

देवयान्यप्यनुदिनं मनोवाग्देहवस्तुभिः ।
प्रेयसः परमां प्रीतिमुवाह प्रेयसी रहः ॥४७॥

अयजद्यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
सर्वदेवमयं देवं सर्ववेदमयं हरिम् ॥४८॥

मुझे अपना यौवन दे दो, क्योंकि बेटा, मैं अभी विषयोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ; अतः तुम्हारी आयु पाकर मैं कुछ वर्ष और रमण करूँगा'' ॥३८-३९॥

यदुने कहा—पिताजी ! मैं बीचहीमें प्राप्त हुई आपकी वृद्धावस्था लेकर जीवित नहीं रहना चाहता, क्योंकि मनुष्य विषय-सुखका अनुभव किये बिना उनकी ओरसे विरक्त नहीं हो सकता ॥४०॥ हे भारत ! इसी प्रकार तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुने भी पिताके पूछनेपर उसकी प्रार्थनाको अस्वीकृत कर दिया, क्योंकि वे धर्मको न जाननेवाले और देहादि अनित्य पदार्थोंको ही नित्य माननेवाले थे ॥४१॥ तब राजाने अवस्थामें सबसे छोटे किन्तु गुणोंमें सबसे अधिक अपने पूरु-नामक पुत्रसे पूछा और कहा—''बेटा ! अपने बड़े भाइयोंके समान तुझे मेरी बात अस्वीकृत नहीं करनी चाहिये'' ॥४२॥

पूरु बोला—हे नरेन्द्र ! जिसकी कृपासे मनुष्य परमपद प्राप्त कर लेता है अपने शरीरको उत्पन्न करनेवाले उस पिताका इस लोकमें कौन बदला चुका सकता है ? ॥४३॥ जो पुत्र पिताके चिन्तित कार्यको करता है वह उत्तम है, जो कहनेपर करता है वह मध्यम है, जो अश्रद्धापूर्वक करता है वह अधम है और जो किसी प्रकार नहीं करता वह तो अपने पिताका मल-मूत्र विष्ठा ही है ॥४४॥

हे राजन् ! ऐसा कह पूरुने प्रसन्नतापूर्वक पिताकी वृद्धावस्था ग्रहण कर ली और राजा ययाति भी उसका यौवन पाकर यथायोग्य विषयसेवन करने लगा ॥४५॥ उसने सातों द्वीपका आधिपत्य पाकर प्रजाका पिताके समान पालन करते हुए इन्द्रियोंकी शक्तिको अक्षुण्ण रखते हुए यथेच्छ विषयभोग किया ॥४६॥ उसकी प्राणप्रिया देवयानी भी एकान्तमें मन, वाणी, देह और अन्य वस्तुओंसे अपने प्रियतमको नित्यप्रति परम प्रसन्न रखने लगी ॥४७॥ राजा ययातिने सम्पूर्ण वेदोंके प्रतिपाद्य सर्वदेवमय यज्ञपुरुष भगवान् हरिका बहुतसे बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे यजन किया ॥४८॥

१. द्रुह्यो । २. च्छत्स ततः । ३. च । ४. वद्बुभुजे । ५. वाग्गृहव० ।

यस्मिन्निदं विरचितं व्योम्नीव जलदावलिः ।
नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः ॥४९॥
तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम् ।
नारायणमणीयांसं निराशीरयजत्प्रभुम् ॥५०॥
एवं वर्षसहस्राणि मनःषष्ठैर्मनःसुखम् ।
विदधानोऽपि नातृप्यत्सार्वभौमः कदिन्द्रियैः ॥५१॥

जिसमें, आकाशमें मेघमालाके समान रचा हुआ यह जगत् स्वप्न, माया, और मनोरथजनित पदार्थोंके समान कभी नानारूपसे भासता है और कभी नहीं भासता उसी सर्वभूतान्तर्यामी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वासुदेव श्रीनारायणको हृदयमें धारण कर उसने निष्काम-भावसे भगवान्‌की आराधना की ॥४९-५०॥ इस प्रकार जिनमें मन छठा है उन अपनी उच्छृङ्खल इन्द्रियोंसे सहस्र वर्षतक अपने मनको सुख देनेवाले भोगोंको भोगते हुए भी वह चक्रवर्ती राजा तृप्त नहीं हुआ ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवम-
स्कन्धेऽष्टादशोऽध्यायः[2] ॥१८॥
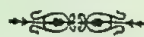
उन्नीसवाँ अध्याय

ययातिका गृहत्याग ।

श्रीशुक उवाच

स इत्थमाचरन्कामान्स्त्रैणोपह्नवमात्मनः ।
बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णो गाथामेतामगायत ॥ १ ॥
शृणु भार्गव्यमूं गाथां मद्विधाचरितां भुवि ।
धीरा यस्यानुशोचन्ति वने ग्रामनिवासिनः ॥ २ ॥
बस्त एको वने कश्चिद्विचिन्वन्प्रियमात्मनः ।
ददर्श कूपे पतितां स्वकर्मवशगामजाम् ॥ ३ ॥
तस्या उद्धरणोपायं बस्तः कामी विचिन्तयन् ।
व्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य विषाणाग्रेण रोधसी ॥ ४ ॥
सोत्तीर्य कूपात्सुश्रोणी तमेव चकमे किल ।
तया वृतं समुद्वीक्ष्य बह्वयोऽजाः कान्तकामिनीः ॥ ५ ॥
पीवानं श्मश्रुलं प्रेष्ठं[3] मीढ्वांसं याभकोविदम् ।
स एकोऽजवृषस्तासां बह्वीनां रतिवर्धनः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार स्त्रीके वशीभूत होकर भोगोंको भोगते-भोगते राजा ययातिने अपने आत्माका पतन जानकर विषयोंसे विरक्त हो एक दिन अपनी प्रियासे यह गाथा कही ॥१॥ "हे देवयानि ! पृथिवीतलपर जिसके विषयमें वनवासी जितेन्द्रिय पुरुष ['हाय ! इसका उद्धार कैसे होगा ?' इस प्रकार] शोक करते हैं ऐसे मेरे ही समान एक ग्रामनिवासीकी आचरण की हुई यह गाथा सुन ॥२॥ एक बार एक बकरेने वनमें अपने प्रिय भोगोंको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अपने कर्मवश कुएँमें गिरी हुई एक बकरी देखी ॥३॥ उस कामी बकरेने उसके बाहर निकालनेका उपाय सोचकर कुएँके पासकी भूमि अपने ही सींगोंसे खोदकर मार्ग तैयार किया ॥४॥

"उस सुन्दरी बकरीने कुएँसे निकलकर उसी बकरेको अपना पति बनाना चाहा । तब उससे वरण किये हुए उस बकरेको पुष्ट शरीर, दाढ़ी-मूछोंवाला, प्रियतम, रतिसुखदायक और मैथुनकर्ममें कुशल देख पतिकी इच्छावाली और भी बहुत-सी बकरियोंने वर लिया । इस प्रकार वह एक ही बकरा कामरूप

१. अ० । २. प्रा० प्रतिमें इससे आगे 'यायाते' इतना अंश अधिक है । ३. घोरं ।

रेमे कामग्रहग्रस्त आत्मानं नावबुध्यत ॥ ६ ॥
तमेव प्रेष्ठतमया[1] रममाणमजान्यया ।
विलोक्य कोपसंविग्ना[2] नामृष्यद्बस्तकर्म तत् ॥ ७ ॥
तं दुर्हृदं सुहृद्रूपं कामिनं क्षणसौहृदम् ।
इन्द्रियाराममुत्सृज्य स्वामिनं दुःखिता ययौ ॥ ८ ॥
सोऽपि चानुगतः स्त्रैणः कृपणस्तां प्रसादितुम् ।
कुर्वन्निडविडाकारं[3] नाशक्नोत्पथि संधितुम् ॥ ९ ॥
तस्यास्तत्र द्विजः कश्चिदजास्वाम्यच्छिनद्रुषा ।
लम्बन्तं वृषणं भूयः सन्दधेऽर्थाय योगवित् ॥१०॥
सम्बद्धवृषणः सोऽपि ह्यजया कूपलब्धया ।
कालं बहुतिथं भद्रे कामैर्नाद्यापि तुष्यति ॥११॥
तथाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः ।
आत्मानं नाभिजानामि मोहितस्तव मायया ॥१२॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥१३॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम् ।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१५॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।

पिशाचके वशीभूत होकर बहुत-सी बकरियोंका रति-सुख बढ़ाता हुआ उनके साथ रमण करने लगा और अपनी सब सुध-बुध भूल गया ॥५-६॥ उसे किसी अन्य प्रियतमा बकरीके साथ रमण करते देख उसकी पूर्व पत्नीको [जिसे उसने कुएँसे निकाला था] उसका वह कर्म सह्य न हुआ और वह क्रोधमें भरकर अत्यन्त दुःखित हो उस इन्द्रियलोलुप कामी और क्षणिक प्रीतिवाले सुहृद्रूप शत्रुको त्यागकर अपने स्वामी (पालनेवाले) के पास चल दी ॥७-८॥ तब वह बेचारा स्त्रीलम्पट दीन बकरा भी उसे मनानेके लिये मिमियाता हुआ उसके साथ चला; किन्तु उसे मार्गमें न मना सका ॥९॥

"अतः उस बकरीके स्वामीने, जो एक ब्राह्मण था, गुस्सेमें आकर उस बकरेका लटकता हुआ अण्डकोश काट डाला । किन्तु फिर उस बकरीका ही स्वार्थ साधनेके लिये उसे ठीक करनेका उपाय जाननेवाले उस द्विजने उसे फिर जोड़ दिया ॥१०॥ हे भद्रे ! इस प्रकार अण्डकोश जुड़ जानेपर वह बकरा कुएँमें मिली हुई उस बकरीके साथ बहुत समय-से नाना प्रकारके भोग भोगता हुआ अभीतक उनसे सन्तुष्ट नहीं हुआ ॥ ११ ॥ हे सुन्दर भ्रुकुटिवाली ! उसीके समान मैं भी तेरे प्रेम-पाशमें बँधकर अत्यन्त दीन हो तेरी मायासे मोहित हो जानेके कारण अपनेको भूल गया हूँ ॥ १२ ॥

"हे प्रिये ! लोकमें जितने धान्य, यव, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं वे सब मिलकर भी विषयग्रस्त पुरुषके चित्तको सन्तुष्ट नहीं कर सकते ॥ १३ ॥ विषयोंके भोगनेसे वासना कभी शान्त नहीं हो सकती बल्कि घृताहुतिसे अग्निके समान उनसे वह और भी अधिक बढ़ जाती है ॥ १४ ॥ जिस समय मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंमें राग-द्वेषयुक्त भाव नहीं करता उस समय उस समदर्शीके लिये सभी दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं ॥ १५ ॥ जो कुबुद्धियोंके लिये अत्यन्त दुस्त्यज है और शरीरके जीर्ण हो जानेपर भी जीर्ण

१. रक्तमजया । २. कामसंवि० । ३. कुर्वन् विडविडा० ।

तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥१६॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१७॥

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान्सेवतोऽसकृत् ।

तथापि चानुसवनं[2] तृष्णा तेषूपजायते ॥१८॥

तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् ।

निर्द्वन्द्वो निरहंकारश्चरिष्यामि मृगैः सह ॥१९॥

दृष्टं श्रुतमसद्[3]बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत् ।

संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान्स आत्मदृक् ॥२०॥

नहीं होती उस दुःखबहुल तृष्णाको सुखकी इच्छावाला पुरुष तुरन्त त्याग दे ॥ १६ ॥ पुरुषको अपनी माता, बहिन और पुत्रीके साथ भी एकान्तमें नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि इन्द्रिय-समुदाय बहुत प्रबल होता है, वह विचारवान्‌को भी विचलित कर देता है ॥१७॥ देखो, मुझे निरन्तर विषयसेवन करते एक सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये। फिर भी नित्यप्रति उनमें मेरी लालसा बढ़ती ही जाती है ॥ १८ ॥ इसलिये अब मैं इस विषयाशाको त्यागकर अपना चित्त परब्रह्ममें लगाकर निर्द्वन्द्व और अहङ्कारशून्य हो वनमें मृगोंके साथ विचरूँगा ॥ १९ ॥ जो पुरुष देखे और सुने हुए पदार्थोंको असत् समझकर और उनकी आसक्तिसे जन्म-मरणरूप संसारकी प्राप्ति और आत्म-नाश होता है—ऐसा जानकर उनका चिन्तन और भोग नहीं करता वही आत्मज्ञानी है" ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा नाहुषो जायां तदीयं पूरवे वयः ।

दत्त्वा स्वां जरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः ॥२१॥

दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं दक्षिणतो यदुम् ।

प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्र उदीच्यामनुमीश्वरम् ॥२२॥

भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशाम् ।

अभिषिच्याग्रजांस्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ ॥२३॥

आसेवितं वर्षपूगान्षड्वर्गं विषयेषु सः ।

क्षणेन मुमुचे नीडं जातपक्ष इव द्विजः ॥२४॥

स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग

आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः ।

परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे

लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥२५॥

हे राजन् ! अपनी पत्नी देवयानीसे इस प्रकार कह राजा ययातिने विषयोंसे विरक्त हो पूरुको उसकी युवावस्था लौटाकर उससे अपनी जरावस्था ले ली ॥ २१ ॥ फिर दक्षिण-पूर्व दिशामें द्रुह्युको, दक्षिणमें यदुको, पश्चिममें तुर्वसुको और उत्तरमें अनुको मण्डलेश्वर बना सम्पूर्ण भूमण्डलकी सम्पत्तिके योग्यतम पात्र पूरुको अपने राज्यपर अभिषिक्त किया तथा बड़े भाइयोंको उसके अधीन कर वे स्वयं वनको चले गये ॥ २२-२३ ॥ जैसे पङ्ख निकलनेपर पक्षी अपने घोंसलेको छोड़ देता है उसी प्रकार राजा ययातिने शब्दादि विषयोंमें अनेकों वर्षोंतक भोगा हुआ इन्द्रियसुख एक क्षणमें त्याग दिया ॥ २४ ॥ फिर लोकविख्यात राजा ययातिने वनमें सम्पूर्ण सङ्गोंसे छूटकर आत्मानुभवद्वारा त्रिगुण-मय लिङ्गदेहसे मुक्त हो सम्पूर्ण दोषोंसे रहित वासुदेव परब्रह्ममें तादात्म्यरूप गति प्राप्त की ॥ २५ ॥

श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः ।

स्त्रीपुंसोः स्नेहवैक्लव्यात्परिहासमिवे[4]रितम् ॥२६॥

देवयानीने भी वह कथा सुनकर उसे अपने लिये उलाहना-सा समझा । वह जान गयी कि स्त्री-पुरुषोंके स्नेहकी असारताके कारण ऐसा कहकर परिहास-सा ही किया गया है ॥ २६ ॥

१. च । २. नुदिवसं । ३. सद्विद्वान् । ४. वेहितम् ।

सा संनिवासं सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम् ।
विज्ञायेश्वरतन्त्राणां मायाविरचितं प्रभोः[1] ॥२७॥
सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी ।
कृष्णे मनः समावेश्य व्यधुनोल्लिङ्गमात्मनः ॥२८॥
नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
सर्वभूताधिवासाय शान्ताय बृहते नमः ॥२९॥

अतः उस शुक्र-कन्याने ईश्वराधीन सुहृदोंके सङ्गको प्याऊ-पर इकट्ठे हुए बटोहियोंके सहवासके समान क्षणिक और भगवान्‌की मायासे ही रचा हुआ समझ सकल संसारको स्वप्नवत् मिथ्या जान सब पदार्थोंकी आसक्ति त्याग दी और श्रीकृष्णचन्द्रमें चित्त लगाकर अपना लिङ्गदेह त्याग दिया ॥ २७-२८ ॥ [उस समय वह मन-ही-मन कहने लगी—]'सम्पूर्ण जगत्‌के रचयिता, सकल भूतोंके आश्रयस्थान, शान्तस्वरूप, सर्वव्यापक आप भगवान् वासुदेवको नमस्कार है, नमस्कार है' ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे[2]
एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

बीसवाँ अध्याय

पूरुवंशवर्णन; राजा दुष्यन्त और भरतका चरित्र ।

श्रीशुक[3] उवाच

पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत ।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे भरतनन्दन ! अब, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ है तथा जिसके वंशधर बहुत-से राजर्षि एवं ब्रह्मर्षि भी हुए हैं उस पूरुवंशका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

जन्मेजयो ह्यभूत्पूरोः प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः ।
प्रवीरोऽथ नमस्युर्वै तस्माच्चारुपदोऽभवत् ॥ २ ॥
तस्य सुद्युरभूत्पुत्रस्तस्माद्बहुगवस्ततः ।
संयातिस्तस्याहंयाती रौद्राश्वस्तत्सुतः स्मृतः ॥ ३ ॥
ऋतेयुस्तस्य कुक्षेयुः स्थण्डिलेयुः कृतेयुकः ।
जलेयुः सन्ततेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयवः ॥ ४ ॥
दशैतेऽप्सरसः पुत्रा वनेयुश्चावमः स्मृतः ।
घृताच्यामिन्द्रियाणीव मुख्यस्य जगदात्मनः ॥ ५ ॥
ऋतेयो रन्तिभारोऽभूत्त्रयस्तस्यात्मजा नृप ।
सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वोऽप्रतिरथात्मजः ॥ ६ ॥

पूरुसे जन्मेजयका जन्म हुआ, उसका पुत्र प्रचिन्वान् था, तथा उससे प्रवीर, प्रवीरसे नमस्यु और उससे चारुपद हुआ ॥ २ ॥ चारुपदका पुत्र सुद्यु हुआ, उससे बहुगव, बहुगवसे संयाति और संयातिसे अहंयाति हुआ तथा उसका पुत्र रौद्राश्व कहा जाता है ॥ ३ ॥ हे राजन् ! जिस प्रकार विश्वात्मा मुख्य प्राणसे दश इन्द्रियाँ होती हैं उसी प्रकार रौद्राश्वके घृताची अप्सरासे ऋतेयु, कुक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयु, जलेयु, सन्ततेयु, धर्मेयु, सत्येयु, व्रतेयु और सबसे छोटा वनेयु—ये दश पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४-५ ॥

हे नृप ! उनमेंसे ऋतेयुसे रन्तिभारका[4] जन्म हुआ । उसके सुमति, ध्रुव और अप्रतिरथनामक तीन पुत्र थे । उनमेंसे अप्रतिरथका पुत्र कण्व हुआ ॥६॥

१. विभोः । २. प्राचीन प्रतिमें 'यायाते' इतना अधिक पाठ है । ३. बादरायणिरुवाच । ४. रतिनारो ।

तस्य मेधातिथिस्तस्मात्प्रस्कण्वाद्या द्विजातयः ।
पुत्रोऽभूत्सुमते रैभ्यो[1] दुष्यन्तस्तत्सुतो मतः ॥ ७ ॥

उसका पुत्र मेधातिथि था, जिससे प्रस्कण्व आदि ब्राह्मणलोग उत्पन्न हुए। सुमतिका पुत्र रैभ्य हुआ और उसका पुत्र दुष्यन्त कहा जाता है ॥ ७ ॥

दुष्यन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपदं गतः ।
तत्रासीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव ॥ ८ ॥
विलोक्य सद्यो मुमुहे[2] देवमायामिव स्त्रियम् ।
बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः ॥ ९ ॥
तद्दर्शनप्रमुदितः संनिवृत्तपरिश्रमः ।
पप्रच्छ कामसन्तप्तः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥१०॥

एक बार कुछ योद्धाओंके साथ मृगयाके लिये गया हुआ राजा दुष्यन्त कण्व मुनिके आश्रमपर जा पहुँचा। वहाँ लक्ष्मीजीके समान अपनी कान्तिसे उस आश्रमको शोभायमान करनेवाली एक देवमाया-सी मनोहारिणी स्त्रीको बैठी देख राजा तत्काल मोहित हो गया और उस सुन्दरीसे वार्तालाप करने लगा ॥ ८-९ ॥ उसके दर्शनसे आनन्दित हो श्रम दूर हो जानेपर उस कामसन्तप्त राजाने हँसते-हँसते मधुर वाणीमें पूछा—॥१०॥

का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयङ्गमे ।
किं वा चिकीर्षितं त्वत्र भवत्या निर्जने वने ॥११॥
व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे ।
न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित् ॥१२॥

"हे कमललोचने ! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो ? हे मनोरमे ! इस निर्जन वनमें तुम क्या करना चाहती हो ? ॥ ११ ॥ हे सुमध्यमे ! तुम मुझे स्पष्ट ही कोई क्षत्रिय-कन्या जान पड़ती हो, क्योंकि पूरुवंशियोंका चित्त कभी अधर्ममें प्रवृत्त नहीं होता"* ॥ १२ ॥

शकुन्तलोवाच

विश्वामित्रात्मजैवाहं त्यक्ता मेनकया वने ।
वेदैतद्भगवान्कण्वो वीर किं करवाम[3] ते ॥१३॥
आस्यतां ह्यरविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणं च नः ।
भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते ॥१४॥

शकुन्तलाने कहा—मैं [मेनका अप्सरासे उत्पन्न हुई] विश्वामित्रजीकी पुत्री हूँ; मुझे मेनका वनमें छोड़ गयी थी। यह बात भगवान् कण्वको मालूम है। हे वीर ! कहिये, मैं आपका क्या कार्य करूँ ? ॥ १३ ॥ हे कमलनयन ! यहाँ विराजिये और हमारे समर्पण किये आसनादि स्वीकार कीजिये। यहाँ कुछ नीवार (वनके धान्य) हैं; उन्हें भोजन कीजिये और इच्छा हो तो [आज आश्रमपर] निवास कीजिये ॥ १४ ॥

दुष्यन्त उवाच

उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये ।
स्वयं हि वृणते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥१५॥

दुष्यन्त बोला—हे सुभ्रु ! कुशिकवंशमें उत्पन्न हुई तुम्हारा यह कथन [कि 'मैं आपका क्या कार्य करूँ ?'] उचित ही है, क्योंकि राजकन्याएँ अपने अनुरूप वरको स्वयं ही वर लिया करती हैं ॥ १५ ॥

ओमित्युक्ते[4] यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम् ।
गान्धर्वविधिना राजा देशकालविधानवित् ॥१६॥

तब शकुन्तलाके 'ठीक है' ऐसा कहकर स्वीकार करनेपर देश, काल और विधिको जाननेवाले राजा दुष्यन्तने उसके साथ धर्मानुसार गान्धर्व विधिसे विवाह कर लिया ॥ १६ ॥

१. रैतिर्दुष्य० । २. मुमुदे सद्यो । ३. वाणि । ४. क्तो ।

* अर्थात् इस समय मेरा चित्त तुममें आसक्त हो रहा है इससे मालूम होता है तुम कोई क्षत्रियकन्या हो और तुमसे मेरा सम्बन्ध होनेवाला है ।

अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे ।
श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम् ॥१७॥

तदनन्तर उस अमोघवीर्य राजर्षिने उस रानीमें अपना वीर्य स्थापित किया और दूसरे दिन सबेरे अपने नगरको चला गया। तथा शकुन्तलाने यथासमय एक पुत्र उत्पन्न किया ॥१७॥

कण्वः[1] कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः ।
बद्ध्वा मृगेन्द्रां[2]स्तरसा क्रीडति स्म स बालकः ॥१८॥

महर्षि कण्वने वनमें ही उस बालकके जातकर्मादि सभी उचित संस्कार किये। वह बालक बलात्कारसे सिंहादिको बाँधकर उनके साथ खेला करता था॥ १८ ॥

तं दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा ।
हरेरंशांशसम्भूतं भर्तुरन्तिकमागमत् ॥१९॥

तदनन्तर स्त्रियोंमें श्रेष्ठ शकुन्तला श्रीहरिके अंशसे उत्पन्न हुए उस अपरिमित बलशाली बालकको लेकर अपने पति (राजा दुष्यन्त) के पास आयी ॥१९॥

यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ ।
शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी ॥२०॥

उस समय जब राजाने उन निर्दोष पत्नी और पुत्रको स्वीकार न किया तो समस्त प्राणियोंके सुनते हुए आकाशसे एक शरीररहित वाणीने कहा ॥२०॥

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥२१॥

"माता तो धौंकनीके समान है, वास्तवमें पुत्र तो पिताहीका होता है, क्योंकि वह जिससे उत्पन्न होता है उसीका स्वरूप होता है। अतः हे दुष्यन्त ! तू इस पुत्रका पालन कर शकुन्तलाका अपमान न कर ॥ २१ ॥

रेतोधाः पुत्रो नयति नरदेव यमक्षयात् ।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥२२॥

हे नरदेव ! वीर्यसेचनद्वारा वंशकी वृद्धि करनेवाला पुत्र अपने पिताको नरकसे निकाल लेता है। शकुन्तलाने ठीक ही कहा है। इस गर्भको स्थापित करनेवाले तुम्हीं हो" ॥ २२ ॥

पितर्युपरते सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः ।
महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि ॥२३॥

हे राजन् ! पिता दुष्यन्तके परलोकवासी होनेपर वह बालक महायशस्वी चक्रवर्ती राजा हुआ। उस भगवदंशसे प्रकट हुए बालककी महिमा पृथिवीतलपर [अबतक] गायी जाती है ॥ २३ ॥

चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोशोऽस्य पादयोः ।
ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड्[3]विभुः ॥२४॥
पञ्चपञ्चाशता मेध्यैर्गङ्गा[4]यामनु वाजिभिः ।
मामतेयं पुरोधाय यमुनायामनु प्रभुः ॥२५॥
अष्टसप्ततिमेध्याश्वान्बबन्ध प्रददद्वसु ।
भरतस्य हि[5] दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः ।
सहस्रं बद्वशो यस्मिन्ब्राह्मणा गा विभेजिरे ॥२६॥

उसके दायें हाथमें चक्रका और पैरोंमें पद्मकोशका चिह्न सुशोभित था। परम समर्थ भरतने महाभिषेककी विधिसे राजाधिराजपद-पर अभिषिक्त हो ममतापुत्र दीर्घतमामुनिको पुरोहित बना एकके पीछे एक करके पचपन पवित्र अश्वमेधयज्ञ गङ्गा-तटपर किये और अठहत्तर पवित्र अश्व यमुनातटपर बाँधे* तथा बहुत-सा धन दान किया। दुष्यन्तकुमार भरतका अग्नि उत्तम गुणयुक्त स्थानमें चयन किया गया था, जिस अग्निचयनस्थानमें एक सहस्र ब्राह्मणोंने आपसमें एक-एक बद्व† (१३०८४) गौएँ बाँटी थीं ॥२४—२६॥

१. कुमारस्य वने चक्रे सर्वाः समुदिताः । २. गेन्द्रं तरसा क्रीडते स च बाल० । ३. विराड् । ४. गङ्गातोयं । ५. तु ।

* अर्थात् अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ यमुनातटपर किये ।

† चतुर्दशानां लक्षाणां सप्ताधिकशतांशकः । बद्वं चतुरशीत्यग्रसहस्राणि त्रयोदश ॥
अर्थात् चौदह लाखका [प्रायः] एक सौ सातवाँ भाग यानी तेरह हजार चौरासी 'बद्व' कहलाता है ।

त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान्बद्ध्वा विस्मापयन्नृपान् ।
दौष्यन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ ॥२७॥
मृगाञ्छुक्लदतः कृष्णान्हिरण्येन परीवृतान्[1] ।
अदात्कर्मणि मष्णारे[2] नियुतानि चतुर्दश ॥२८॥
भरतस्य महत्कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः ।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा ॥२९॥
किरातहूणान्यवनानन्ध्रान्कङ्कान्खशाञ्छकान् ।
अब्रह्मण्यान्नृपांश्चाहन्म्लेच्छान्दिग्विजयेऽखिलान् ३०
जित्वा पुरा सुरा देवान्ये रसौकांसि भेजिरे ।
देवस्त्रियो रसां नीताः प्राणिभिः पुनराहरत् ॥३१॥
सर्वकामान्दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी ।
समास्त्रिणवसाहस्रीर्दिक्षु चक्रमवर्तयत् ॥३२॥
स सम्राड् लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट्श्रियम् ।
चक्रं चास्खलितं प्राणान्[3] मृषेत्युपरराम ह ॥३३॥
तस्यासन्नृप[4] वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्रः सुसम्मताः ।
जघ्नुस्त्यागभयात्पुत्रान्नानुरूपा इतीरिते ॥३४॥
तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम् ।
मरुत्स्तोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः ॥३५॥
अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः ।
प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवासृजत् ॥३६॥

राजा भरतने यज्ञोंमें तैंतीस सौ घोड़े बाँधकर सम्पूर्ण नृपतियोंको आश्चर्यचकित कर दिया और देवताओंके ऐश्वर्यको भी नीचा दिखाकर परमपूजनीय श्रीहरिकी प्राप्ति की ॥२७॥ उसने मष्णारनामक यज्ञकार्यमें ब्राह्मणोंको सुवर्णसे विभूषित, श्वेत दाँतोंवाले तथा काले रंगके चौदह लाख हाथी दान किये ॥२८॥ जिस प्रकार कोई अपने बाहुओंसे स्वर्गको नहीं छू सकता उसी प्रकार राजा भरतके किये हुए महान् कर्मको न तो पूर्ववर्ती राजाओंने ही प्राप्त किया और न भविष्यमें होनेवाले ही प्राप्त कर सकेंगे ॥ २९ ॥ उसने दिग्विजयके समय किरात, हूण, यवन, अन्ध्र, कङ्क, खश और शक आदि सम्पूर्ण विप्रविरोधी राजाओंको मार डाला ॥ ३० ॥ पूर्वकालमें जो बलवान् असुरगण देवताओंको जीतकर रसातलमें जाकर रहने लगे थे, उस समय वे जिन देवाङ्गनाओंको रसातलमें ले गये थे उन्हें राजा भरत फिर छुड़ा लाया था ॥ ३१ ॥ उसके राज्यमें पृथिवी और आकाश प्रजाकी सकल कामनाएँ पूर्ण करते थे। इस प्रकार सत्ताईस सहस्र वर्षपर्यन्त उसने सम्पूर्ण दिशाओंका शासन किया ॥३२॥ अन्तमें वह सार्वभौम सम्राट् 'लोकपालोंका ऐश्वर्य, सार्वभौमकी सम्पत्ति, अटल अनुशासन और प्राण—ये सभी मिथ्या हैं' ऐसा निश्चय करके भोगोंसे उपरत हो गया ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! तीन विदर्भराजकन्याएँ राजा भरतकी प्रिय पत्नियाँ थीं। उन्होंने अपने पुत्रोंको, राजाके यों कहनेपर कि ये मेरे अनुरूप [अर्थात् मेरे पुत्र कहलाने योग्य] नहीं हैं, राजा हमें त्याग न दें—इस भयसे मार डाला था ॥३४॥ इस प्रकार वंशके वितथ (व्यर्थ) हो जानेपर उसने सन्तानके लिये मरुत्सोम-नामक यज्ञ किया। तब मरुद्गणने उसे भरद्वाजनामक पुत्र लाकर दिया ॥३५॥ [उसकी उत्पत्तिका प्रसंग इस प्रकार है—] एक बार बृहस्पतिजी अपने भाई (उतथ्य) की गर्भवती पत्नीसे मैथुन करनेको उद्यत हुए। तब गर्भस्थ बालक (दीर्घतमा) के रोकनेपर भी उन्होंने उसे [तू अन्धा हो जा—ऐसा) शाप देकर वीर्य छोड़ दिया ॥ ३६ ॥

१. परिष्कृतान् । २. मन्तारे । ३. पुंसां । ४. ह्यपि ।

तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशङ्किताम् ।
नामनिर्वचनं तस्य श्लोकमेनं[1] सुरा जगुः ॥३७॥
मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृहस्पते ।
यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥३८॥
चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम् ।
व्यसृजन्मरुतोऽबिभ्रन्दत्तोऽयं वितथेऽन्वये ॥३९॥

तब 'पति मेरा त्याग कर देंगे' इस भयसे [बृहस्पतिजीके वीर्यसे उत्पन्न हुए] उस बालकको छोड़नेकी इच्छावाली ममतासे देवताओंने उसके नामका निर्वचन करनेवाला यह श्लोक कहा—॥३७॥ 'अरी मूढे ! यह द्वाज (हम दोनोंसे उत्पन्न हुआ) है, अतः तू इसका भरण कर' 'बृहस्पते ! यह द्वाज (हम दोनोंसे उत्पन्न हुआ) है, अतः तुम्हीं इसका भरण करो' ऐसा कहकर इसके माता-पिता (ममता और बृहस्पतिजी) चले गये इसलिये यह बालक 'भरद्वाज' है' ॥३८॥ देवताओंके इस प्रकार कहनेपर उस बालकको [व्यभिचारजनित होनेसे] वितथ (अन्याय्य) जानकर ममताने त्याग दिया था, सो मरुद्गणने उसका पालन कर अब भरतवंशको वितथ (उच्छिन्न) होता देख राजा भरतको लाकर दिया ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे[2]
विंशोऽध्यायः ॥२०॥

इक्कीसवाँ अध्याय

भरत-वंशका वर्णन; राजा रन्तिदेवकी कथा ।

श्रीशुक उवाच

वितथस्य सुतो[3] मन्युर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः ।
महावीर्यो नरो गर्गः सङ्कृतिस्तु नरात्मजः ॥ १ ॥
गुरुश्च रन्तिदेवश्च सङ्कृतेः पाण्डुनन्दन ।
रन्तिदेवस्य हि यश इहामुत्र च गीयते ॥ २ ॥
वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः ।
निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः ॥ ३ ॥
व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल ।
घृतपायससंयावं तोयं प्रातरुपस्थितम् ॥ ४ ॥
कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वितथका पुत्र मन्यु था; उसके बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्गनामक पाँच पुत्र हुए । उनमेंसे नरका पुत्र सङ्कृति हुआ ॥ १ ॥ हे पाण्डुकुमार ! सङ्कृतिसे गुरु और रन्तिदेवका जन्म हुआ, जिनमेंसे रन्तिदेवका यश इस लोक और परलोक दोनों जगह गाया जाता है ॥ २ ॥ बिना उद्योग किये प्रारब्धाधीन रहनेवाले, प्राप्त हुए पदार्थको दान कर देनेवाले, अत्यन्त भूखे, निष्किञ्चन, धैर्यवान् और जिसका कुटुम्ब अत्यन्त दुःख भोग रहा था ऐसे उस रन्तिदेवको एक बार बिना जलपान किये अड़तालीस दिन बीत गये । उञ्चासवें दिन प्रातःकाल ही उसे कुछ घृत, खीर, लप्सी और जल मिला ॥३-४॥ इस प्रकार जिसका कुटुम्ब अत्यन्त संकटग्रस्त था और जो भूख-प्याससे काँप रहा था वह

१. कमेकं । २. प्राचीन प्रतिमें 'पुरुवंशानुकीर्तनं नाम' इतना अंश अधिक है । ३. सुतान् वक्ष्ये बृह० ।

अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत् ॥ ५ ॥
तस्मै संव्यभजत्सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः ।
हरिं सर्वत्र सम्पश्यन्स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः ॥ ६ ॥
अथान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपते ।
विभक्तं व्यभजत्तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन् ॥ ७ ॥
याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः श्वभिरावृतः ।
राजन्मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते ॥ ८ ॥
स आदृत्यावशिष्टं यद्बहुमानपुरस्कृतम् ।
तच्च दत्त्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः ॥ ९ ॥
पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकपरितर्पणम् ।
पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्यशुभस्य मे[1] ॥१०॥

राजा रन्तिदेव ज्यों ही भोजन करनेको उद्यत हुआ कि उसी समय एक अतिथि-ब्राह्मण आ गया ॥ ५ ॥ तब सर्वत्र श्रीहरिको विराजमान देख उसने अति आदर और श्रद्धापूर्वक उस अन्नमेंसे कुछ भाग उसे दे दिया। वह ब्राह्मण उसे खाकर चला गया ॥ ६ ॥

हे महीपते! उसके चले जानेपर जब वह शेष अन्नको आपसमें बाँटकर खानेके लिये बैठा तो एक दूसरा शूद्र अतिथि आ गया। तब उसने श्रीहरिका स्मरण करते हुए उस विभक्त अन्नमेंसे कुछ भाग उस शूद्रको भी बाँट दिया ॥ ७ ॥ तदनन्तर शूद्रके चले जानेपर कुत्तोंसे घिरा हुआ एक और अतिथि आ गया और बोला—"राजन्! मैं बहुत भूखा हूँ, मेरे गणोंके सहित मुझे भी अन्न दीजिये" ॥ ८ ॥ तब राजा रन्तिदेवने अत्यन्त आदर और मान दिखाते हुए बचा हुआ अन्न उसे दे दिया और उन कुत्तों तथा उनके स्वामीको नमस्कार किया ॥ ९ ॥ अन्तमें, केवल जल ही रह गया और वह भी एकहीको तृप्त करनेयोग्य था। जब वह उसे ही बाँटकर पीनेको हुआ कि एक चाण्डाल आ गया और बोला—"यह जल मुझ नीचको दे दीजिये" ॥१०॥

तस्य[2] तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम् ।
कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः ॥११॥
न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥१२॥
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥१३॥

उसकी वह अत्यन्त श्रमयुक्त दीनवाणी सुनकर राजाने करुणावश अति सन्तप्त हो ये अमृतमय वचन कहे—॥११॥ "मैं भगवान्‌से कोई अष्टैश्वर्ययुक्त परम-गति नहीं चाहता और न मुझे मोक्षकी ही इच्छा है। मैं तो सम्पूर्ण देहधारियोंके अन्तःकरणोंमें स्थित होकर उनका दुःख सहन करना चाहता हूँ, जिससे वे दुःखहीन हो जायँ ॥१२॥ अहो! इस जीनेकी इच्छा-वाले दीन प्राणीको जीवनरूप जल दे देनेसे मेरे क्षुधा, पिपासा, श्रम, शरीरकी शिथिलिता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद और मोह—ये सभी निवृत्त हो गये हैं" ॥१३॥

इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया ।
पुल्कसायाददाद्धीरो[3] निसर्गकरुणो नृपः ॥१४॥

हे राजन्! ऐसा कहकर, स्वयं प्याससे मरते हुए भी, स्वभावसे ही करुणामय और धैर्यवान् राजा रन्तिदेवने वह जल उस चाण्डालको दे दिया ॥१४॥

१. भाय मे। २. तस्येति कद०। ३. द्वीरो।

तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् ।
आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः ॥१५॥
स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निःसङ्गो विगतस्पृहः[1] ।
वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम् ॥१६॥
ईश्वरालम्बनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः ।
माया गुणमयी राजन्स्वप्नवत्प्रत्यलीयत ॥१७॥
तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः ।
अभवन्योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः ॥१८॥
गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद्ब्रह्म[2] प्रवर्तत ।
दुरितक्षयो महावीर्यात्[3]तस्य त्रय्यारुणिः कविः ॥१९॥
पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः ।
बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरम् ॥२०॥
अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः ।
अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः ॥२१॥
अजमीढाद्बृहदिषुस्तस्य पुत्रो बृहद्धनुः ।
बृहत्कायस्ततस्तस्य पुत्र आसीज्जयद्रथः ॥२२॥
तत्सुतो विशदस्तस्य सेनजित्समजायत ।
रुचिराश्वो दृढहनुः काश्यो वत्सश्च तत्सुताः ॥२३॥
रुचिराश्वसुतः पारः पृथुसेनस्तदात्मजः ।
पारस्य तनयो नीपस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् ॥२४॥
स कृत्व्यां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत् ।
स[4] योगी गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात्सुतम् ॥२५॥
जैगीषव्योपदेशेन योगतन्त्रं चकार ह ।
उदक्स्वनस्ततस्तस्माद्भल्लादो बार्हदीषवाः[5] ॥२६॥

तब [उसके धैर्यकी परीक्षाके लिये] भगवान्‌की मायासे ब्राह्मण एवं शूद्रादिरूप दिखाकर फिर फलके इच्छुकोंको सब प्रकारके फल देनेवाले त्रिलोकेश्वर ब्रह्मा, विष्णु और महादेवने उसे अपना दर्शन दिया ॥१५॥ किन्तु निःसंग और निरीह राजा रन्तिदेवने उन्हें नमस्कार कर भगवान् वासुदेवमें सुदृढ भक्तिभावसे अपना मन लगाया [उनसे और कुछ नहीं माँगा] ॥१६॥ हे राजन् ! ईश्वरके सिवा किसी अन्य फलकी इच्छा न कर चित्तको अनन्यभावसे उन्हींमें लगा देनेसे रन्तिदेवकी त्रिगुणमयी माया स्वप्नके समान लीन हो गयी [अर्थात् वह जीवन्मुक्त हो गया] ॥१७॥ राजा रन्तिदेवके अनुयायी भी उसके संगके प्रभावसे सब-के-सब योगी और नारायणपरायण हो गये ॥१८॥

मन्युपुत्र गर्गसे शिनि हुआ, उससे गार्ग्यका जन्म हुआ, जिसके क्षत्रिय होनेपर भी उससे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई । महावीर्यसे दुरितक्षयनामक पुत्र हुआ; उसके त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि—ये तीन पुत्र थे, जो ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो गये । बृहत्क्षत्रका पुत्र हस्ती हुआ, जिसने हस्तिनापुर बसाया ॥१९-२०॥

हस्तीके पुत्र अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ थे । उनमेंसे अजमीढके वंशज प्रियमेध आदि ब्राह्मणगण हुए ॥२१॥ अजमीढसे ही बृहदिषुका जन्म हुआ, उसका पुत्र बृहद्धनु हुआ तथा बृहद्धनुसे बृहत्काय और उससे जयद्रथ हुआ ॥२२॥ उसका पुत्र विशद और विशदका सेनजित् हुआ । रुचिराश्व, दृढहनु, काश्य और वत्स ये सेनजित्के पुत्र थे ॥२३॥ उनमें रुचिराश्वका पुत्र पार था और उसका पृथुसेन । पारका दूसरा पुत्र नीप था, उसके सौ पुत्र उत्पन्न हुए ॥२४॥ उस नीपने ही शुकदेवजीकी * कृत्वीनाम्नी कन्यासे ब्रह्मदत्तको उत्पन्न किया, वह योगीश्वर था और उसने अपनी भार्या सरस्वतीके गर्भसे विष्वक्सेननामक पुत्र उत्पन्न किया ॥२५॥ उसने मुनिवर जैगीषव्यके उपदेशसे योगशास्त्रकी रचना की । उसका पुत्र उदक्स्वन था और उससे भल्लाद हुआ । ये सब बृहदिषुके वंशज हुए ॥२६॥

१. तज्वरः । २. ब्रह्मण्यवर्तत । ३. वीर्यो यस्य त्र० । ४. योगी स । ५. दीर्घबार्हताः

* यद्यपि शुकदेवजी जन्मसे ही असंग थे, तथापि उन्होंने वनको जाते समय अपने पिता व्यासजीको विरहाकुल होकर अपने पीछे आते देख एक छायाशुक रचकर छोड़ दिया था । उस छायाशुकने ही सब गृहस्थोचित व्यवहार किये ।

यवीनरो द्विमीढस्य कृतिमांस्तत्सुतः स्मृतः ।
नाम्ना सत्यधृतिर्यस्य दृढनेमिः सुपार्श्वकृत् ॥२७॥
सुपार्श्वात्सुमतिस्तस्य पुत्रः सन्नतिमांस्ततः ।
कृतिर्हिरण्यनाभाद्यो योगं प्राप्य जगौ स्म षट् ॥२८॥
संहिताः प्राच्यसाम्नां वै नीपो ह्युग्रायुधस्ततः ।
तस्य क्षेम्यः सुवीरोऽथ सुवीरस्य रिपुञ्जयः ॥२९॥
ततो बहुरथो नाम पुरमीढोऽप्रजोऽभवत् ।

द्विमीढका पुत्र यवीनर था, उसका पुत्र कृतिमान् कहा जाता है, उसका सत्यधृतिनामक पुत्र हुआ तथा सत्यधृतिका दृढनेमि हुआ जिसने सुपार्श्वको उत्पन्न किया ॥२७॥ सुपार्श्वसे सुमति हुआ, उसका पुत्र सन्नतिमान् था, उससे कृतीका जन्म हुआ जिसने हिरण्यनाभसे योगविद्या प्राप्त कर प्राच्य सामऋचाओंकी छः संहिताएँ कही थीं । उसका पुत्र नीप था, उससे उग्रायुध हुआ, उससे क्षेम्य, क्षेम्यसे सुवीर तथा सुवीरसे रिपुञ्जयका जन्म हुआ ॥२८-२९॥ और रिपुञ्जयसे बहुरथनामक पुत्र हुआ । [द्विमीढका भाई] पुरुमीढ निस्सन्तान था ।

नलिन्यामजमीढस्य नीलः शान्तिः[1] सुतस्ततः ॥३०॥
शान्तेः सुशान्तिस्तत्पुत्रः पुरुजोऽर्कस्ततोऽभवत् ।
भर्म्याश्वस्तनयस्तस्य पञ्चासन्मुद्गलादयः ॥३१॥
यवीनरो बृहदिषुः[2] काम्पिल्यः संजयः सुताः ।
भर्म्याश्वः प्राह पुत्रा मे पञ्चानां रक्षणाय हि[3] ॥३२॥
विषयाणामलमिमे इति पञ्चालसंज्ञिताः ।
मुद्गलाद्ब्रह्म निर्वृत्तं[4] गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम् ॥३३॥

अजमीढकी नलिनीनाम्नी स्त्रीसे नीलका जन्म हुआ । उससे शान्तिनामक पुत्र हुआ ॥३०॥ शान्तिसे सुशान्ति, उससे पुरुज, पुरुजसे अर्क, अर्कसे भर्म्याश्व और भर्म्याश्वसे मुद्गल आदि पाँच पुत्र उत्पन्न हुए ॥३१॥ उन पुत्रोंके नाम मुद्गल, यवीनर, बृहदिषु, काम्पिल्य और सञ्जय थे । भर्म्याश्वने कहा, "मेरे पुत्र पञ्च (पाँच) देशोंका शासन करनेमें अलम् (समर्थ) हैं । अतः इनका नाम पञ्चाल है ।" उनमेंसे मुद्गलसे मौद्गल्य-नामक ब्राह्मण-गोत्रकी प्रवृत्ति हुई ॥३२-३३॥

मिथुनं मुद्गलाद्भार्म्याद्दिवोदासः पुमानभूत् ।
अहल्या कन्यका यस्यां शतानन्दस्तु गौतमात् ॥३४॥
तस्य सत्यधृतिः पुत्रो धनुर्वेदविशारदः ।
शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात्किल ॥३५॥
शरस्तम्बेऽपतद्रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम् ।
तद्दृष्ट्वा कृपयागृह्णाच्छन्तनुर्मृगयां चरन् ।
कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत्कृपी ॥३६॥

भर्म्याश्वके पुत्र मुद्गलसे दिवोदासनामक पुत्र और अहल्या नामकी कन्या—ये मिथुन (जुड़वा) सन्तानें हुईं । उनमेंसे अहल्यासे गौतमद्वारा शतानन्दका जन्म हुआ ॥३४॥ उसका पुत्र सत्यधृति धनुर्विद्यामें कुशल था । उसके शरद्वान्नामक पुत्र हुआ । कहते हैं, एक बार उर्वशीको देखनेसे उसका वीर्य कुशाके झाड़पर गिर गया । उससे एक शुभलक्षण पुत्र और पुत्रीका जोड़ा उत्पन्न हुआ । उसे देखकर, मृगयाके लिये गये हुए राजा शन्तनु कृपावश ले आये । उनमेंसे पुत्रका नाम कृपाचार्य हुआ और कन्या द्रोणाचार्यकी पत्नी कृपी हुई ॥३५-३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे[5]
एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

१. न्तिस्ततः सुतः । २ हृद्विश्वः । ३. वे । ४. संवृ० । ५. प्राचीन प्रतिमें 'भरतवंशानुकीर्तने' इतना अंश अधिक है ।

बाईसवाँ अध्याय

पाञ्चाल, कौरव और मागधवंशीय राजाओंका वर्णन।

श्रीशुक उवाच

मित्रेयुश्च दिवोदासाच्च्यवनस्तत्सुतो नृप।
सुदासः सहदेवोऽथ सोमको जन्तुजन्मकृत्[1] ॥ १ ॥
तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान्पृषतः सुतः।
द्रुपदो द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः ॥ २ ॥
धृष्टद्युम्नाद्धृष्टकेतुर्भार्म्याः पञ्चालका इमे।
योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः ॥ ३ ॥
तपत्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः।
परीक्षित्सुधनुर्जह्नुर्निषधाश्वः कुरोः सुताः ॥ ४ ॥
सुहोत्रोऽभूत्सुधनुषश्च्यवनोऽथ ततः कृती।
वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः ॥ ५ ॥
कुशाम्बमत्स्यप्रत्यग्रचेदिपाद्याश्च चेदिपाः।
बृहद्रथात्कुशाग्रोऽभूदृषभस्तस्य तत्सुतः ॥ ६ ॥
जज्ञे सत्यहितोऽपत्यं पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः।
अन्यस्यां चापि भार्यायां शकले द्वे बृहद्रथात् ॥ ७ ॥
ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते।
जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभवत्सुतः ॥ ८ ॥
ततश्च सहदेवोऽभूत्सोमापिर्यच्छ्रुतश्रवाः।
परीक्षिदनपत्योऽभूत्सुरथो नाम जाह्नवः ॥ ९ ॥
ततो विदूरथस्तस्मात्सार्वभौमस्ततोऽभवत्।
जयसेनस्तत्तनयो राधिकोऽतोऽयुतो ह्यभूत् ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! दिवोदाससे मित्रेयुका जन्म हुआ। उसके पुत्र च्यवन, सुदास, सहदेव और जन्तुके पिता सोमक हुए। उन सोमकके सौ पुत्र थे, जिनमें [जन्तु सबसे बड़ा और] पृषत् सबसे छोटा था। पृषत्का पुत्र द्रुपद हुआ। उसके द्रौपदी नामकी पुत्री और धृष्टद्युम्न आदि कई पुत्र हुए ॥ १-२ ॥ धृष्टद्युम्नसे धृष्टकेतुका जन्म हुआ। भर्म्याश्वके वंशमें उत्पन्न हुए ये सभी नृपतिगण पाञ्चाल कहलाते थे।

अजमीढका जो ऋक्षनामक दूसरा पुत्र था उससे संवरणका जन्म हुआ ॥ ३ ॥ उससे सूर्यकन्या तपतीके गर्भसे कुरुक्षेत्रका स्वामी कुरु उत्पन्न हुआ। कुरुके परीक्षित्, सुधनु, जह्नु और निषधाश्वनामक पुत्र हुए ॥ ४ ॥ उनमें सुधनुसे सुहोत्र, सुहोत्रसे च्यवन, च्यवनसे कृती, कृतीसे उपरिचर वसु और उससे बृहद्रथ आदि पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ५ ॥ वे चेदिनरेश बृहद्रथ, कुशाम्ब, मत्स्य, प्रत्यग्र और चेदिप आदि थे। उनमें बृहद्रथसे कुशाग्रका जन्म हुआ, उसका पुत्र ऋषभ हुआ, ऋषभसे सत्यहितका जन्म हुआ, सत्यहितका पुत्र पुष्पवान् और उसका पुत्र जहु हुआ।

बृहद्रथकी दूसरी भार्याके गर्भसे एक शरीरके दो टुकड़े उत्पन्न हुए ॥ ६-७ ॥ उन्हें माताने बाहर फेंकवा दिया। तब उन दोनों टुकड़ोंको जरा नामकी राक्षसीने 'जीवित हो, जीवित हो' इस प्रकार कहकर क्रीडा करते हुए जोड़ दिया। वह जरासन्धनामक बालक हुआ ॥ ८ ॥ उससे सहदेवनामक पुत्र हुआ। सहदेवसे सोमापि और सोमापिसे श्रुतश्रवाका जन्म हुआ।

कुरुका पुत्र परीक्षित् पुत्रहीन था तथा जह्नुसे सुरथनामक पुत्र हुआ ॥ ९ ॥ उससे विदूरथ, विदूरथसे सार्वभौम और सार्वभौमसे जयसेन हुआ। जयसेनका पुत्र राधिक और राधिकका अयुत हुआ ॥ १० ॥

[1] जातुकर्मकृत्।

ततश्च क्रोधनस्तस्माद्देवातिथिरमुष्य च ।
ऋष्यस्तस्य दिलीपोऽभूत्प्रतीपस्तस्य चात्मजः ॥११॥
देवापिः शन्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजाः ।
पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः ॥१२॥
अभवच्छन्तनू राजा प्राङ्महाभिषसंज्ञितः ।
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः ॥१३॥
शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शन्तनुः ।
समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥१४॥
शन्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्तायमग्रभुक् ।
राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये ॥१५॥
एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत् ।
तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद्विभ्रंशितो गिरा ॥१६॥
वेदवादातिवादान्वै तदा देवो ववर्ष ह ।
देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः ॥१७॥
सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति ।
बाह्लिकात्सोमदत्तोऽभूद्भूरिर्भूरिश्रवास्ततः ॥१८॥
शलश्च शन्तनोरासीद्गङ्गायां भीष्म आत्मवान् ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः ॥१९॥

अयुतसे क्रोधन, क्रोधनसे देवातिथि, देवातिथिसे ऋष्य, ऋष्यसे दिलीप और दिलीपसे प्रतीपनामक पुत्र हुआ ॥ ११ ॥ प्रतीपके देवापि, शन्तनु और बाह्लीकनामक तीन पुत्र हुए । उनमें देवापि अपने पिताका राज्य छोड़कर वनको चला गया था ॥ १२ ॥ अतः उसका छोटा भाई शन्तनु राजा हुआ । पूर्वजन्ममें उसका नाम महाभिष था । वह जिस-जिसको अपने हाथसे छू देता था वह बूढ़ा होनेपर भी पुनः यौवन प्राप्त कर लेता था ॥ १३ ॥ और उसे परम शान्ति प्राप्त होती थी । इस कर्मके कारण ही वह 'शन्तनु' कहलाता था । एक बार जब बारह वर्षतक उसके राज्यमें जल नहीं बरसा तो ब्राह्मणोंने शन्तनुसे कहा, "अपने बड़े भाईका राज्य भोगनेवाला परिवेत्ता* होता है । अतः तुम अपने नगर और राष्ट्रके हितके लिये तुरन्त ही अपने बड़े भाईको राज्य दे दो" ॥ १४-१५ ॥

ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर शन्तनुने अपने बड़े भाईसे राज्य स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना की । किन्तु देवापिको शन्तनुके मन्त्रीद्वारा भेजे हुए ब्राह्मणोंने वेदविदूषक वाक्योंद्वारा वेदमार्गसे भ्रष्ट कर दिया था । अतः उसने वेदकी निन्दायुक्त वचन कहे । इस प्रकार वेदविरोधी हो जानेसे [देवापिको राज्यका अधिकार न रहनेसे] वर्षा होने लगी । देवापि इस समय भी योग साधनमें स्थित हुआ कलापग्राममें रहता है ॥१६-१७॥ वह कलियुगमें चन्द्रवंशका अन्त हो जानेपर उसे सत्ययुगके आरम्भमें पुनः स्थापित करेगा।

[शन्तनुके छोटे भाई] बाह्लीकसे सोमदत्तका जन्म हुआ और उससे भूरि, भूरिश्रवा तथा शल-नामक तीन पुत्र हुए । शन्तनुसे गङ्गा नामकी पत्नीमें परम धीर भीष्मजीका जन्म हुआ, जो सम्पूर्ण धर्मवानों-में श्रेष्ठ, परम भगवद्भक्त, आत्मज्ञ और वीरसमूहके

१. ऋक्ष० । २. समुत्सृज्य । ३. ततो ।

* दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥

अर्थात् जो पुरुष अपने बड़े भाईके रहते हुए उससे पहले ही विवाह और अग्निहोत्रका संयोग करता है उसे परिवेत्ता जानना चाहिये, और बड़ा भाई 'परिवित्ति' कहलाता है ।

वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः ।
शन्तनोर्दाशकन्यायां जज्ञे चित्राङ्गदः सुतः ॥२०॥
विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्राङ्गदो हतः ।
यस्यां पराशरात्साक्षादवतीर्णो हरेः कला ॥२१॥
वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽहमिदमध्यगाम् ।
हित्वा स्वशिष्यान्पैलादीन्भगवान्बादरायणः ॥२२॥
मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ ।
विचित्रवीर्योऽथोवाह काशिराजसुते बलात् ॥२३॥
स्वयंवरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके उभे ।
तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः ॥२४॥
क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः ।
धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥२५॥

नेता थे, तथा जिन्होंने युद्धमें [अपने गुरु] परशुरामजीको भी सन्तुष्ट कर दिया था। शन्तनुके एक मल्लाहकी कन्या-से चित्राङ्गदनामक पुत्र हुआ ॥ १८–२० ॥ उसका छोटा भाई विचित्रवीर्य था । चित्राङ्गदको उसी नामके एक गन्धर्वने मार डाला । दाशकन्या सत्यवतीसे पराशरजीद्वारा साक्षात् श्रीहरिके अंशस्वरूप और वेदोंकी रक्षा करनेवाले महर्षि कृष्णद्वैपायन अवतीर्ण हुए थे, जिनसे मैंने यह श्रीमद्भागवतसंहिता अध्ययन की है । उन भगवान् बादरायणने यह परम गुह्य संहिता अपने पैल आदि शिष्योंको छोड़कर मुझ शान्तस्वभाव पुत्रको ही पढ़ायी थी । विचित्रवीर्यने स्वयंवरसे बलात्कारसे लायी हुई काशिराजकी अम्बिका और अम्बालिका नामकी दो कन्याओंसे विवाह किया था । उनमें अत्यन्त आसक्तचित्त रहनेसे वह क्षयरोगसे ग्रस्त होकर मर गया ॥ २१–२४ ॥ तब माता सत्यवतीके कहनेसे महर्षि बादरायणने अपने निःसन्तान भाईके क्षेत्र (स्त्रियों) से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरनामक पुत्र उत्पन्न किये ॥ २५ ॥

गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशतं नृप ।
तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुःशला चापि कन्यका ॥२६॥
शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः ।
जाता धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रयः ॥२७॥
नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्रयोः ।
द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्यः पुत्रास्ते पितरोऽभवन् ॥२८॥
युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥२९॥
सहदेवसुतो राजञ्छ्रुतकर्मा[1] तथापरे ।
युधिष्ठिरात्तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः ॥३०॥
भीमसेनाद्धिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः ।

हे राजन् ! धृतराष्ट्रके उसकी भार्या गान्धारीके गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न हुए, उनमें दुर्योधन सबसे बड़ा था । इनके सिवा उसके दुःशला नामकी एक कन्या भी हुई ॥ २६ ॥ पाण्डु शापवश मैथुनधर्मसे रोक दिये गये थे । इसलिये उनकी पत्नी कुन्तीके धर्म, वायु और इन्द्रके द्वारा युधिष्ठिर आदि तीन महारथी पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २७ ॥ तथा माद्रीके दोनों अश्विनीकुमारोंद्वारा नकुल और सहदेवका जन्म हुआ । उन पाँचोंसे द्रौपदीके तुम्हारे पितृव्य पाँच पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २८ ॥ हे राजन् ! युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे श्रुतसेन, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, और नकुलसे शतानीक हुआ तथा सहदेवका पुत्र श्रुतकर्मा हुआ । इनके सिवा युधिष्ठिरसे पौरवी नामकी स्त्रीके देवक, भीमसेनसे हिडिम्बाके घटोत्कच और कालीके सर्वगत,

१. सूनु० । २. श्रुतकीर्तिस्तथा० ।

सहदेवात्सुहोत्रं तु विजयासूत पार्वती ॥३१॥
करेणुमत्यां नकुलो निरमित्रं तथार्जुनः ।
इरावन्तमुलूप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम् ।
मणिपूरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः ॥३२॥
तव तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत ।
सर्वातिरथजिद्वीर उत्तरायां ततो भवान् ॥३३॥
परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा ।
त्वं च कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात् ।३४।
तवेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः ।
श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥३५॥
जनमेजयस्त्वां विदित्वा तक्षकान्निधनं गतम् ।
सर्पान्वै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुषान्वितः ॥३६॥
कावषेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधयाट् ।
समन्तात्पृथिवीं सर्वां जित्वा यक्ष्यति चाध्वरैः ॥३७॥
तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात्त्रयीं पठन् ।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात्परमेष्यति ॥३८॥
सहस्रानीकस्तत्पुत्रस्ततश्चैवाश्वमेधजः ।
असीमकृष्णस्तस्यापि नेमिचक्रस्तु[2] तत्सुतः ॥३९॥
गजाह्वये हृते नद्या कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति ।
उक्तस्ततश्चित्ररथस्तस्मात्कविरथः[3] सुतः ॥४०॥
तस्माच्च वृष्टिमांस्तस्य सुषेणोऽथ महीपतिः ।
सुनीथस्तस्य भविता नृचक्षुर्यत्सुखीनलः[4] ॥४१॥
परिप्लवः सुतस्तस्मान्मेधावी सुनयात्मजः ।
नृपञ्जयस्ततो दूर्वस्तिमिस्तस्माज्जनिष्यति ॥४२॥
तिमेर्बृहद्रथस्तस्माच्छतानीकः सुदासजः ।

सहदेवसे पर्वतकन्या विजयाके सुहोत्र, नकुलसे करेणुमती-के नरमित्र तथा अर्जुनसे नागकन्या उलूपीके इरावान् और पुत्रिकाधर्मसे विवाही हुई मणिपूरनरेशकी कन्याके बभ्रु-वाहननामक पुत्र हुआ, जो अर्जुनका पुत्र होनेपर भी अपने नानाकी सन्तान कहलाया ॥ २९–३२ ॥ अर्जुनकी सुभद्रा नामकी पत्नीसे तुम्हारे पिता अभिमन्यु-का जन्म हुआ जो सम्पूर्ण महारथियोंको जीतनेवाला वीर था। उसके उत्तराके गर्भसे तुम उत्पन्न हुए ॥ ३३ ॥ हे राजन् ! कौरवोंके नष्ट हो जानेपर जब तुम अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके तेजसे दग्ध होने लगे तो भगवान् कृष्णके प्रभावसे ही उस मृत्युसे जीवित बच सके थे ॥ ३४ ॥

हे तात ! ये परम पराक्रमी जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन तुम्हारे पुत्र हैं, ॥ ३५ ॥ यह जनमेजय तुम्हें तक्षकके काटनेसे मृत्युको प्राप्त हुआ सुनकर अति क्रोधित हो बहुत-से सर्पोंको सर्पसत्रकी अग्निमें हवन करेगा ॥ ३६ ॥ यह अश्वमेध यज्ञ करने-वाला होगा और कावषेय गोत्रमें उत्पन्न हुए तुरनामक ऋषिको अपना पुरोहित बनाकर पृथिवीको सब ओरसे जीतकर यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन करेगा ॥ ३७ ॥

उसका पुत्र शतानीक याज्ञवल्क्य ऋषिसे वेदत्रयी और क्रियाज्ञान पढ़कर [कृपाचार्यसे] अस्त्रविद्या और शौनक-जीसे आत्मज्ञान प्राप्त करेगा ॥ ३८ ॥ शतानीकका पुत्र सहस्रानीक होगा, उसका अश्वमेधज, अश्वमेधजका असीमकृष्ण, और असीमकृष्णका पुत्र नेमिचक्र होगा ॥ ३९ ॥ वह हस्तिनापुरके गङ्गाजीमें प्रवाहित हो जानेपर कौशाम्बीपुरीमें सुखपूर्वक जा बसेगा। उसका पुत्र चित्ररथ होगा और चित्ररथसे कविरथनामक पुत्र होगा ॥ ४० ॥ उससे वृष्टिमान्का जन्म होगा, वृष्टिमान्का पुत्र पृथिवीपति सुषेण होगा, तथा सुषेणका सुनीथ, सुनीथका नृचक्षु और नृचक्षुका सुखीनल होगा ॥ ४१ ॥ सुखीनलका पुत्र परिप्लव होगा, उससे सुनय और सुनयका पुत्र मेधावी होगा, मेधावीसे नृपञ्जय, नृपञ्जयसे दूर्व और दूर्वसे तिमिका जन्म होगा ॥ ४२ ॥ तिमिसे बृहद्रथ, बृहद्रथसे सुदास, सुदाससे शतानीक,

१. ग्रामं । २. विचक्रस्तत्सुतस्ततः । ३. च्छविरथ० । ४. त्रिच० । ५. इस्ती निमिस्त० । ६. नि० ।

शतानीकाद्दुर्दमनस्तस्यापत्यं वहीनरः ॥४३॥
दण्डपाणिर्निमिस्तस्य क्षेमको भविता नृपः ।
ब्रह्मक्षत्रस्य वै प्रोक्तो[1] वंशो देवर्षिसत्कृतः ॥४४॥
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ।
अथ मागधराजानो भवितारो वदामि ते ॥४५॥
भविता सहदेवस्य मार्जारिर्यच्छ्रुतश्रवाः ।
ततो युतायुस्तस्यापि निरमित्रोऽथ तत्सुतः ॥४६॥
सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद्बृहत्सेनोऽथ कर्मजित् ।
ततः सृतञ्जयाद्विप्रः शुचिस्तस्य भविष्यति ॥४७॥
क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्माद्धर्मसूत्रः शमस्ततः[2] ।
द्युमत्सेनोऽथ सुमतिः सुबलो जनिता ततः ॥४८॥
सुनीथः[3] सत्यजिदथ विश्वजिद्यद्रिपुञ्जयः ।
बार्हद्रथाश्च भूपाला भाव्याः साहस्रवत्सरम् ॥४९॥

शतानीकसे दुर्दमन और दुर्दमनसे वहीनरनामक पुत्र होगा ॥ ४३ ॥ वहीनरका पुत्र दण्डपाणि होगा तथा दण्डपाणिका निमि और निमिका राजा क्षेमक होगा । इस प्रकार तुम्हें यह देवता और ऋषियोंसे सत्कृत बृहत्क्षत्रका वंश सुनाया ॥ ४४ ॥ यह वंश कलियुगमें, राजा क्षेमकके होनेपर, समाप्त हो जायगा । अब मैं तुम्हें भविष्यमें होनेवाले मगधवंशी राजाओंके नाम सुनाता हूँ ॥ ४५ ॥

[जरासन्धके पुत्र] सहदेवके मार्जारिनामक पुत्र होगा, उसके श्रुतश्रवा, श्रुतश्रवाके युतायु और युतायुके नरमित्रनामक पुत्र होगा ॥ ४६ ॥ नरमित्रके सुनक्षत्र, सुनक्षत्रके बृहत्सेन, बृहत्सेनके कर्मजित्, कर्मजित्के सृतञ्जय, सृतञ्जयके विप्र और विप्रके शुचिनामक पुत्र होगा ॥ ४७ ॥ शुचिसे क्षेम, क्षेमसे सुव्रत, सुव्रतसे धर्मसूत्र, धर्मसूत्रसे शम, शमसे द्युमत्सेन, द्युमत्सेनसे सुमति और सुमतिसे सुबलका जन्म होगा ॥ ४८ ॥ सुबलका पुत्र सुनीथ होगा, सुनीथका सत्यजित्, सत्यजित्का विश्वजित् और विश्वजित्का रिपुञ्जय होगा । ये सब बृहद्रथके वंशमें उत्पन्न हुए नृपतिगण एक सहस्र वर्षके भीतर होंगे ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे
द्वाविंशोऽध्यायः[4] ॥ २२ ॥

तेईसवाँ अध्याय

अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु और यदुके वंशोंका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

अनोः सभानरश्चक्षुः परोक्षश्च त्रयः सुताः ।
सभानरात्कालनरः सृञ्जयस्तत्सुतस्ततः[6] ॥ १ ॥
जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशीलो महामनाः ।
उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ ॥ २ ॥
शिबिर्वनः[7] शमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः ।
वृषादर्भः सुवीरश्च मद्रः कैकेय आत्मजाः[8] ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! [ययातिके पुत्र] अनुके सभानर, चक्षु और परोक्षनामक तीन पुत्र हुए । सभानरसे कालनर और कालनरसे सृञ्जयनामक पुत्र हुआ । सृञ्जयसे जनमेजय हुआ, जनमेजयका पुत्र महाशील, महाशीलका महामना और महामनाके उशीनर एवं तितिक्षुनामक दो पुत्र हुए ॥ १-२ ॥ शिबि, वन, शमी और दक्ष—ये चार उशीनरके पुत्र थे; उनमें शिबिके वृषादर्भ, सुवीर, मद्र और कैकेय-

१. योनिवंशो । २. शमः सुतः । ३. तः । ४. थस्तु । ५. सोमवंशे द्वाविंशतितमो । ६. तत्सुतः सृञ्जयस्ततः ।
७. सुष्विर्वनः क्षमिर्दक्षः । ८. आत्मवान् ।

शिबेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुशद्रथः[1] ।
ततो हेमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत् ॥ ४ ॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्याः सुह्मपुण्ड्रान्ध्रसंज्ञिताः ।
जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥ ५ ॥
चक्रुः स्वनाम्ना विषयान्षडिमान्प्राच्यकांश्च ते ।
खनपानोऽङ्गतो जज्ञे तस्माद्दिविरथस्ततः ॥ ६ ॥
सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः ।
रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा ॥ ७ ॥
शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग उवाह ताम् ।
देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम् ॥ ८ ॥
नाट्यसङ्गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनार्हणैः ।
स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरुत्वतः ॥ ९ ॥
प्रजामदाद्दशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः ।
चतुरङ्गो रोमपादात्पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः ॥१०॥
बृहद्रथो बृहत्कर्मा बृहद्भानुश्च तत्सुताः ।
आद्याद्बृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृतः ॥११॥
विजयस्तस्य सम्भूत्यां ततो धृतिरजायत ।
ततो धृतव्रतस्तस्य सत्कर्माधिरथस्ततः ॥१२॥
योऽसौ गङ्गातटे क्रीडन्मञ्जूषान्तर्गतं शिशुम् ।
कुन्त्यापविद्धं कानीनमनपत्योऽकरोत्सुतम् ॥१३॥
वृषसेनः सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपतेः ।
द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः ॥१४॥
आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मसुतो धृतः ।

[1] रथद्रुषः ।

नामक चार पुत्र हुए । [उशीनरके भाई] तितिक्षुके रुशद्रथनामक पुत्र हुआ; उसके हेम, हेमके सुतपा तथा सुतपाके बलिनामक पुत्र हुआ ॥ ३-४ ॥

हे राजन् ! राजा बलिकी स्त्रीके गर्भसे दीर्घतमा मुनिके वीर्यसे अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र और अन्ध्रनामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ५ ॥ उन्होंने पूर्व दिशाके अपने ही नामोंवाले ये छः देश बसाये । अङ्गसे खनपानका जन्म हुआ, उससे दिविरथ उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥ जिसका पुत्र धर्मरथ था । उसके रोमपादनामसे विख्यात चित्ररथनामक पुत्र हुआ; वह पुत्रहीन था, अतः उसे उसके मित्र राजा दशरथने शान्ता नामकी अपनी कन्या दी, जिसे ऋष्य-शृङ्गने विवाहा था, जो कि [विभाण्डक ऋषिके वीर्यसे उत्पन्न हुए] हरिणीके पुत्र थे और जिन्हें राजा रोमपादके राज्यमें वर्षा न होनेपर गणिकाएँ नृत्य, गान, वाद्य, हाव-भाव, आलिङ्गन एवं विविध उपहारोंसे मोहित करके ले आयी थीं । उन्हींने पुत्रहीन राजाको इन्द्रका यज्ञ कराकर पुत्र दिया तथा उन्हींके यज्ञ करानेपर पुत्रहीन राजा दशरथने श्रीराम आदि पुत्र प्राप्त किये, रोमपादसे चतुरङ्गका जन्म हुआ तथा चतुरङ्गका पुत्र पृथुलाक्ष हुआ ॥७–१०॥

पृथुलाक्षके बृहद्रथ, बृहत्कर्मा और बृहद्भानु-नामक तीन पुत्र हुए । उनमें पहले (बृहद्रथ) से बृहन्मना और बृहन्मनासे जयद्रथ हुआ ॥११॥ उसके सम्भूति नामकी भार्यासे विजयका जन्म हुआ; विजयके धृति, धृतिके धृतव्रत, धृतव्रतके सत्कर्मा और सत्कर्माके अधिरथनामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१२॥ जो पुत्रहीन था और जिसने एक बार गङ्गाजी-के तटपर क्रीडा करते समय कुन्तीके कन्यावस्थामें उत्पन्न हुए बालक (कर्ण) को, जिसे उसने पिटारीमें रखकर बहा दिया था, पाकर अपना पुत्र मान लिया था ॥१३॥ हे राजन् ! उस पृथिवीपति कर्णका पुत्र वृषसेन हुआ ।

[ययातिपुत्र] द्रुह्युका पुत्र बभ्रु था, उसका पुत्र सेतु हुआ, उससे आरब्धका जन्म हुआ । आरब्ध-का पुत्र गान्धार, गान्धारका धर्म, धर्मका धृत,

धृतस्य दुर्मनास्तस्मात्प्रचेताः प्राचेतसं शतम्[1] ॥१५॥
म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन्नुदीचीं दिशमाश्रिताः ।

धृतका दुर्मना, दुर्मनाका प्रचेता तथा प्रचेताके सौ पुत्र हुए ॥१४-१५॥ ये सब उत्तर दिशामें स्थित होकर म्लेच्छोंके राजा हुए ।

तुर्वसोश्च सुतो वह्निर्वह्नेर्भर्गोऽथ भानुमान्[2] ॥१६॥
त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि[3] करन्धम उदारधीः ।
मरुतस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्रं पौरवमन्वभूत् ॥१७॥
दुष्यन्तः स पुनर्भेजे स्वं वंशं राज्यकामुकः ।

[ययातिपुत्र] तुर्वसुका पुत्र वह्नि हुआ तथा वह्निसे भर्ग और भर्गसे भानुमान्‌का जन्म हुआ ॥१६॥ उसका पुत्र त्रिभानु था, त्रिभानुके अत्यन्त उदारबुद्धि करन्धम हुआ और करन्धमका पुत्र मरुत हुआ । वह पुत्रहीन था, अतः उसने पूरुवंशी दुष्यन्तको अपना पुत्र मानकर रखा । परन्तु दुष्यन्त राज्यकी कामनासे फिर अपने ही वंशमें चला गया ।

ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ ॥१८॥
वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम् ।
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१९॥
यत्रावतीर्णो भगवान्परमात्मा नराकृतिः ।
यदोः सहस्रजित्क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुताः ॥२०॥
चत्वारः सूनवस्तत्र शतजित्प्रथमात्मजः ।
महाहयो वेणुहयो हैहयश्चेति तत्सुताः ॥२१॥

हे नरश्रेष्ठ ! अब मैं ययातिके ज्येष्ठ पुत्र यदुके परम पवित्र और मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाले वंशका वर्णन करता हूँ । यदुवंशका वर्णन सुनकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥१७–१९॥ क्योंकि इस वंशमें परमात्मा श्रीभगवान्‌ने मनुष्यरूपसे अवतार लिया था । यदुके सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल और रिपुनामक चार पुत्र विख्यात हैं उनमें पहले (सहस्रजित्) से शतजित्‌नामक पुत्र हुआ । उसके महाहय, वेणुहय और हैहय—ये तीन पुत्र हुए ॥२०-२१॥

धर्मस्तु[4] हैहयसुतो नेत्रः कुन्तेः[5] पिता ततः ।
सोहञ्जिरभवत्कुन्तेर्महिष्मान्भद्रसेनकः ॥२२॥
दुर्मदो[6] भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यसूः ।
कृताग्निः कृतवर्मा च कृतौजा धनकात्मजाः ॥२३॥

उनमें हैहयका पुत्र धर्म था, उससे कुन्तिका पिता नेत्र हुआ, कुन्तिका पुत्र सोहञ्जि हुआ तथा सोहञ्जिसे महिष्मान् और महिष्मान्‌से भद्रसेननामक पुत्र हुआ ॥२२॥ भद्रसेनके दुर्मद और कृतवीर्यका पिता धनक—ये दो पुत्र हुए । कृताग्नि, कृतवर्मा और कृतौजा—ये भी धनकके ही पुत्र थे ॥२३॥

अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् ।
दत्तात्रेयाद्धरेरंशात्प्राप्तयोगमहागुणः ॥२४॥
न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः ।
यज्ञदानतपोयोगश्रुतवीर्यजयादिभिः[7] ॥२५॥

कृतवीर्यका पुत्र सप्तद्वीपाधिपति अर्जुन हुआ, जिसने भगवान्‌के अंशावतार श्रीदत्तात्रेयजीसे योगविद्या और अणिमादि महासिद्धियाँ प्राप्त की थीं ॥२४॥ निश्चय ही यज्ञ, दान, तप, योग, विद्या, वीर्य और जय आदि गुणोंमें कृतवीर्यकुमार सहस्रार्जुनकी समता कोई नृपतिगण नहीं कर सकेंगे ॥२५॥

१. सुतम् । २. वह्निमान् । ३. सत्यजित्तत्सु० । ४. मेश्च । ५. कुन्तेस्ततः पिता । ६. दुर्दमो । ७. योगैः श्रुत० ।

पञ्चाशीतिसहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः ।
अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्यषड्वसु ॥२६॥
तस्य पुत्रसहस्रेषु[1] पञ्चैवोर्वरिता मृधे ।
जयध्वजः शूरसेनो वृषभो मधुरूर्जितः ॥२७॥

जिसने पचासी सहस्र वर्षतक अपने शारीरिक बलको अव्याहत रखते हुए तथा अपने वित्तनाशका कभी स्मरण भी न करते हुए छहों इन्द्रियोंके अक्षय विषयोंको भोगा था ॥२६॥ उसके एक सहस्र पुत्रोंमेंसे केवल जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित—ये पाँच ही [परशुरामजीके साथ होनेवाले] युद्धमें बचे थे ॥२७॥

जयध्वजात्तालजङ्घस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् ।
क्षेत्रं[2] यत्तालजङ्घाख्यमौर्वतेजोपसंहृतम्[3] ॥२८॥
तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो वृष्णिः पुत्रो मधोः स्मृतः।
तस्य पुत्रशतं त्वासीद्वृष्णिज्येष्ठं यतः कुलम् ॥२९॥
माधवा वृष्णयो राजन्यादवाश्चेति संज्ञिताः ।

उनमें जयध्वजसे तालजङ्घका जन्म हुआ; उसके सौ पुत्र हुए, जिनसे उत्पन्न हुए तालजङ्घनामक क्षत्रियोंको राजा सगरने महर्षि और्वके प्रभावसे मार डाला ॥२८॥ उन सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ा वीतिहोत्र था, उसका पुत्र मधु हुआ और उसका वृष्णि। मधुके सौ पुत्र थे जिनमें वृष्णि सबसे बड़ा था। हे राजन् ! इन (मधु, वृष्णि और यदु) के कारण यह वंश माधव, वार्ष्णेय और यादव नामोंसे प्रसिद्ध हुआ ।

यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनवांस्ततः ॥३०॥
श्वाहिस्ततो रुशेकुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः ।
शशबिन्दुर्महायोगी महाभोजो महानभूत् ॥३१॥
चतुर्दशमहारत्नश्चक्रवर्त्यपराजितः ।
तस्य पत्नीसहस्राणां दशानां सुमहायशाः ॥३२॥
दशलक्षसहस्राणि पुत्राणां तास्वजीजनत् ।
तेषां तु षट्प्रधानानां पृथुश्रवस आत्मजः ॥३३॥
धर्मो नामोशना तस्य हयमेधशतस्य याट् ।
तत्सुतो रुचकस्तस्य पञ्चासन्नात्मजाः शृणु ॥३४॥
पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः ।
ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्यां शैब्यापतिर्भयात् ।३५।
नाविन्दच्छत्रुभवनाद्भोज्यां[4] कन्यामहारषीत् ।

यदुपुत्र क्रोष्टुके वृजिनवान्नामक पुत्र हुआ। उससे श्वाहि, श्वाहिसे रुशेकु, रुशेकुसे चित्ररथ और चित्ररथसे महायोगी, महाभोगी एवं परम ऐश्वर्यशाली शशबिन्दुका जन्म हुआ ॥२९–३१॥ वह चौदह रत्नोंका* स्वामी, चक्रवर्ती और युद्धमें अपराजित था। उसके दश सहस्र पत्नियोंके [प्रत्येकके लाख-लाखके क्रमसे] दश लाख हजार [अर्थात् दश करोड़] परम यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें जो छः प्रधान पुत्र थे उनमेंसे पृथुश्रवाके धर्मनामक पुत्र हुआ। उसका पुत्र सौ अश्वमेधयज्ञ करनेवाला उशना हुआ। उशनाका पुत्र रुचक था, उसके पाँच पुत्र हुए; उनके नाम सुनो ॥३२–३४॥ उनके नाम पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु और ज्यामघ थे। शैब्यापति ज्यामघ सन्तानहीन था, परन्तु उसने अपनी भार्याके भयसे दूसरी स्त्रीसे विवाह नहीं किया। एक बार वह अपने शत्रुके भवनसे भोज्या नामकी

१. सस्य । २. क्षात्रं । ३. वंशापोप० । ४. नाद्भव्यां ।

* गजवाजिरथस्त्रीषुनिधिमाल्याम्बरद्रुमाः । शक्तिपाशमणिच्छत्रविमानानि चतुर्दश ॥ (मार्कण्डेयपुराण)

अर्थात् हाथी, घोड़ा, रथ, स्त्री, बाण, खजाना, माला, वस्त्र, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र और विमान—ये चौदह महारत्न हैं ।

रथस्थां तां निरीक्ष्याह शैब्या पतिममर्षिता ॥३६॥

केयं कुहक मत्स्थानं रथमारोपितेति वै ।

स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत् ॥३७॥

अहं वन्ध्यासपत्नी च स्नुषा मे युज्यते कथम्[1] ।

जनयिष्यसि यं राज्ञि तस्येयमुपयुज्यते ॥३८॥

अन्वमोदन्त[2] तद्विश्वेदेवाः पितर एव च ।

शैब्या गर्भमधात्काले कुमारं सुषुवे शुभम् ।

स विदर्भ इति प्रोक्त उपयेमे स्नुषां सतीम् ॥३९॥

एक कन्या हर लाया । उसे रथमें बैठी देख शैब्याने क्रोधित होकर अपने पतिसे कहा—॥३५-३६॥ "हे कपटी ! कहो, आज मेरे बैठनेके स्थानमें तुमने यह रथमें कौन बिठा रखी है ?" तब राजाके यों कहनेपर कि 'यह तुम्हारी पुत्रवधू है' उसने मुसकाकर पतिसे कहा—॥ ३७ ॥ "मैं तो वन्ध्या हूँ और मेरे कोई सौत भी नहीं है, फिर यह मेरी पुत्रवधू कैसे हुई ?" तब राजाने कहा—"तुम जो पुत्र उत्पन्न करोगी यह उसीकी स्त्री होगी" ॥ ३८ ॥ राजाके उस वचनका विश्वेदेव और पितृगणने अनुमोदन किया । अतः यथासमय शैब्याने गर्भ धारण किया और एक सुन्दर बालक उत्पन्न किया । वह विदर्भ कहलाया और उसने शैब्याकी साध्वी पुत्रवधूसे विवाह किया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे यदुवंशानुवर्णने[3]
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ अध्याय

विदर्भ-वंश

श्रीशुक उवाच

तस्यां विदर्भोऽजनयत्पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ[4] ।

तृतीयं रोमपादं च विदर्भकुलनन्दनम् ॥ १ ॥

रोमपादसुतो बभ्रुर्बभ्रोः कृतिरजायत ।

उशिकस्तत्सुतस्तस्माच्चेदिश्चैद्यादयो नृपाः ॥ २ ॥

क्रथस्य कुन्तिः पुत्रोऽभूद्धृष्टिस्तस्याथ निर्वृतिः ।

ततो दशार्हो नाम्नाभूत्तस्य व्योमः सुतस्ततः ॥ ३ ॥

जीमूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथः सुतः ।

ततो नवरथः पुत्रो जातो दशरथस्ततः ॥ ४ ॥

करम्भिः शकुनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मजः ।

देवक्षत्रस्ततस्तस्य मधुः कुरुवशादनुः[5] ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उस भोज्यासे राजा विदर्भने कुश, क्रथ और तीसरा विदर्भनन्दन रोमपाद—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ १ ॥ रोमपादका पुत्र बभ्रु था, बभ्रुसे कृतिका जन्म हुआ, उसका पुत्र उशिक हुआ तथा उशिकसे चेदि हुआ जिससे चैद्य आदि नृपतिगण हुए ॥ २ ॥ क्रथका पुत्र कुन्ति हुआ, कुन्तिका धृष्टि, धृष्टिका निर्वृति, निर्वृतिका दशार्ह तथा दशार्हका व्योमनामक पुत्र हुआ ॥ ३ ॥ उसका पुत्र जीमूत हुआ तथा जीमूतका विकृति और विकृतिका भीमरथनामक पुत्र हुआ; फिर भीमरथके नवरथ और नवरथके दशरथका जन्म हुआ ॥ ४ ॥ दशरथके शकुनि और शकुनिके करम्भिनामक पुत्र हुआ, उसका पुत्र देवरात था । तथा देवरातके देवक्षत्र, देवक्षत्रके मधु, मधुके कुरुवश और कुरुवशके अनुका जन्म हुआ ॥ ५ ॥

१. युज्येत मे कथम् । २. प्रत्यमोदन्त । ३. नुकथने । ४. क्रथकौशिकौ । ५. शास्ततः ।

पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यायुः सात्वतस्ततः ।
भजमानो भजिर्दिव्यो वृष्णिर्देवावृधोऽन्धकः ॥ ६ ॥
सात्वतस्य सुताः सप्त महाभोजश्च मारिष ।
भजमानस्य निम्लोचिः[1] किङ्किणो धृष्टिरेव च ॥ ७ ॥
एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्यां च त्रयः सुताः ।
शताजिच्च सहस्राजिदयुताजिदिति प्रभो ॥ ८ ॥
बभ्रुर्देवावृधसुतस्तयोः श्लोकौ पठन्त्यमू ।
यथैव[2] शृणुमो दूरात्सम्पश्यामस्तथान्तिकात् ॥ ९ ॥
बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधः समः ।
पुरुषाः पञ्चषष्टिश्च षट् सहस्राणि चाष्ट च ॥१०॥
येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रोर्देवावृधादपि ।
महाभोजोऽपि[3] धर्मात्मा भोजा[4] आसंस्तदन्वये ॥११॥

अनुका पुत्र पुरुहोत्र था, उसके आयु और आयुके सात्वत-का जन्म हुआ। हे आर्य! सात्वतके भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक और महाभोजनामक सात पुत्र हुए। हे राजन्! उनमें भजमानकी एक स्त्रीसे निम्लोचि, किङ्किण और धृष्टिनामक तीन पुत्र हुए और दूसरीसे शताजित्, सहस्राजित् और अयुताजित्—ये तीन पुत्र हुए ॥ ६–८ ॥ देवावृधका पुत्र बभ्रु हुआ; उन दोनों (पिता-पुत्रों) के विषयमें ये दो श्लोक कहे जाते हैं—'हमने जैसा दूरसे सुना था वैसा ही पाससे देखनेमें भी आया ॥ ९ ॥ बभ्रु मनुष्योंमें श्रेष्ठ है और देवावृध देवताओंके समान है, क्योंकि बभ्रु और देवावृधसे उपदेश पाकर चौदह हजार पैंसठ मनुष्य अमरपद प्राप्त कर चुके हैं।' [सात्वतकुमार] महाभोज भी बड़ा धर्मात्मा था, उसकी सन्ततिमें भोजवंशी यादव हुए ॥१०-११॥

वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोऽभूद्युधाजिच्च परंतप ।
शिनिस्तस्यानमित्रश्च निम्नोऽभूदनमित्रतः ॥१२॥
सत्राजितः प्रसेनश्च निम्नस्याप्यासतुः सुतौ ।
अनमित्रसुतो योऽन्यः शिनिस्तस्याथ सत्यकः ॥१३॥
युयुधानः सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणिस्ततः ।
युगन्धरोऽनमित्रस्य वृष्णिः पुत्रोऽपरस्ततः ॥१४॥
श्वफल्कश्चित्ररथश्च गान्दिन्यां च श्वफल्कतः ।
अक्रूरप्रमुखा[5] आसन्पुत्रा द्वादश विश्रुताः ॥१५॥
आसङ्गः सारमेयश्च मृदुरो मृदुविद्गिरिः ।
धर्मवृद्धः सुवर्मा च क्षेत्रोपेक्षोऽरिमर्दनः ॥१६॥
शत्रुघ्नो गन्धमादश्च प्रतिबाहुश्च द्वादश ।
तेषां स्वसा सुचीराख्या द्वावक्रूरसुतावपि ॥१७॥
देववानुपदेवश्च तथा चित्ररथात्मजाः ।
पृथुर्विदूरथाद्याश्च[6] बहवो वृष्णिनन्दनाः ॥१८॥

हे शत्रुदमन! वृष्णिके सुमित्र और युधाजित्-नामक दो पुत्र हुए। उनमें युधाजित्के शिनि और अनमित्रका जन्म हुआ तथा अनमित्रसे निम्न उत्पन्न हुआ ॥१२॥ सत्राजित और प्रसेन ये दोनों निम्नके ही पुत्र थे। अनमित्रका जो शिनिनामक एक और पुत्र था उसका पुत्र सत्यक हुआ ॥१३॥ सत्यकका पुत्र युयुधान सात्यकि था। उसके जय, जयके कुणि और कुणिके युगन्धरका जन्म हुआ। अनमित्र-का एक पुत्र वृष्णि था उसके श्वफल्क और चित्ररथ ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें श्वफल्कद्वारा गान्दिनीके गर्भसे अक्रूर आदि बारह [अर्थात् अक्रूरसहित तेरह] विख्यात पुत्र हुए ॥१४-१५॥ उनके नाम ये हैं—आसङ्ग, सारमेय, मृदुर, मृदुवित्, गिरि, धर्मवृद्ध, सुवर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमाद और प्रतिबाहु। उनकी सुचीरानाम्नी एक बहिन थी। इनके सिवा अक्रूरजीके पुत्र देववान् और उपदेव तथा [श्वफल्कके भाई] चित्ररथके पुत्र पृथु और विदूरथ आदि अनेकों वृष्णिवंशी यादव हुए ॥१६–१८॥

१. निम्लोचिः । २. यथा च । ३. जोऽतिधर्मा० । ४. जाश्चासं० । ५. खाश्चासन्० । ६. र्विपृथुधन्याद्याः ।

कुकुरो भजमानश्च शुचिः कम्बलबर्हिषः ।
कुकुरस्य सुतो वह्निर्विलोमा तनयस्ततः ॥१९॥
कपोतरोमा तस्यानुः सखा यस्य च तुम्बुरुः ।
अन्धको दुन्दुभिस्तस्मादरिद्योतः पुनर्वसुः ॥२०॥
तस्याहुकश्चाहुकी च कन्या चैवाहुकात्मजौ ।
देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः ॥२१॥
देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्धनः ।
तेषां स्वसारः सप्तासन्धृतदेवादयो नृप ॥२२॥
शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता ।
सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥२३॥
कंसः सुनामा न्यग्रोधः कङ्कः शङ्कुः सुहूस्तथा ।
राष्ट्रपालोऽथ सृष्टिश्च तुष्टिमानौग्रसेनयः ॥२४॥
कंसा कंसवती कङ्का शूरभू राष्ट्रपालिका ।
उग्रसेनदुहितरो वसुदेवानुजस्त्रियः ॥२५॥
शूरो विदूरथादासीद्भजमानः सुतस्ततः ।
शिनिस्तस्मात्स्वयंभोजो हृदीकस्तत्सुतो मतः ॥२६॥
देवबाहुः शतधनुः कृतवर्मेति तत्सुताः ।
देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत् ॥२७॥
तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान् ।
वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम् ॥२८॥
सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम् ।
देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि ॥२९॥
वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम् ।
पृथा च श्रुतदेवा च श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवाः ॥३०॥
राजाधिदेवी चैतेषां भगिन्यः पञ्च कन्यकाः ।

[सात्वतपुत्र अन्धकके] कुकुर, भजमान, शुचि और कम्बलबर्हि नामक चार पुत्र हुए । उनमें कुकुरका पुत्र वह्नि हुआ और वह्निका विलोमा ॥१९॥ विलोमाका पुत्र कपोतरोमा था, कपोतरोमाका अनु हुआ जिसका सखा तुम्बुरु गन्धर्व था । उसके अन्धकका जन्म हुआ, अन्धकका पुत्र दुन्दुभि हुआ तथा दुन्दुभिका अरिद्योत और अरिद्योतका पुनर्वसु हुआ ॥२०॥ उसके आहुक और आहुकी नामकी एक कन्या हुई । आहुकके पुत्र देवक और उग्रसेन थे । उनमें देवकके देववान्, उपदेव, सुदेव और देववर्धन ये चार पुत्र हुए । हे राजन् ! उनकी धृतदेवा आदि सात बहिनें थीं ॥२१-२२॥ उनके नाम धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी थे; उन सबका विवाह वसुदेवजीके साथ हुआ ॥२३॥ कंस, सुनामा, न्यग्रोध, कङ्क, शङ्कु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टि और तुष्टिमान्—ये उग्रसेनके पुत्र थे ॥२४॥ तथा कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरभू और राष्ट्रपालिका—ये उग्रसेनकी पुत्रियाँ वसुदेवजीके छोटे भाइयोंकी स्त्रियाँ थीं ॥२५॥

[चित्ररथके पुत्र] विदूरथसे शूरका जन्म हुआ, शूरसे भजमान, भजमानसे शिनि, शिनिसे स्वयम्भोज और स्वयम्भोजसे हृदीकनामक पुत्र हुआ ॥२६॥ उसके पुत्र देवबाहु, शतधनु और कृतवर्मा थे । देवमीढके पुत्र शूरकी मारिषा नामवाली पत्नी थी ॥२७॥ उससे उन्होंने वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कङ्क, शमीक, वत्सक और वृक—ये दश निष्पाप पुत्र उत्पन्न किये । जिनके जन्मके समय देवताओंके दुन्दुभि और आनक (नौबत) स्वयं ही बजने लगे थे । अतः श्रीहरिके जन्मस्थानरूप उन वसुदेवजीको आनकदुन्दुभि कहते हैं । शूरसेनकी पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी—ये पाँच कन्याएँ इन वसुदेवादिकी बहिनें थीं ।

१. धृष्टि० । २. तु । ३. द्वावा० । ४. वीत० । ५. देवी न श्रीदेवी । ६. नुग्रसेनजाः । ७. त्सुतोऽजोऽभूद् हृदी० । ८. धर्मे० ।

कुन्तेः सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात् ॥३१॥
साप दुर्वाससो विद्यां देवहूतीं प्रतोषितात् ।
तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिम् ॥३२॥
तदैवोपागतं देवं वीक्ष्य विस्मितमानसा ।
प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे याहि देव क्षमस्व मे ॥३३॥
अमोघं दर्शनं देवि आधत्से त्वयि चात्मजम् ।
योनिर्यथा न दुष्येत कर्ताहं ते सुमध्यमे ॥३४॥
इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवं गतः ।
सद्यः कुमारः संजज्ञे द्वितीय इव भास्करः ॥३५॥
तं सात्यजन्नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती ।
प्रपितामहस्तामुवाह पाण्डुर्वै सत्यविक्रमः ॥३६॥

पिता शूरसेनने अपने सखा कुन्तिभोजको, जो निःसन्तान थे, अपनी पुत्री पृथा दे दी थी ॥२८-३१॥ उसने, अपनेसे प्रसन्न हुए दुर्वासा ऋषिसे देवताओंको बुला लेनेकी विद्या प्राप्त की थी । उस विद्याके प्रभावकी परीक्षा करनेके लिये उसने शुद्धस्वरूप सूर्यदेवका आवाहन किया ॥३२॥ तब भगवान् सूर्यको तत्काल उपस्थित हुए देख उसने चकितचित्त होकर कहा—"भगवन् ! मुझे क्षमा कीजिये, मैंने परीक्षाके लिये ही इस विद्याका प्रयोग किया था, अब आप पधारिये" ॥३३॥ इसपर सूर्यदेवने कहा—"देवि ! मेरा दर्शन वृथा नहीं होता, अतः हे सुन्दरि ! मैं तुझमें इस प्रकार पुत्र स्थापित करूँगा जिससे तेरी योनि दूषित न हो" ॥३४॥ ऐसा कह उसमें गर्भ स्थापित कर सूर्यदेव स्वर्गलोकको चले गये । तदनन्तर उससे दूसरे सूर्यके समान तत्काल ही एक पुत्र उत्पन्न हुआ॥३५॥ तब लोकनिन्दासे भय मानकर उसने बड़े दुःखसे उस बालकको नदीके जलमें छोड़ दिया । हे राजन् ! उस पृथाको तुम्हारे परदादा सच्चे शूरवीर महाराज पाण्डुने विवाहा था ॥३६॥

श्रुतदेवां तु कारूषो वृद्धशर्मा समग्रहीत् ।
यस्यामभूद्दन्तवक्र ऋषिशप्तो दितेः सुतः ॥३७॥
कैकेयो धृष्टकेतुश्च श्रुतिकीर्तिमविन्दत ।
सन्तर्दनादयस्तस्य पञ्चासन्कैकयाः सुताः ॥३८॥
राजाधिदेव्यामावन्त्यौ जयसेनोऽजनिष्ट ह ।
दमघोषश्चेदिराजः श्रुतश्रवसमग्रहीत् ॥३९॥
शिशुपालः सुतस्तस्याः कथितस्तस्य सम्भवः ।

हे राजन् ! [पृथाकी छोटी बहिन] श्रुतदेवाको करूषनरेश वृद्धशर्माने ग्रहण किया, जिससे दन्तवक्र-नामक पुत्र हुआ, जो पूर्वजन्ममें सनकादिके शापसे दितिपुत्र हिरण्याक्ष हुआ था ॥३७॥ केकयनरेश धृष्टकेतुने श्रुतिकीर्तिसे विवाह किया, उससे सन्तर्दन आदि पाँच कैकय राजकुमार हुए॥३८॥ राजाधिदेवीसे राजा जयसेनने [विन्द और अनुविन्दनामक] दो अवन्तिनरेश उत्पन्न किये । श्रुतश्रवाको चेदिराज दमघोषने ग्रहण किया ॥३९॥ उसका पुत्र शिशुपाल हुआ, जिसका जन्मवृत्तान्त पहले वर्णन कर चुके हैं ।

देवभागस्य कंसायां चित्रकेतुबृहद्बलौ ॥४०॥
कंसवत्यां देवश्रवसः सुवीर इषुमांस्तथा ।
कङ्कायामानकाज्जातः सत्यजित्पुरुजित्तथा ॥४१॥

[वसुदेवजीके छोटे भाई] देवभागके कंसाके गर्भसे चित्रकेतु और बृहद्बलनामक दो पुत्र हुए ॥ ४० ॥ देवश्रवाके कंसवतीसे सुवीर और इषुमान्‌का जन्म हुआ तथा आनकके वीर्यसे कङ्काके सत्यजित् और पुरुजित् उत्पन्न हुए ॥ ४१ ॥

१. तया । २. प० । ३. आदिदेव क्षम० । ४. देवसंकाशमाधास्ये त्व० । ५. इति शब्दो दि० । ६. जयत्सेनो ।

सृञ्जयो राष्ट्रपाल्यां च वृषदुर्मर्षणादिकान् ।
हरिकेशहिरण्याक्षौ शूरभूम्यां च श्यामकः ॥४२॥
मिश्रकेश्यामप्सरसि वृकादीन्वत्सकस्तथा ।
तक्षपुष्करशालादीन्दुर्वाक्ष्यां वृक आदधे ॥४३॥
सुमित्रार्जुनपालादीञ्छमीकात्तु सुदामिनी ।
कङ्कश्च कर्णिकायां वै ऋतधामजयावपि ॥४४॥
पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला ।
देवकीप्रमुखा आसन्पत्न्य आनकदुन्दुभेः ॥४५॥
बलं गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् ।
वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत् ॥४६॥
सुभद्रो भद्रवाहश्च दुर्मदो भद्र एव च ।
पौरव्यास्तनया ह्येते भूताद्या द्वादशाभवन् ॥४७॥
नन्दोपनन्दकृतकशूराद्या मदिरात्मजाः ।
कौसल्या केशिनं त्वेकमसूत कुलनन्दनम् ॥४८॥
रोचनायामतो जाता हस्तहेमाङ्गदादयः ।
इलायामुरुवल्कादीन्यदुमुख्यानजीजनत् ॥४९॥
विपृष्ठो धृतदेवायामेक आनकदुन्दुभेः ।
शान्तिदेवात्मजा राजञ्छ्रमप्रतिश्रुतादयः ॥५०॥
राजानः कल्पवर्षाद्या उपदेवासुता दश ।
वसुहंससुवंशाद्याः श्रीदेवायास्तु षट् सुताः ॥५१॥
देवरक्षितया लब्धा नव चात्र गदादयः ।
वसुदेवः सुतानष्टावादधे सहदेवया ॥५२॥
पुरुविश्रुतमुख्यांस्तु साक्षाद्धर्मो वसूनिव ।
वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत् ॥५३॥
कीर्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः ।
ऋजुं सम्मर्दनं भद्रं संकर्षणमहीश्वरम् ॥५४॥
अष्टमस्तु तयोरासीत्स्वयमेव हरिः किल ।
सुभद्रा च महाभागा तव राजन्पितामही ॥५५॥

सृञ्जयने राष्ट्रपालिकासे वृष और दुर्मर्षणादिको जन्म दिया तथा श्यामकने शूरभूमिके गर्भसे हरिकेश और हिरण्याक्षनामक दो पुत्र उत्पन्न किये ॥४२॥ वत्सकने मिश्रकेशी अप्सरासे वृक आदि तथा वृकने दुर्वाक्षीसे तक्ष, पुष्कर एवं शाल आदि पुत्र उत्पन्न किये ॥४३॥ शमीकके वीर्यसे उसकी भार्या सुदामिनीने सुमित्र और अर्जुनपाल आदि बालक जने तथा कङ्कने कर्णिकासे ऋतधाम और जयको उत्पन्न किया ॥४४॥

वसुदेवजीके पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला और देवकी आदि कई स्त्रियाँ थीं ॥४५॥ उनमेंसे रोहिणीके गर्भसे वसुदेवजीने बल, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और कृत आदि पुत्र उत्पन्न किये ॥४६॥ पौरवीसे उनके सुभद्र, भद्रवाह, दुर्मद, भद्र और भूत आदि सुप्रसिद्ध बारह पुत्र हुए ॥४७॥ नन्द, उपनन्द, कृतक और शूर आदि मदिराके पुत्र हुए तथा कौसल्याने केशीनामक एक ही कुलदीपक पुत्र उत्पन्न किया ॥४८॥ रोचनासे उनके हस्त और हेमाङ्गदादि पुत्र उत्पन्न हुए तथा इलासे उन्होंने उरु और वल्क आदि यदुश्रेष्ठोंको उत्पन्न किया ॥४९॥ हे राजन् ! धृतदेवाके गर्भसे आनकदुन्दुभिके विपृष्ठ नामक एक पुत्र हुआ तथा शान्तिदेवाके पुत्र श्रम और प्रतिश्रुत आदि हुए ॥५०॥ उपदेवाके पुत्र कल्प, वर्ष आदि दश राजा हुए तथा श्रीदेवाके वसु, हंस और सुवंश आदि छः पुत्र हुए ॥५१॥ देवरक्षितासे उनके गद आदि नौ पुत्र हुए तथा सहदेवासे उन्होंने, जैसे साक्षात् धर्मने आठ वसुओंको उत्पन्न किया था उसी प्रकार पुरुविश्रुत आदि आठ पुत्र उत्पन्न किये । देवकीसे वसुदेवजीने आठ पुत्र उत्पन्न किये ॥५२-५३॥ जिनमें सात कीर्तिमान्, सुषेण, उदारचित्त भद्रसेन, ऋजु, सम्मर्दन, भद्र और शेषावतार श्रीसंकर्षणजी थे ॥५४॥ तथा उनमें आठवें साक्षात् श्रीहरि थे । हे राजन् ! तुम्हारी दादी महाभागा सुभद्रा भी देवकीकी ही कन्या थी ॥ ५५ ॥

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥५६॥
न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते ।
आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः ॥५७॥
यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि ।
अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते ॥५८॥
अक्षौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनैः ।
भुव आक्रम्यमाणाया अभाराय कृतोद्यमः ॥५९॥
कर्माण्यपरिमेयानि मनसापि सुरेश्वरैः ।
सहसंकर्षणश्चक्रे भगवान्मधुसूदनः ॥६०॥
कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम् ।
अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद्यशः ॥६१॥
यस्मिन्सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत् ।
श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम् ॥६२॥
भोजवृष्ण्यन्धकमधुशूरसेनदशार्हकैः ।
श्लाघनीयेहितः शश्वत्कुरुसृञ्जयपाण्डुभिः ॥६३॥
स्निग्धस्मितेक्षितोदारैर्वाक्यैर्विक्रमलीलया ।
नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया ॥६४॥
तस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥६५॥

जब-जब संसारमें धर्मका क्षय और पापका अभ्युदय होता है तभी सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि अवतार धारण करते हैं ॥ ५६ ॥ हे पृथिवीपते ! सबके नियन्ता, साक्षी और अन्तरात्मा-रूप उन असंग परमात्माके जन्म और कर्मका, अपनी मायाके सिवा और कोई कारण नहीं है ॥ ५७ ॥ जिनका कि मायाविलास ही जीवके उत्पत्ति, स्थिति और मरणका कारण है और जिनका अनुग्रह ही इन जन्म-मरणादिकी निवृत्ति और आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका हेतु है ॥५८॥

हे राजन् ! अनेकों अक्षौहिणी सेनाके स्वामी राजवेषधारी असुरोंसे पृथिवीके आक्रान्त हो जानेपर उसका भार उतारनेके लिये उद्यत हुए भगवान् मधुसूदनने श्रीसंकर्षणजीके साथ ऐसे अनेकों कार्य किये जिनका देवेश्वरगण भी मनसे अनुमान नहीं कर सकते ॥५९-६०॥ और भक्तोंपर कृपा करनेके लिये कलियुगमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके दुःख, शोक और अज्ञानको निवृत्त करनेवाला अपना पवित्र सुयश संसारमें फैलाया ॥ ६१ ॥ जो यशरूप पवित्र तीर्थ साधु पुरुषोंके कानोंके लिये अमृतके समान है और जिसमें श्रोत्ररूप अञ्जलीसे एक बार भी आचमन करके पुरुष [मोक्षकी प्रतिबन्धस्वरूप] कर्मवासनाको तत्काल त्याग देता है ॥ ६२ ॥

हे राजन् ! जिनकी लीलाएँ भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु, शूरसेन, दशार्ह, कुरु, सृञ्जय और पाण्डुवंशीय वीरोंसे निरन्तर प्रशंसित होती रहती थीं उन श्रीहरिने अपनी स्नेहयुक्त मधुरमुसकानमयी चितवन, प्रसादपूर्ण वचन, विक्रममयी लीला और सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपसे इस मानवसमाजको आनन्दित किया ॥६३-६४॥ जो मकराकृत कुण्डलमण्डित कमनीय कर्ण और कान्तिमय कपोलोंसे अत्यन्त सुशोभित था उनके उस सविलास हासयुक्त नित्य प्रफुल्लित मुखारविन्दको अपने नयनपुटसे सानन्द पान करते हुए नर-नारी कभी तृप्त नहीं होते थे; प्रत्युत [पलकोंके मुँदने और खुलनेको भी सहन न कर सकनेके कारण उसके अधिष्ठाता] निमिपर कुपित होते थे ॥ ६५ ॥

जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थो
हत्वा रिपून्सुतशतानि कृतोरुदारः ।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे
आत्मानमात्मनिगमं प्रथयञ्जनेषु ॥६६॥

वे जन्म लेनेके पश्चात् अपने पितृगृहसे गोकुलको गये, वहाँ पोषित होकर अपने शत्रुओंका संहार किया और फिर बहुत-सी स्त्रियोंसे विवाह कर सैकड़ों पुत्र उत्पन्न किये तथा लोगोंमें वेदकी मर्यादा स्थापित करनेके लिये अनेकों यज्ञोंद्वारा स्वयं अपना ही यजन किया ॥६६॥

पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन्कुरूणा-
मन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्वः ।
दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य
प्रोच्योद्धवाय च परं समगात्स्वधाम ॥६७॥

तदनन्तर पृथिवीके बढ़े हुए भारको उतारनेके लिये कौरव और पाण्डवोंमें उत्पन्न हुए कलहसे युद्धस्थलमें अपनी दृष्टिसे ही राजाओंकी सम्पूर्ण सेनाओंका विध्वंस कर अर्जुनका जयघोष कराया और फिर उद्धवको आत्मज्ञानका उपदेश कर अपने निजधामको चले गये ॥६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां
नवमस्कन्धे श्रीसूर्यसोमवंशानुकीर्तने यदुवंशानुकीर्तनं
नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

समाप्तोऽयं नवमः स्कन्धः

ॐ तत्सत्
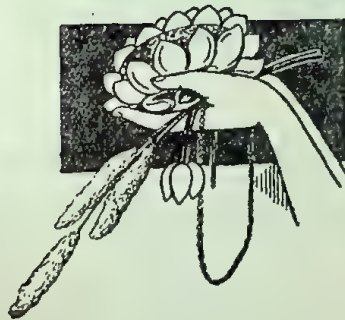
श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

दशम स्कन्ध

(पूर्वार्ध)

देवक्या पालितो गर्भे लालितोऽङ्के यशोदया ।
यशोदयायुतो बालो गोपालो रमतां हृदि ॥

श्रीगोपकुमाराय नमः

श्रीमद्भागवत

दशम स्कन्ध

(पूर्वार्ध)

पहला अध्याय

पृथिवीको आश्वासन, वसुदेव-देवकीका विवाह तथा कंसद्वारा देवकीके छः पुत्रोंका वध ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

राजोवाच

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः ।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १ ॥
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम ।
तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ॥ २ ॥
अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान्भूतभावनः ।
कृतवान्यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥ ३ ॥

निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना-
द्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥ ४ ॥
पितामहा मे समरेऽमरञ्जयै-
र्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं
कृत्वातरन्वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥ ५ ॥

राजा परीक्षित् बोले—भगवन् ! आपने चन्द्रवंश और सूर्यवंशके विस्तारका वर्णन किया तथा उन दोनों वंशोंमें उत्पन्न हुए राजाओंके अति विचित्र चरित्र भी सुनाये ॥ १ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! आपने सदा धर्मपरायण रहनेवाले राजा यदुके वंशका भी वर्णन किया; अब हमें उसी वंशमें अपने अंशसे उत्पन्न हुए भगवान् विष्णुके चरित्र सुनाइये ॥ २ ॥ जीवोंका पालन करनेवाले सर्वात्मा श्रीहरिने यदुवंशमें अवतीर्ण होकर जो-जो लीलाएँ कीं वह सब विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ३ ॥ जिनका निःस्पृह (जीवन्मुक्त) महात्मागण भी गान करते हैं, जो [मुमुक्षुओंके लिये] संसार-रोगकी एकमात्र ओषधि हैं, तथा जो [विषयी पुरुषोंके भी] मन और कानको अत्यन्त प्रिय हैं, भगवान् उत्तम-श्लोकके उन गुणानुवादोंको सुननेसे आत्मघाती या पशुहिंसक पुरुषके सिवा और कौन विमुख हो सकता है ? ॥ ४ ॥ अहो ! जो कौरवसैन्य-समुद्र तिमिङ्गिल (समुद्रमें रहनेवाले महामत्स्य) रूप भीष्मादि सुरविजयी महारथियोंके कारण अत्यन्त दुस्तर था उसे जिन भगवान् कृष्णरूप नौकाका आश्रय कर हमारे दादाओंने गोपदके समान सुगमतासे ही पार कर लिया ॥ ५ ॥

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं
सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो
मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥ ६ ॥
वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजा-
मन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च
मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥

तथा जिस समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रसे कौरव-पाण्डव-वंशका बीजरूप मेरा यह देह दग्ध हो रहा था उस समय शरणमें गयी हुई मेरी माताके गर्भमें प्रवेश कर जिन्होंने सुदर्शनचक्रद्वारा इसकी रक्षा की ॥ ६ ॥ तथा जो समस्त देहधारियोंके भीतर जीवरूपसे और बाहर कालरूपसे स्थित होकर उन्हें जीवन और मृत्यु देते हैं,* हे विद्वन् ! उन मायामानव श्रीहरिकी लीलाओंका वर्णन कीजिये ॥७॥

रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया ।
देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥ ८ ॥
कस्मान्मुकुन्दो भगवान्पितुर्गेहाद्व्रजं गतः ।
क्व वासं ज्ञातिभिः सार्धं[1] कृतवान्सात्वतां पतिः ॥ ९ ॥
व्रजे वसन्किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः ।
भ्रातरं चावधीत्कंसं मातुरद्धातदर्हणम् ॥१०॥
देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः ।
यदुपुर्यां सहावात्सीत्पत्न्यः कत्यभवन्प्रभोः ॥११॥
एतदन्यच्च[2] सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम् ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ॥१२॥
नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥१३॥

भगवन् ! आपने [नवम स्कन्धमें] बलरामजीको रोहिणीका पुत्र बतलाया [और फिर देवकीके आठ पुत्रोंमें भी उनकी गणना की !] सो दूसरा देह धारण किये बिना ही उनका देवकीके गर्भसे किस प्रकार सम्बन्ध हुआ ? ॥ ८ ॥ तथा भगवान् कृष्णचन्द्र अपने पिताका घर छोड़कर व्रजको क्यों गये ? और फिर उन यादवपतिने अपने जाति-भाइयोंके साथ कहाँ-कहाँ निवास किया ? ॥ ९ ॥ भगवान्‌ने व्रज तथा मथुरापुरीमें निवास करते समय क्या-क्या लीलाएँ कीं ? उन्होंने अपनी माताके भाई कंसको क्यों मारा ? उसका उनके हाथसे मारा जाना तो उचित नहीं मालूम होता ॥ १० ॥ भगवान् मनुष्यदेह धारण कर यादवोंके साथ कितने वर्ष द्वारकापुरीमें रहे ? और उन प्रभुके कितनी धर्मपत्नियाँ थीं ? ॥ ११ ॥ हे मुने ! आप सर्वज्ञ हैं । मुझे कृष्णचरित्र सुननेकी बड़ी लालसा है । अतः ये सब बातें और इनके सिवा उनकी और भी सब लीलाएँ विस्तारपूर्वक सुनाइये ॥ १२ ॥ भगवन् ! मैंने अन्न-जल त्याग दिया है, किन्तु आपके मुखकमलसे निकलते हुए हरिकथारूप अमृतका पान करनेसे मुझे दुःसह भूख-प्यासका भी कोई कष्ट नहीं है ॥ १३ ॥

सूत उवाच

एवं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं

सूतजी कहते हैं—हे भृगुनन्दन शौनकजी ! राजा परीक्षित्‌के ये उत्तम प्रश्न सुनकर भागवतप्रधान भगवान्

१. साकं । २. एतं ।

* समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित भगवान् उनके जीवनके कारण हैं तथा बाहर कालरूपसे स्थित हुए वे ही उनका नाश करते हैं । अतः जो आत्मज्ञानीजन अन्तर्दृष्टिद्वारा उन अन्तर्यामीकी उपासना करते हैं वे मोक्षरूप अमरपद पाते हैं और जो विषयपरायण अज्ञानी पुरुष बाह्यदृष्टिसे विषयचिन्तनमें ही लगे रहते हैं वे जन्म-मरणरूप मृत्युके भागी होते हैं ।

वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातम् ।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं
व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥१४॥

शुकदेवजीने उनकी प्रशंसा की और फिर भगवान् कृष्णके कलिमलनाशक चरित्रोंका वर्णन करना आरम्भ किया ॥ १४ ॥

श्रीशुक उवाच

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम ।
वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः ॥१५॥
वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन्पुनाति हि ।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा ॥१६॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजर्षिश्रेष्ठ ! तुम्हारी बुद्धिका यह बड़ा ही सुन्दर निश्चय है जो कि [इस अन्त समयपर] तुम्हारा कृष्ण-कथामें ऐसा सुदृढ अनुराग हुआ है ॥ १५ ॥ भगवान्‌के चरणोदक श्रीगङ्गा-जलके समान, उनकी कथा-वार्ता भी वक्ता, श्रोता और प्रश्नकर्ता इन तीनों श्रेणीके समस्त पुरुषोंको पवित्र कर देती है ॥ १६ ॥

भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥१७॥
गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः ।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचत ॥१८॥
ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह ।
जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥१९॥
तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम् ।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥२०॥
गिरं समाधौ गगने समीरितां
निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह ।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥२१॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥२२॥
वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान्पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥२३॥
वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् ।

[अच्छा, अब तुम अपने प्रश्नोंका उत्तर सुनो—] जब उन्मत्त राजाओंके रूपमें असंख्य दैत्यगण पृथिवीपर मनमाने अत्याचार करने लगे तब वह उनके भारसे पीडित हो गोरूप धारण कर, आँखोंमें आँसू भरे तथा खिन्न होकर दीन स्वरसे विलाप करती हुई ब्रह्माजीकी शरणमें गयी । वहाँ पहुँचकर उसने उन्हें अपना सारा कष्ट कह सुनाया ॥ १७-१८ ॥ उसकी कष्ट-कथा सुन ब्रह्माजी उसे साथ ले महादेवजी तथा अन्य देवताओंके सहित क्षीरसमुद्रके किनारे गये ॥ १९ ॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने एकाग्रचित्तसे देवाधिदेव जगत्पति परमपुरुष भगवान् नारायणकी पुरुषसूक्तसे स्तुति की ॥ २० ॥ तब उन्हें समाधि-अवस्थामें आकाशवाणी सुन पड़ी । उसे सुनकर उन्होंने अन्य देवताओंसे कहा—"हे देवगण ! मुझे जो ईश्वरकी वाणी सुन पड़ी है वह सुनो और फिर तुरन्त वैसा ही करो, उसके पालनमें देरी न होनी चाहिये ॥ २१ ॥ भगवान्‌को पृथिवीके कष्टका पहलेहीसे पता है । अतः जबतक वे अपनी कालशक्तिसे उसका भार नष्ट करते हुए भूलोकमें विहार करें तबतक तुम सब भी अपने अंशोंसे यदुकुलमें उत्पन्न होकर उनके साथ रहो ॥ २२ ॥ वसुदेवजीके यहाँ साक्षात् परमपुरुष परमात्माका आविर्भाव होगा, उनकी प्रसन्नताके लिये समस्त देवाङ्गनाएँ भी मर्त्यलोकमें जन्म लें ॥ २३ ॥ भगवान् वासुदेवके कलारूप, स्वयंप्रकाश सहस्रवदन

१. मतिः । २. समवोचत । ३. ष्यति । ४. वन्त्वमरस्त्रियः ।

अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥२४॥
विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत् ।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥२५॥

शेषजी भी श्रीहरिका प्रिय करनेके लिये उनसे पहले अवतीर्ण होंगे ॥ २४ ॥ और जिसने सम्पूर्ण जगत्को मोहित कर रखा है वह परम ऐश्वर्यशालिनी विष्णुमाया भी भगवान्की आज्ञासे उनका कार्य करनेके लिये अपने अंशसे प्रकट होगी'' ॥ २५ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्यामरगणान्प्रजापतिपतिर्विभुः ।
आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ॥२६॥
शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन्पुरीम् ।
माथुराञ्छूरसेनांश्च विषयान्बुभुजे पुरा ॥२७॥
राजधानी ततः साभूत्सर्वयादवभूभुजाम् ।
मथुरा भगवान्यत्र नित्यं संनिहितो हरिः ॥२८॥
तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः ।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥२९॥
उग्रसेनसुतः कंसः[1] स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
रश्मीन्हयानां जग्राह[2] रौक्मै रथशतैर्वृतः ॥३०॥
चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम् ।
अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम् ॥३१॥
दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते ।
दुहित्रे देवकः प्रादाद्याने दुहितृवत्सलः ॥३२॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गाश्च नेदुर्दुन्दुभयः समम् ।
प्रयाणप्रक्रमे तावद्वरवध्वोः सुमङ्गलम् ॥३३॥
पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक् ।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध ॥३४॥
इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः ।
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत् ॥३५॥
तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम् ।
वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन् ॥३६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रजापतियोंके पति श्रीब्रह्माजी देवताओंको इस प्रकार आज्ञा दे और पृथिवीको धीरज बँधा अपने परमधाम (सत्यलोक) को गये ॥ २६ ॥ [अब इधर पृथिवीपर क्या हुआ सो सुनो—] पूर्वकालमें यादवराज राजा शूरसेन मथुरापुरीमें रहते हुए माथुर और शूरसेन देशोंका राज्य करते थे ॥ २७ ॥ उस समय मथुरापुरी ही समस्त यदुवंशी राजाओंकी राजधानी थी, जिसमें कि श्रीहरि सर्वदा विराजमान रहते हैं ॥ २८ ॥ एक बार उस नगरमें शूरनन्दन श्रीवसुदेवजी देवकीके साथ विवाह कर अपने घर जानेके लिये नवोढा वधूके सहित रथपर सवार हुए ॥ २९ ॥ उस समय राजा उग्रसेनका पुत्र कंस उन्हें बहुत-से सुवर्णमण्डित रथोंके साथ पहुँचाने चला और अपनी बहिनकी प्रसन्नताके लिये उसने उसका रथ हाँकनेके लिये घोड़ोंकी रास स्वयं पकड़ ली ॥३०॥ पुत्रीवत्सल महाराज देवकने कन्याको विदा करते समय सुवर्णमालाविभूषित चार सौ हाथी, पन्द्रह हजार घोड़े, अठारह सौ रथ तथा विचित्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित दो सौ सुकुमारी दासियाँ दहेजमें दीं ॥३१-३२॥ जिस समय वर और वधू विदा हुए उस समय शंख, तूर्य, मृदङ्ग और दुन्दुभी आदि अनेकों मङ्गलमय बाजे एक साथ बजने लगे ॥३३॥ मार्गमें जिस समय कंस रथ हाँक रहा था उसे यह आकाशवाणी सुनायी पड़ी—''अरे मूर्ख ! जिसको तू रथमें बिठाकर ले जा रहा है उसी देवकीका आठवाँ बालक तुझे मारेगा'' ॥ ३४ ॥ आकाशवाणीके इस प्रकार कहनेपर वह महापापी भोजकुलकलङ्क दुष्ट कंस तलवार खींचकर देवकीको मारनेके लिये उद्यत हो गया और उसके केश पकड़ लिये ॥३५॥ उस निर्लज्ज और महाक्रूर कंसको ऐसा निन्द्य कर्म करते देख महाभाग वसुदेवजीने उसे समझाते हुए कहा ॥३६॥

१. कंसो भगिन्याः प्रिय० । २. जग्रहे ।

वसुदेव उवाच[1]

श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान्भोजयशस्करः ।
स कथं भगिनीं हन्यात्स्त्रियमुद्वाहपर्वणि ॥३७॥
मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥३८॥
देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः ।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥३९॥
व्रजंस्तिष्ठन्पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥४०॥
स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं
मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन्
प्रपद्यते तत्किमपि ह्यपस्मृतिः ॥४१॥
यतो यतो धावति दैवचोदितं
मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु ।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ
प्रपद्यमानः सह तेन जायते ॥४२॥
ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः
समीरवेगानुगतं विभाव्यते ।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान्
गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति ॥४३॥
तस्मान्न कस्यचिद्द्रोहमाचरेत्स तथाविधः ।
आत्मनः क्षेममन्विच्छन्द्रोग्धुर्वै परतो भयम् ॥४४॥

वसुदेवजी बोले—कंस ! आपने भोजवंशका यश बढ़ाया है, सभी शूरवीर आपके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं । ऐसे प्रख्यात वीर होकर भी आप इस विवाहोत्सवके अवसरपर अपनी अबला बहिनको मारनेके लिये कैसे उद्यत हो गये ? ॥३७॥ हे वीर ! मृत्यु तो सभी जन्मधारी प्राणियोंके शरीरके साथ ही उत्पन्न होती है । आज हो अथवा सौ वर्ष पश्चात्, प्राणियोंकी मृत्यु तो निश्चित ही है ॥३८॥ शरीरका अन्त होनेपर उसके अभिमानी जीवको अपने कर्मानुसार विवश होकर अन्य देह ग्रहण कर पहला शरीर त्यागना पड़ता है ॥३९॥ जिस प्रकार चलते समय एक पैर जमा लेनेपर दूसरा पैर उठाते हैं अथवा जैसे तृणजलूका (एक प्रकारका कीड़ा) किसी तिनकेको पकड़ लेता है तभी पहले तिनकेको छोड़ता है उसी प्रकार जीव अपने कर्मानुसार एक देहसे दूसरे देहमें जाता है ॥४०॥ जिस प्रकार मनुष्य देखे-सुने पदार्थोंके संस्कारयुक्त मनसे चिन्तन करनेके कारण स्वप्नमें वैसा ही कोई देह देखता है और फिर उसीमें संकल्पद्वारा आत्मभाव हो जानेसे अपने जाग्रत्कालीन शरीरको भूल जाता है उसी प्रकार तरह-तरहकी कामनाओंमें चित्त फँसा होनेके कारण देहान्तर प्राप्त होनेपर जीव उसीमें दृढ अभिमान कर लेता है और अपने पूर्व शरीरको भूल जाता है ॥४१॥ अन्तकाल उपस्थित होनेपर यह नानाविकारमय मन अपने प्रारब्ध कर्मोंकी प्रेरणासे मायाद्वारा विविध शरीररूपसे रचे हुए पञ्च भूतोंमेंसे जिस-जिसकी ओर दौड़ता है और उनमेंसे जिस-जिसको उपलब्ध करता है उसी-उसीमें आत्मभावना करके यह प्राणी उसीके साथ जन्म ग्रहण करता है ॥४२॥ जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रादि ज्योतिर्मय पदार्थ जलयुक्त घट आदिमें [अथवा जल, तैल आदि तरल पदार्थोंमें] प्रतिबिम्बित होनेपर वायुके वेगसे अनुगत होनेके कारण चञ्चल प्रतीत होते हैं उसी प्रकार जीव अपनी मायासे रचे हुए विषयोंमें अनुरक्त होनेसे मोहित हो जाता है ॥४३॥ इसलिये अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले इस जीवको चाहिये कि कभी किसीसे द्रोह न करे, क्योंकि द्रोह करनेवालेको ही दूसरेसे भय होता है ॥४४॥

१. प्राचीन प्रतिमें यहाँ 'वसुदेव उवाच' इतना अंश नहीं है ।

एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा ।
हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः ॥४५॥

यह आपकी छोटी बहिन अभी बच्ची है, यह अत्यन्त दीन और आपकी पुत्रीके समान है; आप दीनोंकी रक्षा करनेवाले हैं, इसलिये विवाहके माङ्गलिक चिह्नोंसे युक्त इस बेचारी बालिकाको मारना आपके लिये उचित नहीं है ॥४५॥

श्रीशुक उवाच

एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोऽपि[1] दारुणः ।
न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः ॥४६॥
निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः ।
प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत ॥४७॥
मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम् ।
यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः ॥४८॥
प्रदाय मृत्यवे पुत्रान्मोचये कृपणामिमाम् ।
सुता मे यदि जायेरन्मृत्युर्वा न म्रियेत चेत् ॥४९॥
विपर्ययो वा किं न स्याद्गतिर्धातुर्दुरत्यया ।
उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत् ॥५०॥
अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयो-
रदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति ।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः
शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥५१॥
एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम् ।
पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरःसरम् ॥५२॥
प्रसन्नवदनाम्भोजो नृशंसं निरपत्रपम् ।
मनसा दूयमानेन विहसन्निदमब्रवीत् ॥५३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार वसुदेवजीने 'साम और भेदनीतिका अवलम्बन कर कंसको बहुत कुछ समझाया परन्तु राक्षसोंका अनुवर्तन करनेवाला दुष्ट कंस अपने दुःसाहससे निवृत्त न हुआ ॥४६॥ उसका ऐसा हठ देखकर वसुदेवजी उस समयको टाल देनेका उपाय सोचने लगे। तब इस विषयमें उन्होंने यह निश्चय किया—॥ ४७ ॥ 'बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि जहाँतक उसकी बुद्धि और बल काम दें वहाँतक मृत्युको टालनेका प्रयत्न करे । यदि फिर भी वह न टल सके तो इसमें मनुष्यका कोई अपराध नहीं है ॥ ४८ ॥ इसलिये मैं इस मृत्युरूप कंसको इसके पुत्रोंको देनेकी प्रतिज्ञा कर इस दीन अबलाके प्राण बचाऊँ । यदि मेरे पुत्र उत्पन्न होंगे और तबतक उनकी मृत्युरूप कंस नहीं मरेगा तो भी क्या इसके विचारसे विपरीत कार्य नहीं हो सकता ? विधाताकी गति बड़ी दुर्गम है [उसे कौन जान सकता है ?] उपस्थित हुई मृत्यु टल जाती है और टली हुई पुनः उपस्थित हो जाती है ॥४९-५०॥ जिस प्रकार अग्निके साथ काष्ठका संयोग होने या न होनेमें अदृष्टके सिवा कोई और कारण नहीं हो सकता उसी प्रकार जीवके साथ शरीर-के संयोग-वियोगका हेतु भी सर्वथा अचिन्तनीय है' * ॥ ५१ ॥ अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रकार निश्चय कर शूरपुत्र वसुदेवजीने पहले तो खूब सम्मान दिखाते हुए उस पापीकी प्रशंसा की ॥ ५२ ॥ फिर भीतरसे दुःख मानते हुए और ऊपरसे प्रसन्नमुखसे हँसते हुए उस निर्लज्ज नृशंस कंससे इस प्रकार कहने लगे ॥ ५३ ॥

१. श्रोद्यमानो ।

* जिस समय वनमें आग लगती है उस समय देखा जाता है कि बहुत-से अग्निके पासके वृक्ष बच जाते हैं और दूरके जल जाते हैं; उनके जलने या न जलनेका कारण अदृष्ट ही कहा जा सकता है । उसी प्रकार प्राणियोंमें किसीके मरने या जीनेमें भी सिवा अदृष्टके और क्या कारण हो सकता है ? इसलिये जीवन-मरणका प्रश्न युक्तिवादसे सर्वथा अचिन्तनीय है ।

वसुदेव उवाच

नह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद्वै साहाशरीरवाक् ।
पुत्रान्समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम् ॥५४॥

श्रीशुक उवाच

स्वसुर्वधान्निववृते[1] कंसस्तद्वाक्यसारवित् ।
वसुदेवोऽपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद्गृहम् ॥५५॥
अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता ।
पुत्रान्प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम् ॥५६॥
कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः ।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः ॥५७॥
किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम् ।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ॥५८॥
दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितम् ।
कंसस्तुष्टमना राजन्प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥५९॥
प्रतियातु[2] कुमारोऽयं नह्यस्मादस्ति मे भयम् ।
अष्टमाद्युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे[3] विहितः किल ॥६०॥
तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः[4] ।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मनः ॥६१॥
नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः ।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ॥६२॥
सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत ।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥६३॥
एतत्कंसाय भगवाञ्छशंसाभ्येत्य नारदः[5] ।
भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ॥६४॥

वसुदेवजी बोले—हे सौम्य ! आकाशवाणीके कथनानुसार आपको देवकीसे तो कोई भय है ही नहीं; अतः जिनसे आपको भय हो रहा है इसके वे सब पुत्र मैं आपको सौंप दूँगा ॥५४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—वसुदेवजीका कथन युक्तियुक्त समझकर कंसने अपनी बहिनको मारनेका संकल्प छोड़ दिया और वसुदेवजी भी उसकी प्रशंसा कर प्रसन्नतापूर्वक अपने घर चले आये ॥५५॥ कालक्रमसे सर्वदेवमयी श्रीदेवकीजीके गर्भसे प्रत्येक वर्षमें एक-एक कर आठ पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ ॥ ५६ ॥ वसुदेवजीने चित्तमें दुःख मानकर भी कीर्तिमान्नामक अपना पहला पुत्र कंसको सौंप दिया, क्योंकि वे झूठसे बहुत डरते थे ॥ ५७ ॥ सच है, साधु पुरुष धर्मरक्षाके लिये क्या सहन नहीं कर सकते ? ज्ञानीलोग किस बातकी अपेक्षा रखते हैं ? नीच पुरुष ऐसा कौन-सा कुकर्म है जिसे नहीं कर सकते ? और जितेन्द्रिय पुरुष क्या नहीं त्याग सकते ? ॥ ५८ ॥ हे राजन् ! वसुदेवजीकी ऐसी समता और सत्यपरायणता देख कंसने सन्तुष्ट होकर उनसे हँसते हुए कहा ॥ ५९ ॥ "आप इस बालकको ले जाइये, इससे मुझे कोई भय नहीं है; मेरी मृत्यु तो आपके आठवें पुत्रके हाथ ही बदी है" ॥ ६० ॥ तब वसुदेवजी 'बहुत अच्छा' कह उस बालकको लेकर अपने घर चले आये; किन्तु उन्होंने कंसकी बातका विश्वास नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि कंस महादुष्ट है और उसका मन उसके वशमें नहीं है ॥ ६१ ॥

इधर देवर्षि भगवान् नारदने कंसके पास आकर कहा—"राजन् ! व्रजमें रहनेवाले नन्दादि गोप, उनकी स्त्रियाँ, वसुदेवादि वृष्णिवंशी यादव, देवकी आदि यदुकुलकी स्त्रियाँ और इन [नन्द-वसुदेव] दोनोंके जातिबन्धु तथा मित्रगण जो [ऊपरसे] तुम्हारी सेवा करनेवाले हैं—ये सभी देवतारूप हैं । पृथिवीके भाररूप दैत्योंका वध करनेके लिये ही देवताओंका यह उद्यम है" ॥६२—६४॥

---

१. सुद्वधा० । २. यवीयांस्तु । ३. योः पुत्रान्मृ० । ४. यावदानक० । ५. वाञ्छ्रावयामास नार० ।

ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून्मत्वा सुरानिति ।
देवक्या गर्भसम्भूतं विष्णुं च स्ववधं प्रति ॥६५॥
देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे ।
जातं जातमहन्पुत्रं तयोरजनशङ्कया ॥६६॥
मातरं पितरं भ्रातॄन्सर्वांश्च सुहृदस्तथा[1] ।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ॥६७॥
आत्मानमिह सञ्जातं जानन्प्राग्विष्णुना हतम् ।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ॥६८॥
उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम्[2] ।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान्महाबलः ॥६९॥

देवर्षि नारदके ऐसा कहकर चले जानेपर कंसने यादवोंको देवगण और देवकीके बालकोंको अपना वध करनेके लिये प्रकट हुए विष्णुभगवान् जानकर वसुदेव-देवकीको पकड़वा लिया और उन्हें जंजीरोंसे जकड़वाकर एक घरमें बन्द करा दिया तथा देवकीके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक बालकको विष्णुकी आशंकासे मारने लगा ॥ ६५-६६ ॥ संसारमें प्रायः देखा गया है कि अपने ही प्राणोंका पालन करनेवाले लोभी राजालोग अपने माता, पिता, भाई और समस्त मित्रोंकी भी हत्या कर डालते हैं ॥ ६७ ॥ कंस जानता था कि 'मैं पूर्वजन्ममें कालनेमिनामक महादैत्य था और उस समय विष्णु-भगवान्‌के हाथसे मारा जाकर मैं यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ । इसलिये उसने यादवोंसे विरोध ठाना ॥ ६८ ॥ उस महाबलीने यदु, भोज और अन्धकवंशी यादवोंके नायक अपने पिता उग्रसेनको बन्दीगृहमें डाल दिया और स्वयं निष्कण्टक होकर शूरसेन देशका राज्य करने लगा ॥६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[3] पूर्वार्धे
श्रीकृष्णावतारोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

भगवान्‌का गर्भ-प्रवेश ।

श्रीशुक उवाच

प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः[4] ।
मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ॥ १ ॥
अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः ।
यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः ॥ २ ॥
ते पीडिता निविविशुः कुरुपञ्चालकेकयान् ।
शाल्वान्विदर्भान्निषधान्विदेहान्कोसलानपि ॥ ३ ॥
एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! महाबली कंस मगधराज जरासन्धकी सहायतासे प्रलम्बासुर, बकासुर, चाणूर, तृणावर्त, अघासुर, मुष्टिक, अरिष्टासुर, द्विविद, पूतना, केशी, धेनुक, तथा बाणासुर, भौमासुर आदि अन्य दैत्यराजोंके साथ मिलकर यादवोंका दमन करने लगा ॥ १-२ ॥ उससे पीडित होकर यादवगण कुरु, पञ्चाल, केकय, शाल्व, विदर्भ, निषध, विदेह और कोसल आदि देशोंमें जा बसे ॥ ३ ॥ केवल थोड़े-से यादव उसकी चित्तवृत्तिका अनुसरण करते हुए वहाँ रहकर उसकी सेवा करते रहे । जब कंसने

१. सुहृदः सखीन् । २. यदूनामन्धका० । ३. स्कन्धे प्रथ० । ४. ह्यसुरैः ।

हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥ ४ ॥
सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते ।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः ॥ ५ ॥

देवकीजीके क्रमशः छः बालक मार डाले तो, जिन्हें 'अनन्त' कहते हैं वे, भगवान् विष्णुके अंश शेषजी उनके हर्ष और शोककी वृद्धि करनेवाले सातवें गर्भरूपसे स्थित हुए ॥ ४-५ ॥

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम् ।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥ ६ ॥
गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलङ्कृतम् ।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्यास्ते नन्दगोकुले ।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ॥ ७ ॥
देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम् ।
तत्संनिकृष्य रोहिण्या उदरे संनिवेशय ॥ ८ ॥
अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे ।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥९॥
अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम् ।
धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम् ॥१०॥
नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि ।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥११॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च ।
माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ॥१२॥
गर्भसंकर्षणात्तं वै प्राहुः संकर्षणं भुवि ।
रामेति लोकरमणाद्बलं बलवदुच्छ्रयात् ॥१३॥

इधर, जब विश्वात्मा भगवान् वासुदेवने अपने ही आश्रित रहनेवाले यादवोंको कंससे भयभीत देखा तो उन्होंने योगमायाको आज्ञा दी—॥ ६ ॥ "हे देवि ! हे भद्रे ! तुम गौ और गोपगणसे सुशोभित व्रजभूमिको जाओ । आजकल वसुदेवजीकी स्त्री रोहिणी नन्दजीके ग्राम गोकुलमें है, तथा उनकी और भी स्त्रियाँ कंससे भयभीत होकर गुप्त स्थानोंमें निवास कर रही हैं ॥ ७ ॥ इस समय मेरा शेषनामक तेजोमय अंश देवकीके गर्भमें है, उसे वहाँसे निकालकर रोहिणीके गर्भमें स्थित करो ॥ ८ ॥ हे शुभे ! फिर मैं अपने ज्ञान-बलादि अंशोंके सहित पूर्णरूपसे अवतीर्ण होकर देवकीका पुत्र होऊँगा और तुम नन्दपत्नी यशोदाके गर्भसे जन्म लोगी ॥ ९ ॥ तुम समस्त कामना और वरोंकी देनेवाली होगी; लोग तुम्हें समस्त कामना और वरोंकी अधीश्वरी जानकर धूप, उपहार और नाना प्रकारकी भेंटोंसे तुम्हारी पूजा करेंगे ॥ १० ॥ मनुष्य तुम्हारे बहुत-से नाम रक्खेंगे और कितने ही स्थान बनावेंगे । तुम्हारे दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका आदि नाम होंगे ॥ ११-१२ ॥ और गर्भका आकर्षण किये जानेके कारण वह बालक संसारमें 'संकर्षण' नामसे विख्यात होगा; तथा लोकरञ्जन करनेके कारण 'राम' और बलवानोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण 'बलभद्र' भी कहलावेगा ॥ १३ ॥

सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः ।
प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत्तथाकरोत् ॥१४॥
गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया ।

भगवान्के इस प्रकार आज्ञा देनेपर भगवती मायाने 'जो आज्ञा' ऐसा कह उसे स्वीकार किया और उनकी परिक्रमा कर उसने भूलोकमें आकर वैसा ही किया ॥ १४ ॥ जब योगमायाने देवकीजीके गर्भको ले जाकर रोहिणीके उदरमें स्थापित कर दिया तो

१. निद्रां । २. याः । ३. कर्मवरे० । ४. नानोप० ।

अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः ॥१५॥
भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः ।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥१६॥
स बिभ्रत्पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः ।
दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह ॥१७॥
ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं
समाहितं शूरसुतेन देवी ।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं
काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः ॥१८॥
सा देवकी सर्वजगन्निवास-
निवासभूता नितरां न[3] रेजे ।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा
सरस्वती ज्ञानखले यथा सती ॥१९॥
तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां
विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम् ।
आहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां
ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी ॥२०॥
किमद्य तस्मिन्करणीयमाशु मे
यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् ।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयं
यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः ॥२१॥
स एष जीवन्खलु सम्परेतो
वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन ।
देहे मृते तं मनुजाः शपन्ति
गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् ॥२२॥

पुरवासीगण 'हाय ! देवकीका गर्भ नष्ट हो गया' इस प्रकार जोरोंसे चर्चा करने लगे ॥ १५ ॥ तदनन्तर भक्तभयहारी सर्वात्मा श्रीभगवान्ने भी अपनी सम्पूर्ण कलाओंके सहित आनकदुन्दुभि (वसुदेवजी) के अन्तःकरणमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥ अन्तःकरणमें भगवान्का दिव्य तेज धारण करनेके कारण श्रीवसुदेवजी सूर्यके समान देदीप्यमान होने लगे तथा वे समस्त प्राणियोंके लिये असह्य और अदम्य हो गये ॥ १७ ॥ फिर, जगत्का मङ्गल करनेवाले अपने आत्मस्वरूप सर्वात्मा श्रीअच्युतके उस दिव्य तेजको वसुदेवजीके द्वारा अपनेमें आधान किये जानेपर देवी देवकीजीने विशुद्ध मनसे धारण किया, जैसे पूर्व दिशा पूर्ण चन्द्रको धारण करती है ॥ १८ ॥ किन्तु, सम्पूर्ण जगत्के आश्रयरूप भगवान्की आश्रय होकर भी देवकीजी सर्वथा सुशोभित न हुईं, क्योंकि घटादिके भीतर बंद हुए दीपक या ज्ञानवञ्चकके अन्तःकरणमें रहनेवाली सद्विद्याके समान वे कंसके कारागृहमें बंद थीं ॥ १९ ॥

भगवान् अजित जिनके गर्भमें हैं उन मनोहर मुसकानवाली श्रीदेवकीजीको अपनी दिव्य कान्तिसे समस्त कारागृहको आलोकित करती देख कंस मन-ही-मन कहने लगा—'अबकी बार निश्चय ही इसके गर्भमें मेरे प्राण लेनेवाले हरिने प्रवेश किया है, क्योंकि इससे पहले यह ऐसी तेजस्विनी नहीं थी ॥ २० ॥ अब मुझे इस हरिके नाशका शीघ्र हो क्या उपाय करना चाहिये ? [देवकीको मारना तो सर्वथा अनुचित है क्योंकि] वीर पुरुष स्वार्थवश होकर भी अपना पराक्रम दूषित नहीं करते । इसको मारनेमें तो स्त्रीवध, भगिनीवध और गर्भिणीके वधका पाप लगेगा जो कि तत्काल ही यश, श्री और आयुका नाश कर देता है ॥ २१ ॥ जो पुरुष अत्यन्त हिंसा-वृत्तिसे रहता है वह तो जीता हुआ भी मरेहीके समान है। उसका देहपात होनेपर लोग उसकी निन्दा करते हैं [और कहते हैं] कि यह अवश्य ही देहाभिमानियोंके योग्य तमोमय लोकोंको प्राप्त होगा' ॥ २२ ॥

---

१. राज० । २. सदः सुदु० । ३. विरेजे । ४. मयार्थ० ।

इति घोरतमाद्भावात्सन्निवृत्तः स्वयं प्रभुः ।
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत् ॥२३॥
आसीनः संविशंस्तिष्ठन्भुञ्जानः पर्यटन्महीम् ।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मयं जगत् ॥२४॥
ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः ।
देवैः[2] सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमैडयन् ॥२५॥

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥२६॥
एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल-
श्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥२७॥
त्वमेक एवास्य सतः प्रसूति-
स्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां
पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥२८॥

ऐसा सोचकर वह समर्थ होनेपर भी स्वयं ही देवकीके वधरूप भयंकर विचारसे निवृत्त हो गया और भगवान्‌से वैर बाँधकर उनके जन्मकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २३ ॥ वह उठते, बैठते, खाते, पीते और पृथिवीपर चलते-फिरते हर समय श्रीहरिकी चिन्ताहीमें रहने लगा, यहाँतक कि उसे सम्पूर्ण जगत् हरिमय दिखायी देने लगा ॥ २४ ॥ हे राजन् ! इसी समय नारदादि मुनियोंके सहित अपने अनुगामी देवताओंके साथ श्रीब्रह्मा और महादेव-जी देवकीके निवासस्थानमें आये और सुमधुर वचनोंसे सर्वकामप्रद श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—॥२५॥

'प्रभो ! आप सत्यसंकल्प हैं, सत्य ही आपकी प्राप्तिका प्रधान साधन है तथा आप तीनों कालमें सत्य हैं । आप सत्य (दृश्यमान जगत्) के आदिकारण, सत्यमें ही स्थित और सत्यके भी सत्य हैं । * ऋत[1] और सत्य[2] ही आपके नेत्र[3] हैं । हे सत्यस्वरूप ! हम आपके शरणागत हैं ॥ २६ ॥ इस संसाररूप सनातन वृक्षकी एक (प्रकृति) ही आश्रय है, [सुख-दुःख] दो फल हैं, तीन (गुण) मूल हैं, [अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष] चार रस हैं, पाँच (ज्ञानेन्द्रियाँ) जाननेके साधन हैं, [शोक, मोह, जरा, मृत्यु, भूख और प्यास—ये] छः स्वभाव हैं, सात (धातुएँ) त्वचा हैं, [पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहंकार—ये] आठ शाखाएँ हैं, [आँख-नाक आदि] नौ छिद्र हैं, दश (प्राण) पत्ते हैं तथा इसपर [जीवात्मा और परमात्मा] दो पक्षी निवास करते हैं ॥ २७ ॥ इस संसार-वृक्षके एकमात्र आप ही उत्पत्तिस्थान हैं, आप ही अधिष्ठान हैं और आप ही पालन करनेवाले हैं । जिन पुरुषोंका चित्त आपकी मायासे आवृत है वे ही आपको अनेक-रूप देखते हैं, तत्त्वज्ञानी विद्वान् लोग नहीं ॥ २८ ॥

१. टन् पिबन् । २. देवाः सानुचराः ।

* अर्थात् यह जगत् आपहीसे उत्पन्न होता है, आपहीमें स्थित है और अन्तमें आपहीमें लीन हो जाता है, तथा इसका लय हो जानेपर भी आप स्थित रहते हैं ।

१. सुन्दर वाणी; २. समदर्शन; जैसा कि कहा है—'ऋतञ्च सूनृता वाणी सत्यं च समदर्शनम्' । ३. नयन अथवा नेता (आपके प्रति ले जानेवाले) ।

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य ।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥२९॥
त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनावेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥३०॥
स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते
निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥३१॥
येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥३२॥
तथा न ते माधव तावकाः क्वचि-
द्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥३३॥
सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान्स्थितौ
शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि-
स्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥३४॥
सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवे-
द्विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥३५॥

आप ज्ञानस्वरूप हैं; सम्पूर्ण चराचर जगत्के कल्याणके लिये ही आप विशुद्धसत्त्वमय अनेक रूप धारण करते हैं । आपके वे रूप साधु पुरुषोंको सुख देनेवाले और दुष्टोंका अमंगल करनेवाले होते हैं ॥ २९ ॥ हे कमलनयन ! कोई-कोई पुरुष आप निखिलसत्त्वस्वरूपमें समाधियोगके द्वारा अपना चित्त लगाकर महत्पुरुषोंद्वारा सेवित आपके चरणकमलरूप नौकाका आश्रय कर इस संसार-समुद्रको गोपदके समान पार कर जाते हैं ॥ ३० ॥ हे कान्तिमय ! आप सत्पुरुषोंपर कृपा करनेवाले हैं; आपके परमप्रेममय भक्तजन स्वयं तो इस महाभयंकर और दुस्तर संसार-समुद्रको पार कर ही जाते हैं, किन्तु औरोंके कल्याणके लिये भी आपके चरणकमलरूप नौका यहाँ छोड़ जाते हैं [अर्थात् भक्तिमार्ग प्रवृत्त कर जाते हैं] ॥ ३१ ॥ हे कमल-लोचन ! आपके भक्तोंसे भिन्न जो अन्य पुरुष व्यर्थ मुक्त होनेका अभिमान करते हैं, तथा आपके भक्तिभावसे रहित होनेके कारण जिनका चित्त शुद्ध नहीं है वे बड़े परिश्रमसे प्राप्त किये हुए स्वर्गादि उत्तम लोकोंमें जाते हैं और फिर आपके चरणोंकी आराधनासे विमुख होनेके कारण वहाँसे नीचे गिरते हैं ॥३२॥ किन्तु हे माधव ! जो आपहीमें सुदृढ प्रेम रखनेवाले आपके भक्तजन हैं वे उन ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति कभी सन्मार्गसे भ्रष्ट नहीं होते । हे प्रभो ! आपसे सुरक्षित होकर वे विघ्नोंकी सेनाके सरदारके शिरपर पैर रखते हुए निर्भय विचरते हैं ॥ ३३॥ भगवन् ! आप संसारकी स्थितिके लिये विशुद्ध सत्त्वका आश्रय कर देहधारियोंके परम कल्याणका साधन दिव्यमङ्गलविग्रह धारण करते हैं, जिससे लोग उस रूपद्वारा आपका वेद (ज्ञान), क्रियायोग, तप और समाधि आदि साधनोंसे पूजन करते हैं ॥ ३४ ॥ हे विधातः ! यदि आप यह विशुद्धसत्त्वमय मूर्ति धारण न करते तो अज्ञान और भेदभावको नष्ट करनेवाला आपका अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता था, क्योंकि ये गुण जिसके हैं और जिससे प्रकाशित होते हैं [वह सर्वाधिष्ठान सर्वसाक्षी ही परमात्मा है] इस प्रकार गुणोंके प्रकाशसे ही आपका अनुमान किया जाता है ॥३५॥

न नामरूपे गुणजन्मकर्मभि-
निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो
देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥३६॥
शृण्वन्गृणन्संस्मरयंश्च चिन्तय-
न्नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते[2]।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-[3]
राविष्टचेता[4] न भवाय कल्पते ॥३७॥
दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो
भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः।
दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकैः सुशोभनै-
र्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ॥३८॥
न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं
विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥३९॥
मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंस-
राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश[5]
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥४०॥
दिष्ट्याम्ब[6] ते कुक्षिगतः परः पुमा-
नंशेन साक्षाद्भगवान्भवाय नः।
माभूद्भयं भोजपतेर्मुमूर्षो-
र्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥४१॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा।
ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम् ॥४२॥

हे देव! मन और वेद-वाणीके द्वारा जिनके स्वभावका केवल अनुमान ही किया जाता है ऐसे आप साक्षीके नाम और रूपका गुण, कर्म और जन्मादिके द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर भी आपके भक्त-जन उपासना आदि क्रियायोगसे आपका साक्षात्कार करते ही हैं ॥ ३६ ॥ जो पुरुष आपके चरणारविन्दोंमें चित्त लगाकर लौकिक-वैदिक क्रियाओंको करते समय आपके मङ्गलमय नाम और रूपोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करते रहते हैं वे संसारमें नहीं आते ॥ ३७ ॥ अहा! अब तो आप सर्वसमर्थ श्रीहरिके अवतीर्ण होनेसे आपकी चरणरूपा इस पृथिवीका भार दूर हो गया! हम बड़े भाग्यशाली हैं जो इस पृथिवीतलको आपके परम सुन्दर चरणचिह्नोंसे अङ्कित और स्वर्गलोकको आपकी कृपासे कृतार्थ देखेंगे! ॥ ३८ ॥ हे ईश्वर! आप अजन्मा हैं, हमें आपके जन्मका कारण लीलामय विनोदके सिवा और कुछ नहीं जान पड़ता; यही क्या, संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और निरोध भी आप निर्भय अधिष्ठानरूप सर्वात्मामें अविद्याकृत ही हैं ॥ ३९ ॥ हे यदुश्रेष्ठ! जिस प्रकार आप पूर्वकालमें मत्स्य, अश्व (हयग्रीव), कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, क्षत्रिय, ब्राह्मण और देवताओंमें अवतार लेकर हमारी और त्रिलोकीकी रक्षा करते आये हैं उसी प्रकार अब भी पृथिवीका भार उतारिये। हम आपकी वन्दना करते हैं ॥ ४० ॥ मातः देवकि! तुम्हारा बड़ा भाग्य है जो तुम्हारे गर्भमें हम सबका अभ्युदय करनेके लिये साक्षात् परमपुरुष भगवान् हरि अपनी सम्पूर्ण कलाओंसहित आये हैं। अब तुम मरणासन्न कंससे कोई भय मत करो, तुम्हारा पुत्र यदुकुलकी रक्षा करनेवाला होगा ॥४१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! जिनका रूप इस दृश्यप्रपञ्चसे भिन्न है उन श्रीहरिकी इस प्रकार यथामति स्तुति कर ब्रह्मा, महादेव आदि देवगण स्वर्गलोकको लौट गये ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[7] गर्भगतविष्णोर्ब्रह्मादिकृत-
स्तुतिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

---

१. गुणकर्मजन्मभिर्नि०। २. वः। ३. युष्मचर०। ४. चित्तो। ५. तथा०। ६. दिष्ट्या च ते। ७. न्धे द्विती०।

तीसरा अध्याय

श्रीकृष्णचन्द्रका प्रादुर्भाव।

श्रीशुक उवाच

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम् ॥ १ ॥
दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।
मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा ॥ २ ॥
नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।
द्विजालिकुलसंनादस्तबका वनराजयः ॥ ३ ॥
ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत ॥ ४ ॥
मनांस्यासन्प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्।
जायमानेऽजने तस्मिन्नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ॥ ५ ॥
जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः।
विद्याधर्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं तदा ॥ ६ ॥
मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् ॥ ७ ॥
निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः[१]।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! तदनन्तर जिस समय परम सुन्दर सर्वगुणसम्पन्न समय आया, ब्रह्माजीके नक्षत्र* (रोहिणी) का उदय हुआ, (अश्विनी आदि) समस्त नक्षत्र, ग्रह और तारागण शान्त हो गये ॥ १ ॥ सब दिशाएँ निर्मल हो गयीं, आकाशमें विमलकान्तिमय तारागण चमकने लगे, तथा पुर, ग्राम, गोष्ठ और रत्नादिकी खानोंके सहित सम्पूर्ण पृथिवी मङ्गलमयी हो गयी ॥ २ ॥ नदियोंका जल निर्मल हो गया, कमलोंके खिल जानेसे सरोवरोंकी शोभा बढ़ गयी, तथा वनोंकी श्रेणियाँ पक्षी और भ्रमरोंके कलरवसे गुञ्जायमान फूलोंके गुच्छोंसे सुशोभित हो गयीं ॥ ३ ॥ परमसुखदायक सुगन्धवाही स्वच्छ समीर चलने लगा, [अग्निहोत्रगृहोंमें] द्विजोंका सञ्चित अग्नि, जो शान्त हो चुका था, फिर स्वयं ही प्रज्वलित हो गया ॥ ४ ॥ तथा असुर-द्रोही देवादिकों एवं साधुपुरुषोंके चित्त प्रसन्न हो गये। उस समय अजन्मा भगवान्के आविर्भावकालमें आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं ॥ ५ ॥ किन्नर और गन्धर्वगण गान करने लगे, सिद्ध-चारणादिने स्तुतिगान आरम्भ किया और अप्सराओंके सहित विद्याधरियाँ नाचने लगीं ॥ ६ ॥ तथा देवता और मुनिगण आनन्दसे भरकर पुष्प बरसाने लगे। उस घोर अन्धकारमय अर्धरात्रिके समय श्रीजनार्दनके प्रकट होनेपर समुद्रके सहित मेघगण मन्द-मन्द स्वरसे गर्जने लगे। जैसे पूर्व दिशामें पूर्ण चन्द्रका प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार देवरूपिणी देवकीकी कुक्षिसे सर्वान्तर्यामी श्रीहरि प्रकट हुए ॥ ७-८ ॥

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम्[२]।

तब उस अद्भुत बालकको, जिसके नयन कमलके समान विशाल हैं, जो चार भुजाओंवाला है, जिसके चारों हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा आदि आयुध

१. गुणाश्रयः। २. दायुदायुधम्।

* यहाँ 'अजनजन्मर्क्ष' शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है—'अजन–अजन्मा भगवान् नारायणसे जिनका जन्म हुआ है, वे ब्रह्माजी 'अजनजन्मा' हैं और उनका नक्षत्र (रोहिणी) 'अजनजन्मर्क्ष' है' क्योंकि ब्रह्माजी रोहिणी नक्षत्रके अधिदेव हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रका प्रादुर्भाव

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥ [पृष्ठ २२६

श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥ ९ ॥
महार्हवैडूर्यकिरीटकुण्डल-
त्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभि-
र्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥१०॥
स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं
सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा ।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृश-
न्मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम् ॥११॥
अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं
परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः ।
स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं
विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित् ॥१२॥

सुशोभित हैं, जो वक्षःस्थलमें श्रीवत्सलाञ्छन, कण्ठमें कौस्तुभमणि और शरीरमें मनोहर पीताम्बर धारण किये हैं तथा जिसका सुन्दर वर्ण सजल जलधरके समान श्याम है, श्रीवसुदेवजीने देखा। उसकी अपरिमित घुँघराली अलकावली महामूल्यमय रत्न-किरीट और कुण्डलोंकी कान्ति पड़नेसे जगमगा रही थी तथा उसका सुन्दर श्याम शरीर देदीप्यमान मेखला, भुज-बन्द एवं कङ्कणादि सुवर्णाभूषणोंसे विभूषित था ॥ ९-१० ॥ उस समय श्रीहरिको पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए देखकर वसुदेवजीके नेत्र विस्मयपूर्ण आनन्दसे खिल गये। उन्होंने तुरन्त ही कृष्णावतारका महोत्सव मनानेकी उतावलीमें आनन्दमग्न होकर ब्राह्मणोंको दश सहस्र गौएँ देनेका संकल्प किया ॥ ११ ॥ हे परीक्षित् ! फिर अपनी कान्तिसे सूतिका-गृहको प्रकाशित करते हुए उस बालकको साक्षात् परमपुरुष जानकर उनका प्रभाव जाननेवाले मतिमान् वसुदेवजीका भय जाता रहा और वे नतमस्तक हो हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे ॥ १२ ॥

वसुदेव उवाच[1]

विदितोऽसि भवान्साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥१३॥
स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम् ।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥१४॥
यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह ।
नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि[2] ॥१५॥
सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव ।
प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः ॥१६॥
एवं भवान्बुद्ध्यनुमेयलक्षणै-
र्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः ।

श्रीवसुदेवजी बोले—भगवन् ! मैं आपको जान गया; आप प्रकृतिसे परे साक्षात् परमपुरुष हैं। आप विशुद्धज्ञानानन्दस्वरूप और सबकी बुद्धियोंके साक्षी हैं ॥ १३ ॥ प्रथम, आप ही अपनी मायासे इस त्रिगुणमय संसारकी रचना करते हैं और फिर उसमें प्रविष्ट न होते हुए भी प्रविष्ट-से प्रतीत होते हैं ॥ १४ ॥ जैसे महत्तत्त्वादि कारणतत्त्व पृथक्-पृथक् रहनेतक भिन्न-भिन्न सामर्थ्यवाले होनेके कारण कोई विशिष्ट कार्य नहीं कर सकते, वे इन्द्रियादि सोलह विकारोंके साथ मिलकर ही इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं, और इसे उत्पन्न कर इसीमें अनुप्रविष्ट-से प्रतीत होते हैं; परन्तु वास्तवमें उनका जन्म नहीं होता, क्योंकि वे तो कारणरूपसे पहले ही विद्यमान रहते हैं ॥ १५-१६ ॥ इसी प्रकार बुद्धिद्वारा जिनके लक्षणोंका अनुमान किया जाता है तथा जो इन्द्रियों-द्वारा ग्रहण किये जाते हैं उन गुणोंमें व्याप्त होते हुए भी आपका उनके ग्रहणसे ग्रहण नहीं होता,

१. प्राचीन प्रतिमें 'वसुदेव उवाच' यह पाठ नहीं है। २. च।

अनावृतत्वाद्बहिरन्तरं न ते
सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ॥१७॥
य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति
व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः ।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं
सम्यग्यतस्त्यक्तमुपाददत्पुमान् ॥१८॥
त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥१९॥
स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया
बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः ।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं
कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये ॥२०॥
त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषु-
र्गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर ।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपै-
र्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः ॥२१॥
अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नौ गृहे
श्रुत्वाग्रजांस्ते न्यवधीत्सुरेश्वर ।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं
श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥२२॥

क्योंकि उन गुणोंसे आवृत न होनेके कारण सर्वस्वरूप, सर्वान्तर्यामी एवं परमार्थ-आत्मस्वरूप आपमें बाहर-भीतरकी कल्पना नहीं है ॥ १७ ॥ जो पुरुष आत्माके दृश्य देहादिको अपनेसे पृथक् मानकर सत्य समझता है वह अज्ञानी है, क्योंकि विचार करनेपर वह वाग्विलासके सिवा और कुछ नहीं है । इस प्रकार विचारपूर्वक जिसका बाध हो गया है उसे सत्य माननेके कारण वह मनुष्य मूढ है ॥ १८ ॥ प्रभो ! कहते हैं, आप निष्क्रिय, निर्गुण और निर्विकारसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं । [यदि कहो कि निष्क्रियसे उत्पत्ति आदि क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? तो] इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि आप ईश्वर (सर्वसमर्थ) और ब्रह्म (सर्वाधिष्ठान) हैं । तीनों गुण आपके आश्रित हैं; अतः उनके कार्य उत्पत्ति आदिका आपमें आरोप किया जाता है ॥ १९ ॥ अपनी मायाद्वारा आप ही त्रिलोकीकी रक्षाके लिये सात्त्विक शुक्लवर्ण, उत्पत्तिके लिये रजःप्रधान रक्तवर्ण और संहारके लिये तमोमय कृष्णवर्ण धारण करते हैं ॥ २० ॥ हे विभो ! हे अखिलेश्वर ! इस समय इस लोककी रक्षाके लिये आपने मेरे यहाँ अवतार लिया है, अब आप राजा-नामधारी करोड़ों असुर-सेनापतियोंद्वारा सञ्चालित असंख्य सेनाका संहार करेंगे ॥२१॥ हे देवाधिदेव ! मेरे यहाँ आपके अवतीर्ण होनेकी सूचना पाकर इस महादुष्ट कंसने आपके बड़े भाइयोंको भी मार डाला । अब अपने दूतोंसे आपके प्रकट होनेका समाचार सुनते ही वह शस्त्र उठाये दौड़ा आवेगा ॥ २२ ॥

श्रीशुक उवाच

अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम् ।
देवकी तमुपाधावत्कंसाद्भीता शुचिस्मिता ॥२३॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने पुत्रमें परमपुरुष नारायणके लक्षण देखकर मनोहर मुसकानवाली देवी देवकीजी अति आनन्दित होकर कंससे डरती हुई उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगीं—॥ २३ ॥

---

१. हतवान् ।

देवक्युवाच

रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥२४॥
नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते
भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः ॥२५॥
योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो
चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां-
स्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥२६॥
मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
लोकान्सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥२७॥
स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्न-
स्त्राहि त्रस्तान्भृत्यवित्रासहासि।
रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं
मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः ॥२८॥
जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।

देवकीजी बोलीं—प्रभो! वेदोंमें जिस परमार्थ-तत्त्वको सबका आदिकारण बतलाया है तथा जिसका अव्यक्त, ब्रह्म (बृहद्), ज्योतिर्मय, निर्गुण, निर्विकार, सत्तामात्र, निर्विशेष और निरीह कहकर वर्णन किया है वे बुद्धि आदिके प्रकाशक साक्षात् विष्णु आप ही हैं* ॥ २४ ॥ जिस समय ब्रह्माकी परमायुका द्विपरार्ध काल समाप्त हो जानेसे कालके वेगसे संसार नष्ट हो जाता है और सम्पूर्ण भूत अपने कारण अहंकारमें लीन हो जाते हैं तथा अहंकार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है, उस समय एकमात्र आप ही शेषरूपसे बच रहते हैं ॥ २५ ॥ हे प्रकृतिप्रेरक प्रभो! जिसकी चेष्टासे सम्पूर्ण विश्व चेष्टा कर रहा है वह निमेषसे लेकर संवत्सरपर्यन्त महान् काल आपहीकी लीला कहा जाता है। आप सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर और अभयस्थान हैं, मैं आपकी शरण लेती हूँ ॥ २६ ॥ प्रभो! यह मरणधर्मा जीव मृत्युरूप कराल व्यालसे भयभीत होकर सम्पूर्ण लोकोंमें भटकते-भटकते कहीं भी निर्भय स्थान नहीं पा सका। आज बड़े भाग्यसे आपकी चरण-शरण पाकर यह सुखकी नींद सो रहा है, अब मृत्यु इससे दूर हट गयी है ॥ २७ ॥ नाथ! आप अपने भक्तोंका भय दूर करनेवाले हैं, इस दुष्ट कंससे हमारी रक्षा कीजिये, हम इससे अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं। [इसके सिवा इतनी प्रार्थना और है कि] अपना यह ध्यानगम्य भगवदीय रूप चर्मचक्षुवाले पुरुषोंके सामने प्रकट न करें ॥२८॥ हे मधुसूदन! मेरे गर्भसे आपके प्रकट होनेका वृत्तान्त पापी कंसको विदित

१. गरी०।

* यहाँ अव्यक्तादि विशेषणोंसे उत्तरोत्तर परमाणु आदिकी कारणताका निषेध करते हुए ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया गया है। 'अव्यक्त' कहनेसे परमाणुका भी बोध होता है इसलिये 'ब्रह्म' अर्थात् बृहत् कहा। 'ब्रह्म' शब्दसे प्रकृतिका भी ग्रहण किया जा सकता है इसलिये 'ज्योति' यानी 'चेतन' कहा। वैशेषिकमतावलम्बियोंका माना हुआ ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नादि गुणवाला आत्मा भी चेतन है इसलिये 'निर्गुण' कहा। इससे मीमांसकोंका ज्ञानपरिणामी आत्मा ग्रहण किया जा सकता है इसलिये 'निर्विकार' कहा। कुछ लोग आत्माको निर्विकार मानते हुए भी शक्तियोंद्वारा परिणामी मानते हैं इसलिये 'सत्तामात्र' कहा। नैयायिकोंका सामान्य भी सत्तामात्र ही है किन्तु प्रतिपक्षी 'विशेष' के कारण वह सविशेष है इसलिये उसका भी निषेध करनेके लिये 'निर्विशेष' कहा। निर्विशेष होनेपर भी जगत्का कारण होनेसे ब्रह्म सक्रिय होना चाहिये अतः उसकी सक्रियताका बाध करनेके लिये 'निरीह' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

सन्तुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥२९॥
उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥३०॥
विश्वं यदेतत्स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुषः परो भवान् ।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ॥३१॥

न हो। मैं अत्यन्त अधीर हूँ, मुझे आपके लिये भी कंससे बड़ा भय हो रहा है ॥ २९ ॥ हे विश्वात्मन् ! शंख, चक्र, गदा, पद्मकी शोभासे युक्त अपना यह अलौकिक चतुर्भुज रूप छिपा लीजिये ॥ ३० ॥ जो प्रलयके समय इस सम्पूर्ण विश्वको अपने शरीरमें यथावकाश धारण करते हैं वही आप परमपुरुष मेरे गर्भमें आये ! यह आपकी अद्भुत मनुष्यलीला ही है ! ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति ।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥३२॥
युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः ॥३३॥
वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणाननु ।
सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ ॥३४॥
शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा ।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः ॥३५॥
एवं वां तप्यतोस्तीव्रं[2] तपः परमदुष्करम् ।
दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः ॥३६॥
तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषानघे ।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः ॥३७॥
प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया ।
व्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः ॥३८॥
अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती ।
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ देव[3]मायया ॥३९॥
गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम् ।
ग्राम्यान्भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ ॥४०॥
अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम् ।

श्रीभगवान् बोले—हे देवि ! पूर्व जन्ममें स्वायम्भुव मन्वन्तरके समय तुम ही पृश्नि थीं और उस समय ये निष्पाप वसुदेवजी सुतपानामक प्रजापति थे ॥ ३२ ॥ जब ब्रह्माजीने तुम दोनोंको प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी तो तुम इन्द्रियोंका दमन कर घोर तप करने लगे ॥ ३३ ॥ तुम दोनोंने वर्षा, वायु, घाम, शीत, उष्ण आदि कालके गुणोंको सहते हुए बड़ी कठिन तपस्या की तथा प्राणायामद्वारा तुम्हारे मनका सब मल दूर हो गया ॥ ३४ ॥ तुम सूखे पत्ते और वायु भक्षण करते हुए मुझसे मनमाना वर माँगनेकी इच्छासे शान्तचित्तसे मेरी उपासना करने लगे ॥ ३५ ॥ इस प्रकार परम दुष्कर घोर तप करते हुए मुझहीमें चित्त लगाये तुम्हें बारह हजार दिव्य वर्ष बीत गये ॥ ३६ ॥ हे पुण्यमयि ! जब तुम दोनोंने इस प्रकार तप, श्रद्धा और भक्तिपूर्वक अपने हृदयमें मेरा नित्यप्रति चिन्तन किया तो मैं तुमसे प्रसन्न होकर तुम दोनोंको इच्छित वर देनेकी इच्छासे इसी रूपसे प्रकट हुआ, और जब मैंने कहा कि 'वर माँगो' तो तुमने मेरे समान पुत्र होनेका वर माँगा ॥ ३७-३८ ॥ उस समयतक तुम्हें विषय-भोगका सम्पर्क नहीं हुआ था और न तुम्हारे कोई सन्तान ही थी, इसलिये मेरी मायासे मोहित होकर तुमने मोक्ष नहीं माँगा ॥ ३९ ॥ फिर मेरे चले जानेपर तुम मेरे समान पुत्र होनेका वर पाकर सफलमनोरथ हो विषयोंका भोग करनेमें लग गये ॥ ४० ॥ मुझे इस लोकमें शील, उदारता और अन्यान्य गुणोंमें अपने समान कोई और दिखायी

१. रुद्वये । २. तोर्भद्रे । ३. मम मा० ।

अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः[1] ॥४१॥
तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्[2] ।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥४२॥
तृतीयेऽस्मिन्भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम् ।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥४३॥
एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते ॥४४॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥४५॥
यदि कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय ।
मन्मायामानयाशु त्वं यशोदागर्भसम्भवाम् ॥४६॥

न दिया, इसलिये मैं स्वयं ही तुम्हारा पुत्र होकर पृश्निगर्भ नामसे विख्यात हुआ ॥ ४१ ॥ फिर दूसरे जन्ममें जब तुम कश्यप और अदिति हुए तो मैंने तुम्हारे यहाँ 'उपेन्द्र' नामसे जन्म लिया; मेरा शरीर छोटा था, इसलिये मैं 'वामन' कहलाया ॥ ४२ ॥ हे सति ! अब तुम्हारे इस तीसरे जन्ममें मैं फिर उसी रूपसे तुम्हारे यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ; इस प्रकार, मैंने तुम्हें जो वचन दिया था वह सत्य हुआ ॥ ४३ ॥ मैंने अपना यह रूप तुम्हें इसलिये दिखलाया है जिससे तुम्हें मेरे पूर्व अवतारोंका भी स्मरण हो जाय; क्योंकि केवल मनुष्यशरीरसे मेरे जन्म लेनेका ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ४४ ॥ अब तुम पुत्रभाव और ब्रह्मभावसे मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझमें प्रीति बढ़ाओगे और अन्तमें मेरा परमपद प्राप्त करोगे ॥ ४५ ॥ यदि तुम्हें कंसका भय है तो मुझे गोकुल ले चलो और वहाँसे यशोदाके गर्भसे उत्पन्न हुई मेरी योगमायाको लेकर तुरन्त लौट आओ ॥ ४६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥४७॥
ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः
सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा
या योगमायाजनि नन्दजायया ॥४८॥
तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि[3] शायितेष्वथ ।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया
बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः ॥४९॥
ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते
स्वयं व्यवर्यन्त[4] यथा तमो रवेः ।
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः

श्रीशुकदेवजी बोले—ऐसा कह भगवान् श्रीहरि चुप हो गये और पिता वसुदेवजीके देखते-देखते अपनी मायासे तुरन्त ही एक साधारण बालक हो गये ॥४७॥ तदनन्तर, जिस समय श्रीवसुदेवजी भगवान्‌की आज्ञासे नवजात शिशुरूप हरिको लेकर सूतिकागृहसे बाहर निकले उसी समय नन्दरानी यशोदाके गर्भसे भगवान्‌की अजन्मा योगमायाने जन्म लिया ॥ ४८ ॥ उसी योगमायाके द्वारा समस्त इन्द्रियवृत्तियोंके बोधके हरण कर लिये जानेसे द्वारपाल और पुरवासी मनुष्य अचेत होकर सो गये । बन्दीगृहके सभी द्वार बन्द थे तथा उनमें बड़ी-बड़ी किवाड़ें, लोहेकी जंजीरें और ताले जड़े होनेके कारण कोई उनके बाहर नहीं जा सकता था ॥ ४९ ॥ किन्तु ज्यों ही श्रीवसुदेवजी कृष्णचन्द्रको गोदमें लिये उनके निकट पहुँचे कि वे तुरन्त अपने आप ही खुल गयीं, जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार दूर हो जाता है । उस समय मेघ मन्द-मन्द गर्जकर जलकी फुहारें बरसा रहे थे;

१. स्मृतः । २. वा पुनः । ३. षु च । ४. शीर्यन्त ।

शेषोऽन्वगाद्वारि निवारयन्फणैः ॥५०॥
मघोनि वर्षत्यसकृद्यमानुजा
गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ।
भयानकावर्तशताकुला नदी
मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ॥५१॥
नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान्
गोपान्प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ।
सुतं[1] यशोदाशयने निधाय तत्
सुतामुपादाय[2] पुनर्गृहानगात् ॥५२॥
देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम् ।
प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः ॥५३॥
यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत[3] ।
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥५४॥

अतः शेषजी अपने फणों [की छाया] से जल-निवारण करते हुए उनके पीछे-पीछे चले ॥ ५० ॥ निरन्तर वृष्टि होती रहनेके कारण यमुनाजीका प्रवाह अति गम्भीर और तीव्र हो गया था, उनकी तरल तरङ्गावलीके कारण जलपर फेन छाया हुआ था और अनेकों भयानक भँवर पड़ रहे थे; किन्तु समुद्रने जैसे रामचन्द्रजीको मार्ग दिया था वैसे ही यमुनाजीने वसुदेवजीको पार जानेके लिये राह दे दी ॥५१॥ नन्दजीके गोष्ठमें पहुँचनेपर वसुदेवजीने देखा कि समस्त गोपगण निद्रासे अचेत हुए सो रहे हैं। अतः वे तुरन्त ही बालक कृष्णको यशोदाकी शय्यापर सुला उसकी नवजात बालिकाको लेकर बन्दीगृहको लौट आये ॥ ५२ ॥ वहाँ पहुँचकर उस कन्याको उन्होंने देवकीकी सेजपर सुला दिया और अपने पैरोंमें बेड़ी डाल लीं तथा फिर पहलेहीकी तरह बन्दीगृहमें बन्द हो गये ॥५३॥

उधर नन्दपत्नी यशोदाको केवल यह तो जान पड़ा कि कोई सन्तान हुई है, किन्तु श्रम और निद्राके कारण अचेत हो जानेसे यह न जान सकी कि पुत्र हुआ है या कन्या ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
कृष्णजन्मनि तृतीयोऽध्यायः[4] ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

देवीकी भविष्यवाणी और कंसका पश्चात्ताप ।

श्रीशुक उवाच

बहिरन्तःपुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः ।
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥ १ ॥
ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत् ।
आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वसुदेवजीके लौटनेपर नगरके बाहर-भीतरके सब द्वार फिर पूर्ववत् बन्द हो गये। तदनन्तर, बालकके रोनेका शब्द सुनकर द्वारपाल उठ खड़े हुए ॥ १ ॥ और तुरन्त ही राजा कंसके पास जा उसे देवकीके बालक होनेका संवाद सुनाया, जिसके लिये कंस हर समय उद्विग्न होकर प्रतीक्षा करता रहता था ॥ २ ॥

१. शिशुं । २. सुतां समादा० । ३. पुत्रम० । ४. कृष्णावतारे तृतीयो० ।

स तल्पात्तूर्णमुत्थाय[1] कालोऽयमिति विह्वलः ।
सूतीगृहमगात्तूर्णं प्रस्खलन्मुक्तमूर्धजः ॥ ३ ॥

यह सुनते ही वह झटपट शय्या छोड़कर उठ खड़ा हुआ और नंगे शिर बाल बखेरे हुए लड़खड़ाता हुआ कारागृहमें पहुँचा । 'यह मेरा काल है' इस भावनासे वह उस समय अत्यन्त व्याकुल हो रहा था ॥ ३ ॥

तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती ।
स्नुषेयं तव कल्याण[2] स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥
बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः ।
त्वया दैवनिसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम् ॥ ५ ॥
नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो ।
दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम् ॥ ६ ॥

ऐसी दशामें आये हुए भाई कंससे देवी देवकीने दुःखी होकर अत्यन्त दीन वाणीमें कहा—"भद्र ! यह तो तुम्हारी पुत्रवधूके समान है, तुम्हें स्त्रीका वध नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥ भैया ! दैववश तुमने मेरे बहुत-से अग्निके समान तेजस्वी बालक मार डाले, अब केवल एक यह कन्या ही मुझे दे दो ॥ ५ ॥ हे समर्थ ! आखिर मैं तुम्हारी छोटी बहिन हूँ, अपने बालकोंके मारे जानेसे मैं अत्यन्त दीन हो रही हूँ । सो, हे तात ! मुझ मन्दभागिनीको यह अन्तिम सन्तान तो तुम्हें दे ही देनी चाहिये" ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

उपगुह्यात्मजामेवं रुदत्या दीनदीनवत् ।
याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः ॥ ७ ॥
तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम् ।
अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः ॥ ८ ॥
सा तद्धस्तात्समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता ।
अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥ ९ ॥
दिव्यस्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता ।
धनुःशूलेषुचर्मासिशङ्खचक्रगदाधरा ॥ १० ॥
सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरोरगैः ।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ।
यत्र क्व[3] वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान्वृथा ॥ १२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कन्याको गोदमें छिपाकर देवकीजीने अत्यन्त दीन भावसे विलाप करते हुए बहुत कुछ अनुनय-विनय की; परन्तु दुष्ट कंसने उन्हें झिड़ककर उनके हाथसे उस कन्याको छीन लिया ॥ ७ ॥ तथा हालहीकी जन्मी हुई उस अपनी भानजीको पैर पकड़कर एक शिलापर पटक दिया, उस समय स्वार्थने उसके सौहार्दको निर्मूल कर दिया था ॥ ८ ॥ किन्तु वह उसके हाथसे निकलकर तुरन्त ही देवीरूप होकर आकाशको चली गयी, वहाँ भगवान् विष्णुकी छोटी बहिन योगमाया आयुधोंके सहित अष्टभुजाके रूपमें दिखायी दी ॥ ९ ॥ वे दिव्य माला, वस्त्र, चन्दन और मणिमय आभूषणोंसे विभूषिता थीं, तथा हाथोंमें धनुष, त्रिशूल, बाण, चर्म (ढाल), खड्ग, शङ्ख, चक्र और गदा लिये हुए थीं ॥ १० ॥ उनके चारों ओर सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगण बहुत-सी भेंटें समर्पण करके उनकी स्तुति कर रहे थे । तब देवीने कंससे कहा—॥ ११ ॥ "रे मूर्ख ! मुझे मारनेसे तुझे क्या मिलेगा, तेरा पूर्वशत्रु और तुझे मारनेवाला तो किसी और ही जगह उत्पन्न हो चुका है, अब तू व्यर्थ अन्यान्य निर्दोष बालकोंकी

१. च्छीघ्रमु० । २. णी । ३. कचिद्वा ।

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि ।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह ॥१३॥
तयाभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः ।
देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥१४॥
अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना ।
पुरुषाद इवापत्यं बहवो हिंसिताः सुताः ॥१५॥
स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत्खलः ।
काँल्लोकान्वै गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन् ॥१६॥
दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् ।
यद्विश्रम्भादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्छिशून् ॥१७॥
मा शोचत महाभागावात्मजान्स्वकृतम्भुजः[2] ।
जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनास्तदासते ॥१८॥
भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च ।
नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः ॥१९॥
यथानेवंविदो भेदो यत आत्मविपर्ययः ।
देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते ॥२०॥
तस्माद्भद्रे स्वतनयान्मया व्यापादितानपि ।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं विन्दतेऽवशः ॥२१॥
यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यते स्वदृक्[3] ।
तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात् ॥२२॥

हत्या न कर" ॥ १२ ॥ कंससे ऐसा कह देवी योगमाया अन्तर्धान हो गयीं और फिर पृथिवीके अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हुईं ॥ १३ ॥

देवीका यह कथन सुनकर कंसको बड़ा विस्मय हुआ और उसने तुरन्त ही वसुदेव-देवकीको बन्धनमुक्त कर उनसे अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—॥ १४ ॥ "हे भगिनि ! और हे भगिनीपते ! मुझे बड़ा खेद है कि मुझ पापीने, राक्षस जैसे अपने बच्चेको मार डाले, वैसे ही तुम्हारे बहुत-से बालक मार डाले ॥ १५ ॥ इस प्रकार करुणा तथा जाति और सुहृद्जनोंका स्नेह छोड़नेवाला मैं दुष्ट न जाने मरनेपर किन लोकोंमें जाऊँगा ? इस समय भी मैं ब्रह्महत्यारेके समान श्वास लेता हुआ भी मृतकतुल्य ही हूँ ॥ १६ ॥ केवल मनुष्य ही नहीं विधाता भी झूठ बोलता है । उसीके धोखेमें आकर मुझ पापीने अपनी बहिनके बालक मार डाले ! ॥ १७ ॥ हे महाभागो ! अपने पुत्रोंका शोक मत करो, उनके प्रारब्धका ऐसा ही भोग बदा था । सभी जीव दैवाधीन होनेके कारण सदा एक जगह नहीं रहते ॥ १८ ॥ जिस प्रकार मिट्टीके बने हुए पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं किन्तु मिट्टीमें कोई परिवर्तन नहीं होता उसी प्रकार देहादिके उत्पत्ति-नाश हुआ ही करते हैं इससे आत्मामें कोई विकार नहीं होता ॥ १९ ॥ जो लोग इस तत्त्वको नहीं जानते उन्हींकी देहादि अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धि होती है, देहादिमें आत्मबुद्धि होनेसे ही भेदज्ञान होता है और भेदज्ञानके कारण ही शरीरोंसे संयोग-वियोग होते रहते हैं । इस प्रकार उनके सुख-दुःखरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती ॥ २० ॥ अतः हे भद्रे ! तुम्हारे जो पुत्र मेरे हाथसे मारे गये हैं उनका तुम कोई शोक मत करो; क्योंकि सभी जीव अपने कर्मोंका फल भोगते हैं ॥ २१ ॥ जबतक जीव स्वयंप्रकाश होकर भी अपने आपको 'मैं मारा जाता हूँ, या मैं मारता हूँ' ऐसा मानता है तबतक देहके उत्पत्ति-नाशका अभिमान करनेके कारण वह अज्ञानवश बाध्य-बाधकभावको प्राप्त होता रहता है ॥ २२ ॥

१. सुहृदो । २. सुकृतं । ३. सुदृक् ।

क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः ।
इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालस्वस्रोरथाग्रहीत् ॥२३॥
मोचयामास निगडाद्विश्रब्धः कन्यकागिरा ।
देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम् ॥२४॥
भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्तरोषा च देवकी ।
व्यसृजद्वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह ॥२५॥
एवमेतन्महाभाग यथा वदसि देहिनाम् ।
अज्ञानप्रभवाहंधीः स्वपरेति भिदा यतः ॥२६॥
शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः ।
मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः ॥२७॥

तुम दोनों बड़े साधुस्वभाव और दीनरक्षक हो, अतः तुम मेरी इस कुटिलताको क्षमा करो।" ऐसा कह कंसने नेत्रोंमें आँसू भर अपनी बहिन और बहनोईके पाँव पकड़ लिये ॥ २३ ॥ तथा कन्यारूपिणी योगमायाके कथनसे विश्वास कर अपना स्नेह दिखाते हुए वसुदेव और देवकीको बन्धनमुक्त कर दिया ॥ २४ ॥ भाईको इस प्रकार पछताते देख देवकीका क्रोध शान्त हो गया और वह उसका पहला अपराध भूल गयी तथा वसुदेवजीने भी उससे हँसते हुए कहा—॥ २५ ॥ "हे महाभाग ! आप जैसा कहते हैं वह सर्वथा ठीक है। देहधारियोंको अज्ञानके कारण ही अहंबुद्धि होती है, जिससे कि अपने-परायेका भेद प्रतीत होने लगता है ॥ २६ ॥ वे भेददर्शी लोग हर्ष-शोक, भय-द्वेष, लोभ-मोह और मदसे अन्धे होकर आपसमें एक-दूसरेका नाश करानेवाले सबके प्रेरक परमात्माको नहीं देखते" ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच

कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं प्रतिभाषितः ।
देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोऽविशद्गृहम् ॥२८॥
तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः ।
तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया ॥२९॥
आकर्ण्य भर्तुर्गदितं तमूचुर्देवशत्रवः ।
देवान्प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः ॥३०॥
एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु ।
अनिर्दशान्निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून् ॥३१॥
किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः ।
नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव ॥३२॥
अस्यतस्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः ।
जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः ॥३३॥
केचित्प्राञ्जलयो दीना न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—वसुदेव-देवकीके इस प्रकार प्रसन्न होकर शुद्ध भावसे सम्भाषण करनेपर उनकी आज्ञा पा कंस अपने घर आया ॥ २८ ॥ और वह रात्रि व्यतीत हो जानेपर उसने अपने मन्त्रियोंको बुला उन्हें वे सब बातें सुनायीं जो उससे योगमायाने कही थीं ॥ २९ ॥ स्वामीका कथन सुनकर वे देवद्रोही मन्दमति दैत्य देवताओंपर कुपित होकर इस प्रकार कहने लगे—॥ ३० ॥ "हे भोजराज ! यदि ऐसी बात है तो हम आज ही सम्पूर्ण पुर, ग्राम और व्रजादिमें उत्पन्न हुए दश दिन या इससे कम अवस्थाके बालकों-को मार डालेंगे ॥ ३१ ॥ ये रणभीरु देवगण उद्योग करके भी हमारा क्या बिगाड़ेंगे ? वे तो आपके धनुषकी प्रत्यञ्चाका शब्द सुनकर ही सदा घबराये-से रहते हैं ॥ ३२ ॥ जब युद्ध करते समय आपके बाणोंद्वारा देवतालोग सब ओरसे बींधे जाने लगे तो उनमें जो जीना चाहते थे वे युद्ध छोड़कर भाग गये ॥ ३३ ॥ कुछ देवता अपने शस्त्र फेंककर आपके समक्ष अत्यन्त दीनतापूर्वक हाथ जोड़ने लगे

१. बन्धुव० । २. क्षया० । ३. राज । ४. भीता ।

मुक्तकच्छशिखाः केचिद्भीताः स्म इति वादिनः ॥३४॥
न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान्विरथान्भयसंवृतान् ।
हंस्यन्यासक्तविमुखान्भग्नचापानयुध्यतः ॥३५॥
किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः ।
रहोजुषा किं हरिणा शम्भुना वा वनौकसा ।
किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता ॥३६॥
तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे ।
ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान् ॥३७॥
यथामयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभि-
र्न शक्यते रूढपदश्चिकित्सितुम् ।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा
रिपुर्महान्बद्धबलो न चाल्यते ॥३८॥
मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः ।
तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपो यज्ञाः सदक्षिणाः ॥३९॥
तस्मात्सर्वात्मना राजन्ब्राह्मणान्ब्रह्मवादिनः ।
तपस्विनो यज्ञशीलान्गाश्च हन्मो हविर्दुघाः ॥४०॥
विप्रा गावश्च वेदाश्च[2] तपः सत्यं दमः शमः ।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ॥४१॥
स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः ।
तन्मूला देवताः सर्वाः सेश्वराः सचतुर्मुखाः ।
अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम् ॥४२॥

और कुछ बाल खोले हुए [शरणमें आकर] यों कहने लगे—"हम भयभीत हैं, [हमारी रक्षा कीजिये]" ॥ ३४ ॥ उस समय आपने [युद्धनीतिका पालन करते हुए] उनमेंसे जो अपने अस्त्र-शस्त्र भूल गये थे, जो रथहीन, भयभीत, अन्यमनस्क या युद्धसे मुख मोड़ गये थे अथवा जिनके धनुष टूट गये थे उन युद्ध न करनेवाले शत्रुओंको नहीं मारा ॥ ३५ ॥ ये देवगण जहाँ कोई भय नहीं होता वहीं बड़े वीर बना करते हैं और युद्धके सिवा अन्यत्र ही बड़ी-बड़ी बातें बनाया करते हैं । इनसे हमें क्या भय हो सकता है ? विष्णु एकान्तसेवी है, महादेव वनवासी ठहरा, इन्द्रका पराक्रम बहुत ही स्वल्प है और ब्रह्मा कोरा तपस्वी है—ये सब हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं ? ॥ ३६ ॥ तो भी हम इतना अवश्य मानते हैं कि देवतालोग हमारे शत्रु हैं इसलिये हमें उनकी उपेक्षा न करनी चाहिये, अतः उनका मूलोच्छेद करनेके लिये आप हम अनुचरोंको आज्ञा दीजिये ॥ ३७ ॥ क्योंकि जिस प्रकार मनुष्योंके उपेक्षा करनेसे उनके शरीरमें बढ़ा हुआ रोग असाध्य हो जाता है, अथवा जैसे इन्द्रियोंकी उपेक्षा करनेसे वे अदम्य हो जाती हैं उसी प्रकार शत्रुकी उपेक्षा करनेसे उसका बल बढ़कर अटल हो जाता है फिर उसे विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ३८ ॥ देवताओंकी जड़ विष्णु है और विष्णु जहाँ सनातनधर्म है वहाँ रहता है । तथा सनातनधर्मके मूल वेद, गौ, ब्राह्मण, तप और दक्षिणासहित यज्ञ हैं ॥ ३९ ॥ अतः हे राजन् ! हम सब प्रकार वेदवेत्ता तपस्वी और यज्ञपरायण ब्राह्मणोंका तथा हव्य देनेवाली गौओंका संहार करेंगे ॥ ४० ॥ ब्राह्मण, गौ, वेद, तप, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, तितिक्षा और यज्ञ ये सब विष्णुका शरीर हैं ॥ ४१ ॥ वह दैत्योंका द्रोही और सबका अन्तर्यामी विष्णु ही समस्त देवताओंका नायक है; महादेव और ब्रह्माके सहित समस्त देवगण उसीके आश्रित हैं और उसके वधका एकमात्र उपाय ऋषियोंका वध करना ही है ॥४२॥

१. वा । २. देवाश्च ।

श्रीशुक उवाच

एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः ।
ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोऽसुरः ॥४३॥
सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् ।
कामरूपधरान्दिक्षु दानवान्गृहमाविशत् ॥४४॥
ते वै रजःप्रकृतयस्तमसा मूढचेतसः ।
सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः ॥४५॥
आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च ।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥४६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—अपने कुटिल मन्त्रियोंसे इस प्रकार परामर्श कर कालपाशमें पड़े हुए दुर्मति कंसने ब्रह्महत्यामें ही अपना हित माना ॥ ४३ ॥ और वह इच्छानुसार अनेक रूप धारण करनेवाले हिंसाप्रिय दानवोंको सब ओर साधुजनोंका संहार करनेकी आज्ञा दे अपने अन्तःपुरमें चला गया ॥ ४४ ॥ उन दुष्ट दानवोंकी प्रकृति रजोगुणी थी और तमोगुणसे आच्छन्न होनेके कारण उनका चित्त सदसद्विवेकशून्य था । उनकी मृत्यु समीप ही आ गयी थी, अतः वे साधुजनोंसे द्वेष करने लगे ॥ ४५ ॥ हे राजन् ! महान् पुरुषोंका अनादर मनुष्यके आयु, श्री, यश, धर्म, स्वर्गादि उच्चलोक, काम और सम्पूर्ण श्रेयोंको नष्ट कर देता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे चतुर्थोऽध्यायः[1] ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

गोकुलमें भगवान्का जन्ममहोत्सव ।

श्रीशुक उवाच

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।
आहूय विप्रान्वेदज्ञान्[3]स्नातः शुचिरलङ्कृतः ॥ १ ॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै ।
कारयामास विधिवत्पितृदेवार्चनं[4] तथा ॥ २ ॥
धेनूनां नियुते प्रादाद्विप्रेभ्यः समलङ्कृते ।
तिलाद्रीन्सप्त रत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान् ॥ ३ ॥
कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पुत्रका जन्म होनेसे महामना नन्दजीको बड़ा आह्लाद हुआ । उन्होंने ज्यौतिषशास्त्रके जाननेवाले ब्राह्मणोंको बुलवाया और स्वयं स्नान कर पवित्र वस्त्र धारण किये ॥ १ ॥ तथा ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन करा विधिपूर्वक पुत्रका जातकर्मसंस्कार एवं देवता और पितृगणका पूजन कराया ॥ २ ॥ उन्होंने ब्राह्मणोंको भली प्रकार सजायी हुई बीस लाख गौएँ और रत्नसमूह तथा सुनहरे कामके वस्त्रोंसे ढँके हुए सात तिलपर्वत* दिये ॥ ३ ॥ [पृथिवी, शरीर, अपवित्र पदार्थ, गर्भादि, इन्द्रियाँ, द्विजातीय, धन और चित्त आदि] समस्त द्रव्योंकी शुद्धि क्रमशः काल, स्नान, शौच,

१. हितां । २. असुरमन्त्रणं नाम चतु० । ३. वेदज्ञान् । ४. धिना पितृ० ।

* तिलका इतना बड़ा ढेर जिसके दोनों ओर खड़े हुए दो मनुष्य एक-दूसरेको न देख सकें 'तिलपर्वत' कहलाता है ।

शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्मात्मविद्यया ॥ ४ ॥
सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः ।
गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः ॥ ५ ॥
व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः ।
चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥ ६ ॥
गावो वृषा वत्सतरा हरिद्रातैलरूषिताः ।
विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः ॥ ७ ॥
महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः ।
गोपाः समाययू राजन्नानोपायनपाणयः ॥ ८ ॥
गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् ।
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः ॥ ९ ॥
नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः ।
बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥ १० ॥
गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्य-
श्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः ।
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजु-
र्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥ ११ ॥
ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालके ।

संस्कार, तप, यज्ञ, दान और सन्तोषसे होती है। तथा आत्मा आत्मविद्यासे शुद्ध होता है ॥ ४ ॥ उस समय ब्राह्मण तथा सूत[1], मागध[2] और बन्दीजन[3] मङ्गलमय आशीर्वाद देने और स्तुतिगान करने लगे, गवैये गाने लगे तथा भेरी और दुन्दुभी आदि बाजे बार-बार बजने लगे ॥ ५ ॥ उस दिन व्रजमण्डलके सभी घरोंके द्वार, आँगन और भीतरी भागोंको झाड़-बुहार कर उनमें [चन्दनादिका] छिड़काव किया गया तथा उन्हें चित्र-विचित्र ध्वजा, पताका, माला, रंग-बिरंगे वस्त्र और पत्तोंकी बन्दनवारोंसे सजाया गया था ॥ ६ ॥ गौ, बैल और बछड़ोंको हल्दी तथा तैलसे रञ्जित कर गेरू आदि धातु, मोरपङ्ख, माला, वस्त्र और सोनेकी जंजीरोंसे सजाया गया ॥ ७ ॥ सभी गोपगण बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, अङ्गरखे और पगड़ियोंसे विभूषित हो हाथमें भेंटकी सामग्रियाँ लिये नन्दजीके यहाँ आने लगे ॥ ८ ॥ यशोदाजीके पुत्र हुआ सुन गोपियोंको बड़ा आनन्द हुआ और वे सुन्दर वस्त्र, आभूषण और अञ्जनादिसे अपना श्रृंगार करने लगीं ॥ ९ ॥ उनके मुखकमल नवकुंकुमरूप केसरसे सुशोभित थे, वे नाना प्रकारकी भेंटें लेकर बड़ी शीघ्रतासे यशोदाके घर चलीं। उस समय उन स्थूल नितम्बवाली व्रजाङ्गनाओंके पीन पयोधर जल्दी-जल्दी चलनेके कारण हिलते जाते थे ॥ १० ॥ गोपियोंके कानोंमें उज्ज्वल मणिमय कुण्डल और गलेमें पदकसहित हार सुशोभित थे, वे चित्र-विचित्र वस्त्र धारण किये थीं, मार्गमें चलते समय उनके केशपाशोंसे फूलोंकी वर्षा-सी होती जाती थी, हाथोंमें जड़ाऊ कङ्कण विराजमान थे और चलनेमें उनके कुण्डल, स्तन और हार हिलते जाते थे, इस प्रकार नन्दभवनको जाती हुई गोपाङ्गनाओंकी अपूर्व शोभा थी ॥ ११ ॥ नन्दजीके यहाँ पहुँचकर वे 'बालक चिरञ्जीव हो' ऐसा कहकर

१. पा: सवत्साश्च हरि० । २. जीवेति ।

१. पौराणिक । २. वंशका वर्णन करनेवाले । ३. समयानुसार उक्तियोंसे स्तुति करनेवाले भाट । जैसा कि कहा है—
'सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसकाः । बन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः ॥'

हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्यो जनमुज्जगुः ॥१२॥

अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे ।
कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य[1] व्रजमागते ॥१३॥
गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः ।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥१४॥
नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम्[2] ।
सूतमागधवन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥१५॥
तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।
विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥१६॥
रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता ।
व्यचरद्दिव्यवासःस्रक्कण्ठाभरणभूषिता ॥१७॥
तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् ।
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥१८॥

गोपान्गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः ।
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह ॥१९॥
वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम् ।
ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम् ॥२०॥
तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम् ।
प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः ॥२१॥
पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वानामयमादृतः[3] ।

१. नन्दव्रजमुपेयुषि । २. धनैः । ३. मात्मनः ।

आशीर्वाद देती और लोगोंपर हल्दी-तेल मिला हुआ जल छिड़कती उच्चस्वरसे गाने लगीं ॥१२॥

जिस समय जगत्‌के स्वामी अनन्त श्रीकृष्णचन्द्र नन्दजीके व्रजमें आये उस समय उनके जन्ममहोत्सव-में नाना प्रकारके मङ्गलमय बाजे बजने लगे ॥ १३ ॥ गोपगण आनन्दके मारे आपसमें दही, दूध, घृत और जल छिड़कने लगे और एक दूसरेके मुखसे मक्खन मलते हुए आपसमें मक्खन फेंकने लगे ॥ १४ ॥ परम उदार नन्दजीने उन्हें बहुत-से वस्त्र, आभूषण और गौएँ दीं । तथा सूत, मागध, बन्दीजन और नृत्य-वाद्य आदि विद्याओंसे ही आजीविका करनेवाले अन्यान्य गुणीजनोंको प्रसन्नतापूर्वक उनकी मनमानी वस्तुएँ देकर उन्होंने भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये और पुत्रके अभ्युदयके लिये उनका यथोचित सत्कार किया ॥ १५-१६ ॥ नन्दगोपसे सत्कृत महाभागा रोहिणीजी दिव्य वस्त्र, माला और कण्ठके आभूषणोंसे विभूषित हो [गृहस्वामिनीके समान सब आने-जानेवाली स्त्रियोंका यथावत् सत्कार करती] विचर रही थीं ॥ १७ ॥ हे राजन् ! तबसे नन्दजी-का व्रज सब सम्पत्तियोंसे पूर्ण हो गया तथा श्रीहरिके निवास और अपने स्वाभाविक गुणोंके कारण लक्ष्मी-जीका क्रीडास्थल बन गया ॥ १८ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! तदनन्तर, एक दिन गोकुलकी रक्षाका भार गोपोंको सौंपकर श्रीनन्दजी कंसका वार्षिक कर चुकानेके लिये मथुरा गये ॥ १९ ॥ जब वसुदेवजीने सुना कि भाई नन्दजी आये हैं और राजाको उसका वार्षिक कर दे चुके हैं तो वे उनके डेरेपर आये ॥ २० ॥ वसुदेवजीको आये देख नन्दजी इस प्रकार सहसा उठ खड़े हुए जैसे प्राणोंके आ जानेसे शरीर सचेत हो जाता है और वे प्रेमसे विह्वल हो अपने प्रियतम सखा वसुदेवजीसे प्रसन्नता-पूर्वक हाथ फैलाकर गले मिले ॥ २१ ॥ फिर नन्दजीने उनका अर्घ्य-पाद्यादिसे पूजन किया । हे राजन् ! तब वसुदेवजी सुखपूर्वक आसनपर बैठकर

प्रसक्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशांपते ॥२२॥

दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते ।
प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत्समपद्यत ॥२३॥

दिष्ट्या संसारचक्रेऽस्मिन्वर्तमानः पुनर्भवः ।
उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम् ॥२४॥

नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम् ।
ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा ॥२५॥

कच्चित्पशव्यं निरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम् ।
बृहद्वनं तदधुना यत्रास्से त्वं सुहृद्वृतः ॥२६॥

भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे ।
तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः ॥२७॥

पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो ह्यनुभावितः ।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते ॥२८॥

अपने बालकोंमें ही चित्त लगा रहनेके कारण कुशल-प्रश्नके पश्चात् नन्दजीसे इस प्रकार कहने लगे— ॥ २२ ॥ "भाई ! तुम वृद्ध हो चले थे, तुम्हारे कोई सन्तान न थी और न अब होनेहीकी कोई आशा थी। यह बड़े आनन्दकी बात है कि तुम्हें इस समय पुत्र प्राप्त हुआ ॥ २३ ॥ यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है कि इस संसार-चक्रमें घूमते हुए हम दोनोंका समागम हुआ; भाई ! सुहृद्‌जनोंका मिलना बड़ा कठिन है, आज हमारा-तुम्हारा मानो पुनर्जन्म ही हुआ है ॥ २४ ॥ जिस प्रकार नदीके प्रबल प्रवाहमें बहते हुए तृण-काष्ठादिका सर्वदा एकत्र रहना असम्भव है उसी प्रकार विभिन्न प्रारब्धवाले प्रियजनोंका भी एक साथ रहना सम्भव नहीं है ॥ २५ ॥ आजकल जिस विशाल वनमें तुम अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ रहते हो उसमें जल, तृण और लता-पत्रोंकी तो बहुलता है न ? और वह वन तुम्हारे पशु आदिके लिये तो हितकारी और रोगरहित है न ? ॥ २६ ॥ भैया ! हमारा एक पुत्र अपनी माताके साथ तुम्हारे व्रजमें रहता है, वह अच्छी तरह है ? वह तो तुम्हींको अपना पिता समझता होगा क्योंकि यशोदा और तुमने ही उसका लालन-पालन किया है ॥ २७ ॥ पुरुषके लिये वही त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) शास्त्रविहित है जिससे उसके आत्मीयोंको भी सुख मिले; जिससे अपने बन्धुजनोंको क्लेश हो उस त्रिवर्गसे कोई लाभ नहीं" ॥ २८ ॥

नन्द उवाच

अहो ते देवकीपुत्राः कंसेन बहवो हताः ।
एकावशिष्टावरजा कन्या सापि दिवं गता ॥२९॥

नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः ।
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ॥३०॥

नन्दजी बोले—अहो ! देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए तुम्हारे कई पुत्र पापी कंसने मार डाले; अन्तमें एक सबसे छोटी कन्या बची थी, सो वह भी स्वर्ग सिधार गयी ! ॥ २९ ॥ निःसन्देह मनुष्योंका सुख-दुःख भाग्यपर ही अवलम्बित है और भाग्य ही उसका एकमात्र आश्रय है। जो पुरुष भाग्यको ही अपने सुख-दुःखका कारण समझता है वह उनके प्राप्त होनेपर कभी मोहग्रस्त नहीं होता ॥ ३० ॥

वसुदेव उवाच

करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे[1] दृष्टा वयं च वः ।

वसुदेवजी बोले—मित्र ! तुम राजाको उसका वार्षिक कर दे चुके और हमसे भी मिल लिये; अब

१. राज्ञो ।

नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥३१॥

तुम्हें यहाँ अधिक देर न रहना चाहिये क्योंकि आजकल गोकुलमें अनेक उत्पात हो रहे हैं ॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति नन्दादयो गोपाः प्रोक्तास्ते शौरिणा ययुः ।
अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम् ॥३२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—वसुदेवजीके इस प्रकार कहनेपर नन्द आदि समस्त गोपगण उनसे आज्ञा ले बैल जुते हुए छकड़ोंपर चढ़कर गोकुलको चल दिये ॥३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नन्द-वसुदेवसङ्गमो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

पूतना-वध

श्रीशुक उवाच

नन्दः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिन्तयन् ।
हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः ॥ १ ॥
कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी ।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु[2] ॥ २ ॥
न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु ।
कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च[3] तत्र हि ॥ ३ ॥
सा खेचर्येकदोपेत्य[4] पूतना नन्दगोकुलम् ।
योषित्वा माययात्मानं प्राविशत्कामचारिणी ॥ ४ ॥
तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां
बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम् ।
सुवाससं कम्पितकर्णभूषण-
त्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् ॥ ५ ॥
वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितै-
र्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम् ।
अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं
गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! मार्गमें नन्दजी यह सोचकर कि वसुदेवजीका कथन मिथ्या नहीं होता, मन-ही-मन उत्पातकी आशङ्कासे श्रीहरिकी शरण गये ॥१॥ इधर, कंसकी भेजी हुई भयङ्कर राक्षसी बालघातिनी पूतना पुर, ग्राम और व्रज आदिमें बालकोंको मारती फिरती थी ॥ २ ॥ किन्तु, हे राजन् ! जहाँके लोग अपने नित्यकर्मोंमें भक्तभर्ता श्रीभगवान्‌का राक्षसादिके भयको दूर करनेवाला श्रवण-कीर्तनादि नहीं करते वहीं ऐसी राक्षसियोंका बल चल सकता है ॥ ३ ॥ एक दिन आकाशमार्गसे विचरनेवाली वह कामचारिणी पूतना नन्दजीके गोकुलके पास आ निकली और अपनी मायासे सुन्दरी युवतीका वेष बना गोकुलके भीतर घुस गयी ॥ ४ ॥ उस सुन्दरीके केशपाशमें मल्लिकाके फूल गुँथे हुए थे, उसके नितम्ब और पयोधर स्थूल थे, कमर पतली थी और अङ्गमें सुन्दर वस्त्र सुशोभित थे तथा उसका अत्यन्त मनोहर मुख कानोंमें हिलते हुए कुण्डलोंकी कान्तिसे चमकती हुई अलकावलिसे सुशोभित था ॥ ५ ॥ अपनी मनोहर मुसकान और कटाक्षपूर्ण चितवनसे व्रजवासियोंका चित्त चुराती हुई उस रूपवती रमणीको हाथमें कमल लिये देखकर गोपियोंने समझा मानो साक्षात् लक्ष्मीजी ही अपने पतिका दर्शन करनेके लिये आयी हैं ॥ ६ ॥

१. नन्दवसुदेवसमागमः पञ्च० । २. माकरादि० । ३. धानाश्च । ४. दोत्पत्य ।

बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून्
यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम् ।
बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं
ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि ॥ ७ ॥
विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं
चराचरात्मा स निमीलितेक्षणः ।
अनन्तमारोपयदङ्कमन्तकं
यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः ॥ ८ ॥
तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां
वीक्ष्यान्तराकोशपरिच्छदासिवत् ।
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते
निरीक्ष्यमाणे जननी ह्यतिष्ठताम् ॥ ९ ॥
तस्मिन्स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं
घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ ।
गाढं कराभ्यां भगवान्प्रपीडय त-
त्प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् ॥१०॥
सा मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी
निष्पीडयमानाखिलजीवमर्मणि ।
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः
प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह ॥११॥
तस्याः स्वनेनातिगभीररंहसा
साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा ।
रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे जनाः
पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया ॥१२॥
निशाचरीत्थं व्यथितस्तना व्यसु-
र्व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि ।
प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता
वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥१३॥

पूतना बालकोंके लिये ग्रहके समान थी । वह जहाँ-तहाँ बालकोंको ढूँढ़ती हुई स्वेच्छापूर्वक नन्दजीके घरमें घुस गयी । वहाँ उसने शय्यापर सोये हुए बालक कृष्णको देखा, जो दुष्टजनोंके लिये कालके समान थे और जिन्होंने भस्ममें छिपे हुए अग्निके समान अपने प्रचण्ड तेजको छिपा रखा था ॥ ७ ॥ उसे साक्षात् बालघातिनी ग्रह समझकर चराचर जगत्के आत्मा भगवान् कृष्णने अपनी आँखें बन्द कर लीं* और उसने अपने कालरूप श्रीअनन्तको इस प्रकार अपनी गोदमें उठा लिया जैसे कोई पुरुष भ्रमसे रस्सी समझकर सोये हुए साँपको उठा ले ॥ ८ ॥ सुन्दर म्यानके भीतर छिपी हुई तीक्ष्ण तलवारके समान पूतनाका हृदय तो बड़ा कुटिल था किन्तु ऊपरसे उसका व्यवहार बड़ा ही सुन्दर था । वह एक भद्र महिलाके समान मालूम होती थी, अतः उसके तेजसे प्रभावित होकर माता यशोदा और रोहिणीने भी कोई रोक-टोक नहीं की, चुपचाप खड़ी [देखती] रहीं ॥९॥ वहाँ उस घोर स्वभाववाली पूतनाने बालरूप कृष्णको गोदमें ले उनके मुखमें अपना दुर्जर विषयुक्त स्तन दे दिया । तब भगवान् बड़े क्रोधपूर्वक उसे दोनों हाथोंसे दबाते हुए उसके प्राणोंके साथ ही दूध पीने लगे ॥ १० ॥ इससे पूतनाके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें पीड़ा होने लगी और वह 'अरे छोड़ ! अरे छोड़ ! अब बस कर' इस प्रकार चिल्लाती हुई बारम्बार हाथ-पाँव पटककर रोने लगी । उसके नेत्र फट गये और सारा शरीर पसीनेसे भर गया ॥ ११ ॥ उसके अत्यन्त वेगवाले घोर शब्दसे पर्वतोंके सहित पृथिवी और ग्रहगणके सहित अन्तरिक्ष डगमगा उठा, सातों पाताल और समस्त दिशाएँ गूँजने लगीं तथा बहुत-से लोग वज्रपातकी आशङ्कासे पृथिवीपर गिर पड़े ॥१२॥ हे राजन् ! इस प्रकार स्तनदेशमें अत्यन्त पीड़ा होनेसे वह राक्षसी अपने निजरूपसे प्रकट हुई और प्राणहीन हो, मुँह फाड़े, बाल बखेरे तथा हाथ-पाँव फैलाये गोष्ठमें गिर पड़ी, जैसे इन्द्रके वज्रसे आहत होकर वृत्रासुर गिरा था ॥ १३ ॥

१. दुर्निःस्विन्न० ।

* भगवान् मायापति हैं, उनकी दृष्टि पड़नेसे पूतनाकी माया नहीं ठहर सकती थी । अतः उसे वह रमणीरूप छोड़कर अपना राक्षसीरूप धारण करना पड़ता । इससे भगवान् जो लीला करना चाहते थे वह बिगड़ जाती, इसलिये उन्होंने आँखें मूद लीं ।

पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् ।
चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत्तदद्भुतम् ॥१४॥
ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम् ।
गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम् ॥१५॥
अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम् ।
बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रिशून्यतोयह्रदोदरम् ॥१६॥
सन्तत्रसुः स्म तद्वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेवरम् ।
पूर्वं तु तन्निःस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः ॥१७॥
बालं च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम् ।
गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातसम्भ्रमाः ॥१८॥
यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य सर्वतः[1]।
रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छभ्रमणादिभिः ॥१९॥
गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम्[2] ।
रक्षां चक्रुश्च शकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः ॥२०॥
गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् ।
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत ॥२१॥

अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तव जान्वथोरू
यज्ञोऽच्युतः[3] कटितटं जठरं हयास्यः ।
हृत्केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं
विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम् ॥२२॥
चक्र्यग्रतः सहगदो हरिरस्तु पश्चा-
त्त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाजनश्च ।
कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्र-
स्तार्क्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात् ।२३।

हे राजेन्द्र ! पूतनाके शरीरने गिरते-गिरते भी तीन गव्यूति (छः कोश) के वृक्षोंको कुचल डाला; यह बड़ी ही अद्भुत घटना हुई ॥ १४ ॥ हे राजन् ! जिसका मुख हलके समान तीक्ष्ण एवं उग्र दाढ़ोंसे युक्त है, जिसकी नासिका गिरिगुहाके समान गम्भीर है, जिसके स्तन पर्वतसे गिरी हुई शिलाओंके समान स्थूल हैं और जो चारों ओर फैले हुए लाल-लाल कराल बालोंवाला है ॥ १५ ॥ जिसकी आँखें अन्धकूपके समान गम्भीर, जङ्घाएँ नदीके करारे-के समान भयङ्कर तथा बाहु, घुटने और पैर नदीके ऊपर बाँधे हुए पुलके समान हैं और जिसका पेट सूखे हुए सरोवरके समान है ॥ १६ ॥ पूतनाके उस शरीरको देखकर समस्त गोप-गोपीगण भयभीत हो गये । उसका चीत्कार सुनकर उनके हृदय, कान और मस्तक तो पहले ही व्यथित हो गये थे ॥ १७ ॥ बालकृष्ण उसके वक्षःस्थलपर निर्भय होकर खेल रहे थे, गोपियाँ घबराकर वहाँ झटपट आयीं और उन्हें उठा लिया ॥ १८ ॥ यशोदा और रोहिणीके सहित समस्त गोपियोंने गौकी पूँछ घुमाना आदि उपायोंसे बालकके अङ्गोंकी सब प्रकार रक्षा की ॥ १९ ॥ उन्होंने पहले बालकको गोमूत्रसे स्नान कराया, फिर सब अङ्गोंमें गोरज लगायी और बारहों अङ्गोंमें गोबर लगाकर भगवान्‌के केशवादि नामोंसे रक्षा की ॥ २० ॥ तदुपरान्त गोपियोंने आचमन कर 'अज' आदि ग्यारह बीजमन्त्रों-से अपने अङ्गोंमें अङ्गन्यास एवं करन्यास किया और फिर बालकके अङ्गोंमें बीजन्यास किया ॥ २१ ॥ 'तेरे चरणोंकी अजन्मा भगवान्, जानुओंकी मणिमान्, ऊरुओं-की यज्ञपुरुष, कटिकी अच्युत, उदरकी हयग्रीव, हृदयकी केशव, वक्षःस्थलकी ईश, कण्ठकी सूर्य, भुजाओंकी विष्णु, मुखकी उरुक्रम और शिरकी ईश्वर रक्षा करें ॥ २२ ॥ तेरे आगे चक्री, पीछे गदाधर, दोनों पार्श्वोंमें धनुष और खड्ग धारण करनेवाले भगवान् मधुसूदन और अजन, चारों कोणोंमें शङ्खधारी उरुगाय, ऊपर उपेन्द्र, नीचे गरुड, पृथ्वीपर हलधर और तेरे सब ओर भगवान् परम पुरुष रहकर रक्षा करें ॥ २३ ॥

१. सर्वशः । २. सा सुतम् । ३. जङ्घे ।

इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान्नारायणोऽवतु ।
श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु ॥२४॥
पृश्निगर्भस्तु[1] ते बुद्धिमात्मानं भगवान्परः ।
क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः[2] ॥२५॥
व्रजन्तमव्याद्वैकुण्ठ आसीनं त्वां श्रियः पतिः ।
भुञ्जानं यज्ञभुक्पातु सर्वग्रहभयङ्करः ॥२६॥
डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः ।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः ॥२७॥
कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतनामातृकादयः ।
उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः ॥२८॥
स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये ।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ॥२९॥

तेरी इन्द्रियोंकी हृषीकेश, प्राणोंकी नारायण, चित्तकी श्वेतद्वीपपति, मनकी योगेश्वर, बुद्धिकी पृश्निगर्भ और अहङ्कारकी षडैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा रक्षा करें तथा क्रीडाके समय गोविन्द, सोते समय माधव, चलते-फिरते वैकुण्ठ, बैठनेमें श्रीपति और भोजन करते समय समस्त ग्रहोंको भयभीत करनेवाले यज्ञभोक्ता भगवान् तेरी रक्षा करें ॥ २४–२६ ॥ डाकिनी, यातुधानी और कूष्माण्डा आदि बालग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, विनायक, कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना और मातृका आदि तथा शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंका नाश करनेवाले उन्माद एवं अपस्मार आदि रोग, स्वप्नमें देखे हुए महान् उत्पात तथा वृद्धग्रह और बालग्रह आदि सभी अनिष्ट भगवान् विष्णुका नामोच्चारण करनेसे भयभीत होकर नष्ट हो जायँ ॥ २७–२९ ॥

श्रीशुक उवाच

इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम् ।
पाययित्वा स्तनं माता संन्यवेशयदात्मजम् ॥३०॥
तावन्नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः ।
विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः ॥३१॥
नूनं बतर्षिः संजातो योगेशो वा समास सः ।
स एव दृष्टो ह्युत्पातो यदाहानकदुन्दुभिः ॥३२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—प्रेमपाशमें बँधी हुई गोपियोंके इस प्रकार रक्षा कर चुकनेपर माता यशोदाने स्तनपान करा बालक कृष्णको शय्यापर सुला दिया ॥ ३० ॥ इसी समय नन्दादि गोपगण मथुरासे व्रजमें पहुँचे तो पूतनाका शरीर देखकर वे बड़े ही विस्मित हुए [और आपसमें कहने लगे–] ॥ ३१ ॥ "निःसन्देह, वसुदेवके रूपमें कोई ऋषि ही प्रकट हुए हैं, अथवा ये पूर्वजन्ममें कोई योगेश्वर होंगे; क्योंकि जैसा उन्होंने कहा था वैसा ही उत्पात यहाँ देखनेमें आ रहा है" ॥ ३२ ॥

कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा तत्ते व्रजौकसः ।
दूरे क्षिप्त्वावयवशो न्यदहन्काष्ठधिष्ठितम्[3] ॥३३॥
दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः ।
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः ॥३४॥
पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना ।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप सद्गतिम् ॥३५॥
किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने ।

तब व्रजवासियोंने कुल्हाड़ियोंसे पूतनाके शरीरके टुकड़े कर डाले और उन्हें गोकुलसे दूर ले जाकर लकड़ियोंमें रखकर जला दिया ॥ ३३ ॥ जलते समय उसके शरीरसे जो धूआँ निकला उसमें अगुरुकी-सी सुगन्ध आती थी, क्योंकि भगवान्के स्तनपान करनेसे उसका सम्पूर्ण पाप तत्काल क्षीण हो गया था ॥३४॥ पूतना संसारके बालकोंको मारनेवाली और रक्तपान करनेवाली राक्षसी थी, और उसने भगवान्को मारनेकी इच्छासे दूध पिलाया था; तो भी उसे सद्गति प्राप्त हुई॥३५॥ फिर जिन्होंने परमात्मा कृष्णको माताके समान स्नेहपूर्वक श्रद्धा और भक्तिसे उनकी चित्तचाही

१. र्भस्ततो । २. केशवः । ३. निर्देहुः ।

यच्छन्प्रियतमं किं नु रक्तास्तन्मातरो यथा ॥३६॥

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः।
अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत्स्तनम् ॥३७॥

यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम्।
कृष्णभुक्तस्तनक्षीरा किमु गावो नु मातरः ॥३८॥

पयांसि यासामपिबत्पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम्।
भगवान्देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलप्रदः ॥३९॥

तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम्।
न पुनः कल्पते राजन्संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥४०॥

कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः।
किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययुः ॥४१॥

ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम्।
श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशोश्चासन्सुविस्मिताः ॥४२॥

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रेत्यागतमुदारधीः।
मूर्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह ॥४३॥

य एतत्पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्भकमद्भुतम्।
शृणुयाच्छ्रद्धया[1] मर्त्यो गोविन्दे लभते रतिम् ॥४४॥

वस्तुएँ दीं उन गोपियोंकी सद्गतिके विषयमें तो कहना ही क्या है ?॥ ३६॥ जिसके अंगोंपर भगवान्ने अपने लोकवन्द्य, देवताओंके भी पूजनीय और भक्तोंके हृदयमें निरन्तर विराजमान रहनेवाले चरणोंसे चढ़कर स्तन-पान किया वह पूतना राक्षसी होकर भी जब माताको प्राप्त होने योग्य परमगतिरूप स्वर्गलोकको प्राप्त हुई तो जिनके स्तनका पान भगवान्ने स्वयं किया उन गौओं और माताओंकी* तो बात ही क्या है ? ॥ ३७-३८॥ हे राजन् ! कैवल्य आदि सब प्रकारकी मुक्तियाँ देनेवाले भगवान् देवकीनन्दनने जिनका पुत्रस्नेहसे स्वयं ही झरता हुआ दूध पिया कृष्णमें निरन्तर पुत्रभाव करनेवाली उन गौ और गोपियोंको फिर कभी अज्ञानजन्य संसारकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥३९-४०॥

नन्दजीके साथ आनेवाले समस्त व्रजवासीगण चिताके धूएँकी सुगन्ध सूँघकर 'यह क्या है, कहाँसे ऐसी सुगन्ध आ रही है ?' इस प्रकार कहते हुए व्रजमें पहुँचे ॥ ४१ ॥ वहाँ उन्होंने गोपोंके मुखसे पूतनाके आने आदिका समस्त वृत्तान्त सुना। 'पूतना मारी गयी और बालक कुशलपूर्वक रहा' यह सुनकर उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥ ४२ ॥ हे कुरुनन्दन ! उदारबुद्धि नन्दजीने अपने मृत्युके मुखसे बचे हुए बालकको गोदमें उठा लिया और बारम्बार उसका माथा सूँघकर मन-ही-मन बड़े आनन्दित हुए ॥ ४३ ॥

जो पुरुष बालकृष्णकी 'पूतनामोक्ष' नामक इस अद्भुत लीलाका श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है उसका भगवान् कृष्णचन्द्रमें अविचल प्रेम होता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[2]
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

१. निशम्य श्रद्धया। २. पूतनामोक्षः।

* जिस समय ब्रह्माजी ग्वालबाल और बछड़ोंको हर ले गये तो भगवान् स्वयं ही बछड़े और ग्वालबाल बन गये, उस समय अपने विभिन्न रूपोंसे उन्होंने अपने साथी गोप और वत्सोंकी माताओंका स्तनपान किया। इसीलिये यहाँ बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

सातवाँ अध्याय

शकट-भञ्जन और तृणावर्त-वध ।

राजोवाच

येन येनावतारेण भगवान्हरिरीश्वरः ।
करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥ १ ॥
यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा
सत्त्वं च शुद्ध्यत्यचिरेण पुंसः ।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं
तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥ २ ॥
अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम् ।
मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित् बोले—प्रभो ! भगवान् हरि जिस-जिस अवतारको धारण कर जो-जो श्रवणसुखद लीलाएँ करते हैं वे सभी मेरे मनको आनन्दित करनेवाली हैं ॥१॥ जिनका श्रवण करनेसे मनुष्यके चित्तका मल और उससे होनेवाली विषयतृष्णा दूर हो जाती है, शीघ्र ही अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तथा भगवान्में भक्ति और भक्तजनोंसे प्रीति होती है उन्हीं श्रीहरिचरितोंका, यदि आपकी इच्छा हो तो, वर्णन कीजिये ॥ २ ॥ भगवान् कृष्णने मर्त्यलोकमें आकर मानवजातीय लीलाओंका अनुकरण करते हुए जो और भी अद्भुत बाललीलाएँ कीं उनका भी वर्णन कीजिये ॥३॥

श्रीशुक उवाच

कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे
जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।
वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकै-
श्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥ ४ ॥
नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं
विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः ।
अन्नाद्यवासःस्रगभीष्टधेनुभिः
संजातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५ ॥
औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी
समागतान्पूजयती व्रजौकसः ।
नैवाश्रृणोद्वै रुदितं सुतस्य सा
रुदन्स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥ ६ ॥
अधःशयानस्य शिशोरनोऽल्पक-
प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत ।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं
व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार श्रीकृष्णका औत्थानिक (करवट बदलनेका) अभिषेकोत्सव था और उसी दिन उनके जन्मनक्षत्र (रोहिणी) का भी योग था । अतः यशोदाने अपने यहाँ एकत्रित हुई गोपियोंके गाने-बजानेके साथ ब्राह्मणोंसे मन्त्र-पाठ कराते हुए पुत्रका अभिषेक कराया ॥ ४ ॥ फिर नन्दरानीने अन्न, वस्त्र, माला और गौ आदि मनमानी वस्तुओंसे भलीभाँति पूजित हुए ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन करा अभिषेकादि समाप्त हो जानेपर पुत्रको उनींदा देख उसे धीरेसे शय्यापर सुला दिया ॥५॥ थोड़ी देरमें जब श्यामसुन्दरकी आँखें खुलीं तो वे स्तनपानके लिये रोने लगे, किन्तु उत्सवमें आये हुए व्रजके गोप-गोपियोंका सत्कार करनेमें तल्लीन हो जानेके कारण मनस्विनी यशोदाको उनका रोना सुनायी न पड़ा । तब कृष्णचन्द्रने रोते-रोते अपने पाँव उछाले ॥६॥ बालकृष्ण एक शकट (छकड़े) के नीचे सोये हुए थे; उनका नवपल्लवके समान सुकोमल और नन्हा-सा पाँव लगते ही वह शकट उलट गया । उसमें जो दूध-दही आदि नाना रसोंसे भरी हुई कुप्पियाँ आदि रखी थीं वे फूट गयीं तथा उसके पहिये और धुरे अस्त-व्यस्त हो गये एवं जूआ फट गया ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा व्रजस्त्रिय
औत्थानिके कर्मणि याः समागताः ।
नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः
कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात् ॥ ८ ॥

ऊचुरव्यवसितमतीन्गोपान्गोपीश्च बालकाः ।
रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥ ९ ॥

न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत ।
अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुः ॥१०॥

रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता ।
कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत् ॥११॥

पूर्ववत्स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम् ।
विप्रा हुत्वार्चयाञ्चक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः ॥१२॥

येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः ।
न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः ॥१३॥

इति बालकमादाय सामर्ग्यजुरुपाकृतैः ।
जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः ॥१४॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः ।
हुत्वा चाग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम् ॥१५॥

गावः सर्वगुणोपेता वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ।
आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात्ते चान्वयुञ्जत ॥१६॥

विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाशिषः ।
ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम् ।१७।

एकदारोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती ।
गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ॥१८॥

उस समय यशोदा तथा औत्थानिकोत्सवमें आयी हुई समस्त व्रजबालाएँ और नन्दादि गोपगण यह विचित्र व्यापार देखकर बड़े चकित हुए और आपसमें कहने लगे—"यह क्या ? छकड़ा आप-ही-आप कैसे उलट गया ?" ॥ ८ ॥ वे इसका कोई कारण निश्चित न कर सके तब उन गोप-गोपियोंसे वहाँ खेलते हुए कुछ बालकोंने कहा—"इस कृष्णने ही रोते-रोते अपने पाँवसे इसे उलट दिया है—इसमें कोई सन्देह नहीं है" ॥ ९ ॥ किन्तु गोपोंने उसे 'बालकोंकी बात' मानकर उसपर विश्वास न किया क्योंकि वे उस बालकके अतुलित बलको नहीं जानते थे ॥ १० ॥

यशोदाने रोते हुए बालकको गोदमें उठा लिया और ग्रह आदिका उत्पात समझ ब्राह्मणोंसे वेदमन्त्रोंद्वारा शान्ति करा उसे स्तनपान कराया ॥ ११ ॥ बलवान् गोपोंने छकड़ेको सीधा कर उसपर पूर्ववत् सब सामग्री रख दी [और कृष्णचन्द्रको भी पहलेहीकी भाँति उसके नीचे पालनेमें लिटा दिया] । तब ब्राह्मणोंने हवन किया और दधि, अक्षत, तथा कुशोदकसे पूजन किया ॥१२॥ 'जो असूया (दोषदृष्टि), मिथ्याभाषण, दम्भ, ईर्ष्या, हिंसा और मानसे रहित होते हैं उन सत्यशील ब्राह्मणोंका आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता' ॥ १३ ॥ यह समझकर नन्दजीने बालकको गोदमें ले श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा संस्कृत एवं पवित्र ओषधियोंसे मिले हुए जलसे अभिषेक कराया फिर उन्होंने एकाग्रचित्तसे स्वस्तिवाचन करा अग्निहोत्र किया और ब्राह्मणोंको अति उत्तम अन्न भोजन कराया ॥१४-१५॥ फिर उन्होंने पुत्रके अभ्युदयकी कामनासे चित्र-विचित्र वस्त्र और सुवर्णमालाओंसे विभूषित बहुत-सी सर्वगुणसम्पन्न गौएँ ब्राह्मणोंको दान कीं तथा ब्राह्मणोंने भी अपना अमोघ आशीर्वाद दिया ॥ १६ ॥ जो वेदवेत्ता और योगयुक्त ब्राह्मण होते हैं उनका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता—यह बात स्पष्ट है ॥ १७ ॥

एक दिन साध्वी यशोदाजी पुत्रको गोदमें लिये खिला रही थीं; अकस्मात् कृष्णचन्द्र पर्वतशिखरके समान भारी मालूम होने लगे और वह उनका भार न उठा सकीं॥१८॥

भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता ।
महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु ॥१९॥

अन्तमें [भगवान्‌के उदरवर्ती] जगत्‌के भारसे पीडित हो उन्होंने बालकको पृथ्वीपर बिठा दिया, और [इस नयी बातसे चित्तमें अत्यन्त] विस्मित होकर वे जगदीश्वरका ध्यान करती हुई घरके काममें लग गयीं ॥ १९ ॥

दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः ।
चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम् ॥२०॥
गोकुलं सर्वमावृण्वन्मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः ।
ईरयन्सुमहाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः ॥२१॥
मुहूर्तमभवद्गोष्ठं रजसा तमसावृतम् ।
सुतं यशोदा नापश्यत्तस्मिन्न्यस्तवती यतः ॥२२॥
नापश्यत्कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः ।
तृणावर्तनिसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः ॥२३॥

उसी समय कंसका भेजा हुआ उसका सेवक तृणावर्तनामक दैत्य वहाँ बवण्डरके रूपमें आया और बैठे हुए बालक कृष्णको उठाकर आकाशमें ले गया ॥ २० ॥ उसने सम्पूर्ण व्रजमण्डलको धूलिसे आच्छादित कर लोगोंके नेत्र बन्द कर दिये और वह भयानक शब्द करता हुआ समस्त दिशा-विदिशाओंको गुञ्जायमान करने लगा ॥ २१ ॥ एक मुहूर्त्ततक सम्पूर्ण व्रजमें धूलि और घोर अन्धकार छाया रहा । जब यशोदा पुत्रको देखनेके लिये गयीं तो जहाँ वे उसे बैठा गयी थीं वहाँ न पाया ॥ २२ ॥ उस समय (बवण्डररूप) तृणावर्तकी उड़ायी हुई बालूसे लोग ऐसे उद्विग्न और बेसुध हो गये थे कि उन्हें अपना-पराया कुछ भी न सूझ पड़ता था ॥ २३ ॥

इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे
सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता ।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोच-
द्भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः ॥२४॥
रुदितमनु निशम्य तत्र गोप्यो
भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं
पवन उपारतपांसुवर्षवेगे ॥२५॥

ऐसी तीक्ष्ण वायु और धूलिवर्षामें पुत्रका पता न लगनेसे अबला माता यशोदा अत्यन्त करुणापूर्वक उसको याद करती हुई शोक करने लगी और जिसका बछड़ा मर गया हो उस गायके समान अचेत होकर पृथिवीपर गिर पड़ी ॥ २४ ॥ जब बवण्डरके शान्त हो जानेसे धूलिका उड़ना बन्द हुआ तो अन्य गोपियाँ यशोदाके रोनेका शब्द सुनकर वहाँ आयीं और नन्दलालको न पाकर मन-ही-मन अत्यन्त सन्ताप करती हुई आँखोंमें आँसू भर फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २५ ॥

तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन् ।
कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद्भूरिभारभृत् ॥२६॥
तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया ।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम् ॥२७॥

इधर, बवण्डररूप तृणावर्त, जब कृष्णचन्द्रको उठाकर आकाशमें ले गया तब उनके भारी भारको न सँभाल सकनेके कारण उसका वेग शान्त हो गया; अतः वह अधिक न चल सका ॥ २६ ॥ भगवान् उससे भी अधिक भारी हो गये थे, अतः वे उसे एक शिलाके समान मालूम पड़ते थे । किन्तु उन्होंने उसका गला कसकर पकड़ लिया था; इसलिये वह उस विचित्र बालकको छोड़ भी नहीं सकता था ॥ २७ ॥

१. प्रचो० । २. दश ।

गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः ।
अव्यक्तरावो न्यपतत्सहबालो व्यसुर्व्रजे ॥२८॥

इस प्रकार अपना गला घुट जानेके कारण वह दैत्य निश्चेष्ट हो गया, उसके नेत्र बाहर निकल आये, शब्द बन्द हो गया और वह प्राणहीन हो बालकके सहित व्रजमें गिर पड़ा ॥ २८ ॥

तमन्तरिक्षात्पतितं शिलायां
विशीर्णसर्वावयवं करालम् ।
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं
स्त्रियो रुदत्यो ददृशुः समेताः ॥२९॥
प्रादाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः
कृष्णं च तस्योरसि लम्बमानम् ।
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं
विहायसा मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ।
गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या
लब्ध्वा पुनः प्रापुरतीव मोदम् ॥३०॥
अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा
बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात्पुनः ।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः
साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते ॥३१॥
किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं
पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम् ।
यत्संपरेतः पुनरेव बालको
दिष्टया स्वबन्धून्प्रणयन्नुपस्थितः ॥३२॥
दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने ।
वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः ॥३३॥

वहाँ जो स्त्रियाँ एकत्रित होकर विलाप कर रही थीं उन्होंने महादेवजीके बाणोंसे विद्ध होकर गिरे हुए त्रिपुरके समान उस विकराल दैत्यको आकाशसे एक शिलापर गिरते और उसके समस्त अवयवोंको चकनाचूर होते देखा ॥ २९ ॥ तब उन्होंने अति विस्मित हो उसके वक्षःस्थलपर लटके हुए कृष्णको शीघ्रतापूर्वक उठाकर माता यशोदाको दिया । जिसे राक्षस आकाशमें ले गया था उस मृत्युके मुखसे सकुशल लौटे हुए बालकको फिर पाकर समस्त गोपियाँ और नन्दादि गोपोंको अपार आनन्द हुआ ॥ ३० ॥ वे कहने लगे—"यह कैसा आश्चर्य है कि बालक राक्षसके द्वारा मृत्युको प्राप्त होकर भी फिर जीता-जागता आ गया और हिंसक दुष्ट अपने पापसे स्वयं ही मारा गया ! सच है, साधुजन अपनी समताके कारण सभी प्रकारके भयसे बच जाते हैं ॥ ३१ ॥ हमने ऐसा कौन तप, विष्णुभगवान्‌का पूजन, इष्ट-पूर्तादि, दान अथवा प्राणियोंका प्रिय किया था जिससे कि सौभाग्यवश अपने स्वजनोंको आनन्दित करनेके लिये मरा हुआ बालक फिर लौट आया ?" ॥ ३२ ॥ इस प्रकार गोकुलमें बहुत-सी अद्भुत घटनाएँ होती देख नन्दजीने आश्चर्यचकित हो वसुदेवजीके कथनका बारम्बार समर्थन किया ॥३३॥

एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी ।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥३४॥
पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् ।
मुखं लालयती राजञ्जृम्भतो ददृशे इदम् ॥३५॥
खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः
सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।
द्वीपान्नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि
भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥३६॥

एक दिन यशोदाने पुत्रको गोदमें ले उसे अत्यन्त स्नेहपूर्वक अपना दूध झरता हुआ स्तन पान कराया ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! जब वह प्रायः दूध पी चुका था और यशोदा उसके मनोहर मुसकानयुक्त मुखका चुम्बन कर रही थी, उसी समय बालकको जमुहाई आनेपर उसने देखा कि आकाश, अन्तरिक्ष, ज्योतिर्मण्डल, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत, उनसे उत्पन्न होनेवाली नदियाँ, वन, तथा स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणी उसमें विराजमान हैं ॥ ३५-३६ ॥

१. ग्रह्य । २. सुतं । ३. सुतस्य ।

सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन्सञ्जातवेपथुः ।
सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत्सुविस्मिता ॥३७॥

हे महाराज ! पुत्रके मुखमें अकस्मात् यह सारा जगत् देख यशोदा काँपने लगी और उस मृगनयनीने अत्यन्त विस्मित होकर अपने नेत्र मूँद लिये ॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
तृणावर्तमोक्षो[1] नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

आठवाँ अध्याय

नामकरणसंस्कार और बाललीला ।

श्रीशुक[2] उवाच

गर्गः पुरोहितो राजन्यदूनां सुमहातपाः ।
व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः ॥ १ ॥
तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
आनर्चाधोक्षजधिया[3] प्रणिपातपुरःसरम् ॥ २ ॥
सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम् ।
नन्दयित्वाब्रवीद्ब्रह्मन्पूर्णस्य करवाम किम् ॥ ३ ॥
महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् ।
निःश्रेयसाय[4] भगवन्कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥ ४ ॥
ज्योतिषामयनं साक्षाद्यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम् ।
प्रणीतं भवता येन पुमान्वेद परावरम् ॥ ५ ॥
त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान्कर्तुमर्हसि ।
बालयोरनयोर्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार यादवोंके कुलपुरोहित महातेजस्वी गर्गजी वसुदेवजीके भेजनेसे नन्दजीके गोकुलमें आये ॥ १ ॥ उन्हें देखते ही नन्दजी अत्यन्त प्रसन्न होकर उठ खड़े हुए, उन्होंने मुनिको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और विष्णुबुद्धिसे उनका पूजन किया ॥ २ ॥ जब गर्गजी नन्दजीका आतिथ्य ग्रहण कर सुखपूर्वक बैठ गये तो उन्होंने अति मधुर वाणीसे मुनिकी प्रशंसा करते हुए कहा—"भगवन् ! आप आप्तकाम हैं हम आपकी क्या सेवा करें ? ॥ ३ ॥ आप-जैसे महात्माओंका आना-जाना तो दीनचित्त गृहस्थोंके कल्याणके लिये ही होता है, उसका कोई और हेतु नहीं होता ॥४॥ जो इन्द्रियोंसे परे है और जिसके द्वारा लोग भूत-भविष्यत्का वृत्तान्त प्रत्यक्ष जान सकते हैं आपने उस ज्योतिष्शास्त्रकी रचना की है ॥ ५ ॥ आप ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं, अतः मेरे इन बालकोंके नामकरणादि संस्कार आप ही कीजिये; क्योंकि ब्राह्मण तो जन्मसे ही सबका गुरु होता है"॥ ६ ॥

गर्ग उवाच

यदूनामहमाचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वदा[5] ।
सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकीसुतम् ॥ ७ ॥
कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः ।
देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति ॥ ८ ॥

गर्गजी बोले—नन्दजी ! तुम जानते हो, मैं सदासे ही पृथ्वीपर यदुकुलका आचार्य प्रसिद्ध हूँ; अतः यदि मैं तुम्हारे पुत्रका संस्कार करूँगा तो लोग उसे देवकीका पुत्र समझेंगे ॥ ७ ॥ कंसकी बुद्धि पापमयी है और वह यह भी जानता है कि तुम्हारी और वसुदेवजीकी परस्पर मित्रता है तथा [देववाणीके कथनानुसार उसे निश्चय है कि] देवकीका आठवाँ बालक कन्या नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

१. शकटतृणावर्तवधः । २. बादरायणिरुवाच । ३. अभ्यर्च्याधो० । ४. नैःश्रे० । ५. सर्वतः ।

इति सञ्चिन्तयञ्छ्रुत्वा देवक्या दारिकावचः ।
अपि हन्ता गताशङ्कस्तर्हि तन्नोऽनयो भवेत् ॥ ९ ॥

नन्द उवाच

अलक्षितोऽस्मिन्रहसि मामकैरपि गोव्रजे ।
कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् ।
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥११॥

गर्ग उवाच

अयं हि रोहिणीपुत्रो रमयन्सुहृदो गुणैः ।
आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद्बलं विदुः ।
यदूनामपृथग्भावात्सङ्कर्षणमुशन्त्युत ॥१२॥
आसन्वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥१३॥
प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः ।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥१४॥
बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥१५॥
एष वः श्रेय आधास्यद्गोपगोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥१६॥
पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून्समेधिताः ॥१७॥
य एतस्मिन्महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।
नारयोऽभिभवन्त्येतान्विष्णुपक्षानिवासुराः ॥१८॥

ये सब बातें सोचकर यदि वह देवकीकी कन्याके कथनसे और मेरे संस्कार करनेसे शंका कर तुम्हारे बालकोंको मार डाले तो हमसे बड़ा अन्याय हो जायगा ॥ ९ ॥

नन्दजी बोले—मुने ! आप औरोंकी कौन कहे, मेरे जातिवालोंसे भी छिपे रहकर इसी एकान्त पशुशालामें केवल स्वस्तिवाचन करके इनका द्विजातिसंस्कारमात्र कर दीजिये ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—गर्गजीको तो यह करना ही था, अतः नन्दजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर उन्होंने एकान्तमें गुप्तभावसे बालकोंका नामकरण-संस्कार किया ॥ ११ ॥

गर्गजी बोले—यह रोहिणीका पुत्र अपने गुणोंसे स्वजनोंको रमावेगा, इसलिये इसका नाम 'राम' होगा, बलकी अधिकताके कारण इसे 'बलभद्र' कहेंगे और यादवोंमें मेल करानेके कारण यह 'सङ्कर्षण' कहलावेगा ॥ १२ ॥ और यह तुम्हारा पुत्र, जब पहले तीन युगोंमें अवतीर्ण हुआ था तो इसके क्रमशः श्वेत, रक्त और पीत वर्ण थे । इस बार यह कृष्णवर्णसे प्रकट हुआ है, [इसलिये इसका नाम कृष्ण होगा] यह पहले कभी वसुदेवजीके यहाँ उत्पन्न हुआ था, इसलिये विद्वान् लोग इस श्रीमान् बालकका नाम 'वासुदेव' बतलाते हैं ॥ १३-१४ ॥ गुण और कर्मके अनुसार तुम्हारे पुत्रके और भी बहुत-से नाम और रूप हैं; उन्हें मैं तो जानता हूँ, किन्तु अन्य साधारण पुरुष नहीं जानते ॥ १५ ॥ यह बालक तुम्हारा कल्याणसाधन करता हुआ समस्त गोप और गौओंको आनन्दित करेगा तथा इसकी सहायतासे तुमलोग बहुत-सी दुस्तर विपत्तियोंको सहजहीमें पार कर लोगे ॥ १६ ॥ हे व्रजराज ! पूर्वकालमें अराजकताके समय इसने लुटेरोंसे पीड़ित साधुजनोंकी रक्षा की थी, तब इससे रक्षित होकर उन साधुओंने लुटेरोंपर विजय प्राप्त की थी ॥ १७ ॥ जो बड़भागी पुरुष इससे प्रेम करते हैं उन्हें उनके शत्रु नहीं दबा सकते; जैसे विष्णुभगवान्‌से सुरक्षित देवताओंको असुरगण नहीं जीत सकते ॥ १८ ॥

---

१. महान् ।

तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः ।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः ॥१९॥
इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।
नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम् ॥२०॥

अतः हे नन्द ! तुम्हारा यह बालक गुण, कीर्ति और प्रभावमें साक्षात् श्रीनारायणके समान है, तुम सावधानतापूर्वक इसकी रक्षा करना ॥ १९ ॥ इस प्रकार नन्दजीको समझाकर गर्गजी अपने घर चले गये तब नन्दजीने उनके कथनसे अति आनन्दित होकर अपने-आपको पूर्णकाम माना ॥ २० ॥

कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ ।
जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः ॥२१॥
तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ
घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं
मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ॥२२॥
तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य[2] दोर्भ्याम् ।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ॥२३॥
यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला-
वन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ
प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः ॥२४॥
शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् ।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम् ॥२५॥

कुछ काल बीतनेपर राम और कृष्ण गोकुलमें अपने घुटनों और हाथोंके बल रेंग-रेंगकर विहार करने लगे ॥ २१ ॥ दोनों भाई अपने नन्हें-नन्हें चरणोंको गोष्ठकी कीचमें घसीटते हुए चलते थे । उस समय उनके पाँव और कमरके आभूषणोंका शब्द बड़ा ही सुन्दर मालूम होता था । उस शब्दको सुनकर वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते । कभी वे थोड़ी दूरतक लोगोंके पीछे-पीछे जाते और फिर मुग्ध तथा भयभीत-से होकर अपनी माताओंके पास लौट आते ॥ २२ ॥ उस समय स्नेहवश उनकी माताओंके स्तनोंमें दूध भर आता और वे कीचड़रूपी अङ्गराग लगे होनेके कारण सुन्दर प्रतीत होते हुए अपने बालकोंको दोनों हाथोंसे गोदमें लेकर हृदयसे लगातीं तथा उन्हें स्तनपान करातीं । जब वे दूध पीने लगते तो मधुर मुसकान और छोटी-छोटी दन्तावलीसे युक्त उनके मुखारविन्दको निहारकर वे अत्यन्त आनन्दमग्न हो जातीं ॥ २३ ॥ जब वे दोनों भाई कुछ और बड़े होनेपर व्रजमें रहकर गोपियोंके देखनेयोग्य अनूठी बाललीलाएँ करते हुए बछड़ोंकी पूँछ पकड़कर उनके द्वारा इधर-उधर खींचे जाते थे तो गोपियाँ अपने-अपने घरसे बाहर निकलकर उन्हें देख-देखकर हँसती हुई अत्यन्त आनन्दित हो जाती थीं ॥ २४ ॥ जब उनकी माता यशोदा और रोहिणी अपने अत्यन्त चपल बालकोंको खेलते समय गाय-बैल आदि सींगोंवाले पशुओंसे, अग्निसे, कुत्ता आदि दाँतसे काटनेवाले जीवोंसे, तलवार आदि हथियारोंसे तथा जल, पक्षी और काँटोंसे बचाने और घरका धन्धा करनेमें भी समर्थ न होतीं तो उनका चित्त बड़ा उद्विग्न हो जाता ॥ २५ ॥

१. ता तात गो० । २. गृह्य ।

कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले[1]।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥२६॥
ततस्तु भगवान्कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम् ॥२७॥
कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम्।
शृण्वत्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः ॥२८॥
वत्सान्मुञ्चन्क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधि पयः कल्पितैः स्तेययोगैः।
मर्कान्भोक्ष्यन्विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान् ॥२९॥
हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यै-
श्छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित्।
ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं
काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः ॥३०॥
एवं धाष्टर्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ
स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथास्ते।
इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभि-

हे राजर्षे! कुछ ही दिन पीछे राम और कृष्ण गोकुलमें घुटनोंका सहारा लिये बिना ही सुगमतासे पैरोंके बल चलने लगे ॥ २६ ॥ तब बलरामजीके सहित भगवान् कृष्ण व्रजबालाओंको आनन्दित करते हुए व्रजके अन्यान्य समवयस्क बालकोंके साथ खेलने लगे ॥ २७ ॥ कृष्णचन्द्रका मनोहर बालचापल्य देखकर गोपियाँ नन्दजीके घर आकर माता यशोदाको सुना-सुनाकर इस प्रकार कहा करतीं—॥२८॥ "[अरी यशोदा! यह कान्हा बड़ा ही नटखट हो गया है—] कभी बिना गोदोहनका समय हुए ही यह बछड़ोंको खोल देता है, उस समय यदि हम डाँटती हैं तो यह हँसने लगता है। कभी हमारे मीठे दही और दूधको चोरीके नाना उपाय करके चुराकर आप खाता है और बन्दरोंको बाँट कर खिलाता है, यदि बन्दरोंसे भी नहीं खाया जाता तो दूध-दहीके माटोंको फोड़ डालता है, और यदि कभी कोई वस्तु नहीं मिलती तो घरवालोंपर कुपित हो बालकोंको रुलाकर भाग जाता है ॥ २९ ॥ [हम इसके भयसे दहीका पात्र ऊँचे छींकेपर रख देती हैं, अतः] यदि इसका हाथ उनतक नहीं पहुँचता तो यह पीढ़ा और ऊखलादिको नीचे-ऊपर रखकर उनतक पहुँचनेकी तरकीब निकाल लेता है। यदि फिर भी उन्हें नहीं उतार पाता तो उन छींकोंके बर्तनोंमें रखी हुई वस्तुओंको पहचानकर छेद करनेकी युक्ति जाननेके कारण यह उन भाण्डोंमें छेद कर देता है। यदि हम उन वस्तुओंको अँधेरेमें रखती हैं तो इसने बहुत-से मणिजटित आभूषण पहन रखे हैं, [उनके प्रकाशसे इसे सब पता चल जाता है।] और मणियोंसे ही क्या इसका तो शरीर ही सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिये दीपकके समान है। जिस समय गोपियाँ घरके धन्धेमें लगी होती हैं उसी समय यह सारे उत्पात करता है ॥३०॥ यह इसी प्रकार अनेकों बार धृष्टताकी बातें करता है, यहाँतक कि कभी-कभी तो हमारे लिपे-पुते घरोंमें मल-मूत्र भी कर देता है। यह हर समय चोरीके ढंग ही सोचा करता है। किन्तु देखो, इस समय कैसा भोलाभाला साधु बना बैठा है?" इस प्रकार जब गोपियाँ भययुक्त नेत्रोंसे सुशोभित श्रीकृष्णके मुखचन्द्रकी ओर निहारती हुई

१. गोव्रजे।

व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्॥३१॥

यशोदाजीको उनकी सारी करतूतें सुनातीं तो यशोदाजीको भी हँसी आ जाती और कृष्णको डाँटनेकी उनकी इच्छा भी न होती ॥ ३१ ॥

एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः ।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥३२॥
सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी ।
यशोदा भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥३३॥
कस्मान्मृदमदान्तात्मन्भवान्भक्षितवान्रहः ।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥३४॥

एक दिन बलराम आदि सब ग्वालबाल खेल रहे थे; इसी समय उन्होंने माता यशोदासे जाकर कहा कि कृष्णने मिट्टी खायी है ॥ ३२ ॥ तब जिसके नेत्र भयके कारण चञ्चल चितवनयुक्त दिखायी पड़ते थे उस बालक कृष्णका हाथ पकड़कर यशोदाजी उसके हितके लिये डाँटती हुई कहने लगीं—॥३३॥ "क्यों रे नटखट! तूने एकान्तमें छिपकर मिट्टी कैसे खायी? देख, तेरे ये साथी बालक और तेरे बड़े भैया बलराम भी इस बातकी गवाही दे रहे हैं" ॥ ३४ ॥

कृष्ण उवाच

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः ।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥३५॥

कृष्णचन्द्रने कहा—मैया ! मैंने मिट्टी नहीं खायी, ये सब झूठी बातें बनाते हैं । यदि इनकी बात सच्ची है तो अभी अपने सामने मेरा मुख देख ले ॥३५॥

यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान्हरिः ।
व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः ॥३६॥
सा तत्र ददृशे विश्वं जगत्स्थास्नु च खं दिशः ।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥३७॥
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान्वियदेव च ।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः॥३८॥
एतद्विचित्रं सह जीवकाल-
स्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् ।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये
व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ॥३९॥
किं स्वप्न एतदुत देवमाया
किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः ।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य
यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः ॥४०॥

[यशोदाजीने कहा—] "अच्छा यदि यही बात है तो खोल ।" यशोदाजीके इस प्रकार कहनेपर लीलाके लिये ही मनुष्यबालकका रूप धारण करनेवाले अखण्ड ऐश्वर्यशाली भगवान्ने अपना मुख खोल दिया ॥ ३६ ॥ तब यशोदाने सम्पूर्ण चराचर जगत्, आकाश, दिशाएँ, पर्वत, द्वीप और समुद्रके सहित सम्पूर्ण भूलोक, वायु, अग्नि, चन्द्रमा और तारागणके सहित निखिल ज्योतिर्मण्डल, जल, तेज, पवन, आकाश आदि पञ्चभूत, वैकारिक अहंकारके कार्य इन्द्रियाधिष्ठातृ देव और मन, [राजस अहंकारकी कार्यभूता) इन्द्रियाँ, तथा [तामस अहंकारकी कार्य] पञ्चतन्मात्राएँ एवं तीनों गुण उस बालकके मुखमें देखे ॥ ३७-३८ ॥ इस प्रकार जीव, काल, स्वभाव, कर्म, आशय और विभिन्न शरीरोंके कारण विचित्र भेदवाला यह सम्पूर्ण विश्व और अपने सहित समस्त व्रजमण्डलको पुत्रके थोड़े-से खुले हुए मुखमें देखकर यशोदाको बड़ी शंका हुई ॥ ३९ ॥ वे सोचने लगीं—'यह कोई स्वप्न है या भगवान्की माया है या मेरी बुद्धिमें ही कोई भ्रम हो गया है अथवा मेरे इस बालकमें ही यह कोई जन्मजात योगसिद्धि है ? ॥ ४० ॥

१. गृहीत्वाथ करे पुत्रमुपा० ।

अथो यथावन्न वितर्कगोचरं
चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते
सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् ॥४१॥
अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो
व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती ।
गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे
यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ॥४२॥

जो चित्त, मन, वाणी और कर्मसे ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता, जिसमें यह जगत् स्थित है तथा जिस इन्द्रियाधिष्ठाता और बुद्धिके प्रेरकद्वारा इसकी प्रतीति होती है उस अचिन्त्यशक्ति परमपदको मैं प्रणाम करती हूँ ॥ ४१ ॥ 'मैं हूँ, यह मेरा पति है, यह मेरा पुत्र है, मैं व्रजराज नन्दकी सम्पूर्ण सम्पत्तिकी स्वामिनी धर्मपत्नी हूँ तथा समस्त गोप, गोपी और गोधन मेरे ही अधीन हैं' जिनकी मायासे मुझे इस प्रकारकी कुमति घेरे हुए है वे भगवान् ही मेरी एकमात्र गति हैं' ॥ ४२ ॥

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः ।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः ॥४३॥
सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी सारोप्यारोहमात्मजम् ।
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयासीद्यथा पुरा ॥४४॥
त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः ।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ॥४५॥

यशोदाको इस प्रकार तत्त्वज्ञान हुआ देख भगवान् विभुने अपनी पुत्रस्नेहमयी वैष्णवी माया फैला दी ॥ ४३ ॥ उससे यशोदा तुरन्त ही उस दृश्यको भूल गयी और उसने पुत्रको गोदमें उठा लिया तथा हृदयमें प्रेमकी बाढ़ उमड़ आनेसे वह जैसी पहले थी वैसी ही हो गयी ॥ ४४ ॥ तीनों वेद, उपनिषद्, सांख्ययोग और भक्तजन जिनका सुयश गान करते हैं उन श्रीहरिको वह अपना पुत्र मानती थी ! ॥४५॥

राजोवाच

नन्दः किमकरोद्ब्रह्मञ्छ्रेय एवं महोदयम् ।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥४६॥
पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम् ।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम् ॥४७॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! नन्दजीने ऐसा कौन-सा बड़ा भारी पुण्य किया था और महाभागा यशोदाने भी ऐसी क्या तपस्या की थी जो भगवान्‌ने उनका स्तनपान किया ॥ ४६ ॥ जो त्रिलोकीके तापको शान्त करनेवाली हैं तथा कविजन जिनका आज भी गान करते हैं भगवान् कृष्णकी उन उदार बाललीलाओंको देखनेका सुख उनके माता-पिता वसुदेव-देवकीको भी प्राप्त नहीं हुआ, [फिर जिन्होंने उनका साक्षात् अनुभव किया उन नन्द-यशोदाके भाग्यका क्या कहना है ?] ॥ ४७ ॥

श्रीशुक उवाच

द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्यया ।
करिष्यमाण आदेशान्ब्रह्मणस्तमुवाच ह ॥४८॥
जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ ।
भक्तिः स्यात्परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत् ॥४९॥
अस्त्वित्युक्तः स भगवान्व्रजे द्रोणो महायशाः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वसुश्रेष्ठ द्रोणने अपनी भार्या धराके सहित ब्रह्माजीकी आज्ञा स्वीकार करते हुए उनसे कहा—॥ ४८ ॥ "भगवन् ! जब हम पृथिवीपर उत्पन्न हों तो देवाधिदेव विश्वपति श्रीहरिमें हमारी अविचल भक्ति हो, जिससे जीव सहजहीमें दुर्गतिके पार हो जाता है" ॥ ४९ ॥ ब्रह्माजीने कहा—"ऐसा ही होगा ।" तदनन्तर महायशस्वी भगवान् द्रोण व्रजमें उत्पन्न होकर 'नन्द' नामसे

जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराभवत् ॥५०॥
ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते[1] जनार्दने ।
दम्पत्योर्नितरामासीद्गोपगोपीषु भारत ॥५१॥
कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः ।
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया ॥५२॥

विख्यात हुए और उनकी पत्नी धरा 'यशोदाजी' हुईं ॥ ५० ॥ हे भारत ! इसीलिये पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए भगवान् श्रीहरिमें समस्त गोप-गोपियोंकी अपेक्षा इन दोनों स्त्री-पुरुषोंकी अत्यन्त भक्ति हुई ॥ ५१ ॥ भगवान् कृष्ण भी ब्रह्माजीका वाक्य सत्य करनेके लिये बलरामजीके सहित व्रजमें रहकर समस्त व्रजवासियोंको अपनी बाललीलाओंसे आनन्दित करने लगे ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[2]
विश्वरूपदर्शनेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवाँ अध्याय

श्रीकृष्णका उलूखलबन्धन ।

श्रीशुक उवाच[3]

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी ।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि ॥ १ ॥
यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च ।
दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥ २ ॥

क्षौमं वासः पृथुकटितटे
बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं
जातकम्पं च सुभ्रूः ।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्-
कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगल-
न्मालती निर्ममन्थ ॥ ३ ॥

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः ।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत्प्रीतिमावहन्[4] ॥ ४ ॥
तमङ्कमारूढमपाययत्स्तनं
स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक दिन घरकी दासियाँ घरके अन्य कामोंमें लगी हुई थीं, इसलिये नन्दरानी यशोदाजी स्वयं ही दही मँथने लगीं ॥ १ ॥ भगवान्की जिन-जिन बाललीलाओंका यहाँतक वर्णन हुआ है । उन सबको याद कर-करके वे दही मँथते समय गाती जाती थीं ॥२॥ वे अपने स्थूल कटिभागमें कटिबन्धनसे युक्त रेशमी वस्त्र धारण किये थीं । उनके स्तन हिल रहे थे और पुत्रस्नेहके कारण उनसे दूध चू रहा था । नेतीके खींचनेसे थकी हुई भुजाओंमें कंकण और कानोंमें कुण्डल हिल रहे थे । उनके मुखपर पसीना झलक आया था और उनकी चोटीमें गुँथे हुए मालतीके पुष्प गिरते जाते थे । इस प्रकार सुन्दर भृकुटिवाली श्रीयशोदाजी दही मँथनेमें लगी हुई थीं ॥ ३ ॥ जिस समय वे इस प्रकार दधि-मन्थनमें तल्लीन थीं उसी समय श्रीहरि स्तनपानकी इच्छासे माताके पास आये और उन्हें आनन्दित करते हुए मँयानी पकड़कर मँथनेसे रोक दिया ॥ ४ ॥ माताने उन्हें गोदमें उठा लिया और उनके मनोहर मुसकानयुक्त मुखारविन्दको देखती हुई स्नेहके कारण अपने-आप ही झरता हुआ स्तन पान कराने लगीं ।

१. पुत्रभूते । २. बालक्रीडायामष्ट० । ३. बादरायणिरुवाच । ४. सुतम् ।

अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा यया-
वुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥ ५ ॥
संजातकोपः[1] स्फुरितारुणाधरं[2]
संदश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम् ।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो
जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः ॥ ६ ॥

इतनेहीमें अँगीठीपर रखा हुआ दूध उफनने लगा, इसलिये यशोदाजी उन्हें अतृप्त ही छोड़कर जल्दीसे [दूध उतारनेके लिये] चली गयीं ॥ ५ ॥ इससे कृष्णचन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ, उन्होंने अपने काँपते हुए अरुण अधरको दाँतोंसे दबाकर लोढ़ेसे दहीका माट फोड़ डाला और बनावटी आँसू निकालकर घरके भीतर जा एकान्तमें माखन खाने लगे ॥ ६ ॥

उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः
प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकम् ।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म त-
ज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥ ७ ॥
उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं
मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम् ।
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं
निरीक्ष्य पश्चात्सुतमागमच्छनैः ॥ ८ ॥
तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर-
स्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत् ।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां
क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः ॥ ९ ॥
अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चल-
च्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा ।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धन-
च्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत् ॥१०॥
कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी
कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना ।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं
हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥११॥
त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला ।
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा ॥१२॥

यशोदाजी औटा हुआ दूध उतारकर फिर मन्थन-गृहमें आयीं तो उन्होंने दहीका भाण्ड फूटा देखा । इससे वे समझ गयीं कि यह सब करतूत मेरे लालाकी ही है और उन्हें वहाँ न देखकर वे हँसने लगीं ॥ ७ ॥ इधर-उधर ढूँढ़नेपर उन्होंने देखा कि कृष्णचन्द्र एक उलटी पड़ी हुई ओखलीपर खड़े हो छींकेपरका माखन उतारकर इच्छानुसार वानरोंको लुटा रहे हैं । चोरी खुल जानेके डरसे वे चौकन्ने होकर इधर-उधर देखते जाते हैं । यह देखकर यशोदाजी चुपकेसे पुत्रके पास पहुँच गयीं ॥ ८ ॥ माताको छड़ी लिये पास आती देख कृष्णचन्द्र तुरन्त ही ओखलीपरसे उतरकर भयभीत-से होकर भागे । तब जिन्हें योगियोंके तपस्या-द्वारा प्रेरित एवं भगवत्तत्त्वमें प्रवेश करनेमें समर्थ चित्त भी प्राप्त नहीं कर सके उन्हीं भगवान्‌को पकड़नेके लिये यशोदाजी उनके पीछे दौड़ीं ॥ ९ ॥ इस प्रकार कृष्ण-के पीछे दौड़ते-दौड़ते स्थूल नितम्बोंके कारण जिनकी गति मन्द पड़ गयी है और वेगसे दौड़नेके कारण जिनका केशपाश ढीला पड़कर उसमें गुँथे हुए फूल झड़ गये हैं उन सुन्दर कटिवाली माता यशोदाने उन्हें पकड़ लिया ॥ १० ॥ अपराधी होनेके कारण कृष्ण रोने लगे, हाथोंसे आँखें मलनेके कारण उनके मुखपर कज्जलकी स्याही फैल गयी और वे पिटनेके भयसे व्याकुल नेत्रोंसे ऊपरकी ओर देखने लगे । माताने उनके हाथ पकड़ लिये और उन्हें धमकाती हुई डराने लगीं ॥ ११ ॥ फिर बालकको बहुत डरा हुआ जान पुत्रवत्सला यशोदाजीने छड़ी फेंक दी, और उनका प्रभाव न जाननेके कारण उन्हें रस्सीसे बाँधनेकी इच्छा की ॥१२॥

१. स जा० । २. धरः ।

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥१३॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥१४॥
तद्दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः ।
द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका ॥१५॥
यदासीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे ।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम् ॥१६॥
एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि ।
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत् ।१७।
स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत्स्वबन्धने ॥१८॥
एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥१९॥
नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ॥२०॥
नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥२१॥
कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः ।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥२२॥
पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात् ।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ ॥२३॥

जिनका कोई बाहर-भीतर अथवा पूर्व या पर नहीं है तथा जो स्वयं ही सम्पूर्ण जगत्के बाहर-भीतर और आदि-अन्तमें विद्यमान एवं जगद्रूप हैं उन मायामानवरूप इन्द्रियातीत अव्यक्त हरिको अपना पुत्र मानकर यशोदा साधारण शिशुके समान रस्सीसे ऊखलमें बाँधने लगीं ॥ १३-१४ ॥ जिस रस्सीसे वे अपने अपराधी बालकको बाँध रही थीं वह दो अङ्गुल छोटी पड़ गयी; अतः उन्होंने दूसरी रस्सी लाकर उसमें जोड़ी ॥ १५ ॥ जब वह भी छोटी पड़ गयी तो और जोड़ी । इस प्रकार वे जितनी रस्सियाँ लायीं सभी [जुड़-जुड़कर भी] दो अङ्गुल छोटी रहीं ॥ १६ ॥ जब यशोदाजी घरकी सारी रस्सियाँ जोड़नेपर भी भगवान्को न बाँध सकीं तो उनकी असफलतासे मुसकाती हुई अन्य गोपियोंके साथ स्वयं भी मुसकाती हुई आश्चर्यचकित हो गयीं ॥१७॥ अन्तमें जब कृष्णचन्द्रने देखा कि माताका शरीर पसीनेसे भर गया है और उनके जूड़ेमें गुँथी हुई फूलोंकी माला खिसक गयी है तो वे उनका भारी परिश्रम देखकर दयावश स्वयं ही बँध गये ॥१८॥ हे राजन् ! ब्रह्मादि लोकपालोंके सहित यह सम्पूर्ण विश्व जिनके वशीभूत है उन परम स्वाधीन भगवान् कृष्णने इस प्रकार माताके इस बन्धनमें बँधकर यह दिखला दिया कि 'मैं भक्तोंके वशमें हूँ' ॥१९॥ इस प्रकार मुक्तिदाता श्रीहरिका जो प्रसाद ब्रह्मा, महादेव और उनके अंगमें रहनेवाली श्रीलक्ष्मीजीको भी प्राप्त नहीं हुआ वही गोपी यशोदाने पा लिया ॥२०॥ गोपिकानन्दन भगवान् कृष्ण जैसी सुगमतासे भक्तिमान् पुरुषोंको प्राप्त हो सकते हैं वैसे अन्य मनुष्यों और अपने आत्मस्वरूप तत्त्वज्ञानियोंको भी प्राप्त नहीं हो सकते ॥२१॥

तदनन्तर, जिस समय माता घरके काम-धन्धोंमें लग गयी उस समय कृष्णचन्द्रकी दृष्टि [घरके द्वारपर स्थित] यमलार्जुन नामक दो वृक्षोंपर पड़ी, जो पूर्वजन्ममें यक्षपति कुबेरके पुत्र थे ॥२२॥ ये अत्यन्त ऐश्वर्यवान् एवं नलकूबर और मणिग्रीव नामसे विख्यात थे तथा नारदजीके शापसे वृक्षरूप हो गये थे ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गोपीप्रसादो[1] नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

---

१. बालक्रीडायामुदूखलबन्धो नाम ।

दशवाँ अध्याय

यमलार्जुनोद्धार ।

राजोवाच

कथ्यतां भगवन्नेतत्तयोः शापस्य कारणम् ।
यत्तद्विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेस्तमः ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन्! यह बताइये कि नलकूबर और मणिग्रीवके शापका क्या कारण था? और उन्होंने ऐसा क्या निन्दनीय कर्म किया था जिससे [परम शान्तस्वभाव] देवर्षि नारदको क्रोध हुआ? ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ ।
कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ।
स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ॥ ३ ॥
अन्तःप्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि ।
चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः ॥ ४ ॥
यदृच्छया च देवर्षिर्भगवांस्तत्र कौरव ।
अपश्यन्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत ॥ ५ ॥
तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशङ्किताः ।
वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ ॥ ६ ॥
तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ ।
तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—राजन्! कुबेरके ये दोनों पुत्र भगवान् रुद्रके सेवक थे, इसलिये उन्हें बड़ा गर्व हो गया था। वारुणी मदिराका पान करनेसे नशेके कारण उनके नेत्र घूम रहे थे, वे मदोन्मत्त यक्ष कैलासके परम रमणीय उपवनमें गाती-बजाती स्त्रियोंके साथ श्रीगङ्गाजीके तटपर एक पुष्पित वनमें घूम रहे थे ॥२-३॥ घूमते-घूमते वे जलक्रीडाके लिये कमलपंक्तियोंसे सुशोभित गङ्गाजीमें घुस गये और जैसे हथिनियोंके साथ हाथी विहार करते हैं वैसे ही युवतियोंके साथ मिलकर जलक्रीडा करने लगे ॥४॥ हे कुरुनन्दन! दैवयोगसे भगवान् नारदजी उधर आ निकले। उन्होंने उन यक्ष-युवकोंको देखकर समझा कि ये मतवाले हो रहे हैं ॥५॥ देवर्षिको देखकर वस्त्रहीना अप्सराओं-ने तो लज्जावश शापके भयसे झटपट अपने वस्त्र पहन लिये, किन्तु उन यक्षोंने नहीं पहने ॥६॥ उन देवपुत्रोंको मद्यपानसे उन्मत्त और ऐश्वर्यमदसे अन्धे हुए देखकर देवर्षि नारदने उनपर कृपा करनेके लिये शाप देते हुए कहा ॥७॥

नारद उवाच

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान्बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः ।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासवः ॥ ८ ॥
हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः ।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम् ॥ ९ ॥

नारदजी बोले—अपने प्रिय विषयोंका सेवन करनेवाले पुरुषके लिये ऐश्वर्यमद जैसा बुद्धि भ्रष्ट करनेवाला होता है वैसे जाति आदिके मद अथवा रजोगुणके कार्य हास्यादि नहीं होते, क्योंकि ऐश्वर्यके समय स्त्री, द्यूत और मद्य आदिकी ही बहुलता रहती है ॥८॥ इस ऐश्वर्यमदसे अन्धे होकर निर्दय और अजितेन्द्रिय पुरुष अपने नाशवान् शरीरको अजर-अमर मानकर पशुओंकी हत्या करते हैं ॥९॥

१. येनासीद्देव० । २. वासांस्युप० ।

देवसंज्ञितमप्यन्ते क्रिमिविड्भस्मसंज्ञितम् ।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥१०॥
देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च ।
मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा ॥११॥
एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् ।
को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसतः ॥१२॥
असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमञ्जनम् ।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥१३॥
यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम् ।
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः ॥१४॥
दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह ।
कृच्छ्रं यदृच्छयाप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥१५॥
नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः ।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते ॥१६॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद्विशुद्ध्यति ॥१७॥
साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥१८॥
तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः ।

जो शरीर [नरदेव (राजा), भूदेव (ब्राह्मण) आदि] देवसंज्ञक नामोंसे कहा जाता है वह भी अन्तमें कीड़ा, विष्ठा या भस्मरूप ही हो जाता है, फिर उसके लिये जो पुरुष प्राणियोंसे द्रोह करता है, जिस द्रोहसे कि उसे नरककी प्राप्ति होती है, क्या वह अपना वास्तविक स्वार्थ जानता है? ॥१०॥ इस शरीरको किसकी सम्पत्ति कहें? अन्न देनेवालेकी, वीर्यदाता पिताकी, उदरमें धारण करनेवाली माताकी, माताके पिता (नाना) की, बलवान्‌की, मोल लेनेवालेकी, अग्निकी या कुत्तोंकी? ॥११॥ यह देह अव्यक्तसे उत्पन्न होता है और उसीमें लीन हो जाता है। जब कि यह ऐसी साधारण वस्तु है तो असत् पुरुषके सिवा ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो इसे आत्मा मानकर इसके लिये जीवोंका वध करेगा? ॥१२॥ जो असत्पुरुष ऐश्वर्यके मदमें अन्धा हो रहा है उसके लिये दरिद्रता ही उत्तम अञ्जन है, क्योंकि दरिद्र पुरुष अन्य जीवोंको भी अपने समान ही देखता है ॥१३॥ जिस पुरुषके अङ्गमें काँटा लगता है वह जैसे [मुख-संकोच आदि] चिह्नोंसे अपनी तथा दूसरे जीवोंकी पीडाकी तुल्यताका अनुमान करके दूसरोंके लिये उस व्यथाका न होना चाहता है वैसे वह पुरुष, जिसे काँटा लगनेकी व्यथाका अनुभव नहीं है, नहीं चाहता ॥ १४ ॥ दरिद्री पुरुष अहंकारसे होनेवाली अनम्रता और सब प्रकारके मदोंसे रहित होता है। उसे दैवयोगसे जो कष्ट प्राप्त होता है वही उसका परम तप है ॥१५॥ जिसका शरीर क्षुधासे क्षीण हो जाता है और जो सर्वदा अन्नकी चाहमें रहता है उस दरिद्र पुरुषकी इन्द्रियाँ शीघ्र ही शुष्क हो जाती हैं और उसमें हिंसावृत्ति भी नहीं रहती ॥१६॥ समदर्शी साधु पुरुषोंका समागम भी धनहीनोंको ही होता है। उनके सत्संगसे वह विषय-तृष्णाको त्याग देता है और फिर शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है ॥१७॥ जो भगवच्चरणारविन्दोंके रसिक समदर्शी साधु पुरुष हैं उन्हें दुर्गुणोंसे युक्त एवं धनके मदसे मत्त उपेक्षणीय दुर्जनोंसे क्या प्रयोजन है? ॥१८॥ अतः मैं इन वारुणी मदिरासे उन्मत्त, ऐश्वर्य-

१. क्रेतुर्वा बलिनोऽग्नेः शुनो० ।

तमोमदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः ॥१९॥

यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ ।

न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥२०॥

अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः ।

स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥२१॥

वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते ।

वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

एवमुक्त्वा स देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम् ।

नलकूवरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ॥२३॥

ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः ।

जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥२४॥

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।

तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना ॥२५॥

इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ ।

आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम् ॥२६॥

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं त-
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप-
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥२७॥

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ
सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः ।
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म ॥२८॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।

मदसे अन्धे, स्त्रीपरायण और इन्द्रियलम्पट यक्षोंका अज्ञानजनित मद दूर कर दूँगा ॥१९॥ अहो ! लोकपाल कुबेरके पुत्र होकर भी ये अत्यन्त मदके कारण अज्ञानमें ऐसे डूबे हुए हैं कि इन्हें अपने वस्त्रहीन होनेका भी ज्ञान नहीं है ॥ २० ॥ अतः ये स्थावरयोनिमें जानेयोग्य हैं जिससे कि इन्हें फिर कभी ऐसा अज्ञान न हो, किन्तु मेरी कृपासे इन्हें उस अवस्थामें भी इस जन्मकी स्मृति बनी रहेगी ॥२१॥ इन्हें सौ दिव्य वर्ष बीतनेपर श्रीवासुदेवकी सन्निधि प्राप्त होगी; उस समय भगवान्‌की भक्ति पाकर ये फिर स्वर्गलोकके अधिकारी होंगे ॥२२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—ऐसा कह देवर्षि नारद भगवान् नारायणके आश्रम (बदरिकाश्रम) को चले गये तथा नलकूबर और मणिग्रीव यमलार्जुननामक वृक्ष हो गये ॥ २३ ॥ भागवतश्रेष्ठ देवर्षि नारदके वचनोंको सत्य करनेके लिये श्रीहरि जहाँ यमलार्जुन वृक्ष थे वहाँ धीरे-धीरे पहुँचे ॥२४॥ भगवान्ने सोचा 'देवर्षि नारद मेरे प्रियतम भक्त हैं और ये भी कुबेरके पुत्र हैं, अतः महात्मा नारदजीने जो कुछ कहा है उसे मैं उसी प्रकार पूर्ण करूँगा' ॥ २५ ॥ यह विचारकर भगवान् कृष्ण उन दोनों अर्जुनवृक्षोंके बीचमें गये, उनके निकलते ही वह ऊखल टेढ़ी होकर अटक गयी ॥२६॥ तब जिनकी कमरमें रस्सी कसी हुई है उन बालकृष्णने अपने पीछे लुढ़ककर आती हुई ऊखलको ज्यों ही जोरसे खींचा त्यों ही उनके परम पराक्रमसे शाखा-प्रशाखा और पत्तोंसहित विचलित होकर वे पेड़ बड़े वेगसे घोर शब्द करते हुए जड़सहित उखड़कर गिर पड़े ॥ २७ ॥ तब उन वृक्षोंमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो सिद्धपुरुष अपनी परम दिव्य कान्तिसे सम्पूर्ण दिशाओंको देदीप्यमान करते हुए निकले। उन मलहीन दिव्य पुरुषोंने सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी श्रीकृष्णचन्द्रको शिर झुकाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे ॥२८॥ "हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! आप प्रकृतिसे अतीत

१. हनिष्या० । २. त्वत्प्रसा० । ३. स एवमुक्त्वा देव० । ४. ता उदूखलं । ५. बलिनो० ।

व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥२९॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।
त्वमेव कालो भगवान्विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥३०॥
त्वं महान्प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी ।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥३१॥
गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ।
को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः ॥३२॥
तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने[1] ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः ॥३४॥
स भवान्सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।
अवतीर्णोंऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥३५॥
नमः परमकल्याण नमः[2] परममङ्गल ।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥३६॥
अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ ।
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥३७॥

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु[3] भवत्तनूनाम् ॥३८॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं संकीर्तितस्ताभ्यां भगवान्गोकुलेश्वरः ।
दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ ॥३९॥

आदिपुरुष हैं । वेदवादी ब्राह्मणगण इस सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्त विश्वको आपहीका रूप जानते हैं ॥२९॥ एकमात्र आप ही समस्त जीवोंके शरीर, प्राण, आत्मा और इन्द्रियोंके ईश्वर हैं तथा आप ही भगवान् काल और अव्यय ईश्वर श्रीविष्णु हैं ॥ ३० ॥ आप ही महत्तत्त्व और सत्त्व-रज-तमोमयी सूक्ष्म प्रकृति हैं, तथा आप ही समस्त अन्तःकरणोंके विकारोंको जाननेवाले सर्वसाक्षी पुरुष हैं ॥ ३१ ॥ जो ग्रहण किये जाते हैं उन प्राकृत गुणोंके विकारोंद्वारा आपका ग्रहण नहीं किया जा सकता; आप जीवोंकी उत्पत्तिसे भी पहले विद्यमान हैं अतः देहादिसे आवृत ऐसा कौन प्राणी है जो आपको जान सके ॥ ३२ ॥ आप भगवान् वासुदेव और जगत्के विधाता हैं, आपका स्वरूप आपहीसे प्रकाशित गुणोंके द्वारा आच्छादित है, आप साक्षात् परब्रह्म हैं, हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ३३ ॥ साधारण पुरुषोंमें जिनका होना सम्भव नहीं है ऐसे अनुपम एवं निरतिशय कर्मोंसे जिन देहरहित आपका देहधारियोंमें अवतार जाना जाता है वही समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले आप समस्त लोकोंकी रक्षा और उन्नतिके लिये इस समय अपनी पूर्ण कलाओंसे अवतीर्ण हुए हैं ॥३४-३५॥ जो परम कल्याणस्वरूप और परम मङ्गलमय हैं ऐसे आप शान्तस्वरूप यदुपति भगवान् वासुदेवको नमस्कार है ॥ ३६ ॥ भगवन् ! हम आपके अनुचर (नारदजी या कुवेरजी) के दास हैं, देवर्षि भगवान् नारदके अनुग्रहसे ही हमें आपका दर्शन हुआ है; आप हमें अपने लोकको जानेकी आज्ञा दीजिये ॥३७॥ प्रभो ! हमारी वाणी आपके गुणानुवादमें, कर्ण कथाश्रवणमें, हाथ आपहीकी परिचर्यामें, मन आपके चरण-कमलोंके चिन्तनमें, शिर आपके निवासस्थान सम्पूर्ण जगत्को प्रणाम करनेमें और नेत्र आपके विग्रह-रूप साधुजनोंके दर्शन करनेमें लगे रहें" ॥३८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—यक्षकुमार नलकूबर और मणिग्रीवके इस प्रकार स्तुति करनेपर रस्सीसे ऊखलमें बँधे हुए भगवान् गोकुलपतिने हँसकर उनसे कहा ॥३९॥

१. तैर्गुणै० । २. नमस्ते विश्वमङ्ग० । ३. ने भगवन्ममास्तु ।

श्रीभगवानुवाच

ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना ।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः ॥४०॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥४१॥
तद्गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम् ।
सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः ॥४२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तौ तौ[2] परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः ।
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥४३॥

श्रीभगवान् बोले—मैं यह बात पहले ही जानता था कि जब तुम दोनों ऐश्वर्यमदसे अन्धे हो गये थे तब परमकारुणिक देवर्षि नारदने शाप देकर तुम्हारा ऐश्वर्य नष्ट करके अनुग्रह किया था ॥ ४० ॥ जिनका चित्त निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है उन समदर्शी साधुजनोंके दर्शनसे पुरुषका संसार-बन्धन नहीं रहता जिस प्रकार सूर्यका उदय होनेपर नेत्रोंका अन्धकार दूर हो जाता है ॥ ४१ ॥ अतः हे नलकूबर और मणिग्रीव ! तुम दोनों मेरा स्मरण रखते हुए अपने घरको जाओ; तुम जिसकी इच्छा करते थे वह संसार-बन्धनको दूर करनेवाला मेरा परमप्रेम तुम्हें प्राप्त हो गया है ॥४२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—भगवान्के इस प्रकार कहनेपर वे नलकूबर और मणिग्रीव ऊखलमें बँधे हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी बारम्बार परिक्रमा और वन्दना कर उनकी आज्ञा पा उत्तर दिशाको चले गये ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[3]
नारदशापो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

**व्रजवासियोंका गोकुलसे वृन्दावन जाना तथा
वत्सासुर और बकासुरका वध ।**

श्रीशुक[4] उवाच

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् ।
तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः ॥ १ ॥
भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ ।
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥ २ ॥
उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् ।
कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥ ३ ॥
बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम्[5] ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! उन दोनों वृक्षोंके गिरनेका बड़ा घोर शब्द सुनकर नन्दादि समस्त गोपगण वज्रपातकी आशंकासे वहाँ आये ॥१॥ वहाँ पहुँचनेपर उन्होंने दोनों अर्जुन-वृक्षोंको गिरे देखा, और यद्यपि उन्हें गिरानेवाले बालरूप भगवान् कृष्ण उनके सामने ही रस्सीसे ऊखलमें बँधे हुए उसे खींच रहे थे तथापि वे उनके पतनका कारण निश्चय न कर सके । इससे वे बड़े ही भ्रममें पड़ गये और 'यह किसका काम है ? ऐसा कैसे हुआ ?' इस प्रकार आश्चर्य करते हुए उत्पातकी आशंकासे व्याकुल हो गये ॥२—३॥ [वहाँ खेलते हुए] कुछ बालकोंने कहा "वृक्षोंके बीचमें होकर चलनेवाले इस कृष्णने ही टेढ़ी

१. श्रुतं । २. तं । ३. यमलार्जुनभञ्जनं नाम । ४. बादरायणिरुवाच । ५. तिरश्चीनमुलू० ।

विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि ॥ ४ ॥

होकर अड़ी हुई ऊखलको जोरसे खींचकर इन्हें गिराया है। यही नहीं; हमने इनमेंसे निकले हुए दो दिव्य-पुरुष भी देखे हैं" ॥ ४ ॥

न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति[1] तस्य तत्।
बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित्सन्दिग्धचेतसः ॥ ५ ॥

किन्तु गोपोंने उनकी बात न मानी। वे कहने लगे—"एक नन्हा-सा बच्चा इतने बड़े वृक्षोंको उखाड़ डाले यह सर्वथा असम्भव है।" उनमेंसे कुछको [कृष्णके पूर्वचरित्रका स्मरण आ जानेसे] कुछ सन्देह भी हुआ ॥ ५ ॥

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥ ६ ॥

नन्दजीने देखा कि उनका बालक रस्सीसे बँधा ऊखल घसीट रहा है; तब उन्होंने हँसते हुए उसका बन्धन खोल दिया ॥ ६ ॥

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान्बालवत्क्वचित्।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ॥ ७ ॥

[भगवान् कृष्ण इसी प्रकार अनेकों बाललीलाएँ करने लगे] वे कभी तो गोपियोंके फुसलानेसे साधारण बालकोंके समान नाचने लगते और कभी कठपुतलीके समान उनके वशमें होकर उनके कहनेसे अनजान बालकके समान जोर-जोरसे गाने लगते ॥ ७ ॥

बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्।
बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ॥ ८ ॥

कभी उनके आज्ञा देनेपर पीढ़ा, बाट या खड़ाऊँ आदि उठाकर लाते और कभी अपने स्वजनोंको आनन्दित करते हुए [मल्लोंके समान] ताल ठोकने लगते ॥८॥

दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम्।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान्बालचेष्टितैः ॥ ९ ॥

इस प्रकार लोकमें ज्ञानी पुरुषोंको अपनी भक्त-परवशता दिखानेके लिये भगवान् अनेकों बाललीलाएँ करते हुए व्रजवासियोंको आनन्दित करने लगे ॥ ९ ॥

क्रीणीहि भोः फलानीति श्रुत्वा सत्वरमच्युतः।
फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः ॥१०॥

एक दिन एक फल बेचनेवाली यह कहकर पुकार रही थी कि—'फल लो फल !' यह सुनकर सम्पूर्ण फल देनेवाले भगवान् अच्युत फल लेनेकी इच्छासे तुरन्त ही अनाज लेकर दौड़े गये ॥ १० ॥

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्।
फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥११॥

भगवान्के हाथोंका अन्न बिखर गया था। फल बेचनेवालीने उनके दोनों हाथ फलोंसे भर दिये और भगवान्ने उसका फलोंका पात्र रत्नोंसे भर दिया ॥ ११ ॥

सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत्।
रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम् ॥१२॥

यमलार्जुन-वृक्षोंके उखड़नेके पश्चात् एक दिन राम और कृष्ण अन्य बालकोंके साथ बहुत देरतक यमुना-तटपर खेलते रहे। तब उन्हें बुलानेके लिये श्रीरोहिणीजी गयीं ॥ १२ ॥

नोपेयातां यदाहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ।
यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम् ॥१३॥

किन्तु वे खेलमें ऐसे मग्न थे कि उनके बुलानेसे न आये। तब रोहिणीजीने उन्हें लानेके लिये पुत्रवत्सला यशोदाको भेजा ॥१३॥

१. टेदिति।

क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम् ।
यशोदाजोहवीत्कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ॥१४॥
कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब ।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक ।१५।
हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन ।
प्रातरेव कृताहारस्तद्भवान्भोक्तुमर्हति ॥१६॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः ।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान्यात बालकाः ॥१७॥
धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह ।
जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः ॥१८॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान्स्वलङ्कृतान् ।
त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलङ्कृतः ॥१९॥
इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं
मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप ।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं
नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम् ॥२०॥

पुत्रस्नेहके कारण माता यशोदाके स्तनोंमें दूध भर आया था, वे बालकोंके साथ बहुत देरसे खेलते हुए बलरामके सहित अपने पुत्र कृष्णको जोर-जोरसे पुकारने लगीं—॥ १४ ॥ "हे कृष्ण ! हे कमलनयन कृष्ण ! हे तात ! तू खेलते-खेलते थक गया है, भूखसे दुबला-सा हो रहा है, लाला ! आ, अब खेल-कूद छोड़कर दूध पी ले ॥१५॥ हे कुलनन्दन भैया राम ! हे तात ! अपने छोटे भाईको लेकर जल्दी आ । आज तो तूने सबेरे ही कलेवा किया था । आओ, अब कुछ भोजन कर लो ॥ १६ ॥ हे दाशार्ह ! देखो, व्रजराज नन्दजी भोजनके लिये तैयार होकर तुम्हारी बाट देख रहे हैं । आओ, अब हमें आनन्दित करो । और, अरे बालको ! तुम भी अपने-अपने घरको जाओ ॥ १७ ॥ बेटा ! तेरा सारा अङ्ग धूलिसे भर गया है; आ, जल्दी स्नान कर । आज तेरा जन्म-नक्षत्र है, अतः स्नानादिसे पवित्र होकर ब्राह्मणों-को गोदान कर ॥ १८ ॥ देख, तेरे साथियोंको उनकी माताओंने नहला-धुलाकर कैसे सुन्दर वस्त्रा-भूषण पहना दिये हैं, तू भी नहा-धोकर भोजनादिसे निवृत्त हो अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारणकर खेलना" ॥ १९ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार पुत्र-स्नेहसे बँधी हुई माता यशोदाजी समस्त चराचरके मुकुटमणि भगवान् कृष्णको पुत्र मानकर बलरामजीके सहित उनका हाथ पकड़कर घर ले आयीं और जो मङ्गलकृत्य कराना था वह सब किया ॥ २० ॥

गोपवृद्धा महोत्पातानुभूय बृहद्वने ।
नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन् ॥२१॥
तत्रोपनन्दनामाह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः ।
देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद्रामकृष्णयोः ॥२२॥
उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः ।
आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशहेतवः ॥२३॥

गोकुलमें भयङ्कर उत्पात होते देख नन्द आदि वृद्ध गोपगण एकत्रित होकर 'व्रजवासियोंको क्या करना चाहिये' इस विषयमें विचार करने लगे ॥ २१ ॥ उनमें उपनन्दनामक एक ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध गोप थे । वे देश, काल और वस्तुका तत्त्व जाननेवाले और राम तथा कृष्णके अत्यन्त हितैषी थे । उन्होंने कहा— ॥ २२ ॥ "यहाँ बालकोंका अनिष्ट करनेवाले नित्य नये महान् उत्पात होते हैं अतः यदि हम गोकुलकी कुशल चाहें तो हमें यहाँसे उठकर चल देना चाहिये ॥ २३ ॥

१. न्तस्तद्भवान् भोक्तुमर्हति । २. रः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक ।

मुक्तः कथञ्चिद्राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ ।
हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत् ॥२४॥
चक्रवातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत् ।
शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः ॥२५॥
यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः ।
असावन्यतमो वापि तदप्यच्युतरक्षणम् ॥२६॥
यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः ।
तावद्बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः ॥२७॥
वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम् ।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥२८॥
तत्तत्राद्यैव यास्यामः शकटान्युङ्क्त मा चिरम् ।
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥२९॥

देखो, प्रथम यह बालक जैसे-तैसे बालघातिनी पूतनाके पंजेसे बचा, फिर भगवान्की बड़ी ही कृपा थी कि इसके ऊपर छकड़ा न गिरा ॥ २४ ॥ तदनन्तर इसे बवण्डररूपधारी दैत्य विपद् (मृत्यु) के आश्रयभूत आकाशमें ले गया और जब वह शिलापर गिरा तो वहाँ देवेश्वरोंने ही इसकी रक्षा की ॥२५॥ यमलार्जुन वृक्षोंके गिरनेके समय उनके बीचमें आकर भी यह अथवा कोई दूसरा बालक भी जो नहीं मरा—वह भी श्रीअच्युत भगवान्के द्वारा ही रक्षा हुई ॥ २६ ॥ अतः जबतक कोई और अनिष्टकारी दैव अरिष्ट आकर व्रजको न घेरे उससे पहले ही हमें बालकोंको लेकर अपने अनुगामी गोपोंके सहित किसी और स्थानपर चले जाना चाहिये ॥२७॥ यहाँसे थोड़ी ही दूरपर नवीन वनावलीसे सुशोभित वृन्दावन-नामक वन है, जो पशुओंके लिये बहुत ही हितकर है। उसमें अति पवित्र पर्वत, दूब और लता आदिकी बहुलता है। वह गोप, गोपी और गौ सभीके रहने योग्य है ॥२८॥ अतः हम वहाँ आज ही चलेंगे, तुमलोग छकड़े जोतो, देरी न करो। यदि तुम सभी लोगोंको जँचे तो अब ये गोधन आगे-आगे चलें" ॥ २९ ॥

तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्विति वादिनः ।
व्रजान्स्वान्स्वान्समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥३०॥
वृद्धान्बालान्स्त्रियो राजन्सर्वोपकरणानि च ।
अनःस्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः ॥३१॥
गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः ।
तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः ॥३२॥
गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः ।
कृष्णलीला जगुः प्रीता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।३३।
तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते ।

उपनन्दकी बात सुनकर सभी गोपोंने 'बहुत ठीक, बहुत ठीक' कहकर उसे एक मतसे स्वीकार किया और अपने-अपने गोधनको एकत्रित कर छकड़ोंपर सामग्री लाद वृन्दावनको चल दिये ॥ ३० ॥ हे राजन्! गोपोंने अपना सब सामान छकड़ोंपर रखकर वृद्ध, बालक और स्त्रियोंको चढ़ाया और स्वयं धनुष-बाण लेकर सावधान हो साथ-साथ चले ॥ ३१ ॥ उन्होंने गौ और बछड़ोंको आगे किया और उनके पीछे नरसिंगे और तुरई बजाते हुए अपने कुल-पुरोहितोंसहित चले ॥ ३२ ॥ जिनके कुचोंमें नवीन कुङ्कुम लगा हुआ है और जो नूतन वस्त्र तथा गलेमें हमेल पहने हुए हैं वे गोपाङ्गनाएँ रथोंपर चढ़कर अति आनन्दपूर्वक कृष्णचन्द्रकी लीलाएँ गाती हुई चलीं ॥ ३३ ॥ उस समय अपने बालकोंकी बाललीलाओंको बड़ी उत्सुकतासे सुनती हुई यशोदा

रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके ॥३४॥

और रोहिणी कृष्ण और रामके सहित एक ही छकड़ेपर बैठी हुई शोभा पा रही थीं ॥ ३४ ॥

वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम् ।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥३५॥

इस प्रकार, जो सभी ऋतुओंमें सुखदायक है उस वृन्दावनमें पहुँचकर गोपोंने अपने छकड़ोंको अर्द्धचन्द्राकारसे खड़ा करके अपने गोधनके रहनेयोग्य स्थान बनाया ॥ ३५ ॥

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च ।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ॥३६॥

हे राजन् ! वृन्दावनका जङ्गल, गोवर्धन पर्वत और यमुनाका तट देखकर राम और कृष्णको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३६ ॥

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः ।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥३७॥

अपनी मधुर वाणी और बाललीलाओंसे व्रजवासियोंको इस प्रकार आनन्दित करते हुए श्रीबलराम और कृष्ण कुछ ही समयमें वत्सपाल हो गये ॥ ३७ ॥

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः ।
चारयामासतुर्वत्सान्नानाक्रीडापरिच्छदौ ॥३८॥

वे नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो वृन्दावनके पास ही अन्य गोपकुमारोंके साथ तरह-तरहके खेल करते हुए बछड़े चराने लगे ॥ ३८ ॥

क्वचिद्वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित् ।
क्वचित्पादैः किङ्किणीभिः क्वचित्कृत्रिमगोवृषैः ॥३९॥

वे कभी वंशी बजाते, कभी दूर ढेले फेंकते, कभी अपने पैरोंके घुँघरू बजाते और कभी कृत्रिम गौ या बैल बनकर खेलते ॥ ३९ ॥

वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम् ।
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा ॥४०॥

कभी वे दोनों दो साँड़का स्वाँग बनाकर आपसमें गर्ज-गर्जकर लड़ते और कभी साधारण बालकोंके समान मयूर आदि पक्षियोंकी बोलीका अनुकरण करते हुए घूमते थे ॥ ४० ॥

कदाचिद्यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः ।
वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत् ॥४१॥

एक दिन जब राम और कृष्ण अपने समवयस्क बालकोंके साथ श्रीयमुनाजीके किनारे बछड़े चरा रहे थे उन्हें मारनेकी इच्छासे एक दैत्य आया ॥ ४१ ॥

तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः ।
दर्शयन्बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत् ॥४२॥

भगवान्ने देखा कि वह बछड़ेका रूप बनाकर अन्य बछड़ोंमें मिल गया है तब उसे बलरामजीको दिखाकर आप अनजानके समान धीरे-धीरे उसके पास पहुँच गये ॥ ४२ ॥

गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युतः ।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद्गतजीवितम् ।
स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह ॥४३॥

और उन अच्युतने पूँछके सहित उसके दोनों पिछले पैर पकड़कर उसे अन्तरिक्षमें घुमाकर एक कैथेके वृक्षपर पटक दिया । इससे वह प्राणहीन होकर कैथेके कई वृक्षोंके साथ पृथिवीपर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति ।
देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः[1] ॥४४॥

यह देखकर सब गोपबालकोंने आश्चर्य-चकित होकर 'साधु-साधु' कहा और देवताओंने भी सन्तुष्ट होकर पुष्प-वर्षा की ॥ ४४ ॥

---

१. पुष्पवृष्टिभिः ।

तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ ।
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥४५॥
स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा ।
गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम् ॥४६॥
ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम् ।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ॥४७॥
स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक् ।
आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद्बली ॥४८॥
कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः ।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥४९॥
तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निव-
द्गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः[१] ।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बक-
स्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥५०॥
तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयो-
र्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः[२] ।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया
मुदावहो वीरणवद्दिवौकसाम् ॥५१॥
तदा बकारिं सुरलोकवासिनः
समाकिरन्नन्दनमल्लिकादिभिः ।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवै-
स्तद्वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥५२॥
मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका
रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः ।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः
प्रणीय वत्सान्व्रजमेत्य तज्जगुः ॥५३॥

इस प्रकार सम्पूर्ण लोकोंका पालन करनेवाले राम और कृष्ण वत्सपाल होकर अपना कलेवा लेकर जाते और वनमें बछड़े चराते घूमा करते ॥ ४५ ॥ एक दिन सब ग्वालबाल अपने-अपने बछड़ोंके समुदायको जल पिलानेके लिये जलाशयपर ले गये और उन्हें जल पिलाकर स्वयं भी जलपान किया ॥ ४६ ॥ उन बालकोंने वहाँ बैठा हुआ एक बहुत बड़ा जीव देखा जो वज्रसे कटकर गिरे हुए पर्वतशिखरके समान था। उसे देखते ही वे सब भयभीत हो गये ॥ ४७ ॥ वह बकासुरनामक महादैत्य था जो बगुलेका रूप धारण कर आया था। उस तीक्ष्ण चोंचवाले महाबली दैत्यने सहसा झपटकर श्रीकृष्णचन्द्रको निगल लिया ॥४८॥ कृष्णको एक भीमकाय बगुलेके मुखमें गये देख बलराम आदि सभी ग्वालबाल ऐसे अचेत हो गये जैसे प्राणके बिना इन्द्रियाँ हो जाती हैं ॥ ४९ ॥ जगद्गुरु ब्रह्माजीके भी पिता गोपालनन्दन भगवान् कृष्ण बकासुरके मुखमें जाकर उसके तालुको अग्निके समान जलाने लगे। तब उसने उनको किसी प्रकारकी क्षति पहुँचाये बिना ही तुरन्त उगल दिया और अत्यन्त कुपित होकर पुनः उन्हें चोंचसे मारनेके लिये दौड़ा ॥५०॥ उस कंसके मित्र बकासुरके आक्रमण करते ही देवताओंको आनन्दित करनेवाले सत्पुरुषोंके स्वामी भगवान् कृष्णने अपने दोनों हाथोंसे उसकी चोंच पकड़ ली और सब ग्वालबालोंके देखते-देखते उसे सरकण्डेके समान लीलासे ही चीर डाला ॥ ५१ ॥ तब स्वर्गलोकमें रहनेवाले देवताओंने बकासुरके शत्रु भगवान् कृष्णपर नन्दनवनके मल्लिका आदि पुष्पोंकी वर्षा की और नगाड़े तथा शङ्खादिका शब्द करते हुए उनकी स्तुति करने लगे। यह देखकर सब ग्वाल-बालोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५२ ॥ कृष्णचन्द्रको बगुलेके मुखसे निकलकर अपने पास आये देख बलराम आदि सभी बालकोंको ऐसा आनन्द हुआ जैसे प्राणोंके आनेसे इन्द्रियोंको होता है। वे अति प्रसन्नतापूर्वक उनसे गले मिले और फिर अपने-अपने बछड़ोंको ले व्रजमें आये। वहाँ उन्होंने सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ५३ ॥

१. गद्गुरुं । २. गतिः

श्रुत्वा तद्विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः ।
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥५४॥

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन् ।
अप्यासीद्विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम् ॥५५॥

अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥५६॥

अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥५७॥

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा ।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन्भववेदनाम् ॥५८॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥५९॥

वह अद्भुत चरित्र सुनकर समस्त गोप-गोपियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और जैसे कोई प्रियजन मरकर लौट आवे उसी प्रकार वे उन्हें अत्यन्त प्रेम और आदरपूर्वक तृषित नयनोंसे निहारने लगे ॥ ५४ ॥ और आपसमें कहने लगे—"अहो ! कैसा आश्चर्य है ? इस बालकको कई बार मृत्युने घेरा; परन्तु जिन्होंने इसे पहले भय उपस्थित किया उन्हींका अनिष्ट हुआ ॥ ५५ ॥ अहो ! वे भयङ्कर असुर इसका कुछ भी न बिगाड़ पाते ! उलटे आप ही इसे मारनेकी इच्छासे आकर अग्निपर गिरे हुए पतङ्गके समान नष्ट हो जाते हैं ॥ ५६ ॥ सच है, ब्रह्मवेत्ताओंके वचन कभी मिथ्या नहीं होते । देखो न, भगवान् गर्गने जो-जो बातें कही थीं वे सब ज्यों-की-त्यों देखनेमें आ रही हैं" ॥ ५७ ॥ हे राजन् ! कृष्ण-बलरामकी कथा-वार्ताओंमें इसी प्रकार आनन्दपूर्वक रमण करते रहनेसे नन्दादि गोपगणोंको कभी किसी सांसारिक कष्टका अनुभव न होता था ॥ ५८ ॥ इसी प्रकार व्रजमें 'आँखमिचौनी', 'पुल बाँधना' और 'बन्दरकी भाँति उछलना' आदि कुमारावस्थाके खेल खेलते-खेलते भगवान् कृष्ण और बलदेवकी कुमारावस्था बीत गयी ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वत्सबकवधो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

१. प्राचीन प्रतिमें ग्यारहवें अध्यायके ५५ वें श्लोकसे लेकर चौदहवें अध्यायतकके पाठ अंशतः खण्डित हो गये हैं ।
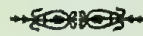
बारहवाँ अध्याय

अघासुर-वध।

श्रीशुक उवाच

क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजा-
त्प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥ १ ॥
तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः
स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ।
स्वान्स्वान्सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्
वत्सान्पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥ २ ॥
कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान् ।
चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह ॥ ३ ॥
फलप्रवालस्तवकसुमनःपिच्छधातुभिः ।
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥ ४ ॥
मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः ।
तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥ ५ ॥
यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥
केचिद्वेणून्वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन ।
केचिद्भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे ॥ ७ ॥
विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधुहंसकैः ।
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥ ८ ॥
विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान् ।
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! एक दिन श्रीहरि सबेरे ही उठे और वनहीमें कलेवा करनेके विचारसे अपने नरसिंहेके मनोहर शब्दसे साथी ग्वालबालोंको जगाते हुए बछड़ोंको आगे कर व्रजमण्डलसे निकले ॥१॥ उनके साथ ही उनके प्रेमी सहस्रों बालक सुन्दर छींके, लाठी, नरसिंहे और बाँसुरी लेकर तथा अपने सहस्राधिक बछड़ोंको आगे कर प्रसन्नतापूर्वक ग्रामसे बाहर आये ॥ २ ॥ उन सबने कृष्णचन्द्रके अगणित बछड़ोंके साथ अपने भी बछड़े मिला दिये और उन्हें चराते तथा जहाँ-तहाँ नाना प्रकारकी बाललीलाएँ करते हुए विचरने लगे ॥ ३ ॥ यद्यपि वे सब बालक काच, गुञ्जा, मणि और सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित थे तथापि उन्होंने अपने-आपको विविध प्रकारके फल, पत्ते, गुच्छे, फूल, मयूरपुच्छ और गेरू आदि धातुओंसे अलंकृत किया ॥ ४ ॥ वे एक-दूसरेकी छींका आदि वस्तु चुरा लेते और जब छींकेवालेको इसका पता लग जाता तो उसे लेनेवाला किसी दूसरेके पास फेंक देता और दूसरा और भी दूर फेंक देता। फिर [जब वह छींकेवाला तंग हो जाता तो] वे हँसते हुए उसे उसका छींका आदि लौटा देते ॥ ५ ॥ यदि कृष्णचन्द्र वनकी शोभा देखनेके लिये कुछ आगे चले जाते तो 'पहले मैं छूऊँगा, पहले मैं छूऊँगा' इस प्रकार चिल्लाते हुए उन्हें छूकर आनन्द मनाते ॥ ६ ॥ कोई बाँसुरी बजाकर, कोई नरसिंहेका शब्द कर, कोई भ्रमरोंके साथ गाकर और कोई कोयलोंके साथ कूक-कूककर आनन्दित होते ॥ ७ ॥ कोई आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंकी छायाके साथ दौड़ते, कोई हंसोंके साथ [उनकी चालकी नकल करते हुए] चलते, कोई बगुलोंके पास उन्हींके समान बैठ जाते और कोई मयूरोंके साथ मिलकर नाचने लगते ॥ ८ ॥ कोई बन्दरके बच्चोंको पकड़कर खींचते और उन्हींके साथ आप भी वृक्षपर चढ़ जाते तथा उनकी ओर मुँह बनाकर घुड़कते हुए एक शाखासे दूसरी शाखापर उछलते फिरते ॥ ९ ॥

साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः ।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान् ॥१०॥

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥११॥

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यगम्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥१२॥

अथाघनामाभ्यपतन्महासुर-
स्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः ।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः
पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥१३॥

दृष्ट्वार्भकान्कृष्णमुखानघासुरः
कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः ।
अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयो-
र्द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये ॥१४॥

एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः
कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः ।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता
प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते ॥१५॥

इति व्यवस्याजगरं बृहद्वपुः
स योजनायाममहाद्रिपीवरम् ।
कृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा
पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः ॥१६॥

कोई नदीके कछारमें बहते हुए थोड़े-से जलमें गोता लगाते और उसमें फुदकते हुए मेंढकोंके साथ आप भी फुदकते । कोई जलमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसकी ओर हँसते और कोई अपनी ही प्रतिध्वनिको भला-बुरा कहते ॥ १० ॥ हे राजन् ! इस प्रकार जो तत्त्वज्ञानी सत्पुरुषोंके लिये ब्रह्मानन्दानुभवरूप, दास्यभावको प्राप्त भक्तजनोंके लिये परदेवतारूप और मायामोहित पुरुषोंके लिये मनुष्य-बालकरूप हैं उन श्रीकृष्णचन्द्रके साथ वे बड़भागी गोपकुमार सुखपूर्वक क्रीडा करते थे ॥ ११ ॥ अनेक जन्मतक कष्ट सहकर अपनी इन्द्रियों और मनका संयम करनेवाले योगियोंको भी जिनकी चरणधूलिका प्राप्त होना महादुर्लभ है वे जिनकी दृष्टिके सामने साक्षात् विद्यमान रहते थे उन व्रजवासियोंके भाग्यका वर्णन किस प्रकार किया जाय ? ॥ १२ ॥

हे महाराज ! इसी समय उन बालकोंकी आनन्दमयी क्रीडाको न देख सकनेवाला अघनामक महाभयङ्कर दैत्य वहाँ आया । [यह अघासुर बड़ा ही दुर्दान्त था] देवगण अमृत पीकर अमर हो गये थे, किन्तु फिर भी अपनी प्राणरक्षाके लिये वे इसके छिद्र (मृत्युके अवसर) की प्रतीक्षा किया करते थे ॥ १३ ॥ अघासुर पूतना और बकासुरका छोटा भाई था, वह कंसकी आज्ञासे व्रजमें आया और कृष्ण आदि बालकोंको देखकर सोचने लगा—'यह मेरे उन सहोदर भाई और बहिन—दोनोंका नाश करनेवाला है अतः मैं इसे आज इसके साथियोंसहित मार डालूँगा ॥ १४ ॥ ये सब मारे जाकर जब मेरे मृत बन्धुओं (भाई और बहिन) के लिये तिलोदकरूप कर दिये जायँगे तो सब व्रजवासी मरेके समान ही हो जायँगे, क्योंकि सन्तान ही प्राणियोंके प्राण हैं, अतः इन प्राणोंके नष्ट हो जानेपर शरीरकी चिन्ता ही क्या रहेगी ?' ॥१५॥

ऐसा निश्चय कर उस दुष्ट दैत्यने एक योजन लम्बे महापर्वतके समान अत्यन्त स्थूल, बड़ा ही विचित्र और बहुत लम्बा-चौड़ा अजगरका रूप धारण किया । और उन सब बालकोंको निगल जानेके विचारसे कन्दराके समान अपना मुख फाड़कर मार्गमें लेट गया ॥१६॥

धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो
दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः ।
ध्वान्तान्तरास्यो विततावध्वजिह्वः
परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥१७॥

उसका अधर पृथिवीसे और ओष्ठ मेघमण्डलसे मिला हुआ था। उसके जबड़े कन्दराओंके समान थे, दाढ़ें गिरिशिखर-सी मालूम होती थीं, मुखके भीतर घोर अन्धकार था, जिह्वा एक चौड़ी लाल सड़क-सी जान पड़ती थी, श्वास प्रचण्डवायुके समान था और नेत्र दावानलके समान प्रज्वलित थे ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम् ।
व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया ॥१८॥
अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरःस्थितम् ।
अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा ॥१९॥
सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद्घनम् ।
अधराहनुवद्रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम् ॥२०॥
प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे ।
तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत ॥२१॥
आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रति गर्जति ।
एषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम् ॥२२॥
दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद्भाति पश्यत ।
तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत् ॥२३॥

अघासुरका ऐसा रूप देखकर बालकोंने समझा कि यह भी कोई वृन्दावनकी शोभा है और वे कौतुकवश उसकी अजगरके खुले हुए मुखसे उत्प्रेक्षा (तुलना) करने लगे ॥ १८॥ वे बोले—“मित्रो! भला कहो तो, सामने जो यह कोई जीव-सा बैठा है क्या यह हमें निगलनेके लिये किसी अजगरका खुला हुआ मुख-सा नहीं मालूम होता ? ॥ १९ ॥ देखो, सूर्यकी किरणें पड़नेसे लाल-लाल हुआ मेघमण्डल ठीक इसका ऊपरका ओंठ-सा मालूम होता है और उसकी परछाईंसे नीचेकी भूमि कुछ अरुणवर्ण हो जानेसे नीचेका ओंठ जान पड़ती है ॥ २० ॥ देखो, ये दायीं और बायीं ओरकी गिरि-गुहाएँ इसके जबड़ोंकी होड़ करती हैं और ये ऊँची-ऊँची शिखर-पङ्क्तियाँ इसकी दाढ़ें मालूम होती हैं ॥ २१ ॥ यह चौड़ी सड़क इसकी जिह्वा-सी जान पड़तो है और इसके भीतरका अन्धकार मुखके आन्तरिक शून्यभाग-सा मालूम होता है ॥ २२ ॥ देखो, यह दावानलके समान उष्ण और तीक्ष्ण वायु इसका श्वास-सा जान पड़ता है और इससे दग्ध हुए जीवोंकी दुर्गन्ध अजगरके भीतरी मांसकी दुर्गन्ध-सी मालूम होती है ॥ २३ ॥

अस्मान्किमत्र ग्रसिता निविष्टा-
नयं तथा चेद्बकवद्विनङ्क्ष्यति ।
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं
वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥२४॥

क्या इसके भीतर जानेपर यह हमें निगल जायगा ? [किन्तु इससे हमारा क्या बिगड़ेगा ?] यदि यह ऐसा करेगा तो बकासुरके समान एक क्षणमें ही इस कान्हाके हाथसे स्वयं ही मारा जायगा।” ऐसा कह उन बालकोंने बकासुरको मारनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रके कमनीय मुखकी ओर देखा और ताली बजाकर हँसते हुए उसके मुखमें घुस गये ॥ २४ ॥

इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं
श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते ।

उन अज्ञानी बालकोंकी परस्पर कही हुई इस प्रकार भ्रमपूर्ण बातें सुनकर भगवान्ने सोचा कि इन्हें सत्य सर्प ही [उपमाके रूपमें] मिथ्या-सा प्रतीत हो रहा है।

रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः
स्वानां निरोद्धुं भगवान्मनो दधे ॥२५॥
तावत्प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं
परं न गीर्णाः शिशवः सवत्साः ।
प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं
हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा ॥२६॥
तान्वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो
ह्यनन्यनाथान्स्वकरादवच्युतान् ।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान्
घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः ॥२७॥
कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं
न वा अमीषां च सतां विहिंसनम् ।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य त-
ज्ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥२८॥
तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः ।
जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः ॥२९॥

भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं, वे जान गये कि यह राक्षस है और उन्होंने अपने साथियोंको उसके मुखमें जानेसे रोकनेका निश्चय किया ॥ २५ ॥ इतनेहीमें वे सब उस दैत्यके उदरमें घुस गये; तो भी अघासुरने बछड़ोंके सहित उन बालकोंको न निगला, क्योंकि वह अपने स्वजनोंके वधको स्मरण कर बकासुरके शत्रु श्रीकृष्णचन्द्रके प्रवेश करनेकी बाट देख रहा था ॥ २६ ॥ सबको अभय देनेवाले भगवान् कृष्णचन्द्रने देखा कि जिनका मेरे सिवा कोई और रक्षक नहीं है वे दीन बालक मेरे हाथोंसे निकलकर मृत्युके जठरानलका ग्रास बन चुके हैं। अतः उन्हें उनपर बड़ी दया आयी और साथ ही दैवकी विचित्र लीलापर विस्मय भी हुआ ॥ २७ ॥ वे सोचने लगे कि 'अब क्या करना चाहिये जिससे इस दुष्टका जीवन न रहे और भोले-भाले बालकोंकी भी हत्या न हो ? किन्तु ये दोनों काम किस प्रकार हों ?' इस प्रकार सोचते-सोचते सर्वद्रष्टा श्रीहरि अपना कर्तव्य निश्चय कर स्वयं भी उसके मुखमें घुस गये ॥ २८ ॥ यह देखकर मेघमण्डलमें छिपे हुए देवगण भयसे हाहाकार करने लगे और अघासुरके सुहृद् कंसादि राक्षस अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ २९ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान्कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम् ।
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले ॥३०॥
ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो
ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो
मूर्धन्विनिष्पाट्य विनिर्गतो बहिः ॥३१॥
तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु
प्राणेषु वत्सान्सुहृदः परेतान् ।
दृष्ट्वा स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुन-
र्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान्विनिर्ययौ ॥३२॥
पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं मह-
ज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद्दिशो दश ।

भगवान्‌के प्रवेश करनेपर अघासुरने ज्यों ही उन्हें बछड़ों और बालकोंके सहित चूर्ण करना चाहा कि उसी समय अव्यय भगवान् कृष्णने देवताओंका हाहाकार सुनकर उस असुरके गलेमें अपना शरीर बढ़ा दिया ॥३०॥ इससे उस बड़े डीलडौलवाले असुरका कण्ठ रुक गया, उसके नेत्र बाहर निकल आये और वह व्याकुल होकर छटपटाने लगा । जब श्वास रुक जानेसे सम्पूर्ण शरीरमें भर गया तो वह उसका ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर बाहर निकल आया ॥३१॥ जब प्राणके साथ उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भी शरीरसे बाहर हो गयीं तो भगवान्ने मरे हुए बछड़ों और ग्वाल-बालोंको अपनी अमृतमयी दृष्टिसे जीवित किया और उन सबको साथ ले अघासुरके मुखसे बाहर आये ॥ ३२ ॥ उस महासर्पके शरीरसे एक अति अद्भुत महान् ज्योति निकली जो अपने प्रकाशसे दशों दिशाओंको प्रकाशित करती

प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं
विवेश तस्मिन्मिषतां दिवौकसाम् ॥३३॥
ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं
पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः ।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः ॥३४॥
तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिरा-
द्दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् ॥३५॥
राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम् ।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥३६॥
एतत्कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम् ।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे ॥३७॥
नैतद्विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः ।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥३८॥
सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥३९॥

सूत उवाच

इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः
श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम् ।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं
वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥४०॥

हुई भगवान्‌के बाहर आनेकी प्रतीक्षामें आकाशमें स्थित रही और उनके निकलते ही सब देवताओंके देखते-देखते उन्हींमें लीन हो गयी ॥ ३३ ॥ तब देवताओंने पुष्प बरसाकर, अप्सराओंने नाचकर, गन्धर्वोंने गाकर, विद्याधरोंने बाजे बजाकर, ब्राह्मणोंने स्तुति-पाठ कर और पार्षदगणोंने जय-जयकार कर अपना कार्य करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रका अति आनन्द-पूर्वक सत्कार किया ॥३४॥ उन अद्भुत स्तुति, सुन्दर बाजे, गीत और जय-जयकारके शब्दोंसे युक्त उस अनेक प्रकारके आनन्दोत्सवकी मङ्गलध्वनि अपने लोकके पास सुनकर श्रीब्रह्माजी शीघ्र ही वहाँ आये और जगत्पतिकी महिमा देखकर बड़े विस्मित हुए ॥३५॥

हे राजन् ! उस अजगरका अद्भुत चर्म वृन्दावनमें पड़ा-पड़ा सूखकर बहुत दिनोंतक व्रजवासी बालकोंके खेलनेके लिये एक गुफा-सा बना रहा ॥३६॥ अजगररूप कालके मुखसे अपना (ग्वाल-बाल और बछड़ोंका) बचाव तथा उस सर्पका मोक्ष—यह सब भगवान्‌का कौमार (पाँच वर्षकी) अवस्थाका कर्म था, किन्तु बालकोंने उनकी पौगण्ड (छः वर्षकी) अवस्थामें व्रजमें जाकर उसका अति आश्चर्यपूर्वक वर्णन किया ॥३७॥ हे राजन् ! जिनके अङ्ग-सङ्गसे निष्पाप होकर अघासुर-जैसे पापीने भी उनकी समताको, जो असत् पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है, प्राप्त कर लिया, उन सम्पूर्ण परावर जगत्‌के विधाता और मायासे ही मनुष्यबालकका रूप धारण करनेवाले श्रीहरिके लिये यह कोई विचित्र बात नहीं है ॥३८॥ जिनकी मूर्तिकी मनोमयी प्रतिमाको अन्तःकरणमें एक बार धारण करनेसे भी प्रह्लाद आदि-को परम भागवती गति प्राप्त हुई उन्हीं नित्य आत्मा-नन्दानुभवरूप और मायातीत हरिने जिसके भीतर स्वयं प्रवेश किया उसकी सद्गतिमें क्या सन्देह हो सकता है ? ॥ ३९ ॥

सूतजी बोले—हे द्विजगण ! यदुवंशियोंके कुलदेव श्रीहरिने जिन्हें जीवनदान दिया था उन महाराज परीक्षित्‌ने अपने प्राणदाताका यह विचित्र चरित्र सुनकर व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीसे फिर उन्हींकी पवित्र लीलाओंके विषयमें पूछा, क्योंकि इस समय उनका चित्त हरिचर्चामें आसक्त था ॥ ४० ॥

राजोवाच

ब्रह्मन्कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत् ।
यत्कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः ॥४१॥
तद्ब्रूहि मे महायोगिन्परं कौतूहलं गुरो ।
नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा ॥४२॥
वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः ।
यत्पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम् ॥४३॥

राजा परीक्षित् बोले—भगवन् ! जो कर्म दूसरे समयमें किया गया है वह उसी समय किया हुआ कैसे हो सकता है ? फिर भगवान्‌की कौमारावस्थामें किये कर्मको बालकोंने उनकी पौगण्डावस्थामें [उसी दिनका किया हुआ] कैसे बतलाया ? ॥४१॥ हे गुरो ! इससे मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है । हे महायोगिन् ! इसका क्या रहस्य है, सो बतलाइये । निश्चय ही इसमें श्रीहरिकी कोई माया होगी; क्योंकि और किसी प्रकार ऐसा होना सम्भव नहीं है ॥४२॥ हे गुरुवर ! हम अपराधी क्षत्रिय होकर भी संसारमें बड़े ही भाग्यशाली हैं जो बारम्बार आपके मुखचन्द्रसे चूते हुए परमपवित्र कृष्णकथारूप अमृतका पान करते हैं ॥४३॥

सूत उवाच

इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणि-
स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः ।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः
प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम ॥४४॥

श्रीसूतजी कहते हैं—हे भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ श्रीशौनकजी ! राजा परीक्षित्‌के इस प्रकार पूछनेसे श्रीअनन्तका स्मरण हो आनेके कारण व्यासनन्दन शुकदेवजीकी समस्त इन्द्रियाँ वृत्तिशून्य हो गयीं । तब उन्होंने बड़ी कठिनतासे उन्हें धीरे-धीरे वहाँसे हटाकर फिर बाह्यदृष्टि प्राप्त की और परीक्षित्‌से इस प्रकार कहने लगे ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे
द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

तेरहवाँ अध्याय

ब्रह्माजीका मोह और उसका नाश ।

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम ।
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥ १ ॥
सतामयं सारभृतां निसर्गो
यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य य-
त्स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे महाभाग ! हे भागवतश्रेष्ठ ! तुम्हारा यह प्रश्न बड़ा उत्तम है । तुम भगवान्‌की कथाएँ सुन-सुनकर बारम्बार नये-नये प्रश्न कर उसे नवीन बना देते हो ॥ १ ॥ जिन्होंने अपने मन, वाणी और कर्ण भगवान्‌की वार्तामें ही लगा दिये हैं उन सारग्राही साधुओंका यह स्वभाव ही होता है कि उन्हें श्रीअच्युतकी कथाएँ क्षण-क्षणमें नवीन ही मालूम होती हैं, जैसे स्त्रैण पुरुषोंको स्त्रीविषयक चर्चामें नया-नया रस अनुभव होता है ॥२॥

शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते ।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ३ ॥
तथाघवदनान्मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान् ।
सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः
स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम् ।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक-
ध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥ ५ ॥

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवा रूढं क्षुधार्दिताः ।
वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥६॥

हे राजन् ! तुम सावधान होकर सुनो, मैं तुम्हें यह परम गुह्य विषय सुनाता हूँ; क्योंकि गुरुजन अपने प्रिय शिष्यसे गुह्य रहस्य भी कह दिया करते हैं ॥ ३ ॥ भगवान्ने पूर्वोक्त प्रकारसे अपने साथी ग्वालबालोंको मृत्युरूप अघासुरके मुखसे बचाया और फिर उन्हें यमुनातटपर लाकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ ४ ॥ "मित्रो ! देखो, यह यमुनाजीका किनारा कैसा सुन्दर है ? यहाँ हमारे खेलनेकी सभी सामग्री मौजूद है । यहाँकी बालुका कैसी कोमल और स्वच्छ है ? देखो, यह स्थान खिले हुए कमलोंकी सुवाससे आकर्षित भ्रमरोंके गुञ्जारों और पक्षियोंके कलरवोंकी प्रतिध्वनिसे सुशोभित हुए वृक्षोंसे कैसा हरा-भरा है ? ॥ ५ ॥ भाई ! दिन भी बहुत चढ़ गया है, हम सब लोग भूखसे कष्ट पा रहे हैं, अतः हम यहाँ बैठकर भोजन करें और हमारे बछड़े भी पासहीमें पानी पीकर धीरे-धीरे घास चरें" ॥ ६ ॥

तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्य शाद्वले ।
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा ॥ ७ ॥

कृष्णस्य विष्वक्पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः ।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥ ८ ॥

केचित्पुष्पैर्दलैः केचित्पल्लवैरङ्कुरैः फलैः ।
शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः ॥ ९ ॥
सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् ।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥१०॥

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।

कृष्णचन्द्रके इस प्रकार कहनेपर सब बालकोंने 'बहुत ठीक' कह बछड़ोंको पानी पिला घासपर छोड़ दिया और अपने-अपने छींके खोल प्रसन्नतापूर्वक भगवान्के साथ भोजन करने लगे ॥ ७ ॥ तब कृष्ण-दर्शनके आनन्दसे जिनके नेत्र खिले हुए हैं वे सब ग्वाल-बाल कई गोलाकार पङ्क्ति बनाकर भगवान्के चारों ओर उन्हींकी ओर मुँह करके एक-दूसरेसे सटकर बैठे । उस वनमें कृष्णचन्द्रके चारों ओर वे ऐसे मालूम होते थे जैसे किसी कमलकी कर्णिकाके चारों ओर छोटे-छोटे दल फैले हुए हों ॥ ८ ॥ उनमेंसे कोई फूलोंपर, कोई पत्तोंपर, कोई नयी कोंपलोंपर, कोई अङ्कुरोंपर, कोई फलोंपर, कोई छींकोंपर, कोई छालपर और कोई पत्थरपर ही अपना भोजन रखकर खाने लगे ॥ ९ ॥ भगवान् कृष्णके सहित वे सभी बालक अपनी भिन्न-भिन्न भोजनरुचि दिखाते हुए और एक-दूसरेको हँसते-हँसाते हुए भोजन करने लगे ॥१०॥

यज्ञभोक्ता भगवान् कृष्ण बाललीला करते हुए मुरली फेटेमें कसे, सींग और बेत बगलमें दबाये, बायें हाथमें [माखन मिला हुआ दही-भातका] स्निग्ध कौर लिये तथा अङ्गुलियोंमें

तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः ॥११॥

अदरख, नीबू आदिके फल (अचार) दबाये बीचमें विराजमान हो अपने चारों ओर बैठे हुए साथियोंको हँसीकी मीठी-मीठी बातोंसे हँसाते हुए भोजन करने लगे। उस समय भगवान्‌की वह बाललीला स्वर्गवासी देवगण भी देख रहे थे ॥ ११ ॥

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु ।
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः ॥१२॥
तान्दृष्ट्वा भयसन्त्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम् ।
मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम् ॥१३॥
इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान् ।
विचिन्वन्भगवान्कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥१४॥
अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु-
र्द्रष्टुं मञ्जुमहित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान् ।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम् ॥१५॥

हे भरतश्रेष्ठ! जिस समय समस्त ग्वालबाल इस प्रकार भगवान्‌में दत्तचित्त होकर भोजन कर रहे थे उस समय उनके बछड़े नयी-नयी दूबके लोभसे वनमें दूर निकल गये ॥१२॥ इससे अपने साथी बालकोंको भयभीत हुए देख इस जगत्‌के भयको भी भय देनेवाले भगवान्‌ने उनसे कहा "मित्रो! तुम भोजन करना बन्द मत करो, मैं बछड़ोंको अभी यहाँ ले आता हूँ" ॥ १३ ॥ ग्वालबालोंसे इस प्रकार कह भगवान् कृष्ण हाथमें कौर लिये अपने और अपने साथियोंके बछड़ोंको ढूँढ़ते हुए पर्वत, कन्दरा, कुञ्ज और गह्वरादि अन्यान्य अगम्य स्थानोंमें घूमते फिरे ॥ १४ ॥ हे कुरुनन्दन! आकाशमें स्थित श्रीब्रह्माजीको अघासुरका मोक्ष देखकर बड़ा ही विस्मय हुआ था; अतः वे कमलयोनि विधाता मायाबालकरूप श्रीहरिकी कोई और मनोहर महिमा देखनेके लिये, अवसर जान, पहले तो बछड़ोंको चुरा ले गये और फिर [कृष्णचन्द्रके चले जानेपर] बालकोंको भी अन्यत्र ले जाकर अन्तर्धान हो गये ॥ १५ ॥

ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान् ।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ॥१६॥
क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान्पालांश्च विश्वजित् ।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥१७॥
ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च ।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥१८॥

इधर, बछड़े न मिलनेपर जब कृष्णचन्द्र यमुनाजीकी रेतीमें आये तो उन्हें वत्सपाल भी दिखायी न दिये। अतः वे दोनोंहीको वनमें घूम-घूमकर सब ओर देखने लगे ॥ १६ ॥ किन्तु जब भगवान्‌ने बछड़ों और ग्वालबालोंको वनमें भी कहीं न देखा तो वे विश्ववेत्ता होनेके कारण तुरन्त ही ब्रह्माकी सारी करतूत जान गये ॥ १७ ॥ तब विश्वकर्ता भगवान् कृष्णने उनकी माताओंका और ब्रह्माजीका प्रिय करनेके लिये अपने-आपको ही बछड़े और बालकरूप बना लिया* ॥ १८ ॥

* भगवान् सर्वसमर्थ थे। वे ब्रह्माजीके चुराये हुए ग्वालबाल और बछड़ोंको ला सकते थे। किन्तु इससे ब्रह्माजीका मोह दूर न होता, और वे भगवान्‌की उस दिव्यमायाका ऐश्वर्य न देख सकते जिसने उनके विश्वकर्ता होनेके अभिमानको नष्ट किया। इसीलिये भगवान् उन्हीं ग्वाल और बछड़ोंको न लाकर स्वयं ही ग्वालबाल और बछड़े बन गये।

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥१९॥
स्वयमात्मात्मगोवत्सान्प्रतिवार्यात्मवत्सपैः ।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद्व्रजम् ॥२०॥
तत्तद्वत्सान्पृथङ्नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः ।
तत्तदात्माभवद्राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान् ॥२१॥

उन बालक और बछड़ोंके जैसे छोटे शरीर और हाथ-पाँव आदि थे, जैसी छड़ी, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे, जैसे वस्त्र और आभूषण थे, जैसे स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्था तथा जैसे आहार-विहार थे सर्वस्वरूप भगवान् उसी प्रकार प्रकट होकर 'सम्पूर्ण जगत् विष्णुरूप है' इस कथनको मानो मूर्तिमान् करते हुए शोभा पाने लगे ॥ १९ ॥ इस प्रकार सर्वात्मा भगवान् कृष्णने वत्सरूप अपने-आपको ग्वालबाल-रूपसे स्वयं ही घेरकर अपने ही साथ विहार करते हुए व्रजमें प्रवेश किया ॥ २० ॥ जिस-जिस ग्वालबालके जो-जो बछड़े थे उन्हें उसी-उसीके रूपसे पृथक्-पृथक् ले जाकर उनके व्रजोंमें घुसा दिया और भिन्न-भिन्न बालकोंके रूपसे उनके भिन्न-भिन्न घरोंमें गये ॥ २१ ॥

तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता
उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम् ।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं
मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥२२॥
ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपना-
लङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः ।
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन्
सायं गतो यामयमेन माधवः ॥२३॥
गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं
हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान् ।
स्वकान्स्वकान्वत्सतरानपाययन्
मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः ॥२४॥
गोगोपीनां मातृतास्मिन्सर्वा स्नेहर्द्धिकां विना ।
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥२५॥
व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् ।

उनकी माताएँ बाँसुरीका शब्द सुनते ही उठ आयीं तथा साक्षात् परब्रह्मको ही अपने-अपने पुत्र मान उन्हें प्रेमपूर्वक गोदमें उठा लिया और उन्हें गलेसे लगाकर स्नेहके कारण स्वयं ही बहता हुआ अपना सुधामधुर स्तनपान कराया ॥ २२ ॥ हे राजन् ! इसी प्रकार नित्यप्रति सन्ध्या समय लौटकर भगवान् अपनी माताओंको अपनी सामयिक क्रीडाओंसे आनन्दित करते और वे भी उबटन लगाना, स्नान कराना, चन्दनादिका लेप करना, वस्त्र तथा आभूषण पहनाना, रक्षा करना, तिलक लगाना और भोजन कराना आदि उपायोंसे उनका लालन-पालन करतीं ॥ २३ ॥ इसी प्रकार गौएँ भी जब जल्दी-जल्दी चलकर अपने व्रजोंमें पहुँचतीं तो हुङ्कारशब्दसे बुलानेपर अपने पास आये हुए अपने-अपने बछड़ोंको बारम्बार जीभसे चाटतीं और उन्हें अपने थनोंसे स्नेहवश चूता हुआ दूध पिलातीं ॥ २४ ॥ भगवान्के ऊपर गौ और गोपियोंको पहलेहीके समान मातृभाव हुआ; हाँ, [अपने पुत्रोंकी अपेक्षा] इस समय स्नेहकी अधिकता थी । इसी प्रकार भगवान्ने भी पहलेहीके समान पुत्रभाव दिखलाया; किन्तु इसमें सम्बन्धजनित मोह नहीं था ॥ २५ ॥ पहले व्रजवासियोंका जैसे यशोदानन्दन श्रीकृष्णमें असीम स्नेह था वैसे ही

शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥२६॥

इत्थमात्मात्मनात्मानं वत्सपालमिषेण सः ।
पालयन्वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥२७॥

एकदा चारयन्वत्सान्सरामो वनमाविशत् ।
पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः ॥२८॥

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम् ।
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम् ॥२९॥

दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा
स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः ।
द्विपात्ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छो-
ऽगाद्धुङ्कृतैरास्नुपया जवेन ॥३०॥

समेत्य गावोऽधोवत्सान्वत्सवत्योऽप्यपाययन् ।
गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः ॥३१॥

गोपास्तद्रोधनायासमौघ्यलज्जोरुमन्युना ।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान् ॥३२॥

तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान् ।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥३३॥

ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः ।
कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥३४॥

व्रजस्य रामः प्रेमर्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् ।

अब अपने पुत्रोंके प्रति भी उनकी स्नेहलता एक वर्षतक प्रतिदिन अभूतपूर्व-सी बढ़कर असीम हो गयी ॥२६॥ इस प्रकार भगवान् वत्सपालोंके रूपसे बछड़ोंके रूपमें अपने-आपको स्वयं ही पालते हुए एक सालतक व्रज और वनमें क्रीडा करते रहे ॥ २७ ॥

एक दिन, जब वर्ष पूरा होनेमें पाँच या छः रात्रियाँ ही शेष थीं अजन्मा भगवान् कृष्ण बलरामजीके सहित बछड़े चराते हुए एक वनमें गये ॥ २८ ॥ उस समय, बहुत दूर गोवर्धनके शिखरपर चरती हुई गौओंने व्रजके पास ही अपने बछड़ोंको घास चरते देखा ॥ २९ ॥ बछड़ोंको देखते ही गौओंका मन स्नेहवश आपेसे बाहर हो गया और वे ग्वालोंके रोकनेकी कुछ भी परवा न कर हुङ्कार करती हुई उस दुर्गम मार्गमें बड़े वेगसे दौड़ीं । उस समय उनके स्तनोंसे दूध बहता जाता था और उनकी ऊपर उठी हुई ग्रीवा ककुद्के पास सिकुड़ गयी थी और पूँछ उठाकर अत्यन्त वेगसे दौड़नेके कारण वे दो पैरवाली ही मालूम होती थीं ॥ ३० ॥ उन गौओंके यद्यपि और भी बछड़े हो चुके थे, तो भी वे गोवर्धनके नीचे अपने पहले बछड़ोंके पास आ उन्हें स्नेहवश अपने-आप बहता हुआ दूध पिलाने लगीं । उस समय वे उनके अङ्गोंको ऐसे चावसे चाट रही थीं मानो उन्हें लील ही जायँगी ॥ ३१ ॥ गोपोंने उन्हें रोकनेका बहुत कुछ प्रयत्न किया किन्तु उसमें विफल रहे । अतः जब वे क्रोध और लज्जासे भरकर बड़ी कठिनतासे उस दुर्गम मार्गको पारकर वहाँ आये तो उन्होंने बछड़ोंके सहित अपने बालकोंको देखा ॥३२॥ उन्हें देखते ही उनका चित्त प्रेमरसमें डूब गया; बालकोंके अनुरागसे उनका क्रोध ठण्डा पड़ गया । उन्होंने अपने-अपने बालकोंको गोदमें उठाकर हृदयसे लगाया और उनका मस्तक सूँघकर अति आनन्दित हुए ॥३३॥ बालकोंके आलिङ्गनसे वृद्ध गोपोंको परमसुख प्राप्त हुआ । वे उन्हें छोड़कर बड़ी कठिनतासे जा सके, उनका स्मरण हो आनेसे पीछे भी उनके नेत्रोंमें जल भर आता था ॥३४॥

बलरामजीने देखा कि अपने पुत्रोंपर व्रजवासियोंका प्रेम क्षण-क्षणमें बढ़ रहा है तथा जिन्होंने दूध पीना

मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ॥३५॥

किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि ।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥३६॥

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी ।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी ॥३७॥

इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान्सवयसानपि ।
सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ॥३८॥

नैते सुरेशा ऋषयो न चैते
त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि ।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात्कथं वदे-
त्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत् ॥३९॥

छोड़ दिया है उन बछड़ोंपर भी गौओंका प्रेम अत्यन्त उत्कट है तो वे इसका कोई कारण न जान सके; अतः मन-ही-मन सोचने लगे—॥ ३५ ॥ 'यह कैसी विचित्र बात है ! सर्वात्मा श्रीहरिमें व्रजवासियोंका जैसा अपूर्व स्नेह था वैसा ही अपने पुत्रोंमें भी बढ़ रहा है ! ॥ ३६ ॥ यह माया कैसी है और कहाँसे आयी है ? क्या यह किसी देवता, मनुष्य या राक्षसकी माया है ? [अहो ! इन ग्वालबाल और बछड़ोंपर तो मेरा स्नेह भी दिन-दिन बढ़ता जाता है !] मालूम होता है यह मेरे प्रभुकी ही माया है, क्योंकि और किसीकी माया मुझे भी मोहित नहीं कर सकती' ॥ ३७ ॥ ऐसा विचारकर यदुश्रेष्ठ बलरामजीने ज्ञानदृष्टिसे देखा तो सभी बछड़े और ग्वालबाल विष्णुरूप दिखलायी दिये ॥ ३८ ॥ यह देख बलरामजीने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—"भगवन् ! ये ग्वालबाल और बछड़े तो देवता या ऋषि कोई भी नहीं हैं, इन भिन्न उपाधियोंमें तो एकमात्र आप ही भास रहे हैं । कृपया स्पष्ट करके बतलाइये यह सब नाना भाव कैसे हुआ ?" तब भगवान्के बतलानेपर बलभद्रजीको ब्रह्माके मोहका सब वृत्तान्त विदित हुआ ॥ ३९ ॥

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा ।
पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम् ॥४०॥

यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि ।
मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः ॥४१॥

इत एतेऽत्र कुतस्त्या मन्मायामोहितेतरे ।
तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम् ॥४२॥

एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः ।
सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन ॥४३॥

एवं सम्मोहयन्विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् ।
स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः ॥४४॥

इतनेहीमें, अपना त्रुटिमात्र (बहुत ही थोड़ा) काल बीतनेपर स्वयम्भू ब्रह्माने आकर देखा कि भगवान् पहलेहीके समान बछड़े और ग्वालबालोंके साथ एक सालसे क्रीडा कर रहे हैं ॥४०॥ यह देखकर वे सोचने लगे—'गोकुलके जितने ग्वालबाल और बछड़े थे उन्हें मैं मायासे अचेत कर आया था वे अभीतक फिर सचेत नहीं हुए ॥४१॥ फिर मेरी मायासे मोहित हुए ग्वालबाल और बछड़ोंके सिवा ये और उतने ही बालक तथा बछड़े कहाँसे आ गये जो एक सालसे भगवान्के साथ क्रीडा कर रहे हैं' ॥ ४२ ॥ उन ग्वालबाल और बछड़ोंके विषयमें बहुत कुछ विचार करनेपर भी आत्मयोनि ब्रह्माजी यह निश्चय न कर सके कि इनमें कौन सत्य हैं और कौन मिथ्या हैं ? ॥ ४३ ॥ इस प्रकार संसारको मोहित करनेवाले मोहहीन भगवान् विष्णुको मोहित करनेमें प्रवृत्त हुए ब्रह्माजी अपनी मायासे आप ही मोहित हो गये ॥ ४४ ॥

तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि ।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥४५॥
तावत्सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् ।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥४६॥
चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः ।
किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः ॥४७॥
श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः ।
नूपुरैः कटकैर्भाता कटिसूत्राङ्गुलीयकैः ॥४८॥
आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः ।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः ॥४९॥
चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः ।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः ॥५०॥
आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः ।
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक्पृथगुपासिताः ॥५१॥
अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः ।
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः ॥५२॥
कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ।
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः ॥५३॥
सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥५४॥

जिस प्रकार कुहरेका अन्धकार रात्रिके अन्धकारको आच्छादित नहीं कर सकता तथा जैसे जुगनूका प्रकाश दिनके प्रकाशमें स्वयं भी लीन हो जाता है वैसे ही महान् पुरुषोंपर प्रयोग करनेवालेकी तुच्छ माया [उन महापुरुषोंका कुछ न बिगाड़ कर] अपनी ही सामर्थ्यको गँवा देती है ॥४५॥ इसी समय ब्रह्माजीके देखते-देखते सभी ग्वालबाल और बछड़े कृष्णरूप दिखलायी देने लगे; उनका वर्ण सजल जलधरके समान श्याम था, वे सभी पीले रंगका रेशमी वस्त्र धारण किये थे ॥४६॥ उनके चार भुजाएँ थीं जिनमें वे शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये थे तथा वे सब मुकुट, कुण्डल, हार और वनमालाओंसे सुशोभित थे ॥४७॥ उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न, भुजाओंमें बाजूबन्द, हाथोंमें शंखाकार रत्नजटित कंकण, चरणोंमें नूपुर और कड़े, कमरमें करधनी और अँगुलियोंमें अँगूठियाँ शोभायमान थीं ॥४८॥ वे शिरसे पैरतक अपने समस्त अङ्गोंमें परम पुण्यवान् भक्तजनोंकी अर्पण की हुई कोमल और नवीन तुलसीकी मालाओंसे आवृत थे ॥४९॥ अपने अरुणवर्ण नेत्रोंके कटाक्ष और चन्द्रिकाके समान अति उज्ज्वल हाससे वे ऐसे मालूम होते थे मानो रजोगुण और सत्त्वगुणसे अपने भक्तोंके मनोरथोंकी रचना और पालन करनेवाले हैं ॥५०॥ [ब्रह्माजीने यह भी देखा कि] उन (ब्रह्मा) से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी चराचर जीव मूर्तिमान् होकर नृत्य-गीत आदि अनेक पूजा-साधनोंसे उनकी पृथक्-पृथक् उपासना कर रहे हैं ॥५१॥ तथा वे सब ओरसे अणिमादि सिद्धियोंसे, अजा (माया) आदि विभूतियोंसे तथा महत्तत्त्वादि चौबीस तत्त्वोंसे घिरे हुए हैं ॥५२॥ भगवान्‌की महिमासे जिनकी महिमा नष्ट हो गयी है वे काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म और गुण आदि भी मूर्तिमान् होकर उनकी उपासना कर रहे हैं ॥५३॥ उन्होंने देखा कि वे सभी सत्य, ज्ञान और अनन्त आनन्दरूप तथा सजातीय-विजातीय भेदसे रहित एकरसस्वरूप हैं, तथा उनके महा-माहात्म्यको उपनिषदादिके विद्वान् भी नहीं जान सकते ॥ ५४ ॥

एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् ।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥५५॥

ततोऽतिकुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः ।
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥५६॥

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके
परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम् ५७

ततोऽर्वाक्प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः ।
कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं महात्मना ॥५८॥

सपद्येवाभितः पश्यन्दिशोऽपश्यत्पुरः स्थितम् ।
वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम् ॥५९॥

यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन्नृमृगादयः ।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम् ॥६०॥

तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।
वत्सान्सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥६१॥

दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य
पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य ।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं
नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥६२॥

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् ।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः॥६३॥

इस प्रकार ब्रह्माने उन सबको एक ही साथ उस परब्रह्मके रूपमें देखा जिसकी कान्तिसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् भास रहा है ॥५५॥

तब अत्यन्त कौतूहलवश जिनकी ग्यारहों इन्द्रियाँ क्षुब्ध एवं स्तब्ध हो गयी हैं वे ब्रह्माजी उन सबके तेजसे अभिभूत होकर मौन हो गये । उस समय वे ऐसे मालूम होते थे मानो व्रजकी अधिष्ठात्री देवीके पास एक पुतली खड़ी हो ॥५६॥ इस प्रकार जो तर्कसे परे, स्वयंप्रकाशानन्द-स्वरूप, मायासे अतीत और अनात्मपदार्थोंका बाध करनेवाली श्रुतियोंसे जानी जाती है ऐसी अपनी महिमाके विषयमें वागीश ब्रह्माजीके 'यह क्या है ?' इस प्रकार मोहित हो जाने तथा फिर उस ओर देखनेमें भी असमर्थ हो जानेपर उनकी विकलता जानकर परम पुरुष भगवान्ने तुरन्त ही अपनी मायाका पर्दा छिपा दिया ॥ ५७ ॥ इससे ब्रह्माजीको बाह्यज्ञान हुआ; वे मरकर उठे हुए व्यक्तिके समान सचेत होकर उठे और जैसे-तैसे नेत्र खोलनेपर उन्हें अपने सहित यह सम्पूर्ण जगत् दिखायी पड़ा ॥५८॥ फिर तुरन्त ही सामने सब ओर दृष्टि डालनेपर उन्हें जीवोंको जीवन देनेवाले वृक्षोंसे पूर्ण वृन्दावनकी सर्वप्रिय भूमि दिखलायी दी ॥५९॥ जहाँ श्रीकृष्णचन्द्रके रहनेसे क्रोध और लोभ आदिका अन्त हो जानेके कारण, जिनमें स्वभावसे ही वैर है वे मनुष्य और मृगादि जीव मित्रोंके समान हिल-मिलकर रहते हैं ॥६०॥ ब्रह्माजीने देखा कि जो ब्रह्म अद्वितीय परमपुरुष अनन्त और अगाधबोधस्वरूप है वही गोपवंशीय बालकका नाट्य-वेष धारण कर वहाँ एक हाथमें कौर लिये पूर्ववत् अकेला ही अपने साथी ग्वालबाल और बछड़ोंको खोजता फिर रहा है ॥६१॥ भगवान्को देखते ही ब्रह्माजी तुरन्त अपने वाहनसे उतर पड़े और सुवर्णदण्डके समान पृथिवीपर लोटकर उनके चरणोंको अपने चारों मुकुटोंके अग्रभागसे स्पर्श करते हुए प्रणाम कर उन्हें आनन्दाश्रुओंसे अभिषिक्त करने लगे और श्रीहरिकी पहले देखी हुई महिमाका बारम्बार स्मरण करते हुए वे उठ-उठकर बार-बार उनके चरणोंमें गिरे और अन्तमें बहुत देरतक उन्हींमें पड़े रहे ॥६२-६३॥
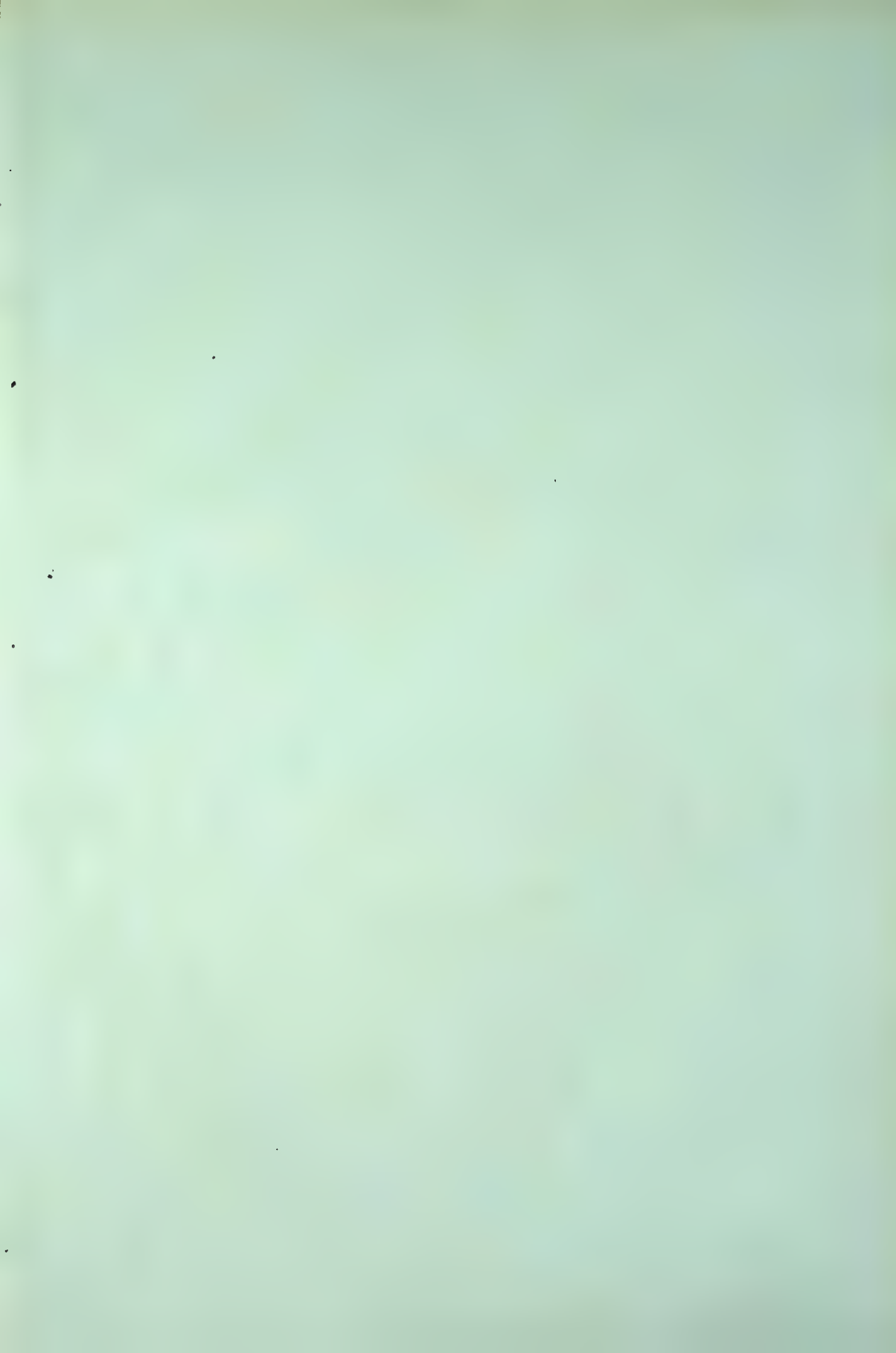
ब्रह्म-स्तुति

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥

[पृष्ठ २८२

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने
मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान्समाहितः
सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया ॥६४॥

फिर धीरे-धीरे उठे और अपने नेत्रोंको पोंछकर भगवान्‌की ओर देखते हुए शिर झुकाये, हाथ जोड़े अत्यन्त विनय और सावधानतापूर्वक भयसे काँपते हुए गद्गद वाणीसे कहने लगे ॥६४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चौदहवाँ अध्याय

ब्रह्मस्तुति तथा वत्स और ग्वाल-बालोंकी पुनः प्राप्ति ।

ब्रह्मोवाच

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥
अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥ २ ॥
ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥३॥
श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ४ ॥

श्रीब्रह्माजी बोले—हे स्तुति करनेयोग्य प्रभो ! जिनका शरीर सजल जलधरके समान श्यामवर्ण है, जो विद्युत्‌की-सी कान्तिवाला सुन्दर पीताम्बर धारण किये हैं, जिनका मुखमण्डल गुञ्जाके आभूषण, कुण्डल और मोर-मुकुटसे अत्यन्त उद्भासित हो रहा है, जिनके गलेमें वनमाला विराजमान है, जिनके चरण अत्यन्त सुकुमार हैं तथा भोजनके कौर, छड़ी, सींग और वंशी आदि चिह्नोंसे जिनकी अपूर्व शोभा हो रही है ऐसे आप गोपालनन्दनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ हे देव ! जिसे आपने मुझपर कृपा करनेके लिये अपनी इच्छासे ही धारण किया है, और जो पाञ्चभौतिक नहीं [अपितु शुद्धसत्त्वमय] है ऐसे आपके इस शरीरकी भी महिमा जाननेमें मैं ब्रह्मा अथवा और कोई समर्थ नहीं है, फिर साक्षात् आत्मानन्दानुभवरूप आपकी महिमाको तो एकाग्रचित्तसे भी कोई कैसे जान सकता है ? ॥२॥ हे नाथ ! जो लोग ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रयास करना छोड़कर अपने स्थानपर ही रहते हुए सत्पुरुषोंके मुखसे निकली हुई आपकी कथा-वार्ताओंको सुनकर मन, वाणी और शरीरसे उनका सत्कार करते हुए जीवनयात्रा-निर्वाह करते हैं, हे अजित ! त्रिलोकीमें वे प्रायः आपको जीत लेते हैं ॥३॥ हे विभो ! जो पुरुष कल्याण-प्राप्तिकी मार्गरूपा आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानलाभके लिये ही क्लेश उठाते हैं उनके लिये केवल कष्ट ही शेष रहता है और कुछ नहीं मिलता, जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको श्रमके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता ॥ ४ ॥

पुरेह भूमन्बहवोऽपि योगिन-
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥ ५ ॥

तथापि भूमन्महिमागुणस्य ते
विबोद्‍धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥ ६ ॥

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥ ७ ॥

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥ ८ ॥

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये
परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं
ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥ ९ ॥

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष
एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥१०॥

हे भूमन् ! हे अच्युत ! पहले भी इस लोकमें बहुतसे योगिजन आपहीको अपने लौकिक-वैदिक कर्म अर्पण कर उन कर्मोंसे तथा आपकी कथा-वार्ताओंसे प्राप्त हुई भक्तिके द्वारा ही आपका स्वरूप जानकर सुगमतासे ही आपके परमपदको प्राप्त हुए हैं ॥५॥ [यद्यपि आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों-की महिमा जानना बहुत ही कठिन है] तथापि आपके निर्गुणरूपकी महिमाको तो जिनका अन्तःकरण निर्मल हो गया है वे पुरुष स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूपसे जान सकते हैं किसी अन्य प्रकारसे नहीं, क्योंकि आप निर्विकार स्वानुभवस्वरूप और इन्द्रियादिके अविषय हैं ॥६॥ किन्तु हे प्रभो ! जिन्होंने कालक्रमसे पृथिवीके परमाणु, आकाशके हिमकण और ज्योति-र्मण्डलके नक्षत्रोंकी गणना कर ली है ऐसे भी कौन पुरुष हैं जो संसारके कल्याणके लिये अवतीर्ण हुए आपके इस सगुण स्वरूपके गुणोंको गिन सकें ॥७॥ [इस प्रकार, आपकी महिमाका ज्ञान होना तो अत्यन्त कठिन है] इसलिये जो पुरुष 'आपकी कृपा कब होगी ?' इस प्रकार उत्सुकतासे उसकी प्रतीक्षा करता हुआ अपने प्रारब्धफलको भोगता है और मन, वाणी एवं शरीरसे आपको नमस्कार करता हुआ जीवन धारण करता है वह [जिस प्रकार पिताके धनका पुत्र अधिकारी होता है उसी प्रकार] आपके मुक्तिपदका अधिकारी हो जाता है ॥ ८ ॥

प्रभो ! मेरी कुटिलता तो देखिये ! आप अनन्त, आदिपुरुष, परमात्मा और समस्त मायावियोंको मोहित करनेवाले हैं; तथापि आपपर भी अपनी माया फैलाकर मैंने अपना ऐश्वर्य देखना चाहा ? अहो ! अग्निके सामने चिनगारीके समान मैं आपके सामने क्या हो सकता हूँ ! ॥९॥ हे अच्युत ! मैं रजोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण अज्ञानवश आपसे अलग अपने-आपको संसारका स्वामी मान बैठा था और 'मैं अजन्मा—जगत्कर्ता हूँ' इस प्रकार मदरूपी घने अन्धकारसे मेरे [विवेकरूप] नेत्र अन्धे हो गये थे; इसलिये यह समझकर कि 'मेरे होनेसे ही यह सनाथ है, अतः इसपर कृपा करनी चाहिये' मेरा अपराध क्षमा कीजिये ॥१०॥

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥११॥

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥१२॥

जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे
नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ् न वै मृषा
किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि ॥१३॥

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना-
त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥१४॥

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः
किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव
किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥१५॥

अत्रैव मायाधमनावतारे
ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य ।

हे नाथ ! कहाँ तो प्रकृति, महत्तत्त्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीरूप आवरणोंसे घिरा हुआ यह ब्रह्माण्ड ही जिसका [अपने परिमाणसे] सात बित्तेका शरीर है वह मैं ? और कहाँ जिनके रोमकूप-रूप झरोखोंमें ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड परमाणुके समान आते-जाते रहते हैं उन आपकी महिमा ? ॥११॥ हे अधोक्षज ! गर्भमें पड़े हुए बालकके पैर उछालनेको क्या कभी माता उसका अपराध समझती है ? तथा 'है' और 'नहीं है' इन शब्दोंसे कही जानेवाली क्या कोई भी वस्तु ऐसी है जो आपके भीतर न हो ? [इस प्रकार जब सब कुछ आपहीके भीतर है तो मैं भी आपके उदरहीमें स्थित हूँ, इसलिये गर्भगत बालकके समान मेरा अपराध क्षमा कीजिये] ॥१२॥ 'जिस समय तीनों लोक प्रलयकालीन जलमें लीन थे उस समय श्रीनारायणकी नाभिसे प्रकट हुए कमलसे ब्रह्माका जन्म हुआ' यह कथन किसी प्रकार मिथ्या नहीं हो सकता । अतः हे ईश ! [आप ही कहिये] क्या मैं आपहीसे उत्पन्न नहीं हुआ ? ॥ १३ ॥ हे सबके अधीश्वर ! सम्पूर्ण जीवोंके आत्मा और सम्पूर्ण लोकोंके साक्षी होनेके कारण क्या आप ही नारायण* नामसे प्रसिद्ध नहीं हैं ? [अवश्य हैं] तथा नरसे उत्पन्न हुए जलमें निवास करनेके कारण जिसकी नारायण संज्ञा है, वह भी आपहीका अंश है, किन्तु आपका जल आदि किसी एक देशमें स्थित होना भी वास्तविक नहीं है, आपकी माया ही है ॥१४॥ भगवन् ! यदि आपका वह विराट् शरीर सचमुच ही जलमें था तो [उस समय कमलनालके मार्गसे जलमें सौ वर्षतक बहुत कुछ खोजनेपर भी]मैं उसे क्यों न देख सका ? फिर [तपस्या करनेपर] उसी समय अपने हृदयमें मुझे उसका दर्शन कैसे हो गया ? तथा तुरन्त ही वह अन्तर्धान कैसे हो गया ? [इससे जान पड़ता है यह सब आपकी मायाका ही कार्य था] ॥१५॥ हे मायानाशन ! आपने इस अवतारमें भी बाहर स्पष्टरूपसे भासनेवाला यह सारा जगत् अपनी माताको अपने उदरमें

* 'नार' का अर्थ 'जीव' है। तथा 'अयन' का अर्थ आश्रय, प्रवृत्ति और ज्ञान है । जीव परमात्माके आश्रय हैं अर्थात् जीवोंके अन्तःकरणमें परमात्मा रहते हैं इसलिये वे 'नारायण' हैं । तथा जीवोंका अधीश्वर (प्रवृत्त करनेवाला) और साक्षी (जाननेवाला) होनेसे भी परमात्मा 'नारायण' हैं ।

कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या
मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥१६॥
यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा ।
तत्त्वय्यपीह तत्सर्वं किमिदं मायया विना ॥१७॥
अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते
मायात्वमादर्शित-
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृ-
द्वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः
साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं
ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥१८॥
अजानतां त्वत्पदवीमनात्म-
न्यात्मात्मना भासि वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥१९॥
सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य ।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥२०॥
को वेत्ति भूमन्भगवन्परात्म-
न्योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन्क्रीडसि योगमायाम् ॥२१॥
तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति ॥२२॥

दिखलाकर उसकी मायिकता ही प्रकट की है ॥१६॥ जब कि आपके सहित यह सम्पूर्ण विश्व जैसा बाहर भासता है वैसा ही आपके उदरमें भी प्रतीत हुआ तो क्या यह सब आपकी मायाके बिना ही आपमें प्रतीत हुआ था ? ॥१७॥

इस समय भी क्या आपने मुझे अपने सिवा और सम्पूर्ण विश्वकी मायामयता नहीं दिखला दी ? पहले आप अकेले थे, फिर सम्पूर्ण ग्वालबाल और बछड़े भी आप ही हो गये । तदुपरान्त मैंने देखा कि आपकी वे सब मूर्तियाँ चतुर्भुजरूप हैं और मेरे सहित सम्पूर्ण तत्त्वोंसे सेवित हैं, तथा आपने अलग-अलग उतने ही ब्रह्माण्डोंका रूप भी धारण कर लिया है और अब अन्तमें फिर अपने अपरिमित अद्वितीय ब्रह्मरूपसे केवल आप ही शेष रह गये हैं ॥१८॥ जो लोग अज्ञान-वश आपका स्वरूप नहीं जानते उन्हींको अनात्मा (प्रकृति) में स्थित आत्मा-रूप आप उनके ऊपर अपनी मायाका पर्दा डालकर सृष्टिके समय मेरे रूपसे, पालन-कालमें इस अपने विष्णुरूपसे और संहारके समय त्रिनयन महादेवके रूपसे भासते हैं ! [आपका स्वरूप जाननेवाले तो इन तीनोंके अधिष्ठान-रूप आपहीको जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण मानते हैं] ॥१९॥ हे जगन्नियन्ता प्रभो! हे विधातः, आप अजन्मा हैं, तथापि देवता, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक् और जलचरादि योनियोंमें आपके जो अवतार होते हैं वे असत्पुरुषोंके मदका मथन और सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही होते हैं ॥२०॥ हे भगवन् ! आप सर्वव्यापक परमात्मा और योगेश्वर हैं; जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तारकर क्रीडा करते हैं उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ किस प्रकार कितनी और कब होती है ? ॥ २१ ॥ इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् जो स्वप्नके समान असत्, ज्ञानशून्य और उत्तरोत्तर दुःखमय है मायासे उत्पन्न होनेपर भी नित्यानन्दज्ञानस्वरूप आप अनन्तमें ही स्थित होनेके कारण सत्यवत् * भासता है ॥ २२ ॥

* यहाँ सत्यवत्से जगत्‌की सत्यता ही नहीं बल्कि चेतनता और सुखरूपताका भी ग्रहण करना चाहिये ।

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥२३॥
एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥२४॥
आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥२५॥
अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥२६॥
त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताऽज्ञता ॥२७॥
अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव
ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण
सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः ॥२८॥
अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥२९॥
तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥३०॥

आप संसारके एकमात्र आत्मा, पुराणपुरुष, सत्य, स्वयंप्रकाश, अनन्त, आदिपुरुष, नित्य, अक्षर, निरन्तर-सुखस्वरूप, मलहीन, परिपूर्ण, अद्वितीय, उपाधिसे रहित और अमृतरूप हैं ॥२३॥ उपर्युक्त महिमासे युक्त आप परमात्माको जो लोग समस्त प्राणियोंका आत्मा समझकर सूर्यरूप गुरुसे प्राप्त हुए ज्ञाननेत्रोंद्वारा आत्मरूपसे देखते हैं वे मानो इस असत् संसारसागरको पार कर जाते हैं ॥ २४ ॥ जो पुरुष आत्माको आत्मा नहीं जानते उन्हें उस अज्ञानसे ही यह सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रतीत होता है । किन्तु ज्ञान होते ही यह लीन हो जाता है; जैसे रज्जुमें भ्रमवश प्रतीत होता हुआ सर्प भ्रम दूर होते ही नहीं रहता ॥२५॥ जिनकी संज्ञा अज्ञानसे ही कल्पित है वे संसारसम्बन्धी बन्धन और मोक्ष दोनों ही सत्य और ज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न नहीं हैं । जिस प्रकार सूर्यमें दिन और रात्रिका अभाव है वैसे ही विचार करनेपर अखण्डचेतनस्वरूप अद्वितीय परमात्मामें बन्धन और मोक्ष नहीं है ॥२६॥ अहो ! अज्ञानियोंकी कैसी अज्ञानता है कि आप जो आत्मा हैं उन्हें अन्य मानकर और अन्य देहादिको आत्मा मानकर फिर आत्माको कहीं बाहर ढूँढ़ते फिरते हैं ॥२७॥ हे अनन्त ! सन्तजन अपने अन्तःकरणमें विराजमान आपको अनात्मवस्तुओंका त्याग करते हुए ढूँढ़ते हैं; क्योंकि वे सन्तजन रज्जुमें सर्प न होते हुए भी क्या असत् सर्पका बाध किये बिना सत्य रज्जुको जान सकते हैं ? ॥२८॥ ऐसा होनेपर भी हे देव ! जो पुरुष आपके चरणकमलयुगलके लेशमात्र प्रसादसे अनुगृहीत होता है वही आपकी महिमाका तत्त्व जान सकता है । दूसरा कोई चिरकालतक खोज करते रहनेपर भी नहीं जान पाता ॥२९॥ अतः प्रभो ! मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो जिससे कि मैं इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें अथवा किसी तिर्यग्-योनिमें ही जन्म लेकर आपके दासोंमेंसे एक होकर आपके चरणकमलोंकी सेवा कर सकूँ ॥३०॥

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना
यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ॥३१॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥३२॥
एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत्पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥३३॥
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥३४॥
एषां घोषनिवासिनामुत भवान्किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात्फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥३५॥
तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः॥३६॥
प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले ।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥३७॥
जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो ।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥३८॥

अहो ! जिनकी तृप्ति अभीतक सम्पूर्ण यज्ञ भी नहीं कर सके उन्हीं आप परमेश्वरने जिनके स्तनोंका दुग्धामृत बछड़े और बालकरूपसे अति उमंगके साथ पिया, वे व्रजकी गौएँ और ग्वालिनियाँ अत्यन्त धन्य हैं ॥३१॥ अहो ! नन्दादि व्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं ! धन्य भाग्य हैं ! जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्णब्रह्म आप हैं ॥३२॥ हे अच्युत ! इन व्रजवासियोंके सौभाग्यकी महिमा तो अलग रही हम महादेव आदि ग्यारह इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंका भी बड़ा ही सौभाग्य है जो इनकी मन आदि ग्यारह इन्द्रियोंको पानपात्र (कटोरे) बनाकर हम आपके चरणकमलोंकी अमृतमयी मधुर मदिराका सदा पान करते हैं॥३३॥ इस व्रजभूमिमें किसी वनमें और उसमें भी गोकुलमें जन्म पाना ही परम सौभाग्य है, जिससे कभी किसी गोकुलवासीकी चरणरजसे अभिषेक होनेका अवसर मिल सके; क्योंकि जिनकी पदरजको श्रुति आज भी खोजती फिरती है वे आप भगवान् मुकुन्द ही इनके एकमात्र जीवनाधार हैं ॥३४॥ हे देव ! इन व्रजवासियोंको [इनकी सेवाके बदलेमें] आप क्या फल देंगे ? सम्पूर्ण फलोंके फलरूप आपके स्वरूपसे बढ़कर और कोई फल न दीखनेसे हमारा चित्त मोहित हो जाता है । [यदि कहें कि मैं उन्हें अपना स्वरूप ही देकर उऋण हो जाऊँगा तो] आपके स्वरूपको तो साध्वी स्त्रीका वेष बनाकर आयी हुई पूतनाने भी अपने सम्बन्धियों (अघासुर, बकासुर आदि) सहित प्राप्त कर लिया था; फिर जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र प्राण और मन सब आपहीको अर्पण कर दिये हैं उन व्रजवासियोंको भी वही फल देकर आप उऋण कैसे हो सकते हैं ? ॥३५॥ हे कृष्ण ! जबतक मनुष्य आपके भक्त नहीं बन जाते तभीतक उनके लिये रागादि चोरोंके समान, घर कारागारके समान और मोह पैरकी बेड़ियोंके समान बना रहता है ॥३६॥ प्रभो ! आप निष्प्रपञ्च होकर भी अपने शरणागत भक्तोंकी आनन्दराशिको बढ़ानेके लिये संसारमें अवतार लेकर प्रपञ्चका अनुसरण करते हैं ॥३७॥ स्वामिन् ! बहुत कहनेसे क्या होगा, जो लोग आपके वैभवको जानते हैं वे जानते रहें । आपका वैभव मेरे मन, वाणी और शरीरका तो विषय है नहीं ॥३८॥

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक् ।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम् ॥३९॥
श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु-
गाकल्पमार्कमर्हन्भगवन्नमस्ते ॥४०॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः ।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥४१॥
ततोऽनुज्ञाप्य भगवान्स्वभुवं प्रागवस्थितान् ।
वत्सान्पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥४२॥
एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशं चान्तरात्मनः ।
कृष्णमायाहता राजन्क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः ॥४३॥
किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।
यन्मोहितं जगत्सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥४४॥
ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥४५॥
ततो हसन्हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः ।
दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद्व्रजम् ॥४६॥
बर्हप्रसूननवधातुविचित्रिताङ्गः
प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः ।

हे कृष्णचन्द्र ! मुझे अब आज्ञा दीजिये । आप सबके साक्षी हैं इसलिये सब कुछ जानते हैं । आप ही सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं, यह निखिलप्रपञ्च आपहीमें स्थित है ॥ ३९॥ हे श्रीकृष्ण ! आप वृष्णि-कुलकमलको विकसित करनेवाले [सूर्यरूप] तथा पृथिवी, देवता, ब्राह्मण और पशुरूप समुद्रको बढ़ानेवाले [चन्द्ररूप] हैं । आप पाखण्डधर्मरूप रात्रिका नाश करनेवाले, पृथिवीपर राक्षसोंसे द्वेष करनेवाले और सूर्यपर्यन्त समस्त देवताओंके पूज्य हैं । हे भगवन् ! आपको कल्पपर्यन्त नमस्कार हो ॥४०॥

श्रीशुकदेवजी बोले–हे राजन् ! इस प्रकार स्तुति कर जगद्धाता श्रीब्रह्माजी [लीलाके लिये ही अवतीर्ण] सर्वव्यापक भगवान् कृष्णकी तीन परिक्रमा कर और उनके चरणकमलोंमें प्रणाम कर अपने अभीष्ट लोकको चले गये ॥ ४१ ॥ तब ब्रह्माजीको बिदा कर भगवान् कृष्णचन्द्र उनके द्वारा पहले ही उपस्थित किये हुए बछड़ोंको लेकर यमुनाजीकी जिस रेतीमें अपने पूर्व सखाओंको छोड़ गये थे वहाँ आये ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! उन बालकोंको अपने प्राणाधार कृष्णके वियोगमें यद्यपि एक वर्ष बीत गया था तथापि भगवान्की मायासे मोहित हो जानेके कारण उन्हें वह समय आधे क्षणके समान ही जान पड़ा ॥४३॥ जिससे मोहित होकर सम्पूर्ण जगत् निरन्तर अपने आत्माको भी भूला हुआ है उस मायाने जिनके चित्तोंको मोह लिया है वे क्या-क्या नहीं भूल सकते ॥४४॥

कृष्णचन्द्रको देखते ही बालकोंने बड़े उतावले होकर कहा—"भाई ! तुम भले आये, हमने तो तुम्हारे बिना अभी एक कौर भी नहीं खाया है; इधर आओ, आनन्दसे भोजन करो ॥४५॥ तब भगवान्ने हँसते-हँसते बालकोंके साथ भोजन किया और उन्हें अजगर (अघासुर) के शरीरका ढाँचा दिखाते हुए वनसे व्रजको लौट आये ॥ ४६ ॥ तब, जिनका शरीर मयूरपिच्छ, पुष्प और गेरू आदि नवीन धातुओंसे चित्रित है, जो अपनी बाँसुरी और सींगके उच्चस्वरसे चित्तमें उल्लास बढ़ानेवाले हैं, जिनकी पवित्र कीर्तिका

वत्सान्गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति-
गोंपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ॥४७॥
अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना ।
हतोऽविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः ॥४८॥

भक्तजन गान करते हैं और जो अपने दर्शनोंसे गोपियोंके नेत्रोंको आनन्दित करते हैं उन श्रीकृष्णचन्द्रने बछड़ोंको नाम लेकर पुकारते हुए अपने गोष्ठमें प्रवेश किया ॥४७॥ उसी दिन बालकोंने व्रजमें जाकर कहा कि आज इस नन्द-यशोदाके लालाने वनमें एक बड़ा भारी अजगर मारकर हमें उससे बचाया है ॥ ४८ ॥

राजोवाच

ब्रह्मन्परोद्भवे कृष्णे इयान्प्रेमा कथं भवेत् ।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥४९॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा–भगवन् ! यह बतलाइये कि पराये पुत्र कृष्णपर व्रजवासियोंका ऐसा प्रेम क्यों हुआ, जैसा कि उन्हें अपने बालकोंपर भी पहले कभी नहीं हुआ था ? ॥ ४९ ॥

श्रीशुक उवाच

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥५०॥
तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ॥५१॥
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ॥५२॥
देहोऽपि ममताभाक्चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत्प्रियः ।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिञ्जीविताशा बलीयसी ॥५३॥
तस्मात्प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥५४॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥५५॥
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च ।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन ॥५६॥
सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः ।
तस्यापि भगवान्कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥५७॥

श्रीशुकदेवजी बोले–हे राजन् ! समस्त प्राणियोंको अपना आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है, और पुत्र-वित्तादि तो उसके प्रिय होनेसे ही प्रिय हैं ॥ ५० ॥ इसीलिये हे राजेन्द्र ! देहधारियोंको जैसा अपने-आपमें प्रेम होता है वैसा अपने कहलानेवाले पुत्र, धन और गृह आदिमें नहीं होता ॥५१॥ हे क्षत्रियश्रेष्ठ ! देहात्मवादी पुरुषोंको भी जितना प्रिय देह होता है उतने उससे सम्बद्ध पुत्र-मित्रादि नहीं होते ॥५२॥ जब [विवेक होनेपर] देह भी ममताका पात्र हो जाता है [अर्थात् देहमें अहन्ता न रहकर ममता हो जाती है] तो यह आत्माके समान प्रिय नहीं रहता; नहीं तो इस देहके जराग्रस्त हो जानेपर भी जीनेकी आशा प्रबल ही बनी रहती है ॥५३॥ अतएव समस्त देहधारियोंको अपना आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है और उसीके लिये यह सम्पूर्ण चराचर जगत् भी प्रिय मालूम होता है ॥५४॥ और हे राजन् ! इन कृष्णको ही तुम समस्त आत्माओं (जीवों) का आत्मा (परमात्मा) समझो । ये संसारके कल्याणके लिये ही मायासे देहधारी-से दीख पड़ते हैं ॥५५॥ जो वास्तविक तत्त्वको जानते हैं उनकी दृष्टिमें तो स्थावर-जङ्गम सब कृष्णरूप ही है । सम्पूर्ण जगत् कृष्णमय है, कृष्णसे अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं है ॥५६॥ सभी वस्तुएँ अपने कारणरूपसे (प्रकृतिरूपसे) स्थित हैं, तथा भगवान् कृष्ण उस (कारण) के भी कारण हैं, तो ये सब वस्तुएँ कृष्णरूप होनेके सिवा और क्या हैं ? ॥५७॥

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥५८॥

जिन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलरूप नौकाका, जो महापुरुषोंका आश्रयरूप है, आश्रय लिया है उनके लिये यह संसारसमुद्र बछड़ेके खुरके समान है और परमपद ही उनका पद है। जो विपत्तियोंका पद है उस संसारमें उन्हें कभी नहीं आना पड़ता ॥५८॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
यत्कौमारे हरिकृतं पौगण्डे परिकीर्तितम् ॥५९॥

एतत्सुहृद्भिश्चरितं मुरारे-
रघार्दनं शाद्वलजेमनं च ।
व्यक्तेतरद्रूपमजोर्वभिष्टवं
शृण्वन्गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् ॥६०॥

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥६१॥

हे राजन्! तुमने जो मुझसे पूछा था कि 'भगवान्ने जो कर्म कौमारावस्थामें किया उसे बालकोंने उनकी पौगण्डावस्थामें व्रजमें जाकर कैसे कहा?' सो वह सब रहस्य मैंने तुम्हें सुना दिया ॥५९॥ जो पुरुष श्रीहरिकी बालकोंके साथ वनक्रीडा, अघासुरका दमन, हरी-हरी घाससे युक्त भूमिपर बैठकर भोजन करना, जड प्रपञ्चसे भिन्न शुद्धसत्त्वमय बछड़े और बालकोंका रूप धारण करना तथा ब्रह्माजीकी की हुई महती स्तुति आदि लीलाओंको सुने या कहेगा उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी ॥६०॥ हे महाराज! इस प्रकार श्रीबलराम और कृष्णचन्द्रने आँखमिचौनी, पुल बाँधना तथा बन्दरकी भाँति उछलना-कूदना आदि कौमारोचित लीलाएँ करते हुए व्रजमें अपनी कुमारावस्था व्यतीत की ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
ब्रह्मस्तुतिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥
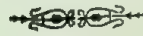
पन्द्रहवाँ अध्याय

गो-चारण, धेनुक-वध और बालकोंको कालियनागके विषसे बचाना ।

श्रीशुक उवाच[1]

ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदै-
र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥ १ ॥
तन्माधवो वेणुमुदीरयन्वृतो
गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः ।
पशून्पुरस्कृत्य पशव्यमाविश-
द्विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! पौगण्ड (पाँच वर्षसे अधिक) अवस्थामें प्रवेश करनेपर बलराम और कृष्ण व्रजभूमिमें गौएँ चरानेयोग्य माने गये। वे अपने साथी ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराते हुए अपने चरणचिह्नोंसे समस्त वृन्दावनको पवित्र करने लगे ॥१॥ एक दिन अपना सुयश गाते हुए ग्वालबालोंसे घिरे हुए श्रीकृष्णचन्द्रने वन-विहार करनेकी इच्छासे बलरामजीके सहित वंशी बजाते हुए गौओंको आगे कर एक पुष्पित वनमें प्रवेश किया, जहाँ पशुओंके लिये सब प्रकारका सुपास था ॥ २ ॥

[1] बादरायणिरुवाच ।

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं
महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता ।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना
निरीक्ष्य रन्तुं भगवान्मनो दधे ॥ ३ ॥
स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया
फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ।
स्पृशच्छिखान्वीक्ष्य वनस्पतीन्मुदा
स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच[1]

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥ ५ ॥
एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते ।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥ ६ ॥
नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान्हि सतां निसर्गः॥ ७ ॥
धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्व-
त्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः॥ ८ ॥

उस वनको मनोहर स्वरवाले भ्रमर, मृग और पक्षियोंसे पूर्ण, महात्माओंके चित्तोंके समान स्वच्छ जलवाले सरोवरोंसे युक्त और कमलगन्धसुरभित वायुसे मनोरम देख भगवान्‌ने वहाँ क्रीडा करनेका निश्चय किया ॥३॥ आदिपुरुष भगवान्‌ने जहाँ-तहाँ नवीन पल्लवोंकी अरुण कान्तिसे तथा फल-फूलोंके भारी भारसे झुककर चरण छूनेवाले शाखाग्रोंसे युक्त वृक्षोंको देख अपने बड़े भाई बलरामजीसे आनन्दपूर्वक कुछ मुसकाते हुए कहा ॥४॥

श्रीभगवान् बोले—हे देवश्रेष्ठ ! देखिये, ये वृक्ष जिनके कारण इन्हें वृक्षयोनि प्राप्त हुई है उन पापोंको नष्ट करनेके लिये अपनी शाखाओंद्वारा फल-फूल आदि पूजाकी सामग्री लेकर आपके सुरपूजित चरणकमलोंमें प्रणाम कर रहे हैं॥ ५ ॥ हे आदिपुरुष ! ये भ्रमरगण सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाला तीर्थस्वरूप आपका सुयश गाते हुए आपहीको भजते हैं । हे अनघ ! वास्तवमें ये आपके प्रमुख भक्त मुनिगण ही हैं, जो वनमें गूढभावसे विचरते हुए अपने इष्टदेव आपको यहाँ भी नहीं छोड़ना चाहते ॥६॥ हे स्तुत्य ! देखिये आपको घर आये देख ये मयूरगण आपके दर्शनोंसे आनन्दित होकर नाच रहे हैं, मृगियाँ मृगनयनी गोपिकाओंके समान अपने प्रेमकटाक्षोंसे आपका प्रिय कार्य कर रही हैं और कोकिलाएँ अपनी मनोहर वाणीसे आपका स्वागत कर रही हैं । ये वनवासी पशु-पक्षी धन्य हैं, क्योंकि [घर आये महापुरुषोंको अपना सर्वस्व समर्पण कर देना] यही सत्पुरुषोंका स्वभाव है [और इस समय ये सब भी वैसा ही आचरण कर रहे हैं]॥७॥ आज तृण और लता-गुल्मोंके सहित यहाँकी भूमि आपका चरणस्पर्श होनेसे, वृक्ष और लताएँ आपके करकमलोंके नखोंका संग होनेसे, नदी, पर्वत, मृग और पक्षी आपके कृपाकटाक्षसे तथा गोपाङ्गनाएँ जिसके लिये लक्ष्मीजी भी लालायित रहती हैं उस आपकी भुजाओंके मध्यभाग (वक्षःस्थल) के आलिङ्गनसे कृतार्थ हैं ॥८॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीभगवानुवाच' इतना अंश नहीं है ।

श्रीशुक उवाच[1]

एवं वृन्दावनं श्रीमत्कृष्णः प्रीतमनाः पशून्[2] ।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः ॥ ९ ॥
क्वचिद्गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः ।
उपगीयमानचरितः स्रग्वी सङ्कर्षणान्वितः ॥१०॥
क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम् ।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन्क्वचित् ॥११॥
मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान्पशून् ।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया ॥१२॥
चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः ।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद्व्याघ्रसिंहयोः॥१३॥
क्वचित्क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम् ।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥१४॥
नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः ।
गृहीतहस्तौ गोपालान्हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥१५॥
क्वचित्पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः ।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥१६॥
पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः ।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥१७॥
अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः ॥१८॥
एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया
गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् ।
रेमे रमालालितपादपल्लवो
ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥१९॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार वृन्दावनको देखकर आनन्दित हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपने साथी ग्वालबालोंके सहित प्रसन्नतापूर्वक गिरिराजके समीपवर्ती यमुनातटपर गौएँ चराते हुए क्रीडा करने लगे ॥ ९ ॥ भक्तजन जिनका सुयश गान करते हैं वे भगवान् कृष्ण गलेमें वनमाला धारण किये बलरामजीके सहित कभी तो गाते हुए मदान्ध भ्रमरोंके साथ गाने लगते ॥१०॥ कभी अपने साथियोंको हँसाते हुए कूजते हुए राजहंसोंके साथ आप भी कूजते, कभी नाचते हुए मयूरोंके साथ नाचते ॥ ११ ॥ कभी गौ और गोपालोंका चित्त चुरानेवाली अपनी मेघसदृश गम्भीर वाणीसे दूर गये हुए पशुओंको उनके नाम ले-लेकर पुकारते ॥१२॥ कभी चकोर, क्रौञ्च, चकवा, भारद्वाज और मयूर आदि पक्षियोंकी-सी बोली बोलते तथा कभी व्याघ्र-सिंहादिके शब्दोंसे डरे हुए जीवोंके समान आप भी भयभीतका-सा आचरण करते ॥ १३ ॥ कभी खेलते-खेलते थककर किसी ग्वालबालकी गोदमें शिर रखकर लेटे हुए बड़े भाई बलरामजीकी चरणसेवा आदि कर उनका श्रम दूर करते ॥ १४ ॥ कभी दोनों भाई हाथमें हाथ डालकर खड़े हो जाते तथा नाचते, गाते, ताल ठोंकते और कुश्ती लड़ते हुए अपने साथियोंकी हँस-हँसकर प्रशंसा करते ॥१५॥ कभी मल्लयुद्धमें थक जानेपर वृक्षकी जड़के सहारे कोमल पत्तोंकी शय्यापर किसी ग्वालबालकी गोदमें शिर रखकर लेट जाते ॥ १६ ॥ हे महाराज ! उस समय कोई-कोई निष्पाप ग्वालबाल तो महात्मा कृष्णके चरण दबाते, कोई उनको पंखा झलते और कोई अत्यन्त स्नेहार्द्र होकर मन्द-मन्द स्वरमें भगवान्‌की लीलाओंके अनुरूप उनके चित्तको प्रिय लगनेवाले मनोहर गीत गाते ॥१७-१८॥ इस प्रकार साक्षात् लक्ष्मीजी जिनके चरणोंकी सेवा करती हैं वे ही भगवान् अपनी मायासे अपने वास्तविक स्वरूपको ढँककर अपने आचरणोंसे गोप-कुमारत्वका अनुकरण करते हुए ग्रामीण बालकोंके साथ उन्हींके समान क्रीडा करने लगे; किन्तु बीच-बीचमें उनकी ईश्वरीय लीला प्रकट हो ही जाती थी॥१९॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' इतना अंश नहीं है । २. वने कृष्णः श्रीमान् प्रीत० ।

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा ।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥२०॥
राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।
इतोऽविदूरे सुमहद्वनं तालालिसङ्कुलम् ॥२१॥
फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।
सन्ति किंत्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना ॥२२॥
सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक् ।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥२३॥
तस्मात्कृतनराहाराद्भीतैर्नृभिरमित्रहन् ।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम् ॥२४॥
विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च ।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते ॥२५॥
प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् ।
वाञ्छास्ति महती राम गम्यतां यदि रोचते ॥२६॥
एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया ।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥२७॥
बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान्सम्परिकम्पयन् ।
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा ॥२८॥
फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः ।
अभ्यधावत्क्षितितलं सनगं परिकम्पयन् ॥२९॥
समेत्य तरसा प्रत्यग्द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली ।
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन्पर्यसरत्खलः ॥३०॥

एक दिन बलराम और कृष्णके सखा श्रीदामानामक गोप तथा सुबल और स्तोककृष्ण आदि अन्य बालकोंने दोनों भाइयोंसे प्रेमपूर्वक यों कहा—॥ २० ॥ "हे महाबाहो बलराम ! हे दुष्टदलन कृष्णचन्द्र ! यहाँसे थोड़ी ही दूरीपर तालवृक्षावलीसे पूर्ण एक बड़ा भारी वन है ॥ २१ ॥ वहाँ बहुत-से तालफल पक-पककर नित्यप्रति गिरते हैं और बहुत-से गिरे हुए हैं; किन्तु दुष्ट धेनुकासुरने उन सबको अपने अधिकारमें कर रखा है ॥ २२ ॥ हे बलभद्रजी ! तथा हे श्रीकृष्णचन्द्र ! वह गर्दभरूपधारी दैत्य स्वयं बड़ा ही बलवान् है तथा अपने ही समान और भी बहुत-से बलवान् दैत्योंसे घिरा रहता है ॥ २३ ॥ हे शत्रुदमन ! उस दैत्यने बहुत-से मनुष्य खा डाले हैं; इसलिये भयभीत होकर कोई भी मनुष्य उस पशु-पक्षिविहीन वनमें नहीं जाता ॥ २४ ॥ उसके सुगन्धित फल हमने पहले कभी नहीं खाये; देखिये, चारों ओर उन्हींकी सुवाससे महँके हुए पवनकी गन्ध आ रही है ॥ २५ ॥ उनकी महँकसे हमारा चित्त उन्हें पानेके लिये ललचा रहा है, अतः हे कृष्णचन्द्र ! हमें वे फल दीजिये । हमें उनकी बड़ी उत्कट अभिलाषा है, हे बलरामजी ! यदि आपको रुचे तो चलिये" ॥ २६ ॥

अपने सखाओंके ये वचन सुनकर भगवान् राम और कृष्ण उनका प्रिय करनेकी इच्छासे गोपोंके साथ हँसते-खेलते तालवनको चले ॥ २७ ॥ उस वनमें पहुँचकर बलरामजीने वहाँके तालवृक्षोंको हाथीके समान बड़े वेगसे हिलाकर बहुत-से फल गिरा दिये ॥ २८ ॥ गिरते हुए फलोंका शब्द सुनकर वह गर्दभरूपधारी दैत्य पर्वतोंके सहित सम्पूर्ण भूमण्डलको कम्पायमान करता हुआ उनके सामने दौड़ आया ॥ २९ ॥ उस महाबली दैत्यने बड़े वेगसे बलरामजीके सामने आकर अपने पिछले पैरोंसे उनकी छातीमें लात मारी और वह दुष्ट कठोर गर्दभनाद करता हुआ वहाँसे हट गया ॥ ३० ॥

१. छाद्यीन्मह० । २. पश्चाद् । ३. खरः ।

पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक्स्थितः ।
चरणावपरौ राजन्बलाय प्राक्षिपद्रुषा ॥३१॥
स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना ।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥३२॥
तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः ।
पार्श्वस्थं कम्पयन्भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम् ॥३३॥
बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः ।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥३४॥
नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥३५॥
ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये ।
क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन्सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः ॥३६॥
तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया ।
गृहीतपश्चाच्चरणान्प्राहिणोत्तृणराजसु ॥३७॥
फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः ।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम् ॥३८॥
तयोस्तत्सुमहत्कर्म निशम्य विबुधादयः ।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः ॥३९॥
अथ तालफलान्यादन्मनुष्या गतसाध्वसाः ।
तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने ॥४०॥

फिर उस गधेने घोर शब्द करते हुए दूसरी बार बड़े वेगसे बलरामजीके पास आकर उनकी ओर पीठ करके बड़े क्रोधपूर्वक उनपर अपने पिछले पैरोंकी दुलत्ती चलायी ॥ ३१ ॥ तब बलरामजीने अपने एक हाथसे उसके दोनों पाँव पकड़ लिये और उसे अन्तरिक्षमें घुमाकर, घुमाते समय ही जिसके प्राण निकल गये थे, उस दैत्यको एक तालवृक्षके ऊपर पटक दिया ॥ ३२ ॥ उसके आघातसे वह फैले हुए शिखरवाला महान् तालवृक्ष कम्पित होकर अपने बराबरके वृक्षको कँपाकर गिराता हुआ गिर पड़ा तथा वह भी दूसरेको और दूसरा तीसरेको इस प्रकार एक दूसरेको गिराते हुए बहुत-से तालवृक्ष गिर पड़े ॥ ३३ ॥ बलरामजीद्वारा लीलापूर्वक पटके हुए धेनुकासुरके शरीरसे हताहत होकर वे सब तालतरु बड़े भारी बवण्डरसे विचलित किये जानेकी भाँति कम्पायमान हो गये ॥ ३४ ॥ हे तात ! जगत्पति भगवान् अनन्तके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है, उनमें तो तन्तुओंमें पटके समान यह सम्पूर्ण विश्व ओतप्रोत है ॥ ३५ ॥ तब धेनुकासुरके अन्य जाति-भाई अपने बन्धुके मारे जानेसे कुपित होकर रेंकते हुए बड़े वेगसे राम और कृष्णके ऊपर दौड़े ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! उनमेंसे जो-जो पास आया उसीको बलभद्र और कृष्णने लीलासे ही पिछले पाँव पकड़कर तालवृक्षोंपर पटक दिया ॥ ३७ ॥ उस समय फलोंके समूह, टूटे हुए वृक्ष और दैत्योंके प्राणहीन शरीरोंसे भरकर वह भूमि मेघमालासे आच्छादित आकाशके समान सुशोभित होने लगी ॥ ३८ ॥

श्रीबलराम और कृष्णचन्द्रका यह महान् कर्म देखकर देवगण उनपर फूल बरसाने लगे तथा बाजे बजाते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ ३९ ॥ तबसे धेनुकासुरके मारे जानेसे उस वनमें सब लोग निर्भय होकर तालफल खाने लगे और पशु भी स्वच्छन्दतापूर्वक तृण चरने लगे ॥ ४० ॥

१. तालः पतमानो ।

कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत् ॥४१॥

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-
वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन्समेताः ॥४२॥

पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥४३॥

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले ।
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः ॥४४॥
गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥४५॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥४६॥
एवं स भगवान्कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित् ।
ययौ राममृते राजन्कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥४७॥
अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः ।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम् ॥४८॥
विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः ।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥४९॥
वीक्ष्य तान्वै तथाभूतान्कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।

तदनन्तर, जिनका श्रवण और कीर्तन अत्यन्त पुण्यकारक है वे कमलनयन भगवान् कृष्ण अपने साथी ग्वालबालोंसे प्रशंसित होते हुए बड़े भाई बलरामजीके सहित व्रजमें आये ॥ ४१ ॥ उस समय, जिनकी घुँघराली अलकें गोरजसे धूसरित हैं, जिनके शिरपर मयूरपिच्छ और वन्य पुष्प सुशोभित हैं, जिनकी कमनीय कटाक्षभङ्गी और मनोहर मुसकानसे अपूर्व शोभा हो रही है, साथी ग्वालबालोंसे जिनकी कीर्ति गायी जा रही है और जो मधुर मुरली बजा रहे हैं उन कृष्णचन्द्रको देखनेके लिये उनकी दर्शनाभिलाषासे उत्कण्ठित नेत्रोंवाली गोपियाँ मिल-जुलकर व्रजके बाहर आयीं ॥ ४२ ॥ गोपियोंने दिनभरके विरहतापको अपने नेत्ररूप भ्रमरोंसे भगवान्‌के मुखारविन्दमकरन्दका पान करके शान्त किया और भगवान्‌ने भी उनके सलज्ज हास्यपूर्ण विनय और प्रणयकटाक्षरूप सत्कारको स्वीकार कर व्रजमें प्रवेश किया ॥ ४३ ॥ घर पहुँचनेपर पुत्रवत्सला यशोदा और रोहिणीजीने अपने बालकोंको समयानुसार यथेष्ट आशीर्वाद दिये ॥ ४४ ॥ मार्गका श्रम दूर होनेपर उन्हें उबटनादि मलकर स्नान कराया तथा सुन्दर वस्त्र पहनाकर दिव्य पुष्पमाला और चन्दनसे विभूषित किया ॥ ४५ ॥ फिर माताओंके लाड़पूर्वक परोसा हुआ सुस्वादु अन्न भोजन कर दोनों भाई गोष्ठमें सुन्दर शय्यापर लेटकर सुखपूर्वक सो गये ॥ ४६ ॥

वृन्दावनमें इस प्रकार विहार करते हुए भगवान् कृष्ण एक दिन बलरामजीके बिना ही अपने मित्र ग्वालबालोंको साथ लेकर यमुनातटपर गये ॥ ४७ ॥ उस समय ग्रीष्म ऋतुकी घामसे पीडित गौ और ग्वालबालोंने अत्यन्त तृषित होनेके कारण यमुनाजीका विषदूषित जल पी लिया ॥ ४८ ॥ हे कुरुनन्दन ! उस विषमिश्रित जलके पीते ही होनहारवश जिनकी बुद्धि मोहित हो गयी है वे सब गौ और ग्वाल प्राणहीन होकर जलके किनारेपर ही गिर गये ॥ ४९ ॥ उन्हें ऐसी अवस्थामें देख योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् कृष्णने अपने

१. खसौरभमक्षि० । २. मूर्च्छिता वै ।

ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान्समजीवयत् ॥५०॥
ते सम्प्रतीतस्मृतयः संमुत्थाय जलान्तिकात् ।
आसन्सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम् ॥५१॥
अन्वमंसत तद्राजन्गोविन्दानुग्रहेक्षितम् ।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥५२॥

आश्रित उन गोप और गौओंको अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे जीवित कर दिया ॥ ५० ॥ स्मृति-लाभ होनेपर वे सब किनारेपर उठ बैठे और एक-दूसरेकी ओर देखते हुए आश्चर्यचकित हो गये ॥ ५१ ॥ हे राजन् ! अन्तमें उन्होंने यही निश्चय किया कि हम जो विषपानके कारण मरकर फिर जी उठे हैं यह श्रीगोविन्दकी कृपादृष्टिहीका फल है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
धेनुकवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

सोलहवाँ अध्याय

कालियदमन।

श्रीशुक उवाच

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः ।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन्सर्पं तमुदवासयत् ॥ १ ॥

राजोवाच

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद्भगवानहिम् ।
स वै बहुयुगावासं यथासीद्विप्र कथ्यताम् ॥ २ ॥
ब्रह्मन्भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्तिनः ।
गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच

कालिन्द्यां कालियस्यासीद्ध्रदः कश्चिद्विषाग्निना।
श्रप्यमाणपया यस्मिन्पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥ ४ ॥
विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः ।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥ ५ ॥
तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कालियनागके कारण यमुनाजीके जलको दूषित हुआ देख भगवान् कृष्णने उसे शुद्ध करनेके लिये उस सर्पको वहाँसे निकाल दिया ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे विप्र ! यमुनाजीके अगाध जलमें भगवान्‌ने उस सर्पका किस प्रकार दमन किया ? और यह भी बतलाइये कि [जलचर जीव न होनेपर भी] वह सर्प अनेकों युगोंतक किस प्रकार जलमें रहा ? ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् ! सर्वव्यापी और स्वेच्छाविहारी भगवान्‌की गोपरूपसे की हुई उदार लीलारूप सुधाका सेवन करनेसे कौन तृप्त हो सकता है ? ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! यमुनाजीमें कालियनागका एक कुण्ड था जिसका जल विषकी ज्वालासे खौलता रहता था । उसमें ऊपर उड़नेवाले पक्षी झुलसकर गिर पड़ते थे ॥ ४ ॥ उसके विषयुक्त जलकी उत्ताल तरङ्गोंको छूकर बहते हुए जलकणयुक्त समीरका स्पर्श होनेसे किनारेके चर और अचर जीव मर जाते थे ॥ ५ ॥ उस प्रचण्ड वेगयुक्त विषकी शक्तिसे बलवान् कालियनागको और उसकी दूषित की हुई यमुनाको देखकर जिनका अवतार दुष्टोंका दमन

१. उत्थाय च । २. बालक्रीडायां पञ्च । ३. बादरायणिरुवाच । ४. श्रप्यमाणं पयो ।

कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्ग-
मास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद्विषोदे ॥ ६ ॥
सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेग-
संक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।
पर्यक्प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मि-
र्धावन्धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत् ॥ ७ ॥
तस्य[1] ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण-
वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य ।
आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य
चक्षुःश्रवाः समसरत्तदमृष्यमाणः ॥ ८ ॥
तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं
श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम् ।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं
सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद ॥ ९ ॥
तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाःपशुपा भृशार्ताः ।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा
दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥१०॥
गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदत्य इव तस्थिरे ॥११॥
अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः ।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥१२॥

करनेके लिये ही हुआ है वे कृष्णचन्द्र एक बहुत ऊँचे कदम्बवृक्षपर चढ़कर कमरका फेंटा कस ताल ठोंकते हुए विषैले जलमें कूद पड़े ॥ ६ ॥ पुरुषश्रेष्ठ भगवान् कृष्णके कूदनेके वेगसे जिसकी सर्पविषके कारण उछलती हुई जलराशि क्षुभित हो गयी थी, जिसमें विष मिला होनेसे बड़ी भयङ्कर लाल-पीली तरङ्गें उठ रही थीं, वह कालियदह इधर-उधर छलककर सौ धनुष (चार सौ हाथ) तक फैल गया। अनन्त बलशाली भगवान्के लिये यह कोई विचित्र बात नहीं है ॥७॥ हे प्रिय ! महान् गजराजके समान विक्रमशाली भगवान् कृष्णके उस सरोवरमें जलक्रीड़ा करनेसे उनकी भुजाओंसे टकराते हुए जलमें बड़ा घोष होने लगा। वह शब्द सुनकर और अपने स्थानका तिरस्कार देखकर कालियनाग उसे सहन न कर सका और वह तुरन्त [अपने निवास-स्थानसे निकलकर] कृष्णचन्द्रके सामने आ गया ॥८॥ उसने देखा कि एक अत्यन्त दर्शनीय, मेघके समान सुन्दर सुकुमार शरीरवाला, श्रीवत्सचिह्न और पीताम्बर-से सुशोभित, मधुर मुसकानयुक्त मनोहर मुखवाला बालक, जिसके चरण कमलकोशके समान अत्यन्त कोमल हैं, निर्भय होकर क्रीडा कर रहा है। यह देख उस सर्पने क्रोध करके श्रीकृष्णचन्द्रके मर्मस्थानोंमें काटते हुए उन्हें अपने शरीरके बन्धनसे जकड़ लिया ॥ ९ ॥

कृष्णचन्द्रको नागपाशमें बँधकर निश्चेष्ट हुए देख उनके प्रिय सखा ग्वालबालगण अत्यन्त पीडित तथा दुःख, पश्चात्ताप और भयसे मूर्च्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़े; क्योंकि उन्होंने अपने शरीर, सुहृद्, धन, स्त्री-पुत्र और कामनाएँ सब कृष्णचन्द्रको ही अर्पण कर दी थीं ॥ १० ॥ गौ, बैल और बछिया-बछड़े अत्यन्त दुःखसे डकराते हुए कृष्णचन्द्रकी ओर ही टकटकी लगाये भयभीत होकर रोते हुएके समान निश्चेष्ट होकर खड़े रहे ॥ ११ ॥

इधर, व्रजके भीतर पृथिवी, आकाश और शरीरोंमें, किसी निकट भयकी सूचना देनेवाले तीन प्रकारके अति भयङ्कर उत्पात होने लगे ॥ १२ ॥

१. तस्मिन् ह्रदे ।

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः ।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम्॥१३॥
तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः ।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः ॥१४॥
आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः ।
निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥१५॥
तांस्तथा कातरान्वीक्ष्य भगवान्माधवो बलः ।
प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥१६॥
तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः ।
भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम् ॥१७॥

उन्हें देखकर नन्दादि गोपगण यह जानकर कि आज श्रीकृष्णचन्द्र बलरामजीके बिना अकेले ही गौ चराने गये हैं, भयसे व्याकुल हो गये ॥ १३ ॥ वे भगवान्‌का प्रभाव नहीं जानते थे, इसलिये उन अपशकुनोंसे उनके मरणका अनुमान कर वे दुःख, शोक और भयसे आतुर हो गये, क्योंकि उनके प्राण और मन कृष्णमें ही वास करते थे ॥१४॥ हे प्रिय ! तब तो पशुओं (गौओं) के समान अत्यन्त वत्सल स्वभाववाले बालक, वृद्ध और स्त्रियाँ आदि समस्त व्रजवासी अत्यन्त दीन और श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनोंकी उत्कट इच्छासे उतावले होकर गोकुलसे निकले ॥ १५ ॥ उन्हें इस प्रकार आतुर देख मधुवंशमें उत्पन्न भगवान् बलरामजी मन-ही-मन हँसने लगे; क्योंकि वे अपने छोटे भाईका प्रभाव जानते थे, किन्तु उन्होंने उन व्रजवासियोंसे कुछ भी कहा नहीं ॥ १६ ॥ अपने प्यारे कृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे गोप-गोपीगण भगवल्लक्षणोंसे युक्त उनके चरण-चिह्नोंसे उनके जानेका मार्ग जानकर यमुनातटपर पहुँच गये ॥ १७ ॥

ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनि-
ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः ।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे
निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥१८॥
अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात्
कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।
गोपांश्च मूढधिषणान्परितः पशूंश्च
संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥१९॥
गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते
तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः ।
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः
शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥२०॥
ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।

हे राजन् ! वे गोपगण गौओंके जानेके मार्गमें जहाँ-तहाँ कमल, यव, अङ्कुश, वज्र और ध्वजा आदि चिह्नोंसे युक्त गोपपालक भगवान् श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको अन्य पद-चिह्नोंके बीच-बीचमें देखते हुए बहुत शीघ्रतासे चले ॥१८॥ और दूरसे ही कृष्णचन्द्रको कालियदहमें सर्प-शरीरके बन्धनमें पड़कर निश्चेष्ट हुए, ग्वालबालोंको अचेत अवस्थामें जलाशयके किनारे पड़े और सब ओर गौओंको आर्त्तस्वरसे डकराते देख अत्यन्त व्याकुल हो मूर्च्छित हो गये ॥ १९ ॥ गोपियाँ भी, जिनका भगवान् अनन्तमें अत्यन्त अनुराग था, अपने प्रियतमको सर्पके पाशमें पड़े देख, उनके सौहार्द, मुसकान, चितवन और सुमधुर वचनोंको स्मरण कर अत्यन्त सन्तप्त हुई और कृष्ण-प्यारेके बिना उन्हें सम्पूर्ण त्रिलोकी सूनी दिखायी देने लगी ॥ २० ॥ कृष्णचन्द्रकी माता यशोदाजीको अपने लालाके पीछे कुण्डमें प्रवेश करती देख उन्हींके समान दुःखिनी गोपियोंने

१. सर्वे वै । २. प्रतप्तां ।

तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥२१॥
कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन्वीक्ष्य तं ह्रदम् ।
प्रत्यषेधत्स भगवान्रामः कृष्णानुभाववित् ॥२२॥

रोक लिया और वे कृष्णचन्द्रके मुखचन्द्रकी ओर निहारती एवं शोकसे मृतकवत् होकर नेत्रोंसे आँसू बहाती श्रीव्रजजन-प्राणाधारकी कथाएँ कहने लगीं ॥ २१ ॥ कृष्ण ही जिनके प्राण हैं वे नन्दादि गोप जब दहमें घुसने लगे तो उन्हें कृष्णचन्द्रका प्रभाव जाननेवाले भगवान् बलरामजीने रोक दिया ॥ २२ ॥

इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य
सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः
स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥२३॥
तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग-
स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान्भुजङ्गः ।
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीष-
स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः ॥२४॥
तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं
द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो
बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥
एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांस-
मानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-
पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त ॥२६॥

जिनका अपने सिवा और कोई आधार नहीं है उन व्रजवासियोंको स्त्री और बालकोंके सहित अपने लिये इस प्रकार अत्यन्त व्याकुल देख, जो [लीलाके लिये ही] मनुष्यभावका अनुकरण कर रहे हैं वे कृष्णचन्द्र एक मुहूर्ततक सर्पके बन्धनमें रहकर फिर उससे निकल आये ॥ २३ ॥ जब बन्धनमें पड़े हुए भगवान् अपना शरीर फुलाने लगे तो उससे अपना शरीर अत्यन्त व्यथित हो जानेके कारण सर्पने [अपनी कुण्डली खोलकर] उन्हें छोड़ दिया और क्रोधपूर्वक फण उठाकर फुफकारें छोड़ता हुआ [भगवान्पर आघात करनेका अवसर पानेकी आशासे] उनकी ओर टकटकी लगाकर निहारने लगा । उस समय उसकी नासिकाओंसे विष निकल रहा था, उसके अचञ्चल नेत्र भाड़में तपाये हुए खपड़ेके समान लाल हो रहे थे और उसके मुखसे अग्निकी लपटें निकल रही थीं ॥ २४ ॥ तब, अपनी दो शिखावाली जिह्वासे ओठोंके किनारोंको चाटते हुए और भयङ्कर विषाग्निमयी दृष्टिवाले उस सर्पके चारों ओर भगवान् क्रीडा करते हुए गरुड़के समान निर्भय होकर चक्कर लगाने लगे और वह सर्प भी उनपर चोट करनेका अवसर देखता हुआ घूमने लगा ॥ २५ ॥ इस प्रकार घूमनेसे उसका बल क्षीण हो गया, तब सब विद्याओंके आदिगुरु भगवान् आदिनारायण उस उन्नतमस्तक सर्पको नवाकर उसके स्थूल शिरोंपर चढ़कर नृत्य करने लगे । उस समय उसके मस्तककी मणियोंका स्पर्श होनेसे भगवान्के चरण-कमल और भी अधिक अरुण वर्ण हो गये ॥ २६ ॥

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय-
गन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीत-
पुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥२७॥

भगवान्को नृत्य करनेके लिये उद्यत देख उनके सेवक गन्धर्व, सिद्ध, देवता, चारण और अप्सरा आदि प्रसन्नतापूर्वक मृदङ्ग, पणव, आनक आदि बाजे बजाकर गाने लगे तथा पुष्पोंकी वर्षा और प्रणाम करते हुए सहसा श्रीहरिके पास आये ॥ २७ ॥

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्ण-
स्तत्तन्ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्
नस्तो वमन्परमकश्मलमाप नागः ॥२८॥

हे राजन् ! कालियनागके एक सौ एक शिर थे । वह जिस शिरको नहीं झुकाता था उसीको प्रचण्ड दण्डधारी भगवान् अपने पाद-प्रहारसे कुचल डालते थे । इससे उस नागकी आयु क्षीण हो गयी, वह मुख तथा नासिकासे तीव्र रक्त वमन करता हुआ चक्कर काटने लगा और अन्तमें अत्यन्त चेतनाशून्य हो गया ॥ २८ ॥

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरस्सु
यद्यत्समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः ।
नृत्यन्पदानुनमयन्दमयाम्बभूव
पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान्पुराणः ॥२९॥

अपने नेत्रोंसे विष वमन करते तथा क्रोधवश जोर-जोरसे फुफकारें छोड़ते हुए वह अपने शिरोंमेंसे जिस-जिसको ऊँचा उठाता उसी-उसीको नृत्य करते हुए भगवान् अपने चरणोंकी ठोकरसे झुकाकर रौंद डालते थे । इस समय वे देवताओंसे पुष्पोंद्वारा पूजित होकर पुराणपुरुष भगवान् शेषशायीके समान सुशोभित हुए ॥ २९ ॥

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो
रक्तं मुखैरुरु वमन्नृप भग्नगात्रः ।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥३०॥

हे राजन् ! भगवान्के विचित्र ताण्डव नृत्यसे कालियका फणरूप छत्र छिन्न-भिन्न हो गया, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग चूर-चूर हो गये और वह अपने मुखसे रक्त वमन करने लगा । अन्तमें वह मन-ही-मन चराचरगुरु पुराणपुरुष श्रीनारायणका स्मरण करता हुआ उनकी शरणमें गया ॥ ३० ॥

कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं
पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रम् ।
दृष्ट्वाहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य
आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥३१॥

सम्पूर्ण विश्व जिनके गर्भमें है उन श्रीकृष्णचन्द्रके भारी भारसे कालियनागको श्रमित और उसके छत्रसदृश फणोंको उनकी एड़ियोंकी चोटसे छिन्न-भिन्न हुए देख उसकी पत्नियाँ अत्यन्त आर्त्त होकर आदिपुरुष भगवान् कृष्णके पास आयीं । उस समय आतुरतावश उनके वस्त्र, आभूषण और केशपाश शिथिल हो रहे थे ॥३१॥

तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः
कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः ।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्तु-
र्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥३२॥

उन साध्वी नागपत्नियोंने अपने बालकोंको आगे कर अत्यन्त उद्विग्नचित्तसे पृथिवीपर लोटकर निखिल भूतपति भगवान्को प्रणाम किया, और अपने अपराधी पतिको बन्धन-मुक्त करानेकी इच्छासे हाथ जोड़कर आश्रयदाता श्रीहरिकी शरणमें गयीं ॥ ३२ ॥

नागपत्न्य ऊचुः

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिं-
स्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे-
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥३३॥

नागपत्नियाँ बोलीं—भगवन् ! इस अपराधीको आपने दण्ड दिया सो उचित ही है, क्योंकि आपका अवतार दुष्टोंका दमन करनेके लिये ही हुआ है । किन्तु शत्रु और पुत्र दोनोंहीपर आपकी दृष्टि समान है; इसलिये पापका प्रायश्चित्त समझकर ही आप अपने शत्रुओंको दण्ड देते हैं । [यह भी उनपर आपका अनुग्रह ही है] ॥३३॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'तस्याक्षिभिर्गरल०......' से लेकर '......मनसा जगाम' तक पूरे दो श्लोक नहीं हैं ।

अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद्दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥३४॥

तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं
निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया
यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥३५॥

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो
विहाय कामान्सुचिरं धृतव्रता ॥३६॥

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥३७॥

तदेष नाथाप दुरापमन्यै-
स्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो
यदिच्छतः स्याद्विभवः समक्षः ॥३८॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥३९॥

ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अगुणायाविकाराय नमस्ते प्राकृताय च ॥४०॥

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥४१॥

भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥४२॥

आपका दण्ड दुष्टजनोंके पापोंको नष्ट करनेवाला है; और इस प्राणीको जो यह सर्पयोनि मिली है इससे इसका पाप तो प्रत्यक्ष ही है । अतः आपने हमपर यह कृपा ही की है, हम तो आपके क्रोधको भी अनुग्रह ही समझती हैं ॥ ३४ ॥ इसने पूर्वजन्ममें मानरहित होकर दूसरोंका मान करते हुए ऐसा कौन भारी तप किया है ? अथवा सब जीवोंपर दया करते हुए ऐसा क्या धर्म किया है ? जिससे आप सर्वात्मा इसपर सन्तुष्ट हुए हैं ॥३५॥ हे देव ! हम नहीं जानतीं कि यह इसके किस कर्मका प्रभाव है, जिससे इसे आपकी चरणरजके स्पर्शका अधिकार प्राप्त हुआ जिसके लिये स्त्री होकर भी लक्ष्मीजीने सब कामनाएँ छोड़कर दीर्घकालतक कठोर तपस्या की थी ॥ ३६ ॥ अहो ! आपकी चरणरजकी शरणमें आये हुए भक्तजन तो स्वर्गलोक, सार्वभौम साम्राज्य, ब्रह्मपद, पृथिवीतलका आधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ अथवा कैवल्यमोक्ष आदि किसी भी महान् फलकी इच्छा नहीं करते ॥ ३७ ॥ हे नाथ ! यह नागराज अत्यन्त क्रोधी और तमोगुणी योनिमें उत्पन्न हुआ है; तथापि इसे आपकी वह परम पवित्र चरणरज प्राप्त हुई जो दूसरोंके लिये दुर्लभ है और जिसकी इच्छामात्रसे संसारचक्रमें भ्रमते हुए जीवको सम्पूर्ण विभव प्राप्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

प्रभो ! हम आपको प्रणाम करती हैं । आप षडैश्वर्यपूर्ण, सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान, महात्मा, सम्पूर्ण भूतोंके आश्रयस्थान, सर्वभूत-स्वरूप, प्रकृतिसे अतीत और परमात्मा हैं ॥ ३९ ॥ आप ज्ञान और विज्ञानके निधान, प्रकृतिके प्रवर्तक, निर्गुण और निर्विकार, अनन्तशक्ति ब्रह्म हैं; हम आपको प्रणाम करती हैं ॥ ४० ॥ आप काल, कालशक्तिके आश्रय और कालके अंगभूत सृष्टिप्रलयादि समयोंके साक्षी हैं; आप ही सम्पूर्ण विश्व, विश्वके साक्षी, विश्वकर्ता और विश्वके कारण हैं ॥ ४१ ॥ पञ्चभूत, भूततन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि और चित्त—ये सब आप ही हैं । त्रिगुणात्मक अभिमानके द्वारा आपने अपने आत्मानुभवको छिपा रखा है ॥४२॥

नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥४३॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥४४॥
नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥४५॥
नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥४६॥
अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने ॥४७॥
परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे ॥४८॥

आप अनन्त, सूक्ष्म, उपाधिकृत विकारसे रहित और सर्वज्ञ हैं । आप ही अस्ति, नास्ति, सर्वज्ञ, अल्पज्ञ आदि नाना प्रकारके मतमतान्तरोंका अनुवर्तन करते हैं तथा शब्द और अर्थ भी आपहीकी शक्तियाँ हैं; हम आपको नमस्कार करती हैं ॥ ४३ ॥ आप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके मूल, स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् और शास्त्रके उत्पत्तिस्थान हैं तथा आप ही विधि-निषेधरूप वेदभगवान् हैं; आपको बारम्बार नमस्कार है ॥४४॥ जो आप शुद्धसत्त्वमय वसुदेवके पुत्र (वासुदेव) संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं ऐसे आप सात्वतों (भक्तों अथवा यादवों) के स्वामी श्रीकृष्णको हम नमस्कार करती हैं ॥ ४५ ॥ आप अन्तःकरण-चतुष्टयरूप गुणोंके प्रकाशक, अपने स्वरूपको गुणोंसे आच्छादित कर विभिन्न रूपोंसे प्रकट होनेवाले, अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे उपलक्षित तथा उन वृत्तियोंके साक्षी और स्वयंप्रकाश हैं । हम आपको नमस्कार करती हैं ॥४६॥ हे हृषीकेश ! आपकी लीला जाननेमें नहीं आती, सम्पूर्ण व्यक्त वस्तुएँ आपहीसे सिद्ध होती हैं, आप आत्माराम हैं, आत्मामें रमण करना ही आपका स्वभाव है; आपको हमारा नमस्कार है ॥४७॥ आप स्थूल-सूक्ष्म समस्त गतियोंके जाननेवाले, सबके साक्षी, [अपवादसे] विश्वरहित और [आरोपसे] विश्वरूप तथा विश्वके साक्षी और उसके कारण हैं; आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ ४८ ॥

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान्प्रभो
गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक् ।
तत्तत्स्वभावान्प्रतिबोधयन्सतः
समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥४९॥
तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां
शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां
स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥५०॥

हे प्रभो ! आप निष्क्रिय होकर भी अपनी कालशक्तिको धारण कर प्रकृतिके गुणोंद्वारा संसारकी उत्पत्ति, स्थिति आदिके कर्ता हैं । तथा अमोघ लीलाएँ करनेवाले आप जीवोंके संस्काररूपसे वर्तमान स्वभावोंको अपनी इच्छाशक्तिसे जाग्रत् कर क्रीडाएँ किया करते हैं ॥ ४९ ॥ त्रिलोकीमें जो शान्त (सात्त्विक) अशान्त (राजस) और मूढ (तामस) योनियाँ हैं वे सब आपहीकी क्रीडासामग्री हैं । इस समय आपने साधुजनोंकी रक्षाके लिये ही अवतार लिया है और उनके धर्मकी रक्षा करनेके लिये ही आप चेष्टा कर रहे हैं; अतः आपको शान्त योनियाँ ही प्रिय हैं ॥ ५० ॥

१. का० ।

अपराधः सकृद्भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन्मूढस्य त्वामजानतः ॥५१॥
अनुगृह्णीष्व भगवन्प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥
विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन्वै मुच्यते सर्वतोभयात् ॥५३॥

प्रभो ! अपनी प्रजाका किया पहला अपराध तो स्वामीको सहना ही चाहिये । हे शान्तात्मन् ! यह सर्प मूढबुद्धि है, आपको नहीं जानता; अतः इसका अपराध क्षमा कीजिये ॥ ५१ ॥ देखिये, यह सर्प अब प्राण त्यागना चाहता है । भगवन् ! इसपर कृपा कीजिये । साधु पुरुषोंकी दयापात्र हम अबला स्त्रियोंको हमारा प्राणरूप पति दीजिये ॥ ५२ ॥ हम आपकी दासियाँ हैं; हमें आज्ञा दीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें, क्योंकि श्रद्धापूर्वक आपकी सेवा करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण भयोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

श्रीशुक उवाच[1]

इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान्समभिष्टुतः ।
मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥५४॥
प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम् ।
कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन्दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥५५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—नागपत्नियोंके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान्ने अपने चरणोंकी ठोकरोंसे जिसके फण छिन्न-भिन्न कर दिये थे और जो चेतनाशून्य हो रहा था उस कालियको छोड़ दिया ॥५४॥ फिर धीरे-धीरे प्राणलाभ होनेसे कुछ सचेत होनेपर कालियने बड़ी कठिनतासे दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बड़ी दीनतासे हाथ जोड़कर भगवान् कृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ ५५ ॥

कालिय उवाच[2]

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः ॥५६॥
त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।
नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥५७॥
वयं च तत्र भगवन्सर्पा जात्युरुमन्यवः ।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम् ५८
भवान्हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः ॥५९॥

कालिय बोला—हे नाथ ! हम जन्मसे ही बड़े दुष्ट, तमोगुणी और महाक्रोधी हैं और स्वभाव सभी जीवोंके लिये मिथ्या अभिनिवेशके समान अत्यन्त दुस्त्यज है ॥ ५६ ॥ हे विधातः ! आपने इस जगत्को गुण-विभागसे नाना प्रकारके स्वभाव, वीर्य, बल, योनि, बीज, चित्त और आकारवाला रचा है ॥ ५७ ॥ भगवन् ! आपकी सृष्टिमें हम सर्पगण जन्मसे ही बड़े क्रोधी होते हैं । हम मोहित जीव आपकी दुस्त्यज मायाको स्वयं कैसे छोड़ सकते हैं ? ॥५८॥ आप सर्वज्ञ और सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं, आप ही हमें उस मायासे छुड़ा सकते हैं । अब कृपा या दण्ड जैसी आपकी इच्छा हो वही करें ॥ ५९ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान्कार्यमानुषः ।
नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कालियके ये वचन सुनकर लीलामानव भगवान् कृष्णने कहा—"सर्प ! अब तुझे यहाँ न रहना चाहिये । तू शीघ्र ही

१. बादरायणिरुवाच । २. प्राचीन प्रतिमें 'कालिय उवाच' यह अंश नहीं है ।

स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥६०॥

य एतत्संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम् ।

कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात् ॥६१॥

योऽस्मिन्स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः[1] ।

उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६२॥

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः ।

यद्भयात्स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पदलाञ्छितम् ॥६३॥

अपने जातिबन्धु, पुत्र और स्त्रियोंके सहित यहाँसे समुद्रको चला जा जिससे इस यमुना नदीके जलका गौ और मनुष्य उपभोग कर सकें॥ ६० ॥ जो मनुष्य मुझसे तुम्हें प्राप्त हुए इस दमन एवं आदेशकी कथाका दोनों समय स्मरण तथा कीर्तन करेगा उसे तुम सर्पोंसे कभी भय न होगा ॥ ६१ ॥ जो मेरे क्रीडास्थल इस कालियदहमें स्नान कर देवता-पितर आदिका जलसे तर्पण करेगा और उपवास तथा ध्यान करता हुआ मेरा पूजन करेगा वह सब पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ ६२ ॥ जिसके भयसे तूने रमणक द्वीपको छोड़कर इस कुण्डका आश्रय लिया है वह गरुड अब मेरे चरणचिह्नोंसे अङ्कित देखकर तुझे भक्षण नहीं करेगा" ॥ ६३ ॥

श्रीशुक उवाच[2]

एवमुक्तो[3] भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥६४॥
दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः ।
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥६५॥
पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ।
ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम् ॥६६॥
सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह ।
तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् ।
अनुग्रहाद्भगवतः क्रीडामानुषरूपिणः ॥६७॥

श्रीशुकदेवजी बोले—अद्भुतकर्मा भगवान् कृष्णके इस प्रकार कहनेपर कालिय और उसकी पत्नियोंने अति प्रसन्न होकर उनका दिव्य वस्त्र, माला, मणि और महामूल्य आभूषणोंसे तथा दिव्यगन्धमय चन्दनादि लेपों और अत्युत्तम कमलमालाओंसे आदरपूर्वक पूजन किया ॥ ६४-६५ ॥ कालियने गरुडध्वज भगवान् जगन्नाथकी इस प्रकार पूजा कर उन्हें प्रसन्न किया और फिर उनकी आज्ञा पा प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌की परिक्रमा और वन्दना कर पुत्र, मित्र और कलत्रोंके सहित समुद्रके मध्यमें स्थित रमणक द्वीपको चला । तभीसे लीलामानव भगवान् कृष्णके अनुग्रहसे यमुनाजी विषहीन होकर अमृतके समान स्वादुजलमयी हो गयीं ॥ ६६-६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे कालियमोक्षणं नाम
षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

१. योऽस्यां स्नात्वा महानद्यां देवा० । २. ऋषिरुवाच । ३. मुक्तो भगवता राजन् कृष्णे० ।

सतरहवाँ अध्याय

कालियके कालियदहमें आनेकी कथा तथा भगवान्‌का व्रजवासियोंको दावानलसे बचाना ।

राजोवाच

नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः ।
कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच[1]

उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः ।
वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ्निरूपितः ॥ २ ॥
स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि ।
गोपीथायात्मनः सर्वे सुपर्णाय महात्मने ॥ ३ ॥
विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः ।
कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बलिम् ॥ ४ ॥
तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन्भगवान्भगवत्प्रियः ।
विजिघांसुर्महावेगः कालियं समुपाद्रवत् ॥ ५ ॥
तमापतन्तं तरसा विषायुधः
प्रत्यभ्ययादुच्छ्रितनैकमस्तकः ।
दद्भिः सुपर्णं व्यदशद्ददायुधः
करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः ॥ ६ ॥
तं तार्क्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युमान्
प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः ।
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा
जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः ॥ ७ ॥
सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः ।
ह्रदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥ ८ ॥
तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम् ।
निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत् ॥ ९ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! कालियने सर्पोंके निवासस्थान रमणक द्वीपको क्यों छोड़ा था ? उस अकेलेने ही गरुडका कौन-सा अप्रिय कार्य किया था ? ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे महाबाहो ! पहले गरुडके भक्ष्य सर्पोंने एक-एक मासमें वृक्षके नीचे गरुडको एक सर्पकी बलि देनेका जो नियम किया था ॥ २ ॥ उसके अनुसार प्रत्येक अमावास्याको सब सर्प अपनी रक्षाके लिये महात्मा गरुडको अपना-अपना भाग देते रहते थे* ॥ ३ ॥ किन्तु विषके बलसे उन्मत्त कद्रूपुत्र कालियनाग गरुडको तुच्छ समझकर उसके भागको स्वयं खा जाता ॥४॥ हे राजन् ! यह सुनकर भगवान्‌के प्रिय पार्षद महात्मा गरुडने अत्यन्त कुपित होकर कालियको मारनेके लिये उसपर बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥५॥

गरुडजीको बड़े वेगसे आते देख विष और दाँत ही जिसके शस्त्र हैं वह कराल जिह्वा और फैलाये हुए उग्र नयनोंवाला कालियनाग अपने अनेक मस्तकोंको उठाकर उनकी ओर बढ़ा और दाँतोंसे उन्हें काटने लगा ॥ ६ ॥ तब भगवान् मधुसूदनके वाहन प्रचण्डवेगशाली उग्रपराक्रमी तार्क्ष्यपुत्र गरुडजीने कद्रूपुत्र कालियको अपने शरीरसे अलग हटा कर अपने सुवर्ण-वर्ण दायें पंखसे क्रोधपूर्वक उसपर आघात किया ॥ ७ ॥ गरुडजीके पंखकी चोटसे कालिय अत्यन्त विह्वल होकर यमुनाजीके कुण्डमें चला गया, जो गरुडजीके लिये अगम्य और अत्यन्त गम्भीर होनेके कारण अन्य पुरुषोंके लिये भी दुर्गम था ॥८॥ [इस विषयमें यह इतिहास प्रसिद्ध है—] एक बार वहाँ सौभरि ऋषिके बहुत कुछ मना करनेपर भी गरुडजीने अत्यन्त भूखे होनेके कारण अपनी इच्छित रुचिके अनुकूल भक्ष्यरूप एक मत्स्यको बलात्कारसे खा लिया ॥ ९ ॥

---

१. बादरायणिरुवाच ।

* यह कथा इस प्रकार है—गरुडजीकी माता विनता और सर्पोंकी माता कद्रूमें परस्पर वैर था । माताका वैर स्मरण कर गरुडजी जो सर्प मिलता उसीको खा जाते । इससे व्याकुल होकर सब सर्प ब्रह्माजीकी शरणमें गये । तब ब्रह्माजीने यह नियम कर दिया कि प्रत्येक अमावास्याको प्रत्येक सर्पपरिवार बारी-बारीसे गरुडजीको एक सर्पकी बलि दिया करे ।

मीनान्सुदुःखितान्दृष्ट्वा दीनान्मीनपतौ हते[1] ।
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन् ॥१०॥
अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान्स खादति ।
सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम् ॥११॥
तं कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः ।
अवात्सीद्गरुडाद्भीतः कृष्णेन च विवासितः ॥१२॥
कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम् ।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥१३॥
उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः ।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ॥१४॥
यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव ।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँल्लब्धमनोरथाः ॥१५॥
रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित् ।
नगा[2] गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम् ॥१६॥
नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः ।
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः॥१७॥
देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे ।
नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत् ॥१८॥
यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ॥१९॥
तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः ।
ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः ॥२०॥
तदा शुचिवनोद्भूतो[3] दावाग्निः सर्वतो व्रजम् ।

उस मत्स्यराजके मारे जानेसे अन्य मछलियोंको अत्यन्त दीन और व्याकुल देख दयावश उस कुण्डमें रहनेवाले अन्य जीवोंकी कुशलताके लिये महर्षि सौभरिने कहा—॥ १० ॥ "मैं यह सत्य कहता हूँ कि यदि गरुड इस कुण्डमें घुसकर मछलियोंको खायगा तो तुरन्त ही प्राणहीन हो जायगा" ॥ ११ ॥ इस बातको कालियके सिवा और कोई सर्प नहीं जानता था । इसलिये वह गरुडके भयसे वहाँ रहने लगा और इस समय श्रीकृष्णचन्द्रने उसे वहाँसे निकाल दिया ॥१२॥

हे राजन् ! इधर कृष्णचन्द्रको दिव्य माला, गन्ध, वस्त्र, महामूल्य मणिगण और सुवर्णमय आभूषणों-से विभूषित हो उस कुण्डसे बाहर आते देख सम्पूर्ण व्रजवासी इस प्रकार उठ खड़े हुए जैसे प्राणोंको पाकर इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं और सभी गोप आनन्दपूर्ण चित्तसे प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌का आलिङ्गन करने लगे ॥१३-१४॥ हे कुरुनन्दन ! यशोदा, रोहिणी, नन्द, गोपी और गोप सभी श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलकर सफलमनोरथ हो सचेत हो गये ॥ १५ ॥ उस समय भगवान्‌का प्रभाव जाननेवाले श्रीबलरामजी भी उनका आलिङ्गन कर हँसने लगे तथा पर्वत, गौ, बैल और बछड़ोंको भी अपार आनन्द हुआ ॥ १६॥ फिर गोपोंके कुलगुरु ब्राह्मणोंने अपनी पत्नियोंके सहित नन्दजीके पास आकर कहा—"नन्दजी, तुम्हारे बड़े भाग्य हैं जो तुम्हारा बालक कालियसे पकड़ा जाकर भी छूटकर आ गया॥ १७॥ कृष्णके प्राण बच गये इसलिये आप ब्राह्मणोंको दान दीजिये।" हे राजन् ! तब नन्दजीने प्रसन्न होकर ब्राह्मणोंको गौ और सुवर्ण दान किया ॥ १८ ॥ महाभागा यशोदाजी भी अपने मृत्युके मुखसे लौटे हुए लालको गोदमें ले आलिङ्गन-कर बारम्बार आँसू बहाने लगीं ॥ १९ ॥

हे राजेन्द्र ! सब व्रजवासी और गौएँ भूख-प्यास तथा श्रमके कारण अति दुर्बल हो रहे थे । इसलिये उस रात वे वहीं यमुनातटपर रह गये ॥२०॥ तब आधी रातके समय ग्रीष्म ऋतुके सूखे हुए वनमें लगा हुआ दावानल

१. हते । २. गावो वृषा सवत्साश्च । ३. द्भुतदावा० ।

सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे ॥२१॥
तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः ।
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम् ॥२२॥
कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम ।
एष घोरतमो वह्निस्तावकान्ग्रसते हि नः ॥२३॥
सुदुस्तरान्नः स्वान्पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो ।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम् ॥२४॥
इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः ।
तमग्निमपिबत्तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥२५॥

सोये हुए व्रजवासियोंको सब ओरसे घेरकर जलाने लगा ॥२१॥ उससे दग्ध होते हुए सब व्रजवासी घबड़ाकर उठ खड़े हुए और मायामानवरूप भगवान् कृष्णकी शरणमें गये ॥२२॥ तथा कहने लगे—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाभाग ! हे अमितविक्रम बलराम ! देखिये यह महाभयङ्कर अग्नि आपके स्वजन हम सबको भस्म किये देता है ॥२३॥ प्रभो ! हम आपके सुहृद् हैं, अतः इस दुस्तर कालानलसे हमारी रक्षा कीजिये । हम आपके अकुतोभय चरणोंको नहीं त्याग सकते" ॥२४॥ अपने जनोंकी ऐसी व्याकुलता देख अनन्तशक्तिधारी जगत्पति भगवान् कृष्ण उस अग्निको पी गये ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
दावाग्निमोचनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अठारहवाँ अध्याय

प्रलम्बासुरवध ।

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः ।
अनुगीयमानो न्यविशद्व्रजं गोकुलमण्डितम् ॥ १ ॥
व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया ।
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम् ॥ २ ॥
स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः ।
यत्रास्ते भगवान्साक्षाद्रामेण सह केशवः ॥ ३ ॥
यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम् ।
शश्वत्तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम् ॥ ४ ॥
सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना
कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो
निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तदनन्तर श्रीकृष्णचन्द्रने अपने प्रसन्नचित्त सजातीय गोपोंसे घिरकर उनके मुखसे अपना सुयश सुनते हुए गौओंसे पूर्ण व्रजमें प्रवेश किया ॥ १ ॥ इस प्रकार बलराम और श्रीकृष्ण—दोनों भाइयोंके मायामय गोपालवेषसे व्रजमें क्रीडा करते समय ग्रीष्म ऋतु आ गयी, जो प्राणियोंको कुछ अधिक प्रिय नहीं होती ॥ २ ॥ किन्तु जहाँ बलदेवजीके सहित साक्षात् भगवान् कृष्णचन्द्र विहार करते हैं उस वृन्दावनके अपने गुणोंके कारण वह वसन्तऋतु-सी जान पड़ती थी ॥ ३ ॥ जिस वृन्दावनमें झरनोंके कलकल नादसे झिल्लियोंका झनकार दब गया था और जो भूमि झरनोंसे निरन्तर उड़ते हुए जलकणोंके कारण आर्द्र वृक्षोंसे पूर्ण थी ॥ ४ ॥ उस अत्यन्त हरित तृणपूर्ण भूमिमें वनवासी लोगोंको भी नदी, सरोवर और झरनोंकी तरङ्गोंसे मिलकर बहनेवाले तथा कह्लार, कमल और उत्पलके परागको हरनेवाले वायुके चलनेसे घाम, अग्नि अथवा सूर्यका कोई ताप नहीं होता था ॥ ५ ॥

१. तरो । २. बालक्रीडायां दावाग्निमोक्षणं ।

अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभि-
द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समं ततः ।
न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा
भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णते ॥ ६ ॥

वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम् ।
गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ॥ ७ ॥
क्रीडिष्यमाणस्तत्कृष्णो भगवान्बलसंयुतः ।
वेणुं विरणयन्गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत् ॥ ८ ॥

प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूषणाः ।
रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥ ९ ॥

कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन् ।
वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ॥१०॥

गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः ।
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटान् नृप ॥११॥

भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः ।
चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित् ॥१२॥

क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् ।
शशंसतुर्महाराज साधुसाध्विति वादिनौ ॥१३॥

क्वचिद्बिल्वैः क्वचित्कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः ।
अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया ॥१४॥

क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः ।
कदाचित्स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया ॥१५॥

वहाँकी अगाध जलवाली नदीके तटपर लहरानेवाली तरङ्गोंसे पुलिनसहित गीले कीचड़वाली भूमिकी आर्द्रता और [वहाँ जमे हुए तृणोंकी] हरियालीको सूर्यकी विषके समान तीखी किरणें भी सुखा नहीं सकती थीं ॥ ६ ॥ इस प्रकार जहाँ अत्यन्त सुन्दर चित्र-विचित्र मृग और पक्षी सुशोभित हैं तथा जो गान करते हुए मयूर और भ्रमर एवं मनोहर शब्द करते हुए कोकिल और सारसादि पक्षियोंसे पूर्ण है उस खिले हुए पुष्पोंसे युक्त वृन्दावनमें विहार करनेकी इच्छासे श्रीकृष्णचन्द्रने भगवान् बलरामजीके सहित गोप और गौओंसे घिरकर मधुर मुरली बजाते हुए प्रवेश किया ॥७-८॥

तदनन्तर राम और कृष्ण आदि समस्त गोपगण अपने शरीरोंको मूँगा, मयूरपिच्छ, फूलोंके गुच्छों, मालाओं और गेरू आदि धातुओंसे विभूषित कर नाचने, गाने और मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ९ ॥ कृष्णचन्द्रके नाचते समय कोई बालक गाने लगते, कोई वंशी, ताली अथवा नरसिंगा बजाने लगते और कोई उनकी प्रशंसा करने लगते ॥ १० ॥ हे राजन् ! नट जैसे दूसरे नटोंकी प्रशंसा करते हैं वैसे ही गोपजातिमें अवतीर्ण होकर छिपे हुए गोपवेषधारी देवगण श्रीकृष्ण-बलदेवकी स्तुति करते थे ॥ ११ ॥ जिन्होंने शिरपर काकपक्ष (कुल्ले) धारण किये हैं वे कृष्ण और बलराम समय-समयपर घूमते, लाँघते, (कन्दुक आदि) फेंकते, ताल ठोकते, एक-दूसरेको खींचते और परस्पर मल्लयुद्ध करते हुए क्रीडा करने लगे ॥ १२ ॥ हे महाराज ! वे कभी तो दूसरोंके नाचनेपर स्वयं गाने-बजाने लगते और कभी 'वाह ! वाह !' कहकर उसकी प्रशंसा करने लगते ॥ १३ ॥ कभी एक-दूसरेपर बेल, कुम्भ या आँवलेके फल मुट्ठीमें लेकर फेंकनेसे, कभी आँखमिचौनी तथा दौड़कर छूनेवाले बालकसे दूर भागकर न छुलाये जानेसे और कभी मृग एवं पक्षियोंकी चेष्टाओंकी नकल करने आदि खेलोंसे खेलते ॥ १४ ॥ कभी मेंढकोंके समान उछल-उछलकर चलने, कभी नाना प्रकारके उपहास करने, कभी दूसरे बालकोंकी भुजाओंकी डोली बनाकर उसपर झूलने और कभी राजाकी नकल करने आदि उपायोंसे खेलते ॥१५॥

एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने ।
नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरस्सु च ॥१६॥

इस प्रकार अनेकों लोकप्रसिद्ध खेल करते हुए राम और कृष्ण वृन्दावनके नदी, पर्वत, कन्दरा, कुञ्ज, वन और सरोवरोंमें विचरा करते थे ॥१६॥

पशूंश्चारयतो गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः ।
गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिहीर्षया ॥१७॥

तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान्सर्वदर्शनः ।
अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन् ॥१८॥

एक दिन जब बलराम और कृष्ण अन्य गोपोंके साथ उस वनमें गौएँ चरा रहे थे उस समय उन्हें हर ले जानेकी इच्छासे वहाँ प्रलम्बासुरनामक दैत्य गोप-वेष धारण कर आया ॥१७॥ सर्वद्रष्टा श्रीयदुनाथ उसे पहचान गये; तो भी उसे मारनेका विचार करते हुए उन्होंने उसे अपने साथियोंमें मिला लेनेकी अनुमति दे दी ॥१८॥

तत्रोपाहूय गोपालान्कृष्णः प्राह विहारवित् ।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ॥१९॥

तदनन्तर क्रीडाकुशल भगवान् कृष्णने सब गोपोंको बुलाकर कहा—"हे ग्वालबालो ! अब हम यथायोग्य दो दल बनाकर खेलेंगे" ॥१९॥

तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ ।
कृष्णसंघट्टिनः केचिदासन्रामस्य चापरे ॥२०॥

तब गोपोंने राम और कृष्णको दोनों दलोंका मुखिया बनाया और उनमेंसे कुछ कृष्णचन्द्रके दलमें तथा कुछ बलरामजीके दलमें हो गये ॥२०॥

आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः ।
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ॥२१॥

फिर जिनमें एक दल दूसरे दल-को अपनी पीठपर चढ़ाकर एक निर्दिष्ट स्थानतक ले जाता था ऐसे बहुत-से खेल किये । उन खेलोंमें जीतनेवाला दल चढ़ता था और हारनेवाला चढ़ाता था ॥२१॥

वहन्तो वाह्यमानाश्च[1] चारयन्तश्च गोधनम् ।
भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः ॥२२॥

इस प्रकार एक-दूसरेकी पीठपर चढ़ते-चढ़ाते वे कृष्ण आदि समस्त गोपगण गौएँ चराते हुए भाण्डीरक वटके पास पहुँच गये ॥२२॥

रामसङ्घट्टिनो यर्हि श्रीदामवृषभादयः ।
क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप ॥२३॥

हे राजन् ! एक बार जब बलरामजीके दलवाले श्रीदामा और वृषभ आदि बालक खेलमें जीते तो उन्हें कृष्ण आदि गोप अपनी पीठपर चढ़ाकर ले चले ॥२३॥

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥२४॥

हारे हुए भगवान् श्रीकृष्णने श्रीदामाको, भद्रसेनने वृषभको और प्रलम्बने बलरामजीको चढ़ाया ॥२४॥

अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः ।
वहन्द्रुततरं प्रागादवरोहणतः[2] परम् ॥२५॥

प्रलम्बासुर कृष्णचन्द्रको असह्य समझकर बलरामजीको लेकर बड़ी तेजीसे चला और पीठसे उतारनेके लिये निश्चित स्थानसे भी आगे निकल गया ॥ २५ ॥

तमुद्वहन्धरणिधरेन्द्रगौरवं
महासुरो विगतरयो निजं वपुः ।
स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ
तडिद्द्युमानुडुपतिवाडिवाम्बुदः ॥२६॥

पृथिवीको धारण करनेवाले अनन्तदेवके भारी भारको ले जानेसे उस महादैत्यका वेग धीमा पड़ गया और उसने अपना स्वाभाविक स्वरूप धारण कर लिया । उसके श्याम शरीरपर सुवर्णमय आभूषण थे; उनके कारण वह ऐसा मालूम होता था मानो विद्युद्दाममण्डित श्याम मेघ चन्द्रमाको धारण किये हुए हो ॥ २६ ॥

१. गर्जमानाश्च । २. प्रायाद० ।

निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चर-
त्प्रदीप्तदृग्भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डल-
त्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत् ॥२७॥

जिसके नेत्र अत्यन्त प्रज्वलित, दाढ़ें भ्रुकुटितटतक पहुँची हुई एवं अत्यन्त भयानक और केश अग्नि-शिखाके समान अरुणवर्ण थे तथा जो कटक, किरीट और कुण्डलोंकी कान्तिसे अति अद्भुत जान पड़ता था ऐसे उसके शरीरको बड़े वेगसे आकाशमें जाते देख पहले तो श्रीबलरामजी कुछ भयभीत-से हो गये ॥२७॥

अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो
विहाय सार्थमिव हरन्तमात्मनः ।
रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना
सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा ॥२८॥

फिर सावधान होनेपर उनका भय जाता रहा, उन्होंने देखा कि यह शत्रु धनको चुराकर ले जानेकी भाँति मुझे आकाशमार्गसे ले जा रहा है। तब उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर इन्द्रने जैसे पर्वतोंपर वज्रप्रहार किया था वैसे ही उसके शिरपर एक घूँसा कसकर मारा ॥२८॥

स[1] आहतः सपदि विशीर्णमस्तको
मुखाद्वमन्रुधिरमपस्मृतोऽसुरः ।
महारवं व्यसुरपतत्समीरयन्
गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः ॥२९॥

बलभद्रजीका घूँसा लगते ही उसका शिर फट गया, वह मुखसे रक्त वमन करने लगा, उसकी चेतना जाती रही और वह बड़ा भयंकर शब्द करता हुआ इन्द्रवज्रसे आहत पर्वतके समान तुरन्त ही मरकर पृथिवीपर गिर पड़ा ॥२९॥

दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना ।
गोपाः सुविस्मिता आसन्[2]साधुसाध्विति वादिनः ॥३०॥

बलशाली बलरामजीके हाथसे प्रलम्बासुरको मरा हुआ देख समस्त गोपगण अत्यन्त विस्मित हुए और उन्हें बार-बार साधुवाद देने लगे ॥३०॥

आशिषोऽभिगृणन्तस्तं प्रशशंसुस्तदर्हणम् ।
प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः ॥३१॥

वे प्रशंसाके योग्य बलरामजीको आशीर्वाद देते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे और मृत्युके मुखसे लौटे हुएके समान उनसे गले मिले। उस समय उनका चित्त प्रेमसे विह्वल हो गया ॥३१॥

पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः ।
अभ्यवर्षन्बलं माल्यैः शशंसुः साधुसाध्विति ॥३२॥

पापी प्रलम्बासुरके मारे जानेसे देवता लोग परम आनन्दित हुए और बलरामजी-पर फूलोंकी वर्षा करते हुए साधु-साधु कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[3]
प्रलम्बवधो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'स आहतः······' इत्यादि पूर्वार्धका पाठ यों है—स एव दैत्योऽथ विशीर्णशीर्षो मुखाद्वमन् रुधिर-वध्यतासुरः । २. सन्नसाधुं साधुरूपिणम् ।३. बालक्रीडायामष्टा० ।

उन्नीसवाँ अध्याय

गौ और गोपोंको दावानलसे बचाना।

श्रीशुक उवाच[1]

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः।
स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥ १ ॥
अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद्वनम्।
इषीकाटवीं निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः[2] ॥ २ ॥
तेऽपश्यन्तः पशून्गोपाः कृष्णरामादयस्तदा[3]।
जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥ ३ ॥
तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम्[4]।
मार्गमन्वगमन्सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः ॥ ४ ॥
मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं[5] क्रन्दमानं स्वगोधनम्।
सम्प्राप्य तृषिताः श्रान्तास्ततस्ते संन्यवर्तयन् ॥ ५ ॥
ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा।
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः ॥ ६ ॥
ततः समन्ताद्वनधूमकेतु-
र्यदृच्छयाभूत्क्षयकृद्वनौकसाम्।
समीरितः सारथिनोल्बणोल्मुकै-
र्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान्महान् ॥ ७ ॥
तमापतन्तं परितो दवाग्निं
गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना
यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥ ८ ॥
कृष्ण कृष्ण महावीर हे रामा[6]मितविक्रम।

श्रीशुकदेवजी बोले—तदनन्तर गोपगण खेल-कूदमें लग गये। उस समय [किसीकी रोक-टोक न होनेसे] उनकी गौएँ स्वच्छन्दतापूर्वक चरती हुई हरी-हरी घासके लोभसे एक गहन वनमें बहुत दूर निकल गयीं ॥ १ ॥ उनकी बकरी, गौ और भैंसें एक वनसे दूसरे वनमें जाती और गर्मीके तापसे तृषित होकर डकराती हुई अन्तमें सींकोंके वनमें चली गयीं ॥ २ ॥ पशुओंके न दीखनेसे राम-कृष्ण आदि गोप अत्यन्त दुःखी हुए और इधर-उधर बहुत-कुछ ढूँढनेपर भी गौओंका पता न लगा सके ॥ ३ ॥ अपनी आजीविकाके नष्ट हो जानेसे वे अचेत-से हो रहे थे। अतः गौओंके खुर और दाँतोंसे छिन्न-भिन्न हुए तृणों और पृथिवीपर बने हुए खुरोंसे उनके मार्गको पहचानते हुए वे आगे बढ़े ॥ ४ ॥ अन्तमें अपने गोधनको मार्ग भूल जानेके कारण मुञ्जवनमें डकराते हुए पाकर वे अत्यन्त प्यासे और थके-माँदे होकर लौटा लाये ॥ ५ ॥ तब भगवान् अपनी मेघके समान गम्भीर वाणीसे उन्हें नाम ले-लेकर पुकारने लगे। और वे गौएँ अपने-अपने नाम सुनकर प्रसन्न हो उनके उत्तरमें प्रतिध्वनि करने लगीं ॥ ६ ॥

इसी समय उस वनमें सब ओर अकस्मात् वनवासी जीवोंको नष्ट करनेवाला दावानल लग गया और वायुसे प्रेरित हो भयानक लपटोंमें बढ़कर समस्त स्थावर-जंगम जीवोंको भस्म करने लगा ॥ ७ ॥ दावानलको चारों ओरसे अपनी ओर बढ़ता देख गौ और गोपगण अत्यन्त भयभीत हो गये और मृत्युके भयसे डरे हुए जीव जिस प्रकार श्रीहरिकी शरणमें जाते हैं उसी प्रकार कृष्ण और बलरामके शरणागत होकर उन्हें पुकारने लगे ॥ ८ ॥ वे बोले—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महावीर ! हे अमितबलशाली बलराम !

१. बादरायणिरुवाच। २. तापिताः। ३. स्ततः। ४. रविच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितं गवाम्। ५. पाः स गावः। ६. मामोघवि०।

दावाग्निना दह्यमानान्प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः ॥ ९ ॥
नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम् ।
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥१०॥

हम आपके शरणागत दास दावानलसे जलना ही चाहते हैं; आप हमारी रक्षा कीजिये ॥ ९ ॥ हे कृष्ण ! आपके बन्धु-बान्धव किसी प्रकार भी कष्ट पानेके योग्य नहीं हैं । हे सर्वधर्मज्ञ ! हमारे तो प्रभु और एकमात्र गति आप ही हैं" ॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान्हरिः ।
निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥११॥

श्रीशुकदेवजी बोले—अपने सखाओंका यह दीन वचन सुनकर श्रीहरिने कहा—"डरो मत, अपने-अपने नेत्र मूँद लो" ॥ ११ ॥

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम् ।
पीत्वा मुखेन तान्कृच्छ्राद्योगाधीशो व्यमोचयत् ।१२।
ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः ।
निशाम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः।१३।
कृष्णस्य योगवीर्यं तद्योगमायानुभावितम् ।
दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम् ॥१४॥

जब भगवान्‌की आज्ञानुसार उन्होंने 'बहुत अच्छा' कह नेत्र मूँद लिये तो योगेश्वर भगवान् कृष्णने उस प्रचण्ड अग्निको मुखसे पी लिया और उन्हें उस संकटसे छुड़ा दिया ॥ १२ ॥ ग्वालबालोंने जब फिर नेत्र खोलकर देखा तो अपनेको भाण्डीरवटके पास पाया । इस प्रकार गौओंके सहित अपने-आपको दावानलसे मुक्त हुए देख वे बड़े विस्मित हुए ॥ १३ ॥ श्रीकृष्णके उस योग-सामर्थ्य और योगमायाके प्रभावको तथा दावानलसे अपनी सकुशल मुक्तिको देखकर उन्होंने श्रीकृष्णको कोई देवता समझा ॥ १४ ॥

गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः ।
वेणुं विरणयन्गोष्ठमगाद्गोपैरभिष्टुतः ॥१५॥
गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने ।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥१६॥

सायंकाल होनेपर बलरामजीके सहित श्रीकृष्णचन्द्र अपनी गौएँ लौटाकर बाँसुरी बजाते और साथी ग्वालबालोंसे प्रशंसित होते व्रजको चले आये ॥ १५ ॥ इस समय श्रीगोविन्दका दर्शन पाकर गोपियोंको बड़ा आनन्द हुआ, जिनके बिना उन्हें एक-एक क्षण सौ-सौ युगके समान हो रहा था ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
दावाग्निपानं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

१. बालक्रीडायां दावानलविमोक्षणमेको० ।

बीसवाँ अध्याय

वर्षा और शरद्‌ऋतुका वर्णन

श्रीशुक उवाच

तयोस्तदद्भुतं कर्म दावाग्नेर्मोक्षमात्मनः ।
गोपाः स्त्रीभ्यः समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च ॥ १ ॥

गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः ।
मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ ॥ २ ॥

ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा ।
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥ ३ ॥

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥ ४ ॥

अष्टौ मासान्निपीतं यद्भूम्याश्चोदमयं[1] वसु ।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥ ५ ॥

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः ।
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥ ६ ॥

तपःकृशा देवमीढा आसीद्वर्षीयसी मही ।
यथैव काम्यतपसस्तनुः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥ ७ ॥

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः ।
यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ॥ ८ ॥

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन्गिरः ।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये ॥ ९ ॥

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः[2] ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! घर पहुँचनेपर ग्वालबालोंने दावानलसे अपनी रक्षा और प्रलम्बासुरका वध ये श्रीकृष्ण और बलरामके दो अद्भुत कर्म गोपियोंको सुनाये ॥ १ ॥ वे विचित्र चरित्र सुनकर वयोवृद्ध गोप और गोपियोंको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने समझा कि राम और कृष्णके रूपमें कोई देवश्रेष्ठ ही व्रजमें पधारे हैं ॥ २ ॥

फिर कुछ दिन बाद, जिसमें सब जीवोंकी उत्पत्ति होती है उस वर्षाऋतुका आगमन हुआ । उस समय चन्द्रमा और सूर्यके चारों ओर प्रकाशमय मण्डल दिखायी देने लगे और आकाशमें क्षोभ उत्पन्न हो गया ॥ ३ ॥ बिजली और घोर गर्जनावाले घने एवं नीले जलधरोंसे ढँक जानेके कारण जिसकी सूर्यादि-ज्योतियाँ स्पष्ट नहीं दीख पड़तीं वह आकाश गुणोंसे आच्छन्न [जीवसंज्ञक] ब्रह्मके समान सुशोभित हुआ ॥ ४ ॥ सूर्यदेवने अपनी किरणोंसे आठ महीनेतक पृथिवीका जो जलरूप धन खींचा था उसे वर्षाकाल आनेपर मेघरूप अपनी किरणोंसे बरसाना आरम्भ कर दिया ॥ ५ ॥ जिस प्रकार दयाशील पुरुष संसारको सन्तप्त देखकर उसे आनन्दित करनेके लिये अपना जीवनतक दे डालते हैं उसी प्रकार दामिनीदाम-मण्डित महामेघ प्रबल वायुसे विचलित होकर अपना जीवनरूप जल बरसाने लगे ॥ ६ ॥ ग्रीष्मऋतुके तापसे सूखी हुई पृथिवी वर्षाके जलसे अभिषिक्त होकर फिर हरी-भरी हो गयी, जैसे काम्य तपस्यासे दुर्बल हुआ शरीर उसका फल मिल जानेपर फिर पुष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥ रात्रिके समय बादलोंके घोर अन्धकारमें जुगनुओंकी ज्योति चमकने लगी और ग्रहगणका दिखलायी देना बन्द हो गया, जैसे कलियुगमें पापकी प्रबलतासे पाखण्डमतोंका प्रचार हो जाता है और वैदिक सम्प्रदाय लुप्तप्राय हो जाते हैं ॥ ८ ॥ जो मेंढक पहले चुपचाप सोये पड़े थे वे मेघोंका नाद सुनकर शब्द करने लगे, जिस प्रकार नित्य-नियमसे निवृत्त होनेपर [आचार्यका आदेश सुनकर] ब्राह्मण लोग वेदपाठ करने लगते हैं ॥ ९ ॥ छोटी-छोटी नदियाँ, जो ग्रीष्मऋतुमें सूखी पड़ी थीं, उमड़-घुमड़कर सीमाका

१. म्या उदमयं । २. ऽम्बुपूरिताः । यही पाठ शुद्ध है ।

पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥१०॥
हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः ।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥११॥
क्षेत्राणि संस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥१२॥
जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।
अबिभ्रद्रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥१३॥
सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान् ।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग्यथा ॥१४॥
गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ॥१५॥
मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥१६॥
लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः ।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥१७॥
धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् ।
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान्पुरुषो यथा ॥१८॥
न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः ।
अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥१९॥

अतिक्रमण करके इधर-उधर बहने लगीं, जैसे अजितेन्द्रिय पुरुषके देह, धन और सम्पत्ति कुमार्गमें ही लगते हैं ॥ १० ॥ हरी-भरी घासके कारण हरी, बीरबहूटियोंके कारण लाल और छत्राक पुष्प (वर्षाऋतुमें होनेवाले एक पृथिवीके पुष्प) के कारण छत्रयुक्त होकर पृथिवी नरेशोंकी सेना-सम्पत्तिके समान सुशोभित होने लगी ॥ ११ ॥ सब खेत अपनी अन्नरूप सम्पत्तिसे किसानोंको आनन्दित करने लगे और 'हानि-लाभ दैवाधीन है' इस बातको न जाननेवाले महाजनोंको सन्तप्त करने लगे ॥ १२ ॥ नवीन जलका सेवन करनेसे जल और स्थलपर रहनेवाले समस्त जीवोंका रूप अति सुहावना हो गया, जैसे भगवान्‌की सेवा करनेसे मनुष्यकी आकृति मनोहर हो जाती है ॥ १३ ॥ जिसकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई है उस योगीका चित्त जैसे विषयोंका संग होनेसे वासनामय हो जाता है वैसे ही वायुके कारण तरल तरंगोंसे पूर्ण समुद्र नदियोंके मिलनेसे क्षुभित हो गया ॥ १४ ॥ वर्षाकी धाराओंसे आहत होनेपर भी पर्वतोंको कुछ व्यथा नहीं होती, जैसे कष्टोंकी भरमार होनेपर भी भगवत्प्राण पुरुष चलायमान नहीं होते ॥ १५ ॥ जिनकी कभी सफाई नहीं की जाती वे मार्ग घाससे ढक जानेके कारण सन्दिग्ध हो गये [पहचाने नहीं जाते], जिस प्रकार अभ्यास न करनेसे ब्राह्मणोंकी पढ़ी हुई श्रुतियाँ कालक्रमसे विस्मृत हो जाती हैं ॥ १६ ॥ लोकहितकारी मेघोंमें विद्युत् इसी प्रकार स्थिर होकर नहीं रहती, जैसे चञ्चल प्रेमवाली व्यभिचारिणी स्त्रियाँ [धन आदि देनेवाले] गुणी पुरुषोंके पास भी स्थिर नहीं रहतीं ॥ १७ ॥ बिना गुण (डोरी) का इन्द्रधनुष गर्जनादि गुणोंसे युक्त आकाशमें इस प्रकार सुशोभित होने लगा जैसे गुण-क्षोभसे होनेवाले प्रपञ्चमें निर्गुण पुरुष विराजता है ॥ १८ ॥ अपनी ही कान्तिसे शोभायमान बादलोंसे ढका हुआ चन्द्रमा इस प्रकार शोभित नहीं होता जैसे अपने ही आभाससे आभासित अहंकारसे आच्छन्न होकर पुरुष प्रकाशित नहीं होता ॥ १९ ॥

१. सस्यवृद्धानि । २. मानिना० । ३. कालेन वा हताः । ४. गुणेष्वपि ।

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः ।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥२०॥
पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्तयः ।
प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥२१॥
सरस्स्वशान्तरोधस्सु[1] न्यूषुरङ्गापि सारसाः ।
गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः ॥२२॥
जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे ।
पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥२३॥
व्यमुञ्चन्वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथामृतं घनाः ।
यथाशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः ॥२४॥
एवं वनं तद्वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत् ।
गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः ॥२५॥
धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा ।
ययुर्भगवताहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः[2] ॥२६॥
वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः ।
जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः ॥२७॥
क्वचिद्वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति ।
निर्विश्य[3] भगवान्रेमे कन्दमूलफलाशनः ॥२८॥
दध्योदनं समानीतं[4] शिलायां सलिलान्तिके ।
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः ॥२९॥

मेघोंका आगमन जिनके लिये उत्सवके समान आनन्ददायी है वे मयूरगण हर्षित होकर [केकाकलाप और नृत्य आदि करते हुए] अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगे, जैसे गृहस्थाश्रममें तीनों तापोंसे सन्तप्त होकर उद्विग्न हुए पुरुष हरिभक्तके आनेसे प्रसन्न हो जाते हैं ॥ २० ॥ ग्रीष्मऋतुमें सूखे हुए पेड़ अपनी जड़ोंसे जल पीकर [पत्र, पुष्प और शाखा आदि] अनेक प्रकारके रूपोंसे सम्पन्न हो गये जैसे तपस्याके कारण दुर्बल हुए सकाम तपस्वी अपनी कामना सिद्ध हो जानेपर पुष्ट हो जाते हैं ॥ २१ ॥ हे राजन् सरोवरोंके तट काँटे और कीचड़के कारण अत्यन्त अशान्तिप्रद हो जानेपर भी चक्रवाक प्रायः वहीं रहते हैं, जैसे कुत्सितचित्त विषयासक्त मनुष्य कर्मकलापके झंझटोंसे युक्त होनेपर भी गृहस्थाश्रममें ही पड़े रहते हैं ॥ २२ ॥ घनघोर वर्षाके कारण जलका वेग बढ़ जानेसे नदियोंके बाँध टूट गये, जैसे कलियुगमें पाखण्डियोंके मिथ्या मतोंसे वैदिक मार्ग उच्छिन्न हो जाते हैं ॥ २३ ॥ मेघगण वायुसे प्रेरित होकर प्राणियोंके लिये अमृत (जल) बरसाने लगे, जिस प्रकार ब्राह्मणोंकी प्रेरणासे राजालोग समय-समयपर प्रजाकी कामनाएँ पूर्ण किया करते हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार वर्षाके कारण पके हुए खजूर और जामुनोंसे युक्त वनमें विहार करनेके लिये बलरामजीके सहित श्रीहरिने गौ और गोपालोंके सहित प्रवेश किया ॥ २५ ॥ थनोंके भारी भारसे धीरे-धीरे चलनेवाली गौएँ भगवान्‌के बुलानेसे जल्दी-जल्दी चलने लगीं । उस समय प्रीतिवश उनके स्तनोंसे दूध झरता जाता था ॥ २६ ॥ श्रीकृष्णचन्द्रने प्रसन्न वनवासी भील-भीलनियोंको, मधुको वर्षा करनेवाली वनावलीको और पर्वतसे निकलती हुई जलधाराओंको देखा तथा उन निर्झरोंका नाद सुनते हुए उनकी निकटवर्तिनी गुफाओंका भी अवलोकन किया ॥ २७ ॥ तब भगवान् कभी तो वर्षा होते समय किसी सघन वृक्षके तले गुफामें बैठकर कन्द-मूल-फल खाते हुए अपने साथियोंके साथ क्रीडा करते ॥ २८ ॥ कभी जलके पास शिलापर बैठकर बलरामजीके सहित अन्य ग्वालबालोंके साथ मिलकर अन्य भोज्य पदार्थोंके साथ घरसे लाया हुआ दही-भात खाते ॥२९॥

१. रोधेषु । २. स्तनाः । ३. विशन् । ४ दनमुपानीतं ।

शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो[1] मीलितेक्षणम्[2] ।
तृप्तान्वृषान्वत्सतरान्गाश्च स्वोधोभरश्रमाः[3] ॥३०॥
प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहाम्[4] ।
भगवान्पूजयाञ्चक्रे आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ॥३१॥
एवं निवसतोस्तस्मिन्रामकेशवयोर्व्रजे ।
शरत्समभवद्व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला ॥३२॥
शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः ।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया ॥३३॥
व्योम्नोऽब्दं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम् ।
शरज्जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभम् ॥३४॥
सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः[5] ॥३५॥
गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्[6] ।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥३६॥
नैवाविदन्क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः ।
यथायुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥३७॥
गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥३८॥
शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः ।
यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥३९॥

उस समय भली प्रकार तृप्त होकर हरी-भरी घासपर बैठे हुए और आँख मूँदकर जुगाली करते हुए बैल, बछड़े और थनोंके भारसे श्रमित गौओंको एवं अपने ही प्रभावसे बढ़ी हुई समस्त प्राणियोंको आनन्दित करनेवाली वर्षाऋतुकी शोभाको देखकर भगवान् उसकी सराहना करने लगे ॥ ३०-३१ ॥

राम और कृष्णके इस प्रकार व्रजमें रहते-रहते मेघमालासे रहित तथा स्वच्छ जल और शान्त-वायुसे सुशोभित शरद् ऋतुका आगमन हुआ ॥ ३२ ॥ शरत्कालमें कमलोंके उत्पन्न हो जानेसे जलाशय स्वच्छ हो गये, जिस प्रकार योगभ्रष्ट पुरुषोंके चित्त फिर योगाभ्यास करनेसे निर्मल हो जाते हैं ॥ ३३ ॥ शरद्ऋतुने आकाशके मेघ, वर्षाकालमें बढ़े हुए जीव, पृथिवीकी कीचड़ और जलके मलको नष्ट कर दिया, जैसे भगवान्‌की भक्ति चारों आश्रमोंके अशुभको नष्ट कर देती है ॥ ३४ ॥ मेघगण अपना जलरूप सर्वस्व त्याग देनेपर शुभ्र कान्तिसे सुशोभित होने लगे, जिस प्रकार त्रिविध एषणाओंका त्याग कर देनेपर पापहीन और शान्तस्वभाव मुनिजन विराजते हैं ॥ ३५ ॥ पर्वतगण झरनोंसे कहीं अपना स्वच्छ जल छोड़ते हैं और कहीं नहीं छोड़ते, जैसे ज्ञानीजन समय-समयपर कभी ज्ञानामृतकी वर्षा करते हैं और कभी नहीं करते ॥ ३६ ॥ अल्प जलमें रहनेवाले जीव जलके नित्य-प्रति होनेवाले क्षयको नहीं जानते, जैसे कुटुम्बमें आसक्त मूढजन अपनी नित्य क्षीण होनेवाली आयुको नहीं जानते ॥ ३७ ॥ थोड़े जलमें रहनेवाले प्राणियोंको शरत्कालीन सूर्यका ताप इस प्रकार सन्तप्त करने लगा जैसे अजितेन्द्रिय दरिद्र और कृपण कुटुम्बीको सांसारिक कष्ट सताते रहते हैं ॥ ३८ ॥ पृथिवी कीचड़को और लताएँ अपनी कच्चाईको धीरे-धीरे इस प्रकार छोड़ने लगीं जैसे धीर पुरुष शरीर आदि अनात्मपदार्थोंमें धीरे-धीरे ममता और अहंताको छोड़ देते हैं ॥ ३९ ॥

१. सर्वतो । २. क्षणः । ३. स्वोध्नो भर० । ४. मुखाव० । ५. कल्मषाः । ६. स्वयम् ।

निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं समुद्रः शरदागमे ।
आत्मन्युपरते सम्यङ्मुनिर्व्युपरतागमः ॥४०॥
केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन्कर्षका दृढसेतुभिः ।
यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः ॥४१॥
शरदर्कांशुजांस्तापान्भूतानामुडुपोऽहरत् ।
देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम् ॥४२॥
खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् ।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥४३॥
अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी ।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि ॥४४॥
आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् ।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥४५॥
गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः शरदाभवन्[1] ।
अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव ॥४६॥
उदहृष्यन्वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद्विना ।
राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून्विना नृप ॥४७॥
पुरग्रामेष्वाग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः ।
बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥४८॥

शरद्‌ऋतुके आनेपर जलका वेग शान्त हो जानेसे समुद्र गर्जनारहित हो गया, जैसे मनके भली प्रकार उपरत हो जानेसे मुनि वेदपाठ आदि कर्मकाण्ड छोड़कर शान्त हो जाता है ॥ ४० ॥ किसानलोग क्यारियोंके किनारोंको फोड़कर निकलनेवाले जलको सुदृढ बाँध बाँधकर रोकने लगे, जैसे योगीजन इन्द्रियद्वारोंको रोककर उनके द्वारा क्षीण होनेवाले ज्ञानकी रक्षा करते हैं ॥ ४१ ॥ प्राणियोंके शरत्कालीन सूर्यकी किरणोंसे होनेवाले तापको चन्द्रमा शान्त करने लगा, जैसे देहाभिमानजन्य दुःखको बोध और व्रजवनिताओंके तापको श्रीमुकुन्द दूर कर देते हैं ॥ ४२ ॥ शरद्-ऋतुका निर्मल और मेघहीन आकाश [रात्रिके समय] तारामण्डलसे सुशोभित होने लगा, जैसे वेदका अर्थ स्पष्ट देखनेवाला सत्त्वगुणी चित्त शोभायमान होता है ॥ ४३ ॥ आकाशमें अन्य तारागणोंके साथ अखण्डमण्डल चन्द्रमा शोभित होने लगा, जैसे पृथिवी-तलमें यदुमण्डलके बीच यदुनाथ कृष्णचन्द्र सुशोभित होते हैं ॥ ४४ ॥ वनके पुष्पोंमें होकर आये हुए समशीतोष्ण [न अधिक ठण्डे और न अधिक गर्म] वायुका स्पर्श होनेसे सब लोगोंका ताप दूर हो गया, किन्तु जिनके चित्त श्रीकृष्णने चुरा लिये हैं वे गोपियाँ अपना विरहताप शान्त न कर सकीं ॥ ४५ ॥ शरद्‌ऋतुमें गौएँ, मृगियाँ, पक्षिणियाँ और नारियाँ ऋतुमती हो गयीं और उनके पति उनका अनुसरण करने लगे, जिस प्रकार समर्थ पुरुषद्वारा विधिवत् की हुई क्रियाओंका उनके फल अनुसरण करते हैं ॥ ४६ ॥ हे राजन् ! राजाको देखकर जैसे चोरोंके सिवा और सबलोग निर्भय हो जाते हैं वैसे ही सूर्यका उदय होनेपर कुमुदिनीके अतिरिक्त अन्य सब प्रकारके सरसिज प्रफुल्लित हो गये ॥ ४७ ॥ उस समय पुर और ग्रामोंमें नवान्नप्राशन आदि वैदिक और इन्द्रियसम्बन्धी लौकिक उत्सवोंके कारण शोभायमान तथा पके अन्नसे सम्पन्न भूमि श्रीहरिकी दोनों कलाओं (राम और कृष्ण) से अत्यन्त सुशोभित हुई ॥ ४८ ॥

१. आसन् ।

वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान्प्रपेदिरे ।
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान्काल आगते ॥४९॥

सिद्धगण जैसे समय उपस्थित होनेपर अपने देवादि शरीरोंको प्राप्त करते हैं, वैसे ही वैश्य मुनि राजा और ब्रह्मचारीलोग, जो वर्षाके कारण एक स्थानपर रुके हुए थे, वहाँसे निकलकर अपने-अपने इष्ट कार्योंमें लग गये॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रावृट्-शरद्वर्णनं नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

इक्कीसवाँ अध्याय

वेणुगीत।

श्रीशुक उवाच

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना ।
न्यविशद्वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः ॥ १ ॥
कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्ग-
द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन्गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥
तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥
तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् ।
नाशकन्स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥ ४ ॥
बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥ ५ ॥
इति वेणुरवं राजन्सर्वभूतमनोहरम्[२] ।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले— हे राजन् ! इस प्रकार शरत्कालके आनेसे जिसके जलाशयोंका जल स्वच्छ हो गया है और जिसमें कमलवनकी गन्धसे सुरभित वायु डोलने लगा है उस वनमें श्रीअच्युतने गौ और गोपालोंके सहित प्रवेश किया ॥ १ ॥ जहाँ फूले हुए वनोंकी पंक्तियोंमें मतवाले भौंरों और पक्षियोंके बोलनेसे सरोवर, नदी और पर्वत गुञ्जायमान हो रहे हैं उस वृन्दावनमें घुसकर श्रीहरिने बलरामजी तथा अन्य ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराते हुए वंशी बजायी ॥ २ ॥ कामदेवको उद्दीप्त करनेवाले उस वेणुनादको सुनकर कुछ गोपियाँ भगवान्‌के पीछे अपनी सखियोंसे उनके गुणोंका वर्णन करने लगीं ॥ ३ ॥ किन्तु वर्णन आरम्भ करते ही उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रोंका स्मरण हो आया । इससे कामवेगके कारण चित्त चञ्चल हो जानेसे वे और अधिक न बोल सकीं ॥ ४ ॥ [वे सोचने लगीं—] 'मोरमुकुट धारण किये, कानोंमें कनेरके फूल लगाये, सुवर्णके समान प्रकाशमान पीताम्बर पहने और गलेमें वैजयन्ती माला धारण किये नटवरवेषधारी श्रीकृष्णने बाँसुरीके छिद्रोंको अधरामृतसे पूर्ण करते हुए अपने चरणचिह्नोंसे सुशोभित वृन्दावनमें ग्वालबालोंके साथ, उनके मुखसे अपना सुयश सुनते हुए प्रवेश किया होगा' ॥५॥ हे राजन् ! समस्त प्राणियोंके मनोंको हरनेवाले मुरलीके सुमधुर स्वरको सुनकर समस्त व्रजबालाएँ आपसमें इस प्रकार वार्तालाप करती हुई मन-ही-मन भगवान्‌की मनोहर मूर्तिका आलिङ्गन करने लगीं ॥ ६ ॥

१. न्ये विश० । २. नोरमम् ।

गोप्य ऊचुः

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः

सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः ।

वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं

यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ७ ॥

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-

मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।

मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां

रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ८ ॥

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-

र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।

भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो

हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः ॥ ९ ॥

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं

यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।

गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं

प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥१०॥

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता

या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।

आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः

पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥११॥

गोपियाँ बोलीं—सखियो ! अपने साथी बालकोंके साथ वनसे लौटकर गौओंके पीछे चलकर उनका व्रजमें प्रवेश कराते समय दोनों व्रजराजकुमारोंके बजती हुई वंशीसे सुशोभित प्रणयकटाक्षयुक्त मुखामृतका जिन्होंने नेत्रोंद्वारा सेवन अथवा पान किया है वे धन्य हैं, क्योंकि हम तो नेत्रधारियोंके नेत्रोंका परम लाभ यही समझती हैं और कुछ नहीं ॥७॥ [यह सुनकर दूसरी गोपीने कहा—] "अहो ! नूतन आम्रपल्लव, मयूरपिच्छ, फूलोंके गुच्छे तथा स्थल और जलमें उत्पन्न होनेवाले कमल-कुसुमोंकी मालाओंके सहित नील और पीत वस्त्र धारण किये विचित्र वेषधारी बलराम और कृष्ण गोपालोंकी गोष्ठीमें जब कभी गान करने लगते हैं तो ऐसे शोभायमान होते हैं जैसे रंगभूमिमें दो नट-श्रेष्ठ विराजमान हों" ॥८॥ [एक और गोपी कहने लगी—] "अरी गोपियो ! इस बाँसुरीने न जाने ऐसा कौन पुण्यकर्म किया है जो यह गोपियोंका भोग्य भगवान्‌का अधरामृत स्वयं पीकर दूसरोंके लिये केवल बचा-खुचा छोड़ देती है, क्योंकि देखो जैसे भद्रजन [अपने कुलमें हरिभक्त उत्पन्न हुआ देखकर] आनन्दित होते हैं [उसी प्रकार जिनका दुग्धरूप जल पीकर यह पुष्ट हुई है वे इसकी माताके समान] नदियाँ [अपनेमें खिले हुए कमलोंके कारण] रोमाञ्च-युक्त दिखायी दे रही हैं; और [जिनके वंशमें इसने जन्म लिया है] वे बाँसके वृक्ष कुलवृद्धोंके समान [मदकी धाराओंके रूपमें] आनन्दाश्रु बहा रहे हैं" ॥९॥ [एक अन्य गोपीने कहा—] "अरी सखि ! यह वृन्दावन तो भूलोककी कीर्ति सर्वत्र फैला रहा है, क्योंकि देवकीनन्दनके चरणचिह्नोंसे इसे अपूर्व शोभा प्राप्त हुई है । जिस समय श्रीहरि बाँसुरी बजाते हैं तो उन्हें मन्द-मन्द गर्जता हुआ मेघ समझकर मतवाले मोर नाचने लगते हैं । और उनका नृत्य देखकर पर्वतोंके ऊपर विचरनेवाले समस्त प्राणी निश्चेष्ट होकर चुपचाप खड़े रह जाते हैं" ॥ १०॥ [दूसरी बोली—] "अरी सखी ! मूढबुद्धि होनेपर भी ये मृगियाँ धन्य हैं, जो बाँसुरीका स्वर सुनते ही अपने पति कृष्णसार मृगोंके सहित आकर अपने प्रणयकटाक्षोंद्वारा विचित्र वेषधारी नन्दनन्दनकी पूजा करती हैं" ॥११॥

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥१२॥

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥१३॥

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मि-
न्कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान्रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥१४॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥१५॥

दृष्ट्वातपे व्रजपशून्सहरामगोपैः
सञ्चारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम्।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम्॥१६॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।

[किसीने कहा—] "जिनका रूप और स्वभाव सभी कामिनियोंको आनन्दित करता है उन श्रीकृष्ण-चन्द्रको देखकर और उनकी बजायी हुई बाँसुरीका विचित्र स्वर सुनकर अपने पतियोंके साथ विमानपर चढ़कर आयी हुई सुरसुन्दरियाँ कामवेगसे ऐसी अधीर हो गयी हैं कि उनके केशबन्धनसे फूल गिरने लगे हैं और उनके कटि-वस्त्र खिसक गये हैं, किन्तु उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं है—वे मोहित हो गयी हैं" ॥ १२ ॥ [कोई बोली—] "देखो, भगवान्‌के मुखसे निकलते हुए वेणुगीतरूप अमृतका उन्नत श्रवणपुटोंसे पान करती तथा अपने सजल नयनोंके द्वारा उनकी मधुर मूर्तिको हृदयमें ले जाकर उसका आलिङ्गन करती हुई गौएँ निश्चेष्ट हो रही हैं और उनके बछड़े दूध झरते हुए स्तनोंका घूँट मुखसे टपकाते हुए निश्चेष्ट खड़े हुए हैं" ॥१३॥ [एक गोपीने कहा—] "सखियो ! इस वनके ये समस्त पक्षिगण सम्भवतः मुनिजन ही हैं, क्योंकि ये जहाँसे श्रीकृष्ण-दर्शन सुभीतेसे हो सके ऐसी वृक्षोंकी मनोहर पल्लवोंसे युक्त शाखाओंपर बैठकर अपना कलरव छोड़कर निर्निमेष नयनोंसे उन्हींकी ओर देखते हुए एकाग्रभावसे उनका मनोहर वेणुनाद सुनते रहते हैं" ॥ १४ ॥ [एक अन्य गोपीने कहा—] "सचेतन प्राणियोंको कौन कहे भँवरोंके कारण लक्षित होनेवाले कामविकारसे जिनका वेग रुक गया है वे अचेतन नदियाँ भी भगवान्‌का वेणुगीत सुनकर अपनी तरङ्गरूप भुजाओंसे कमलकुसुम-की भेंट समर्पण करती हुई आलिङ्गनके कारण अवसन्न हुए श्रीहरिके चरणयुगलका स्पर्श करती हैं" ॥१५॥ [कोई गोपी कहने लगी—] "देखो, घोर घामके समय बलरामजी तथा अन्यान्य गोपोंके सहित भगवान् कृष्णको गौएँ चराते और पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते देख इनके प्रेमके कारण उमड़ा हुआ मेघ कुसुमावलीरूप फुहारोंके सहित अपने शरीरसे अपने सखा श्रीहरिपर छत्र लगा देता है" ॥ १६ ॥ [किसीने कहा—] "ये वनकी भीलनियाँ धन्य हैं, क्योंकि जिस कुङ्कुमको श्रीकृष्णकी प्रियतमा गोपियाँ अपने स्तनोंमें लगाती हैं वही जब श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंमें लगकर उनकी अरुण-कान्तिसे रञ्जित होकर वनकी घाससे लगता है तो

१. विविक्तगीतम्। २. मुनयो विहगाः।

तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥१७॥

उसे देखकर इनके चित्तमें काम-ज्वर उत्पन्न हो जाता है और ये उस कुङ्कुमको अपने मुख और कुचाओंमें लगाकर उस समय अपनी व्यथाको शान्त किया करती हैं'' ॥१७॥ [एक सखी बोली—]

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्य-
त्पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥१८॥

''अरी गोपियो ! यह गोवर्धनपर्वत अवश्य ही हरि-भक्तोंमें श्रेष्ठ है, क्योंकि श्रीबलराम और कृष्णके चरण-कमलोंका स्पर्श होनेसे आनन्दित होकर यह जल, सुन्दर हरी-हरी घास, कन्दरा और कन्दमूलादि देकर गौ और ग्वालबालोंके सहित उनका सादर सत्कार करता है'' ॥१८॥ [एक और गोपी बोली—] ''सखियो !

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥१९॥

यह कैसा आश्चर्य है ! जिनके कन्धेपर गौओंको बाँधनेकी रस्सी सुशोभित हो रही है वे राम और कृष्ण जब अपने साथियोंके साथ गौएँ लेकर एक वनसे दूसरे वनमें जाते हैं उस समय उनके मधुर पदावलीयुक्त उदार वेणुनादको सुनकर प्राणियोंमें जो गतिशील हैं वे तो स्थिर हो जाते हैं और वृक्षोंके रोमाञ्च हो आते हैं'' ॥१९॥

एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः ।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः ॥२०॥

वृन्दावनविहारी श्रीहरिकी जो इस प्रकारकी लीलाएँ हैं उन्हें आपसमें वर्णन करती हुई गोपियाँ तन्मय हो गयीं ॥२०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वेणुगीतं नाम एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

बाईसवाँ अध्याय

चीरहरण ।

श्रीशुक उवाच

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥ १ ॥
आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे ।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥ २ ॥
गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः ।
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! हेमन्त ऋतुके प्रथम मास (मार्गशीर्ष) में नन्दजीके व्रजकी बालिकाओं-ने हविष्यान्न भोजन करते हुए कात्यायनी देवीके पूजनका नियम किया ॥१॥ हे नृप ! वे सब गोपिकाएँ अरुणोदयके समय यमुनाजलमें स्नान कर जलके पास देवीकी बालुकामयी प्रतिमा बनाकर उसकी सुगन्धित चन्दन, माला, भाँति-भाँतिके नैवेद्य, धूप-दीप, छोटे-बड़े उपहार तथा पल्लव, फल-फूल और तण्डुलादिसे पूजा करतीं ॥ २-३ ॥

१. वृन्दावनक्रीडायामेक० ।

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥ ४ ॥

एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः ।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ॥ ५ ॥

उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः ।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम् ॥ ६ ॥

नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा ॥ ७ ॥

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये ॥ ८ ॥

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः ।
हसद्भिः प्रहसन्बालैः परिहासमुवाच ह ॥ ९ ॥

अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् ।
सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद्यूयं व्रतकर्शिताः ॥१०॥

न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः ।
एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवोत सुमध्यमाः ॥११॥

तस्य तत्क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः ।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः॥१२॥

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाक्षिप्तचेतसः ।
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥१३॥

मानयं भोः कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् ।

और 'हे कात्यायनि ! हे महामाये ! हे महायोगिनि ! हे अधीश्वरि ! आप नन्द-गोपके पुत्र कृष्णको हमारा पति बनाइये, हे देवि ! हम आपको नमस्कार करती हैं' इस मन्त्रका जप करती हुई वे कुमारियाँ देवीकी उपासना करतीं ॥४॥ इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रमें चित्त लगाकर गोप-कुमारियोंने एक मासतक व्रतका पालन किया और 'नन्दनन्दन हमारे पति हों' इस कामनासे भद्रकालीका भली प्रकार पूजन किया ॥५॥ वे प्रतिदिन सबेरे अरुणोदयकालमें उठकर परस्पर नाम ले-लेकर जगातीं और यमुनाजीमें स्नान करनेके लिये एक साथ जाती थीं उस समय वे एक-दूसरीका हाथ पकड़कर उच्च स्वरसे कृष्णचन्द्रकी लीलाएँ गाया करती थीं ॥६॥

एक दिन सब बालिकाएँ नित्यकी भाँति यमुना-जीपर आयीं और अपने वस्त्र किनारेपर रख श्रीकृष्ण-चन्द्रके गुण गाती हुई प्रसन्नतापूर्वक जलविहार करने लगीं ॥७॥ तब योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् कृष्ण उनका अभिप्राय जानकर उनके कर्मको सफल करनेके लिये अपने साथी बालकोंके साथ वहाँ गये ॥८॥ और उनके वस्त्र लेकर तुरन्त ही कदम्बपर चढ़ गये तथा हँसते हुए अन्य बालकोंके साथ आप भी हँसते हुए उनसे हँसी-हँसीमें कहने लगे—॥९॥ "अरी बालिकाओ ! तुम यहाँ आकर अपने-अपने वस्त्र ले जाओ; मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, हँसी नहीं करता; क्योंकि व्रतके कारण तुम बहुत दुर्बल हो रही हो ॥१०॥ देखो, ये सब बालक जानते हैं, मैंने पहले भी कभी झूठ नहीं बोला । हे सुन्दरियो ! तुम एक-एक करके अथवा एक साथ ही आकर अपने वस्त्र माँग लो" ॥११॥

भगवान्‌को इस प्रकार मसखरी करते देख गोपियाँ प्रेममें मग्न हो गयीं । वे लज्जावश एक-दूसरीकी ओर देखकर मुसकाने लगीं और जलसे बाहर न निकलीं ॥ १२ ॥ भगवान्‌के हँसी-हँसीमें इस प्रकार कहनेसे उनके चित्त उन्हींकी ओर खिंच गये और वे शीतल जलमें कण्ठपर्यन्त घुसकर काँपती हुई उनसे इस प्रकार कहने लगीं—॥१३॥ "हे प्यारे ! तुम ऐसा अन्याय न करो; हम जानती हैं—तुम नन्दजीके लाड़िले लाल हो,

जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः॥१४॥

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।

देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे॥१५॥

हमारे भी प्रिय हो, सभी व्रजवासी तुम्हारी प्रशंसा करते हैं। देखो, हम जाड़ेके कारण काँप रही हैं, तुम हमारे वस्त्र दे दो॥१४॥ हे श्यामसुन्दर! हम तुम्हारी दासियाँ हैं, जो आज्ञा करोगे हम वही करेंगी। तुम बड़े धर्मज्ञ हो, अतः हमारे वस्त्र दे दो, नहीं तो हम राजासे (कंस या नन्दजीसे) जाकर कह देंगी''॥१५॥

श्रीभगवानुवाच

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः॥१६॥

श्रीभगवान् बोले—हे सुहासिनियो! यदि तुम मेरी दासी हो और मेरी आज्ञा माननेको तैयार हो तो यहाँ आकर अपने वस्त्र माँगो॥ १६॥

ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः॥१७॥
भगवानाह ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम्॥१८॥
यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम्॥१९॥
इत्यच्युतेनाभिहितं व्रजाबला
मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम्।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां
साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग्यतः॥२०॥
तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान्देवकीसुतः।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्करुणस्तेन तोषितः॥२१॥
दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं
ता नाभ्यसूयन्प्रियसङ्गनिर्वृताः॥२२॥
परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिन्लज्जायितेक्षणाः॥२३॥

तब शीतके कारण काँपती हुई समस्त बालिकाएँ जाड़ेसे हार मानकर अपने गुप्त अङ्गोंको हाथसे छिपाये जलाशयसे बाहर आयीं॥ १७॥ यह देख उनके शुद्ध भावसे प्रसन्न हो भगवान्‌ने सब वस्त्र अपने कन्धेपर रख लिये और उनसे प्रसन्नतापूर्वक मुसकाते हुए कहने लगे—॥ १८॥ ''तुमने व्रत धारण करके भी जो वस्त्रहीन होकर जलमें स्नान किया, इससे तुम्हारेद्वारा वरुणदेवका अपराध हुआ है; अतः उस दोषकी शान्तिके लिये तुम मस्तकपर हाथ जोड़कर उन्हें झुककर प्रणाम करो और फिर अपने वस्त्र ले जाओ''॥१९॥ भगवान्‌के इस प्रकार कहनेसे उन व्रजबालाओंने समझा कि वस्त्रहीन होकर स्नान करनेसे हमारा व्रत खण्डित हो गया; अतः उसकी निर्विघ्न पूर्तिके लिये उन्होंने समस्त कर्मोंके साक्षी भगवान् कृष्णको प्रणाम किया क्योंकि वे ही सब पापोंको दूर करनेवाले हैं॥ २०॥

देवकीनन्दन भगवान् कृष्ण उन्हें इस प्रकार अपनी आज्ञानुसार प्रणाम करते देख बहुत प्रसन्न हुए और दयापूर्वक उन्हें उनके वस्त्र दे दिये॥ २१॥ हे राजन्! भगवान् कृष्णने गोपियोंसे छलकी बातें कीं, उनकी लज्जा छुड़ायी, उनसे हँसी की, उन्हें कठपुतलियोंके समान नचाया और उनके वस्त्र हर लिये तो भी वे उनसे रुष्ट न हुईं; बल्कि अपने प्रियतमके संगसे परम प्रसन्न हुईं॥ २२॥ उन्होंने अपने वस्त्र पहन लिये, किन्तु प्रियतमके समागममें आसक्त होकर उनका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे वहाँसे चल न सकीं, वरं लजीली दृष्टिसे उन्हींकी ओर निहारती रहीं॥ २३॥

तासां विज्ञाय भगवान्स्वपादस्पर्शकाम्यया ।
धृतव्रतानां संकल्पमाह दामोदरोऽबलाः ॥२४॥
संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम् ।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥२५॥
न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥२६॥
यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥२७॥

भगवान्‌ने देखा कि उन व्रतशीला कुमारिकाओंका कात्यायनीपूजनका संकल्प उनके चरणस्पर्शकी कामनासे ही है, अतः वे उन अबलाओंसे बोले—॥२४॥ "हे साध्वियो ! मैं तुम्हारा संकल्प जानता हूँ, तुम मेरा पूजन करना चाहती हो, मैं भी इसका अनुमोदन करता हूँ; तुम्हारा यह संकल्प सत्य होगा अर्थात् तुम्हें मेरी ही प्राप्ति होगी ॥ २५ ॥ क्योंकि जिनका चित्त मुझमें लगा होता है उनकी कामनाएँ सांसारिक भोगकी हेतु नहीं होतीं; [उनकी कामनाका विषय मैं होता हूँ अतः इस 'विषय' की (मेरी) महिमाके प्रभावसे उनकी अन्य सारी कामनाएँ भस्म हो जाती हैं, उनसे सांसारिक विषय-सुखकी उत्पत्ति नहीं होती] जैसे भुने या उबाले हुए धान अङ्कुर उत्पन्न नहीं कर सकते ॥ २६ ॥ हे साध्वियो ! अब तुम व्रजको जाओ, तुम्हारा व्रत पूर्ण हो गया । तुम आनेवाली शरदृतुकी रात्रियोंमें मेरे साथ रमण करोगी, जिसके लिये तुमने यह व्रत लेकर कात्यायनी देवीका पूजन किया है*" ॥ २७ ॥

* चीर-हरणके प्रसंगको लेकर लोग कई तरहकी शङ्का किया करते हैं अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विचार करना आवश्यक है । यह स्मरण रखना चाहिये कि पूर्णावतार भगवान्‌की ही भाँति भगवान्‌की लीला भी चिन्मयी ही होती है। भगवान्‌के लीला-धाम और उसमें लीला करनेवाले पात्र भी प्राकृत नहीं होते। ऐसी स्थितिमें भगवान्‌की लीलाका अध्ययन करते समय यह बात ध्यानमें रखना बहुत आवश्यक है कि कहीं हम उनके दिव्य शरीरको अपने शरीर-जैसा और उनकी अचिन्त्य लीलाओंको अपनी साधारण चेष्टाओंके समान न समझने लगें । यद्यपि सामान्य दृष्टिसे भगवान्‌के सभी जन्मकर्म और उनकी सभी लीलाएँ अप्राकृत एवं दिव्य ही होती हैं तथापि व्रजकी लीला, व्रजमें निकुञ्ज-लीला और निकुञ्जमें भी केवल भावमयी गोपियोंके साथ होनेवाली लीला तो दिव्यातिदिव्य एवं गुह्यातिगुह्य है । वह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरङ्ग लीला है और उसमें प्रवेशका अधिकार केवल गोपियोंको ही प्राप्त है ।

लीलाप्रतिपादक ग्रन्थोंमें गोपियोंके दो भेद माने गये हैं । एक तो नित्यसिद्ध गोपियाँ और दूसरी साधनसिद्ध गोपियाँ । इनके भी अनेकों अवान्तर भेद हैं । श्रीकृष्णोपनिषद्‌में वर्णन आया है कि रामावतारमें भगवान्‌के सुन्दर रूपको देखकर दण्डकारण्यवासी मुनिजन मुग्ध हो गये । भगवान् रामने उन्हें वर दिया और वे ही गोपियोंके रूपमें प्रकट हुए । कुछ गोपियोंको चित्‌शक्तिका और कुछको साक्षात् श्रुतियोंका अवतार माना गया है । अस्तु ! दशम स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायमें भगवान्‌की रूपमाधुरी, वंशीध्वनि और प्रेममयी लीलाएँ देखकर गोपियाँ मुग्ध हो गयीं, ऐसा वर्णन आया है । बाईसवें अध्यायमें उसी प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये वे साधनमें लग गयी हैं । इसी अध्यायमें भगवान्‌ने आकर उनकी साधना पूर्ण की है, यही चीर-हरणका प्रसंग है।

१. सौम्याः ।

गोपियाँ क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधनासे स्पष्ट है। वे चाहती थीं— श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, श्रीकृष्णके साथ इस प्रकार घुल-मिल जाना कि उनका रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा केवल श्रीकृष्णमय हो जाय। शरत्-कालमें उन्होंने श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिकी चर्चा आपसमें की थी, हेमन्तके पहले ही महीनेमें अर्थात् भगवान्के विभूतिस्वरूप मार्गशीर्षमें उनकी साधना प्रारम्भ हो गयी। विलम्ब उनके लिये असह्य था। जाड़ेके दिनमें वे प्रातःकाल ही यमुना-स्नानके लिये जातीं, उन्हें शरीरकी परवा नहीं थी। बहुत-सी कुमारी ग्वालिनें एक साथ ही जातीं, उनमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं था। वे ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णका नामकीर्तन करती हुई जातीं, उन्हें गाँव और जातिवालोंका भय नहीं था। वे घरमें भी हविष्यान्नका ही भोजन करतीं, वे श्रीकृष्णके लिये इतनी व्याकुल हो गयी थीं कि उन्हें माता-पितातकका संकोच नहीं था। वे विधिपूर्वक देवीकी वालुकामयी मूर्ति बनाकर पूजा और मन्त्र-जप करती थीं। अपने इस कार्यको सर्वथा उचित और प्रशस्त मानती थीं। एक वाक्यमें, उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान्के चरणोंमें सर्वथा समर्पण कर दिया था। वे यही जपती रहती थीं कि एकमात्र नन्दनन्दन ही हमारे प्राणोंके स्वामी हों। श्रीकृष्ण तो वस्तुतः उनके स्वामी थे ही। परन्तु लीलाकी दृष्टिसे उनके समर्पणमें थोड़ी कमी थी। वे निरावरणरूपसे श्रीकृष्णके सामने नहीं जा रही थीं, उनमें थोड़ी झिझक थी उनकी यही झिझक दूर करनेके लिये—उनकी साधना, उनका समर्पण पूर्ण करनेके लिये उनका आवरण भङ्ग कर देनेकी आवश्यकता थी, उनका यह आवरण-रूप चीर हर लेना जरूरी था और यही काम भगवान् श्रीकृष्णने किया। इसीके लिये वे योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् अपनी मित्रमण्डलीके साथ यमुनातटपर पधारे थे।

साधक अपनी शक्तिसे, अपने बल और संकल्पसे केवल अपने निश्चयसे पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता। समर्पण भी एक क्रिया है और उसका करनेवाला असमर्पित ही रह जाता है। ऐसी स्थितिमें अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण तब होता है, जब भगवान् स्वयं आकर वह संकल्प स्वीकार करते हैं और संकल्प करनेवालेको स्वीकार करते हैं। यहीं जाकर समर्पण पूर्ण होता है। साधकका कर्तव्य है, पूर्ण समर्पणकी तैयारी। उसे पूर्ण तो भगवान् ही करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण यों तो लीलापुरुषोत्तम हैं फिर भी जब अपनी लीला प्रकट करते हैं तो मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करते, स्थापना ही करते हैं। विधिका अतिक्रमण करके कोई साधनाके मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता। परन्तु हृदयकी निष्कपटता, सचाई और सच्चा प्रेम विधिके अतिक्रमणको भी शिथिल कर देता है। गोपियाँ श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये जो साधना कर रही थीं, उसमें एक त्रुटि थी। वे शास्त्र-मर्यादा और परम्परागत सनातन मर्यादाका उल्लङ्घन करके नग्न स्नान करती थीं। यद्यपि उनकी यह क्रिया अज्ञानपूर्वक ही थी तथापि भगवान्के द्वारा इसका मार्जन होना आवश्यक था। भगवान्ने गोपियोंसे इसका प्रायश्चित्त भी करवाया। जो लोग भगवान्के प्रेमके नामपर विधिका उल्लङ्घन करते हैं, उन्हें यह प्रसंग ध्यानसे पढ़ना चाहिये और भगवान् शास्त्र-विधिका कितना आदर करते हैं, यह देखना चाहिये।

वैधी भक्तिका पर्यवसान रागात्मिका भक्तिमें है और रागात्मिका भक्ति पूर्ण समर्पणके रूपमें परिणत हो जाती है। गोपियोंने वैधी भक्तिका अनुष्ठान किया, उनका हृदय तो रागात्मिका भक्तिसे भरा हुआ था ही। अब पूर्ण समर्पण होना चाहिये। चीर-हरणके द्वारा वही कार्य सम्पन्न होता है।

गोपियोंने जिनके लिये लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, जाति-कुल, पुरजन-परिजन और गुरुजनोंकी परवा नहीं की, जिनकी प्राप्तिके लिये ही उनका यह महान् अनुष्ठान है, जिनके चरणोंमें उन्होंने अपना

सर्वस्व निछावर कर रक्खा है, जिनसे निरावरण मिलनकी ही एकमात्र अभिलाषा है, उन्हीं श्रीकृष्णके सामने वे निरावरण भावसे न जा सकें, क्या यह उनकी साधनाकी अपूर्णता नहीं है ? है, अवश्य है । और यह समझकर ही गोपियाँ निरावरणरूपसे उनके सामने गयीं ।

भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमपरवश हैं । वे निर्गुण होनेपर भी भक्तोंके लिये अचिन्त्य अनन्त सद्गुणोंसे परिपूर्ण हैं । सर्वव्यापक और निराकार होनेपर भी व्रजकी वन-वीथियोंमें विहार करनेवाले हैं । स्वयं सत्यस्वरूप होनेपर भी अपने भक्तोंके लिये नाना प्रकारके लीलारूप धारण करनेवाले हैं । इन्हीं गोपियोंने सौ-सौ बार व्याकुल हृदयसे उन्हें माखनचोरी करते हुए देखनेकी लालसा की थी और पूर्णकाम सर्वलोकमहेश्वर भगवान्को उस अपनी लालसाकी पूर्तिके लिये ही माखनचोरी करते हुए देखा था और पकड़ा था । इन्हीं गोपियोंके इशारोंपर वे उनके आँगनमें नाचते थे । यह चोरी प्राकृत चोरी थोड़ी ही थी । संसारमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसपर ईश्वरका स्वामित्व न हो ? फिर यहाँ तो परम भक्तिमती गोपियोंकी यही पूजापद्धति थी, वे माखन सजाकर रक्खें और भगवान् छिपकर उसे भोग लगावें । वे ही गोपियाँ यदि आज चाहती हैं कि श्रीकृष्ण यहाँ आवें, हमारे वस्त्रोंको उठा लें, हमें स्वीकार करके हमारी साधना पूर्ण करें तो क्या अखिल जगदात्मा श्रीकृष्ण, जिनका स्वरूप ही भक्तवाञ्छाकल्पतरु है; उनकी अभिलाषा पूर्ण नहीं करेंगे ?

श्रीकृष्ण चराचर प्रकृतिके एकमात्र अधीश्वर हैं, समस्त क्रियाओंके कर्ता, भोक्ता और साक्षी भी वही हैं । ऐसा एक भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ नहीं है जो बिना किसी परदेके उनके सामने न हो । वही सर्वव्यापक अन्तर्यामी हैं । गोपियोंके, गोपोंके और निखिल विश्वके वही आत्मा हैं । उन्हें स्वामी, गुरु, पिता, माता, सखा, पति आदिके रूपमें मानकर लोग उन्हींकी उपासना करते हैं । गोपियाँ उन्हीं भगवान्को जान-बूझकर कि यही भगवान् हैं, यही योगेश्वरेश्वर, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम हैं, पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं । श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका श्रद्धाभावसे पाठ कर जानेपर यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि गोपियाँ श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानती थीं, पहचानती थीं । वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत और श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंके अन्वेषणमें यह बात कोई भी देख-सुन-समझ सकता है । जो लोग भगवान्को भगवान् मानते हैं, उनसे सम्बन्ध रखते हैं, स्वामी-सुहृद् आदिके रूपमें उन्हें मानते हैं, उनके हृदयमें गोपियोंके इस लोकोत्तर माधुर्यसम्बन्ध और उसकी साधनाके प्रति शङ्का ही कैसे हो सकती है ?

गोपियोंकी इस दिव्य-लीलाका जीवन उच्च श्रेणीके साधकके लिये आदर्श जीवन है । श्रीकृष्ण जीवके एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं । हमारी बुद्धि, हमारी दृष्टि देहतक ही सीमित है । इसलिये हम श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमको भी केवल दैहिक तथा कामनाकलुषित समझ बैठते हैं । उस अपार्थिव और अप्राकृत लीलाको इस प्रकृतिके राज्यमें घसीट लाना हमारी स्थूल वासनाओंका हानिकर परिणाम है । जीवका मन भोगाभिमुख वासनाओंसे और तमोगुणी प्रवृत्तियोंसे अभिभूत रहता है । वह विषयोंमें ही इधरसे उधर भटकता रहता है और अनेकों प्रकारके रोग-शोकसे आक्रान्त रहता है । जब कभी पुण्यकर्मोंके फल उदय होनेपर भगवान्की अचिन्त्य अहैतुकी कृपासे विचारका उदय होता है तब जीव दुःखज्वालासे त्राण पानेके लिये और अपने प्राणोंको शान्तिमय धाममें पहुँचानेके लिये उत्सुक हो उठता है । वह भगवान्के लीलाधामोंकी यात्रा करता है, सत्संग प्राप्त करता है और उसके हृदयकी छटपटी उस आकाङ्क्षाको लेकर, जो अबतक सुप्त थी, जगकर बड़े वेगसे परमात्माकी ओर चल पड़ती है । चिरकालसे विषयोंका ही अभ्यास होनेके कारण बीच-बीचमें विषयोंके संस्कार उसे सताते हैं और बार-बार विक्षेपोंका सामना करना पड़ता है । परन्तु भगवान्की प्रार्थना, कीर्तन, स्मरण, चिन्तन करते-करते चित्त सरस होने लगता है और धीरे-धीरे उसे भगवान्की सन्निधिका अनुभव भी होने

लगता है। थोड़ा-सा रसका अनुभव होते ही चित्त बड़े वेगसे अन्तर्देशमें प्रवेश कर जाता है और भगवान् मार्गदर्शकके रूपमें संसार-सागरसे पार ले जानेवाली नावपर केवटके रूपमें अथवा यों कहें कि साक्षात् चित्-स्वरूप गुरुदेवके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। ठीक उसी क्षण अभाव अपूर्णता और सीमाका बन्धन नष्ट हो जाता है, विशुद्ध आनन्द—विशुद्ध ज्ञानकी अनुभूति होने लगती है।

गोपियाँ जो अभी-अभी साधनसिद्ध होकर भगवान्की अन्तरङ्ग लीलामें प्रविष्ट होनेवाली हैं, चिरकालसे श्रीकृष्णके प्राणोंमें अपने प्राण मिला देनेके लिये उत्कण्ठित हैं, सिद्धिलाभके समीप पहुँच चुकी हैं। अथवा जो नित्यसिद्धा होनेपर भी भगवान्की इच्छाके अनुसार उनकी दिव्य लीलामें सहयोग प्रदान कर रही हैं, उनके हृदयके समस्त भावोंके एकान्त ज्ञाता श्रीकृष्ण बांसुरी बजाकर उन्हें आकृष्ट करते हैं और जो कुछ उनके हृदयमें बचे-खुचे पुराने संस्कार हैं, मानो उन्हें धो डालनेके लिये साधनामें लगाते हैं। उनकी कितनी दया है, वे अपने प्रेमियोंसे कितना प्रेम करते हैं, यह सोचकर चित्त मुग्ध हो जाता है, गद्गद हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोपियोंके वस्त्र लेकर उनके समस्त संस्कारोंके आवरण अपने हाथमें लेकर पास ही कदम्बके वृक्षपर बैठे हुए थे। गोपियाँ जलमें थीं, वे जलमें सर्वव्यापक सर्वदर्शी भगवान् श्रीकृष्णसे मानो अपनेको गुप्त समझ रही थीं—वे मानो इस तत्त्वको भूल गयी थीं कि श्रीकृष्ण जलमें ही नहीं हैं स्वयं जलस्वरूप भी वही हैं। उनके पुराने संस्कार श्रीकृष्णके सम्मुख जानेमें बाधक हो रहे थे, वे श्रीकृष्णके लिये सब कुछ भूल गयी थीं परन्तु अबतक अपनेको नहीं भूली थीं। वे चाहती थीं केवल श्रीकृष्णको, परन्तु उनके संस्कार बीचमें एक परदा रखना चाहते थे। प्रेम प्रेमी और प्रियतमके बीचमें एक पुष्पका भी परदा नहीं रखना चाहता। प्रेमकी प्रकृति है, सर्वथा व्यवधानरहित अबाध और अनन्त मिलन। जहाँतक अपना सर्वस्व, इसका विस्तार चाहे जितना हो, प्रेमकी ज्वालामें भस्म नहीं कर दिया जाता, वहाँतक प्रेम और समर्पण दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। इसी अपूर्णताको दूर करते हुए 'शुद्ध भावसे प्रसन्न हुए' श्रीकृष्णने कहा कि 'मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो ! एक बार, केवल एक बार अपने सर्वस्वको और अपनेको भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। तुम्हारे हृदयमें जो अव्यक्त त्याग है, उसे एक क्षणके लिये व्यक्त तो करो। क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकती हो ?' गोपियोंने कहा—'श्रीकृष्ण ! हम अपनेको कैसे भूलें ? हमारी जन्म-जन्मकी धारणाएँ भूलने दें तब न। हम संसारके अगाध जलमें आकण्ठ मग्न हैं। जाड़ेका कष्ट भी है। हम आना चाहनेपर भी नहीं आ पाती हैं। श्यामसुन्दर ! प्राणोंके प्राण ! हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। तुम्हारी आज्ञाओंका पालन करेंगी। परन्तु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।' साधककी यह दशा—भगवान्को चाहना और साथ ही संसारको भी न छोड़ना, संस्कारोंमें ही उलझे रहना—मायाके परदेको बनाये रखना बड़ी द्विविधाकी दशा है। भगवान् यही सिखाते हैं कि संस्कारशून्य होकर, निरावरण होकर मायाका परदा हटाकर आओ, मेरे पास आओ। अरे, तुम्हारा यह मोहका परदा तो मैंने ही छीन लिया है, तुम अब इस परदेके मोहमें क्यों पड़ी हो ? यह परदा ही तो परमात्मा और जीवके बीचमें बड़ा व्यवधान है, यह हट गया, बड़ा कल्याण हुआ, अब तुम मेरे पास आओ, तभी तुम्हारी चिरसञ्चित आकाङ्क्षाएँ पूरी हो सकेंगी।' परमात्मा श्रीकृष्णका यह आह्वान, आत्माके आत्मा परम प्रियतमके मिलनका यह मधुर आमन्त्रण, भगवत्कृपासे जिसके अन्तर्देशमें प्रकट हो जाता है, वह प्रेममें निमग्न होकर सब कुछ छोड़कर, छोड़ना भी भूलकर प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें दौड़ आता है। फिर न उसे अपने वस्त्रोंकी सुधि रहती है और न लोगोंका ध्यान ! न वह जगत्को देखता है न अपनेको। यह भगवत्प्रेमका रहस्य है। विशुद्ध और अनन्य भगवत्प्रेममें ऐसा होता ही है।

गोपियाँ आयीं, श्रीकृष्णके चरणोंके पास मूकभावसे खड़ी हो गयीं। उनका मुख लज्जावनत था।

यत्किञ्चित् संस्कारशेष श्रीकृष्णके पूर्ण आभिमुख्यमें प्रतिबन्ध हो रहा था। श्रीकृष्ण मुस्कराये। उन्होंने इशारेसे कहा— 'इतने बड़े त्यागमें यह सङ्कोच कलङ्क है। तुम तो सदा निष्कलङ्का हो, तुम्हें इसका भी त्याग, त्यागके भावका भी त्याग,—त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करना होगा।' गोपियोंकी दृष्टि श्रीकृष्णके मुख-कमलपर पड़ी। दोनों हाथ ऊपर उठ गये और सूर्यमण्डलमें विराजमान अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे ही उन्होंने प्रेमकी भिक्षा माँगी। गोपियोंके इसी सर्वस्वत्यागने, इसी पूर्ण समर्पणने, इसी उच्चतम आत्मविस्मृतिने उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमसे भर दिया। वे दिव्य रसके अलौकिक अप्राकृत मधुके अनन्त समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं। वे सब कुछ भूल गयीं, भूलनेवालेको भी भूल गयीं। उनके सामने केवल श्यामसुन्दर थे। बस, केवल श्यामसुन्दर थे।

जब प्रेमी भक्त आत्मविस्मृत हो जाता है, तब उसका दायित्व प्रियतम भगवान्पर होता है। अब मर्यादारक्षाके लिये गोपियोंको तो वस्त्रकी आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि उन्हें जिस वस्तुकी आवश्यकता थी, वह मिल चुकी थी। परन्तु श्रीकृष्ण अपने प्रेमीको मर्यादाच्युत नहीं होने देते। वे स्वयं वस्त्र देते हैं और अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा उन्हें विस्मृतिसे जगाकर फिर जगत्में लाते हैं। श्रीकृष्णने कहा—'गोपियो! तुम सती-साध्वी हो। तुम्हारा प्रेम और तुम्हारी साधना मुझसे छिपी नहीं है। तुम्हारा सङ्कल्प सत्य होगा। तुम्हारा यह सङ्कल्प, तुम्हारी यह कामना तुम्हें उस पदपर स्थित करती है, जो निस्सङ्कल्पता और निष्कामताका है। तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण, तुम्हारा समर्पण पूर्ण और अब आगे आनेवाली शारदीय रात्रियोंमें हमारा रमण पूर्ण होगा।

एक बात बड़ी विलक्षण है। भगवान्के सम्मुख जानेके पहले जो वस्त्रसमर्पणकी पूर्णतामें बाधक हो रहे थे, विक्षेपका काम कर रहे थे; वही भगवान्की कृपा, प्रेम, सान्निध्य और वरदान प्राप्त होनेके पश्चात् 'प्रसाद'-स्वरूप हो गये इसका कारण क्या है? इसका कारण है, भगवान्का सम्बन्ध। यह संसार तभीतक बाधक और विक्षेपजनक है, जबतक यह भगवान्से सम्बद्ध और भगवान्का प्रसाद नहीं हो जाता। उनके द्वारा प्राप्त होनेपर तो यह बन्धन ही मुक्तिस्वरूप हो जाता है। उनके सम्पर्कमें जाकर माया शुद्ध विद्या बन जाती है। संसार और उसके समस्त कर्म अमृतमय आनन्दरससे परिपूर्ण हो जाते हैं। तब बन्धनका भय नहीं रहता। कोई भी आवरण भगवान्के दर्शनसे वञ्चित नहीं रख सकता। नरक नरक नहीं रहता, भगवान्का दर्शन होते रहनेके कारण वह वैकुण्ठ बन जाता है। इसी स्थितिमें पहुँचकर बड़े-बड़े साधक प्राकृत पुरुषके समान आचरण करते हुए-से दीखते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी होकर गोपियाँ पुनः वे ही वस्त्र धारण करती हैं अथवा श्रीकृष्ण वे ही वस्त्र धारण कराते हैं परन्तु गोपियोंकी दृष्टिमें अब ये वस्त्र वे वस्त्र नहीं हैं, वस्तुतः वे हैं भी नहीं—अब तो ये दूसरी ही वस्तु हो गये हैं, अब तो ये भगवान्के प्रसाद हैं, पल-पलपर भगवान्का स्मरण करानेवाले भगवान्के परम सुन्दर प्रतीक हैं। इसीसे उन्होंने स्वीकार भी किया। उनकी प्रेममयी स्थिति मर्यादाके ऊपर थी, फिर भी उन्होंने भगवान्की इच्छासे मर्यादा स्वीकार की। इस दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा जान पड़ता है कि भगवान्की यह चीर-हरणलीला भी अन्य लीलाओंकी भाँति उच्चतम मर्यादासे परिपूर्ण है।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें केवल वे ही प्राचीन आर्षग्रन्थ प्रमाण हैं, जिनमें उनकी लीलाका वर्णन हुआ है। उनमेंसे एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिसमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका वर्णन न हो। श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान्' हैं, यही बात सर्वत्र मिलती है। जो श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यह स्पष्ट है कि वे उन ग्रन्थोंको भी नहीं मानते। और जो उन ग्रन्थोंको ही प्रमाण नहीं मानते वे उनमें वर्णित लीलाओंके आधारपर श्रीकृष्ण-चरित्रकी समीक्षा करनेका अधिकार भी नहीं रखते। भगवान्की लीलाओंको मानवीय चरित्रके समकक्ष रखना शास्त्र-दृष्टिसे एक महान् अपराध है और उसके अनुकरणका तो सर्वथा ही निषेध है। मानवबुद्धि जो स्थूलताओंसे ही

परिवेष्टित है, केवल जडके सम्बन्धमें ही सोच सकती है, भगवान्‌की दिव्य चिन्मयी लीलाके सम्बन्धमें कोई कल्पना ही नहीं कर सकती। वह बुद्धि स्वयं ही अपना उपहास करती है, जो समस्त बुद्धियोंके प्रेरक और बुद्धियोंसे अत्यन्त परे रहनेवाले परमात्माकी दिव्य लीलाको अपनी कसौटीपर कसती है।

हृदय और बुद्धिके सर्वथा विपरीत होनेपर भी यदि थोड़ी देरके लिये मान लें कि श्रीकृष्ण भगवान् नहीं थे, या उनकी यह लीला मानवी थी; तो भी तर्क और युक्तिके सामने ऐसी कोई बात नहीं टिक पाती जो श्रीकृष्णके चरित्रमें लाञ्छन हो। श्रीमद्भागवतका पारायण करनेवाले जानते हैं कि व्रजमें श्रीकृष्णने केवल ग्यारह वर्षकी अवस्थातक ही निवास किया था। यदि रासलीलाका समय दसवाँ वर्ष मानें तो नवें वर्षमें ही चीर-हरण लीला हुई थी। इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती कि आठ-नौ वर्षके बालकमें कामोत्तेजना हो सकती है। गाँवकी गँवारिन ग्वालिनें जहाँ वर्तमानकालकी नागरिक मनोवृत्ति नहीं पहुँच पायी है, एक आठ-नौ वर्षके बालकसे अवैध सम्बन्ध करना चाहें और उसके लिये साधना करें, यह कदापि सम्भव नहीं दीखता। उन कुमारी गोपियोंके मनमें कलुषित वृत्ति थी, यह वर्तमान कलुषित मनोवृत्तिकी उद्भावना है। आजकल जैसे गाँवकी छोटी-छोटी लड़कियाँ 'राम'-सा वर और 'लक्ष्मण'-सा देवर पानेके लिये देवी-देवताओंकी पूजा करती हैं, वैसे ही उन कुमारियोंने भी परम सुन्दर परम मधुर श्रीकृष्णको पानेके लिये देवी-पूजन और व्रत किये थे, इसमें दोषकी कौन-सी बात है?

आजकी बात निराली है। भोगप्रधान देशोंमें तो नग्नसम्प्रदाय और नग्नस्नानके क्लब भी बने हुए हैं। उनकी दृष्टि इन्द्रिय-तृप्ति तक ही सीमित है। भारतीय मनोवृत्ति इस उत्तेजक एवं मलिन व्यापारके विरुद्ध है। नग्नस्नान एक दोष है, जो कि पशुत्वको बढ़ानेवाला है। शास्त्रोंमें इसका निषेध है 'न नग्नः स्नायात्' यह शास्त्रकी आज्ञा है। श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि गोपियाँ शास्त्रके विरुद्ध आचरण करें। केवल लौकिक अनर्थ ही नहीं, भारतीय ऋषियोंका वह सिद्धान्त जो प्रत्येक वस्तुमें पृथक्-पृथक् देवताओंका अस्तित्व मानता है, इस नग्नस्नानको देवताओंके विपरीत बतलाता है। श्रीकृष्ण जानते थे कि इससे वरुण देवताका अपमान होता है। गोपियाँ अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये जो तपस्या कर रही थीं, उसमें उनका नग्नस्नान अनिष्ट फल देनेवाला था और इस प्रथाके प्रभातमें ही यदि इसका विरोध न कर दिया जाय तो आगे चलकर इसका विस्तार हो सकता है, इसलिये श्रीकृष्णने अलौकिक ढंगसे इसका निषेध कर दिया।

गाँवोंकी ग्वालिनोंको इस प्रथाकी बुराई किस प्रकार समझायी जाय, इसके लिये भी श्रीकृष्णने एक मौलिक उपाय सोचा। यदि वे गोपियोंके पास जाकर उन्हें देवतावादकी फिलासफी समझाते तो वे सरलतासे नहीं समझ सकती थीं। उन्हें तो इस प्रथाके कारण होनेवाली विपत्तिका प्रत्यक्ष अनुभव करा देना था। और विपत्तिका अनुभव करानेके पश्चात् उन्होंने देवताओंके अपमानकी बात भी बता दी तथा अञ्जलि बाँधकर क्षमा-प्रार्थनारूप प्रायश्चित्त भी करवाया। महापुरुषोंमें उनकी बाल्यावस्थामें भी ऐसी प्रतिभा देखी जाती है।

श्रीकृष्ण आठ-नौ वर्षके थे, उनमें कामोत्तेजना नहीं हो सकती और नग्नस्नानकी कुप्रथाको नष्ट करनेके लिये उन्होंने चीर-हरण किया; यह उत्तर सम्भव होनेपर भी मूलमें आये हुए 'काम' और 'रमण' शब्दोंसे कई लोग भड़क उठते हैं। यह केवल शब्दकी पकड़ है, जिसपर महात्मालोग ध्यान नहीं देते। श्रुतियोंमें और गीतामें भी अनेकों बार 'काम', 'रमण' और 'रति' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है परन्तु वहाँ उनका अश्लील अर्थ नहीं होता। गीतामें तो 'धर्माविरुद्ध काम' को परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है। महापुरुषोंका आत्मरमण, आत्ममिथुन और आत्मरति प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थितिमें केवल कुछ शब्दोंको देखकर भड़कना विचारशील पुरुषोंका काम नहीं है। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उन्हें रमण और रति

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः ।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम् ।२८।
अथ गोपैः परिवृतो भगवान्देवकीसुतः ।
वृन्दावनाद्गतो दूरं चारयन्गाः सहाग्रजः ॥२९॥
निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः ।
आतपत्रायितान्वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः ॥३०॥
हे स्तोककृष्ण हे अंशो श्रीदामन्सुबलार्जुन ।
विशालर्षभ तेजस्विन्देवप्रस्थ वरूथप ॥३१॥
पश्यतैतान्महाभागान्परार्थैकान्तजीवितान् ।
वातवर्षातपहिमान्सहन्तो वारयन्ति नः ॥३२॥
अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् ।
सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥३३॥
पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः[1] कामान्वितन्वते॥३४॥
एतावज्जन्मसाफल्यं[2] देहिनामिह देहिषु ।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय[3] एवाचरेत्सदा ॥३५॥

श्रीशुकदेवजी बोले—भगवान्‌की इस प्रकार आज्ञा पा व्रजबालाएँ सफलमनोरथ हो उनके चरणकमलोंका चिन्तन करती हुई बड़ी कठिनतासे व्रजमें गयीं ॥ २८ ॥ तदनन्तर, गोपोंसे घिरे हुए भगवान् देवकी-नन्दन बड़े भाई बलरामजीके सहित गौएँ चराते हुए वृन्दावनसे दूर निकल गये ॥ २९ ॥ मार्गमें ग्रीष्मऋतुके सूर्यकी प्रचण्ड घाममें अपनी छायासे छत्रका काम करते हुए वृक्षोंको देख भगवान्‌ने व्रजवासियोंसे कहा—॥ ३० ॥ "हे स्तोककृष्ण ! हे अंशो ! हे श्रीदामन् ! हे सुबल ! हे अर्जुन ! हे विशाल ! हे ऋषभ ! हे तेजस्विन् ! हे देवप्रस्थ ! हे वरूथप ! ॥ ३१ ॥ इन एकमात्र दूसरोंके लिये ही जीवन धारण करनेवाले महाभाग वृक्षोंको देखो । ये वायु, वर्षा, धूप और पाला सब कुछ सहते हुए हमारी रक्षा करते हैं ॥ ३२ ॥ अहो ! समस्त प्राणियोंके जीवनका आधारभूत इनका जीवन धन्य है ! देखो, सत्पुरुषोंके समान इनके पास आकर अर्थी पुरुष कभी विमुख नहीं लौटते ॥ ३३ ॥ ये अपने पत्र, पुष्प, फल, छाया, मूल, वल्कल, काष्ठ, गन्ध, गोंद, भस्म, कोयलें और अङ्कुरादिसे सबकी कामनाएँ पूर्ण करते हैं ॥ ३४ ॥ इस लोकमें देहधारियोंमें उन देहवानोंके जन्मकी सफलता इसीमें है कि वे अपने प्राण, धन, बुद्धि और वाणीसे सदा श्रेयका ही आचरण करें ॥ ३५ ॥

शब्दका अर्थ केवल क्रीडा अथवा खिलवाड़ समझना चाहिये, जैसा कि व्याकरणके अनुसार ठीक है—'रमु क्रीडायाम् ।'

दृष्टिभेदसे श्रीकृष्णकी लीला भिन्न-भिन्न रूपमें दीख पड़ती है । अध्यात्मवादी श्रीकृष्णको आत्माके रूपमें देखते हैं और गोपियोंको वृत्तियोंके रूपमें । वृत्तियोंका आवरण नष्ट हो जाना ही 'चीर-हरण-लीला' है और उनका आत्मामें रम जाना ही 'रास' है । इस दृष्टिसे भी समस्त लीलाओंकी संगति बैठ जाती है । भक्तोंकी दृष्टिसे गोलोकाधिपति पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका यह सब नित्यलीला-विलास है और अनादिकालसे अनन्त कालतक यह नित्य चलता रहता है । कभी-कभी भक्तोंपर कृपा करके वे अपने नित्य धाम और नित्य सखा-सहचरियोंके साथ लीला-धाममें प्रकट होकर लीला करते हैं और भक्तोंके स्मरण-चिन्तन तथा आनन्दमङ्गलकी सामग्री प्रकट करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं । साधकोंके लिये किस प्रकार कृपा करके भगवान् अन्तर्मलको और अनादिकालसे सञ्चित संस्कारपटको विशुद्ध कर देते हैं, यह बात भी इस चीर-हरण-लीलासे प्रकट होती है । भगवान्‌की लीला रहस्यमयी है, उसका तत्त्व केवल भगवान् ही जानते हैं और उनकी कृपासे उनकी लीलामें प्रविष्ट भाग्यवान् भक्त कुछ-कुछ जानते हैं । यहाँ तो शास्त्रों और संतोंकी वाणीके आधारपर कुछ लिखनेकी धृष्टता की गयी है ।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

१. स्थिभोगैः । २. सामग्र्यं । ३. श्रेयआचरणं सदा ।

इति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः ।
तरूणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः ॥३६॥
तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः ।
ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥३७॥
तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून्नृप ।
कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रुवन् ॥३८॥

भगवान् कृष्ण इस प्रकार वृक्षोंकी बड़ाई करते हुए नवपल्लव, गुच्छे, फल, फूल और पत्तोंके कारण जिनकी शाखाएँ झुकी हुई हैं उन तरु-निकुञ्जोंमें होकर यमुना-तटपर आये ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! वहाँ गोपोंने गौओंको यमुनाका मधुर, शीतल, स्वादिष्ट और स्वच्छ जल पिलाया और फिर स्वयं भी जी भरकर पिया ॥ ३७ ॥ जिस समय वे यमुनाके तटवर्ती वनमें स्वच्छन्दतापूर्वक गौएँ चरा रहे थे उस समय ग्वालबालोंने भूखसे व्याकुल होकर श्रीकृष्ण और बलरामके पास आ इस प्रकार कहा— ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
गोपीवस्त्रापहारो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥[1]

तेईसवाँ अध्याय

यज्ञपत्नियोंपर कृपा ।

गोपा ऊचुः
राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथः ॥ १ ॥

गोपगण बोले—हे महापराक्रमी बलराम ! और हे दुष्टदलन कृष्ण ! हमें बड़ी भूख लगी है; आप दोनों उसे शान्त कीजिये ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच
इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान्देवकीसुतः ।
भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥ ३ ॥
तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः ।
कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—गोपोंके इस प्रकार कहनेपर भगवान् देवकीनन्दनने अपनी परम भक्त ब्राह्मण-पत्नियोंपर अनुग्रह करनेके लिये यों कहा—॥ २ ॥ "यहाँसे कुछ ही दूरीपर वेदपाठी ब्राह्मणगण स्वर्ग पानेकी इच्छासे आङ्गिरसनामक यज्ञ कर रहे हैं, तुम उनकी यज्ञशालामें जाओ ॥ ३ ॥ हमारे भेजनेसे वहाँ जाकर तुम आर्य (बलभद्रजी) का और मेरा नाम लेकर उनसे कुछ भात माँग लाओ" ॥ ४ ॥

इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा ।
कृताञ्जलिपुटा विप्रान्दण्डवत्पतिता भुवि ॥ ५ ॥
हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः ।
प्राप्ताञ्जानीत भद्रं वो गोपान्नो रामचोदितान् ॥ ६ ॥

भगवान्की इस प्रकार आज्ञा पा गोपोंने जाकर उन ब्राह्मणोंसे उसी प्रकार अन्न माँगा । उन्होंने पृथिवीपर दण्डके समान गिरकर उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा—॥ ५ ॥ "हे भूदेवगण ! आपका कल्याण हो; सुनिये, हम भगवान् कृष्णकी आज्ञा माननेवाले गोपगण हैं; हम उनकी और आर्य बलराम-जीकी आज्ञासे ही आपलोगोंके पास आये हैं ॥ ६ ॥

[1] कृष्णक्रीडायां यमुनागमनं नाम द्वाविंशतितमो ।

गाश्चारयन्ताववि[1]दूर ओदनं
रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ ।
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि
श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ॥ ७ ॥
दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन्हि दुष्यति ॥ ८ ॥
इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः ।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः ॥ ९ ॥
देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥१०॥
तं ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवन्तमधोक्षजम् ।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे ॥११॥
न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परंतप ।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ॥१२॥
तदुपाकर्ण्य भगवान्प्रहस्य जगदीश्वरः ।
व्याजहार पुनर्गोपान्दर्शयँल्लौकिकीं गतिम् ॥१३॥
मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससंकर्षणमागतम् ।
दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया॥१४॥
गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वासीनाः स्वलङ्कृताः ।
नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन् ॥१५॥
नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः ।
इतोऽविदूरे चरता कृष्णेनेहेषिता वयम् ॥१६॥

वे राम और कृष्ण यहाँसे थोड़ी ही दूरपर गौएँ चरा रहे हैं; उन्हें भूख लगी है; इसलिये वे आपलोगोंसे कुछ भोजन माँगते हैं । आपलोग धर्म जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, यदि आपकी श्रद्धा हो तो उन भोजनार्थियोंके लिये थोड़ा भात दीजिये ॥ ७ ॥ हे सज्जनो ! [यदि कहो कि यज्ञमें दीक्षित हुए पुरुषका अन्न नहीं खाना चाहिये तो इस विषयमें ऐसा नियम है कि] यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करनेके अनन्तर अग्नीषोमीय पशुके बलिदानसे पूर्व ही दीक्षितका अन्न दूषित होता है तथा सौत्रामणीमें सदा ही दीक्षितका अन्न अग्राह्य है इससे अन्यत्र दीक्षित पुरुषका भी अन्न खानेवाला दूषित नहीं होता'' ॥ ८ ॥

इस प्रकार भगवान्‌के अन्न माँगनेकी बातको उन क्षुद्रहृदय, कर्मठ और अपनेको बड़ा माननेवाले मूर्ख ब्राह्मणोंने सुनकर भी नहीं सुना ॥ ९ ॥ देश, काल, नाना प्रकारके द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विज्, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म जिन भगवान्‌के स्वरूप हैं उन साक्षात् परमब्रह्म भगवान् अधोक्षजको मन्दमति ब्राह्मणोंने एक साधारण मनुष्य समझकर उनका सम्मान नहीं किया ॥ १०-११ ॥ हे परंतप ! उन्होंने 'हाँ' या 'ना' कुछ भी नहीं कहा । तब ग्वालबालोंने निराश हो वहाँसे राम और कृष्णके पास आ उन्हें सब वृत्तान्त सुना दिया ॥१२॥ उनका कथन सुन जगत्पति भगवान् कृष्णने संसारकी गति दिखलाते हुए उन गोपोंसे फिर हँसकर कहा ॥ १३ ॥ ''अबकी बार तुम उनकी पत्नियोंके पास जाकर उन्हें बलरामजीके सहित मेरे यहाँ आनेका समाचार सुनाओ । उनकी मुझमें अत्यन्त प्रीति है और उनका चित्त सदा मुझहीमें लगा रहता है; वे तुम्हें अवश्य यथेष्ट अन्न देंगी'' ॥१४॥

तब गोप-बालकोंने पत्नीशालामें जाकर सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित होकर बैठी हुई द्विजपत्नियोंको देखा और उन्हें नमस्कार कर विनयपूर्वक इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥ ''हे विप्रवधुओ ! तुम्हें नमस्कार है, हमारी बात सुनो । यहाँसे पास ही विचरते हुए भगवान् कृष्णने हमें भेजा है ॥ १६ ॥

१. न्तौ न विदू० ।

गाश्चारयन्स गोपालैः सरामो दूरमागतः ।
बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ॥१७॥

वे ग्वालबालों और बलरामजीके साथ गौएँ चराते हुए इधर बहुत दूर निकल आये हैं, इस समय उन्हें बहुत भूख लगी है । तुम उनके लिये कुछ अन्न दो'' ॥१७॥

श्रुत्वाच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः ॥१८॥

उन ब्राह्मणियोंका चित्त सर्वदा हरिचर्चाहीमें लगा रहता था । भगवान्‌को निकट आये सुन उनके दर्शनोंकी लालसासे उनका चित्त चञ्चल हो उठा ॥१८॥

चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः ।
अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥१९॥
निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः ।
भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥२०॥

पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्णकी कीर्ति सुनते रहनेके कारण उनका चित्त बहुत दिनोंसे उनमें लगा हुआ था । अतः वे सबकी सब अपने पति, भाई, बन्धु और पुत्रोंके रोकनेपर भी पात्रोंमें अनेक गुणयुक्त [भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य] चार प्रकारका अन्न रख अपने प्रियतमके पास इस प्रकार चलीं, जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर जाती हैं ॥ १९-२० ॥

यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते ।
विचरन्तं वृतं गोपैः साग्रजं ददृशुः स्त्रियः ॥२१॥
श्यामं हिरण्यपरिधिं नवमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥२२॥

उन स्त्रियोंने यमुनाके किनारे नवपल्लवमण्डित अशोकवनमें भगवान् कृष्णको भाई बलरामजीके सहित गोपोंसे घिरकर विचरते देखा उनका श्याम शरीर था, वे स्वर्णवर्ण पीताम्बर धारण किये थे; वे नवीन पुष्पोंकी माला, मयूरपिच्छ, चित्र-विचित्र धातु एवं नवपल्लवोंसे नटवर वेष बनाये हुए थे; वे अपना एक हाथ किसी सखाके कन्धेपर रखे खड़े थे और दूसरे हाथसे कमलका फूल घुमा रहे थे तथा उनके कानोंमें कमलपुष्प, कपोलपर अलकों और मुखारविन्दपर मनोहर मुसकानकी अपूर्व शोभा थी ॥ २१-२२ ॥

प्रायः श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरै-
र्यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः ।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं
प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र ॥२३॥

हे राजन् ! अबतक जिनका प्रियतम सुयश प्रायः कानोंमें पड़ते रहनेके कारण मन तन्मय हो गया था उन श्यामसुन्दरको सामने पाकर वे स्त्रियाँ उन्हें अपने नेत्रद्वारसे भीतर ले गयीं और जैसे अहंवृत्तियाँ सुषुप्तिके अभिमानी प्राज्ञको पाकर उसमें लीन हो जाती हैं उसी प्रकार बहुत देरतक उनका आलिङ्गन कर अपने हृदयका ताप शान्त करने लगीं ॥ २३ ॥

तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया ।
विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥२४॥

सर्वसाक्षी भगवान्‌ने जाना कि वे स्त्रियाँ सब प्रकारकी कामनाएँ छोड़कर केवल उनके दर्शनकी इच्छासे ही आयी हैं । अतः वे उनसे हँसते हुए बोले—॥२४॥

स्वागतं[1] वो महाभागा आस्यतां करवाम किम् ।

"हे महाभागाओ ! हम तुम्हारा स्वागत करते हैं । आओ, बैठो । कहो, हम तुम्हारा क्या प्रिय करें ।

१. प्राचीन प्रतिमें 'स्वागतं वो……' इत्यादि श्लोकके पहले 'श्रीभगवानुवाच' इतना अधिक पाठ है ।

यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥२५॥
नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शनाः ।
अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥२६॥
प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्ततः कोन्वपरः प्रियः ॥२७॥
तद्यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः ।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः ॥२८॥

तुम जो हमारा दर्शन करनेकी इच्छासे यहाँ आयी हो सो तुम्हारा यह कार्य उचित ही है ॥ २५ ॥ क्योंकि विवेकी पुरुष अपना सच्चा स्वार्थ जानते हैं; इसलिये वे अपने प्रियजनके समान मुझमें अहैतुकी और निष्कपट भक्ति किया करते हैं ॥ २६ ॥ प्राण, बुद्धि, मन, देह, स्त्री, पुत्र और धन ये सब जिसकी सन्निधिसे प्रिय माळूम होते हैं उस (आत्मस्वरूप मुझ परमात्मा) से अधिक प्रिय और कौन हो सकता है ? ॥ २७ ॥ अच्छा, अब तुम यज्ञ-शालाको लौट जाओ; जिससे तुम्हारे पति गृहस्थ ब्राह्मण लोग तुम्हारे साथ मिलकर अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे" ॥ २८ ॥

पत्न्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान्गदितुं नृशंसं
सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् ।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं
केशैर्निवोढुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धून् ॥२९॥
गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा
न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये ।
तस्माद्भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो
नान्या भवेद्गतिररिन्दम तद्विधेहि ॥३०॥

द्विजपत्नियोंने कहा—हे विभो ! आपको ऐसी कठोर बात न कहनी चाहिये । आप वेदवाक्योंको सत्य कीजिये । हम अपने समस्त स्वजनोंकी अवहेलनाकर आपके चरणोंसे गिरी हुई तुलसीकी मालाको अपने केशोंमें धारण करनेकी इच्छासे आपके चरणोंकी शरणमें आयी हैं ॥ २९ ॥ हे नाथ ! औरोंकी तो क्या बात, अब तो हमारे पति, माता-पिता, पुत्र, भाई, बन्धु और सुहृद्गण भी हमें ग्रहण न करेंगे । अतः हे शत्रुसूदन ! आपके चरणोंकी शरणमें पड़ी हुई हम अबलाओंका अब और कोई आश्रय नहीं है । इसलिये आप ही हमें आश्रय दीजिये ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच

पतयो नाभ्यसूयेरन्पितृभ्रातृसुतादयः ।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥३१॥
न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥३२॥

श्रीभगवान् बोले—[तुम अपने घर जाओ] वहाँ मेरी आज्ञासे जानेके कारण तुम्हारे पति, माता-पिता, भाई और पुत्रादि तथा अन्य लोग भी तुम्हारी अवज्ञा नहीं करेंगे । देखो, ये देवगण भी मेरी इस बातका अनुमोदन कर रहे हैं ॥ ३१ ॥ संसारमें मेरा अङ्ग-सङ्ग ही मनुष्योंकी प्रीति या अनुरागका कारण नहीं होता । इसलिये मुझमें चित्त लगानेसे ही तुम लोग मुझे बहुत शीघ्र पा लोगी ॥ ३२ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता मुनिपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः ।
ते चानसूयवः स्वाभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन् ॥३३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान्के इस प्रकार कहनेपर वे मुनिपत्नियाँ फिर यज्ञशालामें चली गयीं और उन ब्राह्मणोंने अपनी स्त्रियोंकी कुछ भी अवज्ञा न करते हुए उनके साथ अपना यज्ञ समाप्त किया ॥३३॥

१. याभ्येता । २. निरोद्धुमभिलङ्घ्य । ३. न ह्यभ्य० ।

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् ।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥३४॥
भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान् ।
चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः ॥३५॥
एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन् ।
रेमे गोगोपगोपीनां रमयन्रूपवाक्कृतैः ॥३६॥
अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन्कृतागसः ।
यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडम्बयोः ॥३७॥
दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् ।
आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ॥३८॥
धिग्जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम् ।
धिक्कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥३९॥
नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी ।
यद्वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥४०॥
अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान्गृहाभिधान् ॥४१॥
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः॥४२॥
अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥४३॥

उन स्त्रियोंमेंसे एकको उसके पतिने बलात्कारसे रोक लिया था । उसने जैसा भगवान्‌का स्वरूप सुना था उसे हृदयमें धारण कर कर्मका परिणामभूत अपना शरीर छोड़ दिया ॥ ३४ ॥ इधर भगवान् कृष्णने ब्राह्मणियोंके लाये हुए उस चार प्रकारके अन्नसे सब गोपोंको जिमाकर आप भी भोजन किया ॥ ३५ ॥ मायामानवरूपधारी भगवान् इस प्रकार मनुष्यचरित्रोंका अनुकरण कर अपने रूप, वाणी और कर्मोंसे गौ, गोप और गोपियोंको आनन्दित करते हुए नाना प्रकारकी लीलाएँ किया करते थे ॥ ३६ ॥

इधर जब ब्राह्मणोंको ज्ञान हुआ तो वे यह सोचकर कि हमने मनुष्यरूपधारी दोनों जगदीश्वरोंकी याचनाका अनादर करके बड़ा अपराध किया है, मन-ही-मन पछताने लगे ॥ ३७ ॥ अपनी स्त्रियोंकी भगवान् कृष्णमें ऐसी अलौकिक भक्ति देख और अपने-आपको उससे रहित जान वे बहुत पश्चात्ताप करते हुए इस प्रकार अपनी निन्दा करने लगे ॥ ३८ ॥ 'हाय ! हम श्रीहरिसे विमुख हैं; इसलिये हमारे तीनों प्रकारके जन्म,* विद्या, ब्रह्मचर्यादि व्रत और बढ़े-चढ़े ज्ञानको धिक्कार है तथा हमारे उच्च कुल और यज्ञादि क्रियाओंकी कुशलताको भी बार-बार धिक्कार है ॥ ३९ ॥ अवश्य ही भगवान्‌की माया योगियोंको भी मोहित करनेवाली है; जिससे मनुष्योंके गुरु हम ब्राह्मण भी अपने परम स्वार्थके विषयमें मोहित हो रहे हैं ॥ ४० ॥ ओह ! देखो, स्त्री होनेपर भी इनका जगद्गुरु भगवान् कृष्णमें कैसा अटूट अनुराग है ? जिसके कारण इन्होंने मृत्युके पाशरूप गार्हस्थ्य-सम्बन्धको भी तोड़ डाला ॥४१॥ इनका न तो द्विजातिके योग्य यज्ञोपवीत आदि संस्कार हुआ है, न ये गुरुकुलमें रही हैं, न इन्होंने तप किया है, न आत्मतत्त्वकी खोज ही की है और न इनमें शौच या शुभ कर्म ही हैं ॥ ४२ ॥ तो भी समस्त योगेश्वरोंके ईश्वर पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्णमें इनकी ऐसी सुदृढ भक्ति है और हमारे संस्कारादि सब कुछ हुए हैं तो भी हममें श्रीहरिका प्रेम नहीं है ॥ ४३ ॥

* शौक्र (जो माताके गर्भसे होता है), सावित्र (जो गायत्रीका उपदेश ग्रहण करनेसे होता है) और दैक्ष (जो यज्ञकी दीक्षा लेनेपर होता है)—ये ही तीन प्रकारके जन्म हैं ।

ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया ।
अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥४४॥
अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः ।
ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद्विडम्बनम् ॥४५॥
हित्वान्यान्भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशयासकृत् ।
आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी ॥४६॥
देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः ।
देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥४७॥
स एष भगवान्साक्षाद्विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ।
जातो यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ॥४८॥
अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ।
भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ ॥४९॥
नमस्तुभ्यं[3] भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ॥५०॥
स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम् ।
अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम् ॥५१॥

अहो ! हमलोग अपने सच्चे स्वार्थसे विमुख और गृहस्थीके धन्धोंमें मतवाले हो रहे थे, अवश्य इसीलिये सत्पुरुषोंके इष्टदेव भगवान् कृष्णने हमें गोपोंके वाक्योंसे सचेत किया है ॥ ४४ ॥ नहीं तो, जो स्वयं पूर्णकाम और सब लोगोंकी इच्छित कैवल्यादि कामनाओंके स्वामी हैं उन ईश्वरको हम भृत्योंसे क्या लेना था ? यह [हमें सचेत करनेके लिये] उनका बहाना ही था ॥ ४५ ॥ अहो ! साक्षात् लक्ष्मी भी अपनी चञ्चलता और गर्वादि अवगुणोंको त्यागकर जिनकी चरणसेवाकी कामनासे अन्य सब देवताओंको छोड़कर उन्हें भजती हैं उनका अन्नादि माँगना लोगोंको मोहित करनेके लिये ही था ॥ ४६ ॥ हमने यह सुना भी था कि देश, काल, समस्त द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विज्, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म जिनके रूप हैं उन साक्षात् सर्वयोगेश्वरेश्वर भगवान् विष्णुने यदुकुलमें अवतार लिया है, किन्तु फिर भी हम मूढ उन्हें न जान सके ॥ ४७-४८ ॥ अहो ! हम बड़े ही बड़भागी हैं, क्योंकि हमारे ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनकी भक्तिके प्रभावसे श्रीहरिमें हमारी बुद्धि भी निश्चल हो गयी है ॥ ४९ ॥ जिनकी बुद्धि कभी कुण्ठित नहीं होती तथा जिनकी मायासे मोहित होकर ही हम कर्ममार्गमें भटक रहे हैं ऐसे आप भगवान् कृष्णको नमस्कार है ॥ ५० ॥ वे आदिपुरुष अपनी मायासे मोहित और अपना प्रभाव न जाननेवाले हम अज्ञानियों-का अपराध क्षमा करें" ॥ ५१ ॥

इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः ।
दिदृक्षवोऽप्यच्युतयोः कंसाद्भीता न चाचलन् ॥५२॥

इस प्रकार कृष्ण-तिरस्काररूप अपने अपराधका स्मरण कर [उन्होंने बहुत पश्चात्ताप किया, किन्तु] भगवान्के दर्शनोंकी इच्छा होनेपर भी वे कंसके भयसे वहाँ न जा सके ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
यज्ञपत्न्युद्धरणं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

---

१. नूनं । २. प्राचीन प्रतिमें 'अहो वयं······' से लेकर '······निश्चला हरौ' तकका पाठ नहीं है । ३. स्तस्मै ।
४. पत्न्युपदर्शनं नाम त्रयोविंशतितमो० ।

चौबीसवाँ अध्याय

इन्द्रयज्ञभङ्ग ।

श्रीशुक उवाच[1]

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः ।
अपश्यन्निवसन्गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥ १ ॥
तदभिज्ञोऽपि भगवान्सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
प्रश्रयावनतोऽपृच्छद्वृद्धान्नन्दपुरोगमान् ॥ २ ॥
कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः ।
किं फलं कस्य चोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥ ३ ॥
एतद् ब्रूहि महान्कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः ।
न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ॥ ४ ॥
अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम् ।
उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य आत्मवत्सुहृदुच्यते ॥ ५ ॥
ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति ।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत् ॥ ६ ॥
तत्र तावत्क्रियायोगो भवतां किं विचारितः ।
अथवा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम् ॥ ७ ॥

नन्द उवाच[2]

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः ।
तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पयः ॥ ८ ॥
तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् ।
द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—तदनन्तर, व्रजमें बलदेवजी-के साथ रहते हुए एक दिन भगवान्‌ने सब गोपोंको इन्द्रयज्ञकी तैयारी करते देखा ॥ १ ॥ भगवान् सबके आत्मा और सब कुछ जाननेवाले हैं, तथापि सारा मर्म जानते हुए भी उन्होंने अति विनीत होकर नन्दादि बड़े-बूढ़ोंसे पूछा—॥ २ ॥ "पिताजी ! कहिये यह कौन-सा उत्सव आया है ? इस यज्ञका क्या फल है ? और किस उद्देश्यसे कौन लोग इसे किया करते हैं ? ॥ ३ ॥ पिताजी ! ये सब बातें सुननेके लिये मुझे अत्यन्त उत्कण्ठा है, आप मुझे यह सारा रहस्य बताइये, क्योंकि जो सबको अपना आत्मा मानते हैं तथा जिन्हें अपने-परायेका भेद-भाव नहीं है उन शत्रु-मित्र और उदासीन भावसे रहित साधु पुरुषोंके लिये कोई बात गोपनीय नहीं होती और यदि ऐसा भेद माना भी जाय तो शत्रुके समान केवल उदासीन ही त्याज्य है; मित्र तो अपने आत्माके समान ही बतलाया गया है [उससे कोई बात नहीं छिपायी जाती] ॥ ४-५ ॥ यह मनुष्य कोई कर्म तो उसका तत्त्व समझकर करता है और कोई-कोई कर्म बिना समझे ही कर लेता है । उनमेंसे समझकर करनेवाले पुरुषोंके कर्मोंका जैसा फल होता है वैसा बिना समझे करने-वालेके कर्मोंका फल नहीं होता ॥ ६ ॥ अतः इस समय आप जो कर्म करना चाहते हैं वह शास्त्रसम्मत है अथवा लौकिक ही है ? मैं यह सब जानना चाहता हूँ; कृपया स्पष्ट करके बतलाइये" ॥ ७ ॥

नन्दजी बोले—बेटा ! भगवान् इन्द्र वर्षा करने-वाले हैं, मेघ उनकी प्रियमूर्ति हैं । वे प्राणियोंको प्रसन्न करनेवाला जलरूप जीवन बरसाते हैं ॥ ८ ॥ हे तात ! उन मेघपति भगवान् इन्द्रकी हम तथा अन्य सब लोग उनके बरसाये हुए रेतसूरूप जलसे उत्पन्न अन्नादिद्वारा यज्ञ करके पूजा किया करते हैं ॥ ९ ॥

१. बादरायणिरुवाच । २. नन्दगोप उवाच ।

तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे ।
पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥१०॥
य एवं विसृजेद्धर्मं पारम्पर्यागतं नरः ।
कामाल्लोभाद्भयाद्द्वेषात्स वै नाप्नोति शोभनम् ॥११॥

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम् ।
इन्द्राय मन्युं जनयन्पितरं प्राह केशवः ॥१२॥

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते ।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥१३॥
अस्ति चेदीश्वरः कश्चित्फलरूप्यन्यकर्मणाम् ।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ॥१४॥
किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम् ।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ॥१५॥
स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते ।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥१६॥
देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा ।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥१७॥
तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् ।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥१८॥
आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति ।
न तस्माद्विन्दते क्षेमं जारं नार्यसती यथा ॥१९॥

उस यज्ञसे बचे हुए अन्नसे हम [अर्थ, धर्म, कामरूप] त्रिवर्गसिद्धिके लिये अपनी आजीविका चलाते हैं। हम श्रमजीवी लोगोंके पुरुषार्थका फल देनेवाला मेघ ही है ॥१०॥ जो पुरुष, इस प्रकार परम्परासे चले आये अपने धर्मको काम, भय, लोभ या द्वेषके कारण छोड़ देते हैं उनका कभी मङ्गल नहीं होता ॥११॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—नन्दजी तथा अन्यान्य व्रजवासियोंके ये वचन सुनकर भगवान् कृष्ण इन्द्रको क्रोध दिलानेके लिये पिता नन्दजीसे कहने लगे॥ १२ ॥

श्रीभगवान्ने कहा[1]—जीव अपने कर्मानुसार ही उत्पन्न होते और मरते हैं तथा अपने कर्मानुसार ही उन्हें सुख-दुःख, भय और क्षेम प्राप्त होते हैं ॥१३॥ यदि दूसरोंके कर्मोंका फल देनेवाला कोई ईश्वर है भी तो वह भी कर्म करनेवालोंको ही फल दे सकता है कर्म न करनेवालोंको फल देनेमें तो वह भी समर्थ नहीं है ॥१४॥ इस प्रकार सब जीव अपने-अपने कर्मोंका ही अनुसरण करते हैं तो इन्द्रसे क्या प्रयोजन है, क्योंकि पूर्वसंस्कारोंके अनुसार जो कुछ मनुष्यके भाग्यमें बदा है उसे वह भी अन्यथा नहीं कर सकता ॥ १५॥ मनुष्य अपने स्वभाव (पूर्वसंस्कारों) के अधीन है, वह स्वभावका ही अनुसरण करता है तथा देवता, असुर और मनुष्योंके सहित यह सम्पूर्ण जगत् स्वभावमें ही स्थित है ॥ १६ ॥ जीव अपने कर्मानुसार उत्तम और अधम शरीरोंको ग्रहण करता और छोड़ता रहता है तथा अपने कर्मोंके अनुसार ही वह शत्रु, मित्र और उदासीनका व्यवहार करता है; इसलिये कर्म ही सबका गुरु और ईश्वर है॥ १७॥ इसलिये पुरुषको चाहिये कि पूर्वसंस्कारोंके अनुसार अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करता हुआ सदा कर्मका ही आदर करे, जिसके कारण उसकी जीविका सुगमतासे चलती है वही उसका इष्टदेव होता है ॥ १८ ॥ जैसे व्यभिचारिणी स्त्री कभी शान्ति लाभ नहीं करती वैसे ही जो पुरुष अपनी आजीविका चलानेवाले एक देवताको छोड़कर किसी औरकी उपासना करते हैं उससे उन्हें कभी सुख प्राप्त नहीं होता ॥ १९ ॥

[1] बादरायणिरुवाच ।

वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः ।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥२०॥
कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते ।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम् ॥२१॥
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ॥२२॥
रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ।
प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ॥२३॥
न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम् ।
वनौकसस्तात नित्यं वनशैलनिवासिनः ॥२४॥
तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः ।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः ॥२५॥
पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः ।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम् ॥२६॥
हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥२७॥
अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः ।
यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः ॥२८॥
स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः ।
प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥२९॥
एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते ।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥३०॥

ब्राह्मण वेदाध्ययनसे, क्षत्रिय पृथिवी-पालनसे, वैश्य व्यापार आदिसे और शूद्र द्विजातिकी सेवासे अपनी आजीविका चलावें ॥ २० ॥ वैश्योंकी वार्तावृत्ति चार प्रकारकी है—कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और ब्याज लेना। हमलोग उनमेंसे निरन्तर गोपालनसे ही अपनी जीविका चलानेवाले हैं ॥ २१ ॥ इस संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और अन्तके कारण क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ही हैं। यह विविध प्रकारका सम्पूर्ण जगत् स्त्री-पुरुषके समागमद्वारा रजोगुणसे ही उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥ रजोगुणसे प्रेरित होकर ही मेघगण सर्वत्र जल बरसाते हैं और उसीसे [अन्न उत्पन्न होनेके कारण] सब जीव जीवित रहते हैं। इसमें इन्द्र क्या कर सकता है ? ॥ २३ ॥ हमलोगोंके पुर, नगर, ग्राम या घर कुछ भी नहीं हैं। पिताजी, हम तो सदा ही वन या पर्वतोंमें रहनेवाले वनवासी ही हैं ॥ २४ ॥ इसलिये सबलोग गौ, ब्राह्मण और गिरिराजके पूजनकी तैयारी कीजिये। आपने जो इन्द्र-यज्ञकी सामग्री एकत्रित की है उसीसे इस यज्ञका अनुष्ठान होने दें ॥ २५ ॥ इससे मूँगकी दालसे लेकर खीर, हलवा, पूआ, पूरी आदि सब पकवान तैयार करो तथा सब गौओंका दूध एकत्रित कर लो ॥ २६ ॥ वेदवादी ब्राह्मणोंके द्वारा भली प्रकार अग्निहोत्र कराओ तथा उन्हें दक्षिणामें नाना प्रकारका अन्न और गौ दान दो ॥ २७ ॥ और भी कुत्ता, चाण्डाल तथा पतितपर्यन्त सभीको यथायोग्य वस्तुएँ देकर गौओंको चारा दो और फिर गिरिराजको भोग लगाओ ॥ २८ ॥ फिर भोजन करनेके अनन्तर अच्छी प्रकार वस्त्र और आभूषण धारण कर सुगन्धित चन्दन लगाओ और गौ, ब्राह्मण, अग्नि तथा पर्वतराजकी प्रदक्षिणा करो ॥ २९ ॥ पिताजी, मेरी तो ऐसी ही सम्मति है, यदि आपको भी रुचे तो ऐसा ही कीजिये। यह यज्ञ गौ, ब्राह्मण, पर्वतराज और मुझको भी प्रिय है ॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता ।
प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥३१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! कालरूप भगवान्‌ने इन्द्रका मद चूर्ण करनेके लिये जो बातें कहीं उन्हें सुनकर नन्दादि गोपोंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया ॥ ३१ ॥

१. रक्ष्यं ।

तथा च व्यदधुः सर्वं यथाह मधुसूदनः ।
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥३२॥
उपहृत्य बलीन्सर्वानादृता यवसं गवाम् ।
गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥३३॥
अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः ।
गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः ॥३४॥

और जैसे-जैसे श्रीमधुसूदनने कहा था उसी प्रकार सब काम किये । पहले स्वस्तिवाचन करा उस सामग्रीसे गिरिराज और सभी ब्राह्मणोंको सादर भेंटें दीं तथा गौओंको हरी-हरी घास खिलायी । फिर ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद पा नन्दादि गोपगण तथा भलीभाँति शृङ्गार किये समस्त व्रजबालाएँ गोधनको आगे कर बैल जुते छकड़ोंपर चढ़ श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाएँ गाती हुई गिरिराजकी प्रदक्षिणा करने लगीं ॥३२-३४॥

कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ।
शैलोऽस्मीति ब्रुवन्भूरि बलिमादद्बृहद्वपुः ॥३५॥
तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेऽऽत्मनात्मने ।
अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥३६॥
एषोऽवजानतो मर्त्यान्कामरूपी वनौकसः ।
हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ॥३७॥
इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रणोदिताः ।
यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥३८॥

तदनन्तर गोपोंको विश्वास करानेके लिये भगवान् कृष्णने गिरिराजके ऊपर एक दूसरा विशालकाय रूप प्रकटकर 'मैं गिरिराज हूँ' इस प्रकार कहते हुए सब भेंटें ग्रहण कीं ॥ ३५॥ उस अपने स्वरूपको अन्य व्रजवासियोंके साथ भगवान्ने स्वयं भी प्रणाम किया और कहने लगे—"देखो ! कैसा आश्चर्य है ? गिरिराजने मूर्तिमान् होकर हमपर कृपा की है ॥ ३६ ॥ ये इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं; जो वनवासी मनुष्य इनका निरादर करते हैं उन्हें ये नष्ट कर डालते हैं । आओ, अपना और गौओंका कल्याण करनेवाले इन गिरिराजको हम प्रणाम करें" ॥ ३७ ॥ इस प्रकार भगवान् वासुदेवके कहनेसे गिरिराज, गौ और ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन कर कृष्णचन्द्रके सहित वे समस्त गोपगण व्रजको लौट आये ।३८।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

१. प्रचो० । २. इन्द्रमखभङ्गश्रुु० ।

पच्चीसवाँ अध्याय

गोवर्धनधारण ।

श्रीशुक उवाच[1]

इन्द्रस्तदात्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप ।
गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः ॥ १ ॥
गणं सांवर्तकं नाम मेघानां चान्तकारिणाम् ।
इन्द्रः प्राचोदयत्क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत ॥ २ ॥
अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये[2] चक्रुर्देवहेलनम् ॥ ३ ॥
यथादृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नामनौनिभैः ।
विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम् ॥ ४ ॥
वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम् ।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥ ५ ॥
एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मायितात्मनाम् ।
धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून्नयत संक्षयम् ॥ ६ ॥
अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम् ।
मरुद्गणैर्महावीर्यैर्[3]नन्दगोष्ठजिघांसया ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः ।
नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ॥ ८ ॥
विद्योतमाना विद्युद्भिः स्तनन्तः स्तनयित्नुभिः ।
तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ॥ ९ ॥
स्थूणास्थूला वर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः ।
जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम् ॥ १० ॥
अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः ।
गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ११ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! अपनी पूजाको छोड़ी हुई देख इन्द्रने, कृष्ण जिनके रक्षक हैं, उन नन्दादि गोपोंपर अत्यन्त कोप किया ॥ १ ॥ अपनेको ईश्वर माननेवाले देवराज इन्द्रने प्रलय करनेवाले मेघोंके सांवर्तकनामक गणको व्रजपर चढ़ाई करनेकी आज्ञा दी और अत्यन्त क्रोधपूर्वक कहा—॥ २ ॥ "अहो ! वनवासी गोपोंके इस धनसे उत्पन्न होनेवाले मदका माहात्म्य तो देखो कि एक साधारण मनुष्य कृष्णके बलपर उन्होंने देवताका भी अपमान कर डाला ॥ ३ ॥ जैसे कोई मन्दमति पुरुष ब्रह्मविद्याको छोड़कर अन्य नाममात्रकी अदृढ नौकारूप कर्ममय यज्ञोंसे इस भव-सागरको पार करना चाहे ॥ ४ ॥ इन गोपोंने इस बकवादी, मूर्ख, अभिमानी, अज्ञानी और अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझनेवाले मरणधर्मा कृष्णका आश्रय लेकर मेरा अप्रिय किया है ! ॥ ५ ॥ सो इन धनोन्मत्त और कृष्णके द्वारा अभिमान बढ़ाये हुए ग्वालोंका ऐश्वर्यमद धूलमें मिला दो और उनके पशुओंका संहार कर डालो ॥ ६ ॥ तुम्हारे पीछे मैं भी नन्दके व्रजका नाश करनेके लिये महापराक्रमी मरुद्गणोंको साथ ले ऐरावत हाथीपर चढ़कर आता हूँ" ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इन्द्रकी ऐसी आज्ञा पा वे मेघगण [जिन्हें उसने प्रलयकालके लिये रोक रक्खा था] बन्धनमुक्त हो मूसलाधार जल बरसाकर नन्दजीके व्रजको पीडित करने लगे ॥ ८ ॥ बिजलीकी चमक और बादलोंकी कड़कके साथ प्रचण्ड पवनसे प्रेरित होकर वे ओलोंकी वर्षा करने लगे ॥ ९ ॥ मेघोंके निरन्तर खम्भेके समान मोटी धाराएँ बरसानेसे पृथिवी जलमग्न हो गयी और उसका ऊँचा-नीचापन दीखना भी बन्द हो गया ॥ १० ॥

जब अत्यन्त वर्षा और प्रबल पवनके कारण पशु काँपने लगे तथा गोप और गोपी शीतसे व्याकुल हो गये तो वे श्रीहरिकी शरणमें आये ॥ ११ ॥

१. बादरायणिरुवाच । २. मखभङ्गमचीकरन् । ३. ह्यवेगैर्न० ।

शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः ।
वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ॥१२॥
कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ।
त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल ॥१३॥
शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम् ।
निरीक्ष्य भगवान्मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ॥१४॥
अपत्र्वर्त्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम् ।
स्वयागे निहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ॥१५॥
तत्र प्रतिविधिं सम्यगात्मयोगेन साधये ।
लोकेशमानिनां मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः ॥१६॥
न हि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः ।
मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ॥१७॥
तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ॥१८॥
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥१९॥
अथाह भगवान्गोपान्हेऽम्ब तात व्रजौकसः ।
यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः ॥२०॥
न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातने ।
वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं हि वः ॥२१॥
तथा निर्विविशुर्गर्तं कृष्णाश्वासितमानसाः ।
यथावकाशं सधनाः सव्रजाः सोपजीविनः ॥२२॥

धारावाहिक वृष्टिसे व्याकुल हुई गौएँ अपने सिरको और बछड़ोंको शरीरसे ढँककर काँपती-काँपती भगवान्‌की चरण-शरणमें पहुँचीं ॥१२॥ [तब गोप और गोपियोंने कहा—]"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाभाग ! इस गोकुलके एकमात्र स्वामी आप ही हैं। हे प्रभो ! हे भक्तवत्सल ! इस क्रुद्ध हुए देवतासे हमारी रक्षा कीजिये" ॥१३॥

व्रजको ओलोंके सहित वर्षाकी मारसे पीडित और अचेत होते देख भगवान् समझ गये कि 'यह सब करतूत कुपित हुए इन्द्रकी ही है ॥१४॥ हमारे द्वारा अपना यज्ञ भङ्ग हुआ देख इन्द्र ही व्रजका नाश करनेके लिये बिना वर्षाकालके ही यह प्रचण्ड वायु और ओलोंके सहित घोर वर्षा कर रहा है ॥ १५ ॥ अच्छा, मैं अपनी योगमायासे इसका भली प्रकार परिशोध करूँगा। मूढतावश अपनेको लोकपाल माननेवाले इन इन्द्रादिका ऐश्वर्यमद मैं चूर्ण कर दूँगा ॥ १६ ॥ सत्त्वमय होनेके कारण देवताओंको अपने ईश्वरत्वका अभिमान न होना चाहिये, अतः उन असत् देवताओंका मुझसे होनेवाला मानभङ्ग उनको शान्ति देनेवाला ही होगा ॥ १७ ॥ इसलिये जिनका मैं ही एकमात्र आश्रय और रक्षक हूँ उन शरणागत व्रजवासियोंकी मैं अपने योगसामर्थ्यसे रक्षा करूँगा, यही मेरा धारण किया हुआ व्रत है' ॥ १८ ॥

ऐसा कह श्रीकृष्णचन्द्रने लीलासे ही अपने एक हाथसे गोवर्धन पर्वतको उखाड़कर इस प्रकार उठा लिया, जैसे कोई बालक छत्राक-पुष्पको उठा ले ॥ १९ ॥ फिर भगवान्‌ने गोपोंसे कहा—"हे माता ! हे पिता ! और हे समस्त व्रजवासियो ! तुम अपनी गौओंके सहित इस पर्वतके गड्ढेमें आकर सुखपूर्वक बैठो ॥ २० ॥ तुमलोग मेरे हाथसे पर्वत गिरनेकी शङ्का मत करना; क्योंकि तुम्हें वर्षा और वायुके भयसे बचानेके लिये ही मैंने यह युक्ति की है" ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णचन्द्रके इस प्रकार मनमें ढाढस बँधानेपर समस्त गोपगण गोधन, छकड़ों और अपने उपजीवी पुरोहित तथा भृत्यगणको साथ ले अपने-अपने सुभीतेके अनुसार गोवर्धनके गड्ढेमें घुस गये ॥ २२ ॥

१. द्धनिष्ये । २. विष्णु० ।

क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः ।
वीक्ष्यमाणो दधाविद्रिं सप्ताहं नाचलत्पदात् ॥२३॥

भगवान् भूख-प्यासकी बाधा और विश्रामकी अपेक्षासे रहित रहकर उन व्रजवासियोंके देखते-देखते सात दिनतक पर्वतको उठाये रहे । इतने समयतक वे तनिक भी इधर-उधर न हुए ॥ २३ ॥

कृष्णयोगानुभावं तं निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मितः ।
निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान्मेघान्संन्यवारयत् ॥२४॥

कृष्णचन्द्रकी ऐसी योगशक्तिको सुनकर इन्द्रको बड़ा ही विस्मय हुआ । उसका संकल्प नष्ट हो गया और वह मदसे रहित (भौचक्का-सा) होकर अपने मेघोंको वर्षा करनेसे रोक दिया ॥ २४ ॥

खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम् ।
निशाम्योपरतं गोपान्गोवर्धनधरोऽब्रवीत् ॥२५॥

तब भयङ्कर वर्षा और वायुके शान्त एवं आकाशके मेघहीन हो जानेसे सूर्यको प्रकट हुआ देख गोवर्धन-धारी श्रीहरिने गोपोंसे कहा ॥ २५ ॥

निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः ।
उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः ॥२६॥

"हे गोपगण ! अब तुमलोग भय त्याग दो और अपने स्त्री, गोधन तथा बालकोंके सहित बाहर निकलो । अब वर्षा और वायु शान्त हो गये हैं तथा नदियोंका जल भी प्रायः उतर गया है" ॥२६॥

ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम् ।
शकटोढोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः ॥२७॥

तब गोपगण अपने-अपने गोधन, स्त्री, बालक और बूढ़ोंको साथ ले तथा अपनी सामग्री छकड़ोंपर लाद धीरे-धीरे गिरिराजके नीचेसे निकल आये ॥ २७ ॥

भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत्प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥२८॥

और सर्वसमर्थ भगवान्‌ने भी समस्त प्राणियोंके देखते-देखते लीलाहीसे उस पर्वतको पूर्ववत् अपने स्थानपर रख दिया ॥२८॥

तं प्रेमवेगान्निभृता[2] व्रजौकसो
यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन्मुदा
दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ॥२९॥

तदनन्तर प्रेमावेशसे पूर्ण व्रजवासियोंने भगवान्‌के पास आ उनका आलिङ्गनादिसे यथोचित सत्कार किया और गोपियोंने भी उनका दधि-अक्षतादिसे अति आनन्द और स्नेहपूर्वक पूजन करते हुए उन्हें शुभ आशीर्वाद दिये ॥ २९ ॥

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः ।
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥३०॥

यशोदा, रोहिणी, नन्द और बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीबलरामजीने भी स्नेहातुर होकर कृष्णचन्द्रका आलिङ्गन किया और उन्हें आशीर्वाद दिये ॥ ३० ॥

दिवि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः ।
तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव ॥३१॥

हे राजन् ! उस समय आकाशमें स्थित देव, साध्य, सिद्ध और चारणादि प्रसन्न होकर भगवान्‌की स्तुति करते हुए फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३१ ॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रणोदिताः ।
जगुर्गन्धर्वपतयस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप ॥३२॥

हे नृप ! स्वर्गमें देवताओंके बजानेसे शङ्ख और दुन्दुभियोंका नाद होने लगा और तुम्बुरु आदि गन्धर्व-राज गान करने लगे ॥ ३२ ॥

१. धाराद्रिं । २. प्रेमगर्भान्निभृ० ।

ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो
राजन्स गोष्ठं सबलोऽव्रजद्धरिः ।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका
गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः ॥२३॥

हे राजन् ! तदनन्तर अपने अनुरक्त भक्त गोपगणसे घिरे हुए भगवान् हरिने बलरामजीके सहित व्रजमें प्रवेश किया और उनके साथ ही गोपियाँ भी अपने हृदयमें विराजमान भगवान्की पूर्वोक्त लीलाओंका गान करती हुई चलीं ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1]
पूर्वार्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

छब्बीसवाँ अध्याय

नन्दजीसे श्रीकृष्णके प्रभावके विषयमें गोपोंकी बातचीत ।

श्रीशुक उवाच[2]

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते ।
अतद्वीर्यविदः[3] प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः ॥ १ ॥
बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै ।
कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ॥ २ ॥
यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया ।
कथं बिभ्रद्गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥ ३ ॥
तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः ।
पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः ॥ ४ ॥
हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक् ।
अनोऽपतद्विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ॥ ५ ॥
एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा ।
दैत्येन यस्तृणावर्तमहन्कण्ठग्रहातुरम् ॥ ६ ॥
क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उलूखले ।
गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले--हे राजन् ! भगवान् कृष्णके ऐसे अद्भुत कर्म देख उनके प्रभावको न जाननेवाले गोपगण विस्मित हो आपसमें मिलकर इस प्रकार कहने लगे ॥ १ ॥ "जो इस बालकके कर्म हैं वे सभी बड़े विचित्र हैं । इसका हम ग्रामीणोंमें जन्म लेना, जो कि इसके लिये निन्दाकी बात है, कैसे उचित हो सकता है ? ॥ २ ॥ अहो ! जिस प्रकार गजराज कमल-पुष्पको धारण करता है उसी प्रकार केवल सात वर्षकी अवस्थावाले इस बालकने [सात दिनतक] लीलाहीसे अपने एक हाथपर गिरिराजको कैसे धारण किया ? ॥ ३ ॥ जिस प्रकार काल शरीरकी आयुको नष्ट कर डालता है उसी प्रकार शैशवावस्थामें ही इसने नेत्र मूँदे हुए ही महाबलशालिनी पूतनाके प्राणोंके सहित उसका स्तनपान किया ? ॥ ४ ॥ जिस समय यह तीन महीनेहीका था उस समय एक छकड़ेके नीचे पालनेपर लेटे हुए रोते-रोते ऊपरकी ओर पाँव उछालनेसे इसकी लात खाकर वह छकड़ा उलट पड़ा ! ॥ ५ ॥ अहो ! एक वर्षहीकी अवस्थामें इसने आँगनमें बैठे-बैठे तृणावर्त दैत्यके हरकर आकाशमें ले जानेपर उस दैत्यको गला घोंटकर मार डाला ? ॥ ६ ॥ एक बार माखनकी चोरी करनेपर जब माताने इसे ऊखलसे बाँध दिया तो इसने घुटनोंके बल रेंगते-रेंगते दो अर्जुन वृक्षोंके बीचमें जा उन्हें उखाड़कर गिरा दिया ? ॥ ७ ॥

१. न्धे पञ्च० । २. बादरायणिरुवाच । ३. न त० ।

वने सञ्चारयन्वत्सान्सरामो बालकैर्वृतः ।
हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत् ॥ ८ ॥
वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया ।
हत्वा न्यपातयत्तेन कपित्थानि च लीलया ॥ ९ ॥
हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः ।
चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम् ॥१०॥
प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना ।
अमोचयद्व्रजपशून्गोपांश्चारण्यवह्नितः ॥११॥
आशीविषतमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं ह्रदात् ।
प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम् ॥१२॥
दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन्सर्वेषां नो व्रजौकसाम् ।
नन्द ते तनयेऽस्मासु[1] तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥१३॥
क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम् ।
ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे ॥१४॥

इसी प्रकार जब यह बलरामजीके साथ बहुत-से ग्वाल-बालोंसे घिरा हुआ वनमें बछड़े चरा रहा था उस समय इसने अपने वधकी इच्छावाले शत्रु बकासुरको अपनी भुजाओंसे उसकी चोंच फाड़कर मार डाला ॥ ८ ॥ ऐसे ही इसका वध करनेकी इच्छासे बछड़ेका रूप धारण कर बछड़ोंमें मिले हुए वत्सासुरको इसने लीलाहीसे मार डाला और उसे कैथेके वृक्षोंपर पटक कर उन्हें गिरा दिया ॥ ९ ॥ इसने बलरामजीके साथ मिलकर गर्दभरूपधारी धेनुकासुर और उसके बन्धु-बान्धवोंको मारा तथा पके हुए फलोंसे पूर्ण तालवनको एक निर्भय स्थान बना दिया ॥ १० ॥ महाबलशाली बलरामजीके द्वारा घोर दैत्य प्रलम्बासुरका वध करा इसने पशु और ग्वालबालोंको दावानलसे छुड़ाया ॥ ११ ॥ इसी प्रकार इसने विषमविषधर नागराज कालियका दमन कर उसका मान-मर्दन किया और उसे बलात्कारसे कालियदहसे निकालकर यमुनाजीका जल विषहीन कर दिया ॥ १२ ॥ इसके सिवा, नन्दजी ! हम यह भी देखते हैं कि तुम्हारे इस बालकपर हम सभी व्रजवासियोंका बड़ा अटूट अनुराग है और इसका भी हमपर स्वाभाविक स्नेह है । इसका भी क्या कारण हो सकता है ? ॥ १३ ॥ कहाँ सात वर्षका बालक, और कहाँ महान् गिरिराजको धारण करना ! अतः हे व्रजराज ! [ऐसी अद्भुत बातोंसे] हमें तुम्हारे पुत्रके विषयमें सन्देह होता है ॥ १४ ॥

नन्द[2] उवाच

श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्का च वोऽर्भके ।
एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥१५॥
वर्णास्त्रयः किलास्यासन्गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥१६॥
प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः ।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥१७॥

नन्दजी बोले—हे गोपगण ! मेरा कथन सुनो, इससे इस बालकके विषयमें तुम्हारी शङ्का दूर हो सकती है । इस बालकके विषयमें मुझसे श्रीगर्गजीने जो कुछ कहा था वह मैं तुझे सुनाता हूँ ॥१५॥ [उन्होंने कहा था कि] 'इस बालकके प्रत्येक युगमें अवतार लेनेपर क्रमशः श्वेत, रक्त और पीत वर्ण थे । इस समय यह कृष्ण-वर्ण उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥ तुम्हारा यह बालक पहले कभी वसुदेवजीके यहाँ उत्पन्न हुआ था; इसलिये विद्वान् लोग इसे 'श्रीमान् वासुदेव' इस नामसे कहते हैं ॥१७॥

१. ये ह्यस्मिन् । २. नन्दगोप उवाच ।

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥१८॥
एष वः श्रेय आधास्यद्गोपगोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥१९॥
पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून्समेधिताः ॥२०॥
य एतस्मिन्महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।
नारयोऽभिभवन्त्येतान्विष्णुपक्षानिवासुराः ॥२१॥
तस्मान्नन्द कुमारोऽयं नारायणसमो गुणैः ।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः ॥२२॥
इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥२३॥
इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः ।
मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः ॥२४॥

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा
वज्राश्मवर्षानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं
दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन् ।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो
लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्रद्गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभि-
त्प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥२५॥

गुण और कर्मोके अनुसार तुम्हारे पुत्रके बहुत-से नाम और रूप हैं; उन्हें मैं तो जानता हूँ किन्तु अन्य साधारण लोग नहीं जानते ॥ १८ ॥ यह बालक गोपगण और गोकुलको आनन्दित करनेवाला है, इसके द्वारा तुम्हारा परम कल्याण होगा । इसकी सहायतासे तुमलोग सब कठिनाइयोंको अनायास ही पार कर लोगे ॥ १९ ॥ हे व्रजराज ! पूर्वकालमें अराजकताके समय दुष्ट दस्युओंसे पीडित साधुजनोंने इससे सुरक्षित और सबल होकर दस्युओंको परास्त किया था ॥ २० ॥ जो परम सौभाग्यशाली पुरुष इससे प्रेम करते हैं उन्हें उनके शत्रु इसी प्रकार नहीं दबा सकते जैसे विष्णु भगवान्के पक्षवालोंको दैत्यगण ॥ २१ ॥ इसलिये हे नन्दजी ! तुम्हारा यह बालक गुण, श्री, कीर्ति और प्रभावकी दृष्टिसे साक्षात् श्रीनारायणके समान है । इसके कर्मोंमें किसी प्रकारका आश्चर्य न करना चाहिये ॥ २२ ॥ मुझे इस प्रकार आदेशकर गर्गजी अपने घर चले गये । तभीसे मैं अक्लिष्टकर्मा श्रीकृष्णको नारायणका अंश मानता रहा हूँ ॥ २३ ॥ इस प्रकार नन्दजीके मुखसे गर्गजीके वाक्य सुनकर समस्त व्रजवासी बड़े प्रसन्न हुए, उनका विस्मय जाता रहा और वे नन्द तथा कृष्णचन्द्रकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २४ ॥

जब यज्ञभङ्गसे कुपित होकर इन्द्र घोर वर्षा करने लगा उस समय स्त्री और पशुओंके सहित समस्त व्रजवासियोंको वज्रपात, ओलोंकी बौछार और प्रचण्ड-पवनसे पीडित होकर अपनी शरणमें आये देख जिन्होंने उनपर कृपा करनेके लिये जैसे कोई निर्बल—बालक खेलमें छत्राकपुष्प उखाड़ ले वैसे ही लीलापूर्वक हँसते-हँसते एक हाथसे ही गोवर्धनको उखाड़कर उठा लिया और सम्पूर्ण व्रजकी रक्षा की, वे इन्द्रका मद चूर्ण करनेवाले श्रीगोविन्द हमपर प्रसन्न हों ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

१. नन्दगोपसंवादः प्र० ।

सत्ताईसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णका अभिषेक।

श्रीशुक उवाच

गोवर्धने धृते शैल आसाराद्रक्षिते व्रजे।
गोलोकादाव्रजत्कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥ १ ॥
विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः।
पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥ २ ॥
दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः।
नष्टत्रिलोकेशमद इन्द्र आह कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

इन्द्र उवाच

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं
तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम्।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो
न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥ ४ ॥
कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता
लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः।
तथापि दण्डं भगवान्बिभर्ति
धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥ ५ ॥
पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो
दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः।
हिताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे
मानं विधुन्वञ्जगदीशमानिनाम् ॥ ६ ॥
ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिन-
स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम्।
हित्वार्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया
ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! गिरिराज गोवर्धनको धारण कर मूसलाधार वृष्टिसे व्रजकी रक्षा कर लेनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके पास गोलोकसे कामधेनु और स्वर्गसे देवराज इन्द्र आये ॥ १ ॥ इन्द्रने भगवान्‌की अवज्ञा करनेसे मन-ही-मन लज्जित हो एकान्तस्थानमें उनके पास जाकर अपने सूर्यके समान तेजस्वी मुकुटसे उनके चरण छुए ॥ २ ॥ अमित तेजस्वी भगवान् कृष्णका प्रभाव देख और सुनकर इन्द्रका त्रिलोकाधिपति होनेका मद जाता रहा और वे हाथ जोड़कर बोले ॥ ३ ॥

इन्द्रने कहा—प्रभो! आपका शुद्धसत्त्वमय तेज शान्त, ज्ञानमय और रजोगुण-तमोगुणसे रहित है। यह गुणप्रवाहरूप प्रपञ्च मायामय है। आपमें इसका लेश भी नहीं है; यह तो आपमें अज्ञानसे ही भासता है ॥ ४ ॥ आपका सम्बन्ध तो अज्ञान और उससे होनेवाले देहादिसे भी नहीं है फिर उन देहादिकी प्राप्तिके हेतु और उन्हींसे होनेवाले लोभादिका तो कहना ही क्या है? ये लोभादि तो अज्ञानके ही चिह्न हैं। [इस प्रकार यद्यपि इस अज्ञानजन्य जगत्‌से आपका कोई सम्बन्ध नहीं है] तो भी धर्मकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये आप दण्ड धारण करते हैं ॥ ५ ॥ आप जगत्‌के पिता, गुरु और अधीश्वर हैं। आप [उसका नियमन करनेके लिये] कालरूप दुस्तर दण्ड धारण किये हुए हैं। आप अपनी इच्छासे लीलामय शरीर धारण कर हम-जैसे जगदीश्वरताके अभिमानियोंका मान-मर्दन करते हुए संसारके कल्याणके लिये विविध लीलाएँ करते हैं ॥ ६ ॥ जो मुझ-जैसे अज्ञानी एवं जगदीश्वरताका अभिमान करनेवाले हैं वे आपको भयके अवसरपर भी निर्भय रहते देखकर शीघ्र ही अपना मद छोड़ गर्वरहित हो भद्र पुरुषोंके योग्य भक्तिमार्गका अवलम्बन करते हैं। आपकी चेष्टाएँ भी दुष्टजनोंका शासन करनेवाली हैं ॥ ७ ॥

१. बादरायणिरुवाच। २. इदमाह। ३. देवेश त ईश।

स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य
कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो
मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ॥ ८ ॥
तवावतारोऽयमधोक्षजेह
स्वयम्भराणामुरुभारजन्मनाम्[1] ।
चमूपतीनामभवाय देव
भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥ ९ ॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥१०॥
स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥११॥
मयेदं भगवन्गोष्ठनाशायासारवायुभिः ।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥१२॥
त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः ।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम् ।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥१४॥

श्रीभगवानुवाच

मया तेऽकारि मघवन्मखभङ्गोऽनुगृह्णता ।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम् ॥१५॥
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति ।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्[2] ॥१६॥
गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम् ।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः ॥१७॥

भगवन् ! मैं ऐश्वर्यके मदसे मतवाला हो जानेके कारण आपका प्रभाव नहीं जानता था, इसलिये हे ईश ! आप मुझ मूढमति अपराधीका यह अपराध क्षमा करें और ऐसी कृपा करें जिससे फिर कभी मुझमें ऐसी असद्बुद्धि न हो ॥ ८ ॥ हे देव ! हे अधोक्षज ! जो असुरसेनापति केवल अपना ही भरणपोषण करनेवाले और पृथ्वीपर महान् भारकी उत्पत्तिके कारण हैं उनका नाश करनेके लिये तथा अपने चरणचिह्नोंका अनुवर्तन करनेवाले भक्तजनोंकी रक्षाके लिये ही आपका यह अवतार हुआ है ॥ ९ ॥ हे भगवन् ! सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान सर्वव्यापक वासुदेव यादवाधीश आप भगवान् श्रीकृष्णको बारम्बार नमस्कार है ॥ १० ॥ आप स्वेच्छाशरीर धारण करनेवाले, विशुद्धविज्ञानरूप, सर्वमय, सबके मूलकारण और सर्वभूतमय हैं; आपको नमस्कार है ॥ ११ ॥ भगवन् ! मैं बड़ा अभिमानी था, इसलिये अपना यज्ञभङ्ग देखकर मैंने अत्यन्त क्रोधपूर्वक वर्षा और वायुसे व्रजको नष्ट करनेकी चेष्टा की थी ॥१२॥ किन्तु हे ईश ! आपने मुझपर बड़ी कृपा की, क्योंकि इस प्रकार मेरा उद्यम व्यर्थ हो जानेसे मेरा जगदीश्वरताका अभिमान जाता रहा । आप मेरे स्वामी, गुरु और आत्मा हैं; मैं आपकी शरण हूँ ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—इन्द्रके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् कृष्णने हँसकर अपनी मेघके समान गम्भीर वाणीसे उससे यों कहा ॥ १४ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे इन्द्र ! तुम ऐश्वर्यके मदसे अत्यन्त मतवाले हो रहे थे इसलिये तुमपर कृपा करनेके लिये मैंने तुम्हारा यज्ञ भङ्ग किया है, जिससे तुम मेरा स्मरण कर सको ॥ १५ ॥ ऐश्वर्य और लक्ष्मीके मदसे जो अन्धा हो रहा है वह पुरुष मुझ दण्डपाणि हरिको नहीं देखता; इसलिये मैं जिसपर कृपा करना चाहता हूँ उसे ऐश्वर्यभ्रष्ट कर देता हूँ ॥ १६ ॥ हे इन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम जाओ और मेरी आज्ञाका पालन करते हुए अपने गर्वरहित साथियोंके साथ अपने अधिकारपर स्थित रहो ॥ १७ ॥

---

१. भुवो भराणां बहुभार० । २. वाञ्छाम्य० ।

अथाह सुरभिः कृष्णमभिवन्द्य[1] मनस्विनी ।
स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमीश्वरम् ॥१८॥

तदनन्तर महामनस्विनी कामधेनुने अपनी सन्तानके सहित गोपरूपधारी भगवान् कृष्णको सम्बोधित कर उनकी वन्दना करते हुए कहा ॥ १८ ॥

सुरभिरुवाच

कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वसम्भव[2] ।
भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥१९॥
त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।
भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥२०॥
इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम् ।
अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन्भूमेर्भारापनुत्तये ॥२१॥

सुरभि बोली—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वके उत्पत्तिस्थान ! हे अच्युत ! आप लोकनाथके द्वारा हम सब सनाथ हुईं [क्योंकि इन्द्रके मारनेकी चेष्टा करनेपर भी आपने हमारी रक्षा की है] ॥ १९ ॥ हे जगत्पते ! आप हमारे परम पूजनीय देव हैं; अतः आप ही गौ, ब्राह्मण, देवता और साधुजनोंकी रक्षाके लिये हमारे इन्द्र होइये ॥ २० ॥ हम सब ब्रह्माजीकी प्रेरणासे आपको अपना इन्द्र मानकर अभिषेक करेंगी । हे विश्वात्मन् ! आपने पृथिवीका भार उतारनेके लिये ही भूमण्डलमें अवतार लिया है ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसात्मनः ।
जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः ॥२२॥
इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो[3] देवमातृभिः ।
अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ॥२३॥

तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो
गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः
सुराङ्गनाः संननृतुर्मुदान्विताः ॥२४॥
तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो
ह्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः ।
लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो
गावस्तदा गामनयन्पयोद्रुताम् ॥२५॥
नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन्मधुस्रवाः ।
अकृष्टपच्यौषधयो गिरयोऽबिभ्रदुन्मणीन् ॥२६॥
कृष्णेऽभिषिक्त एतानि सत्त्वानि[4] कुरुनन्दन ।
निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥२७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान् कृष्णसे ऐसा कह कामधेनुने अपने दूधसे और देवमाता अदितिकी प्रेरणासे देवर्षियोंके साथ देवराज इन्द्रने ऐरावतद्वारा सूँडमें लाये हुए आकाशगङ्गाके जलसे श्रीयदुनाथका अभिषेक किया और उन्हें 'गोविन्द' कहकर पुकारा ॥ २२-२३ ॥ इसी समय वहाँ नारद और तुम्बुरु आदि देवर्षिगण आये; गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध, और चारणगण भगवान्का संसारदोषापहारी निर्मल यश गाने लगे तथा अप्सराएँ अति आनन्दित होकर नृत्य करने लगीं ॥ २४ ॥ उस समय मुख्य-मुख्य देवताओंने भगवान्की स्तुति कर उनपर स्वर्गलोकके विचित्र पुष्पोंकी वर्षा की । तीनों लोकोंमें परमानन्द छा गया और गौओंके स्तनोंसे आप-ही-आप झरते हुए दुग्धसे पृथिवी गीली हो गयी ॥ २५ ॥ नदियाँ नाना प्रकारके रसोंसे पूर्ण हो गयीं, वृक्षोंसे मधु चूने लगा और जिनसे बिना जोते-बोये ओषधियाँ (अन्न) उत्पन्न होती हैं उन पर्वतोंने प्रकटरूपसे मणियाँ धारण कीं ॥ २६ ॥ हे कुरुनन्दन ! भगवान् कृष्णका अभिषेक होनेपर जो जीव स्वभावसे ही क्रूर हैं वे भी वैरविहीन हो गये ॥ २७ ॥

१. नन्द्य । २. भावन । ३. चोदितो । ४. सर्वाणि ।

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः ।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥२८॥

गौ और गोकुलके स्वामी श्रीगोविन्दका इस प्रकार अभिषेक कर उनकी आज्ञा पा इन्द्र अपने साथी देवतादिके सहित स्वर्गलोकको चले गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
इन्द्रस्तुतिर्नाम[1] सप्तविंशोऽध्यायः[2] ॥ २७ ॥

अट्ठाईसवाँ अध्याय

नन्दजीको वरुणके यहाँसे छुड़ाकर लाना।

श्रीशुक[3] उवाच

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम् ।
स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्या द्वादश्यां जलमाविशत्॥१॥
तं गृहीत्वानयद्भृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम् ।
अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक बार नन्दजीने एकादशीको निराहार रहकर श्रीहरिका पूजन किया और फिर द्वादशीको स्नान करनेके लिये यमुनाजलमें प्रवेश किया ॥ १ ॥ उस समय कुछ रात्रि शेष थी; किन्तु यह न जानकर नन्दजीने ज्यों ही उस आसुरी वेलामें जलमें प्रवेश किया त्यों ही एक वरुणका दूत असुर उन्हें पकड़कर अपने स्वामीके पास ले गया ॥ २ ॥

चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः ।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ।
तदन्तिकं[4] गतो राजन्स्वानामभयदो विभुः ॥ ३ ॥
प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया ।
महत्या पूजयित्वाह तद्दर्शनमहोत्सवः ॥ ४ ॥

नन्दजीको न देखकर समस्त गोपगण 'हे कृष्ण ! हे राम !' ऐसा कहकर चिल्लाने लगे । हे राजन् ! अपने आत्मीयोंको अभय देनेवाले भगवान् हरि उनका वह क्रन्दन सुनकर और यह जानकर कि 'पिताको वरुण ले गये हैं' वरुणके पास गये ॥ ३ ॥ भगवान् हृषीकेश-को आये देख लोकपाल वरुणने उनके दर्शनसे अत्यन्त आनन्दित हो बहुत-सी पूजन-सामग्रीके द्वारा उनका पूजन करके उनसे कहा—॥ ४ ॥

वरुण उवाच

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो ।
त्वत्पादभाजो[5] भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥ ५ ॥
नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥ ६ ॥

वरुण बोले—प्रभो ! आज मेरा शरीर धारण करना सफल हुआ, आज मेरा सकल मनोरथ सिद्ध हो गया; क्योंकि हे भगवन् ! आपके चरणोंकी सेवा करनेवाले लोग संसार-सागरसे पार हो जाते हैं [सो आज मैं भी उन्हें साक्षात् अपने सम्मुख देखकर कृतकृत्य हो गया] ॥ ५ ॥ जिनमें लोकसृष्टिकी कल्पना करनेवाली माया नहीं सुनी जाती वे आप षडैश्वर्यपूर्ण, सर्वत्र व्याप्त और सबके परम आत्मा हैं । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥

१. कृष्णाभिषेको नाम । २. सविंशतितमो । ३. बादरायणिरुवाच । ४. नन्दा० । ५. यत्पा० ।

अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना ।
आनीतोऽयं तव पिता तद्भवान्क्षन्तुमर्हति ॥ ७ ॥
ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुमर्हस्यशेषदृक् ।
गोविन्द नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल ॥ ८ ॥

प्रभो ! अपने कर्तव्यको न जाननेवाला मेरा एक मूढ भृत्य अनजानमें आपके पिताजीको ले आया है, सो आप उसका यह अपराध क्षमा करें ॥ ७ ॥ हे पितृवत्सल गोविन्द ! ये आपके पिता हैं, आप इन्हें ले जाइये । आप सबके साक्षी हैं अतः हे कृष्ण ! आप मुझ दासपर भी कृपा करें ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः ।
आदायागात्स्वपितरं बन्धूनां चावहन्मुदम् ॥ ९ ॥
नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् ।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् ॥
ते त्वौत्सुक्यधियो राजन्मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ॥११॥
इति स्वानां स भगवान्विज्ञायाखिलदृक् स्वयम्[1] ।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥१२॥
जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः ।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥१३॥
इति सञ्चिन्त्य भगवान्महाकारुणिको हरिः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥१४॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मज्योतिः[3] सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥१५॥
ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात्पुरा ॥१६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् कृष्ण वरुणद्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जानेपर अपने बन्धु-बान्धवोंको प्रसन्न करते हुए पिता नन्दजीको लेकर व्रजमें आये ॥ ९ ॥ नन्दजीने लोकपाल वरुणके इन्द्रियातीत महान् वैभवको और श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति उनकी विनयको देखकर अति विस्मित हो अपने जाति-भाइयोंको सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १० ॥ इससे गोपोंने उन्हें ईश्वर समझा और वे अति उत्सुक होकर मन-ही-मन सोचने लगे कि 'क्या सर्वेश्वर श्रीहरि कभी हमें भी अपनी सूक्ष्म गतितक पहुँचावेंगे ?' ॥ ११ ॥

सर्वान्तर्यामी भगवान् अपने आत्मीयोंका यह संकल्प जान गये और उसे कृपापूर्वक पूर्ण करनेके लिये इस प्रकार सोचने लगे ॥ १२ ॥ 'इस लोकमें जीव अज्ञान, कामना और कर्मोंके कारण ऊँची-नीची योनियोंमें भ्रमता हुआ अपनी वास्तविक गतिको नहीं जान पाता' ॥ १३ ॥ परम कारुणिक श्रीहरिने मनमें ऐसा विचारकर उन गोपोंको अपना अज्ञानातीत धाम दिखलाया ॥ १४ ॥ जो सत्य, ज्ञान, अनन्त और सनातन ब्रह्म ज्योतिरूप है तथा जिसे मुनिजन गुणसम्बन्धको त्यागदेनेपर एकाग्रचित्त होकर देखते हैं ॥ १५ ॥ उस ब्रह्महृदमें पहुँचकर वे समस्त गोपगण उसीमें लीन हो गये । तब भगवान् कृष्णने उन्हें उसमेंसे निकाला उससे बाहर आ गोपोंने वह सगुणब्रह्मका लोक देखा जिसे पहले * अक्रूरजी भी देख चुके हैं ॥ १६ ॥

१. वानखिलेश्वरः । २. य स्थिरनिश्चयम् । ३. तं ब्रह्म० ।

* अक्रूरजीने शुक-परीक्षित्-संवादसे पहले वैकुण्ठलोक देखा था, इसीलिये यहाँ भूतकालिक प्रयोग हुआ है ।

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः ।
कृष्णं च तत्रच्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः[1] ॥ १७ ॥

उस दिव्य लोकको देखकर नन्दादि गोपोंको परमानन्द प्राप्त हुआ और वहाँ श्रीकृष्णचन्द्रको वेदोंद्वारा स्तुति किये जाते देखकर तो उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे-
ऽष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

उनतीसवाँ अध्याय

रासलीलाका आरम्भ ।

श्रीशुक[3] उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥ १ ॥
तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥ २ ॥
दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥ ३ ॥
निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जिनमें मल्लिकाके कुसुम खिले हुए हैं उन शरद् ऋतुकी रमणीय रात्रियों-को देखकर भगवान्ने भी योगमायाका आश्रय ले रमण करनेकी इच्छा की ॥ १ ॥ जिस प्रकार विदेशसे बहुत दिनोंमें लौटा हुआ नायक अपनी प्रियाके मुखारविन्दको कुङ्कुमरागसे रञ्जित कर उसे आनन्दित करता है उसी प्रकार पूर्णचन्द्र अपनी शान्त किरणोंके द्वारा लालिमासे प्राची दिशाका मुख रञ्जित करता हुआ प्रकट हुआ । उसके उदित होते ही समस्त जीवोंका सूर्य-सन्ताप-जनित ताप दूर हो गया ॥ २ ॥ आकाशमें लक्ष्मीजीके मुखमण्डलके समान शोभायमान और नव-कुङ्कुमके समान अरुणवर्ण अखण्डमण्डलाकार चन्द्रदेव-को तथा उनकी कोमल किरणोंसे रञ्जित वृन्दावनको देख भगवान्ने व्रजसुन्दरियोंके मनोंको हरनेवाला मधुर गान किया ॥ ३ ॥ उस कामोद्दीपक गानके कानमें पड़ते ही समस्त व्रजबालाएँ कृष्णमें आसक्तचित्त होकर एक-दूसरोसे अपनी चेष्टा छिपाती हुई अपने कान्तके पास आयीं । उस समय अत्यन्त वेगके कारण उनके कानोंके कमनीय कुण्डल हिलते जाते थे ॥ ४ ॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥ ५ ॥

उनमेंसे कोई गोपी दूध दुह रही थीं, वे उत्सुकता-वश दुहना छोड़कर चल दीं; कोई चूल्हेपर चढ़ा हुआ दूध वहीं छोड़कर और कोई उबलती हुई लप्सी बिना उतारे ही उठ चलीं ॥ ५ ॥

१. कृष्णं समभिसंस्तूय मानयन्तः शुचिस्मिताः । २. नन्दविमोक्षणमष्टा० । ३. बादरायणिरुवाच । ४. मयोऽच्युतः ।

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून्पयः ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन्काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥६॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥७॥
ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः[1] ॥ ८ ॥

कोई भोजन परोस रही थीं, वे परोसना छोड़कर चल पड़ीं । इसी प्रकार बालकोंको दूध पिलानेवाली पिलाना छोड़कर, पतियोंकी सेवा करनेवाली उनकी सेवा छोड़कर और भोजन करनेवाली भोजन करना छोड़कर झटपट चल दीं ॥ ६ ॥ कोई चन्दनादि लगा रही थीं, कोई उबटन मल रही थीं और कोई नेत्रोंमें अञ्जन आँज रही थीं—वे सब अपना-अपना शृङ्गार छोड़कर चल दीं, कोई-कोई उतावलीके कारण शरीरमें उलटे-सीधे वस्त्राभूषण पहन कृष्णचन्द्रके पास चली आयीं ॥ ७ ॥ उनके पति, पिता, भ्राता और बन्धुओंने उन्हें बहुत कुछ रोका, किन्तु श्रीगोविन्दने उनके चित्तोंको ऐसा खींच लिया था कि वे मुग्धा बालाएँ उनके रोके न रुकीं ॥ ८ ॥

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥ ९ ॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥१०॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥११॥

कुछ गोपियाँ अपने घरोंके भीतर थीं, वे घरवालोंसे रोकी जानेके कारण बाहर न आ सकीं । तब वे श्रीकृष्णकी भावनासे उनमें तन्मय हो नेत्र मूँदकर उनका ध्यान करने लगीं ॥ ९ ॥ प्रियतम कृष्णके दुस्सह विरहकी तीव्र वेदनासे उनके समस्त अशुभ भस्म हो गये और ध्यानावस्थामें प्राप्त हुए श्रीहरिका आलिङ्गन करनेके परमानन्दसे उनके सब शुभ भी क्षीण हो गये ॥ १० ॥ इस प्रकार जारबुद्धिसे भी उस परमात्मा कृष्णका ही संग होनेसे उनके कर्मबन्धन टूट गये और उन्होंने तुरन्त ही अपना त्रिगुणमय देह त्याग दिया ॥ ११ ॥

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥१२॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे मुने ! वे व्रजबालाएँ तो कृष्णचन्द्रको अपना परम प्रिय कान्त ही मानती थीं, उनका उनमें ब्रह्मभाव नहीं था । इस प्रकार गुणमयी बुद्धिसे युक्त होनेपर भी उनका यह गुण-प्रवाहरूप संसार कैसे निवृत्त हो गया ? ॥ १२ ॥

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥१३॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१४॥

श्रीशुकदेवजी बोले—राजन् ! मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि चेदिराज शिशुपाल भगवान्‌का द्वेष-भावसे चिन्तन करनेपर भी परमपदको प्राप्त हुआ था, फिर जो श्रीहरिकी अत्यन्त प्रिय थीं उन गोपियोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥ १३ ॥ हे नृप ! वास्तवमें तो भगवान् अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणोंके अधिष्ठान हैं; मनुष्योंके कल्याणके लिये ही उनका सगुणरूपसे अवतार होता है ॥ १४ ॥

---
१. काश्चन ।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१५॥

जो पुरुष भगवान्‌में निरन्तर काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहार्दका भी भाव रखते हैं वे भी तन्मयताको ही प्राप्त हो जाते हैं ॥ १५ ॥

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥१६॥

हे राजन् ! तुम्हें योगेश्वरेश्वर अजन्मा भगवान् कृष्णके विषयमें ऐसा विस्मय न करना चाहिये; क्योंकि उनकी कृपासे यह सारा जगत् मुक्त हो सकता है ॥ १६ ॥

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान्व्रजयोषितः ।
अवदद्वदतां श्रेष्ठो वाचःपेशैर्विमोहयन् ॥१७॥

इधर व्रजबालाओंको अपने निकट आयी देख वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् कृष्णने अपनी वाक्-चातुरीसे उन्हें मोहित करते हुए कहा ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः ।
व्रजस्यानामयं कच्चिद्ब्रूतागमनकारणम् ॥१८॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाभागाओ ! तुम्हारा स्वागत है । कहो, 'मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ? व्रजमें तो सब कुशलसे हैं न ? तुम इस समय अपने आनेका कारण बतलाओ ॥ १८ ॥

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता ।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१९॥

हे सुन्दरियो ! देखो, यह रात्रि बड़ी भयानक है; इस समय बहुत-से भयानक जीव इधर-उधर घूम रहे हैं । अतः तुम तुरन्त व्रजको लौट जाओ । यहाँ स्त्रियोंको अधिक देरतक नहीं ठहरना चाहिये ॥ १९ ॥

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥

तुम्हें न देखकर तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, भाई और पति आदि ढूँढ़ रहे होंगे । तुम अपने बन्धुओंको व्यर्थ घबराहटमें मत डालो ॥२०॥

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् ।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥२१॥

तुम चन्द्रमाकी रश्मियोंसे रञ्जित और यमुनाजलके स्पर्शसे शीतल मन्द-पवनकी गतिसे हिलते हुए नव-पल्लवोंसे सुशोभित एवं खिले हुए मनोहर वृन्दावनकी शोभा भी निहार चुकीं ॥ २१ ॥

तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन्सतीः ।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान्पाययत दुह्यत ॥२२॥

इसलिये हे सतियो ! अब देरी न करो, तुरन्त ही व्रजको जाओ और अपने पतियोंकी सेवा करो । देखो, तुम्हारे बालक और बछड़े रो रहे होंगे, उन्हें दूध पिलाओ और गौओंको दुहो ॥ २२ ॥

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥२३॥

अथवा यदि मेरे स्नेहके कारण तुम आसक्तचित्त होकर यहाँ आयी हो तो यह भी उचित ही है; क्योंकि सभी प्राणी मुझमें प्रेम करते हैं ॥ २३ ॥

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥२४॥

हे कल्याणियो ! पति और उसके बन्धुओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना तथा सन्तानका पालन-पोषण करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है ॥ २४ ॥

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥२५॥

जिन स्त्रियोंको शुभ गति पानेकी इच्छा हो वे पातकीको छोड़कर और किसी प्रकारके पतिका त्याग न करें—भले ही वह बुरे स्वभाववाला, अभागा, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन भी क्यों न हो ॥ २५ ॥

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥२६॥
श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

कुलाङ्गनाओंके लिये जारसेवा सर्वत्र निन्दनीय है; इससे उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती तथा संसारमें उनका अपयश होता है। यह अत्यन्त तुच्छ, कष्टकारक और भयदायक कर्म है ॥ २६ ॥ [और यदि तुम्हें मेरे अनन्य प्रेमकी ही चाह है तो भी] मेरा गुणश्रवण, दर्शन, ध्यान और नामकीर्तन करनेसे मुझमें जैसा प्रेम होता है वैसा मेरे पास रहनेसे नहीं होता; इसलिये तुम अपने घरोंको लौट जाओ ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥२८॥
कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्-
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
अस्रैरुपात्तमषिभिः[१] कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥२९॥
प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चि-
त्संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥३०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! श्रीगोविन्दका यह अप्रिय भाषण सुन गोपियाँ उदास हो गयीं और उनकी आशा टूट जानेसे उन्हें दुस्तर चिन्ता हुई ॥२८॥ शोकके कारण दीर्घ और उष्ण निःश्वाससे जिनके अधरपुट सूख गये हैं ऐसे मुखोंको नीचा किये वे गोपियाँ अपने चरणनखोंसे पृथिवी खोदने लगीं । नेत्रोंकी कज्जलकालिमासे मिलकर निकले हुए आँसुओंसे वे अपने कुच-कुङ्कुमको धोती हुई दुःखके गुरुतर भारसे चुपचाप खड़ी रह गयीं ॥ २९ ॥ प्यारे कृष्णके लिये जिन्होंने सम्पूर्ण विषय छोड़ दिये हैं वे अनुरागिणी गोपियाँ रोनेके कारण आँसुओंसे भरे हुए नेत्रोंको पोंछकर कुछ प्रणयकोपसे गद्गद हुई वाणीसे, जो प्रियतम होकर भी ऐसा अप्रिय भाषण कर रहे थे, उन कृष्णचन्द्रके प्रति इस प्रकार कहने लगीं ॥ ३० ॥

गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान्गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥३१॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥

गोपियाँ बोलीं—विभो ! आपको ऐसे कठोर शब्द न कहने चाहिये । हम अन्य सम्पूर्ण विषयोंको छोड़कर एकमात्र आपके चरणकमलोंमें ही अनुरक्त हैं, अतः हे स्वच्छन्द ! जिस प्रकार आदिपुरुष श्रीनारायण मुमुक्षुओंको भजते हैं, उसी प्रकार आप हमें अङ्गीकार कीजिये, इस प्रकार त्यागिये मत ॥ ३१ ॥ हे कृष्ण ! धर्मको जाननेवाले आपने जो कहा कि 'पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है' सो उपदेशके विषयभूत आप ईश्वरमें ही हमारे ये सब भाव इसी प्रकारसे हों, क्योंकि समस्त देहधारियोंके प्रियतम बन्धु और आत्मा आप ही हैं ॥ ३२ ॥

१. मलिनैः ।

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
न्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥३३॥
चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
द्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥३४॥
सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग
स्थातुं त्वयाभिरमिता वत पारयामः ॥३६॥
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥३७॥
तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।

शास्त्रकुशल पुरुष अपने नित्यप्रिय आत्मस्वरूप आपहीमें प्रेम करते हैं, इस लोकमें सदा दुःख देनेवाले पति-पुत्रादिसे उन्हें क्या प्रयोजन है ? अतः हे परमेश्वर ! आप हमपर प्रसन्न होइये । हे कमलनयन ! हम बहुत दिनोंसे आपकी आशा लगाये हुए हैं; आप हमारी आशालताका छेदन न करें ॥ ३३ ॥ [और आप जो हमसे घर लौट जानेके लिये कहते हैं वह हमसे हो भी कैसे सकता है क्योंकि] अबतक हमारा चित्त आनन्दपूर्वक घरमें आसक्त था, उसे आपने चुरा लिया, हमारे हाथ घरके धन्धोंमें लगे हुए थे वे भी चेष्टाहीन हो गये और हमारे पैर भी आपके चरणकमलोंके निकटसे एक पग नहीं हटना चाहते; फिर हम किस प्रकार व्रजको जायँ और वहाँ जाकर करें भी क्या ? ॥ ३४ ॥ प्यारे! आपकी मन्दमुसकानमयी चितवन और मनोहर गीतसे हमारे हृदयमें प्रबल कामानल प्रज्वलित हो रहा है, उसे अपने अधरामृतके प्रवाहसे शान्त कीजिये । नहीं तो, आपके विरहसे उत्पन्न होनेवाले अग्निसे हमारे शरीर भस्म हो जायँगे और हे मित्र ! हम आपका ध्यान धरकर आपके चरणोंकी सन्निधि प्राप्त करेंगी ॥ ३५ ॥ हे कमलनयन ! वनवासियोंके प्रिय आप लक्ष्मीजीको भी जिन चरणोंकी सेवाका कभी-कभी अवसर देते हैं, आपके उन चरणकमलोंका हमने जिस समय स्पर्श किया था और आपने हमें आनन्दित किया था तभीसे हम और किसी [पति आदि] के सामने नहीं ठहर सकतीं ॥ ३६ ॥ जिनके कृपाकटाक्षके लिये अन्य देवगण अत्यन्त प्रयास करते हैं वे लक्ष्मीजी बिना किसी प्रतिद्वन्द्वीके आपके वक्षःस्थलमें स्थान पाकर भी तुलसी तथा अन्य भक्तजनोंसे सेवित आपकी जिस चरणरजके लिये इच्छा करती हैं उन्हींकी भाँति हम भी निःसन्देह आपकी उसी चरणरजकी शरणमें आयी हैं ॥ ३७ ॥ अतः हे दुःखदलन ! आप हमपर प्रसन्न होइये । हम आपकी सेवा करनेकी आशासे अपने घरोंको छोड़कर आपकी चरणशरणमें आयी हैं ।

१. क्षण उता० ।

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥
वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥३९॥
का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥४०॥
व्यक्तं भवान्व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥४२॥
ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः
प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधिति-
र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥४३॥
उपगीयमान उद्गायन्वनिताशतयूथपः ।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन्वनम् ॥४४॥
नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् ।
रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥४५॥
बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।

हे नररत्न! आपकी मनोहर मुसकान और चारु चितवन-से हमारा चित्त अत्यन्त कामसन्तप्त हो रहा है; आप हमें अपना दास्यभाव दीजिये ॥ ३८ ॥ प्यारे! आपका अलकावलीसे आवृत मुख, कुण्डलकान्तिसे सुशोभित कपोल, अधरामृत, मनोहर मुसकानमयी चितवन, अभयदायक बाहुयुगल और एकमात्र लक्ष्मीजीका क्रीडास्थान विशाल वक्षःस्थल देखकर हम आपकी दासी हो चुकी हैं ॥ ३९ ॥ हम ही क्या, त्रिलोकीमें और भी ऐसी कौन स्त्री होगी जो मधुर पदावलीसे युक्त उच्चस्वरसे गाये जानेवाले आपके स्वरालापोंको सुनकर और इस त्रिलोकसुन्दर स्वरूपको देखकर, जिससे गौ, पक्षी, वृक्ष और मृगोंको भी रोमाञ्च हो आता है, अपनी आर्य-मर्यादासे विचलित न हो जायगी? ॥ ४० ॥ यह बात स्पष्ट है कि आदिपुरुष श्रीनारायणकी भाँति देवताओंकी रक्षा करनेवाले आप व्रजमण्डलका भय और दुःख दूर करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं; इसलिये हे दीनबन्धो ! आप हम दासियोंके तपे हुए वक्षःस्थल और शिरोंपर अपना करकमल रखिये ॥ ४१ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—गोपियोंकी ऐसी विह्वलता-युक्त बातें सुन योगेश्वरेश्वर भगवान् कृष्ण दयापूर्वक मुसकाये और आत्माराम होकर भी गोपियोंके साथ रमण करने लगे ॥४२॥ मनोहर कटाक्ष और प्रफुल्ल वदन-वाली गोपाङ्गनाओंसे घिरे हुए उदारचरित्र भगवान् कृष्ण मनोहर मुसकान और कुन्दकलीके समान दाँतोंकी कान्तिसे ऐसे सुशोभित हुए जैसे तारामण्डलसे घिरे हुए चन्द्रमा ॥ ४३ ॥ सैकड़ों स्त्रियोंके यूथपति भगवान् कृष्ण उनसे कीर्तित हो और स्वयं भी उनके साथ उच्चस्वरसे गाते हुए गलेमें वैजयन्ती माला धारण किये वनको विभूषित करते हुए विचरने लगे ॥ ४४ ॥ तदनन्तर, उन्होंने शीतल वालुकासे युक्त यमुनातटपर जाकर वहाँ गोपियोंके साथ क्रीडा की। वह स्थान यमुना-की चञ्चल तरङ्गोंके सम्पर्कसे सुखद और कुमुदिनीकी गन्धसे सुगन्धित वायुसे सेवित होनेके कारण अति आनन्दमय हो रहा था ॥ ४५ ॥ हाथ फैलाना, आ-लिङ्गन करना, कर, अलक, जङ्घा, कटि-वस्त्रके बन्धन और स्तन आदिका स्पर्श करना, मसखरी करना, नख-क्षत करना, विनोदपूर्ण चितवनसे निहारना और

क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन्रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥४६॥
एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥४७॥
तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥४८॥

मुसकाना आदि उपायोंसे व्रजबालाओंका कामरस उद्दीप्त करते हुए भगवान् कृष्ण उनके साथ क्रीडा करने लगे ॥ ४६ ॥ परमात्मा भगवान् कृष्णसे इस प्रकार मान पाकर मानवती गोपाङ्गनाओंने अपनेको संसारमें सम्पूर्ण स्त्रियोंसे श्रेष्ठ समझा ॥ ४७ ॥ उनके उस सौभाग्यमद और मानको देखकर उसे शान्त करनेके लिये और उनपर कृपा करनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र [उनके बीचसे] वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे भगवतो
रासक्रीडावर्णनं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

तीसवाँ अध्याय

अन्तर्धान हुए भगवान्‌की खोज ।

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥
गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै-
र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते-
स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥२॥
गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ ३ ॥
गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥
दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान्‌के अकस्मात् अन्तर्धान हो जानेपर उन्हें न देखकर गोपियाँ इस प्रकार व्याकुल हो गयीं जैसे यूथपति गजराजके बिना हथिनियाँ हो जाती हैं ॥ १ ॥ भगवान्‌की चाल-ढाल, प्रेममयी मुसकान, विलासमयी चितवन, मनोहर बातचीत और लीलाविलाससे जिनके चित्त आकर्षित हो रहे थे वे गोपाङ्गनाएँ तन्मय होकर उनकी भिन्न-भिन्न चेष्टाओंका अनुकरण करने लगीं ॥ २ ॥ प्रियतमकी गति, मुसकान, चितवन और भाषणादिमें आसक्त होकर जो तन्मय हो रही हैं वे व्रजबालाएँ भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करती हुई 'वह कृष्ण मैं ही हूँ' ऐसा परस्पर कहने लगीं ॥ ३ ॥ वे सब परस्पर मिलकर उच्चस्वरसे उन्हींका गुणगान करती हुई उन्मत्तके समान एक वनसे दूसरे वनमें जा-जाकर समस्त भूतोंके भीतर-बाहर आकाशके समान व्याप्त सर्वान्तर्यामी श्रीहरिका पता वृक्षोंसे पूछने लगीं ॥ ४ ॥ "हे अश्वत्थ ! हे प्लक्ष ! हे न्यग्रोध ! प्यारे नन्दनन्दन अपनी प्रणयमुसकानमयी चितवनसे हमारा चित्त चुराकर चले गये हैं, क्या तुमने उन्हें देखा है ?॥५॥

१. रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणमेकोन० ।

कच्चित्कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः ।
रामानुजो मानिनीनामितो[1] दर्पहरस्मितः ॥ ६ ॥

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये ।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद्दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥७॥

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके ।
प्रीतिं वो जनयन्यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥९॥

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥ १० ॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन्दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥११॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन्प्रणयावलोकैः ॥१२॥

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥१३॥

हे कुरबक ! हे अशोक ! हे नाग ! हे पुन्नाग ! हे चम्पक ! अपनी मुसकानसे मानिनियोंका मान-मर्दन करनेवाले बलरामजीके छोटे भाई क्या इस ओर आये थे ? ॥ ६ ॥ हे कल्याणि तुलसि ! हे गोविन्दचरणप्रिये ! क्या तूने भ्रमरनिकरके सहित तेरेको धारण किये अपने प्रियतम कृष्णको देखा है ? ॥ ७ ॥ हे मालति ! हे मल्लिके ! हे जाति ! हे यूथिके ! तुमने श्रीमाधवको देखा है क्या ? वे तुम्हें अपने करस्पर्शसे आनन्दित करते हुए इधरसे गये हैं ॥८॥ हे रसाल ! हे प्रियाल ! हे पनस ! हे असन ! हे कोविदार ! हे जामुन ! हे आक ! हे बिल्व ! हे बकुल ! हे आम ! हे कदम्ब ! हे नीप ! और हे परोपकारके लिये ही जीवन धारण करनेवाले यमुनातटवर्ती अन्य तरुवरो ! हम कृष्णके विरहमें चेतनाहीन हो रही हैं, तुम हमें उनका मार्ग बता दो ॥ ९ ॥ हे धरणि ! तुमने ऐसा क्या तप किया है जो श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शसे आनन्दित होकर तुम तृण-लतादिके रूपमें अपना रोमाञ्च प्रकट कर रही हो ? तुम्हारा यह उल्लास श्रीकृष्णचन्द्र-के चरणस्पर्शके कारण है या त्रिविक्रम भगवान्के पादक्रमणसे है अथवा उनसे भी पहले वाराह भगवान्के अङ्गसङ्गके कारण है ? ॥ १० ॥ अरी सखी मृगियो ! अपने अङ्गोंकी सुषमासे तुम्हारे नयनोंको आनन्दित करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपनी प्रियाके साथ इधरसे गये हैं क्या ? क्योंकि यहाँ प्रियाके अङ्गसङ्गसे उसके कुचकुङ्कुमसे रञ्जित कुलपति कृष्णकी कुन्दकलीकी माला-की मनोहर गन्ध आ रही है ॥ ११ ॥ हे तरुवरगण ! जिनके पीछे तुलसीकी गन्धके लोभी मदान्ध मधुकर जा रहे हैं उन कृष्णचन्द्रने एक हाथमें क्रीडाके लिये कमल धारण किये और दूसरा हाथ प्रियाके कंधेपर रखे यहाँ विचरते हुए क्या अपने प्रणयकटाक्षसे तुम्हारी वन्दनाका अभिनन्दन किया है ?॥ १२ ॥ [इतनेहीमें एक सखी बोल उठी] सखियो ! इन लताओंसे तो पूछो; देखो, ये अपनी भुजाओंसे वृक्षोंका आलिङ्गन किये हुई हैं तो भी ये भगवान्के नखोंका स्पर्श होनेसे रोमाञ्चित हो रही हैं । अहो ! इनका कैसा सौभाग्य है ? ॥ १३ ॥

१. नां गतो ।

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥१४॥
कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम् ।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम् ॥१५॥
दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥१६॥
कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥१७॥[1]
आहूय दूरगा यद्वत्कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥१८॥
कस्यांचित्स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥१९॥
मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥२०॥
आरुह्यैका पदाक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥२१॥
तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥२२॥

हे राजन् ! श्रीकृष्णचन्द्रकी खोजमें व्याकुल हुई गोपियाँ इस प्रकार उन्मत्तोंके समान प्रलाप करती हुई तद्रूप होकर भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करने लगीं ॥१४॥ किसी कृष्ण बनी हुई गोपीने दूसरी पूतना बनी हुई गोपीका स्तन पान किया और किसी बालक बनी हुई गोपीने छकड़ा बनी हुई दूसरी गोपीको पाँव मारकर गिरा दिया ॥१५॥ कोई गोपी तृणावर्त दैत्य बनी, वह कृष्ण बनी हुई अन्य गोपीको हर ले गयी और कोई अपने नूपुरोंका शब्द करती हुई पाँव खींच-खींचकर घुटनोंके बल रेंगने लगी ॥१६॥ दो गोपियाँ कृष्ण और बलराम बनीं और कुछ ग्वालबाल बनीं । तब उनमेंसे एकने कृष्णका अनुकरण करते हुए वत्सासुर बनी हुईको और दूसरीने बकासुर बनी हुई गोपीको (झूठमूठ) मार डाला ॥१७॥ फिर जैसा श्रीकृष्ण करते थे उन्हींका अनुकरण करके बाँसुरी बजाकर दूर निकल गये पशुओंको बुलानेकी क्रीडा करनेवाली एक गोपीसे 'वाह-वाह' कहकर अन्य गोपियाँ उसकी प्रशंसा करने लगीं ॥१८॥ किसी सखीके गलेमें बाँह डालकर चलती हुई एक दूसरी कृष्णमना गोपी अन्य गोपाङ्गनाओंसे कहने लगी, "मित्रो, मैं कृष्ण हूँ, तुम मेरी मनोहर गति तो देखो" ॥ १९॥ "अरे व्रजवासियो ! तुम वर्षा और वायुसे मत डरो, मैंने उनसे बचनेका उपाय निकाल लिया है" ऐसा कह एक कृष्ण बनी हुई गोपीने गोवर्धन-धारणका अनुकरण करते हुए अपनी ओढ़नी फैलाकर ऊँची उठा ली ॥२०॥ हे राजन् ! एक गोपी कालिय बनी हुई दूसरी गोपीके शिरपर पाँव रखकर चढ़ गयी और कहने लगी, "रे दुष्ट सर्प ! तू यहाँसे चला जा, मैं दुष्टोंका दमन करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ" ॥२१॥ [इतनेहीमें एक गोपी बोली—] "अरे गोपगण ! देखो, महाभयङ्कर दावानल लगा हुआ है; तुमलोग शीघ्र ही अपने नेत्र मूँद लो, मैं तुम लोगोंकी सहजहीमें रक्षा कर दूँगा" ॥२२॥

[1] वत्सायितां गृहीत्वान्या तत्रैका तु बकायिताम् ।

बद्ध्वान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले ।

भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ।।२३।।

एक सुकुमारी व्रजनारीको यशोदा बनी हुई दूसरी गोपीने फूलोंकी मालासे ऊखलमें बाँध दिया। तब वह सुनयनी हाथोंसे मुख ढाँपकर भयका अनुकरण करने लगी ।।२३।।

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् ।

व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ।।२४।।

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः ।

लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः ।।२५।।

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः ।

वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ।।२६।।

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना ।

अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ।।२७।।

अनयाराधितो नूनं भगवान्हरिरीश्वरः ।

यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ।।२८।।

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः ।

यान्[१] ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ।।२९।।

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।

यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ।।३०।।

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः ।

खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ।।३१।।

इस प्रकार लीला कर फिर भी वृन्दावनके वृक्ष और लता आदिसे कृष्णचन्द्रका पता पूछते-पूछते उन व्रजबालाओंने वनमें एक स्थानपर भगवान्‌के चरणचिह्न देखे ।।२४।। [उन्हें देखकर वे आपसमें कहने लगीं—] निश्चय ये ध्वजा, कमल, वज्र, अङ्कुश और यवादि चिह्नोंसे युक्त महात्मा नन्दनन्दनके ही चरणचिह्न हैं ।।२५।। उन चिह्नोंसे भगवान्‌को खोजती हुई उन अबलाओंने आगे बढ़नेपर उनके साथ किसी स्त्रीके चरणचिह्न भी देखे। उन्हें देख वे व्याकुल होकर कहने लगीं—।।२६।। "हथिनी जिस प्रकार हाथीके साथ जाती है उसी प्रकार नन्दनन्दनके साथ उनके कन्धेपर हाथ रखे गयी हुई किस बड़भागिनीके ये चरणचिह्न हैं? ।।२७।। अवश्य ही, इसने भगवान् हरिकी आराधना की होगी; इसीलिये इससे प्रसन्न होकर श्रीगोविन्द हमें छोड़कर इसे एकान्तमें ले गये हैं ।।२८।। अहो सखियो! ये कृष्णचन्द्रके चरणकमलोंके रजःकण परम धन्य हैं, जिन्हें ब्रह्मा, महादेव और लक्ष्मी आदि भी अपने पाप क्षीण करनेके लिये शिरपर धारण करते हैं" ।। २९ ।। [इतनेहीमें एक गोपी बोल उठी—] "कुछ भी हो, यह जो हम सबके सर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रको एकान्तमें ले जाकर अकेली ही उनके अधरसुधाका पान कर रही है इस गोपीके उभरे हुए चरणचिह्न तो हमारे चित्तमें अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं" ।।३०।। [कुछ आगे जानेपर उसके पदचिह्न न देखकर वे कहने लगीं—] "देखो, यहाँ उस बालाके पाँव दिखलायी नहीं देते। मालूम होता है, यहाँ अपनी प्रियाके सुकुमार चरणोंको घासकी नोंकसे कष्ट होता देख प्यारेने उसे कन्धेपर चढ़ा लिया है ।।३१।।

१. नाम्। २. यान् ब्रह्मादयो देवाः प्राप्नुवन्ति च मूर्धतः ।

अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ।
अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३२॥
केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥३३॥
रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥३४॥
इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः ।
यां गोपीमनयत्कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥३५॥
सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥३६॥
ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥३७॥
एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥३८॥
हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥३९॥
अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः ।
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥४०॥

देखो, यहाँ महात्मा कृष्णने फूल चुननेके लिये प्रियाको नीचे उतारा है और यहाँ प्रियाके लिये प्रियतमने पुष्प-चयन किया है इसलिये देखो, उचककर फूल तोड़नेके कारण यहाँ उनके अधूरे चरणोंके (चरणोंके अग्रभागके) ही चिह्न हैं ॥३२॥ यहाँ कामी कृष्णने प्रियाके केश सँवारे हैं। अपने एकत्रित किये हुए पुष्पोंसे प्रियाके केशपाशको विभूषित करनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र यहाँ अवश्य ही बैठे रहे होंगे" ॥३३॥

हे राजन् ! अपने आपमें ही सन्तुष्ट और निरन्तर आत्माराम होकर भी भगवान् कृष्णने कामियोंकी दीनता और स्त्रियोंकी दुरात्मता दिखानेके लिये वहाँ उस गोपीके साथ रमण किया था ॥३४॥

इस प्रकार उन्मत्त-सी होकर कृष्णचन्द्रको ढूँढ़ती हुई वे समस्त गोपियाँ वनमें विचर रही थीं। इधर, भगवान् कृष्ण और सब स्त्रियोंको वनमें छोड़कर जिस गोपीको एकान्तमें ले गये थे उसने समझा कि समस्त स्त्रियोंमें मैं ही श्रेष्ठ हूँ, इसीलिये और सब कामातुरा कामिनियोंको छोड़कर प्यारेने मेरा ही मान किया है ॥३५-३६॥ इसलिये उस प्रेमगर्विता गोपाङ्गनाने वनमें पहुँचकर श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—"प्यारे ! अब मुझसे और अधिक नहीं चला जाता, तुम्हारी जहाँ चलनेकी इच्छा हो [मुझे कन्धेपर चढ़ाकर] ले चलो" ॥३७॥ इस प्रकार कहनेपर भगवान्ने उस प्रियतमासे कहा—"अच्छा, तुम मेरे कन्धेपर चढ़ लो" ऐसा सुन ज्यों ही वह कन्धेपर चढ़नेके लिये तैयार हुई, भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये और वह बाला पछता-पछताकर कहने लगी—॥३८॥ "हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रियतम ! हा महाबाहो ! तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? प्यारे ! इस दीन दासीके पास आकर शीघ्र ही दर्शन दो" ॥३९॥ तब भगवान्का मार्ग ढूँढ़ती हुई अन्य गोपियोंने प्रियतमके वियोगसे व्याकुल और अचेत हुई उस सखीको उसके पास आकर देखा ॥४०॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'अत्राव······मना' यह श्लोकार्ध मूलमें नहीं, टिप्पणीमें है, इसके पहले एक श्लोक और भी है। सबका पाठ यहाँ उद्धृत किया जाता है—

'इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम् । गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः ॥
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ।'

तया[1] कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।
अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥४१॥

उसके मुखसे श्रीकृष्णचन्द्रद्वारा सम्मानित होने और फिर अपनी ही कुटिलतासे तिरस्कृत होनेका समाचार सुनकर उन सबको अत्यन्त विस्मय हुआ ॥४१॥

ततोऽविशन्वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः ॥४२॥

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥४३॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः ॥४४॥

तदनन्तर, जबतक वनमें चन्द्रमाका प्रकाश रहा तबतक वे गोपिकाएँ कृष्णचन्द्रको खोज़ती रहीं, फिर अन्धकार फैलता देख वे अबलाएँ लौट आयीं ॥४२॥ कृष्णचन्द्रमें मन लगा रहनेसे, उन्हींकी बातचीत करनेसे, उन्हींकी चेष्टाओंका अनुकरण करनेसे और उन्हींके ध्यानमें लीन हो जानेसे गोपियाँ उन्हींका गुणगान करती रहीं, उन्हें अपने घरोंकी याद भी न आयी ॥४३॥ तदनन्तर, कृष्णचन्द्रके आगमनके लिये अत्यन्त उत्सुक वे समस्त गोपियाँ उन्हींका स्मरण करती हुई फिर यमुनाजीकी रेतीमें लौट आयीं और परस्पर मिल-जुलकर उन्हींका गुण गाने लगीं ॥४४॥
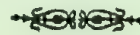
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां[2]
कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ अध्याय

गोपिकागीत ।

गोप्य[3] ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावका-
स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥ १ ॥

शरदुदाशये साधुजातस-
त्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका
वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥ २ ॥

गोपियाँ कहने लगीं—प्यारे ! यह व्रजभूमि आपके जन्मके कारण ही तीनों लोकोंमें सबसे बढ़ी-चढ़ी है और इसीलिये लक्ष्मीजी भी यहाँ निरन्तर निवास करती हैं । हम आपकी दासियाँ, जो एकमात्र आपहीके लिये जीवन धारण किये हुए हैं, आपको समस्त दिशाओंमें ढूँढ़ रही हैं, आप हमें दर्शन दीजिये ॥ १ ॥ हे सुरतनाथ ! आप शरत्कालीन सरोवरमें उत्पन्न हुए सुन्दर सरसिजोंके मध्यभागकी शोभा हरनेवाले अपने नयनोंकी चोटसे इन बिना मूल्यकी दासियोंको मार गये हैं, सो हे वरदायक ! क्या यह स्त्री-वध नहीं है ? [अतः इस दुस्तर दोषसे छुटकारा पानेके लिये आप हमें दर्शन देकर जीवनदान दीजिये ॥२॥

१. तथा । २. रासक्रीडायां त्रिंश० । ३. गोपिका ।

विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसा-
द्वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद्विश्वतोभया-
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥ ३ ॥
न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥ ४ ॥
विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥
व्र[1]जजनार्तिहन्वीर योषितां
निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय ॥ ६ ॥
प्रणतदेहिनां पापकर्शनं
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥ ७ ॥
मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया
बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती-
रधरसीधुनाप्याययस्व नः ॥ ८ ॥
तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥
प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं[2]
विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः
कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥

हे नरश्रेष्ठ ! आपने विषैले जलसे होनेवाली मृत्यु, अजगररूप अघासुर, वर्षा, आँधी, बिजली, दावानल, वत्सासुर और मयासुरके पुत्र व्योमासुरसे तथा अन्य सम्पूर्ण संकटोंसे हमारी बारम्बार रक्षा की है ॥ ३ ॥ यह निश्चय है कि आप केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, बल्कि समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं । हे सखे ! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे ही आपने सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करनेके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है ॥ ४ ॥ हे यदुश्रेष्ठ ! जो लोग संसारभयसे डरकर आपके चरणोंकी शरणमें गये हैं उन्हें आपने अभय कर दिया है । हे कान्त ! जिससे आपने लक्ष्मीजीका हाथ पकड़ा है अपना वह कामपूरक कर-कमल आप हमारे शिरोंपर रखिये ॥ ५ ॥ हे व्रजवासियोंका दुःख दूर करनेवाले वीर ! आपकी मनोहर मुसकान भक्तजनोंका गर्व दूर करनेवाली है । हम आपकी दासियाँ हैं । हे सखे ! आप हमें स्वीकार कीजिये और हम अबलाओंको अपना मनोहर मुखकमल दिखलाइये ॥ ६ ॥ जो शरणागत जीवोंके पापोंको नष्ट करनेवाले हैं और वनमें पशुओंके पीछे विचरते हैं तथा जिन्हें आपने कालियके फणपर अङ्कित किया है अपने उन शोभाधाम चरणकमलोंको हमारे स्तनोंपर रखकर हमारी कामाग्नि शान्त कीजिये ॥ ७ ॥ हे कमलनयन !हे वीर ! विद्वानोंके भी मनको प्रिय लगनेवाली और मनोहर पदावलीयुक्त आपकी मधुर वाणीसे हम आपकी दासियाँ मोहित हो रही हैं; अतः आप अपना अधरामृत पिलाकर हमें जीवनदान दीजिये ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! जो लोग सन्तप्त जीवोंको जीवन देनेवाली, कविजनकीर्तित, पापनाशिनी, सुननेसे ही मङ्गल करनेवाली और अत्यन्त शान्तिदायिनी आपकी अमृतमयी कथाओंका भूलोकमें प्रचार करते हुए वर्णन करते हैं वे ही सबसे अधिक दान करनेवाले हैं ॥ ९ ॥ हे कपट-कुशल प्रियतम ! ध्यानमात्रसे ही मङ्गल करनेवाली तुम्हारी वह मुसकान, प्रणयकटाक्ष, क्रीडाएँ और एकान्तकी हृदयहारिणी ठठोलियाँ हमारे चित्तोंको क्षुब्ध कर देती हैं ॥ १० ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'व्रजजना······चारु दर्शय' यह श्लोक नहीं है । २. क्षितं विरहिणां च ।

चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशू-
न्नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः
कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥११॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै-
र्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन्मुहु-
र्मनसि नः स्मरं वीर[1] यच्छसि ॥ १२ ॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं
धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते
रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥१३॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं
स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां
वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥

अटति यद्भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् ॥१५॥

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा-
नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः
कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं
प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते
मुहुरतिस्पृहा[2] मुह्यते मनः ॥१७॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते
वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।

हे नाथ ! हे कान्त ! जब आप व्रजसे गौएँ चरानेके लिये चलते हैं तो 'आपके कमलके समान कोमल और सुन्दर चरण कङ्कड़, तृण और काँटोंसे व्यथित होते होंगे' इस चिन्तासे हमारे चित्त उद्विग्न हो जाते हैं ॥११॥ फिर दिन ढलनेपर जब आप घर लौटते हैं तो हे वीर ! धूलिधूसरित नील अलकावलीसे आवृत अपने मनोहर मुखारविन्दको दिखाकर आप हमारे चित्तोंमें बार-बार कामवासना उत्पन्न कर देते हैं ॥ १२ ॥ हे रमण ! हे आर्त्तिनाशन ! जो शरणागत भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, लक्ष्मीजीसे पूजित, पृथिवीको विभूषित करनेवाले और आपत्तिके समय स्मरण किये जाने योग्य हैं अपने वे परम शान्तिमय चरणकमल हमारे तप्त स्तनोंपर रखिये ॥ १३ ॥ हे वीर ! जो कामसुखको बढ़ानेवाला, शोकको दूर करनेवाला, बजती हुई बाँसुरीसे सम्यक्तया चुम्बित और मनुष्योंकी अन्य आसक्तियोंको भुला देनेवाला है वह अपना मधुर अधरामृत हमें दान कीजिये ॥ १४ ॥ जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं तो आपको न देख सकनेके कारण हमें एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है फिर सायंकालमें जब हम घुँघराली अलकावलीसे मण्डित आपका मनोहर मुखारविन्द देखती हैं तो हमें नेत्रोंके पलक बनानेवाला ब्रह्मा मूर्ख माळूम होता है ॥ १५ ॥ हे अच्युत ! हम गानविद्याको जाननेवाली कामिनियाँ आपके गानसे मोहित होकर अपने पति, पुत्र, कुटुम्ब, भ्राता और बन्धुओंको छोड़कर आपके पास आयी हैं । हे कपटी ! इस प्रकार रात्रिमें अपने-आप ही आयी हुई नारियोंको तुम्हारे सिवा और कौन छोड़ सकता है ? ॥ १६ ॥ प्यारे ! कामदेवको उद्दीप्त करनेवाली तुम्हारी एकान्तकी ठठोलियाँ, मधुर मुसकानमय मुखारविन्द, प्रेममयी चितवन और लक्ष्मीजीका निवासस्थान विशाल वक्षःस्थल देखकर हमें आपकी सन्निधिकी उत्कण्ठा होती है और हमारा चित्त बारम्बार मोहित हो जाता है ॥ १७ ॥ हे प्रिय ! आपका अवतार सकल व्रजवासियोंके दुःख दूर करनेके लिये और संसारके कल्याणके लिये है । हमारा मन आपके लिये

१. वीर । २. स्पृहं ।

त्यज मनाक्च नस्त्वत्स्पृहात्मनां
स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥१८॥
यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥१९॥

अत्यन्त उत्कण्ठित है। आप [इस कृपणताको छोड़कर] हमें कुछ ऐसी परमौषधि दीजिये जो स्वजनोंके हृदय-तापको शान्त करनेवाली है ॥ १८ ॥ हे प्यारे ! आपके जिन सुकुमार चरणकमलोंको हम डरती-डरती बहुत धीरेसे अपने कठोर कुचोंपर रखती हैं उन्हींसे आप वनमें विचर रहे हैं ! क्या कङ्कड़ आदिसे उन्हें कुछ भी व्यथा नहीं होती ? [अवश्य होती होगी—यही सोचकर] आपहीके लिगे जीवन धारण करनेवाली हम अबलाओंकी बुद्धि मोहित हो रही है ॥ १९ ॥
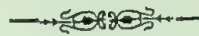
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां गोपीगीतं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

बत्तीसवाँ अध्याय

भगवान्का प्रकट होकर गोपियोंको ढाढस बँधाना ।

श्रीशुक उवाच[2]

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥
तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।
उत्तस्थुर्युगपत्सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ३ ॥
काचित्कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।
काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनभूषितम् ॥ ४ ॥
काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार भाँति-भाँतिसे गाती और प्रलाप करती हुई गोपिकाएँ कृष्ण-दर्शनकी लालसासे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ १ ॥ इसी समय साक्षात् मन्मथ (कामदेव) के भी मनको मथित करनेवाले भगवान् कृष्ण पीताम्बर और वनमाला धारण किये मधुर मुसकानयुक्त मुखारविन्दसे उनके आगे प्रकट हुए ॥ २ ॥

प्रियतमको आये देख समस्त व्रजबालाओंके नेत्र आनन्दसे खिल गये; और वे सबकी सब इस प्रकार एक साथ उठ खड़ी हुईं जैसे प्राणोंके आ जानेसे शरीर उठ बैठता है ॥ ३ ॥ उनमेंसे किसीने अति आनन्दित हो अपनी अञ्जलीसे भगवान्का करकमल पकड़ लिया, किसीने उनकी चन्दनचर्चित भुजा अपने कन्धेपर रख ली ॥ ४ ॥ और किसी कृशाङ्गीने उनका चबाया हुआ पान अपने हाथमें ले लिया । एक विरहसन्तप्ता बालाने [अपना चित्त शान्त करनेके लिये] अपने कुचोंपर उनका कोमल चरणकमल रख लिया ॥ ५ ॥

१. रासक्रीडायामेकत्रिं० । २. बादरायणिरुवाच ।

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
प्रतीवैक्षत्कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा ॥ ६ ॥

एक गोपी प्रणयकोपके वशीभूत हो अपनी धनुष-के समान भ्रुकुटि चढ़ा दाँतोंसे ओंठ दबाकर मानो कटाक्षबाणोंसे बींधती हुई उनकी ओर देखने लगी ॥ ६ ॥

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत्सन्तस्तच्चरणं यथा ॥ ७ ॥

एक और गोपी निर्निमेष नयनोंसे भगवान्‌का मुखकमल निहारने लगी। जैसे भक्तजन उनके चरणोंको देखते-देखते कभी तृप्त नहीं होते उसी प्रकार वह बारम्बार उनका मुखामृत पान करके भी तृप्त न हुई ॥ ७ ॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥ ८ ॥

किसी व्रजबालाने भगवान्‌को नयनोंके छिद्रसे हृदयमें ले जाकर आँखें मूँद लीं; फिर भीतर ही भीतर आलिङ्गन करनेसे उसके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वह योगियोंके समान परमानन्दमें मग्न हो गयी ॥ ८ ॥

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥ ९ ॥

जैसे मुमुक्षुजन ब्रह्मवेत्ताको पाकर संसारतापसे छूट जाते हैं वैसे ही कृष्णदर्शनके परमोल्लाससे आनन्दित होकर उन समस्त गोपाङ्गनाओंका विरहताप दूर हो गया ॥ ९ ॥

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥१०॥

हे राजन् ! उन शोकहीन सुकुमारियोंसे घिरे हुए भगवान् कृष्ण इस प्रकार अत्यन्त सुशोभित हुए जैसे अपनी शक्तियोंसे घिरे हुए पुराणपुरुष परमात्मा शोभायमान होते हैं ॥ १० ॥

ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।
विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥११॥
शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमःशिवम् ।
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥१२॥

तदनन्तर भगवान् कृष्ण उन सम्पूर्ण व्रजसुन्दरियोंको साथ ले यमुनाजीके तीरपर आये। वहाँ खिले हुए कुन्द और मन्दारके पुष्पोंसे सुगन्धित वायु चल रहा था और उसके साथ मदमत्त मधुकर इधर-उधर उड़ रहे थे ॥ ११ ॥ शरच्चन्द्रके कमनीय किरणजालसे अन्धकार दूर हो जानेके कारण वह स्थान परम मङ्गलमय हो रहा था तथा यमुनाके कररूप तरङ्गोंसे वहाँ सुकोमल वालुका फैला दी गयी थी॥१२॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितै-
रचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥

कृष्णदर्शनके आह्लाद-से गोपियोंके हृदयका ताप शान्त हो गया, वे ज्ञानकाण्ड-की श्रुतियोंके समान पूर्णकामा हो गयीं और उन्होंने अपने प्रियबन्धु भगवान् कृष्णके बैठनेके लिये अपने कुचकुङ्कुममण्डित दुकूलोंसे आसन बनाया ॥ १३ ॥

तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १४॥

जिनका आसन योगियोंके अन्तःकरणमें स्थित है वे भगवान् कृष्णचन्द्र वहाँ गोपियोंकी गोष्ठीमें बैठे हुए उनसे पूजित होकर त्रिलोकीकी शोभाके एकमात्र आश्रयरूप परम सुन्दर शरीर धारण किये सुशोभित हुए ॥१४॥

---

१. निर्दष्ट० । २. लासित० ।

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं
सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः
संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥१५॥

फिर मधुरमुसकानमय लीलाकटाक्ष और भ्रूविक्षेपसे तथा अपनी गोदमें रखे हुए उनके चरणों और पाणिपल्लवोंका स्पर्श करके अपने कामोद्दीपक प्रियतमको सम्मानित कर गोपियोंने उनकी प्रशंसा करके कुछ प्रणयकोप दिखलाते हुए कहा ॥ १५ ॥

गोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥१६॥

गोपियाँ बोलीं—हे कृष्ण ! कुछ लोग तो अपने प्रेमियोंसे ही प्रेम करते हैं, कुछ उनके विपरीत प्रेम न करनेवालोंसे भी स्नेह करते हैं और कोई दोनों-हीसे प्रीति नहीं करते । इन तीनोंमें कौन-सा प्रकार उत्तम है, यह हमें बतलाइये ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥१८॥
भजतोऽपि न वै केचिद्भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥१९॥
नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।

श्रीभगवान् बोले—सखियो ! जो लोग आपसमें एक-दूसरेको प्यार करते हैं वे केवल स्वार्थके लिये ही उद्योग करते हैं। उनमें सौहार्द नहीं होता, धर्मका भाव भी नहीं रहता; उनका स्नेह स्वार्थके लिये ही होता है, उसका और कोई हेतु नहीं होता॥१७॥ और हे सुन्दरियो! जो पुरुष सेवा न करनेवालोंसे भी स्नेह करते हैं वे कृपालु और माता-पिताके समान स्नेही होते हैं। इनके व्यवहारमें निर्दोष धर्म और सौहार्द दोनोंहीका समावेश रहता है ॥१८॥ कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपनेको न भजनेवालोंकी तो बात ही क्या भजने-वालोंको भी नहीं भजते। वे पूर्णकाम, आत्माराम, कृतघ्न और गुरुद्रोही—चार प्रकारके होते हैं ॥१९॥ [आप इनमेंसे किस श्रेणीमें हैं ?—ऐसा गोपियोंका अभिप्राय जानकर भगवान् बोले—] किन्तु सखियो ! [मैं इनमेंसे किसी कोटिमें नहीं हूँ, मैं तो परम कारुणिक हूँ। इसीलिये] जो लोग मुझे भजते हैं उन्हें भी मैं नहीं भजता, जिससे उनकी मनोवृत्ति निरन्तर मेरी ओर लगी रहे । जैसे निर्धन पुरुष प्राप्त हुए धनके नष्ट हो जानेपर उसकी चिन्तासे आकुल होकर और कुछ भी नहीं जानता उसी प्रकार हे अबलाओ ! मेरे लिये लोक, धर्म और कुटुम्बियोंको छोड़नेवाली तुम सबकी मनोवृत्ति मुझमें लगी रहे, इसलिये जिससे तुम लोग मुझे देख न सको—इस प्रकार छिप

मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥२१॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्चय तद्वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

गया था [किन्तु था तुम्हारे पास ही] अतः हे प्रियाओ ! तुम्हें अपने प्रियतम मुझपर दोषारोपण न करना चाहिये ॥२०-२१॥ तुमने दुस्तर गृहशृङ्खलाको तोड़कर मेरा भजन किया है । तुम्हारा यह मिलन सर्वथा निर्दोष है । मैं देवताओंके समान आयु पाकर भी तुम्हारे इस उपकारका बदला नहीं दे सकता, तुम लोगोंकी ही सुशीलतासे तुम्हारे उपकारका बदला पूरा हो सकता है मेरे पुरुषार्थसे नहीं [अर्थात् तुम्हीं मुझे उऋण कर सकती हो] ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम
द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

तैंतीसवाँ अध्याय

महारास ।

श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥ १ ॥
तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥
रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥
यं मन्येरन्नभस्तावद्विमानशतसङ्कुलम् ।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४ ॥
ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ५ ॥
वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान्के ये मधुर वचन सुनकर गोपियोंका विरहजन्य दुःख दूर हो गया और वे उनका अङ्गसङ्ग पाकर सफल-मनोरथ हो गयीं ॥ १ ॥ फिर वहाँ श्रीकृष्णचन्द्रने परम प्रसन्न, अनुगत एवं परस्पर बाँह-में-बाँह डाले हुए स्त्रीरत्नोंके साथ रासक्रीडा आरम्भ की ॥ २ ॥ गोपियोंके मण्डलसे सुशोभित रासोत्सव आरम्भ हुआ । उन स्त्रियोंमेंसे दो-दोके बीचमें योगेश्वर भगवान् कृष्ण उनके गलेमें हाथ डालकर खड़े हुए । उस समय सब स्त्रियोंने उन्हें अपने ही निकट समझा । इतनेहीमें अपनी स्त्रियोंके सहित रासोत्सव देखनेके लिये अत्यन्त उत्सुक देवताओंके सैकड़ों विमानोंसे सम्पूर्ण आकाश भर गया ॥ ३-४ ॥ तब दुन्दुभियोंके शब्दके साथ आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और गन्धर्वगण अपनी प्रियाओं-के साथ भगवान्का निर्मल यश गाने लगे ॥५॥ इधर, रासमण्डलमें भी अपने प्रियतमके साथ नृत्य करती हुई गोपाङ्गनाओंके कङ्कण, पायजेब और करधनीके घुँघरुओंका महान् शब्द होने लगा ॥ ६ ॥

१. नार्ह० । २. रासक्रीडायां भगवदर्शनं द्वात्रिं० । ३. बादरायणिरुवाच । ४. हसंतापं ।

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान्देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ७ ॥

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥८॥

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥

काचित्समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधुसाध्विति ।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥१०॥

काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥११॥

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥१२॥

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम् ।
गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥१३॥

नृत्यन्ती गायती काचित्कूजन्नूपुरमेखला ।

उन व्रजसुन्दरियोंके बीचमें सुवर्णमयी मणियोंके मध्य मरकत मणिके समान भगवान् देवकीनन्दन अत्यन्त सुशोभित हुए ॥ ७ ॥ जिनके मुखपर पसीनेकी बूँदें झलक रही हैं और जिन्होंने अपने केश और कटिके बन्धन कसकर बाँधे हुए हैं वे कृष्णप्रिया गोपियाँ भगवान् कृष्णका यशोगान करती हुई विचित्र पदविन्यास, बाहुविक्षेप, मधुर मुसकानयुक्त भ्रुकुटि-विलास, कमरकी लचक, चञ्चल अञ्चल और कपोलोंके पास हिलते हुए कुण्डलोंके कारण मेघमण्डलमें* चमकती हुई चपलाके समान सुशोभित हुईं ॥८॥ वे क्रीडासक्त कलकण्ठी कामिनियाँ कृष्णचन्द्रके अङ्गसङ्गसे आनन्दित होकर नाचती हुई बड़े उच्चस्वरसे [नाना प्रकारकी राग-रागिनियोंसे रञ्जित] मनोहर गान गाने लगीं । उनके सुमधुर गानसे सम्पूर्ण जगत् गूँज उठा ॥९॥ कोई गोपी भगवान् श्रीकृष्णके साथ गाती हुई स्वरोंको अत्यन्त उच्चस्वरसे अलापने लगी, उसके अलापनेकी गति भगवान्से भी उत्तम और विलक्षण थी; अतः उससे प्रसन्न होकर उन्होंने 'वाह, वाह !' कहकर उसकी प्रशंसा की । उसी लयको एक दूसरी सखीने 'ध्रुव' नामक तालमें गाया, उसका भी भगवान्ने बहुत ही सम्मान किया ॥१०॥ कोई गोपी नृत्य करते-करते थक गयी, उसकी कलाइयोंसे कङ्कण और केशोंसे मल्लिकाके फूल खिसकने लगे । तब उसने पास ही खड़े हुए श्रीगदाधरके कन्धेको अपनी भुजाओंसे कसकर पकड़ लिया ॥११॥ एक गोपीने अपने कन्धेपर रखी हुई कमलकुसुमके समान सुगन्धित भगवान्की चन्दनचर्चित भुजाको सूँघकर आनन्दसे पुलकित हो चूम लिया ॥१२॥ एक गोपीने, नाचनेके कारण हिलते हुए कुण्डलोंकी कान्तिसे सुशोभित अपना कोमल कपोल कृष्णचन्द्रके कपोलसे मिलाया, तब भगवान्ने उसके मुखमें अपना चबाया हुआ पान दे दिया ॥१३॥ कोई गोपी नूपुर और मेखलाकी झनकार करती हुई नाच और गा रही थी । जब बहुत थक गयी तो

१. ते ।

* भगवान्ने अनेक मूर्तियाँ धारण की हुई थीं इसलिये उन्हें मेघमण्डलकी उपमा दी है और गोपियाँ उनमें चमकती हुई बिजलीके समान हैं ।

पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात्स्तनयोः शिवम् ।१४।

उसने अपनी बगलमें विराजमान श्रीकृष्णचन्द्रका शान्तिमय कर-कमल अपने स्तनोंपर रक्खा ॥ १४ ॥

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥१५॥

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म-
वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥१६॥

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-
स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः ॥१७॥

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः
केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो
विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥१८॥

हे राजन् ! लक्ष्मीजीके एकमात्र प्रियतम भगवान् कृष्णको कान्तरूपसे पाकर गोपियाँ, जिनका कण्ठ उनके भुजपाशमें बँधा हुआ था, भगवान्‌की गीत गाती हुई उनके साथ विहार करने लगीं ॥ १५ ॥ कानोंमें सुशोभित कमलकुसुम, अलकावलीसे अलङ्कृत कपोल और पसीनेकी बूँदोंके कारण जिनके मुखारविन्दकी अपूर्व शोभा हो रही है वे गोपियाँ भ्रमर ही जिसमें गवैये हैं उस रासमण्डलमें अपने कङ्कण और नूपुररूप बाजोंका शब्द करती हुई भगवान्‌के साथ नाचने लगीं । उस समय उनके केशपाशोंसे पुष्पोंकी मालाएँ बिखरती जाती थीं ॥१६॥ जिस प्रकार बालक अपने प्रतिविम्बके साथ खेलता है उसी प्रकार रमारमण भगवान् कृष्णने आलिङ्गन, हाथसे अङ्गस्पर्श, प्रणयकटाक्ष और मनोहर मुसकान करते हुए व्रजरमणियोंके साथ रमण किया ॥१७॥ हे कुरुनन्दन ! भगवान्‌के अङ्गसङ्गके आनन्दसे इन्द्रियोंके विह्वल हो जानेसे जिनके पुष्पहार और आभूषणादि अस्त-व्यस्त हो गये थे, वे व्रजबालाएँ अपने केशबन्धन, दुकूल और कञ्चुकीको भी सँभाल न सकीं ॥१८॥

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः ।
कामार्दिताः[1] शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥१९॥
कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥
तासामतिविहारेण[3] श्रान्तानां वदनानि सः ।
प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥२१॥

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-
गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥२२॥

भगवान्‌की क्रीडा देखकर आकाशमें स्थित सुरसुन्दरियाँ कामातुरा होकर मोहित हो गयीं और ग्रहगणके सहित चन्द्रमा चकित हो गया ॥१९॥ भगवान् आत्माराम थे, तो भी उन्होंने जितनी गोपियाँ थीं उतने ही रूप धारण कर लीलापूर्वक उनके साथ विहार किया ॥२०॥ हे तात ! तदनन्तर अत्यन्त विहारके कारण थकी हुई उन गोपाङ्गनाओंके मुखोंको करुणामय कृष्णचन्द्रने अति प्रेमपूर्वक अपने शान्तिदायक करकमलसे पोंछा ॥२१॥ भगवान्‌के नखस्पर्शसे आनन्दित होकर गोपियाँ अपने झिलमिलाते हुए सुवर्णकुण्डल और घुँघराली अलकावलीकी कान्तिसे मण्डित कपोलोंकी शोभासे तथा सुधामधुर मुसकानमयी चितवनसे सम्मानित करती हुई उन नरश्रेष्ठकी परम पवित्र लीलाओंका गान करने लगीं ॥२२॥

---

१. नार्देः । २. तः । ३. मिति ।

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-
घृष्टस्रजः सकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः ।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ।२३।

फिर, जैसे थका हुआ गजराज हथिनियोंके साथ जलमें घुसकर क्रीडा करता है उसी प्रकार लोक और वेदकी मर्यादाको तोड़कर भगवान्ने अपनी थकान दूर करनेके लिये उन कामिनियोंके साथ [जलक्रीडा करनेकी इच्छासे] यमुनामें प्रवेश किया । उस समय गोपियोंके अङ्गसङ्गसे मली हुई और उनके कुचकुङ्कुमसे रञ्जित हुई वनमालापर गुञ्जारते हुए भ्रमरगण गन्धर्वराजोंके समान गाते हुए उनके पीछे चले ॥२३॥

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥२४॥

हे राजन् ! जलमें पहुँचनेपर समस्त व्रजबालाएँ चारों ओरसे प्रणयकटाक्षके सहित खिलखिलाकर हँसती हुई भगवान्पर जलकी बौछारें फेंकने लगीं तथा विमानोंपर चढ़े हुए देवगण पुष्प बरसाकर उनकी स्तुति करने लगे । इस प्रकार यहाँ स्वयं आत्माराम भगवान्ने गजराजके समान जलविहार किया ॥२४॥

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल-
प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो
यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥

फिर, युवतीमण्डल और भौंरोंकी भीड़से घिरे हुए भगवान् जहाँ सब ओर जल और स्थलके पुष्पोंकी सुगन्धसे सुवासित वायु डोल रहा था यमुना-तटके उस सुरम्य उपवनमें इस प्रकार विचरने लगे जैसे मद चूता हुआ हाथी हथिनियोंके झुण्डके साथ घूमता हो ॥२५॥

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः
स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः
सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥२६॥

हे राजन् ! चन्द्र-चन्द्रिकासे चर्चित और काव्यवर्णित शरत्काल सम्बन्धिनी समस्त रस-सामग्रियोंसे सम्पन्न उन रात्रियोंमें सत्यसंकल्प और अस्खलितवीर्य श्रीहरिने अपनी अनुगामिनी कामिनियोंके साथ इस प्रकार विहार किया ॥ २६ ॥

राजोवाच[1]

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन्परदाराभिमर्शनम् ॥२८॥
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान्वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

राजा परीक्षित् बोले—भगवन् ! जगत्पति भगवान् कृष्णने धर्मकी स्थापना और अधर्मके उच्छेदके लिये ही अपने पूर्ण अंशसे अवतार लिया था ॥ २७ ॥ फिर धर्ममर्यादाके वक्ता, रचयिता और रक्षक होकर भी उन्होंने परस्त्रीगमन-जैसा विरुद्ध आचरण क्यों किया ? ॥ २८ ॥ भगवान् कृष्णने आप्तकाम होकर भी ऐसा निन्दनीय कार्य किया—इसका क्या आशय है ? हे सुव्रत ! आप हमारा यह सन्देह निवृत्त कीजिये ॥ २९ ॥

१. परीक्षिदुवाच ।

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ।३१।
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥३२॥
कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो ॥३३॥
किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३४॥
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३५॥
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥३६॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ।३७।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ईश्वर (समर्थ) पुरुषोंके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन और हठपूर्वक साहसिक कार्य होते देखे जाते हैं । किन्तु उनसे उन तेजस्वियोंको कोई दोष नहीं होता, जैसे सबका भक्षण करनेवाला अग्नि उन पदार्थोंके गुण-दोषके कारण दूषित नहीं होता ॥३०॥ जो लोग समर्थ नहीं हैं उन्हें वैसे आचरण कभी मनसे भी न करने चाहिये । यदि कोई मूर्खतावश वैसा आचरण करेगा तो नष्ट हो जायगा जैसे 'समुद्रसे उत्पन्न हुए विषको भगवान् शङ्करने पी लिया' यह देखकर उसका अनुकरण करनेवाला पुरुष नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥ ईश्वरोंके वचन सत्य होते हैं, [अतः उन्हींका पालन करना चाहिये ।] कहीं-कहीं उनका आचरण भी अनुकरणीय होता है; इसलिये उनका जो आचरण उनके उपदेशके अनुकूल हो बुद्धिमान् पुरुषको उसीका अनुकरण करना चाहिये ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! उन अहंकारहीन समर्थ पुरुषोंका शुभ कर्म करनेमें कोई स्वार्थ नहीं रहता और अशुभ कर्मसे उनका कोई अनर्थ नहीं होता ॥ ३३ ॥ जब ईश्वरोंको ही शुभाशुभ कर्मोंसे कोई हानि-लाभ नहीं होता तो तिर्यक्, मनुष्य और देवता आदि समस्त शासित जीवोंके एकमात्र प्रभु सर्वेश्वर श्रीहरिका किस प्रकार किसी शुभ या अशुभसे संसर्ग हो सकता है ? ॥ ३४ ॥ जिनके चरणकमलोंकी धूलिके सेवनसे तृप्त भक्तजन और योगसाधनके प्रभावसे सम्पूर्ण कर्मबन्धनोंसे छूटे हुए योगिजन भी सब प्रकारके विधि-निषेधरूप बन्धनसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरते हैं उन स्वेच्छाशरीरधारी श्रीहरिको किस प्रकार किसी कर्मका बन्धन हो सकता है ? ॥ ३५ ॥ जो गोपियों, उनके पतियों और सम्पूर्ण देहधारियोंके अन्तःकरणोंमें विराजमान हैं उन सर्वसाक्षी भगवान्‌ने ही लीलासे शरीर धारण कर भूर्लोकमें अवतार लिया था ॥ ३६ ॥ वे भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही मनुष्यरूप धारण करके उससे ऐसी-ऐसी लीलाएँ किया करते हैं जिन्हें याद करके लोग भगवत्परायण हो जायँ* ॥ ३७ ॥

१. नश्यत्याश्वाचर० । २. षामपि ।

* रासलीलाके विषयमें शङ्का करनेवाले महानुभावोंको श्लोक ३०से३७ तक विशेष ध्यानपूर्वक पढ़ने चाहिये ।

नाव्यन्खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान् व्रजौकसः ३८

इधर भगवान्‌की मायासे मोहित हो जानेके कारण व्रजवासियोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंको अपने पास ही समझकर कृष्णचन्द्रकी ओरसे कुछ भी मन मैला नहीं किया ॥ ३८ ॥

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान्भगवत्प्रियाः ॥३९॥

फिर ब्राह्ममुहूर्त्तके आनेपर भगवान्‌की आज्ञा पा उनकी प्रिया गोपाङ्गनाएँ इच्छा न होनेपर भी अपने-अपने घरोंको गयीं ॥ ३९ ॥

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥४०॥

जो धीर पुरुष व्रजबालाओंके साथ भगवान् विष्णुके इस रास-विहारकी कथाको श्रद्धापूर्वक बार-बार सुनेगा या कहेगा वह शीघ्र ही भगवान्‌की पराभक्ति लाभकर हृदयके रोगरूप कामविकारसे मुक्त हो जायगा* ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

* रास-लीलाके ये पाँच अध्याय श्रीमद्भागवतके पाँच प्राण माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी परम अन्तरङ्ग-लीला, निजस्वरूपभूता गोपिकाओं और ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजीके साथ होनेवाली भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य क्रीडा, इन अध्यायोंमें कही गयी है । रास शब्दका मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—'रसो वै सः'। जिस दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका समास्वादन करे, एक रस ही रस-समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य, आस्वादक लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें क्रीडा करे, उसका नाम रास है । भगवान्‌की यह दिव्य लीला भगवान्‌के दिव्य धाममें दिव्यरूपसे निरन्तर हुआ करती है । यह भगवान्‌की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी अपने दिव्यधामके साथ ही भूमण्डलपर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख, सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्‌की इस परम रसमयी लीलाका आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित होकर अपनेको कृतकृत्य कर सकें । इस पञ्चाध्यायीमें वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिसार, श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत, रमण, श्रीराधाजीके साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियोंके द्वारा दिये हुए वसनासनपर विराजना, गोपियोंके कूट प्रश्नका उत्तर, रासनृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वनविहारका वर्णन है जो मानवी भाषामें होनेपर भी वस्तुतः परम दिव्य है ।

समयके साथ ही मानव-मस्तिष्क भी पलटता रहता है । कभी अन्तर्दृष्टिकी प्रधानता हो जाती है और कभी बहिर्दृष्टिकी । आजका युग ही ऐसा है, जिसमें भगवान्‌की दिव्य-लीलाओंकी तो बात ही क्या, स्वयं

१. वस्त्रियः । २. रासक्रीडायां त्रयस्त्रिं० ।

भगवान्‌के अस्तित्वपर ही अविश्वास प्रकट किया जा रहा है। ऐसी स्थितिमें इस दिव्य लीलाका रहस्य न समझकर लोग तरह-तरहकी आशङ्का प्रकट करें, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यह लीला अन्तर्दृष्टिसे और मुख्यतः भगवत्कृपासे ही समझमें आती है। जिन भाग्यवान् और भगवत्कृपाप्राप्त महात्माओंने इसका अनुभव किया है, वे धन्य हैं, और उनकी चरण-धूलिके प्रतापसे ही त्रिलोकी धन्य है। उन्हींकी उक्तियोंका आश्रय लेकर यहाँ रासलीलाके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् लिखनेकी धृष्टता की जाती है।

यह बात पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान्‌का शरीर जीव-शरीरकी भाँति जड नहीं होता। जडकी सत्ता केवल जीवकी दृष्टिमें होती है, भगवान्‌की दृष्टिमें नहीं। यह देह है और यह देही है, इस प्रकारका भेदभाव—केवल प्रकृतिके राज्यमें होता है। अप्राकृत लोकमें, जहाँकी प्रकृति भी चिन्मय है, सब कुछ चिन्मय ही होता है, वहाँ अचित्‌की प्रतीति तो केवल चिद्विलास अथवा भगवान्‌की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है। इसलिये स्थूलतामें या यों कहिये कि जडराज्यमें रहनेवाला मस्तिष्क जब भगवान्‌की अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें विचार करने लगता है तब वह अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार जडराज्यकी धारणाओं, कल्पनाओं और क्रियाओंका ही आरोप उस दिव्य राज्यके विषयमें भी करता है, इसलिये दिव्यलीलाके रहस्यको समझनेमें असमर्थ हो जाता है। यह रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रसका एक दिव्य प्रकाश है। जड-जगत्‌की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्‌में भी यह प्रकट नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्वमें भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्ण-प्रेमस्वरूपा गोपीजनोंके मधुर हृदयमें ही होती है। इस रासलीलाके यथार्थ स्वरूप और परम माधुर्यका आस्वाद उन्हींको मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान्‌के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी उन्होंने न केवल जड शरीरका त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्म शरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले मोक्ष, और तो क्या जडताकी दृष्टिका ही त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, उनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमामृत है। उनकी इस अलौकिक स्थितिमें स्थूल शरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्धसे होनेवाले अङ्ग-सङ्गकी कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धिसे जकड़े हुए जीवोंकी ही होती है। जिन्होंने गोपियोंको पहचाना है, उन्होंने गोपियोंकी चरणधूलिका स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है। ब्रह्मा, शङ्कर, उद्धव और अर्जुनने गोपियोंकी उपासना करके भगवान्‌के चरणोंमें वैसे प्रेमका वरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है। उन गोपियोंके दिव्य भावको साधारण स्त्री-पुरुषके भाव-जैसा मानना गोपियोंके प्रति, भगवान्‌के प्रति और वास्तवमें सत्यके प्रति महान् अन्याय एवं अपराध है। इस अपराधसे बचनेके लिये भगवान्‌की दिव्य लीलाओंपर विचार करते समय उनकी अप्राकृत दिव्यताका स्मरण रखना परमावश्यक है।

भगवान्‌का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादानरहित है, उसमें देह-देही और त्रिविध (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) भेद नहीं है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप ही है; इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत्‌की भगवान्‌की स्वरूपभूता अन्तरङ्ग-शक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावराज्यकी लीला स्थूल शरीर और स्थूल मनसे परे है। आवरण-भङ्गके अनन्तर अर्थात् चीर-हरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं तब इसमें प्रवेश होता है।

इन गोपियोंकी साधना पूर्ण हो चुकी है। भगवान्‌ने अगली रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका

प्रेमसंकल्प कर लिया है। इसीके साथ उन गोपियोंको भी जो नित्यसिद्धा हैं, जो लोकदृष्टिमें विवाहिता भी हैं, इन्हीं रात्रियोंमें दिव्य-लीलामें सम्मिलित करना है। वे अगली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान्‌की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्‌ने देखा' इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान्‌के ईक्षणसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रासके प्रारम्भमें भगवान्‌के प्रेम-वीक्षणसे शरत्कालकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है। मल्लिका-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपनसामग्री भगवान्‌के द्वारा वीक्षित है अर्थात् लौकिक नहीं अलौकिक अप्राकृत है। गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन नहीं था। अब प्रेम-दान करनेवाले श्रीकृष्णने विहारके लिये नवीन मनकी, दिव्य मनकी सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है, जो रासलीलाके लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है। इतना होनेपर भगवान्‌की बाँसुरी बजती है।

भगवान्‌की बाँसुरी जडको चेतन, चेतनको जड, चलको अचल और अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती ही रहती है। भगवान्‌का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्संकल्प, निश्चिन्त होकर घरके काममें लगी हुई थीं। कोई गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा-धर्मके काममें लगी हुई थी, कोई गो-दोहन आदि अर्थके काममें लगी हुई थी, कोई साज-शृंगार आदि कामके साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजापाठ आदि मोक्ष-साधनमें लगी हुई थी। सब लगी हुई थीं अपने-अपने काममें परन्तु वास्तवमें वे उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती नहीं थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया; काम पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चल पड़ीं, उस साधक संन्यासीके समान जिसका हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण है। किसीने किसीसे पूछा नहीं, सलाह नहीं की, अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात है, दो नहीं। गोपियाँ व्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य हैं या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है?

रोकनेवालोंने रोका भी परन्तु हिमालयसे निकलकर समुद्रमें गिरनेवाली ब्रह्मपुत्रनदीकी प्रखर धाराको क्या कोई रोक सकता है? वे न रुकीं, नहीं रोकी जा सकीं। जिनके चित्तमें कुछ प्राक्तन संस्कार अवशिष्ट थे, वे अपने अनधिकारके कारण सशरीर जानेमें समर्थ नहीं हुईं। उनका शरीर घरमें पड़ा रह गया, भगवान्‌के वियोग-दुःखसे उनके सारे कलुष धुल गये, ध्यानमें प्राप्त भगवान्‌के प्रेमालिङ्गनसे उनके समस्त सौभाग्यका परम फल प्राप्त हो गया और वे भगवान्‌के पास सशरीर जानेवाली गोपियोंके पहुँचनेसे पहले ही भगवान्‌के पास पहुँच गयीं। भगवान्‌में मिल गयीं। यह शास्त्रका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-पुण्यके कारण ही बन्धन होता है और शुभाशुभका भोग होता है। शुभाशुभ कर्मोंके भोगसे जब पाप-पुण्य दोनों नाश हो जाते हैं तब जीवकी मुक्ति हो जाती है। यद्यपि गोपियाँ पाप-पुण्यसे रहित श्रीभगवान्‌की प्रेम-प्रतिमास्वरूपा थीं तथापि लीलाके लिये यह दिखाया गया है कि अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकनेसे उनके विरहानलसे उनको इतना महान् सन्ताप हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभका भोग हो गया, उनके समस्त पाप नाश हो गये। और प्रियतम भगवान्‌के ध्यानसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्योंका फल मिल गया। इस प्रकार पाप-पुण्योंका पूर्णरूपसे अभाव होनेसे उनकी मुक्ति हो गयी। चाहे किसी भी भावसे हो; कामसे, क्रोधसे, लोभसे जो भगवान्‌के मङ्गलमय श्रीविग्रहका चिन्तन करता है, उसके भावकी अपेक्षा न करके वस्तुशक्तिसे ही उसका कल्याण हो जाता है। यह भगवान्‌के श्रीविग्रहकी विशेषता है। भावके द्वारा तो एक प्रस्तरमूर्ति भी परम कल्याणका दान कर सकती है, बिना भावके ही कल्याणदान, भगवद्विग्रहका सहज दान है।

भगवान् हैं बड़े खिलाड़ी। जहाँ वे अखिल विश्वके विधाता ब्रह्मा, शिव आदिके वन्दनीय निखिल जीवोंके प्रत्यगात्मा हैं, वहीं वे लीलानटवर गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले भी हैं। उन्हींकी इच्छासे, उन्हींके प्रेमाह्वानसे, उन्हींके वंशी-निमन्त्रणसे प्रेरित होकर गोपियां उनके पास आयीं परन्तु उन्होंने ऐसी भावभङ्गी प्रकट की, ऐसा स्वाँग बनाया, मानो उन्हें गोपियोंके आनेका कुछ पता ही न हो। शायद गोपियोंके मुँहसे वे उनके हृदयकी बात, प्रेमकी बात सुनना चाहते हों। सम्भव है, वे विप्रलम्भके द्वारा उनके मिलनभावको परिपुष्ट करना चाहते हों। बहुत करके तो ऐसा मालूम होता है कि कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें इसलिये साधारण लोगोंके लिये उपदेश और गोपियोंका अधिकार भी उन्होंने सबके सामने रख दिया। उन्होंने बतलाया—'गोपियो! व्रजमें कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रिमें यहां आनेका कारण क्या है? घरवाले ढूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये। वनकी शोभा देख ली, अब बच्चों और बछड़ोंका भी ध्यान करो। धर्मके अनुकूल मोक्षके खुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियोंकी सेवा छोड़कर वनमें दर-दर भटकना स्त्रियोंके लिये अनुचित है। स्त्रीको अपने पतिकी ही सेवा करनी चाहिये, वह कैसा भी क्यों न हो? यही सनातन धर्म है। इसीके अनुसार तुम्हें चलना चाहिये। मैं जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो परन्तु प्रेममें शारीरिक सन्निधि आवश्यक नहीं है। श्रवण, स्मरण, दर्शन और ध्यानसे सान्निध्यकी अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है। जाओ, तुम सनातन सदाचारका पालन करो। इधर-उधर मनको मत भटकने दो।'

श्रीकृष्णकी यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं, सामान्य नारी जातिके लिये है। गोपियोंका अधिकार विशेष था और उसको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे थे। इन्हें सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई और इसके उत्तरमें उन्होंने श्रीकृष्णसे क्या प्रार्थना की, वे श्रीकृष्णको मनुष्य नहीं मानतीं, उनके पूर्णब्रह्म सनातन स्वरूपको भली भाँति जानती हैं और यह जानकर ही उनसे प्रेम करती हैं, इस बातका कितना सुन्दर परिचय दिया; यह सब विषय मूलमें ही पाठ करनेयोग्य है। सचमुच, जिनके हृदयमें भगवान्‌के परमतत्त्वका वैसा अनुपम ज्ञान और भगवान्‌के प्रति वैसा महान् अनन्य अनुराग है और सच्चाईके साथ जिनकी वाणीमें वैसे उद्‌गार हैं, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं।

गोपियोंकी प्रार्थनासे यह बात स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्माके रूपमें पहचानती थीं और जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा या माता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं, वैसे ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं जो कि शास्त्रोंमें मधुर भावके—उज्ज्वल परम रसके नामसे कहा गया है। जब प्रेमके सभी भाव पूर्ण होते है और साधकोंको स्वामी सखादिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, तब गोपियोंने क्या अपराध किया था कि उनका यह उच्चतम भाव, जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य सब-के-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उन्नत एवं सबका अन्तिम रूप है, क्यों न पूर्ण हो? भगवान्‌ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको असंख्य रूपोंमें प्रकट करके गोपियोंके साथ क्रीडा की। उनकी क्रीडाका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः'। जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जलमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, वैसे ही रमेश भगवान् और व्रजसुन्दरियोंने रमण किया। अर्थात् सच्चिदानन्दघन सर्वान्तर्यामी प्रेमरस-स्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ह्लादिनी-शक्तिरूपा आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्ब-स्वरूपा गोपियोंसे आत्म-क्रीडा की। पूर्णब्रह्म सनातन रसस्वरूप रसराज रसिक-शेखर रसपरब्रह्म अखिलरसामृतविग्रह भगवान् श्रीकृष्णकी इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य क्रीडाका नाम ही रास है। इसमें न कोई जड शरीर था, न

प्राकृत अङ्ग-सङ्ग था, और न इसके सम्बन्धकी प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं। यह था चिदानन्दमय भगवान्‌का दिव्य विहार, जो दिव्य-लीलाधाममें सर्वदा होते रहनेपर भी कभी-कभी प्रकट होता है।

वियोग ही संयोगका पोषक है, मान और मद ही भगवान्‌की लीलामें बाधक हैं। भगवान्‌की दिव्य लीलामें मान और मद भी, जोकि दिव्य हैं, इसलिये होते हैं कि रसकी और भी पुष्टि हो। भगवान्‌की इच्छासे ही मान और मदका सञ्चार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके हृदयमें लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मानका संस्कार शेष है, वे भगवान्‌के सम्मुख रहनेके अधिकारी नहीं। अथवा वे भगवानका, पास रहनेपर भी, दर्शन नहीं कर सकते। परन्तु गोपियां गोपियाँ थीं, उनसे जगत्‌के किसी प्राणीकी तिलमात्र भी तुलना नहीं है। भगवान्‌के वियोगमें गोपियोंकी क्या दशा हुई, इस बातको रासलीलाका प्रत्येक पाठक जानता है। गोपियोंके शरीर, मन, प्राण; वे जो कुछ थीं सब श्रीकृष्णमें एकतान हो गये। उनके प्रेमोन्मादका वह गीत, जो उनके प्राणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी भावुक भक्तोंको भावमग्न करके भगवान्‌के लीलालोकमें पहुँचा देता है। एक बार सरसहृदयसे, हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करनेमात्रसे ही वह गोपियोंकी महत्ता सम्पूर्ण हृदयमें भर देता है। गोपियोंके उस महाभाव, उस अलौकिक प्रेमोन्मादको देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित नहीं रह सके, उनके सामने प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया कि 'गोपियो, मैं तुम्हारे प्रेमभावका चिरऋणी हूँ। यदि मैं अनन्तकालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन तुम्हारे चित्तको दुखाना नहीं था, बल्कि तुम्हारे प्रेमको और भी उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।' इसके बाद रासक्रीडा प्रारम्भ हुई।

जिन्होंने अध्यात्मशास्त्रका स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि योगसिद्धिप्राप्त साधारण योगी भी कायव्यूहके द्वारा एक साथ अनेक शरीरोंका निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानोंपर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। इन्द्रादि देवतागण एक ही समय अनेक स्थानोंपर उपस्थित होकर अनेक यज्ञोंमें युगपत् आहुति स्वीकार कर सकते हैं। निखिल योगियों और योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियोंके साथ क्रीडा करें तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? जो लोग भगवान्‌को भगवान् नहीं स्वीकार करते, वही अनेकों प्रकारकी शङ्का-कुशङ्काएँ करते हैं। भगवान्‌की निज लीलामें इन तर्कोंका सर्वथा प्रवेश नहीं है।

गोपियां श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्णके स्वरूपको भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत्‌की वस्तुओंमें उनका हिस्सेदार दूसरा जीव भी हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा; उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थनामें गोपियोंने और परीक्षित्‌के प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है कि गोपी, गोपियोंके पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और जगत्‌के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे, परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं, वही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रमसे, अज्ञान-से, भले ही श्रीकृष्णको पराया समझे, वे किसीके पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्रीकृष्णकी दृष्टिसे, जो कि वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है ही नहीं; सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीलाविलास है, सभी स्वरूपभूता अन्तरङ्गशक्ति हैं। गोपियां इस बातको जानती थीं और स्थान-स्थानपर उन्होंने ऐसा कहा है।

ऐसी स्थितिमें 'जार-भाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं

है, अङ्ग-सङ्ग नहीं है, वहाँ 'औपपत्य' और 'जारभाव' की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं; परन्तु उनमें परकीयाभाव था । परकीया होनेमें और परकीयाभाव होनेमें आकाश-पाताल-का अन्तर है । परकीया-भावमें तीन बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं; अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा और दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव । स्वकीयाभावमें निरन्तर एक साथ रहनेके कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं परन्तु परकीयाभावमें ये तीनों भाव बने रहते हैं । कुछ गोपियाँ जारभावसे श्रीकृष्णको चाहती थीं, इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलनके लिये उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्णके प्रत्येक व्यवहारको प्रेमकी आँखोंसे ही देखती थीं । इसी विशेषताके कारण संस्कृत साहित्यके कई ग्रन्थोंमें निरन्तर-चिन्तनके उदाहरणस्वरूप परकीयाभावका वर्णन आता है ।

गोपियोंके इस भावके एक नहीं, अनेकों दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं, इसलिये गोपियोंपर परकीया-पनका आरोप उनके भावको न समझनेके कारण है । जिसके जीवनमें साधारण धर्मकी एक हल्की-सी प्रकाश-रेखा आ जाती है उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्श-स्वरूप बन जाता है । फिर वे गोपियाँ, जिनका जीवन साधनाकी चरम सीमापर पहुँच चुका है, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान्‌की स्वरूप-भूता हैं, सदाचारका उल्लङ्घन कैसे कर सकती हैं ? और समस्त धर्म-मर्यादाओंके संस्थापक श्रीकृष्णपर धर्मो-ल्लङ्घनका लाञ्छन कैसे लगाया जा सकता है ? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कुकल्पनाएँ उनके दिव्यस्वरूप और दिव्य लीलाकी अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं ।

श्रीमद्भागवतपर, दशम स्कन्धपर और रासपञ्चाध्यायीपर अबतक अनेकों भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं । जिनके लेखकोंमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीजीवगोस्वामी आदि हैं । उन लोगोंने बड़े विस्तारसे रासलीलाकी महिमा समझायी है । किसीने इसे कामपर विजय बतलाया है, किसीने भगवान्‌का दिव्य विहार बतलाया है और किसीने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है । भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्मा-कार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं । उनका धाराप्रवाहरूपसे निरन्तर आत्मरमण ही रास है । किसी भी दृष्टिसे देखें, रासलीलाकी महिमा अधिकाधिक प्रकट होती है ।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको केवल मनुष्य मानते हैं और केवल मानवीयभाव एवं आदर्शकी कसौटी-पर उनके चरित्रको कसना चाहते हैं, वे पहले ही शास्त्रसे विमुख हो जाते हैं, उनके चित्तमें धर्मकी कोई धारणा ही नहीं रहती और भगवान्‌को भी अपनी बुद्धिके पीछे चलाना चाहते हैं । इसलिये साधकोंके सामने उनकी उक्ति-युक्तियोंका कोई महत्त्व ही नहीं रहता । जो शास्त्रके—श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—इस वचनको नहीं मानता, वह उनकी लीलाओंको किस आधारपर सत्य मान कर उनकी आलोचना करता है, यह समझमें नहीं आता । जैसे मानवधर्म, देवधर्म और पशुधर्म पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवद्धर्म भी पृथक् होता है और भगवान्‌के चरित्रका परीक्षण उसकी ही कसौटीपर होना चाहिये । भगवान्‌का एकमात्र धर्म है—प्रेम-परवशता, दया-परवशता और भक्तोंकी अभिलाषाकी पूर्ति । यशोदाके हाथोंसे ऊखलमें बँध जानेवाले श्रीकृष्ण अपने निज-जन गोपियोंके प्रेमके कारण उनके साथ नाचें, यह उनका सहज धर्म है ।

यदि यह हठ ही हो कि श्रीकृष्णका चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शोंके अनुकूल ही होना चाहिये तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है । श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय दस वर्षके लगभग थी,

जैसा कि भागवतमें स्पष्ट वर्णन मिलता है। गाँवोंमें रहनेवाले बहुत-से दस वर्षके बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। उन्हें कामवृत्ति और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। लड़के-लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्योहार मनाते हैं, गुड्डे-गुड्डएकी शादी करते हैं, बारात ले जाते हैं और आपसमें भोजभात भी करते हैं। गाँवके बड़े-बूढ़े लोग बच्चोंका यह मनोरञ्जन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आता। ऐसे बच्चोंको युवती स्त्रियाँ भी बड़े प्रेमसे देखती हैं, आदर करती हैं, नहलाती हैं, खिलाती हैं; यह तो साधारण बच्चोंकी बात है। श्रीकृष्ण-जैसे असाधारण धी-शक्ति-सम्पन्न बालक, जिनके अनेकों सद्गुण बाल्यकालमें ही प्रकट हो चुके थे, जिनकी सम्मति, चातुर्य्य और शक्तिसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे व्रजवासियोंने त्राण पाया था, उनके प्रति वहाँकी स्त्रियों, बालिकाओं और बालकोंका कितना आदर रहा होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यसे आकृष्ट होकर गाँवकी बालक-बालिकाएँ उनके साथ ही रहती थीं। और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभासे राग, ताल आदि नये-नये ढंगसे उनका मनोरञ्जन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे। ऐसे ही मनोरञ्जनोंमेंसे रासलीला भी एक थी, ऐसा समझना चाहिये। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टिमें भी यह दोषकी बात नहीं होनी चाहिये। वे उदारता और बुद्धिमानीके साथ भागवतमें आये हुए काम, रति आदि शब्दोंका ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा कि उपनिषद् और गीतामें इन शब्दोंका अर्थ होता है। वास्तवमें गोपियोंके निष्कपट प्रेमका ही नामान्तर काम है और भगवान् श्रीकृष्णका आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीडा ही रति है। इसीलिये स्थान-स्थानपर उनके लिये विभु, परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वरेश्वर, आत्माराम, अवरुद्धसौरत, मन्मथमन्मथ आदि शब्द आये हैं, जिससे किसीको कोई भ्रम न हो जाय।

जब गोपियाँ श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वनमें जाने लगी थीं तब उनके सगे-सम्बन्धियोंने उन्हें जानेसे रोका था। रातमें अपनी बालिकाओंको भला कौन बाहर जाने देता? फिर भी वे चली गयीं और इससे घरवालोंको किसी प्रकारकी अप्रसन्नता नहीं हुई। और न तो उन्होंने श्रीकृष्णपर या गोपियोंपर किसी प्रकारका लाञ्छन ही लगाया। उनका श्रीकृष्णपर, गोपियोंपर विश्वास था और वे उनके बचपन और खेलोंसे परिचित थे। उन्हें तो ऐसा मालूम हुआ मानो गोपियाँ हमारे पास ही हैं। इसको दो प्रकारसे समझ सकते हैं। एक तो यह कि श्रीकृष्णके प्रति उनका इतना विश्वास था कि श्रीकृष्णके पास गोपियोंका रहना भी अपने ही पास रहना है। यह तो मानवीय दृष्टि है। दूसरी दृष्टि यह कि श्रीकृष्णकी योगमायाने ऐसी व्यवस्था कर रक्खी थी, गोपों-को वे घरमें ही दीखती थीं। किसी भी दृष्टिसे रास-लीला दूषित-प्रसंग नहीं है, बल्कि अविकारी पुरुषोंके लिये तो यह सम्पूर्ण मनोमलको नष्ट करनेवाला है। रासलीलाके अन्तमें कहा गया है कि जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रासलीलाका श्रवण और वर्णन करता है, उसके हृदयका रोग काम बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाता है और उसे भगवान्का प्रेम प्राप्त होता है। भागवतमें अनेकों स्थानपर ऐसा वर्णन आता है कि जो भगवान्की मायाका वर्णन करता है, वह मायासे पार हो जाता है। जो भगवान्के कामजयका वर्णन करता है, वह कामपर विजय प्राप्त करता है। राजा परीक्षित्ने अपने प्रश्नोंमें जो शङ्काएँ की हैं, उनका उत्तर प्रश्नोंके अनुरूप ही अध्याय २९ के श्लोक १३ से १६ तक और अ० ३३ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजीने दिया है।

उस उत्तरसे वे शङ्काएँ तो हट गयी हैं। परन्तु भगवान्के दिव्यलीलाका रहस्य नहीं खुलने पाया,

चौंतीसवाँ अध्याय

सुदर्शन-उद्धार और शङ्खचूडवध

श्रीशुक उवाच

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः ।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् ॥ १ ॥
तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं विभुम् ।
आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ॥ २ ॥
गावो हिरण्यं वासांसि मधु मध्वन्नमादृताः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो नः प्रीयतामिति ॥ ३ ॥
ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः ।
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः ॥ ४ ॥
कश्चिन्महानहिस्तस्मिन्विपिनेऽतिबुभुक्षितः ।
यदृच्छयागतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत् ॥ ५ ॥
स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम् ।
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार देवयात्राके समय समस्त गोपगण अति उत्साहपूर्वक बैल-जुते छकड़ोंपर बैठकर अम्बिकावनको गये ॥ १ ॥ वहाँ सरस्वती नदीमें स्नान कर उन्होंने विविध प्रकारकी सामग्रीसे भगवान् पशुपति (महादेव) और अम्बिकादेवीका अति भक्तिपूर्वक पूजन किया ॥ २ ॥ फिर इस कामनासे कि 'देवदेव महादेव हमपर प्रसन्न हों' उन्होंने अति आदरपूर्वक बहुत-सी गौएँ, सुवर्ण, वस्त्र, मधु और मधुर अन्न ब्राह्मणोंको दान किये ॥ ३ ॥ तदनन्तर उस दिन व्रती रहकर केवल जलपान कर महाभाग नन्द और सुनन्द आदि गोपगण उस रात्रिको वहाँ सरस्वतीके तीरपर ही रहे ॥ ४ ॥

इसी समय, दैववश वहाँ उस वनमें एक अत्यन्त भूखे महान् सर्पने आकर सोये हुए नन्दजीको पकड़ लिया ॥ ५ ॥ सर्पसे निगले जानेपर नन्दजी भयभीत होकर चिल्लाने लगे—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! देखो यह महान् सर्प मुझे निगले जाता है, बेटा ! मुझ शरणागतकी इस संकटसे रक्षा करो" ॥ ६ ॥

सम्भवतः उस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये ही ३३ वें अध्यायमें रासलीलाप्रसंग समाप्त कर दिया गया । वस्तुतः इस लीलाके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत-जगत्में व्याख्या की भी नहीं जा सकती । क्योंकि यह इस जगत्की क्रीड़ा ही नहीं है । यह तो उस दिव्य आनन्दमय रसमय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है जिसके श्रवण और दर्शनके लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं । कुछ लोग इस लीलाप्रसंगको भागवतमें क्षेपक मानते हैं, वे वास्तवमें दुराग्रह करते हैं । क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रतियोंमें भी यह प्रसंग मिलता है और जरा विचार करके देखनेसे यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है । भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हमलोग इसका कुछ रहस्य समझनेमें समर्थ हों ।

भगवान्की इस दिव्य-लीलाके वर्णनका यही प्रयोजन है कि जीव गोपियोंके उस अहैतुक प्रेमका, जो कि श्रीकृष्णको ही सुख पहुँचानेके लिये था, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान्के रसमय दिव्यलीला-लोकमें भगवान्के अनन्त प्रेमका अनुभव करे । हमें रासलीलाका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी भी शङ्का न करके इस भावको जगाये रखना चाहिये । —**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

---

१. बादरायणिरुवाच ।

तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः ।
ग्रस्तं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः ॥७॥

नन्दजीका चिल्लाना सुनकर गोपगण सहसा उठ खड़े हुए और उन्हें अजगरके मुखमें देखकर बड़े घबराये तथा उस सर्पको जलती हुई लकड़ियोंसे मारने लगे ॥ ७ ॥

अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत्तमुरङ्गमः ।
तमस्पृशत्पदाभ्येत्य भगवान्सात्वतां पतिः ॥ ८ ॥

किन्तु उस भुजङ्गने जलती हुई लकड़ियोंसे दग्ध होनेपर भी नन्दजीका पाँव न छोड़ा । इतनेहीमें यदुनाथ कृष्णचन्द्रने वहाँ आकर उसे अपने चरणसे छू दिया ॥ ८ ॥

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः ।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥ ९ ॥

भगवान्‌के श्रीचरणका स्पर्श होते ही उसके सम्पूर्ण अशुभ नष्ट हो गये और उसने तुरन्त ही सर्प-शरीर छोड़कर विद्याधरोंसे वन्दनीय परम सुन्दर रूप धारण किया ॥ ९ ॥

तमपृच्छद्‌धृषीकेशः प्रणतं समुपस्थितम् ।
दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥१०॥

उसका शरीर दिव्य तेजसे देदीप्यमान था और उसके गलेमें सुवर्णमयी मालाएँ पड़ी हुई थीं । उसे अति विनयपूर्वक अपने पास खड़ा देख भगवान् कृष्णने पूछा—॥ १० ॥

को भवान्परया लक्ष्म्या रोचते[2]ऽद्भुतदर्शनः ।
कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः ॥११॥

"तुम कौन हो ? तुम्हारा दिव्य शरीर परम कान्तिसे देदीप्यमान हो रहा है, अतः तुम अद्भुत तेजस्वी दिखायी देते हो । बताओ, तुम्हें इस निन्दनीय सर्पयोनिमें विवश होकर क्यों आना पड़ा ?" ॥ ११ ॥

सर्प उवाच

अहं विद्याधरः कश्चित्सुदर्शन इति श्रुतः[3] ।
श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनाचरं दिशः ॥१२॥

सर्प बोला—मैं सुदर्शन नामसे विख्यात एक विद्याधर था । पूर्वकालमें अपनी कान्ति और रूप-सम्पत्तिसे सम्पन्न हुआ मैं विमानपर चढ़कर सब दिशाओंमें घूमा करता था ॥ १२ ॥

ऋषीन्विरूपानङ्गिरसः प्राहसं रूपदर्पितः ।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना ॥१३॥

मैं अपने सौन्दर्य-मदसे उन्मत्त हो रहा था, इसलिये मार्गमें अङ्गिरावंशके कुरूप मुनीश्वरोंको देखकर हँसने लगा । तब मेरे पापकर्मसे कुपित हुए उन मुनियोंने शाप देकर मुझे इस अधम योनिमें गिरा दिया ॥ १३ ॥

शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः ।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥१४॥

उन करुणामय मुनीश्वरोंने मुझपर कृपा करनेके लिये ही यह शाप दिया था, जिसके कारण आप लोकगुरुका चरणस्पर्श होनेसे मेरे सम्पूर्ण अशुभ शान्त हो गये ॥ १४ ॥

तं त्वाहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम् ।
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन् ॥१५॥

आप संसारभयसे डरे हुए अपने शरणागत भक्तोंका भय दूर करनेवाले हैं । हे दुःखनाशन ! आपके चरणस्पर्शसे शापमुक्त होकर अब मैं अपने लोकको जानेकी आज्ञा माँगता हूँ ॥ १५ ॥

१. ता । २. ते शुभदर्शनः । ३. स्मृतः ।

प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन्महापुरुष सत्पते ।
अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर ॥१६॥
ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् ।
यन्नाम गृह्णन्नखिलाञ्छ्रोतॄनात्मानमेव च ।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते ॥१७॥

हे महायोगिन् ! हे परमपुरुष ! हे सज्जनोंके प्रतिपालक ! हे सर्वलोकेश्वरेश्वर देव ! मैं आपकी शरण आया हूँ; आप मुझे आज्ञा दीजिये ॥ १६ ॥ हे अच्युत ! मैं आपका दर्शन पाते ही ब्राह्मणोंके शापसे छूट गया। [इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है] क्योंकि जिनका नाम उच्चारण करनेवाला पुरुष श्रोताओंके सहित अपने आपको तुरन्त पवित्र कर देता है साक्षात् उन्हीं आप परमेश्वरका चरणस्पर्श होनेपर मेरा शापमुक्त हो जाना कौन बड़ी बात है ? ॥ १७ ॥

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवन्द्य च ।
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ॥१८॥
निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं
व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः ।
समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजं
नृपाययुस्तत्कथयन्त आदृताः ॥१९॥

इस प्रकार भगवान्‌की आज्ञा ले उनकी परिक्रमा कर सुदर्शनने प्रणाम किया और फिर अपने लोक स्वर्गको चला गया तथा नन्दजी भी इस भारी संकटसे छूट गये ॥१८॥ हे राजन् ! कृष्णचन्द्रका ऐसा अद्भुत प्रभाव देख व्रजवासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे वहाँ अपना नियम समाप्त कर आदरपूर्वक भगवान्‌की कथाएँ कहते हुए फिर व्रजको लौट आये ॥१९॥

कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः ।
विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम् ॥२०॥
उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः ।
स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ ॥२१॥
निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम् ।
मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥२२॥
जगतः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम् ।
तौ कल्पयन्तौ युगपत्स्वरमण्डलमूर्च्छितम् ॥२३॥
गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन्नृप ।
स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः ॥२४॥

एक दिन भगवान् कृष्ण और अद्भुतकर्मा बलराम-जी रात्रिके समय व्रजबालाओंके साथ वनमें विहार कर रहे थे ॥२०॥ उस समय उनमें अनुराग रखनेवाली व्रजसुन्दरियाँ सुमधुर स्वरसे उन्हींका गुणगान कर रही थीं। वे दोनों ही भाई सुन्दर अलंकार, मनोहर मालाएँ तथा स्वच्छ वस्त्र धारण किये हुए थे और उनके सम्पूर्ण अङ्ग सुगन्धित चन्दनसे चर्चित थे ॥२१॥ तब जिसमें तारागणके सहित चन्द्रदेवका प्रादुर्भाव हुआ है एवं जो मल्लिकाकी गन्धसे उन्मत्त हुए भ्रमरगण तथा कुमुदकुसुमकी सुगन्धसे सुवासित समीरसे युक्त है उस रात्रिके प्रथम प्रहरका आदर करते हुए वे दोनों भाई संसारके समस्त प्राणियोंके मन और श्रवणों-को आनन्दित करनेवाला मधुरराग स्वरोंके उतार-चढ़ावसे एक साथ ही मिलकर अलापने लगे ॥२२-२३॥ हे राजन् ! उनका वह मनोमोहक गान सुनकर गोपियाँ ऐसी मोहित हो गयीं कि उन्हें जिसकी साड़ी खिसक गयी थी और केशकलापकी माला भी गिर गयी थी ऐसे अपने शरीरका भी कुछ भान न रहा ॥२४॥

१. वाद्य । २. स्लथद्दु० ।

एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः सम्प्रमत्तवत् ।
शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ॥२५॥
तयोर्निरीक्षतो राजंस्तन्नाथं[1] प्रमदाजनम् ।
क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः ॥२६॥
क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम् ।
यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥२७॥
मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ ।
आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम् ॥२८॥
स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन् ।
विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया ॥२९॥
तमन्वधावद्गोविन्दो यत्र यत्र स धावति ।
जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन्स्त्रियो बलः ॥३०॥
अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः ।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः ॥३१॥
शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम् ।
अग्रजायाददात्प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम् ॥३२॥

जिस समय भगवान् इस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करते हुए उन्मत्तके समान गा रहे थे उसी समय वहाँ शङ्खचूड नामसे विख्यात एक कुवेरका सेवक आया ॥२५॥ और हे राजन् ! उन दोनों भाइयोंके देखते-देखते उनसे सुरक्षित व्रजबालाओंको निःशङ्क होकर बलात्कारसे उत्तर दिशाकी ओर ले चला । उस समय वे सभी रुदन करने लगीं ॥ २६ ॥ तब डाकूके द्वारा बलात्कारसे हरी जाती हुई गौओंके समान उन अपनी प्रियाओंको 'हा कृष्ण ! हा राम !' कहकर चिल्लाती देख वे दोनों भाई उसके पीछे दौड़े ॥२७॥ और उन्हें अभय करनेके लिये 'डरो मत, डरो मत' ऐसा चिल्लाते हुए हाथमें शालवृक्ष लिये बड़े वेगसे शीघ्र ही उस दुष्ट यक्षके पास पहुँच गये ॥२८॥ काल और मृत्युके समान उन दोनों भाइयोंको अपने पास आये देख वह मूढ घबराकर अपने प्राण बचानेके लिये उन स्त्रियोंको छोड़कर भागा ॥२९॥ तब बलरामजी तो स्त्रियोंकी रक्षा करनेके लिये वहीं खड़े रहे; किन्तु कृष्णचन्द्र उसके शिरकी चूडामणि लेनेके लिये वह जहाँ-जहाँ दौड़कर गया वहीं उसके पीछे लगे रहे ॥३०॥ कुछ ही दूर जाकर उन्होंने उसे पकड़ लिया और एक ही घूँसेमें चूडामणिसहित उसका शिर धड़से अलग कर लिया ॥३१॥ इस प्रकार शङ्खचूडको मारकर उसकी प्रकाशमयी मणि ले भगवान् लौट आये और सब स्त्रियोंके देखते-देखते वह दिव्यमणि प्रसन्नतापूर्वक बड़े भाई बलभद्रजीको दे दी ॥३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[2] शङ्खचूडवधो नाम चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

१. जंस्तं तावत् प्रम० । २. प्राचीन प्रतिमें 'पूर्वार्धे' यह पाठ नहीं है ।

पैंतीसवाँ अध्याय

युगलगीत ।

श्रीशुक[1] उवाच

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः ।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥१॥

गोप्य ऊचुः

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः॥
व्योमयानवनिताः सह सिद्धै-
र्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः ।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः
कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥ ३ ॥

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं
हारहास उरसि स्थिरविद्युत् ।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां
नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः ॥ ४ ॥
वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो
वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् ।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा
निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥ ५ ॥

बर्हिणस्तबकधातुपलाशै-
र्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः ।
कर्हिचित्सबल आलि स गोपै-
र्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥ ६ ॥
तर्हि भग्नगतयः सरितो वै
तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम् ।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः
प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जब कृष्णचन्द्र वनमें गौ चराने चले जाते थे तो गोपियोंका चित्त उन्हींमें लगा रहता था और वे उनके चरित्रोंका गान करती हुई बड़ी कठिनतासे दिनका समय काटती थीं ॥१॥

गोपियाँ कहतीं—सखियो ! जिस समय बायीं भुजापर बायाँ कपोल रखकर अपनी बाँकी भ्रुकुटि नचाते हुए भगवान् कृष्ण ओठोंपर रखी हुई बाँसुरीको उसके छिद्रोंपर कोमल अँगुलियाँ फेरते हुए बजाते हैं उस समय उसका सुमधुर स्वर सुनकर आकाशमें अपने पति सिद्धगणोंके साथ विमानोंपर चढ़ी हुई सिद्धपत्नियाँ कामदेवके बाणसे चित्तके विद्ध हो जानेके कारण लज्जावश अत्यन्त विस्मित होकर ऐसी अचेत हो जाती हैं कि उन्हें अपने वस्त्रोंके खिसकनेका भी पता नहीं चलता ॥२-३॥

अरी अबलाओ ! यह एक और विचित्र बात सुनो । जिनकी हँसी हारके समान शुभ्रवर्ण है और जिनके वक्षःस्थलमें विद्युत्के समान चञ्चला लक्ष्मी अचल होकर विराजमान है वह आर्तजनोंको आनन्द देनेवाले नन्दनन्दन जिस समय बाँसुरी बजाते हैं उस समय दूरसे ही उसके शब्दसे मुग्धचित्त होकर व्रजके झुण्ड-के-झुण्ड बैल, गाय और मृग आदि दाँतोंमें चारा लिये, कान उठाये और सोये हुएके समान आँख मूँदे चित्रलिखित-से चुपचाप खड़े रह जाते हैं ॥४-५॥

हे आलि ! जब कभी मयूरपिच्छ, फूलोंके गुच्छों, गेरु आदि धातुओं और कोमल पल्लवोंसे मल्लोंका-सा वेष बनाये प्यारे कृष्ण बलरामजी और अन्य ग्वाल-बालोंके साथ गौओंको पुकारते हैं तो वायुद्वारा लाये हुए उनके चरणरजके लाभके लोभसे यमुनाजीकी गति रुक जाती है । किन्तु वह भी हमारे ही समान मन्द-भागिनी है जो कि प्रेमके कारण काँपती हुई भुजाओंके समान दो-चार तरङ्गें उठाकर—फिर निश्चल हो जाती है ॥६-७ ॥

१. बादरायणिरुवाच ।

अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य
आदिपूरुष इवाचलभूतिः ।
वनचरो गिरितटेषु चरन्ती-
र्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि ॥ ८ ॥
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म ॥ ९ ॥

सखियो ! अनुगामी गोपगण [या देवगण] जिनके विचित्र चरित्रोंका वर्णन करते हैं वे आदि-पुरुष नारायणके समान अविचल ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् कृष्ण जब वनमें विचरते हुए गिरिशिखरपर चरती हुई गौओंको बाँसुरी बजाकर बुलाते हैं तब पुष्प और फलोंके भारसे झुके हुए वनके वृक्ष और लताएँ अपनेमें विष्णु भगवान्की सत्ता प्रकट करते हुए प्रेमसे पुलकित होकर मधुकी धाराएँ बरसाने लगते हैं ॥८-९॥

दर्शनीयतिलको वनमाला-
दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्ट-
माद्रियन्यर्हि सन्धितवेणुः ॥१०॥
सरसि सारसहंसविहङ्गा-
श्चारुगीतहृतचेतस एत्य ।
हरिमुपासत ते यतचित्ता
हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥११॥

जिनके मस्तकपर देखनेयोग्य तिलक सुशोभित है अथवा जो दर्शनीय (सुन्दर) पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं वे कृष्णचन्द्र जिस समय अपने गलेमें पड़ी हुई वनमालाकी दिव्य गन्धयुक्त तुलसीके मधुर मधुसे उन्मत्त मधुकरोंके उच्च स्वरसे गाये हुए अनुकूल गानका आदर कर बाँसुरी बजाते हैं उस समय उसके सुमधुर गीतसे मुग्ध होकर सरोवरमें रहनेवाले सारस और हंस आदि अनेकों पक्षी भगवान्के पास आ आँखें मूँद मौन धारण कर एकाग्रचित्तसे श्रीहरिकी उपासना करते हैं ॥१०-११॥

सहबलः स्रगवतंसविलासः
सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः ।
हर्षयन्यर्हि वेणुरवेण
जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥१२॥
महदतिक्रमणशङ्कितचेता
मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः ।
सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभि-
श्छायया च विदधत्प्रतपत्रम् ॥१३॥

हे व्रजबालाओ ! पुष्पोंके कर्णभूषणोंसे जिनकी अपूर्व शोभा हो रही है वे श्यामसुन्दर बलरामजीके साथ पर्वतके ऊपर खड़े होकर स्वयं आनन्दित हो संसारको आनन्दित करते हुए जब जगत्को वेणु-नादसे पूरित करते हैं, उस समय 'महान् पुरुष जो श्रीकृष्णचन्द्र हैं उनका अतिक्रमण न हो जाय' इस आशंकासे मेघ उनकी वंशीध्वनिके साथ बहुत धीरे-धीरे गर्जता है। [अर्थात् बाँसुरीके शब्दसे अधिक शब्द नहीं करता।] और अपने सुहृद्पर अपनी छाया-से छत्र लगाकर फूलोंकी वर्षा करता है ॥१२-१३॥

विविधगोपचरणेषु विदग्धो
वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः ।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे
दत्तवेणुरनयत्स्वरजातीः ॥१४॥
सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः
शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
कवय आनतकन्धरचित्ताः
कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥१५॥

हे सति नन्दरानी ! गोपोंकी विविध क्रीडाओंमें निपुण तुम्हारे पुत्र कृष्णचन्द्र जिस समय अपने अधरबिम्बपर बाँसुरी रखकर स्वयं ही सीखे हुए ऋषभ, निषाद, षड्ज आदि नाना स्वरोंको ह्रस्व, मध्यम और दीर्घ भेदोंसे अलापते हैं उस समय वंशीकी ध्वनि-को सुनकर उसके स्वरोंका मर्म न जान सकनेके कारण इन्द्र, महादेव और ब्रह्मा आदि प्रमुख देवगण भी शिर नीचाकर मोहित हो जाते हैं ॥१४-१५॥

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र-
नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन्खुरतोदं
वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥१६॥
व्रजति तेन वयं सविलास-
वीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः
कश्मलेन कबरं वसनं वा ॥१७॥

सखियो ! जिस समय भगवान् कृष्ण ध्वजा, वज्र, कमल और अङ्कुशादि विचित्र और सुन्दर चिह्नोंसे युक्त अपने पल्लवके समान सुकुमार चरणकमलोंसे व्रजभूमिकी गोखुरजनित व्यथा मिटाते हुए गजराजकी गतिसे बाँसुरी बजाते चलते हैं उस समय उनकी लीलाविलासमयी चितवनसे प्राप्त हुए कामवेगके कारण वृक्षोंके समान जडवत् हो जानेसे मोहवश हमें अपने वस्त्र और वेणीके खुल जानेका भी पता नहीं चलता ॥१६-१७॥

मणिधरः क्वचिदागणयन्गा
मालया दयितगन्धतुलस्याः ।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे
प्रक्षिपन्भुजमगायत यत्र ॥१८॥
क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः
कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः ।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो
गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ॥१९॥

मणियोंके हार और प्रियगन्धयुक्त तुलसीकी माला धारण किये श्रीकृष्णचन्द्र जिस समय गौओंकी गिनती करते हुए किसी प्रिय सखाके गलेमें बाँह डालकर गाने लगते हैं उस समय उनकी बजती हुई वंशीके स्वरसे मोहित चित्तवाली मृगपत्नियाँ आकर गुणसागर श्रीकृष्णको घेर लेती हैं और हम गोपिकाओंके समान घर लौटनेकी इच्छा छोड़कर वहीं खड़ी रह जाती हैं ॥ १८-१९ ॥

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो
गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो
नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥२०॥
मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं
मानयन्मलयजस्पर्शेन[१] ।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये
वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥२१॥

हे पापहीने यशोदे ! जिस समय कुन्दकलीकी मालाओंसे अपना विचित्र वेष बनाये अपने प्रेमियोंको आनन्दित करनेवाले तुम्हारे पुत्र श्रीनन्दनन्दन यमुनाजीके तटपर गोप और गौओंसे घिरे हुए विहार करते हैं उस समय अपने चन्दनके समान शीतल स्पर्शसे उनका मान करता हुआ मन्द-मन्द अनुकूल वायु चलने लगता है तथा बन्दीगणके समान गन्धर्वादि उपदेवगण गाते-बजाते एवं नाना प्रकारकी भेंटें देते हुए सब ओरसे घेरकर उनकी उपासना करते हैं॥२०-२१॥

वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो
वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः ।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते
गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥२२॥
उत्सवं श्रमरुचापि दृशीना-
मुन्नयन्खुररजश्छुरितस्रक् ।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष
देवकीजठरभूरुडुराजः ॥२३॥

देखो, अब दिनका अन्त होनेपर समस्त गौओंको एकत्रित कर, व्रजवासियों और गौओंके परमहितकारी श्रीगिरिधारी अपने सखाओंसे कीर्तित और मार्गमें ब्रह्मा आदि लोकगुरुओंसे वन्दित हो वेणु-गान करते हुए आ रहे हैं। उनके गलेकी माला गौओंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलसे धूसरित हो रही है और वे थके होनेपर भी अपनी कान्तिसे हमारे नयनोंको आनन्दित कर रहे हैं। देखो, अपने सुहृदोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेकी इच्छासे ये देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए चन्द्रमा (व्रजचन्द्र) आ रहे हैं ॥ २२-२३ ॥

१. नस्य रसेन । छन्दकी दृष्टिसे यही पाठ शुद्ध है ।

अरिष्ट, केशी और व्योमासुरका उद्धार

[पृष्ठ ३८९

मदविघूर्णितलोचन ईष-
न्मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं
मण्डयन्कनककुण्डललक्ष्म्या ॥२४॥
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो
यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं
मोचयन्व्रजगवां दिनतापम् ॥२५॥

अहा ! जिनकी मतवाली आँखें मदके कारण कुछ अरुणवर्ण हो रही हैं, जो कनककुण्डलोंकी कान्तिसे अपने कोमल कपोलोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं, अतएव जिनका वदन पके बेरके समान पाण्डुवर्ण प्रतीत होता है वे अपने सुहृदोंको मान देनेवाले वनमालाधारी श्रीयदुनाथ प्रसन्नवदन होकर व्रजवासियों और गौओंके दुरन्त दिनतापको दूर करते हुए सायंकालके समय जैसे चन्द्रमा उदय होता है उसी प्रकार गजराजकी भाँति मन्द-मन्द गतिसे आ रहे हैं ॥ २४-२५ ॥

श्रीशुक उवाच[1]

एवं व्रजस्त्रियो राजन्कृष्णलीला नु गायतीः ।
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥२६॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कृष्णचन्द्रमें ही जिनके मन लगे हुए हैं वे बड़भागिनी गोपियाँ इस प्रकार उन्हींका चिन्तन करती हुई और उन्हींकी लीलाओंका गान करती हुई दिनभर उन्हींमें रमण किया करती थीं ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
वृन्दावनक्रीडायां गोपिकायुगलगीतं नाम[2]
पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

छत्तीसवाँ अध्याय

अरिष्टासुरका वध और कंसका अक्रूरजीको व्रज जानेकी आज्ञा देना ।

श्रीशुक उवाच[3]

अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः ।
महीं महाककुत्कायः कम्पयन्खुरविक्षताम् ॥ १ ॥
रम्भमाणः खरतरं पदा च[4] विलिखन्महीम् ।
उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन् ॥ २ ॥
किञ्चित्किञ्चिच्छकृन्मुञ्चन्मूत्रयन् स्तब्धलोचनः ।
यस्य निर्ह्रादितेनाङ्ग निष्ठुरेण गवां नृणाम्[5] ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उसी समय अरिष्टासुरनामक दैत्य बैलका रूप धारण कर अपने खुरोंसे पृथिवीको खोदता और कम्पायमान करता व्रजमें आया । उसका ककुद् (कुम्भ) और डील-डौल बहुत ही बड़ा था ॥१॥ वह बड़े जोरसे रँभाता, खुरोंसे पृथिवी खोदता और पूँछ उठाकर सींगोंसे खेतोंकी मेड़ें तोड़ता जाता था ॥ २ ॥ वह बीच-बीचमें बारम्बार मल-मूत्र त्याग करता हुआ आँख फाड़कर इधर-उधर दौड़ रहा था । हे तात ! उसके निष्ठुर नादसे

१. प्राचीन प्रतिमें 'श्रीशुक उवाच' से लेकर '······महोदयाः ।' तकका पाठ मूलमें नहीं है । २. वृन्दावनक्रीडायां गोपिकागीतं नाम । ३. बादरायणिरुवाच । ४. संवि० । ५. भृशम् ।

पतन्त्यकालतो गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै[1] ।
निविशन्ति घना यस्य ककुद्यचलशङ्कया ॥ ४ ॥
तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ।
पशवो दुद्रुवुर्भीता राजन्संत्यज्य गोकुलम्[2] ॥ ५ ॥
कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः ।
भगवानपि[3] तद्वीक्ष्य गोकुलं भयविद्रुतम्[4] ॥ ६ ॥
मा भैष्टेति गिराश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् ।
गोपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम ॥ ७ ॥
बलदर्पहाहं[5] दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् ।
इत्यास्फोट्याच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन् ॥ ८ ॥
सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः ।
सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन् ।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥
अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम् ।
कटाक्षिप्याद्रवत्तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा ॥१०॥
गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वा अष्टादश पदानि सः ।
प्रत्यपोवाह भगवान्गजः प्रतिगजं यथा ॥११॥
सोऽपविद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरः ।
आपतत्स्विन्नसर्वाङ्गो निःश्वसन्क्रोधमूर्छितः ॥१२॥

अकालहीमें गौओं और स्त्रियोंके गर्भोंका भयके कारण स्राव या पात* हो जाता था तथा मेघगण उसके ककुद्पर पर्वतकी आशङ्कासे ठहर जाते थे ॥३-४॥

हे राजन् ! उस तीखे सींगोंवाले दैत्यको देखकर गोप और गोपीगण अत्यन्त भयभीत हुए और पशुगण डरकर गोष्ठ छोड़कर भाग गये ॥५॥ तब समस्त व्रजवासी 'हे कृष्ण ! हे कृष्ण !' ऐसा चिल्लाते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी शरणमें आये । भगवान्‌ने जब गोकुलको अत्यन्त भयातुर देखा तो 'डरो मत' इस अभयवाणीसे उन्हें धैर्य बँधा वृषभासुरको यों ललकारा "अरे मन्दमति महादुष्ट ! इन गौओं और गोपालोंको वृथा डरानेमें क्या पुरुषार्थ है ? देख, तुझ-जैसे दुष्ट दुरात्माओंके बलदर्पका दमन करनेवाला तो मैं हूँ" ऐसा कह श्रीहरिने ताल ठोंककर अरिष्टासुरको कुपित कर दिया ॥६-८॥

भगवान् एक मित्रके कन्धेमें अपनी सर्पके समान बाँह डाले खड़े थे । उनकी इस चुनौतीसे कुपित हुआ अरिष्टासुर खुरसे पृथिवी खोदता और आकाशमें ऊँची उठायी हुई पूँछसे मेघोंको भ्रमाता श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर दौड़ा ॥९॥ वह दुष्ट दैत्य सींगका अग्रभाग आगे किये और लाल-लाल आँखोंसे टकटकी लगाये कृष्णचन्द्रपर तिरछी नजर डालता हुआ इन्द्रके हाथसे छूटे हुए वज्रके समान बड़े वेगसे दौड़ा ॥१०॥ जैसे एक हाथीसे भिड़ा हुआ दूसरा हाथी उसे पीछे हटा देता है उसी प्रकार भगवान्‌ने उसकी सींग पकड़कर उसे अट्ठारह पग पीछे ठेल दिया ॥११॥ भगवान्‌से हटाया जाकर भी वह तुरन्त ही फिर उठ खड़ा हुआ । उसका सारा शरीर पसीनेसे सराबोर हो गया और वह क्रोधसे अचेत हो दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ उनपर फिर झपटा ॥१२॥

१. स्याकालिका गर्भाः । २. दुद्रुवू राजन् संत्यज्य निजगोकुलम् । ३. नथ । ४. विह्वलम् । ५. प्राचीन प्रतिमें 'बलदर्पहा'……'दुरात्मनाम्' यह श्लोकार्ध नहीं है ।

* 'आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः । अत ऊर्ध्वं तु नारीणां प्रसवः परिकीर्तितः ॥'

अर्थात् चार महीनेके भीतर गर्भ गिरे तो वह 'गर्भस्राव', पाँचवें या छठे महीनेमें गिरे तो 'गर्भपात' और इसके पीछे गिरे तो 'प्रसव' कहलाता है ।

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः
पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले ।
निष्पीडयामास यथार्द्रमम्बरं
कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् ॥१३॥
असृग्वमन्मूत्रशकृत्समुत्सृजन्
क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः ।
जगाम कृच्छ्रं निर्ऋतेरथ क्षयं
पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः ॥१४॥
एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः ।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥१५॥
अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।
कंसायाथाह भगवान्नारदो देवदर्शनः ॥१६॥
यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च ।
रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता ॥१७॥
न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै याभ्यां ते पुरुषा हताः ।
निशम्य तद्भोजपतिः कोपात्प्रचलितेन्द्रियः ॥१८॥
निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया ।
निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः ॥१९॥
ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया ।
प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आभाष्य केशिनम् ॥२०॥
प्रेषयामास हन्येतां भवता रामकेशवौ ।
ततो मुष्टिकचाणूरशलतोशलकादिकान् ॥२१॥
अमात्यान्हस्तिपांश्चैव समाहूयाह भोजराट् ।
भो भो निशम्यतामेतद्वीरचाणूरमुष्टिकौ ॥२२॥
नन्दव्रजे किलासाते सुतावानकदुन्दुभेः ।
रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निदर्शितः ॥२३॥

श्रीकृष्णने अपने सामने आये हुए उस असुरके सींग पकड़ लिये और उसे पृथिवीपर गिराकर अपने पाँवोंसे दबा इस प्रकार उसका कचूमर निकाला जैसे गीले वस्त्रको निचोड़ते हैं। तदनन्तर उसकी सींग उखाड़कर उसपर प्रहार किया। इससे वह दैत्य मुखसे रक्तवमन करता और मल-मूत्र त्याग करता गिर पड़ा, उसके नेत्रोंकी पुतली चढ़ गयी और वह पैर पटक-पटककर बड़ी कठिनतासे यमलोक सिधारा। उसे मरा हुआ देख देवगण भगवान्‌पर फूल बरसाते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥१३-१४॥ इस प्रकार गोपियोंके नयनोंको आनन्दित करनेवाले श्रीहरिने वृषभासुरका संहार कर अपने जातिभाइयोंसे प्रशंसित होते हुए बलरामजीके सहित व्रजमें प्रवेश किया ॥१५॥

हे राजन् ! अद्भुतकर्मा भगवान् कृष्णचन्द्रके द्वारा अरिष्टासुरके मारे जानेपर एक दिन देवदर्शन भगवान् नारदजीने राजा कंससे कहा ॥१६॥ "जो कन्या देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुई कही गयी थी वह यशोदाकी पुत्री थी; देवकीके (आठवें पुत्र) कृष्ण ही हैं और रोहिणीके पुत्ररूपसे प्रसिद्ध बलराम भी देवकीके ही सातवें पुत्र हैं। इन दोनोंको वसुदेवजीने तुमसे डरकर अपने मित्र नन्दजीके यहाँ छिपा दिया था। उन्हीं दोनोंके द्वारा तुम्हारे सेवक मारे गये हैं।" यह समाचार सुनते ही भोजराज कंसकी समस्त इन्द्रियाँ क्रोधसे चञ्चल हो गयीं ॥१७-१८॥ और उसने वसुदेवजीको मारनेके लिये तीक्ष्ण तलवार निकाल ली; किन्तु नारदजीने उसे रोक लिया। तदनन्तर वसुदेवजीके पुत्रोंको ही अपना काल समझकर उसने उनकी भार्या देवकीके सहित उन्हें लोहेकी जंजीरोंसे कस दिया। नारदजीके चले जानेपर कंसने केशीको बुलाया और उसे यह आज्ञा देकर कि 'तुम बलराम और कृष्णको मार डालो' व्रजको भेजा। तदनन्तर मुष्टिक, चाणूर, शल और तोशल आदि मल्लोंको, मन्त्रियोंको और महावतोंको बुलाकर भोजराज कंसने कहा—"हे वीरवर चाणूर और मुष्टिक ! सुनो ॥१९-२२॥ वसुदेवके दो पुत्र राम और कृष्ण नन्दके व्रजमें रहते हैं। सुनते हैं, उन्हींके हाथ मेरी मृत्यु बदी है ॥२३॥

१. ममाधवौ । २. कालनिदर्शितः ।

भवद्भ्यामिह सम्प्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया ।
मञ्चाः क्रियन्तां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः ।
पौरा जानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् ॥२४॥
महामात्र त्वया भद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम् ।
द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ ॥२५॥
आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि ।
विशसन्तु पशून्मेध्यान्भूतराजाय मीढुषे ॥२६॥
इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोऽक्रूरमुवाच ह ॥२७॥
भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मैत्रमादृतः ।
नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु ॥२८॥
अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनम् ।
यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमद्विभुः ॥२९॥
गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः ।
आसाते ताविहानेन रथेनानय मा चिरम् ॥३०॥
निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः ।
तावानय समं गोपैर्नन्दाद्यैः साभ्युपायनैः ॥३१॥
घातयिष्य इहानीतौ कालकल्पेन हस्तिना ।
यदि मुक्तौ ततो मल्लैर्घातये वैद्युतोपमैः ॥३२॥
तयोर्निहतयोस्तप्तान्वसुदेवपुरोगमान् ।
तद्बन्धून्निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान्[१] ॥३३॥
उग्रसेनं च[२] पितरं स्थविरं राज्यकामुकम् ।
तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम ॥३४॥

अतः, जब वे यहाँ आवें तो तुम उन्हें मल्ल-क्रीडाके मिससे मार डालना । अब भाँति-भाँतिके मञ्च बनाओ और उन्हें अखाड़ेके चारों ओर गोलाकार सजा दो, उनपर बैठकर समस्त पुरवासी और प्रान्तीय लोग इस दंगलको देखेंगे ॥२४॥ महावत ! देखो भाई, तुम रङ्गभूमिके द्वारपर कुवलयापीड हाथीको ले जाना और मेरे शत्रुओंको उससे मरवा डालना ॥२५॥ इसी चतुर्दशीको विधिपूर्वक धनुषयज्ञ आरम्भ कर दो और उसकी सफलताके लिये वरदायक भूतनाथ भैरवको बहुतसे पवित्र पशुओंकी बलि दो'' ॥२६॥

स्वार्थसाधनमें निपुण कंसने महावत और मल्लोंको इस प्रकार आज्ञा दे यादवश्रेष्ठ अक्रूरजीको बुलाया और उनका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—॥२७॥ ''हे दानपते ! आप मेरे आदरपात्र हैं; आज आप मेरे लिये एक मित्रोचित कार्य कीजिये, क्योंकि सम्पूर्ण भोज और वृष्णिवंशी यादवोंमें मेरा आपसे बढ़कर हितकारी और कोई नहीं है ॥२८॥ अतः हे सौम्य ! इस गुरुतर कार्यको करानेके लिये मैंने आपका आश्रय लिया है, जैसे समर्थ होनेपर भी इन्द्र विष्णुभगवान्‌की सहायतासे ही अपने कार्य सिद्ध करता रहा है ॥२९॥ आप नन्दके व्रजको जाइये, वहाँ वसुदेवजीके दो बालक हैं । उन्हें इस रथपर चढ़ाकर यहाँ ले आइये—बस, अब देरी न कीजिये ॥३०॥ विष्णुके आश्रित रहनेवाले देवताओंने उन्हें मेरा काल निश्चय किया है, इसलिये आप भेंटें लेकर आते हुए नन्दादि गोपोंके साथ उन्हें भी ले आइये ॥३१॥ यहाँ आनेपर मैं उन्हें कालरूप कुवलयापीड हाथीसे मरवा डालूँगा । यदि किसी प्रकार उससे बच गये तो मेरे वज्रके समान सुदृढ और फुर्तीले मल्ल उन्हें मार डालेंगे ॥३२॥ फिर उनके मारे जानेपर शोकाकुल वसुदेव आदि उनके वृष्णि, भोज और दाशार्हवंशी बन्धुओंको भी [सहजहीमें] मार डालूँगा ॥३३॥ तदुपरान्त, राज्यके लोभी बूढ़े पिता उग्रसेनको, उसके भाई देवकको तथा और भी जो-जो मुझसे द्वेष करनेवाले हैं उन सबको नष्ट कर दूँगा ॥३४॥

१. शार्हजान् । २. मत्पितरं ।

ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका ।
जरासन्धो मम गुरुर्द्विविदो दयितः सखा ॥३५॥
शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः ।
तैरहं सुरपक्षीयान्हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥३६॥
एतज्ज्ञात्वानय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ ।
धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरश्रियम् ॥३७॥

हे मित्र ! फिर यह पृथिवी निष्कण्टक हो जायगी । [मुझे किसीका खटका नहीं रहेगा, क्योंकि] ससुर जरासन्ध हमारे बड़े-बूढ़े हैं, [वानर-राज] द्विविद मेरे प्रिय मित्र हैं ॥ ३५ ॥ इनके सिवा शम्बरासुर, नरकासुर और बाणासुर भी मुझसे ही मित्रता रखते हैं। उन सबकी सहायतासे मैं देवपक्षवाले राजाओंको मारकर पृथिवीका निष्कण्टक राज्य भोगूँगा ॥३६॥ यह जानकर आप शीघ्र ही धनुषयज्ञ देखने और यादवोंकी राजधानी मथुरापुरीकी शोभा निहारनेके लिये कृष्ण और बलदेव दोनों बालकोंको यहाँ ले आइये" ॥३७॥

अक्रूर उवाच

राजन्मनीषितं सम्यक् तव स्वावद्यमार्जनम् ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समं कुर्याद्दैवं हि फलसाधनम् ॥३८॥
मनोरथान्करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि ।
युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥३९॥

अक्रूरजी बोले—राजन् ! आप अपना अमङ्गल दूर करना चाहते हैं सो ऐसा विचार ठीक ही है । मनुष्यको सिद्धि-असिद्धिमें समान रहकर ही अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिये, क्योंकि फल देनेवाला तो दैव ही है ॥३८॥ मनुष्य प्रारब्धद्वारा नष्ट किये हुए बड़े-बड़े मनोरथोंकी अभिलाषा किया करता है, उनकी सिद्धि-असिद्धिसे उसे हर्ष-शोक दोनों ही उठाने पड़ते हैं; तो भी मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥३९॥

श्रीशुक उवाच

एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सः ।
प्रविवेश गृहं कंसस्तथाक्रूरः स्वमालयम् ॥४०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—अक्रूरजीको इस प्रकार आज्ञा दे कंसने मन्त्रियोंको विदा किया । तदनन्तर वह अपने अन्तःपुरमें चला गया और अक्रूरजी अपने घरको गये ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
पूर्वार्धेऽक्रूरसंप्रेषणं नाम
षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

१. कंसमन्त्रणं षट्० ।

सैंतीसवाँ अध्याय

केशी और व्योमासुरका वध तथा नारदकर्तृक भगवान्‌की स्तुति ।

श्रीशुक उवाच[1]

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं
महाहयो निर्जरयन्मनोजवः ।
सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं
कुर्वन्नभो हेषितभीषिताखिलः ॥ १ ॥[2]

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इधर कंसका भेजा हुआ केशीनामक दैत्य एक विशालकाय घोड़ेका रूप धारण कर मनके समान बड़े वेगसे दौड़ता, टापोंके प्रहारसे पृथिवीको विदीर्ण करता, अपनी सटाओं (गर्दनके बालों) से छितराये हुए मेघ और विमानोंसे आकाशको व्याप्त करता एवं भीषण शब्दसे सबको भयभीत करता व्रजमें आया ॥ १ ॥

तं त्रासयन्तं भगवान्स्वगोकुलं
तद्धेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम् ।
आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणी-
रुपाह्वयत्स व्यनदन्मृगेन्द्रवत् ॥ २ ॥

भगवान्‌ने देखा कि वह बार-बार हींस-हींसकर गोकुलको भयभीत कर रहा है, अपनी पूँछके बालोंसे बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देता है और युद्धके लिये मुझे खोजता-फिरता है तो उसके आगे आकर उन्होंने उसे ललकारा और सिंहके समान भयङ्कर नाद किया ॥ २ ॥

स तं निशम्याभिमुखो मुखेन खं
पिबन्निवाभ्यद्रवदत्यमर्षणः ।
जघान पद्भ्यामरविन्दलोचनं
दुरासदश्चण्डजवो दुरत्ययः ॥ ३ ॥

भगवान्‌का सिंहनाद सुन उसे न सह सकनेके कारण वह प्रचण्ड वेगशाली दुर्जय एवं दुर्दम्य दैत्य मानो आकाशको पी जायगा, इस प्रकार मुख फाड़कर उनकी ओर झपटा और कमलनयन भगवान्‌पर एक दुलत्ती छोड़ी ॥ ३ ॥

तद्वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा
प्रगृह्य दोर्भ्यां परिविद्ध्य पादयोः ।
सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे
यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः ॥ ४ ॥

उसे बचाकर श्रीअधोक्षजने अति क्रुद्ध होकर अपने दोनों हाथोंसे उसके पिछले पैर पकड़ लिये और गरुड़जी जैसे सर्पको झटककर फेंक देते हैं उसी प्रकार उसे अवज्ञापूर्वक सौ धनुष (चार सौ हाथ) की दूरीपर फेंककर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा
व्यादाय केशी तरसापतद्धरिम् ।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन्
प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥ ५ ॥

कुछ देरमें चेत होनेपर केशी उठा और अत्यन्त रोषसे मुख फाड़कर श्रीहरिकी ओर बड़े वेगसे झपटा । तब भगवान्‌ने मुसकाकर जैसे बिलमें सर्प चला जाता है उसी प्रकार उसके मुखमें अपनी बायीं भुजा घुसा दी ॥ ५ ॥

दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृश-
स्ते केशिनस्तप्तमयःस्पृशो यथा ।
बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो
यथामयः संववृधे उपेक्षितः ॥ ६ ॥

भगवान्‌की भुजाका स्पर्श होते ही केशीके दाँत टूटकर गिर गये, मानो उनसे तपा हुआ लोहा छू गया हो, और उसके शरीरमें गयी हुई भगवान्‌की भुजा उपेक्षा किये हुए रोगके समान बढ़ने लगी ॥ ६ ॥

---

१. बादरायणिरुवाच । २. प्राचीन प्रतिमें इस प्रथम श्लोकके बाद एक और श्लोकका पाठ माना गया है, जिसका उल्लेख मूलमें नहीं, टिप्पणीमें इस प्रकार है—

विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो बृहद्गलो नीलमहाम्बुदोपमः ।
दुराशयः कंसहितं चिकीर्षुर्व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् ॥

समेधमानेन स कृष्णबाहुना
निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः
पपात लेण्डं विसृजन्क्षितौ व्यसुः ॥ ७ ॥
तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमा-
द्व्यसोरपाकृष्य भुजं महाभुजः ।
अविस्मितोऽयत्नहतारिरुत्स्मयैः
प्रसूनवर्षैर्दिविषद्भिरीडितः ॥ ८ ॥

भगवान् कृष्णकी भुजाके बढ़नेसे उसका श्वास रुक गया, शरीर पसीनेसे भर गया तथा नेत्र फट गये और वह पैर पटकता तथा मल-त्याग करता हुआ प्राणहीन होकर पृथिवीपर गिर पड़ा ॥ ७ ॥ महाबाहु भगवान् कृष्णने ककड़ीके फलके समान फटे हुए उसके प्राणहीन शरीरसे अपनी भुजा निकाल ली। उन्हें इससे कुछ भी विस्मय न हुआ। किन्तु देवगण अत्यन्त विस्मित हो बिना ही प्रयत्नके शत्रुको मारनेवाले भगवान्पर फूलोंकी वर्षा करते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ ८ ॥

देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरो नृप ।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत ॥ ९ ॥
कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्योगेश जगदीश्वर ।
वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥१०॥
त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् ।
गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥११॥
आत्मनात्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान् ।
तैरिदं सत्यसंकल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः ॥१२॥
स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम् ।
अवतीर्णो विनाशाय सेतूनां[2] रक्षणाय च ॥१३॥
दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयायं हयाकृतिः ।
यस्य हेषितसंत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥१४॥
चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् ।
कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥१५॥
तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च ।
पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥१६॥

हे राजन् ! इसी समय भागवतश्रेष्ठ देवर्षि नारदजीने अक्लिष्टकर्मा भगवान् कृष्णचन्द्रके पास आकर उनसे एकान्तमें इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥ "हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अप्रमेयस्वरूप ! हे योगेश्वर ! हे जगत्पते ! हे वासुदेव ! हे सर्वाधिष्ठान ! हे यदु-वंशियोंमें श्रेष्ठ ! हे प्रभो ! ॥ १० ॥ लकड़ियोंमें व्याप्त अग्निके समान एकमात्र आप ही सब भूतोंके आत्मा तथा बुद्धिके आश्रय और साक्षी हैं। प्रभो ! आप महापुरुष और सबके ईश्वर हैं ॥ ११ ॥ सृष्टिके आदिमें आपने अपनी ही मायाको आश्रित कर तीनों गुणोंकी रचना की थी। आप सत्यसंकल्प परमेश्वर हैं; उन गुणोंकी सहायतासे ही आप संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं ॥ १२ ॥ उन्हीं आपने राज-वेषधारी दैत्य, प्रमथ और राक्षसोंका नाश करनेके लिये तथा धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये अवतार लिया है ॥ १३ ॥ बड़े आनन्दकी बात है, आपने इस अश्वरूपधारी दुष्ट दैत्यको लीलाहीसे मार डाला जिसकी हिनहिनाहटसे भयभीत होकर देवगण स्वर्गलोक छोड़कर भाग जाते थे ॥ १४ ॥

"हे विभो ! अब परसों मैं आपके हाथसे चाणूर, मुष्टिक और दूसरे मल्लोंको तथा कुवलयापीड हाथी और कंसको मरा हुआ देखूँगा ॥ १५ ॥ उसके पीछे हे जगत्पते ! शङ्खासुर, कालयवन, मुर और नरकासुर आदिका मारा जाना, स्वर्गसे पारिजात-हरण करके

---

१. सुविस्मितैः पद्मभवादिभिः सुरैः प्रसू० । २. साधूनां ।

उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम् ।
नृगस्य मोक्षणं शापाद्द्वारकायां जगत्पते ॥१७॥
स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया ।
मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥१८॥
पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात्काशिपुर्याश्च दीपनम् ।
दन्तवक्त्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥१९॥
यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन्भवान् ।
कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि[1] ॥२०॥
अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ।
अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥२१॥
विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया
समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम् ।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमाया-
गुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥२२॥
त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया
विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् ।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं
नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम् ॥२३॥

श्रीशुक उवाच

एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः ।
प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः ॥२४॥
भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे ।
पशूनपालयत्पालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः ॥२५॥
एकदा ते पशून्पालाश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु ।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः ॥२६॥
तत्रासन्कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप ।
मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः ॥२७॥

लाना, इन्द्रका पराजय, वीर्यहीका मूल्य देकर राजकन्याओंसे विवाह करना, द्वारकामें रहकर नृगको शापमुक्त करना, भार्या (जाम्बवती) के सहित स्यमन्तकमणिको लाना, ब्राह्मणके मरे हुए पुत्रको अपने धाम (महाकालपुर) से लाकर देना, पौण्ड्रकका वध, काशीपुरीको जलाना, दन्तवक्त्रका वध तथा राजसूय महायज्ञमें शिशुपालका निधन आदि आपके चरित्रोंको देखूँगा ॥ १६–१९ ॥ इनके सिवा आप द्वारकामें रहकर पृथिवीतलमें कवियोंद्वारा कीर्तन किये जानेयोग्य और भी जो-जो कर्म करेंगे वह मैं सब देखूँगा ॥२०॥ फिर आप कालरूपसे पृथिवीका भार उतारनेके लिये अर्जुनके सारथी होकर कई अक्षौहिणी सेनाका संहार करेंगे—यह भी मैं देखूँगा ॥ २१ ॥ हे देव ! आप विशुद्धविज्ञानघन हैं, अपने परमानन्दस्वरूपमें स्थित होनेके कारण आपको सम्पूर्ण पदार्थ नित्य प्राप्त हैं, आपकी इच्छाशक्ति अमोघ है, आपके तेजसे यह गुण-प्रवाहरूप संसार सदा ही बाधित है, मैं आप षडैश्वर्य-सम्पन्न भगवान्‌की शरण हूँ ॥ २२ ॥ आप सर्वेश्वर, स्वतन्त्र और अपनी मायासे सम्पूर्ण भेद-कल्पनाओंकी रचना करनेवाले हैं । आपने लीलाके लिये ही इस समय मनुष्य-शरीर धारण किया है । आप यदु, वृष्णि और सात्वतवंशियोंमें अग्रगण्य हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ" ॥ २३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ मुनिवर नारदजी यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द्रको इस प्रकार प्रणाम कर उनके दर्शनोंसे अति आनन्दित हो उनकी आज्ञा पा अपने लोकको गये ॥ २४ ॥ भगवान् कृष्ण भी युद्धमें केशीको पछाड़कर व्रजवासियोंको सुख देते हुए प्रसन्नतापूर्वक अन्य ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराने लगे ॥ २५ ॥ एक दिन वे ग्वालबाल पर्वतपर गौएँ चराते हुए चोर और रक्षक बनकर छुका-छुकीका खेल खेलने लगे ॥ २६ ॥ उनमेंसे कुछ तो चोर बने, कुछ भेड़ोंको चरानेवाले बने और कुछ भेड़ बने । इस प्रकार वे निःशङ्क होकर खेलने लगे ॥ २७ ॥

१. यानि शेषाणि वै भुवि ।

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक् ।
मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून् ॥२८॥
गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः ।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥२९॥
तस्य तत्कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम् ।
गोपान्नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा ॥३०॥
स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली ।
इच्छन्विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद्ग्रहणातुरः ॥३१॥
तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले ।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत् ॥३२॥
गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान्निःसार्य कृच्छ्रतः ।
स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम् ॥३३॥

इसी समय मयासुरका महामायावी पुत्र व्योमासुर वहाँ ग्वालबाल बनकर आया और अधिकतर चोर ही बनकर बहुतसे भेड़ बने हुए बालकोंको ले जाकर छिपा आया ॥२८॥ वह महादैत्य उन्हें ले जाकर एक पर्वतकी गुफामें डाल देता और उसके द्वारको शिलासे ढँक देता; यहाँतक कि वहाँ केवल चार-पाँच बालक ही रह गये ॥२९॥

भक्तवत्सल भगवान् उसका यह कुकर्म जान गये और जिस समय वह ग्वालबालोंको ले जा रहा था उसी समय उन्होंने, सिंह जैसे भेड़ियेको दबोच लेता है उसी प्रकार उसे पकड़ लिया ॥ ३० ॥ उस महाबलवान् असुरने तुरन्त ही अपना पर्वतके समान विकट रूप प्रकट किया। उसने भगवान्के पंजेमें पड़नेसे व्याकुल होकर उससे छूटनेकी बहुत चेष्टा की किन्तु सफल न हुआ ॥३१॥ तब श्रीहरिने उसे दोनों हाथोंसे पकड़कर पृथिवीपर गिरा दिया और आकाशस्थित देवताओंके देखते-देखते बलिपशुके समान मार डाला ॥ ३२ ॥ फिर गुहाकी शिला हटाकर ग्वाल-बालोंको संकटपूर्ण स्थानसे बाहर निकाला और देवगण तथा गोपगणसे प्रशंसित होते हुए व्रजमें प्रवेश किया ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[1]
व्योमासुरवधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

अड़तीसवाँ अध्याय

अक्रूरजीकी व्रजयात्रा ।

श्रीशुक उवाच

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः ।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥
गच्छन्पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे ।
भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत् ॥ २ ॥
किं मयाचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः ।
किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद्द्रक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! कंसकी आज्ञा पानेपर महामति अक्रूरजी उस रात तो मथुरापुरीमें ही रहे; दूसरे दिन सवेरे ही रथपर चढ़कर नन्दजीके व्रजको चल दिये ॥ १ ॥ मार्गमें जाते-जाते महाभाग अक्रूरजीके हृदयमें भगवान् कमलनयनकी पराभक्तिका प्रादुर्भाव हुआ और वे इस प्रकार विचारने लगे—॥२॥ 'मैंने ऐसा क्या शुभकर्म किया है? ऐसा कौन बड़ा तप किया है अथवा किसी सत्पात्रको क्या दान दिया है? जिससे मैं आज श्रीकेशवका दर्शन करूँगा ॥ ३ ॥

१. केशिव्योमवधः सप्त० ।

ममैतद्दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम् ।
विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः ॥ ४ ॥
मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम् ।
ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन ॥ ५ ॥
ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः ।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥ ६ ॥
कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं
द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः ।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः
पूर्वेऽतरन्यन्नखमण्डलत्विषा ॥ ७ ॥
यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः
श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः ।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने
यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् ॥ ८ ॥
द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं
स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् ।
मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं
प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः ॥ ९ ॥
अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो
भारावताराय भुवो निजेच्छया ।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं
मह्यं न न स्यात्फलमञ्जसा दृशः ॥१०॥
य ईक्षिताहंरहितोऽप्यसत्सतोः
स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः ।
स्वमाययात्मन्रचितैस्तदीक्षया
प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते ॥ ११ ॥

मैं तो अपने लिये पुण्यकीर्ति भगवान्‌का दर्शन होना ऐसा ही दुर्लभ समझता हूँ जैसे विषयी तथा शूद्रकुलमें उत्पन्न पुरुषको वेद पढ़ना ॥ ४ ॥ किन्तु नहीं, सर्वथा ऐसी बात भी नहीं है; मुझ अधमको भी भगवान्‌का दर्शन हो सकता है, क्योंकि [नदीमें बहते हुए तिनकोंके समान] कालनदीमें बहते हुए जीवोंमेंसे कभी कोई जीव अकस्मात् संसारसे तर जाते हैं ॥ ५ ॥ अहो ! आज मेरे सारे पाप नष्ट हो गये और मेरा जन्म सफल हो गया, क्योंकि आज मैं भगवान्‌के उन पदपङ्कजोंको प्रणाम करूँगा जिनका योगिजन ध्यान धरते हैं ॥ ६ ॥ कंसने आज मुझपर बड़ी ही कृपा की है, क्योंकि उसके भेजनेसे ही मैं इस समय जिनका पृथिवीमें अवतार हुआ है उन श्रीहरिके चरणकमलोंका दर्शन करूँगा, जिनके नखोंकी निर्मल कान्तिका ध्यान करके पूर्वकालमें बहुत-से महानुभाव इस दुस्तर अज्ञानान्धकारको पार कर गये हैं ॥ ७ ॥ तथा जो ब्रह्मा-महादेव आदि देवगण, देवी लक्ष्मीजी तथा भक्तमण्डलके सहित मुनिजनोंसे पूजित हैं, गौएँ चरानेके लिये साथी ग्वालबालोंके साथ वनमें विचर रहे हैं और व्रजाङ्गनाओंके कुचकुङ्कुमसे रञ्जित हैं ॥ ८ ॥ मैं सुन्दर कपोल, नासिका, मनोहरमुसकानमयी चितवन, अरुणकमलनयन और घुँघराली अलकावलीसे अलंकृत श्रीकृष्णचन्द्रका मुखारविन्द अवश्य देखूँगा, क्योंकि मृगगण मेरी दायीं ओर होकर निकल रहे हैं ॥ ९ ॥ जिन्होंने पृथिवीका भार उतारनेके लिये अपनी इच्छासे ही मनुष्यशरीर धारण किया है क्या आज मुझे उन लावण्यधाम विष्णुभगवान्‌का दर्शन होगा ? इससे सुगमतासे मुझे नेत्रोंका लाभ अवश्य ही मिल जायगा ॥ १० ॥ जो अहंकारसे रहित होकर भी कार्य-कारणरूप प्रपञ्चके द्रष्टा हैं, और अपने चिन्मात्र तेजसे अज्ञानजन्य भेद-भ्रमको नष्ट करनेवाले हैं किन्तु फिर भी अपनी मायाको आश्रय कर ईक्षणमात्रसे प्राण, इन्द्रिय और बुद्धि आदिके सहित अपनेहीमें रचे हुए जीवोंके साथ वृन्दावनकी कुञ्जोंमें और गोपियोंके घरोंमें [आसक्त पुरुषके समान] लीला करते दिखायी देते हैं ॥ ११ ॥

१. धी० ।

यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलै-
र्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः ।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जग-
द्यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥१२॥

स चावतीर्णः किल सात्वतान्वये
स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् ।
यशो वितन्वन्व्रज आस्त ईश्वरो
गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम् ॥१३॥

तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं
त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम् ।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं
द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ॥१४॥

अथावरूढः सपदीशयो रथा-
त्प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये ।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं
नमस्य आभ्यां च सखीन्वनौकसः ॥१५॥

अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः
शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम् ।
दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा
प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम् ॥१६॥

समर्हणं यत्र निधाय कौशिक-
स्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम् ।
यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं
स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् ॥१७॥

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः
कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक् ।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं
क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥१८॥

अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं
मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा ।

जिनके सर्वपापनाशक और मङ्गलमय गुण, कर्म और जन्मोंकी कथाओंसे मिश्रित वाणी संसारको जीवित, शोभित और पवित्र करती है तथा उन भगवद्गुण आदिके बिना वह (वाणी) सुसज्जित शवके समान शोभायमान अर्थात् केवल बाह्याडम्बरयुक्त ही मानी गयी है ॥ १२ ॥ सुना है, अपने रचे हुए वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाका पालन करनेवाले देवताओंका कल्याण करनेके लिये उन्हीं श्रीहरिने यदुकुलमें अवतार लिया है और इस समय वे ईश्वर, जिनका सर्वमङ्गलमय सुयश देवगण गान करते हैं, अपनी कीर्तिका विस्तार करते हुए व्रजमें विराजमान हैं ॥ १३ ॥ वे महान् पुरुषोंके एकमात्र आश्रय और गुरु हैं । उन्होंने नेत्रवानोंको परमानन्द देनेवाला और लक्ष्मीजीकी इच्छाका आश्रय त्रिलोकसुन्दर स्वरूप धारण किया है; आज मैं उसका अवश्य दर्शन करूँगा, क्योंकि उषाकालसे ही मुझे बहुत-से श्रेष्ठ शकुन हो रहे हैं ॥ १४ ॥ उनका दर्शन करते ही मैं तुरन्त रथसे उतर पड़ूँगा और उन प्रधान-पुरुषरूप बलराम और कृष्णके चरणकमलोंको, जिनका योगिजन आत्मलाभके लिये केवल चित्तसे ही ध्यान करते हैं, साक्षात् प्रणाम करूँगा और उनके पीछे उनके वनवासी सखा ग्वालबालोंकी भी वन्दना करूँगा ॥ १५ ॥ क्या वे भगवान् अपने चरणोंपर पड़े हुए मेरे शिरपर अपना वह करकमल रखेंगे, जो कालसर्पके वेगसे उद्विग्न होकर शरण चाहनेवाले पुरुषोंको अभय देनेवाला है ? ॥ १६ ॥ तथा जिसमें पूजासामग्री समर्पण कर इन्द्र और बलिने तीनों लोकोंका आधिपत्य प्राप्त किया है और जिस कमलकी-सी गन्धवाले करकमलने विहारके समय व्रजबालाओं-का श्रम दूर किया है ॥ १७ ॥ मुझे कंसने अपना दूत बनाकर भेजा है, किन्तु सर्वसाक्षी भगवान् मुझमें शत्रुबुद्धि नहीं करेंगे; क्योंकि वे क्षेत्रज्ञरूपसे अन्तः-करणके भीतर और बाहरके सभी व्यापारोंको अपनी निर्मल ज्ञानदृष्टिसे देखते हैं ॥ १८ ॥ जिस समय मैं उनके चरणोंमें विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़ा होऊँगा क्या उस समय वे अपनी मधुर मुसकानमयी दयादृष्टिसे मुझे देखेंगे ? उनकी दृष्टि पड़ते ही मेरे

सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो
वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् ॥१९॥
सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं
दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम् ।
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे
बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः ॥२०॥
लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिं
मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः ।
तदा वयं जन्मभृतो महीयसा
नैवादृतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥२१॥
न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान्भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥२२॥
किञ्चाग्रजो मावनतं यदूत्तमः
स्मयन्परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ ।
गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसत्कृतं
संप्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥२३॥

श्रीशुक उवाच

इति सञ्चिन्तयन्कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि ।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप ॥२४॥
पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः[1] ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥२५॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः
प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत
प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥२६॥

सम्पूर्ण पाप तत्काल नष्ट हो जायँगे और मैं निःशङ्क होकर परमानन्दमें मग्न हो जाऊँगा ॥ १९ ॥ मैं उनका प्रियतम जातिभाई हूँ, उनके सिवा मेरा कोई और इष्टदेव नहीं है; यह सोचकर जिस समय वे अपनी विशाल बाहुओंसे मेरा आलिङ्गन करेंगे उस समय मेरा शरीर पवित्र हो जायगा और इसके कर्मबन्धन टूट जायँगे ॥ २० ॥ उनके अङ्गसङ्गसे आनन्दित होकर जब मैं हाथ जोड़कर विनीतभावसे खड़ा हो जाऊँगा और वे अनन्तकीर्ति भगवान् मुझे 'तात अक्रूर !' कहकर पुकारेंगे तो मैं अपनेको जन्मधारियोंमें परम सौभाग्यवान् समझूँगा। जो लोग इस प्रकार परम महान् भगवान्‌के आदरपात्र नहीं हुए उनके जन्मको धिक्कार है ॥ २१ ॥ भगवान्‌का कोई पुरुष न प्रिय है, न अति सुहृद् है, न अप्रिय है, न शत्रु है और न उपेक्षणीय ही है; तथापि कल्पवृक्ष जैसे अपने निकट आनेवालोंकी कामना पूर्ण करता है उसी प्रकार भगवान् भक्तोंको उनके भावानुसार फल देते हैं ॥ २२ ॥ तदनन्तर, सामने विनीतभावसे खड़े हुए मुझको यदुश्रेष्ठ बलरामजी मुसकाते हुए आलिङ्गन कर दोनों हाथ पकड़कर घरके भीतर ले जायँगे और मेरा सब प्रकार सत्कार कर मुझसे अपने बन्धुओंके प्रति कंसके व्यवहारके विषयमें पूछेंगे' ॥ २३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! श्वफल्कनन्दन अक्रूरजी कृष्णचन्द्रका इस प्रकार चिन्तन करते हुए रथपर चढ़कर गोकुल (नन्दगाँव) पहुँचे और इधर सूर्यदेव अस्ताचलपर विराजमान हुए ॥ २४ ॥ वहाँ अक्रूरजीने जिनकी निर्मल पदरजको समस्त लोकपालगण अपने मुकुटोंपर धारण करते हैं उन श्रीकृष्णचन्द्रके परम पुनीत चरण-चिह्न देखे जो पृथिवीकी शोभा बढ़ानेवाले और कमल, यव तथा अङ्कुशादि चिह्नोंसे युक्त थे ॥ २५ ॥ उनके दर्शनजनित आनन्दसे वे अत्यन्त विह्वल हो गये, प्रेमवश उनके शरीरमें रोमाञ्च और नेत्रोंमें जल भर आया, वे रथसे कूद पड़े और यह कहते हुए कि 'अहो ! यह प्रभुके चरणोंकी रज है' वहाँ लोटने लगे ॥ २६ ॥

१. संवङ्कितपाद० ।

देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्[1] ।
संदेशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः ॥२७॥

कंसकी आज्ञा पानेसे लेकर यहाँतक अक्रूरजीकी जैसी अवस्था रही है इसीको दम्भ, भय और शोक त्यागकर भगवान्‌के विग्रहका दर्शन और उनके गुण-श्रवणद्वारा उपार्जन करना ही देहधारियोंका परम लाभ है ॥ २७ ॥

ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥२८॥
किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ ।
सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ ॥२९॥
ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम्[2] ।
शोभयन्तौ महात्मानावनुक्रोशस्मितेक्षणौ ॥३०॥
उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ ।
पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ ॥३१॥
प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जगत्पती ।
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥३२॥
दिशो वितिमिरा राजन्कुर्वाणौ प्रभया स्वया ।
यथा मारकतः शैलो रौप्यश्च कनकाचितौ ॥३३॥

व्रजमें पहुँचकर अक्रूरजीने कृष्ण और बलराम—दोनों भाइयोंको गोदोहनके स्थानमें विराजमान देखा । वे क्रमशः पीला और नीला वस्त्र धारण किये थे और उनके नेत्र शरत्कालिक कमलके समान खिले हुए थे ॥ २८ ॥ उनकी किशोर अवस्था थी, श्याम और गौर शरीर था और बड़ी-बड़ी भुजाएँ थीं । दोनों भाई लक्ष्मीजीके आश्रयस्थान, सुन्दरवदन, महामनोहर और बालगजराजके समान पराक्रमी थे ॥ २९ ॥ वे दोनों महात्मा ध्वजा, वज्र, अङ्कुश और कमल आदि चिह्नोंसे युक्त अपने चरणोंसे व्रजकी शोभा बढ़ाते थे तथा उनकी मुसकानमयी चितवनसे अनुग्रह प्रकट होता था ॥ ३० ॥ उनकी क्रीडाएँ अति उदार और मनोमोहिनी थीं, गलेमें मणिमाला और वनमाला विराजमान थीं और स्नान करनेके अनन्तर उन्होंने शरीरमें सुगन्धित अङ्गराग और स्वच्छ वस्त्र धारण किये थे ॥ ३१ ॥ [अक्रूरजीने देखा कि] जगत्‌के आदिकारण जगत्पति प्रधान और पुरुष ही संसारकी रक्षाके लिये अपने सम्पूर्ण अंशोंसे बलराम और कृष्णके रूपसे अवतीर्ण होकर सुवर्णविभूषित मरकतमणि और चाँदीके पर्वतोंके समान अपनी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार दूर करते हुए विराजमान हैं ॥ ३२-३३ ॥

रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः ।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः ॥३४॥
भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
पुलकाचिताङ्ग औत्कण्ठ्यात्स्वाख्याने नाशकन्नृप ॥३५॥
भगवांस्तमभिप्रेत्य रथाङ्गाङ्कितपाणिना ।
परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ॥३६॥

उन्हें देखते ही अक्रूरजी स्नेहाकुल होकर रथसे उतर पड़े और कृष्ण तथा बलरामके चरणोंमें दण्डके समान लोट गये ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! भगवद्दर्शनके आह्लादसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया और गला भर आनेके कारण वे अपना परिचय भी न दे सके ॥३५॥ शरणागतवत्सल श्रीहरि उनका भाव जान गये और उन्हें प्रसन्नतापूर्वक अपने चक्राङ्कित हाथोंसे खींचकर गले लगा लिया॥३६॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'देहंभृता''' ''श्रवणादिभिः ॥' यह श्लोक मूलमें नहीं है। २. पद्भ्यां‌व्रजे।

संकर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः ।
गृहीत्वा पाणिना पाणी अनयत्सानुजो गृहम् ॥३७॥
पृष्ट्वाथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम् ।
प्रक्षाल्य विधिवत्पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत्[१] ॥३८॥
निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः ।
अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद्विभुः ॥३९॥
तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित् ।
मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात्पुनः ॥४०॥
पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे ।
कंसे जीवति दाशार्ह सौनपाला इवावयः ॥४१॥
योऽवधीत्स्वस्वसुस्तोकान्क्रोशन्त्या असुतृप् खलः।
किं नु स्वित्तत्प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे ॥४२॥
इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः ।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥४३॥

फिर महामना बलरामजीने विनीतभावसे खड़े हुए अक्रूरजीको गले लगाया और अपने एक हाथसे उनके दोनों हाथ पकड़कर भाई कृष्णके सहित घर ले गये ॥३७॥

वहाँ कुशलप्रश्नके अनन्तर उन्हें सुन्दर आसन दिया और विधिपूर्वक चरण धोकर मधुपर्क आदि पूजन-सामग्री समर्पण की ॥ ३८ ॥ फिर भगवान्‌ने अतिथि अक्रूरजीको एक गौ देकर चरणसेवा आदिसे उनका श्रम दूर किया तथा अनेक गुणयुक्त पवित्र अन्न लाकर उन्हें प्रीतिपूर्वक भोजन कराया ॥ ३९ ॥ भोजन कर चुकनेपर उन्हें परम धर्मज्ञ बलरामजीने मुखवास और सुगन्धित माला आदि देकर अति आनन्दित किया ॥ ४० ॥

इस प्रकार सत्कार हो चुकनेपर नन्दजीने पूछा—"हे दाशार्ह ! जिनका रक्षक कसाई हो ऐसी भेड़ोंके समान आपलोग पापी कंसके जीवित रहते किस प्रकार अपने दिन काटते हैं ? ॥ ४१ ॥ अहो ! अपने ही प्राणोंका पोषण करनेवाले जिस दुष्टने अपनी बिलखती हुई बहिनके बालकोंको मार डाला उसकी प्रजा आपलोगोंकी कुशलका तो हम विचार भी कैसे कर सकते हैं ?" ॥ ४२ ॥

जिनसे अक्रूरजीने कुशल-प्रश्न किया था उन नन्दजीद्वारा इस प्रकार विनम्र वाणीसे सत्कृत होनेपर अक्रूरजीका मार्गश्रम दूर हो गया ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[२]-ऽक्रूरागमनं नामाष्टात्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

उनतालीसवाँ अध्याय

कृष्ण-बलरामका मथुरागमन ।

श्रीशुक उवाच

सुखोपविष्टः पर्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः ।
लेभे मनोरथान्सर्वान्पथि यान्स चकार ह ॥ १ ॥
किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने ।
तथापि तत्परा राजन्न हि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—श्रीकृष्ण और बलरामसे भली प्रकार सम्मानित होकर अक्रूरजी आनन्दपूर्वक पलंगपर बैठे । उन्होंने मार्गमें जो-जो कामनाएँ की थीं वे सभी पूर्ण हो गयीं ॥ १ ॥ हे राजन् ! लक्ष्मीपति भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर ऐसी कौन-सी वस्तु है जो प्राप्त नहीं हो सकती ? तथापि भगवत्परायण लोग किसी पदार्थकी कामना नहीं करते ॥ २ ॥

१. पर्कमुपाहरत् । २. प्राचीन प्रतिमें 'पूर्वार्धे' यह पाठ नहीं है ।

सायंतनाशनं कृत्वा भगवान्देवकीसुतः ।
सुहृत्सु वृत्तं कंसस्य पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

सायंकालका भोजन कर चुकनेपर भगवान् देवकीनन्दनने अक्रूरके पास जाकर अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ कंसका कैसा व्यवहार है और अब आगे वह क्या करना चाहता है ? इस विषयमें पूछा ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच

तात सौम्यागतः कच्चित्स्वागतं भद्रमस्तु वः ।
अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीवमनामयम् ॥ ४ ॥
किं नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये ।
कंसे मातुलनाम्नाङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च ॥ ५ ॥
अहो अस्मदभूद्भूरि पित्रोर्वृजिनमार्ययोः ।
यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बन्धनं तयोः ॥ ६ ॥
दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य काङ्क्षितम् ।
सञ्जातं[2] वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम् ॥ ७ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे तात ! हे सौम्य ! आपका यहाँ आना निर्विघ्नतासे हुआ है न ? आपका स्वागत है, आपका कल्याण हो । आपके सब जातिबन्धु आनन्दपूर्वक और नीरोग हैं न ? ॥ ४ ॥ हम अपने कुलकी कुशल भी क्या पूछें ? भला हमारे कुलके लिये रोगरूप नाममात्रके मामा कंसके उन्नत होते हुए हमारे स्वजन या उनकी सन्तानकी कुशलता कैसे रह सकती है ? ॥ ५ ॥ अहो ! हमारे कारणसे हमारे भद्र माता-पिताओंको बड़ा ही कष्ट उठाना पड़ा है; हमारे ही कारण उनके पुत्र मारे गये और हमारे ही लिये उन्हे बन्धनमें रहना पड़ा ॥ ६ ॥ हे सौम्य ! आज बड़े सौभाग्यसे मुझे अपने स्वजन आपका दर्शन हुआ है, मुझे भी इसकी बड़ी ही अभिलाषा थी । हे तात ! अब आप अपने आनेका कारण बतलाइये ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः ।
वैरानुबन्धं[1] यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥ ८ ॥
यत्संदेशो यदर्थं वा दूतः संप्रेषितः स्वयम् ।
यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकदुन्दुभेः ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवान्के इस प्रकार पूछनेपर मधुवंशीय अक्रूरजीने यदुवंशियोंके साथ वैर बाँधने और वसुदेवजीके वधका उद्योग करने आदिका सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ८ ॥ कंसका जो धनुर्यज्ञविषयक कपटसंदेश था, जिसलिये उन्हें दूत बनाकर भेजा गया था और नारदजीने जो वसुदेव-जीसे भगवान्के जन्म होनेका रहस्य कंसके सामने खोला था वह सब वृत्तान्त भगवान्को कह सुनाया ॥ ९ ॥

श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा ।
प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञादिष्टं विजज्ञतुः ॥ १० ॥
गोपान्समादिशत्सोऽपि गृह्यतां[3] सर्वगोरसः ।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च ॥ ११ ॥
यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसान् ।

विपक्षी वीरोंका संहार करनेवाले भगवान् कृष्ण और बलभद्र अक्रूरजीके ये वचन सुनकर हँसे और पिता नन्दजीको राजा कंसकी आज्ञा सुना दी ॥ १० ॥ तब नन्दजीने गोपोंको आज्ञा दी कि 'सारा गोरस एकत्रित करो, भेंटकी सामग्री एकत्र करो और छकड़े जोत दो ॥ ११ ॥ कल हम सब मथुरापुरीको चलेंगे और राजा कंसको गोरस समर्पण करेंगे । वहाँ

१. वै । २. साम्प्रतं । ३. गृह्यन्तां सर्वगोरसाः ।

द्रक्ष्यामः सुमहत्पर्व यान्ति जानपदाः किल ।
एवमाघोषयत्क्षत्त्रा नन्दगोपः स्वगोकुले ॥१२॥

हमलोग एक बहुत बड़ा उत्सव देखेंगे जिसे देखनेके लिये देश-देशान्तरके लोग आ रहे हैं।' नन्दजीने अपने व्रजमें सेवकके द्वारा यह घोषणा करा दी॥१२॥

गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम् ।
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥१३॥
काश्चित्तत्कृतहृत्तापश्वासम्लानमुखश्रियः ।
स्रंसद्दुकूलवलयकेशग्रन्थ्यश्च काश्चन ॥१४॥
अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः ।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥१५॥
स्मरन्त्यश्चापराः शौरेरनुरागस्मितेरिताः ।
हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरः संमुमुहुः स्त्रियः ॥१६॥
गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम् ।
शोकापहानि नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च ॥१७॥
चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः ।
समेताः संघशः प्रोचुरश्रुमुख्योऽच्युताशयाः ॥१८॥

जब गोपियोंने सुना कि राम और कृष्णको मथुरा ले जानेके लिये व्रजमें अक्रूरजी आये हैं तो वे अत्यन्त व्याकुल हुईं ॥ १३ ॥ उनमेंसे कुछके तो हृत्तापजनित उष्ण श्वाससे मुख मुरझा गये, कुछ ऐसी अचेत हो गयीं कि उनके दुकूल, कङ्कण और केशपाश ढीले पड़कर खिसक गये ॥ १४ ॥ भगवान्‌के निरन्तर स्मरणसे कुछ गोपियोंकी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ शान्त हो गयीं और मुक्त पुरुषोंके समान उन्हें अपने देहका कुछ भी भान न रहा ॥ १५ ॥ कुछ अन्य गोपियाँ भगवान्‌की प्रणयमुसकानमयी विचित्र पदावलीयुक्त हृदयहारिणी बातें याद आनेसे मोहित हो गयीं ॥ १६ ॥ भगवान्‌की सुललित गति, विचित्र क्रीडा, स्नेहयुक्त मुसकानमयी चितवन, शोक दूर करनेवाली मसखरी और उदार चरित्रोंका स्मरण कर उनके वियोगकी सम्भावनासे व्याकुल और भयभीत हो वे सब गोपिकाएँ, जिनका चित्त हर समय भगवान् कृष्णमें ही लगा रहता था, एक जगह झुण्ड-की-झुण्ड एकत्रित होकर आँखोंसे आँसू बहाती हुई इस प्रकार कहने लगीं ॥ १७-१८ ॥

गोप्य ऊचुः

अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।
तांश्चाकृतार्थान्वियुनङ्क्ष्यपार्थकं
विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥१९॥
यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतं
मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम् ।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं
करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम् ॥२०॥
क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म न-
श्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत् ।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं
त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः ॥२१॥

गोपियाँ बोलीं—अरे विधाता! तुझे किसीपर भी दया नहीं आती। तू प्राणियोंको मित्रता और स्नेहके द्वारा परस्पर मिलाकर फिर उनका मनोरथ सिद्ध होनेसे पहले ही उनमें अकारण वियोग करा देता है। तेरा यह खेल बालकोंकी चेष्टाके समान मूर्खतापूर्ण है ॥ १९ ॥ तू जो हमें श्रीमुकुन्दका श्याम अलकावलीसे आवृत, सुन्दर कपोल और उन्नत नासिकासे सुशोभित तथा शोक दूर करनेवाली मन्दमुसकानसे युक्त मनोहर मुख दिखला कर अब उसे हमारी आँखोंसे ओझल करना चाहता है सो तेरी यह करतूत अच्छी नहीं है॥२०॥ अरे विधाता! तू बड़ा ही क्रूर है, तू ही अक्रूर नामसे आकर अपने ही दिये हुए हमारे नेत्रोंको मूर्खोंके समान हरे लिये जाता है जिनसे कि हम भगवान् मधुसूदनके एक-एक अङ्गमें तेरी सृष्टिका सम्पूर्ण सौन्दर्य निहारती थीं॥२१॥

१. संतापाः श्वास० । २. ग्रन्थाश्च । ३. तेक्षणाः । ४. ताश्रयाः । ५. विचेष्टितं । ६. र्थवत् ।

न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः
समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत ।
विहाय गेहान्स्वजनान्सुतान्पतीं-
स्तद्दास्यमद्धोपगता नवप्रियः ॥२२॥
सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः
सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम् ।
याः सम्प्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः
पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम् ॥२३॥
तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितै-
र्गृहीतचित्तः परवान्मनस्व्यपि ।
कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला
ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन् ॥२४॥
अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते
दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वताम् ।
महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं
द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम् ॥२५॥
मैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भू-
दक्रूर इत्येतदतीव दारुणः ।
योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं
प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥२६॥
अनार्द्रधीरेष[1] समास्थितो रथं
तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः ।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं
दैवं च नोऽद्य प्रतिकूलमीहते ॥२७॥
निवारयामः समुपेत्य माधवं
किं नोऽकरिष्यन्कुलवृद्धबान्धवाः ।
मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजा-
द्दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥२८॥

[फिर-आपसमें कहने लगीं—] अहो ! इन नन्द-नन्दनको भी नित्य नये-नये लोगोंसे नेह लगाना ही पसन्द है ! इनका सौहार्द एक क्षणमें ही भङ्ग हो जाता है । देखो, हमने अपने घर, स्वजन, पुत्र और पति आदि सभीको छोड़कर इनका दासीत्व स्वीकार किया, किन्तु ये अपने ही लिये आतुर हुई हमारी ओर देखते भी नहीं हैं ॥ २२ ॥ निश्चय ही, मथुरापुरीकी स्त्रियोंको यह आनेवाली रात्रि बड़ी सुप्रभाता (शुभशकुनयुक्त प्रभात-वाली) होगी । उनकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी; क्योंकि वे व्रजराजके नगरमें प्रवेश करनेपर अपनी कटाक्षोंसे उनके मधुरमुसकानमय मुखकी माधुरीका पान करेंगी ॥ २३ ॥ फिर, यद्यपि ये कृष्णचन्द्र बड़े मनस्वी और पिता आदिके अनुवर्ती भी हैं तो भी उनके मधुके समान मधुर भाषणोंसे आसक्तचित्त और लज्जामय हास-विलासोंसे भूलकर ये हम गँवारी ग्वालि-नियोंकी ओर कैसे आ सकेंगे ? ॥ २४ ॥ अहो ! आज [भगवान्‌का दर्शन करके] निश्चय ही मथुरा-पुरीके दाशार्ह, भोज, अन्धक और वृष्णिवंशीय यादवोंके नेत्रोंको परमानन्द प्राप्त होगा, तथा जो मार्गमें रमारमण गुणागार देवकीनन्दनका दर्शन करेंगे उनके नेत्रोंके लिये भी महान् उत्सव होगा ॥ २५ ॥

[फिर अक्रूरजीकी ओर लक्ष्य करके बोलीं—] अहो ! यह अक्रूर बड़ा ही निठुर है जो हम दुःखिनी अबलाओं-को धीरज बँधाये बिना ही हमारे प्राणोंसे भी प्यारे नन्ददुलारेको हमारे दृष्टिपथसे परे ले जाना चाहता है। ऐसे क्रूर पुरुषका नाम 'अक्रूर' नहीं होना चाहिये था ॥२६॥ देखो, ये निठुरचित्त कृष्णचन्द्र रथपर बैठ गये, ये मतवाले ग्वाले भी छकड़ोंद्वारा उनके साथ जानेके लिये कैसी जल्दी कर रहे हैं ? इस समय बड़े-बूढ़े भी उदासीन हो गये हैं [वे भी इन्हें नहीं रोकते] । तथा विधाता भी आज हमारे प्रतिकूल ही चेष्टा कर रहा है* ॥ २७ ॥ चलो, हम स्वयं ही चलकर कृष्णचन्द्रको रोकेंगी; कुलके बड़े-बूढ़े और बन्धुजन हमारा क्या कर लेंगे; क्योंकि जिसे आधे पलके लिये भी छोड़ना अत्यन्त कठिन है उस कृष्णसहवासका दुर्दैववश विच्छेद हो जाने-से हम तो स्वयं ही अत्यन्त व्याकुल हो रही हैं ॥२८॥

१. नार्यधी० ।

* नहीं तो इस यात्रामें कोई विघ्न उपस्थित हो जाता, जिससे भगवान् न जाते ।

यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र-
लीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम्॥२९॥
योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो
गोपैर्विशन्खुररजश्छुरितालकस्रक् ।
वेणुं क्वणन्स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन
चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम ॥३०॥

जिनकी प्रेमपूर्ण मनोहर मुसकानयुक्त सुमधुर बातों, लीलामय कटाक्षों और आलिङ्गनोंसे युक्त राससभामें हमने वे रात्रियाँ एक क्षणके समान व्यतीत की थीं, हे सखियो ! अब उन्हींके बिना हम उनकी विषम विरहव्यथासे कैसे पार पावेंगी ? ॥ २९ ॥ सायंकालके समय गौओंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलिसे धूसरित अलकावली और पुष्पमालाओंसे मण्डित जो श्रीकृष्णचन्द्र अनेकों गोपमित्रोंसे घिरे हुए बाँसुरी बजाते अपनी मधुरमुसकान और कटाक्षयुक्त चितवनसे हमारे हृदयको बेधे डालते हैं उनके बिना हम कैसे रहेंगी ? ॥३०॥

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः ।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥३१॥
स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ ।
अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ॥३२॥
गोपास्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः ।
आदायोपायनं भूरि कुम्भान्गोरससम्भृतान् ॥३३॥
गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः ।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे ॥३४॥
तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः ।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः ॥३५॥
यावदालक्ष्यते केतुर्यावद्रेणू रथस्य च ।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥३६॥
ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने ।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥३७॥
भगवानपि सम्प्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप ।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम् ॥३८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जो विरहसे आतुर होकर इस प्रकार बातें कर रही थीं और कृष्णमें जिनका चित्त आसक्त हो रहा था वे व्रजाङ्गनाएँ लोकलाज छोड़कर 'हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव !' ऐसा पुकारती हुई जोर-जोरसे रोने लगीं ॥ ३१ ॥ स्त्रियोंके इस प्रकार रोते-रोते सूर्योदय हुआ । तब अक्रूरजीने सन्ध्यावन्दनादि प्रातःकृत्यसे निवृत्त होकर रथ हाँका ॥ ३२ ॥ फिर उनके साथ ही नन्दादि गोपगण भी बहुत-सी उपहारकी वस्तुएँ और गोरससे भरे घड़े लेकर छकड़ोंपर चढ़कर चले ॥ ३३ ॥ इसी समय गोपियाँ भी प्यारे कृष्णके पास गयीं और उनके दर्शनसे कुछ आश्वासित होकर भगवान्का आदेश पानेकी आकाङ्क्षासे खड़ी हो गयीं ॥ ३४ ॥ अपने मथुरा जानेसे गोपियोंको सन्तप्त देख श्रीयदुनन्दनने प्रेमपूर्वक यह सन्देश देकर कि 'मैं फिर लौट आऊँगा' उन्हें धीरज बँधाया ॥३५॥ गोपियोंको जबतक रथकी ध्वजा और पहियोंसे उड़ती धूलि दीखती रही तबतक वे चित्रके समान उसी स्थानपर खड़ी रहीं । किन्तु उनका चित्त तो प्यारे कृष्णके साथ ही सिधार गया था॥३६॥ जब श्रीगोविन्दके लौटनेकी कोई आशा न रही तो वे निराश होकर अपने घर लौट आयीं और प्रियतमके चरित्र गाकर शोक शान्त करती हुई दिन-रात व्यतीत करने लगीं ॥३७॥

इधर भगवान् भी बलरामजी और अक्रूरजीके सहित वायुके समान वेगवाले रथपर चढ़कर पापनाशिनी यमुनाजीके तटपर पहुँचे ॥ ३८ ॥

१. णोति तमृते ।

तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम् ।
वृक्षषण्डमुपव्रज्य सरामो रथमाविशत् ॥३९॥
अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि ।
कालिन्द्या ह्रदमागत्य स्नानं विधिवदाचरत् ॥४०॥
निमज्ज्य तस्मिन्सलिले जपन्ब्रह्म सनातनम् ।
तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥४१॥
तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः ।
तर्हि स्वित्स्यन्दने न स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः॥४२॥
तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः ।
न्यमज्जद्दर्शनं यन्मे मृषा किं सलिले तयोः ॥४३॥
भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत्स्तूयमानमहीश्वरम् ।
सिद्धचारणगन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः[1] ॥४४॥
सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम् ।
नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम् ॥४५॥
तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम् ॥४६॥
चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम् ।
सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम् ॥४७॥
प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम् ।
कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम् ॥४८॥
बृहत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयान्वितम् ।
चारुजानुयुगं चारुजङ्घायुगलसंयुतम् ॥४९॥

वहाँ उन्होंने मुँह-हाथ धो इन्द्रनीलमणिके समान स्वच्छ जल पिया और फिर झाड़ीमें जाकर बलरामजीके सहित रथपर चढ़ गये ॥ ३९ ॥ तदनन्तर, अक्रूरजी दोनों भाइयोंको रथपर बिठा उनकी आज्ञा ले यमुनाजीके कुण्ड (अनन्त-तीर्थ) में प्रवेश कर वहाँ विधिवत् स्नान करने लगे ॥४०॥ स्नानके अनन्तर वे जलमें बैठकर गायत्रीका जप करने लगे। जप करते-करते अक्रूरजीने वहाँ राम और कृष्ण दोनों भाइयोंको साथ-साथ बैठे देखा ॥ ४१ ॥ तब यह सोचकर कि 'वसुदेवजीके ये दोनों बालक तो रथपर बैठे थे, यहाँ कैसे आ गये ? अब यहाँ हैं तो सम्भव है वहाँ न होंगे' उन्होंने शिर निकालकर देखा ॥४२॥ किन्तु वे वहाँ भी पहलेहीके समान रथपर बैठे दिखायी दिये। तब यह सोचकर कि 'मैंने जो उन्हें जलमें देखा था वह क्या मेरा भ्रम ही था' उन्होंने फिर गोता लगाया तो वहाँ भी श्रीअनन्तदेवको देखा, जिनकी सिद्ध, चारण, गन्धर्व और असुरगण शिर झुकाकर स्तुति कर रहे थे ॥ ४३-४४ ॥ उन श्रीअनन्तदेवके हजार शिर थे, वे अपने हजार फणों-पर उतने ही मुकुट और अपने कमलनालतुल्य श्वेत शरीरमें नीलाम्बर धारण किये थे। उनका कमनीय कलेवर सहस्रशिखरयुक्त कैलाशपर्वतके समान दीख पड़ता था ॥ ४५ ॥ उन्होंने देखा कि उन शेषजीकी गोदमें एक रेशमी पीताम्बर धारण किये, मेघके समान श्याम शरीरवाले चतुर्भुज पुरुषकी शान्तमूर्ति विराजमान है। उसके नेत्र कमलदलके समान विशाल और अरुणवर्ण हैं ॥ ४६ ॥ उसका मुख अति सुन्दर और प्रसन्न है, मुसकानमयी चितवन महामनोहर है, भ्रुकुटि और नासिका ऊँची और सुहावनी हैं तथा वह सुन्दर कर्णपुट, मनोहर कपोल और अरुण अधरोंसे सुशोभित है ॥ ४७ ॥ उसकी भुजाएँ लम्बी और स्थूल हैं, कन्धे ऊँचे हैं, वक्षःस्थलमें श्रीलक्ष्मीजी विराजमान हैं, कण्ठ शङ्खके समान सुडौल हैं, नाभि नीची है और त्रिवलीयुक्त उदर पीपलके पत्तेके समान शोभायमान है ॥ ४८ ॥ वह विशाल कटिप्रदेश और नितम्बोंसे तथा हाथीकी सूँडके समान दो ऊरुओंसे सुशोभित है और उसके अति सुन्दर दो जानु एवं दो जङ्घाएँ हैं ॥ ४९ ॥

१. सिद्धैर्भुजङ्गपतिभिरसु० ।

तुङ्गगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिर्वृतम्[1] ।
नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलैर्विलसत्पादपङ्कजम् ॥५०॥
सुमहार्हमणिव्रातकिरीटकटकाङ्गदैः[2] ।
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रहारनूपुरकुण्डलैः ॥५१॥
भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥५२॥
सुनन्दनन्दप्रमुखैः पार्षदैः सनकादिभिः ।
सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैर्नवभिश्च द्विजोत्तमैः ॥५३॥
प्रह्लादनारदवसुप्रमुखैर्भागवतोत्तमैः ।
स्तूयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलात्मभिः ॥५४॥
श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ।
विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ॥५५॥
विलोक्य सुभृशं प्रीतो[3] भक्त्या परमया युतः ।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ॥५६॥
गिरा गद्गदयास्तौषीत्सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः ॥५७॥

वह ऊँचे गुल्फों (टखनों) और अरुणवर्ण नखोंकी कान्तिसे युक्त है तथा उसके चरण-कमल कोमल अँगुलियों और अँगूठोंसे शोभायमान हैं ॥ ५० ॥ वह महामूल्यमय मणियोंसे जटित किरीट, कटक, अङ्गद, कटिसूत्र, यज्ञोपवीत, हार, नूपुर और कुण्डलोंसे देदीप्यमान हो रहा है । उसके हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म, वक्षःस्थलमें श्रीवत्स और गलेमें वनमाला तथा कौस्तुभमणि विराजमान हैं ॥ ५१-५२ ॥ वह नन्द-सुनन्दादि पार्षदोंद्वारा [स्वामिबुद्धिसे], सनकादि महर्षियोंद्वारा [ब्रह्मबुद्धिसे], ब्रह्मा-महादेव आदि देवताओंद्वारा [ईश्वरबुद्धिसे], मरीचि आदि नौ ब्राह्मणोंद्वारा [प्रजापतिबुद्धिसे] और प्रह्लाद, नारद तथा अष्ट वसु आदि निर्मलात्मा भक्तश्रेष्ठोंद्वारा [भगवद्-बुद्धिसे] भिन्न-भिन्न वाक्योंद्वारा भिन्न-भिन्न बुद्धिसे स्तुति किया जा रहा है ॥ ५३-५४ ॥ तथा श्री, पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्त्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या और अविद्या आदि शक्तियाँ तथा माया उसकी सेवा कर रही हैं ॥ ५५ ॥

यह दृश्य देखकर अक्रूरजीको बड़ा आनन्द हुआ, वे निगूढ भक्तिभावसे भर गये, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और भावोद्रेकके कारण उनके नेत्रोंसे जल बहने लगा ॥ ५६ ॥ फिर अक्रूरजीने सत्त्व (धैर्य) धारण कर भगवान्के चरणोंमें शिर नवाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर गद्गदवाणीसे धीरे-धीरे सावधानतापूर्वक स्तुति करने लगे ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[4] पूर्वार्धेऽक्रूर-प्रतियाने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

१. भिर्वृप । २. महार्हमणिकव्रात० । ३. शान्तं । ४. न्धेऽक्रूरप्रतियानं नामैकोन० ।

चालीसवाँ अध्याय

अक्रूरकृत भगवत्स्तुति ।

अक्रूर उवाच

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं
नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशा-
द्ब्रह्माविरासीद्यत एष लोकः ॥ १ ॥
भूस्तोयमग्निः पवनः खमादि-
र्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे
ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥ २ ॥
नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते
ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीताः ।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया
गुणात्परं वेद न ते स्वरूपम् ॥ ३ ॥
त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम् ।
साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः ॥ ४ ॥
त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिका द्विजाः ।
यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया ॥ ५ ॥
एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः ।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥ ६ ॥
अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥ ७ ॥
त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन्समुपासते ॥ ८ ॥
सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥ ९ ॥

अक्रूरजी बोले—हे कृष्णचन्द्र ! जिनसे यह सम्पूर्ण लोक हुआ है वे ब्रह्माजी जिनकी नाभिसे उत्पन्न हुए कमलकोशसे प्रकट हुए हैं उन सम्पूर्ण कारणोंके कारण अविनाशी आदिपुरुष आप नारायणको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, महत्तत्त्व, माया और पुरुष तथा मन, इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय और अधिष्ठाता देवता ये जितने जगत्‌के कारण हैं वे सब आपके अङ्ग ही हैं ॥ २ ॥ अनात्मरूपसे ग्रहण किये जानेवाले ये माया आदि सभी सबके आत्मरूप आप परमात्माके स्वरूपको नहीं जान सकते । ब्रह्माजी भी आपकी मायाके गुणोंसे युक्त हैं; अतः वे भी आपके गुणातीत स्वरूपको नहीं जानते ॥ ३ ॥ योगिगण भी अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवके सहित आप परमपुरुष परमेश्वरका ही पूजन करते हैं ॥ ४ ॥ इसी प्रकार कितने ही कर्मकाण्डी ब्राह्मणगण वेदत्रयीकी विधिसे अनेकों यज्ञोंद्वारा इन्द्रादि विभिन्न नाम और रूपोंसे आपहीका यजन करते हैं ॥ ५ ॥ तथा कितने ही ज्ञानीजन भी अपने सम्पूर्ण कर्मोंको त्यागकर शान्तभावमें स्थित हो ज्ञानयज्ञद्वारा आप ज्ञानस्वरूपका ही यजन करते हैं ॥ ६ ॥ इसी प्रकार और भी बहुत-से शुद्धचित्त [वैष्णवजन] आपहीकी बतलायी हुई [पाञ्चरात्र आदि] विधियोंसे तन्मय होकर [वासुदेव-सङ्कर्षण आदि] अनेक और [नारायणनामक] एक मूर्तिसे आपहीकी पूजा करते हैं ॥ ७ ॥ और हे भगवन् ! कुछ लोग शिवजीद्वारा बतलाये हुए आचार्य-भेदसे शैव-पाशुपत आदि अनेक भेदोंवाले मार्गसे शिव-रूपमें आपहीकी उपासना करते हैं ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! जो अन्य देवताओंके भक्त हैं वे यद्यपि भेदबुद्धिवाले हैं, तथापि आप सर्वदेवमय हैं, इसलिये वे सब भी आप परमेश्वरकी ही उपासना करते हैं ॥ ९ ॥

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥१०॥
सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ।
तेषु हि प्राकृताः प्रोता आब्रह्मस्थावरादयः ॥११॥
तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये
सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।
गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः
प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥१२॥
अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः ।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः
कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥१३॥
रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा
मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापति-
र्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥
त्वय्यव्ययात्मन्पुरुषे प्रकल्पिता
लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः ।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसो-
ऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥१५॥

जिस प्रकार पर्वतोंसे निकली हुई नदियाँ मेघके जलसे भरकर सब ओरसे बहती हुई समुद्रहीमें गिरती हैं, हे प्रभो ! उसी प्रकार समस्त उपासनामार्ग अन्तमें आपहीकी प्राप्ति कराते हैं ॥ १० ॥ सत्त्व, रज और तम ये आपहीकी मायाके गुण हैं और इन्हींमें ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त मायिक जीव ओतप्रोत हैं ॥ ११ ॥ किन्तु आप सर्वरूप और सबकी बुद्धियोंके साक्षी हैं; इसलिये आपकी दृष्टि निर्लिप्त है, ऐसे आपको मैं प्रणाम करता हूँ । यह अविद्याकृत गुणप्रवाह देव, मनुष्य और तिर्यगादि योनियोंमें ही प्रवृत्त है, [आप इससे सर्वथा अलिप्त हैं] ॥ १२ ॥ अग्नि आपका मुख है, पृथिवी चरण हैं, सूर्य नेत्र हैं, आकाश नाभि है, दिशाएँ कान हैं, स्वर्ग शिर है, देवेन्द्रगण भुजाएँ हैं, समुद्र कोख है, वायु प्राणशक्ति है ॥ १३ ॥ वृक्ष और ओषधियाँ रोम हैं, मेघ शिरके केश हैं, पर्वत आप परमात्माके अस्थि-समूह और नख हैं, रात्रि और दिन पलकोंका खोलना-मीचना है, प्रजापति लिङ्ग है, तथा वृष्टि आपका वीर्य है ॥ १४ ॥ हे अव्ययात्मन् ! लोकपालोंके सहित अनेक प्राणियोंसे परिपूर्ण ये सम्पूर्ण लोक जैसे जलमें बहुत-से जलचर जीव और गूलरोंमें मच्छर रहते हैं उसी प्रकार आप मनोमय (ज्ञानस्वरूप) परमपुरुष-में ही कल्पित हैं ॥ १५ ॥

यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि ।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१६॥
नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च ।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥१७॥
अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे ।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः सूकरमूर्तये ॥१८॥
नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।

आप क्रीडा करनेके लिये पृथिवीपर जो-जो रूप धारण करते हैं उनके प्रभावसे शोकरहित होकर लोग आनन्दपूर्वक आपका गुणगान किया करते हैं ॥ १६ ॥ कारणवश मत्स्यावतार धारण कर प्रलयसागरमें क्रीडा करनेवाले आप परमेश्वरको नमस्कार है । मधु और कैटभनामक दैत्योंको मारनेवाले आप हयग्रीव भगवान्‌को नमस्कार है ॥ १७ ॥ मन्दराचल पर्वतको धारण करने-वाले बृहत्काय कूर्म भगवान्‌को नमस्कार है, लीलापूर्वक पृथिवीका उद्धार करनेवाले वाराहरूप हरिको नमस्कार है ॥ १८ ॥ हे साधु पुरुषोंका भय दूर करनेवाले प्रभो ! अत्यन्त अद्भुत नृसिंहरूप धारण करनेवाले आपको

१. ता विभो ।

वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥१९॥
नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ।
नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥२०॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥२१॥
नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥२२॥
भगवञ्जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया ।
अहंममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥२३॥
अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु ।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो ॥२४॥
अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वात्मनः प्रियम् ॥२५॥
यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं[1] पराङ्मुखः ॥२६॥
नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं[2] मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥२७॥
सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥२८॥

नमस्कार है, अपने पगोंसे तीनों लोकोंको नापनेवाले वामनरूप आपको नमस्कार है ॥ १९ ॥ उन्मत्त क्षत्रियोंके वन (समुदाय) को काटनेवाले श्रीभृगुपति (परशुराम) रूपधारी आपको नमस्कार है, रावणका अन्त करनेवाले आप श्रीरघुनाथजीको नमस्कार है ॥२०॥ यादवोंके स्वामी श्रीवासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूप आप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ २१ ॥ दैत्य और दानवोंको मोहित करनेवाले शुद्धचित्त बुद्ध-भगवान्को नमस्कार है तथा म्लेच्छोंके समान आचरण-वाले क्षत्रियोंका संहार करनेवाले आप कल्कि भगवान्को नमस्कार है ॥ २२ ॥

भगवन् ! ये सम्पूर्ण जीव आपकी मायासे मोहित होकर ही 'मैं हूँ, मेरा है' ऐसा असत् आग्रह कर कर्ममार्गमें भटक रहे हैं ॥ २३ ॥ इसी प्रकार हे विभो ! मैं मूर्ख भी शरीर, पुत्र, घर, स्त्री, धन और स्वजन आदि स्वप्नसदृश पदार्थोंको सत्य मानकर उनमें भटक रहा हूँ ॥ २४ ॥ मैं अनित्य, अनात्म और दुःखरूप पदार्थोंमें विपरीत [अर्थात् नित्य, आत्म और सुख] बुद्धि करके अज्ञानवश सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें रम रहा हूँ; अपने प्रिय आप परमेश्वरको नहीं जानता ॥२५॥ जैसे कोई अज्ञ पुरुष जलहीसे उत्पन्न हुए तृण-शैवा-लादि पदार्थोंसे ढके हुए जलको छोड़कर मृगतृष्णाकी ओर जाता है वैसे ही [अपनी ही मायासे ढके हुए] आपको छोड़कर मैं विषयोंमें भटक रहा हूँ ॥ २६ ॥ वासनाओंके कारण मेरी बुद्धि दीन हो रही है; इसलिये जो काम्यकर्मों और कामनाओंसे चञ्चल है तथा बलवान् इन्द्रियोंद्वारा इधर-उधर भटकाया जा रहा है उस अपने चित्तको रोकनेमें मैं समर्थ नहीं हूँ ॥२७॥ हे ईश ! मैं आपकी चरणशरणमें आया हूँ । आपके चरण असत्-पुरुषोंके लिये सर्वथा दुष्प्राप्य हैं । 'मुझ अधमको उनका दर्शन हुआ' यह मैं आपहीकी कृपाका फल समझता हूँ । हे पद्मनाभ ! जब पुरुषके संसारबन्धन-का अन्त होनेको होता है तभी उसकी बुद्धि उत्तम भक्तिपूर्वक आपमें लगती है ॥ २८ ॥

१. हित्वाहं त्वां परा० । २. कृतं ।

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे ।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥२९॥
नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च ।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥३०॥

प्रभो ! आप केवल विज्ञानमूर्ति, समस्त प्रतीतियोंके आश्रय तथा पुरुषोंको सुख-दुःखादि प्राप्त करानेवाले काल, कर्म और स्वभावादिके भी नियन्ता हैं। आप ऐसे अनन्तशक्ति परब्रह्मको नमस्कार है ॥ २९ ॥ आप वासुदेव, समस्त प्राणियोंके आश्रय (संकर्षणदेव), हृषीकेश (बुद्धि और मनके अधिष्ठाता प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) को नमस्कार है। हे प्रभो ! मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽक्रूर-
स्तुतिर्नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इकतालीसवाँ अध्याय

मथुरा-प्रवेश ।

श्रीशुक उवाच

स्तुवतस्तस्य भगवान्दर्शयित्वा जले वपुः ।
भूयः समाहरत्कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः ॥ १ ॥
सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्ज्य सत्वरः ।
कृत्वा चावश्यकं सर्वं विस्मितो रथमागमत् ॥ २ ॥
तमपृच्छद्धृषीकेशः किं ते दृष्टमिवाद्भुतम् ।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार स्तुति करते हुए अक्रूरजीको जलके भीतर अपना अनुपम रूप दिखाकर भगवान्‌ने उसे नाट्यवेषधारी नटके समान फिर छिपा लिया ॥ १ ॥ उसे अन्तर्धान हुए देख अक्रूरजी जलसे निकल आये और शीघ्र ही सम्पूर्ण आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त हो विस्मयपूर्वक रथपर लौट आये ॥ २ ॥ तब उनसे भगवान् कृष्णने पूछा—"अक्रूरजी ! आपने पृथिवी, आकाश या जलमें कोई विचित्र बात देखी है क्या ? क्योंकि आपकी आकृतिसे हमें कुछ ऐसा ही अनुमान होता है" ॥ ३ ॥

अक्रूर उवाच

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले ।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः ॥ ४ ॥
यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले ।
तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन्किं मे दृष्टमिहाद्भुतम् ॥ ५ ॥

अक्रूरजी बोले—प्रभो ! पृथिवी, आकाश और जलमें जितने अद्भुत पदार्थ हैं, आप सर्वरूपके देख लिये जानेपर उनमेंसे मेरे लिये कौन बिना देखा रह जाता है ? ॥ ४ ॥ तथा पृथिवी, आकाश या जलमें जितने अद्भुत पदार्थ हैं वे सब आपहीमें विराजमान हैं; अतः हे ब्रह्मन् ! आपको देख लेनेपर मैंने आपके सिवा और क्या अद्भुत वस्तु यहाँ देखी होगी ॥ ५ ॥

---

१. अक्रूरयाने महापुरुषस्तुतिश्चत्वा० ।

इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः ।
मथुरामनयद्रामं कृष्णं चैव दिनात्यये ॥ ६ ॥
मार्गे ग्रामजना राजंस्तत्र तत्रोपसंगताः ।
वसुदेवसुतौ वीक्ष्य[1] प्रीता दृष्टिं न चाददुः ॥ ७ ॥
तावद्व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोऽग्रतः ।
पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे ॥ ८ ॥
तान्समेत्याह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥ ९ ॥
भवान्प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम् ।
वयं त्विहावमुच्याथ ततो द्रक्ष्यामहे पुरीम् ॥१०॥

अक्रूर उवाच

नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो ।
त्यक्तुं नार्हसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल ॥११॥
आगच्छ याम गेहान्नः सनाथान्कुर्वधोक्षज ।
सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम ॥१२॥
पुनीहि पादरजसा गृहान्नो गृहमेधिनाम् ।
यच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः ॥१३॥
अवनिज्याङ्घ्रियुगलमासीच्छ्लोक्यो बलिर्महान् ।
ऐश्वर्यमतुलं लेभे गतिं चैकान्तिनां तु या ॥१४॥
आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यस्त्रींल्लोकाञ्छुचयोऽपुनन् ।
शिरसाधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः ॥१५॥
देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन ।
यदूत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोऽस्तु ते ॥१६॥

भगवान्से ऐसा कह गान्दिनीनन्दन श्रीअक्रूरजीने रथ हाँका और अपराह्णकालमें राम और कृष्णको लेकर मथुरापुरीमें पहुँच गये ॥ ६ ॥ हे राजन् ! मार्गमें जहाँ-तहाँ मिलनेवाले ग्रामीण लोग वसुदेवजीके बालकोंको देखकर उनकी रूपमाधुरीसे आनन्दित हो उनकी ओरसे अपनी दृष्टि नहीं हटा सकते थे—एकटक उन्हींकी ओर देखते रह जाते थे ॥ ७ ॥ नन्द आदि व्रजवासी गोपगण राम और कृष्णके पहुँचनेसे पहले ही मथुरा पहुँच गये थे और नगरके बाहर उपवनमें ठहरकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे ॥ ८ ॥ उनके पास पहुँचनेपर जगत्पति भगवान् कृष्णने विनयशील अक्रूरका हाथ पकड़कर कुछ मुसकाते हुए विनम्र वाणीमें कहा—॥ ९ ॥ "आप रथ लेकर पहले नगरमें प्रवेश करके अपने घर जाइये; हम कुछ देर यहाँ ठहरकर फिर नगरकी शोभा निहारेंगे" ॥१०॥

अक्रूरजी बोले—हे प्रभो ! मैं आप दोनोंके बिना मथुरामें नहीं जा सकता । हे भक्तवत्सल ! मैं आपका भक्त हूँ । नाथ ! आप मुझे न छोड़िये ॥ ११ ॥ हे अधोक्षज ! आइये चलें; हे सुहृत्तम ! बड़े भाई बलराम और सखा ग्वालबालोंके साथ चलकर हमारे घरोंको सनाथ कीजिये ॥ १२ ॥ हम गृहस्थोंके घरोंको अपने चरणरजसे पवित्र कीजिये, जिसके धोवनके जल (श्रीगङ्गाजी) से अग्नियोंके सहित पितृगण और देवगण तृप्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥ प्रभो ! आपके चरणयुगलको धोनेसे ही महात्मा बलि परम यशस्वी हुए हैं और उन्हें अतुल ऐश्वर्य तथा आपके अनन्य भक्तोंको प्राप्त होने योग्य गति प्राप्त हुई है ॥ १४ ॥ आपके चरण धोनेसे पवित्र हुए जलने तीनों लोकोंको पवित्र किया है, इसे श्रीमहादेवजी भी अपने शिरपर धारण करते हैं और इसीका स्पर्श होनेसे सगरके पुत्र स्वर्ग सिधारे थे ॥ १५ ॥ हे देवदेव ! हे जगन्नाथ ! हे पुण्यश्रवण-कीर्तन ! हे यदुश्रेष्ठ ! हे पुण्यकीर्ते ! हे नारायण ! आपको नमस्कार है ॥ १६ ॥

---

[1] दृष्ट्वा ।

श्रीभगवानुवाच

आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वितः ।
यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् ॥१७॥

श्रीभगवान् बोले—मैं यदुकुलके द्रोही कंसको मारकर बलरामजीके साथ आपके घर अवश्य आऊँगा और अपने सुहृज्जनोंका प्रिय करूँगा ॥ १७ ॥

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव ।
पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्मावेद्य गृहं ययौ ॥१८॥
अथापराह्ने भगवान्कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः ।
मथुरां प्राविशद्गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः ॥१९॥

श्रीशुकदेवजी बोले—भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर अक्रूरजीने कुछ अनमने होकर मथुरामें प्रवेश किया और कंसको कृष्ण-बलदेवके आनेका समाचार सुनाकर अपने घर चले गये ॥१८॥ तदनन्तर, सङ्कर्षणके सहित भगवान् कृष्णने अपराह्णकालमें मथुरापुरी देखनेके लिये गोपालोंके सहित नगरमें प्रवेश किया ॥ १९ ॥

ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर-
द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-
मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥२०॥
सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः
श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमै-
र्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥२१॥
जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे-
ष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां
प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥२२॥
आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः
प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुभिः
स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥२३॥

भगवान्‌ने देखा कि नगरके ऊँचे-ऊँचे द्वार स्फटिक मणिके बने हुए हैं; उनमें बड़ी-बड़ी सोनेकी किवाड़ें हैं और उत्सवके कारण बन्दनवारें बँधी हुई हैं। धान्यागार और कोष ताँबे और पीतलसे मँढ़े हुए हैं। नगरके चारों ओर एक खाई खुदी है जिसके कारण पुरीमें सब ओरसे प्रवेश करना बहुत कठिन था और वह पुरी सब ओरसे सुरम्य उद्यान और उपवनोंसे सुशोभित है ॥२०॥ सुवर्णमय चौराहे, धनियोंके महल, महलोंके बगीचे तथा श्रेणीबद्ध सभाभवन और अन्यान्य भवन (इमारतें) नगरकी शोभा बढ़ा रहे हैं तथा वैदूर्य, वज्र, निर्मल नीलमणि, विद्रुम, मोती और हीरा आदिसे जड़े हुए वलभी (झाँप), वेदी, झरोखे एवं फर्श आदि जगमगा रहे हैं। उनमें ठौर-ठौर कबूतर और मयूर आदि पक्षी भाँति-भाँतिकी बोली बोल रहे हैं। गली, बाजार, मार्ग और चबूतरोंपर छिड़काव किया गया है। और जहाँ-तहाँ फूलोंकी माला, दूब, खील और चावल बिखरे हुए हैं ॥२१-२२॥ सब भवनोंके द्वार दही और चन्दनादिसे चर्चित जलसे भरे हुए कलशोंसे, तथा पुष्प, दीपक, नवपल्लव, फलसहित केलेके वृक्ष, सुपारीके वृक्ष और छोटी-छोटी झण्डियों तथा रेशमी वस्त्रोंसे भली प्रकार सजे हुए हैं ॥२३॥

तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ
वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना ।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो
हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृपोत्सुकाः[1] ॥२४॥

हे राजन् ! मथुरापुरीमें गये हुए वसुदेवनन्दन बलराम और कृष्ण जब अपने साथियोंके साथ राजमार्गसे होकर जाने लगे तब उन्हें देखनेके लिये तुरन्त ही एकत्रित होकर नगरकी नारियाँ अत्यन्त उत्सुकतासे महलोंके ऊपर चढ़ गयीं ॥ २४ ॥

१. अ० ।

काश्चिद्विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा
विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः ।
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा
नाङ्क्त्वा द्वितीयं त्वपराश्च लोचनम्॥२५॥
अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा
अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः ।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं
प्रपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः ॥२६॥
मनांसि तासामरविन्दलोचनः
प्रगल्भलीलाहसितावलोकैः ।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो
दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम् ॥२७॥
दृष्ट्वा मुहुःश्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं
तत्प्रेक्षणोत्स्मितसुधोक्षणलब्धमानाः ।
आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशात्मलब्धं
हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम् ॥२८॥
प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः ।
अभ्यवर्षन्सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ ॥२९॥
दध्यक्षतैः सोदपात्रैः स्रग्गन्धैरभ्युपायनैः ।
तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः ॥३०॥
ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन्महत् ।
या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ॥३१॥
रजकं कञ्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः ।
दृष्ट्वायाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च ॥३२॥

जल्दीके कारण कोई उलटे वस्त्र और आभूषण पहनकर, कोई दो-दो पहने जानेवाले कुण्डलादि आभूषणोंमेंसे भूलसे केवल एक-एक ही पहनकर, कोई एक ही कानके आगे पत्ररचना कर, कोई एक ही पाँवमें नूपुर पहनकर और कोई एक ही आँखमें अञ्जन आँजकर दूसरीमें बिना आँजे ही चल दीं ॥ २५ ॥ कोई रमणियाँ भोजन कर रही थीं, वे उत्साहके कारण हाथका ग्रास वहीं छोड़कर चल दीं। कोई उबटन लगवा रही थीं, वे बिना स्नान किये ही उठ दौड़ीं। इसी प्रकार जो सो रही थीं वे कोलाहल सुनकर उठ बैठीं और जो बालकोंको दूध पिला रही थीं वे दूध पीते बालकोंको वहीं छोड़कर चल दीं ॥ २६ ॥ हे राजन्! मत्त गजराजके समान पराक्रमी कमलनयन भगवान् कृष्णने अपने रमारमण श्याम शरीरसे पुरनारियोंके नेत्रोंको आनन्दित करते हुए अपनी लीलाविलासमयी प्रगल्भ हँसी और चितवनसे उनके चित्तोंको चुरा लिया ॥ २७ ॥ हे शत्रुदमन! बहुत दिनोंसे बारम्बार कृष्णचन्द्रकी कथाएँ सुननेके कारण उनके चित्त चञ्चल हो रहे थे। आज उन्हें बार-बार देखकर उनकी चितवनके हास्य-सुधासे सींची जाकर वे सत्कृत हुईं। उन्होंने उस आनन्दमयी मनोहर मूर्तिको अपने नयनपथसे हृदयमें ले जाकर आलिङ्गन किया और शरीरमें पुलकित होकर उनकी अनन्त विरह-व्यथासे मुक्त हो गयीं ॥ २८ ॥ प्रसन्नताके कारण जिनके मुखकमल खिले हुए हैं वे मथुराकी स्त्रियाँ अपने घरोंकी अट्टालिकाओंपर चढ़कर बलराम और कृष्णपर फूलोंकी वर्षा करने लगीं ॥२९॥ ब्राह्मणादि द्विजातियोंने भी दही, अक्षत और जलसे भरे पात्र, फूलोंकी माला एवं चन्दनादि सामग्रियोंसे उन दोनों भाइयोंकी जहाँ-तहाँ अति प्रसन्नतापूर्वक पूजा की॥३०॥ भगवान्को देखकर पुरवासी कहने लगे "अहो! गोपियोंने ऐसा क्या महान् तप किया है जिससे वे मनुष्यमात्रको आनन्दित करनेवाली इन दोनों मनोहर मूर्तियोंको देखती रही हैं?" ॥ ३१ ॥

इसी समय एक धोबीको, जो कपड़े रँगनेका भी काम करता था, अपनी ओर आते देख भगवान् कृष्णने उससे अति उत्तम धुले हुए वस्त्र माँगे ॥ ३२ ॥

१. निपा० ।

देह्यावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि चार्हतोः ।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥३३॥

भगवान्‌ने कहा—"भाई ! तुम हमें हमारे अङ्गोंमें ठीक आनेवाले वस्त्र दो, ये वस्त्र हमारे ही योग्य हैं । हमें वस्त्र देनेसे तुम्हारा परम कल्याण होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं" ॥ ३३ ॥

स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः ।
साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञः सुदुर्मदः ॥३४॥
ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः ।
परिधत्त किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥३५॥
याताशु बालिशा मैवं प्राथ्यं यदि जिजीविषा ।
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै ॥३६॥
एवं विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः ।
रजकस्य कराग्रेण शिरः कायादपातयत् ॥३७॥
तस्यानुजीविनः सर्वे वासःकोशान्विसृज्य वै ।
दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं वासांसि जगृहेऽच्युतः ॥३८॥
वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः सङ्कर्षणस्तथा ।
शेषाण्यादत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित् ॥३९॥

वह धोबी राजा कंसका सेवक था, इसलिये उसे बड़ा अभिमान था । पूर्णकाम भगवान्‌के वस्त्र माँगनेपर उसने कुपित होकर आक्षेपपूर्वक कहा ॥ ३४ ॥ "तुम पर्वत और वनोंमें विचरनेवाले सदा ऐसे ही वस्त्र तो पहनते होगे ! अरे ! ऐसे बढ़कर क्यों चलते हो ? तुम तो राजाकी चीजोंकी इच्छा करने लगे ! ॥ ३५ ॥ अरे ! मूर्खो जाओ ! यदि तुम्हें जीनेकी इच्छा हो तो फिर कभी ऐसी वस्तुएँ मत माँगना । देखो, तुम-जैसे उद्धत लोगोंको राजकर्मचारीगण बाँधते और मारते हैं तथा उनके पास जो कुछ होता है वह सब छीन लेते हैं" ॥ ३६ ॥ इस प्रकार डींग हाँकनेवाले उस रजकपर कुपित हो भगवान् देवकीनन्दनने अपने हाथके अग्रभागसे उसका शिर धड़से अलग करके गिरा दिया ॥ ३७ ॥ तब, जो धोबी उसीके आश्रित रहकर अपनी आजीविका चलाते थे वे सब कपड़ोंके गट्ठर वहीं छोड़कर मार्गमें इधर-उधर भाग गये । तब भगवान्‌ने उन वस्त्रोंको ले लिया ॥ ३८ ॥ श्रीकृष्ण और बलरामजीने उनमेंसे मनमाने वस्त्र पहने और बचे-बचाये गोपोंको दे दिये तथा कुछ पृथिवीपर ही पड़े छोड़ दिये ॥ ३९ ॥

ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत् ।
विचित्रवर्णैश्चैलेयैराकल्पैरनुरूपतः ॥४०॥
नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः ।
स्वलङ्कृतौ बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ ॥४१॥
तस्य प्रसन्नो भगवान्प्रादात्सारूप्यमात्मनः ।
श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम् ॥४२॥

कुछ आगे बढ़नेपर एक दर्जी मिला, उसने [उनके अनुपम रूपसे] प्रसन्न हो रंग-विरंगे कपड़ोंकी यथोचित सजावटसे उनका विचित्र वेष बना दिया ॥ ४० ॥ तब उन नाना प्रकारके वस्त्रोंसे विभूषित हुए राम और कृष्ण उत्सवके समय भली प्रकार सजाये हुए श्वेत और श्यामवर्णके दो छोटी अवस्थावाले हाथियोंके समान सुशोभित हुए ॥ ४१ ॥ भगवान्‌ने उस दर्जीपर प्रसन्न होकर उसे [परलोकमें] सारूप्य मोक्ष और इस लोकमें अत्यन्त लक्ष्मी, बल, ऐश्वर्य, स्मृति और [कभी शिथिल न होनेवाली] इन्द्रियोंकी शक्ति दी ॥ ४२ ॥

१. दुर्मुखः । २. बाह्यचौवैर्वितत्रसुः ।

ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः ।
तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि ॥४३॥
तयोरासनमानीय पाद्यं चार्थार्हणादिभिः ।
पूजां सानुगयोश्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ॥४४॥
प्राह नः सार्थकं जन्म पावितं च कुलं प्रभो ।
पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥४५॥
भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम् ।
अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥४६॥
न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः ।
समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि ॥४७॥
तावाज्ञापयतं[1] भृत्यं किमहं करवाणि वाम् ।
पुंसोऽत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते ॥४८॥
इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतमानसः ।
शस्तैः सुगन्धैः कुसुमैर्माला[2] विरचिता ददौ ॥४९॥
ताभिः स्वलङ्कृतौ प्रीतौ कृष्णरामौ सहानुगौ ।
प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥५०॥
सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥५१॥
इति तस्मै वरं दत्त्वा श्रियं चान्वयवर्धिनीम् ।
बलमायुर्यशः कान्तिं निर्जगाम सहाग्रजः ॥५२॥

वहाँसे वे सुदामा मालीके घर गये। भगवान् कृष्ण और बलरामजीको आये देख सुदामा उठ खड़ा हुआ और पृथिवीपर शिर रखकर उन्हें प्रणाम किया ॥४३॥ फिर उन्हें आसन दे ग्वालबालोंके सहित दोनों भाइयोंका पाद्य, अर्घ्य, माला, ताम्बूल और चन्दनादिसे पूजन किया ॥ ४४ ॥ और बोला—"प्रभो ! आप दोनोंके पधारनेसे आज हमारा जन्म सफल हो गया, हमारा कुल भी पवित्र हो गया तथा पितृगण, ऋषिगण और देवगण भी मुझसे सन्तुष्ट हो गये [अर्थात् मैं उनके ऋणसे भी उऋण हो गया] ॥ ४५ ॥ आप निश्चय ही समस्त संसारके परम कारण हैं; आपने संसारकी कुशल और उन्नतिके लिये ही कलाओंसहित इस पृथ्वीपर अवतार लिया है ॥ ४६ ॥ यद्यपि आप भजनेवालोंको ही भजते हैं तो भी आपमें विषम दृष्टि नहीं है, क्योंकि आप परम सुहृद् और जगत्के आत्मा हैं; आपकी दृष्टिमें सभी जीव समान हैं ॥ ४७ ॥ मैं आपका दास हूँ; आप दोनों मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? भगवन् ! आपकी आज्ञा पालनेका अवसर मिले—यही जीवपर आपका परम अनुग्रह है" ॥ ४८ ॥

हे राजेन्द्र ! ऐसा कहकर सुदामाने उनका अभिप्राय जान उन्हें प्रसन्न मनसे परम प्रशंसनीय सुगन्धित पुष्पोंकी बनी मालाएँ दीं ॥४९॥ उन मालाओंसे साथी ग्वालबालोंके सहित अच्छी तरह अलङ्कृत हो वरदायक भगवान् कृष्ण और बलदेवने अति प्रसन्न होकर विनीत और शरणागत सुदामासे वर माँगनेको कहा ॥५०॥ तब सुदामाने भी उन सर्वात्मा श्रीहरिमें अचला भक्ति, उनके भक्तोंसे प्रेम और सम्पूर्ण जीवोंके प्रति परम दयाका ही वर माँगा ॥ ५१ ॥

तब उसके माँगे हुए वर और उनके साथ सन्तानकी वृद्धि करनेवाली लक्ष्मी, बल, आयु, यश और कान्ति आदि भी देकर बलरामजीके सहित भगवान् कृष्ण वहाँसे चल दिये ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[3]
पुरप्रवेशो नाम एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

१. साक्षाज्ज्ञाप० । २. लां विरचितां । ३. प्राचीन प्रतिमें 'पूर्वार्धे' यह नहीं है ।

बयालीसवाँ अध्याय

कुब्जापर कृपा, धनुर्भङ्ग और मल्लशालाकी सजावट।

श्रीशुक[1] उवाच

अथ व्रजन्राजपथेन माधवः
स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम्।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां
पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन्रसप्रदः ॥ १ ॥
का त्वं वरोर्वेतदुहानुलेपनं
कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः।
देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं
श्रेयस्ततस्ते न चिराद्भविष्यति ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! तदनन्तर भगवान् कृष्णने राजमार्गसे होकर जाते हुए एक युवती स्त्रीको, जो सुन्दर मुखवाली किन्तु कुब्जा (कुबड़ी) थी, देखा। वह अपने हाथमें एक चन्दनका पात्र लिये हुए थी। उसे देखकर प्रेमरस प्रदान करनेवाले श्रीभगवान्ने हँसते हुए पूछा—॥ १ ॥ "हे वरोरु! तुम कौन हो? यह चन्दन किसके लिये ले जा रही हो? हे कल्याणि! हमें सब बात सच-सच बता दो। यह अत्युत्तम अनुलेपन हमें भी दो; इससे शीघ्र ही तुम्हारा कल्याण होगा" ॥ २ ॥

सैरन्ध्र्युवाच

दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससम्मता
त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि।
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं
विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥ ३ ॥

सैरन्ध्री[1] बोली—हे सुन्दर! मैं कंसकी प्रिय दासी हूँ, मेरा नाम त्रिवक्रा है, मैं राजाके यहाँ चन्दन लगानेका कार्य करती हूँ। मेरा घिसा हुआ चन्दन भोजराज कंसको अत्यन्त प्रिय है। किन्तु आपके सिवा और कौन उसका सबसे अधिक पात्र हो सकता है? ॥ ३ ॥

रूपपेशलमाधुर्यहसितालापवीक्षितैः।
धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥ ४ ॥
ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना।
सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेऽनुरञ्जितौ ॥ ५ ॥
प्रसन्नो भगवान्कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम्।
ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन्दर्शने फलम् ॥ ६ ॥
पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यङ्गुल्युत्तानपाणिना।
प्रगृह्य चुबुकेऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः ॥ ७ ॥

ऐसा कह कुब्जाने भगवान्के रूप, सुकुमारता, माधुर्य और मुसकानमयी बातचीत एवं चितवनसे मुग्धचित्त होकर उन दोनों भाइयोंको वह सुन्दर अङ्गराग दे दिया ॥ ४ ॥ तब अपने [श्याम और गौर] वर्णसे भिन्न [पीत और रक्त] वर्णके अङ्गरागसे नाभिसे ऊपरके भागमें अनुरञ्जित हुए श्रीकृष्ण और बलदेव अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुए ॥ ५ ॥ तदनन्तर प्रसन्न हुए भगवान्ने, अपने दर्शनका प्रत्यक्ष फल दिखानेके लिये, तीन जगहसे टेढ़ी किन्तु सुन्दर मुखवाली कुब्जाको सीधी करनेका विचार किया ॥ ६ ॥ भगवान्ने अपने पैरोंसे कुब्जाके पञ्जोंको दबाया और ऊपरको की हुई अपने हाथकी दो अँगुलियाँ उसकी ठोड़ीमें लगाकर उसके शरीरको उचका दिया ॥ ७ ॥

---

१. बादरायणिरुवाच।

१–जो स्त्रियाँ उबटन लगाना, स्नान कराना आदि कार्य करती हैं उन्हें 'सैरन्ध्री' कहते हैं। ये प्रचलित भाषामें 'नाइन' कहलाती हैं।

सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा ।
मुकुन्दस्पर्शनात्सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥ ८ ॥

इससे उसके सब अङ्ग समान और सीधे हो गये और श्रीमुकुन्दके करस्पर्शसे वह तत्काल विशाल नितम्ब और पीन पयोधरोंसे युक्त एक उत्तम नारी हो गयी ॥ ८ ॥

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम् ।
उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया ॥ ९ ॥
एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥१०॥

तब रूप, गुण और उदारतासे सम्पन्न होनेपर उसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो गया और उसने भगवान्‌के दुपट्टेका छोर पकड़कर मुसकाते हुए उनसे कहा—॥ ९ ॥ "हे वीर ! आइये, घर चलें । अब मैं आपको यहाँ नहीं छोड़ सकती, क्योंकि आपने मेरे चित्तको मथ डाला है । हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस दासी-पर प्रसन्न होइये" ॥१०॥

एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः ।
मुखं वीक्ष्यानु गोपानां प्रहसंस्तामुवाच ह ॥११॥
एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः पुंसामाधिविकर्शनम् ।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम्॥१२॥

बलरामजीके सामने ही उस रमणीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् कृष्णने गोपोंके मुखकी ओर देखकर हँसते हुए उससे कहा—॥११॥ "हे सुभ्रू ! मैं अपना कार्य सिद्ध करनेके अनन्तर पुरुषोंके आधिनाशक तुम्हारे घरको आऊँगा । हम-जैसे गृहहीन पथिकोंके लिये तुम परम आश्रय हो" ॥ १२ ॥

विसृज्य माध्व्या वाण्या तां व्रजन्मार्गे वणिक्पथैः ।
नानोपायनताम्बूलस्रग्गन्धैः साग्रजोऽर्चितः ॥१३॥
तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविदन्स्त्रियः[1] ।
विस्रस्तवासःकबरवलयालेख्यमूर्तयः ॥१४॥

इस प्रकार उसे मधुर वाणीसे विदाकर भगवान् आगे बढ़े । व्यापारियोंके मार्गमें पहुँचनेपर उनकी श्रीबलरामजीके सहित ताम्बूल, माला और चन्दनादिसे भली प्रकार पूजा की गयी ॥१३॥ उनके दर्शनमात्रसे प्रेमका आवेग हो जानेके कारण स्त्रियोंको अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रहती थी । उनके वस्त्र, केशबन्धन और कङ्कण ढीले पड़ जाते थे; किन्तु वे चित्रलिखित मूर्तियोंके समान ज्यों-की-त्यों खड़ी रहती थीं ॥१४॥

ततः पौरान्पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः ।
तस्मिन्प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम् ॥१५॥
पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत् ।
वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥१६॥

फिर, पुरवासियोंसे धनुर्भवन पूछते हुए श्रीअच्युत रङ्गशालामें पहुँचे और वहाँ इन्द्रधनुषके समान एक विचित्र धनुष देखा ॥१५॥ वह धनुष बहुत-से सिपाहियोंसे सुरक्षित, भली प्रकार पूजा हुआ और अत्यन्त वैभवशाली था । श्रीकृष्णने रक्षकोंके रोकनेपर भी उस धनुषको बलात्कारसे उठा लिया ॥१६॥

---

१. दुः स्त्रियः ।

करेण वामेन सलीलमुद्धृतं
सज्यं च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् ।
नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो
यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥१७॥

जैसे महापराक्रमी मतवाला हाथी ईखको तोड़ डालता है वैसे ही भगवान्ने सब लोगोंके देखते-देखते उस धनुषको बायें हाथसे उठाकर चढ़ाते हुए एक पलमें ही खींचकर बीचमेंसे तोड़ डाला ॥१७॥

धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं रोदसी दिशः ।
पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥१८॥
तद्रक्षिणः सानुचराः कुपिता आततायिनः ।
ग्रहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां वध्यतामिति ॥१९॥
अथ तान्दुरभिप्रायान्विलोक्य बलकेशवौ ।
क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः ॥२०॥
बलं च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात्ततः ।
निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥२१॥
तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशम्य पुरवासिनः ।
तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ ॥२२॥
तयोर्विचरतोः स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान् ।
कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुराच्छकटमीयतुः ॥२३॥

धनुषके टूटते समय उसके शब्दसे सम्पूर्ण आकाश, पृथिवी और दिशाएँ भर गयीं, जिसे सुनकर कंसको भी अत्यन्त भय हुआ ॥१८॥ तब उसकी रक्षा करनेवाले आततायी असुरगण अपने अनुचरोंके सहित अत्यन्त कुपित होकर उन्हें पकड़नेकी इच्छासे 'पकड़ लो, बाँध लो' ऐसा कहकर चिल्लाने लगे ॥१९॥ उनका दुष्ट अभिप्राय जान श्रीबलराम और कृष्णको भी क्रोध आ गया और वे उस धनुषके टुकड़ोंको ही लेकर उन्हें मारने लगे ॥२०॥ उन्हींसे कंसकी भेजी हुई सेनाका भी संहार कर वे धनुःशाला-से निकल आये और आनन्दपूर्वक पुरकी शोभा निहारते हुए विचरने लगे ॥२१॥ उन दोनों भाइयोंके धनुर्भङ्गरूप अद्भुत पराक्रम, प्रचण्ड तेज, प्रगल्भता और अनुपम रूपको देखकर पुरवासियोंने उन्हें कोई सुरश्रेष्ठ ही समझा ॥२२॥ इस प्रकार कृष्ण और बलराम स्वच्छन्दतापूर्वक नगरमें विचर रहे थे कि सूर्य अस्त हो गया। तब वे गोपोंसे घिरे हुए मथुरापुरीसे बाहर अपने डेरेपर, जहाँ छकड़ा था, लौट आये ॥२३॥

गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या
आशासताशिष ऋता मधुपुर्यभूवन् ।
सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं
हित्वेतरान्नु भजतश्चकमेऽयनं श्रीः ॥२४॥

अपना ही भजन करनेवाले ब्रह्मादिक अन्य देवताओंको छोड़कर श्रीलक्ष्मीजी जिनमें निश्चल भावसे निवास करती हैं उन पुरुषश्रेष्ठ भगवान् कृष्ण-के अङ्गोंकी शोभा निहारनेवाले मथुरावासियोंके विषयमें भगवान्से बिछुड़ते समय विरहातुरा गोपि-काओंने जो-जो बातें कही थीं वे सभी मथुरापुरीमें ज्यों-की-त्यों सत्य हुईं ॥ २४ ॥

अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् ।
ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम् ॥२५॥

हे राजन् ! फिर हाथ-पाँव धोकर कृष्ण और बलरामने दुग्धमिश्रित अन्नका भोजन किया और 'कंस क्या करना चाहता है ?' यह जानकर उस रात्रिको सुखपूर्वक सो गये ॥२५॥

---

१. तं।

कंसस्तु धनुषो भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च ।
वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम् ॥२६॥
दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः ।
बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च ॥२७॥
अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि ।
असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा ॥२८॥
छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः ।
स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥२९॥
स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं विषादनम् ।
यायान्नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः ॥३०॥
अन्यानि चेत्थं भूतानि स्वप्नजागरितानि च ।
पश्यन्मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया ॥३१॥
व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थिते ।
कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम् ॥३२॥
आनर्चुः पुरुषा रङ्गं तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ।
मञ्चाश्चालङ्कृताः स्रग्भिः पताकाचैलतोरणैः ॥३३॥
तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः ।
यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः ॥३४॥
कंसः परिवृतोऽमात्यै राजमञ्च उपाविशत् ।
मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता ॥३५॥
वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च ।
मल्लाः स्वलङ्कृता दृप्ताः सोपाध्यायाः समासत ॥३६॥

कंसने जब सुना कि धनुष तोड़ना और धनुषके रखवालों तथा मेरी सेनाका वध करना राम और कृष्णके लिये एक खेलके समान ही हुआ तो वह भयके कारण रात्रिके समय बहुत देर तक जागता रहा और उस दुर्मतिको सोने और जागनेमें बहुत-से मृत्युसूचक अपशकुन दिखायी दिये ॥२६-२७॥ [जाग्रत्-अवस्थामें] उसने देखा कि जल या दर्पणमें प्रतिबिम्ब है परन्तु उसमें शिर नहीं है, अँगुली आदि कोई आड़ न होनेपर भी चन्द्रमा, तारा और दीपक आदिकी ज्योतियाँ दो-दो दिखायी देती हैं ॥२८॥ छायामें छिद्र दिखायी देते हैं, कानोंमें प्राणोंका घू-घू शब्द सुनायी नहीं देता, वृक्षोंका रङ्ग सुवर्णके समान पीला दिखायी देता है और [बालू या कीचमें] अपने पैरोंके चिह्न नहीं दीख पड़ते ॥२९॥ कंसने स्वप्नमें देखा कि वह प्रेतोंसे गले मिल रहा है, गधेपर चढ़कर जाता है, विष-भक्षण कर रहा है और शिरसे पैरतक तेलसे तर हुआ गलेमें जपाकुसुमकी माला पहने दिगम्बर-वेषसे अकेला ही जा रहा है ॥३०॥ स्वप्न और जागरितमें उसने इसी प्रकारके और भी बहुत-से अपशकुन देखे । उनके कारण चिन्ता और मृत्युके भयसे उसे रातभर नींद नहीं आयी ॥३१॥

जैसे-तैसे रात्रि व्यतीत हुई और सूर्यनारायण जलसे ऊपर उठे । तब हे कुरुनन्दन ! राजा कंसने मल्लक्रीडाका उत्सव आरम्भ कराया ॥३२॥ सेवकोंने रङ्गभूमिको भली प्रकार सजाया, तूर्य और भेरी आदि बाजे बजने लगे और सारे मञ्च माला, पताका, झण्डी और तोरणादिसे सजाये गये ॥३३॥ उनपर ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि पुरवासी तथा जनपदवासी लोग अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार बैठे और राजागण भी अपने-अपने आसनोंपर विराजमान हुए ॥३४॥ राजा कंस अपने मन्त्रियोंके साथ मण्डलेश्वरोंके बीचमें राजसिंहासनपर बैठा, इस समय भी अपशकुनोंके कारण उसका चित्त घबड़ाया हुआ था ॥३५॥ तब मल्लोंकी ताल ठोंकनेके साथ बाजोंका शब्द होने लगा और गर्वीले मल्लोंने भली प्रकार सजधजकर अपने उस्तादोंके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया ॥३६॥

१. रूपेषु सत्स्वपि । २. चातिसमु० ।

चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तोशल एव च ।
त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥३७॥
नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहुताः ।
निवेदितोपायनास्त एकस्मिन्मञ्च आविशन् ॥३८॥

बाजोंकी सुमधुर ध्वनिसे उत्साहित हुए चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल आदि प्रधान-प्रधान मल्ल अखाड़ेमें आकर बैठ गये ॥३७॥ इसी समय नन्द गोप आदि समस्त गोपगण कंसके बुलानेसे रङ्गभूमिमें आये और लायी हुई भेंटें राजाको समर्पण कर एक मञ्चपर बैठ गये ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
मल्लरङ्गोपवर्णनं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४२॥

तैंतालीसवाँ अध्याय

कुवलयापीडवध और मल्लशालाप्रवेश।

श्रीशुक उवाच[2]

अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परन्तप ।
मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः ॥ १ ॥
रङ्गद्वारं समासाद्य तस्मिन्नागमवस्थितम् ।
अपश्यत्कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम् ॥ २ ॥
बद्‌ध्वा परिकरं शौरिः समुह्य कुटिलालकान् ।
उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया ॥ ३ ॥
अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नौ देह्यपक्रम मा चिरम् ।
नो चेत्सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले— हे परन्तप ! प्रातःकाल होनेपर राम और कृष्ण शौचादिसे निवृत्त हो मल्लोंकी ताल और दुन्दुभीका शब्द सुनकर मल्लक्रीडा देखने के लिये चले ॥ १ ॥ रङ्गभूमिके द्वारपर पहुँचकर कृष्णचन्द्रने देखा कि वहाँ महावतकी प्रेरणासे कुवलयापीड हाथी खड़ा हुआ है ॥ २ ॥ तब श्रीवसुदेव-नन्दनने अपनी कमर कसकर और घुँघराली अलकावलीको समेटकर महावतसे मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा—॥ ३ ॥ "महावत ! महावत ! हम दोनोंको रास्ता दो, हमारे मार्गसे हट जाओ, देरी मत करो, नहीं तो मैं हाथीके सहित तुम्हें अभी यमपुर पहुँचाता हूँ" ॥ ४ ॥

एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम् ।
चोदयामास कृष्णाय कालान्तकयमोपमम् ॥ ५ ॥
करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाग्रहीत् ।
कराद्विगलितः सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत ॥ ६ ॥
संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिः स केशवम् ।
परामृशत्पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः ॥ ७ ॥

कृष्णचन्द्रद्वारा इस प्रकार डाँटे जानेपर महावतने कुपित होकर अन्तक, काल और यमके समान महाभयङ्कर कुवलयापीडको अङ्कुशप्रहारसे कुपित कर उनकी ओर बढ़ाया ॥ ५ ॥ उस हाथीने कृष्णचन्द्रकी ओर झपटकर उन्हें बड़ी तेजीसे सूँडसे पकड़ लिया; किन्तु वे उससे निकलकर उसे एक घूँसा जमाकर उसके पैरोंमें छिप गये ॥ ६ ॥ उन्हें अपने सामने न देखकर कुवलयापीडको अत्यन्त क्रोध हुआ। तब सूँघकर ही जाननेवाले उस गजराजने भगवान्‌को अपनी सूँडके अग्रभागसे टटोल लिया; किन्तु वे फिर भी बलात्कारसे उससे छूट गये ॥ ७ ॥

१. मल्लरङ्गोपवर्णनं द्विच० । २. बादरायणिरुवाच ।

पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पञ्चविंशतिम् ।
विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया ॥ ८ ॥
स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः ।
बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोवत्सेनेव बालकः ॥ ९ ॥
ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाहत्य वारणम् ।
प्राद्रवन्पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे ॥१०॥
स धावन्क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः ।
तं मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत्क्षितिम् ।११।
स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षितः ।
चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा ॥१२॥
तमापतन्तमासाद्य भगवान्मधुसूदनः ।
निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले ॥१३॥
पतितस्य पदाक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया ।
दन्तमुत्पाट्य तेनेभं हस्तिपांश्चाहनद्धरिः ॥१४॥
मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत् ।
अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः ।
विरूढस्वेदकणिकावदनाम्बुरुहो बभौ ॥१५॥
वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ ।
रङ्गं विविशतू राजन्गजदन्तवरायुधौ ॥१६॥
मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।

तदनन्तर भगवान् उस महाबलशाली गजराजकी पूँछ पकड़कर उसे लीलाहीसे, गरुडजी जैसे सर्पको खींच ले जाते हैं वैसे ही पच्चीस धनुष (सौ हाथ) खींच ले गये ॥ ८ ॥ [पूँछ पकड़ लेनेपर] घूमते हुए बछड़ेके साथ जैसे बालक घूमता है उसी प्रकार श्रीअच्युत भी दायीं-बायीं ओर घूमते हुए उस हाथीके साथ स्वयं भी घूमने लगे ॥ ९ ॥ फिर भगवान्‌ने हाथीके सामने आकर उसके एक थप्पड़ मारा और पद-पदपर, मानो उससे छू लिये जाते हैं, इस प्रकार उसके आसपास दौड़ते हुए उसे गिराने लगे ॥ १० ॥ इसी प्रकार दौड़ते-दौड़ते भगवान्, खेल करनेके लिये एक बार पृथिवीपर गिरकर तुरन्त ही उठ खड़े हुए। उन्हें गिरे हुए जान हाथीने क्रोधित होकर अपने दाँतोंसे पृथिवीपर प्रहार किया ॥११॥ इस प्रकार अपना आक्रमण व्यर्थ हो जानेसे गजराज कुवलयापीडको बड़ा ही क्रोध हुआ और वह महावतोंकी प्रेरणासे अति क्रोधपूर्वक कृष्णचन्द्रपर झपटा ॥१२॥ उसे झपटते देख भगवान् मधुसूदनने अपने हाथोंसे उसकी सूँड पकड़कर उसे पृथिवीपर गिरा दिया ॥१३॥ फिर गिरे हुए गजराजको पैरोंसे दबाकर श्रीहरिने सिंहके समान लीलाहीसे उसके दाँत उखाड़ लिये और उनसे हाथी और महावतोंको मार डाला ॥१४॥

फिर मरे हुए हाथीको छोड़कर भगवान् कृष्णने हाथमें दाँत लिये रङ्गभूमिमें प्रवेश किया। उनके कन्धेपर दाँत रखा हुआ था, शरीर रक्त और मदकी बूँदोंसे अङ्कित था तथा मुखकमल पसीनेकी बूँदोंसे सुशोभित था ॥१५॥ हे राजन् ! इस प्रकार हाथोंमें आयुधके रूपमें हाथीदाँत लिये श्रीबलराम और कृष्णने कुछ ग्वालबालोंके साथ रङ्गभूमिमें पदार्पण किया ॥१६॥ उस समय आर्य बलरामजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे हुए श्रीहरि मल्लोंको वज्र, मनुष्योंको नररत्न, स्त्रियोंको साक्षात् कामदेव, गोपगणको स्वजन, दुष्ट राजाओंको अपने

१. पतितः ।

मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां
तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रङ्गं गतः साग्रजः ॥१७॥

शासक, पिता-माताको बालक, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट्, योगियोंको परम तत्त्व और वृष्णिवंशी यादवोंको इष्टदेवके समान दिखलायी पड़े* ॥१७॥

हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ ।
कंसो मनस्व्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप ॥१८॥

हे राजन्! कंस बड़ा धीर-वीर था तथापि कुवलयापीडके मारे जानेसे उन दोनों भाइयोंको दुर्जय समझकर वह बहुत ही घबड़ाया ॥१८॥

तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ
विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ
मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् ॥१९॥

विचित्र वेष, आभूषण, माला और वस्त्रादि धारण किये वे महाबाहु नररत्न रङ्गशालामें अपनी कान्तिसे दर्शकोंके चित्त चुराते हुए ऐसे सुशोभित हुए मानो दो सुन्दरवेष-विभूषित नट हों ॥१९॥

निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना
मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणानना:
पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥२०॥

हे नृप! मञ्चोंपर बैठे हुए नगरनिवासी तथा देशवासी लोगोंके नेत्र और मुख उन दोनों नरश्रेष्ठोंको देखकर आनन्दसे खिल गये। वे अपने नयनोंसे उनकी मुखमाधुरीका पान करने लगे, किन्तु [बहुत देरतक एकटक निहारते रहनेपर भी] तृप्त न हुए ॥२०॥

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः ॥२१॥

[देखनेसे जान पड़ता था] मानो वे लोग उन्हें नेत्रोंसे पी जायँगे, जिह्वासे चाट लेंगे, नासिकासे सूँघ लेंगे, और भुजाओंसे लपेट लेंगे ॥२१॥

ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।
तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव ॥२२॥

उन दोनों भाइयोंके रूप, गुण, माधुर्य और निर्भयताने मानो दर्शकोंको उनकी लीलाओंका स्मरण करा दिया हो, इस प्रकार वे लोग, जैसा उनके विषयमें सुना और देखा था, आपसमें कहने लगे ॥२२॥

एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि ।
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि ॥२३॥

वे बोले "इन बालकोंने साक्षात् भगवान् नारायणके अंशसे पृथिवीपर वसुदेवजीके यहाँ अवतार लिया है ॥२३॥

एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम् ।
कालमेतं वसन्गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि ॥२४॥

यह (श्यामसुन्दर) देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे, इन्हें वसुदेवजीने गोकुल पहुँचा दिया था और अबतक ये नन्दजीके यहाँ गुप्तभावसे रहकर ही इतने बड़े हुए हैं ॥२४॥

पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानवः ।
अर्जुनौ गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये च तद्विधाः ॥२५॥

इन्हींके हाथसे पूतना, तृणावर्त, यमलार्जुन, शङ्खचूड यक्ष, केशी, धेनुक और ऐसे ही और भी बहुत-से दानवोंका वध हुआ है ॥२५॥

---

* यहाँ भिन्न-भिन्न अधिकारियोंकी दृष्टिसे एक ही समयमें भगवान्‌में ग्यारह भावोंकी अभिव्यक्ति दिखायी गयी है, जो इस श्लोकमें क्रमशः बतलाये गये हैं—

"रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यं वीरो दया तथा । भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः ॥"

अर्थात् उस समय मल्लादिकोंको भगवान् क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, बीभत्स, शान्त, प्रेम और भक्ति—इन ग्यारह भावोंमें प्रकट हुए।

गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः ।
कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः ॥२६॥

सप्ताहमेकहस्तेन धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना ।
वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम् ॥२७॥

गोप्योऽस्य नित्यमुदितहसितप्रेक्षणं मुखम् ।
पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरन्ति स्माश्रमं मुदा ॥२८॥

वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः ।
श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः ॥२९॥

अयं चास्याग्रजः श्रीमान्रामः कमललोचनः ।
प्रलम्बो निहतो येन वत्सको ये बकादयः ॥३०॥

इन्हींने गोपोंके सहित गौओंकी दावानलसे रक्षा की थी तथा इन्हींने कालिय नागका दमन और इन्द्रका मान-मर्दन किया था ॥ २६ ॥ ये सात दिनतक एक ही हाथपर गिरिराजको उठाये रहे और उसके द्वारा गोकुलकी वर्षा, वायु और बिजलीसे रक्षा की ॥२७॥ इनके नित्यप्रसन्न और मुसुकानमयी चितवनयुक्त मनोहर मुखारविन्दके दर्शनसे आनन्दित होकर गोपियाँ बिना श्रमके ही नाना प्रकारके तापोंसे पार हो जाती थीं ॥२८॥ कहते हैं, इनसे सुरक्षित होकर यह अत्यन्त विख्यात यदुवंश महान् श्री, यश और गौरव प्राप्त करेगा ॥२९॥ और ये दूसरे इनके बड़े भाई कमलनयन श्रीमान् बलरामजी हैं जिन्होंने प्रलम्बासुर, वत्सासुर और बकासुर आदिको मारा है''* ॥३०॥

जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च ।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत् ॥३१॥

हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीरसंमतौ[1] ।
नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाहूतौ दिदृक्षुणा ॥३२॥

प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः श्रेयो विन्दन्ति वै प्रजाः ।
मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा ॥३३॥

नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथा स्फुटम् ।
वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः ॥३४॥

तस्माद्राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवामहे ।
भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः ॥३५॥

जिस समय दर्शकोंमें यह चर्चा हो रही थी और अखाड़ेमें भेरीका शब्द हो रहा था उस समय चाणूरने राम और कृष्णको पुकारते हुए इस प्रकार कहा ॥३१॥ "हे नन्दनन्दन ! हे बलराम ! तुम बड़े वीर माने जाते हो । तुम्हें मल्लयुद्धमें निपुण सुनकर महाराज कंसने तुम्हारा कौशल देखनेके लिये बुलाया है ॥३२॥ मन, वचन और कर्मसे राजाका प्रिय करनेसे प्रजाका निश्चय ही कल्याण होता है; जो ऐसा नहीं करते उन्हें इसके विपरीत (अशुभ) फल भोगना पड़ता है ॥३३॥ यह सभी जानते हैं कि गौ और बछड़े चरानेवाले ग्वालियेलोग नित्यप्रति आनन्दपूर्वक वनमें मल्लयुद्ध लड़कर खेलते हुए गौएँ चराया करते हैं ॥३४॥ इसलिये आओ, हम और तुम मिलकर राजाका प्रिय करें । ऐसा करनेसे हमसे सभी प्राणी प्रसन्न होंगे, क्योंकि राजा सर्वभूतमय होता है'' ॥३५॥

तन्निशम्याब्रवीत्कृष्णो देशकालोचितं वचः ।
नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च ॥३६॥

उनके साथ मल्लयुद्ध करना तो भगवान्‌को इष्ट ही था । इसलिये यह सुनकर उन्होंने चाणूरकी प्रशंसा करते हुए देश-कालके अनुसार ये वचन कहे ॥३६॥

[1] १. र्यसंगतौ ।

* धेनुकासुरको बलरामजीने मारा था तथा बकासुर और वत्सासुरका वध श्रीकृष्णचन्द्रने किया था । लोकवाद-में बहुत-सी बातें कुछ-की-कुछ प्रसिद्ध हो जाती हैं, इसीलिये यहाँ यह विरोध देखनेमें आता है ।

प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः ।
करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः ॥३७॥
बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम् ।
भवेन्नियुद्धं माधर्मः स्पृशेन्मल्ल सभासदः ॥३८॥

चाणूर उवाच

न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः ।
लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत् ॥३९॥
तस्माद्भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नानयोऽत्र वै ।
मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः ॥४०॥

हम भी इन भोजराज महाराज कंसकी वनवासी प्रजा हैं; अतः हमें इनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये, इसीमें हमारा कल्याण है ॥ ३७ ॥ किन्तु हे मल्ल ! हमलोग बालक हैं, इसलिये हम अपने समान बलवाले बालकोंके साथ ही मल्लक्रीडा करेंगे । कुश्ती समान बलवालोंकी ही होनी चाहिये, जिससे सभासदोंको अधर्मका स्पर्श न हो ॥३८॥

चाणूर बोला—अजी ! तुम और बलवानोंमें श्रेष्ठ बलराम बालक या कुमार नहीं हो । तुमने अभी-अभी हजार हाथियोंके बलवाले कुवलयापीडको खेलहीमें मार डाला है ॥३९॥ इसलिये तुम दोनोंको हम-जैसे बलवानोंके साथ युद्ध करना चाहिये; इसमें कोई अन्यायकी बात नहीं है । अतः हे वार्ष्णेय ! तुम मुझपर अपना पराक्रम दिखाओ तथा बलरामजीके साथ मुष्टिक अपना पुरुषार्थ प्रकट करेगा ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे
पूर्वार्धे[2] कुवलयापीडवधो नाम
त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

चौवालीसवाँ अध्याय

मल्लनिग्रह और कंसवध ।

श्रीशुक उवाच

एवं चर्चितसङ्कल्पो भगवान्मधुसूदनः ।
आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥ १ ॥
हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः ।
विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥ २ ॥
अरत्नी द्वे अरत्नीभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी ।
शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ ३ ॥
परिभ्रामणविक्षेपपरिरम्भावपातनैः ।
उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं[3] प्रत्यरुन्धताम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार निश्चय कर श्रीमधुसूदन भगवान् चाणूरसे और रोहिणीनन्दन बलरामजी मुष्टिकसे भिड़ गये ॥ १ ॥ वे हाथोंसे हाथ और पैरोंसे पैर बाँधकर जीतनेकी इच्छासे एक-दूसरेको बलपूर्वक खींचने लगे ॥ २ ॥ उन्होंने एक दूसरेकी कलाइयोंपर कलाइयोंसे, जानुओंपर जानुओंसे, शिरपर शिरसे—और छातीपर छातीसे प्रहार किया ॥ ३ ॥ वे परिभ्रामण (हाथ आदि पकड़कर चारों ओर घुमाना), विक्षेप (ढकेलना), परिरम्भ (लिपटना), अवपातन (गिराना), उत्सर्पण (छूटकर सामने आना) और अपसर्पण (पीछे हटना) आदिसे एक-दूसरेको रोकते हुए परस्पर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे उत्थापन (नीचे गिरे हुएको पाँव और जङ्घा

१. ह्लसदः क्वचित् । २. मल्लक्रीडायां त्रिच० । ३. सर्वैश्च अन्यो० ।

उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि ।
परस्परं जिगीषन्तावुपचक्रतुरात्मनः ॥ ५ ॥
तद्बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः ।
ऊचुः परस्परं राजन्सानुकम्पा वरूथशः ॥ ६ ॥
महानयं बताधर्म एषां राजसभासदाम् ।
ये बलाबलवद्युद्धं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥ ७ ॥
क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ ।
क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ ॥ ८ ॥
धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत् ।
यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित् ॥ ९ ॥
न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते ॥१०॥
वल्गतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम् ।
वीक्ष्यतां श्रमवार्युप्तं पद्मकोशमिवाम्बुभिः ॥११॥
किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम् ।
मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितम् ॥१२॥

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग-
गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः ।
गाः पालयन्सहबलः क्वणयंश्च वेणुं
विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः॥१३॥

एक जगह करके उठाना), उन्नयन (हाथोंसे पकड़कर उठाना), चालन (गलेसे लिपटे हुएको हटाना) और स्थापन (हाथ-पाँव समेटकर बैठ जाना) आदि उपायोंसे एक दूसरेके शरीरोंपर प्रहार करने लगे ॥ ४-५ ॥

हे राजन् ! वह बलवान् और बलहीनका युद्ध देखकर करुणावश हुई नगरकी नारियाँ यूथ-की-यूथ इकट्ठी होकर आपसमें इस प्रकार कहने लगीं—॥६॥ "ये राज-सभासद् लोग बड़ा ही अन्याय कर रहे हैं; जो राजाके देखते हुए बलवान् और निर्बलोंके युद्धका अनुमोदन करते हैं ॥ ७ ॥ देखो न, कहाँ तो ये वज्रके-से अङ्गोंवाले पर्वतराजके समान दोनों महामल्ल ! और कहाँ जिन्होंने अभी युवावस्थामें भी प्रवेश नहीं किया ऐसे ये परम सुकुमार शरीरोंवाले दोनों बालक ! ॥ ८ ॥ इस समाजको अवश्य ही धर्मोल्लङ्घनका पाप लगेगा । [अब हमें यहाँसे चल देना चाहिये, क्योंकि] जहाँ अधर्मकी प्रधानता हो वहाँ कभी न रहे ॥ ९ ॥ सभासदोंके अवगुणोंको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि यथासम्भव सभामें न जाय, क्योंकि उन अवगुणोंको कहने, न कहने अथवा 'मैं नहीं जानता' ऐसा कहनेसे भी मनुष्यको दोषका भागी होना पड़ता है ॥१०॥ देखो, शत्रुके चारों ओर फिरते हुए भगवान् कृष्णका मुखकमल कमलकोशके समान पसीनेकी बूँदोंसे युक्त हो गया है" ॥११॥ [इतनेहीमें एक दूसरी नारी बोल उठी—] "अरी सखियो ! क्या तुम श्रीबलरामजी-का अरुणनयनयुक्त मनोहर मुखारविन्द नहीं देखती हो ? देखो, मुष्टिकके ऊपर क्रोधयुक्त होकर भी वह मनोहर हाससे सुशोभित है ॥१२॥ अहो ! यह व्रजभूमि धन्य है जहाँ मनुष्यवेषमें छिपे हुए साक्षात् भगवान् पुराणपुरुष, जिनके चरणोंकी श्रीमहादेव और लक्ष्मीजी भी पूजा करते हैं, विचित्र वनमाला धारण किये बाँसुरी बजाते श्रीबलभद्रजीके साथ गौएँ चराते और नाना प्रकारकी लीलाएँ करते हुए विचरते हैं ॥ १३ ॥

१. क्रोशा । २. बलयोर्युद्धं । ३. भनम् ।

गोप्यस्तपः किमचरन्यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥१४॥
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥१५॥
प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम् ।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ॥१६॥
एवं प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः ।
शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान्भरतर्षभ ॥१७॥
सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रस्नेहशुचातुरौ ।
पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम् ॥१८॥
तैस्तैर्नियुद्धविधिभिर्विविधैरच्युतेतरौ ।
युयुधाते यथान्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ ॥१९॥
भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः ।
चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानिमवाप ह ॥२०॥
स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टीकृत्य करावुभौ ।
भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत ॥२१॥

इन गोपियोंने न जाने क्या तप किया था, जिससे कि ये अपने नेत्रोंद्वारा इनकी नित्यनूतन दुर्लभ रूपमाधुरीका निरन्तर पान करती हैं। भगवान्‌का यह रूप सुन्दरताका सार है, इसके समान अथवा इससे बढ़कर और कोई रूप नहीं है तथा यह स्वयं सिद्ध और यश, श्री एवं ऐश्वर्यका एकमात्र आश्रय है ॥१४॥ सखियो ! ये व्रजाङ्गनाएँ धन्य हैं जो निरन्तर श्रीहरिमें ही चित्त लगा रहनेके कारण गौ दुहना, धान आदि कूटना, दही मथना, लीपना, बालकोंको झूला झुलाना, रोते हुए बालकोंको चुप कराना, और नहलाना-धुलाना तथा घरोंको झाड़ना-बुहारना आदि सभी कामोंको करते समय उन्हींमें तन्मय होकर गद्गद कण्ठसे उनका गुणगान किया करती हैं ॥१५॥ ये कृष्णचन्द्र वनमें गौएँ चरानेके लिये सवेरे ही चले जाते हैं, फिर सायंकालके समय जब ये गौओंको लेकर बाँसुरी बजाते हुए व्रजमें आते हैं उस समय इनकी मुरलीकी मधुर ध्वनि सुनकर जो अबलाएँ तुरन्त ही अपने घरोंसे निकलकर मार्गमें खड़ी हो इनका मधुर मुसकानमय मुख और कृपाकटाक्ष निहारती हैं अवश्य ही उन्होंने पूर्वजन्ममें बड़े पुण्य किये हैं" ॥१६॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जिस समय पुरवासिनी स्त्रियाँ इस प्रकार बातें कर रही थीं उसी समय योगेश्वर भगवान् हरिने शत्रुको मारनेका निश्चय किया ॥१७॥ इधर स्त्रियोंकी भयपूर्ण बातें सुनकर अपने पुत्रोंका बल न जाननेवाले पिता वसुदेव और माता देवकी* पुत्रस्नेहसे व्याकुल होकर अत्यन्त चिन्ताग्रस्त हो गये ॥१८॥ भगवान् कृष्ण और उनका प्रतिद्वन्द्वी चाणूर दोनों ही भिन्न-भिन्न प्रकारके दाव-पेचोंसे आपसमें लड़ रहे थे; इसी प्रकार श्रीबलराम और मुष्टिक भी भिड़े हुए थे ॥१९॥ भगवान्‌के वज्रकूटसदृश कठोर अङ्गोंकी रगड़से चाणूरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले पड़ गये और वह अत्यन्त व्यथित होकर मूर्च्छित होने लगा ॥२०॥ तब उसने अत्यन्त क्रुद्ध हो बाजके समान झपटकर अपने दोनों हाथोंके मुक्के बाँधकर भगवान् वासुदेवकी छातीपर प्रहार किया ॥२१॥

* स्त्रियाँ जहाँ बातें कर रही थीं वहाँसे निकट ही वसुदेव-देवकी कैद थे, अतः वे उनकी बातें सुन सके ।

नाचलत्तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः ।
बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशो भ्रामयन्हरिः ॥२२॥
भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम् ।
विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत् ॥२३॥

किन्तु पुष्पमालासे आहत हुए गजराजके समान उसके प्रहारसे भगवान् जरा भी विचलित न हुए । उन्होंने चाणूरकी दोनों भुजाएँ पकड़ लीं और उसे अन्तरिक्षमें कई बार घुमाकर पृथिवीपर पटक दिया । इससे तुरन्त ही उसके प्राण निकल गये, और उसके वेष-भूषा, केश-कलाप तथा माला आदि अस्तव्यस्त हो जानेके कारण वह इन्द्रकी ध्वजाके समान पृथिवीपर गिरा ॥२२-२३॥

तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै ।
बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम् ॥२४॥
प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन्मुखतोऽर्दितः ।
व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः ॥२५॥
ततः कूटमनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः ।
अवधील्लीलया राजन्सावज्ञं वाममुष्टिना ॥२६॥
तर्ह्येव हि शलः कृष्णपदापहतशीर्षकः ।
द्विधाविदीर्णस्तोशलक उभावपि निपेततुः ॥२७॥
चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते ।
शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥२८॥
गोपान्वयस्यानाकृष्य तैः संसृज्य विजह्रतुः ।
वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रुतनूपुरौ ॥२९॥

इसी प्रकार पहले मुष्टिकके घूँसोंसे आहत होनेपर महाबलवान् श्रीबलभद्रजीने उसके एक तमाचा मारा ॥२४॥ तमाचा लगनेसे वह काँप उठा और आँधीसे उखड़े हुए वृक्षके समान अत्यन्त व्यथित होकर मुखसे रक्तवमन करता प्राणहीन होकर पृथिवीपर गिर पड़ा ॥२५॥ हे राजन् ! तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीबलरामजीने अपने सामने आये हुए कूट-नामक मल्लको लीलासे ही उपेक्षापूर्वक अपने बायें हाथके घूँसेसे मार डाला ॥२६॥ इसी समय शल और तोशल ये दोनों भी भगवान् कृष्णके पाद-प्रहारसे शिर फट जानेके कारण मरकर गिरे ॥२७॥ इस प्रकार चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशलके मारे जाने-पर शेष सब मल्ल अपने-अपने प्राण बचानेकी इच्छासे भाग गये ॥२८॥ मल्लोंके चले जानेपर भगवान् कृष्ण और बलराम अपने समवयस्क गोपोंको अखाड़ेमें खींचकर उनके साथ भिड़ते हुए तथा नाच-नाचकर भेरीके शब्दके साथ अपने चरणनूपुरोंकी ध्वनि मिलाते हुए मल्लक्रीडा करने लगे ॥२९॥

जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः ।
ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधुसाध्विति ॥३०॥
हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट् ।
न्यवारयत्स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह ॥३१॥
निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात् ।
धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम् ॥३२॥

भगवान् राम और कृष्णके इस अद्भुत पराक्रमको देख कंसके सिवा और सब ब्राह्मणादि साधु पुरुष अत्यन्त प्रसन्न हुए और 'धन्य है ! धन्य है' ऐसा कहने लगे ॥३०॥ अपने प्रधान-प्रधान मल्लोंके मारे जानेपर और बचे हुओंके भाग जानेपर भोजराज कंसने भेरी-का शब्द बन्द करा दिया और यह कहा—॥३१॥ "अरे ! वसुदेवके इन दुश्चरित्र बालकोंको नगरसे निकाल दो, गोपोंका सारा धन छीन लो और मन्दमति नन्दको मार डालो ॥ ३२ ॥

१. स्रग्भिर्हत इव ।

वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यतामाश्वसत्तमः ।
उग्रसेनः पिता चापि सानुगः परपक्षगः ॥३३॥

यह वसुदेव बड़ा कुबुद्धि और असाधु है, इसे फौरन मार डालो; तथा मेरा पिता उग्रसेन भी अपने अनुयायियोंके सहित शत्रुपक्षसे मिला हुआ है [उसे भी जीता मत छोड़ो] ॥३३॥

एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः ।
लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत् ॥३४॥
तमाविशन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात् ।
मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी ॥३५॥
तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु
श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे ।
समग्रहीद्दुर्विषहोग्रतेजा
यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य ॥३६॥
प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं
निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात् ।
तस्योपरिष्टात्स्वयमब्जनाभः
पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ॥३७॥
तं सम्परेतं विचकर्ष भूमौ
हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः ।
हाहेति शब्दः सुमहांस्तदाभू-
दुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र ॥३८॥
स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं
पिबन्वदन्वा विचरन्स्वपञ्श्वसन् ।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो यं-
स्तदेव रूपं दुरवापमाप ॥३९॥
तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ कङ्कन्यग्रोधकादयः ।
अभ्यधावन्नभिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः ॥४०॥
तथातिरभसांस्तांस्तु संयत्तान्रोहिणीसुतः ।
अहन्परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः ॥४१॥

कंस इस प्रकार बकवाद कर ही रहा था कि भगवान् कृष्ण अत्यन्त कुपित होकर फुर्तीसे वेगपूर्वक उछलकर उसके ऊँचे मञ्चपर चढ़ गये ॥३४॥ कंस बड़ा धीर-वीर था । उसने अपनी मृत्युरूप भगवान् कृष्णको आये हुए देख सहसा आसनसे उठकर ढाल और तलवार उठा लीं ॥३५॥ हाथमें तलवार लेकर वह प्रहार करनेका अवसर पानेके लिये आकाशमें उड़ते हुए बाजके समान भगवान्‌की दायीं-बायीं ओर घूमने लगा । किन्तु जिनका प्रचण्ड तेज अत्यन्त दुःसह है उन श्रीकृष्णचन्द्रने गरुड़ जैसे सर्पको पकड़ लेते हैं वैसे ही उसे पकड़ लिया ॥३६॥ इससे कंसका मुकुट गिर गया और भगवान्‌ने उसके केश पकड़कर उसे उस ऊँचे मञ्चसे रङ्गभूमिमें गिरा दिया और उसके ऊपर विश्वके आश्रय तथा आत्मतन्त्र भगवान् कमलनाभ स्वयं कूद पड़े ॥३७॥ [इससे उसके प्राण निकल गये] तब भगवान् कंसके मरे हुए शरीरको सब लोगोंके देखते-देखते सिंह जैसे हाथीको खींचता है उसी प्रकार पृथिवीपर घसीटने लगे । हे नरेन्द्र ! उस समय वहाँ बैठे हुए सब लोगोंके मुखसे अत्यन्त घोर हाहाकारका शब्द होने लगा ॥३८॥ कंस अत्यन्त व्यग्रताके साथ खाने-पीने, बातचीत करने, घूमने, सोने और श्वास लेने आदि सभी क्रियाओंके समय निरन्तर भगवान् चक्रधर नारायणको ही अपने नेत्रोंके सामने देखता था; इसलिये अत्यन्त दुष्प्राप्य होनेपर भी उसे उसी रूपकी प्राप्ति हुई ॥३९॥ उसके कङ्क और न्यग्रोध आदि आठ छोटे भाई थे । वे भाईका बदला चुकानेके लिये क्रुद्ध होकर कृष्ण और बलदेवके सामने आये ॥४०॥ किन्तु सिंह जैसे पशुओंको मार डालता है वैसे ही युद्धके लिये उद्यत हो अत्यन्त वेगसे आये हुए उन सबको भगवान् रोहिणीनन्दनने एक परिघ उठा कर मार डाला ॥४१॥

१. यतस्त० ।

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः ।
पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः ॥४२॥
तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः ।
तत्राभीयुर्विनिघ्नत्यः शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः ॥४३॥
शयानान्वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः ।
विलेपुः सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुः शुचः ॥४४॥
हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथवत्सल ।
त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः ॥४५॥
त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ ।
न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला ॥४६॥
अनागसां त्वं भूतानां कृतवान्द्रोहमुल्बणम् ।
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुको लभेत शम् ॥४७॥
सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः ।
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित्सुखमेधते ॥४८॥

श्रीशुक उवाच

राजयोषित आश्वास्य भगवाँल्लोकभावनः ।
यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत् ॥४९॥
मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात् ।
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसास्पृश्य पादयोः ॥५०॥
देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥५१॥

उस समय आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं तथा भगवान्‌के ही विभूतिस्वरूप ब्रह्मा और महादेव आदि देवगण फूलोंकी वर्षा करते हुए प्रेमपूर्वक उनकी प्रशंसा करने लगे और अप्सराएँ नाचने लगीं ॥४२॥ हे महाराज ! फिर, उनकी स्त्रियाँ अपने स्वजनोंकी मृत्युसे दुःखित होकर नेत्रोंसे जल बरसाती हुई और शिर पीटती हुई वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥ वे स्त्रियाँ वीरशय्यापर सोये हुए अपने पतियोंसे लिपटकर अत्यन्त शोकसे आँसू बहाती हुई उच्चस्वरसे इस प्रकार विलाप करने लगीं—॥ ४४ ॥ "हा नाथ ! हा प्रिय ! हा धर्मज्ञ ! हे करुणामय ! हे अनाथवत्सल ! आपके मारे जानेसे घर और सन्तानके सहित हम भी मारी गयीं ॥४५॥ हे नरश्रेष्ठ ! अपने स्वामी आपसे रहित होकर सम्पूर्ण उत्सव और मङ्गलोंसे हीन हुई यह पुरी भी हमारे समान ही शोभारहित हो गयी है ॥४६॥ ओह ! आपने निरपराध प्राणियोंके साथ घोर विद्वेष किया था, इसीसे आपकी यह गति हुई ! सच है, प्राणियोंसे द्रोह करनेवाला कौन पुरुष शान्ति पा सकता है ?॥४७॥ समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और लयके स्थान ये कृष्णचन्द्र ही हैं, तथा ये ही सबकी रक्षा करनेवाले हैं। इनकी अवज्ञा करनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता॥४८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तदनन्तर संसारका पालन करनेवाले भगवान् कृष्णने राजमहिषियोंको ढाँढस बँधाकर मरणको प्राप्त हुए उन कंसादिकी, जो अन्त्येष्टि आदि क्रिया बतलायी गयी है, वह सब करायी ॥४९॥ फिर भगवान् राम और कृष्णने माता-पिताको बन्धनसे छुड़ाकर उनके चरणोंमें शिर रखकर प्रणाम किया ॥५०॥ किन्तु उनके प्रणाम करनेपर भी देवकी और वसुदेवने उन्हें जगदीश्वर समझकर शङ्कितचित्त हो हृदयसे नहीं लगाया [बल्कि हाथ जोड़े खड़े रहे] ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[2] पूर्वार्धे
कंसवधो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४४॥

१. अशङ्कि० । २. न्धे कंस० ।

पैंतालीसवाँ अध्याय

यज्ञोपवीतसंस्कार और विद्याध्ययन।

श्रीशुक उवाच[1]

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः।
मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ॥ १ ॥
उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ॥ २ ॥
नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि।
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन्क्वचित् ॥ ३ ॥
न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम् ॥ ४ ॥
सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥ ५ ॥
यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ॥ ६ ॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः ॥ ७ ॥
तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! भगवान् पुरुषोत्तमने यह देखकर कि हमारे माता-पिताको हमारे पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान हो गया है उनकी बुद्धिपर अपनी जगन्मोहिनी मायाका पर्दा डाल दिया जिससे वह न रहे* ॥ १ ॥ फिर श्रीयदुनाथने बड़े भाई बलरामजीके सहित उनके पास आ उन्हें अति आदर और विनयपूर्वक 'हे माता! हे पिता!' आदि वाक्योंसे प्रसन्न करते हुए कहा—॥ २ ॥ "हे तात! हम आपके पुत्र हैं; आप हमारे लिये निरन्तर उत्कण्ठित रहे हैं; तथापि आपको हमारी बाल्य, पौगण्ड और किशोर अवस्थाओंका सुख नहीं मिल सका ॥३॥ दुर्दैववश हम दोनोंको आपके पास रहनेका सौभाग्य न मिला। इससे हमें भी, बालकोंको माता-पिताके घरमें रहकर उनके लाड़-प्यारका जो आनन्द होता है, वह नहीं प्राप्त हो सका ॥ ४ ॥ जिनसे सम्पूर्ण फलोंका साधनभूत शरीर उत्पन्न होता है और जिनके द्वारा इसका पालन-पोषण होता है उन माता-पितासे मनुष्य सौ वर्षकी आयुतक सेवा करनेसे भी उऋण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ जो माता-पिताके समर्थ पुत्र होकर भी शरीर और धनसे उनकी सेवा नहीं करते उनके मरनेपर यमदूत उन्हें उनके निजी शरीरका मांस खिलाते हैं ॥ ६ ॥ जो पुरुष समर्थ होकर भी माता, पिता, वृद्ध, सती भार्या, बालक सन्तान, गुरु, ब्राह्मण या शरणागतका भरण-पोषण नहीं करता वह जीता हुआ भी मरेके समान है ॥ ७ ॥ हमारे इतने दिन व्यर्थ ही बीत गये, क्योंकि कंसके भयसे निरन्तर उद्विग्न रहनेके कारण हम आपकी सेवा करनेमें समर्थ नहीं हुए ॥ ८ ॥

---

[1] बादरायणिरुवाच।

* भगवान‍्ने सोचा कि तत्त्वज्ञान तो हमारी प्रसन्नतामात्रसे फिर भी प्राप्त हो सकेगा, किन्तु यह परम दुर्लभ पुत्रस्नेह प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है; इसलिये अभी ईश्वरभावकी आवश्यकता नहीं है। यह सोचकर ही उन्होंने अपने प्रति वसुदेव-देवकीका ईश्वरभाव हर लिया।

तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः ।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा ।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ॥१०॥
सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ।
न किञ्चिदूचतू राजन्बाष्पकण्ठौ विमोहितौ ॥११॥
एवमाश्वास्य पितरौ भगवान्देवकीसुतः ।
मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम् ॥१२॥
आह चास्मान्महाराज प्रजाश्चाज्ञप्तुमर्हसि ।
ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥१३॥
मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः ।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः ॥१४॥
सर्वान्स्वाञ्ज्ञातिसंबन्धान्दिग्भ्यः कंसभयाकुलान् ।
यदुवृष्ण्यन्धकमधुदाशार्हकुकुरादिकान् ॥१५॥
सभाजितान्समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान् ।
न्यवासयत्स्वगेहेषु वित्तैः संतर्प्य विश्वकृत् ॥१६॥
कृष्णसंकर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः ।
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामगतज्वराः ॥१७॥
वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम् ।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत्सदयस्मितवीक्षणम् ॥१८॥

अतः हे तात ! और हे मातः ! आप दोनों हमें क्षमा करें । हाय ! दुष्ट कंसने आपको ऐसा कष्ट पहुँचाया परन्तु परतन्त्र होनेके कारण हम आपकी कोई सेवा नहीं कर सके" ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—माया-मानवरूप विश्वात्मा श्रीहरिके ये वचन सुनकर वसुदेव और देवकी मोहित हो गये । उन्होंने कृष्ण और बलदेवको गोदमें उठा लिया और [पुत्रस्नेहके कारण] छातीसे लगाकर वे आनन्दमग्न हो गये ॥ १० ॥ हे राजन् ! स्नेह-पाशसे बँधकर मोहित हुए वसुदेव और देवकी उन्हें आँसुओंकी धाराओंसे भिगोने लगे और उनके कण्ठ रुँध गये, अतः वे कुछ बोल न सके ॥ ११ ॥

इस प्रकार माता-पिताको सान्त्वना दे भगवान् देवकीनन्दनने अपने मातामह (नाना) उग्रसेनको यादवोंका अधिपति बनाया ॥ १२ ॥ और कहा—"महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं, आप हमें यथेच्छ आज्ञा दीजिये । ययातिका शाप होनेके कारण यदुवंशी राजसिंहासनपर नहीं बैठ सकते [आप भी यदुकुलहीमें उत्पन्न हुए हैं, किन्तु मेरी आज्ञा होनेसे आपको कोई दोष नहीं होगा] ॥ १३ ॥ मुझ सेवकके रहते हुए, अन्य राजा लोगोंका तो कहना ही क्या, देवगण भी अति विनीत होकर आपको भेंटें देंगे" ॥१४॥ फिर विश्वकर्ता भगवान् कृष्णने यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुकुर आदि वंशोंमें उत्पन्न हुए अपने समस्त सजातीय सम्बन्धियोंको जो कंसके भयसे दिशा-विदिशाओंमें भग गये थे बुलाया; वे विदेशमें रहनेके कष्टोंसे अति कृश हो गये थे, भगवान्ने उनका सत्कार कर सान्त्वना दी और उन्हें धन आदि-से तृप्त कर अपने-अपने घरोंमें बसाया ॥ १५-१६ ॥ श्रीकृष्ण और बलरामकी भुजाओंसे सुरक्षित यादवगण राम-कृष्णकी कृपासे निर्भय, पूर्णकाम और सफलमनोरथ हो नित्यप्रति श्रीमुकुन्दका सदयहास और कृपाकटाक्ष-से युक्त नित्यप्रसन्न श्रीमुख निहारकर आनन्दित होते हुए अपने-अपने घरोंमें विहार करने लगे ॥१७-१८॥

---

१. किञ्चनोचतू । २. नृपादयः । ३. भयार्दितान् ।

तत्र प्रवयसोऽप्यासन्युवानोऽतिबलौजसः ।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः ॥१९॥

अथ नन्दं समासाद्य भगवान्देवकीसुतः ।
संकर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ॥२०॥

पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम् ।
पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि ॥२१॥

स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् ।
शिशून्बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे ॥२२॥

यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान् ।
ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥२३॥

एवं सान्त्वय्य भगवान्नन्दं सव्रजमच्युतः ।
वासोऽलङ्कारकुप्याद्यैरर्हयामास सादरम् ॥२४॥

इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः ।
पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सह गोपैर्व्रजं ययौ ॥२५॥

अथ शूरसुतो राजन्पुत्रयोः समकारयत् ।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद्द्विजसंस्कृतिम् ॥२६॥

तेभ्योऽदाद्दक्षिणा गावो रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः ।
स्वलङ्कृतेभ्यः संपूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः ॥२७॥

याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः ।
ताश्चाददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः ॥२८॥

अपने नयनोंसे निरन्तर श्रीमुकुन्दका मुखामृत पान करते रहनेके कारण वहाँके वृद्ध पुरुष भी युवकोंके समान अत्यन्त बल और उत्साहयुक्त दीख पड़ते थे ॥ १९ ॥

हे राजेन्द्र ! तदनन्तर भगवान् देवकीनन्दन और बलभद्रजीने नन्दजीके पास आ उनके गले लगकर कहा—॥ २० ॥ "हे पिताजी ! माता यशोदाके सहित आपने हमारा अत्यन्त स्नेहपूर्वक लालन-पालन किया है । इसमें कोई सन्देह नहीं, सन्तानपर माता-पिताओंकी प्रीति अपने शरीरसे भी अधिक होती है ॥ २१ ॥ जिन्हें पालन-पोषणमें असमर्थ होनेके कारण स्वजनोंने त्याग दिया है उन बालकोंको जो पुरुष और स्त्री अपने पुत्रोंके समान पालते हैं वे ही उनके वास्तविक पिता और माता हैं ॥ २२ ॥ पिताजी ! अब आप व्रजको जाइये, हम अपने सुहृदोंको सुखी करके कुछ दिन बाद अपने विरहसे व्याकुल आप स्नेही बन्धुओंसे मिलनेके लिये आवेंगे" ॥ २३ ॥ अन्य व्रजवासियोंके सहित नन्दजीको इस प्रकार समझा-बुझाकर भगवान् कृष्णने वस्त्र-आभूषण और नाना धातुओंके बरतन आदि देकर उनका सादर सत्कार किया ॥ २४ ॥ भगवान्‌के वचन सुनकर नन्दजीने प्रेमाकुल हो दोनों भाइयोंको गले लगा लिया और फिर नेत्रोंमें जल भरकर गोपोंके सहित व्रजको प्रस्थान किया ॥ २५ ॥

हे राजन् ! तदनन्तर शूरनन्दन श्रीवसुदेवजीने अपने पुरोहित तथा अन्य ब्राह्मणोंसे दोनों पुत्रोंका यथाविधि यज्ञोपवीत संस्कार कराया ॥ २६ ॥ उन्होंने विविध प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे ब्राह्मणोंको अलङ्कृत कर उनका पूजन किया और उन्हें गलेमें सोनेकी माला और पीठपर रेशमी झूलोंसे सुसज्जित बहुत-सी बछड़ेवाली गौएँ दक्षिणामें दिये ॥ २७ ॥ महामति वसुदेवजीने कृष्ण और बलरामके जन्मनक्षत्रके समय जितनी गौएँ मनमें सङ्कल्प करके दी थीं और उन्हें कंसने अधर्मपूर्वक हर लिया था, वे सब भी स्मरण करके दीं ॥ २८ ॥

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ ।
गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्गायत्रं व्रतमास्थितौ ॥२९॥
प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ ।
नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः ॥३०॥
अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः ।
काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥३१॥
यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम् ।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ ॥३२॥
तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः ।
प्रोवाच वेदानखिलान्साङ्गोपनिषदो गुरुः ॥३३॥
सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा ।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम्॥३४॥
सर्वं नरवरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ ।
सकृन्निगदमात्रेण तौ संजगृहतुर्नृप ॥३५॥
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः ।
गुरुदक्षिणयाचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ॥३६॥

द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं
संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम् ।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं
बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह ॥३७॥
तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं
प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ ।
वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षणं
सिन्धुर्विदित्वार्हणमाहरत्तयोः ॥३८॥

इस प्रकार यदुकुलके पुरोहित गर्गाचार्यसे संस्कारद्वारा द्विजत्व प्राप्त कर सुव्रत राम और कृष्णने ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया ॥ २९ ॥ भगवान् कृष्ण और बलराम सब विद्याओंके उत्पत्तिस्थान, सर्वज्ञ और जगदीश्वर होकर भी अपने स्वतःसिद्ध ज्ञानको मानवलीलाओंसे छिपाये हुए थे ॥ ३० ॥

फिर गुरुकुलमें रहनेकी इच्छासे दोनों भाई काशीमें उत्पन्न हुए अवन्तीपुरनिवासी सान्दीपनिनामक आचार्यके पास गये ॥ ३१ ॥ गुरुके पास नियमानुसार जाकर इन्द्रियदमनपूर्वक रहते हुए और गुरुसे भी सत्कृत होते हुए वे दोनों भाई लोगोंको उत्तम गुरुसेवाकी शिक्षा देते हुए गुरुकी इष्टदेवके समान भक्तिपूर्वक सेवा करने लगे ॥ ३२ ॥ उनकी निष्कपट सेवासे सन्तुष्ट हो ब्राह्मणश्रेष्ठ गुरुवर सान्दीपनिने उन्हें छहों अङ्ग और उपनिषदोंके सहित सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा दी ॥ ३३ ॥ इनके सिवा रहस्य (मन्त्र और देवताज्ञानके) सहित धनुर्वेद, मनु आदि धर्मशास्त्र, मीमांसा आदि न्यायमार्ग, आन्वीक्षिकी (तर्कविद्या या आत्मविद्या) और सन्धि आदि छः प्रकारकी राजनीतिकी भी शिक्षा दी ॥३४॥ हे राजन् ! सब विद्याओंके प्रवर्तक नरवरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और बलरामने वे विद्याएँ एक बार बतलानेसे ही ग्रहण कर लीं ॥ ३५ ॥ हे नृप ! फिर दोनों भाइयोंने संयतचित्त होकर चौंसठ दिन-रातमें ही चौंसठ कलाएँ सीख लीं । इस प्रकार अध्ययन समाप्त हो जानेपर उन्होंने गुरुसे इच्छानुसार गुरुदक्षिणा माँगनेकी प्रार्थना की ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिक बुद्धि देखकर गुरुजीने अपनी भार्यासे सम्मति कर प्रभास क्षेत्रमें समुद्रमें डूबकर मरे हुए अपने बालकको माँगा ॥ ३७ ॥ तब वे दोनों महापराक्रमी महारथी 'बहुत अच्छा' कह रथपर चढ़ समुद्रतटपर पहुँचे, वहाँ कुछ देर बैठे, इतनेहीमें उन्हें साक्षात् परमेश्वर जान समुद्र बहुत-सी पूजाकी सामग्री लेकर उपस्थित हुआ ॥३८॥

तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम् ।
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा ॥३९॥

उससे भगवान्‌ने कहा—"तुम यहाँ जिसे अपनी महान् तरङ्गोंसे बहा ले गये थे उस हमारे गुरुपुत्रको लाकर हमें तुरन्त दो" ॥ ३९ ॥

समुद्र उवाच

नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् ।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः ॥४०॥
आस्ते तेनाहृतो नूनं तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः ।
जलमाविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ॥४१॥
तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् ।
ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ॥४२॥
गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः ।
शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ॥४३॥
तयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम् ।
उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम् ।
लीलामनुष्य हे विष्णो युवयोः करवाम किम् ॥४४॥

समुद्र बोला—भगवन् ! मैंने उस बालकको नहीं हरा । मेरे जलमें एक शङ्खरूपधारी पञ्चजन-नामक महान् असुर रहता है । अवश्य, उसने ही उसे चुराया है ।—यह सुनकर भगवान् तुरन्त ही जलमें घुस गये और उस दैत्यको मार डाला, किन्तु वह बालक उसके पेटमें न मिला ॥ ४०-४१ ॥ तब उसके शरीरसे प्रकट हुए शङ्खको ले भगवान् रथपर चढ़े और यमराजकी प्रिय नगरी संयमनीमें पहुँचकर उन्होंने बलरामजीके सहित शङ्खनाद किया । प्रजाका संयम करनेवाले यमराजने शङ्खका शब्द सुनकर, अत्यन्त भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की, और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणोंमें रहनेवाले भगवान् कृष्णसे अति विनयपूर्वक कहा—"हे मायामानव श्रीविष्णो ! मैं आप दोनोंकी क्या सेवा करूँ ?" ॥ ४२-४४ ॥

श्रीभगवानुवाच

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् ।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ॥४५॥
तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ ।
दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः ॥४६॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाराज ! हमारे गुरुका पुत्र अपने कर्मसे बद्ध होकर यहाँ लाया गया है, उसे तुम हमारी आज्ञासे ले आओ ॥ ४५ ॥ तब यमराज 'बहुत अच्छा' कह उसे ले आये और उनके दिये हुए उस बालकको यदुश्रेष्ठ कृष्ण और बलरामने गुरुको सौंपकर कहा—"और कोई वर माँगिये" ॥ ४६ ॥

गुरुरुवाच

सम्यक्संपादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः ।
को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ॥४७॥
गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥४८॥
गुरुणैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा ।
आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै ॥४९॥

गुरुजी बोले—बेटा ! तुम दोनों अपनी गुरु-दक्षिणा भली प्रकार दे चुके । जो पुरुष तुम-जैसोंका गुरु है उसकी कौन-सी कामना पूर्ण हुए विना रह सकती है ? ॥ ४७ ॥ हे वीरो ! अब तुम अपने घरको जाओ, तुम्हारा सुयश लोकोंको पवित्र करनेवाला हो और तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या इस लोक और परलोकमें सदा नवीन बनी रहे—कभी विस्मृत न हो ॥ ४८ ॥

हे तात ! गुरुके इस प्रकार आज्ञा देनेपर राम और कृष्ण वायुके समान वेग और मेघके समान शब्द-वाले रथपर चढ़कर अपने नगरमें आये ॥ ४९ ॥

समनन्दन्प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ ।
अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव ॥५०॥

जिन्हें बहुत दिनोंसे नहीं देखा था उन राम और कृष्णको देखकर समस्त प्रजाजन इस प्रकार आनन्दित हुए जैसे किसीको खोया हुआ धन मिल जाय ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गुरुपुत्रानयनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

छियालीसवाँ अध्याय

उद्धवकी व्रजयात्रा ।

श्रीशुक उवाच[1]

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥ १ ॥
तमाह भगवान्प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥ २ ॥
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥ ३ ॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ॥ ४ ॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥५॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वृष्णिवंशी यादवोंमें श्रेष्ठ और साक्षात् बृहस्पतिजीके शिष्य परम बुद्धिमान् उद्धवजी श्रीकृष्णचन्द्रके प्रिय मित्र और मन्त्री थे ॥ १ ॥ एक दिन शरणागतभयहारी श्रीहरिने उन अपने एकमात्र परम प्रिय भक्तका हाथ अपने हाथमें लेकर उससे कहा ॥ २ ॥ सौम्य उद्धव ! तुम व्रजको जाओ और मेरे माता-पिताको आनन्दित करो तथा गोपियोंको जो मेरे वियोगके कारण मानसिक वेदना हो रही है उसे मेरा संदेश सुनाकर शान्त करो ॥ ३ ॥ उनका चित्त हर समय मुझहीमें लगा रहता है, मैं ही उनका प्राण हूँ, मेरे लिये उन्होंने अपने पति-पुत्रादि समस्त सम्बन्धी त्याग दिये हैं; जो लोग मेरे लिये अपने सम्पूर्ण लौकिक और पारलौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं उनका भरण-पोषण मैं स्वयं करता हूँ ॥ ४ ॥ हे प्रिय ! मैं उनका परम प्रियतम हूँ, मेरे दूर चले आनेसे वे गोकुलकी स्त्रियाँ मेरा स्मरण करती हुई विरहव्यथासे विह्वल होकर मोहित हो रही हैं ॥ ५ ॥ [मैंने चलती बार उनसे फिर लौट आनेको कह दिया था] उस प्रत्यागमनके संदेशकी आशासे ही वे मुझमें तन्मय हुई गोपियाँ जैसे-तैसे बड़ी कठिनतासे प्राण धारण करती हैं ॥६॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन्संदेशं भर्तुरादृतः ।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! यह सुन, स्वामीका सन्देश आदरपूर्वक ग्रहणकर श्रीउद्धवजी रथपर सवार हो नन्दजीके गोकुल (नन्दगाँव) को चले ॥ ७ ॥

१. गुरुकुलवृत्तिः पञ्च० । २. बादरायणिरुवाच ।

प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान्निम्लोचति विभावसौ ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥ ८ ॥
वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः ।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान् ॥ ९ ॥
इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥१०॥
गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।
स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥११॥
अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥१२॥
सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम् ॥१३॥

श्रीमान् उद्धवजी सूर्यास्तके समय नन्दजीके व्रजमें पहुँचे । उस समय वनसे व्रजमें आती हुई गौओंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलिसे उनका रथ छिप गया ॥ ८ ॥ वह व्रजभूमि ऋतुमती गौओंके लिये आपसमें लड़ते हुए उन्मत्त साँड़ोंके शब्दसे और थनोंके भारसे दबी हुई अपने बछड़ोंकी ओर दौड़नेवाली धेनुओंसे सुशोभित थी ॥ ९ ॥ इधर-उधर उछलते हुए बहुत-से श्वेत वर्ण बछड़ों तथा गोदोहन और बाँसुरीके शब्दोंसे वहाँकी अपूर्व शोभा थी ॥ १० ॥ श्रीकृष्ण-बलदेवके पवित्र चरित्रोंका गान करती हुई सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित गोपाङ्गनाएँ और गोपगण वहाँकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ११ ॥ अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, पितृगण और देवगणकी पूजासे संबन्ध रखनेवाले धूप, दीप और मालाओंसे सुसज्जित गोपोंके घरोंसे वह भूमि अत्यन्त मनोरम मालूम पड़ती थी ॥१२॥ वहाँ सब ओर पक्षी और भ्रमरगणसे गुञ्जायमान कुसुमित वन हैं और हंसकारण्डवादि पक्षियोंसे युक्त कमलवन वहाँकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥१३॥

तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ॥१४॥
भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् ।
गतश्रमं पर्यपृच्छत्पादसंवाहनादिभिः ॥१५॥
कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः ।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः ॥१६॥
दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ॥१७॥
अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ।
गोपान्व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥१८॥
अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान्सकृदीक्षितुम्[1] ।

हे राजन् ! कृष्णचन्द्रके प्रिय अनुचर उद्धवके वहाँ पहुँचनेपर नन्दजी उनसे मिलकर अति आनन्दित हुए तथा उन्हें गले लगाकर उन्होंने साक्षात् वासुदेव (कृष्ण) बुद्धिसे उनकी पूजा की ॥ १४ ॥ फिर उन्हें उत्तम अन्न भोजन कराया और जब वे सुखपूर्वक शय्यापर बैठ गये तथा पाँव दबानेसे उनकी थकान दूर हो गयी तो नन्दजीने [उनके पास बैठकर] पूछा—॥ १५ ॥ "हे महाभाग उद्धवजी ! क्या हमारे सखा शूरनन्दन वसुदेवजी बन्धनसे मुक्त होकर अब अपने सुहृद्गण और पुत्रादिके सहित कुशलसे हैं ? ॥ १६ ॥ अच्छा हुआ, पापी कंस अपने अनुगामियोंसहित अपने ही पापसे मारा गया; वह धर्मशील और साधुस्वभाव यादवोंसे सदा द्वेष रखता था ॥ १७ ॥ क्या कृष्णचन्द्र कभी हम लोगोंकी, अपनी माताकी, सुहृदोंकी, सखाओंकी, गोपोंकी, अपने ही आश्रित रहनेवाले व्रजकी, गौओंकी, वृन्दावनकी और गोवर्धन पर्वतकी भी याद करते हैं ? ॥ १८ ॥ क्या श्रीगोविन्द एक बार अपने आत्मीयोंको देखनेके लिये यहाँ आयेंगे ।

---

१. स्वजनं चात्र वीक्षितुम् ।

तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥१९॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः ।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥२०॥
स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम् ।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ।२१।
सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान् ।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥२२॥
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ॥२३॥
कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा ।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ॥२४॥
तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् ।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम् ॥२५॥
प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः ।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया ॥२६॥

हम तो तभी उनका सुन्दर नासिका और मनोहर मुसकानमयी चितवनसे युक्त मुखमण्डल निहार सकेंगे ॥ १९ ॥ महात्मा कृष्णने दावानल, बवण्डर, वर्षा, वृषासुर और सर्परूप अघासुर आदि अनेकों दुस्तर मृत्युओंसे हमारी रक्षा की थी ! ॥ २० ॥ हे तात ! प्यारे कृष्णके विचित्र चरित्र, लीलाकटाक्षमयी चितवन, मनोहर हास्य और बातचीत याद आनेपर हमारी सारी क्रियाएँ शिथिल हो जाती हैं ॥ २१ ॥ कृष्णके चरण-चिह्नोंसे विभूषित नदी, पर्वत और वनोंको तथा उनके क्रीडास्थानोंको देखनेसे हमारा चित्त कृष्णमय हो जाता है ॥ २२ ॥ मैं तो गर्गजीके कथनानुसार यही समझता हूँ कि बलराम और कृष्ण कोई देवश्रेष्ठ हैं और इन्होंने देवताओंका कोई महान् कार्य करनेके लिये ही पृथिवीपर अवतार लिया है ॥ २३ ॥ अहो ! सिंह जैसे पशुओंको मार डालता है वैसे ही उन्होंने दश सहस्र हाथियोंके बलवाले कंस, दोनों मल्लों और कुवलयापीड गजको लीलाहीसे मार डाला ॥२४॥ उन्होंने तीन ताल (दो सौ हाथ) लम्बे और अत्यन्त दृढ़ धनुषको इस प्रकार तोड़ डाला जैसे हाथी किसी छड़ीको तोड़ डाले और सात दिनतक एक ही हाथ-पर गिरिराजको उठाये रहे ! ॥ २५ ॥ तथा जिन्होंने देवता और असुर सभीको जीत लिया था उन प्रलम्बासुर, धेनुकासुर, अरिष्टासुर, तृणावर्त और बकासुर आदि दैत्योंको यहाँ लीलाहीसे मार डाला" ॥ २६ ॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥२७॥
यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।
शृण्वत्यश्रूण्यवास्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा ॥२८॥
तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥२९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कृष्णमें जिनका चित्त अत्यन्त अनुरक्त है वे नन्दजी उनका इस प्रकार बारम्बार स्मरण कर प्रेमके प्रसारसे विह्वल हो अति उत्कण्ठावश चुप रह गये ॥ २७ ॥ पुत्रके चरित्रोंका वर्णन सुन माता यशोदाके नेत्रोंमें जल भर आया और स्नेहवश उनके स्तनोंसे दूध झरने लगा ॥ २८ ॥ नन्द और यशोदाका भगवान् कृष्णमें ऐसा गूढ़ अनुराग देख उद्धवजी अति प्रसन्न होकर नन्दजीसे कहने लगे ॥ २९ ॥

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।

उद्धवजी बोले—हे मानद ! इसमें सन्देह नहीं, आप दोनों स्त्री-पुरुष सम्पूर्ण देहधारियोंमें अत्यन्त

नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥३०॥

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी
रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य
ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥३१॥

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥३२॥

तस्मिन्भवन्तावखिलात्महेतौ
नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्
किंवावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥३३॥

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान्सात्वतां पतिः ॥३४॥

हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥३५॥

मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥३६॥

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः ।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा ॥३७॥

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥३८॥

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥३९॥

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥४०॥

प्रशंसनीय हैं; क्योंकि जगद्गुरु श्रीनारायणमें आपने इस प्रकार अपनी बुद्धि लगा दी है ॥ ३० ॥ ये राम और कृष्ण ही प्रधान और पुरुषरूपसे सम्पूर्ण जगत्के मूल कारण हैं। ये ही पुराणपुरुषरूपसे समस्त प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट होकर उनकी भिन्न-भिन्न उपाधियोंका और ज्ञानस्वरूप जीवका नियमन करते हैं ॥ ३१ ॥ इन्हींमें प्राणान्तके समय एक क्षणभर भी अपना विशुद्ध चित्त लगानेसे जीव कर्मवासनाओंको छोड़कर ब्रह्ममय और सूर्यके समान तेजस्वी रूप धारणकर परम गति प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥ हे महात्मन् ! उन सबके आत्मा कारण और पृथिवीका भार उतारनेके लिये मनुष्यरूप धारण करनेवाले श्रीनारायणमें आप ऐसा सुदृढ़ अनुराग रखते हैं ! फिर आपके लिये और कौन शुभकर्म करना शेष रह जाता है ? ॥३३॥ यादवोंके प्रभु भगवान् अच्युत कुछ ही समय पश्चात् व्रजमें आयेंगे और अपने माता-पिताको प्रसन्न करेंगे ॥ ३४ ॥ सम्पूर्ण यादवोंके शत्रु कंसको रङ्गभूमिमें मारनेके पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रने आपके पास आकर जो कुछ कहा था वह सब सत्य करेंगे ॥ ३५ ॥ हे महाभागगण ! आप शोक न करें, आप श्रीकृष्ण-चन्द्रको शीघ्र ही अपने पास देखेंगे । ईंधनमें व्याप्त अग्निके समान वे सभी प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें स्थित हैं ॥ ३६ ॥ भगवान् मानरहित हैं, उनका कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है; वे समदर्शी हैं, इसलिये उनकी दृष्टिमें कोई उत्तम, अधम या असम भी नहीं है ॥ ३७ ॥ उनका न कोई माता है, न पिता है, न स्त्री है, न पुत्रादि हैं, न अपना है, न पराया है और न देह या उसका जन्म है ॥३८॥ इस लोकमें उनको कोई कर्म नहीं करना है तथापि साधुओंकी रक्षा और केवल क्रीडा करनेके लिये ही वे उत्तम (देवादि सात्त्विक), अधम (मत्स्यादि तामस) और मिश्र (मनुष्यादि राजस) योनियोंमें शरीर धारण करते हैं ॥ ३९ ॥ वे अजन्मा भगवान् वस्तुतः गुणरहित हैं तथापि केवल लीलाके लिये सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंको स्वीकार करते हैं तथा गुणातीत होकर भी वे मायाके गुणोंसे संसारकी रचना, पालन और संहार किया करते हैं ॥ ४० ॥

यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ॥४१॥
युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥४२॥
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्य-
त्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥४३॥
एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता
नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपा-
न्वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ॥४४॥
ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू
रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डल-
त्विषत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥४५॥
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं
व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो
निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥४६॥
भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः ।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥४७॥
अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥४८॥
किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् ।
इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ॥४९॥

जैसे वेगपूर्वक चक्कर लगानेवाले पुरुषोंकी दृष्टिसे पृथिवी घूमती-सी प्रतीत होती है वैसे ही चित्तके कर्ता होनेपर भी अहंबुद्धिके कारण आत्मा ही कर्ता मालूम होता है ॥४१॥ ये भगवान् हरि अकेले तुम दोनोंहीके पुत्र नहीं हैं ये तो सभीके पुत्र, आत्मा, पिता, माता और ईश्वर हैं ॥ ४२ ॥ ऐसी कोई देखी, सुनी, भूत, भविष्यत्, स्थावर, जङ्गम, महान् या अल्प वस्तु नहीं है जो श्रीअच्युतसे पृथक् हो । श्रीअच्युतके सिवा 'वस्तु' कहलानेयोग्य ही कुछ नहीं है; एकमात्र वही परमार्थ वस्तु है ॥ ४३ ॥

हे राजन् ! कृष्णानुचर उद्धव और नन्दजीके इस प्रकार बात करते-करते वह रात्रि बीत गयी। कुछ रात्रि रहनेपर गोपियाँ उठीं और दीपक जलाकर घरकी देहलियोंपर वास्तुदेवका पूजनकर दही मँथने लगीं ॥ ४४ ॥ तब जिनके रस्सी खींचते हुए हाथोंमें कङ्कण-वलय सुशोभित हैं, जिनके नितम्ब, स्तन और हार हिल रहे हैं तथा हिलते हुए कुण्डलोंकी कान्ति पड़नेसे जिनके कुङ्कुममण्डित कपोल कुछ अरुणवर्ण हो रहे हैं वे गोपाङ्गनाएँ दीपककी दीप्तिसे दमकती हुई आभूषणोंकी मणियोंके कारण अत्यन्त शोभायमान प्रतीत होती थीं ॥ ४५ ॥ उस समय श्रीकमलनयन भगवान्के पवित्र चरित्रको, जिससे सम्पूर्ण दिशाओंके पाप दूर हो जाते हैं, उच्चस्वरसे गाती हुई व्रजबालाओंकी ध्वनि दही मँथनेके शब्दसे मिलकर स्वर्गलोकतक जा पहुँची ॥ ४६ ॥

भगवान् सूर्यका उदय होनेपर व्रजवासिनी गोपियाँ नन्दजीके द्वारपर एक सुवर्णमय रथ खड़ा देख आपसमें कहने लगीं—'यह किसका रथ है ? ॥४७॥ क्या कंसका कार्य सिद्ध करनेवाला अक्रूर ही तो फिर नहीं आया है जो पहले कमलनयन प्यारे कृष्णको मथुरा ले गया था ? ॥ ४८ ॥ क्या अब हमें ले जाकर हमारे मांससे अपने मरे हुए स्वामीका और्ध्वदैहिक कर्म (पिण्डदानादि) करेगा ?' जिस समय व्रजकी स्त्रियाँ इस प्रकार बातें कर रही थीं उसी समय उद्धवजी नित्यकर्मसे निवृत्त होकर आ गये ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नन्दशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

१. मात्मभूतः । २. तत्र । ३. उद्धवयानं ।

सैंतालीसवाँ अध्याय

उद्धव और गोपिकाओंकी बातचीत तथा भ्रमरगीत।

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः

प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्।

पीताम्बरं पुष्करमालिनं लस-

न्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम्॥ १॥

शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः[1]

कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः।

इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुका-

स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम्॥ २॥

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं

सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।

रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने

विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः॥ ३॥

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।

भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षया॥ ४॥

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।

स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः॥ ५॥

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।

पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनःस्विव षट्पदैः॥ ६॥

निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! नवीन कमलके समान नेत्रवाले पीताम्बरधारी कमलकुसुमकी माला धारण किये तथा मणिजटित कुण्डल पहने जिनका मुख देदीप्यमान हो रहा है उन आजानुबाहु कृष्णानुचर उद्धवजीको देखकर सुन्दर मुसकानवाली व्रजबालाएँ 'यह देखनेमें परम सुन्दर और श्रीकृष्णचन्द्रके समान ही वेष-भूषासे युक्त पुरुष कौन है? कहाँसे आया है? किसका दूत है?' यह जाननेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठावश पवित्रकीर्ति श्रीहरिके चरणकमलोंके आश्रित रहनेवाले उद्धवजीको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं॥ १-२॥ जब उन्हें विदित हुआ कि वे श्रीलक्ष्मीपतिका सन्देश लेकर आये हैं तो उन्होंने अत्यन्त विनयावनत होकर उनका लजीली मुसकानमयी चितवन और सुमधुर वाणीसे भली प्रकार सत्कार किया और उन्हें एकान्तमें आसनपर बैठाकर पूछा—॥ ३॥ "हम जानती हैं आप यहाँ श्रीयदुनाथके दूत बनकर आये हैं; आपके स्वामीने अपने माता-पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे ही आपको यहाँ भेजा है॥ ४॥ नहीं तो, इस गोकुलमें और तो कोई ऐसा दिखलायी नहीं देता जिसकी उन्हें याद आवे। हाँ, अपने स्वजनोंका स्नेहबन्धन काटना तो मुनियोंके लिये भी अत्यन्त कठिन है [इसलिये माता-पिताकी याद तो उन्हें भी अवश्य आती होगी]॥ ५॥ स्वजनोंके सिवा औरोंके साथ तो किसी-न-किसी प्रयोजनसे ही प्रेम किया जाता है, जबतक प्रयोजन रहता है तबतक स्नेहका भी स्वाँग किया जाता है [काम निकलनेके साथ ही प्रेमका भी अन्त हो जाता है]। पुरुषोंका स्त्रियोंमें और भ्रमरोंका पुष्पोंमें ऐसा ही प्रेम होता है॥ ६॥ [संसारमें ऐसी प्रीति ही अधिक देखी जाती है] देखो, वेश्या अपने धनहीन प्रेमीको छोड़ देती है, असमर्थ राजाको

[1] १. मपूर्वदर्श०।

अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥ ७ ॥

खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् ।

दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥ ८ ॥

प्रजा त्याग देती है, विद्या समाप्त कर लेनेपर शिष्यगण गुरुको छोड़ देते हैं, दक्षिणा पानेपर ऋत्विग्गण यजमानको छोड़कर चले जाते हैं ॥ ७ ॥ फल समाप्त हो जानेपर पक्षीगण वृक्षको त्याग देते हैं, भोजन कर चुकनेपर अतिथिगण उस घरको छोड़कर चले जाते हैं, आग लगनेपर मृगगण वनको छोड़कर भाग जाते हैं और जार पुरुष भोग चुकनेपर अतृप्त एवं अनुरागिणी स्त्रीको छोड़ देते हैं" ॥ ८ ॥

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः ।

कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥ ९ ॥

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः ।

तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥१०॥

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ।

प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥११॥

इस प्रकार जिनके मन, वाणी और शरीर सदा श्रीगोविन्दमें ही लगे रहते थे वे गोपाङ्गनाएँ कृष्णके दूत श्रीउद्धवजीके व्रजमें आनेपर अपने सब लौकिक कार्योंको छोड़कर उन्हींकी चर्चामें लग गयीं ॥ ९ ॥ प्यारे कृष्णकी किशोर और बाल्य अवस्थाओंके कर्मोंको बारम्बार यादकर उन्हींका गान करती हुई वे लज्जा छोड़कर रोने लगीं ॥ १० ॥ उनमेंसे एक गोपी कृष्ण-समागमका स्मरण कर रही थी । इतनेमें उसे एक भौंरा दिखलायी दिया । उसे अपने प्रियतमका भेजा हुआ दूत बनाकर वह इस प्रकार कहने लगी ॥ ११ ॥

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः

कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।

वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं

यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ।१२।

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा

सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक् ।

परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा

ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥१३॥

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-

मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।

गोपी बोली—रे धूर्तके बन्धु भ्रमर ! तेरी मूछें सौतके स्तनोंपर पड़ी हुई मालामें लगे हुए कुङ्कुमसे लिप्त हैं, उनसे तू हमारे चरणोंको मत छू, ऐसा क्षणिक प्रेम करनेवाला तू जिनका दूत है वे मधुपति श्रीकृष्ण अपनी मानिनी कामिनियोंका यह प्रसाद, जो यादवोंकी सभामें उपहासके योग्य है, अपने ही पास रखें ॥१२॥ वे भी तेरे-जैसे ही हैं, क्योंकि उन्होंने हमें एक बार ही अपना मादक अधरामृत पिलाकर तुरन्त उसी प्रकार छोड़ दिया है जैसे तू फूलोंको छोड़ देता है । न जाने चञ्चला लक्ष्मी किस प्रकार उनके चरण-कमलोंकी सेवा करती है ? सम्भवतः पुण्यकीर्ति भगवान्की चटकीली बातोंने उसका चित्त चुरा लिया है ॥ १३ ॥ अरे भौंरे ! तू हम वनवासिनियोंके सामने बारम्बार पुराणपुरुष यदुनाथ कृष्णकी कीर्ति क्यों गाता है ? [हम उन्हें अच्छी तरह जानती हैं, हमें उनका सुयश सुनानेसे तू किसी प्रकारके पारितोषिककी

१. ह्युत्तम० ।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः

क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥१४॥

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः

कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।

चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का

अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥१५॥

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-

रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।

स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका

व्यसृजदकृतचेता किं नु सन्धेयमस्मिन् ॥१६॥

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा

स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।

बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्य-

स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥१७॥

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-

सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना

बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥१८॥

आशा मत रख] तू इस कीर्तिकथाको पार्थसखा (श्रीकृष्णचन्द्र) की [मथुरावासिनी] नयी प्रियाओंको जाकर सुना । कृष्णके दर्शनोंसे जिनके हृदयका रोग शान्त हो गया है वे ही इस चाटुकारीसे प्रसन्न होकर तेरी इच्छा पूर्ण करेंगी ॥१४॥ [यदि तू कहे कि 'ऐसा मत कहो, कृष्णने मुझे तुम्हें मनानेके लिये ही भेजा है' तो यह बात माननेयोग्य नहीं है, क्योंकि] स्वर्ग, पृथिवी और पातालमें ऐसी कौन-सी स्त्री है जो उस कपटभरी मनोहर मुसकान और वक्रभृकुटि-विलासवाले श्यामसुन्दरको प्राप्त न हो सके । साक्षात् लक्ष्मीजी भी जिनकी चरणरजका सेवन करती हैं उनके लिये हम गँवारी ग्वालिनियाँ क्या चीज हैं ? किन्तु [उनसे एक बात कहना कि आपका] यह 'उत्तमश्लोक' नाम तो दीनोंपर दया करनेसे ही सार्थक होगा ॥ १५ ॥ [फिर उसे अपने चरणोंके निकट गुनगुनाते देख यह समझकर कि वह क्षमा कराना चाहता है गोपी कहने लगी—] अरे ! तू मेरे चरणों-परसे अपना शिर हटा ले; मैं जानती हूँ तू कृष्णसे सीखकर आया है, और अपने दूतकर्मसे तथा चिकनी-चुपड़ी बातों-से अनुनय-विनय करनेमें बड़ा निपुण है । किन्तु जिस अकृतज्ञने अपने ही लिये पुत्र, पति और समस्त लोकको त्यागनेवाली हम अबलाओंको इस प्रकार त्याग दिया क्या उसका फिर भी विश्वास किया जा सकता है ? ॥ १६ ॥ देख, वे बड़े ही क्रूर हैं । उन्होंने रामावतारमें व्याधके समान क्रूर होकर निरपराध बालीको मार डाला, शूर्पणखा कामवश होकर उनके पास आयी थी किन्तु उन्होंने स्त्रीके वशीभूत होकर उस अबलाको [नाक-कान काटकर] विरूप कर दिया । इसी प्रकार वामनावतारमें कौएके समान कुटिल होकर बलिकी पूजा ग्रहण करके भी उसे वरुणपाशसे बाँधा । अतः हम तो इस काले कृष्णकी मित्रतासे भर पायीं, तथापि हमसे उसकी चर्चा छूटना महाकठिन है ॥१७॥ क्योंकि कानोंको अमृतके समान मधुर प्रतीत होनेवाली उनकी लीलाओंके तो एक कणका भी एक बार आस्वादन करनेसे बहुतसे धीर पुरुष राग-द्वेषादि समस्त द्वन्द्वोंसे छूट दीनतामय घर और कुटुम्बको तुरन्त ही त्याग निष्किञ्चन होकर पक्षियोंके समान भिक्षावृत्तिसे रहने लगते हैं ॥ १८ ॥

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन्भण्यतामन्यवार्ता ॥१९॥

जैसे काले मृगकी पत्नी अबोध मृगियाँ व्याधके शब्दका विश्वास करनेसे मारी जाती एवं महान् कष्ट भोगती हैं वैसे ही उन कृष्णकी कपटभरी बातोंपर सत्यके समान विश्वास कर हम भी बारम्बार उनके नखस्पर्शसे होनेवाली कामव्यथाका अनुभव कर चुकी हैं; अतः हे दूत ! अब कोई और बात सुनाओ ॥१९॥

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥२०॥

[वह भौंरा कुछ दूर जाकर फिर लौट आया—यह देखकर कहने लगी—] हे प्रियके सखा ! तुम फिर लौट आये; क्या तुम्हें हमारे प्रियतमने ही भेजा है ? हे तात ! तुम हमारे माननीय हो; कहो, तुम्हारी क्या इच्छा है ? जिनका संग छोड़ना अत्यन्त कठिन है उन कृष्णचन्द्रके पास तुम हमें कैसे ले चलोगे ? क्योंकि' हे सौम्य ! उनके वक्षःस्थलमें तो निरन्तर लक्ष्मीनामक नववधू विराजमान रहती है ॥२०॥

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान्सौम्य बन्धूंश्च गोपान् ।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥२१॥

हे सौम्य ! क्या आर्यपुत्र कृष्णचन्द्र [गुरुकुलसे आकर] इस समय मथुरामें विराजमान हैं ? क्या वे अपने पिता (नन्दजी) के घर और गोपबन्धुओंकी कभी याद करते हैं ? कभी हम दासियोंकी भी कोई बात चलाते हैं ? अहो वे अगुरुकी सुगन्धसे युक्त अपनी भुजाको हमारे मस्तकोंपर कब रखेंगे ? ॥२१॥

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।
सान्त्वयन्प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत ॥२२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कृष्णदर्शनके लिये तड़पती हुई उन गोपियोंके ऐसे वचन सुनकर श्रीउद्धवने उन्हें प्यारेके सन्देशसे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा ॥२२॥

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥२३॥
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥२४॥
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥२५॥
दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च ।
हित्वावृणीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥२६॥

उद्धवजी बोले— गोपियो ! तुम कृतार्थ हो । तुम संसारकी पूजनीया हो; क्योंकि भगवान् वासुदेवमें तुम्हारा चित्त इस प्रकार लगा हुआ है ॥ २३ ॥ दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और इन्द्रियदमन तथा दूसरे अनेक कल्याणकारक कर्मोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्ति ही सिद्ध की जाती है ॥ २४ ॥ किन्तु तुमने तो सौभाग्यवश वही, मुनिजनोंके लिये भी परम दुर्लभ, पवित्रकीर्ति भगवान् कृष्णकी उत्तम प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त करके उसका प्रचार किया है ॥ २५ ॥ तुमने अपने पुत्र, पति, देह, स्वजन और घरोंको छोड़कर परमपुरुष भगवान् कृष्णको वरण किया है, यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है ॥ २६ ॥

सर्वात्मभावोऽधिगतो भवतीनामधोक्षजे ।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥२७॥
श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः ।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः ॥२८॥

हे महाभागाओ ! श्रीकृष्णचन्द्रके वियोगसे तुमने उनकी ऐकान्तिक भक्ति प्राप्त की है । उसे दिखाकर तुमने मुझपर भी भारी अनुग्रह किया है ॥ २७ ॥ हे कल्याणियो ! मैं स्वामीका गुप्त कार्य करनेवाला हूँ । मैं उनका कुछ सन्देश लेकर आया हूँ, तुम अपने प्रियतमके उस परमानन्ददायक सन्देशको सुनो ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ।
तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः ॥२९॥
आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥३०॥
आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥३१॥
येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥३२॥
एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥३३॥
यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥३४॥
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।
स्त्रीणां च न तथा चेतः[1] सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥३५॥

भगवान्ने कहा—मैं सबका आत्मा हूँ, इसलिये मुझसे तुम्हारा वियोग कभी नहीं हो सकता । जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँचों भूत सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त हैं उसी प्रकार मैं भी मन, प्राण, भूत, इन्द्रिय और गुणोंके आश्रयरूपसे सर्वत्र व्याप्त हूँ ॥ २९ ॥ अपनी मायाके प्रभावसे मैं ही भूत, इन्द्रिय और गुणरूप होकर अपनेमें अपनेद्वारा आपहीको रचता, पालता और लीन करता हूँ ॥ ३० ॥ आत्मा माया और मायाके कार्योंसे पृथक् है । वह ज्ञानस्वरूप, शुद्ध और गुणातीत है । सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्‌रूप मायाकी वृत्तियोंसे ही वह प्राज्ञ, तैजस और विश्वरूपसे प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥ मनुष्यको चाहिये कि स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थोंकी भाँति मिथ्या ही प्रतीत होनेवाले इन्द्रियोंके विषयोंका जिस मनके द्वारा चिन्तन करता है उसे इन्द्रियों-सहित रोके और सोकर उठे हुए मनुष्यकी भाँति अज्ञाननिद्रासे रहित होकर मेरा साक्षात्कार करे ॥३२॥ जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्रमें ही जाकर मिलती हैं उसी प्रकार मनस्वी पुरुषोंका वेदाभ्यास, योग, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तप, दम और सत्य आदि समस्त धर्म मेरी प्राप्तिमें ही समाप्त होते हैं ॥३३॥ मैं जो तुम्हारे नयनोंका तारा होकर भी तुमसे इतनी दूर रहता हूँ उसका यही कारण है कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान करो—[शरीर दूर रहनेपर भी] तुम्हारा चित्त सदा मेरे ही पास रहे ॥३४॥ क्योंकि स्त्रियोंका और अन्यान्य प्रेमियोंका चित्त जैसा विदेशमें दूर गये हुए प्रियतममें निश्चलभावसे लगा रहता है वैसा आँखोंके सामने पास ही रहनेपर नहीं लगता ॥३५॥

१. चित्तं ।

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।

अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥३६॥

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः ।

अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥३७॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः ।

ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥३८॥

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।

दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना॥३९॥

कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।

प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥४०॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ।

नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः ॥ ४१ ॥

अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ।

गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे ॥४२॥

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-

र्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।

इस प्रकार जिसकी अन्य सब संकल्प-विकल्पादिरूप वृत्तियाँ शान्त हो गयी हैं उस अपने चित्तको पूर्णतया मुझहीमें लगाकर तुम सबलोग निरन्तर मेरा ही स्मरण करती हुई शीघ्र ही मुझे पा लोगी ॥३६॥ हे कल्याणियो ! देखो, जिस समय मैंने वृन्दावनमें रात्रिके समय रासक्रीडा की थी उस समय जो गोपियाँ, स्वजनोंके रोक लेनेसे मेरे साथ रासविहारमें सम्मिलित नहीं हो सकीं, वे मेरी लीलाओंका स्मरण करनेसे ही मुझे प्राप्त हो गयी थीं ॥३७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! प्रियतमका यह सन्देश सुनकर उन व्रजबालाओंको अति आनन्द हुआ। प्यारेके सन्देशसे उन्हें उनका स्मरण हो आया और वे उद्धवजीसे इस प्रकार कहने लगीं॥३८॥

गोपियोंने कहा—उद्धवजी ! बड़े आनन्दकी बात है कि यादवोंको दुःख देनेवाला दुष्ट कंस अपने साथियोंके सहित मारा गया और अब कृष्णचन्द्र सब प्रकार धन-धान्यसे पूर्ण अपने कुटुम्बियोंके साथ कुशलसे हैं, यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३९ ॥ किन्तु हे सौम्य ! यह तो बताओ कि जिस प्रकार प्यारे श्यामसुन्दर हमारी स्नेहयुक्त लजीली मुसकान तथा मनोहर चितवनसे पूजित होकर हमसे प्रेम करते थे उसी प्रकार अब मथुरापुरीकी स्त्रियोंसे करते हैं या नहीं ? ॥ ४० ॥ कृष्णचन्द्र अत्यन्त रतिचतुर हैं और सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ उन्हें प्यार करती हैं फिर मथुरापुरीकी भद्र महिलाओंके वाग्विलास और केलि-कलापोंसे सम्मानित होकर वे उनमें क्यों न आसक्त होंगे ? ॥ ४१ ॥ जो हो, हमें इससे क्या ? किन्तु हे साधो ! यह तो बताओ, जब कभी पुरनारियोंकी सभामें कोई बात चलती है तो अपने स्वच्छन्द वार्तालापमें श्रीगोविन्द कभी हम गँवारी ग्वालिनियोंका भी स्मरण करते हैं ? ॥ ४२ ॥ जिस समय कुमुद और कुन्द-कुसुमसे शोभित तथा चन्द्रिकाचर्चित वृन्दावनमें उन्होंने रासमण्डल बनाकर हम अपनी प्रियाओंके साथ चरणनूपुरोंकी ध्वनि करते हुए रमण किया था

१. कृष्णे ।

रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-

मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित्॥४३॥

अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा।

सञ्जीवयन्नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः॥४४॥

कस्मात्कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः।

नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः॥४५॥

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः।

श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः॥४६॥

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह[1] पिङ्गला।

तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया॥४७॥

क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम्।

अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्॥४८॥

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे।

सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो॥४९॥

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।

श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः॥५०॥

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः।

माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं[2] विस्मरामहे॥५१॥

हे नाथ[3] हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।

मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥५२॥

और हम सब उन्हींकी मनोमोहिनी कथाओंका गान करती थीं; क्या उन रात्रियोंको भी वे कभी याद करते हैं ? ॥ ४३ ॥ हे उद्धव ! हम सब तो उन्हींके विरहानलमें तप रही हैं ? इन्द्रदेव जैसे जल बरसाकर वनको हरा-भरा कर देते हैं वैसे ही अपने करस्पर्श आदिसे हमें जीवनदान देनेके लिये श्रीकृष्ण-चन्द्र कभी यहाँ आवेंगे क्या ? ॥ ४४ ॥ [तब एक और गोपी बोली—] अरी सखी ! अब उन्होंने शत्रुको मारकर राज पाया है, वे राजकन्याओंके साथ विवाहकर अपने स्वजनोंके साथ सुखपूर्वक रहेंगे। [इन सब भोगोंको छोड़कर] वे यहाँ क्यों आने लगे ? ॥ ४५ ॥ [यह सुनकर दूसरीने कहा—] नहीं, कृष्णचन्द्र साक्षात् लक्ष्मीपति हैं। वे पूर्णकाम और कृतकृत्य हैं। हम वनवासिनी ग्वालिनियों अथवा दूसरी राजकन्या आदिसे उनको क्या प्रयोजन है ? ॥ ४६ ॥ कामचारिणी (वेश्या) पिङ्गलाने भी कहा था कि 'संसारमें किसीकी आशा न करना ही परम सुख है' हम यह बात जानती हैं फिर भी कृष्णचन्द्रकी आशाका त्यागना तो हमारे लिये अत्यन्त कठिन है ॥ ४७ ॥ पुण्यकीर्ति श्रीहरिकी एकान्त चर्चाको त्यागनेका साहस कौन कर सकता है ? देखो, भगवान्‌की इच्छा न होनेपर भी लक्ष्मी कभी उनका अङ्ग-सङ्ग नहीं छोड़ती ॥ ४८ ॥ हे प्रभो ! बलरामजीके सहित श्रीकृष्णचन्द्रद्वारा सेवित ये नदी, पर्वत, वन और गौएँ तथा वंशीकी ध्वनि हमें बार-बार नन्दनन्दनका स्मरण करा देते हैं। [यहाँकी भूमिपर विद्यमान] उनके श्रीनिकेतन चरणचिह्नोंके कारण हम उन्हें किसी प्रकार नहीं भुला सकतीं ॥ ४९-५० ॥ उनकी सुललित गति, उदार हँसी, विचित्र लीला, बाँकी चितवन और मधुर वाणीने हमारे चित्तोंको चुरा लिया है; हम उन्हें किस प्रकार भूलें ? ॥ ५१ ॥ हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे आर्तिभञ्जन ! हे गोविन्द ! आपका गोकुल दुःखसमुद्रमें डूब रहा है, इसका उद्धार कीजिये ॥ ५२ ॥

१. रिणी प्राह। २. तद्वि०। ३. कृष्ण।

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥५३॥
उवास कतिचिन्मासान्गोपीनां विनुदञ्छुचः ।
कृष्णलीलाकथां गायन्रमयामास गोकुलम् ॥५४॥
यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत्स उद्धवः ।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया ॥५५॥
सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान् ।
कृष्णं संस्मारयन्रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥५६॥
दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् ।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥५७॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥५८॥
क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥५९॥
नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजवल्लवीनाम् ॥६०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महाराज ! कृष्णचन्द्रका सन्देश सुनकर गोपियोंका विरहताप शान्त हो गया । उन्होंने भगवान्‌को इन्द्रियोंसे अतीत सबका आत्मा जानकर श्रीउद्धवजीका भली प्रकार सत्कार किया ॥ ५३ ॥ उद्धवजी गोपियोंकी विरहव्यथा शान्त करते हुए कुछ मास व्रजमें रहे और श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाकथाएँ कह-कहकर व्रजवासियोंका मनोरञ्जन करते रहे ॥ ५४ ॥ उद्धवजी जितने दिन नन्दजीके गोकुल (नन्दगाँव) में रहे उतना समय व्रजवासियोंको कृष्णचर्चाके कारण एक क्षणके समान मालूम हुआ ॥ ५५ ॥ भक्तप्रवर उद्धवजी व्रजके नदी, वन, पर्वत, कन्दरा और फूले हुए वृक्षोंको निहारते तथा व्रजवासियोंको श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण कराते वहाँ आनन्दपूर्वक रहे ॥ ५६ ॥

कृष्णप्रेमके कारण गोपियोंके चित्तकी ऐसी विकलता देख उद्धवजी अत्यन्त आनन्दित हुए और उन्हें प्रणामकर इस प्रकार कहने लगे—॥ ५७ ॥ 'संसारमें ये गोपाङ्गनाएँ समस्त देहधारियोंसे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इनका चित्त सर्वात्मा श्रीहरिमें ही अत्यन्त आसक्त हो रहा है जिसकी संसारभयसे डरनेवाले मुनिजन और हम भक्तजन भी इच्छा करते हैं । सच है, जो श्रीअनन्तकी कथाओंके रसिक हैं उन्हें ब्राह्मणोंके शौक्र (मातृगर्भसे होनेवाले), सावित्र (यज्ञोपवीत संस्कारजन्य) और याज्ञिक (यज्ञदीक्षासे होनेवाले) जन्मोंकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ५८ ॥ अहो ! कहाँ तो ये व्यभिचार-दूषिता वनवासिनी स्त्रियाँ ! और कहाँ इनका परमात्मा कृष्णमें ऐसा सुदृढ़ अनुराग ? इससे सिद्ध होता है कि यदि अज्ञानी भी भगवान्‌का भजन करे तो वे उसका परम कल्याण करते हैं जैसे अमृत बिना जाने पीनेसे भी अमर कर देता है ॥ ५९ ॥ रासोत्सवके समय गलेमें भगवान्‌के भुजदण्डका संग पानेसे पूर्णकाम हुई इन व्रजबालाओंको श्रीहरिका जो प्रसाद प्राप्त हुआ है वह निरन्तर उन्हींके अङ्ग (वक्षःस्थल) में रमण करनेवाली लक्ष्मीजी तथा कमलकी-सी कान्ति और गन्धसे युक्त सुर-सुन्दरियोंको भी नहीं मिला; फिर और स्त्रियोंका तो कहना ही क्या है ? ॥ ६० ॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥६१॥
या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥६२॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥६३॥

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥६४॥
तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥६५॥
मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥६६॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥६७॥
एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥६८॥
कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।

अहो ! क्या ही अच्छा हो, यदि मैं वृन्दावनमें इन व्रजबालाओंकी चरण-रजका सेवन करनेवाली लता, ओषधि या झाड़ियोंमेंसे कोई हो जाऊँ, धन्य हैं ये गोपियाँ जिन्होंने अपने दुस्त्यज बन्धुओंको और आर्यधर्मको त्यागकर श्रुतियोंद्वारा खोजी जाने योग्य मुकुन्दपदवी (भगवत्प्राप्तिके मार्ग) का अनुसरण किया है। ॥ ६१ ॥ अहो ! जिनकी साक्षात् लक्ष्मीजी पूजा करती हैं तथा ब्रह्मादि आप्तकाम योगेश्वरगण भी जिनका अपने चित्तमें चिन्तन करते हैं भगवान् कृष्णके उन चरणकमलोंको रासविलासके समय अपने हृदयोंपर रखकर जिन्होंने अपनी विरहव्यथा शान्त की थी तथा जिनका हरिकथामय गान त्रिलोकीको पवित्र करता है नन्दजीके व्रजकी उन कामिनियोंकी चरणरजको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥ ६२-६३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार व्रजमें कई मास बिताकर उद्धवजी गोपियोंसे, नन्द-यशोदासे तथा अन्य गोपोंसे पूछकर उनकी अनुमति ले मथुरा जानेके लिये रथपर सवार हुए ॥ ६४ ॥ व्रजसे बाहर आनेपर उनके पास नन्दादि गोपगण बहुत-सी भेंटकी सामग्री लेकर आये और प्रेमवश आँखोंमें आँसू भरकर कहने लगे—॥ ६५ ॥ "अब हम यही चाहते हैं कि हमारे मनकी वृत्तियाँ निरन्तर श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें लगी रहें, हमारी वाणी सदा उन्हींका नामसंकीर्तन करे और हमारा शरीर उन्हींको प्रणामादि करनेमें नियुक्त रहे ॥ ६६ ॥ कर्मोंके कारण घूमते हुए हमारा भगवान्की इच्छासे जहाँ-जहाँ जन्म हो वहीं हमारे शुभकर्म और दानादिके परिणाममें हमें भगवान् कृष्णकी भक्ति प्राप्त हो" ॥ ६७ ॥

हे राजन् ! गोपोंद्वारा इस प्रकार कृष्णभक्तिसे सम्मानित हो उद्धवजी भगवान् कृष्णद्वारा सुरक्षित मथुरापुरीमें लौट आये ॥ ६८ ॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम किया और उन्हें व्रजवासियोंकी भक्तिकी अधिकताका वर्णन कह सुनाया तथा नन्दजी-

वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥६९॥

ने जो भेंटकी सामग्री दी थी वह वसुदेवजी, बलरामजी और राजा उग्रसेनको दे दी ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे उद्धवप्रतियाने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

अड़तालीसवाँ अध्याय

भगवान्का कुब्जा तथा अक्रूरजीके घर जाना तथा अक्रूरजीको हस्तिनापुर जानेकी आज्ञा देना।

श्रीशुक[2] उवाच

अथ विज्ञाय भगवान्सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन्गृहं ययौ ॥ १ ॥
महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम् ।
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गन्धैरपि[3] मण्डितम् ॥ २ ॥
गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासना-
त्सद्यः समुत्थाय हि[4] जातसम्भ्रमा ।
यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं
सभाजयामास सदासनादिभिः ॥ ३ ॥
तथोद्धवः साधु तयाभिपूजितो
न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ।
कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं
विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥ ४ ॥
सा मज्जनालेपदुकूलभूषण-
स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥ ५ ॥
आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया
विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! सर्वान्तर्यामी सर्वदर्शी भगवान् कृष्ण अपनी चाहमें व्याकुल कुब्जाका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके घर गये ॥ १ ॥ कुब्जाका भवन उद्दीपन करनेवाली बहुमूल्य सामग्रियोंसे सम्पन्न था तथा मोतीकी लड़ियों, पताकाओं, चँदोवों, शय्याओं, भाँति-भाँतिके आसनों एवं सुगन्धित धूप, दीप, चन्दन और मालाओंसे उसकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ २ ॥ भगवान्को घर आते देख कुब्जा हड़बड़ाकर शीघ्रतापूर्वक शय्यासे उठ खड़ी हुई और सखियोंके साथ आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। फिर सुन्दर आसनादि दे श्रीअच्युतका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ ३ ॥ भक्तप्रवर उद्धवजी भी उसकी पूजा ग्रहणकर आसनको केवल हाथसे छूकर पृथिवीपर बैठ गये तथा भगवान् कृष्ण लोकाचारका अनुकरण करते हुए तुरन्त ही महामूल्यवान् शय्यापर जा बैठे ॥ ४ ॥ तब कुब्जा स्नान, लेपन, वस्त्र, भूषण, हार, गन्ध, ताम्बूल और सुधासव आदिसे खूब सुसज्जित होकर लीलामयी लजीली मुसकान और विभ्रमके साथ भगवान्की ओर देखती हुई उनके पास आयी ॥ ५ ॥ तब श्यामसुन्दरने नवीन मिलनके संकोचसे शङ्किता सुन्दरी कुब्जाको अपने पास बुलाया और उसके कङ्कणभूपित करकमल पकड़कर अपने पास बैठा लिया तथा

१. न्धे उद्धव० । २. बादरायणिरुवाच । ३. सुगन्धैरपि । ४. सुजात० ।

प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया
रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥ ६ ॥
सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णो-
र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त-
मानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥ ७ ॥
सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् ।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥ ८ ॥
आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया ।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण ॥ ९ ॥
तस्यै कामवरं दत्त्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदर्चितम् ॥१०॥
दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् ।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात्कुमनीष्यसौ ॥११॥

चन्दन देनेके लेशमात्र पुण्यसे युक्त उस रमणीके साथ [मानो उसके पुण्यका फल देनेके लिये] क्रीडा करने लगे ॥ ६ ॥ उसने श्रीअनन्तके चरणोंको अपने हृदय, वक्षःस्थल और नेत्रोंपर रखकर सूँघते हुए अपनी मनः-कामना पूर्ण की और अपने हृदयके बीचमें आनन्द-मूर्ति प्रियतमको प्राप्तकर अपनी चिरकालकी विरह-व्यथा शान्त की ॥ ७ ॥ अहो ! केवल चन्दन देनेसे ही उन अत्यन्त दुष्प्राप्य मोक्षके अधीश्वर भगवान् कृष्णको पाकर भी उस दुर्भगाने यही वर माँगा कि 'हे प्रियतम ! आप कुछ दिन यहाँ रहकर मेरे साथ क्रीडा कीजिये, क्योंकि हे कमलनयन ! मुझसे आपका साथ नहीं छोड़ा जाता' ॥ ८-९ ॥ सबका मान रखनेवाले सर्वेश्वरने उसे उसका अभीष्ट वर देकर सम्मान किया तथा स्वयं भी उससे भली प्रकार पूजित हो प्रिय भक्त उद्धवके साथ अपने घरको लौट आये ॥ १० ॥ ब्रह्मादि समस्त ईश्वरोंके ईश्वर और अति कठिनतासे आराधना किये जानेयोग्य श्रीविष्णुभगवान्की आराधनाकर जो पुरुष उनसे अति तुच्छ और मिथ्या विषयसुख माँगता है वह बहुत ही कुमति है ॥ ११ ॥

अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः ।
किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया ॥१२॥
स तान्नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान् ।
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभिवन्द्य च ॥१३॥
ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः ।
पूजयामास विधिवत्कृतासनपरिग्रहान् ॥१४॥
पादावनेजनीरापो धारयञ्छिरसा नृप ।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥१५॥
अर्चित्वा शिरसानम्य पादावङ्कगतौ मृजन् ।

तदनन्तर एक दिन प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र अक्रूरजीका प्रिय करने और उनसे कुछ कार्य करानेकी इच्छासे बलराम और उद्धवको साथ ले उनके घर गये ॥१२॥ उन अपने नरवरश्रेष्ठ स्वजनोंको अकस्मात् आये देख अक्रूरजी अति आनन्दित होकर उठ खड़े हुए तथा श्रीकृष्ण और बलरामका अभिनन्दन एवं आ-लिङ्गन करते हुए उन्हें प्रणाम किया, फिर उन तीनों-ने भी अक्रूरजीका अभिवादन किया और उनके आसन ग्रहण करनेपर अक्रूरजीने उनकी विधिवत् पूजा की ॥ १३-१४ ॥ हे राजन् ! अक्रूरजीने उनका पवित्र चरणोदक शिरपर धारण किया, तथा नाना प्रकारकी पूजासामग्री, वस्त्र, दिव्यगन्ध, माला और श्रेष्ठ आभूषणोंसे पूजा करते हुए उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम

१. इद्धिमत् । २. वाद्य च । ३. सा तस्य ।

प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥१६॥
दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद् दुरन्ताच्च समेधितम् ॥१७॥
युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चित्परमस्ति न चापरम् ॥१८॥
आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः ।
ईयते बहुधा ब्रह्मञ्छ्रुतप्रत्यक्षगोचरम् ॥१९॥

यथा हि भूतेषु चराचरेषु
मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना ।
एवं भवान्केवल आत्मयोनि-
ष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥२०॥
सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं
रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः ।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा
ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥२१॥
देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वा-
द्भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात् ।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः
स्याताम् निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥२२॥
त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय
यदा यदा वेदपथः पुराणः ।
बाध्येत पाखण्डपथैरसद्भि-
स्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥२३॥
स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांश-
राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥२४॥

किया । फिर श्रीकृष्ण और बलरामके चरणोंको गोदमें रखकर दबाते हुए उन्होंने उनसे अति नम्रतापूर्वक कहा—॥ १५-१६ ॥ "सौभाग्यवश पापी कंस अपने साथियोंके सहित मारा गया ! [उसे मारकर] आप दोनोंने अपने इस कुलको भारी संकटसे निकालकर उन्नत और समृद्ध किया है ॥ १७ ॥ आप दोनों जगत्के कारण और जगद्रूप प्रधान एवं पुरुष हैं । कार्य-कारणरूप कोई भी वस्तु आपसे पृथक् नहीं है ॥ १८ ॥ हे ब्रह्मन् ! अपनी ही शक्तिसे रचे हुए इस विश्वमें अपनी काल-मायादि शक्तियोंसे प्रविष्ट होकर आप देखे और सुने हुए विविध प्रकारके रूपोंमें प्रतीत होते हैं ॥ १९ ॥ जिस प्रकार पृथिवी आदि कारणतत्त्व अपने कार्य स्थावर-जङ्गम भूतोंमें अनुप्रविष्ट होकर नाना रूपसे भासते हैं उसी प्रकार आप स्वतन्त्र आत्मा [स्वरूपसे] एकमात्र होकर भी अपने कार्यरूप भूतोंमें अनेकवत् भासते हैं ॥ २० ॥ आप रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणरूप अपनी शक्तियोंसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं । किन्तु उन गुणोंसे अथवा उनके कर्मोंसे बन्धनमें नहीं पड़ते, क्योंकि आप शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, अतः आपके बन्धनका कोई कारण नहीं है ॥ २१ ॥ देहादि उपाधि मिथ्या हैं, इसलिये जीवात्मामें भी जन्म या जन्मसे होनेवाला भेद साक्षात् सिद्ध नहीं हो सकता । अतः आपमें न बन्धन है और न मोक्ष । आपमें बन्ध-मोक्षकी कल्पना करना हमारा अविवेक ही है ॥ २२ ॥ [आपके अवतारका कारण भी आपकी लीला ही है] आपने संसारके कल्याणके लिये यह सनातन वेदमार्ग प्रकट किया है; जब-जब इसे मिथ्या पाखण्डपूर्ण पन्थोंसे क्षति पहुँचती है तब-तब आप शुद्धसत्त्वमय शरीर धारण करते हैं ॥ २३ ॥ हे प्रभो ! इस समय आप असुरोंके अंशसे उत्पन्न हुए राजाओंकी सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाका संहारकर पृथिवीका भार उतारनेके लिये अपने अंश श्रीबलरामजीके सहित वसुदेवजीके यहाँ अवतीर्ण होकर इस यदुकुलका यश बढ़ा रहे हैं ॥ २४ ॥

१. क्वितः ।

अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा
यः सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिः।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥२५॥

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीया-
द्भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्।
सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥२६॥

दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ॥२७॥

हे ईश्वर! हे अधोक्षज! पञ्चयज्ञके देवता पितृगण, भूत-गण और सम्पूर्ण राजा लोग जिनकी मूर्ति हैं तथा जिनका चरणोदक त्रिलोकीको पवित्र करता है वे आप जगद्गुरु भगवान् इस समय हमारे घरोंमें पधारे हैं अतः आज उन (हमारे घरों) का बड़ा ही सौभाग्य है ॥ २५ ॥ प्रभो! आप भक्तोंके हितकारी, सत्यवक्ता, सुहृद् और कृतज्ञ हैं। भला कौन बुद्धिमान् पुरुष आपके सिवा किसी औरकी शरणमें जायगा? आप अपना भजन करनेवाले प्रिय भक्तकी समस्त कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं यहाँतक कि जिसकी कभी क्षति या वृद्धि नहीं होती ऐसे अपने-आपको भी दे डालते हैं ॥ २६ ॥ हे जनार्दन! बड़े-बड़े योगिराज और सुरेश्वरगण भी आपकी गतिको नहीं पा सकते। किन्तु हमें आपका साक्षात् दर्शन हुआ—यह हमारा बड़ा ही सौभाग्य है। प्रभो! पुत्र, कलत्र, धन, स्वजन, भवन और देह आदि मोहपाशरूप अपनी मायाको आप तुरन्त नष्ट कर डालिये" ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान्हरिः।
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः सम्मोहयन्निव ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! भक्त अक्रूरजी-द्वारा इस प्रकार पूजित और प्रार्थित हो भगवान् कृष्णने उन्हें अपनी वाणीसे मोहित करते हुए-से मुसकाकर कहा ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा।
वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥२९॥

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥३०॥

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—हे तात! आप हमारे गुरु, चचा और नित्य प्रशंसनीय स्वजन हैं, हम तो आपके बालक हैं और सदा ही आपकी रक्षा, पालन और कृपाके पात्र हैं ॥ २९ ॥ अपना आत्यन्तिक कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको आप-जैसे परमपूजनीय महाभागोंकी ही सदा सेवा करनी चाहिये। [आप-जैसे साधुजन देवताओंसे भी बढ़कर हैं, क्योंकि] देवतालोग तो अपना कार्य सिद्ध करनेमें लगे रहते हैं किन्तु साधुजन ऐसा नहीं करते ॥ ३० ॥ जलमय तीर्थ और मिट्टी या शिलाके देवता ही तीर्थ और देवता नहीं हैं [साधुजन उनसे भी बड़े तीर्थ और देवता हैं क्योंकि] तीर्थ और मूर्ति आदि तो बहुत दिनोंतक सेवा करनेसे पवित्र करते हैं किन्तु साधुजन दर्शनमात्रसे ही कृतार्थ कर देते हैं ॥ ३१ ॥

स भवान्सुहृदां वै नः श्रेयाञ्छ्रेयश्चिकीर्षया ।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम् ॥३२॥
पितर्युपरते बालाः सह मात्रा सुदुःखिताः ।
आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥३३॥
तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः ।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ॥३४॥
गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा ।
विज्ञाय तद्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ॥३५॥
इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान्हरिरीश्वरः ।
सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ॥३६॥

हे तात ! आप हमारे सुहृदोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं । अतः आप पाण्डवोंका हित करनेके लिये तथा उनकी कुशल जाननेके लिये हस्तिनापुर जाइये ॥ ३२ ॥ हमने सुना है, पिता पाण्डुके मर जानेपर अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए युधिष्ठिर आदि बालकोंको उनकी माताके सहित राजा धृतराष्ट्र अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें ले आये हैं तथा वे सब अब वहाँ ही रहते हैं ॥ ३३ ॥ अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्र आँखोंसे अन्धे और दीनबुद्धि हैं । वे अपने कुटिल पुत्र दुर्योधनके अधीन हैं, इसलिये अपने भतीजोंके साथ उनका पुत्रोंके समान व्यवहार नहीं है ॥ ३४ ॥ अतः आप जाइये और उनकी अच्छी-बुरी जैसी स्थिति हो मालूम कीजिये । आपके द्वारा उनका समाचार पाकर मैं ऐसा उपाय करूँगा जिससे उन सुहृदोंको सुख प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

अक्रूरजीको इस प्रकार आज्ञा दे भगवान् ईश्वर श्रीकृष्णचन्द्र बलराम और उद्धवके साथ अपने भवनको लौट आये ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे[1]
अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४८॥

उनचासवाँ अध्याय

अक्रूरजीका हस्तिनापुरको जाना ।

श्रीशुक[2] उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रयशोऽङ्कितम् ।
ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम् ॥ १ ॥
सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमम् ।
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान्सुहृदोऽपरान् ॥ २ ॥
यथावदुपसङ्गम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः ।
सम्पृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम् ॥ ३ ॥
उवास कतिचिन्मासान्राज्ञो वृत्तविवित्सया ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पुरुवंशी राजाओंके सुयशसे व्याप्त हस्तिनापुरीमें पहुँचकर अक्रूरजी धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, सोमदत्त, बाह्लीक, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाण्डवगण तथा अन्यान्य बन्धुओंसे मिले ॥ १-२ ॥ गान्दिनीनन्दन अक्रूरजी जब समस्त सुहृद्जनोंके साथ विधिपूर्वक मिल चुके तो उनके कुशल-प्रश्न करनेपर उन्होंने स्वयं भी उनकी कुशल पूछी ॥ ३ ॥

तदनन्तर, अक्रूरजीने कर्ण आदि कुटिल मन्त्रियोंकी सम्मतिसे चलनेवाले और दुष्ट सन्तानवाले

१. न्धेऽष्टच० । २. बादरायणिरुवाच ।

दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः ॥ ४ ॥

अल्पवीर्य राजा धृतराष्ट्रकी प्रवृत्ति जाननेके लिये कुछ महीने हस्तिनापुरमें निवास किया ॥ ४ ॥

तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् ।
प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम् ॥ ५ ॥
कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद्गरदानाद्यपेशलम् ।
आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥ ६ ॥

इस बीचमें कुन्ती और विदुरजीने उन्हें पाण्डवोंके तेज, शस्त्रकौशल, बल, वीर्य और विनय आदि सद्गुणोंका, उनके प्रति प्रजाके अनुरागका, उनका उत्कर्ष सहन न करनेवाले धृतराष्ट्र-पुत्र जो कुछ करना चाहते थे तथा 'विषदान' आदि जो कुछ अनुचित व्यवहार वे पहले कर चुके थे उन सबका वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ५-६ ॥

पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम् ।
उवाच जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा ॥ ७ ॥
अपि स्मरन्ति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे ।
भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च ॥ ८ ॥
भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
पैतृष्वस्रेयान्स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ॥ ९ ॥
सापत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव ।
सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ॥ १० ॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वभावन[2] ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ॥ ११ ॥
नान्यत्तव पदाम्भोजात्पश्यामि शरणं नृणाम् ।
बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात् ॥ १२ ॥
नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥ १३ ॥

भाई अक्रूरको आये हुए देख कुन्ती उनके पास गयीं और अपने जन्मस्थानका स्मरणकर नेत्रोंमें जल भरकर कहने लगीं—॥ ७ ॥ "हे सौम्य ! हमारे माता-पिता, भाई, बहिन, भतीजे, कुलकी स्त्रियाँ और सखियाँ क्या कभी हमारा स्मरण करती हैं ? ॥ ८ ॥ हमारे भ्रातृपुत्र शरणागतवत्सल भक्तहितकारी भगवान् कृष्ण और कमलनयन बलरामजी क्या कभी अपनी फूआके लड़कोंकी याद करते हैं ? ॥ ९ ॥ भेड़ियोंके बीचमें पड़ी हुई मृगीके समान मैं अपने शत्रुओंके बीचमें रहती हुई अत्यन्त शोकाकुल रहती हूँ । क्या वे [यहाँ आकर] मुझे और मेरे पितृहीन बालकोंको ढाँढस बँधायँगे ? ॥ १० ॥ हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वरूप ! हे विश्वपालक ! हे गोविन्द ! मैं अपने बालकोंके साथ अत्यन्त कष्ट पा रही हूँ । मुझ शरणागतकी आप रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥ हे देव ! इस मृत्युरूप संसारसे डरे हुए जीवोंके लिये मुझे आप ईश्वरके मोक्षप्रद चरणकमलोंको छोड़कर और कोई भयरहित आश्रयस्थान दिखायी नहीं देता ॥ १२ ॥ अतः आप शुद्धस्वरूप ज्ञानात्मा योगेश्वर परब्रह्म परमात्मा भगवान् कृष्णको नमस्कार है । हे देव ! मैं आपकी शरणागत हूँ ॥ १३ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम् ।
प्रारुदद्दुःखिता राजन्भवतां प्रपितामही ॥ १४ ॥
समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार जगत्पति कृष्ण और अपने बन्धुओंको यादकर तुम्हारी प्रपितामही (परदादी) कुन्तीजी दुःखित होकर फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ १४ ॥ तब सुख-दुःखमें समान रहनेवाले अक्रूरजी और महायशस्वी विदुरजी-

१. वीर्यस्य । २. गिन् सर्वात्मन् विश्वपालक ।

सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः ॥१५॥

यास्यन्राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम् ।

अवदत्सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम् ॥१६॥

ने उन्हें, उनके पुत्रोंकी उत्पत्तिके कारणभूत धर्म, वायु और इन्द्रादि देवताओंकी याद दिलाते हुए सान्त्वना दी ॥१५॥ जब अक्रूरजी मथुरा जाने लगे तो वे अपने भतीजोंके साथ विषम व्यवहार करनेवाले पुत्रवत्सल राजा धृतराष्ट्रके पास, जो अपने बन्धुओंके बीचमें बैठे थे, आये और उन्हें कृष्ण-बलदेव आदि यादवबन्धुओंने जो प्रेममय सन्देश भेजा था वह सुनाने लगे ॥१६॥

अक्रूर उवाच

भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन ।

भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनासनमास्थितः ॥१७॥

धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रञ्जयन् ।

वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि ॥१८॥

अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः ।

तस्मात्समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥१९॥

नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित्केनचित्सह ।

राजन्स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ॥२०॥

एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।

एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२१॥

अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः ।

सम्भोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः ॥२२॥

पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् ।

तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः ॥२३॥

स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः ।

अक्रूरजीने कहा—हे कौरवकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्र ! आपने अपने भाई पाण्डुके परलोक सिधारनेपर अब राजसिंहासन पाया है ॥१७॥ आप यदि पृथिवीका धर्मपूर्वक पालन करेंगे, अपने सुस्वभावसे प्रजाको प्रसन्न रखेंगे और अपने स्वजनोंके साथ समान व्यवहार करेंगे तो आपका कल्याण होगा और संसारमें कीर्ति मिलेगी ॥१८॥ यदि ऐसा न करेंगे तो लोकमें निन्दा होगी और मरनेपर नरकमें जाना पड़ेगा । इसलिये आप पाण्डुके और अपने पुत्रोंके साथ समान बर्ताव कीजिये ॥१९॥ राजन् ! यहाँ कभी भी कोई किसीके साथ बहुत दिनतक नहीं रह सकता । स्त्री-पुत्रादिकी तो कौन कहे, अपने शरीरका सङ्ग भी सदा नहीं रहता ॥२०॥ यह जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही यहाँसे मरकर जाता है तथा अकेला ही अपने सुकृत और दुष्कृतोंका फल भोगता है ॥२१॥ ये स्त्री-पुत्रादि तो [जिस समय साथ रहते हैं उस समय भी] 'हम तुम्हारे द्वारा भरण किये जाने योग्य हैं' इस बहानेसे इस अल्पबुद्धि पुरुषका अधर्मसे एकत्रित किया धन हर लेते हैं, जैसे जलमें रहनेवाले मत्स्यके जीवनाधार जलपर उसके स्त्री-पुत्रादि अपना अधिकार जमा लेते हैं ॥२२॥ यह मूर्ख जीव, जिन्हें अपना समझकर अधर्मपूर्वक पालता है वे प्राण, धन और पुत्रादि इसे असन्तुष्ट अवस्थामें ही छोड़कर चले जाते हैं ॥२३॥ तब अपने धर्मसे विमुख और अपने सच्चे स्वार्थको न समझनेवाला यह मूढ उनके त्याग देनेसे

१. ह्या० ।

असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः ॥२४॥

तस्माल्लोकमिमं राजन्स्वप्नमायामनोरथम् ।

वीक्ष्यायम्यात्मनात्मानं समः शान्तो भव प्रभो॥२५॥

धृतराष्ट्र उवाच

यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान् ।

तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ॥२६॥

तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले ।

पुत्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामनी यथा ॥२७॥

ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान् ।

भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥२८॥

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥२९॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः ।

सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥३०॥

शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् ।

पाण्डवान्प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ॥३१॥

स्वयं विफलमनोरथ हो अपने पापका भार लेकर घोर नरकमें पड़ता है ॥ २४ ॥ इसलिये हे राजन् ! हे प्रभो ! इस संसारको स्वप्न, माया और मनोराज्यवत् समझकर अपने चित्तका स्वयं ही संयम कर समदर्शी और शान्त हो जाओ ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे दानपते अक्रूरजी ! आप जैसे कल्याणकारक वचन कह रहे हैं उनसे मेरा चित्त इसी प्रकार तृप्त नहीं होता जैसे अमृत पाकर मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती ॥ २६ ॥ तथापि हे सौम्य ! मेरा चित्त पुत्र-प्रेमके कारण ऐसा विषम और चञ्चल हो गया है कि उसमें आपकी यह प्यारी शिक्षा चमकती हुई चपलाके समान जरा भी नहीं ठहरती ॥ २७ ॥ सो, ऐसा कौन पुरुष है जो ईश्वरके विधानको पलट सके ? जिन्होंने कि इस समय पृथिवीका भार उतारनेके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है ॥ २८ ॥ जो अपनी अचिन्त्यगति मायासे इस संसारको रचकर इसमें अनुप्रविष्ट हो कर्म और कर्मफलका विभाग करते हैं तथा जिनकी अगम्य लीला ही इस संसारचक्रकी गतिका प्रधान कारण है उन परमेश्वरको नमस्कार है ॥ २९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार महाराज धृतराष्ट्रका अभिप्राय जान श्रीअक्रूरजी कुरुवंशीय सुहृद्‌जनोंसे विदा हो पुनः यदुपुरी (मथुरा) में लौट आये तथा भगवान् कृष्ण और बलरामसे पाण्डवोंके साथ राजा धृतराष्ट्रके विषम व्यवहारका सारा हाल कह सुनाया, जिसे जाननेके लिये ही उन्हें हस्तिनापुर भेजा गया था ॥ ३०-३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[1] वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

समाप्तमिदं दशमस्कन्धस्य पूर्वार्द्धम्

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

१. णे दशमस्कन्धे एकोन० ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

दशम स्कन्ध

(उत्तरार्द्ध)

रुन्धानोऽरिगतिं वार्धिद्वारा द्वारावतीं गतः ।

कृतदारोऽच्युतो दध्यात् सौमनस्यं मनस्यलम् ।।

श्रीयदुनाथाय नमः

श्रीमद्भागवत

दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध

पचासवाँ अध्याय

जरासन्धसे युद्ध और द्वारकादुर्गकी रचना

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीशुक उवाच[1]

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ ।
मृते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान् ॥ १ ॥
पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते ।
वेदयाञ्चक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥ २ ॥
स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप ।
अयादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ॥ ३ ॥
अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चापि संवृतः ।
यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत्सर्वतोदिशम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ ! कंसकी रानियाँ अस्ति और प्राप्ति पतिके मारे जानेपर दुखसे पीडित हो अपने पिताके घर चली गयीं ॥ १ ॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने अत्यन्त दुःखित होकर अपने पिता मगधराज जरासन्धको अपने विधवा होनेका जो कुछ कारण था वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥२॥ हे राजन् ! यह अप्रिय संवाद सुनकर राजा जरासन्धने अत्यन्त शोक और क्रोधपूर्वक पृथिवीको यादवोंसे शून्य कर देनेका भारी आयोजन किया ॥ ३ ॥ उसने तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर यादवोंकी राजधानी मथुराको सब ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम् ।
स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम् ॥ ५ ॥
चिन्तयामास भगवान्हरिः कारणमानुषः ।
तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥ ६ ॥
हनिष्यामि बलं ह्येतद्भुवि भारं समाहितम् ।
मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम् ॥ ७ ॥
अक्षौहिणीभिः संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः ।

तब, उमड़ते हुए समुद्रके समान उस अपार सेनाको और उससे अपना नगर घिर जानेके कारण स्वजनोंको भयभीत हुए देखकर कारणवश मनुष्यरूप धारण करनेवाले श्रीहरिने उस देश और कालके अनुसार अपने अवतारके प्रयोजनपर इस प्रकार विचार किया—॥ ५-६ ॥ "मगधराज जरासन्ध अपने वशवर्ती समस्त राजाओंकी पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथियोंसे युक्त यह कई अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके लाया है । यह पृथिवीका भार ही एकत्रित हुआ है । मैं इस सेनाको मार डालूँगा; किन्तु अभी

[1] १. श्रीबादरायणिरुवाच ।

मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम् ॥ ८ ॥
एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे ।
संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥ ९ ॥
अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः संभ्रियते मया ।
विरामायाप्यधर्मस्य काले प्रभवतः क्वचित् ॥१०॥
एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात्सूर्यवर्चसौ ।
रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ ॥११॥
आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया ।
दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कर्षणमथाब्रवीत् ॥१२॥
पश्यार्य व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो ।
एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च ॥१३॥
यानमास्थाय जह्येतद्व्यसनात्स्वान्समुद्धर ।
एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत् ॥१४॥
त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारमपाकुरु ।
एवं सम्मन्त्र्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात् ॥१५॥
निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसा वृतौ ।
शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः ॥१६॥
ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः ।
तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम ॥१७॥
न त्वया योद्धुमिच्छामि बालेनैकेन लज्जया ।
गुप्तेन हि त्वया मन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन् ॥१८॥
तव राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह ।

जरासन्धको नहीं मारना चाहिये, क्योंकि इससे वह फिर सेना सञ्चित करनेका उद्योग करेगा ॥ ७-८ ॥ मेरा यह अवतार साधुओंकी रक्षा और असाधुओंका संहार करनेके लिये तथा पृथिवीका भार उतारनेके लिये ही हुआ है ॥९॥ और भी जब कभी मैं अवतीर्ण होता हूँ तब मेरे देह-धारणका प्रयोजन धर्मकी रक्षा और समयानुसार बढ़ते हुए अधर्मका नाश ही होता है" ॥१०॥

भगवान् ऐसा विचार कर ही रहे थे कि इसी समय वहाँ सारथि तथा युद्धसामग्रीसे सम्पन्न दो सूर्यके समान देदीप्यमान रथ आकाशसे उतरे ॥ ११ ॥ इसी समय उनके सनातन दिव्य शस्त्र भी वहाँ अपने आप आकर उपस्थित हुए। उन्हें देखकर श्रीहरिने बलरामजीसे इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥ "हे आर्य! देखिये, जिनके आप ही रक्षा करनेवाले हैं उन यादवोंपर इस समय विपत्ति आ पड़ी है। प्रभो! आपके ये प्रिय शस्त्र और रथ भी आ गये हैं ॥ १३ ॥ अब आप रथपर चढ़कर इस शत्रुसेनाका संहार कीजिये और अपने बन्धुओंका विपत्तिसे उद्धार कीजिये। हे ईश! साधुओंका कल्याण करनेवाला हम दोनोंका जन्म इसीलिये हुआ है ॥ १४ ॥ अतः यह तेईस अक्षौहिणी सेनारूप पृथिवीका भार उतारिये।" इस प्रकार सम्मतिकर वे दोनों यदुवीर कवच धारणकर रथपर सवार हुए और अपने निज आयुधोंको धारणकर थोड़ी-सी सेनाके साथ नगरसे बाहर आये। तब, दारुक जिनका सारथी है उन श्रीहरिने अपना शङ्ख बजाया ॥ १५-१६ ॥

उस शङ्खनादसे विपक्षी वीरोंके हृदय भयसे काँपने लगे। उन्हें देखकर मगधराज जरासन्ध कहने लगा—"हे पुरुषाधम कृष्ण! तू एक बालक है, तुझसे लड़नेमें मुझे लज्जा मालूम होती है; इसलिये मैं सबके बीचमें छिपे हुए तुझसे लड़ना नहीं चाहता। हे मन्द! यद्यपि तू मेरे आत्मीय (बन्धु) का मारनेवाला है तथापि मैं तुझसे नहीं लड़ूँगा, तू यहाँसे भाग जा ॥ १७-१८ ॥ हे बलराम! यदि तेरी इच्छा हो तो तू कुछ हिम्मत बाँध और मेरे साथ

हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि ॥१९॥

युद्ध कर। फिर या तो मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए अपने शरीरको छोड़कर स्वर्गको जा या मेरा ही वध कर" ॥ १९ ॥

श्रीभगवानुवाच

न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् ।
न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः ॥२०॥

श्रीभगवान् बोले—हे राजन्! शूरवीर लोग बहुत बढ़-बढ़कर बातें नहीं बनाया करते, बल्कि अपना पुरुषार्थ ही दिखाया करते हैं। तुम [सन्निपातग्रस्त पुरुषके समान] आतुर हो और शीघ्र ही मरना चाहते हो इसलिये मैं तुम्हारी बातोंका कुछ विचार नहीं करता ॥ २० ॥

श्रीशुक उवाच

जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ
महाबलौघेन बलीयसावृणोत् ।
ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी
सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः ॥२१॥
सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथा-
वलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे ।
स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं
समाश्रिताः संमुमुहुः शुचार्दिताः[1] ॥२२॥
हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः
शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम् ।
स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरार्चितं
व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम् ॥२३॥
गृह्णन्निषङ्गादथ सन्दधच्छरान्
विकृष्य मुञ्चञ्छितबाणपूगान् ।
निघ्नन्रथान्कुञ्जरवाजिपत्ती-
न्निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥२४॥
निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतु-
रनेकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः ।
रथा हताश्वध्वजसूतनायकाः
पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः ॥२५॥
संछिद्यमानद्विपदेभवाजिना-

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! तब वायु जैसे मेघमण्डल और धूलिधूमसे सूर्य तथा अग्निको आच्छादित कर लेता है वैसे ही जरापुत्र मगधराजने राम और कृष्णके सामने आ उन्हें अपनी प्रचण्ड-सेनाके प्रवाहसे सेना, रथ, ध्वजा, अश्व और सारथियोंके सहित ढँक लिया ॥ २१ ॥ मथुरापुरीकी स्त्रियाँ अपने महलोंकी अटारियों और छज्जोंपर चढ़ी हुई युद्धका कौतुक देख रही थीं। वे भगवान् कृष्ण और बलरामके गरुड तथा तालचिह्नयुक्त ध्वजाओंवाले रथोंको न देखकर शोकाकुल हो मूर्च्छित हो गयीं ॥ २२ ॥ तब श्रीहरिने अपनी सेनाको शत्रुसेनारूप मेघमण्डलसे बारम्बार बरसती हुई अति प्रचण्ड बाण-वर्षासे पीडित देख अपने शार्ङ्गनामक सुरासुरपूजित श्रेष्ठ धनुषका टङ्कार किया ॥ २३ ॥ फिर बारम्बार तरकशमेंसे बाणोंको लेते, उन्हें धनुषपर चढ़ाते और धनुषकी डोरी खींचकर उन तीखे बाणोंके समूहकी वर्षा करते हुए भगवान् कृष्ण उनसे रथ, हाथी, घोड़े और पैदलोंकी सेनाको मारने लगे। उस समय वह धनुष निरन्तर घूमनेवाले अलातचक्रके समान दीख पड़ता था ॥२४॥ इससे बहुतसे हाथी शिर फट जानेके कारण मरकर गिर पड़े, बाणोंकी बौछारसे अनेकों घोड़ोंके शिर धड़से अलग हो गये; घोड़े, ध्वजा, सारथी और रथियोंके नष्ट हो जानेसे बहुतसे रथ चकनाचूर हो गये और पदातियोंके भुजा, जङ्घा तथा मस्तकादि अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये ॥ २५ ॥ उस युद्धमें अतुल तेजस्वी भगवान् सङ्कर्षणने अपने मूसलसे बहुतसे मदमत्त शत्रुओंको मारकर मनुष्य,

[1] चार्पिताः ।

मङ्गप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः ।
भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा
हतद्विपद्वीपहयग्रहाकुलाः ॥२६॥
करोरुमीना नरकेशशैवला
धनुस्तरङ्गायुधगुल्मसङ्कुलाः ।
अच्छूरिकावर्तभयानका महा-
मणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः ॥२७॥
प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे
मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् ।
विनिघ्नतारीन्मुसलेन दुर्मदान्
सङ्कर्षणेनापरिमेयतेजसा ॥२८॥
बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं
दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम् ।
क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयो-
र्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् ॥२९॥
स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः
समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया ।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-
स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥३०॥
जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम् ।
हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा ॥३१॥
बध्यमानं हतारातिं पाशैर्वारुणमानुषैः ।
वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥३२॥
स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसंमतः ।
तपसे कृतसङ्कल्पो वारितः पथि राजभिः ॥३३॥
वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि ।
स्वकर्मबन्धप्राप्तोऽयं यदुभिस्ते पराभवः ॥३४॥

हाथी और घोड़ोंके कटे हुए अङ्गोंसे उत्पन्न हुए लोहूकी सैकड़ों नदियाँ बहा दीं। वे मनुष्योंकी भुजारूप सर्प और शिररूप कछुओंसे भरी हुई थीं। उनमें मरे हुए हाथियोंके शरीर द्वीप-जैसे और घोड़े ग्राहोंके समान जान पड़ते थे। वे हाथ और जङ्घारूप मछलियों, मनुष्यके केशरूप शैवाल, धनुषरूप तरङ्गों और अस्त्र-शस्त्ररूप लता-गुल्मोंसे भरी हुई थीं। उनमें ढालें भयानक भँवरोंके समान और महामूल्यमयी मणियोंके आभूषण पत्थरकी रोड़ियोंके समान थे। वे नदियाँ कायरोंको भयभीत करनेवाली और वीरोंका परस्पर उत्साह बढ़ानेवाली थीं ॥ २६-२८ ॥ हे राजन्! मगधराजद्वारा सुरक्षित वह समुद्रके समान दुर्गम भयावह और अनन्तपार सेना वसुदेवनन्दन बलराम और कृष्णने कुछ ही समयमें नष्ट कर दी। उन जगदीश्वरोंके लिये तो वह एक साधारण खेल ही था ॥ २९ ॥ जो अनन्तगुणसम्पन्न श्रीहरि लीलाहीसे तीनों लोकोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं उनके लिये विपक्षियोंका दमन करना कोई बड़ी बात नहीं है तथापि उन्होंने मनुष्यचरित्रका अनुकरण किया था; इसलिये उनके इन कर्मोंका [आश्चर्यवत्] वर्णन किया जाता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार जरासन्धकी सारी सेना मारी गयी; उसका रथ भी टूट गया, केवल प्राणमात्र शेष रह गया। तब उस महाबली वीरको श्रीबलभद्रजीने, सिंह जैसे सिंहको पकड़ता है वैसे ही, बलपूर्वक पकड़ लिया ॥ ३१ ॥ जरासन्धने बहुतसे विपक्षी राजाओंको मारा था, इसलिये वह वधका पात्र था। किन्तु जब श्रीबलरामजी उसे मारनेके लिये वारुण और मानुष पाशोंसे बाँधने लगे तो भगवान् कृष्णने, उससे अपना कार्य करानेकी इच्छासे, उन्हें रोक दिया ॥ ३२ ॥ जरासन्ध शूरसमाजमें माननीय था, इसलिये उन जगदीश्वरोंके हाथसे छूटकर लज्जित हो उसने तपस्या करनेका निश्चय किया, परन्तु मार्गमें उसके साथी राजाओंने 'आपको प्रारब्धसे ही तुच्छ यादवोंके सामने नीचा देखना पड़ा' ऐसे बहुतसे धर्मशिक्षापूर्ण वाक्यों और लौकिक नीतियोंसे समझाकर रोक लिया ॥ ३३-३४ ॥

१. तुरङ्गा० ।

हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा।
उपेक्षितो भगवता मगधान्दुर्मना ययौ ॥३५॥

इस प्रकार उस समय सम्पूर्ण सेनाके मारे जाने तथा भगवान् बलभद्रजीद्वारा उपेक्षापूर्वक छोड़ दिये जानेपर राजा जरासन्ध उदास मनसे अपने मगध देशको लौट आया ॥ ३५ ॥

मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः।
विकीर्यमाणः[1] कुसुमैस्त्रिदशैरनुमोदितः ॥३६॥
माथुरैरुपसङ्गम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः।
उपगीयमानविजयः सूतमागधवन्दिभिः ॥३७॥
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः।
वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ ॥३८॥
सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलङ्कृताम्।
निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम् ॥३९॥
निचीयमानो नारीभिर्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः।
निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः ॥४०॥
आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम्।
यदुराजाय तत्सर्वमाहृतं प्रादिशत्प्रभुः ॥४१॥

इधर, जिनकी सेनाके एक घाव भी नहीं आया वे श्रीकृष्णचन्द्र शत्रुसेनारूप समुद्रको अनायास ही पारकर भयसे छूटे हुए प्रसन्नचित्त मथुरावासियोंसे आ मिले। उस समय देवगण उनकी प्रशंसा करते हुए उनपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे तथा सूत, मागध और बन्दीजन विजयकीर्ति गा रहे थे ॥ ३६-३७ ॥ जिस समय भगवान्‌ने नगरमें प्रवेश किया उस समय वहाँ शङ्ख, दुन्दुभी, भेरी, तूर्य, वीणा, बाँसुरी और मृदङ्ग आदि बाजोंका अनेक प्रकारसे घोष होने लगा ॥ ३८ ॥ उस समय मथुरापुरीमें सड़कोंपर छिड़काव किया गया था, सब ओर प्रसन्नचित्त नागरिकोंकी चहल-पहल थी और सम्पूर्ण नगर ध्वजा-पताकाओंसे सुसज्जित, वेदध्वनिसे गुञ्जायमान और उत्सवके कारण बन्दनवारोंसे सुशोभित था ॥ ३९ ॥ नगरमें प्रवेश करते समय स्त्रियोंने भगवान्‌को प्रीतिप्रफुल्लित नयनोंसे स्नेहपूर्वक निहारते हुए उन्हें फूलोंकी माला, दही, अक्षत और अङ्कुरादिसे ढक दिया ॥ ४० ॥ भगवान् जो रणभूमिसे वीरोंका आभूषणरूप अनन्त धन लाये थे वह सब उन्होंने यादवराज उग्रसेनको समर्पण कर दिया ॥ ४१ ॥

एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीर्बलः[2]।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः ॥४२॥
अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा।
हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽयादरिभिर्नृपः ॥४३॥
अष्टादशमसंग्राम आगामिनि तदन्तरा।
नारदप्रेषितो[3] वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ॥४४॥

इसी प्रकार इतनी-इतनी ही सेना एकत्रित कर मगधराज जरासन्धने कृष्णचन्द्रद्वारा सुरक्षित यादवोंसे सत्रह बार युद्ध किया ॥ ४२ ॥ किन्तु यादवोंने भगवान् कृष्णके प्रभावसे प्रत्येक बार उसकी सम्पूर्ण सेनाको नष्ट कर दिया और जरासन्ध अपनी सेनाके मारे जानेपर शत्रुओंके उपेक्षापूर्वक छोड़ देनेसे अपनी राजधानीको लौट आया ॥ ४३ ॥ जिस समय अठारहवाँ संग्राम छिड़ने ही वाला था उस समय नारदजीका भेजा हुआ यवनवीर कालयवन मथुराके पास दिखायी पड़ा ॥ ४४ ॥

१. विकीर्यमाणो। २. णीर्नृपः। ३. प्रेरितो।

रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः ।
नृलोके चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीञ्छ्रुत्वात्मसम्मितान् ॥४५॥

युद्धमें कालयवनके सामने खड़ा होनेवाला वीर संसारमें दूसरा कोई न था। उसने यादवोंको अपने समान बलवाले सुन तीन करोड़ म्लेच्छसेनाके साथ मथुरापुरीमें आ उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ४५ ॥

तं दृष्ट्वाचिन्तयत्कृष्णः सङ्कर्षणसहायवान् ।
अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महत् ॥४६॥
यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः ।
मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वागमिष्यति ॥४७॥
आवयोर्युध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः ।
बन्धून्वधिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुरं बली ॥४८॥
तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम् ।
तत्र ज्ञातीन्समाधाय यवनं घातयामहे ॥४९॥

उस अपार सैन्य-समुद्रको देखकर, श्रीकृष्णचन्द्रने बलरामजीके साथ मिलकर विचार किया—'अहो ! इस समय यादवोंपर दोनों ओरसे महान् विपत्ति उपस्थित हुई है ॥ ४६ ॥ आज इस महाबली यवनने तो हमें आकर घेर ही लिया है, मगधराज भी आज-कल या परसोंतक आ ही जायगा ॥ ४७ ॥ यदि हमारे इसके साथ युद्ध करते समय ही महाबली जरासन्ध आ गया तो वह हमारे बन्धुओंको या तो मार डालेगा या अपने नगरको ले जायगा ॥ ४८ ॥ इसलिये आज हम एक ऐसे दुर्गकी रचना करेंगे जिसमें किसी भी मनुष्यका प्रवेश करना अत्यन्त कठिन होगा, फिर अपने स्वजनोंको उसीमें पहुँचाकर इस यवनका वध करायँगे' ॥ ४९ ॥

इति सम्मन्त्र्य भगवान्दुर्गं द्वादशयोजनम् ।
अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत् ॥५०॥
दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम् ।
रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम् ॥५१॥
सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम् ।
हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः ॥५२॥
राजतारकुटैः कोष्ठैर्हेमकुम्भैरलङ्कृतैः ।
रत्नकूटैर्गृहैर्हैमैर्महामरकतस्थलैः ॥५३॥
वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वलभीभिश्च निर्मितम् ।
चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत् ॥५४॥

बलरामजीसे इस प्रकार सम्मति कर भगवान्ने समुद्रके बीचमें एक बारह योजनके विस्तारवाला दुर्गम नगर बनवाया जो सम्पूर्ण विचित्रताओंसे युक्त था ॥ ५० ॥ उसमें विश्वकर्माका विज्ञान और शिल्पचातुर्य स्पष्ट दिखायी देता था। वह नगर शिल्पशास्त्रके अनुसार राजमार्ग, चौराहों और गलियोंके विभागसे बनाया गया था ॥ ५१ ॥ वह सब ओर देववृक्ष, पुष्पित लता, उद्यान और विचित्र बगीचोंसे सम्पन्न था तथा गगनस्पर्शी सुवर्णमय शिखर और स्फटिकमणिके चौबारे एवं द्वार उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ५२ ॥ उसमें सुवर्णकलशोंसे सुशोभित चाँदी और पीतल जड़े हुए अन्नकोष्ठ तथा अश्वशालाएँ थीं और रत्नजटित शिखर एवं मरकतमणिमय भूमि (फर्श) वाले सुवर्णमय भवन सुशोभित थे ॥ ५३ ॥ उस नगरमें वास्तुदेवताओंके मन्दिर और चन्द्रशालाएँ (अट्टालिकाएँ) बनायी गयी थीं, उसमें चारों वर्णके लोग रहते थे और बीचमें भगवान् कृष्णचन्द्रका महल उसकी शोभा बढ़ा रहा था ॥५४॥

सुधर्मां पारिजातं च महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः ।

हे राजन् ! तब इन्द्रने श्रीहरिके पास कल्पवृक्ष

यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते ॥५५॥
श्यामैककर्णान्वरुणो हयाञ्छुक्लान्मनोजवान् ।
अष्टौ निधिपतिः कोशाँल्लोकपालो निजोदयान् ॥५६॥
यद्यद्भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये ।
सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप ॥५७॥
तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः ।
प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः ।
निर्जगाम पुरद्वारात्पद्ममाली निरायुधः ॥५८॥

और सुधर्मा सभा भेज दी । उस सभामें बैठनेवाला मनुष्य क्षुधा-पिपासादि मानवधर्मोंसे युक्त नहीं होता था ॥५५॥ वरुणने जिनके एक कान श्यामवर्णके थे ऐसे मनके समान वेगवाले बहुत-से श्वेत घोड़े भेजे । धनपति कुबेरने आठ निधियाँ भेजीं तथा अन्यान्य लोकपालोंने भी अपनी-अपनी विभूतियाँ भगवान्‌के पास भेज दीं ॥ ५६ ॥ हे राजन् ! भिन्न-भिन्न लोकपालोंको अपना अधिकार चलानेके लिये भगवान्‌ने जिन-जिन सिद्धियोंका आधिपत्य दिया था वे सब सिद्धियाँ उन्होंने भगवान्‌के भूर्लोकमें पधारनेपर उन्हें लौटा दीं ॥ ५७ ॥ श्रीहरिने अपने योगबलसे सम्पूर्ण पुरवासियोंको उस नगरमें पहुँचा दिया और प्रजापालनके लिये वहाँ छोड़े हुए श्रीबलभद्रजीसे सम्मति ले आप नगरके द्वारसे बाहर आये । उस समय भगवान् कमलकुसुमोंकी माला पहने थे और उनके पास कोई शस्त्र न था ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[1] दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
दुर्गनिवेशनं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५०॥

इक्यावनवाँ अध्याय

मुचुकुन्दकी कथा ।

श्रीशुक उवाच

तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम् ।
दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ १ ॥
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ।
पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥ २ ॥
नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम् ।
मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥
वासुदेवो ह्ययमिति पुमाञ्छ्रीवत्सलाञ्छनः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! नगरसे निकलते हुए भगवान् कृष्ण ऐसे प्रतीत होते थे मानो पूर्वदिशामें चन्द्रदेव प्रकट हुए हों । उनका श्याम शरीर अतिशय दर्शनीय था और वे रेशमी पीताम्बर पहने हुए थे । उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स और गलेमें देदीप्यमान कौस्तुभमणि सुशोभित थी । उनकी चारों भुजाएँ विशाल और स्थूल एवं नेत्र नवीन रक्तकमलके समान कुछ अरुण थे । उनका नित्यप्रसन्न मुखारविन्द शोभायुक्त सुन्दर कपोल एवं मनोहर मुसकानसे सुशोभित था, कानोंमें मकराकृत कुण्डल हिल रहे थे । उन्हें देखकर कालयवनने निश्चय किया कि ये वसुदेवनन्दन कृष्ण ही हैं, क्योंकि नारदजीके बतलाये हुए लक्षणोंके अनुसार यह श्रीवत्सचिह्नयुक्त,

१. न्धे पञ्चाश० ।

चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥ ४ ॥
लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ।
निरायुधश्चलन्पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥ ५ ॥

चार भुजाओंवाला, कमलनयन और वनमालाधारी अति सुन्दर पुरुष और कोई नहीं हो सकता । इस समय यह बिना कोई अस्त्र-शस्त्र लिये पैदल ही आ रहा है इसलिये मैं भी इसके साथ बिना हथियारके ही लड़ूँगा ॥ १-५ ॥

इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् ।
अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥ ६ ॥
हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे ।
नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम् ॥ ७ ॥
पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ।
इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ॥ ८ ॥
एवं क्षिप्तोऽपि भगवान्प्राविशद्गिरिकन्दरम् ।
सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ॥ ९ ॥

ऐसा निश्चय कर वह यवन, योगिजन भी जिन्हें कठिनतासे पा सकते हैं, उन अपने सामनेसे भगे हुए श्रीहरिको पकड़नेके लिये उनके पीछे दौड़ा ॥ ६ ॥ तब श्रीभगवान्, पग-पगपर यह दिखाते हुए कि मानो अब हाथमें पकड़े जाते हैं उस यवनको बहुत दूर एक पर्वतकी गुफामें ले गये ॥ ७ ॥ तब जिसका अशुभ नष्ट नहीं हुआ वह कालयवन "हे कृष्ण ! तू यदुकुलमें उत्पन्न हुआ है, तुझे भागना ठीक नहीं है" इस प्रकार आक्षेप करता भगवान्के पीछे-पीछे चला गया किन्तु उन्हें पकड़ न सका ॥८॥ इस प्रकार कालयवनके बारम्बार आक्षेप करनेपर भी भगवान् बढ़े ही चले गये और एक पर्वतकी कन्दरामें घुस गये । उनके पीछे वह यवन भी उस गुफामें घुसा और उसने वहाँ एक दूसरे पुरुषको सोये हुए देखा ॥ ९ ॥

नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत् ।
इति मत्वाच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत् ॥१०॥
स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने ।
दिशो विलोकयन्पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम् ॥११॥
स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ।
देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभवत्क्षणात् ॥१२॥

किन्तु, मूर्ख कालयवनने उसे श्रीकृष्ण ही समझा और यह सोचकर कि 'देखो, मुझे इतनी दूर लाकर यहाँ कैसा साधु-सा बनकर सोया हुआ है' उसको लातसे मारा ॥१०॥ वह पुरुष वहाँ बहुत दिनोंसे सोया हुआ था, उसने जागकर धीरे-धीरे नेत्र खोले और दिशाओंमें इधर-उधर देखनेपर पास ही खड़े हुए कालयवनको देखा ॥११॥ हे भारत ! उस क्रुद्ध पुरुषकी दृष्टि पड़ते ही कालयवन अपने देहसे उत्पन्न हुए अग्निसे जलकर एक क्षणमें ही भस्म हो गया ॥१२॥

राजोवाच[२]

को नाम स पुमान्ब्रह्मन्कस्य किंवीर्य एव च ।
कस्माद्गुहां गतः शिश्ये किन्तेजा यवनार्दनः ॥१३॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! कालयवनको नष्ट करनेवाला वह पुरुष कौन था ? किसका पुत्र था ? उसका पराक्रम और तेज कैसा था ? और वह किस कारणसे उस गुफामें जाकर सोया था ॥१३॥

---

१. प्राप्यमि० । २. परीक्षिदुवाच ।

श्रीशुक उवाच

स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान् ।
मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥१४॥
स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे ।
असुरेभ्यः परित्रस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥१५॥
लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन् ।
राजन्विरमतां कृच्छ्राद्भवान्नः परिपालनात् ॥१६॥
नरलोके परित्यज्य राज्यं निहतकण्टकम् ।
अस्मान्पालयतो वीर कामास्ते सर्व उज्झिताः ॥१७॥
सुता महिष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः ।
प्रजाश्च तुल्यकालीया नाधुना सन्ति कालिताः ॥१८॥
कालो बलीयान्बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः ।
प्रजाः कालयते क्रीडन्पशुपालो यथा पशून् ॥१९॥
वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः ।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान्विष्णुरव्ययः ॥२०॥
एवमुक्तः स वै देवानभिवन्द्य महायशाः ।
अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया ॥२१॥
स्वापं[2] यातं यस्तु मध्ये बोधयेत्त्वामचेतनः ।
स त्वया दृष्टमात्रस्तु भस्मीभवतु तत्क्षणात् ॥२२॥
यवने भस्मसान्नीते भगवान्सात्वतर्षभः ।
आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ॥२३॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वे इक्ष्वाकुके कुलमें उत्पन्न हुए महाराज मान्धाताके पुत्र महाब्रह्मण्य और सत्यप्रतिज्ञ राजा मुचुकुन्द थे ॥१४॥ एक बार इन्द्र आदि देवताओंने दैत्योंसे अत्यन्त त्रस्त होनेके कारण उनसे अपनी रक्षाके लिये प्रार्थना की। तब उन्होंने बहुत समयतक देवताओंकी रक्षा की ॥१५॥ कालान्तरमें देवताओंको स्वर्गकी रक्षाके लिये देवसेनापति श्रीकार्तिकेयजी मिल गये। तब उन्होंने राजा मुचुकुन्दसे कहा "हे राजन् ! अब आप हमारी रक्षाके कष्टसे निवृत्त होइये ॥१६॥ हे वीर ! अपना मर्त्यलोकका निष्कण्टक राज्य छोड़कर हम लोगोंका पालन करते हुए आपने अपने सम्पूर्ण भोग त्याग दिये ॥१७॥ अब आपके पुत्र, स्त्री, जातिबन्धु, अमात्य, मन्त्री एवं समकालीन प्रजावर्गमेंसे कोई भी नहीं रहा; वे सभी कालके ग्रास हो चुके हैं ॥१८॥ यह काल समस्त बलवानोंमें बली है, यही अविनाशी भगवान् ईश्वर है। गोपगण जैसे पशुओंका सञ्चालन करते हैं वैसे ही यह खेलसे ही प्रजाका नियन्त्रण करता है ॥१९॥ हे राजन् ! आपका कल्याण हो, आप मोक्षको छोड़कर और कोई भी वर हमसे माँग लीजिये; क्योंकि मोक्ष देनेमें तो एकमात्र अव्यय भगवान् विष्णु ही समर्थ हैं" ॥२०॥

देवताओंके इस प्रकार कहनेपर महायशस्वी मुचुकुन्दने उन्हें प्रणाम करके बहुत दिनोंसे थके होनेके कारण निद्राहीका वर माँगा। देवताओंने कहा—"हे राजन् ! जो मूर्ख तुझ सोते हुएको जगावे वह तुरन्त भस्म हो जाय।" इस प्रकार देवताओंकी दी हुई निद्राके वशीभूत हो राजा मुचुकुन्द उस गुहामें आकर सो गये ॥ २१-२२ ॥

इस प्रकार कालयवनके भस्मीभूत होनेपर यदुश्रेष्ठ भगवान् कृष्णने परम बुद्धिमान् राजा मुचुकुन्दको अपना दर्शन दिया ॥ २३ ॥

१. च हत०। २. प्राचीन प्रतिमें 'स्वापं यातं…' यह पूरा श्लोक मूलमें नहीं टिप्पणीमें लिखा है। 'स्वापं यातं' के स्थानमें 'स्वापं यन्तं' यह पाठभेद है।

तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥२४॥
चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥२५॥
प्रेक्षणीयं नृलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम्[1] ।
अपीच्यवयसं[2] मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥२६॥
पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः ।
शङ्कितः शनकै राजा दुर्धर्षमिव तेजसा ॥२७॥

उनका शरीर मेघके समान श्याम था, वे रेशमी पीताम्बर पहने और वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न तथा कौस्तुभमणि धारण किये हुए थे, लम्बी-लम्बी चार भुजाओं और वैजयन्ती मालासे विभूषित थे । उनका मुख अति सुन्दर और प्रसन्न था तथा कानोंमें मकराकृत कुण्डल झिलमिला रहे थे । उनकी चितवन प्रणयमुसकान-से युक्त थी । वे मनुष्यमात्रके लिये दर्शनीय थे,उनकी अति सुन्दर तरुण अवस्था थी और मत्त मृगराजके समान उदार विक्रम था । भगवान्के उस दुर्धर्ष तेजयुक्त दिव्यरूपको देखकर महाबुद्धिमान् राजा मुचुकुन्दने उसके तेजसे प्रतिहत और शङ्कितचित्त हो धीरे-धीरे पूछा ॥२४-२७॥

मुचुकुन्द उवाच

को भवानिह सम्प्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे ।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके ॥२८॥
किंस्वित्तेजस्विनां तेजो भगवान्वा विभावसुः ।
सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा ॥२९॥
मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् ।
यद्बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा ॥३०॥
शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव ।
स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते ॥३१॥
वयं तु[3] पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः ।
मुचुकुन्द इति प्रोक्तो यौवनाश्वात्मजः प्रभो ॥३२॥
चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयापहतेन्द्रियः ।
शयेऽस्मिन्विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना॥३३॥
सोऽपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव[4] पाप्मना ।
अनन्तरं भवाञ्छ्रीमांल्लक्षितोऽमित्रशातनः[5] ॥३४॥
तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः ।
हतौजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम् ॥३५॥

मुचुकुन्द बोले—आप कौन हैं ? और इस कण्टकाकीर्ण गहन वनमें अपने कमलदल-सदृश सुकुमार चरणारविन्दोंसे विचरते हुए इस गिरिगुहामें कैसे पधारे हैं ? ॥२८॥ आप समस्त तेजस्वियोंके तेज अथवा साक्षात् भगवान् अग्निदेव तो नहीं हैं ? या सूर्य, चन्द्र, इन्द्र अथवा अन्य लोकपालोंमेंसे कोई हैं ? ॥२९॥ मेरे विचारसे तो आप देवताओंके देवता ब्रह्मा, विष्णु और महादेवमेंसे साक्षात् पुरुषोत्तम श्रीनारायण ही हैं, क्योंकि आप प्रज्वलित दीपकके समान अपने तेजसे इस गुफाका अन्धकार नष्ट कर रहे हैं ॥३०॥ हे नरश्रेष्ठ ! यदि आपकी इच्छा हो तो हमें अपने यथार्थ जन्म, कर्म और गोत्र बतलाइये । उन्हें सुननेकी हमारी अत्यन्त इच्छा है ॥३१॥ हे पुरुषसिंह ! मैं तो इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुआ एक क्षत्रिय हूँ । प्रभो ! मेरा नाम मुचुकुन्द है और मैं युवनाश्वनन्दन महाराज मान्धाताका पुत्र हूँ ॥३२॥ मैं बहुत दिनोंतक जागनेके कारण थक गया था, इसलिये निद्रासे अचेत होकर इस निर्जन स्थानमें इच्छानुसार सो रहा था । अब मुझे किसीने जगा दिया ॥३३॥ और वह अपने ही पापसे जलकर भस्म हो गया । फिर अपने शत्रुओंको नष्ट करनेवाले श्रीमान् आपके मुझे दर्शन हुए ॥३४॥ हे महाभाग ! आप समस्त देहधारियोंके माननीय हैं, आपके असह्य तेजसे शक्तिहीन हो जानेके कारण मैं अधिक देरतक आपकी ओर नहीं देख सकता ॥३५॥

१. तेक्षितम् । २. अपीता० । ३. च इह विख्याता ऐक्ष्वा० । ४. मात्मजेनैव । ५. नाशनः ।

एवं सम्भाषितो राज्ञा भगवान्भूतभावनः ।
प्रत्याह प्रहसन्वाण्या मेघनादगभीरया ॥३६॥

राजा मुचुकुन्दके इस प्रकार कहनेपर भूतभावन भगवान् कृष्णने हँसते हुए अपनी मेघके समान गम्भीरवाणीसे कहा ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः ।
न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ॥३७॥
क्वचिद्रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः ।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ॥३८॥
कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप ।
अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः ॥३९॥
तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम ।
विज्ञापितो विरिञ्चेन पुराहं धर्मगुप्तये ।
भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च ॥४०॥
अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः ।
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम् ॥४१॥
कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः ।
अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा ॥४२॥
सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः ।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः ॥४३॥
वरान्वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामान्ददामि ते ।
मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ॥४४॥

श्रीभगवान् बोले—हे तात ! मेरे जन्म-कर्म और नाम हजारों हैं, उनका कोई अन्त नहीं है, इसलिये स्वयं मैं भी उनकी गणना नहीं कर सकता ॥३७॥ सम्भव है, कोई पुरुष अपने कई जन्मोंमें पृथिवीके रुणोंको गिन ले; किन्तु मेरे जन्म, गुण, कर्म और नामोंको कोई कभी नहीं गिन सकता ॥३८॥ हे राजन् ! महर्षिगण भी मेरे त्रिकालसिद्ध जन्म और कर्मोंका वर्णन करते कभी उनका अन्त नहीं पाते ॥३९॥ तथापि मैं अपने वर्तमान जन्म-कर्म और नामोंका वर्णन करता हूँ, सुनो । पूर्वकालमें मुझसे ब्रह्माजीने धर्मकी रक्षा और पृथिवीके भाररूप दैत्योंका संहार करनेके लिये प्रार्थना की थी ॥४०॥ उनकी प्रार्थनासे मैंने यदुकुलमें वसुदेवजीके यहाँ अवतार लिया है । वसुदेवजीका पुत्र होनेसे लोग मुझे 'वासुदेव' कहते हैं ॥४१॥ अबतक मेरे हाथसे कालनेमिका अवतार कंस और प्रलम्बासुर आदि अनेक साधुओंके द्रोही मारे जा चुके हैं । हे राजन् ! इस समय यह कालयवन [मेरी ही प्रेरणासे] तुम्हारी तीक्ष्ण दृष्टिसे भस्म हुआ है ॥४२॥ वही मैं तुमपर कृपा करनेके लिये इस गुफामें आया हूँ । मैं भक्तवत्सल हूँ और तुमने पहले मेरी बहुत आराधना की है ॥४३॥ हे राजर्षे ! तुम मुझसे इच्छित वर माँगो, मैं तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण कर दूँगा । जो पुरुष मेरी शरणमें आ जाता है उसे फिर कोई चिन्ता नहीं रहती ॥४४॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः ।
ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन् ॥४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान्के इस प्रकार कहनेपर मुचुकुन्दको अत्यन्त आनन्द हुआ । उन्होंने, वृद्ध गर्गके वाक्योंका [कि 'अट्ठाइसवें द्वापर युगमें भगवान् वसुदेवजीके यहाँ अवतार लेंगे'] स्मरण करते हुए उन्हें साक्षात् नारायणदेव समझा और कहने लगे ॥४५॥

मुचुकुन्द उवाच

विमोहितोऽयं जन ईश मायया
त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक् ।

मुचुकुन्दने कहा—हे ईश ! आपकी मायासे मोहित होकर ये नर-नारी प्राणी आपको नहीं भजते । इनकी दृष्टि अनर्थरूप संसारकी ओर ही रहती है और ये परस्पर

सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते
गृहेषु योषित्पुरुषश्च वञ्चितः ॥४६॥
लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं
कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मति-
र्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥४७॥
ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो
राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभू-
ष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४८॥
कलेवरेऽस्मिन्घटकुड्यसन्निभे
निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै-
र्गां पर्यटंस्त्वागणयन्सुदुर्मदः ॥४९॥
प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥५०॥
पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चर-
न्मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते
कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥५१॥
निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो
वरासनस्थः समराजवन्दितः ।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां
क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥५२॥
करोति कर्माणि तपस्सु निष्ठितो
निवृत्तभोगस्तदपेक्षया ददत् ।

एक-दूसरेसे ठगे जाकर सुखकी आशासे दुःखमय गृह आदिमें ही फँसे रहते हैं ॥४६॥ हे अनघ ! इस कर्मभूमिमें किसी प्रकार सम्पूर्ण अङ्गोंसे युक्त अति दुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर भी जीव तुच्छ विषय-सुखोंमें मन आसक्त रहनेके कारण आपके चरणकमलोंका भजन नहीं करता, और [तृणके लोभसे अन्धकूपमें गिरे हुए] पशुके समान गृहरूप अन्धकूपमें गिरता है ॥४७॥ हे अजित ! मैं राजा था, राज्यलक्ष्मीके मदने मुझे उन्मत्त कर दिया था, मैं अपने देहको ही आत्मा मानता था और पुत्र, स्त्री एवं राजकोषादिमें मेरी बड़ी आसक्ति थी । इस प्रकार दुरन्त चिन्तामें ही मेरा यह काल वृथा ही बीत गया ! ॥४८॥ घड़ा और भीतके सदृश इस शरीरमें 'मैं राजा हूँ' ऐसा मुझे दृढ़ अभिमान हो गया था और मैं आपका कुछ भी विचार न करता हुआ रथ, हाथी, घोड़े और पैदल— इस चार प्रकारकी सेनाके साथ अति मदान्ध होकर पृथिवीपर घूमता था ॥४९॥ 'मुझे ऐसा करना चाहिये' इस प्रकारकी चिन्तामें मनुष्य अत्यन्त उन्मत्त रहता है, उसे विषयोंकी अत्यन्त लालसा रहती है और विषय मिल जानेपर भी दिनोंदिन उन्हींकी तृष्णा बढ़ती है । किन्तु, जिस प्रकार क्षुधाके कारण जीभ लपलपाता हुआ सर्प असावधान चूहेको दबोच लेता है उसी प्रकार सदा सावधान रहनेवाले कालरूप आप उसे अकस्मात् आकर पकड़ लेते हैं ॥५०॥ पहले जो शरीर 'राजा' नामसे प्रसिद्ध होकर सुवर्णमय रथों और मतवाले हाथियोंपर चढ़कर चलता था वही दुर्निवार कालरूप आपसे कवलित होकर विष्ठा, कृमि या भस्म नामवाला हो जाता है ॥५१॥ हे ईश ! मरणसे पहले भी जो सम्पूर्ण दिशाओंको जीतकर [कोई प्रतिपक्षी न रहनेके कारण] युद्धका अन्त कर चुका है तथा श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठकर अपने समकक्ष राजाओंसे पूजित होता है वही पुरुष विषय-सुखके लिये स्त्रियोंका क्रीडामृग (पालतू पशु) हो जाता है ॥५२॥ फिर उन्हीं राज्यादि भोगोंकी इच्छासे दान-पुण्य करता है और भोगोंको छोड़कर तपस्यामें स्थित

पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति
प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥५३॥
भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥५४॥
मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो
राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया ।
यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया
वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः ॥५५॥
न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
दकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो ।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे
वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥५६॥
तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो
रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं
त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥५७॥
चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै-
रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ॥५८॥

हुआ 'मैं दूसरे जन्ममें स्वतन्त्र सम्राट् होऊँ' इस इच्छासे नाना प्रकारके कर्म करता है, इसलिये तृष्णा बढ़ जानेके कारण वह तनिक भी चैन नहीं पाता ॥५३॥ हे अच्युत ! जब इस संसारचक्रमें भ्रमते हुए पुरुषके जन्म-मरणरूप संसारका अन्त निकट आता है तब उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है और जिस समय सत्सङ्ग प्राप्त होता है उसी समय सत्पुरुषोंके आश्रयरूप एवं कार्य-कारणके नियन्ता आपमें उसका चित्त लगता है ॥५४॥ हे ईश ! मेरा राज्यबन्धन स्वयं ही टूट गया इसे मैं आपका अनुग्रह ही मानता हूँ; क्योंकि जो साधु-स्वभाव चक्रवर्ती राजालोग राज्य छोड़कर तपस्याके लिये वनमें जाना चाहते हैं वे भी इस राज्यानुरागसे मुक्त होनेके लिये आपसे प्रार्थना किया करते हैं ॥५५॥ हे विभो ! निरभिमानी पुरुषोंकी जो अत्यन्त प्रार्थनीय है उस आपकी चरणसेवाके अतिरिक्त मैं और कोई वर नहीं माँगना चाहता । हे हरे ! आप मोक्षप्रद प्रभुकी आराधना कर कोई भी विवेकी पुरुष अपनेको बाँधनेवाला वर कैसे माँग सकता है ? ॥५६॥ इसलिये हे ईश ! मैं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़कर आप निर्मल, निर्गुण, अद्वय और चिन्मात्र परमपुरुषकी शरण लेता हूँ ॥५७॥ मैं चिरकालसे अपने कर्मफलोंसे पीडित था, उनके दुःखद परिणाम मुझे निरन्तर तपा रहे थे, अपने छः शत्रुओं (पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन) की तृष्णा शान्त न होनेके कारण मुझे तनिक भी चैन न था । हे शरणप्रद परमात्मन् ! अब मैं आपके भय, मृत्यु और शोकसे रहित चरणकमलोंमें आया हूँ । हे ईश ! आप मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये ॥ ५८ ॥

श्रीभगवानुवाच

सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता ।
वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥५९॥
प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत् ।
न धीर्मय्येकभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥६०॥

श्रीभगवान् बोले—हे सार्वभौम महाराज ! तुम्हारी बुद्धि बड़ी निर्मल और उच्च कोटिकी है जो मेरे बार-बार वरके लिये प्रलोभित करनेपर भी कामनाओंके वशीभूत नहीं हुई ॥५९॥ मैंने जो तुम्हें वर देनेका प्रलोभन दिया था उसे तुम अपनी सावधानीकी परीक्षाके लिये ही समझना, क्योंकि मेरे अनन्य भक्तोंकी बुद्धि कभी कामनाओंसे विद्ध नहीं हुआ करती ॥६०॥

युञ्जानानामभक्तानां[1] प्राणायामादिभिर्मनः ।
अक्षीणवासनं राजन्दृश्यते पुनरुत्थितम्[2] ॥६१॥
विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः ।
अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥६२॥
क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून्न्यवधीर्मृगयादिभिः ।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः[3] ॥६३॥
जन्मन्यनन्तरे राजन्सर्वभूतसुहृत्तमः ।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥६४॥

जो लोग मेरे भक्त नहीं होते उनका मन प्राणायामादि साधनोंसे वशमें करनेकी चेष्टा करते रहनेपर भी वासनाओंका क्षय न होनेके कारण फिर विषयोंकी ओर जाता दिखायी देता है ॥६१॥ अब तुम मुझमें चित्त लगाकर स्वेच्छापूर्वक पृथिवीपर विचरो । मुझमें तुम्हारी सर्वदा अनपायिनी भक्ति बनी रहे ॥६२॥ तुमने क्षात्रधर्मका आचरण करते हुए मृगया आदिमें बहुतसे जीवोंका वध किया है । अब उस पापको समाहित चित्तसे मेरी उपासना करते हुए तपस्याद्वारा क्षीण करो ॥६३॥ हे राजन् ! आगामी जन्ममें तुम समस्त प्राणियोंके परम सुहृद् एक ब्राह्मणश्रेष्ठ होगे, उस समय तुम मुझ केवलस्वरूप परमात्माको अवश्य प्राप्त होगे ॥६४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[4] उत्तरार्धे
मुचुकुन्दस्तुतिर्नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५१॥

बावनवाँ अध्याय

द्वारकागमन, बलरामजीका विवाह तथा श्रीकृष्णचन्द्रको रुक्मिणीजीका विवाह-सन्देश ।

श्रीशुक उवाच

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः ।
तं परिक्रम्य सन्नम्य निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १ ॥
स वीक्ष्य क्षुल्लकान्मर्त्यान्पशून्वीरुद्वनस्पतीन् ।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥ २ ॥
तपःश्रद्धायुतो धीरो[5] निःसङ्गो मुक्तसंशयः ।
समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद्गन्धमादनम् ॥ ३ ॥
बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम् ।
सर्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाराधयद्धरिम् ॥ ४ ॥
भगवान्पुनराव्रज्य पुरीं[6] यवनवेष्टिताम् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे तात ! इक्ष्वाकुनन्दन महाराज मुचुकुन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे इस प्रकार अनुगृहीत हो उनकी परिक्रमा और प्रणाम कर गुहासे बाहर आये ॥ १ ॥ उन्होंने बाहर आकर देखा कि सम्पूर्ण मनुष्य, पशु, लता और वृक्ष छोटे-छोटे आकारके हैं । इससे यह जानकर कि कलियुग आ गया वे उत्तर दिशाकी ओर चले गये ॥ २ ॥ महाराज मुचुकुन्द तपकी श्रद्धासे सम्पन्न परम धीर तथा सब प्रकारके सङ्ग और संशयसे रहित थे । वे श्रीकृष्णचन्द्रमें चित्त लगाये हुए गन्धमादन पर्वतपर पहुँचे ॥ ३ ॥ और वहाँ श्रीनर-नारायणके स्थान बद्रिकाश्रममें जाकर सब द्वन्द्वोंको सहन करते हुए शान्तभावसे तपस्याद्वारा श्रीहरिकी आराधना करने लगे ॥ ४ ॥

इधर, भगवान् यवनसेनासे घिरी हुई मथुरापुरीमें

१. यु० । २. क्वचिदुत्थितम् । ३. पाश्रयः । ४. न्धे यवनवधो मुचुकुन्दस्तव एक० । ५. वीरो । ६. मथुरां यवने हते ।

हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां धनम् ॥ ५ ॥
नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः ।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥ ६ ॥
विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ ।
मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन्दद्रुवतुर्द्रुतम् ॥ ७ ॥
विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत् ।
पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेलतुर्बहुयोजनम् ॥ ८ ॥
पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन्बली ।
अन्वधावद्रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित् ॥ ९ ॥
प्रद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम् ।
प्रवर्षणाख्यं भगवान्नित्यदा यत्र वर्षति ॥१०॥
गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप ।
ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन् ॥११॥
तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ ।
दशैकयोजनोत्तुङ्गान्निपेततुरधोभुवि ॥१२॥
अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ ।
स्वपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिखां नृप ॥१३॥
सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ ।
बलमाकृष्य सुमहन्मगधान्मागधो ययौ ॥१४॥
आनर्त्ताधिपतिः श्रीमान्रैवतो रेवतीं सुताम् ।
ब्रह्मणा चोदितः प्रादाद्बलायेति पुरोदितम् ॥१५॥
भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह ।
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयंवरे ॥१६॥
प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान् ।
पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव ॥१७॥

लौट आये और उस म्लेच्छदलका संहार कर उनका धन द्वारकाको ले चले ॥ ५ ॥ जिस समय वह धन श्रीअच्युतकी आज्ञासे बैल और मजदूरोंपर लादकर ले जाया जा रहा था उसी समय जरासन्ध तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर आ पहुँचा ॥ ६ ॥ हे राजन् ! शत्रुसेनाका प्रबल वेग देख श्रीकृष्ण और बलराम मनुष्यलीलाका अनुकरण करते हुए उसके सामनेसे शीघ्रतापूर्वक भागे ॥ ७ ॥ यद्यपि उन्हें कोई भी भय नहीं था तथापि मानो अत्यन्त डर गये हों, इस प्रकार वह भारी सम्पत्ति वहीं पड़ी छोड़ अपने कमलदलसदृश सुकुमार चरणोंसे कई योजनतक भागे चले गये ॥ ८ ॥ उन्हें भागते देख महाबली मगधराज उन ईश्वरोंका प्रभाव न जाननेके कारण अपने रथी सैनिकोंके साथ उनके पीछे दौड़ा ॥ ९ ॥ जब बहुत दूरतक दौड़नेके कारण भगवान् थक गये तो वे एक प्रवर्षणनामक ऊँचे पर्वतपर चढ़ गये जहाँ नित्य वर्षा होती थी ॥१०॥ हे राजन् ! उन्हें पर्वतपर छिपे जान और उनका कहीं पता न पा जरासन्धने इन्धनसे पूर्ण उस पर्वतके चारों ओर आग लगवाकर जला दिया ॥११॥ जब उसका पार्श्वभाग जलने लगा तो दोनों भाई वेगसे उछलकर उस ग्यारह योजन ऊँचे पहाड़से नीचे पृथिवीपर कूद पड़े ॥१२॥ हे राजन् ! वे दोनों यदुश्रेष्ठ जरासन्धसे छिपकर अपने साथियोंके साथ फिर अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें आ गये जिसके चारों ओर समुद्ररूप खाईं थी ॥१३॥ इधर जरासन्ध झूठमूठ ही यह समझकर कि 'कृष्ण और बलराम दोनों भाई जल गये' अपनी सेनाको लेकर फिर मगधदेशको लौट गया ॥१४॥

हे राजन् ! यह बात हम पहले ही कह चुके हैं कि आनर्त्तनरेश श्रीमान् रैवतने ब्रह्माजीके कहनेसे अपनी पुत्री रेवती बलरामजीको विवाह दी थी ॥१५॥ उनके पश्चात्, हे कुरुनन्दन ! श्रीगोविन्दने भी स्वयंवरमें आये हुए शिशुपालके पक्षपाती शाल्वादि अनेक राजाओंका मानमर्दन कर, गरुडजी जैसे अमृतको हर लाये थे वैसे ही उन सबके सामनेसे विदर्भदेशमें उत्पन्न हुई महाराज भीष्मककी कन्या और लक्ष्मीजीकी अंशावतार श्रीरुक्मिणीजीका हरण किया ॥१६-१७॥

१. चेरतु० ।

राजोवाच

भगवान्भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम् ।
राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम् ॥१८॥
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः ।
यथा मागधशाल्वादीञ्जित्वा कन्यामुपाहरत् ॥१९॥
ब्रह्मन्कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः ।
को नु तृप्येत शृण्वानः श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः ॥२०॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हमने सुना है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने महाराज भीष्मककी पुत्री सुन्दरी रुक्मिणीजीसे राक्षसविवाहकी विधिसे विवाह किया था ॥१८॥ सो हे भगवन् ! 'अमित पराक्रमी भगवान् कृष्णने जरासन्ध और शाल्वादि शूरवीरोंको परास्त कर किस प्रकार कन्याहरण किया' यह प्रसङ्ग मैं सुनना चाहता हूँ ॥१९॥ हे ब्रह्मन् ! भगवान् कृष्णकी कथाएँ अति पवित्र, मधुर और संसारमलका मार्जन करनेवाली हैं । उन नित्यनूतन कथाओंको सुननेसे किस मर्मज्ञ श्रोताकी तृप्ति हो सकती है ? ॥२०॥

श्रीशुक उवाच[1]

राजासीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान् ।
तस्य पञ्चाभवन्पुत्राः कन्यैका च वरानना ॥२१॥
रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः ।
रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती ॥२२॥
सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः ।
गृहागतैर्गीयमानास्तं[2] मेने सदृशं पतिम् ॥२३॥
तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणाश्रयाम् ।
कृष्णश्च सदृशां भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे ॥२४॥
बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप ।
ततो निवार्य कृष्णद्विड् रुक्मी चैद्यममन्यत ॥२५॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! महाराज भीष्मक विदर्भ देशके अधिपति थे । उनके पाँच पुत्र और एक सुमुखी कन्या हुई ॥२१॥ उनमें रुक्मी सबसे बड़ा था, उसके अतिरिक्त रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली ये चार भाई और थे । तथा सती रुक्मिणी इनकी छोटी बहिन थीं ॥२२॥ उन्होंने अपने यहाँ आनेवाले लोगोंके मुखसे भगवान् कृष्णके रूप, वीर्य, गुण और वैभवकी प्रशंसा सुनकर उन्हें ही अपना अनुरूप पति समझा॥२३॥ इधर श्रीकृष्णचन्द्रने भी बुद्धि, लक्षण, उदारता, रूप, शील और सम्पूर्ण गुणोंकी खान रुक्मिणीको अपने योग्य भार्या समझकर उनसे विवाह करनेका मनमें निश्चय किया ॥२४॥ जब कृष्णद्रोही रुक्मीने देखा कि पिता-माता आदि समस्त बन्धुगण बहिन रुक्मिणीका विवाह श्रीकृष्णचन्द्रके साथ करना चाहते हैं, तो उसने उन्हें रोक दिया और चेदिराज शिशुपालको ही रुक्मिणीके योग्य वर समझा ॥२५॥

तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम् ।
विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित्कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम्॥२६॥
द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः प्रवेशितः ।
अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं काञ्चनासने ॥२७॥

रुक्मीका यह विचार जानकर श्यामलोचना विदर्भ-राजकुमारी रुक्मिणी बहुत दुःखी हुईं । उन्होंने कुछ सोच-समझकर एक विश्वासपात्र ब्राह्मणको तुरन्त श्रीकृष्णके पास द्वारका भेजा ॥२६॥ द्वारकामें पहुँचनेपर उन द्विजराजको द्वारपालगण राजभवनके भीतर ले गये । वहाँ उन्होंने आदिपुरुष भगवान् कृष्णको एक सुवर्णमय सिंहासनपर विराजमान देखा॥२७॥

१. बादरायणिरुवाच । २. मानं तं ।

दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात् ।
उपवेश्यार्हयाञ्चक्रे यथात्मानं दिवौकसः ॥२८॥

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः ।
पाणिनाभिमृशन्पादावव्यग्रस्तमपृच्छत ॥२९॥

कच्चिद्द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसम्मतः ।
वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा ॥३०॥

संतुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित् ।
अहीयमानः स्वाद्धर्मात्स ह्यस्याखिलकामधुक् ॥३१॥

असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः ।
अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः ॥३२॥

विप्रान्स्वलाभसंतुष्टान्साधून्भूतसुहृत्तमान् ।
निरहङ्कारिणः शान्तान्नमस्ये शिरसासकृत् ॥३३॥

कच्चिद्वः कुशलं ब्रह्मन्राजतो यस्य हि प्रजाः ।
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः ॥३४॥

यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया ।
सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत्किं कार्यं करवाम ते ॥३५॥

एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना ।
लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥

ब्रह्मण्यदेव भगवान् कृष्ण उन ब्राह्मणमहाशयको देखते ही अपने आसनसे उठ खड़े हुए और उन्हें आसनपर बिठा, जैसे देवगण भगवान्की पूजा करते हैं वैसे ही उन्होंने उन विप्रवरकी पूजा की ॥ २८ ॥ जब ब्राह्मणदेवता भोजनादिसे निवृत्त हो कुछ देर विश्राम कर चुके तब सज्जनोंकी एकमात्र गति भगवान् कृष्ण उनके पास गये और अपने कोमल करोंसे उनके चरण दबाते हुए शान्तभावसे पूछने लगे ॥२९॥ "हे विप्रप्रवर ! आपका चित्त सदा सन्तुष्ट रहता है न ? आपको अपने पूर्व पुरुषोंद्वारा निश्चित धर्मका पालन करनेमें विशेष कठिनता तो नहीं होती ? ॥३०॥ यदि ब्राह्मण, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहकर अपने धर्मसे पतित नहीं होता तो इसीसे उसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥३१॥ यदि इन्द्र-पदवी पाकर भी किसीको सन्तोष नहीं हुआ तो वह [सुखकी खोजमें] निरन्तर एक लोकसे दूसरे लोकोंमें भटकता रहता है [वह शान्तिपूर्वक एक स्थानपर नहीं रह सकता] । किन्तु सन्तोष होनेपर तो जिसके पास कुछ भी नहीं है वह भी सब प्रकार सन्तापरहित होकर शान्तभावसे रहता है ॥३२॥ जो आत्मलाभमें सन्तुष्ट, साधुस्वभाव, समस्त प्राणियोंके परम सुहृद्, अहंकारहीन और शान्तस्वभाव हैं उन ब्राह्मणोंको मैं सदा शिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥३३॥ हे ब्रह्मन् ! राजाकी ओरसे तो आप सब लोग कुशलपूर्वक हैं न ? जिसके राज्यमें प्रजाका अच्छी प्रकार पालन होता है और प्रजागण आनन्दपूर्वक रहते हैं वह राजा मुझे प्रिय होता है ॥३४॥ हे विप्रवर ! अब आप, जिस इच्छासे समुद्रकी खाई पार कर इस नगरमें पधारे हैं वह सब यदि विशेष गोपनीय न हो तो हमें बतलाइये । कहिये, हम आपका क्या कार्य करें ? ॥३५॥

लीलाविग्रहधारी भगवान् कृष्णके इस प्रकार पूछनेपर ब्राह्मणदेवताने उन्हें सब वृत्तान्त सुना दिया। [वे कहने लगे—] ॥३६॥

---

१. कर्मकृत् ।

रुक्मिण्युवाच

श्रुत्वा गुणान्भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥३७॥

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥३८॥

तन्मे भवान्खलु वृतः पतिरङ्ग जाया-
मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि ।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आरा-
द्गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥३९॥

पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्र-
गुर्वर्चनादिभिरलं भगवान्परेशः ।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं
गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये ॥४०॥

श्वोभाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्
गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य
मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् ॥४१॥

अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धूं-
स्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् ।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा
यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात् ॥४२॥

रुक्मिणीजीने कहा है—हे त्रिभुवनसुन्दर ! जो सुननेवालोंके कर्णकुहरोंमें प्रवेश कर उनका शारीरिक सन्ताप शान्त करते हैं ऐसे आपके गुणोंको और जो नेत्रवालोंको दृष्टिका सम्पूर्ण लाभ देनेवाला है ऐसे आपके रूपको सुनकर हे अच्युत ! मेरा चित्त लज्जा छोड़कर आपहीमें लग रहा है ॥३७॥ हे मुकुन्द ! आप कुल, शील, रूप, विद्या, अवस्था और धन-धामादिमें अपने ही तुल्य हैं । आप मनुष्यमात्रके मनोंको रमानेवाले हैं । हे पुरुषसिंह ! विवाहका समय उपस्थित होनेपर ऐसी कौन कुलवती, परम गुणवती और धैर्यवती कन्या होगी जो आपको पतिरूपसे वरण न करेगी ॥३८॥ इसीलिये, हे प्रिय ! मैंने आपको पतिरूपसे वरण किया है, मैं आपको आत्मसमर्पण कर चुकी हूँ । हे विभो ! आप भी यहाँ पधारकर मुझे अपनी पत्नी बनाइये । हे कमलनयन ! सियार जिस प्रकार सिंहके भागको नहीं ले जा सकता उसी प्रकार हे वीर ! मैं आपका भाग हूँ, देखिये चेदिराज शिशुपाल निकट आकर मेरा स्पर्श न करने पावे ॥३९॥ पूर्त (कुआँ आदि खुदवाना), इष्ट (यज्ञादि करना), दान, नियम, व्रत तथा देवता, ब्राह्मण और गुरु आदिकी पूजादिसे मैंने यदि भगवान् परमेश्वरकी कुछ भी आराधना की है तो श्रीकृष्णचन्द्र आकर मेरा पाणिग्रहण करें, उनके सिवा दमघोषनन्दन (शिशुपाल) आदि कोई और पुरुष मुझे न छू सकें ॥४०॥ हे अजित ! जब दूसरे दिन मेरा विवाह होनेवाला हो उससे पहले ही आप यादव-सेनापतियोंके साथ गुप्तरूपसे विदर्भदेशमें आ जाइये और शिशुपाल तथा जरासन्धादिकी सेनाको बलपूर्वक नष्ट-भ्रष्ट करते हुए, केवल वीर्यरूप मूल्य देकर मेरे साथ राक्षस-विधिके अनुसार विवाह कीजिये ॥४१॥ यदि आप कहें कि तुम तो अन्तःपुरमें रहनेवाली हो, मैं तुम्हारे बन्धुओंको मारे बिना तुम्हें कैसे ले आ सकता हूँ तो उसका मैं एक उपाय बतलाती हूँ । हमारे यहाँ विवाहके पहले दिन कुलदेवीकी यात्रा हुआ करती है । उसमें नववधूको नगरके बाहर श्रीपार्वतीजीके मन्दिरमें जाना पड़ता है [उस समय आप मुझे ले जा सकते हैं ।] ॥ ४२ ॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोपहत्यै।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून्व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्॥४३॥

हे कमलनयन! उमापति भगवान् शङ्करके समान महान् पुरुष भी अपने अन्तःकरणका अज्ञान नष्ट करनेके लिये जिस आपकी चरणकमलरजसे स्नान करनेकी इच्छा करते हैं यदि आपका वह प्रसाद मैं न पा सकी तो व्रतद्वारा शरीरको सुखाकर प्राण छोड़ दूँगी। सौ जन्मोंमें तो आपका प्रसाद मिलेगा ही॥४३॥

ब्राह्मण उवाच

इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाहृताः।
विमृश्य कर्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम्॥४४॥

ब्राह्मणने कहा—हे यदुदेव! मैं आपके पास रुक्मिणीजीका यह गुप्त संदेश लाया हूँ। इस विषयमें जो कुछ करना हो उसपर विचार कर तुरन्त ही कर डालिये॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
रुक्मिण्युद्वाहप्रस्तावे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥५२॥

तिरपनवाँ अध्याय

रुक्मिणीहरण।

श्रीशुक उवाच

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत्॥१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! विदर्भकुमारी रुक्मिणीजीका यह सन्देश सुन यदुनन्दन कृष्णचन्द्रने ब्राह्मणका हाथ अपने हाथमें ले उनसे हँसते हुए इस प्रकार कहा—॥१॥

श्रीभगवानुवाच

तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः॥२॥

भगवान्ने कहा—[हे विप्रवर! जिस प्रकार विदर्भराजकुमारीका चित्त मुझमें आसक्त है] इसी प्रकार मेरा मन भी उन्हींमें लगा रहता है। मुझे रात्रिके समय नींदतक नहीं आती। मैं यह भी जानता हूँ कि रुक्मीने द्वेषवश मेरे साथ उनका विवाहसम्बन्ध होते-होते रोक दिया है॥२॥

तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे।
मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव॥३॥

किन्तु देखना, जैसे काष्ठका मन्थन कर मनुष्य उसमेंसे अग्निको निकाल लेते हैं उसी प्रकार मैं भी समस्त अधम राजाओंको युद्धमें पीडित कर, उस एकमात्र मुझे ही भजनेवाली अनिन्दिताङ्गी राजकन्याको ले आऊँगा॥३॥

श्रीशुक उवाच

उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! फिर रुक्मिणीके विवाहका नक्षत्र [परसों रातमें ही है—यह] जान

[1] १. न्धे रुक्मिण्युद्वाहे द्विप०।

रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥ ४ ॥
स चाश्वैः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ।
युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५ ॥
आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः ।
आनर्त्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः ॥ ६ ॥

श्रीमधुसूदनने सारथीको आज्ञा दी—"दारुक! बहुत शीघ्र रथ जोत लाओ" ॥ ४ ॥ भगवान्‌की आज्ञा पा दारुक शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहकनामक चार घोड़ोंसे युक्त रथ ले आया और हाथ जोड़कर सामने खड़ा हो गया ॥ ५ ॥ फिर भगवान् उन विप्रवरको चढ़ाकर आप भी रथपर सवार हुए और उन शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा एक रात्रिमें ही आनर्त्तसे विदर्भदेशमें पहुँच गये ॥ ६ ॥

राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः ।
शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन्कर्माण्यकारयत् ॥ ७ ॥
पुरं सम्मृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम् ।
चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणैः समलङ्कृतम् ॥ ८ ॥
स्रग्गन्धमाल्याभरणैर्विरजोऽम्बरभूषितैः ।
जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगुरुधूपितैः ॥ ९ ॥
पितॄन्देवान्समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिवन्नृप ।
भोजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम् ॥१०॥
सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम् ।
अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥११॥
चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः ।
पुरोहितोऽथर्वविद्वै जुहाव ग्रहशान्तये ॥१२॥
हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान् ।
प्रादाद्धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः ॥१३॥

इधर, कुण्डिनपति महाराज भीष्मक पुत्रस्नेहके वशीभूत होनेसे अपनी कन्या शिशुपालहीको देनेके लिये विवाहोत्सवकी तैयारी करा रहे थे ॥ ७ ॥ नगरके राजपथ, गली-कूचे और चौराहोंको झाड़-बुहारकर उनमें छिड़काव किया गया था और उन्हें चित्र-विचित्र ध्वजा, पताका और तोरणादिसे भली प्रकार सजाया गया था ॥ ८ ॥ सम्पूर्ण नगर माला, चन्दन, हार, आभूषण और स्वच्छ वस्त्रोंसे विभूषित नर-नारियोंसे सुशोभित था तथा वहाँके भव्य भवन अगुरु और धूपके धुएँसे सुवासित हो उस नगरको श्रीसम्पन्न कर रहे थे ॥९॥ राजा भीष्मकने पितृगण और देवगणका यथाविधि पूजनकर ब्राह्मणोंको भोजन कराया और उनसे नियमानुसार मङ्गल-पाठ कराया ॥१०॥ उन ब्राह्मण-श्रेष्ठोंने, जिसका भली प्रकार स्नान कराकर विवाहसूत्रसे मङ्गल किया गया है तथा जो दो नवीन वस्त्रों और विचित्र आभूषणोंसे विभूषित की गयी है उस सुन्दर दाँतोंवाली राजकन्या रुक्मिणीको साम, ऋक् और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित कर उसकी रक्षा की फिर अथर्ववेदको जाननेवाले पुरोहितने ग्रह-शान्तिके लिये हवन किया ॥ ११-१२ ॥ उस समय विधि जाननेवालोंमें श्रेष्ठ राजा भीष्मकने ब्राह्मणोंको सोना, चाँदी, वस्त्र, गुड-मिश्रित तिल और बहुत-सी गौएँ दान कीं ॥ १३ ॥

एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै ।
कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम् ॥१४॥
मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनैर्हेममालिभिः ।
पत्त्यश्वसङ्कुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ ॥१५॥

इसी प्रकार चेदिपति महाराज दमघोषने भी, मन्त्रज्ञ ब्राह्मणोंद्वारा पुत्रके अभ्युदयके योग्य सब कृत्य कराये ॥ १४ ॥ और फिर जिनसे मद चू रहा है ऐसे हाथियोंकी, सुवर्णमालामण्डित रथोंकी तथा पदाति और घुड़सवारोंकी सेना साथ ले वे कुण्डिनपुरमें जा पहुँचे ॥ १५ ॥

१. विद्धिर्जुहा० ।

तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च ।
निवेशयामास मुदा कल्पितान्यनिवेशने ॥१६॥
तत्र शाल्वो जरासन्धो दन्तवक्त्रो विदूरथः ।
आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः ॥१७॥
कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम् ।
यद्यागत्य हरेत्कृष्णो रामाद्यैर्यदुभिर्वृतः ॥१८॥
योत्स्यामः संहतास्तेन इति निश्चितमानसाः ।
आजग्मुर्भूभुजः सर्वे समग्रबलवाहनाः ॥१९॥
श्रुत्वैतद्भगवान्रामो विपक्षीयनृपोद्यमम् ।
कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः ॥२०॥
बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः ।
त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद्गजाश्वरथपत्तिभिः ॥२१॥
भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः ।
प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा ॥२२॥
अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः ।
नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम् ।
सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः ॥२३॥
अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम् ।
मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः ॥२४॥
दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः ।
देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिजा सती ॥२५॥
एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा ।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ॥२६॥

तब विदर्भराज भीष्मकने आगे आ उनका पूजन किया और उन्हें अति आनन्दपूर्वक पहलेहीसे निश्चित किये हुए एक भवनमें जनवासा दिया ॥१६॥ उस बरातमें शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र, विदूरथ और पौण्ड्रक आदि शिशुपालके सहस्रों मित्र राजालोग आये थे ॥ १७ ॥ वे सब राजा कृष्ण-बलदेवके विरोधी थे और शिशुपालको ही कन्या दिलानेके लिये मनमें यह निश्चय कर कि 'यदि कृष्ण बलरामादि यादवोंके साथ आकर कन्या-हरणका उद्योग करे तो हम सब मिलकर उससे युद्ध करेंगे' अपनी-अपनी सेनाओंसे सुसज्जित होकर आये थे ॥ १८-१९ ॥

इधर, बलरामजी, विपक्षी राजाओंके उद्यम और कृष्णचन्द्रके अकेले ही कन्याहरणके लिये जानेका समाचार सुनकर कलहकी आशङ्कासे भ्रातृस्नेहके वशीभूत होकर हाथी, घोड़े, रथ और पदाति चार प्रकारकी बहुत बड़ी सेना लेकर तुरन्त ही कुण्डिनपुरको चल दिये ॥ २०-२१ ॥

इधर, भीष्म-कन्या वरारोहा रुक्मिणी भगवान् कृष्णके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं, वे ब्राह्मणको अभी लौटकर आये न देख इस प्रकार सोचने लगीं—॥ २२ ॥ 'अहो ! मुझ अभागिनीका विवाह होनेमें केवल एक रात्रि रह गयी है, किन्तु कमलनयन श्रीकृष्णचन्द्र अभीतक नहीं आये—इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता । यही नहीं, जो ब्राह्मणदेवता मेरा सन्देश लेकर गये थे वे भी अभीतक नहीं लौटे ॥ २३ ॥ जान पड़ता है, अनिन्दितात्मा भगवान् कृष्ण मुझमें कुछ बुराई देखकर ही मेरे साथ पाणिग्रहण करनेका प्रयत्न करके यहाँ नहीं आ रहे हैं ॥ २४ ॥ मालूम होता है, भगवान् विधाता और श्रीमहेश्वर मुझ अभागिनीके अनुकूल नहीं हैं तथा रुद्रपत्नी गिरिराज-कुमारी सती पार्वतीजी भी मुझसे अप्रसन्न हैं' ॥२५॥

श्रीहरिने जिसके हृदयको हर लिया है, समयको जाननेवाली उस राजकन्या रुक्मिणीने इस प्रकार चिन्ता करते-करते अपने अश्रुविह्वल नेत्रोंको मूँद लिया ॥२६॥

१. भिः सह ।

एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ।
वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन्प्रियभाषिणः ॥२७॥
अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः ।
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह ॥२८॥
सा तं प्रहृष्टवदनमव्यग्रात्मगतिं सती ।
आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता ॥२९॥
तस्या आवेदयत्प्राप्तं शशंस यदुनन्दनम् ।
उक्तं च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति ॥३०॥
तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा ।
न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥३१॥
प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ ।
अभ्ययात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः ॥३२॥
मधुपर्कमुपानीय वासांसि विरजांसि सः ।
उपायनान्यभीष्टानि विधिवत्समपूजयत् ॥३३॥
तयोर्निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः ।
ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे यथा ॥३४॥
एवं राज्ञां समेतानां यथावीर्यं यथावयः ।
यथाबलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समर्हयत् ॥३५॥
कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः ।
आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तन्मुखपङ्कजम् ॥३६॥
अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा ।
असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ॥३७॥

हे राजन् ! जिस समय नववधू रुक्मिणी इस प्रकार भगवान्के आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थी उस समय अकस्मात् उसकी बायीं जङ्घा, भुजा और आँख किसी भावी प्रियकी सूचना देती हुई फड़क उठीं ॥ २७ ॥ इतनेहीमें कृष्णचन्द्रके भेजे हुए वे ही ब्राह्मणमहोदय अन्तःपुरनिवासिनी राजकुमारी रुक्मिणीसे आकर मिले ॥ २८ ॥ लक्षणोंको जाननेवाली सती रुक्मिणीने उन्हें प्रसन्नवदन और घबराहटसे रहित देख उनसे मनोहर मुसकानके साथ कार्यकी सफलताके विषयमें पूछा ॥ २९ ॥ तब ब्राह्मणमहोदयने श्रीयदुनाथकी प्रशंसा करते हुए उनके पधारनेका संवाद सुनाया और उन्होंने जो रुक्मिणीजीको ले जानेके लिये सत्य प्रतिज्ञा की थी वह भी सुना दी ॥ ३० ॥ भगवान्को आये हुए जान विदर्भनन्दिनी रुक्मिणीजी अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उन ब्राह्मणमहाशयको उस समय देने-योग्य कोई और प्रिय वस्तु न देख केवल नमस्कार ही कर दिया* ॥ ३१ ॥

राजा भीष्मकने राम और कृष्णको अपनी कन्याका विवाहोत्सव देखनेके लिये आये सुन उनकी भेरीनाद और विविध प्रकारकी पूजासामग्रियोंसे अगवानी की ॥ ३२ ॥ और मधुपर्क, निर्मल वस्त्र तथा उत्तम उपहार समर्पण कर विधिपूर्वक पूजा की ॥ ३३ ॥ फिर महामति भीष्मकने उन्हें सेना और साथियोंके सहित सर्वभोगसम्पन्न निवासस्थान दे उनका यथायोग्य आतिथ्यसत्कार किया ॥३४॥ इस प्रकार विदर्भराजने अपने यहाँ निमन्त्रणमें आये हुए सब राजाओंका, उनके वीर्य, अवस्था, बल और धनके अनुसार सब इच्छित वस्तुएँ देकर, खूब सत्कार किया ॥३५॥ 'भगवान् कृष्ण आये हैं' यह सुनकर विदर्भनगरमें रहनेवाले सब लोग उनके निवासस्थानपर आये और अपनी नयनाञ्जलिसे उनके मुखारविन्द-मकरन्दका पान करने लगे ॥ ३६ ॥ [और आपसमें कहने लगे—] ''रुक्मिणी इन्हींकी स्त्री होने योग्य है और ये अनिन्दितात्मा भी रुक्मिणीके ही योग्य वर हैं; और कोई कन्या इनकी स्त्री होने योग्य नहीं है ॥३७॥

* ब्राह्मणदेवताने जैसा प्रिय कार्य सम्पन्न किया था उसके महत्त्वकी ओर दृष्टि रखती हुई श्रीरुक्मिणीजी जिसी वस्तुको उपहाररूपमें देना चाहतीं वही तुच्छ जान पड़ती, अतः उस समय उन्होंने केवल नमस्कार किया, पश्चात् विवाह हो जानेपर द्वारकासे बहुत कुछ पुरस्कार दिया । अथवा नमस्कारका अभिप्राय यह भी हो सकता है—रुक्मिणीजी लक्ष्मीका अंश थीं, अतः स्वयं नतमस्तक होकर ब्राह्मणको यह वर दिया कि आपके चरणोंपर लक्ष्मी—अतुल धनराशि सदा लोटेगी ।

किञ्चित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत् ।
अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः ॥३८॥

यदि हमसे कुछ भी पुण्यकर्म बन पड़ा है तो त्रिलोकीके विधाता श्रीहरि हमसे प्रसन्न होकर ऐसी कृपा करें कि श्रीअच्युत ही विदर्भराजकुमारी रुक्मिणीका पाणि-ग्रहण करें" ॥ ३८ ॥

एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः ।
कन्या चान्तःपुरात्प्रागाद्भटैर्गुप्ताम्बिकालयम् ॥३९॥
पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम् ।
सा चानुध्यायती सम्यङ्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥४०॥
यतवाङ्मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता ।
गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायुधैः ।
मृदङ्गशङ्खपणवास्तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ॥४१॥
नानोपहारबलिभिर्वारमुख्याः सहस्रशः ।
स्रग्गन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्यः स्वलङ्कृताः ॥४२॥
गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः ।
परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधवन्दिनः ॥४३॥
आसाद्य देवीसदनं धौतपादकराम्बुजा ।
उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम् ॥४४॥
तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः ।
भवानीं वन्दयाञ्चक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम् ॥४५॥
नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम् ।
भूयात्पतिर्मे भगवान्कृष्णस्तदनुमोदताम् ॥४६॥

जिस समय प्रेममें बँधे हुए पुरवासीगण परस्पर इस प्रकार कह रहे थे उसी समय राजकन्या रुक्मिणी अन्तःपुरसे निकलकर वीर सैनिकोंकी रक्षामें अम्बिका-देवीके मन्दिरको चलीं ॥ ३९ ॥ हृदयमें श्रीकृष्णचन्द्र-के चरणारविन्दका भली प्रकार ध्यान करती हुई वे श्रीपार्वतीजीके पादपल्लवोंका दर्शन करनेके लिये पैदल ही चलीं ॥ ४० ॥ उन्होंने मौन धारण किया था और वे माता आदि वृद्धाओं तथा सखियोंसे घिरी हुई हाथमें खुले हथियार लिये सन्नद्ध हुए शूरवीर राजसैनिकोंकी रक्षामें जा रही थीं । उस समय मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, तूर्य और भेरी आदि बाजोंका शब्द हो रहा था ॥ ४१ ॥ तथा माला, गन्ध एवं वस्त्रालङ्कारादि नाना प्रकारके उपहारों और पूजन-सामग्रियोंके साथ भली प्रकार अलङ्कृत द्विजपत्नियाँ, सहस्रों वारवधुएँ तथा गान और स्तवन करते हुए गायकगण एवं बाजेवाले तथा सूत, मागध और वन्दीजन—ये सब नववधू रुक्मिणीको चारों ओरसे घेरे हुए जा रहे थे ॥ ४२-४३ ॥ देवीके मन्दिरमें पहुँचनेपर रुक्मिणीजीने हाथ-पाँव धोये और आचमन कर पवित्र हो शान्तभावसे अम्बिका देवीके पास गयीं ॥ ४४ ॥ तब विधिको जाननेवाली वृद्धा ब्राह्मणियोंने उनसे भगवान् शङ्करके सहित शङ्करप्रिया पार्वतीजीको प्रणाम कराया ॥ ४५ ॥

[श्रीरुक्मिणीजीने प्रार्थना की—] "हे अम्बिके ! आपके पुत्र गणेशजीके सहित आप कल्याणकारिणी देवीको मैं बारंबार नमस्कार करती हूँ । आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि भगवान् कृष्ण मेरे पति हों" ॥ ४६ ॥

अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैर्वासःस्रङ्माल्यभूषणैः ।

फिर रुक्मिणीजीने जल, गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, माला, हार, आभूषण, नाना प्रकारके उपहार, भेंट

१. वैदर्भ्या विधिवत्पाणि० । २. दीपैर्वा० ।

नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक् ॥४७॥
विप्रस्त्रियः पतिमतीस्तथा तैः समपूजयत् ।
लवणापूपताम्बूलकण्ठसूत्रफलेक्षुभिः ॥४८॥
तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषां युयुजुराशिषः ।
ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः ॥४९॥
मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात् ।
प्रगृह्य पाणिना भृत्यां रत्नमुद्रोपशोभिना ॥५०॥
तां देवमायामिव वीरमोहिनीं
सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम्[1] ।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां
व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम् ॥५१॥
शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युति-
शोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम् ।
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं
सिञ्जत्कलानूपुरधामशोभिना[2] ।
विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता
यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः ॥५२॥
यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास-
व्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्राः ।
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥५३॥
सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ
प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ।

और दीपावली आदि सामग्रियोंसे अम्बिका देवीका पूजन किया ॥ ४७ ॥ तथा इन सब सामग्रियोंके सहित लवण, पूए, पान, कण्ठसूत्र, फल और ईखसे सधवा ब्राह्मणियोंकी भी पूजा की ॥ ४८ ॥ तब ब्राह्मण-पत्नियोंने उन्हें प्रसाद देकर आशीर्वाद दिये और नववधूने ब्राह्मणियों तथा देवीको नमस्कार कर प्रसाद ग्रहण किया ॥ ४९ ॥ तदनन्तर वे मौनव्रत छोड़कर अपने रत्नमुद्रिकाशोभित करकमलसे एक सखीका हाथ पकड़े हुए देवीके भवनसे बाहर आयीं ॥ ५० ॥

रुक्मिणीजी देवमायाके समान बड़े धीर-वीरोंको भी मोहित करनेवाली थीं । उनका कटिप्रदेश अति सुन्दर और मुखमण्डल कुण्डलोंकी कान्तिसे सुशोभित था, उनकी नूतन अवस्था थी, कटिभागमें रत्नजटित मेखला पड़ी हुई थी, पीन पयोधर व्यञ्जित हो रहे थे, मुखपर अलकावली बिखरी हुई थी और वे शङ्कित दृष्टिसे इधर-उधर देखती जाती थीं, उनकी मुसकान बड़ी ही मनोहारिणी थी तथा बिम्बाफलसदृश अरुण अधरोंकी कान्तिसे उनकी कुन्दकलिकासदृश दन्तावली कुछ अरुणवर्ण-सी हो रही थी । वे झनकारते हुए नूपुरोंकी कान्तिसे सुशोभित अपने सुकुमार चरणकमलोंसे पैदल ही राजहंसकी गतिसे जा रही थीं । उनकी वह अपूर्व छविमयी मनोहर मूर्ति देखकर उत्तेजित हुए कामदेवकी पीडासे वहाँ [उनको रक्षाके लिये] साथ आये हुए सब वीर मोहित हो गये ॥ ५१-५२ ॥ रुक्मिणीजी जिस समय इस प्रकार चलनेके मिससे श्रीहरिको अपनी शोभा दिखा रही थीं उसी समय उनको देखकर उनकी मनोहर मुसकान और लजीली चितवनसे वहाँ आये हुए राजाओंके चित्त हर लिये गये, उनके हाथोंसे अस्त्र-शस्त्र गिर गये और वे स्वयं भी मोहित होकर हाथी, रथ और घोड़ोंसे पृथिवीपर गिर पड़े ॥ ५३ ॥ वे इस प्रकार भगवान् कृष्णके आगमनकी प्रतीक्षामें कमलकोशके समान अपने सुकुमार चरणोंको धीरे-धीरे उठाती हुई जा रही थीं । इसी समय उन्होंने अपने बायें हाथकी

१. कुण्डल० । २. शोभिताम् ।

उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः
प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान्ददृशेऽच्युतं सा ॥५४॥

अँगुलियोंसे मुखपर बिखरी हुई अलकोंको हटाकर वहाँ आये हुए राजाओंकी ओर लजीली चितवनसे निहारा तो उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र दिखायी दिये ॥ ५४ ॥

तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं
जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ।
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं
राजन्यचक्रं परिभूय माधवः ॥५५॥
ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः
सृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः ॥५६॥

राजकन्या रुक्मिणीजी अपने रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि श्रीकृष्णचन्द्रने सब शत्रुओंके देखते-देखते उन्हें उठा लिया और सम्पूर्ण क्षत्रियमण्डलका तिरस्कार कर उन्हें अपने गरुडचिह्नवाली ध्वजासे युक्त रथपर चढ़ा लिया। तदनन्तर, सिंह जैसे सियारोंमेंसे अपना भाग ले जाता है उसी प्रकार रुक्मिणीजीको लेकर श्रीकृष्णचन्द्र बलरामादि यादवोंके साथ वहाँसे चल दिये ॥ ५५-५६ ॥

तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षयं
परे जरासन्धवशा न सेहिरे ।
अहो धिगस्मान्यश आत्तधन्वनां
गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव ॥५७॥

तब जरासन्धके वशवर्ती दूसरे मानी राजालोग अपनी इस पराजय और अपकीर्तिको सहन न कर सके और कहने लगे—"अहो ! हमें धिक्कार है ! आज हम धनुर्धारियोंके यशको गोपगण इस प्रकार हर ले गये जैसे सिंहोंके भागको मृगगण ले जायँ" ॥ ५७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
रुक्मिणीहरणं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५३॥

चौवनवाँ अध्याय

शिशुपालपक्षीय राजाओंका पराभव, रुक्मीकी हार और कृष्ण-रुक्मिणी-विवाह

श्रीशुक उवाच

इति सर्वे सुसंरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः ।
स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः ॥ १ ॥
तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः ।
तस्थुस्तत्संमुखा राजन्विस्फूर्ज्य स्वधनूंषि ते ॥ २ ॥
अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः ।
मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा[2] अद्रिष्वपो यथा ॥ ३ ॥
पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा ।
सव्रीडमैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार वे सब राजागण अत्यन्त कुपित हो कवच धारणकर अपने-अपने वाहनोंपर चढ़े और अपनी-अपनी सेना साथ ले धनुष धारणकर कृष्णचन्द्रके पीछे चले ॥ १ ॥ उन्हें आये देख यादवसेनाके नायकगण उनकी ओर लौटकर खड़े हो गये और अपने धनुषोंकी टङ्कार करने लगे ॥ २ ॥ तब घोड़े और हाथियोंकी पीठों तथा रथोंपर बैठे हुए शस्त्रकुशल राजागण यादव-सेनापर इस प्रकार बाणवर्षा करने लगे जैसे मेघगण पर्वतोंपर जल बरसाते हैं ॥ ३ ॥ अपने पतिकी सेनाको बाणवर्षासे छिपी हुई देख सुन्दर कमरवाली रुक्मिणीजी भयवश चञ्चल नेत्रोंसे भगवान् कृष्णकी ओर लज्जापूर्वक देखने लगीं ॥ ४ ॥

१. न्धे त्रिप० । २. मेघास्तोयं यथाद्रिषु ।

प्रहस्य भगवानाह मा स्म भैर्वामलोचने ।
विनङ्क्ष्यत्यधुनैवैतत्तावकैः शात्रवं बलम् ॥ ५ ॥

तब भगवान्ने हँसते हुए कहा—"हे सुन्दर नयनोंवाली ! डरो मत, तुम्हारी सेनाद्वारा तुम्हारे शत्रुओंकी सेना शीघ्र ही नष्ट हो जायगी" ॥ ५ ॥

तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कर्षणादयः ।
अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान्रथान् ॥ ६ ॥
पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि ।
सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः ॥ ७ ॥
हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः ।
अश्वाश्वतरनागोष्ट्रखरमर्त्यशिरांसि च ॥ ८ ॥

इधर गद और सङ्कर्षण आदि यादव वीर अपने शत्रुओंका पराक्रम और अधिक न सह सके और उनके हाथी, घोड़े तथा रथोंको अपने बाणोंसे छिन्न-भिन्न करने लगे ॥ ६ ॥ उनके बाणोंसे, रथ घोड़े और हाथियोंपर बैठे हुए विपक्षी वीरोंके कुण्डल, किरीट और पगड़ियोंसे सुशोभित करोड़ों शिर, खड्ग गदा और धनुषयुक्त हाथ, पहुँचे, ऊरु और चरण कट-कटकर पृथिवीपर गिरने लगे । इसी प्रकार घोड़े, खच्चर, हाथी, ऊँट, गधे और मनुष्योंके शिर भी कट-कटकर युद्ध-भूमिमें लोटने लगे ॥ ७-८ ॥

हन्यमानबलानीका वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः ।
राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरःसराः ॥ ९ ॥

अन्तमें, जयकी इच्छावाले यादवोंद्वारा अपनी सेनाको नष्टप्राय हुई देख जरासन्धादि राजा लोग युद्धसे विमुख होकर भाग गये ॥ ९ ॥

शिशुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरम् ।
नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन् ॥१०॥

वे सब, स्त्री छिन जानेके कारण जो आतुर, तेजोहीन तथा हतोत्साह हो रहा है और जिसका मुख सूख गया है ऐसे शिशुपालके पास आकर उससे कहने लगे—॥१०॥

भो भोः पुरुषशार्दूल दौर्मनस्यमिदं त्यज ।
न प्रियाप्रिययो राजन्निष्ठा देहिषु दृश्यते ॥११॥
यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया ।
एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥१२॥

"हे पुरुषसिंह ! यह उदासी छोड़ दो, क्योंकि हे राजन् ! जीवका प्रिय या अप्रिय सदा स्थिर नहीं देखा जाता ॥ ११ ॥ जिस प्रकार काठकी पुतली नटके इच्छानुसार नाचती है उसी प्रकार यह जीव ईश्वरके अधीन रहकर ही सुख-दुःखकी चेष्टाएँ किया करता है" ॥ १२ ॥ [जरासन्धने कहा] "देखो,

शौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः ।
त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्य एकमहं परम् ॥१३॥

कृष्णचन्द्रने मुझे तेईस अक्षौहिणी सेनाके सहित सत्रह बार युद्धमें परास्त किया और फिर अठारहवीं बार मैंने उन्हें एक बार हराया ॥ १३ ॥

तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित् ।
कालेन दैवयुक्तेन जानन्विद्रावितं जगत् ॥१४॥

किन्तु इससे मैं न तो कभी शोक करता हूँ और न कभी हर्ष ही करता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण जगत् दैवप्रेरित कालसे ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें पड़ता है ॥ १४ ॥

अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः ।
पराजिताः फल्गुतन्त्रैर्यदुभिः कृष्णपालितैः ॥१५॥

इस समय भी हम वीरयूथपोंके भी यूथपतिगण, कृष्णसे सुरक्षित यादवोंकी थोड़ी-सी सेनासे ही परास्त हो गये ॥ १५ ॥

रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि ।

इस बार हमारे शत्रुओंकी ही जीत हुई; क्योंकि समय उन्हींके अनुकूल था । जिस

तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः ॥१६॥

समय वह हमारे अनुकूल होगा तब हम उन्हें जीत लेंगे" ॥ १६ ॥

एवं प्रबोधितो मित्रैश्चैद्योऽगात्सानुगः पुरम् ।
हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः ॥१७॥

मित्रोंके इस प्रकार समझानेसे चेदिराज शिशुपाल अनुचरोंसहित अपनी राजधानीको लौट गया तथा उसके साथी राजाओंमेंसे जो मरनेसे बचे थे वे भी अपने-अपने नगरोंको चले गये ॥ १७ ॥

रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन्स्वसुः ।
पृष्ठतोऽन्वगमत्कृष्णमक्षौहिण्या वृतो बली ॥१८॥
रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः ॥१९॥
अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् ।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥२०॥

किन्तु कृष्णद्रोही महाबली रुक्मी अपनी बहिनका राक्षसविवाहकी विधिसे हरण किया जाना सहन न कर सकनेके कारण एक अक्षौहिणी सेना लिये भगवान्‌के पीछे लगा चला गया ॥ १८ ॥ इस अपमानको सहन न कर सकनेवाले महाबली रुक्मीने कवच तथा धनुषबाण धारणकर सब राजाओंको सुनाते हुए अति क्रोधपूर्वक प्रतिज्ञा की—॥ १९ ॥ "मैं आपलोगोंसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि संग्राममें कृष्णको मारे बिना और रुक्मिणीको वापस लाये बिना मैं कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा" ॥२०॥

इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः ।
चोदयाश्वान्यतः कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत् ॥२१॥
अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मतेः ।
नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता ॥२२॥
विकत्थमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित् ।
रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्यथाह्वयत्[1] ॥२३॥
धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः ।
आह चात्र क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन ॥२४॥
कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः ।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः ॥२५॥
यावन्न मे हतो बाणैः शयीथा मुञ्च दारिकाम् ।

राजाओंसे इस प्रकार प्रतिज्ञाकर वह रथपर सवार हुआ और सारथीको आज्ञा दी कि "जिधर कृष्ण हो उधर शीघ्र ही घोड़ोंको ले चल, क्योंकि आज मेरा उससे युद्ध होगा ॥२१॥ आज अपने तीखे बाणोंसे मैं उस दुर्बुद्धि गोपालके वीर्यमदको चूर्ण कर दूँगा जिससे उन्मत्त होकर वह मेरी बहिनको बलात्कारसे हर ले गया है" ॥२२॥ ईश्वरकी महिमाको न जाननेवाला मन्दमति रुक्मी इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाता अकेला ही रथपर चढ़कर दौड़ता हुआ भगवान्‌के पास पहुँच गया और 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा पुकारने लगा ॥२३॥ उसने अपना सुदृढ़ धनुष खींचकर भगवान्‌को तीन बाण मारे और बोला—"अरे यदुकुल-कलङ्क ! एक क्षण खड़ा तो रह ॥२४॥ अरे ! कौवा जैसे हविको चुरा ले जाता है वैसे ही मेरी बहिनको लेकर तू कहाँ भागा जाता है । रे मन्द ! तू बड़ा मायावी है, तू कपटयुद्धमें ही कुशल है; आज मैं तेरा सारा गर्व चूर्ण कर दूँगा ॥२५॥ देख, मेरे बाणोंसे मारा जाकर जबतक तू पृथिवीपर नहीं लेट जाता तभी-

१. तिष्ठेति च ब्रुवन् ।

स्मयन्कृष्णो धनुश्छित्त्वा षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम् ॥२६॥
अष्टभिश्चतुरो वाहान्द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः ।
स चान्यद्धनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः ॥२७॥
तैस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः ।
पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदव्ययः ॥२८॥
परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासी शक्तितोमरौ ।
यद्यदायुधमादत्त तत्सर्वं सोऽच्छिनद्धरिः ॥२९॥
ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिर्जिघांसया ।
कृष्णमभ्यद्रवत्क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम् ॥३०॥
तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्म चेषुभिः ।
छित्त्वासिमाददे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः ॥३१॥

तक इस बालिकाको छोड़ दे [और भाग जा नहीं तो तुझे पछताना पड़ेगा] ।" यह सुन श्रीकृष्णचन्द्र मुसकाये और उन्होंने रुक्मीका धनुष काटकर उसे छः बाणोंसे बींध डाला ॥२६॥ भगवान्‌ने आठ बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको, दोसे सारथीको और तीनसे रथकी ध्वजाको काट डाला । तब रुक्मीने दूसरा धनुष लेकर भगवान् कृष्णको पाँच बाण मारे ॥२७॥ उन बाणोंके लगनेपर श्रीअच्युतने उसका वह धनुष भी काट डाला । तब रुक्मीने एक और धनुष लिया, किन्तु भगवान्‌ने उसे भी काट डाला ॥२८॥ इस प्रकार रुक्मीने परिघ, पट्टिश, शूल, ढाल, तलवार और तोमर आदि जो-जो अस्त्र-शस्त्र उठाये उन सभीको श्रीहरिने काट डाला ॥२९॥ अन्तमें, श्रीकृष्णचन्द्रको मारनेकी इच्छासे वह हाथमें तलवार ले रथसे कूद पड़ा और पतंग जैसे अग्निकी ओर दौड़ता है वैसे ही अति क्रोधित हो श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर लपका ॥३०॥ रुक्मीको अपनी ओर आता देख भगवान्‌ने बाण बरसाकर उसकी ढाल और तलवारको तिल-तिल करके काट डाला और उसे मारनेके लिये उद्यत हो एक तीक्ष्ण तलवार निकाली ॥३१॥

दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला ।
पतित्वा पादयोर्भर्तुरुवाच करुणं सती ॥३२॥
योगेश्वराप्रमेयात्मन्देवदेव जगत्पते ।
हन्तुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज ॥३३॥

अपने भाईके वधकी तैयारी देख रुक्मिणी भयसे व्याकुल हो गयीं और उन परम साध्वीने पतिके चरणोंमें गिरकर गिड़गिड़ाते हुए कहा—॥३२॥ "हे योगेश्वर ! हे अप्रमेयात्मन् ! हे देवदेव ! हे जगत्पते ! हे कल्याणस्वरूप ! हे महाबाहो ! यह मेरा भाई है, इसे मारना आपको उचित नहीं है ॥३३॥"

श्रीशुक उवाच

तया परित्रासविकम्पिताङ्गया
शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया ।
कातर्यविस्रंसितहेममालया
गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥३४॥
चैलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं
सश्मश्रुकेशं प्रवपन्व्यरूपयत् ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—रुक्मिणीजीका शरीर भयसे काँप रहा था, शोकसे उनका मुख सूख गया था और गला रुँध गया था तथा आतुरतावश सुवर्णकी मालाएँ गलेसे गिर गयी थीं । जब उन्होंने ऐसी दशामें चरण पकड़कर प्रार्थना की तो करुणामय हरि रुक्मीका वध करनेसे निवृत्त हो गये ॥३४॥ और उस कुकर्मीको दुपट्टेसे बाँध उसके दाढ़ी, मूँछ और केश जहाँ-तहाँसे काटकर उसे कुरूप कर दिया ।

१. दच्युतः । २. चर्मासिशक्तितोमरान् । ३. दद्यात्तत्तदच्छिनदच्युतः । ४. बादरायणिरुवाच ।

तावन्ममर्दुः परसैन्यमद्भुतं
यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः ॥३५॥
कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम् ।
तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा सङ्कर्षणो विभुः ।
विमुच्य बद्धं करुणो भगवान्कृष्णमब्रवीत् ॥३६॥
असाध्विदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम् ।
वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः ॥३७॥
मैवास्मान्साध्व्यसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया ।
सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक्पुमान् ॥३८॥
बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति ।
त्याज्यः स्वेनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः ॥३९॥
क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः ।
भ्रातापि भ्रातरं हन्याद्येन घोरतरस्ततः ॥४०॥
राज्यस्य भूमेर्वित्तस्य स्त्रियो[1] मानस्य तेजसः ।
मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि ॥४१॥
तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम् ।
यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमज्ञवत् ॥४२॥
आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया ।
सुहृद्दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम् ॥४३॥
एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।

इसी बीचमें यादववीरोंने, हाथी जैसे कमल-वनको रौंद डालते हैं वैसे ही उस अद्भुत शत्रुसेनाको कुचल डाला ॥३५॥ तदनन्तर वे भगवान् कृष्णके पास आये तो उन्होंने रुक्मीको, जैसा पहले कहा है, हतप्राय (अधमरी) अवस्थामें देखा । उसे ऐसी अवस्थामें देख भगवान् सङ्कर्षणको बड़ी दया आयी और उन्होंने उसका बन्धन खोल उसे छोड़ दिया तथा श्री-कृष्णचन्द्रसे कहा—॥३६॥ "कृष्ण ! तुमने यह अच्छा नहीं किया, हमारे लिये यह बड़ी निन्दाकी बात है; अपने सम्बन्धीके दाढ़ी-मूँछ मूँड़कर उसे कुरूप कर देना उसका वध करनेके समान ही है" ॥३७॥ फिर रुक्मिणीसे बोले—] "हे साध्वि ! भाईको कुरूप बनाने-का विचार कर तुम हमपर दोषारोप न करना; क्योंकि पुरुषको सुख-दुःख देनेवाला कोई और नहीं है, वह अपने ही कियेका फल भोगता है" ॥ ३८ ॥ [फिर श्रीकृष्णके प्रति कहा—] "बन्धु यदि वधके योग्य भी अपराध करे तो भी वह बन्धुके ही द्वारा मारा जानेयोग्य नहीं है; उसे छोड़ देना चाहिये; क्योंकि वह तो अपने दोषसे ही मारा जा चुका है, फिर मरेको मारना ही क्या ?" ॥ ३९ ॥ [पुनः रुक्मिणीसे बोले—] "प्रजापति ब्रह्माने क्षत्रियोंका धर्म ही ऐसा नियत किया है कि जिससे भाई भाईको मार डालता है । इसीलिये यह धर्म अत्यन्त घोर है" ॥४०॥ [फिर श्रीकृष्णचन्द्रसे कहने लगे—] "भाई ! यह ठीक है, जो अभिमानी लोग ऐश्वर्यमदसे अन्धे हो रहे हैं वे राज्य, पृथिवी, धन, स्त्री, मान, तेज अथवा किसी और कारणसे [अपने बन्धुओंका भी] तिरस्कार कर दिया करते हैं [किन्तु हमारे लिये ऐसा करना उचित नहीं है]" ॥४१॥ [फिर रुक्मिणीसे कहा—] "समस्त प्राणियोंमे द्रोह करने-वाले अपने बन्धुजनोंके लिये मङ्गलमय दण्ड-विधानको भी जो तू अज्ञानियोंके समान अमङ्गल मान रही है यह तेरी विषम बुद्धि है ॥ ४२ ॥ जो लोग देहको ही आत्मा मानते हैं उन्हें ही 'यह मित्र है, यह शत्रु है, यह उदासीन है' ऐसा आत्मविषयक मोह भगवान्की मायासे होता है ॥४३॥ समस्त देहधारियोंका आत्मा एक ही है और वह

१. श्रियो ।

नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः ॥४४॥
देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः।
आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः संसारयति देहिनम् ॥४५॥
नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चासतः सति।
तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः ॥४६॥
जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित्।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव ॥४७॥
यथा शयान आत्मानं विषयान्फलमेव च।
अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाप्नोत्यबुधो भवम् ॥४८॥
तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम्।
तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥४९॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता।
वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे ॥५०॥
प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभः।
स्मरन्विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः ॥५१॥
चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत्पुरम्।
अहत्वा दुर्मतिं कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम्।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद्रुषा ॥५२॥
भगवान्भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान्।

अत्यन्त शुद्ध है। जल और घटादि उपाधियोंके कारण जैसे सूर्य-चन्द्रादि ज्योतियाँ और आकाश अनेक-से प्रतीत होते हैं वैसे ही अज्ञानीजन उस एकमात्र शुद्ध आत्माको ही अनेकवत् देखते हैं ॥४४॥ यह देह द्रव्य, प्राण और गुणमय है तथा आदि और अन्तवाला है। यह आत्मामें अविद्यासे कल्पित है और देहधारी जीवको संसारचक्रमें डालता है ॥४५॥ हे सति! जिस प्रकार सूर्यहीसे प्रकाशित होनेके कारण नेत्र और रूपका उसके साथ संयोग या वियोग नहीं होता उसी प्रकार आत्माका अन्य असत् पदार्थोंसे संयोग या वियोग नहीं होता; क्योंकि उनकी प्रसिद्धि तो आत्माहीके अधीन है ॥४६॥ जन्मादि भी देहके ही विकार हैं, आत्माके नहीं, तथापि आत्माकी मृत्यु कही जाती है; जिस प्रकार क्षय कलाओंका ही होता है, चन्द्रमाका नहीं, तो भी अमावास्याके दिन चन्द्रमाका ही क्षय कहा जाता है ॥४७॥ जैसे सोया हुआ पुरुष किसी पदार्थके न होनेपर भी स्वप्नमें भोक्ता, भोग्य और भोगके फलोंका अनुभव करता है उसी प्रकार अज्ञानीजन मिथ्या संसारचक्रमें पड़ते हैं ॥४८॥ इसलिये, हे शुचिस्मिते! चित्तको सुखाने और मोहित करनेवाले इस अज्ञानजनित शोकको तत्त्वज्ञानसे दूरकर तुम शान्त हो जाओ ॥४९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! बलभद्रजीके इस प्रकार समझानेसे कृशाङ्गी रुक्मिणीने अपना वैमनस्य दूर कर दिया और विवेक-बुद्धिसे चित्तको समाहित किया ॥५०॥ जिसकी सेना और तेज नष्ट हो गये हैं तथा केवल प्राणमात्र रह गये हैं उस रुक्मीने अपने शत्रुओंके हाथसे छूटकर कृष्णद्वारा अपने विरूप किये जानेका स्मरण करते हुए वहाँ ही अपने रहनेके लिये भोजकटनामक एक बहुत बड़ा नगर बसाया; क्योंकि वह ऐसी प्रतिज्ञा करके आया था कि 'बिना दुर्मति कृष्णको मारे और अपनी छोटी बहिनको वापस लाये मैं कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा' इसलिये वह रोषपूर्वक वहीं रहने लगा ॥ ५१-५२ ॥

हे कुरुनन्दन! इस प्रकार समस्त राजाओंको जीतकर भगवान् कृष्ण राजा भीष्मककी पुत्री

पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह ॥५३॥
तदा महोत्सवो नृणां[1] यदुपुर्यां गृहे गृहे।
अभूदनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप ॥५४॥
नरा नार्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः।
पारिबर्हमुपाजह्रुर्वरयोश्चित्रवाससोः ॥५५॥
सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभि-
र्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः।
बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलै-
रापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः ॥५६॥
सिक्तमार्गा मदच्युद्भिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम्।
गजैर्द्वाःसु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता ॥५७॥
कुरुसृञ्जयकैकेयविदर्भयदुकुन्तयः।
मिथो मुमुदिरे तस्मिन्संभ्रमात्परिधावताम् ॥५८॥
रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः।
राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्भृशविस्मिताः ॥५९॥
द्वारकायामभूद्राजन्महामोदः पुरौकसाम्।
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम् ॥६०॥

रुक्मिणीजीको अपने नगरमें ले आये और वहाँ उनके साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ॥५३॥ हे राजन्! उस समय यदुपुरी द्वारकाके भीतर यदुनाथ कृष्णमें अनन्य प्रेम रखनेवाले यादवोंके घर-घरमें बड़ा भारी उत्सव हुआ ॥५४॥ स्वच्छ मणिमय कुण्डल धारण किये द्वारकाके प्रसन्नचित्त नर-नारियोंने विचित्र वस्त्रधारी वर और वधूको बहुत-सी भेंटकी सामग्रियाँ उपहारमें दीं ॥५५॥ ऊँचे फहराती हुई बड़ी-बड़ी पताकाओं, रंग-विरंगी माला, वस्त्र और रत्नोंकी बन्दनवारों तथा द्वार-द्वारपर रखी हुई खील-दूर्वादि माङ्गलिक वस्तुओं तथा भरे हुए कलश, अगुरु, धूप और दीपादिसे यदुपुरीकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥५६॥ निमन्त्रण पाकर आये हुए इष्ट-मित्र राजाओंके मदस्रावी हाथियोंके मदसे मार्गोंमें छिड़काव-सा हो गया था तथा द्वारोंपर लगाये हुए कदलीस्तम्भ और सुपारीके गुच्छोंसे द्वारकापुरी अत्यन्त शोभा पा रही थी ॥५७॥ उस उत्सवमें कुतूहलवश इधर-उधर दौड़-धूप करते हुए बन्धुवर्गोंमें कुरु, सृञ्जय, कैकेय, विदर्भ, यदु और कुन्ति आदि वंशोंके लोग परस्पर आनन्द मना रहे थे ॥५८॥ जहाँ-तहाँ रुक्मिणीहरणकी चर्चा सुन राजालोग और राजकन्याओंको अत्यन्त विस्मय हुआ ॥५९॥ हे राजन्! लक्ष्मीपति भगवान् कृष्णको लक्ष्मीजीकी अवतार श्रीरुक्मिणीजीके साथ देख द्वारकाके नागरिकोंको अत्यन्त आनन्द हुआ ॥६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे
रुक्मिण्युद्वाहे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

१. राजन्। २. न्धे रुक्मिण्युद्वाहोत्सवो नाम चतुः०।

पचपनवाँ अध्याय

प्रद्युम्नका जन्म और शम्बरासुरका वध।

श्रीशुक उवाच[1]

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग्रुद्रमन्युना।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥
स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! वासुदेवके अंश कामदेवने जो पहले भगवान् शङ्करके क्रोधसे भस्म हो गया था, फिर शरीर-प्राप्तिके लिये उन (वासुदेव) ही का आश्रय लिया ॥ १ ॥ वह कामदेव ही श्रीकृष्णचन्द्रके वीर्यद्वारा रुक्मिणीजीके गर्भसे उत्पन्न होकर 'प्रद्युम्न' नामसे विख्यात हुआ वह अपने पितासे किसी बातमें कम नहीं था ॥ २ ॥

तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम्।
स विदित्वात्मनः शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगाद्गृहम् ॥ ३ ॥
तं निर्जगार बलवान्मीनः[2] सोऽप्यपरैः सह।
वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः ॥ ४ ॥
तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रुरुपायनम्।
सूदा महानसं नीत्वावद्यन्स्वधितिनाद्भुतम् ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन्।
नारदोऽकथयत्सर्वं तस्याः शङ्कितचेतसः।
बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम् ॥ ६ ॥
सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी।
पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती ॥ ७ ॥
निरूपिता शम्बरेण सा सूपौदनसाधने।
कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं तदार्भके ॥ ८ ॥
नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णि रूढयौवनः।
जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनां च विभ्रमम् ॥ ९ ॥

बालक प्रद्युम्न अभी दश दिनका भी न था कि उसे कामरूपी शम्बरासुर अपना पूर्वशत्रु जान हर ले गया और समुद्रमें डालकर अपने घर चला गया ॥३॥ उसे एक बलवान् मत्स्य निगल गया और उस मत्स्यको दूसरी मछलियोंके साथ मछेरोंने एक बहुत बड़े जालमें फँसा लिया ॥ ४ ॥ वे केवट उसे उपहार-रूपसे शम्बरासुरके पास ले आये। तब शम्बरासुरके रसोइयोंने उस अद्भुत मत्स्यको भोजनालयमें ले जाकर शस्त्रसे चीरा ॥ ५ ॥ उसके पेटमें एक बालक देखकर रसोइयोंने उसे मायावतीको सौंप दिया। उसका वृत्तान्त जानकर मायावतीको बड़ी शङ्का हुई। तब नारदजीने वहाँ आकर उस बालककी उत्पत्ति और मत्स्यके उदरमें जानेका सारा रहस्य मायावतीको सुना दिया ॥ ६ ॥ मायावती कामदेवकी यशस्विनी पत्नी रति ही थी। वह भगवान् शङ्करके कोपानलसे दग्ध हुए पतिके देहकी उत्पत्तिकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ७ ॥ उसे शम्बरासुरने रसोईके प्रबन्धपर नियुक्त कर रक्खा था। बालकको कामदेवका अवतार जान वह उसमें स्नेह बढ़ाने लगी ॥ ८ ॥ कुछ ही समयमें कृष्णकुमार प्रद्युम्न युवावस्थामें आरूढ हो [अपने रूप-लावण्यसे] अपनी ओर देखनेवाली स्त्रियोंके मनको मोहने लगे ॥ ९ ॥

सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं
प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम्।
सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती

हे राजन्! तब रति उन कमलदलके समान विशालनयन आजानुबाहु नरलोकसुन्दर स्वामीको सलज्ज हास और तिरछी चितवनसे निहारती

---

१. बादरायणिरुवाच। २. न्मत्स्यः।

प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतैः ॥१०॥
तामाह भगवान्कार्ष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा ।
मातृभावमतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा ॥११॥

रतिरुवाच

भवान्नारायणसुतः शम्बरेणाहृतो गृहात् ।
अहं तेऽधिकृता पत्नी रतिः कामो भवान्प्रभो ॥१२॥
एष त्वानिर्दशं सिन्धावाक्षिपच्छम्बरोऽसुरः ।
मत्स्योऽग्रसीत्तदुदरादितः प्राप्तो भवान्प्रभो ॥१३॥
तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुमात्मनः ।
मायाशतविदं त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः ॥१४॥
परिशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा ।
पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा ॥१५॥
प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने ।
मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम् ॥१६॥
स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत् ।
अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन्सञ्जनयन्कलिम् ॥१७॥
सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पदा हत इवोरगः ।
निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात्ताम्रलोचनः ॥१८॥
गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने ।
प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् ॥१९॥
तामापतन्तीं भगवान्प्रद्युम्नो गदया गदाम् ।
अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत्स्वगदां[1] नृप ॥२०॥
स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम् ।

[1] नदन् ।

हुई रतिकालोचित चेष्टा-प्रदर्शनपूर्वक बड़े प्रेमसे उनकी सेवा करने लगी ॥१०॥ [उसके भावोंमें परिवर्तन देख] कृष्णनन्दन भगवान् प्रद्युम्नने उससे कहा—"मातः ! क्या कारण है, तुम्हारी बुद्धि कुछ और प्रकारकी हो गयी है ? मैं देखता हूँ तुम मेरे साथ मातृभावको छोड़कर कामिनीके समान आचरण करती हो" ॥११॥

रतिने कहा—प्रभो ! आप श्रीनारायणके पुत्र हैं । यह शम्बरासुर आपको आपके घरसे हर लाया था । आप साक्षात् कामदेव हैं और मैं आपकी धर्मपत्नी रति हूँ ॥१२॥ इस शम्बरासुरने, जब कि आप दश दिनके भी नहीं थे, आपको समुद्रमें डाल दिया । वहाँ आपको एक मत्स्य निगल गया और उसीके पेटसे आप यहाँ निकले ॥१३॥ अब आप अपने इस शत्रुको, जो अत्यन्त दुर्दम्य, दुर्जय और सैकड़ों मायाएँ जाननेवाला है, मोहन आदि मायाओंसे मार डालिये ॥१४॥ बछड़ेके नष्ट हो जानेसे जैसे गौ व्याकुल रहती है उसी प्रकार अपने पुत्र आपके खो जानेसे आपकी पुत्रस्नेहाकुला माता अति दीन होकर कुररीके समान शोकसे विलाप किया करती है ॥१५॥

महात्मा प्रद्युम्नसे इस प्रकार सम्भाषण कर मायावतीने उन्हें सब मायाओंको नष्ट करनेवाली महामायानामक विद्या सिखायी ॥ १६ ॥ तब प्रद्युम्नजीने शम्बरासुरके सामने आ असह्य कटुवचनोंसे तिरस्कार कर उसे कलहके लिये उत्तेजित करते हुए युद्धके लिये ललकारा ॥१७॥

तब शम्बरासुर, पादप्रहारसे कुपित हुए सर्पके समान उनके दुर्वचनोंसे क्षुभित हो क्रोधसे लाल-लाल नेत्र किये हाथमें गदा ले घरसे बाहर आया ॥ १८ ॥ उसने वह गदा कई बार बड़े वेगसे घुमाकर महात्मा प्रद्युम्नजीपर फेंक दी और बिजलीकी कड़कके समान बड़ा कठोर नाद करने लगा ॥१९॥ हे राजन् ! उस गदाको अपनी ओर आती देख भगवान् प्रद्युम्नने उसे अपनी गदासे नष्ट कर दिया और अतिक्रुद्ध होकर शत्रुपर अपनी गदा फेंकी ॥२०॥ तब वह दैत्य मयासुरकी बतलायी हुई आसुरी मायाका आश्रय कर आकाशमें चढ़ गया और

मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः ॥२१॥
बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः ।
सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम् ॥२२॥
ततो गौह्यकगान्धर्वपैशाचोरगराक्षसीः ।
प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णिर्व्यधमयत्स ताः ॥२३॥
निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम् ।
शम्बरस्य शिरः कायात्ताम्रश्मश्र्वोजसाहरत् ॥२४॥
आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः ।
भार्ययाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा ॥२५॥

श्रीप्रद्युम्नजीपर अनेकों अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगा ॥ २१ ॥ उस शस्त्र-वर्षासे व्यथित हो महारथी रुक्मिणीनन्दनने सब मायाओंको शान्त करनेवाली सत्त्वमयी महाविद्याका प्रयोग किया ॥२२॥ इसपर शम्बरासुरने यक्ष, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसोंकी सैकड़ों मायाओंका प्रयोग किया किन्तु श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नने उन सभीको शान्त कर दिया ॥२३॥ और एक तीखी तलवार निकालकर शम्बरासुरका किरीट-कुण्डलमण्डित अरुणवर्ण दाढ़ी-मूँछोंवाला शिर धड़से अलग कर दिया ॥२४॥ तदनन्तर, स्तुति करते हुए स्वर्गनिवासी देवताओंकी पुष्पवृष्टिसे आच्छादित प्रद्युम्नजीको उनकी आकाशगामिनी भार्या आकाश-मार्गसे द्वारकापुरीमें ले आयी ॥२५॥

अन्तःपुरवरं राजन्ललनाशतसङ्कुलम् ।
विवेश पत्न्या गगनाद्विद्युतेव बलाहकः ॥२६॥
तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।
प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम् ॥२७॥
स्वलङ्कृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालिभिः ।
कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह ॥२८॥
अवधार्य[2] शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः ।
उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं सुविस्मिताः ॥२९॥
अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी ।
अस्मरत्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा ॥३०॥

हे राजन्! तब प्रद्युम्नजीने दामिनीमण्डित श्याम मेघके समान अपनी भार्या मायावतीके सहित आकाशसे उतरकर सैकड़ों रमणीरत्नोंसे आवृत द्वारकाके राजभवनमें प्रवेश किया ॥२६॥ उन्हें मेघके समान श्यामवर्ण पीताम्बरधारी विशालबाहु अरुणनयन मधुरमुसकानमय मुखवाले तथा नीली और घुँघराली अलकावलीरूप भौंरोंसे अलङ्कृत मुखारविन्दयुक्त देख अन्तःपुरकी महिलाओंने उन्हें कृष्ण समझा । इससे वे लज्जापूर्वक जहाँ-तहाँ लुकने लगीं ॥२७-२८॥ फिर धीरे-धीरे कुछ विलक्षणता देखकर उन्होंने जाना कि ये श्रीकृष्णचन्द्र नहीं हैं । तब वे अति आनन्दित और विस्मित होकर स्त्रीरत्नके सहित आये हुए उन पुरुषरत्नके पास आयीं ॥२९॥ इसी समय श्यामनयना मञ्जुभाषिणी रुक्मिणीको अपने खोये हुए बालकका स्मरण हो आया और पुत्रस्नेहके कारण उनके स्तनोंमें दूध उमड़ आया ॥३०॥

को न्वयं नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः ।
धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा ॥३१॥
मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो यः सूतिकागृहात्[3] ।

[वे सोचने लगीं—] 'यह नररत्न कौन है? यह कमलनयन किसका पुत्र है? किस बड़भागिनीने इसे अपने गर्भमें धारण किया होगा? तथा यह कौन स्त्री इसे मिली है? ॥३१॥ मेरा भी पुत्र, जो सूतिकागृहसे किसीके द्वारा हर लिये जानेके कारण नष्ट हो गया है,

१. मोहकरीं मायां पिशाचोरगरक्षसाम् । २. उपधार्य । ३. कालयात् ।

एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित् ॥३२॥
कथं त्वनेन संप्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः ।
आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः ॥३३॥
स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः ।
अमुष्मिन्प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः ॥३४॥
एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः ।
देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमश्लोक आगमत् ॥३५॥
विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः ।
नारदोऽकथयत्सर्वं शम्बराहरणादिकम्[१] ॥३६॥
तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः ।
अभ्यनन्दन्बहूनब्दान्नष्टं मृतमिवागतम् ॥३७॥
देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः ।
दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम् ॥३८॥
नष्टप्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः ।
अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति हाब्रुवन् ॥३९॥
यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावा-
स्तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः ।
चित्रं न तत्खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे
कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनार्यः ॥४०॥

यदि कहीं जीता होगा तो उसका भी वय और रूप इसीके समान होगा ॥ ३२ ॥ इसे आकृति, अङ्गोंकी गठन, चाल-ढाल, बोल-चाल, हँसी और चितवनमें श्रीकृष्णचन्द्रकी सदृशता कैसे प्राप्त हुई? ॥ ३३ ॥ यह कहीं वही बालक तो न हो जिसे मैंने गर्भमें धारण किया था? क्योंकि इसमें मेरा स्नेह बढ़ता जाता है और मेरी बायीं भुजा भी फड़क रही है' ॥ ३४ ॥

जिस समय रुक्मिणीजी इस उधेड़-बुनमें लगी हुई थीं उसी समय माता देवकी और वसुदेवजीके-सहित पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्ण वहाँ आ गये ॥३५॥ श्रीजनार्दन सारा रहस्य जानते थे, किन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। इतनेहीमें नारदजीने वहाँ आकर प्रद्युम्नजीके शम्बरासुरद्वारा हरे जाने आदिका सारा वृत्तान्त सुना दिया ॥ ३६ ॥ नारदजीद्वारा वह विचित्र वृत्तान्त सुनकर भगवान् कृष्णके अन्तः-पुरकी स्त्रियाँ, जैसे कोई मरा हुआ सुहृद् लौट आवे वैसे ही उन्हें कई वर्ष पश्चात् आये देख, अति आनन्दित हुईं ॥३७॥ देवकी, वसुदेव, कृष्ण, बलराम, रुक्मिणी तथा अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियाँ नववधूयुक्त बालक प्रद्युम्नको गले लगाकर परम प्रसन्न हुईं ॥ ३८ ॥ खोये हुए प्रद्युम्नको फिर आये सुन सब द्वारकावासी कहने लगे—'अहो! कैसे सौभाग्यकी बात है कि जो बालक इतने दिन हुए खो गया था वह फिर मरकर लौटे हुएके समान लौट आया!' ॥ ३९ ॥

जिन प्रद्युम्नजीको [उस दिन] बार-बार देखकर पिताके समान ही उनका स्वरूप होनेके कारण उनमें अपने पतिदेव (श्रीकृष्ण) की भावना हो जानेसे उनकी माता रुक्मिणी आदि स्त्रियाँ मधुरभावमें मग्न हो एकान्तमें चली गयी थीं; लक्ष्मीनिवास भगवान्के प्रतिबिम्बस्वरूप और स्मरणमात्रसे ही क्षोभ उत्पन्न करनेवाले उन कामदेवावतार प्रद्युम्नके दीख जानेपर ऐसा होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जब उन्हें सहसा देखकर माताओंको भी भावोदय हो गया तो उनके विषयमें अन्य स्त्रियोंकी तो बात ही क्या है? ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे प्रद्युम्नोत्पत्तिनिरूपणं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

---

१. न्धे शम्बरवधः पञ्च० ।

छप्पनवाँ अध्याय

स्यमन्तकोपाख्यान तथा जाम्बवती और सत्यभामाके साथ भगवान्‌का विवाह ।

श्रीशुक उवाच

सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः ।
स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥ १ ॥

राजोवाच

सत्राजितः किमकरोद्ब्रह्मन्कृष्णस्य किल्बिषम् ।
स्यमन्तकः कुतस्तस्य कस्माद्दत्ता सुता हरेः ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

आसीत्सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा ।
प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात्सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम् ॥ ३ ॥
स तं बिभ्रन्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः ।
प्रविष्टो द्वारकां राजंस्तेजसा नोपलक्षितः ॥ ४ ॥
तं विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टदृष्टयः ।
दिव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसुः सूर्यशङ्किताः ॥ ५ ॥
नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ।
दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन ॥ ६ ॥
एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते ।
मुष्णन्गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः ॥ ७ ॥
नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः ।
ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः ।
प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन् ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! सत्राजितनामक यादवने पहले श्रीकृष्णचन्द्रको कलङ्क लगाया था । फिर उस अपराधकी शान्तिका प्रयत्न करते हुए उसने स्यमन्तक मणिके सहित उन्हें अपनी कन्या दे दी ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—ब्रह्मन् ! सत्राजितने भगवान् कृष्णका क्या अपराध किया था ? उसे स्यमन्तकमणि कहाँसे मिली थी ? और किस कारण उसने अपनी पुत्री श्रीकृष्णचन्द्रको विवाही ? ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—भगवान् सूर्य अपने भक्त सत्राजित् [की भक्ति देखकर उन]के बहुत बड़े मित्र हो गये थे । उन्होंने सत्राजित्‌की तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उन्हें अति प्रसन्नतापूर्वक स्यमन्तकमणि दी ॥ ३ ॥ उस मणिको गलेमें धारणकर सत्राजित् सूर्यके समान देदीप्यमान हुए द्वारकामें आये । हे राजन् ! उसके प्रचण्डतेजके कारण उस समय उन्हें कोई पहचान भी न सका ॥ ४ ॥ उन्हें दूरहीसे देखकर लोगोंकी आखें तेजसे चौंधिया गयीं और उन्हें सूर्य समझकर उन लोगोंने चौसर खेलते हुए भगवान् कृष्णसे कहा—॥ ५ ॥ "हे नारायण ! हे शङ्खचक्रगदाधर ! हे दामोदर ! हे कमलनयन ! हे गोविन्द ! हे यदुनन्दन ! आपको नमस्कार है ॥ ६ ॥ हे जगत्पते ! देखिये, अपने किरणजालसे लोगोंके नेत्रोंको चकाचौंध करते हुए प्रचण्डरश्मि भगवान् सूर्य आपका दर्शन करनेके लिये आ रहे हैं ॥ ७ ॥ प्रभो ! त्रिलोकीमें सभी देवश्रेष्ठ आपके मार्गको सदा ढूँढते रहते हैं, [किन्तु उसे पाते नहीं हैं] आज आपको यदुकुलमें छिपे हुए जान श्रीसूर्यनारायण आपको देखनेके लिये आ रहे हैं" ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उन अजान पुरुषोंके ये वचन सुनकर भगवान् कमलनयनने हँसकर कहा "ये सूर्यदेव नहीं मणिसे देदीप्यमान सत्राजित् हैं" ॥ ९ ॥

सत्राजित्स्वगृहं श्रीमत्कृतकौतुकमङ्गलम् ।
प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवेशयत् ॥१०॥
दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो ।
दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्पाधिव्याधयोऽशुभाः ।
न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणिः ॥११॥
स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा ।
नैवार्थकामुकः प्रादाद्याच्ञाभङ्गमतर्कयन् ॥१२॥

इधर सत्राजित्ने जो मङ्गलोत्सवके कारण अति शोभायमान है ऐसे अपने घरमें जाकर उस मणिकी एक देवमन्दिरमें ब्राह्मणोंद्वारा प्रतिष्ठा करायी ॥ १० ॥ हे राजन्! वह मणि प्रतिदिन आठ भार* सुवर्ण दिया करती थी और जहाँ उसकी पूजा की जाती थी वहाँ दुर्भिक्ष, महामारी, ग्रहपीडा, सर्पभय, मानसिक और शारीरिक दुःख तथा मायावियोंका उपद्रव आदि कोई भी अशुभ नहीं होता था ॥ ११ ॥ एक बार श्रीकृष्णचन्द्रने सत्राजित्से वह मणि राजा उग्रसेनको देनेके लिये माँगी, किन्तु उस अर्थलोलुपने उनकी आज्ञाभङ्गका कोई विचार न करते हुए उसे नहीं दिया ॥ १२ ॥

तमेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम् ।
प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद्वने ॥१३॥
प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केसरी ।
गिरिं विशञ्जाम्बवता निहतो मणिमिच्छता ॥१४॥
सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले ।
अपश्यन्भ्रातरं भ्राता सत्राजित्पर्यतप्यत ॥१५॥
प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः ।
भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः ॥१६॥
भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनि ।
मार्ष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः ॥१७॥
हतं प्रसेनमश्वं च वीक्ष्य केसरिणा वने ।
तं चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः ॥१८॥

एक दिन सत्राजित्का भाई प्रसेन उस परम प्रकाशमयी मणिको अपने गलेमें बाँध घोड़ेपर चढ़कर वनमें शिकार खेलनेके लिये गया ॥ १३ ॥ वहाँ एक सिंहने घोड़ेके सहित प्रसेनको मार डाला और उस मणिको लेकर एक गिरिगुहामें घुसना ही चाहता था कि उस मणिकी इच्छावाले जाम्बवान्ने उसे मार डाला ॥ १४ ॥ और अपनी गुहामें जाकर वह मणि अपने बालकको खेलनेके लिये दे दी। प्रसेनका भाई सत्राजित् अपने भाईको न देखकर बहुत सन्ताप करने लगा ॥ १५ ॥ उसने कहीं कहा—"मेरा भाई गलेमें स्यमन्तक मणि बाँधकर वनको गया था, सम्भवतः उसे कृष्णने ही मरवा डाला होगा" यह सुन लोगोंमें कानाफूसी होने लगी ॥१६॥ जब भगवान्ने अपनेको यह कलङ्क लगा सुना तो उसे मिटानेके लिये वे [प्रसेनके साथी] द्वारकावासियोंको लेकर उसे ढूँढनेके लिये वनमें गये ॥ १७ ॥ वहाँ खोजनेपर लोगोंने सिंहद्वारा मारे गये प्रसेन और उसके घोड़ेको तथा ऋक्षराज जाम्बवान्द्वारा पर्वतपर मारे गये उस सिंहको भी देखा ॥ १८ ॥

* भारका परिमाण इस प्रकार है—

चतुर्भिर्व्रीहिभिर्गुञ्जं गुञ्जान्पञ्च पणं पणान् ।
अष्टौ धरणमष्टौ च कर्षं तांश्चतुरः पलम् ।
तुलां पलशतं प्राहुर्भारं स्याद्विंशतिस्तुलाः ॥

अर्थात्—चार व्रीहि (धान) की एक गुञ्जा, पाँच गुञ्जाका एक पण, आठ पणका एक धरण, आठ धरणका एक कर्ष, चार कर्षका एक पल, सौ पलकी एक तुला और बीस तुलाका एक भार कहलाता है।

ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसावृतम् ।
एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः ॥१९॥
तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम् ।
हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके ॥२०॥
तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत् ।
तच्छ्रुत्वाभ्यद्रवत्क्रुद्धो जाम्बवान्बलिनां वरः ॥२१॥
स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनात्मनः ।
पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित् ॥२२॥
द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलमुभयोर्विजिगीषतोः ।
आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव ॥२३॥
आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः ।
वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम् ॥२४॥
कृष्णमुष्टिविनिष्पातनिष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः ।
क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः ॥२५॥
जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजः सहो बलम् ।
विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम् ॥२६॥
त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानामपि यच्च सत् ।
कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथात्मनाम् ॥२७॥
यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै-
र्वर्त्मादिशत्क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः ।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लङ्का
रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि ॥२८॥

तब भगवान्‌ने सब लोगोंको बाहर ही छोड़ ऋक्षराजकी घोर अन्धकारसे भरी हुई महाभयङ्कर गुफामें अकेले ही प्रवेश किया ॥ १९ ॥ भीतर पहुँचकर भगवान्‌ने देखा कि वह श्रेष्ठ मणि बालकका खिलौना बनी हुई है। तब उसे लेनेकी इच्छासे भगवान् उस बालकके पास जा खड़े हुए ॥ २० ॥ वहाँ एक नये मनुष्यको देख उस बालककी धाय भयभीत-सी होकर चिल्ला उठी। उसका शब्द सुनकर बलवानोंमें श्रेष्ठ जाम्बवान् कुपित होकर वहाँ दौड़ आये ॥ २१ ॥ और अपने प्रभु भगवान् कृष्णसे, उन्हें साधारण मनुष्य जानकर उनका प्रभाव न जान सकनेके कारण, कुपित होकर लड़ने लगे ॥ २२ ॥ जिस प्रकार मांसके लिये दो बाज लड़ते हैं उसी प्रकार जयके अभिलाषी उन दोनों वीरोंमें अस्त्र-शस्त्र, पत्थर, वृक्ष और घूँसे आदिसे बड़ा घोर द्वन्द्वयुद्ध होने लगा ॥ २३ ॥ इस प्रकार अट्ठाईस दिनतक निरन्तर रात-दिन वज्रप्रहारके समान कठोर घूँसोंसे आपसमें युद्ध होता रहा ॥ २४ ॥ अन्तमें, भगवान् कृष्णके घूँसोंकी मारसे जिनके सुदृढ़ अङ्गबन्धन चूर-चूर हो गये हैं, उत्साह नष्ट हो गया है तथा शरीर पसीनेमें डूब गया है वे जाम्बवान् अति विस्मित होकर कहने लगे—॥ २५ ॥ "मैं जान गया—आप सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी और प्रतिपालक पुराणपुरुष भगवान् विष्णु हैं, आप ही समस्त प्राणियोंके प्राण, इन्द्रियबल, मनोबल और शारीरिक बल हैं ॥ २६ ॥ आप विश्वरचयिता ब्रह्मादिको भी उत्पन्न करनेवाले, सृष्टिके उपादान कारण, नाश करनेवालोंके नियामक भगवान् काल और सम्पूर्ण आत्माओंके आत्मा परमात्मा हैं ॥ २७ ॥ प्रभो ! जिनके किञ्चित् कोपकटाक्षसे नाकों और तिमिङ्गिलादिके क्षुब्ध हो जानेपर समुद्रने लङ्का जानेका मार्ग दे दिया था, तब जिन्होंने उसपर अपना यशस्वरूप सेतु बाँधकर लङ्काका विध्वंस किया और जिनके बाणोंसे कट-कटकर राक्षसोंके शिर पृथिवीपर लोटने लगे वे भगवान् राम भी आप ही हैं" ॥ २८ ॥

इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः ।
व्याजहार महाराज भगवान्देवकीसुतः ॥२९॥
अभिमृश्यारविन्दाक्षः पाणिना शङ्करेण तम् ।
कृपया परया भक्तं प्रेमगम्भीरया गिरा ॥३०॥
मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम् ।
मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना ॥३१॥
इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा ।
अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह ॥३२॥
अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः प्रविष्टस्य बिलं जनाः ।
प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः ॥३३॥
निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः ।
सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन्बिलात्कृष्णमनिर्गतम् ॥३४॥
सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकौकसः ।
उपतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये ॥३५॥
तेषां तु देव्युपस्थानात्प्रत्यादिष्टाशिषा स च ।
प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन्हरिः ॥३६॥
उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवागतम् ।
सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः ॥३७॥
सत्राजितं समाहूय सभायां राजसन्निधौ ।
प्राप्तिं चाख्याय भगवान्मणिं तस्मै न्यवेदयत् ॥३८॥
स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः ।
अनुतप्यमानो[1] भवनमगमत्स्वेन पाप्मना ॥३९॥

हे महाराज ! ऋक्षराज जाम्बवान्‌को अपने भगवत्स्वरूपका ज्ञान हुआ देख कमलनयन भगवान् देवकीनन्दनने उनकी पीड़ा दूर करनेके लिये उन्हें अपने कल्याणकारी हाथसे स्पर्श किया और फिर अत्यन्त कृपापूर्वक प्रेमगम्भीर वाणीसे अपने प्रिय भक्तसे कहा—॥ २९-३० ॥ "हे ऋक्षराज ! हम इस मणिसे अपना मिथ्या कलङ्क दूर करनेकी इच्छासे इसीको लेनेके लिये तुम्हारे बिलमें आये हैं" ॥ ३१ ॥ भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर जाम्बवान्‌ने अति प्रसन्न हो उनकी पूजा करनेके लिये मणिके सहित अपनी कन्या जाम्बवती लाकर उन्हें अर्पण कर दी ॥ ३२ ॥

इधर, बिलमें गये हुए भगवान् कृष्णको उससे बाहर निकलते न देख द्वारकावासीलोग बारह दिनतक प्रतीक्षा कर अत्यन्त दुःखित हो अपने नगरको लौट गये ॥ ३३ ॥ कृष्णचन्द्रको बिलसे बाहर न आये सुन देवी देवकी, रुक्मिणी और वसुदेवजी आदि सुहृद्गण तथा अन्य ज्ञातिबन्धुओंको बड़ा शोक हुआ ॥ ३४ ॥ समस्त द्वारकावासी अति दुःखित हो सत्राजित्‌को भला-बुरा कहते हुए भगवान् कृष्णकी पुनः प्राप्तिके लिये महामाया दुर्गादेवीकी उपासना करने लगे ॥ ३५ ॥ उनकी उपासनासे प्रसन्न हो देवीने उन्हें इच्छित आशीर्वाद दिया और उसी समय भगवान् कृष्ण सफलमनोरथ हो उन्हें प्रसन्न करते हुए नववधू जाम्बवतीके सहित वहाँ आ गये ॥ ३६ ॥ समस्त द्वारकावासी श्रीकृष्णचन्द्रको, जैसे कोई मरकर लौट आवे वैसे ही, गलेमें मणि पहने और साथमें एक सुन्दरी स्त्री लिये आये देख अत्यन्त हर्षित हुए ॥ ३७ ॥

तदनन्तर, भगवान्‌ने सत्राजित्‌को सभामें राजा उग्रसेनके सामने बुलाकर मणि पानेका सारा वृत्तान्त सुना दिया और वह मणि उन्हें सौंप दी ॥ ३८ ॥ सत्राजित्‌ने अति सङ्कोचपूर्वक वह मणि ले ली और अपने अपराधके लिये अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए शिर नीचा किये अपने घर आये ॥ ३९ ॥

[1] सन्तप्यमानो ।

सोऽनुध्यायंस्तदेवाघं　　बलवद्विग्रहाकुलः ।
कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद्वाच्युतः[1] कथम् ॥४०॥

किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद्वा जनो यथा ।
अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम् ॥४१॥

दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च ।
उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा ॥४२॥

एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित्स्वसुतां शुभाम् ।
मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह[2] ॥४३॥

तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि ।
बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम् ॥४४॥

भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप[3] ।
तवास्तां[4] देवभक्तस्य वयं च फलभागिनः ॥४५॥

अपने उसी अपराधका विचार करते हुए बलवान् मनुष्यके साथ विरोध ठाननेसे व्याकुल हो वे सोचने लगे 'मैं किस प्रकार अपने अपराधका मार्जन करूँ ? श्रीहरि किस प्रकार मुझसे प्रसन्न हों ? ॥ ४० ॥ मैं ऐसा क्या शुभ कर्म करूँ जिससे मेरा कल्याण हो सके तथा लोग मुझ अदूरदर्शी, क्षुद्र, मूर्ख और अर्थलोलुपको बुरा-भला न कहें ? ॥ ४१ ॥ अच्छा, मैं भगवान् कृष्णको स्त्रियोंमें रत्नरूपा अपनी कन्या और यह मणिरत्न दे दूँगा । बस, यही उपाय ठीक है, इस विरोधकी शान्ति और किसी प्रकारसे नहीं हो सकती' ॥ ४२ ॥ चित्तमें ऐसा निश्चय कर सत्राजित्‌ने अपनी शुभलक्षणा कन्या और स्यमन्तकमणि स्वयं ही उद्योग-कर श्रीकृष्णचन्द्रको दे दीं ॥ ४३ ॥ सत्राजित्‌की कन्या सत्यभामा शील, रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न थी; उसके लिये बहुतसे राजाओंने सत्राजित‌से याचना की थी । भगवान्‌ने उसके साथ विधिपूर्वक विवाह किया ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! भगवान्‌ने सत्राजित्‌से कहा—"हम मणि नहीं लेंगे, आप सूर्यदेवके भक्त हैं, इसलिये यह उनका प्रसाद आपहीके पास रहना चाहिये, हम तो केवल इसके फलके ही भागी हैं [अर्थात् इससे प्राप्त हुआ सुवर्ण हमको दे दीजियेगा]" ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[5] उत्तरार्धे
स्यमन्तकोपाख्याने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

१. देदच्युतः । २. सः । ३. तव । ४. भवांस्तु देवभक्तश्च । ५. न्धे स्यमन्तकाहरणं षट्पञ्चा० ।

सत्तावनवाँ अध्याय

स्यमन्तकहरण, शतधन्वाका वध और अक्रूरको फिर द्वारकामें बुलाना।

श्रीशुक उवाच

विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान्।
कुन्तीं च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून्॥ १॥
भीष्मं कृपं सविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च।
तुल्यदुःखौ च सङ्गम्य हा कष्टमिति होचतुः॥ २॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! श्रीगोविन्दको यद्यपि [पाण्डवोंके बच जानेकी] वास्तविक बातका पता था तो भी कुन्ती और पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें भस्म हुए सुन वे कुलोचित व्यवहारका पालन करनेके लिये बलरामजीके साथ कुरु देशको गये॥ १॥ वहाँ भीष्म, कृपाचार्य, विदुर, गान्धारी और द्रोणाचार्यसे मिलकर उन्हींके समान दुःखित हो कृष्ण-बलदेवने कहा—"हाय! कैसे कष्टकी बात है?"॥ २॥

लब्ध्वैतदन्तरं राजञ्शतधन्वानमूचतुः।
अक्रूरकृतवर्माणौ मणिः कस्मान्न गृह्यते॥ ३॥
योऽस्मभ्यं संप्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगर्ह्य नः।
कृष्णायादान्न सत्राजित्कस्माद्भ्रातरमन्वियात्॥ ४॥
एवंभिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः।
शयानमवधील्लोभात्स पापः क्षीणजीवितः॥ ५॥
स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत्।
हत्वा पशून्सौनिकवन्मणिमादाय जग्मिवान्॥ ६॥

इसी समय अवसर पा अक्रूर और कृतवर्माने शतधन्वासे कहा—"तुम सत्राजित्से मणि क्यों नहीं छीन लेते?॥ ३॥ जिस सत्राजित्ने हमें अपनी कन्या देनेका वचन देकर हमारा तिरस्कार कर उसे कृष्णचन्द्रको दे दिया वह क्यों न अपने भाईका अनुसरण करे?"॥ ४॥ जिसका जीवन क्षीण हो चुका है उस पापाचारी और महादुष्ट शतधन्वाने इस प्रकार उनके बहकावेमें आकर लोभवश सोये हुए सत्राजित्को मार डाला॥ ५॥ कसाई जैसे पशुओंको मार देता है वैसे ही क्रूरकर्मा शतधन्वा सत्राजित्को मारकर स्त्रियोंको रोती-बिलपती छोड़ उस मणिको लेकर चला गया॥ ६॥

सत्यभामा च पितरं हतं वीक्ष्य शुचार्दिता।
व्यलपत्तात तातेति हा हतास्मीति मुह्यती॥ ७॥
तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम्।
कृष्णाय विदितार्थाय तप्ताचख्यौ पितुर्वधम्॥ ८॥

पिताको मरे हुए देख सत्यभामाजी अत्यन्त शोकाकुल और बारम्बार मूर्छित हो 'हा तात! हा तात! मैं मारी गयी' इस प्रकार विलाप करने लगीं। फिर पिताके शवको तैलके कड़ाहमें रखवाकर हस्तिनापुरको चलीं। वहाँ पहुँचकर भगवान् कृष्णसे, जो पहले ही सब वृत्तान्त जानते थे, अति सन्ताप-पूर्वक पिताके वधका सारा समाचार कह सुनाया॥७-८॥

तदाकर्ण्येश्वरौ राजन्ननुसृत्य नृलोकताम्।
अहो नः परमं कष्टमित्यस्राक्षौ विलेपतुः॥ ९॥

हे राजन्! वह अशुभ समाचार सुनकर कृष्ण और बलराम, ईश्वर होकर भी, मनुष्यलीलाका अनुकरण करते हुए 'अहो! हमपर यह घोर आपत्ति आ पड़ी' इस प्रकार कहते हुए नेत्रोंमें जल भरकर विलाप करने लगे॥ ९॥ तदनन्तर भगवान् कृष्ण भाई बलरामजी और सत्यभामाके सहित हस्तिनापुरसे

आगत्य भगवांस्तस्मात्सभार्यः साग्रजः पुरम्।

शतधन्वानमारेभे हन्तुं हर्तुं मणिं ततः ॥१०॥

द्वारकामें आये और शतधन्वाको मारने तथा उससे मणि छीननेका उद्योग करने लगे ॥ १० ॥

सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया ।
साहाय्ये कृतवर्माणमयाचत स चाब्रवीत् ॥११॥
नाहमीश्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः ।
को नु क्षेमाय कल्पेत तयोर्वृजिनमाचरन् ॥१२॥
कंसः सहानुगोऽपीतो यद्द्वेषात्त्याजितः श्रिया ।
जरासन्धः सप्तदशसंयुगान्विरथो गतः ॥१३॥

कृष्णचन्द्रको अपने मारनेका उद्योग करते जान शतधन्वाको अत्यन्त भय हुआ और उसने अपनी प्राणरक्षाके लिये कृतवर्मासे सहायता माँगी। तब कृतवर्माने कहा—॥ ११ ॥ "मैं सर्वसमर्थ कृष्ण और बलरामकी अवहेलना नहीं कर सकता; उनका अपराध करके भला किसकी कुशल हो सकती है ? ॥ १२ ॥ जिनसे द्वेष करनेसे कंस अपने अनुगामियोंसहित राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट हुआ था और जरासन्ध जैसा शूरशिरोमणि भी सत्रह बार युद्धमें हारकर रथहीन होकर फिर गया था" ॥ १३ ॥

प्रत्याख्यातः स चाक्रूरं पार्ष्णिग्राहमयाचत ।
सोऽप्याह को विरुध्येत विद्वानीश्वरयोर्बलम् ॥१४॥
य इदं लीलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च ।
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया ॥१५॥
यः सप्तहायनः शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना ।
दधार लीलया बाल उच्छिलीन्ध्रमिवार्भकः ॥१६॥
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे ।
अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः ॥१७॥

कृतवर्मासे ऐसा कोरा उत्तर पा उसने अक्रूरजीसे सहायताके लिये प्रार्थना की। तब अक्रूरजी भी कहने लगे—"भाई, उन ईश्वरोंका बल जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो उनसे विरोध करेगा ? ॥ १४ ॥ जो लीलासे ही इस सम्पूर्ण विश्वकी रचना पालन और संहार करते हैं तथा जिनकी चेष्टाको ब्रह्मादि विश्वरचयिता भी उन्हींकी मायासे मोहित होनेके कारण नहीं जान सकते तथा जिन्होंने सात वर्षकी अवस्थामें गिरिराजको उखाड़कर, बालक जैसे छत्राक (गोबर-छत्ता) उठा लेते हैं वैसे ही, लीलापूर्वक एक हाथपर उठा लिया था उन अद्भुतकर्मा, अनन्त, सबके आदिकारण, कूटस्थ, आत्मा भगवान् कृष्णको बारम्बार नमस्कार है ॥ १५-१७ ॥

प्रत्याख्यातः स तेनापि शतधन्वा महामणिम् ।
तस्मिन्न्यस्याश्वमारुह्य शतयोजनगं ययौ ॥१८॥
गरुडध्वजमारुह्य रथं रामजनार्दनौ ।
अन्वयातां महावेगैरश्वै राजन्गुरुद्रुहम् ॥१९॥
मिथिलायामुपवने विसृज्य पतितं हयम् ।
पद्भ्यामधावत्सन्त्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद्रुषा ॥२०॥

अक्रूरजीसे भी सहायता न मिलनेपर शतधन्वा वह मणि उन्हींको सौंप स्वयं एक सौ योजनतक जानेवाले घोड़ेपर चढ़कर वहाँसे भागा ॥१८॥ हे राजन् ! तब कृष्ण और बलरामने भी गरुडकी ध्वजावाले रथपर चढ़कर अत्यन्त वेगवान् घोड़ोंद्वारा अपने गुरुजन (श्वसुर) से द्रोह करनेवाले शतधन्वाका पीछा किया ॥१९॥ मिथिलापुरीके निकट एक उपवनमें पहुँचनेपर शतधन्वाका घोड़ा गिर गया। तब वह उसे छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो पैदल ही भागा तब कृष्णचन्द्रने भी अति क्रोधपूर्वक उसका पीछा किया॥२०॥

पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना ।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससो व्यचिनोन्मणिम् ॥२१॥

शतधन्वा पैदल दौड़ रहा था इसलिये भगवान्‌ने भी पैदल ही जाकर अपने तीखी धारवाले चक्रसे उसका शिर काट लिया और उसके वस्त्रोंमें वह मणि ढूँढ़ने लगे ॥ २१ ॥

अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम् ।
वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते ॥२२॥

किन्तु जब उसके पास मणि न मिली तो बलरामजीके पास आकर कहा—"हमने शतधन्वाको व्यर्थ ही मारा; क्योंकि स्यमन्तकमणि तो उसके पास है नहीं" ॥२२॥

तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना ।
कस्मिंश्चित्पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेषं पुरं व्रज ॥२३॥
अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम ।
इत्युक्त्वा मिथिलां राजन्विवेश यदुनन्दनः ॥२४॥
तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः ।
अर्हयामास विधिवदर्हणीयं समर्हणैः ॥२५॥
उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः ।
मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना ।
ततोऽशिक्षद्गदां काले धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ॥२६॥

तब बलरामजीने कहा—"शतधन्वाने वह मणि निश्चय ही किसीके यहाँ धरोहर रख दी होगी । इसलिये तुम द्वारकामें जाकर उस पुरुषका पता लगाओ ॥२३॥ मैं इस समय अपने प्रियतम मित्र विदेहराजसे मिलना चाहता हूँ" । ऐसा कह यदुनन्दन भगवान् बलरामजीने मिथिलापुरीमें प्रवेश किया ॥२४॥ पूजनीय बलरामजीको आये देख मिथिलानरेशने सहसा उठकर उनकी अनेक सामग्रियोंसे प्रसन्नतापूर्वक विधिवत् पूजा की ॥२५॥ महात्मा जनकजीसे प्रीतिपूर्वक सम्मानित हो भगवान बलरामजी कुछ वर्ष उनकी राजधानी मिथिलापुरीमें रहे । इसी समय अवसर पा धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनने उनसे गदायुद्ध सीखा ॥२६॥

केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः ।
अप्राप्तिं च मणेः प्राह प्रियायाः प्रियकृद्विभुः ॥२७॥
ततः स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै ।
साकं सुहृद्भिर्भगवान्या याः स्युः साम्परायिकाः॥२८॥

इधर, प्रियाका प्रिय करनेवाले भगवान् कृष्णने द्वारकामें आ अपनी प्रिया सत्यभामाको शतधन्वाके वध और मणि न मिलनेका समाचार सुनाया ॥२७॥ और फिर जो-जो कर्म मृतककी शुभगतिके कारण होते हैं भगवान्‌ने अपने मृतबन्धु सत्राजित्‌के वे सब और्ध्व-देहिक कर्म उनके सुहृदोंसे कराये ॥२८॥

अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् ।
व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ ॥२९॥
अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन्वै द्वारकौकसाम् ।
शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः ॥३०॥
इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् ।

अक्रूर और कृतवर्मा शतधन्वाको सत्राजित्‌के वधके लिये उत्तेजित करनेवाले थे । इसलिये शतधन्वाकी मृत्युका समाचार पा वे अत्यन्त भयभीत हो द्वारकासे परदेशको भाग गये ॥२९॥ हे राजन् ! कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'अक्रूरजीके बाहर चले जानेपर द्वारका-वासियोंको नाना प्रकारके अनर्थ प्राप्त हुए और वे निरन्तर शारीरिक, मानसिक, दैविक और भौतिक तापोंसे सन्तप्त रहने लगे [और इन्हीं उपद्रवोंकी शान्तिके लिये अक्रूरको बुलाया गया]' ॥३०॥ किन्तु भगवान्‌के पूर्वकथित माहात्म्यको भूलकर ऐसा कहा गया है, नहीं तो

१. न्वेष्टुं । २. वदर्हण्यं वै तमर्हणैः । ३. सार्द्धं ।

मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् ॥३१॥

देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायागताय वै ।

स्वसुतां गान्दिनीं प्रादात्ततोऽवर्षत्स्म काशिषु ॥३२॥

तत्सुतस्तत्प्रभावोऽसावक्रूरो यत्र यत्र ह[१] ।

देवोऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारिकाः ॥३३॥

इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम् ।

इति मत्वा समानाय्य प्राहाक्रूरं जनार्दनः ॥३४॥

पूजयित्वाभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः ।

विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह ॥३५॥

ननु दानपते न्यस्तस्त्वय्यास्ते शतधन्वना ।

स्यमन्तको मणिः श्रीमान्विदितः पूर्वमेव नः ॥३६॥

सत्राजितोऽनपत्यत्वाद्गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः ।

दायं निनीयापः पिण्डान्विमुच्यर्णं च शेषितम् ॥३७॥

तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः ।

किन्तु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति ॥३८॥

दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्तिमावह ।

अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः ॥३९॥

जिनमें मुनिगण निरन्तर निवास करते हैं उन श्रीहरिके रहते क्या कोई अनर्थ प्राप्त हो सकता है ? * ॥ ३१ ॥ [वृद्धलोग कहने लगे—] "पूर्व समयमें एक बार जब काशीराज्यमें वर्षा नहीं हुई तो काशीनरेशने अपने नगरमें आये हुए महात्मा श्वफल्कको अपनी गान्दिनी नामकी कन्या विवाह दी तभी वहाँ वर्षा हुई ॥३२॥ उनके पुत्र अक्रूरजीका भी ऐसा ही प्रभाव है । वे जहाँ-जहाँ रहते हैं वहीं खूब वर्षा होती है और किसी प्रकारका कष्ट या महामारी आदि उपद्रव नहीं होते" ॥३३॥

वृद्ध पुरुषोंके मुखसे ये बातें सुनकर भगवान्ने यह जानते हुए भी कि इस उपद्रवका कारण केवल यही (अक्रूरजीकी अनुपस्थिति ही) नहीं है, [अपि तु मेरी इच्छा भी है] अक्रूरजीको बुलवाकर उनसे बात की ॥३४॥ सबके हृदयकी बात जाननेवाले भगवान्ने अक्रूरजीका सत्कार कर उनसे बहुत-सी प्रिय बातें करते हुए सम्भाषण किया और फिर मन्द-मन्द मुसकाते हुए बोले—॥३५॥ "हे दानपते ! शतधन्वा तुम्हें स्यमन्तकमणि सौंप गया था और वह तेजोमय मणि तुम्हारे ही पास है—इस बातको हम पहलेहीसे जानते हैं ॥३६॥ सत्राजित्के कोई पुत्र नहीं है इसलिये उनकी कन्याके पुत्र ही उन्हें तिलोदक और पिण्डदान कर उनका ऋण चुकानेसे बचे हुए धनको ग्रहण कर सकते हैं ॥३७॥ किन्तु आपके सिवा और किसीके लिये उसे रखना अत्यन्त कठिन है; आप सदा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं, इसलिये वह मणि आपहीके पास रहनी चाहिये । किन्तु मेरे बड़े भाई बलरामजीको मणिके सम्बन्धमें मेरी बातका पूरा विश्वास नहीं है ॥ ३८ ॥ अतः हे महाभाग ! आप वह मणि दिखाकर बन्धुओंके सन्देहको शान्त कर दीजिये । [आप ऐसा न कहें कि मेरे पास वह मणि नहीं है; क्योंकि] उसके प्रतापसे ही आपके सुवर्णवेदीवाले अखण्ड यज्ञोंका ताँता लगा हुआ है" ॥३९॥

१. सः । २. दूतैः ।

* अक्रूर तो मणिके विषयमें सत्यभामा और बलरामजीका सन्देह दूर करनेके लिये बुलाये गये, उपद्रवोंकी सृष्टि तो भगवान्की इच्छासे ही हुई थी ।

एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम् ।
आदाय वाससाच्छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम् ॥४०॥
स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः ।
विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयत्प्रभुः ॥४१॥

इस प्रकार सामविधिसे समझाये जानेपर अक्रूरजीने वस्त्रमें लपेटी हुई वह सूर्यके समान प्रकाशमान मणि निकालकर भगवान् कृष्णको दे दी ॥४०॥ भगवान्‌ने वह स्यमन्तकमणि अपने ज्ञातिबन्धुओंको दिखाकर अपना कलङ्क मिटा दिया और वह मणि फिर अक्रूरजीको ही दे दी ॥४१॥

यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णो-
वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं च ।
आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा
दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम् ॥४२॥

जो पुरुष सर्वेश्वर भगवान् विष्णुके पराक्रमोंसे सम्पन्न इस पापनाशक मङ्गलमय आख्यानको पढ़ता, सुनता या स्मरण करता है वह सब प्रकारकी अपकीर्ति और पापसे छूटकर शान्ति प्राप्त करता है ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
स्यमन्तकोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५७॥

अट्ठावनवाँ अध्याय

भगवान् कृष्णके अन्य विवाह ।

श्रीशुक[2] उवाच

एकदा पाण्डवान्द्रष्टुं प्रतीतान्पुरुषोत्तमः ।
इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान्युयुधानादिभिर्वृतः ॥ १ ॥
दृष्ट्वा तमागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम् ।
उत्तस्थुर्युगपद्वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम् ॥ २ ॥
परिष्वज्याच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतैनसः ।
सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
फाल्गुनं परिरभ्याथ यमाभ्यां चाभिवन्दितः[3] ॥ ४ ॥
परमासने[4] आसीनं कृष्णा कृष्णमनिन्दिता ।
नवोढा व्रीडिता किञ्चिच्छनैरेत्याभ्यवन्दत[5] ॥ ५ ॥
तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिवन्दितः ।
निषसादासने[6]ऽन्ये च पूजिताः पर्युपासत ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक दिन पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण सात्यकि आदि यादवोंको साथ ले पाण्डवोंको, जो अज्ञातवास त्यागकर अब प्रकटरूपसे रहने लगे थे, देखने गये ॥ १ ॥ सर्वेश्वर भगवान् कृष्णको आये देख वीर पाण्डवगण, जैसे मुख्यप्राणके आ जानेसे सब इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं वैसे ही एक साथ उठ खड़े हुए ॥ २ ॥ उन्होंने श्रीअच्युतको गले लगाया; भगवान्‌के अङ्ग-सङ्गसे पाण्डवोंके सब पाप नष्ट हो गये और वे उनका प्रणयमुसकानमय मुखारविन्द देखकर परम प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥ भगवान्‌ने युधिष्ठिर और भीमसेनके चरणोंमें प्रणाम कर अर्जुनको गले लगाया तथा नकुल और सहदेवने उनकी चरणवन्दना की ॥ ४ ॥ तदनन्तर नवविवाहिता सुन्दरी द्रौपदीने लज्जापूर्वक धीरे-धीरे वहाँ आकर श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान भगवान् कृष्णको प्रणाम किया ॥ ५ ॥ इसी प्रकार सात्यकि भी पाण्डवोंसे सम्मानित और अभिवादित हो एक आसनपर बैठे तथा अन्य यादवगण भी यथायोग्य सत्कृत हो भगवान् कृष्णके चारों ओर बैठ गये ॥ ६ ॥

१. न्धे सप्त० । २. बादरायणिरुवाच । ३. वादितः । ४. नमासी० । ५. नन्दितः । ६. ने रम्ये ।

पृथां समागत्य कृताभिवादन-

स्तयातिहार्दार्द्रदृशाभिरम्भितः ।

आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां

पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः ॥ ७ ॥

तमाह प्रेमवैक्लव्यरुद्धकण्ठाश्रुलोचना ।

स्मरन्ती तान्बहून्क्लेशान्क्लेशापायात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥

तदैव कुशलं नोऽभूत्सनाथास्ते कृता वयम् ।

ज्ञातीन्नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया ॥ ९ ॥

न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः ।

तथापि स्मरतां शश्वत्क्लेशान्हंसि हृदि स्थितः ॥१०॥

युधिष्ठिर उवाच

किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर ।

योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम् ॥११॥

इति वै वार्षिकान्मासान्राज्ञः सोऽभ्यर्थितः सुखम् ।

जनयन्नयनानन्दमिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः ॥१२॥

एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम् ।

गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ ॥१३॥

साकं कृष्णेन सन्नद्धो विहर्तुं विपिनं वनम् ।

बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत्परवीरहा ॥१४॥

तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान्सूकरान्महिषान्रुरून् ।

शरभान्गवयान्खड्गान्हरिणाञ्छशशल्लकान् ॥१५॥

तान्निन्युः किङ्करा राज्ञे मेध्यान्पर्वण्युपागते ।

फिर भगवान् कृष्णने कुन्तीके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने स्नेहवश नेत्रोंमें जल भरकर भगवान्‌को गले लगाकर उनसे अपने बन्धु-बान्धवोंकी कुशल पूछी तथा भगवान्‌ने भी अपनी फूआसे उनकी और उनकी पुत्रवधुओंकी कुशल पूछी ॥ ७ ॥ तब प्रेमकी उमंगसे जिनका गला रुँध गया है और नेत्रोंमें प्रेमाश्रुओंकी बाढ़ आ गयी है वे कुन्तीजी पहले पाये हुए बहुतसे क्लेशोंको स्मरण करती हुई भक्तोंका क्लेश मिटानेके लिये ही प्रकट होनेवाले भगवान् कृष्णसे कहने लगीं—॥ ८ ॥ "हे कृष्ण ! जिस समय आपने हम अपने स्वजनोंका स्मरण कर मेरे भाई अक्रूरको हमारी कुशल जाननेके लिये भेजा था उसी समय हमलोग सकुशल हो गये और आपने हमें सनाथ कर दिया ॥ ९ ॥ आप सम्पूर्ण जगत्‌के सुहृद् और आत्मा हैं । आपको अपने-परायेका भ्रम नहीं है; तो भी जो लोग आपका सदा स्मरण करते हैं, उनके हृदयमें विराजमान होकर आप उनका दुःख दूर कर देते हैं" ॥१०॥

युधिष्ठिरने कहा—हे सर्वेश्वर ! मैं नहीं जानता हमने ऐसा क्या पुण्य किया है जिससे योगेश्वरोंको भी कठिनतासे दिखायी देनेवाले आपने हम कुबुद्धियोंको दर्शन दिया है ॥११॥ भगवान् कृष्ण इस प्रकार राजा युधिष्ठिरसे सम्मानित हो इन्द्रप्रस्थनिवासियोंके नयनोंको आनन्दित करते हुए वर्षाऋतुके कई महीनोंतक वहाँ सुखपूर्वक रहे ॥१२॥

एक बार शत्रुओंका दमन करनेवाले वीरवर अर्जुन गाण्डीव धनुष और अक्षयबाणपूर्ण दो तरकश ले कवच धारणकर वानरके चिह्नकी ध्वजावाले रथपर भगवान् कृष्णके साथ सवार हो बहुतसे सिंह और मृगादिसे पूर्ण एक भयङ्कर वनमें आखेटके लिये गये ॥१३-१४॥ वहाँ उन्होंने बहुतसे व्याघ्र, सूकर, भैंसे, कृष्णमृग, शरभ, वनगाय, गैंडे, हरिण, खरगोश और शल्लकादि जीवोंको अपने बाणोंसे बींधा ॥१५॥ उनमेंसे बहुतसे यज्ञयोग्य पशुओंको सेवकगण पर्वकाल उपस्थित होनेपर राजा युधिष्ठिरके

१. विक्षितः । २. बद्ध० ।

तृट्परीतः परिश्रान्तो बीभत्सुर्यमुनामगात् ॥१६॥
तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ ।
कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम् ॥१७॥
तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम् ।
पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमाम् ॥१८॥
का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतोऽसि किं चिकीर्षसि[1] ।
मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने ॥१९॥

पास ले गये । अर्जुन मृगयाके परिश्रमसे थककर अति पिपासाकुल हो रहे थे, इसलिये वे यमुनातटपर गये ॥१६॥ वहाँ कृष्ण और अर्जुन दोनों महारथियोंने हाथ-पाँव धोकर निर्मल जल पीया और यमुनाजीके तटपर विचरती हुई एक सुन्दरी कन्या देखी ॥१७॥ तब सखा कृष्णचन्द्रके भेजनेसे वीरवर अर्जुनने उस सुन्दर ऊरु, दाँत और सुन्दर मुखवाली सुन्दरी रमणीके पास आ उससे पूछा—॥१८॥ "हे सुश्रोणि ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? कहाँसे आयी हो ? और क्या करना चाहती हो ? हे सुन्दरि ! मालूम होता है तुम अपने योग्य पतिकी खोजमें हो, सो तुम अपना सब वृत्तान्त कहो" ॥१९॥

कालिन्द्युवाच

अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती ।
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थिता ॥२०॥
नान्यं पतिं वृणे वीर[2] तमृते श्रीनिकेतनम् ।
तुष्यतां मे स भगवान्मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः ॥२१॥
कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले ।
निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम् ॥२२॥
तथावदद्गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम् ।
रथमारोप्य तद्विद्वान्धर्मराजमुपागमत् ॥२३॥

कालिन्दी बोली—मैं भगवान् सूर्यदेवकी कन्या हूँ, और श्रेष्ठतम वरदायक श्रीविष्णु भगवान्‌को अपना पति बनानेकी इच्छासे यह कठोर तपस्या कर रही हूँ ॥ २० ॥ हे वीर ! लक्ष्मीके आश्रयस्थान श्रीनारायणदेवके सिवा मैं और किसीको वरण नहीं कर सकती । वे अनाथोंके आश्रय भगवान् कृष्ण मुझपर प्रसन्न हों ॥२१॥ मेरा नाम कालिन्दी है । मैं जबतक श्रीअच्युतका दर्शन न होगा तबतक यमुनाजलमें अपने पिताजीके बनवाये हुए भवनमें रहूँगी ॥२२॥ तब अर्जुनने वह सब वृत्तान्त भगवान् कृष्णको सुनाया । वे तो ये सब बातें पहलेहीसे जानते थे । अतः [कालिन्दीके पास जा] उन्हें अपने रथपर चढ़ा महाराज युधिष्ठिरके पास ले आये ॥२३॥

यदैव[3] कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम् ।
कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा ॥२४॥
भगवांस्तत्र निवसन्स्वानां प्रियचिकीर्षया ।
अग्नये खाण्डवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः ॥२५॥
सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद्धयाञ्छ्वेतान्रथं नृप ।

तदनन्तर, पाण्डवोंके प्रार्थना करनेपर भगवान् कृष्णने विश्वकर्मासे उनके रहनेके लिये एक अति अद्भुत और विचित्र नगर बनवाया ॥२४॥ इस प्रकार अपने स्वजनोंका प्रिय करनेके लिये भगवान् वहाँ बहुत दिनोंतक रहे । इसी बीचमें अग्निको खाण्डववन दिलानेके लिये [इन्द्रार्जुन-संग्रामके समय] वे अर्जुनके सारथि बने ॥२५॥ खाण्डवदाहसे सन्तुष्ट होकर अग्निने अर्जुनको गाण्डीव धनुष, चार श्वेतवर्ण

१. तो वा किं । २. रमृते पुरुषमीश्वरम् । ३. यथैव ।

अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः ॥२६॥

मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत् ।

यस्मिन्दुर्योधनस्यासीज्जलस्थलदृशिभ्रमः ॥२७॥

स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भिश्चानुमोदितः ।

आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखैर्वृतः ॥२८॥

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते ।

वितन्वन्परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम् ॥२९॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ ।

स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां न्यषेधताम् ॥३०॥

राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः ।

प्रसह्य हृतवान्कृष्णो राजन्राज्ञां प्रपश्यताम् ॥३१॥

नग्नजिन्नाम कौशल्य आसीद्राजातिधार्मिकः ।

तस्य सत्याभवत्कन्या देवी नाग्नजिती नृप ॥३२॥

न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्त गोवृषान् ।

तीक्ष्णशृङ्गान्सुदुर्धर्षान्वीरगन्धासहान्खलान् ॥३३॥

तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवान्सात्वतां पतिः ।

जगाम कौशल्यपुरं[2] सैन्येन महता वृतः ॥३४॥

स कोशलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः ।

अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन्प्रतिनन्दितः ॥३५॥

वरं विलोक्याभिमतं समागतं
नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम् ।
भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः
करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतैः[3] ॥३६॥

घोड़े, एक रथ, दो अक्षय तरकश और जो शस्त्रधारियोंसे न बेधा जा सके ऐसा एक कवच दिया ॥२६॥ खाण्डवदाहके समय अर्जुनने मयदानवको भस्म होनेसे बचाया था, इसलिये उसने अर्जुनसे मित्रता कर उनके लिये एक ऐसी सभा बनायी जिसमें दुर्योधनको जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम हो गया था ॥२७॥

तदनन्तर अर्जुनकी आज्ञा और अन्य सुहृदोंकी अनुमति ले भगवान् कृष्ण सात्यकि आदिके साथ फिर द्वारका लौट आये ॥२८॥ वहाँ आ, उन्होंने विवाहके योग्य ऋतु और उन्नतिशील पुण्य नक्षत्रके उपस्थित होनेपर अपने स्वजनोंको परम आनन्द और मङ्गल प्रदान करते हुए कालिन्दीके साथ विवाह किया ॥२९॥

अवन्तिदेशके राजा विन्द और अनुविन्द दुर्योधनके वशवर्ती सामन्त थे । उन्होंने स्वयंवरमें श्रीकृष्णचन्द्रको वरण करनेकी इच्छावाली अपनी बहिनको वैसा करनेसे रोक दिया ॥३०॥ हे राजन् ! अपनी फूआ राजाधिदेवीकी पुत्री उस मित्रविन्दाको भगवान् कृष्णने सब राजाओंके देखते-देखते बलात्कारसे हर लिया ॥३१॥

हे राजन् ! कोशलदेशके नग्नजित्नामक अति धार्मिक राजा थे । उनके नाग्नजिती सत्या नामकी कान्तिमती कन्या थी ॥३२॥ तीखे सींगोंवाले दुर्दम्य और वीरोंकी गन्धको भी सहन न करनेवाले सात दुष्ट बैलोंको न जीत सकनेके कारण कोई भी राजा उससे विवाह नहीं कर सके ॥३३॥ तब यह सुनकर कि वह कन्या बैलोंको जीतनेवालेको ही मिल सकती है भगवान् यदुनाथ एक बहुत बड़ी सेना ले कोशलपुरीको गये ॥ ३४ ॥ कोशलनरेश महाराज नग्नजित्ने प्रसन्न होकर प्रत्युत्थान और आसनादि विविध सामग्रियोंसे भगवान्का सत्कार किया और भगवान्ने भी उनका अभिनन्दन किया ॥३५॥

राजकन्या सत्याने अपने अभिमत वर श्रीलक्ष्मीपतिको आये देख मन-ही-मन कामना की कि यदि मैंने व्रत-नियमादिसे इन्हींका चिन्तन किया है तो ये मेरे पति हों और मेरी शुद्ध कामनाको सत्य करें ॥३६॥

१. प्रययौ । २. ळपुरीं । ३. व्रतः ।

यत्पादपङ्कजरजः शिरसा बिभर्ति
श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालैः ।
लीलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सयेशः
काले दधत्स भगवान्मम केन तुष्येत् ॥३७॥

जिनके चरणकमलोंकी रजको लक्ष्मीजी और महादेव तथा अन्य लोकपालोंके सहित श्रीब्रह्माजी अपने मस्तकपर धारण करते हैं, अपनी बाँधी हुई धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये धर्मके ह्रास होनेके समय लीलावतार धारण करनेवाले वे भगवान् मुझसे कैसे प्रसन्न होंगे ? ॥३७॥

अर्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते ।
आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः ॥३८॥

इधर, भगवान्‌का सत्कार हो चुकनेपर राजा नग्नजित्‌ने कहा—"हे नारायण ! हे जगत्पते ! आप आत्मानन्दसे पूर्ण हैं, मैं तुच्छ मनुष्य आपकी क्या सेवा करूँ ?" ॥३८॥

श्रीशुक उवाच

तमाह भगवान्हृष्टः[2] कृतासनपरिग्रहः ।
मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन ॥३९॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुनन्दन ! तब आसनादि ग्रहण कर चुकनेपर भगवान् कृष्णने अति प्रसन्नतापूर्वक मुसकाते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीसे कहा ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

नरेन्द्र याच्ञा कविभिर्विगर्हिता
राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः ।
तथापि याचे तव सौहृदेच्छया
कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम् ॥४०॥

श्रीभगवान् बोले—हे राजन् ! अपने धर्ममें स्थित क्षत्रियके लिये कुछ माँगनेका यद्यपि विद्वानोंने निषेध किया है, तो भी आपसे सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छासे मैं आपकी कन्या माँगता हूँ, किन्तु हमारे यहाँ कन्याका कोई मूल्य देनेकी प्रथा नहीं है ॥४०॥

राजोवाच

कोऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः ।
गुणैकधाम्नो यस्याङ्गे श्रीर्वसत्यनपायिनी ॥४१॥
किं त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्वतर्षभ ।
पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीप्सया ॥४२॥
सप्तैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरवग्रहाः ।
एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः ॥४३॥
यदीमे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन ।
वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियः[3] पते ॥४४॥

राजाने कहा—हे नाथ ! जिनके अङ्गमें लक्ष्मीजी निरन्तर निवास करती हैं उन एकमात्र गुणधाम आपसे बढ़कर मेरी कन्याका और कौन इच्छित वर हो सकता है ? ॥ ४१ ॥ किन्तु, हे सात्वतर्षभ ! हमने कन्याका वर चुननेकी इच्छासे लोगोंके बलकी परीक्षा करनेके लिये पहलेसे एक प्रण कर रखा है ॥ ४२ ॥ हे वीर ! हमारे पास ये अत्यन्त दुर्दम्य और बिना सधाये हुए सात बैल हैं। इन्होंने बहुत-से राजकुमारोंका अङ्ग-भङ्ग कर उन्हें निरुत्साह कर दिया है ॥ ४३ ॥ हे यदुनन्दन ! यदि इन्हें आपने ही अपने वशीभूत कर लिया तो हे लक्ष्मीपते ! आप मेरी कन्याके इच्छित वर होंगे ॥ ४४ ॥

एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः ।
आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णाल्लीलयैव तान् ॥४५॥

राजाकी ऐसी प्रतिज्ञा सुन भगवान् कृष्णने कमर कसकर सात रूप धारण किये और लीलासे ही उन बैलोंको नाथ दिया ॥ ४५ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'यत्पादपङ्कज…' इत्यादि पूरा श्लोक 'अर्चितं पुनरित्याह…' इस पूरे श्लोकके बाद लिखा है। २. कृष्णः। ३. प्रियः पतिः।

बद्ध्वा तान्दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान्हतौजसः ।
व्यकर्षल्लीलया बद्धान्बालो दारुमयान्यथा ॥४६॥
ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः ।
तां प्रत्यगृह्णाद्भगवान्विधिवत्सदृशीं प्रभुः ॥४७॥
राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् ।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः ॥४८॥
शङ्खभेर्यानका नेदुर्गीतवाद्यद्विजाशिषः ।
नरा नार्यः प्रमुदिताः सुवासःस्रगलङ्कृताः ॥४९॥
दशधेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद्विभुः ।
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम् ॥५०॥
नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान्रथान् ।
रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान्नरान् ॥५१॥
दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ ।
स्नेहप्रक्लिन्नहृदयो यापयामास कोशलः ॥५२॥

इससे उनका दर्प चूर्ण हो गया और वे तेजोहीन हो गये । तदनन्तर भगवान् कृष्णने उन्हें रस्सीसे बाँधकर बालक जैसे लकड़ीके बैलोंको खींचता है वैसे ही, लीलाहीसे खींचा ॥ ४६ ॥ तब राजा नग्नजित्ने विस्मित और प्रसन्न होकर अपनी कन्या श्रीकृष्णचन्द्रको दे दी और सर्वसमर्थ भगवान्ने भी उस अपने सदृश भार्याको विधिपूर्वक ग्रहण किया ॥ ४७ ॥ अपनी कन्याके पतिरूपसे श्रीकृष्णचन्द्रको मिले देख राजपत्नियोंको भी परम आनन्द प्राप्त हुआ । उस समय सर्वत्र बड़ा उत्सव होने लगा ॥ ४८ ॥ शङ्ख, भेरी और ढोल आदि बाजे बजने लगे, सब ओर गाना-बजाना आरम्भ हुआ, ब्राह्मणगण आशीर्वाद देने लगे और नगरके नर-नारीगण अति आनन्दित होकर सुन्दर वस्त्र तथा माला आदिसे अलङ्कृत हुए ॥ ४९ ॥ राजा नग्नजित्ने दश सहस्र गौएँ, सुन्दर वस्त्र तथा गलेमें हमेल पहने हुए तीन सहस्र युवती स्त्रियाँ, नौ सहस्र हाथी, हाथियोंसे सौगुने (नौ लक्ष) रथ, रथोंसे सौगुने (नौ करोड़) घोड़े और घोड़ोंसे सौगुने (नौ अरब) सेवक दहेजमें दिये ॥ ५०-५१ ॥ कोशलनरेश नग्नजित्ने कन्या और दामादको रथपर चढ़ा एक बड़ी सेनाके साथ स्नेहार्द्रहृदयसे विदा किया ॥ ५२ ॥

श्रुत्वैतद्रुरुधुर्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम् ।
भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषैः पुरा ॥५३॥
तानस्यतः शरव्रातान्बन्धुप्रियकृदर्जुनः ।
गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥५४॥
पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया ।
रेमे यदूनामृषभो भगवान्देवकीसुतः ॥५५॥

यह समाचार सुन बहुत-से राजाओंने, जिनका पराक्रम पहले यादवों और बैलोंने नष्ट कर दिया था, भगवान्की विजयको सहन न कर सकनेके कारण उन्हें मार्गमें कन्याको ले जाते हुए रोक लिया ॥५३॥ तब, बाणोंके समूह छोड़ते हुए उन राजाओंको अपने बन्धुका प्रिय करनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुनने, सिंह जैसे छोटे-मोटे पशुओंको भगा देता है वैसे ही मार-पीटकर भगा दिया ॥ ५४ ॥ तदनन्तर, यदुश्रेष्ठ भगवान् देवकीनन्दन उस दहेज और सत्याके सहित द्वारकामें आये और वहाँ रहकर विहार करने लगे ॥५५॥

श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रामुपयेमे पितृष्वसुः ।
कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां कृष्णः सन्तर्दनादिभिः ॥५६॥

इसके अनन्तर भगवान् कृष्णने अपनी फूआ श्रुतकीर्तिकी पुत्री कैकयदेशीया भद्रासे विवाह किया, जिसे उसके भाई सन्तर्दनादिने स्वयं ही भगवान्को दिया था ॥ ५६ ॥

---

१. भ्रातैर्बन्धु० ।

सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युताम् ।
स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव ॥५७॥
अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन्सहस्रशः ।
भौमं हत्वा तन्निरोधादाहृताश्चारुदर्शनाः ॥५८॥

इसके उपरान्त, गरुड जैसे अमृत छीन लाये थे उसी प्रकार, श्रीकृष्णचन्द्र मद्रराजकी कन्या सर्वसुलक्षणसम्पन्ना लक्ष्मणाको अकेले ही उसके स्वयंवरसे हर लाये ॥ ५७ ॥ इसी प्रकार भगवान् कृष्णकी और भी सहस्रों स्त्रियाँ थीं, जिन परम सुन्दरियोंको वे भौमासुरको मारकर उसके बन्दीगृहसे छुड़ाकर लाये थे ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे[1]
अष्टमहिष्युद्वाहो नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

उनसठवाँ अध्याय

भगवान्‌का भौमासुरको मारकर सोलह सहस्र एक सौ राजकन्याओंसे विवाह करना ।

राजोवाच

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः ।
निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! श्रीकृष्णचन्द्रने भौमासुरको, जिसने उन स्त्रियोंको बन्दीगृहमें डाल रक्खा था, क्यों और किस प्रकार मारा ? भगवान् शार्ङ्गधन्वाका वह विचित्र चरित्र सुनाइये ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रेण हृतच्छत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना ।
हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम् ।
सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ ॥ २ ॥
गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम् ।
मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः[2] सर्वत आवृतम् ॥ ३ ॥
गदया निर्बिभेदाद्रीञ्छस्त्रदुर्गाणि सायकैः ।
चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना ॥ ४ ॥
शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम् ।
प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधरः ॥ ५ ॥
पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम् ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भौमासुरद्वारा वरुणका छत्र, माता अदितिके कुण्डल और मेरुपर्वतपर देवताओंका मणिपर्वतनामक स्थान छीन लिये जानेपर देवराज इन्द्रने द्वारकामें आ उसकी सब चेष्टाएँ भगवान् कृष्णको जता दीं । तब भगवान् अपनी भार्या सत्यभामाके सहित गरुड़पर चढ़कर प्राग्ज्योतिषपुरको गये ॥ २ ॥ वह नगर गिरिदुर्ग और शस्त्रदुर्ग तथा जल, अग्नि और वायुके आवरणोंके कारण अत्यन्त दुर्गम था और सब ओरसे मुरदैत्यके दश सहस्र अति घोर एवं सुदृढ़ पाशोंसे घिरा हुआ था ॥ ३ ॥ भगवान् गदाधरने वहाँ पहुँचते ही पर्वतोंको गदासे, शस्त्रदुर्गोंको बाणोंसे, अग्नि, जल और वायुके आवरणोंको सुदर्शनचक्रसे, मुर दैत्यके पाशोंको खड्गसे, यन्त्रों और वीरोंके हृदयोंको शङ्खनादसे और नगरके परकोटेको अपनी भारी गदासे तोड़ डाला ॥ ४-५ ॥

भगवान्‌के पाञ्चजन्यनामक शङ्खकी प्रलयकालीन वज्रपातके समान महाभयङ्कर ध्वनि सुनकर जलके

१. प्राचीन प्रतिमें 'उत्तरार्धे' पाठ नहीं है । २. मैः ।

मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात् ॥ ६ ॥
त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो[1]
युगान्तसूर्यानलरोचिरुल्बणः ।
ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखै-
रभ्यद्रवत्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः ॥ ७ ॥
आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते
निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत् स पञ्चभिः ।
स रोदसी सर्वदिशोऽम्बरं महा-
नापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् ॥ ८ ॥
तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते
हरिः शराभ्यामभिनत्त्रिधौजसा ।
मुखेषु तं चापि शरैरताडय-
त्तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत ॥ ९ ॥
तामापतन्तीं गदया गदां मृधे
गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा ।
उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः
शिरांसि चक्रेण जहार लीलया ॥१०॥
व्यसुः पपाताम्भसु कृत्तशीर्षो
निकृत्तशृङ्गोऽद्रिरिवेन्द्रतेजसा ।
तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः
प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः ॥११॥
ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसु-
र्वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः ।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे
भौमप्रयुक्ता निरगन्धृतायुधाः ॥१२॥
प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन्गदाः
शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः ।
तच्छस्त्रकूटं भगवान्स्वमार्गणै-
रमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह ॥१३॥
तान्पीठमुख्याननयद्यमक्षयं
निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्मणः[2] ।

भीतर सोया हुआ मुरनामक पाँच शिरवाला दैत्य उससे बाहर निकल आया ॥ ६ ॥ वह दैत्य प्रलयकालीन सूर्य और अग्निके समान प्रचण्ड तेजोमय और कठिनतासे देखे जाने योग्य था। वह त्रिशूल उठाये हुए, मानों अपने पाँच मुखोंसे त्रिलोकीको लील जायगा इस प्रकार बड़े वेगसे सर्पके समान गरुड़जीकी ओर दौड़ा ॥ ७ ॥ उसने वह त्रिशूल बड़ी फुर्तीसे गरुड़जीपर फेंककर अपने पाँचों मुखोंसे घोर सिंहनाद किया। वह महान् शब्द अन्तरिक्ष, समस्त दिशाओं और आकाश-मण्डलमें फैलकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो गया ॥ ८ ॥ उस त्रिशूलको गरुड़की ओर आता देख श्रीहरिने अपना शस्त्रकौशल दिखाते हुए दो बाण छोड़कर उसके तीन टुकड़े कर दिये और उस दैत्यके फैले हुए मुखमें भी बाण मारे। तब मुरने भी अति क्रुद्ध हो भगवान्पर एक गदा छोड़ी ॥ ९ ॥ उसे अपनी ओर आती देख गदके बड़े भाई श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी गदाद्वारा उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये। फिर वह [निरस्त्र हो जानेके कारण] दोनों बाँह फैलाकर भगवान्की ओर दौड़ा तब श्रीहरिने सुदर्शनचक्रद्वारा लीलाहीसे उसके पाँचों शिरोंको काट डाला ॥ १० ॥ शिर कट जानेपर वह प्राणहीन हो, इन्द्रके तेजसे जिसके शिखर कट गये हों उस पर्वतके समान जलमें गिर पड़ा। तदनन्तर, उसके सात पुत्र ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् और अरुण अपने पिताके वधसे व्याकुल हो अति क्रोधपूर्वक उसका बदला चुकानेके लिये उद्यत हो भौमासुरकी आज्ञासे पीठनामक असुरको सेनापति बना अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित हो रणभूमिमें आये ॥ ११-१२ ॥ वहाँ आ वे श्रीअच्युतपर बाण, खड्ग, गदा, शक्ति, ऋष्टि और त्रिशूल आदि प्रचण्ड शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। तब अमोघवीर्य भगवान् कृष्णने उस शस्त्रसमूहको अपने बाणोंसे तिल-तिल करके काट डाला ॥ १३ ॥ तथा जिनके शिर, ऊरु, भुजा, चरण और कवच कट गये हैं उन पीठ आदि शूरवीरोंको यमपुर भेज दिया।

१. णं। २. णम्।

स्वानीकपानच्युतचक्रसायकै-
स्तथा निरस्तान्नरको धरासुतः ॥१४॥
निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदै-
र्गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत् ।
दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरि स्थितं
सूर्योपरिष्टात्सतडिद्घनं यथा ।
कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं
योधाश्च सर्वे युगपत्स्म विव्यधुः ॥१५॥
तद्भौमसैन्यं भगवान्गदाग्रजो
विचित्रवाजैर्निशितैः शिलीमुखैः ।
निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहं
चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम् ॥१६॥

भगवान् कृष्णके चक्र और बाणोंसे अपने सेनापतियोंको मारे गये देख पृथिवीका पुत्र नरकासुर (भौमासुर) अति क्रुद्ध हो समुद्रसे उत्पन्न हुए मदस्रावी हाथियोंकी सेना ले नगरसे बाहर आया । वहाँ, सूर्यके ऊपर जैसे सौदामिनीसहित श्याम मेघ सुशोभित हो वैसे ही भगवान् कृष्णको सत्यभामासहित गरुड़पर विराजमान देख उसने उनपर एक शतघ्नी चलायी, तथा उसके सब सैनिकोंने भी एक साथ ही भगवान्‌पर प्रहार किया ॥ १४-१५ ॥ तब भगवान् कृष्णने भी उसी क्षण अपने विचित्रपत्रयुक्त तीखे बाणोंसे भौमासुरकी सेनाके, वीरोंकी भुजा, जङ्घा, कण्ठ और देह काट डाले तथा उनके घोड़े और हाथी नष्ट कर दिये ॥ १६ ॥

यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह ।
हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः ॥१७॥[1]
उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान् ।
गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजाः ॥१८॥
पुरमेवाविशन्नार्ता नरको युध्ययुध्यत ।
दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम् ॥१९॥
तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः ।
नाकम्पत तया विद्धो मालाहत[2] इव द्विपः ॥२०॥

हे कुरुनन्दन ! भौमासुरके सैनिकोंने भगवान्‌पर जो-जो अस्त्र-शस्त्र चलाये थे । उनमेंसे प्रत्येकको भगवान्‌ने बीचहीमें तीन-तीन बाणोंसे काट डाला ॥ १७ ॥ उस समय भगवान् अपने पंखोंसे हाथियोंको मारनेवाले गरुड़जीके ऊपर विराजमान थे ; गरुड़जीकी चोंच, पंख और पंजोंकी मारसे पीडित हो वे हाथी लौटकर नगरहीमें घुस गये और नरकासुर अकेला ही युद्धभूमिमें लड़ता रहा । उसने अपनी सेनाको गरुड़जीकी मारसे पीडित होकर भागती देख उनपर एक ऐसी शक्ति छोड़ी जिसने इन्द्रके वज्रको भी विफल कर दिया था किन्तु पक्षिराज गरुड़ उसके प्रहारसे पुष्पमालासे आहत गजराजके समान तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥ १८-२० ॥

शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः ।
तद्विसर्गात्पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः ।
अपाहरद्गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना ॥२१॥
सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं
बभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत् ।

इस प्रकार अपना उद्योग विफल हुआ देख भौमासुरने भगवान्‌पर प्रहार करनेके लिये एक त्रिशूल उठाया । उसे छोड़नेके पहले ही श्रीहरिने हाथीपर बैठे हुए नरकासुरका शिर छुरेके समान तीक्ष्ण धारवाले सुदर्शनचक्रसे काट डाला ॥ २१ ॥ नरकासुरके कान्तिमय कुण्डल और सुन्दर किरीटसे सुशोभित जगमगाते हुए शिरको पृथ्वीपर गिरे देख उसके सम्बन्धीलोग हाहाकार करने लगे, ऋषिगण

१. प्राचीन प्रतिमें 'यानि योधैः···कशस्त्रिभिः' इस श्लोककी जगह ऐसा पाठ है—मुक्तानि चास्त्राणि कुरुद्वहामुना तान्यच्छिनत्तीक्ष्णशरैस्त्रिभिस्त्रिभिः । २. मालाविद्ध ।

हाहेति साध्वित्यृषयः सुरेश्वरा
माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे ॥२२॥

'साधु-साधु' कहने लगे और देवतागण भगवान्पर पुष्पावलि बरसाते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥२२॥

ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले
प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे ।
सवैजयन्त्या वनमालयार्पय-
त्प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम् ॥२३॥

अस्तौषीदथ विश्वेशं देवी देववरार्चितम् ।
प्राञ्जलिः प्रणता राजन्भक्तिप्रवणया धिया ॥२४॥

तब पृथिवीने भगवान् कृष्णके पास आ उन्हें तपाये हुए सुवर्णके बने हुए [देवमाता अदितिके] रत्नजटित कुण्डल, वैजयन्तीमालाके सहित वनमाला, वरुणका छत्र और मेरुका अंशरूप मन्दरशिखरनामक महामणि ये सब वस्तुएँ सौंप दीं ॥ २३ ॥ तदनन्तर, हे राजन् ! पृथिवीदेवी अत्यन्त भक्तिपरायण हृदयसे हाथ जोड़ प्रणाम कर सुरवरवन्दित विश्वेश्वरकी इस प्रकार स्तुति करने लगीं—॥ २४ ॥

भूमिरुवाच[1]

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर ।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥२५॥
नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२६॥
नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे[2] ।
पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥२७॥
अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
परावरात्मन्[3] भूतात्मन् परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥२८॥
त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो
तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः ।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते
कालः प्रधानं पुरुषो भवान्परः ॥२९॥
अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो
मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि ।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं
त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ॥३०॥

पृथिवीदेवी बोलीं—हे शङ्खचक्रगदाधर देवदेवेश्वर! आपको नमस्कार है। आप अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार रूप धारण करते हैं। हे परमात्मन् ! आपको प्रणाम है ॥ २५ ॥ जिनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ है, जो कमलकुसुमकी माला धारण किये हैं, जिनके नेत्र कमलके समान सुप्रसन्न और शान्तिदायक हैं तथा जिनके चरण कमलके समान सुखसेव्य हैं उन आपको बारम्बार प्रणाम है ॥ २६ ॥ आप षडैश्वर्यपूर्ण, समस्त भूतोंके आश्रय और व्यापक हैं; आपको नमस्कार है। आप सम्पूर्ण कार्यवर्गसे पूर्वसिद्ध हैं, जगत्के आदि-कारण (प्रधान) के भी कारण हैं तथा पूर्णबोधस्वरूप हैं; आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥ जो स्वयं जन्मरहित हैं तथा इस जगत्की उत्पत्ति करनेवाले हैं उन अनन्तशक्ति ब्रह्मको नमस्कार है । हे कार्य-कारणरूप सर्वभूतमय परमात्मन् ! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ २८ ॥ हे प्रभो ! जब आप जगत्की रचना करना चाहते हैं तब उत्कट रजोगुणको स्वीकार करते हैं तथा जगत्के संहारके लिये तमोगुणको और पालनके लिये सत्त्वगुणको स्वीकार करते हैं; तथापि इन मायिक गुणोंसे आप लिप्त नहीं होते । हे जगत्पते ! आप काल, पुरुष और प्रधान होकर भी वास्तवमें उनसे परे हैं ॥२९॥ हे भगवन् ! मैं (पृथिवी) जल, अग्नि, वायु, आकाश, भूततन्मात्रा, इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता, मन, इन्द्रियाँ, अहंकार और महत्तत्त्व—इस सम्पूर्ण चराचर जगत्का आप अद्वितीय ब्रह्ममें ही भ्रम हो रहा है ॥३०॥

१. भूरुवाच । २. चक्रिणे । ३. परावराय भूतानां ।

तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं
भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः ।
तत्पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं
शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

इति भूम्यार्थितो वाग्भिर्भगवान्भक्तिनम्रया ।
दत्त्वाभयं भौमगृहं प्राविशत्सकलर्द्धिमत् ॥३२॥
तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम् ।
भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः ॥३३॥
तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवीरं विमोहिताः ।
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम् ॥३४॥
भूयात्पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम् ।
इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः ॥३५॥
ताः प्राहिणोद्द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बराः ।
नरयानैर्महाकोशान्रथाश्वान्द्रविणं महत् ॥३६॥
ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तांस्तरस्विनः ।
पाण्डुरांश्च चतुःषष्टिं प्रेषयामास केशवः ॥३७॥
गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्त्वादित्यै च कुण्डले ।
पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः ॥३८॥
चोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति ।
आरोप्य सेन्द्रान्विबुधान्निर्जित्योपानयत्पुरम् ॥३९॥
स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः ।
अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात्तद्गन्धासवलम्पटाः ॥४०॥

ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः

हे शरणागतवत्सल ! यह भौमासुरका पुत्र (भगदत्त) जो अत्यन्त भयभीत हो रहा है आपकी चरण-शरणमें लाया गया है। प्रभो ! आप इसकी रक्षा कीजिये और इसके शिरपर अपना सर्वकल्मषहारी करकमल रखिये ॥३१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भक्तिविनम्र पृथिवीके उपर्युक्त वचनोंद्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने भगदत्तको अभय-दान कर भौमासुरके सर्वसम्पत्तिपूर्ण भवनमें प्रवेश किया ॥३२॥ वहाँ श्रीहरिने भौमासुर-द्वारा राजाओंसे बलपूर्वक हरकर लायी हुई सोलह सहस्र राजकन्याएँ देखीं॥३३॥ नरश्रेष्ठ श्रीश्यामसुन्दरको अन्तः-पुरमें आये देख वे सब रमणियाँ मोहित हो गयीं और उन्होंने दैववश प्राप्त हुए श्रीहरिको मन-ही-मन अपना प्रिय पति वरण कर लिया ॥ ३४ ॥ 'विधाता मेरी इस कामनाको पूर्ण करें कि ये नरश्रेष्ठ ही मेरे पति हों' इसी भावसे उन सब कन्याओंने अलग-अलग अपना चित्त श्रीकृष्णचन्द्रमें लगा दिया ॥ ३५ ॥ तब भगवान्‌ने उन सुन्दर और निर्मल वस्त्र धारण करने-वाली राजकुमारियोंको पालकियोंपर चढ़ाकर द्वारका भेजवा दिया और उनके साथ बहुत-सा कोष, रथ, घोड़े, अतुल सम्पत्ति और ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुए अत्यन्त वेगवान् चार दाँतोंवाले शुक्लवर्ण चौंसठ हाथी भी द्वारकापुरीको भेजवा दिये ॥ ३६-३७ ॥

तदनन्तर, भगवान्‌ने इन्द्रभवनमें जा अदितिको उनके कुण्डल दिये और इन्द्राणीके सहित इन्द्रने उनकी सत्यभामाजीके सहित पूजा की ॥ ३८ ॥ वहाँसे आते समय सत्यभामाजीके कहनेसे उन्होंने कल्पवृक्षको उखाड़कर गरुड़पर रख लिया, और इन्द्रके सहित समस्त देवताओंको हराकर उसे द्वारकापुरीमें ले आये ॥ ३९ ॥ वहाँ उसे सत्यभामाके महलके बगीचेमें लगा दिया । इससे उस बगीचेकी शोभा अत्यन्त बढ़ गयी । उस कल्पवृक्षके साथ उसके गन्ध और मकरन्दके लोभी भ्रमरगण स्वर्गसे चले आये थे ॥४०॥

हे राजन् ! देखो, जिस इन्द्रने अपना कार्य सिद्ध करानेके लिये शिर झुकाकर अपने मुकुटके अग्रभागसे

१. स्वर्ये । २. कृतचेतसः ।

पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् ।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महा-
नहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् ॥४१॥

श्रीहरिके चरणोंको स्पर्श करते हुए प्रार्थना की थी उसीने कार्य सिद्ध हो जानेपर उनसे विरोध किया ! अहो ! इन देवताओंकी प्रकृति भी अत्यन्त तामसी है; इनकी धनाढ्यताको धिक्कार है ॥ ४१ ॥

अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः ।
यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः ॥४२॥

गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृ-
न्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः ।
रेमे रमाभिर्निजकामसम्प्लुतो
यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् ॥४३॥

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसङ्गमजल्पलज्जाः ॥४४॥

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यै-
र्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥४५॥

तदनन्तर भगवान् कृष्णने भिन्न-भिन्न भवनोंमें भिन्न-भिन्न रूप धारणकर उन समस्त राजकन्याओंसे एक ही मुहूर्तमें विधिवत् पाणिग्रहण किया ॥ ४२ ॥ फिर, जिनके समान और जिनसे अधिक भोगसामग्री और कहीं नहीं है उन सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियोंके महलोंमें, जिनके कर्म अचिन्त्य हैं वे निजानन्दपूर्ण श्रीअच्युत अन्य साधारण गृहस्थोंके समान व्यवहार करते हुए लक्ष्मीजीकी अंशरूपा अपनी भार्याओंके साथ रमण करने लगे ॥ ४३ ॥ जिनकी प्राप्तिके मार्गको ब्रह्मादिक देवगण भी नहीं जानते उन श्रीलक्ष्मीपतिको पतिरूपसे पाकर वे सुन्दरियाँ अनुरागपूर्ण हास्य, चितवन और नवसङ्गमकी बातचीतसे लजाती हुई निरन्तर बढ़नेवाली प्रसन्नतासे उनकी सेवा करने लगीं ॥ ४४ ॥ उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें सैकड़ों दासियाँ रहती थीं, किन्तु भगवान्के पधारनेपर उन्हें आगे जाकर आदरपूर्वक लाने, आसन देने, अर्घ्यादिसे पूजा करने, चरण धोने, पान देने, चरण दबाकर श्रम दूर करने, पंखा झलने, चन्दन-मालादिसे विभूषित करने, बाल सँवारने, शयन और स्नान कराने तथा नाना प्रकारके उपहार देने आदि उपायोंसे वे स्वयं ही उनकी सेवा करती थीं ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे[1] पारिजातहरणनरकवधो नाम एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

---

१. न्धे पारिजातहरणं नरकवध एकोन० ।

साठवाँ अध्याय

कृष्ण-रुक्मिणी-संवाद

श्रीशुक उवाच

कर्हिचित्सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् ।
पतिं पर्यचरद्भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः ॥ १ ॥

यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः ।
स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः ॥ २ ॥

तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना ।
विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि ॥ ३ ॥

मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादितैः
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽमलैः ॥ ४ ॥

पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना ।
धूपैरगुरुजै राजन्जालरन्ध्रविनिर्गतैः ॥ ५ ॥

पयःफेननिभे शुभ्रे पर्यङ्के कशिपूत्तमे ।
उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम् ॥ ६ ॥

वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात् ।
तेन वीजयती देवी उपासाञ्चक्र ईश्वरम् ॥ ७ ॥

सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्यां
रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता ।
वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहार-
भासा नितम्बधृतया च परार्ध्यकाञ्च्या ॥ ८ ॥

तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य
या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा ।
प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ-
वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिराबभाषे ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक दिन सखियोंके सहित श्रीरुक्मिणीजी अपनी शय्यापर सुखपूर्वक बैठे हुए अपने पति जगद्गुरु भगवान् कृष्णकी पंखा झलती हुई सेवा कर रही थीं ॥ १ ॥ जो लीलासे ही इस विश्वकी रचना, पालन और संहार करते हैं वे जन्मरहित स्वयं भगवान् ही अपनी निश्चित की हुई धर्ममर्य्यादाकी रक्षा करनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण हुए ॥ २ ॥ हे राजन् ! जो मोतियोंकी झालरोंसे युक्त चँदोवेसे मणिमय दीपकोंसे, मल्लिकामालाओंसे, भ्रमरोंद्वारा गुञ्जायमान पुष्पोंसे, झरोखों-के छिद्रोंमें होकर आती हुई निर्मल चन्द्रकिरणोंसे, पारिजात-उपवनकी सुगन्धसे सुवासित वायुसे और झरोखोंमें होकर निकलते हुए अगुरुके धूएँसे सुशोभित है उस अपने भवनमें दुग्धफेनके समान उज्ज्वल और उत्तम बिछौनोंसे युक्त सुन्दर पलंगपर सुखपूर्वक बैठे हुए अपने पति जगत्पति यदुनाथकी रुक्मिणीजी सेवा कर रही थीं ॥ ३-६ ॥ देवी रुक्मिणीजीने एक सखीके हाथसे रत्नदण्डयुक्त चँवर लेकर उसे स्वयं डुलाती हुई पतिकी सेवा करने लगीं ॥ ७ ॥ उस समय श्रीरुक्मिणीजी, जिन्होने हाथोमें रत्नजटित अँगूठियाँ, कङ्कण और पंखा धारण कर रखे थे श्रीअच्युतके पास अपने मणिमय नूपुरोंकी सुमधुर ध्वनि करती हुई, अपने अञ्चलमें छिपे स्तनोंके कुङ्कुमसे अरुणवर्ण हुए हारोंकी कान्तिसे तथा नितम्बोंपर पड़ी हुई महामूल्यमयी करधनीसे अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुईं ॥ ८ ॥ जिनका मुखचन्द्र अलकों, कुण्डलों तथा पदकविभूषित कण्ठसे शोभायमान एवं मधुर मुसकानमय अमृतसे सुशोभित है तथा जिन्होंने लीलाहीसे मानव-रूपधारी श्रीहरिके अनुरूप रूप धारण किया है उन कभी पृथक् न होनेवाली मूर्तिमती लक्ष्मीजीको देख श्रीहरिने प्रसन्नतापूर्वक मुसकाते हुए कहा—॥ ९ ॥

१. बादरायणिरुवाच । २. भिर्भृङ्गैर्द्वि० । ३. सोऽरणैः । ४. साप्यच्युतं ।

श्रीभगवानुवाच

राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः ।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः ॥१०॥

तान्प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन्स्मरदुर्मदान् ।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान्॥११॥

राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रूः समुद्रं शरणं गतान् ।
बलवद्भिः कृतद्वेषान्प्रायस्त्यक्तनृपासनान् ॥१२॥

अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम् ।
आस्थिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः॥१३॥

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः ।
तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥१४॥

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः ।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥१५॥

वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयादीर्घसमीक्षया ।
वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा ॥१६॥

अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम् ।
येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे ॥१७॥

चैद्यशाल्वजरासन्धदन्तवक्त्रादयो नृपाः ।
मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः ॥१८॥

तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये ।
आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहरतासताम् ॥१९॥

श्रीभगवान् बोले—हे राजकुमारि ! रूप, उदारता और बल आदि गुणोंमें बढ़े हुए, बहुत-से श्रीमान् और लोकपालोंके समान ऐश्वर्यशाली महानुभाव नृपतिगण तुमसे विवाह करना चाहते थे ॥१०॥ तथा तुम्हारे पिता और भाई भी उन्हींके साथ तुम्हारा विवाह करना चाहते थे, तथापि तुमने विवाह करनेके लिये आये हुए अपनी कामना करनेवाले कामोन्मत्त शिशुपालादिको छोड़कर जो किसी प्रकार तुम्हारे समान नहीं हैं उन हम-जैसोंका क्यों वरण किया ? ॥११॥ हे सुभ्रु ! हम तो राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं, बलवानोंसे द्वेष बाँध रक्खा है और प्रायः राजसिंहासनके अधिकारसे भी वञ्चित हैं ॥१२॥ हे सुन्दर भ्रुकुटिवाली ! जिनका मार्ग स्पष्ट नहीं है, जो अलौकिक मार्गमें चलनेवाले होते हैं अर्थात् जो स्त्रियोंके वशवर्ती नहीं होते उन पुरुषोंका अनुसरण करनेवाली स्त्रियोंको प्रायः कष्ट ही उठाना पड़ता है ॥१३॥ हे सुमध्यमे ! हम तो सदाके अकिञ्चन हैं और अकिञ्चन लोगोंसे ही प्रेम करते हैं, इसलिये सम्पत्तिशाली पुरुष प्रायः हमें नहीं भजा करते ॥१४॥ जिनके धन, जाति, ऐश्वर्य, रूप और आय समान होते हैं, विवाह या मित्रताका सम्बन्ध उन्हींमें होना चाहिये; उत्तम या अधमोंमें कभी नहीं होना चाहिये ॥१५॥ हे विदर्भनन्दिनि ! तुमने अपनी अदूरदर्शितासे इन सब बातोंको बिना जाने ही [नारदादि] भिक्षुकोंद्वारा प्रशंसित हुए हम-जैसे गुणहीनको वर लिया ॥ १६ ॥ अतः तुम अब भी अपने अनुरूप किसी क्षत्रियश्रेष्ठको वर लो, जिससे तुम्हारी सम्पूर्ण लौकिक और अलौकिक कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी ॥१७॥ हे सुन्दर जङ्घावाली ! शिशुपाल, शाल्व, जरासन्ध और दन्तवक्त्र आदि राजालोग और तुम्हारा बड़ा भाई रुक्मी—ये सब मुझसे द्वेष करते हैं ॥१८॥ हे भद्रे ! उन वीर्यमदसे अन्धे और मतवाले राजाओंका मान-मर्दन करनेके लिये ही मैं तुम्हें हर लाया था, क्योंकि मैं दुष्टोंका दर्प मिटानेवाला हूँ ॥ १९ ॥

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः ।
आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः ॥२०॥

हमलोग आत्मलाभसे ही पूर्णकाम हैं, हमें स्त्री-पुत्रादिकी कामना नहीं है, हम देह-गेहसे उदासीन और दीपकादिकी ज्योतिके समान निष्क्रिय और केवल साक्षीमात्र हैं ॥२०॥

श्रीशुक उवाच[1]

एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव ।
मन्यमानामविश्लेषात्तद्दर्पघ्न उपारमत् ॥२१॥

इति त्रिलोकेशपतेस्तदात्मनः
प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् ।
आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथु-
श्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह ॥२२॥

पदा सुजातेन नखारुणश्रिया
भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः ।
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ
तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक् ॥२३॥

तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धे-
र्हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात ।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन्
रम्भेव वायुविहता प्रविकीर्य केशान् ॥२४॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान् रुक्मिणीजीसे कभी विलग नहीं होते थे, इसलिये रुक्मिणीजीको यह समझकर कि मैं ही उन्हें सबसे अधिक प्रिय हूँ कुछ गर्व हो गया था । अतः उनका गर्व दूर करनेके लिये भगवान् उनसे इस प्रकार कह मौन हो गये ॥२१॥ तीनों लोकोंके स्वामी और अपने प्रियतम पतिके मुखसे, जैसा कि पहले कभी नहीं सुना था ऐसा, यह अप्रिय भाषण सुन देवी रुक्मिणीजीको बड़ा भय हुआ, उनका हृदय धड़कने लगा और वह रोती हुई दुस्तर चिन्तामें डूब गयीं ॥२२॥ वे अपने नखोंकी आभासे अरुण छविवाले सुन्दर चरणसे पृथिवीपर रेखा करती हुई तथा अञ्जनरञ्जित आँसुओंसे कुङ्कुममण्डित कुचोंको धोती हुई अत्यन्त दुःखसे नीचा शिर किये मौन रह गयीं ॥ २३ ॥ अत्यन्त दुःख, भय और शोकसे उनकी बुद्धि नष्ट हो गयी, उनके हाथसे—जिससे कि कङ्कण खिसक गया है—पंखा गिर गया और बुद्धिके व्याकुल हो जानेसे उनका शरीर भी सहसा मूर्च्छित हो वायुसे उखाड़े हुए कदलीस्तम्भके समान गिर पड़ा । उस समय उनकी वेणी खुलकर शिरके बाल इधर-उधर बिखर गये थे ॥२४॥

तद्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम् ।
हास्यप्रौढिमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत ॥२५॥

पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः ।
केशान्समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत्पद्मपाणिना ॥२६॥

प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा ।
आश्लिष्य बाहुना राजन्ननन्यविषयां सतीम् ॥२७॥

तब हास्यविनोदकी गम्भीरताको न जाननेवाली अपनी प्रिया रुक्मिणीका वह प्रेमानुबन्ध देख करुणामय भगवान् कृष्णने उनपर कृपा की ॥२५॥ वे तुरन्त ही चतुर्भुज हो पलंगसे उतर पड़े और उन्हें उठाकर, उनके केश सँवारते हुए अपने करकमलोंसे उनका मुख पोंछा ॥२६॥ हे राजन् ! फिर अश्रुकणपूर्ण नेत्र और शोकाश्रुसिञ्चित स्तनोंको पोंछकर भगवान्ने, जिनका कोई और आश्रय नहीं है उन सतीशिरोमणि रुक्मिणीजीको भुजाओंसे आलिङ्गन किया ॥२७॥

---

१. बादरायणिरुवाच ।

सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः ।
हास्यप्रौढिभ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः ॥२८॥

तदनन्तर समझाने-बुझानेमें कुशल और सज्जनोंके एकमात्र आश्रय भगवान् कृष्णने हँसीके कारण भ्रान्तचित्त और दीनबुद्धि हुई हास्यके अयोग्य श्रीरुक्मिणीजीको कृपापूर्वक इस प्रकार सान्त्वना दी ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम् ।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने ॥२९॥
मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम् ।
कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम् ॥३०॥
अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—हे वैदर्भि ! तुम मुझसे रुष्ट न होना । मैं अच्छी तरह जानता हूँ तुम एकमात्र मुझे ही भजनेवाली हो । हे कल्याणि ! मैंने तुम्हारी बातें सुननेके लिये तथा प्रणयकोपसे फड़कते हुए अधरोंसे, कटाक्षविक्षेपके कारण तिरछे और अरुणवर्ण नयनोंसे एवं सुन्दर भ्रुकुटियोंसे युक्त तुम्हारा मनोहर मुखारविन्द देखनेके लिये ही यह हँसी की है ॥२९-३०॥ हे भीरु ! हे सुन्दरि ! गृहस्थ पुरुषोंको [इस दुःखरूप] घरमें रहते हुए यही सबसे बड़ा लाभ है कि उसका समय प्रियाके साथ हास्य-विनोद करते हुए बीतता है ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

सैवं भगवता राजन्वैदर्भी परिसान्त्विता ।
ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ ॥३२॥
बभाष ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम् ।
सव्रीडहासरुचिरस्निग्धापाङ्गेन भारत ॥३३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवान्‌के इस प्रकार समझानेसे रुक्मिणीजीने यह जानकर कि वह हँसीकी बात थी, प्रियतमद्वारा त्यागी जानेका भय छोड़ दिया ॥३२॥ और हे भारत ! वे सलज्ज हास तथा सुन्दर प्रेमपूर्ण चितवनसे पुरुषश्रेष्ठ भगवान् कृष्णके ऐश्वर्ययुक्त मुखकी ओर निहारती हुई इस प्रकार कहने लगीं ॥३३॥

रुक्मिण्युवाच

नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह
यद्वै भवान्भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः
क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा ॥३४॥
सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः

श्रीरुक्मिणीजी बोलीं—हे कमलनयन ! आपने जो कहा वह बिल्कुल ज्यों-का-त्यों ठीक है । सचमुच ही ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त और सर्वव्यापक आप परमेश्वरके अनुरूप (आपकी पत्नी होने योग्य) मैं नहीं हूँ । अहो ! कहाँ तो अपनी ही महिमामें रमण करनेवाले तीनों गुणों [या देवताओं] के स्वामी आप और कहाँ अज्ञानी पुरुष ही जिसकी चरण-सेवा करते हैं वह त्रिगुणमय स्वभाववाली मैं ! ॥ ३४ ॥ [आपने जो कहा कि हम राजाओंके भयसे समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं सो] हे उरुक्रम ! आपका यह कथन भी सर्वथा उचित ही है । आप सचमुच ही [जो राजमान होनेके कारण

१. हास्यैः प्रौढैर्भ्र० ।

शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा ।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं
त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम् ॥३५॥
त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां
वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम् ।
तस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य
भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम् ॥३६॥
निष्किञ्चनो ननु भवान्न यतोऽस्ति किञ्चि-
द्यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः ।
न त्वा विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धाः
प्रेष्ठो भवान्बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् ॥३७॥
त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा
यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम् ।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः
पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न ॥३८॥
त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव
आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि ।

राजाओंके समान हैं, उन] गुणोंसे मानो डरकर अगाध समुद्ररूप अन्तःकरणमें चैतन्यघन आत्मारूपसे शयन करते हैं । आपका कुत्सित इन्द्रियगणरूप राजाओंसे सदा ही कलह रहता है और घोर अन्धकाररूप राजसिंहासनको तो सदा आपके भक्तोंने ही छोड़ रखा है, फिर आपके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥३५॥ [आपने जो कहा कि 'जिनका मार्ग स्पष्ट नहीं है तथा जो अलौकिक मार्गमें चलनेवाले हैं' इत्यादि सो] आपके चरण-कमलमकरन्दका सेवन करनेवाले मुनिजनका मार्ग भी स्पष्ट नहीं होता, उसे समझना भी नररूप पशुओंके लिये अत्यन्त कठिन है [फिर 'आपका मार्ग (आचरण) समझमें न आवे' इसमें तो कहना ही क्या है ?] अतः हे भूमन् ! आप सर्वेश्वरकी तथा आपके अनुगामियोंकी चेष्टाएँ अलौकिक-सी ही हुआ करती हैं' ॥३६॥ [आपने जो अपनेको निष्किञ्चन कहा सो आपमें दरिद्रतारूपी निष्किञ्चनता नहीं है तथापि] आप निष्किञ्चन अवश्य हैं, क्योंकि आपके सिवा और कुछ नहीं है । दूसरोंसे पूजित होनेवाले ब्रह्मादि लोकपालगण भी आपकी पूजा करते हैं, आप उन पूजनीय देवश्रेष्ठोंके प्रिय हैं और वे आपके प्रिय हैं । जो लोग धन-सम्पत्ति आदिके मदसे अन्धे हो रहे हैं वे कालस्वरूप आप परमेश्वरको नहीं जानते इसलिये केवल अपने प्राणोंका पोषण करते रहते हैं [आपकी सेवामें तत्पर नहीं होते] ॥३७॥ [आपने कहा कि सम्बन्ध समान स्थितिवालोंका होना चाहिये सो] आप तो धर्म-अर्थ-कामरूप समस्त पुरुषार्थमय और उनके फल परमानन्दरूप हैं जिसकी इच्छासे बुद्धिमान् लोग सब कुछ त्याग देते हैं । हे विभो ! उन विवेकी पुरुषोंका ही आपके साथ सेव्य-सेवकरूप सम्बन्ध होना उचित है । जो लोग स्त्री-पुरुषके रमणसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखके वशीभूत हैं उनका सम्बन्ध आपके साथ नहीं हो सकता ॥३८॥ जिन्होंने समस्त प्राणियोंको पीडारूप दण्ड देना त्याग दिया है उन मुनिजनोंने आपका प्रभाव वर्णन किया था । आप सम्पूर्ण जगत्के आत्मा और अपने भक्तोंको आत्मस्वरूप देनेवाले हैं । इसीलिये औरोंको तो कहना ही

१. भिर्हृदि भावितात्मा ।

हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेग-

ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन्कुतोऽन्ये ॥३९॥

जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यस्तु भूपा-

न्विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम् ।

सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून्स्वभागं

तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं प्रपन्नः ॥४०॥

यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्य-

जायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम् ।

राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष

सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम्॥४१॥

कान्यं श्रयेत तव पादसरोजगन्ध-

माघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्गम् ।

लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य

मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः ॥४२॥

तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीश-

मात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।

स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या

यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः ॥४३॥

तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः

क्या ? आपके भ्रुकुटिविलाससे उत्पन्न हुए कालवेगसे जिनके समस्त भोग नष्ट हो जाते हैं उन ब्रह्मा-महादेव और इन्द्रादिको भी छोड़कर मैंने आपको वरण किया है ॥३९॥

हे ईश ! हे गदाग्रज ! सिंह जैसे पशुओंके बीचमेंसे अपना भाग ले आता है उसी प्रकार जो शार्ङ्गधनुषकी टङ्कारसे जरासन्ध आदि राजाओंको भगाकर मुझे अपना भाग मानकर हर लाये उन्हीं आपका यह कहना कि 'हम राजाओंके भयसे समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं' भूल ही है ॥४०॥ हे कमलनयन ! आपको पानेकी इच्छासे अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि राजशिरोमणिगण अपना-अपना एकच्छत्र राज्य छोड़कर वनमें चले गये थे, सो आपके मार्गका अनुसरण करनेवाले उन नृपतियोंको क्या किसी प्रकारका कष्ट उठाना पड़ा था ? [उन्हें कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ा, प्रत्युत वे आपके स्वरूपको ही प्राप्त हो गये] ॥४१॥ [आप कहते हैं कि अब भी किसी अपने अनुरूप अन्य राजकुमारको वर लो, सो] अपने हिताहितका विचार करनेवाली ऐसी कौन मरणधर्मा स्त्री होगी जो सर्वगुणधाम आपके सत्पुरुषोंद्वारा कीर्तित, लोगोंको मोक्ष देनेवाले और लक्ष्मीजीके आश्रयस्थान चरणकमलोंकी गन्ध सूँघकर फिर उनका तिरस्कार कर जिसे निरन्तर अधिकाधिक भय रहता है ऐसे किसी अन्य पुरुषको वरेगी ? ॥४२॥ हे नाथ ! आप जगत्के अधीश्वर, आत्मा तथा लोक और परलोकमें सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाले हैं । मैंने आपको अपने अनुरूप समझकर ही वरण किया है । अब मेरी यही अभिलाषा है कि अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमती हुई मैं सदा, अपने भजनेवालोंका मिथ्या संसारभ्रम निवृत्त करनेवाले तथा उन्हें अपना स्वरूपतक दे देनेवाले, आप परमेश्वरके चरणोंकी शरणमें रहूँ ॥४३॥ हे अच्युत ! हे शत्रुसूदन ! आपके बतलाये हुए ये शिशुपालादि नृपतिगण जो

१. यश्च ।

स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वविडालभृत्याः ।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयाया-
द्युष्मत्कथा मृडविरिञ्चसभासु गीता ॥४४॥
त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त-
र्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥४५॥
अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः ।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो
मामीक्षते तदु ह नः परमानुकम्पा ॥४६॥
नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन ।
अम्बाया इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद्रतिः क्वचित् ॥४७॥
व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम् ।
बुधोऽसतीं न बिभृयात्तां बिभ्रदुभयच्युतः ॥४८॥

गधोंके समान घरका बोझा ढोनेवाले, बैलोंके समान गृहस्थीके व्यापारोंमें जुते रहकर कष्ट उठानेवाले, कुत्तोंके समान तिरस्कार सहनेवाले, बिलावके समान कृपण और हिंसक तथा चाकरोंके समान स्त्रीकी सेवा करनेवाले हैं, उसी मन्दभागिनी स्त्रीके पति हों जिनके कानोंमें श्रीमहादेव और ब्रह्मा आदि देवेश्वरोंकी सभाओंमें कीर्तित आपकी कथाओंने प्रवेश नहीं किया ॥ ४४ ॥ प्रभो ! जिसने आपके चरणकमलमकरन्दका आघ्राण नहीं किया है वह अत्यन्त मूढा स्त्री ही, जो ऊपरसे त्वचा, श्मश्रु, रोम, नख और केशादिसे आवृत है और भीतरसे मांस, अस्थि, रक्त, कृमि, विष्ठा, कफ, पित्त और वातसे पूर्ण है ऐसे इस जीते ही मरेके समान कुत्सित शरीरको कान्तभावसे भजेगी ॥४५॥ हे कमलनयन ! आप आत्माराम हैं, मुझपर भी आपकी विशेष दृष्टि नहीं है । प्रभो ! आपके चरणोंमें मेरा दृढ़ अनुराग हो । आप जो संसारकी वृद्धिके लिये उत्कट रजोगुणको स्वीकार कर मेरी ओर देखते हैं उसे भी मैं आपका परम अनुग्रह मानती हूँ ॥४६॥ हे मधुसूदन ! आपने जो कहा कि अब भी 'किसी अनुरूप वरको वरण कर लो' सो आपके इन वचनोंको मैं मिथ्या नहीं मानती; क्योंकि कभी-कभी एक पुरुषके द्वारा जीती जानेपर भी काशिराजकी कन्या अम्बाके समान किसी-किसी कन्याकी अन्य पुरुषोंमें प्रीति रहती है ॥४७॥ जो स्त्री व्यभिचारिणी होती है उसका मन विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषकी ओर जाता रहता है । बुद्धिमान् पुरुष ऐसी असती स्त्रीका भरण-पोषण न करे, क्योंकि उसका पालन करनेसे वह लोक-परलोक दोनों ओरसे पतित हो जाता है ॥४८॥

श्रीभगवानुवाच

साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रि प्रलम्भिता ।
मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत्सत्यमेव हि ॥४९॥
यान्यान्कामयसे[1] कामान्मय्यकामाय भामिनि ।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा ॥५०॥

श्रीभगवान् बोले—हे साध्वि ! हे राजकुमारि ! ये सब बातें सुननेके लिये ही मैंने तुमसे हँसी की थी । तुमने मेरे कथनकी जैसी व्याख्या की है वह बिल्कुल ठीक है ॥४९॥ हे भामिनि ! तुम मेरी अनन्य भक्ता हो, सकामभावकी निवृत्तिके लिये मुझसे तुम जो-जो वर माँगती हो, हे कल्याणि ! वे तुम्हें नित्यप्राप्त हैं ॥५०॥

१. यं यं कामयसे कामं म० ।

उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे ।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता ॥५१॥
ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया ।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया ॥५२॥
मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं
वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम् ।
ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां
मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः ॥५३॥
दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया
कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः ।
सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो
ह्यसुम्भराया निकृतिञ्जुषः स्त्रियाः ॥५४॥
न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु
पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले ।
प्राप्तान्नृपानवगणय्य रहोहरो मे
प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥५५॥
भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य
प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम् ।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या
नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ॥५६॥
दूतस्त्वयात्मलभने सुविविक्तमन्त्रः
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् ।

हे अनघे ! मैंने तुम्हारा पतिप्रेम और पातिव्रत्य भी भली प्रकार देख लिया । मैं अपना दोष कहकर तुम्हारी बुद्धिको विचलित करना चाहता था किन्तु वह तनिक भी चलायमान नहीं हुई ॥५१॥ मैं मोक्षका अधीश्वर हूँ । जो सकाम पुरुष नाना प्रकारके व्रत और तपस्या करते हुए स्त्री-पुरुषोंके विषयजन्य सुखकी अभिलाषासे मेरा भजन करते हैं वे मेरी मायासे मोहित हैं ॥५२॥ हे मानिनि ! जो मोक्ष तथा सम्पूर्ण सम्पदाओंके आश्रय हैं, अधीश्वर हैं ऐसे मुझ परमात्माको पाकर भी जो लोग केवल [विषय-सुखकी साधनभूत] लौकिक सम्पत्तिकी ही इच्छा करते हैं [मोक्ष या परा भक्ति नहीं माँगते] वे बड़े ही मन्दभाग्य हैं; क्योंकि विषयसुख तो नरकमें (नरकवत् सूकर-कूकर आदि योनियोंमें) भी प्राप्त हो सकते हैं । किन्तु उन भाग्यहीन पुरुषोंका मन तो विषयोंमें ही लगा हुआ है, अतः उन्हें नरककी प्राप्ति भी अच्छी ही जान पड़ती है ॥ ५३ ॥ हे गृहेश्वरि ! यह बड़े आनन्दकी बात है कि तुमने अबतक संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाली मेरी निष्काम सेवा निरन्तर की है । दुष्ट पुरुष ऐसा कभी नहीं कर सकते । तथा जो दूषित कामनाओंवाली स्त्रियाँ अपनी इन्द्रियोंकी तृप्ति करनेमें प्रवृत्त हो नाना प्रकारके छल-छन्द किया करती हैं उनके लिये तो ऐसा करना और भी कठिन है ॥५४॥ हे मानिनि ! मुझे अपने घरभरमें तुम-जैसी प्रणयिनी गृहिणी और कोई दिखायी नहीं देती, क्योंकि तुमने मेरी प्रशंसा सुनकर, अपने विवाहके समय आये हुए राजाओंको कुछ भी न गिनकर एक ब्राह्मणको अपना गुप्तसन्देश-वाहक दूत बनाकर मेरे पास भेजा ॥५५॥ तुम्हारा हरण करते समय मैंने तुम्हारे भाईको युद्धमें जीतकर उसे विरूप कर दिया और अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें बलभद्रजीने द्यूतक्रीडामें उसे मार ही डाला । किन्तु हमसे वियोग हो जानेकी आशङ्कासे तुमने चुपचाप वह असह्य दुःख सहन कर लिया और हमसे कुछ भी नहीं कहा । तुम्हारी इस उदारताने हमें जीत लिया है ॥५६॥ तुमने मेरी प्राप्तिके लिये अपना निश्चित मन्तव्य कहकर मेरे पास दूत भेजा तथा जब मेरे पहुँचनेमें कुछ विलम्ब हुआ तो इस जगत्को शून्य समझकर और अपना यह शरीर किसी

---
१. मायया हि मे ।

मत्वाजिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं

तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ॥५७॥

दूसरेके योग्य न जानकर इसे त्यागनेका सङ्कल्प किया। तुम्हारा यह कर्म तुममें ही रहे, हम इसका बदला नहीं चुका सकते, केवल इसका अभिनन्दन ही करते हैं ॥५७॥

श्रीशुक उवाच

एवं सौरतसंलापैर्भगवाञ्जगदीश्वरः ।
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन् ॥५८॥
तथान्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव ।
आस्थितो गृहमेधीयान्धर्माँल्लोकगुरुर्हरिः ॥५९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जगत्पति भगवान् कृष्ण, इस प्रकार मनुष्य-चरित्रका अनुकरण करते हुए, आत्माराम होकर भी विनोदपूर्ण वार्तालाप कर श्रीलक्ष्मीजी (रुक्मिणीजी) के साथ रमण करने लगे ॥ ५८ ॥ इसी प्रकार जगद्गुरु भगवान् कृष्ण अन्य रानियोंके घरोंमें भी रहकर साधारण गृहस्थके समान गृहस्थ-धर्मोंका पालन करने लगे ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे[1]
कृष्णरुक्मिणीसंवादो नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥६०॥

इकसठवाँ अध्याय

भगवान्‌की सन्ततिका वर्णन तथा अनिरुद्धके विवाहमें रुक्मीका वध।

श्रीशुक उवाच

एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान्दश दशाबलाः ।
अजीजनन्ननवमान्पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥ १ ॥
गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।
प्रेष्ठं न्यमंसत[2] स्वं स्वं न तत्तत्त्वविदः स्त्रियः ॥ २ ॥

चार्वब्जकोशवदनायतबाहुनेत्र-
सप्रेमहासरसवीक्षितवल्गुजल्पैः ।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं
स्वैर्विभ्रमैः समशकन्वनिता विभूम्नः॥ ३ ॥

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः॥ ४ ॥

इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! श्रीकृष्णचन्द्रकी भार्याओंमेंसे प्रत्येकके दश-दश पुत्र उत्पन्न हुए। वे रूप-बल आदि गुणोंमें अपने पितासे कम नहीं थे ॥ १ ॥ भगवान्‌की प्रत्येक रानी उन्हें कहीं अन्यत्र न जाकर निरन्तर अपने-अपने महलहीमें रहते देख, उनका वास्तविक तत्त्व न जाननेके कारण यह समझती थी कि 'भगवान्‌को मैं ही सबसे अधिक प्रिय हूँ' ॥ २ ॥ किन्तु वे सुन्दरियाँ निजानन्दपूर्ण भगवान् कृष्णके कमलकोशसदृश मनोहर मुखारविन्द, विशाल बाहु और नेत्र, प्रणयमुसकानमय कटाक्ष और मनमोहिनी बातचीतसे स्वयं ही मोहित होकर उन्हें अपने हाव-भावसे मोहित नहीं कर सकीं ॥ ३ ॥ वे सोलह सहस्र रानियाँ गूढ हास्ययुक्त चितवनसे प्रदर्शित मनोहर भावपूर्ण भ्रूमण्डलसे छोड़े हुए सुरतमन्त्र-परिपुष्ट काम-बाणोंसे तथा अन्यान्य साधनोंसे भी उनके इन्द्रियग्रामको चञ्चल नहीं कर सकीं ॥ ४ ॥ इस प्रकार, ब्रह्मादिक भी जिनके स्वरूपको नहीं जान सकते उन लक्ष्मीपतिको पति-

१. प्राचीन प्रतिमें 'उत्तरार्द्धे' इतना अंश नहीं है। २. तात्मानं न तु तत्त्वविदः ।

ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसङ्गमलालसाद्यम् ॥ ५ ॥
प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौच-
ताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यै-
र्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥ ६ ॥

रूपसे पाकर उन स्त्रियोंने उन्हें निरन्तर बढ़ते हुए अनुराग, मुसकानमयी चितवन और नवसङ्गमकी लालसा आदि विविध हाव-भावोंसे प्रसन्नतापूर्वक भजा ॥ ५ ॥ उनमेंसे प्रत्येक रानीकी सेवामें सैकड़ों दासियाँ रहती थीं; किन्तु भगवान्के पधारनेपर आगे जाकर उन्हें आदरपूर्वक लाने, आसन देने, अर्घ्यादिसे पूजा करने, चरण धोने, पान देने, पाँव दबाकर श्रम दूर करने, पंखा झलने, चन्दनादिसे विभूषित करने, बाल सँवारने, शयन और स्नान कराने तथा नाना प्रकारके उपहार देने आदि-उपायोंसे वे स्वयं ही उनकी सेवा किया करती थीं ॥ ६ ॥

तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः ।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान्प्रद्युम्नादीन्गृणामि ते ॥ ७ ॥
चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्यवान् ।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः ॥ ८ ॥
चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः ।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः ॥ ९ ॥
भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा ।
चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः ॥१०॥
श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश ।
साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित् ॥११॥
विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान्द्रविडः क्रतुः ।
जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसंमताः[3] ॥१२॥
वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च[4] चित्रगुर्वेगवान्वृषः ।
आमः शङ्कुर्वसुः श्रीमान्कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः ॥१३॥
श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः ।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः ॥१४॥
प्रघोषो गात्रवान्सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः ।
माद्र्याः पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः ॥१५॥
वृको हर्षोऽनिलो गृध्रो वर्धनोऽन्नाद एव च ।
महाशः पावनो वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः ॥१६॥

हे राजन् ! उन दश-दश पुत्रोंवाली श्रीकृष्णचन्द्रकी स्त्रियोंमेंसे जिन आठ पटरानियोंका पहले वर्णन किया गया है उनके प्रद्युम्नादि पुत्रोंका विवरण मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ७ ॥ रुक्मिणीके गर्भसे जिनमें प्रद्युम्न बड़े थे ऐसे प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, वीर्यशाली चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु और चारु ये दश पुत्र हुए । ये अपने पितासे किसी बातमें कम नहीं थे ॥ ८-९ ॥ इसी प्रकार भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु, भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु, अतिभानु, श्रीभानु और प्रतिभानु ये दश सत्यभामाके पुत्र थे । तथा साम्ब, सुमित्र, पुरुजित, शतजित्, सहस्रजित्, विजय, चित्रकेतु, वसुमान्, द्रविड और क्रतु—ये पिताके समान वीर्यवान् साम्बादि दश पुत्र जाम्बवतीके थे ॥ १०-१२ ॥ वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगु, वेगवान्, वृष, आम, शङ्कु, वसु और परमतेजस्वी कुन्ति—ये नाग्नजितीके पुत्र थे ॥ १३ ॥ श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्र या एकल, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सबसे छोटा सोमक—ये दश पुत्र कालिन्दीसे उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥ मद्रदेशीया लक्ष्मणाके गर्भसे प्रघोष, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह, ओज और अपराजितका जन्म हुआ ॥ १५ ॥ मित्रविन्दाके पुत्र वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धन, अन्नाद, महाश, पावन, वह्नि और क्षुधि थे ॥ १६ ॥

१. आसां । २. दीसिश्च । ३. पितृवत्सला । ४. चारुचन्द्रोऽप्रसेनश्च ।

संग्रामजिद्‌बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित् ।
जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः ॥१७॥
दीप्तिमांस्ताम्रतप्ताद्या रोहिण्यास्तनया हरेः ।
प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूद्रुक्मवत्यां महाबलः ॥१८॥
पुत्र्यां तु रुक्मिणो राजन्नाम्ना भोजकटे पुरे ।
एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप ।
मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश ॥१९॥

संग्रामजित्, बृहत्सेन, शूर, प्रहरण, अरिजित्, जय, सुभद्र, वाम, आयु और सत्यक—ये भद्राके पुत्र थे ॥१७॥ इनके सिवा रोहिणी आदि [जो अन्य सोलह सहस्र एक सौ स्त्रियाँ थीं उन] से श्रीहरिके दीप्तिमान् और ताम्रतप्त आदि दश-दश पुत्र और हुए । हे राजन् ! प्रद्युम्नजीके उनकी भार्या रुक्मवतीसे, जो भोजकटनामक नगरमें रहनेवाले [रुक्मिणीके भाई] रुक्मीकी पुत्री थी, महाबली अनिरुद्धका जन्म हुआ । हे राजन् ! इन सबके भी पुत्र-पौत्र आदि मिलकर करोड़ों हो गये; क्योंकि उन कृष्णपुत्रोंकी तो माताएँ ही सोलह सहस्रसे अधिक थीं [फिर उनकी सन्तानका तो कहना ही क्या है ?] ॥ १८-१९ ॥

राजोवाच

कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद्दुहितरं युधि ।
कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते ।
एतदाख्याहि मे विद्वन्द्विषोर्वैवाहिकं मिथः ॥२०॥
अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् ।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ॥२१॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! रुक्मीने अपने शत्रु श्रीकृष्णचन्द्रके पुत्रको अपनी कन्या कैसे विवाह दी । वह तो युद्धमें भगवान् कृष्णसे परास्त हो जानेके कारण सर्वदा उन्हें मार डालनेका अवसर देखता रहता था । हे ब्रह्मन् ! उन शत्रुओंमें परस्पर किस प्रकार वैवाहिक सम्बन्ध हुआ, सो आप मुझे बतलाइये ॥ २० ॥ योगीजन तो भूत, भविष्य, वर्तमान, अतीन्द्रिय, दूरस्थ और व्यवहित सभी बातोंको स्पष्ट देख लेते हैं ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

वृतः स्वयंवरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तया ।
राज्ञः समेतान्निर्जित्य जहारैकरथो युधि ॥२२॥
यद्यप्यनुस्मरन्वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः ।
व्यतरद्भागिनेयाय सुतां कुर्वन्स्वसुः प्रियम् ॥२३॥
रुक्मिण्यास्तनयां राजन्कृतवर्मसुतो बली ।
उपयेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल ॥२४॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! रुक्मीकी पुत्री रुक्मवतीने अपने स्वयंवरमें साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव (श्रीप्रद्युम्नजी) को वरण किया । तब प्रद्युम्नजी वहाँ एकत्रित हुए सब राजाओंको युद्धमें परास्त कर अकेले ही उसे हर लाये ॥ २२ ॥ यद्यपि कृष्णचन्द्रसे अपमानित हुए रुक्मीको अपने पूर्व वैरका स्मरण था, तथापि उसने अपनी बहिनका प्रिय करनेके लिये अपनी कन्या भानजेको विवाह दी ॥२३॥ हे राजन् ! [श्रीकृष्णचन्द्रकी रानियोंमेंसे प्रत्येकके एक-एक कन्या हुई थी, उनमेंसे] रुक्मिणीजीकी पुत्री विशाल नेत्रोंवाली चारुमतीका विवाह कृतवर्माके महाबलवान् पुत्रके साथ हुआ था ॥ २४ ॥

१. पत्राद्याः । २. तोऽसौ । ३. प्राचीन प्रतिमें 'वृतः स्वयंवरे''''''रथो युधि' यह श्लोक 'यद्यप्यनुसरन्''' इस तेईसवें श्लोकके बाद है ।

दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः ।
रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
जानन्नधर्मं तद्यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः ॥२५॥
तस्मिन्नभ्युदये राजन्रुक्मिणी रामकेशवौ ।
पुरं भोजकटं जग्मुः साम्बप्रद्युम्नकादयः ॥२६॥
तस्मिन्निवृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः ।
दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय ॥२७॥
अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत् ।
इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत ॥२८॥
शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणम् ।
तं तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिङ्गः प्राहसद्बलम् ।
दन्तान्सन्दर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत्तद्धलायुधः ॥२९॥
ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद् ग्लहं तत्राजयद्बलः ।
जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः ॥३०॥
मन्युना क्षुभितः श्रीमान्समुद्र इव पर्वणि ।
जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमाददे ॥३१॥
तं चापि जितवान्रामो धर्मेणच्छलमाश्रितः ।
रुक्मी जितं मयात्रेमे वदन्तु प्राश्निका इति ॥३२॥
तदाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः ।
धर्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा ॥३३॥
तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः ।
सङ्कर्षणं परिहसन्बभाषे कालचोदितः ॥३४॥

रुक्मीका भगवान् कृष्णके साथ पुराना वैर था किन्तु उसने स्नेहपाशमें बँधकर यह जानते हुए भी कि ऐसा सम्बन्ध धर्मसङ्गत नहीं है, अपनी भगिनीको प्रसन्न करनेके लिये अनिरुद्धजीको अपनी पौत्री रोचना विवाह दी ॥ २५ ॥ हे राजन् ! उस विवाहोत्सवमें रुक्मिणीजी, बलरामजी, श्रीकृष्णचन्द्र और प्रद्युम्न तथा साम्बादि भोजकट नगरको गये ॥ २६ ॥ विवाह-संस्कारके समाप्त हो जानेपर कलिङ्गनरेशादि मानी राजाओंने रुक्मीसे कहा कि "बलरामजीको द्यूतक्रीडामें जीत लो ॥ २७ ॥ हे राजन् ! बलभद्र द्यूतक्रीडामें कुशल नहीं हैं तो भी उन्हें इसका व्यसन बहुत अधिक है ।" राजाओंके इस प्रकार कहनेपर रुक्मीने बलरामजीको बुलाया और उनके साथ चौसर खेलना आरम्भ किया ॥ २८ ॥ बलरामजीने क्रमशः सौ, हजार तथा दश हजार मुद्राओंका दाँव लगाया । उन्हें रुक्मीने जीत लिया । इसपर कलिङ्गनरेश बलरामजीकी ओर दाँत निकालकर ठट्ठा मारकर हँसने लगा । किन्तु बलरामजीको यह सहन नहीं हुआ ॥ २९ ॥ तदनन्तर रुक्मीने एक लक्षमुद्राका दाँव लगाया । उसे बलरामजी जीत गये, किन्तु रुक्मीने कपटपूर्वक कहा कि 'मैं जीता हूँ' ॥ ३० ॥ रुक्मीकी इस धृष्टतासे श्रीमान् बलभद्रजी, जिनके नेत्र स्वभावसे ही अरुणवर्ण हैं, पर्वकालमें उमड़ते हुए समुद्रके समान क्षुभित हो गये और उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर दश करोड़ मुहरोंका दाँव लगाया ॥ ३१ ॥ उसे भी धर्मपूर्वक तो बलरामजीने ही जीता था; परन्तु रुक्मीने छलका आश्रय लेकर कहा—"इसे भी मैं ही जीता हूँ; भला, ये पास बैठे हुए प्रश्न-निर्णायक कलिङ्गनरेशादि ही बतावें कि यह दाँव किसने जीता है" ॥ ३२ ॥

इसी समय आकाशवाणी हुई कि "धर्मपूर्वक कहा जाय, तब तो यह दाँव बलरामजीने ही जीता है, रुक्मी झूठ बोलता है" ॥ ३३ ॥

किन्तु कालसे प्रेरित हुए रुक्मीने दुष्ट राजाओंके फुसलानेसे आकाशवाणीकी कुछ भी परवा न कर बलरामजीकी हँसी करते हुए कहा—॥ ३४ ॥

१- ब्रुवन्तु ।

नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः ।
अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः ॥३५॥

आखिर, आपलोग वनमें विचरनेवाले ग्वालिये ही तो हैं, आप चौसर खेलना क्या जानें ? पासों और बाणोंसे तो राजालोग ही खेला करते हैं, आप-जैसे गोपगण नहीं खेल सकते" ॥ ३५ ॥

रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः ।
क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं[1] नृम्णसंसदि ॥३६॥
कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे ।
दन्तानपातयत्क्रुद्धो योऽहसद्विवृतैर्द्विजैः ॥३७॥
अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः ।
राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः ॥३८॥
निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवीत्साध्वसाधु वा ।
रुक्मिणीबलयो राजन्स्नेहभङ्गभयाद्धरिः ॥३९॥

रुक्मीके इस प्रकार आक्षेप करनेपर और राजाओंके हँसी उड़ानेपर बलरामजीने अति क्रोधित हो एक परिघ उठाकर उस माङ्गलिक-सभामें ही रुक्मीको मार डाला ॥ ३६ ॥ तथा जो कलिङ्गराज बलरामजीकी ओर दाँत निकालकर हँसा था उसे उन्होंने दस कदमपर ही पकड़ लिया और अति क्रोधपूर्वक उसके सारे दाँत तोड़ डाले ॥ ३७ ॥ इनके सिवा अन्य राजालोग भी बलरामजीके परिघकी चोटसे भुजा, जङ्घा और शिर आदि टूट जानेसे रुधिरमें लथपथ हो भयके मारे अपने-अपने प्राण लेकर भागे ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! रुक्मिणी और बलरामजीके स्नेहमें अन्तर न आ जाय इसलिये श्रीहरिने अपने साले रुक्मीके मारे जानेपर भला या बुरा कुछ भी नहीं कहा ॥ ३९ ॥

ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं
रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम् ।
रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः
सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः ॥४०॥

तदनन्तर, शत्रुका वध और अनिरुद्धका विवाह आदि सब कार्योंके सिद्ध होनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके आश्रित रहनेवाले बलरामजी आदि समस्त यादवगण अनिरुद्धको नववधूके साथ उत्तम रथपर चढ़ाकर भोजकट नगरसे द्वारकाको चले ॥ ४० ॥
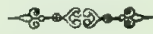
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे अनिरुद्धविवाहे रुक्मिवधो नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

१. तातं कुसंसदि । २. न्धे एकषष्टि० ।

बासठवाँ अध्याय

ऊषा-अनिरुद्ध-समागम ।

राजोवाच

बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः ।
तत्र युद्धमभूद्घोरं हरिशङ्करयोर्महत् ।
एतत्सर्वं महायोगिन्समाख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः ।
येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी ॥ २ ॥
तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा ।
मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ॥ ३ ॥
शोणिताख्ये पुरे रम्ये स राज्यमकरोत्पुरा ।
तस्य शम्भोः प्रसादेन किङ्करा इव तेऽमराः ।
सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ॥ ४ ॥
भगवान्सर्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
वरेणच्छन्दयामास स तं वव्रे पुराधिपम् ॥ ५ ॥
स एकदाह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्यदुर्मदः ।
किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम् ॥ ६ ॥
नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम् ।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥ ७ ॥
दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत् ।
त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते समम् ॥ ८ ॥
कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम् ।

१. हावलः ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे महायोगिन् ! जिस प्रकार यदुश्रेष्ठ अनिरुद्धने बाणासुरकी पुत्री ऊषा को विवाहा था और जिस प्रकार उस समय वहाँ भगवान् कृष्ण और शङ्करका परस्पर घोर संग्राम हुआ था, वह सब चरित्र कृपया वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जिन महात्मा बलिने वामनरूप श्रीहरिको सम्पूर्ण भूमण्डल दान कर दिया था उनके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ा बाणासुर था ॥ २ ॥ बलिका औरस पुत्र बाणासुर निरन्तर भगवान् शङ्करकी भक्तिमें रत रहता था। वह बड़ा ही माननीय, उदारचरित, बुद्धिमान्, सत्यप्रतिज्ञ और दृढव्रत था ॥ ३ ॥ पूर्वकालमें वह अति सुरम्य शोणितपुरमें राज्य करता था। भगवान् शङ्करकी कृपासे समस्त देवगण उसके सेवकोंके समान आज्ञाकारी थे। एक बार ताण्डवनृत्यके समय उसने अपनी सहस्र भुजाओंसे एक साथ ही बहुत-से बाजे बजाकर श्रीभोलानाथको प्रसन्न किया। तब शरणागतवत्सल भक्तहितकारी भगवान् भूतनाथने उससे इच्छित वर माँगनेको कहा। उस समय उसने यही वर माँगा कि 'आप मेरे नगरकी रक्षा किया करें' ॥ ४-५ ॥

एक दिन, वीर्योन्मत्त बाणासुरने अपने समीपस्थ भगवान् शङ्करसे, अपने सूर्यसदृश देदीप्यमान मुकुटसे उनके चरणकमल छूते हुए, कहा—॥ ६ ॥ "हे महादेव ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप सम्पूर्ण लोकोंके गुरु और स्वामी हैं तथा जिन लोगोंकी कामनाएँ पूर्ण नहीं हुई हैं उनकी इच्छाओंको पूर्ण करनेके लिये कल्पवृक्षके समान हैं ॥ ७ ॥ प्रभो ! आपने जो मुझे एक सहस्र भुजाएँ दी हैं ये मुझे बड़ी भाररूप मालूम पड़ती हैं, क्योंकि त्रिलोकीमें मुझे आपके सिवा और कोई योद्धा अपने समान दिखायी नहीं देता ॥ ८ ॥ हे आदिदेव ! जब मेरी भुजाओंमें अत्यन्त खुजलाहट हुई तो मैं दिग्गजोंसे युद्ध करनेके

आद्यायां चूर्णयन्नद्रीन्भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः ॥ ९ ॥

लिये मार्गमें पर्वतोंको चूर्ण करता हुआ चला, किन्तु वे दिग्गज भी भयभीत होकर भाग गये" ॥९॥

तच्छ्रुत्वा भगवान्क्रुद्धः केतुस्ते भज्यते यदा ।
त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते ॥१०॥

यह सुन भगवान् शङ्करने क्रुद्ध होकर कहा—"रे मूढ ! जिस समय तेरी ध्वजा टूटकर गिर जायगी उस समय तेरा मेरे समान योद्धासे युद्ध होगा, जिससे तेरा गर्व नष्ट हो जायगा" ॥ १० ॥

इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप ।
प्रतीक्षन्गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं कुधीः ॥११॥

तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् ।
कन्यालभत कान्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन सा ॥१२॥

सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी ।
सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम् ॥१३॥

हे राजन् ! महादेवजीके इस प्रकार कहनेपर मन्दमति बाणासुर अति आनन्दित हो अपने घर चला आया । और भगवान् शङ्करके बतलाये हुए अपना दर्प दलन करनेवाले युद्धकी प्रतीक्षा करने लगा ॥११॥ उसके ऊषा नामकी एक कन्या थी । उसे कुमारावस्थामें ही स्वप्नके समय जिसे पहले कभी देखा या सुना नहीं था उस परमसुन्दर प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धसे रति-सुख प्राप्त हुआ ॥ १२ ॥ फिर अकस्मात् उन्हें न देखनेपर ऊषा, 'हे प्रिय ! तुम कहाँ हो ।' इस प्रकार कहती हुई अति व्याकुल हो उठ बैठी और अपनेको सखियोंके बीचमें देख अत्यन्त लज्जित हुई ॥ १३ ॥

बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता ।
सख्यपृच्छत्सखीमूषां कौतूहलसमन्विता ॥१४॥
कं त्वं मृगयसे सुभ्रूः कीदृशस्ते मनोरथः ।
हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये ॥१५॥

बाणासुरका कुम्भाण्डनामक एक मन्त्री था । उसकी पुत्री चित्रलेखा ऊषाकी सखी थी । उसने अपनी सखी ऊषासे कुतूहलवश पूछा—॥१४॥ "हे सुन्दर भ्रुकुटिवाली ! तुम किसे ढूँढ़ती हो ? हे राजपुत्रि ! अभीतक हमने तुमसे पाणिग्रहण करनेवाला कोई नहीं देखा । फिर, तुम्हारा यह मनोरथ कैसा ?" ॥ १५ ॥

ऊषोवाच

दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने श्यामः कमललोचनः ।
पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः ॥१६॥
तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु ।
क्वापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे ॥१७॥

ऊषाने कहा—सखि ! मैंने स्वप्नमें एक श्यामवर्ण, कमलनयन, पीताम्बरधारी, विशालबाहु और स्त्रियोंका हृदय हरनेवाला नररत्न देखा है ॥ १६ ॥ वह मुझे अपना अधरामृत पिला अतृप्तावस्थामें ही दुःखसमुद्रमें डालकर चला गया है । मैं उसी कान्तको ढूँढ़ रही हूँ ॥ १७ ॥

चित्रलेखोवाच

व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते ।
तमानेष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश ॥१८॥

चित्रलेखाने कहा—सखि ! यदि तुम्हारा चित्तचोर त्रिलोकीमें कहीं भी होगा तो मैं तुम्हारी विरहव्यथा अवश्य शान्त कर दूँगी । मैं चित्र बनाती हूँ । तुम अपने चित्तचोरको बता दो तो मैं उसे यहीं ले आऊँ ॥१८॥

---

१. नेष्यामि ।

इत्युक्त्वा देवगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगान् ।
दैत्यविद्याधरान्यक्षान्मनुजांश्च यथालिखत् ॥१९॥
मनुजेषु च सा वृष्णीञ्छूरमानकदुन्दुभिम् ।
व्यलिखद्रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता ॥२०॥
अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया ।
सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते ॥२१॥

ऐसा कह चित्रलेखाने देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्योंके चित्र तैयार किये ॥१९॥ मनुष्योंमें उसने वृष्णिवंशी, शूरसेन, वसुदेव, बलराम और कृष्णके चित्र बनाये। तदनन्तर जब प्रद्युम्नका चित्र तैयार किया तो उसे देखकर ऊषा लज्जित हो गयी ॥२०॥ हे राजन्! अनिरुद्धका चित्र देखते ही ऊषाने लज्जावश शिर झुका लिया और मन्द-मन्द मुसकाते हुए कहा—"वह कान्त यही है—यही है" ॥२१॥

चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी ।
ययौ विहायसा राजन्द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥२२॥
तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के प्राद्युम्निं योगमास्थिता ।
गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत् ॥२३॥
सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदितानना ।
दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम् ॥२४॥
परार्घ्यवासःस्रग्गन्धधूपदीपासनादिभिः ।
पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषयार्चितः[1] ॥२५॥
गूढः कन्यापुरे शश्वत्प्रवृद्धस्नेहया तया ।
नाहर्गणान्स बुबुधे ऊषयापहृतेन्द्रियः ॥२६॥

चित्रलेखा योगिनी थी। वह जान गयी कि ये कृष्णचन्द्रके पौत्र हैं। अतः वह आकाशमार्गसे श्रीकृष्णचन्द्रद्वारा सुरक्षित द्वारकापुरीमें पहुँची ॥२२॥ वहाँ प्रद्युम्ननन्दन अनिरुद्धजी पलंगपर सोये हुए थे। चित्रलेखा उन्हें योगसिद्धिके प्रभावसे शोणितपुरमें ले आयी और अपनी सखीको उसके प्रियतमका दर्शन करा दिया ॥२३॥ उस श्यामसुन्दर वरको पाकर ऊषा अत्यन्त प्रसन्न हुई और जिसमें कभी कोई पुरुष नहीं झाँक सकता था उस अपने महलमें प्रद्युम्नकुमारके साथ क्रीडा करने लगी ॥२४॥ जिसका प्रेम निरन्तर बढ़ रहा था उस ऊषाने बहुमूल्य वस्त्र, माला, चन्दन, धूप, दीप और आसनादि सामग्रियोंसे, सुमधुर पेय, भोज्य और भक्ष्य पदार्थोंसे एवं मनोहर वाणी और सेवा-शुश्रूषासे सम्मानित कर अनिरुद्धजीके चित्तको ऐसा वशीभूत कर लिया कि उस कन्यान्तःपुरमें ऊषाके साथ बहुत दिनोंतक रहनेपर भी उन्हें वह समय कुछ भी मालूम न हुआ ॥२५-२६॥

तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम्[2] ।
हेतुभिर्लक्षयाञ्चक्रुराप्रीतां दुरवच्छदैः ॥२७॥
भटा आवेदयाञ्चक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम् ।
विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम् ॥२८॥
अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो ।

यदुकुमार अनिरुद्धद्वारा भोगी जाती हुई उस ऊषाको, जिन्हें कठिनतासे छिपाया जा सकता है ऐसे चिह्नोंके द्वारा कुमारव्रतसे स्खलित और अति प्रसन्नवदन देख द्वारपालोंने बाणासुरसे कहा—"राजन्! आपकी अविवाहिता पुत्रीका आचरण हमें अपने कुलको कलङ्कित करनेवाला दिखायी पड़ता है ॥२७-२८॥ प्रभो! हम निरन्तर उस भवनकी रक्षा करते हैं। कोई पुरुष राजकन्याकी ओर झाँक

१. षणार्चितः । २. त्रपाम् ।

कन्याया दूषणं पुम्भिर्दुष्प्रेक्षाया न विद्महे ॥२९॥

भी नहीं सकता; फिर भी उसे किसने दूषित कर दिया—यह हम नहीं जानते'' ॥२९॥

ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः ।
त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद्यदूद्वहम् ॥३०॥
कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं
श्यामं पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणम् ।
बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा
स्मितावलोकेन च मण्डिताननम् ॥३१॥
दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाभिनृम्णया[1]
तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजम् ।
बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां
तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः ॥३२॥

कन्याके दूषित होनेका समाचार पा बाणासुर अत्यन्त दुःखी हुआ, वह तुरन्त ही कन्यान्तःपुरमें पहुँचा और वहाँ कामदेवके पुत्र, त्रिलोकीमें एकमात्र सुन्दर, श्यामशरीर, पीताम्बरधारी, कमलनयन, विशालबाहु और कुण्डल एवं अलकावलीकी झलक तथा मुसकानमयी चितवनसे सुशोभित मुखवाले यदुनन्दन अनिरुद्धजीको देखा ॥ ३०-३१ ॥ वे अपनी भुजाओंके बीचमें, प्रियाके अङ्ग-सङ्गके कारण उसके कुचकुङ्कुमसे रञ्जित मल्लिका-कुसुमोंकी माला धारण किये उसके सामने बैठे चौसर खेल रहे थे । उन्हें देखकर बाणासुरको अत्यन्त विस्मय हुआ ॥३२॥

स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभि-
र्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः ।
उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो
यथान्तको दण्डधरो जिघांसया ॥३३॥
जिघृक्षया तान्परितः प्रसर्पतः
शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत् ।
ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गता
निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः ॥३४॥
तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली
घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह ।
ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला
बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौदिषीत् ॥३५॥

बाणासुरको बहुत-से सशस्त्र सैनिकोंके साथ भवनमें आये देख अनिरुद्धजी एक लोहेका परिघ लेकर दण्डधारी कालके समान उन्हें मारनेके लिये उद्यत हो गये ॥३३॥ अपनेको पकड़नेके लिये चारों ओरसे दौड़ते हुए सैनिकोंको अनिरुद्धजी इस प्रकार मारने लगे जैसे सूकरयूथपति कुत्तोंको मारता हो । अनिरुद्धजीके आघातसे अपने शिर, भुजा और जङ्घा आदि अवयव टूट-फूट जानेसे वे महलसे निकलकर भागे ॥३४॥ तब महाबली बाणासुरने क्रोधित होकर अपने सैनिकोंका संहार करते हुए अनिरुद्धजीको नागपाशसे बाँध लिया । अपने प्रियतमको बन्धनमें पड़े देख ऊषा अत्यन्त शोक और विषादसे विह्वल हो आँसू बहाती हुई रोने लगी ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे-
ऽनिरुद्धबन्धो नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

१. भितुष्टया । २. न्धे द्विष० ।

तिरसठवाँ अध्याय

कृष्ण-बाणासुर-संग्राम ।

श्रीशुक उवाच

अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत ।
चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम् ॥ १ ॥
नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च ।
प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥ २ ॥
प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ सारणः ।
नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः ॥ ३ ॥
अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतोदिशम् ।
रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात्सात्वतर्षभाः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे भारत ! इधर अनिरुद्धजीको बिना देखे उनके बन्धु-बान्धवोंको निरन्तर शोक करते हुए वर्षाके चार महीने बीत गये ॥ १ ॥ तदनन्तर नारदजीके मुखसे अनिरुद्धके पराक्रम और अन्तमें बाणासुरद्वारा बन्दी बनाये जानेका समाचार सुन, जिनके श्रीकृष्णचन्द्र ही इष्टदेव हैं वे यादवगण शोणितपुरको चले ॥ २ ॥ भगवान् बलराम और श्रीकृष्णचन्द्रके अनुयायी प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, सारण, नन्द, उपनन्द तथा भद्र आदि यदुश्रेष्ठोंने बारह अक्षौहिणी सेना ले बाणासुरके नगरको सब ओरसे घेर लिया ॥ ३-४ ॥

भज्यमानपुरोद्यानप्राकाराट्टालगोपुरम् ।
प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ ॥ ५ ॥
बाणार्थे भगवान्रुद्रः ससुतैः प्रमथैर्वृतः ।
आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः ॥ ६ ॥
आसीत्सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम् ।
कृष्णशङ्करयो राजन्प्रद्युम्नगुहयोरपि ॥ ७ ॥
कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः ।
साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः ॥ ८ ॥
ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः ।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन् ॥ ९ ॥

यादवसेनाद्वारा नगरके उद्यान, परकोटे, अटारी और सिंहद्वारोंको तोड़े जाते देख बाणासुर कुपित होकर उतनी ही सेनाके साथ नगरसे बाहर आया ॥ ५ ॥ उस समय अपने पुत्रों और गणोंके सहित भगवान् शङ्करने भी नन्दीश्वरपर सवार हो बाणासुरकी ओरसे बलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्रके साथ युद्ध किया ॥ ६ ॥ हे राजन् ! फिर भगवान् कृष्ण और शङ्करमें, प्रद्युम्न और स्वामिकार्तिकेयमें, कुम्भाण्ड, कूपकर्ण और बलरामजीमें, साम्ब और बाणासुरके पुत्रमें तथा सात्यकि और बाणासुरमें अति विचित्र और रोमाञ्चकारी तुमुल युद्ध छिड़ गया ॥ ७-८ ॥ उस संग्रामको देखनेके लिये वहाँ ब्रह्मादिक देवेश्वर, मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा और यक्ष आदि विमानोंपर चढ़-चढ़कर आने लगे ॥ ९ ॥

शङ्करानुचराञ्छौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान् ।
डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान्सविनायकान् ॥ १० ॥
प्रेतमातृपिशाचांश्च[२] कूष्माण्डान्ब्रह्मराक्षसान् ।
द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गधनुश्च्युतैः ॥ ११ ॥
पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे ।

भगवान् कृष्णने अपने शार्ङ्गधनुषसे छोड़े हुए तीखे बाणोंसे श्रीमहादेवजीके अनुचर भूत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, यातुधान, वेताल, विनायक, प्रेतगण, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षसादिको मारकर भगा दिया ॥ १०-११ ॥ पिनाकपाणि भगवान् शङ्करने श्रीकृष्णचन्द्रपर भाँति-भाँतिके बहुत-से शस्त्र

१. ससुतः । २. भूतमातृ० । ३. शार्ङ्गच्युतैर्भृशम् ।

प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः ॥१२॥

चलाये, किन्तु शार्ङ्गपाणि श्रीहरिने तनिक भी विस्मय न करते हुए उन्हें विरोधी शस्त्रोंसे शान्त कर दिया ॥१२॥

ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्वतम् ।
आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च ॥१३॥

भगवान् कृष्णने ब्रह्मास्त्रको ब्रह्मास्त्रसे, वायव्यास्त्रको पार्वतास्त्रसे, आग्नेयास्त्रको पर्जन्यास्त्रसे और पाशुपतास्त्रको नारायणास्त्रसे शान्त कर दिया ॥१३॥

मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम् ।
बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगदेषुभिः ॥१४॥

फिर जृम्भणास्त्रसे श्रीकैलाशपतिको मोहित कर उन्हें जमुहाई लेते छोड़ भगवान् खड्ग, गदा और बाणादि आयुधोंसे बाणासुरकी सेनाका संहार करने लगे ॥१४॥

स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः ।
असृग्विमुञ्चन्गात्रेभ्यः शिखिनापाक्रमद्रणात् ॥१५॥
कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुर्मुसलार्दितौ ।
दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः ॥१६॥

उधर प्रद्युम्नजीके बाणोंसे स्वामिकार्तिकेयजी अत्यन्त पीडित हुए, उनके शरीरसे लोहू बहने लगा; तब वे अपने मयूरपर चढ़े हुए रणभूमिसे भाग गये ॥१५॥ कुम्भाण्ड और कूपकर्ण ये दोनों ही श्रीबलरामजीके मूसलकी चोटसे मूर्च्छित होकर गिर पड़े । उनकी सेना अपने स्वामियोंको मरे देख इधर-उधर भाग गयी ॥१६॥

विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः ।
कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम् ॥१७॥
धनूंष्याकृष्य युगपद्[2]बाणः पञ्चशतानि वै ।
एकैकस्मिञ्छरौ द्वौ द्वौ सन्दधे रणदुर्मदः ॥१८॥
तानि चिच्छेद भगवान्धनूंषि युगपद्धरिः ।
सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत् ॥१९॥
तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा ।
पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया ॥२०॥
ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन्गदाग्रजः ।
बाणश्च [3]तावद्विरथश्छिन्नधन्वाविशत्पुरम् ॥२१॥

अपनी सेनाको इस प्रकार छिन्न-भिन्न होती देख महारथी बाणासुर अति क्रोधित हो सात्यकिको छोड़ रणभूमिमें श्रीकृष्णचन्द्रके सामने आ डटा ॥१७॥ वहाँ आ रणोन्मत्त बाणासुरने एक साथ ही पाँच सौ धनुषोंको खींचकर उनमेंसे प्रत्येकपर दो-दो बाण चढ़ाये ॥१८॥ परन्तु श्रीहरिने उन सब धनुषोंको एक साथ ही काट डाला और बाणासुरके सारथी, रथ और घोड़ोंको नष्ट कर शंखध्वनि की ॥१९॥ उस समय बाणासुरकी माता कोटरा अपने पुत्रकी प्राण-रक्षाके लिये नग्नावस्थामें बाल बखेरे हुए भगवान् कृष्णके सामने आ खड़ी हुई ॥ २० ॥ तब उसे नग्नावस्थामें न देखनेके लिये भगवान्ने अपना मुख फेर लिया । इसी बीचमें रथ और धनुषहीन बाणासुर अपने नगरमें चला गया ॥२१॥

विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात् ।
अभ्यधावत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश ॥२२॥
अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम् ।
माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ ॥२३॥

इधर, भूतगणके तितर-बितर हो जानेपर [भगवान् शङ्करका छोड़ा हुआ] तीन शिर और तीन पैरोंवाला ज्वर दशों दिशाओंको दग्ध करता हुआ श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर [illegible] २॥ उसे आता देख श्रीनारायणदेव[illegible] शीतज्वर छोड़ा । फिर वे दोनों ज्वर आपसमें युद्ध करने लगे ॥२३॥

१. हरिः शम्भुं । २. पञ्चशतानि पञ्च सन्दधे । ३. तत्र वि० । ४. पतौ ।

माहेश्वरः समाक्रन्दन्वैष्णवेन बलार्दितः ।
अलब्ध्वाभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः ।
शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः ॥२४॥

अन्तमें माहेश्वर ज्वर वैष्णव ज्वरके तेजसे पीडित हो अति भयभीत होकर चिल्लाने लगा और कहीं अन्यत्र निर्भयस्थान न देख अति विनयपूर्वक हाथ जोड़कर भगवान् कृष्णसे शरणके लिये प्रार्थना करने लगा ॥२४॥

ज्वर उवाच

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं
सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं
यत्तद्ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ॥२५॥
कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो
द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।
तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाह-
स्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥२६॥
नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नै-
र्देवान्साधूँल्लोकसेतून्बिभर्षि ।
हंस्युन्मार्गान्हिंसया वर्तमानान्
जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥२७॥
तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन
शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं
नो सेवेरन्यावदाशानुबद्धाः[2] ॥२८॥

ज्वर बोला—हे देव ! जो अनन्तशक्ति, सबके अन्तरात्मा, एकमात्र, ज्ञानस्वरूप, संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण तथा वेदवाक्योंसे लक्षित सर्वविकारहीन शुद्ध ब्रह्म हैं, उन आप परमेश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२५॥ काल, दैव, कर्म, जीव, स्वभाव, भूतसूक्ष्म, शरीर, सूत्र, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ और पञ्चभूत, इन सबका सङ्घातरूप लिङ्गदेह तथा उसके बीजका उगना और बढ़ना—यह सब आपकी माया ही है । आप इन सबसे रहित हैं । मैं आपकी शरण लेता हूँ ॥२६॥ हे नाथ ! आप लीलाहीसे धारण किये हुए अनेक रूपोंसे देवगण, साधुगण और लोकमर्यादाकी रक्षा करते हैं, तथा कुमार्गमें जानेवालों और हिंसासे आजीविका चलानेवालोंका संहार करते हैं । आपका यह अवतार भी पृथिवीका भार उतारनेके लिये ही हुआ है ॥२७॥ हे प्रभो ! आपके शान्त, उग्र और अति भयानक दुःसह तेजरूप ज्वरसे मैं अत्यन्त सन्तप्त हो रहा हूँ । भगवन् ! देहधारी जीवोंको तभीतक ताप रहता है जबतक कि वे आशापाशमें फँसे रहनेके कारण आपके चरणकमलोंका आश्रय नहीं लेते । [अब मैं आपकी शरण आया हूँ, इसलिये मेरा ताप कैसे रह सकता है ?] ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽस्मि[3] व्येतु ते मज्ज्वराद्भयम् ।
यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद्भयम् ॥२९॥

श्रीभगवान् बोले—हे त्रिशिरा ज्वर ! मैं तुझसे प्रसन्न हूँ, अब तू मेरे ज्वरसे मत डर । यही नहीं, जो पुरुष हमारे इस संवादका स्मरण करेंगे उन्हें तुझसे भय न होगा ॥२९॥

इत्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः ।
बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्योत्स्यञ्जनार्दनम् ॥३०॥

भगवान्के इस प्रकार कहनेपर माहेश्वर ज्वर उन्हें प्रणाम कर चला गया । इतनेहीमें बाणासुर फिर रथपर सवार हो भगवान्से युद्ध करनेके लिये रणभूमिमें आया ॥ ३० ॥

१. शवं । २. बन्धाः । ३. ऽहं ।

ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः ।
मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप ॥३१॥
तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
चिच्छेद भगवान्बाहूञ्छाखा इव वनस्पतेः ॥३२॥
बाहुषुच्छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान्भवः ।
भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत ॥३३॥

हे राजन् ! तब बाणासुर अतिक्रोधित हो अपनी हजार भुजाओंसे चक्रपाणि भगवान्‌पर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगा ॥३१॥ जब उसने निरन्तर अस्त्र-शस्त्रोंकी झड़ी लगा दी तो भगवान्‌ने अपने तीक्ष्ण धारवाले सुदर्शनचक्रसे उसकी भुजाओंको वृक्षकी शाखाओंके समान काट डाला ॥३२॥ बाणासुरकी भुजाओंको कटते देख भक्तवत्सल भगवान् शङ्कर चक्रधारी श्रीकृष्णचन्द्रके पास आकर कहने लगे ॥३३॥

श्रीरुद्र उवाच

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥३४॥

नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बु रेतो
द्यौः शीर्षमाशा श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी ।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा
अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥३५॥
रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः
केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः ।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः
स वै भवान्पुरुषो लोककल्पः ॥३६॥
तवावतारोऽयमकुण्ठधाम-
न्धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय ।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता
विभावयामो भुवनानि सप्त ॥३७॥
त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीय-
स्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीशः ।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं
स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै ॥३८॥
यथैव सूर्यः पिहितश्छायया स्वया
छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्व-
मात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥३९॥

श्रीमहादेवजी बोले—प्रभो ! आप वेदवाक्योंमें छिपे हुए परमज्योतिःस्वरूप परब्रह्म हैं। शुद्धचित्त महात्मागण आपको आकाशके समान व्यापक और निर्विकार देखते हैं ॥३४॥ आकाश जिनकी नाभि है, अग्नि मुख है, जल वीर्य है, स्वर्ग शिर है, दिशाएँ श्रवण हैं, पृथिवी चरण हैं, चन्द्रमा मन है, सूर्य नेत्र हैं, मैं शिव अहङ्कार हूँ, समुद्र पेट है और इन्द्र भुजाएँ हैं ॥३५॥ ओषधियाँ जिनके रोम हैं, मेघ केश हैं, ब्रह्मा बुद्धि हैं, प्रजापति उपस्थ है और धर्म हृदय है। इस प्रकार सम्पूर्ण लोकोंसे जिनके अङ्गोंकी तुलना की जाती है वह परमपुरुष आप ही हैं ॥३६॥ हे अक्षुण्ण तेजोमय प्रभो ! आपका यह अवतार धर्मकी रक्षा और संसारके अभ्युदयके लिये हुआ है। हम सब भी आपके प्रभावसे ही प्रभावित होकर सातों भुवनोंका पालन करते हैं ॥३७॥ आप एकमात्र, आदिपुरुष, अद्वितीय, तुरीय, स्वप्रकाश, सबके कारण,-स्वयं कारणरहित और सर्वेश्वर हैं। तथापि आप समस्त विषयोंको प्रकाशित करनेके लिये अपनी मायाका आश्रय-कर गुणोंके विकाररूप देव-तिर्यक्-मनुष्यादि शरीरोंमें भिन्न-भिन्नरूपसे प्रतीत होते हैं ॥३८॥ हे भूमन् ! जिस प्रकार सूर्य अपनी छाया (मेघों) से आच्छादित होकर उस छायाको तथा भिन्न-भिन्न रूपोंको प्रकाशित करता है उसी प्रकार स्वयंप्रकाश आप गुणोंसे आच्छादित होकर उन गुणोंको तथा गुणाभिमानी जीवोंको प्रकाशित करते हैं। [अतः आप सर्व-साक्षीको संसारका संग नहीं हो सकता] ॥३९॥

१. युतो ।

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे ॥४०॥

देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः ।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ॥४१॥

यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् ।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन् ॥४२॥

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः ।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ॥४३॥

तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं
समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् ।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं
भवापवर्गाय भजाम देवम् ॥४४॥

अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती
मयाभयं दत्तममुष्य देव ।
सम्पाद्यतां तद्भवतः प्रसादो
यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥४५॥

प्रभो ! आपकी मायासे जिनकी बुद्धि मोहित है वे पुत्र, स्त्री और गृह आदिमें आसक्त पुरुष ही बारम्बार संसाररूप दुःखसमुद्रमें डूबते-उतराते रहते हैं ॥४०॥ जो अजितेन्द्रिय पुरुष आपके दिये हुए इस मनुष्य-शरीरको पाकर आपके चरणोंमें अनुराग नहीं करता वह अपने-आपको ठगनेवाला अत्यन्त शोचनीय है ॥४१॥ जो पुरुष दुःखरूप इन्द्रिय-सुखोंके लिये अपने प्रिय आत्मारूप आप ईश्वरको त्याग देता है वह मानो अमृतको छोड़कर विष भक्षण करता है ॥४२॥ मैं, ब्रह्मा, समस्त देवगण और शुद्धचित्त मुनिगण अपने आत्मा, प्रियतम और प्रभुरूप आप परमेश्वरके सब प्रकार शरणागत हैं ॥४३॥ हे देव ! जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयके कारण, सर्वत्र समान, अत्यन्त शान्त, सबके सुहृद्, आत्मा एवं ईश्वर, अद्वितीय तथा जगत्‌के अधिष्ठानरूप जो आप हैं उन्हें हम संसारसे मुक्त होनेके लिये भजते हैं ॥४४॥ हे देव ! यह बाणासुर मेरा परमप्रिय और इष्ट अनुचर है; मैंने इसे अभयदान दिया है । प्रभो ! जिस प्रकार आपकी दैत्यपति प्रह्लादपर कृपा है उसी प्रकार यह भी आपका अनुग्रह लाभ करे ॥४५॥

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ भगवंस्त्वन्नः करवाम प्रियं तव ।
भवतो यद्व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥४६॥

अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसुतोऽसुरः ।
प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः ॥४७॥

दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया ।
सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः ॥४८॥

चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः ।
पार्षदमुख्यो भवतो न कुतश्चिद्भयोऽसुरः ॥४९॥

श्रीभगवान् बोले—भगवन् ! आप जो कुछ कहते हैं आपका वह प्रिय हम अवश्य करेंगे । आपने जैसा विचार किया था हमने [बाणासुरकी भुजाएँ काटकर] उसीका अनुमोदन किया है ॥४६॥ यह असुर विरोचन-कुमार राजा बलिका पुत्र है । इसलिये मेरे लिये भी यह वधयोग्य नहीं है । मैंने प्रह्लादको भी यह वर दिया था कि मेरे हाथसे तेरी सन्तानका वध नहीं होगा ॥४७॥ इसलिये, मैंने इसका दर्प दमन करनेके लिये केवल इसकी भुजाएँ काट दी हैं और जो पृथिवीके लिये भाररूप थी ऐसी इसकी बहुत-सी सेनाका संहार कर दिया है ॥४८॥ अब जो इसकी चार भुजाएँ रह गयी हैं वे अजर-अमर होंगी और यह बाणासुर आपके पार्षदोंमें मुख्य होगा । अब इसे किसी प्रकारका भय नहीं है ॥४९॥

१. श्रेष्ठ० । २. प्रकृत्ता ।

इति लब्ध्वाभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसासुरः ।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वा समुपानयत् ॥५०॥
अक्षौहिण्या परिवृतं सुवासःसमलङ्कृतम् ।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥५१॥

स्वराजधानीं समलङ्कृतां ध्वजैः
सतोरणैरुक्षितमार्गचत्वराम् ।
विवेश शङ्खानकदुन्दुभिस्वनै-
रभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः ॥५२॥

य एवं कृष्णविजयं शङ्करेण च संयुगम् ।
संस्मरेत्प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात्पराजयः ॥५३॥

भगवान‌से इस प्रकार अभय पाकर बाणासुरने उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया और प्रद्युम्ननन्दन अनिरुद्धजीको नववधूके सहित रथपर चढ़ा सेवामें उपस्थित किया ॥५०॥ तदनन्तर भगवान् कृष्णने श्रीमहादेवजीकी सम्मति ले, एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे अलङ्कृत नववधूसहित अनिरुद्धजीको आगे कर द्वारकाके लिये प्रस्थान किया ॥ ५१ ॥ तदनन्तर, श्रीकृष्णचन्द्रने पुरवासी, स्वजन और ब्राह्मणोंसे स्वागत किये जाते हुए शङ्ख, ढोल, दुन्दुभी आदि बाजोंकी ध्वनिके साथ, जो ध्वजा और बन्दनवार आदिसे भली प्रकार सजायी गयी है और जिसके मार्ग तथा चौराहोंमें छिड़काव किया गया है ऐसी अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें प्रवेश किया ॥५२॥

हे राजन् ! जो पुरुष भगवान् शङ्करके साथ श्रीकृष्णचन्द्रके युद्ध और विजयकी इस कथाका प्रातःकाल उठकर स्मरण करेगा उसका कभी पराभव न होगा ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[3] उत्तरार्धे-
ऽनिरुद्धानयनं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥६३॥

चौंसठवाँ अध्याय

राजा नृगकी कथा ।

श्रीशुक[4] उवाच

एकदोपवनं राजञ्जग्मुर्यदुकुमारकाः ।
विहर्तुं साम्बप्रद्युम्नचारुभानुगदादयः ॥ १ ॥
क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः ।
जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ॥ २ ॥
कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः ।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ॥ ३ ॥
चर्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारुभानु और गद आदि यादव-कुमार उपवनमें विहार करनेके लिये गये ॥ १ ॥ बहुत देरतक खेलते-खेलते उन्हें प्यास लगी । तब उन्होंने इधर-उधर जल ढूँढ़ते हुए एक सूखे कुएँमें एक विचित्र जीव देखा ॥ २ ॥ वहाँ एक पर्वतके समान बहुत बड़ा गिरगिट देखकर उन्हें अत्यन्त विस्मय हुआ और वे कृपावश उसे कुएँसे निकालनेका प्रयत्न करने लगे ॥ ३ ॥ किन्तु जब वे बालक उस गिरे हुए गिरगिटको चमड़े और सूतकी डोरियोंसे

१. स राज० । २. मनोरमैर्भूषितमार्ग० । ३. न्धे बाणासुरसंग्रामे कृष्णविजयः । ४. बादरायणिरुवाच । ५. चेतसः । ६. तं बद्ध्वा तान्तवैः पाशैः पतितं च तमर्भकाः ।

नाशक्नुवन्समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः ॥ ४ ॥

तंत्रागत्यारविन्दाक्षो भगवान्विश्वभावनः ।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥ ५ ॥

बाँधकर बाहर न निकाल सके तो उन्होंने उत्सुकताके साथ सब वृत्तान्त श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा ॥ ४ ॥ तब कमलनयन विश्वम्भरने वहाँ आकर उसे देखा और अपने बायें हाथसे अनायास ही कुएँसे बाहर निकाल दिया ॥ ५ ॥

स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो
विहाय सद्यः कृकलासरूपम् ।
सन्तप्तचामीकरचारुवर्णः
स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बरस्रक् ॥ ६ ॥
पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं
जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो
देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम् ॥ ७ ॥
दशामिमां वा कतमेन कर्मणा
सम्प्रापितोऽस्यतदर्हः सुभद्र ।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो
यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुम् ॥ ८ ॥

पवित्रकीर्ति भगवान् कृष्णका करस्पर्श होते ही वह तत्काल गिरगिटका रूप छोड़कर जिसका वर्ण तपाये हुए सुवर्णके समान सुन्दर है और जो अतिविचित्र वस्त्र, आभूषण और मालाएँ धारण किये है ऐसा देवतारूप हो गया ॥ ६ ॥ भगवान् मुकुन्द सर्वज्ञ हैं तथापि 'सर्वसाधारणको उसके इस अधम योनिमें आनेका कारण विदित हो जाय' इसलिये उन्होंने पूछा—"हे महाभाग ! तुम कौन हो, तुम्हारा रूप अतिमनोहर है । मैं तो समझता हूँ, तुम निश्चय ही कोई देवश्रेष्ठ हो ॥ ७ ॥ हे कल्याणमूर्ते ! तुम्हें किस कुकर्मके कारण यह अधम योनि मिली, तुम इसके योग्य तो नहीं हो । हम तुम्हारा वृत्तान्त जानना चाहते हैं, यदि हमसे कहने योग्य समझो तो अपना परिचय दो" ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

इति स्म राजा सम्पृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्तिना ।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! अनन्तमूर्ति भगवान् कृष्णके इस प्रकार पूछनेपर राजा नृगने अपना सूर्यके समान तेजस्वी मुकुटयुक्त मस्तक झुकाकर भगवान्‌को प्रणाम किया और इस प्रकार कहने लगे ॥ ९ ॥

नृग उवाच

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो ।
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥१०॥
किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥११॥
यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः ।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददां स्म गाः ॥१२॥

नृग बोले—प्रभो ! मैं इक्ष्वाकुका पुत्र नृगनामक राजा हूँ । दानियोंकी गणनामें कदाचित् आपके कानोंमें मेरा नाम भी पड़ा होगा ॥ १० ॥ हे नाथ ! आप सब भूतोंके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं, आपसे छिपा ही क्या है ? क्योंकि आपकी दृष्टिको काल भी नहीं रोक सकता । तथापि, जैसी आपकी आज्ञा है मैं अपना वृत्तान्त सुनाता हूँ ॥ ११ ॥ प्रभो ! पृथिवीमें जितने रजःकण हैं, आकाशमें जितने तारे हैं और वर्षामें जितनी जलकी धाराएँ गिरती हैं मैंने उतनी ही गौएँ दान की थीं ॥ १२ ॥

१. तत्र गत्वारवि० । २. णोपपन्नः । ३. बादरायणिरुवाच । ४. ऽहं मानवे वरुणात्मजः ।

पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूप-
गुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः ।
न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा
दुकूलमालाभरणा ददावहम् ॥१३॥

मैंने दूध देनेवाली, तरुणी, शील, गुण और रूपसे सम्पन्न, बहुत-सा घी देनेवाली तथा जिनके सींग सुवर्णसे और खुर चाँदीसे मँढे हुए थे ऐसी न्यायपूर्वक प्राप्त की गयी तथा वस्त्र-मालादिसे अलङ्कृत बछड़ोंवाली गौएँ दान की थीं ॥ १३ ॥

स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः
सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः
प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥१४॥

मैंने वे गौएँ वस्त्रादिसे अलङ्कृत, गुणशीलसम्पन्न, बहुकुटुम्बी, सत्यपरायण, तपस्वी, वेदपाठी और शिष्योंको पढ़ानेवाले तथा सच्चरित्र युवक ब्राह्मणश्रेष्ठोंको दी थीं ॥ १४ ॥

गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः
कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः ।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान्रथा-
निष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तम् ॥१५॥

इस प्रकार, मैंने बहुत-सी गौएँ, पृथिवी, सुवर्ण, घर, घोड़े, हाथी, दासियोंके सहित कन्याएँ तिलपर्वत, चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न, परिच्छद (गृह-सामग्री) और रथ आदि दान किये; अनेकों यज्ञोंका यजन किया, और बहुतसे कुएँ-बावली आदि बनवाये ॥ १५ ॥

कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
सम्पृक्ताविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६॥

एक बार ऐसा हुआ कि एक ब्राह्मणश्रेष्ठकी गौ बिछुड़कर मेरी [दान की जानेवाली] गौओंमें आ मिली । मुझे इस बातका कुछ पता नहीं था, इसलिये मैंने उसे किसी अन्य ब्राह्मणको दान कर दी ॥ १६ ॥

तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम् ।
ममेति प्रतिग्राह्याह नृगो मे दत्तवानिति ॥१७॥

उसे ले जाते देख उसके स्वामीने कहा—"यह गौ मेरी है" तथा उसे दान कराकर ले जानेवाले ब्राह्मणने कहा—"नहीं यह मेरी है, मुझे राजा नृगने इसे दान किया है" ॥ १७ ॥

विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ।
भवान्दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः ॥१८॥

तब वे दोनों ब्राह्मण आपसमें झगड़ते हुए मुझसे कार्य सिद्ध करानेके लिये मेरे पास आये । उनमेंसे ले जानेवालेने कहा "यह गौ तुमने मुझे दी है" और गौके स्वामीने कहा "तुम मेरी गौके चुरानेवाले हो" । यह सारा प्रसङ्ग सुनकर मुझे बड़ा भ्रम हुआ ॥ १८ ॥

अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रगतेन वै[1] ।
गवां लक्षं प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् ॥१९॥

मैंने धर्मसङ्कटमें पड़कर उन दोनों ब्राह्मणमहाशयोंसे प्रार्थना की कि "आपमेंसे कोई एक इस गौको छोड़ दीजिये मैं उन्हींको इसके बदलेमें एक लाख उत्तम गौएँ दूँगा ॥ १९ ॥

भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याविजानतः ।
समुद्धरत मां कृच्छ्रात्पतन्तं निरयेऽशुचा ॥२०॥

मुझसे अनजानमें यह अपराध बन गया है, आप दोनों इस दासपर कृपा करें और मुझे घोर नरकमें पड़नेके कष्टसे बचावें" ॥ २० ॥

नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत्[2] ।

तब, गौका स्वामी यह कहकर कि "मैं इसके बदलेमें कुछ नहीं लेना चाहता" वहाँसे चला गया

१. तौ । २. नान्यां प्रतीच्छे राजेन्द्र इत्युक्त्वा स्वाम्युपा० ।

नान्यद्गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ ॥२१॥
एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम् ।
यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते ॥२२॥
पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम् ।
नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वतः ॥२३॥
पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः ।
तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन्प्रभो ॥२४॥
ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः ॥२५॥
स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः
स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२६॥
देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम ।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥२७॥
अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं प्रभो ।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥२८॥
नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥२९॥
इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना ।
अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुहत्पश्यतां नृणाम् ॥३०॥

१-दूतैर्याम्यैर्नीतो २- अथवा ।

तथा उसे ग्रहण करनेवाला दूसरा ब्राह्मण भी "लाख ही नहीं बल्कि दश हजार और भी दो तो भी मैं इसके बदलेमें नहीं लूँगा" ऐसा कहकर चला गया ॥ २१ ॥ इसी बीचमें यमदूत मुझे यमराजके पास ले गये । हे देवाधिदेव जगदीश्वर ! वहाँ मुझसे यमराजने पूछा— ॥ २२ ॥ "हे राजन् ! बताओ, तुम पहले अपने पापकर्मोंका फल भोगोगे या पुण्यकर्मोंका ? तुम्हें तेजोमय लोकोंकी प्राप्ति करानेवाले तुम्हारे दान और पुण्यकर्मोंका कोई अन्त नहीं दिखायी देता" ॥ २३ ॥ मैंने कहा—"देव ! पहले मैं पापकर्मोंका ही फल भोगूँगा ।" तब यमराजने कहा—"अच्छा तो, गिरो ।" हे प्रभो ! यमराजके ऐसा कहते ही मैंने अपनेको गिरगिट होकर नीचे गिरते देखा ॥ २४ ॥ हे कृष्ण ! मैं ब्राह्मणोंका भक्त, दानी और आपका दास था; मुझे आपके दर्शनकी अत्यन्त लालसा थी । इसलिये आजतक मेरी पूर्वस्मृति नष्ट नहीं हुई ॥ २५ ॥ हे विभो ! आप परात्मा हैं, शुद्धचित्त योगेश्वरगण अपनी उपनिषद्रूप दृष्टिसे आपका हृदयमें ध्यान किया करते हैं । हे अधोक्षज ! ऐसे आप, अनेक व्यसनोंके कारण अन्धबुद्धि हुए मुझ मन्दमतिके सामने किस प्रकार साक्षात् प्रकट हुए ? क्योंकि जिसका संसारचक्र निवृत्त होनेवाला होता है उसीको आपका दर्शन हुआ करता है ॥२६॥ हे देवदेव ! हे जगन्नाथ ! हे गोविन्द ! हे पुरुषोत्तम ! हे नारायण ! हे हृषीकेश ! हे पुण्यश्लोक ! हे अच्युत ! हे अविनाशिन् ! ॥२७॥ हे कृष्ण ! मैं देवलोकको जा रहा हूँ । आप मुझे आज्ञा दीजिये । प्रभो ! [ऐसी कृपा कीजिये कि] मैं कहीं भी रहूँ, मेरा चित्त सदा आपके ही चरणोंमें लगा रहे ॥ २८ ॥ सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थान, ब्रह्मस्वरूप, मायानामक अनन्त शक्ति-सम्पन्न, नित्यानन्दस्वरूप, योगेश्वर, श्रीवासुदेवको नमस्कार है ॥ २९ ॥ ऐसा कह नृगने भगवान्की परिक्रमा कर उनके चरणोंपर शिर रखकर प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पा सब मनुष्योंके देखते-देखते एक श्रेष्ठ विमानपर चढ़ गये ॥ ३० ॥

कृष्णः परिजनं प्राह भगवान्देवकीसुतः ।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ॥३१॥
दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि ।
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम् ॥३२॥
नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ।
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिविधिर्भुवि ॥३३॥
हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति ।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥३४॥
ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम् ।
प्रसह्य तु बलाद्भुक्तं दश पूर्वान्दशापरान् ॥३५॥
राजानो राजलक्ष्म्यान्धा नात्मपातं विचक्षते ।
निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः ॥३६॥
गृह्णन्ति यावतः पांसून्क्रन्दतामश्रुबिन्दवः ।
विप्राणां हृतवृत्तीनां वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ॥३७॥
राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरङ्कुशाः ।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ॥३८॥
स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः ।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥३९॥
न मे ब्रह्मधनं भूयाद्यद्गृद्ध्वाल्पायुषो नराः ।
पराजिताश्च्युता राज्याद्भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः ॥४०॥

तब, ब्राह्मणभक्त देवकीनन्दन भगवान् कृष्णने राजकुमारोंको शिक्षा देते हुए अपने बन्धु-बान्धवोंसे कहा ॥ ३१ ॥ "अहो ! ब्राह्मणोंका धन बड़ा ही दुर्जर है । उसे थोड़े-से-थोड़ा खाकर भी अग्निके समान तेजस्वी पुरुष भी नहीं पचा सकते, फिर अपनेको बड़ा समर्थ माननेवाले राजाओंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३२ ॥ मैं हलाहल विषको विष नहीं मानता, क्योंकि उसका प्रतिकार किया जा सकता है; मेरे विचारसे तो ब्राह्मणका धन ही विषम विष है, संसारमें इसका शमन करनेवाला कोई पदार्थ नहीं है ॥ ३३ ॥ विष तो खानेवालेको ही मारता है और अग्नि भी जलसे शान्त हो जाता है परन्तु ब्राह्मणके धनरूप अरणिसे उत्पन्न हुआ अग्नि सम्पूर्ण कुलको मूलसहित भस्म कर देता है ॥ ३४ ॥ यदि ब्राह्मणका धन, उसकी पूरी-पूरी सम्मति लिये बिना भोगा जाय तो वह तीन पीढ़ियोंको अधोगतिमें डालता है, और यदि बलात्कारसे हठपूर्वक भोगा जाय तो दश पहली और दश पिछली बीस पीढ़ियोंको नष्ट कर देता है ॥ ३५ ॥ जो राजालोग नरकमें ले जानेवाले ब्रह्मस्व (ब्राह्मणके धन) को हर लेना अच्छा समझते हैं वे मूर्ख राजलक्ष्मीसे अन्धे होकर अपने पतनका विचार नहीं करते ॥ ३६ ॥ जिनकी वृत्ति छीन ली जाती है उन उदार और कुटुम्बी ब्राह्मणोंके रोनेपर उनके आँसुओंकी बूँदोंसे जितने रजःकण भीगते हैं, उनके सर्वस्वका हरण करनेवाले निरङ्कुश राजालोग और उनके कुटुम्बी उतने ही वर्ष कुम्भीपाक नरकके कष्ट भोगते हैं ॥ ३७-३८ ॥ जो अपनी दी हुई अथवा किसी औरकी दी हुई ब्राह्मणकी वृत्तिको हरता है वह साठ हजार वर्षतक विष्ठाका कीड़ा होता है ॥३९॥ इसलिये मैं यही चाहता हूँ कि मेरे हाथसे कभी ब्राह्मणके धनका अपहरण न हो जिसकी इच्छा करनेवाले लोग अल्पायु, शत्रुओंसे पराजित और राज्यभ्रष्ट होते हैं तथा प्राण-त्याग करनेपर दूसरोंको दुःख देनेवाले सर्प होते हैं ॥४०॥

१. नृपाः । २. हि ये ।

विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः ।
घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥४१॥
यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः ।
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥४२॥
ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः ।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥४३॥

अतः हे सुहृद्गण ! ब्राह्मण अपराध करे तब भी उससे द्वेष मत करना । उसके मारने और अनेकों बार शाप देनेपर भी उसे सदा नमस्कार ही करना ॥४१॥ जिस प्रकार मैं समय-समयपर ध्यान रखकर ब्राह्मणोंको प्रणाम किया करता हूँ उसी प्रकार तुम सबको भी करना चाहिये। जो कोई ऐसा नहीं करेगा वह मेरा दण्डनीय होगा ॥ ४२ ॥ ब्राह्मणका धन हरण किया जानेपर अपने हरण करनेवालेको अधोगतिमें डालता है, जैसे ब्राह्मणकी गौने बिना जाने हरण की जानेसे भी इस महादानी नृगको इस अधम योनिमें डाल दिया" ॥ ४३ ॥

एवं विश्राव्य भगवान्मुकुन्दो द्वारकौकसः ।
पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ॥४४॥

सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाले भगवान् कृष्णचन्द्र द्वारकावासियोंको इस प्रकार उपदेश सुनाकर अपने महलमें चले गये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
गोपाख्यानं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

पैंसठवाँ अध्याय

बलभद्रजीका व्रजगमन ।

श्रीशुक उवाच

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान्रथमास्थितः ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १ ॥
परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च ।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिवन्दितः ॥ २ ॥
चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः ।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः ॥ ३ ॥
गोपवृद्धांश्च विधिवद्यविष्ठैरभिवन्दितः ।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! भगवान् बलभद्रजी अपने बन्धु-बान्धवोंको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रथपर चढ़ नन्दजीके गोकुलको गये ॥ १ ॥ वहाँ चिरकालसे दर्शनोंके लिये उत्कण्ठित गोप और गोपियोंसे आलिङ्गित हो श्रीबलरामजीने अपने माता-पिता (श्रीयशोदा और नन्दजी) को प्रणाम किया और उन्होंने आशीर्वाद देकर उनका सत्कार किया ॥ २ ॥ हे दाशार्ह ! तुम जगत्पति हो । तुम, अपने छोटे भाई कृष्णके सहित, हमारी चिरकालतक रक्षा करो । ऐसा कह नन्द-यशोदाने उन्हें गोदमें ले हृदयसे लगा लिया और प्रेमाश्रुओंसे भिगोने लगे ॥ ३ ॥ तदनन्तर, बलरामजीने वृद्ध गोपोंको और छोटी अवस्थावालोंने श्रीबलरामजीको अपनी आयु मेल-जोल और सम्बन्धके अनुसार विधिवत् प्रणाम किया ॥ ४ ॥

१. द्वारकाप्रजाः । २. प्राचीन प्रतिमें 'उत्तरार्धे' इतना अंश नहीं है । ३. बादरायणिरुवाच । ४. गोपगोपी० । ५. ह्येश्चाभिवादितः ।

समुपेत्याथ गोपालान्हास्यहस्तग्रहादिभिः ।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः ॥ ५ ॥

पृष्टाश्चानामयं स्वेषु प्रेमगद्गदया गिरा ।
कृष्णे कमलपत्राक्षे सन्न्यस्ताखिलराधसः ॥ ६ ॥

कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते ।
कच्चित्स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः ॥ ७ ॥

दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः ।
निहत्य निर्जित्य रिपून्दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः ॥ ८ ॥

फिर ग्वालबालोंके पास आ उनसे हँसते और हाथ मिलाते हुए मिले । जिस समय बलरामजी श्रमहीन हो सुखपूर्वक आसनपर विराजमान हुए तब जिन्होंने कमलनयन भगवान् कृष्णके लिये सम्पूर्ण भोग त्याग दिये हैं उन ग्वालबालोंने उनके समीप आकर प्रेमगद्गद वाणीसे यादवोंकी कुशल पूछी तत्पश्चात् बलरामजीने उनसे भी आरोग्यादिके विषयमें पूछा ॥५-६॥ [ग्वालबाल बोले—] "हे बलरामजी ! वसुदेवजी आदि हमारे सब बन्धु-बान्धव कुशलसे हैं न ? अब आपलोग स्त्री और बालबच्चोंवाले हुए हैं, क्या आपको कभी हमारी भी सुधि आती है ? ॥ ७ ॥ बड़े सौभाग्यकी बात है कि पापी कंस मारा गया, आपके सुहृद्जन उसके बन्धनसे मुक्त हो गये यह भी बड़ा आनन्द हुआ तथा आपलोग अब अपने शत्रुओंको मारकर और जीतकर एक अभेद्य दुर्गमें रहते हैं, यह बड़े मङ्गलकी बात है" ॥८॥

गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः ।
कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥ ९ ॥

कच्चित्स्मरति वा बन्धून्पितरं मातरं च सः ।
अप्यसौ[2] मातरं द्रष्टुं सकृदप्यागमिष्यति ।
अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥१०॥

मातरं पितरं भ्रातॄन्पतीन्पुत्रान्स्वसॄरपि ।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान्स्वजनान्प्रभो ॥११॥

ता नः सद्यः परित्यज्य गतः संछिन्नसौहृदः ।
कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितं[3] ॥१२॥

कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो
वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ।
गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दर-
स्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥१३॥

तब बलरामजीकी स्नेहदृष्टिसे सम्मानित हुई गोपियोंने उनसे हँसते हुए पूछा—"हे राम ! नगरनारियोंके प्राणाधार श्रीकृष्णचन्द्र प्रसन्न है ? ॥९॥ क्या वे कभी अपने बन्धु-बान्धवों और माता-पिताका स्मरण करते हैं ? क्या वे अपनी माताको देखनेके लिये एक बार भी यहाँ आयँगे ? उन महाबाहुको क्या कभी हमारी सेवाओंकी याद आती है ? ॥१०॥ हे दाशार्ह ! जिनके लिये हमने अपने माता, पिता, भाई, पति, पुत्र और बहिन आदि दुस्त्यज बन्धुओंको त्याग दिया था, हे प्रभो ! वे हमारे स्नेहबन्धनको इतनी जल्दी तोड़ हमें छोड़कर चले गये ! [यदि आप कहें कि उन्हें रोक क्यों नहीं लिया तो] 'मैं तुम्हारे उपकारका बदला कभी नहीं चुका सकता' आदि उनकी कपटप्रेममयी बातोंका भला कौन स्त्री विश्वास न करेगी ?" ॥ ११-१२ ॥ [उनमेंसे एक गोपीने कहा—] "बलभद्रजी ! नगरकी स्त्रियाँ तो बड़ी ही चतुर होती हैं, वे अव्यवस्थितचित्त कृतघ्न कृष्णकी बातोंका विश्वास कैसे करती होंगी ?" [दूसरी बोली—] "कृष्ण बड़ी विचित्र बातें बनाना जानते हैं, उनकी मनोहर मुसकानमयी चितवनसे उद्दीप्त हुए प्रेमावेशसे आकुल होकर वे अवश्य उनका विश्वास कर लेती होंगी" ॥ १३ ॥

१. ते वै० । २. प्राचीन प्रतिमें 'अप्यसौ······मिष्यति' यह श्लोकार्ध नहीं है । ३. तुम् ।

किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः ।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः ॥१४॥

[एक और सखीने कहा—]"अरी गोपियो ! हमें उनकी कथासे क्या लेना है ? कोई और बातें करो। यदि हमारे बिना उनका समय बीत जाता है तो उसी प्रकार हमारा समय भी उनके बिना बीत जायगा। [इतना अवश्य है कि उनका सुखसे बीतता है और हमारा दुःखसे]" ॥ १४ ॥

इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम् ।
गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः ॥१५॥
सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः ।
सान्त्वयामास भगवान्नानानुनयकोविदः ॥१६॥
द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च ।
रामः क्षपासु भगवान्गोपीनां रतिमावहन् ॥१७॥
पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना ।
यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥१८॥

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रकी हँसी, बोलचाल, मनोहर चितवन, गति और प्रेमालिङ्गनादिका स्मरण करती हुई वे समस्त व्रजबालाएँ रोने लगीं ॥ १५ ॥ तब नाना प्रकारकी अनुनय-विनयमें कुशल भगवान् सङ्कर्षणने उन्हें कृष्णचन्द्रके मर्मस्पर्शी सन्देश सुनाकर शान्त किया ॥ १६ ॥ तदनन्तर, भगवान् बलरामजी रात्रिमें गोपियोंका प्रेम बढ़ाते हुए वहाँ चैत्र और वैशाखके दो महीने रहे ॥ १७ ॥ व्रजस्त्रियोंसे घिरे हुए श्रीरोहिणीनन्दनने पूर्णचन्द्रकी कान्तिसे शोभायमान और कुमुदकुसुमकी गन्धसे सुवासित यमुनाजीके सुरम्य कुञ्जमें विहार किया ॥ १८ ॥

वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ।
पतन्ती तद्वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत् ॥१९॥
तं गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः ।
आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥[1]
उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः ।
वनेषु व्यचरत्क्षीबो मदविह्वललोचनः ॥२१॥
स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया ।
बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयभूषितम् ॥२२॥

उस समय वरुणकी भेजी हुई वारुणीदेवीने वृक्ष-कोटरसे मधुधाराके रूपमें बहकर उस सम्पूर्ण वनको अपनी सुगन्धसे भर दिया ॥१९॥ तब बलरामजी वायु-द्वारा लायी हुई उस मधुधाराकी सुगन्धको सूँघकर वहाँ गये और स्त्रियोंके सहित उसका पान किया ॥ २० ॥ तदनन्तर, आनन्दके नशेमें जिनके नेत्र विह्वल हैं, जिन्होंने गलेमें माला और एक ही कानमें कुण्डल पहन रखा है, जो स्वभावसे ही मत्त हैं, जानुपर्यन्त लम्बायमान वैजयन्ती-माला धारण किये हुए हैं तथा जिनका हास्ययुक्त मुखारविन्द स्वेदरूप तुषार-कणोंसे विभूषित है वे आनन्दोन्मत्त बलभद्रजी व्रजनारियोंके द्वारा अपना सुयशगान सुनते हुए वनमें विचरने लगे ॥ २१-२२ ॥

स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः ।
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥२३॥
पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि[2] मयाहुता ।

इसी समय सर्वसमर्थ बलभद्रजीने जलक्रीडाके लिये यमुनाको पुकारा। किन्तु, जब वह 'यह तो मतवाले हैं' ऐसा समझ कर उनकी आज्ञाका अनादर कर वहाँ नहीं आयी तो उन्होंने अति कुपित होकर उसे हलकी नोंकसे खींचा ॥ २३ ॥ और कहने लगे "अरी पापिनि ! तू मेरे बुलानेपर भी जो मेरी अवहेलना करके

१. पपौ समम् । २. नैति ।

नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् ॥२४॥
एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ।
उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप ॥२५॥
राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम् ।
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ॥२६॥
परं भावं भगवतो भगवन्मामजानतीम् ।
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन्प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥२७॥

यहाँ नहीं आ रही है, इसलिये अब मैं इस हलकी नोंकसे तुझ स्वेच्छाचारिणीके सैकड़ों टुकड़े कर डालूँगा।" हे राजन ! इस प्रकार बलरामजीद्वारा डाँटी जानेपर यमुना अत्यन्त भयभीत और चकित हो यदुकुमार बलभद्रजीके चरणोंमें गिरकर कहने लगीं—॥ २४-२५ ॥ "हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो ! हे जगत्पते ! आप अपने एक अंशसे ही इस सम्पूर्ण जगत्को उठाये हुए हैं, मैं आपका पराक्रम नहीं जानती थी ॥ २६ ॥ भगवन् ! मैं आपके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझ सकी थी, अतः हे विश्वात्मन् ! आप मुझे छोड़ दीजिये । हे भक्तवत्सल ! मैं आपकी शरणागत हूँ" ॥ २७ ॥

ततो व्यमुञ्चद्यमुनां याचितो भगवान्बलः[1] ।
विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट् ॥२८॥
कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे ।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम्॥२९॥
वसित्वा वाससी नीले मालामामुच्य काञ्चनीम् ।
रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः ॥३०॥
अद्यापि दृश्यते राजन्यमुना कृष्टवर्त्मना ।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥३१॥
एवं सर्वा निशा याता एकेव रमतो व्रजे ।
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोपिताम् ॥३२॥

यमुनाजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान् बलरामजीने उन्हें छोड़ दिया और फिर हाथी जैसे हथिनियोंके साथ जलक्रीडा करता है उसी प्रकार गोपियोंके साथ जलमें प्रवेश किया ॥ २८ ॥ जब वे यथेष्ट जलविहार कर यमुनासे बाहर आये तब लक्ष्मीजीने उन्हें नील वस्त्र, महामूल्य आभूषण और एक सुन्दर माला दी ॥ २९ ॥ उस समय बलरामजी नीलाम्बर धारणकर गलेमें सुवर्णमयी माला पहन चन्दनादिका लेप कर इन्द्रके ऐरावत हाथीके समान सुशोभित हुए ॥ ३० ॥ हे राजन् ! इस समय भी यमुनाजी उन्हींके खोदे हुए मार्गसे बहती हुई मानो बलरामजीके अनन्त पराक्रमकी सूचना दे रही हैं ॥ ३१ ॥ हे तात ! इस प्रकार व्रजबालाओंके माधुर्यसे आकृष्ट होकर उनके साथ व्रजमें क्रीडा करते हुए बलरामजीको वे दो महीनेकी रात्रियाँ एक रात्रिके समान बीत गयीं ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे
बलदेवविजये यमुनाकर्षणं नाम पञ्चषष्टि-
तमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

१. मुञ्चद्भगवान् याचितो यमुनां बलः । २. न्धे यमुनाकर्षणं पञ्चष० ।

छाछठवाँ अध्याय

पौण्ड्रक-वध ।

श्रीशुक उवाच

नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप ।
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥ १ ॥
त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम् ॥ २ ॥
दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने ।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः ॥ ३ ॥
दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम् ।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत् ॥ ४ ॥
वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः ।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥ ५ ॥
यानि त्वमस्मचिह्नानि मौढ्याद्बिभर्षि सात्वत ।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद्देहि ममाहवम् ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! बलरामजीके व्रज पधारनेपर इधर करूषदेशके अधिपति पौण्ड्रकने अज्ञानवश यह निश्चय कर कि 'मैं ही वासुदेव हूँ' भगवान् कृष्णके पास दूत भेजा ॥ १ ॥ 'आप ही जगत्पति भगवान् वासुदेव पृथिवीमें अवतीर्ण हुए हैं' इस प्रकार मूर्खोंके बहकानेसे वह अपनेहीको श्रीअच्युत मानने लगा ॥ २ ॥ और बालकोंद्वारा खेलमें बनाये हुए राजाके समान उस मन्दमतिने द्वारकापुरीमें अचिन्त्यगति श्रीहरिके पास अपना दूत भेजा ॥ ३ ॥ उस दूतने द्वारकामें आ सभाभवनमें बैठे हुए कमलनयन भगवान् कृष्णको इस प्रकार अपने स्वामीका सन्देश सुनाया—॥ ४ ॥ "एकमात्र मैं ही वासुदेव हूँ, और कोई नहीं । मैंने ही जीवोंपर दया करनेके लिये अवतार लिया है ! तुम झूठ-मूठ 'वासुदेव' कहलाना छोड़ दो ॥ ५ ॥ हे यादव ! तुम मूर्खतावश मेरे जिन-जिन चिह्नोंको धारण करते हो उन्हें छोड़कर या तो मेरी शरण आओ, नहीं तो मुझे युद्धका अवसर दो" ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥ ७ ॥
उवाच दूतं भगवान्परिहासकथामनु ।
उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे ॥ ८ ॥
मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्कगृध्रवटैर्वृतः ।
शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥ ९ ॥
इति दूतस्तदाक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ।
कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥ १० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! मन्दमति पौण्ड्रकका यह अपनी बड़ाईसे भरा हुआ सन्देश सुनकर उग्रसेन आदि समस्त सभासद्गण जोरसे खिलखिलाकर हँस पड़े ॥ ७ ॥ फिर भगवान्ने पौण्ड्रककी हँसी करते हुए उस दूतसे कहा—"[तुम अपने राजासे कहना कि] रे मूढ़ ! मैं अपने सुदर्शनचक्रादि चिह्नोंको, जिनके बहकानेसे तू बड़ी-बड़ी बातें बनाता है उनके सहित, तुझपर छोड़ूँगा और जिससे तू इतनी बढ़-बढ़कर बातें बनाता है उस अपने मुखको छिपाकर जब तू कङ्क, गृध्र और वट आदि पक्षियोंसे घिरा हुआ रणभूमिमें मरकर शयन करेगा तब तू कुत्तोंकी शरण जायगा" ॥ ८-९ ॥ तब दूतने भगवान्का वह तिरस्कारपूर्ण उत्तर अपने स्वामीको जा सुनाया और श्रीकृष्णचन्द्र भी रथपर सवार हो काशीको चले ॥ १० ॥

---

१. बादरायणिरुवाच ।

पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद्‌द्रुतम् ॥११॥
तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः ॥१२॥
शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गश्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥१३॥
कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ।
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥१४॥
दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यवेषं कृत्रिममास्थितम् ।
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः ॥१५॥
शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः ।
असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम् ॥१६॥
कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयो-
र्बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत् ।
गदासिचक्रेषुभिरार्दयद्‌भृशं
यथा युगान्ते हुतभुक्पृथक्प्रजाः ॥१७॥
आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जर-
द्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः ।
बभौ चितं मोदवहं मनस्विना-
माक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम् ॥१८॥
अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भो भो पौण्ड्रक यद्भवान् ।
दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥१९॥
त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत्त्वयाज्ञ मृषा धृतम् ।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥२०॥
इति क्षिप्त्वा शितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् ।

युद्धके लिये श्रीकृष्णचन्द्रका उद्योग देख महारथी पौण्ड्रक भी दो अक्षौहिणी सेना ले तुरन्त अपने नगरसे बाहर आया ॥११॥ हे राजन् ! उसका मित्र काशिराज भी उसकी सहायताके लिये तीन अक्षौहिणी सेना लेकर उसके पीछे-पीछे आया। उस समय भगवान्‌ने पौण्ड्रकको देखा कि वह शङ्ख, चक्र, खड्ग, गदा, शार्ङ्गधनुष और श्रीवत्सादि चिह्नोंसे युक्त है, वह गलेमें कौस्तुभमणि धारण किये हुए है तथा वनमालासे सुशोभित है ॥१२-१३॥ वह रेशमी पीताम्बर, महामूल्यमय मुकुट और आभूषण तथा झिलमिलाते हुए मकराकृति कुण्डल पहने हुए है और गरुड़चिह्नयुक्त ध्वजावाले रथपर सवार है ॥ १४ ॥ नाट्यशालामें उपस्थित हुए नटके समान उसे अपने ही समान बनावटी वेष धारण किये देख श्रीहरि बहुत ही हँसे ॥१५॥

तदनन्तर शत्रुगण भगवान्‌पर त्रिशूल, गदा, परिघ, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, तोमर, खड्ग, पट्टिश और बाण आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार करने लगे ॥१६॥ तब, प्रलयकालमें जिस प्रकार अग्नि भिन्न-भिन्न प्रकारके प्राणियोंको पीडित करता है उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रने भी, पौण्ड्रक तथा काशिराजकी हाथी, रथ, घोड़े और पैदलोंसे युक्त सेनाको गदा, खड्ग, चक्र और बाण आदिसे कुचल डाला ॥ १७ ॥ उस समय भगवान्‌के चक्रसे खण्ड-खण्ड हुए रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य, गधे और ऊँटोंसे भरी हुई वह रणभूमि भूतनाथ शङ्करकी भयङ्कर क्रीडास्थलीके समान शूरवीरोंको आनन्ददायिनी हुई ॥ १८ ॥ तब भगवान् कृष्णने पौण्ड्रकसे कहा—"रे पौण्ड्रक ! तूने जो मुझसे दूतद्वारा कहलाया था सो उन सुदर्शनादि आयुधोंको मैं तुझपर छोड़ता हूँ ॥१९॥ और हे मूर्ख ! तूने जो झूठ-मूठ मेरा नाम धारण कर रक्खा है उसे भी छुटा दूँगा । यदि मुझे युद्ध करनेका साहस न होगा तो आज मैं तेरी शरण ले लूँगा" ॥२०॥ पौण्ड्रकको इस प्रकार तिरस्कार कर भगवान्‌ने अपने तीखे बाणोंसे उसे रथहीन कर दिया और इन्द्रने जैसे

शिरोऽवृश्चद्रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ॥२१॥
तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः।
न्यपातयत्काशिपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः ॥२२॥
एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः।
द्वारकामाविशत्सिद्धैर्गीयमानकथामृतः ॥२३॥
स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः।
बिभ्राणश्च हरे राजन्स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥२४॥
शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम्।
किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशयिरे जनाः ॥२५॥
राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः।
पौराश्च हा हता राजन्नाथनाथेति प्रारुदन् ॥२६॥
सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः।
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ॥२७॥
इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम्।
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥
प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद्भवः।
पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम् ॥२९॥
दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम्।
अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः ॥३०॥
साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः।
इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन्व्रती ॥३१॥

अपने वज्रसे पर्वतोंके पङ्ख काटे थे वैसे ही सुदर्शन-चक्रसे उसका शिर काट डाला ॥२१॥ इसी प्रकार अपने बाणोंसे काशिराजका शिर धड़से अलग कर उसे वायुसञ्चालित कमलकोशके समान काशीपुरीमें गिराया ॥२२॥

इस प्रकार, जिनके कथामृतका सिद्धगण गान करते हैं उन भगवान् कृष्णने अपने साथ डाह रखनेवाले पौण्ड्रकको उसके मित्र काशीनरेशके सहित मारकर द्वारकापुरीमें प्रवेश किया ॥२३॥ हे राजन् ! द्वेष्य-भावसे नित्यप्रति भगवान्‌का ध्यान करनेसे जिसके सम्पूर्ण कर्मबन्धन नष्ट हो गये थे वह पौण्ड्रक श्रीहरिका रूप धारण करनेसे अन्तमें तद्रूप हो गया ॥२४॥

इधर, काशीपुरीमें राजद्वारपर एक कुण्डलमण्डित मस्तक गिरा देख सब लोग सन्देह करने लगे कि 'यह क्या है ? किसका शिर है ?' ॥२५॥ अन्तमें, उसे काशिराजका शिर जानकर समस्त रानियाँ, राजपुत्र, बन्धु-बान्धवगण और पुरवासी 'हाय ! हम मारे गये ! हा राजन् ! हा नाथ ! हा नाथ !' ऐसा कहकर विलाप करने लगे ॥२६॥

तदनन्तर काशिराजके पुत्र सुदक्षिणने पिताका अन्त्येष्टिसंस्कार कर यह निश्चय किया कि मैं अपने पिताका वध करनेवालेको मारकर पितृऋणसे उऋण होऊँगा। अतः वह उपाध्यायके सहित परम समाधिद्वारा श्रीमहेश्वरकी आराधना करने लगा ॥ २७-२८ ॥ उस अविमुक्त-क्षेत्र (काशी) में उसकी उपासनासे प्रसन्न हो भगवान् शङ्करने उससे वर माँगनेको कहा । तब उसने अपने पिताके मारनेवालेके वधका उपायरूप अपना इच्छित वर माँगा ॥२९॥ [तब भगवान् रुद्रने कहा—] "तुम ब्राह्मणोंके साथ मिलकर यज्ञके देवता ऋत्विग्भूत दक्षिणाग्निकी अभिचार-विधिसे आराधना करो । इससे वह अग्नि प्रमथगणके साथ प्रकट होकर जो ब्राह्मणोंका भक्त नहीं है उसपर प्रयुक्त होनेपर तेरी कामना पूर्ण करेगा ।" भगवान् शङ्करका ऐसा आदेश पा सुदक्षिण ब्रह्मचर्यादि नियमोंका पालन करता हुआ श्रीकृष्णचन्द्रपर अभिचारका अनुष्ठान करने लगा ॥ ३०-३१ ॥

ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभीषणः ।
तप्ततांम्रशिखाश्मश्रुरङ्गारोद्गारिलोचनः ॥३२॥
दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया ।
आलिहन्सृक्किणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिखं ज्वलत् ॥३३॥
पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम् ।
सोऽभ्यधावद् वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन्दिशः ॥३४॥
तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः ।
विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे मृगा यथा ॥३५॥
अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः ।
त्राहि त्राहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम् ॥३६॥
श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम् ।
शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम् ॥३७॥
सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् ॥३८॥
तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं
जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम् ।
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी
चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्दयत् ॥३९॥
कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणे-
रस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः ।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं
सर्त्विग्जनं समदहत्स्वकृतोऽभिचारः ॥४०॥
चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं
वाराणसीं साट्टसभालयापणाम् ।

अभिचार पूर्ण होते ही कुण्डसे अति भयानक अग्नि मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ। उसके केश और दाढ़ी-मूँछ तपाये हुए ताँबेके समान अरुणवर्ण थे तथा आँखोंसे अग्निके अङ्गारे निकल रहे थे ॥३२॥ उसका मुख उग्र डाढ़ों और बाँकी भ्रुकुटियोंके कारण बड़ा क्रूर जान पड़ता था तथा शरीर नग्न था और वह अपनी जिह्वासे चौहें चाटता हुआ अति तेजस्वी त्रिशूल घुमा रहा था ॥३३॥ हे राजन् ! वह अपने तालके समान पैरोंसे पृथिवीको कँपाता और दशों दिशाओंको दग्ध करता भूतगणसे घिरा हुआ द्वारकाकी ओर दौड़ा ॥३४॥

उस अभिचारके अग्निको आता देख समस्त द्वारकावासी ऐसे भयभीत हुए जैसे वनमें आग लगनेपर वनवासी प्राणी व्याकुल हो जाते हैं ॥३५॥ तब उन भयातुर द्वारकावासियोंने सभामें चौसर खेलते हुए भगवान् कृष्णके पास जा दीन-स्वरसे कहा—"हे त्रिलोकीनाथ ! द्वारकापुरी अग्निसे दग्ध होना ही चाहती है; इसकी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये" ॥३६॥ प्रजाका यह आर्त्तनाद और बन्धुजनोंकी व्याकुलता देख शरणागतवत्सल श्रीहरिने हँसकर कहा—"डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा" ॥३७॥

भगवान् सबके बाहर-भीतरकी जाननेवाले हैं। वे जान गये कि यह उनके नाशके लिये प्रयोग की हुई माहेश्वरी कृत्या है। अतः उसे नष्ट करनेके लिये भगवान्ने अपने पास ही रखे हुए सुदर्शनचक्रको आज्ञा दी ॥ ३८ ॥ तब करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान और प्रलयाग्निके समान जाज्वल्यमान वह विष्णुभगवान्का सुदर्शनचक्र अपने तेजसे आकाश, दिशा और अन्तरिक्षको आलोकित करता हुआ उस अग्निको पीडित करने लगा ॥३९॥ भगवान् कृष्णके शस्त्रके तेजसे अभिभूत और भग्नमुख हो जानेसे वह कृत्यानल लौट पड़ा और काशीमें पहुँचनेपर उसने ऋत्विग्गणके सहित सुदक्षिणहीको जला डाला, उनका अपना किया हुआ अभिचार ही उनके नाशका कारण बन गया ॥४०॥ उसके पीछे सुदर्शनचक्रने भी अट्टालिका, सभाभवन, बाजार, नगरद्वार, द्वारोंके शिखर और

१. चण्ड० । २. द्रुतैः पादैर्द्वा० । ३. यथा मृगाः । ४. तमृत्विक्समेतमदह० ।

सगोपुराट्टालककोष्ठसङ्कुलां
सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् ॥४१॥
दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम् ।
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत्कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः ॥४२॥
य एवं श्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोकविक्रमम् ।
समाहितो वा शृणुयात्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥

कोठे आदिसे पूर्ण तथा कोश, हस्तिशाला, अश्वशाला, रथशाला और धान्यागारयुक्त काशीपुरीमें प्रवेश किया ॥४१॥ इसके बाद वह विष्णुभगवान्‌का सुदर्शन-चक्र सम्पूर्ण काशीको जलाकर फिर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् कृष्णके पास आ गया ॥४२॥

जो पुरुष पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्णके इस चरित्रको सुनावेगा अथवा सावधानतापूर्वक सुनेगा वह सब पापोंसे छूट जायगा ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
पौण्ड्रकादिवधो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

सरसठवाँ अध्याय

द्विविदवध ।

राजोवाच

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः ।
अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत्कृतवान्प्रभुः ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

नरकस्य सखा कश्चिद्द्विविदो नाम वानरः ।
सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥ २ ॥
सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन्वानरो राष्ट्रविप्लवम् ।
पुरग्रामाकरान्घोषानदहद्वह्निमुत्सृजन् ॥ ३ ॥
क्वचित्स शैलानुत्पाट्य तैर्देशान्समचूर्णयत् ।
आनर्तान्सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः ॥ ४ ॥
क्वचित्समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुत्क्षिप्य तज्जलम् ।
देशान्नागायुतप्राणो वेलाकूलानमज्जयत् ॥ ५ ॥
आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् ।
अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन्वैतानिकान्खलः ॥ ६ ॥
पुरुषान्योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः ।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—भगवन् ! मैं अनन्त, अप्रमेय और अद्भुतकर्मा भगवान् बलरामजीके चरित्र फिर सुनना चाहता हूँ । सर्वसमर्थ बलरामजीने और क्या कर्म किये सो कहिये ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! द्विविदनामक एक महाबली वानर नरकासुरका मित्र था । वह सुग्रीवका मन्त्री और मैन्दका भाई था ॥ २ ॥ अपने मित्र (नरकासुर) का बदला चुकानेके लिये वह समस्त राष्ट्रमें उपद्रव करता हुआ पुर, ग्राम, खान और घोषोंमें आग लगाकर उन्हें जलाने लगा ॥ ३ ॥ विशेषतः आनर्तदेशमें, जहाँ उसके मित्रको मारनेवाले श्रीहरि रहते थे, उसने बड़ा ही उपद्रव मचाया । वह कभी तो पहाड़की चट्टान उखाड़कर उससे देशोंको चूर्ण कर डालता और कभी वह दश सहस्र हाथियोंके बलवाला दुष्ट वानर समुद्रके बीचमें खड़ा हो अपनी भुजाओंसे उसके जलको उछालकर किनारेकी बस्तियोंको डुबो देता था ॥ ४-५ ॥ उस दुष्टने ऋषीश्वरोंके आश्रमोंके वृक्षादि उखाड़कर उनके अग्निकुण्डोंको मल-मूत्रादिसे दूषित कर दिया ॥ ६ ॥ जैसे भृङ्गी नामक कीड़ा अन्य कीड़ोंको ले जाकर अपने बिलमें बन्द कर देता है ऐसे ही वह मदोन्मत्त वानर स्त्री

१. विष्णुचक्रं । २. न्धे पौण्ड्रककाशिराजवधः षट्० । ३. ह्निना भृशम् । ४. न्मुनिमुख्यानां ।

निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलैः पेशस्कारीव कीटकम् ॥ ७॥

और पुरुषोंको ले जाकर पर्वतकी कन्दरामें डालकर उसका द्वार शिलासे मूँद देता था ॥ ७ ॥

एवं देशान्विप्रकुर्वन्दूषयंश्च कुलस्त्रियः ।
श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥ ८ ॥
तत्रापश्यद्यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम् ।
सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥ ९ ॥
गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम् ।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥
दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन्द्रुमान्[2] ।
चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥११॥
तस्य धाष्टर्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः ।
हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः ॥१२॥
ता हेलयामास कपिर्भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः ।
दर्शयन्स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः ॥१३॥
तं ग्राव्णा प्राहरत्क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ।
स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ॥१४॥
गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन्हसन् ।
निर्भिद्य कलशं दुष्टो वासांस्यास्फालयद्बलम् ॥१५॥
कदर्थीकृत्य बलवान्विप्रचक्रे मदोद्धतः ।
तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ॥१६॥
क्रुद्धो मुसलमादत्त हलं चारिजिघांसया ।
द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुद्यम्य पाणिना ॥१७॥
अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ।

इस प्रकार बहुतसे देशोंको उजाड़ता और कुलकामिनियोंको दूषित करता वह दुष्ट वानर मनोहर गानकी ध्वनि सुन रैवतक पर्वतपर गया ॥ ८ ॥ वहाँ उसने कामिनी भामिनियोंके बीचमें विराजमान पद्ममालाविभूषित तथा सर्वाङ्गसुन्दर यदुनायक बलभद्रजीको मधुधाराका पान कर गाते हुए देखा। उनके नेत्र आनन्दके नशेमें विह्वल हो रहे थे तथा उनका स्थूल शरीर मदस्रावी हाथीके समान सुशोभित था ॥ ९-१० ॥

वह दुष्ट वानर वृक्षकी शाखाओंपर चढ़कर उन्हें झकझोरता हुआ बार-बार स्त्रियोंके सामने आकर किलकारी मारने लगा ॥११॥ तरुणी स्त्रियाँ स्वभावसे ही चञ्चल और हास्यप्रिय होती हैं; अतः उस वानरकी धृष्टता देख बलरामजीकी स्त्रियाँ हँसने लगीं ॥१२॥ इसपर वह वानर बलरामजीके सामने ही उन्हें अपनी गुदा दिखाता हुआ भौं मटकाकर और घुड़की दिखाकर चिढ़ाने लगा ॥१३॥ तब प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीबलरामजीने क्रोधित होकर उसकी ओर पत्थर फेंके, किन्तु वह धूर्त उन पत्थरोंको बचाकर मधुका घड़ा लेकर भाग गया। उस दुष्टने वह घड़ा फोड़ डाला और स्त्रियोंके वस्त्र खींच-खींचकर फाड़ डाले। इस प्रकार बलभद्रजीकी हँसी उड़ाते उसने उनकी अवहेलना कर उन्हें अत्यन्त कुपित कर दिया ॥१४-१५॥ जब उस मदोन्मत्त बलवान् वानरने बलरामजीकी इस प्रकार उपेक्षा कर अवज्ञा की तो उसकी इस धृष्टता और उसके उजाड़े हुए देशोंकी बातका स्मरण कर उन्होंने उस शत्रुका संहार करनेकी इच्छासे अति क्रोधित हो अपना हल और मूसल उठा लिया। इधर महापराक्रमी द्विविद भी अपने हाथमें एक शालका वृक्ष ले बलभद्रजीकी ओर दौड़ा और उसे बड़े वेगसे उनके मस्तकमें दे मारा। महाबलवान् बलभद्रजीने पर्वतके समान स्थिर रहकर, अपने

१. प्रमत्तमिव । २. यन्दुघा ।

तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ॥१८॥
प्रतिजग्राह बलवान्सुनन्देनाहनच्च तम् ।
मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ॥१९॥
गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन् ।
पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा ॥२०॥
तेनाहनत्सुसङ्क्रुद्धस्तं बलः शतधाच्छिनत् ।
ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाच्छिनत् ॥२१॥
एवं युध्यन्भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः ।
आकृष्य सर्वतो वृक्षान्निर्वृक्षमकरोद्वनम् ॥२२॥
ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः ।
तत्सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥२३॥
स बाहू तालसङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः ।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् ॥२४॥
यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललाङ्गले ।
जत्रावभ्यर्दयत्क्रुद्धः सोऽपतद्रुधिरं वमन् ॥२५॥
चकम्पे तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः ।
पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्भसि ॥२६॥
जयशब्दो नमःशब्दः साधुसाध्विति चाम्बरे ।
सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत्कुसुमवर्षिणाम् ॥२७॥
एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम् ।
संस्तूयमानो भगवाञ्जनैः[1] स्वपुरमाविशत् ॥२८॥

मस्तकपर गिरते हुए उस वृक्षको, बीचहीमें पकड़ लिया और उस वानरपर अपने सुनन्दनामक मूसलसे प्रहार किया। मूसलके लगनेसे द्विविदके मस्तकसे लोहूकी धारा बहने लगी। उससे वह गेरूकी धारासे पर्वतके समान सुशोभित हुआ। किन्तु, उसकी कुछ भी परवा न कर द्विविदने क्रोधित हो एक दूसरा वृक्ष उखाड़ा और उसके पत्ते झाड़ अत्यन्त वेगसे बलरामजीपर आक्रमण किया। बलभद्रजीने उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये। तब उसने उनपर दूसरा वृक्ष उखाड़कर फेंका, किन्तु उन्होंने उसके भी सैकड़ों भाग कर दिये ॥१६–२१॥ भगवान् बलरामजीसे इस प्रकार युद्ध करते हुए द्विविद एक वृक्षके कट जानेपर बराबर दूसरा उखाड़ता रहा। इस प्रकार सब ओरके वृक्षोंको उखाड़ते-उखाड़ते उसने वह वन वृक्षहीन कर दिया ॥२२॥ वृक्षोंके समाप्त हो जानेपर वह अति क्रोधित हो बलरामजीपर पत्थर बरसाने लगा, किन्तु मूसलरूप शस्त्र धारण करनेवाले बलभद्रजीने लीलाहीसे उन सबको चूर्ण कर दिया ॥२३॥ अन्तमें वह कपीश्वर अपनी तालसदृश भुजाओंसे घूँसा बाँधकर रोहिणीनन्दनकी ओर दौड़ा और उनके वक्षःस्थलमें प्रहार किया ॥२४॥ तब बलभद्रजीने भी क्रोधित हो हल और मूसलको रख अपने दोनों हाथोंसे उसकी भुजा और कण्ठके मूलमें प्रहार किया। इससे वह रक्त-वमन करता हुआ पृथिवीपर गिर पड़ा ॥२५॥ हे कुरुश्रेष्ठ! आँधीके कारण जिस प्रकार जलमें नाव डगमगाने लगती है उसी प्रकार उसके गिरनेसे सजल कुण्डों और वृक्षोंके सहित वह सम्पूर्ण पर्वत हिल गया ॥२६॥ उस समय बलरामजीपर पुष्प बरसानेवाले देवता, सिद्ध और मुनीश्वरोंका जय-जयकार, नमस्कार और साधु-साधु शब्द सम्पूर्ण आकाशमें भर गया ॥ २७ ॥ इस प्रकार, संसारको कष्ट देनेवाले दुष्ट द्विविदको मारकर भगवान् बलभद्रजी परिजनोंसे प्रशंसित होते हुए अपने नगरमें पधारे ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे द्विविदवधो नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥६७॥

---

१. ञ्जनौ। २. न्धे द्विविदवधः सप्त०।

अड़सठवाँ अध्याय

साम्बका विवाह।

श्रीशुक उवाच

दुर्योधनसुतां राजँल्लक्ष्मणां समितिञ्जयः ।
स्वयंवरस्थामहरत्साम्बो जाम्बवतीसुतः ॥ १ ॥
कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोऽयमर्भकः ।
कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद्बलात् ॥ २ ॥
बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः ।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम् ॥ ३ ॥
निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः ।
भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ॥ ४ ॥
इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः ।
साम्बमारेभिरे बन्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! जाम्बवतीके पुत्र रणधीर साम्बने दुर्योधनकी पुत्री लक्ष्मणाको उसके स्वयंवरमेंसे हर लिया ॥ १ ॥ इससे कौरवगण अत्यन्त कुपित हो आपसमें कहने लगे—"यह बालक बड़ा ही ढीठ है; देखो, इसने हमें तुच्छ समझकर अपनी कामना न करनेवाली कन्याका बलात्कारसे हरण कर लिया ॥ २ ॥ इस पाजीको पकड़कर बाँध लो; यादवगण हमारा कर ही क्या सकते हैं, वे तो हमारी ही दी हुई और हमारी ही कृपासे धन-धान्यसे सम्पन्न हुई पृथ्वीका राज्य भोगते हैं ॥ ३ ॥ यदि अपने लड़केको बन्धनमें पड़ा सुनकर यादवगण यहाँ आयें भी तो प्राणायामादिद्वारा भली प्रकार वशीभूत की हुई इन्द्रियोंके समान दर्पहीन होकर शान्त हो जायँगे" ॥ ४ ॥ ऐसा विचार कर कुरुवृद्ध भीष्मजीकी भी अनुमति ले कर्ण, शल, भूरिश्रवा, यज्ञकेतु और दुर्योधनादि वीरगण साम्बको पकड़नेकी तैयारी करने लगे ॥ ५ ॥

दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान्महारथः ।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥ ६ ॥
तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः ।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन् ॥ ७ ॥
सोऽपविद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः ।
नामृष्यत्तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव ॥ ८ ॥
विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान्विव्याध सायकैः ।
कर्णादीन्षड्रथान्वीरांस्तावद्भिर्युगपत्पृथक् ॥ ९ ॥
चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन् ।
रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ॥ १० ॥

तब महारथी साम्ब धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अपना पीछा करते देख, एक सुन्दर धनुष चढ़ा सिंहके समान अकेले ही डटकर खड़े हो गये ॥ ६ ॥ इधर, उन्हें पकड़नेकी इच्छासे आये हुए कर्णादि कौरव वीर धनुष धारणकर अति क्रोधित हो 'खड़ा रह, खड़ा रह!' इस प्रकार पुकारते हुए उनपर बाणवर्षा करने लगे ॥ ७ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार कौरवोंद्वारा आक्रमण किये जानेपर यदुनन्दन कृष्णकुमार साम्ब उनके पराक्रमको उसी प्रकार नहीं सह सके जैसे क्षुद्र मृगोंके पराक्रमको सिंह नहीं सह सकता ॥ ८ ॥ उन्होंने अपने सुन्दर धनुषकी टङ्कार कर उससे एक साथ ही छोड़े हुए छः-छः बाणोंसे उन कर्णादि छहों वीरोंको अलग-अलग बेध दिया ॥ ९ ॥ उन्होंने चार-चार बाणोंसे चार-चार घोड़ोंको, एक-एकसे सारथियोंको और एक-एकसे महान् धनुर्धर छहों रथियोंको बेधा। उनके इस विचित्र विक्रमकी विपक्षी वीर भी प्रशंसा करने लगे ॥ १० ॥

१. ताः प्रोचु० । २. प्रति० ।

तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान्।
एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम् ॥११॥
तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि।
कुमारं स्वस्य कन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ॥१२॥

फिर उन छहोंने मिलकर साम्बको रथहीन कर दिया। चारने चारों घोड़ोंको मार डाला, एकने सारथीका वध किया और एकने उनका धनुष काट डाला ॥११॥ इस प्रकार कौरवोंने बड़ी कठिनतासे साम्बको युद्धमें रथहीन किया और फिर उन्हें बाँधकर अपनी जय मनाते कन्याके सहित हस्तिनापुरमें ले आये ॥ १२ ॥

तच्छ्रुत्वा नारदोक्तेन राजन्सञ्जातमन्यवः।
कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः ॥१३॥
सान्त्वयित्वा तु तान्रामः सन्नद्धान्वृष्णिपुङ्गवान्।
नैच्छत्कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ॥१४॥
जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥१५॥
गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रं[1] बुभुत्सया ॥१६॥

हे राजन्! इधर नारदजीके मुखसे यह समाचार पा यादवोंको बड़ा क्रोध हुआ और वे महाराज उग्रसेनकी आज्ञा पा कौरवोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारी करने लगे ॥१३॥ कलिकलुषविनाशन बलरामजी यह नहीं चाहते थे कि कौरवों और यादवोंमें कलह हो; अतः उन्होंने युद्धके लिये तत्पर हुए यादव-वीरोंको समझा-बुझाकर शान्त किया ॥१४॥ और ग्रहगणसे घिरे हुए चन्द्रदेवके समान ब्राह्मणों तथा कुटुम्बके बड़े-बूढ़ोंके साथ एक सूर्यसदृश प्रकाशमान रथपर सवार हो हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ॥१५॥ हस्तिनापुर पहुँचनेपर उन्होंने नगरके बाहर एक बगीचेमें डेरा डाला और कौरवोंका अभिप्राय जाननेके लिये उद्धवजीको धृतराष्ट्रके पास भेजा ॥१६॥

सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम्।
दुर्योधनं च विधिवद्राममागतमब्रवीत् ॥१७॥
तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम्।
तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥१८॥
तं सङ्गम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन्।
तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम् ॥१९॥
बन्धून्कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम्।
परस्परमथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः ॥२०॥

उद्धवजीने कौरवोंकी सभामें जा अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, बाह्लिक और दुर्योधनकी यथावत् अभ्यर्थना कर उन्हें बलरामजीके पधारनेकी सूचना दी ॥१७॥ अपने प्रिय सुहृद् बलरामजीके आनेका समाचार सुन वे अति प्रसन्न हुए और उद्धवजीका यथावत् सत्कार कर बहुत-सी माङ्गलिक वस्तुएँ ले बलरामजीके पास आये ॥१८॥ फिर अपनी-अपनी अवस्था और सम्बन्धके अनुसार वे सब यथायोग्य बलरामजीसे मिले और उन्हें गौ और अर्घ्य अर्पण किये। उनमें जो बलभद्रजीका प्रभाव जानते थे उन्होंने उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥१९॥ तदनन्तर, उन्होंने परस्पर एक दूसरेकी कुशल पूछी और यह सुनकर कि हमारे बन्धुगण कुशलपूर्वक हैं श्रीबलरामजीने ये दीनतारहित शब्द कहे—॥२०॥

[1] १. राजंस्तेषां बुभु०।

उग्रसेनः क्षितीशेशो यद्व आज्ञापयत्प्रभुः ।
तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं मा विलम्बितम् ॥२१॥
यद्यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाधर्मेण धार्मिकम् ।
अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया ॥२२॥

"राजाधिराज महाराज उग्रसेनने तुमलोगोंको एक आज्ञा दी है, उसे सावधानतापूर्वक सुनकर तुरन्त उसका पालन करो ॥२१॥ तुम कई वीरोंने मिलकर धर्मयुद्ध करनेवाले अकेले साम्बको जो अधर्मपूर्वक जीतकर बाँध लिया है उसे मैंने 'बन्धुओंमें एकता रहे'—इस इच्छासे सहन कर लिया है [अतः अब और झगड़ा न बढ़ाकर साम्बको वधूसहित हमारे पास भेज दो]" ॥२२॥

वीर्यशौर्यबलोन्नद्धमात्मशक्तिसमं वचः ।
कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥२३॥
अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या* दुरत्यया ।
आरुरुक्षत्युपानद्वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥२४॥
एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः ।
वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः ॥२५॥
चामरव्यजने शङ्खमातपत्रं च पाण्डुरम् ।
किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया ॥२६॥
अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनै-
दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम् ।
येऽस्मत्प्रसादोपचिता हि यादवा
आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥२७॥
कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः ।
अदत्तमवरुन्धीत सिंहग्रस्तमिवोरणः ॥२८॥

बलरामजीके इन वीर्य, शौर्य और बलके उत्कर्षसे पूर्ण तथा उनकी शक्तिके अनुरूप वचनोंको सुनकर कौरवगण अति कुपित हुए और कहने लगे—॥२३॥ "अहो ! यह बड़ी विचित्र बात है ! कालकी गति दुर्लङ्घ्य है, जिससे पैरोंकी जूती आज मुकुटसुशोभित शिरपर चढ़ना चाहती है॥२४॥ ये यादवगण कुन्तीके विवाहके कारण हमारे सम्बन्धी हुए हैं और हमसे ही राज्याधिकार पाकर हमारे साथ सोने-उठने-बैठने और खानेके कारण हमारी बराबरीको प्राप्त हुए हैं ॥२५॥ हमारी उपेक्षासे ही ये चमर, व्यजन, शङ्ख, श्वेत छत्र, मुकुट, राजसिंहासन और शय्यादि भोगते हैं ॥२६॥ सर्पको पिलाया हुआ दूध जैसे दुःखकारक ही होता है उसी प्रकार इन यादवोंके छत्र-चामरादि राजचिह्न अपने दाताओंके ही प्रतिकूल हैं, अब इनकी आवश्यकता नहीं है [इन्हें इनसे छीन लेना चाहिये] । बड़े शोककी बात है कि, ये यादवगण हमारी कृपासे ही इतने बढ़े और अब निर्लज्ज होकर हमें ही आज्ञा देने चले हैं ! ॥२७॥ सिंहके अधिकारकी वस्तुको जैसे भेड़ा नहीं भोग सकता वैसे ही भीष्म, द्रोण और अर्जुनादि कौरवोंके बिना दिये इन्द्र भी किसी वस्तुको कैसे भोग सकता है ?" ॥२८॥

श्रीशुक[1] उवाच

जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ ।
आश्राव्य रामं दुर्वाच्यमसभ्याः पुरमाविशन् ॥२९॥
दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वावाच्यानि चाच्युतः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे भरतश्रेष्ठ ! वे असभ्य कौरवगण कुल, कुटुम्ब और सम्पत्तिके मदसे उन्मत्त हो रहे थे, अतः बलरामजीसे ऐसे दुर्वचन कह वे नगरमें चले गये ॥२९॥ कौरवोंकी यह कुटिलता देख और उनके वे अवाच्य वचन सुन श्रीअच्युत

१. बादरायणिरुवाच ।

* यहाँ 'कालगत्या' शब्द 'कालगतिः' के अर्थमें है । 'सु' के स्थानमें 'टा' विभक्तिका प्रयोग आर्ष समझना चाहिये ।

अवोचत्कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन्मुहुः ॥३०॥

नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः ।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा ॥३१॥

अहो यदून्सुसंरब्धान्कृष्णं च कुपितं शनैः ।
सान्त्वयित्वाहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः ॥३२॥

त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।
तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाषान्मानिनोऽब्रुवन् ॥३३॥

नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः ॥३४॥

सुधर्माक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः ।
आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः ॥३५॥

यस्य पादयुगं साक्षाच्छ्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी ।
स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥३६॥

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालै-
मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ॥३७॥

भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल ।
उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरवः शिरः ॥३८॥

अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् ।
असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता ॥३९॥

अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः ।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥४०॥

बार-बार हँसते हुए कहने लगे। उस समय क्रोधके आवेशसे उनकी आकृति ऐसी उग्र हो गयी थी कि उनकी ओर देखा नहीं जाता था ॥३०॥ "सच है नाना प्रकारके मदोंसे उन्मत्त हुए दुष्टजन शान्ति रखना नहीं चाहते। अतः, पशुओंके लिये डंडेके समान उनको शान्त करनेका उपाय दण्ड ही है ॥३१॥ अहो! इन्हींकी भलाईके लिये मैं अमर्षपूर्वक युद्धके लिये तत्पर यादवोंको और क्रुद्ध हुए कृष्णको जैसे-तैसे समझा-बुझाकर यहाँ आया ॥३२॥ किन्तु ये मन्दमति कलहप्रिय दुष्ट ऐसे अभिमानी हो रहे हैं कि मेरा तिरस्कार करते हुए इन्होंने बारम्बार ऐसा कठोर भाषण किया! ॥ ३३ ॥ इन्द्रादि लोकपालगण भी जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं वे भोज, वृष्णि और अन्धकवंशीय यादवोंके अधिपति महाराज उग्रसेन इन्हें आज्ञा देनेमें समर्थ नहीं हैं! ॥३४॥ जो सुधर्मा सभामें पदार्पण करते हैं तथा देवताओंके पारिजात वृक्षको लाकर भोगते हैं उन श्रीकृष्णचन्द्रको भी मनुष्योंके राज्यासनका अधिकार नहीं है! ॥ ३५ ॥ जिनके चरणयुगलकी सेवा साक्षात् सर्वेश्वरी श्रीलक्ष्मीजी करती हैं वे लक्ष्मीपति छत्र-चामरादि राजचिह्नोंके योग्य नहीं हैं! ॥३६॥ सन्तोंद्वारा सेवित गङ्गादि तीर्थोंको भी पवित्र करनेवाली जिनकी चरणकमलरजको सम्पूर्ण लोकपालगण अपने मुकुटमण्डित मस्तकोंपर धारण किया करते हैं, तथा ब्रह्मा, महादेव, मैं (शेषनाग) और लक्ष्मीजी जिनके अंशके अंशसे उत्पन्न होकर निरन्तर उन्हींकी चरणरजको धारण करते हैं उन श्रीकृष्णचन्द्रके लिये तुच्छ राजसिंहासन ऐसी क्या बड़ी चीज है? ॥३७॥ ठीक है, यादवगण कौरवोंका दिया हुआ राज्य ही भोगते हैं! और यह भी ठीक है कि हम जूती हैं और कौरवगण साक्षात् शिर ही हैं ॥३८॥ अहो! मतवाले पुरुषोंके समान ऐश्वर्यमदसे उन्मत्त हुए इन अभिमानी कौरवोंकी ऐसी रूखी और बे-सिर-पैरकी बातोंको, इनका शासन करनेमें समर्थ कौन पुरुष सह सकता है? ॥३९॥ अतः आज मैं पृथिवीको कौरवोंसे रहित कर दूँगा।" ऐसा कह मानो त्रिलोकीको भस्म कर देंगे—इस प्रकार अमर्षयुक्त हो बलभद्रजी हल लेकर खड़े हो गये ॥ ४० ॥

लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥

और उसकी नोंकसे हस्तिनापुरको उखाड़कर अति क्रोधित हो गङ्गाजीकी ओर खींचने लगे ॥४१॥

जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥४२॥
तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीषवः ।
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम् ॥४३॥
राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदाम ते ।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् ॥४४॥
स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः ।
लोकान्क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि ॥४५॥
त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त लीलया
भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्धन् ।
अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः
शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥४६॥
कोपस्ते[2]ऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।
बिभ्रतो भगवन्सत्त्वं स्थितिपालनतत्परः ॥४७॥
नमस्ते सर्वभूतात्मन्सर्वशक्तिधराव्यय ।
विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥४८॥

हलके द्वारा खींचे हुए नगरको नौकाके समान घूमकर गङ्गाजीमें गिरते देख कौरवगण घबड़ा उठे ॥४२॥ और लक्ष्मणाके सहित साम्बको आगेकर अपने प्राण बचानेके लिये परिवारसहित अति विनीत-भावसे हाथ जोड़े उन्हींकी शरणमें गये ॥४३॥ तथा कहने लगे—"हे राम ! हे राम ! हे सम्पूर्ण जगत्के आधार ! हम आपका प्रभाव नहीं जानते । प्रभो ! हम मूढ़ और कुबुद्धियोंका अपराध क्षमा कीजिये ॥४४॥ एकमात्र आप ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण हैं । आपका कोई और आधार नहीं है । हे ईश ! जिस समय आप क्रीडा करते हैं उस समय सम्पूर्ण लोक ही आपके खिलौने होते हैं—ऐसा मुनिजन कहते हैं ॥४५॥ हे सहस्रमूर्धन् ! हे अनन्त ! आप ही इस सम्पूर्ण भूमण्डलको लीलासे अपने मस्तकपर धारण करते हैं तथा प्रलयकालमें जो सम्पूर्ण जगत्को अपनेमें लीन कर बच रहते हैं वे शेषशायी अद्वितीय नारायण भी आप ही हैं ॥४६॥ भगवन् ! आप जगत्की स्थिति और पालनमें तत्पर रहते हैं, इसलिये शुद्ध सत्त्वको धारण करनेवाले हैं । आपका क्रोध सब प्राणियोंको शिक्षा देनेके लिये ही होता है; द्वेष या मत्सरके कारण नहीं होता ॥४७॥ हे सर्वभूतात्मन् ! हे सर्वशक्तिधर ! हे अव्यय ! हे विश्वकर्मन् ! आपको नमस्कार है । हम आपके शरणागत हैं" ॥४८॥

श्रीशुक[3] उवाच

एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः ।
प्रसादितः सुप्रसन्नो मा भैष्टेत्यभयं ददौ ॥४९॥
दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान्षष्टिहायनान् ।
ददौ च[4] द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान् ॥५०॥
रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥५१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जिनके भवन डगमगा रहे हैं और जो अत्यन्त उद्विग्न होकर शरणमें आये हैं उन कौरवोंद्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जानेपर श्रीबलरामजीने प्रसन्न होकर 'डरो मत' ऐसा कहकर उन्हें अभय दान दिया ॥ ४९ ॥ तब पुत्रीवत्सल दुर्योधनने लक्ष्मणाके दहेजमें साठवर्षकी अवस्थावाले बारहसौ हाथी, दस हजार घोड़े, सूर्यके समान तेजस्वी सुवर्णमण्डित छः हजार रथ और गलेमें पदक धारण करनेवाली एक हजार दासियाँ दीं ॥५०-५१॥

१. स्वधीश्वरः । २. स्ते खलु शिक्षा० । ३. बादरायणिरुवाच । ४. द्विशतसाहस्रं हयानामयुतानि च ।

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं भगवान्सात्वतर्षभः ।
ससुतः सस्नुषः प्रागात्सुहृद्भिरभिनन्दितः ॥५२॥
ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः
समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः ।
शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां
मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥
अद्यापि च पुरं ह्येतत्सूचयद्रामविक्रमम् ।
समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनुदृश्यते ॥५४॥

तब यादवोंमें श्रेष्ठ श्रीबलरामजी वह सब सामग्री ले पुत्र साम्ब और पुत्रवधू-लक्ष्मणाके सहित बन्धु-बान्धवोंसे सत्कृत हो द्वारकापुरीको गये ॥५२॥ वहाँ पहुँचकर श्रीहलधर अपने अनुरक्तचित्त स्वजनोंसे मिले और उन यादवश्रेष्ठोंकी सभामें, उन्होंने कुरुदेशमें जो कुछ चरित्र किया था वह कह सुनाया ॥५३॥ इस समय भी हस्तिनापुर श्रीबलरामजीके पराक्रमकी सूचना देता हुआ दक्षिणकी ओरसे ऊँचा और गङ्गाजीकी ओर झुका हुआ दिखायी देता है ॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
हास्तिनपुरकर्षणरूपसङ्कर्षणविजयो नामा-
ष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

उनहत्तरवाँ अध्याय

देवर्षि नारदका भगवान्‌की गृहचर्या देखना ।

श्रीशुक उवाच[2]

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम् ।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद्दिदृक्षुः स्म नारदः ॥ १ ॥
चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत्पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्[3] ॥ २ ॥
इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ।
पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम् ॥ ३ ॥
उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकह्लारकुमुदोत्पलैः ।
छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥ ४ ॥
प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः ।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥ ॥ ५ ॥
विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः
शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! नरकासुरके वध और अकेले कृष्णचन्द्रका बहुत-सी स्त्रियोंके साथ विवाह होनेका समाचार सुन नारदजीको भगवान्‌की गृहचर्या देखनेकी इच्छा हुई ॥ १ ॥ वे सोचने लगे—'यह बड़ी विचित्र बात है कि भगवान्‌ने एक ही शरीरसे पृथक्-पृथक् गृहोंमें एक साथ ही सोलह सहस्र स्त्रियोंसे विवाह कर लिया, ॥ २ ॥ इस प्रकार कृष्णलीलाको देखनेके लिये अति उत्सुक हो देवर्षि नारदजी फूले हुए बाग-बगीचोंसे सुशोभित और पक्षियों तथा भ्रमरोंके कलरवसे गुञ्जायमान द्वारकापुरीमें आये ॥ ३ ॥ वह पुरी खिले हुए इन्दीवर, अम्भोज, कह्लार, कुमुद और उत्पलोंसे सङ्कीर्ण सरोवरोंमें हंस-सारसादि जलपक्षियोंसे कूजित थी ॥ ४ ॥ तथा सुवर्ण और रत्नमय वस्तुओंसे पूर्ण एवं महामरकतमणिके समान उज्ज्वल स्फटिक और चाँदीके नौ लाख राजमन्दिरोंसे शोभायमान थी ॥५॥ अलग-अलग गली, मार्ग, चौराहे, हाट, शाला, सभा और देवालयोंके कारण वह बहुत भली मालूम होती थी ।

१. न्धे बलदेवविजयोऽष्ट० । २. बादरायणिरुवाच । ३. उवाह यत् ।

संसिक्तमार्गाङ्गणवीथिदेहलीं[1]
पतत्पताकाध्वजवारितातपाम्[2] ॥ ६ ॥

उसके मार्ग, चौक, गलियों और देहलियोंपर छिड़काव किया गया था तथा उड़ती हुई ध्वजा और पताकाएँ वहाँ घामका निवारण किया करती थीं ॥ ६ ॥

तस्यामन्तःपुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः ।
हरेः[3] स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम् ॥ ७ ॥
तत्र षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतम् ।
विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ॥ ८ ॥

उसी द्वारकापुरीमें श्रीहरिका उनकी पत्नियोंके सोलह हजार महलोंसे सुशोभित समस्त लोकपालोंसे पूजित परम श्रीसम्पन्न रनिवास था जिसकी रचनामें विश्वकर्माने अपना शिल्पचातुर्य पूर्णरूपसे प्रकट किया था। उनमेंसे एक विशाल भवनमें श्रीनारदजीने प्रवेश किया ॥ ७-८ ॥

विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैर्वैदूर्यफलकोत्तमैः ।
इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या[4] चाहतत्विषा ॥ ९ ॥

वह घर मूँगेके खम्भों, वैदूर्यकी बनी हुई उत्तम चौखटों, इन्द्रनीलमणिकी दीवारों और जिसकी कान्ति कभी फीकी नहीं पड़ती ऐसी इन्द्रनीलमणिमयी भूमिसे सुशोभित था ॥ ९ ॥

वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।
दान्तैरासनपर्यङ्कैर्मण्युत्तमपरिष्कृतैः ॥ १० ॥

और विश्वकर्माके बनाये हुए मोतियोंकी झालरोंसे युक्त चँदोवोंसे तथा उत्तम मणियोंसे जड़े हुए हाथीदाँतके आसन और पलंगोंसे सुसज्जित था ॥ १० ॥

दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम् ।
पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीष[5]सुवस्त्रमणिकुण्डलैः ॥ ११ ॥

सुन्दर वस्त्र और गलेमें पदक पहने हुए बहुत-सी दासियाँ और मणिमय कुण्डल तथा जामा-पगड़ीसे सुशोभित परिचारकगण उसे और भी शोभायमान कर रहे थे ॥ ११ ॥

रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्त-
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥ १२ ॥

रत्नमयी दीपावलीकी जगमगाहटसे उसमें कहीं अन्धकारका नाम भी न था, उसके छज्जोंपर बैठे हुए मयूरगण झरोखोंसे निकलते हुए अगुरुके धूएँको देखकर उसे मेघ समझकर जोर-जोरसे केकारव करते हुए नाँच रहे थे ॥ १२ ॥

तस्मिन्समानगुणरूपवयस्सुवेष-
दासीसहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या ।
विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्म-
दण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥ १३ ॥

उस भवनमें श्रीनारदजीने यदुनाथ श्रीकृष्णको उनकी गृहिणी रुक्मिणीजीके साथ देखा जो कि अपने ही समान गुण, रूप, अवस्था और वेषवाली दश सहस्र दासियोंसे युक्त थीं और सोनेकी डाँड़ीवाला चमर डुलाकर निरन्तर भगवान्‌की सेवा कर रही थीं ॥ १३ ॥

तं सन्निरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितः श्री-
पर्यङ्कतः सकलधर्मभृतां वरिष्ठः ।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-
जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ॥ १४ ॥

नारदजीको देखते ही सम्पूर्ण धार्मिकोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र रुक्मिणीजीके पलंगसे सहसा उठ खड़े हुए और उनके चरणोंमें अपना मुकुटमण्डित शिर झुकाकर प्रणाम करते हुए उन्हें हाथ जोड़कर अपने आसनपर बैठाया ॥ १४ ॥

---

१. थिशोभां । २. प्रा० प्रतिमें '...वारितातपाम् ॥' इस श्लोकके बाद 'उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकह्लारकुमुदोत्पलैः । छुरितषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥ पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम् ।' इस डेढ़ श्लोकका पाठ है, इसके पहले नहीं । ३. सर्वविस्मापकं यत्रात्त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन निर्मितम् । ४. र्जलैर्मरकतोत्तमैः । ५. षैः सुवासोमणि० ।

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना
बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि ।
ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं
तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम् ॥१५॥
सम्पूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो
नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं
प्राह प्रभो भगवते करवामहे किम् ॥१६॥

नारद उवाच

नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे
मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम् ।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥१७॥
दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥१८॥

ततोऽन्यदाविशद्गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।
योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया ॥१९॥
दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च ।
पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥२०॥
पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदायातो भवानिति ।
क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥२१॥
अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मञ्जन्मैतच्छोभनं कुरु ।
स तु विस्मित उत्थाय तूष्णीमन्यदगाद्गृहम् ॥२२॥
तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुतान्छिशून्[1] ।

जिनका चरणोदक [श्रीगङ्गाजीके रूपमें] सबको पवित्र करनेवाला है तथा जो स्वयं सम्पूर्ण जगत्‌के परम गुरु और सत्पुरुषोंके स्वामी हैं उन श्रीहरिने नारदजीके पाँव पखारकर वह जल अपने शिरपर चढ़ाया । उनका 'ब्रह्मण्यदेव नाम' उनके गुणके अनुरूप और उचित ही है ॥१५॥ इस प्रकार नरके सखा आदि ऋषि नारायणने देवर्षिश्रेष्ठ नारदकी विधिपूर्वक पूजा कर और उनसे अमृतके समान मधुर और स्वल्प वाणीसे सम्भाषण कर कहा—"प्रभो ! कहिये हम आपकी क्या सेवा करें" ? ॥१६॥

श्रीनारदजी बोले—हे विभो ! आप सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं । अपने भक्तोंके प्रति मैत्री और दुष्टोंका दमन करना—ये दोनों आपके स्वभाव ही हैं, अतः कोई आश्चर्य नहीं है । हे महायशस्विन् ! हम भली प्रकार जानते हैं, आपने जगत्‌की स्थिति और रक्षा करके उसका कल्याण करनेके लिये ही स्वेच्छापूर्वक यह अवतार लिया है ॥१७॥ जो संसारको मोक्ष देनेवाले, अगाधबोध ब्रह्मादिकद्वारा हृदयमें चिन्तनीय तथा संसारकूपमें गिरे हुए पुरुषको उससे बाहर निकालनेमें एक मात्र अवलम्बन हैं उन आपके चरणयुगलका आज मुझे दर्शन हुआ है । अब ऐसी कृपा कीजिये जिससे मैं उनका स्मरण करता हुआ विचरूँ और निरन्तर मुझे उनकी स्मृति बनी रहे ॥१८॥

हे तात ! तदनन्तर योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् कृष्णकी योगमायाको देखनेके लिये श्रीनारदजी उनकी दूसरी पत्नीके भवनमें गये ॥ १९ ॥ वहाँ भगवान् अपनी प्रिया और उद्धवजीके साथ चौसर खेल रहे थे । वहाँ भी प्रत्युत्थान और आसनादिके द्वारा नारदजीका भली प्रकार सत्कार किया गया ॥ २० ॥ तथा भगवान्‌ने, अनजानकी भाँति उनसे इस प्रकार पूछा—"कहिये, आप कब पधारे ? आप आप्तकामकी हम सकामलोग क्या सेवा कर सकते हैं ? ॥ २१ ॥ फिर भी हमें कुछ सेवा बतलाकर हमारा जन्म सफल कीजिये ।" यह सुन श्रीनारदजी आश्चर्यचकित हो चुपचाप उठकर दूसरे घरमें गये ॥ २२ ॥ वहाँ भी उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रको अपने अल्पवयस्क बालकोंको

[1] शिशून् सुतान् ।

ततोऽन्यस्मिन्गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥२३॥
जुह्वन्तं च वितानाग्नीन्यजन्तं पञ्चभिर्मखैः ।
भोजयन्तं द्विजान्क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ॥२४॥
क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।
एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥२५॥
अश्वैर्गजै रथैः क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।
क्वचिच्छयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च बन्दिभिः ॥२६॥
मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः ।
जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम् ॥२७॥
कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलङ्कृताः ।
इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं[1] मङ्गलानि च ॥२८॥
हसन्तं हास्यकथया कदाचित्प्रियया गृहे ।
क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥२९॥
ध्यायन्तमेकमासीनं[2] पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
शुश्रूषन्तं गुरून्क्वापि कामैर्भोगैः[3] सपर्यया ॥३०॥
कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित्सन्धिं चान्यत्र केशवम् ।
कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ॥३१॥
पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपयापनम् ।
दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः ॥३२॥
प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान् ।
वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ॥३३॥
यजन्तं सकलान्देवान्क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः ।

प्यार करते देखा। फिर दूसरे घरमें गये तो उन्हें स्नानकी तैयारी करते देखा ॥ २३ ॥ इसी प्रकार उन्हें कहीं यज्ञाग्नियोंमें हवन करते हुए, कहीं पञ्चमहायज्ञोंसे देवताओंकी आराधना करते हुए, कहीं ब्राह्मणोंको भोजन कराते हुए, कहीं यज्ञशिष्टान्नका भोजन करते हुए, कहीं सन्ध्योपासन करते हुए, कहीं मौन धारण कर गायत्रीका जप करते हुए, कहीं ढाल-तलवार लेकर तलवार चलानेकी रीति दिखाते हुए, कहीं घोड़े, हाथी और रथोंपर चढ़कर विचरते हुए, कहीं बन्दीजनद्वारा स्तुति किये जाते हुए कहीं पलंगपर शयन करते हुए, कहीं उद्धवादि मन्त्रियोंके साथ सलाह करते हुए, कहीं स्त्रियोंसे घिरकर जलक्रीडा करते हुए, कहीं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भली प्रकार सजायी हुई गौएँ दान करते हुए और कहीं इतिहास-पुराण तथा स्वस्तिवाचन आदि सुनते हुए देखा ॥ २४—२८ ॥ कहीं देखा कि भगवान् अपनी प्रियाके साथ हँसीकी बातें कर हँस रहे हैं, कहीं धर्मका पालन कर रहे हैं और कहीं काम और अर्थ सञ्चय कर रहे हैं ॥ २९ ॥ कहीं देखा कि भगवान् कृष्ण एकान्तमें बैठे अपने ही स्वरूप, प्रकृतिसे अतीत पुराणपुरुषका ध्यान कर रहे हैं और कहीं नानाप्रकारके इच्छित पदार्थ और भोगसामग्री समर्पणकर गुरुजनोंकी सेवा कर रहे हैं ॥ ३० ॥ इसी प्रकार कहीं किसीके साथ विग्रह और किसीके साथ सन्धि करते हुए, कहीं बलरामजीके साथ सत्पुरुषोंके कल्याणके विषयमें परामर्श करते हुए, कहीं समय-समयपर पुत्र और कन्याओंका उनके सदृश स्त्री और वरोंके साथ बड़ी धूमधामसे विधिवत् विवाह करते हुए और कहीं कन्याओंको विदा करने तथा अन्यत्रसे बुलाने और बालकोंके जन्मदिवस आदि मनानेके महोत्सव करते देखा। योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान्‌के उन विचित्र महोत्सवोंको देखकर सम्पूर्ण लोक विस्मित हो जाते थे ॥३१—३३॥ कहीं देखा कि भगवान् बड़े-बड़े यज्ञोंसे सकल देवताओंका यजन

१. गायन्तं। २. ध्यायन्नास्ते क्व चात्मानं। ३. मभोगै०।

पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं कूपाराममठादिभिः ॥३४॥
चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।
घ्नन्तं ततः पशून्मेध्यान्परीतं यदुपुङ्गवैः ॥३५॥
अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।
क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया ॥३६॥
अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम्[1] ॥३७॥
विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि मायिनाम् ।
योगेश्वरात्मन्निर्भाता भवत्पादनिषेवया ॥३८॥
अनुजानीहि मां देव लोकांस्ते यशसाप्लुतान् ।
पर्यटामि तवोद्गायँल्लीलां भुवनपावनीम् ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन्धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ॥४०॥

श्रीशुक उवाच

इत्याचरन्तं सद्धर्मान्पावनान्गृहमेधिनाम् ।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ॥४१॥
कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद्विस्मितो जातकौतुकः ॥४२॥
इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना ।
सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन्ययौ ॥४३॥
एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो
नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।
रेमेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गनानां
सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः ॥४४॥

कर रहे हैं, कहीं कुएँ बगीचे और धर्मशाला आदि बनवाकर पूर्त-धर्मोंका आचरण कर रहे हैं, कहीं सिन्धुदेशीय घोड़ेपर चढ़कर अन्य यादवश्रेष्ठोंके साथ यज्ञके निमित्त मृगया कर रहे हैं और कहीं प्रजा तथा अन्तःपुरमें वहाँके निवासियोंका भाव जाननेके लिये योगेश्वर कृष्ण वेष बदलकर विचर रहे हैं ॥ ३४–३६ ॥

इस प्रकार मानुषी लीला करते हुए भगवान् हृषीकेशकी योगमायाका ऐश्वर्य देख श्रीनारदजीने उनसे हँसते हुए कहा—॥ ३७ ॥ "हे योगेश्वर ! हे आत्मन् ! मैं जानता हूँ, आपकी योगमाया ब्रह्मादिक मायावियोंको भी दिखायी देनी कठिन है, आपके चरणोंके सेवनसे ही वह मुझे भासित हुई है ॥ ३८ ॥ हे देव ! आप मुझे ऐसी आज्ञा दीजिये जिससे मैं आपके सुयशसे पूर्ण लोकोंमें आपकी त्रिभुवनपावनी लीलाओंका गान करता हुआ विचरूँ" ॥ ३९ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन् ! मैं धर्मका कहनेवाला, करनेवाला और अनुमोदन करनेवाला हूँ । संसारको धर्ममार्गकी शिक्षा देनेके लिये ही मैं इस प्रकार आचरण करता हूँ; अतः हे वत्स ! तुम मेरी योगमाया देखकर मोहित मत हो ॥ ४० ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार नारदजीने सब घरोंमें एक ही कृष्णचन्द्रको गृहस्थोंके परमपवित्र सद्धर्मोंका आचरण करते देखा ॥ ४१ ॥ अनन्तवीर्य भगवान् कृष्णकी योगमायाका वैभव बारम्बार देखकर देवर्षि नारद कौतुकवश विस्मित हो गये ॥ ४२ ॥ इस प्रकार अर्थ, धर्म और काममें जिनकी अत्यन्त श्रद्धा है उन कृष्णचन्द्रसे सम्मानित हो नारदजी प्रसन्न चित्तसे उन्हींका स्मरण करते हुए चले गये ॥ ४३ ॥

इस प्रकार जिन्होंने सम्पूर्ण जगत्के उत्कर्षके लिये ही अपनी मायाशक्तिको स्वीकार किया है उन श्रीनारायणदेवने मनुष्यलीलाका अनुकरण करते हुए सोलह सहस्र सुन्दरियोंके सलज्ज प्रणयकटाक्ष और मुसकानसे सत्कृत होते हुए उनके साथ रमण किया ॥ ४४ ॥

१. षीमानयन्नतिम् ।

यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार ।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा
भक्तिर्भवेद्भगवति ह्यपवर्गमार्गे ॥४५॥

विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके एकमात्र कारण श्रीहरिने, दूसरे किसीसे न किये जाने योग्य, जो-जो कर्म किये हैं, हे प्रिय ! उन्हें जो कोई गाता, सुनता या अनुमोदन करता है उसकी मोक्षदायक भगवान्‌में भक्ति होती है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
कृष्णगार्हस्थ्यदर्शनं नामैकोनसप्तति-
तमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

सत्तरवाँ अध्याय

भगवान्‌की नित्य-चर्या तथा उनके पास जरासन्धके कैदी नरेशोंके दूतका आना ।

श्रीशुक[2] उवाच

अथोपस्युपवृत्तायां कुक्कुटान्कूजतोऽशपन् ।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः ॥ १ ॥
वयांस्यरूरुवन्कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः ।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥ २ ॥
मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम् ।
परिरम्भणविश्लेषात्प्रियबाह्वन्तरं गता ॥ ३ ॥
ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥ ४ ॥
एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं[3]
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥ ५ ॥
अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥ ६ ॥
उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार उषाकाल व्यतीत होनेपर जब कुक्कुट (मुर्गे) कूजने लगे तो भगवान्‌से आलिङ्गित कृष्णप्रियाएँ प्रियतमके वियोगकी आशङ्कासे व्याकुल हो उन (मुर्गों) को भला-बुरा कहने लगीं ॥ १ ॥ उस समय पारिजात वनकी वायुसे आकर्षित होकर गुञ्जार करते हुए भौंरोंके शब्दसे जागे हुए पक्षिगण, मानो सूत और मागधोंके समान कृष्णचन्द्रको जगाते हुए बड़ी चहचहाहट करने लगे ॥ २ ॥ किन्तु प्रियतमकी भुजाओंके बीचमें पड़ी हुई रुक्मिणी आलिङ्गन-विश्लेषके भयके कारण उस अतिमनोहर कालको भी सहन नहीं कर सकी ॥ ३ ॥ इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र ब्राह्ममुहूर्तमें उठ हाथ-मुँह धो स्वस्थेन्द्रिय हो अपने मायातीत, अखण्ड, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय एवं अविनाशी स्वरूपसे नित्य-निर्मल तथा जगत्‌की उत्पत्ति और नाशादिकी हेतुभूता स्वशक्तियोंसे लक्षित होनेवाले सदानन्दरूप ब्रह्मनामक आत्माका चिन्तन करने लगे ॥ ४-५ ॥ तदनन्तर, स्वच्छ जलमें विधिवत् स्नान कर, वस्त्र पहन सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्रने विधिपूर्वक सन्ध्योपासनादि कर्म किये और अग्निहोत्र कर मौन हो गायत्रीका जप करने लगे ॥ ६ ॥ फिर उदय होते हुए सूर्यदेवको प्रणाम कर महामनस्वी भगवान् कृष्णने अपने ही अंशरूप देव,

१. न्धे एकोन० । २. बादरायणिरुवाच । ३. मद्वयं ।

देवानृषीन्पितॄन्वृद्धान्विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥ ७ ॥
धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ॥ ८ ॥
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह ।
अलङ्कृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने ॥ ९ ॥
गोविप्रदेवतावृद्धगुरून्भूतानि सर्वशः ।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥१०॥
आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् ।
वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यस्रगनुलेपनैः ॥११॥
अवेक्ष्याज्यं तथादर्शं गोवृषद्विजदेवताः ।
कामांश्च सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम् ।
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥१२॥
संविभज्याग्रतो विप्रान्स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ।
सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् ॥१३॥
तावत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।
सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥१४॥

गृहीत्वा पाणिना पाणी सारथेस्तमथारुहत् ।
सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ॥१५॥
ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः ।
कृच्छ्राद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन्मनः ॥१६॥
सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।

ऋषि और पितरोंका तर्पण करके वृद्ध और ब्राह्मणोंके साथ उनका पूजन किया ॥ ७ ॥ तथा वस्त्राभूषणोंसे भली प्रकार सुसज्जित किये ब्राह्मणोंको रेशमी वस्त्र, मृगचर्म और तिलोंके सहित बड़ी सीधी, दूध देनेवाली, पहले बारकी ब्यायी हुई और बछड़ोंवाली गौएँ दान कीं जिनके सींग सुवर्णसे और खुर चाँदीसे मँढ़े होते थे, गलेमें मोतियोंकी मालाएँ पड़ी रहती थीं और जो सुन्दर वस्त्रों (झूलों) से विभूषित होती थीं इस प्रकार वे प्रतिदिन एक-एक बद्व * (१३०८४) गौएँ दान करते थे ॥ ८-९ ॥ फिर उन्होंने अपनी विभूतिरूप गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध, गुरु और समस्त प्राणियोंको प्रणाम कर [कपिला गौ आदि] माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श किया ॥१०॥ तदनन्तर अपने नरलोकविभूषण दिव्य विग्रहको पीताम्बरादि वस्त्राभूषणोंसे तथा दिव्य माला और चन्दनादिसे विभूषित किया ॥ ११ ॥ और घृत तथा दर्पणमें मुख देख गौ, बैल, ब्राह्मण और देवताओंका दर्शन किया तथा नगर और अन्तःपुरमें रहनेवाले सब वर्णोंको एवं मन्त्रियोंको उनके इच्छित पदार्थोंसे सन्तुष्ट कर आनन्द प्राप्त किया ॥ १२ ॥ तदनन्तर माला, ताम्बूल और चन्दनादि भोगसामग्रियोंको पहले ब्राह्मण, सुहृद्, मन्त्री और स्त्रियोंको बाँटकर फिर स्वयं स्वीकृत किया ॥ १३ ॥ इतनेहीमें दारुक सारथी सुग्रीवादि अश्वोंसे युक्त भगवान्‌का अति अद्भुत रथ ले आया और प्रभुको प्रणाम कर सामने खड़ा हो गया ॥ १४ ॥

रथको आया देख भगवान् सारथीके हाथमें हाथ डालकर सात्यकि और उद्धवके सहित, उदयाचलपर आरूढ हुए सूर्यदेवके समान, उसपर सवार हुए ॥१५॥ और अन्तःपुरकी स्त्रियोंद्वारा सलज्ज प्रणयकटाक्षसे देखे जाते हुए कुछ हँसी आ जानेसे उनका चित्त चुराकर उनसे बड़ी कठिनतासे विदा हो [राजसभाको] चले ॥ १६ ॥ हे तात ! फिर भगवान्‌ने समस्त यादवोंसे घिरे हुए सुधर्मा नामकी सभामें प्रवेश किया

१. वृद्धान् गुरू० । २. त्मनो भूती० । ३. वीक्षणैः ।

* बद्वसंख्याके विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

चतुर्दशानां लक्षाणां सप्ताधिकशतांशकः । बद्वं चतुरशीत्यग्रसहस्राणि त्रयोदश ॥

अर्थात् चौदह लाखका एक सौ सातवाँ भाग तेरह हजार चौरासीकी संख्या एक 'बद्व' कहलाती है ।

प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्मयः ॥१७॥

जिसमें प्रवेश करनेवालेको कभी [क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु—ये] छः ऊर्मियाँ नहीं सतातीं ॥ १७ ॥

तत्रोपविष्टः परमासने विभु-
र्बभौ[1] स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो
यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ॥१८॥

तत्रोपमन्त्रिणो राजन्नानाहास्यरसैर्विभुम् ।
उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक् ॥१९॥
मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः ।
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधवन्दिनः ॥२०॥
तत्राहुर्ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ।
पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन्कथाः ॥२१॥

उस सुधर्मा सभामें अन्य यदुवंशी नरश्रेष्ठोंसे घिरकर एक उत्तम राजसिंहासनपर बैठे हुए यदुश्रेष्ठ भगवान् कृष्ण, अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको उज्ज्वल करते हुए ऐसे शोभायमान हुए जैसे आकाशमें नक्षत्रोंसे घिरे हुए निशानाथ चन्द्रदेव सुशोभित होते हैं ॥ १८ ॥ हे राजन् ! वहाँ हास्य करनेमें कुशल उपमन्त्रीगण नाना प्रकारकी हास्यरसपूर्ण बातोंसे भगवान्‌की उपासना करने लगे तथा नटाचार्य और नर्तकियाँ अलग ही मृदङ्ग, वीणा, मुरज और बाँसुरीके लय और शङ्खकी ध्वनिके अनुसार नाचने-गाने लगीं तथा सूत, मागध एवं बन्दीजन उनकी स्तुति करने लगे ॥ १९-२० ॥ वहाँ बैठे हुए कुछ वेदवादी ब्राह्मणगण वेदमन्त्रोंकी व्याख्या करने लगे तथा पूर्वकालीन पवित्रकीर्ति राजाओंकी कथा कहने लगे ॥ २१ ॥

तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः ।
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥२२॥
स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।
राज्ञामावेदयद्दुःखं जरासन्ध[2]निरोधजम् ॥२३॥
ये च दिग्विजये तस्य सन्नतिं न ययुर्नृपाः ।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥२४॥
कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्प्रपन्नभयभञ्जन ।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥२५॥
लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं[3] त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥२६॥

हे राजन् ! इसी समय वहाँ एक पुरुष आया, जो पहले कभी नहीं देखा गया था । भगवान्‌को उसके आनेकी सूचना दी जानेपर उनकी आज्ञासे द्वारपालोंने उसे सभामें उपस्थित किया ॥ २२ ॥ सभामें पहुँचकर उसने परमेश्वर भगवान् कृष्णको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनसे जरासन्धकी कैदमें पड़े हुए राजाओंका कष्ट निवेदन किया ॥२३॥ जरासन्धके दिग्विजयके समय जिन्होंने उसके आगे शिर नहीं झुकाया उन बीस हजार राजाओंको उसने बलात्कारसे अपने गिरिव्रजनामक दुर्गमें बन्द कर रखा था ॥ २४ ॥ उनका सन्देश दूतने इस प्रकार सुनाया—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अप्रमेयात्मन् ! हे शरणागतभयभञ्जन ! हम भेदबुद्धिवाले संसारभयसे डरकर आपकी शरण हैं ॥२५॥ यह जीव आपके बतलाये हुए आपके पूजनरूप कल्याणकारी कर्मसे विमुख होकर काम्यकर्मोंमें रत रहता है उसी बीचमें जो इस विमूढ जीवकी जीवनाशाको तुरन्त नष्ट कर डालते हैं उन महाबलवान् नित्यसावधान कालरूप आपको नमस्कार है ॥२६॥

१. भो विराजयन् । २. सन्धविरो० । ३. ण्यपि ।

लोके भवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।
कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेशमीश
किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥२७॥
स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं
क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२८॥
तन्नो भवान्प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो
बद्धान्वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको
बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥२९॥
यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि॥३०॥

आप जगदीश्वर हैं, आपने सत्पुरुषोंकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये ही इस लोकमें अपनी कलाओंके सहित अवतार लिया है । हे ईश! '[इतनेपर भी यदि हमें कष्ट भोगना पड़ता है तो] क्या कोई दूसरा बलवान् पुरुष आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर सकता है, अथवा मनुष्य [आपसे रक्षित होनेपर भी] अपने कियेका फल भोगता ही है ?' स हम नहीं जानते * ॥ २७ ॥ हे ईश ! निष्काम पुरुषोंको आपहीसे अपने अन्तःकरणमें प्राप्त होनेवाले स्वतःसिद्ध सुखको छोड़कर आपकी मायासे दीन हुए हम अत्यन्त कष्ट उठा रहे हैं; क्योंकि प्रारब्धाधीन होनेसे जो परतन्त्र और स्वप्नके समान है उस राजसुखको पानेकी हम इच्छा करते हैं और जिसमें निरन्तर भय है उस मृतकतुल्य शरीरसे केवल स्त्री-पुत्रादिकी चिन्ताका भार वहन करते हैं ॥ २८ ॥ प्रभो ! आपके चरणयुगल शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले हैं; अतः आप ही जरासन्धरूप कर्मबन्धनसे बँधे हुए हमलोगोंको छुड़ाइये। जिस (जरासन्ध)ने अकेले ही दश सहस्र हाथियोंका बल रखनेके कारण हमें, भेड़ोंको सिंहके समान, अपने भवनमें कैद कर रक्खा है ॥ २९ ॥ हे उदात्तचक्र ! इस जरासन्धने आपके साथ अठारह बार युद्ध किया, उसमें सत्रह बार मानमर्दन हो जानेपर भी जब अठारहवीं बार मनुष्यलीलामें निरत अनन्त पराक्रमी आपको एक बार जीत लिया तबसे अति गर्वित हो यह आपकी प्रजारूप हमको अत्यन्त कष्ट देने लगा है । हे अजित ! अब आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें" ॥ ३० ॥

दूत उवाच

इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः ।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ॥३१॥

दूत बोला—भगवन् ! इस प्रकार मगधराज जरासन्धसे बन्दी बनाये हुए आपके दर्शनाभिलाषी राजाओंने आपके चरणोंकी शरण ली है । कृपया उन दीनोंका कल्याण कीजिये ॥ ३१ ॥

श्रीशुक उवाच

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः ।
बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ॥३२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! दूतके इस प्रकार प्रार्थना करते ही पिङ्गलवर्ण जटाजूटधारी परमतेजस्वी देवर्षि नारदजी वहाँ सूर्यके समान प्रकट हुए ॥३२॥

* अर्थात् हम जो आपके भक्त होकर भी कष्ट पा रहे हैं उसका क्या कारण है, सो हमारी समझमें नहीं आता—न जाने जरासन्ध आपकी इच्छाका अतिक्रमण करके ही यह अत्याचार कर रहा है, अथवा हम ही आपके रक्षा करनेपर भी दुर्भाग्यवश यह कष्ट उठा रहे हैं—सो हमें पता नहीं ।

तं दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः ।
ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा ॥३३॥
सभाजयित्वा विधिवत्कृतासनपरिग्रहम् ।
बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन्मुनिम् ॥३४॥
अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम् ।
ननु भूयान्भगवतो लोकान्पर्यटतो गुणः ॥३५॥
न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु ।
अथ पृच्छामहे युष्मान्पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥३६॥

उन्हें देखते ही समस्त लोकपालोंके प्रभु भगवान् कृष्णने सम्पूर्ण सभासद और अनुचरगणके सहित उठकर प्रसन्नतापूर्वक शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ ३३ ॥ फिर विधिपूर्वक आसनादि देकर उनका सत्कार किया और अपनी श्रद्धासे मुनिवरको सन्तुष्ट करते हुए मधुर वाणीसे कहा—॥ ३४ ॥ "नारदजी ! इस समय तीनों लोकोंको किसीसे भय तो नहीं है ? आप तीनों लोकोंमें विचरते हैं, इससे हमें यह बड़ा लाभ है कि सब लोकोंका वृत्तान्त मिल जाता है ॥ ३५ ॥ ईश्वरके रचे हुए तीनों लोकोंमें ऐसी कोई बात नहीं है जो आपको विदित न हो । अतः हम आपसे पूछते हैं कि पाण्डवगण क्या करना चाहते हैं ?" ॥ ३६ ॥

श्रीनारद उवाच

दृष्टा मया ते बहुशो दुरत्यया
माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः ।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभि-
र्वह्नेरिवच्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥३७॥
तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं
स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ।
यद्विद्यमानात्मतयावभासते
तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥३८॥
जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं
न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।
लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं
प्राज्वालयत्त्वा तमहं प्रपद्ये ॥३९॥
अथाप्याश्रावये ब्रह्म नरलोकविडम्बनम् ।
राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥४०॥
यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवाननुमोदताम् ॥४१॥

श्रीनारदजी बोले—हे विभो ! हे भूमन् ! आप विश्वके रचयिता और महामायावी हैं, मैंने आपकी दुस्तर मायाको बहुत बार देखा है । जिस प्रकार ईंधनमें ज्वालाहीन अग्नि प्रच्छन्नभावसे रहता है उसी प्रकार आप अपनी मायाशक्तिसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त रहते हैं । आपका यह प्रश्न मेरे लिये कोई विचित्र बात नहीं है ॥ ३७ ॥ प्रभो ! जो मिथ्या होनेपर भी सत्य-सा प्रतीत होता है उस प्रपञ्चको अपनी मायासे रचने और लय करनेवाले आप परमेश्वरके अभिप्रायको कौन पुरुष भली प्रकार जान सकता है ? अतः आप अचिन्त्यमूर्तिको केवल नमस्कार है ॥ ३८ ॥ जिन आपने अनर्थप्रवर्तक शरीरसे मुक्त होनेके उपायको न जाननेके कारण संसारचक्रमें भ्रमते हुए जीवको मुक्त करनेके लिये अनेकों लीलावतार ग्रहणकर अपना सुयशरूप दीपक प्रज्वलित किया है उन आपकी मैं शरण हूँ ॥ ३९ ॥ प्रभो ! आप ब्रह्म हैं [आपसे कोई बात छिपी नहीं है] किन्तु इस समय मनुष्यलीलाका अनुकरण कर रहे हैं, अतः मैं आपकी फूआके पुत्र भक्त राजा युधिष्ठिरको जो कुछ करनेकी इच्छा है सो सुनाऊँगा ॥ ४० ॥ पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर चक्रवर्तित्व-की कामनासे राजसूय-यज्ञद्वारा आपका यजन करने-वाले हैं; आप उसका अनुमोदन कीजिये ॥ ४१ ॥

तस्मिन्देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः ।
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥४२॥
श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात्पूयन्तेऽन्तेवसायिनः ।
तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ॥४३॥

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ॥४४॥

हे देव ! उस श्रेष्ठ यज्ञमें सम्पूर्ण देवतादि और बड़े-बड़े यशस्वी राजालोग आपके दर्शनोंकी कामनासे पधारेंगे ॥ ४२ ॥ हे ईश ! आप ब्रह्मरूपका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करनेसे तो चाण्डाल भी पवित्र हो जाते हैं फिर आपका साक्षात् दर्शन और स्पर्श करनेवालोंका तो कहना ही क्या है ? ॥ ४३ ॥ हे त्रिभुवनमङ्गल ! आपका निर्मल यश स्वर्ग, पाताल और पृथिवीमें दशों दिशाओंको व्याप्त किये हुए है । प्रभो ! आपका चरणोदक ही स्वर्गमें मन्दाकिनी, पातालमें भोगवती और भूर्लोकमें गङ्गा नामसे सम्पूर्ण विश्वको पवित्र कर रहा है ॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच

तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृह्णत्सु विजिगीषया ।
वाचः पेशैः स्मयन्भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥४५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! अपने पक्षवाले (यादवगण) को विजय-प्राप्तिके लिये अत्यन्त उत्सुक होनेके कारण नारदजीकी बात स्वीकार न करते देख श्रीकृष्णचन्द्रने अपने अनुगत भक्त उद्धवसे मुसकाकर कहा ॥ ४५ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
तथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत् ॥४६॥

श्रीभगवान् बोले—उद्धव ! तुम पदार्थोंके यथावत् प्रकाशक होनेके कारण हमारे उत्तम चक्षु और शुभसम्मतिका मर्म जाननेवाले प्रिय सुहृद् हो । अब तुम बताओ, हमें क्या करना चाहिये ? * तुम जैसा कहोगे हम उसीमें विश्वास करेंगे और वैसा ही करेंगे ॥ ४६ ॥

इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ।
निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥४७॥

जब स्वामीने सर्वज्ञ होकर भी उद्धवसे अनजानकी भाँति अपना कर्त्तव्य पूछा तो उन्होंने भी प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य कर इस प्रकार उत्तर दिया ॥४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
भगवद्यानविचारे सप्ततितमोऽध्यायः ॥७०॥[1]

१. प्राचीन प्रतिमें यहाँ अध्याय समाप्त नहीं है और अग्रिम अध्यायके तीसवें श्लोकके पूर्वार्धतकका पाठ खण्डित है ।

* अर्थात् पाण्डवोंके यज्ञमें जाना चाहिये या जरासन्धके यहाँ जाकर राजाओंको उसकी कैदसे छुड़ाना चाहिये ?

इकहत्तरवाँ अध्याय

श्रीकृष्णचन्द्रका इन्द्रप्रस्थ-गमन ।

श्रीशुक उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् ।
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥ १ ॥

उद्धव उवाच

यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ।
कार्यं पैतृष्वस्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥ २ ॥
यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो ।
अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ॥ ३ ॥
अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति ।
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बद्धान्विमुञ्चतः ॥ ४ ॥
स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले ।
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥ ५ ॥
द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः ।
ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित्॥६॥
ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः ।
हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे तव सन्निधौ ॥ ७ ॥
निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।
हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कृष्णचन्द्रके ये वचन सुन देवर्षि नारद, सभासदगण और भगवान् कृष्णका पृथक्-पृथक् भाव जान महामति उद्धवजी बोले ॥ १ ॥

उद्धवजीने कहा—हे देव ! देवर्षि नारदके कथनानुसार आपको यज्ञ करनेवाले अपने फुफेरे भाई युधिष्ठिरकी सहायता करनी चाहिये और शरणागत राजाओंकी रक्षा भी कर्त्तव्य ही है ॥ २ ॥ किन्तु हे विभो ! राजसूय-यज्ञ वही कर सकता है जो चारों दिशाओंको जीत ले । अतः उस दिग्विजयमें जरासन्धको भी जीतना आवश्यक होगा तथा जरासन्धको जीतनेसे (यज्ञकर्म और शरणागतोंकी रक्षा) दोनों कार्य सिद्ध हो जायँगे—ऐसा मैं समझता हूँ ॥३॥ हे गोविन्द ! ऐसा करनेसे हमारा महान् उद्देश्य (दिग्विजय) भी सफल होगा और बन्दी बने राजाओंके मुक्त हो जानेसे आपका सुयश भी होगा ॥ ४ ॥ राजा जरासन्ध बलमें दशसहस्र हाथियोंके समान है । उसे उसीके समान बलवाले भीमसेनको छोड़कर और कोई अधिक बलवाला भी उसका सामना नहीं कर सकता [क्योंकि उसकी मृत्यु भीमसेनके हाथ ही बदी है] ॥ ५ ॥ उसे द्वन्द्वयुद्धमें ही जीतना चाहिये, उसे जीतनेके लिये सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाके सहित जानेकी आवश्यकता नहीं है । वह बड़ा ब्राह्मणभक्त है । ब्राह्मणोंके प्रार्थना करनेपर वह उनकी बात कभी नहीं टालता ॥ ६ ॥ भीमसेन ब्राह्मणके वेषमें उसके पास जाकर द्वन्द्व-युद्धकी भिक्षा माँगें, तब वे आपकी सन्निधिमें उसे द्वन्द्वयुद्धमें अवश्य मार डालेंगे, इसमें सन्देह नहीं ॥ ७ ॥ आप रूपरहित कालस्वरूप ईश्वर हैं, आपहीके किये हुए जगत्की उत्पत्ति और प्रलयमें ब्रह्मा और शिव केवल निमित्तमात्र हैं [इसी प्रकार आपकी सन्निधिमें होनेवाले जरासन्ध-वधमें भीमसेन भी निमित्तमात्र ही होगा]॥ ८॥

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो
राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥ ९ ॥

जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते ।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धववचो राजन्सर्वतोभद्रमच्युतम् ।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥११॥
अथादिशत्प्रयाणाय भगवान्देवकीसुतः ।
भृत्यान्दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून्विभुः ॥१२॥
निर्गमय्यावरोधान्स्वान्ससुतान्सपरिच्छदान् ।
सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन् ।
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद्गरुडध्वजम् ॥१३॥

ततो रथद्विपभटसादिनायकैः
करालया परिवृत आत्मसेनया ।
मृदङ्गभेर्यानकशङ्खगोमुखैः
प्रघोषघोषितककुभो निराक्रमत् ॥१४॥

नृवाजिकाञ्चनशिबिकाभिरच्युतं
सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।
वराम्बराभरणविलेपनस्रजः
सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥१५॥

नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनः-
करेणुभिः परिजनवारयोषितः ।

जरासन्धके मारे जानेपर उसके बन्दी बनाये हुए राजाओंकी स्त्रियाँ शत्रुके वध और अपने प्राणपतियोंके बन्धनमुक्त किये जानेकी आपकी पवित्र लीलाका आनन्दपूर्वक अपने घरोंमें गान करेंगी, जैसे गोपिकाएँ शङ्खचूडसे छुटकारा पाकर आपका यश गाती हैं, मुनिगण ग्राहके मुखसे गजराजको छुड़ाने और रावणके यहाँसे सीताजीको लानेकी लीलाओंका गान करते हैं और हम यादवगण कंसको मारने और माता-पिताको उसकी कैदसे छुड़ानेकी कीर्तिका बखान करते हैं ॥९॥ इस प्रकार, हे कृष्ण! जरासन्धके वधसे अनेक कार्य सिद्ध हो जायँगे; और राजाओंके पुण्यकर्म-विपाकसे अथवा जरासन्धके पाप-विपाकसे आपको भी यज्ञ ही इष्ट है। [इसलिये पहले राजसूय-यज्ञहीमें पधारिये] ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! देवर्षि नारद, वयोवृद्ध यादवगण और कृष्णचन्द्रने उद्धवजीके इस प्रकार सर्वथा युक्तियुक्त और मङ्गलमय वाक्योंका आदर किया ॥ ११ ॥ फिर भगवान् देवकीनन्दनने वसुदेवजी आदि गुरुजनोंसे आज्ञा ले दारुक और जैत्र आदि सेवकोंको इन्द्रप्रस्थ चलनेकी तैयारी करनेके लिये आज्ञा दी ॥१२॥ पहले पुत्र और अन्यान्य सामग्रीके सहित अपनी स्त्रियोंको आगे कर फिर यदुराज उग्रसेन और शत्रुनाशन बलरामजीकी आज्ञा ले भगवान् कृष्ण सारथीके लाये हुए गरुडचिह्नयुक्त ध्वजावाले रथपर चढ़े ॥१३॥ और मृदङ्ग, भेरी, आनक, शङ्ख और गोमुख आदि बाजोंके घोषसे दशों दिशाओंको घोषित करते हुए रथ, हाथी, पैदल और घुड़सवारोंकी भयङ्कर सेनासे घिरकर नगरसे बाहर आये ॥१४॥ पतिपरायणा कृष्णपत्नियाँ सुन्दर वस्त्र-आभूषण, चन्दन और माला आदिसे अलङ्कृत हो अपने-अपने बालकोंके साथ नरयान, अश्वयान और सुवर्णमण्डित शिबिकाओंपर चढ़कर कृष्णचन्द्रके पीछे-पीछे चलीं। उनकी रक्षाके लिये चारों ओर ढाल-तलवारसे सुसज्जित सैनिकगण नियुक्त थे ॥१५॥ इसी प्रकार अनुचरोंकी स्त्रियाँ और वाराङ्गनाएँ भली-भाँति शृङ्गार करके खस आदिके कृत्रिम भवन तथा

स्वलङ्कृताः कटकुटिकम्बलाम्बरा-
द्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वतः ॥१६॥
बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरै-
र्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवे-
र्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ॥१७॥
अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः
प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा ।
निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो
मुकुन्दसन्दर्शननिर्वृतेन्द्रियः ॥१८॥

कम्बल और वस्त्रादि गृह-सामग्रीको बैल आदिपर लादकर डोली, ऊँट, बैल, भैंसे, गधे, खच्चर, छकड़े और हथिनियोंपर चढ़कर चलीं ॥१६॥ तुमुल कोलाहलसे व्याप्त वह सेना बड़ी-बड़ी ध्वजा-पताका, छत्र, चँवर, उत्तम अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, मुकुट और कवचोंके कारण ऐसी सुशोभित हुई जैसे दिनके समय सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे तथा उछलते हुए मकर और तरङ्गोंसे समुद्रकी शोभा होती है ॥१७॥ तदनन्तर, श्रीयदुनाथसे सम्मानित और उनके दर्शनसे प्रसन्नचित्त नारदजी उनसे पूजा ग्रहणकर तथा उनका राजसूय-यज्ञमें जानेका दृढ़ निश्चय देख भगवान्‌को प्रणाम कर हृदयमें उन्हींका चिन्तन करते हुए आकाशमार्गसे चले गये ॥१८॥

राजदूतमुवाचेदं भगवान्प्रीणयन्गिरा ।
मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥१९॥

फिर भगवान्‌ने राजाओंके दूतको अपनी मधुर-वाणीसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा—"हे दूत ! तुम राजाओंसे जाकर कहना कि डरें नहीं; मैं शीघ्र ही जरासन्धका वध कराऊँगा और उनका कल्याण करूँगा" ॥ १९ ॥

इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान् ।
तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्यन्मुमुक्षवः ॥२०॥

भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर दूतने वहाँसे जाकर राजाओंको सब वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों सुना दिया। तब राजागण शीघ्र ही बन्धनमुक्त होनेकी इच्छासे भगवान्‌के दर्शनोंकी प्रतीक्षा करने लगे ॥२०॥

आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः ।
गिरीन्नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान् ॥२१॥
ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् ।
पञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत् ॥२२॥
तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम् ।
अजातशत्रुर्निरगात्सोपाध्यायः सुहृद्वृतः ॥२३॥
गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
अभ्ययात्स हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवादृतः ॥२४॥
दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।
चिराद्दृष्टं प्रियतमं सस्वजेऽथ पुनः पुनः ॥२५॥

इधर, श्रीहरि भी आनर्त, सौवीर, मरु और कुरुक्षेत्र-को लाँघकर पर्वत, नदी, पुर, ग्राम, व्रज और आकरोंको पार करते हुए, दृषद्वती और सरस्वतीसे उतरकर पाञ्चाल और मत्स्यदेशका उल्लङ्घन कर इन्द्रप्रस्थके पास पहुँचे ॥२१-२२॥ मनुष्योंको जिनका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है उन श्रीहरिके आगमनका समाचार पा अपने बन्धुवर्गसे घिरे हुए अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर अतिप्रसन्न हो उपाध्यायके सहित नगरसे बाहर आये ॥२३॥ इन्द्रियाँ जैसे मुख्यप्राणसे मिलने जाती हों उसी प्रकार वे गाने-बजानेके तुमुल घोष और वेदकी मङ्गलध्वनिके साथ श्रीहृषीकेशके सामने चले ॥२४॥ कृष्णचन्द्रको देखकर महाराज युधिष्ठिरका चित्त प्रेमसे गद्गद हो गया और उन्होंने बहुत दिनोंपर मिले हुए अपने प्रियतमको बारम्बार गले लगाया ॥२५॥

दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं
मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो
हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥२६॥
तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो
भीमः स्मयन्प्रेमजवाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा
प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥२७॥
अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ॥२८॥
मानितो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान् ।
सूतमागधगन्धर्वा वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ॥२९॥
मृदङ्गशङ्खपटहवीणापणवगोमुखैः ।
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥३०॥
एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः ।
संस्तूयमानो भगवान्विवेशालङ्कृतं पुरम् ॥३१॥
संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयै-
श्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्र-
ग्गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥३२॥
उद्दीप्तदीपवलिभिः प्रतिसद्मजाल-
निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै-
र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ॥३३॥
प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-
मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।

जो लक्ष्मीजीका परम पवित्र आश्रय है भगवान् कृष्णके उस दिव्य मङ्गलविग्रहका दोनों भुजाओंसे आलिङ्गन करनेसे महाराज युधिष्ठिरके सब अशुभ नष्ट हो गये और उन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ। उनके नेत्रोंमें जल भर आया, शरीरमें रोमाञ्च हो गया और वे सम्पूर्ण प्रपञ्चभ्रमको भूल गये ॥२६॥ तदनन्तर भीमसेनने भी अपने मामाके पुत्रका मुसकाते हुए आलिङ्गन कर परमशान्ति लाभकी प्रेमके उद्वेगसे उस समय उनका चित्त चञ्चल हो गया। फिर नकुल-सहदेव और अर्जुनने भी आनन्दके कारण उमड़े हुए आँसुओंसे भगवान्‌को भिगोते हुए उनका आलिङ्गन किया ॥२७॥ इस प्रकार अर्जुनसे आलिङ्गित और नकुल-सहदेवसे नमस्कृत हो भगवान्‌ने ब्राह्मणों और बड़े-बूढ़ोंको यथायोग्य नमस्कार कर कुरु, सृञ्जय और केकयदेशीय राजाओंसे सम्मानित हो उनका स्वयं भी सम्मान किया। फिर सूत, मागध, गन्धर्व, बन्दीजन, उपासकगण तथा ब्राह्मणलोग, मृदङ्ग, शङ्ख, पटह, वीणा, पणव और गोमुख आदि बाजे बजाते हुए श्रीकमलनयन भगवान्‌की स्तुति करने और नाचने-गाने लगे ॥२८-३०॥

इस प्रकार अपने बन्धु-बान्धवोंसे घिरे हुए पुण्यश्लोकशिरोमणि भगवान् कृष्णने बन्दीजनद्वारा स्तुति किये जाते हुए इन्द्रप्रस्थमें प्रवेश किया ॥३१॥ जिसकी सड़कोंपर हाथियोंके मदसे सुगन्धित जलका छिड़काव किया गया था तथा जो रंग-बिरंगी ध्वजाओं, सुनहरी बन्दनवारों, जलपूर्ण कलशों और स्नानादिसे स्वच्छ हुए सुन्दर वस्त्राभूषण एवं सुगन्धित मालाओंसे अलङ्कृत नर-नारियोंसे सुशोभित था ॥३२॥ भगवान्‌ने उस धर्मराजकी राजधानीको प्रज्वलित दीपक और उपहारोंसे घर-घरके झरोखोंमें होकर निकलते हुए अगुरुधूमसे, पताकाओंसे तथा जिनके शिरोंपर स्वर्णकलश विराजमान हैं ऐसे चाँदीके शिखरोंसे सुशोभित भवनोंसे खचाखच भरा देखा ॥३३॥ मनुष्योंके नेत्रोंके लिये अत्यन्त दर्शनीय श्रीकृष्णचन्द्रको आये सुनते ही नागरी नारियाँ घरके धन्धोंको और शय्यापर सोये हुए पतियोंको छोड़कर

१. जलाकु० । २. मानिनो । ३. ववेणुभिः ।

सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ॥३४॥

तस्मिन्सुसङ्कुल इभाश्वरथद्विपद्भिः
कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः ।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य
सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन ॥३५॥

ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-
स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-
लीलावलोककलयोत्सवमातनोति ॥३६॥

तत्र तत्रोपसङ्गम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।
चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ॥३७॥

अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।
ससम्भ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥३८॥
पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे ॥३९॥
गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।
पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥४०॥
पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् ।
स्वयं च कृष्णया राजन्भगिन्या चाभिवन्दितः ॥४१॥
श्वश्र्वा संचोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्वशः ।
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥४२॥
कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम्।
अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्रङ्मण्डनादिभिः॥४३॥

उनका दर्शन करनेके लिये राजमार्गपर आयीं। इस समय उतावलीके कारण उनके केश और वस्त्रोंके बन्धन ढीले पड़ गये थे ॥३४॥ तब घरोंकी अटारियोंपर चढ़ी हुई उन स्त्रियोंने हाथी, घोड़े, रथ और पैदल—इस चार प्रकारकी सेनासे आवृत श्रीकृष्णचन्द्रको अपनी रानियोंके सहित राजमार्गमें पधारे देख, उनपर फूलोंकी वर्षा की और उनका मानसिक आलिङ्गन कर उत्कृष्ट मुसकानमयी चितवनसे स्वागत किया ॥३५॥ उस समय चन्द्रमाके सहित विराजमान तारागणके समान राजमार्गमें श्रीहरिके साथ सुशोभित उनकी रानियोंको देखकर नगरकी स्त्रियाँ कहने लगीं—"न जाने इन बड़भागिनियोंने ऐसा क्या पुण्य किया है, जिससे पुरुषशिरोमणि श्रीकृष्णचन्द्र अपनी उदार हँसी और लीलामयी चितवनके लेशसे इनके नयनोंको आनन्द-प्रदान करते हैं ?" ॥३६॥ इसी प्रकार जहाँ-तहाँ बहुत-से निष्पाप धनी-मानी एक शिल्पजीवी नागरिकोंने बहुत-सी माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर आगे आ श्रीकृष्णचन्द्रका सत्कार किया ॥३७॥

तदनन्तर, श्रीमुकुन्दने अन्तःपुरवासी पुरुषोंद्वारा विकसित और विह्वल नेत्रोंसे प्रीतिपूर्वक स्वागत किये जानेपर राजभवनमें प्रवेश किया ॥ ३८ ॥ तब श्रीकुन्तीजीने भी अपने भाईके पुत्र त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्णचन्द्रको आये देख अति प्रसन्नतापूर्वक पलंगसे उठ अपनी पुत्रवधू (द्रौपदी) के सहित आगे जा आलिङ्गन किया ॥३९॥ देवदेवेश्वर भगवान् कृष्णको आदरपूर्वक अपने महलमें ले आनेपर महाराज युधिष्ठिरको आनन्दोद्रेकके कारण उनकी पूजादि करनेके क्रमका भी पता नहीं रहा ॥४०॥ हे राजन् ! उस समय, द्रौपदी और अपनी बहिन सुभद्रासे नमस्कृत हो भगवान् कृष्णने पिताकी बहिन कुन्ती और अन्य बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको प्रणाम किया ॥४१॥ तब सासुकी प्रेरणासे द्रौपदीने रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा और परमसाध्वी सत्या—इन कृष्णचन्द्रकी पत्नियोंका और इनके साथ जो अन्य स्त्रियाँ आयी थीं उन सबका वस्त्र, माला और आभूषणादिसे यथायोग्य सत्कार किया ॥४२-४३॥

१. तथा ।

सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥४४॥
तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः ।
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ॥४५॥
उवास कतिचिन्मासान्राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।
विहरन्रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥४६॥

फिर जिन भगवान् कृष्णने अर्जुनके साथ मिलकर खाण्डववनका दाह कराकर अग्निको तृप्त किया था तथा उस प्रचण्ड अग्निकाण्डसे मयदानवकी रक्षा कर उससे महाराज युधिष्ठिरके लिये एक दिव्य सभा तैयार करायी थी, उन श्रीजनार्दनको धर्मराज युधिष्ठिरने उनकी सेना, अनुचरगण, मन्त्रिमण्डल और पत्नियोंके सहित ऐसे स्थानोंमें ठहराया जहाँ उन्हें नित्य-नूतन सुख प्राप्त हों ॥४४-४५॥ तदनन्तर, भगवान् अर्जुनके सहित रथपर सवार हो बहुत-से सैनिकोंके साथ विहार करते हुए महाराज युधिष्ठिरका प्रिय करनेके लिये वहाँ कुछ महीने रहे ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे कृष्णस्येन्द्रप्रस्थगमनं नामैकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥

बहत्तरवाँ अध्याय

राजसूययज्ञका आयोजन और जरासन्धवध ।

श्रीशुक[2] उवाच

एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक दिन महाराज युधिष्ठिर बहुत-से मुनिजन, विप्रगण, क्षत्रिय, वैश्य, भीमसेन आदि भ्रातृगण, आचार्य, कुलके बड़े-बूढ़े तथा जाति सम्बन्धी और बन्धु-बान्धवोंसे घिरे हुए राजसभामें बैठे थे । इसी समय उन्होंने इन सबके सुनते हुए ही भगवान् कृष्णको सम्बोधित कर उनसे कहा ॥ १-२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे गोविन्द ! मैं यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूययज्ञद्वारा आपकी परमपवित्र विभूतिरूप इन्द्रादि देवताओंका यजन करना चाहता हूँ । प्रभो ! आप मेरा यह सङ्कल्प पूर्ण कीजिये ॥ ३ ॥

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥ ४ ॥

हे कमलनाभ ! जो शुद्धचित्त पुरुष आपकी पापनाशिनी चरणपादुकाओंका निरन्तर सेवन, ध्यान और कथोपकथन करते हैं वे संसारसे मुक्त हो जाते हैं और यदि भोगोंकी इच्छा करते हैं तो उन्हें सब प्रकारके भोग भी प्राप्त हो जाते हैं, जो कि औरोंको प्राप्त नहीं हो सकते ॥ ४ ॥

---
१. न्धे एक० । २. बादरायणिरुवाच

तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-
सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥ ५ ॥
न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥ ६ ॥

[मेरे इस महान् सङ्कल्पको पूर्ण हुआ देखकर] सम्पूर्ण लोक आपके चरणकमलोंकी सेवाका प्रभाव देख सके । प्रभो ! आप कुरु और सृञ्जयवंशीय राजाओंको आपकी सेवा करनेवाले और सेवा न करनेवाले—दोनों प्रकारके पुरुषोंकी निष्ठा दिखलाइये ॥ ५ ॥ प्रभो ! आप सर्वात्मा, समदर्शी और आत्मानुभवस्वरूप परब्रह्म हैं, आपमें अपने-परायेका भेद-भाव नहीं है । तथापि जिस प्रकार कल्पवृक्षकी सेवा करनेवालोंको उनकी भावनाके अनुसार फल मिलता है उसी प्रकार आपकी सेवाके अनुरूप ही न्यूनाधिक फल मिलता है । इससे आपमें भेद-भाव या निर्दयताका दोष नहीं आता ॥ ६ ॥

श्रीभगवानुवाच

सम्यग्व्यवसितं राजन्भवता शत्रुकर्शन ।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति[2] ॥ ७ ॥
ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो ।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥ ८ ॥
विजित्य नृपतीन्सर्वान्कृत्वा च जगतीं वशे ।
सम्भृत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥ ९ ॥
एते ते भ्रातरो राजन्लोकपालांशसम्भवाः ।
जितोऽस्म्यात्मवता[1] तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ॥ १० ॥
न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ।
विभूतिभिर्वाभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे शत्रुदमन राजन् ! आपका विचार बहुत ठीक है । इससे लोकोंमें आपकी मङ्गलमयी कीर्तिका विस्तार होगा ॥ ७ ॥ हे प्रभो ! आपका यह यज्ञश्रेष्ठ ऋषि, पितर, देवता समस्त प्राणी और हम बन्धु-बान्धवादि सभीको इष्ट है ॥ ८ ॥ सम्पूर्ण राजाओंको जीतकर और समस्त भूमण्डलको अपने वशीभूत कर यज्ञकी समस्त सामग्री एकत्रित कीजिये और फिर इस महायज्ञका अनुष्ठान कीजिये ॥ ९ ॥ हे राजन् ! आपके ये चारों भाई इन्द्रादि लोकपालोंके अंशोंसे उत्पन्न हुए हैं तथा आप भी बड़े मनस्वी हैं, इसीलिये आपने मुझे जीत लिया है; क्योंकि अन्य अजितेन्द्रियोंद्वारा मैं जीता नहीं जा सकता ॥ १० ॥ जो मेरा भक्त है, लोकमें उसका कोई देवता भी तेज, यश, श्री अथवा विभूति आदिसे तिरस्कार नहीं कर सकता, फिर साधारण राजाओंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ११ ॥

श्रीशुक उवाच

निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः ।
भ्रातॄन्दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ॥ १२ ॥
सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत्सह सृञ्जयैः ।
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ।
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान्‌का यह कथन सुनकर महाराज युधिष्ठिरका मुख-कमल प्रसन्नतासे खिल गया और उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके तेजसे बढ़े हुए अपने भाइयोंको दिग्विजयके कार्यमें नियुक्त किया । सहदेवको सृञ्जयदेशीय वीरोंके साथ दक्षिण दिशामें जानेका आदेश दिया । तथा पश्चिममें नकुल, उत्तरमें अर्जुन और पूर्वमें भीमसेनको क्रमशः मत्स्य, केकय और मद्रदेशीय वीरोंके साथ भेजा ॥ १२-१३ ॥

१. वथा । २. चरिष्यति ।

ते विजित्य नृपान्वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ।
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥१४॥
श्रुत्वाजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥१५॥
भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः ।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥१६॥
ते गत्वातिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।
ब्रह्मण्यं समयाचेरन्राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ॥१७॥
राजन्विद्ध्यतिथीन्प्राप्तानर्थिनो[1] दूरमागतान् ।
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे ॥१८॥
किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ॥१९॥
योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः ।२०।
हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥२१॥

हे राजन्! उन भीमसेन आदि वीरोंने अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण दिशाओंके राजाओंको जीतकर यज्ञ करनेके लिये उद्यत महाराज युधिष्ठिरको बहुत-सा धन लाकर दिया ॥१४॥ किन्तु जब महाराज युधिष्ठिर जरासन्धको अजेय सुनकर उसे जीतनेकी चिन्ता करने लगे तब आदिपुरुष श्रीहरिने उन्हें वही उपाय बताया जो पहले उद्धवजीने कहा था ॥१५॥ हे तात! फिर भीमसेन, अर्जुन और कृष्णचन्द्र—ये तीनों ब्राह्मणका रूप धारणकर गिरिव्रजनामक दुर्गको गये, जहाँ बृहद्रथनन्दन जरासन्ध रहता था ॥१६॥ उन ब्राह्मण-वेषधारी क्षत्रियोंने ब्राह्मण-भक्त और गृहस्थाश्रमी राजा जरासन्धके घर आतिथ्यके समय पहुँचकर यह याचना की ॥१७॥ "हे राजन्! आपका कल्याण हो, हम तीनों अतिथि बहुत दूरसे आये हैं—ऐसा आप जानें। अतः हम आपसे जो माँगना चाहते हैं वह कृपा करके हमें दीजिये ॥१८॥ तितिक्षुओंके लिये क्या असह्य है? दुष्टजन क्या नहीं कर सकते? उदार पुरुषोंके लिये अदेय क्या है? और समदर्शियोंकी दृष्टिमें पराया कौन है? ॥१९॥ जो पुरुष समर्थ होकर भी इस नाशवान् शरीरसे सज्जनोंके गान करने योग्य सुयशका सम्पादन नहीं करता वही निन्दनीय और शोचनीय है ॥२०॥ देखो, हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, शिलोञ्छवृत्तिपर रहनेवाले मुद्गलऋषि, शिबि, बलि, व्याध और कपोत आदि अनेकों प्राणियोंने इस नाशवान् शरीरसे ही अविनाशी पद प्राप्त किया था" ॥२१॥

श्रीशुक उवाच

स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि ।
राजन्यबन्धून्विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ॥२२॥
राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।
ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥२३॥
बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्विततता दिक्ष्वकल्मषा ।
ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥२४॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! तब जरासन्धने उनके स्वर और आकृतिसे तथा भुजाओंपर पड़े हुए धनुषकी डोरीके चिह्नोंसे उन्हें अपने पहले देखे हुए क्षत्रिय समझकर मन-ही-मन विचार किया ॥२२॥ 'ये लोग क्षत्रिय हैं, इन्होंने [भयवश] ब्राह्मणका वेष धारण किया है, अतः इनके माँगनेसे मैं अपना अत्यन्त दुस्त्यज शरीर भी दे डालूँगा ॥ २३ ॥ देखो, बलिके यहाँसे इन्द्रकी राज्य-लक्ष्मी हर लेनेकी इच्छावाले विष्णुने ब्राह्मणका वेष धारणकर बलिको छलपूर्वक ऐश्वर्यभ्रष्ट कर दिया था। किन्तु इसपर भी दशों दिशाओंमें फैली हुई उनकी निर्मल कीर्ति सुनी जाती है

१. र्थीनस्मानर्थिनो ।

श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे ।
जानन्नपि महीं प्रादाद्वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ॥२५॥
जीवताब्राह्मणार्थाय को न्वर्थः क्षत्रबन्धुना ।
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ॥२६॥
इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान् ।
हे विप्रा व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः॥२७॥

श्रीभगवानुवाच

युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे ।
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः ॥२८॥
असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम् ।
अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥२९॥
एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि[1] वः ॥३०॥
न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा ।
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ॥३१॥
अयं तु वयसा तुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ।
अर्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥३२॥
इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद्बहिः ॥३३॥
ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ ।
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥३४॥

तथा उन दैत्यराजने शुक्राचार्यजीके रोकनेपर भी विप्रवेष धारण करनेवाले श्रीविष्णुभगवान्‌को जान-बूझकर भी सम्पूर्ण पृथ्वी दे डाली ॥२४-२५॥ जो क्षत्रिय ब्राह्मणके लिये ही जीवन धारण नहीं करता और महान् यशका सम्पादन नहीं करता उसके नाशवान् शरीरसे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है?' ॥२६॥ इस प्रकार मन-ही-मन विचार कर उदारबुद्धि जरासन्धने कृष्ण, अर्जुन और भीमसेनसे कहा—"हे विप्रगण ! तुम जो चाहते हो सो माँग लो, मैं तुम्हें अपना शिर भी दे सकता हूँ" ॥२७॥

श्रीभगवान् बोले—हे राजेन्द्र ! यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम हमें द्वन्द्वयुद्धकी भिक्षा दो । हम क्षत्रिय हैं और युद्धकी इच्छासे ही तुम्हारे पास आये हैं । हम अन्नकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मण नहीं हैं ॥२८॥ ये पृथापुत्र भीमसेन हैं और ये दूसरे इनके भाई अर्जुन हैं तथा मैं इनके मामाका पुत्र तुम्हारा शत्रु कृष्ण हूँ—ऐसा जानो ॥२९॥

भगवान् कृष्णद्वारा इस प्रकार सूचित किये जानेपर मगधराज जरासन्ध ठहा मारकर हँसने लगा और उसने कुछ क्रुद्ध होकर कहा—"अरे मूर्खो ! यदि तुम्हें यही इष्ट है तो मैं तुम्हें द्वन्द्वयुद्धकी भिक्षा देता हूँ ॥३०॥ किन्तु तुम तो बड़े डरपोक और युद्धमें घबड़ा जानेवाले हो, इसीलिये अपनी राजधानी मथुराको छोड़कर समुद्रकी शरणमें जाकर बसे हो; अतः तुमसे तो मैं लड़ूँगा नहीं ॥३१॥ और यह अर्जुन भी कोई योद्धा नहीं है, यद्यपि अवस्थामें तो यह मेरे समान ही है तो भी कोई विशेष पराक्रमी न होनेके कारण मेरी जोड़का नहीं है । हाँ, भीम अवश्य मेरे समान ही बलवान् है" ॥३२॥

ऐसा कह जरासन्ध भीमसेनको एक बहुत बड़ी गदा देकर और दूसरी स्वयं लेकर नगरके बाहर चला आया ॥३३॥ तब वे दोनों रणोन्मत्त वीर एक समतल भूमिपर परस्पर भिड़कर अपनी वज्रसदृश कठोर गदाओंसे एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ३४ ॥

---

१. दानि ।

मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ॥३५॥
ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसन्निभः[1] ।
गदयोः क्षिप्तयो राजन्दन्तयोरिव दन्तिनोः ॥३६॥
ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने
अन्योन्यतोऽसकटिपादकरोरुजत्रून् ।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे
संयुध्यतोर्द्विरदयोरिव दीप्तमन्य्वोः ॥३७॥
इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ
क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्पर्शैरपिंष्टाम्[2] ।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासी-
न्निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥३८॥
तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।
निर्विशेषमभूद्युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥३९॥
एवं तयोर्महाराज युध्यतोः सप्तविंशतिः ।
दिनानि निरगंस्तत्र सुहृद्वन्निशि तिष्ठतोः ॥४०॥
एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन्वृकोदरः ।
न शक्तोऽहं जरासन्धं निर्जेतुं युधि माधव ॥४१॥
शत्रोर्जन्ममृती विद्वाञ्जीवितं च जराकृतम् ।
पार्थमाप्याययन्स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः ॥४२॥
सञ्चिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः ।
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४३॥
तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः ।
गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥४४॥

वे दायें-बायें तरह-तरहके पैंतरे बदलते हुए ऐसे सुशोभित हुए जैसे रङ्गभूमिमें दो नट युद्ध करते हों ॥३५॥ हे राजन्! उस समय एक-दूसरेपर फेंकी हुई गदाओंके टकरानेसे युद्ध करनेवाले दो हाथियोंके दाँतोंकी कड़कड़ाहट और बिजलीकी तड़कके समान चट-चट शब्द होने लगा ॥३६॥ तथा वे गदाएँ बड़े वेगसे एक-दूसरेके कन्धे, कमर, चरण, हाथ, जङ्घा और भुजाओंके पुट्ठोंपर पड़नेसे उनसे टकराकर इस प्रकार चूर-चूर हो गयीं जैसे अत्यन्त क्रोधमें भरकर आककी शाखाओंसे लड़ते हुए दो हाथियोंसे ग्रहण की हुई वे शाखाएँ उनके अङ्गोंसे टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं ॥३७॥ इस प्रकार उनकी गदाओंके चूर्ण हो जानेपर वे नरवीर अपनी लोहेके घनके समान लगनेवाली मुट्ठियोंसे एक-दूसरेको कुचलने लगे। तब हाथीके समान परस्पर प्रहार करते हुए उनके घूँसोंके आघातका शब्द बिजलीकी कड़कड़ाहटके समान प्रचण्ड प्रतीत होने लगा ॥३८॥

हे राजन्! इस प्रकार समान शिक्षा, बल और उत्साहवाले उन वीरोंका अनुपम युद्ध हुआ; इस युद्धमें दोनोंमेंसे किसीका भी उत्साह भङ्ग नहीं हुआ ॥३९॥ हे महाराज! इस प्रकार दिनमें युद्ध करते और रात्रिके समय मित्रभावसे रहते उन्हें सत्ताईस दिन बीत गये ॥४०॥ तब एक दिन भीमसेनने अपने मामाके पुत्र भगवान् कृष्णसे कहा—"हे कृष्ण! मैं मगधराजको युद्धमें परास्त करनेमें समर्थ नहीं हूँ" ॥४१॥ भगवान् जरासन्धके जन्म और मरणका रहस्य जानते थे और जिस प्रकार जरा राक्षसीने उसे जीवन-दान दिया था* उन्हें उसका भी पता था। इसलिये कुन्तीनन्दन भीमसेनको अपने तेजसे उत्साहित करते हुए जरासन्धके वधका उपाय सोचने लगे ॥४२॥ तब अमोघदर्शन श्रीहरिने शत्रुके नाशका उपाय निश्चितकर भीमसेनको एक वृक्षकी शाखा चीरकर दिखाते हुए सङ्केतसे उसे मारनेका उपाय बता दिया ॥४३॥ प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी भीम भगवान्के इस सङ्केतसे उसे मारनेका उपाय जान गये और उन्होंने शत्रुके पाँव पकड़कर उसे पृथिवीपर गिरा दिया ॥४४॥

१. निर्घोष०। २. रयःसदृशै०। छन्दकी दृष्टिसे यही पाठ शुद्ध है।

* देखिये भागवत स्कन्ध ९ अध्याय २२ श्लोक ७-८।

एकं पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ।
गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः ॥४५॥
एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके ।
एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः ॥४६॥
हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे ।
पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ ॥४७॥
सहदेवं तत्तनयं भगवान्भूतभावनः ।
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं प्रभुः ।
मोचयामास राजन्यान्संरुद्धा मागधेन ये ॥४८॥

तथा उसके एक पाँवको अपने पाँवसे दबाकर दूसरेको दोनों हाथोंसे पकड़ लिया और जैसे कोई महान् गजराज वृक्षकी शाखाको चीर डालता है उसी प्रकार गुदाकी ओरसे उसे चीर डाला ॥४५॥ उस समय प्रजाने वहाँ मगधराजके शरीरके एक-एक चरण, जङ्घा, अण्डकोश, पीठ, स्तन, कन्धा, भुजा, नेत्र, भ्रुकुटि और कर्णसे युक्त दो टुकड़े देखे ॥४६॥ इस प्रकार जरासन्धके मारे जानेपर वहाँ बड़ा हाहाकार होने लगा तथा अर्जुन और कृष्णचन्द्रने भीमसेनका आलिङ्गन कर सत्कार किया ॥४७॥ तदनन्तर अमेयात्मा भूतभावन भगवान् कृष्णने जरासन्धके पुत्र सहदेवको मगधदेशके राज्यपर अभिषिक्त किया और जरासन्धने जिन राजाओंको कैद किया था उन्हें बन्दीगृहसे छुड़ा दिया ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
जरासन्धवधो नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

तिहत्तरवाँ अध्याय

बन्दीगृहसे छूटे हुए राजाओंकी विदा और भगवान्‌का इन्द्रप्रस्थ-आगमन ।

श्रीशुक उवाच

अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः ।
ते निर्गता गिरिद्रोण्यां मलिना मलवाससः ॥ १ ॥
क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥ २ ॥
श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३ ॥
पद्महस्तं गदाशङ्खरथाङ्गैरुपलक्षितम् ।
किरीटहारकटककटिसूत्राङ्गदाञ्चितम् ॥ ४ ॥
भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जरासन्धद्वारा युद्धमें लीलासे ही जीते हुए बीस हजार आठ सौ राजालोग जब मैले-कुचैले वस्त्र पहने, भूखसे दुर्बल, मलिनमुख और बन्धनके क्लेशसे कृशित हुए गिरिव्रज-नामक दुर्गसे निकले तो उन्होंने भगवान् कृष्णको देखा, जो मेघके समान श्यामवर्ण और रेशमी पीताम्बर धारण किये हैं ॥ १-२ ॥ जिनके श्रीवत्स-चिह्न, चार भुजाएँ, कमलकोशके समान अरुण नयन और मनोहर एवं प्रसन्न मुखारविन्द हैं तथा जिनके कानोंमें मकराकृति कुण्डल झिलमिला रहे हैं ॥ ३ ॥ जो एक हाथमें कमल लिये, गदा, शङ्ख और चक्रादिसे सुशोभित तथा किरीट, हार, कटक, करधनी और केयूरादिसे विभूषित हैं ॥ ४ ॥ इस प्रकार जो गलेमें कौस्तुभमणिसे सुशोभित और वनमालासे वेष्टित हैं उन श्रीहरिको उन निष्पाप राजाओंने मानो नेत्रोंसे

---

१. वधे एक स० ।

जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः ।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्हरेः ॥ ६ ॥
कृष्णसन्दर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥ ७ ॥

राजान ऊचुः

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।
प्रपन्नान्पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान्घोरसंसृतेः ॥ ८ ॥
नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन ।
अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥ ९ ॥
राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।
त्वन्मायामोहितोऽनित्या सम्मन्यन्ते पदोऽचलाः॥१०॥
मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥११॥
वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो[1]
जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो
मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः ॥१२॥
त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा
दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया
विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम[2] ते ॥१३॥
अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं
देहेन शश्वत्पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो
क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥१४॥
तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥१५॥

पीते, जिह्वासे चाटते, नासिकासे सूँघते और भुजाओंसे आलिङ्गन करते हुए चरणोंमें शिर रखकर प्रणाम किया ॥ ५-६ ॥ फिर कृष्णदर्शनके आह्लादसे जिनका कैदमें रहनेका सम्पूर्ण क्लेश नष्ट हो गया है उन राजाओंने हाथ जोड़कर नम्रवाणीसे श्रीहृषीकेशकी इस प्रकार स्तुति की ॥ ७ ॥

राजालोग बोले—हे शरणागतभयभञ्जन अविनाशी देवदेवेश्वर ! आपको प्रणाम है । हे कृष्ण ! हम घोर संसारसे उदासीन होकर आपकी शरण आये हैं, आप हमारी रक्षा कीजिये ॥ ८ ॥ हे नाथ ! हे मधुसूदन ! इस जरासन्धपर हम किसी प्रकारका दोष नहीं लगाते; क्योंकि इसके द्वारा जो हम राजाओंका राज्य छूटा वह आपका अनुग्रह ही था ॥ ९ ॥ क्योंकि राज्य और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त रहनेके कारण राजाको कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वह तो आपकी मायासे मोहित रहनेके कारण अनित्य और चञ्चल धनको ही नित्य और निश्चल मानता रहता है ॥ १० ॥ जिस प्रकार मूढलोग मृगतृष्णाको जलाशय मान बैठते हैं उसी प्रकार वे अज्ञानी पुरुष विकारमयी मायाको सत्य वस्तु मानते रहते हैं ॥ ११ ॥ प्रभो ! पहले हम लक्ष्मीके मदसे अन्धे होकर एक-दूसरेसे डाह करते हुए उसे जीतनेकी इच्छासे, निरन्तर सम्मुख रहनेवाली मृत्युरूप आपको भी अत्यन्त मदके कारण कुछ न गिनकर अति निर्दयतापूर्वक अपनी ही प्रजाका नाश किया करते थे ॥१२॥ हे कृष्ण ! इस समय वे ही हम आपके स्वरूपभूत अनन्तवीर्य कालकी गम्भीर गतिसे श्रीहीन हो जानेके कारण आपकी कृपासे गर्वरहित होकर आपके चरणोंका स्मरण करते हैं ॥ १३ ॥ हे विभो ! अब हमें, निरन्तर क्षीण होनेवाले और रोगोंकी क्रीडाभूमिरूप शरीरसे ही सेवन किये जानेयोग्य मृगतृष्णाके सदृश मिथ्या राज्यकी, तथा मरनेके पश्चात् मिलनेवाले और कानोंको प्रिय लगनेवाले स्वर्गादि कर्मफलकी इच्छा नहीं है ॥ १४ ॥ अतः हे प्रभो ! अब हमें वही उपाय बतलाइये जिससे इस संसारमें विविध योनियोंमें भ्रमते हुए भी हमें आपके चरण-कमलोंकी स्मृति नष्ट न हो ॥ १५ ॥

१. नष्टबुद्धयो । २. नमाम ।

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१६॥

वासुदेव हरि परमात्मा और शरणागतोंका क्लेश दूर करनेवाले गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्रको बारम्बार प्रणाम है ॥ १६ ॥

श्रीशुक उवाच

संस्तूयमानो भगवान्राजभिर्मुक्तबन्धनैः ।
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ॥१७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! बन्धनसे छूटे हुए राजाओंद्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर शरणागतवत्सल करुणामय श्रीभगवान्‌ने उनसे अति मधुरवाणीमें कहा ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे ।
सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा ॥१८॥
दिष्टया व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः ।
श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥१९॥
हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे ।
श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः ॥२०॥
भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥२१॥
सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून्सुखं दुःखं भवाभवौ ।
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥२२॥
उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः ।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥२३॥

श्रीभगवान् बोले—हे नृपतिगण ! तुमने जो कुछ कहा है वह ठीक ही है । आजसे सबके आत्मारूप मुझ सर्वेश्वरमें तुम्हारी सुदृढ भक्ति होगी ॥ १८ ॥ हे राजाओ ! तुमलोग ठीक कहते हो, तुमने जो मेरा भजन करनेका निश्चय किया है वह बड़े सौभाग्यकी बात है । मैं श्री और ऐश्वर्यके मदसे होनेवाली उच्छृङ्खलताको मनुष्यको बहुत ही मतवाला बना देनेवाली समझता हूँ ॥ १९ ॥ देखो, इस ऐश्वर्यमदके कारण ही हैहयवंशीय सहस्रार्जुन, नहुष, वेन, रावण और नरकासुर आदि बहुत-से देवता, दैत्य और राजागण अपने स्थानसे भ्रष्ट हो गये ॥ २० ॥ अतः तुम उत्पन्न होनेवाले इन देहादिको नाशवान् जानकर सावधानतापूर्वक यज्ञादिसे मेरा यजन करते हुए धर्मानुसार प्रजापालन करो ॥ २१ ॥ इस प्रकार सन्तानकी वृद्धि करते हुए और प्रारब्धानुसार प्राप्त होनेवाले जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख और लाभालाभको भोगते हुए मुझमें चित्त लगाकर काल व्यतीत करो ॥ २२ ॥ इससे देहादिमें उदासीन, आत्माराम और नानाप्रकारके व्रत पालन करनेवाले होकर चित्तको भली प्रकार मुझहीमें लगाकर अन्तमें मुझ ब्रह्मको ही प्राप्त हो जाओगे ॥ २३ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्य नृपान्कृष्णो भगवान्भुवनेश्वरः ।
तेषां न्ययुङ्क्त[1] पुरुषान्स्त्रियो मज्जनकर्मणि ॥२४॥
सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ।
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ॥२५॥

श्रीशुकदेवजी बोले—जगत्पति भगवान् कृष्णने राजाओंको ऐसी आज्ञा दे उन्हें स्नानादि करानेके लिये स्त्री और पुरुषसेवकोंको नियुक्त किया ॥ २४ ॥ और हे भारत ! जरासन्धके पुत्र सहदेवद्वारा उन्हें राजोचित वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दनादिसे सम्मानित कराया ॥ २५ ॥

१. तेषामयुङ्क्त ।

भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान्समलङ्कृतान् ।
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥२६॥

फिर भली प्रकार स्नानकर वस्त्राभूषणोंसे अलङ्कृत हुए उन राजाओंको उत्तम अन्न भोजन करा उन्हें ताम्बूलादि विविध प्रकारके राजोचित भोग समर्पण किये ॥ २६ ॥

ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात्प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥२७॥

इस प्रकार कृष्णचन्द्रद्वारा कारागृहके क्लेशसे छुड़ाये और सम्मानित किये हुए वे नृपतिगण स्वच्छ कुण्डलोंकी कान्तिसे ऐसे सुशोभित हुए जैसे वर्षाऋतुके अन्तमें तारागण शोभाको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

रथान्सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।
प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान्प्रत्ययापयत् ॥२८॥

फिर जिनमें सुन्दर घोड़े जुते हुए हैं ऐसे मणि और सुवर्णजटित रथोंमें चढ़ाकर मधुरवाणीसे प्रसन्न करते हुए उन्हें अपने-अपने देशोंको भेज दिया ॥ २८ ॥

त एवं मोचिताः कृच्छ्रात्कृष्णेन सुमहात्मना ।
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः ॥२९॥

महात्मा कृष्णचन्द्रद्वारा इस प्रकार क्लेशमुक्त हो वे सब राजालोग उन जगत्पतिका और उनकी लीलाओं-का चिन्तन करते हुए अपने-अपने देशोंको चले ॥ २९ ॥

जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम् ।
यथान्वशासद्भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ॥३०॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने मन्त्री आदिको परमपुरुष भगवान् कृष्णके जरासन्ध-वध आदि अद्भुत कर्म सुनाये और भगवान्ने उन्हें जैसा करनेकी आज्ञा दी थी वैसा ही सावधानतापूर्वक करने लगे ॥ ३० ॥

जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात्सहदेवेन पूजितः ॥३१॥

इधर, भीमसेनद्वारा जरासन्धका वध करा भगवान् कृष्ण भीम और अर्जुनके सहित सहदेवसे सम्मानित हो इन्द्रप्रस्थको चले ॥ ३१ ॥

गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान्दध्मुर्जितारयः ।
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदां चासुखावहाः ॥३२॥

शत्रुओंपर विजय पाये हुए उन वीरोंने इन्द्रप्रस्थके समीप पहुँचकर अपने सुहृदोंको आनन्दित और द्वेषियोंको दुःखित करते हुए अपने-अपने शङ्ख बजाये ॥ ३२ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ॥३३॥

उस शङ्खध्वनिको सुनकर इन्द्रप्रस्थमें रहनेवाले प्रजाजन अति प्रसन्न हुए और उन्होंने जाना कि जरासन्ध मारा गया और महाराज युधिष्ठिरका दिग्विजयरूप मनोरथ पूर्ण हो गया ॥ ३३ ॥

अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ।
सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥३४॥

तदनन्तर भीम, अर्जुन और भगवान् कृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरकी वन्दना कर उन्हें अपना सम्पूर्ण कृत्य सुनाया ॥ ३४ ॥

निशम्य धर्मराजस्तत्केशवेनानुकम्पितम् ।
आनन्दाश्रुकलां मुञ्चन्प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥३५॥

भगवान् कृष्णके उस अनुग्रहपूर्ण कृत्यका वृत्तान्त सुन धर्मराजके नेत्रोंमें प्रेमवश आनन्दाश्रु भर आये और वे कुछ भी न कह सके ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[2] उत्तरार्धे
कृष्णाद्यागमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥७३॥

१. ङ्ख दध्मु० । २. न्धे राजसूयदिग्विजयो द्विसप्त० ।

चौहत्तरवाँ अध्याय

राजसूययज्ञमें भगवान्‌की अग्रपूजा और शिशुपालवध ।

श्रीशुक उवाच[1]

एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं विभोः[2] ।
कृष्णस्य चानुभावं तं[3] श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार जरासन्धका वध और भगवान् कृष्णका प्रभाव सुनकर महाराज युधिष्ठिरने अति प्रसन्न होकर उनसे कहा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकमहेश्वराः ।
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम्[4] ॥ २ ॥
स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् ।
धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३ ॥
न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ॥ ४ ॥
न वै तेऽजित भक्तानां ममाहमिति माधव ।
त्वं तवेति च नाना धीः पशूनामिव वैकृता[5] ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे कृष्ण ! जो त्रिलोकीके गुरु और सम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वर हैं वे ब्रह्मादिक भी जिनकी दुर्लभ आज्ञाको पाकर शिरपर धारण करते हैं, हे भूमन् ! वे ही कमलनयन आप, अपनेको बड़ा समर्थ माननेवाले हम दीनोंकी आज्ञाका पालन करते हैं, सो यह आपकी केवल लीलामात्र ही है ॥ २-३ ॥ क्योंकि जिस प्रकार सूर्यका तेज उदय या अस्त होनेसे घटता-बढ़ता नहीं है उसी प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्म परमात्मरूप जो आप हैं उनका तेज कर्म करने या न करनेसे नहीं घटता-बढ़ता ॥ ४ ॥ हे अजित ! हे माधव ! आपके भक्तोंकी पशुओंकी भाँति अपने शरीर और पुत्रादिमें 'मैं और मेरेपन'की तथा औरोंमें 'तू और तेरेपन' की विकारयुक्त भेदबुद्धि नहीं होती ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा यज्ञिये काले वव्रे युक्तान्स ऋत्विजः ।
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान्ब्रह्मवादिनः ॥ ६ ॥
द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः ।
वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥ ७ ॥
विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।
पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ॥ ८ ॥
अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ॥ ९ ॥
उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः ।
धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥१०॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।
तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ॥११॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ऐसा कह, महाराज युधिष्ठिरने भगवान् कृष्णकी अनुमतिसे यज्ञके अनुकूल समयमें यज्ञक्रियामें कुशल वेदवादी ब्राह्मणोंका ऋत्विजादिरूपमें वरण किया ॥ ६ ॥ उनके नाम द्वैपायन, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, राम, भार्गव, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन अर अकृतव्रण थे ॥ ७–९ ॥ इनके सिवा द्रोण, भीष्म और कृपाचार्य आदि तथा पुत्रोंके सहित धृतराष्ट्र, महामति विदुर, एवं अन्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णके लोग बुलाये गये । हे नृप ! वे सब तथा अन्यान्य समस्त राजालोग और उनके मन्त्रिमण्डल यज्ञ देखनेकी इच्छासे वहाँ आये ॥ १०-११ ॥

१. बादरायणिरुवाच । २. प्रभोः । ३. च । ४. शिरसा मेऽनु० । ५. विक्रिया ।

ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयाञ्चक्रिरे नृपम् ॥१२॥
हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा ।
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिभवसंयुताः ॥१३॥
सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः ॥१४॥
राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ।
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ॥१५॥
मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।
अयाजयन्महाराजं याजका देववर्चसः ।
राजसूयेन विधिवत्प्राचेतसमिवामराः ॥१६॥
सुत्येऽहन्यवनीपालो याजकान्सदसस्पतीन् ।
अपूजयन्महाभागान्यथावत्सुसमाहितः ॥१७॥
सदस्याग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः ।
नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात्सहदेवस्तदाब्रवीत् ॥१८॥
अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान्सात्वतां पतिः ।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥१९॥
यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः ।
अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः ॥२०॥
एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।
आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥२१॥
विविधानीह कर्माणि जनयन्यदवेक्षया ।
ईहते हृदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२२॥
तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।
एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥२३॥
सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने ।

तब उन ऋत्विज् ब्राह्मणोंने यज्ञभूमिको स्वर्णनिर्मित हलसे जुतवाकर राजा युधिष्ठिरको शास्त्रानुसार यज्ञकी दीक्षा दी ॥ १२ ॥ कहते हैं, पूर्वकालीन वरुणके यज्ञके समान इस यज्ञमें भी सुवर्णके पात्र थे । तथा पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिरके इस राजसूययज्ञमें श्रीमहादेव और ब्रह्माजीके सहित इन्द्रादि लोकपाल, अपने-अपने गणोंके सहित सिद्ध और गन्धर्व, विद्याधर, सर्प, मुनि, यक्ष, राक्षस, पक्षी, किन्नर, चारण तथा राजालोग और रानियाँ—ये सभी निमन्त्रित होकर आये थे और उन्होंने बिना किसी प्रकारका आश्चर्य किये कृष्णभक्त धर्मराजका यह यज्ञानुष्ठान ठीक ही समझा । उस समय देवताओंके समान तेजस्वी याजकोंने महाराज युधिष्ठिरसे राजसूययज्ञद्वारा उसी प्रकार विधिवत् यजन कराया जैसे पूर्वकालमें देवताओंने वरुणसे कराया था ॥ १३–१६ ॥ सोमवल्लीसे रस निकालनेके दिन पृथिवीपाल महाराज युधिष्ठिरने महाभाग याजकों और सभापतिका सावधानतासे विधिवत् पूजन किया ॥१७॥

तदनन्तर जब सभासद्गण अग्रपूजाके योग्य सदस्यका विचार करनेके समय एकमत न होनेके कारण कोई निर्णय नहीं कर सके तब सहदेवने कहा—॥१८॥ "हे सभासदो ! इस श्रेष्ठताके योग्य यदुनाथ भगवान् कृष्ण ही हैं, क्योंकि ये ही सम्पूर्ण देवता और देश, काल एवं धनादिरूप हैं ॥ १९ ॥ यह सम्पूर्ण विश्व इन्हींका रूप है, समस्त यज्ञ कृष्णरूप ही हैं, तथा अग्नि, आहुति, मन्त्र, सांख्य और योग भी इन्हींके लिये हैं ॥ २० ॥ ये एकमात्र और अद्वितीय हैं, सम्पूर्ण जगत् इन्हींका रूप है; हे सभ्यगण ! ये अजन्मा कृष्ण ही स्वयं अपनेमें इसकी रचना, पालन और संहार करते हैं ॥ २१ ॥ क्योंकि सम्पूर्ण जगत् इन्हींके अनुग्रहसे नाना प्रकारके कर्म करता हुआ धर्मादि पुरुषार्थकी सिद्धि करता है ॥२२॥ इसलिये महात्मा कृष्णकी ही अग्रपूजा होनी चाहिये । इनकी पूजा करनेसे समस्त प्राणियोंकी और अपनी भी पूजा हो जायगी ॥ २३ ॥ जो पुरुष अपने दानका अनन्त फल चाहता हो उसे समस्त भूतोंके

देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता ॥२४॥

इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत्तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधुसाध्विति सत्तमाः ॥२५॥

श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥२६॥

तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः ।
सभार्यः सानुजामात्यः सकुटुम्बोऽवहन्मुदा ॥२७॥

वासोभिः पीतकौशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः ।
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत्समवेक्षितुम् ॥२८॥

इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः ।
नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः ॥२९॥

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठा-
दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी
संश्रावयन्भगवते परुषाण्यभीतः ॥३०॥

ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।
वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥३१॥

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम् ।
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत्सम्मतोऽर्हणे ॥३२॥

तपोविद्याव्रतधराञ्ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।
परमर्षीन्ब्रह्मनिष्ठाँल्लोकपालैश्च पूजितान् ॥३३॥

अन्तरात्मा, भेदभावरहित, शान्त और परिपूर्ण भगवान् कृष्णको ही दान करना चाहिये" ॥ २४ ॥

भगवान् कृष्णका प्रभाव जाननेवाले सहदेव ऐसा कह मौन हो गये। उनका कथन सुन सब साधुश्रेष्ठ, 'बहुत ठीक, बहुत ठीक' ऐसा कहकर प्रशंसा करने लगे ॥ २५ ॥ ब्राह्मणोंका यह कथन सुन और सभासदोंका अभिप्राय जान राजा युधिष्ठिरने प्रेमविह्वल हो अति प्रसन्नतापूर्वक भगवान् कृष्णकी पूजा की ॥ २६ ॥ फिर स्त्री, भाई, मन्त्री और कुटुम्बियोंके सहित अति आनन्दित हो उनका त्रिलोकपावन चरणोदक शिरपर धारण किया ॥ २७ ॥ फिर रेशमी पीताम्बर और महामूल्य आभूषणोंसे पूजा की। उस समय नेत्रोंमें आँसू भर आनेके कारण वे कोई वस्तु स्पष्ट देख भी नहीं सकते थे ॥ २८ ॥ इस प्रकार पूजित हुए भगवान्को देखकर समस्त प्रजाजनने हाथ जोड़कर 'नमः और जय-जय' शब्द करते हुए उन्हें प्रणाम किया। उस समय आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ २९ ॥

इस प्रकार भगवान् कृष्णके गुणोंका वर्णन सुन दमघोषनन्दन शिशुपाल अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ और उनके सुयशका वर्णन सुनकर क्रोधित हो सभामें हाथ उठाकर निर्भयतापूर्वक भगवान्को कठोर वचन सुनाता हुआ इस प्रकार कहने लगा—॥३०॥ "यह काल सर्वसमर्थ है, इसका कोई पार नहीं पा सकता, यह श्रुति सत्य ही है। देखो, इसीलिये इस सभामें जो लोग अवस्था और ज्ञानमें बड़े हैं उनकी बुद्धि भी बालकोंकी बातोंसे भ्रममें पड़ गयी है ॥३१॥ हे सभापतिगण ! आप सब लोग सत्पात्रोंके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिये 'कृष्ण ही अग्रपूजाके योग्य हैं' यह बालककी कही हुई बात आप ठीक न मानें ॥ ३२ ॥ क्योंकि यह कुलकलङ्क गोपाल बड़े-बड़े तपस्वी, विद्वान्, व्रती तथा ज्ञानाग्निसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे ब्रह्मनिष्ठ और लोकपालगणसे पूजित यज्ञके सभापति महर्षियोंसे भी बढ़कर

१. जोऽव्ययः ।

सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः ।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ॥३४॥
वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः ।
स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ॥३५॥
ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम् ।
वृथा पानरतं शश्वत्सपर्यां कथमर्हति ॥३६॥
ब्रह्मर्षिसेवितान्देशान्हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम् ।
समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥३७॥

किस प्रकार पूजाका पात्र हो सकता है ? कौआ क्या कभी यज्ञके पुरोडाशका भागी हो सकता है ? ॥ ३३-३४ ॥ यह वर्ण, आश्रम और कुलसे पृथक्, सारे धर्मोंसे बहिष्कृत, स्वेच्छाचारी और गुणहीन कृष्ण किस प्रकार पूजाके योग्य हो सकता है ? ॥३५॥ राजा ययातिने इन (यादवों) के कुलको शाप दिया है, इसलिये यह कुल सत्पुरुषोंसे बहिष्कृत और निरन्तर वृथा मद्यपानादिमें तत्पर रहता है । यह पूजाके योग्य किस प्रकार हो सकता है ? ॥ ३६ ॥ ये लुटेरे यादव ब्रह्मर्षिगणसेवित ब्रह्मतेजयुक्त मथुरा आदि देशोंको छोड़कर समुद्रस्थ किलेका आश्रय लेकर प्रजाको पीडा देते रहते हैं" ॥ ३७ ॥

एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।
नोवाच किञ्चिद्भगवान्यथा सिंहः शिवारुतम् ॥३८॥

भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत्सभासदः ।
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥३९॥

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥४०॥

जिसका सौभाग्य नष्ट हो गया है उस शिशुपालने ऐसे ही बहुत-से कटुवचन कहे । किन्तु गीदड़के शब्दसे जैसे सिंह कुछ नहीं बोलता वैसे ही भगवान्‌ने भी कुछ न कहा ॥ ३८ ॥ तब सभासद्गण भगवान्‌की वह दुःसह निन्दा सुन रोषसे चेदिराजको बुरा-भला कहते हुए वहाँसे कान मूँदकर खिसकने लगे ॥ ३९ ॥ क्योंकि जो पुरुष भगवान्‌की अथवा भगवत्परायण भक्तोंकी निन्दा सुनकर वहाँसे दूर नहीं हट जाता वह भी शुभकर्मसे भ्रष्ट होकर नीच गतिको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृञ्जयाः ।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसवः ॥४१॥
ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।
भर्त्सयन्कृष्णपक्षीयान्राज्ञः सदसि भारत ॥४२॥
तावदुत्थाय भगवान्स्वान्निवार्य स्वयं रुषा ।
शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः ॥४३॥

तब पाण्डवगण तथा मत्स्य, केकय और सृञ्जय-देशीय राजालोग क्रोधित हो शिशुपालको मारनेके लिये अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर उठ खड़े हुए ॥ ४१ ॥ हे भरतनन्दन ! तब शिशुपालने भी बिना किसी प्रकारकी हिचकिचाहटके सभामें कृष्णपक्षीय राजाओंको ललकारते हुए हाथमें ढाल-तलवार उठा लीं ॥ ४२ ॥ इतनेहीमें भगवान्‌ने उठकर अपने सुहृदोंको शान्त किया और अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले शत्रुको छुरेके समान धारवाले अपने चक्रसे स्वयं ही मार डाला ॥ ४३ ॥

शब्दः कोलाहलोऽप्यासीच्छिशुपाले हते महान् ।
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥४४॥

इस प्रकार शिशुपालके मारे जानेपर वहाँ बड़ा भारी कोलाहल होने लगा और उसके अनुयायी राजालोग अपने-अपने प्राण लेकर भाग गये ॥४४॥

१. ब्रज्य । २. छया ।

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥४५॥

जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया ।
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ॥४६॥

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ।
सर्वान्सम्पूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ॥४७॥

साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
उवास कतिचिन्मासान्सुहृद्भिरभियाचितः ॥४८॥

ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ।
ययौ सभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥४९॥

वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः पुनः ॥५०॥

राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ॥५१॥

राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः ।
कृष्णं क्रतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा ॥५२॥

दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ।
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥५३॥

य इदं कीर्तयेद्विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् ।
राजमोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५४॥

इसी समय शिशुपालके शरीरसे निकला हुआ तेज सब प्राणियोंके देखते-देखते भगवान् कृष्णहीमें समा गया जैसे आकाशसे गिरी हुई ज्योति पृथिवीमें समा जाती है ॥४५॥ तीन जन्मतक निरन्तर वैरभावके कारण द्वेषपूर्ण बुद्धिसे भगवान्‌का ध्यान करनेसे वह भगवान्‌में तन्मय हो गया । सच है भाव ही ध्येयाकारताकी प्राप्तिका कारण है ॥४६॥ तदनन्तर चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिरने सदस्योंके सहित ऋत्विजोंको बहुत-सी दक्षिणा दी और सबका सत्कार कर विधिपूर्वक अवभृथस्नान किया ॥४७॥

इस प्रकार राजा युधिष्ठिरका यज्ञ पूर्ण कराकर सर्वयोगेश्वरेश्वर भगवान् कृष्ण सुहृद्गणकी प्रार्थनासे कुछ दिन वहाँ रहे ॥४८॥ फिर उनकी इच्छा न होनेपर भी राजा युधिष्ठिरसे आज्ञा ले वे देवकीनन्दन स्त्री और मन्त्रियोंके सहित अपनी राजधानीको चले गये ॥४९॥ हे राजन् ! जिस प्रकार वैकुण्ठवासी जय और विजयका सनकादिके शापसे बारम्बार जन्म हुआ वह सब वृत्तान्त मैंने विस्तारपूर्वक तुम्हें पहले ही सुना दिया है ॥५०॥ महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञका अवभृथ-स्नान कर ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी सभामें इन्द्रके समान सुशोभित होने लगे ॥५१॥ उस समय जो पाण्डवोंकी बढ़ी हुई सम्पत्ति देखकर उसे सहन नहीं कर सका ऐसे कुरुकुलकलङ्क कलिरूप पापी दुर्योधनको छोड़कर अन्य सब देवता, मनुष्य और प्रमथ आदि राजा युधिष्ठिरसे सम्मानित हो कृष्णचन्द्र तथा राजसूय यज्ञकी प्रशंसा करते हुए प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने लोकोंको चले गये ॥५२-५३॥

जो पुरुष भगवान् कृष्णके इन शिशुपालवध आदि कर्मोंका तथा राजाओंके मुक्त करने और यज्ञानुष्ठानके वृत्तान्तका कीर्तन करेगा वह सब पापोंसे छूट जायगा ॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे शिशुपालवधो नाम चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

१. मुदा ययुः । २. वधत्रिस० ।

पचहत्तरवाँ अध्याय

राजसूयके अवभृथस्नानका महोत्सव और दुर्योधनका अपमान।

राजोवाच

अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा राजसूयमहोदयम्।
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन्नृदेवा ये समागताः॥ १॥
दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्षयः सुराः।
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम्॥ २॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन्! आपने जो कहा कि अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञोत्सवको देखकर वहाँ जो नृदेव राजालोग, ऋषिगण और देवगण आये थे उनमेंसे एक दुर्योधनको छोड़कर अन्य सभीलोग अति आनन्दित हुए, सो इसमें दुर्योधनकी अप्रसन्नताका क्या कारण था? ॥१-२॥

ऋषिरुवाच[1]

पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः।
बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन्प्रेमबन्धनाः॥ ३॥
भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः।
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने॥ ४॥
गुरुशुश्रूषणे[2] जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने।
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महामनाः[3]॥ ५॥
युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः।
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च सन्तर्दनादयः॥ ६॥
निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा।
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः॥ ७॥

ऋषिवर श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! तुम्हारे पितामह महात्मा युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें समस्त बन्धु-बान्धवोंने प्रेमवश भिन्न-भिन्न सेवा-कार्य अपने-अपने हाथोंमें लिये थे ॥३॥ भीमसेन पाकशालाकी देख-रेख करते थे, दुर्योधन कोषाध्यक्ष थे, सहदेवके हाथमें आने-जानेवालोंके पूजा-सत्कारका कार्य था और नकुल विविध सामग्री एकत्रित करनेका कार्य करते थे ॥४॥ अर्जुन पूज्य महानुभावोंकी सेवामें रहते थे, भगवान् कृष्ण अतिथियोंके पाँव पखारते थे, द्रौपदी भोजन परोसती थीं और महामना कर्ण दान करते थे ॥५॥ हे राजेन्द्र! इसी प्रकार सात्यकि, विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर, भूरिश्रवा आदि बाह्लीकपुत्र और सन्तर्दनादि भी उस महायज्ञमें भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्त होकर राजा युधिष्ठिरका प्रिय करनेके लिये अपने-अपने कार्योंमें लगे हुए थे ॥६-७॥

ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु
स्विष्टेसु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे
चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम्॥ ८॥
मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः।
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे॥ ९॥
नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः।

तदनन्तर ऋत्विक्, सदस्य और बहुज्ञ पुरुषोंका तथा अपने बन्धु-बान्धवोंका सुमधुर वचन, नाना प्रकारकी सामग्री और दक्षिणादिसे सम्यक् सत्कार हो जानेपर और चेदिराज शिशुपालके शरीर छोड़कर भगवान् यदुनाथके चरणोंमें प्रविष्ट हो जानेपर महाराज युधिष्ठिरने गङ्गाजीमें अवभृथस्नान किया ॥८॥ उस अवभृथस्नानके उत्सवके समय मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, ढोल, आनक और गोमुख आदि नाना प्रकारके बाजे बजने लगे ॥९॥ उस समय नर्त्तकियाँ आनन्दित हो-कर नाचने लगीं, झुंड-के-झुंड गवैये गाने लगे तथा

१. बादरायणिरुवाच। २. सतां शु०। ३. महात्मनः।

वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत् ॥१०॥
चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः ॥११॥
यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकेकयकोसलाः ।
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरःसराः ॥१२॥
सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।
देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥१३॥
स्वलङ्कृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः ।
विलिम्पन्त्योऽभिषिञ्चन्त्यो विजह्रुर्विविधै रसैः ॥१४॥
तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः ।
पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥१५॥

उनकी वीणा, वेणु और तालियोंका महान् शब्द आकाशमें गूँज उठा ॥१०॥ फिर यजमानको आगे कर यदु, सृञ्जय, काम्बोज, कुरु, केकय और कोसल-देशके नृपतिगण सुवर्णमय हारोंसे विभूषित हो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंको उठाये हुए हाथी, रथ, घोड़े और भली प्रकार सजी हुई पैदल सेनाके सहित भूमण्डलको कम्पायमान करते हुए नगरसे बाहर आये ॥११-१२॥ उनके साथ सदस्य और ऋत्विक् आदि द्विजश्रेष्ठ महान् वेदध्वनि करते हुए चले और देवता, पितृगण तथा गन्धर्व फूलोंकी वर्षा कर स्तुति करने लगे ॥१३॥ चन्दन, माला, आभूषण और वस्त्रादिसे भली प्रकार अलङ्कृत हुए स्त्री और पुरुष एक-दूसरेको नाना प्रकारके रसोंसे लेपन करते और भिगोते हुए क्रीडा करने लगे ॥१४॥ वाराङ्गनाएँ पुरुषोंद्वारा तैल, गोरस, चन्दन, हल्दी और गाढ़ी केसरसे अनुलिप्त हो स्वयं भी उनके अङ्गोंपर वे ही वस्तुएँ मलती हुई क्रीडा करने लगीं ॥१५॥

गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेत-
देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ।
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः
सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥१६॥
ता देवरानुत सखीन्सिषिचुर्दृतीभिः
क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।
औत्सुक्यमुक्तकवराच्च्यवमानमाल्याः
क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥१७॥

उस समय इस उत्सवको देखनेके लिये आकाशमें विमानोंपर चढ़कर आयी हुई देवाङ्गनाओंके समान राजमहिलाएँ रथ आदिपर चढ़कर बहुतसे सैनिकोंसे सुरक्षित हो नगरके बाहर आयीं। वे पाण्डवोंके मामाके पुत्र कृष्ण और उनके मित्रोंद्वारा भिगोई जाती हुई राजरानियाँ लज्जापूर्वक मुसकानेसे प्रफुल्लवदन होनेके कारण अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुईं ॥१६॥ वस्त्रोंके भीग जानेसे जिनके शरीर, कुच, जङ्घा और मध्यभाग आदि कुछ-कुछ दीख रहे हैं ऐसी वे राजमहिलाएँ अपने देवरों और सखाओंको पिचकारियोंसे भिगोने लगीं। अत्यन्त उत्सुकताके कारण उनके केशपाश ढीले पड़ गये और उनमें गुथी हुई फूलोंकी मालाएँ खिसक गयीं। इस प्रकार अपनी मनोहर क्रीडाओंसे वे मलिन बुद्धिवाले पुरुषोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न करने लगीं ॥१७॥

स सम्राड्रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम् ।
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥१८॥

उस समय एक सुन्दर घोड़ोंसे युक्त और सुवर्णमाला-मण्डित रथमें अपनी पत्नियोंके सहित सवार हुए सार्वभौम महाराज युधिष्ठिर क्रियाओंके सहित साक्षात् यज्ञपुरुषके समान शोभाको प्राप्त हुए ॥१८॥

१. णादिभिः ।

पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ।
आचान्तं स्नापयाञ्चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ॥१९॥
देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम् ।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः ॥२०॥
सस्नुस्तत्र ततः सर्वे वर्णाश्रमयुता नराः ।
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ॥२१॥
अथ राजाहते क्षौमे परिधाय स्वलङ्कृतः ।
ऋत्विक्सदस्यविप्रादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥२२॥
बन्धुज्ञातिनृपान्मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ।
अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥२३॥
सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्र-
गुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्घ्यहाराः ।
नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दजुष्ट-
वक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः ॥२४॥
अथर्त्विजो महाशीलाः सदस्या ब्रह्मवादिनः ।
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा राजानो ये समागताः ॥२५॥
देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः ।
पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ॥२६॥
हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।
नैवातृप्यन्प्रशंसन्तः पिबन्मर्त्योऽमृतं यथा ॥२७॥
ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्संबन्धिबान्धवान् ।
प्रेम्णा निवासयामास कृष्णं च त्यागकातरः ॥२८॥

तब ऋत्विजोंने उनसे पत्नीसंयाजनामक यज्ञ और अवभृथ-स्नान-सम्बन्धी कर्म कराकर आचमन कराया और फिर द्रौपदीके सहित गङ्गाजीमें स्नान कराया ॥१९॥ उस समय मनुष्योंकी दुन्दुभियोंके साथ ही देवताओंकी दुन्दुभियोंका भी शब्द होने लगा तथा देवता, ऋषि, पितृगण और मनुष्य फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥२०॥ इस प्रकार अवभृथस्नान हो चुकनेपर समस्त वर्ण और आश्रमके लोगोने गङ्गाजीमें स्नान किया; क्योंकि उस समय स्नान करनेसे महापातकी पुरुष भी तुरन्त पापसे छूट जाता है ॥२१॥ तदनन्तर, महाराज युधिष्ठिर-ने दो नवीन रेशमी वस्त्र धारणकर और भी नाना प्रकारके आभूषण धारण किये तथा ऋत्विक्, सदस्य और अन्य ब्राह्मणोंका विविध प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे सत्कार किया ॥२२॥ इसी प्रकार उन भगवत्परायण महाराजने अपने बन्धु-बान्धव, जाति-भाई, नृपगण, मित्र, सुहृद् तथा और सबका भी यथेष्ट सम्मान किया ॥२३॥ उस समय सब लोग मणिमय कुण्डल, माला, पगड़ी, अँगरखा, दुपट्टा तथा बहुमूल्य हार पहनकर देवताओंके समान तेजोमय प्रतीत होने लगे तथा युगल कुण्डल और अलकावलीके कारण जिनके मनोहर मुखारविन्द सुशोभित हैं वे स्त्रियाँ भी कमरमें सुवर्णमेखला धारणकर अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुईं ॥२४॥

हे राजन् ! तदनन्तर महामना ऋत्विग्गण, वेदवादी सदस्यगण यज्ञोत्सव देखनेके लिये आये हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और राजालोग तथा अपने अनुयायियों-के सहित देवता, ऋषि, पितृ, भूत और लोकपालगण महाराज युधिष्ठिरसे भली प्रकार सम्मानित हो उनकी अनुमति ले अपने-अपने घरोंको गये २५-२६॥ हे राजर्षे ! जिस प्रकार अमृत पीनेसे मनुष्य कभी नहीं अघाता उसी प्रकार भगवद्भक्त महाराज युधिष्ठिरके राजसूययज्ञकी प्रशंसा करते-करते उनकी तृप्ति नहीं हुई ॥२७॥ उस समय वियोगको न सह सकनेके कारण राजा युधिष्ठिरने अपने सुहृत्-सम्बन्धी और बान्धवोंको तथा भगवान् कृष्णको अति प्रेम-पूर्वक अपने ही यहाँ टिकाये रक्खा ॥२८॥

१. जनाः ।

भगवानपि तत्राङ्ग न्यवात्सीत्तत्प्रियङ्करः ।
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ॥२९॥
इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् ।
सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः ॥३०॥

एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।
अतप्यद्राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ॥३१॥

यस्मिन्नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मी-
र्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः ।
ताभिः पतीन्द्रुपदराजसुतोपतस्थे
यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥३२॥
यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं
श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् ।
मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं
श्रीमन्मुखं प्रचलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ॥३३॥

सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट् ।
वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥३४॥
आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव ।
पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च बन्दिभिः ॥३५॥
तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप ।
किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन्रुषा ॥३६॥
स्थलेऽभ्यगृह्णाद्वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत् ।
जले च स्थलवद्भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः ॥३७॥
जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे ।
निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ॥३८॥
स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वल-
न्निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।

हे तात ! तब युधिष्ठिरका प्रिय करनेवाले भगवान् कृष्णने भी साम्बादि यादवोंको द्वारका भेज दिया और स्वयं वहीं रह गये ॥२९॥ इस प्रकार धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे अपने मनोरथरूप दुस्तर समुद्रको पारकर निश्चिन्त हो गये ॥३०॥

एक दिन भगवत्परायण महाराज युधिष्ठिरके राजमहलकी सम्पत्ति और राजसूययज्ञद्वारा प्राप्त हुए सम्मानको देखकर दुर्योधनको बड़ा डाह हुआ ॥३१॥ जिस सभामें मयदानवकी उपस्थित की हुई नरेन्द्र, दैत्येन्द्र और सुरेन्द्रोंकी नाना प्रकारकी सम्पत्तियाँ सुशोभित थीं तथा उन सम्पत्तियोंसे राजरानी द्रौपदी अपने पतियोंकी परिचर्या करती थीं तथा जिस राजभवनमें उस समय भगवान् कृष्णकी कुचकुङ्कुमरञ्जित रक्तवर्ण हार तथा चञ्चल कुण्डल और अलकावलीमण्डित मनोहर मुखारविन्दसे सुशोभित सहस्रों रानियाँ कटिभारके कारण मन्दगतिसे चलती हुई चरणनूपुरोंकी झनकार करती थीं उसे देखकर द्रौपदीमें आसक्तचित्त दुर्योधनको अत्यन्त सन्ताप हुआ ॥३२-३३॥

एक दिन राजाधिराज महाराज युधिष्ठिर मयदानवकी बनायी हुई सभामें अनुजगण, बन्धुजन और अपने नेत्ररूप भगवान् श्रीकृष्णसे घिरे हुए साम्राज्य-लक्ष्मीसे सुसम्पन्न हो साक्षात् इन्द्रके समान सुवर्णमय सिंहासनपर विराजमान थे। उस समय बन्दीगण उनकी स्तुति कर रहे थे॥३४-३५॥ इसी समय महामानी दुर्योधन किरीट-मुकुट-माला एवं खड्गादिसे सुसज्जित हो अपने भाइयोंके साथ द्वारपालोंको क्रोधपूर्वक झिड़कता हुआ वहाँ आया ॥३६॥ उसने मयासुरकी मायासे मोहित हो स्थलको जल समझकर अपने कपड़े समेट लिये और जलमें स्थलका भ्रम हो जानेसे वह उसमें गिर पड़ा ॥३७॥ हे तात ! उसकी यह दशा देखकर भीमसेन, राजमहिलाएँ और दूसरे राजालोग महाराज युधिष्ठिरद्वारा मना किये जानेपर भी, भगवान् कृष्णका रुख देखकर हँसने लगे ॥३८॥ इससे वह लज्जित होकर शिर नीचा किये मन-ही-मन क्रोधानलसे जलता हुआ सभाभवनसे उठकर चुपचाप

हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सता-
मजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ।
बभूव तूष्णीं भगवान्भुवो भरं
समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ॥३९॥
एतत्तेऽभिहितं राजन्यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
सुयोधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥४०॥

हस्तिनापुरको चला गया। इससे [भावी अनर्थकी सम्भावनासे] सज्जन पुरुषोंमें महान् हाहाकारशब्द होने लगा और धर्मराज कुछ अनमने-से हो गये तथा जिनकी दृष्टिसे दुर्योधन भ्रममें पड़ गया था वे भूमिका भार उतारनेकी इच्छावाले भगवान् कृष्ण उस समय कुछ न बोले ॥३९॥ हे राजन्! तुमने जो मुझसे पूछा था वह सब मैंने महान् राजसूययज्ञमें दुर्योधनकी दुष्टताका वृत्तान्त तुम्हें सुना दिया ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
दुर्योधनमानभङ्गो नाम पञ्चसप्ततितमो-
ऽध्यायः ॥ ७५ ॥

छिहत्तरवाँ अध्याय

शाल्व और यादवोंका युद्ध।

श्रीशुक उवाच

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप ।
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥ १ ॥
शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः[2] ।
यदुभिर्निर्जितः संख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥ २ ॥
शाल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।
अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! अब जिस प्रकार सौभनामक विमानका स्वामी शाल्व मारा गया था वह लीलाहीके लिये मनुष्यशरीर धारण करनेवाले भगवान् कृष्णका एक अद्भुत कर्म और सुनो ॥ १ ॥ शाल्व शिशुपालका मित्र था। वह जब रुक्मिणीके विवाहके समय [कुण्डिनपुरमें] आया था तो जरासन्धादि राजाओंके समान स्वयं भी यादवोंसे युद्धमें हार गया था ॥ २ ॥ उस समय शाल्वने सब राजाओंको सुनाते हुए यह प्रतिज्ञा की थी कि "तुम मेरा पुरुषार्थ देखना, एक दिन मैं सम्पूर्ण धरातलको यादवोंसे शून्य कर दूँगा" ॥ ३ ॥

इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम् ।
आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृद्ग्रसन् ॥ ४ ॥
संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः ।
वरेणच्छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥ ५ ॥
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।

हे राजन्! इस प्रकार प्रतिज्ञा कर वह मूढ़ केवल एक बार एक मुट्ठी भस्म फाँकता हुआ देवाधिदेव भगवान् पशुपतिकी आराधना करने लगा ॥ ४ ॥ इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो जानेपर आशुतोष भगवान् शङ्करने अपने शरणागत शाल्वसे इच्छित वर माँगनेको कहा ॥ ५ ॥ तब शाल्वने यादवोंको भयभीत करनेवाला एक ऐसा विमान माँगा जो इच्छानुसार सर्वत्र जा सके और जिसे देवता,

१. न्धे दुर्यो०। २. तैः।

अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥ ६॥
तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरञ्जयः ।
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयस्मयम्[1] ॥ ७ ॥
स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम् ।
ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन्[2] ॥ ८ ॥
निरुद्ध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ ।
पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥ ९ ॥
सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः[3] ।
विहारान्स विमानाग्र्यान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः ॥१०॥
शिला द्रुमाश्चाशनयः सर्पा आसारशर्कराः ।
प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद्रजसाच्छादिता दिशः ॥११॥
इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही ॥१२॥
प्रद्युम्नो भगवान्वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः ।
मा भैष्टेत्यभ्यधाद्वीरो रथारूढो महायशाः[4] ॥१३॥
सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः ।
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ॥१४॥
अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ॥१५॥
ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ।
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥१६॥
ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥१७॥
विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।
शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ॥१८॥

असुर, मनुष्य, गन्धर्व, सर्प या राक्षस कोई भी न तोड़ सके ॥ ६ ॥ भगवान् शङ्करने 'तथास्तु' कहा और उनकी आज्ञासे शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले मय दानवने सौभनामक एक लोहमय विमान बनाकर शाल्वको दिया ॥ ७ ॥ उस इच्छाचारी अन्धकारमय अभेद्य विमानको पाकर शाल्व यादवोंका वैर स्मरण करता हुआ द्वारकापुरीमें आया ॥ ८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! शाल्वने एक बहुत बड़ी सेनासे सम्पूर्ण द्वारकापुरीको घेर लिया और उसके उपवन, उद्यान, गोपुर, द्वार, प्रासाद, अट्टालिका, तोलिका (मुँडेलियाँ) और विहारगृहोंको तोड़ने लगा । उस समय उस श्रेष्ठ विमानसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगी ॥९-१०॥ शिला, वृक्ष, वज्र, सर्प और ओलोंकी झड़ी लग गयी तथा प्रचण्ड बवण्डरके कारण सम्पूर्ण दिशाएँ धूलिसे व्याप्त हो गयीं ॥११॥

हे राजन्! पूर्वकालमें जिस प्रकार त्रिपुरासुरके कारण सम्पूर्ण पृथिवी पीड़ित हो गयी थी उसी प्रकार सौभके कारण अत्यन्त पीडित द्वारकापुरीको शान्ति नसीब न होती थी ॥१२॥ तब महायशस्वी वीरवर भगवान् प्रद्युम्नने अपनी प्रजाको अत्यन्त पीडित की जाती हुई देख रथपर सवार हो 'डरो मत' ऐसा कहकर धैर्य बँधाया ॥१३॥ उनके साथ सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, भाइयोंके सहित अक्रूर, हार्दिक्य, भानुविन्द, गद, शुक, सारण तथा अन्य बड़े-बड़े धनुर्धर महारथी वीर रथ, हाथी, घोड़े और पदाति-सेनासे सुरक्षित हो कवच धारणकर नगरके बाहर आये ॥१४-१५॥

तत्पश्चात् देवताओंके साथ जैसे दैत्योंका संग्राम हुआ था उसी प्रकार यादवोंके साथ शाल्वके सैनिकोंका अति घोर और रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥१६॥ तब, सूर्यदेव जैसे रात्रिके अन्धकारको दूर कर देते हैं उसी प्रकार रुक्मिणीनन्दन श्रीप्रद्युम्नजीने शाल्वकी वह सम्पूर्ण माया एक क्षणमें ही दिव्यास्त्रोंसे दूर कर दी ॥१७॥ और शाल्वके सेनापतिको सोनेके पङ्ख और लोहेकी नोंकवाले तथा जिनके जोड़ जान नहीं पड़ते थे ऐसे पचीस बाणोंसे वेध डाला ॥१८॥

१. मयोमयम् । २. वैरिकृष्णमनुस्मरन् । ३. प्राकाराट्टाल० । ४. रथः ।

शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।
दशभिर्दशभिर्नेतॄन्वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥१९॥

इसी प्रकार सौ बाणोंसे शाल्वको, एक-एकसे सब सैनिकोंको, दश-दशसे सेनानायकोंको और तीन-तीनसे वाहनोंको घायल कर दिया ॥१९॥

तदद्भुतं महत्कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥२०॥
बहुरूपैकरूपं तद्दृश्यते न च दृश्यते ।
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत् ॥२१॥
क्वचिद्भूमौ क्वचिद्व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।
अलातचक्रवद्भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम् ॥२२॥
यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः ।
शाल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चञ्छरान्सात्वतयूथपाः ॥२३॥
शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ।
पीड्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत्परेरितैः ॥२४॥

महात्मा प्रद्युम्नका यह अद्भुत और महान् पराक्रम देख अपने और पराये सभी सैनिक उनकी प्रशंसा करने लगे ॥२०॥ शाल्वका वह मयदानवकृत मायामय विमान कभी अनेकरूप और कभी एकरूप दिखायी देता था; कभी वह दीखने लगता और कभी अदृश्य हो जाता था । इस प्रकार शत्रुओंको उसकी गति कुछ भी जान न पड़ती थी ॥ २१ ॥ उस सौभविमानकी किसी एक स्थानमें स्थिति नहीं थी वह कभी पृथिवीपर, कभी आकाशमें, कभी पर्वतशिखरपर और कभी जलमें अलातचक्रके समान घूमता हुआ दिखायी देता था ॥२२॥ जहाँ-जहाँ सौभ और अपने सैनिकोंके सहित शाल्व दिखायी देता यादवयूथपतिगण वहीं-वहीं बाणकी झड़ी लगा देते॥२३॥ इस प्रकार शत्रुओंके छोड़े हुए सूर्य और अग्निके समान उष्ण स्पर्शवाले तथा विषम विषधरोंके समान असह्य बाणोंसे विमान और सैनिकोंके सहित पीडित हो शाल्व मूर्च्छित हो गया ॥२४॥

शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः ।
न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥२५॥
शाल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्राक्प्रपीडितः ।
आसाद्य गदया मौर्व्या[3] व्याहत्य व्यनदद्बली ॥२६॥
प्रद्युम्नं गदया शीर्णवक्षःस्थलमरिन्दमम् ।
अपोवाह रणात्सूतो धर्मविद्दारुकात्मजः ॥२७॥
लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत् ।
अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽपसर्पणम् ॥२८॥
न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः ।

इधर इहलोक और परलोक दोनोंको जीतनेकी इच्छावाले यादववीरोंने शाल्वके सैनिकोंकी शस्त्रवर्षासे अत्यन्त पीडित होकर भी रणभूमिको नहीं छोड़ा ॥२५॥ इसी समय शाल्वके महाबली मन्त्री द्युमान्ने, जिसे पहले प्रद्युम्नजीने अत्यन्त पीडित किया था, प्रद्युम्नजीके पास आ उनपर वज्रलोहनिर्मित गदाका प्रहार कर भयङ्कर सिंहनाद किया ॥२६॥ उस गदाप्रहारसे शत्रुदमन प्रद्युम्नजीका वक्षःस्थल विदीर्ण हुआ देख सारथ्यधर्मको जाननेवाला उनका सारथी दारुकपुत्र उन्हें रणभूमिसे अलग ले गया ॥२७॥ जब एक मुहूर्त्त बीतनेपर प्रद्युम्नजीको चेत हुआ तो वे सारथीसे कहने लगे—"सूत ! यह बड़ा बुरा हुआ कि मैं रणभूमिसे हटाया गया ॥२८॥ कायरस्वभाव सारथीके कारण जिसे यह कलङ्क प्राप्त हुआ है ऐसे एक मुझको छोड़कर यदुकुलमें उत्पन्न

१. मायामयकृतं तत्तु दुर्वि० । २. त्रय० । ३. गुर्व्या ।

विना मत्क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात्[1] ॥२९॥
किं नु वक्ष्येऽभिसङ्गम्य पितरौ रामकेशवौ ।
युद्धात्सम्यगपक्रान्तः[2] पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥३०॥
व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।
क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥३१॥

हुआ और कोई वीर रणभूमिसे हटता हुआ नहीं सुना गया ॥२९॥ भला युद्धसे भागा हुआ मैं अपने पिता राम और कृष्णसे मिलनेपर उनके पूछनेपर उन्हें अपने योग्य क्या उत्तर दूँगा ? ॥३०॥ अहो ! मेरी भौजाइयाँ मेरी हँसी उड़ाती हुई मुझसे स्पष्ट पूछेंगी—कहो, वीर ! युद्धमें शत्रुओंने तुम्हें कैसे कायर कर दिया ?" ॥३१॥

सारथिरुवाच[3]

धर्मं विजानतायुष्मन्कृतमेतन्मया विभो ।
सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी ॥३२॥
एतद्विदित्वा तु भवान्मयापोवाहितो रणात् ।
उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः ॥३३॥

सारथी बोला—हे आयुष्मन् ! हे विभो ! सारथीको चाहिये कि सङ्कटमें पड़े हुए रथीकी रक्षा करे और रथी सारथीको बचावे—इस धर्मको जानते हुए ही मैंने ऐसा किया है ॥३२॥ यह जानकर ही जब आप शत्रुकी गदाके प्रहारसे अचेत हो गये तो मैं आपको रणभूमिसे अलग ले आया ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[4] उत्तरार्धे
शाल्वयुद्धे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥७६॥

सतहत्तरवाँ अध्याय

शाल्ववध ।

श्रीशुक उवाच[5]

स उपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः ।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ॥ १ ॥
विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः ।
प्रतिहत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥ २ ॥
चतुर्भिश्चतुरो वाहान्सूतमेकेन चाहनत् ।
द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ॥ ३ ॥
गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ।
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे संछिन्नकन्धराः ॥ ४ ॥
एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।
युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब प्रद्युम्नजीने जलसे आचमन कर उत्तम कवच धारणकर धनुष उठाया और सारथीसे कहा कि "मुझे वीरवर द्युमान्‌के पास ले चल" ॥ १ ॥ द्युमान् यादवसेनाका संहार कर रहा था अतः उसके पास पहुँचकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नजीने उसे रोका और हँसते हुए उन्होंने आठ बाणोंसे उसे बेध दिया ॥२॥ चार बाणोंसे उसके चार घोड़ोंको, एकसे सारथीको, दोसे धनुष और रथकी ध्वजाको तथा एकसे उसके शिरको बींध डाला ॥ ३ ॥ इधर, गद, सात्यकि और साम्ब आदि यादवगण शाल्वकी सेनाका संहार करने लगे और सौभविमानपर चढ़े हुए समस्त सैनिकगण उनके बाणोंसे शिर कट जानेके कारण समुद्रमें गिरने लगे ॥ ४ ॥ इस प्रकार सत्ताईस दिनतक यादव और शाल्व-सेनाका परस्पर एक दूसरेपर प्रहार करते हुए बड़ा घमासान युद्ध हुआ ॥ ५ ॥

१. तकल्मषात् । २. युद्धधर्म्यादपक्रान्तः । ३. सूत उवाच । ४. न्धे सौभवधे । ५. बादरायणिरुवाच ।

इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।
राजसूयेऽथ निर्वृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥ ६ ॥
कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन्द्वारवतीं ययौ ॥ ७ ॥
आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसङ्गतः ।
राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥ ८ ॥

हे राजन् ! उस समय भगवान् कृष्ण धर्मराजके बुलानेसे इन्द्रप्रस्थ गये हुए थे। वहाँ राजसूययज्ञ समाप्त हो जानेपर और शिशुपालके परलोक सिधारनेपर बहुतसे अपशकुन होते देख वे कुरुवंशी बड़े-बूढ़ों मुनीश्वरों और पुत्रोंके सहित कुन्तीजीसे आज्ञा ले द्वारकापुरीको चले ॥ ६-७ ॥ उस समय वे मन-ही-मन कहने लगे 'मैं आर्य बलरामजीके साथ यहाँ आया हुआ हूँ, इस समय शिशुपालके पक्षवाले राजाओंने अवश्य ही मेरी पुरीपर आक्रमण किया होगा' ॥ ८ ॥

वीक्ष्य तत्कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।
सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह केशवः ॥ ९ ॥
रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ।
सम्भ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥१०॥

वहाँ पहुँचनेपर उन्होंने अपने स्वजनोंका कष्ट देखा तथा सौभविमान और राजा शाल्वको वहाँ उपस्थित देख बलरामजीको नगरकी रक्षाका भार सौंपकर दारुक सारथीसे कहा—॥ ९ ॥ "हे सूत ! मेरे रथको तुरन्त ही शाल्वके पास ले चलो, यह सौभराज बड़ा ही मायावी है, तुम इससे भय न मानना" ॥१०॥

इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥११॥
शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।
प्राहरत्कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां मृधे ॥१२॥
तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत् ॥१३॥
तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभं च खे भ्रमत् ।
अविध्यच्छरसन्दोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥१४॥
शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ।
बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ॥१५॥
हाहाकारो महानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम् ।
निनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥१६॥

भगवान्‌की इस प्रकार आज्ञा पा दारुकने रथपर चढ़कर घोड़ोंको बढ़ाया। उस समय यादव और शाल्व दोनों पक्षके वीरोंने युद्धभूमिमें गरुडध्वजको आते देखा ॥११॥ तब जिसके प्रायः सभी सेनानायक नष्ट हो चुके थे उस शाल्वने भगवान् कृष्णको युद्धभूमिमें देखकर उनके सारथीपर एक भयङ्कर शब्द करनेवाली शक्ति छोड़ी ॥१२॥ उसे आकाशमें विद्युत्के समान दशों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई अत्यन्त वेगसे आती देख श्रीकृष्णचन्द्रने बाण बरसाकर उसके सैकड़ों टुकड़े कर डाले ॥१३॥ फिर सोलह बाणोंसे शाल्वको बेधकर सूर्य जैसे किरणोंसे आकाशको व्याप्त कर देता है उसी प्रकार आकाशमें घूमते हुए सौभविमानको भी बाणसमूहसे वेध दिया ॥१४॥ तब शाल्वने भी बाण छोड़कर शार्ङ्गधन्वा भगवान् कृष्णका शार्ङ्गधनुषयुक्त बायाँ हाथ वेधा। इससे उनके हाथसे शार्ङ्गधनुष छूटकर गिर पड़ा—यह बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥१५॥ इस आश्चर्यको देखकर समस्त दर्शकगण महान् हाहाकार करने लगे तब सौभराजने घोर सिंहनाद करते हुए भगवान् कृष्णसे कहा—॥१६॥

१. रथमा० । २. भिर्बाणैर्विद्ध्वा सौभं ।

यत्त्वया मूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम् ।
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ॥१७॥
तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् ।
नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥१८॥

"रे मूढ़ ! तू हम सबके देखते-देखते हमारे मित्र—हमारे भाई (शिशुपाल) की पत्नी (रुक्मिणी) को हर लाया और फिर तूने उस हमारे सखाको भी असावधान-अवस्थामें सभाके बीचमें मार डाला । इससे तू अपनेको अजेय मानने लगा था सो आज, यदि तू मेरे सामने डटा रहा तो मैं तुझे अपने तीखे बाणोंसे उस लोकको भेज दूँगा जहाँसे कोई लौटकर नहीं आता" ॥१७-१८॥

श्रीभगवानुवाच

वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ।
पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥१९॥
इत्युक्त्वा भगवाञ्छाल्वं गदया भीमवेगया ।
तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ॥२०॥
गदायां संनिवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत ।
ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम् ।
देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥२१॥
कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः ॥२२॥
निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।
विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा ॥२३॥
कथं राममसम्भ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः ।
शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान्विधिः ॥२४॥
इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।
वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः ॥२५॥
एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि ।
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्पाहि बालिश ॥२६॥

श्रीभगवान् बोले—रे मन्द ! तू वृथा बकवाद करता है, अपने शिरपर नाँचते हुए कालको नहीं देखता । अरे ! शूरवीरलोग तो अपनी वीरता ही दिखलाया करते हैं, व्यर्थ बढ़-बढ़कर बातें नहीं बनाते ॥१९॥ ऐसा कह भगवान्‌ने क्रोधमें भरकर एक अत्यन्त वेगशालिनी गदासे शाल्वके कन्धोंपर प्रहार किया । इससे वह रक्तवमन करता हुआ काँपने लगा ॥२०॥ गदाके लौट जानेपर शाल्व अन्तर्धान हो गया । उसके एक मुहूर्त्त पश्चात् एक पुरुषने भगवान् कृष्णको शिर झुकाकर प्रणाम करते हुए रोकर कहा—"मुझे देवकीजीने भेजा है और कहा है कि हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाबाहो ! हे पितृवत्सल ! कसाई जैसे पशुको ले जाता है उसी प्रकार तुम्हारे पिताको शाल्व बाँधकर ले गया है" ॥२१-२२॥ यह अप्रिय संवाद सुन भगवान् कृष्ण मनुष्यस्वभावके अनुसार करुणावश उदास हो साधारण पुरुषोंके समान स्नेहपूर्वक कहने लगे—॥२३॥ "अहो ! दैव बड़ा बलवान् है ! जिन्हें देवता और असुर कोई भी नहीं जीत सकता उन सदा सावधान रहनेवाले भगवान् बलभद्रजीको जीतकर अति अल्पवीर्य शाल्व किस प्रकार मेरे पिताजीको ले गया ?" ॥२४॥ भगवान् ऐसा कह ही रहे थे कि सौभराज वसुदेवजीके समान एक मायारचित पुरुषको लिये हुए वहाँ आया और उनसे कहने लगा—॥२५॥ "रे मूर्ख ! देख, यह तेरा जन्मदाता पिता है जिसके लिये तू जीवन धारण करता है । मैं इसे तेरे सामने ही मारे डालता हूँ, यदि तुझमें सामर्थ्य हो तो इसे बचा ले ॥२६॥

---

१. तृभार्या । २. ह

एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः ।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥२७॥

ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः
　　स्वबोध आस्ते स्वजनानुपङ्गतः ।
महानुभावस्तदबुद्ध्यदासुरीं
　　मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ॥२८॥

न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं
　　प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं
　　सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥२९॥

महामायावी शाल्वने भगवान् कृष्णको इस प्रकार धमकाकर वसुदेवजीका शिर काट डाला और उसे लेकर आकाशस्थ सौभविमानपर आ बैठा ॥२७॥ उस समय महानुभाव भगवान् कृष्ण स्वयंसिद्ध ज्ञानवान् होकर भी अपने स्वजन वसुदेवजीके सम्बन्धसे दो घड़ीके लिये साधारण पुरुषोंके समान शोकमें डूब गये, किन्तु फिर जान गये कि यह तो शाल्वकी फैलायी हुई मयदानवकी आसुरी माया ही थी ॥२८॥ इस प्रकार सचेत होनेपर श्रीअच्युतने स्वप्नके समान उस रणभूमिमें न दूत ही देखा और न अपने पिताका शरीर ही। वे अपने शत्रु शाल्वको सौभविमानमें स्थित हो आकाशमें घूमते देख उसे मारनेको उद्यत हो गये ॥२९॥

एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः के च नान्विताः ।
यत्स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥३०॥
क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसम्भवाः ।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्त्वखण्डितः ॥३१॥

यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्यया
　　हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं
　　कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥३२॥

हे राजर्षे ! पूर्वापरका विचार न करनेवाले कुछ मुनीश्वर ऐसा कहते हैं । किन्तु वे इस बातका विचार नहीं करते कि ऐसा कहनेमें उन्हींके वाक्योंसे विरोध हो जाता है ॥३०॥ कहाँ तो अज्ञानियोंमें होनेवाले शोक, मोह, स्नेह और भय आदि और कहाँ जो कभी खण्डित नहीं होते ऐसे ज्ञान, विज्ञान और ऐश्वर्यसे परिपूर्ण श्रीकृष्णचन्द्र ? ॥ ३१ ॥ जिनकी चरणसेवासे वृद्धिको प्राप्त हुई आत्मविद्यासे मुनिजन अनादि अविद्याजनित विपरीतज्ञानका नाश करते और अनन्त आत्मवैभवको प्राप्त करते हैं उन सत्पुरुषोंकी एकमात्र गति परमात्माको किस प्रकार मोह हो सकता है ? ॥३२॥

तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा
　　शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ।
विद्ध्वाच्छिनद्वर्म धनुः शिरोमणिं
　　सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥३३॥
तत्कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं
　　पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदा-
　　मुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद्द्रुतम् ॥३४॥
आधावतः सगदं तस्य बाहुं
　　भल्लेन छित्त्वाथ रथाङ्गमद्भुतम् ।

हे राजन् ! इस समय शाल्व बड़े वेगसे शस्त्र-समूहकी वर्षा कर रहा था । अतः अमोघवीर्य श्रीहरिने उसे घायलकर भयङ्कर गदाप्रहारसे शत्रुका कवच, धनुष, शीर्षत्राण और सौभविमान चूर-चूर कर डाला ॥३३॥ वह विमान कृष्णचन्द्रके हाथसे छूटी हुई गदासे हजारों भागोंमें खण्ड-खण्ड हो जलमें गिर पड़ा । तब शाल्व उसे छोड़कर पृथिवीपर खड़ा हो गया और गदा उठाकर बड़े वेगसे भगवान्‌की ओर दौड़ा ॥३४॥ उसे अपनी ओर दौड़कर आते देख भगवान्‌ने एक बाणसे उसका गदायुक्त हाथ काट डाला और फिर शाल्वका

१. स्वप्नं । २. वाज्ञानसम्भवम् ।

वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं
बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥३५॥
जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं
किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो
बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥३६॥
तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।
नेदुर्दुन्दुभयो राजन्दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन्दन्तवक्त्रो रुषाभ्यगात्॥३७॥

वध करनेके लिये प्रलयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी सुदर्शनचक्र उठाया । उस समय वे सूर्यके सहित उदयाचलके समान दीख पड़ते थे ॥३५॥ भगवान्ने उस चक्रसे ही महामायावी शाल्वका किरीट-कुण्डल-मण्डित मस्तक काट डाला जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने वज्रद्वारा वृत्रासुरका शिर काटा था । यह देख शाल्वपक्षके वीरोंमें बड़ा हाहाकार होने लगा ॥३६॥ हे राजन् ! पापी शाल्वके मारे जानेपर और गदा-प्रहारसे सौभके चूर-चूर हो जानेपर आकाशमें देवताओंकी बजायी हुई दुन्दुभीका शब्द होने लगा । इसी समय अपने मित्र शिशुपालादिका बदला लेनेके लिये दन्तवक्त्र अति कुपित होकर द्वारकाकी ओर चला ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
सौभवधो नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७॥

अठहत्तरवाँ अध्याय

दन्तवक्त्र और विदूरथका वध तथा तीर्थयात्राके समय बलरामजीद्वारा सूतजीका शिरश्छेदन ।

श्रीशुक उवाच

शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः ।
परलोकगतानां च कुर्वन्पारोक्ष्यसौहृदम् ॥ १ ॥
एकः पदातिः सङ्क्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् ।
पद्भ्यामिमां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ॥ २ ॥
तं तथायान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः ।
अवप्लुत्य रथात्कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्ययात् ॥ ३ ॥
गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥ ४ ॥
त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्मां जिघांससि ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! अपने परलोकगत मित्र शिशुपाल, शाल्व और पौण्ड्रकादिका पीछेसे प्रिय करनेके लिये आया हुआ महान् पराक्रमी दुर्बुद्धि दन्तवक्त्र क्रोधित हो हाथमें गदा ले पृथ्वीको कम्पायमान करता हुआ अकेला और पैदल ही द्वारकाके पास दिखायी दिया ॥ १-२ ॥ उसे इस प्रकार आया देख भगवान् कृष्ण हाथमें गदा ले तुरन्त ही रथसे कूद पड़े और जैसे किनारा समुद्रको रोक देता है वैसे ही उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३ ॥

तब महामदान्ध करूपनरेश दन्तवक्त्रने गदा उठाकर भगवान् कृष्णसे कहा—"आज बड़े सौभाग्यसे तू मेरी आँखोंके सामने आया है ॥ ४ ॥ कृष्ण ! तू हमारे मामाका पुत्र है [इसलिये हमारा वध्य नहीं है] परन्तु तू मेरे मित्रोंको मारनेवाला है और मुझे भी मारना चाहता है,

१. न्धे सौभशाल्ववधः ।

अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥ ५ ॥
तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।
बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥ ६ ॥
एवं रूक्षैस्तुदन्वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ।
गदयाताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद्व्यनदच्च सः ॥ ७ ॥
गदयाभिहतोऽप्याजौ न चचाल यदूद्वहः ।
कृष्णोऽपि तमहन्गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ॥ ८ ॥
गदानिर्भिन्नहृदय उद्वमन्रुधिरं मुखात् ।
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन्धरण्यां न्यपतद्व्यसुः ॥ ९ ॥
ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् ।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ॥१०॥
विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।
आगच्छदसिचर्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥११॥
तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम् ॥१२॥
एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्त्रं सहानुजम् ।
हत्वा दुर्विषहानन्यैरीडितः सुरमानवैः ॥१३॥
मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।
अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किन्नरचारणैः ॥१४॥
उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालङ्कृतां पुरीम् ॥१५॥
एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवाञ्जगदीश्वरः ।
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ॥१६॥

इसलिये हे मन्द ! मैं तुझे अपनी वज्रतुल्य गदासे मार डालूँगा ॥ ५ ॥ और हे अज्ञ ! अपने मित्रोंका प्रिय करनेवाला मैं अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुए रोगके समान अपने बन्धुरूप तुझे मारकर तब अपने मित्रोंसे उऋण हो जाऊँगा" ॥ ६ ॥ इस प्रकार अङ्कुशसे जैसे हाथीको उत्तेजित करते हैं वैसे ही भगवान् कृष्णको कटुवचनोंसे उत्तेजित कर उसने उनके मस्तकमें गदा मारी और सिंहके समान भयङ्कर गर्जना की ॥ ७ ॥ किन्तु यदुनन्दन उसकी गदासे आहत होकर भी रणभूमिमें तनिक भी विचलित नहीं हुए और उन्होंने अपनी कौमोदकीगदासे दन्तवक्त्रके वक्षःस्थलमें प्रहार किया ॥ ८ ॥ गदाके लगनेसे उसका हृदय फट गया, उसके मुखसे रुधिर बहने लगा और वह प्राणहीन हो केश, बाहु और चरण फैलाकर पृथिवीपर गिर पड़ा ॥ ९ ॥ हे राजन् ! शिशुपालके मरनेपर उसके मुखसे निकली हुई ज्योतिके समान दन्तवक्त्रके मुखसे निकली हुई सूक्ष्मज्योति भी सब लोगोंके देखते-देखते बड़ी विचित्रता-के साथ भगवान् श्रीकृष्णमें लीन हो गयी ॥ १० ॥

तदनन्तर दन्तवक्त्रका भाई विदूरथ भ्रातृशोकसे व्याकुल हो भगवान् कृष्णको मारनेकी इच्छासे ढाल-तलवार ले दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ आया ॥ ११ ॥ हे राजेन्द्र ! उसे आया देख भगवान् कृष्णने उसका किरीट-कुण्डलसुशोभित मस्तक अपने छुरेके समान धारवाले चक्रसे काट डाला ॥ १२ ॥ इस प्रकार सौभ, शाल्व और भाईके सहित दन्तवक्त्र इन दुर्धर्ष शत्रुओंको मारकर देवता और मनुष्योंसे स्तुति किये जाते हुए तथा मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, सर्प, अप्सरा, पितृगण, यक्ष, किन्नर और चारणादिके विजयगान और पुष्पवर्षा करते हुए भगवान् कृष्णने प्रमुख यादवोंके साथ भली प्रकार सजायी हुई द्वारकापुरीमें प्रवेश किया ॥ १३–१५ ॥ योगेश्वर जगत्पति भगवान् कृष्ण इसी प्रकार अनेकों लीलाएँ करते हैं । अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही वे कहीं जीतते और कहीं हारते हुए प्रतीत होते हैं ॥ १६ ॥

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः ।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥१७॥

कहते हैं, एक बार बलरामजी कौरवोंकी पाण्डवोंके साथ युद्धकी तैयारी सुनकर कोई पक्ष न लेनेके विचारसे तीर्थस्नानके बहाने द्वारकासे चले गये ॥ १७॥

स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥१८॥

द्वारकासे चलकर उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें स्नान किया और वहाँ देवता, ऋषि, पितृगण और मनुष्योंको तृप्त कर विप्रमण्डलीके साथ प्रवाहाभिमुख हो सरस्वतीके किनारे यात्रा करने लगे ॥ १८ ॥

पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् ।
विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥१९॥

वहाँसे पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन, विशाल, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ और पूर्ववाहिनी सरस्वती आदि तीर्थोंमें गये ॥ १९ ॥

यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत ।
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते ॥२०॥

हे भारत ! तत्पश्चात् यमुना और गङ्गाजीके आस-पासके तीर्थोंमें होते हुए नैमिषारण्यमें गये जहाँ ऋषिगण यज्ञ कर रहे थे ॥ २० ॥

तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ॥२१॥

बलरामजीको आये जान दीर्घकालीन यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले उन ऋषियोंने अपने-अपने आसनोंसे उठ उनका यथायोग्य अभिनन्दन किया और प्रणाम कर विधिवत् पूजन किया ॥ २१ ॥

सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ।
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ॥२२॥

इस प्रकार उनसे साथियोंसहित भली प्रकार सम्मानित हो बलरामजी आसनपर विराजमान हुए । इस समय उनकी दृष्टि व्यासगद्दीपर बैठे हुए महर्षि द्वैपायनके शिष्य रोमहर्षणपर पड़ी ॥ २२ ॥

अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् ।
अध्यासीनं च तान्विप्रांश्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः ॥२३॥

बलरामजीको यह देखकर कि वे सूतजातिमें उत्पन्न होकर भी न तो आसनसे खड़े ही हुए और न हाथ जोड़कर प्रणाम ही किया तथा ब्राह्मणोंसे भी ऊँचे आसनपर बैठे हुए हैं, बड़ा क्रोध हुआ ॥ २३ ॥

यस्मादसाविमान्विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।
धर्मपालांस्तथैवास्मान्वधमर्हति दुर्मतिः ॥२४॥

वे कहने लगे—"यह रोमहर्षण प्रतिलोमजातिका होकर भी इन ब्राह्मणोंसे तथा धर्मकी रक्षा करनेवाले हम लोगोंसे भी ऊपर बैठा हुआ है, इसलिये यह दुष्ट वधके योग्य है ॥ २४ ॥

ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च ।
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥२५॥
अदान्तस्याविनीतस्य वृथा पण्डितमानिनः ।
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ॥२६॥

इसने मुनिवर भगवान् व्यासका शिष्य होकर बहुत-से इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रोंका अध्ययन किया है, किन्तु इस अजितेन्द्रिय, अशिष्ट और अपनेको वृथा ही बड़ा पण्डित माननेवाले अजितात्मा सूतको उन सबसे कोई लाभ नहीं हुआ, जैसे नटकी सारी चेष्टाएँ दिखानेके लिये ही हुआ करती हैं ॥ २५-२६ ॥

एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः ।

जो लोग धर्मका चिह्न धारण करते हैं, किन्तु धर्मानुसार आचरण नहीं करते वे अधिक पापी होते हैं। वे

वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः ॥२७॥
एतावदुक्त्वा भगवान्निवृत्तोऽसद्वधादपि ।
भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत्प्रभुः ॥२८॥
हाहेति वादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः ।
ऊचुः सङ्कर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभो ॥२९॥
अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन ।
आयुश्चात्माक्लमं तावद्यावत्सत्रं समाप्यते ॥३०॥
अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा ।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ॥३१॥
यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन ।
चरिष्यति भवाँल्लोकसङ्ग्रहोऽनन्यचोदितः ॥३२॥

मेरे वध्य हैं। उन्हें मारनेके लिये ही मैंने इस लोकमें अवतार लिया है" ॥ २७ ॥ हे राजन् ! यद्यपि भगवान् बलभद्रजी दुष्टोंको मारनेका विचार भी छोड़ चुके थे, तथापि होनहारके वशीभूत हो उन्होंने ये शब्द कह हाथमें लिये हुए कुशाओंसे सूतजीको मार डाला ॥ २८ ॥ सूतजीके मरते ही समस्त मुनिगण दुःखित होकर हाहाकार करने लगे और श्रीसङ्कर्षणसे बोले—"प्रभो ! आपने यह बड़ा अधर्म किया ॥ २९ ॥ हे यदुनन्दन ! इन्हें तो हमने ही ब्रह्मासनपर बैठाया था और जबतक हमारा यज्ञ समाप्त न हो तबतकके लिये इन्हें शारीरिक कष्टसे रहित आयु भी दी थी ॥ ३० ॥ आपने बिना जाने यह ब्रह्महत्याके समान घोर पाप किया है। आप योगेश्वर हैं। वेद भी आपका शासन नहीं कर सकता ॥ ३१ ॥ तथापि हे लोकपावन ! यदि आप किसीके आदेशमें न बँधकर भी इस ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करें तो इससे संसारको शिक्षा मिलेगी" ॥ ३२ ॥

श्रीभगवानुवाच

करिष्ये[1] वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया ।
नियमः प्रथमे कल्पे यावान्स तु विधीयताम् ॥३३॥
दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च ।
आशासितं यत्तद्ब्रूत साधये योगमायया ॥३४॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये इस पापका प्रायश्चित्त करूँगा; अतः इसके लिये जो सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त हो वह बतलाइये ॥ ३३ ॥ मैं इस सूतके लिये दीर्घ आयु, बल और इन्द्रियोंकी अक्षुण्णता आदि जो कुछ भी अभीष्ट हो, उसे आप कहें, वह सभी अपने योगबलसे दे सकता हूँ ॥ ३४ ॥

ऋषय ऊचुः

अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।
यथा भवेद्वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥३५॥

ऋषिगण बोले—हे बलभद्रजी ! आप कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे आपका शस्त्र तथा वीर्य और इसकी मृत्यु भी व्यर्थ न हो और हमारा वचन भी सत्य हो जाय ॥ ३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।
तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियसत्त्ववान् ॥३६॥
किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ ।

श्रीभगवान्ने कहा—वेदमें कहा है 'पिताका आत्मा ही पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है' अतः इसका पुत्र इसके स्थानपर वक्ता होगा और वह दीर्घ आयु, इन्द्रिय तथा बलसे सम्पन्न होगा ॥ ३६ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! इसके सिवा आप लोगोंकी और जो इच्छा हो वह कहिये, मैं पूर्ण

[1] १. चरि० ।

अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ॥३७॥

करूँगा। और हे बुधजन! मेरे अनजानमें किये हुए पापका क्या प्रायश्चित्त है? सो भी सोचकर बतलाइये ॥३७॥

ऋषय ऊचुः

इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः।
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥३८॥
तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम्।
पूयशोणितविण्मूत्रसुरामांसाभिवर्षिणम् ॥३९॥
ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः।
चरित्वा द्वादश मासांस्तीर्थस्नायी विशुद्ध्यसे ॥४०॥

ऋषिगण बोले—भगवन्! इल्वलका पुत्र बल्वल-नामक एक घोर राक्षस है। वह प्रत्येक पर्वपर आकर हमारे यज्ञको दूषित कर देता है ॥३८॥ हे यदुनन्दन! आप उस पीब, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, मद्य और मांसकी वर्षा करनेवाले पापी राक्षसको मार डालिये—यही हमारी बड़ी भारी सेवा होगी ॥ ३९ ॥ तत्पश्चात् बारह महीनेतक समाहितचित्तसे तीर्थोंमें स्नान करते हुए सम्पूर्ण भारतवर्षकी परिक्रमा करनेसे आप पापमुक्त हो जायँगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
बलदेवचरित्रे बल्वलवधोपक्रमो नामाष्टसप्तति-
तमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥
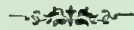
उनासीवाँ अध्याय

बल्वलवध और बलरामजीकी तीर्थयात्रा।

श्रीशुक उवाच

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांसुवर्षणः।
भीमो वायुरभूद्राजन्पूयगन्धस्तु सर्वशः ॥ १ ॥
ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम्।
अभवद्यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक् ॥ २ ॥
तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम्।
तप्ततांम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥ ३ ॥
सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम्।
हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः ॥ ४ ॥
तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम्।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! तदनन्तर पर्वकाल उपस्थित होनेपर धूलिकी वर्षा करता हुआ बड़ा तीव्र और प्रचण्ड वायु चलने लगा, उस समय सब ओर बड़ी दुर्गन्ध फैल गयी ॥ १ ॥ फिर यज्ञशालामें बल्वलद्वारा की हुई मल-मूत्रादि अपवित्र वस्तुओंकी वर्षा होने लगी और कुछ ही देरमें वह भयङ्कर राक्षस हाथमें त्रिशूल लिये दीख पड़ा ॥ २ ॥ तब जिसके तपाये हुए ताँबेके समान अरुणवर्ण केश और डाढ़ी-मूँछें हैं तथा टेढ़ी डाढ़ों और भ्रुकुटियोंके कारण जिसका मुख अति भयावना दीख पड़ता है उस कज्जलपुञ्जके समान अत्यन्त कृष्णवर्ण और बड़े डीलवाले दैत्यको देखकर श्रीबलभद्रजीने शत्रुसेनाका संहार करनेवाले मूसलका और दैत्यदलको दलित करनेवाले हलका स्मरण किया और वे तुरन्त ही उनके पास आकर उपस्थित हो गये ॥ ३-४ ॥ तब बलरामजीने आकाशमें गमन करनेवाले विप्रद्रोही बल्वलको हलके अग्रभागसे

१. न्धे बलदेवतीर्थयात्रायां पञ्च०। २. श्च।

मुसलेनाहनत्क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥ ५ ॥
सोऽपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक्समुत्सृजन् ।
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥ ६ ॥
संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः ।
अभ्यषिञ्चन्महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥ ७ ॥
वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् ।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥ ८ ॥

खींचकर उसके शिरपर अति क्रोधित हो मूसलसे प्रहार किया ॥ ५ ॥ उससे उसका मस्तक फट गया और वह रक्तवमन तथा आर्त चीत्कार करता हुआ इन्द्रके वज्रसे गिरे हुए [धातुप्रवाहके कारण] अरुणवर्ण पर्वतके समान प्राणहीन होकर गिर पड़ा ॥ ६ ॥ तब महाभाग मुनीश्वरोंने बलरामजीकी स्तुति कर उन्हें सत्य आशीर्वाद दिये और देवताओंने जैसे वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्रका अभिषेक किया था उसी प्रकार उन्होंने श्रीबलरामजीका अभिषेक किया ॥ ७ ॥ तथा उन्हें अति शोभामयी और जिसके कमल कभी नहीं कुम्हलाते ऐसी वैजयन्ती माला तथा दो दिव्य वस्त्र और बहुत-से दिव्य आभूषण भी दिये ॥८॥

अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।
स्नात्वा सरोवरमगाद्यतः सरयुरास्रवत् ॥ ९ ॥
अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः ।
स्नात्वा सन्तर्प्य देवादीञ्जगाम पुलहाश्रमम् ॥१०॥
गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः ।
गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा[1] गङ्गासागरसङ्गमे ॥११॥
उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च ।
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः ॥१२॥
स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम् ।
द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ॥१३॥
कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् ।
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥१४॥
ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा ।
सामुद्रं सेतुमगमन्महापातकनाशनम् ॥१५॥
तत्रायुतमदाद्धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।

तदनन्तर, उन मुनीश्वरोंसे विदा हो श्रीबलरामजी ब्राह्मणोंके साथ कौशिकीनदीके तीरपर आये। वहाँ स्नान कर वे उस सरोवरपर गये जहाँसे सरयूनदी निकली है ॥ ९ ॥ फिर सरयूके किनारे-किनारे वे प्रयागमें पहुँचे और वहाँ स्नान तथा देवादिका तर्पण कर पुलहाश्रमको गये ॥ १० ॥ वहाँसे गोमती, गण्डकी और विपाशा नदीमें स्नान करते हुए आगे जाकर शोणनदीमें स्नान किया। फिर गयामें पहुँचे और वहाँ पितृपूजनादि कर गङ्गासागरमें जाकर स्नान किया। तदनन्तर महेन्द्रपर्वतपर परशुरामजीके दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और वहाँसे क्रमशः सप्तगोदावरी, वेणा, पम्पा और भीमरथी आदिमें स्नान करते हुए स्वामिकार्तिकेयजीके दर्शन किये। फिर श्रीमहादेवजीके निवासस्थान श्रीपर्वतपर गये। वहाँसे द्रविडदेशमें अत्यन्त पवित्र वेङ्कटपर्वतका दर्शन करते हुए प्रभु बलभद्रजी कामकोष्णीनदीमें स्नान कर काञ्चीपुरीमें पहुँचे। फिर नदियोंमें श्रेष्ठ कावेरीमें स्नान कर जहाँ श्रीहरि निरन्तर विराजमान रहते हैं उस महापवित्र श्रीरङ्गक्षेत्रको गये ॥ ११—१४ ॥ वहाँसे हरिके क्षेत्र ऋषभाद्रि दक्षिण मथुरा और महान् पापोंको नष्ट करनेवाले सेतुबन्ध रामेश्वरको गये ॥१५॥ वहाँ श्रीहलधरने ब्राह्मणोंको दश सहस्र गौएँ दान

१. रमयन्।

कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ॥१६॥
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ।
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥१७॥
ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम् ।
विष्णुः सन्निहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद्गवायुतम् ॥१८॥

की । वहाँसे कृतमाला और ताम्रपर्णीमें स्नान करते हुए कुलाचल मलयपर्वतपर पहुँचे ॥ १६ ॥ वहाँ विराजमान श्रीअगस्त्यजीको नमस्कार और अभिवादन कर उनका आशीर्वाद पाया और फिर उनसे आज्ञा ले दक्षिणसमुद्रपर जा कन्यानामवाली दुर्गादेवीका दर्शन किया ॥ १७ ॥ फिर फाल्गुनमें अनन्तपुर पहुँचकर जहाँ भगवान् विष्णुकी सदा सन्निधि रहती है उस पञ्चाप्सरसनामक सरोवरमें स्नान कर दश सहस्र गौओंका दान किया ॥ १८ ॥

ततोऽभिव्रज्य भगवान्केरलांस्तु त्रिगर्तकान् ।
गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः ॥१९॥
आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः ।
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् ।२०।
प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी ।
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥२१॥
श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ।
सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥२२॥
स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे ।
वारयिष्यन्विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥२३॥

फिर भगवान् बलभद्रजी केरल और त्रिगर्त देशोंमें होते हुए गोकर्णनामक शिवक्षेत्रमें पहुँचे जहाँ भगवान् शङ्कर सर्वदा विराजमान रहते हैं ॥ १९ ॥ वहाँसे द्वीपमें रहनेवाली आर्यादेवीका दर्शन कर शूर्पारकक्षेत्र-को गये । फिर तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्यानदीमें स्नान करते हुए उन्होंने दण्डकारण्यमें प्रवेश किया । तदनन्तर जिसके तटपर माहिष्मतीपुरी है उस नर्मदा-नदीपर पहुँचकर मनुतीर्थमें स्नान किया तथा फिर प्रभासक्षेत्रमें लौट आये ॥ २०-२१ ॥ वहाँ, ब्राह्मणों-के मुखसे कौरव-पाण्डवोंके युद्धमें सम्पूर्ण क्षत्रियोंका संहार हुआ सुन उन्होंने पृथिवीका भार दूर हो गया समझा ॥ २२ ॥ फिर यह सुनकर कि भीमसेन और दुर्योधन रणभूमिमें परस्पर गदायुद्ध कर रहे हैं यदुनन्दन श्रीबलरामजी उन्हें युद्धसे निवृत्त करनेके लिये कुरुक्षेत्रको गये ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि ।
अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किंविवक्षुरिहागतः ॥२४॥
गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ॥२५॥
युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन्हे वृकोदर ।
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ॥२६॥

बलरामजीको आये देख महाराज युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव तथा कृष्ण और अर्जुनने उन्हें प्रणाम किया और यह जाननेके लिये कि वे क्या कहनेकी इच्छासे यहाँ आये हैं ? सब चुपचाप खड़े रहे ॥ २४ ॥ तब श्रीबलरामजीने भीमसेन और दुर्योधन—इन दोनोंको हाथमें गदा लिये एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अति क्रोधपूर्वक भाँति-भाँतिके पैंतरे बदलते देख इस प्रकार कहा—॥२५॥ "हे राजा दुर्योधन ! और हे भीमसेन ! तुम दोनों वीर समान बलवाले हो । तुममेंसे एक (भीमसेन) को मैं बलमें अधिक समझता हूँ और दूसरे (दुर्योधन) को गदायुद्धकी शिक्षामें ॥ २६ ॥

तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः ।
न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥२७॥

इसलिये तुम समान वीर्यशालियोंमेंसे किसी एककी जय या पराजय होगी—ऐसा मुझे नहीं दीख पड़ता । अतः इस निष्फल युद्धसे तुम निवृत्त हो जाओ" ॥ २७ ॥

न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् ।
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥२८॥
दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः ॥२९॥
तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा ।
क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ॥३०॥
तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान्व्यतरद्विभुः ।
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥३१॥
स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः ।
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलङ्कृतः ॥३२॥

हे राजन् ! बलरामजीका कथन दोनोंहीके लिये हितकारी था किन्तु पहलेके कटुभाषण और दुर्व्यवहारोंका स्मरण करते हुए उन दोनोंका आपसमें सुदृढ़ वैरभाव हो जानेके कारण उन्होंने उसे बिलकुल न माना ॥ २८ ॥ तब, दैवकी ऐसी ही इच्छा जान बलरामजी द्वारकापुरीको लौट आये । वहाँ उग्रसेन आदि ज्ञातिबन्धुओंने उनका आगे आकर स्वागत किया ॥ २९ ॥ वहाँसे वे फिर नैमिषारण्यको गये । वहाँ सबके साथ विरोधभावसे रहित हुए उन यज्ञमूर्ति भगवान् बलरामजीसे मुनियोंने अति आनन्दपूर्वक सब प्रकारके यज्ञ कराये ॥ ३० ॥ उन्हें भगवान् बलरामजीने विशुद्ध विज्ञानका उपदेश दिया जिससे उन ऋषियोंने जान लिया कि इस आत्मामें सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है और सम्पूर्ण जगत्में यह आत्मा व्याप्त है ॥ ३१ ॥ फिर अपनी पत्नी रेवतीके साथ यज्ञान्त-स्नान कर सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे अलङ्कृत हो अपने ज्ञातिबन्धुओंसे घिरे हुए इस प्रकार सुशोभित हुए जैसे चन्द्रिकाके सहित चन्द्रदेवकी शोभा होती है ॥ ३२ ॥

ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः ।
अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ॥३३॥
योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ॥३४॥

हे राजन् ! महाबलशाली अनन्त, अप्रमेय और मायामानुषरूप श्रीबलभद्रजीके ऐसे ही अगणित चरित्र हैं ॥ ३३ ॥ अद्भुतकर्म करनेवाले शेषावतार भगवान् बलरामजीके उन विचित्र कर्मोंको जो पुरुष प्रातःकाल और सायंकालके समय स्मरण करता है वह श्रीविष्णु भगवान्का प्रिय होता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे बलदेव-
तीर्थयात्रानिरूपणं नामैकोनाशीति-
तमोऽध्यायः[1] ॥७९॥

---

१. त्रायां षट्सप्ततितमो ।

अस्सीवाँ अध्याय

सुदामाजीका स्वागत ।

राजोवाच

भगवन्यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो ॥ १ ॥
को नु श्रुत्वासकृद्ब्रह्मन्नुत्तमश्लोकसत्कथाः ।
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥ २ ॥

सा वाग्यया तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥ ३ ॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमे-
त्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ४ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा–हे भगवन् ! हे प्रभो ! अनन्तवीर्य महात्मा श्रीकृष्णचन्द्रके जो अन्य पराक्रम हैं हम वह सब सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥ हे ब्रह्मन् ! नाना प्रकारके विषयोंको खोजते-खोजते जो थक गया है ऐसा कौन सारग्राही पुरुष होगा जो भगवान् उत्तम-श्लोकके शुभचरित्रोंको बार-बार सुनकर भी उनसे उपरत हो जायगा ॥ २ ॥ जिससे मनुष्य भगवान्‌का गुण-गान किया करता है वही वाणी सफल है, जो भगवान्‌के लिये ही कर्म करते हैं वे ही हाथ सफल हैं, जो चराचरमें विराजमान भगवान्‌का स्मरण करता है वही मन सफल है तथा जो भगवान्‌की पवित्र कथा श्रवण करते हैं वे ही कान सार्थक हैं ॥ ३ ॥ जो प्रभुकी चल और अचल दोनों प्रकार-की मूर्तियोंके आगे झुकता है वही शिर सफल है, जो भगवद्विग्रहका ही दर्शन करते रहते हैं वे ही नेत्र सफल हैं और जो भगवान् विष्णु तथा उनके भक्तोंका चरणोदक सेवन करते हैं वे ही अङ्ग सफल हैं ॥४॥

सूत उवाच

विष्णुरातेन सम्पृष्टो भगवान्बादरायणिः ।
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥ ५ ॥

सूतजी बोले–राजा परीक्षित्‌के इस प्रकार पूछने-पर व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजीका हृदय भगवान् कृष्णमें तल्लीन हो गया और वे इस प्रकार कहने लगे ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीत्सखा कश्चिद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।
तस्य भार्या कुचैलस्य[3] क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥ ७ ॥
पतिव्रता पतिं प्राह ग्लायता वदनेन सा ।
दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाभिगम्य च ॥ ८ ॥
ननु ब्रह्मन्भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः ।

श्रीशुकदेवजी बोले–हे राजन् ! एक ब्राह्मण भगवान् कृष्णके परम मित्र थे । वे बड़े ब्रह्मज्ञानी, विषयोंसे विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय थे ॥ ६ ॥ वे गृहस्थ थे और उन्हें प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो जाता था उसीसे निर्वाह कर लिया करते थे; उनके वस्त्र फटे-पुराने रहते थे । उनकी स्त्री भी उन्हींके समान क्षुधाके कारण बड़ी कृश रहती थी ॥ ७ ॥ एक दिन वह दरिद्रा और दुःखिनी पतिव्रता भयसे काँपती हुई अपने पतिके पास गयी और मलिन मुखसे बोली ॥ ८ ॥ "हे ब्रह्मन् ! आपके मित्र तो साक्षात् श्रीलक्ष्मीपति हैं ? वे भगवान् यदुनाथ तो बड़े ही

१. मुहुर्ब्रह्म० । २. नं तदेव । ३. ला च० ।

ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान्सात्वतर्षभः ॥ ९ ॥
तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥१०॥
आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं न्वर्थकामान्भजतो नात्यभीष्टाञ्जगद्गुरुः ॥११॥

स एवं भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मृदु ।
अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ॥१२॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे ।
अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद्गृहे कल्याणि दीयताम् ।१३।
याचित्वा चतुरो मुष्टीन्विप्रान्पृथुकतण्डुलान् ।
चैलखण्डेन तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥१४॥
स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।
कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥१५॥
त्रीणि[1] गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च सद्विजः ।
विप्रोऽगम्यान्धवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् ॥१६॥
गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा ॥१७॥
तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः[2] ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥१८॥
सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥१९॥
अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।

ब्राह्मणभक्त और शरणागतवत्सल हैं ॥ ९ ॥ वे साधुओंकी एकमात्र गति हैं, हे महाभाग ! आप उनके पास जाइये । आप कुटुम्बवाले हैं और दरिद्रताके कारण बड़े दुःखी हैं वे आपको बहुत-सा धन देंगे ॥ १० ॥ आजकल वे द्वारकापुरीमें भोज, वृष्णि और अन्धकवंशीय यादवोंके स्वामी हैं, अपने चरण-कमलोंका स्मरण करनेवाले पुरुषोंको वे अपना शरीर भी दे डालते हैं ॥११॥ फिर अपने भक्तोंको वे जगद्गुरु यदि अर्थ और काम, जो विशेष अभीष्ट नहीं हैं, दे देते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?'' इस प्रकार स्त्रीके नम्रता-पूर्वक अनेकों बार प्रार्थना करनेपर उन विप्रवरने मनमें यह सोचकर कि 'इसमें सबसे बड़ा यही लाभ है कि पवित्रकीर्ति भगवान्का दर्शन होगा' द्वारकापुरी जानेका निश्चय कर लिया और स्त्रीसे कहा— ''हे कल्याणि ! घरमें कुछ भेंटकी सामग्री भी है क्या ? यदि हो तो दो'' ॥ १२-१३ ॥ तब उस ब्राह्मणीने अड़ोस-पड़ोसके ब्राह्मणोंके यहाँसे चार मुट्ठी चिउड़ा माँगकर उन्हें एक कपड़ेमें बाँध अपने पतिको भेंटके लिये दे दिया ॥ १४ ॥ तब वे विप्रवर उन्हें लेकर मन-ही-मन यह सोचते हुए कि 'मुझे भगवान् कृष्णका दर्शन कैसे होगा ?' द्वारकापुरीको चल दिये ॥ १५ ॥

हे राजन् ! द्वारकामें पहुँचनेपर वे विप्र अन्य ब्राह्मणों-के साथ [सैनिकोंकी] तीन छावनियों और तीन ड्योढ़ियोंको पारकर भगवद्धर्मोंका पालन करनेवाले वृष्णि और अन्धकवंशीय यादवोंके, जिनके यहाँ पहुँचना कठिन है, घरोंमें गये ॥१६॥ तदनन्तर उन विप्रवरने भगवान् कृष्णकी सोलह सहस्र रानियोंके घरोंमेंसे एकमें प्रवेश किया उस समय मानो वे परमानन्दमें डूब गये ॥१७॥ सुदामाजीको दूरहीसे देखकर अपनी प्रियाकी शय्यापर विराजमान श्रीहरि सहसा उठ खड़े हुए और आगे आकर बड़े हर्षके साथ उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर गले लगा लिया ॥१८॥ अपने प्रियसखा उन ब्रह्मर्षिके अङ्ग-सङ्गसे कमलनयन भगवान्को अति आनन्द हुआ और प्रेमवश उनके नेत्रोंसे जल बहने लगा ॥१९॥ हे राजन् ! फिर भगवान्ने अपने सखाको पलंगपर बिठाया और स्वयं

[1] गुल्मानि त्रीण्यती० । [2] माश्रितः ।

उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥२०॥
अग्रहीच्छिरसा राजन्भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥२१॥
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥२२॥

पूजनकी सामग्री ला उनके चरण धो लोकोंको पवित्र करनेवाले प्रभुने वह चरणोदक शिरपर चढ़ाया और उनके शरीरमें दिव्य गन्धमय चन्दन, अगुरु और कुङ्कुमका लेप किया ॥ २०-२१ ॥ फिर सुगन्धित धूप और दीपावलीसे मित्रका पूजन कर ताम्बूल और गौ निवेदन करके उनसे स्वागतवचन कहा ॥ २२ ॥

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम् ।
देवी पर्यचरत्साक्षाच्चामरव्यजनेन वै ॥२३॥
अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना ।
विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ॥२४॥
किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन्गर्हितेनाधनेन च ॥२५॥
योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः ।
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥२६॥
कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।
आत्मनो ललिता राजन्करौ गृह्य परस्परम् ॥२७॥

सुदामाजी फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए थे, उनका शरीर अति दुर्बल, मलिन और शिराजालसे पूर्ण दिखायी देता था । उस समय साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा देवी रुक्मिणीजी उनपर चँवर डुलाने लगीं ॥ २३ ॥ पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्णको एक भिक्षुककी इस प्रकार अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक पूजा करते देख समस्त अन्तः-पुरवासी बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ २४ ॥ और आपसमें कहने लगे—'इस श्रीहीन, निर्धन और लोकमें अत्यन्त निन्दनीय अवधूत भिखारीने ऐसा क्या महान् पुण्य किया है जिससे लक्ष्मीके आश्रय-स्थान जगद्गुरु भगवान् कृष्णने अपनी शय्यापर विराजमान लक्ष्मीजीको त्यागकर इसका बड़े भाईके समान आलिङ्गन और सत्कार किया ?' ॥ २५-२६ ॥ हे राजन् ! फिर वे आपसमें एक-दूसरेका हाथ पकड़कर पहले गुरुकुलमें रहनेके समयकी अपनी मनोहर कथाएँ कहने लगे ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अपि ब्रह्मन्गुरुकुलाद्भवता लब्धदक्षिणात् ।
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥२८॥
प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहतं[1] तथा ।
नैवातिप्रीयसे विद्वन्धनेषु विदितं हि मे ॥२९॥
केचित्कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसङ्ग्रहम् ॥३०॥
कच्चिद्गुरुकुले वासं ब्रह्मन्स्मरसि नौ यतः ।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥३१॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्मन् ! हे धर्मज्ञ ! गुरु-दक्षिणा देकर गुरुकुलसे लौटनेके बाद तुमने किसी अपने योग्य स्त्रीसे विवाह किया है या नहीं ? ॥ २८ ॥ मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारा चित्त प्रायः गृहस्थीके भोगोंमें आसक्त नहीं है और तुम धनादिकी प्राप्तिसे भी विशेष प्रसन्न नहीं होते ॥२९॥ ईश्वरकी मायासे निर्मित विषय-वासनाओंका त्याग करनेवाले कोई-कोई लोग विषयोंमें आसक्त न होनेपर भी मेरे समान केवल लोकशिक्षाके लिये कर्म किया करते हैं ॥ ३० ॥ हे ब्रह्मन् ! क्या तुम्हें उस समय-का कुछ स्मरण है जब हम दोनों गुरुकुलमें रहा करते थे, जहाँ रहकर द्विजगण ज्ञातव्य वस्तुको जानकर अज्ञानके पार हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

१. मनिरतं तदा ।

स वै सत्कर्मणां साक्षाद्द्विजातेरिह सम्भवः ।
आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥३२॥
नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन्वर्णाश्रमवतामिह ।
ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥३३॥
नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥३४॥
अपि नस्मर्यते ब्रह्मन्वृत्तं निवसतां गुरौ ।
गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥३५॥
प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विज ।
वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ॥३६॥
सूर्यश्चास्तं गतस्तावत्तमसा चावृता दिशः ।
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किञ्चन ॥३७॥
वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभि-
निर्हन्यमाना मुहुरम्बुसम्प्लवे ।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने
गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥३८॥
एतद्विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः ।
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ॥३९॥
अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।
आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥४०॥
एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥४१॥
तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ।

हे प्रिय ! वह गुरुकुलवास ही द्विजातियोंको सत्कर्मोंमें लगानेका साक्षात् हेतु है वहाँ सब आश्रमियोंको ज्ञान देनेवाले जो आदिगुरु रहते हैं वे मेरे ही समान हैं ॥ ३२ ॥ हे ब्रह्मन् ! वर्णाश्रमधारियोंमें जो लोग मेरे ही स्वरूपभूत गुरुके उपदेशसे सुगमतासे ही भवसागरको पार कर लेते हैं वे ही अपना वास्तविक स्वार्थ जाननेवाले हैं ॥३३॥ सर्वभूतोंका अन्तरात्मारूप मैं जैसा गुरुशुश्रूषासे प्रसन्न होता हूँ वैसा यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप और उपशम आदि किसी साधनसे नहीं होता ॥३४॥ हे ब्रह्मन् ! गुरुकुलमें रहते समय एक बार जब हम दोनोंको गुरुपत्नीने ईंधन लानेके लिये वनमें भेजा था तब जो कुछ घटना घटी थी क्या उसका तुम्हें स्मरण है ? ॥३५॥ उस समय जब हम एक घोर वनमें गये तो वर्षाऋतु न होनेपर भी प्रचण्ड पवनके साथ घनघोर वर्षा और कठोर गर्जना होने लगी ॥३६॥ उस समय सूर्यके छिप जानेसे सब दिशाओंमें घोर अन्धकार छा गया तथा सम्पूर्ण पृथिवी जलमयी हो जानेसे नीची जमीन (गड्ढे) और किनारेका कुछ भी पता न चलता था ॥३७॥ तब उस जलप्रलयमें प्रचण्ड पवन और वर्षासे अत्यन्त पीडित हो हम ऐसे अचेत हो गये कि दिशा-विदिशाका कोई ज्ञान न रहा और हम एक-दूसरेका हाथ पकड़े अति व्याकुल हो वनमें इधर-उधर भटकने लगे ॥३८॥ सूर्योदय होनेपर जब हमारे गुरु सान्दीपनिजीको यह वृत्तान्त विदित हुआ तो वे अपने शिष्य हमलोगोंको ढूँढ़ते हुए वनमें आये और हमें अति व्याकुल देखा ॥३९॥ वे कहने लगे—"अहो पुत्रगण ! तुम्हें हमारे लिये बड़ा कष्ट उठाना पड़ा । सभी जीवोंको अपना शरीर बहुत प्यारा होता है, किन्तु तुमने उसकी कुछ भी परवा न कर हमारी सेवा की ॥४०॥ सम्पूर्ण कामनाओंके साधनरूप अपने शरीरको भी विशुद्धभावसे गुरुकी सेवामें लगा देना—यही सत्-शिष्योंद्वारा करने योग्य सबसे बड़ी गुरु-निष्कृति (गुरु-ऋणसे मुक्त होना) है ॥४१॥ हे द्विजश्रेष्ठो ! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ, तुम्हारी सब

१. श्रेष्ठ० । २. निष्क्रयम् ।

छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥४२॥

इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु ।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान्पूर्णः प्रशान्तये ॥४३॥

इच्छाएँ पूर्ण हों तथा तुम्हारी विद्या इहलोक और परलोकमें कभी निष्फल न हो" ॥४२॥ हे ब्रह्मन्! गुरुके यहाँ रहते हुए ऐसे ही अनेक प्रसङ्ग हुए थे, वे क्या तुम्हें स्मरण हैं ? मनुष्य गुरुकी कृपासे ही पूर्णमनोरथ और शान्तिलाभ करनेयोग्य होता है ॥४३॥

ब्राह्मण उवाच

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो ।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत् ॥४४॥
यस्यच्छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो[2] ।
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥४५॥

विप्रवर सुदामाजीने कहा—हे देवदेव! हे जगद्गुरो! आप सत्यसङ्कल्पके साथ हमारा गुरुकुलमें सहवास रहा है; फिर हमने अपना क्या नहीं बना लिया ? ॥४४॥ हे विभो ! कल्याणका उद्भवस्थान छन्दोमय वेद ही जिनका दिव्य विग्रह है उन आपका गुरुकुलमें रहना अत्यन्त विडम्बनाकी बात है ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[3] उत्तरार्धे
श्रीदामचरितेऽशीतितमोऽध्यायः ॥८०॥

इक्यासीवाँ अध्याय

सुदामाजीका समृद्धिलाभ ।

श्रीशुक उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन सह सङ्कथयन्हरिः ।
सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम् ॥ १ ॥
ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान्प्रहसन्प्रियम् ।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन्खलु सतां गतिः ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उन द्विजश्रेष्ठसे इस प्रकार वार्तालाप कर समस्त प्राणियोंमें व्यापक, सब कुछ जाननेवाले, ब्राह्मणभक्त और साधुओंकी एकमात्र गति भगवान् कृष्णने प्रियसखा विप्रवर सुदामाकी ओर प्रेमदृष्टिसे निहारते हुए उनसे मुसकाकर कहा ॥१-२॥

श्रीभगवानुवाच

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन्मे भवता गृहात् ।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ ३ ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ४ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—ब्रह्मन् ! आप घरसे मेरे लिये क्या भेंट लाये हैं ? भक्तगण तो मुझे प्रेमपूर्वक यदि थोड़ी-सी वस्तु भी देते हैं तो वही मेरी दृष्टिमें बहुत है किन्तु अभक्तोंकी बहुत-सी भेंट भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती ॥३॥ जो पुरुष भक्तिभावसे मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल कुछ भी अर्पण करता है उस शुद्ध-चित्त प्रेमी भक्तकी प्रेमपूर्वक दी हुई वह भेंट मैं प्रसन्नतासे ग्रहण करता हूँ ॥४॥

इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ।
पृथुकप्रसृतिं[5] राजन्न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

हे राजन्! भगवान्‌के ऐसा कहनेपर भी सुदामाजी-ने उन लक्ष्मीपतिको वह चार मुट्ठी चिउड़ोंकी पोटली नहीं दी तथा संकोचवश मुख नीचा कर लिया ॥५॥

१. नि । २. प्रभो । ३. न्धे सप्तसप्ततितमो । ४. ह । ५. ती राज० ।

सर्वभूतात्मदृक्साक्षात्तस्यागमनकारणम् ।
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत्पुरा ॥ ६ ॥
पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया ।
प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥ ७ ॥
इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान्द्विजन्मनः ।
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान् ॥ ८ ॥
नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे ।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥ ९ ॥
इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां जग्धुमाददे ।
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥१०॥
एतावतालं विश्वात्मन्सर्वसम्पत्समृद्धये ।
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन्पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥११॥
ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे ।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा ॥१२॥
श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः ।
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥१३॥
स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान्स्वयम् ।
स्वगृहान्व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ॥१४॥
अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।

तब समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणोंके साक्षात् साक्षी भगवान् कृष्ण उनके आनेका कारण जान मनमें सोचने लगे—'इन्होंने पहले कभी धनकी इच्छासे मेरा चिन्तन नहीं किया [इसलिये लायी हुई अल्प भेंट देने और अपनी कामना प्रकट करनेमें इन्हें संकोच होता है] ॥६॥ ये मेरे सखा अपनी पतिव्रता पत्नीका प्रिय करनेकी इच्छासे ही मेरे पास आये हैं सो मैं इन्हें ऐसी सम्पत्ति दूँगा जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है' ॥७॥

ऐसा विचार कर भगवान्‌ने उन द्विजश्रेष्ठके कपड़ेमेंसे चिथड़ेमें बँधे हुए चिउड़ोंको, 'यह क्या है?' ऐसा कहकर स्वयं ही छीन लिया ॥८॥ और बड़े आदरभावसे कहने लगे —"मित्र ! यह तो तुम मेरी बड़ी प्रिय भेंट लाये हो, ये चिउड़े तो मुझे और मेरे आश्रयसे रहनेवाले सम्पूर्ण विश्वको तृप्त कर देंगे" ॥९॥ ऐसा कह भगवान्‌ने ज्यों ही एक मुट्ठी चिउड़ा खाकर दूसरी मुट्ठी खानेके लिये भरी त्यों ही भगवत्परायणा लक्ष्मी (रुक्मिणी) जीने परमात्मा कृष्णका हाथ पकड़ लिया ॥१०॥ [और कहने लगीं—]"हे विश्वात्मन् ! मनुष्यको इस लोक और परलोकमें सर्व सम्पत्तियोंका भोग प्राप्त करानेके लिये यह मुट्ठीभर चिउड़ा ही आपकी प्रसन्नताका पर्याप्त कारण है [इससे अधिक उदारता दिखाकर मुझे भी इसके अधीन मत कीजिये]" ॥११॥

उन विप्रवरने वह रात्रि श्रीअच्युतके भवनहीमें बितायी और वहाँ नाना प्रकारके पदार्थ खाने-पीनेसे अपनेको मानो स्वर्गमें ही गया हुआ समझा ॥१२॥ हे तात ! दूसरे दिन सूर्योदय होनेपर, जगन्नियन्ता स्वानन्दस्वरूप भगवान् कृष्णसे अभिवन्दित हो और उनके द्वारा मार्गमें साथ जाकर विनयपूर्वक विदा किये जानेपर वे विप्रवर अपने घरको चले ॥१३॥ कृष्णचन्द्रसे प्रत्यक्षरूपमें धन न मिलनेपर भी उन्होंने स्वयं उनसे नहीं माँगा और अपने चित्तकी कृपणतासे लज्जित तथा परमपुरुष परमात्माके दर्शनसे आनन्दित हो अपने घरको चले ॥१४॥ मार्गमें जाते समय वे मन-ही-मन कहने लगे —'अहो ! आज मैंने ब्रह्मण्यदेव

१. इति सञ्चिन्त्य मनसा चीर० । २. परिष्वज्ञाति० । ३. सख्युर्न तु ।

यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥१५॥
क्वाहं दरिद्रः पापीयान्क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥१६॥
निवासितः प्रियाजुष्टे पर्‍ स्वयं यथा ।
नी मदोद्भव
महिष्या वीजितः श्रान्तो या ॥१७॥
कोऽतीव जनार्दने
शुश्रूषया परमया ः ।
भुजे नातिलम्पटः ॥
पूजितो देवदेवेन ॥१८॥
रैर्यज्ञपतेः प्रभोः ।
स्वर्गापवर्गयोः पुंसां
तेभ्यो विद्यते परम् ॥३९॥
सर्वासामपि सिद्धीन ॥
वत्सुहृत्तदा
अधनोऽयं धनं प्राप्य
रैरजितं पराजितम् ।
इति कारुणिको नूनं त्मबन्धन-
इति तच्चिन्तयन्नन्त ऽचिरतः सतां गतिम् ॥४०
सूर्यानलेन्दुसङ्काशै
विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः ।
प्रोत्फुल्लकुमुदाम्भोजकह्लारोत्पलवारिभिः ॥२२॥
जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः ।
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥२३॥
एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।
प्रत्यगृह्णन्महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥२४॥
पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षातिसम्भ्रमा ।
निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् ॥२५॥

भगवान् कृष्णकी ब्राह्मणभक्ति देखी; देखो, वक्षःस्थलमें साक्षात् लक्ष्मीजीको धारण करनेवाले होकर भी उन्होंने मुझ महादरिद्रको गले लगा लिया ॥१५॥ कहाँ मैं महापापी दरिद्र ब्राह्मण और कहाँ लक्ष्मीपति भगवान् कृष्ण ? तथापि 'यह ब्राह्मण है' ऐसा जानकर उन्होंने मुझे भुजाओंमें भरकर गले लगा लिया ॥१६॥ और अपनी प्रियासे सेवन किये हुए पलंगपर भाईके समान बैठाया; यही नहीं, मुझे थका देखकर स्वयं उनकी पटरानीने चँवरसे मेरी हवा की॥१७॥ फिर उन ब्राह्मण-भक्त देवदेव श्रीहरिने पैर दबाना आदि अनेक प्रकारकी सेवाओंसे मेरी देवताओंके समान पूजा की ॥१८॥ उन भगवान्‌के चरणोंका पूजन तो लोगोंके लिये पृथिवी और पातालकी सम्पत्ति, अणिमादि ऐश्वर्य तथा स्वर्ग और मोक्षादिकी प्राप्तिका भी कारण है ॥१९॥ तथापि उन करुणासिन्धुने यह समझकर ही कि 'यह निर्धन है, धन मिलनेसे उन्मत्त हो जानेके कारण यह मेरा स्मरण नहीं करेगा, मुझे थोड़ा-बहुत भी धन नहीं दिया' ॥२०॥

जब वे मन-ही-मन इस प्रकार सोचते-सोचते अपने घरके पास पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वह स्थान सूर्य, चन्द्र और अग्निके समान देदीप्यमान विमानोंसे सब ओरसे घिरा हुआ है ॥ २१ ॥ जिनमें पक्षीगण मनोहर कलरव कर रहे हैं ऐसे चित्र-विचित्र बगीचोंसे, जिनमें कुमुद, अम्भोज, कह्लार और उत्पल आदि नाना प्रकारके कमल खिले हुए हैं ऐसे सरोवरोंसे तथा भली प्रकार सुसज्जित पुरुषों और मृगनयनी नारियोंसे उसकी अपूर्व शोभा हो रही थी। उसे देखकर सुदामाजी कहने लगे—'यह क्या हुआ ? यह किसका स्थान है ? और वह (मेरा स्थान) ऐसा कैसे हो गया ?' ॥२२-२३॥ वे इस उधेड़-बुनमें लगे ही हुए थे कि देवताओंके समान तेजस्वी बहुतसे नर-नारी बड़े उत्साहके साथ गाते-बजाते हुए उन्हें आगेसे लेने आये ॥ २४ ॥

पतिदेवका आगमन सुन उनकी रूपवती भार्या अति हर्ष और उतावलीके साथ तुरन्त ही अपने घरसे निकल आयी मानो लक्ष्मीजी अपने स्थान (कमलवन) से पधारी हों ॥ २५ ॥

१. तिमानिता ।

पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।
मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ॥२६॥

पत्नीं वीक्ष्य विस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः ।२७।
प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम् ।
मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥२८॥
पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
पर्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥२९॥
आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ।
मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ॥३०॥
स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नदीपान्भ्राजमानाँल्ललनारत्नसंयुतान् ॥३१॥
विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसम्पदाम् ।
तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम् ॥३२॥

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य
शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो
नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥३३॥
नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं
याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।
पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणो
दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥३४॥
किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं
सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी ।
मयोपनीतां पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ॥३५॥
तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्र
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।

पतिको देखते ही उस पतिव्रताके नेत्रोंमें प्रेमके वेगसे जल भर आया, उसने नेत्र मूँद लिये और पतिदेवको प्रेमभावसे नमस्कार कर मन-ही-मन आलिङ्गन किया ॥ २६ ॥

अपनी प... पदक धारण करनेवाली दासियोंके ... देवाङ्गनाके सदृश शोभायमान ... बड़ा विस्मय हुआ ॥ २७ ॥ ... हो उसके साथ स्वयं अपने ... नके समान सैकड़ों मणि... ॥ २८ ॥ उसमें दूधके फे... बिछौने, हाथीदाँतके ... सोनेकी दण्डीवाले ... इसी प्रकार वहाँ ... नके सिंहासन और ... मिलाते हुए चँदोवे भी सुशो... रत्नोंसे परिपूर्ण स्वच्छ स्फ... नीलमणिकी भूमिसे युक्त ... पकोंको और सर्व- ... र सावधानतापूर्वक ... सम्पत्तिका कारण सोचने लगे ॥३१-३२॥ [वे मन-ही-मन कहने लगे—] 'निश्चय ही, मुझ भाग्यहीन और सदाके दरिद्रकी महाविभूतिके उत्कर्षका कारण श्रीयदुनन्दनकी कृपा-कटाक्षके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥ अनन्त भोगोंसे सम्पन्न मेरे सखा यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द्र मेघके समान अति उदार होनेके कारण याचना करनेकी इच्छावाले अपने भक्तको, प्रत्यक्षमें कुछ न कहकर भी उसका भाव देखकर स्वयं ही बहुत कुछ दे डालते हैं ॥३४ ॥ वे अपने बहुत कुछ दिये हुएको भी थोड़ा मानते हैं और भक्तके अल्प उपहारको भी बहुत मानते हैं । देखो, उन महात्माने मेरेद्वारा ले जायी गयी चिउड़ोंकी एक मुट्ठीको भी कैसे प्रेमसे ग्रहण किया ॥ ३५ ॥ मुझे जन्म-जन्ममें उन्हींका सौहार्द, सखाभाव, मित्रता और दासता प्राप्त हों तथा

(पिछले पृष्ठके अंश, फटे भागपर:) ...खा अपनी पति... मेरे पास आये हैं ... वताओंके लिये भी ... विचार कर भगवान्‌ने उ... मे बँधे हुए चिउड़ोंको, 'यह ... ही छीन लिया ॥८॥ और ... —"मित्र ! यह तो तुम मेरी ... ये चिउड़े तो मुझे और मेरे ... सम्पूर्ण विश्वको तृप्त कर देंगे" ॥९॥ ... एक मुट्ठी चिउड़ा खा... त्यों ही भगवत्परायणा ... परमात्मा कृष्णका हाथ पकड़ ... लगीं—]"हे विश्वात्मन् ! म... र परलोकमें सर्व ...

१. द्विं ।

महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥३६॥
भक्ताय चित्रा भगवान्हि सम्पदो
राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥३७॥

महानुभाव और गुणोंके आश्रयस्थान भगवान् कृष्णमें अनुराग करते हुए मुझे उन्हींके भक्तोंका संग मिले ॥३६॥ भगवान् बड़े विचारवान् हैं, जिनका विचार परिपक्व नहीं होता उन अपने भक्तोंको वे धनियोंका ऐश्वर्यमदसे होनेवाला पतन देखकर, कभी विचित्र सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य आदि नहीं देते ॥ ३७ ॥

इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने ।
विषयाञ्जायया त्यक्ष्यन्बुभुजे नातिलम्पटः ॥३८॥

भगवान्‌के परमभक्त सुदामाजी चित्तमें ऐसा निश्चय कर अपनी स्त्रीके साथ अनासक्तभावसे त्याग-पूर्वक विषयोंको भोगने लगे ॥ ३८ ॥

तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।
ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥३९॥
एवं स विप्रो भगवत्सुहृत्तदा
दृष्ट्वा स्वभृत्यैरजितं पराजितम् ।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन-
स्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ॥४०॥
एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते ॥४१॥

[भगवान् कृष्ण भी बड़े ही ब्राह्मणभक्त हैं] उन देवदेव यज्ञपति श्रीहरिके ब्राह्मण ही प्रभु और देवता हैं, उनकी दृष्टिमें ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ और कोई नहीं है ॥ ३९ ॥ इस प्रकार भगवान्‌के सखा उन विप्रवरने किसीसे भी न जीते जा सकनेवाले भगवान्‌को अपने भक्तोंसे हारे हुए देख उन्हींके ध्यानके वेगसे अपनी अविद्यारूपिणी ग्रन्थिका छेदन कर कुछ ही समयमें सत्पुरुषोंके पानेयोग्य भगवान्‌के परमधामको प्राप्त कर लिया ॥ ४० ॥ ब्राह्मणहितकारी भगवान् श्रीहरिकी इस ब्रह्मण्यताका श्रवण करनेसे मनुष्य उनका प्रेम प्राप्त कर शीघ्र ही कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
पृथुकोपाख्यानं नामैकाशीतितमोऽध्यायः ॥८१॥

१. न्धे पृथुकोपाख्यानेऽष्टसप्ततितमो० ।

बयासीवाँ अध्याय

गोपोंसे भेंट ।

श्रीशुक उवाच

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः ।
सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ॥ १ ॥
तं ज्ञात्वा मनुजा राजन्पुरस्तादेव सर्वतः ।
स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥ २ ॥
निःक्षत्रियां महीं कुर्वन्रामः शस्त्रभृतां वरः ।
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ॥ ३ ॥
ईजे च भगवान्रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ।
लोकस्य ग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार, राम और कृष्णके द्वारकापुरीमें रहते समय प्रलयकालीन ग्रहणके समान एक बहुत बड़ा सूर्यग्रहणका पर्व आया ॥१॥ उस सूर्यग्रहणका होना [ज्यौतिषियोंद्वारा] पहले ही सुनकर देश-देशान्तरके बहुत-से लोग पुण्यकर्म करनेकी इच्छासे स्यमन्तपञ्चक नामवाले कुरुक्षेत्र तीर्थको गये ॥ २ ॥ जहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भगवान् परशुरामजीने पृथिवीको क्षत्रियहीन करते समय राजाओंके रक्तकी ढेरीसे नौ बहुत बड़े-बड़े कुण्ड उत्पन्न कर दिये थे ॥३॥ और जहाँ भगवान् परशुरामजीने क्षत्रियवधके पापसे अलिप्त होते हुए भी केवल लोकशिक्षाके लिये अन्य साधारण पुरुषोंके समान पापमुक्त होनेके लिये बहुत-से यज्ञ किये थे ॥ ४ ॥

महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन्भारतीः प्रजाः ।
वृष्णयश्च तथाक्रूरवसुदेवाहुकादयः ॥ ५ ॥
ययुर्भारत तत्क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः ।
गदप्रद्युम्नसाम्बाद्याः सुचन्द्रशुकसारणैः ॥ ६ ॥
आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः ।
ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ॥ ७ ॥
गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ।
व्यरोचन्त महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः ॥ ८ ॥
दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा इव ।
तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ।
रामह्रदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ॥१०॥
ददुः स्वन्नं द्विजाग्रयेभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ।

इस महती तीर्थयात्रामें भारतकी अधिकांश प्रजा कुरुक्षेत्रमें आयी थी । हे भारत ! इस अवसरपर अक्रूर, वसुदेव, उग्रसेन, गद, प्रद्युम्न और साम्ब आदि यादवगण भी अपने पापोंका मार्जन करनेकी इच्छासे कुरुक्षेत्रको गये । तथा सुचन्द्र, शुक और सारणके सहित अनिरुद्धजी एवं सेनापति कृतवर्मा द्वारकादुर्गकी रक्षा करते रहे ॥५-६॥ गलेमें सोनेकी माला तथा दिव्य हार, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य कवचसे सुसज्जित वे महातेजस्वी यादवगण अपनी स्त्रियोंके सहित देवविमानोंके समान प्रकाशमान रथों, तरङ्गोंके समान तीव्र गतिवाले घोड़ों और मेघके समान गर्जते हुए हाथियोंपर चढ़कर जाते हुए विद्याधरोंके समान कान्तिमान् मनुष्योंसे युक्त हो देवताओंके समान शोभायमान प्रतीत होते थे ॥७-८॥ उन महाभाग यादवोंने वहाँ स्नान तथा उपवासादि कर एकाग्रचित्तसे ब्राह्मणोंको वस्त्र, पुष्पमाला और सुवर्णमय हारसे विभूषित गौएँ दान कीं ॥ ९ ॥ फिर उन यादवोंने परशुरामजीके कुण्डोंमें विधिवत् स्नान कर 'भगवान् कृष्णमें हमारी भक्ति हो' इस इच्छासे ब्राह्मणोंको उत्तम अन्न भोजन कराया ॥ १० ॥

१. ऋषिरुवाच । २. ज्ञात्वा तं । ३. म्बाश्च । ४. ददुश्चान्नं ।

स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥११॥
भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ।
तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् ॥१२॥
मत्स्योशीनरकौसल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् ।
काम्बोजकैकयान्मद्रान्कुन्तीनानर्तकेरलान् ॥१३॥
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृप ।
नन्दादीन्सुहृदो गोपान्गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् ॥१४॥

फिर कृष्ण ही जिनके एकमात्र देव हैं वे यादवगण उनकी आज्ञा पा स्वयं भी भोजन कर शीतल छायामय वृक्षोंके तले अपनी-अपनी इच्छानुसार ठहर गये ॥११॥ हे राजन् ! वहाँ यादवोंने तीर्थस्नानके लिये आये हुए अपने सुहृद् और सम्बन्धियोंको तथा मत्स्य, उशीनर, कोसल, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, कैकय, मद्र, कुन्ति, आनर्त और केरल आदि अनेक देशोंके तथा अपने और पराये पक्षके और भी सैकड़ों लोगोंको देखा। इनके सिवा परमस्नेही नन्दादि गोपोंको और चिरकालसे दर्शनोंके लिये उत्कण्ठित रहनेवाली गोपाङ्गनाओंको भी देखा ॥१२-१४॥

अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा
प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः ।
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला
हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥१५॥
स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-
स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनैः स्तनान्कुङ्कुमपङ्करूषिता-
न्निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ॥१६॥
ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान्यविष्ठैरभिवादिताः ।
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथा मिथः ॥१७॥

तब एक-दूसरेको देखनेसे उत्पन्न हुए आनन्दके वेगसे उनके हृदय और मुखकमलकी कान्ति खिल गयी; उन्होंने नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहाते हुए एक-दूसरेका गाढ आलिङ्गन किया; उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, वाणी गद्गद हो गयी और वे परमानन्दमें डूब गये ॥१५॥ इसी प्रकार स्नेह और मुसकानके कारण जिनकी दृष्टि अत्यन्त निर्मल है वे स्त्रियाँ भी एक-दूसरीको देखकर नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर अपने कुङ्कुममण्डित कुचोंको कुचोंसे दबाती हुई परस्पर बाँह पसारकर मिलने लगीं ॥१६॥ फिर उन सबने छोटी अवस्थावालोंसे अभिवादित हो अपने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया तथा एक-दूसरेका स्वागत एवं कुशल-प्रश्न कर वे आपसमें भगवान् कृष्णकी कथाएँ कहने लगे ॥१७॥

पृथा भ्रातॄन्स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि ।
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ सङ्कथया शुचः ॥१८॥

कुन्तीने जब अपने भाई, बहिन, उनके पुत्र, अपने माता-पिता, भावज तथा भगवान् कृष्णको देखा तो उनकी प्रेमवार्तासे अपने सब दुःख भूल गयी, [और वसुदेवजीसे कहने लगी] ॥१८॥

कुन्त्युवाच

आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।
यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ॥१९॥
सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ॥२०॥

कुन्तीने कहा—बड़े भैया ! मैं अपनेको बड़ी अभागिनी समझती हूँ; क्योंकि आपत्तिके समय तुम-जैसे साधुस्वभाव सम्बन्धी भी मेरा स्मरण नहीं करते ॥१९॥ जिससे विधाता वाम होता है उसके सुहृद्, ज्ञातिबन्धु, पुत्र, भ्राता और माता-पिता भी अपने उस स्वजनका स्मरण नहीं करते ॥२०॥

१. त ।

वसुदेव उवाच

अम्ब मास्मानसूयेथा दैवक्रीडनकान्नरान् ।
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथवा ॥२१॥
कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् ।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ।
आसन्नच्युतसन्दर्शपरमानन्दनिर्वृताः ॥२३॥
भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सृञ्जयो विदुरः कृपः ॥२४॥
कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।
पुरुजिद्द्रुपदः शल्यो[2] धृष्टकेतुः सकाशिराट् ॥२५॥
दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ।
युधामन्युः सुशर्मा च ससुता[3] बाह्लिकादयः ॥२६॥
राजानो ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।
श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः ॥२७॥
अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन्कृष्णपरिग्रहान् ॥२८॥
अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।
यत्पश्यथासकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥२९॥
यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति
पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।
भूः कालभर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्म-
स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥३०॥
तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-
शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।

वसुदेवजी बोले—बहिन ! हम सभी मनुष्य विधाताके खिलौने हैं, तुम हमें दोष मत दो; भगवान्‌के वशीभूत होकर ही लोग नाना प्रकारके कर्ममें प्रवृत्त होते और कराये जाते हैं ॥२१॥ हम सब लोग तो स्वयं ही कंससे सताये जाकर दशों दिशाओंमें भाग गये थे। अभी-अभी [थोड़े ही दिन हुए] विधाताने हमें फिर अपने स्थानपर पहुँचाया है ॥ २२ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वहाँ आये हुए उन सब राजाओंका वसुदेव और उग्रसेन आदि यादवोंने सत्कार किया और वे श्रीअच्युतका दर्शन कर परमानन्दमें डूब गये ॥२३॥ हे राजेन्द्र ! भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, पुत्रोंके सहित गान्धारी, स्त्रियोंके सहित पाण्डवगण, कुन्ती, सृञ्जय, विदुर, कृप, कुन्तिभोज, विराट, भीष्मक, महाराज नग्नजित्, पुरुजित्, द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशिराज, दमघोष, विशालाक्ष, मैथिल, मद्र, केकय, युधामन्यु, सुशर्मा तथा पुत्रोंके सहित बाह्लिक आदि जो महाराज युधिष्ठिरके अनुवर्ती राजालोग आये थे वे रानियोंसहित भगवान्‌के श्रीनिकेतन विग्रहको देखकर अति विस्मित हुए ॥ २४–२७ ॥ और बलरामजी तथा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे भलीप्रकार सम्मानित हो वे नृपतिगण कृष्णचन्द्रके साथी यादवोंकी प्रशंसा करने लगे ॥२८॥ वे बोले—"हे भोजपति उग्रसेनजी ! इस संसारमें सब मनुष्योंमें आप ही लोगोंका जन्म सफल है, क्योंकि जिनका दर्शन योगियोंको भी दुर्लभ है, उन भगवान् कृष्णको आप निरन्तर अपने पास देखते हैं ॥२९॥ जिनकी वेदोंमें वर्णन की हुई कीर्ति, जिनका चरणोदक गङ्गाजल और जिनका शास्त्ररूप वचन इस सम्पूर्ण जगत्‌को पूर्णतया पवित्र कर देते हैं तथा कालक्रमसे भाग्यहीना हुई भी भूमि जिनके चरणकमलके स्पर्शसे शक्तिसमन्विता हो हमारे लिये सब प्रकारके पदार्थ उत्पन्न करती है ॥३०॥ उन भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन, स्पर्श, सहगमन, उनके साथ बातचीत करने, सोने-बैठने और भोजन करने आदि क्रियाओंसे युक्त जिनके विवाह और दैहिक सम्बन्ध हुआ करते हैं,

१. एतदेव । २. शैव्यो धृष्टकेतुश्च काशि० । ३. यदुश्चावन्तिकादयः ।

येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः

स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥३१॥

संसार-बन्धनके कारणभूत गृहमें रहते हुए भी जिनके यहाँ स्वर्ग और अपवर्गकी इच्छाको भी दूर करनेवाले साक्षात् विष्णुभगवान् रहते हैं उन आप लोगोंका ही जन्म सफल है" ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

नन्दस्तत्र यदून्प्राप्ताञ्ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान् ।
तत्रागमद्वृतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया ॥३२॥
तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः ।
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥३३॥
वसुदेवः परिष्वज्य सम्प्रीतः[1] प्रेमविह्वलः ।
स्मरन्कंसकृतान्क्लेशान्पुत्रन्यासं च गोकुले ॥३४॥
कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥३५॥
तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥३६॥
रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥३७॥
का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि ।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं[2] यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥३८॥

एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः

सम्प्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि ।

प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो-

र्न्यस्तावकुत्रचभयौ न सतां परः स्वः ॥३९॥

श्रीशुकदेवजी बोले—वहाँ कृष्ण आदि यादवोंको आये हुए जान श्रीनन्दजी उन्हें देखनेकी इच्छासे गोपगणके साथ अपनी सब सामग्री छकड़ोंमें लादे हुए यादवोंके पास चले आये ॥३२॥ उन्हें आये देख यादवगण ऐसे प्रसन्न हुए जैसे प्राणोंके आ जानेसे शरीर सचेत हो जाते हैं, वे बहुत दिनोंसे उनके दर्शनोंके लिये तरस रहे थे, इसलिये उन्होंने उनका गाढ़ आलिङ्गन किया ॥३३॥ वसुदेवजीने अति प्रीतिपूर्वक नन्दजीको गले लगाया और कंसद्वारा दिये गये क्लेशों तथा पुत्रोंको गोकुलमें पहुँचानेकी बातोंका स्मरण कर वे प्रेमवश अत्यन्त विह्वल हो गये ॥३४॥ हे कुरुनन्दन ! राम और कृष्ण तो अपने माता-पिता यशोदा और नन्दजीको प्रणाम तथा आलिङ्गन कर प्रेमवश आँसू भर आनेके कारण कण्ठ रुँध जानेसे कुछ भी न बोल सके ॥३५॥ तब नन्दजी और महाभागा यशोदाने उन दोनों पुत्रोंको अपनी गोदमें बिठाकर अपनी भुजाओंसे उनका गाढ आलिङ्गन किया और अपनी विरहव्यथा शान्त की ॥३६॥ तदनन्तर महारानी रोहिणी और देवकीजी व्रजरानी यशोदासे गले मिलीं और उनकी पूर्वकृत मित्रताका स्मरण कर गद्गदकण्ठसे कहने लगीं—॥३७॥ "हे व्रजेश्वरि ! जिसका संसारमें इन्द्रपद पाकर भी किसी प्रकार बदला नहीं दिया जा सकता उस आपकी कभी न छूटनेवाली मैत्रीको कौन स्त्री भूल सकती है? ॥३८॥ हे देवि ! इन राम और कृष्णने जिस समय अपने माता-पिताको देखा भी न था उस समय पलक जैसे नेत्रोंकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार आपहीने इनकी रक्षा की थी । आप ही दोनों माता-पिताओंद्वारा लालन-पालन अभ्युदय और पोषण प्राप्त कर ये निर्भयतापूर्वक रहे। सच है, सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें कोई अपना या पराया नहीं होता" ॥३९॥

१. प्रतीतः । २. अपि प्राप्यैन्द्र० ।

श्रीशुक उवाच[1]

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥४०॥
भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः ।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥४१॥
अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥४२॥
अप्यवध्यायथास्मान्स्विदकृतज्ञाविशङ्कया ।
नूनं भूतानि भगवान्युनक्ति वियुनक्ति च ॥४३॥
वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ।
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ॥४४॥
मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥४५॥
अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥४६॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मात्मना ततः ।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥४७॥

श्रीशुक उवाच[2]

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जो भगवान्‌की मधुर मूर्तिका दर्शन करते समय अपने नेत्रोंके पलक बनानेवाले ब्रह्माको भी कोसती थीं वे गोपियाँ, बहुत दिनोंसे जिनके दर्शनोंकी लालसा थी उन प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रको देखकर उन्हें नेत्रोंद्वारा अपने हृदयमें ले जाकर आलिङ्गन करने लगीं और जो नित्य अभ्यास करनेवाले योगियोंको भी दुर्लभ है उस भगवत्तादात्म्यको प्राप्त हो गयीं ॥४०॥ भगवान्‌ने भी उनकी ऐसी दशा देख उनसे एकान्तमें मिलकर गाढ़ आलिङ्गन किया और उनकी कुशल पूछकर हँसते हुए इस प्रकार कहा—॥४१॥ "हे सखियो ! हम अपने स्वजनोंका प्रिय करनेके लिये मथुरा चले आये थे और फिर शत्रुपक्षके संहारमें लग जानेके कारण बहुत दिन हो जानेपर भी अभीतक तुमसे नहीं मिल सके, सो क्या तुम कभी हमारा स्मरण करती थीं ? ॥४२॥ तुम हमें अकृतज्ञ समझकर अवश्य ही हमारी निन्दा करती रही होंगी, किन्तु [इसमें हमारा कोई दोष नहीं है; क्योंकि] भगवान् ही सब जीवोंका संयोग-वियोग कराते हैं ॥४३॥ जिस प्रकार मेघमाला, तृणसमूह, रुई और धूलिको वायु एकत्रित कर फिर छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार सब भूतोंके रचयिता श्रीभगवान् प्राणियोंके बारम्बार संयोग-वियोग कराते रहते हैं ॥४४॥ मेरी भक्ति ही प्राणियोंको मोक्ष देनेवाली है—यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हें मेरा वियोग होनेपर भी मेरी प्राप्ति करानेवाला मेरा स्नेह बना रहा ॥४५॥ हे कल्याणियो ! जिस प्रकार समस्त भौतिक पदार्थोंमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँच भूत ही व्याप्त हैं उसी प्रकार इनके भोक्ता सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि और अन्तमें तथा बाहर और भीतर मैं ही विराजमान हूँ ॥४६॥ इसी प्रकार प्राणियोंके शरीरोंमें ये पाँचों भूत कारणरूपसे व्याप्त हैं तथा आत्मा भोक्तारूपसे व्याप्त है । ये दोनों ही मुझ अक्षरस्वरूप परमात्मामें प्रतीत हो रहे हैं—ऐसा समझो" ॥४७॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार भगवान् कृष्णद्वारा अध्यात्मज्ञानके उपदेशसे भली-

१. ऋषिरुवाच । २. ऋषिरुवाच ।

तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥४८॥

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ॥४९॥

प्रकार समझायी हुई वे गोपियाँ उनके स्मरणसे लिङ्गशरीरका नाश हो जानेपर उन्हींके स्वरूपको प्राप्त हो गयीं—॥४८॥ वे कहने लगीं—"हे कमलनाभ ! अगाध ज्ञानसम्पन्न योगियोंद्वारा जिसका हृदयमें चिन्तन किया जाता है तथा जो संसारकूपमें गिरे हुए प्राणियोंको उससे निकालनेके लिये एकमात्र अवलम्ब है आपका वह चरणकमल हम घरमें रहनेवालियोंके हृदयमें भी निरन्तर प्रकाशमान रहे" ॥४९॥

—

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
वृष्णिगोपसङ्गमो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः॥८२॥

—

तिरासीवाँ अध्याय

भगवान् कृष्णकी भार्याओंका द्रौपदीजीको अपने-अपने विवाहकी बातें सुनाना ।

श्रीशुक उवाच

तथानुगृह्य भगवान्गोपीनां स गुरुर्गतिः ।
युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥ १ ॥
त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः ।
प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥ २ ॥
कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित् ।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहम्भृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥ ३ ॥
हित्वात्मधामविधुतात्मकृतत्र्यवस्थ-
मानन्दसम्प्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्त[2]योग-
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले-हे राजन् ! गोपियोंके गुरु और एकमात्र गति भगवान् कृष्णने उनपर इस प्रकार अनुग्रह कर फिर धर्मराज युधिष्ठिर आदि अपने समस्त बन्धुजनोंसे उनकी कुशल पूछी ॥ १ ॥ जगन्नाथ भगवान् कृष्णद्वारा इस प्रकार कुशलप्रश्नसे सत्कार किये जानेपर वे पाण्डवादि उनके चरणकमलके दर्शनसे निष्पाप हो अति प्रसन्नचित्तसे कहने लगे ॥ २ ॥ "हे प्रभो ! देहधारियोंको देहकी प्राप्ति करानेवाले अज्ञानका नाश करनेवाली और महान् पुरुषोंके मनोंसे मुखद्वारा बाहर निकली हुई तुम्हारे चरणकमलोंकी कथारूप सुधाका जो अपने कर्णपुटोंसे पान किया करते हैं उनका किसी समय भी किस प्रकार अमङ्गल हो सकता है ? ॥ ३ ॥ अतः निजस्वरूपके प्रकाशसे जहाँ बुद्धिकी जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ नष्ट हो गयी हैं ऐसे निर्भर आनन्दपूर्ण तथा अखण्ड और कभी कुण्ठित न होनेवाले ज्ञानस्वरूप श्रीहरिको, जिन्होंने कालक्रमसे नष्ट होते हुए वेदोंकी रक्षा करनेके लिये योगमायासे मनुष्यावतार धारण किया है और जो परमहंसोंकी एकमात्र गति हैं, हम नमस्कार करते हैं" ॥ ४ ॥

१. न्धे तीर्थमालायामेकोनसप्ततितमो । २. आत्मयोग० ।

ऋषिरुवाच

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जने-
ष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः ।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणं-
स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जिस समय दूसरे लोग इस प्रकार पुण्यकीर्ति-शिरोमणि भगवान् कृष्णकी स्तुति कर रहे थे उसी समय यादव और कौरव-कुलकी स्त्रियाँ एकत्रित होकर आपसमें भगवान्‌की त्रिभुवन-विख्यात कथाएँ कहने लगीं, सो मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥५॥

द्रौपद्युवाच

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥ ६ ॥
हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान्स्वयम् ।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन्स्वमायया ॥ ७ ॥

द्रौपदीजीने कहा—हे रुक्मिणि ! हे भद्रे ! हे जाम्बवति ! हे सत्ये ! हे सत्यभामे ! हे कालिन्दि ! हे मित्रविन्दे ! हे रोहिणि ! हे लक्ष्मणे ! हे कृष्ण-पत्नियो ! तुम यह तो बताओ कि अपनी मायासे लोकोंका अनुकरण करनेवाले अच्युत भगवान् कृष्णने तुमसे अपने-आप किस प्रकार विवाह किये ? ॥६-७॥

रुक्मिण्युवाच

चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु
राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ।
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात्
तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥ ८ ॥

रुक्मिणीजी बोलीं—मुझे शिशुपालको दिलानेके लिये जब जरासन्ध आदि नृपतिगण धनुष चढ़ाकर युद्ध करनेको उद्यत हुए तब उन अजेय वीरोंके मस्तकोंपर जिनकी चरणरज मुकुटमणिके समान सुशोभित हुई और जो बकरी और भेड़ोंके झुंड-सदृश उस राजसमूहमेंसे अपने भाग मुझको सिंहके समान छीन लाये उन लक्ष्मीनिवास भगवान् श्रीहरिके चरणोंकी मैं सदा पूजा करती रहूँ ॥ ८ ॥

सत्यभामोवाच

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन
लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ।
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात्स तेन
भीतः पितादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम् ॥ ९ ॥

सत्यभामाने कहा—जब अपने भाई प्रसेनके वधसे सन्तप्त हुए मेरे पिताके दोष देनेपर उस कलङ्कको दूर करनेके लिये भगवान् कृष्णने ऋक्षराज जाम्बवान्‌को जीतकर उनसे स्यमन्तक मणि लाकर मेरे पिताको दी तब मिथ्या कलङ्क लगानेके अपराधसे डरे हुए मेरे पिताने पहले मुझे दूसरेको देनेका विचार कर लिया था तो भी इन प्रभु कृष्णको ही अर्पण कर दिया ॥ ९ ॥

जाम्बवत्युवाच

प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदैवं
सीतापतिं त्रिनवहान्यमुनाभ्ययुध्यत् ।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥१०॥

जाम्बवती बोली—मेरे पिता जाम्बवान्‌ने यह जानकर कि ये मेरे प्रभु और कुलदेव भगवान् सीतापतिके ही अवतार हैं इनके साथ सत्ताईस दिनतक युद्ध किया और इस प्रकार परीक्षाद्वारा इन्हें भगवान् राम ही जानकर उनके चरणोंको प्रणाम किया और मणिके सहित मुझे इन्हें उपहारके रूपमें अर्पण कर दिया । इस प्रकार मैं इनकी दासी हुई ॥१०॥

कालिन्द्युवाच

तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया ।
सख्योपेत्याग्रहीत्पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी ॥११॥

कालिन्दीने कहा—मुझे अपने चरणस्पर्शकी इच्छासे तपस्या करती जानकर जिन श्रीहरिने अपने सखा अर्जुनके सहित मेरे पास आकर मेरा पाणिग्रहण किया इस समय मैं उन्हींके घरको बुहारनेवाली उनकी दासी हूँ ॥११॥

मित्रविन्दोवाच

यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान्
निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः ।
भ्रातॄंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौक-
स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम् ॥१२॥

मित्रविन्दा बोलीं—सिंह जिस प्रकार कुत्तोंके बीचमेंसे अपना भाग ले जाता है उसी प्रकार जो मेरे स्वयंवरमें आ अन्य राजाओंको तथा अपकार करनेवाले मेरे भाइयोंको जीतकर मुझे अपनी द्वारकापुरीमें ले गये उन श्रीहरिके पादप्रक्षालनका सौभाग्य मुझे प्रत्येक जन्ममें प्राप्त होता रहे ॥१२॥

सत्योवाच

सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान्
पित्रा कृतान्क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।
तान्वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य
क्रीडन्बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥१३॥
य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् ।
पथि निर्जित्य राजन्यान्निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥१४॥

सत्याने कहा—मेरे पिताने राजाओंके पुरुषार्थकी परीक्षाके लिये बड़े बलवान्, पराक्रमी और तीखे सींगोंवाले सात बैल नियुक्त किये थे । वीरोंके मदको चूर्ण करनेवाले उन बैलोंको इन भगवान् कृष्णने बड़े वेगसे पकड़कर बालक जैसे बकरीके बच्चोंको बाँध देता है उसी प्रकार खेलहीमें बाँध लिया ॥१३॥ इस प्रकार पुरुषार्थरूप मूल्य देकर और मार्गमें विघ्न करनेवाले राजाओंको जीतकर जो मुझे चतुरङ्गिणीसेना और दासियोंके सहित अपने नगरमें ले आये उन भगवान्का दास्यभाव मुझे प्राप्त हो ॥१४॥

भद्रोवाच

पिता मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान् ।
कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥१५॥
अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥१६॥

भद्राने कहा—हे द्रौपदि ! मुझे इनमें अनुरक्त जान मेरे पिताने मामाके पुत्र इन कृष्णचन्द्रको बुलाकर मुझे अक्षौहिणीसेना और बहुत-सी दासियोंके सहित इन्हें स्वयं ही सौंप दिया था ॥१५॥ अपने कर्मानुसार मैं संसारमें जहाँ-जहाँ जाऊँ वहाँ जन्म-जन्ममें मुझे इन्हींका चरणस्पर्श प्राप्त हो, क्योंकि आत्माका परम कल्याण इसीमें है ॥१६॥

लक्ष्मणोवाच

ममापि राज्ञ्यच्युतजन्मकर्म
श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया
वृतः सुसंमृश्य विहाय लोकपान् ॥१७॥
ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।
बृहत्सेन इति ख्यातस्तत्रोपायमचीकरत् ॥१८॥

लक्ष्मणा बोलीं—हे द्रौपदि ! श्रीनारदजीके मुखसे भगवान्के दिव्य जन्म और दिव्य कर्मोंका बारम्बार वर्णन सुनकर और यह सोचकर कि 'अहो ! लक्ष्मीजीने भी समस्त लोकपालोंको छोड़कर विष्णु-भगवान्को ही वरा था' मेरा चित्त श्रीकृष्णचन्द्रमें आसक्त हो गया था ॥१७॥ हे साध्वि ! तब मेरा अभिप्राय जान मेरे पुत्रीवत्सल पिता राजा बृहत्सेनने उसकी पूर्तिके लिये एक उपाय किया ॥१८॥

१. प्रेम्णा ।

यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।
अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ॥१९॥
श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः ॥२०॥
पित्रा सम्पूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः ।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः ॥२१॥
आदाय व्यसृजन्केचित्सज्यं कर्तुमनीश्वराः ।
आकोटि ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुना हताः ॥२२॥
सज्यं कृत्वा परे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपाः ।
भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविन्दंस्तदवस्थितिम् ॥२३॥
मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् ।
पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाच्छिनत्पस्पृशे परम् ॥२४॥

हे महारानी ! जिस प्रकार अर्जुनकी प्राप्तिके लिये तुम्हारे पिताने स्वयंवरमें मत्स्यवेधका आयोजन किया था उसी प्रकार मेरे पिताने भी किया। परन्तु हमारे यहाँका मत्स्य बाहरसे ढका हुआ था, केवल जलमें ही उसका प्रतिबिम्ब दिखायी देता था ॥१९॥ मेरे स्वयंवरका समाचार सुन सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र चलानेमें कुशल सहस्रों राजालोग अपने पुरोहितोंके साथ सब देशोंसे आकर मेरे पिताके नगरमें एकत्रित हुए ॥२०॥ मेरे पिताने बल और आयुके अनुसार उन सभीका यथोचित सत्कार किया और उन्होंने मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे मत्स्यवेध करनेके लिये सभामें बाणोंके सहित धनुष उठाया ॥२१॥ उनमेंसे कितनोंहीने तो धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ानेमें असमर्थ होनेके कारण उसे उठाकर जहाँ-का-तहाँ रख दिया और कोई उसकी डोरीको धनुषके दूसरे सिरेतक खींचकर फिर उसीका आघात लगनेसे गिर पड़े ॥२२॥ दूसरे जरासन्ध, अम्बष्ठ, शिशुपाल, भीमसेन, दुर्योधन और कर्ण आदि वीरोंने उसका रोंदा तो चढ़ा लिया किन्तु उन्हें लक्ष्यकी स्थिति न जान पड़ी ॥२३॥ अर्जुनने जलमें मत्स्यकी परछाईं देखकर उसकी स्थिति भी जान ली किन्तु जब उन्होंने बड़ी सावधानीसे बाण छोड़ा तो उससे लक्ष्यका वेध नहीं हुआ, केवल स्पर्शमात्र ही हुआ ॥२४॥

राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।
भगवान्धनुरादाय सज्यं कृत्वाथ लीलया ॥२५॥
तस्मिन्सन्धाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।
छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ॥२६॥
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।
देवाश्च कुसुमासारान्मुमुचुर्हर्षविह्वलाः[1] ॥२७॥
तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां
पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये
सव्रीडहासवदना कबरीधृतस्रक् ॥२८॥
उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्वि-

इस प्रकार, मानभङ्ग हो जानेसे जब सब अभिमानी राजे हट गये तब भगवान्ने धनुष उठाकर उसपर लीलाहीसे रोंदा चढ़ाया और उसपर बाण रख सूर्यके अभिजित् नक्षत्रमें आनेपर मत्स्यको एक बार जलमें देख बाणसे वेध कर गिरा दिया ॥२५-२६॥ उस समय सम्पूर्ण भूमण्डलमें जयजयकारके सहित आकाशमें दुन्दुभियोंका शब्द होने लगा और देवगण हर्षसे विह्वल हो पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥२७॥ तब मैं दो परम सुन्दर नवीन रेशमी वस्त्रको पहन-ओढ़कर, चोटीमें फूलोंकी माला गूँथे हुए, लज्जापूर्वक मुसकाती हुई हाथमें सोनेसे दमकती हुई मणियोंकी माला लिये चरणनूपुरोंकी झनकार करती उस रङ्गशालामें आयी ॥२८॥ और उत्तम अलकावली तथा कुण्डलोंकी कान्तिसे सुशोभित कपोलोंसे युक्त

१. विक्लवाः ।

ण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः ।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥२९॥

अपना मनोहर मुखारविन्द उठाकर शरच्चन्द्रिकाके समान मधुर हासयुक्त कटाक्षभङ्गीसे सब ओर बैठे हुए राजाओंकी ओर दृष्टिपात करते हुए अनुरागपूर्ण चित्तसे अपनी माला धीरेसे श्रीकृष्णचन्द्रके गलेमें डाल दी ॥२९॥

तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः ।
निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः ॥३०॥

इतनेहीमें वहाँ मृदङ्ग, पटह, शङ्ख, भेरी और आनक आदि बाजोंका शब्द होने लगा, नट और नर्तकियाँ नाचने लगीं तथा गायकगण गाने लगे ॥३०॥

एवं वृते भगवति मयेशे[1] नृपयूथपाः ।
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धन्तो हृच्छयातुराः ॥३१॥
मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम् ।
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ॥३२॥
दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।
मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ॥३३॥
तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं[2] पथि केचन ।
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम् ॥३४॥
ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकन्धराः ।
निपेतुः प्रधने केचिदेके सन्त्यज्य दुद्रुवुः ॥३५॥

हे याज्ञसेनि ! जब मैंने इस प्रकार मायापति भगवान् कृष्णको वरण किया तो अन्य कामातुर राजाओंको स्पर्धावश यह सहन न हुआ ॥३१॥ तब भगवान् चतुर्भुज हो मुझे अपने चार उत्तम घोड़ोंवाले रथमें चढ़ा स्वयं कवच धारणकर शार्ङ्गधनुष हाथमें ले युद्धके लिये तैयार हो गये ॥३२॥ हे महारानी ! तब दारुकने वह सुवर्णमण्डित रथ हाँक दिया और भगवान् जिस प्रकार सिंह मृगोंके बीचमेंसे अपना भाग ले जाता है उसी प्रकार मुझे सब राजाओंके देखते-ही-देखते ले गये ॥३३॥ तब कुत्ते जिस प्रकार सिंहको रोकनेके लिये उसके पीछे दौड़ें उसी प्रकार उनमेंसे कुछ राजे भगवान्‌को मार्गमें रोकनेके लिये धनुष उठाकर उनके साथ युद्ध करनेको उद्यत हो उनके पीछे दौड़े ॥ ३४ ॥ किन्तु उनमेंसे कितने ही तो शार्ङ्ग-धनुषसे छूटे हुए बाण-समूहोंके द्वारा भुजा, चरण और शिर आदिके कट जानेसे युद्धभूमिमें मरकर गिर गये और कितने ही युद्ध छोड़कर भाग गये ॥३५॥

ततः पुरीं यदुपतिरत्यलङ्कृतां
रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां[3]
समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ॥३६॥

तदनन्तर, सूर्यदेव जैसे अस्ताचलमें प्रवेश करते हैं उसी प्रकार श्रीयदुनाथने स्वर्ग और भूलोकमें प्रशंसित अपनी नगरी श्रीद्वारकापुरीमें प्रवेश किया जो उस समय सूर्यको ढकनेवाली ध्वजा और पताकाओंसे तथा रंग-बिरंगी बन्दनवारोंसे सजायी गयी थी ॥३६॥

पिता मे पूजयामास सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।
महार्हवासोऽलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः ॥३७॥
दासीभिः सर्वसम्पद्भिर्भटे[4]भरथवाजिभिः ।

मेरे पिताने अपने सुहृद्, सम्बन्धी और बन्धुजनोंको नाना प्रकारके अमूल्य वस्त्र, अलङ्कार, शय्या, आसन और पात्र आदि देकर भली प्रकार सम्मानित किया ॥३७॥ तथा पूर्णकाम भगवान्‌को भी दासी, सब प्रकारकी सम्पत्ति, योद्धा, हाथी, रथ

१. मयेमे । २. नियोद्धुं । ३. सम्मतां । ४. भटैर्द्विरदवाजिभिः ।

आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ॥३८॥
आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः ।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ॥३९॥

महिष्य ऊचुः

भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा
ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः ।
निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिणिनाय य[1] आप्तकामः ॥४०॥

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥४१॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥४२॥
व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥४३॥

और घोड़ोंके सहित बहुत-से मूल्यवान् शस्त्र भक्तिभावसे समर्पण किये ॥३८॥ हे द्रौपदि ! हमने पूर्वजन्ममें सबका संग त्यागकर अवश्य ही कोई बड़ा तप किया होगा, उसीके प्रभावसे हम इस जन्ममें आत्माराम भगवान् कृष्णचन्द्रकी गृहदासियाँ हुई हैं ॥३९॥

सोलह सहस्र रानियोंने कहा—भौमासुरने भूमण्डलका दिग्विजय करते समय जीते हुए राजाओंकी कन्याओंको अपने महलमें रोक रक्खा है—यह जानकर भगवान्‌ने युद्धमें उसका सेनासहित संहार किया और स्वयं सब प्रकार पूर्णकाम होकर भी अपने संसारभयसे छुड़ानेवाले चरणोंका स्मरण करनेवाली हम दासियोंको बन्धनमुक्त कर हमसे पाणिग्रहण किया ॥४०॥ हे साध्वि ! हम साम्राज्य, इन्द्रपद, अथवा इन दोनोंके भोग, अणिमादि ऐश्वर्य, ब्रह्मपद, मोक्ष, अथवा सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्तियाँ—कुछ भी नहीं चाहतीं । हम तो श्रीलक्ष्मीजीके कुचकुङ्कुमकी गन्धसे युक्त श्रीगदाधरके चरणकमलोंकी रजको ही अपने मस्तकपर धारण करना चाहती हैं ॥४१-४२॥ भगवान्‌के जिस चरणस्पर्शकी कामना उनके गौ चराते समय, गोप, व्रजकी स्त्रियाँ, भीलनियाँ, दूब और लताएँ भी किया करती थीं [हमें भी उसीकी साध है] ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे[2]
त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥८३॥

१. यदाप्तकामः । २. प्राचीन प्रतिमें 'उत्तरार्धे' इतना अंश नहीं है ।

चौरासीवाँ अध्याय

वसुदेवजीका यज्ञोत्सव ।

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ॥ १ ॥

इति सम्भाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामदिदृक्षया ॥ २ ॥

द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः ।
विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥ ३ ॥

रामः सशिष्यो भगवान्वसिष्ठो गालवो भृगुः ।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥ ४ ॥

द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिराः ।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥ ५ ॥

तान्दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान् ॥ ६ ॥

तानानर्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।
स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥ ७ ॥

उवाच सुखमासीनान्भगवान्धर्मगुप्तनुः ।
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम् ।
देवानामपि दुष्प्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम् ॥ ९ ॥

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! रुक्मिणी आदि कृष्णपत्नियोंका सर्वात्मा श्रीहरिमें ऐसा प्रेमानुबन्धन देख कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा तथा अन्य राजपत्नियाँ और कृष्णचन्द्रकी प्रिया गोपियाँ अति विस्मित हुईं और उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी ॥ १ ॥ इस प्रकार जिस समय स्त्रियोंके साथ स्त्रियाँ और पुरुषोंके साथ पुरुष बातचीत कर रहे थे उस समय श्रीबलरामजी और कृष्णचन्द्रके दर्शनोंके लिये वहाँ श्रीव्यासदेव, नारदजी, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, शिष्योंके सहित परशुरामजी, भगवान् वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, ब्रह्माके पुत्र सनकादि, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेव आदि अन्यान्य ऋषिगण आये ॥ २-५ ॥

उन विश्ववन्दित मुनीश्वरोंको आये देख राम, कृष्ण, पाण्डवगण तथा अन्य राजाओंने, जो वहाँ पहलेसे बैठे हुए थे, सहसा उठकर प्रणाम किया ॥ ६ ॥ फिर स्वागत, आसन, पाद्य, अर्घ्य, माला, धूप और चन्दनादिसे और सब राजाओंके समान बलदेवजीके सहित भगवान् कृष्णने भी उनका पूजन किया ॥७॥ तब, जिन्होंने धर्मकी रक्षाके लिये ही शरीर धारण किया है उन श्रीहरिने सुखपूर्वक बैठे हुए उन मुनीश्वरोंसे कहा। उस समय वह महती सभा बिल्कुल मौन होकर भगवान्‌का भाषण सुन रही थी ॥८॥

श्रीभगवान् बोले—अहो ! आज हम जन्मधारियोंको जन्म लेनेका पूरा-पूरा फल मिल गया, क्योंकि जिनका मिलना देवताओंको भी अत्यन्त कठिन है आज हमें उन्हीं योगेश्वरोंका दर्शन प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥ जिन्होंने बहुत थोड़ी तपस्या की है तथा जो केवल प्रतिमामें ही देव-दृष्टि रखते हैं [भगवान्‌को सर्वव्यापक नहीं जानते] क्या उन्हें आपलोगोंके दर्शन, स्पर्श, कुशलप्रश्न, प्रणाम और पादपूजनादिका सुअवसर मिल सकता है ? ॥१०॥

१. भिः । २. यो नृप ।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥
नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥१२॥
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥१३॥

जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं हैं और न मृत्तिका या पत्थरके देवता ही देवता हैं। [साधुजन ही प्रधान तीर्थ और देवता हैं, क्योंकि] वे तीर्थादि तो बहुत समयतक सेवन करनेपर ही पवित्र करते हैं और साधुजन केवल दर्शनमात्रसे कृतार्थ कर देते हैं ॥११॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, पृथिवी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मनके अधिष्ठाता देवगण उपासना किये जानेपर भी भेद-बुद्धि रखनेवाले पुरुषके पाप (अज्ञान) का नाश नहीं करते, किन्तु ज्ञानी महात्मागण एक मुहूर्तकी सेवासे ही सम्पूर्ण अज्ञानका नाश कर देते हैं ॥१२॥ जिस पुरुषकी वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे बने हुए शवतुल्य शरीरमें ही आत्मबुद्धि है, जो स्त्री आदिको अपना मानता है, जिसकी केवल पार्थिव प्रतिमाओंमें ही देवबुद्धि और केवल जलमें ही तीर्थबुद्धि है तथा जो ज्ञानी महात्माजनोंमें कभी पूज्यबुद्धि नहीं रखता वह गधेके समान ही है ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः ।
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन्भ्रमद्धियः ॥१४॥
चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।
जनसङ्ग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं[1] जगद्गुरुम् ॥१५॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जिनकी बुद्धि कभी कुण्ठित नहीं होती उन भगवान् कृष्णका यह गूढ़ भाषण सुन समस्त ऋषीश्वरोंकी बुद्धि भ्रममें पड़ गयी और वे चुपचाप रह गये ॥ १४ ॥ फिर भगवान्‌की भगवत्ताका बहुत देरतक विचार कर वे मुनीश्वर जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्रसे यह कहकर कि 'आपका यह कथन लोकसंग्रहके ही लिये है' मुसुकाते हुए कहने लगे ॥ १५ ॥

मुनय ऊचुः

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१६॥
अनीह एतद्बहुधैक आत्मना
सृज्यत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी
अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥१७॥
अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये
बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।

मुनि बोले—जिनकी मायासे प्रजापतियोंके अधीश्वर मरीचि आदि तथा तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हमलोग मोहित हो रहे हैं और जो अपनी गूढ़ चेष्टाओंसे स्वयं ईश्वर होकर भी परतन्त्र जीवकी भाँति आचरण कर रहे हैं उन आप भगवान्‌की लीला बड़ी ही विचित्र है ॥ १६ ॥ जिस प्रकार पार्थिव पदार्थोंके कारण पृथिवी नाना रूपवाली प्रतीत होती है उसी प्रकार आप निश्चेष्ट होकर भी एकमात्र अपने-आपसे ही इस बहुविध जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं, तथापि इससे लिप्त नहीं होते । अहो ! आप सर्वव्यापकका यह विचित्र चरित्र लीलामात्र ही है ॥ १७ ॥ प्रभो ! आप प्रकृतिसे परे साक्षात् पुराणपुरुष हैं तो भी समय-समयपर अपने भक्तोंकी रक्षा और दुष्टोंका

[1] स्मरन्त० ।

स्वलीलया वेदपथं सनातनं
वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥१८॥
ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥१९॥
तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मञ्छास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः ।
सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥२०॥
अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया सङ्गम्य सद्गत्या यदन्तः श्रेयसां परः ॥२१॥
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥२२॥
न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥२३॥
यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥२४॥
एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया ।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ॥२५॥
तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष-
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।

दमन करनेके लिये विशुद्ध सत्त्वमय शरीर धारण करते हैं तथा अपनी लीलारूप आचरणसे सनातन वेदमार्गकी रक्षा करते हैं; क्योंकि वर्णाश्रमके आत्मा आप ही हैं ॥ १८ ॥ वेद आपका विशुद्ध हृदय है जिसमें तप, स्वाध्याय और इन्द्रियनिग्रहद्वारा व्यक्त (कार्य) अव्यक्त (कारण) और इन दोनोंसे विलक्षण सत्स्वरूप परमात्माकी उपलब्धि होती है ॥ १९ ॥ इसीलिये हे परमात्मन्! जो वेदोंके आधारभूत आपके स्वरूपकी उपलब्धिके स्थान हैं ऐसे ब्राह्मणोंका आप सम्मान किया करते हैं और इसीलिये आप ब्राह्मणभक्तोंमें अग्रगण्य हैं ॥ २० ॥ आप सकल कल्याणोंकी परमावधि और साधुजनोंकी एकमात्र गति हैं, आपसे मिलकर आज हमारे जन्म, विद्या, तप और ज्ञान सफल हो गये ॥ २१ ॥ जिनकी महिमा अपनी ही योगमायासे आच्छादित है उन आप परमात्मा अकुण्ठबुद्धि भगवान् कृष्णको नमस्कार है ॥ २२ ॥ आप सबके आत्मा, जगत्के आदि-कारण और नियन्ता होकर भी मायारूपी पर्देसे ढँके हुए हैं, इसलिये ये राजालोग तथा निरन्तर आपहीके साथ क्रीडा करनेवाले ये यादवगण भी आपको नहीं जान सकते ॥ २३ ॥ जिस प्रकार सोया हुआ पुरुष स्वप्नके मिथ्या पदार्थोंको सत्य समझता हुआ नाममात्रकी इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाले अपने स्वप्न-देहको ही वास्तविक देह समझता है और उससे भिन्न जागृतिके शरीरका कुछ भी स्मरण नहीं करता ॥ २४ ॥ उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें भी जिसका चित्त इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिरूप मायासे मोहित होकर नाममात्रके विषयोंमें भटक रहा है वह विवेकशक्तिके आच्छादित हो जानेके कारण आपको नहीं जानता ॥ २५ ॥ आज हमें उन्हीं आपके चरणकमलोंका दर्शन हुआ है; जिन चरणोंको मुनिजन सुदृढ योगद्वारा अपने हृदयमें धारण करते हैं और जो पापराशिका विध्वंस करनेवाली श्रीगङ्गाजीके भी आश्रयस्थान हैं। अतः हे देव! आप हम भक्तोंपर

१. यः सर्वांस्तस्माद्ब्रह्माग्र० ।

उत्सिक्तभक्त्युपहताशयजीवकोशा

आपुर्भवद्गतिमथोऽनुगृहाण भक्तान् ॥२६॥

कृपा कीजिये [और हमें अपनी एकान्त भक्ति दीजिये] क्योंकि जिनका लिङ्गदेहरूप जीवकोश आपकी उत्कृष्ट भक्तिसे गलित हो गया है वे ही आपके परमपदको प्राप्त हुए हैं ॥२६॥

श्रीशुक उवाच

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।
राजर्षे स्वाश्रमान्गन्तुं मुनयो दधिरे मनः ॥२७॥
तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः ।
प्रणम्य चोपसङ्गृह्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजर्षे ! भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति कर उन मुनीश्वरोंने श्रीकृष्णचन्द्र, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिरादिसे आज्ञा ले अपने-अपने आश्रमोंको जानेका विचार किया ॥२७॥ उनका जानेका सङ्कल्प देख महायशस्वी वसुदेवजीने उनके पास जा उन्हें प्रणाम कर और उनके चरण पकड़ एकाग्रचित्तसे कहा ॥२८॥

वसुदेव उवाच

नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥२९॥

वसुदेवजी बोले--हे सर्वदेवमय ऋषीश्वरगण ! आपको नमस्कार है । आप मेरी एक प्रार्थना सुनिये--जिन कर्मोका विधिवत् आचरण करनेसे मोक्ष-मार्गके प्रतिबन्धक कर्मोका परिहार किया जा सकता है वह आप हमें सुनाइये ॥२९॥

नारद उवाच

नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥३०॥
सन्निकर्षोऽत्र मर्त्यानामनादरणकारणम् ।
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥३१॥
यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनास्य वै ।
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ॥३२॥
तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै-
रव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ॥३३॥

श्रीनारदजी बोले—हे विप्रगण ! अपने पुत्र भगवान् कृष्णको बालक समझकर ये वसुदेवजी अपने कल्याणका साधन जाननेके लिये उन्हें छोड़कर जो हमसे प्रश्न करते हैं इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥३०॥ क्योंकि संसारमें समीपता मनुष्योंके अविश्वास-का कारण हुआ करती है, जिस प्रकार गङ्गातटपर रहनेवाले लोग अपनी शुद्धिके लिये गङ्गाजलको छोड़कर अन्य तीर्थोमें जाते हैं ॥३१॥ जिनका ज्ञान कालसे, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयसे, अपनेसे, दूसरेसे तथा गुणसंगसे भी कभी क्षीण नहीं होता ॥३२॥ तथा जिनका ज्ञानमय स्वरूप रागद्वेषादि क्लेश, पुण्य-पापमय कर्म, सुख-दुःखादि कर्मफल तथा सत्त्वादि गुणोंके प्रवाहसे खण्डित नहीं है उन अद्वितीय परमेश्वरको साधारण लोग मेघ और कुहरेसे ढँके हुए सूर्यके समान इन्द्रियादिसे आच्छादित समझते हैं ॥३३॥

अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुन्दुभिम् ।
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः ॥३४॥

तदनन्तर, हे राजन् ! उन मुनीश्वरोंने वसुदेवजीको सम्बोधित कर बलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्र तथा अन्य समस्त राजाओंके सुनते हुए उनसे कहा ॥३४॥

१. मनाः । २. नापि चि ।

कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः ।
यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥३५॥
चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुपा ।
दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्ममुदावहः ॥३६॥
अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः ॥३७॥
वित्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम् ।
आत्मलोकैषणां देव कालेन विसृजेद्बुधः ।
ग्रामे त्यक्तैषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम् ॥३८॥
ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितॄणां प्रभो ।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् ॥३९॥
त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते ।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निरृणोऽशरणो भव ॥४०॥
वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया हरिम् ।
जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद्वां पुत्रतां गतः ॥४१॥

श्रीशुक उवाच[2]

इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।
तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नानम्य[3] प्रसाद्य च ॥४२॥
त एनमृषयो राजन्वृता धर्मेण धार्मिकम् ।
तस्मिन्नयाजयन्क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥४३॥
तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।
स्नाताः सुवाससो राजन्राजानः सुष्ठ्वलङ्कृताः ॥४४॥

कर्मद्वारा कर्म-निरास करनेका उपाय सबसे अच्छा यही बताया गया है कि यज्ञादिद्वारा सर्वयज्ञपति भगवान् विष्णुका पूजन करे ॥३५॥ विद्वानोंने शास्त्रदृष्टिसे यही चित्तकी शान्तिका उपाय, सुगम मोक्षसाधन और चित्तको प्रसन्न करनेवाला धर्म बतलाया है ॥३६॥ अपने न्यायार्जित धनसे श्रद्धापूर्वक पुरुषोत्तम भगवान्का यजन करना—यही द्विजातीय गृहस्थके लिये कल्याणकारी मार्ग है ॥३७॥ हे वसुदेव ! विचारवान् पुरुष यज्ञ-दानादिके द्वारा वित्तैषणाको, गृहस्थोचित भोगोंद्वारा स्त्री-पुत्रकी एषणाको और 'कालक्रमसे स्वर्गादि भी छूट जाते हैं' इस विचारसे लोकैषणाको त्याग दे। इस प्रकार तीनों प्रकारकी एषणाओंको घरमें ही रहते हुए त्यागकर धीर पुरुष तपोवनको चले जाया करते थे ॥३८॥ हे राजन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये द्विजमात्र देवता, ऋषि और पितर—इन तीनोंके ऋणोंसे युक्त ही उत्पन्न होते हैं क्रमशः यज्ञ, अध्ययन और पुत्रोत्पत्तिके द्वारा उनसे उऋण हुए बिना ही जो संसारको त्याग देता है वह पतित हो जाता है ॥३९॥ हे महामते ! आप इस समयतक ऋषिऋण और पितृऋण दोसे मुक्त हो चुके हैं अब यज्ञानुष्ठानद्वारा देवऋणसे भी उऋण होकर तीनों ऋणोंसे मुक्त हो भगवान्की शरण हो जाइये ॥४०॥ हे वसुदेवजी ! आपने अवश्य ही अत्यन्त भक्तिके साथ जगत्पति श्रीहरिका पूजन किया है, इसीसे वे आप दोनों दम्पतिके यहाँ पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए हैं ॥४१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ऋषियोंके ये वचन सुन महामना वसुदेवजीने उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया और उन्हें प्रसन्न करते हुए अपना ऋत्विज् वरण किया ॥४२॥ हे राजन् ! इस प्रकार धर्मपूर्वक वरण किये हुए उन ऋत्विजोंने उस पुण्यक्षेत्रमें परम धार्मिक वसुदेवजीसे बहुत-से उत्तम सामग्रीसे युक्त यज्ञोंसे यजन कराया ॥४३॥ हे राजन् ! जब वसुदेवजीने यज्ञकी दीक्षा ले ली तो भलीप्रकार स्नान कर सुन्दर वस्त्र और गलेमें कमलोंकी माला धारण किये यादवगण, सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित राजालोग, तथा सुन्दर

१. चित्ते० । २. बादरायणिरुवाच । ३. नम्योपसर्प्य च ।

तन्महिष्यश्च मुदिता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।
दीक्षाशालामुपाजग्मुरालिप्ता वस्तुपाणयः ॥४५॥
नेदुर्मृदङ्गपटहशङ्खभेर्यानकादयः ।
ननृतुर्नटनर्तक्यस्तुष्टुवुः सूतमागधाः ।
जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः सङ्गीतं सहभर्तृकाः ॥४६॥
तमभ्यषिञ्चन्विधिवदक्तमभ्यक्तमृत्विजः ।
पत्नीभिरष्टादशभिः सोमराजमिवोडुभिः ॥४७॥
ताभिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ।
स्वलङ्कृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ॥४८॥
तस्यर्त्विजो महाराज रत्नकौशेयवाससः ।
ससदस्या विरेजुस्ते यथा वृत्रहणोऽध्वरे ॥४९॥
तदा रामश्च कृष्णश्च स्वैः स्वैर्बन्धुभिरन्वितौ ।
रेजतुः स्वसुतैर्दारैर्जीवेशौ स्वविभूतिभिः ॥५०॥
ईजेऽनुयज्ञं विधिना अग्निहोत्रादिलक्षणैः ।
प्राकृतैर्वैकृतैर्यज्ञैर्द्रव्यज्ञानक्रियेश्वरम् ॥५१॥
अथर्त्विग्भ्योऽददात्काले यथाम्नातं स दक्षिणाः ।
स्वलङ्कृतेभ्योऽलङ्कृत्य गोभूकन्या महाधनैः ॥५२॥
पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते महर्षयः ।
सस्नू रामह्रदे विप्रा यजमानपुरःसराः ॥५३॥
स्नातोऽलङ्कारवासांसि बन्दिभ्योऽदात्तथा स्त्रियः।

वस्त्र-चन्दनादि अङ्गराग और गलेमें पदक धारण किये वसुदेवजीकी प्रसन्नवदना महारानियाँ हाथमें नाना प्रकारकी सामग्रियाँ लिये यज्ञशालामें आयीं ॥४४-४५॥ उस समय मृदङ्ग, पटह, शङ्ख, भेरी और आनक आदि बाजे बजने लगे, नट और नर्तकियाँ नाचने लगीं, सूत और मागधगण स्तुति-गान करने लगे तथा अपने पतियोंके सहित सुन्दर कण्ठवाली गन्धर्वपत्नियाँ गान करने लगीं ॥४६॥ तब जिन्होंने शरीरमें हल्दी, तैल आदि नाना प्रकारका उबटन लगाया है उन वसुदेवजीका ऋत्विजोंने उनकी देवकी आदि अठारह पटरानियोंके साथ महाभिषेककी विधिसे अभिषेक कराया जिस प्रकार पूर्वकालमें नक्षत्रोंके साथ चन्द्रमाका अभिषेक हुआ था ॥ ४७ ॥ उस समय यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करनेके कारण कृष्ण मृगचर्मसे आवृत हुए वसुदेवजी सुन्दर साड़ी तथा कङ्कण, हार, नूपुर और कुण्डलादि आभूषणोंसे भलीप्रकार अलङ्कृत हुई अपनी पत्नियोंके सहित अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुए ॥४८॥ हे महाराज! वसुदेवजीके ऋत्विज् और सदस्यगण रत्नजटित आभूषण तथा रेशमी वस्त्र धारणकर ऐसे सुशोभित हुए जैसे इन्द्रके यज्ञमें हुए थे ॥४९॥ उस समय अपने बन्धुओंके सहित भगवान् राम और कृष्ण अपने अंशरूप पुत्र और स्त्रियोंके सहित जीव और ईश्वरके समान सुशोभित हुए ॥५०॥

फिर वसुदेवजीने अग्निहोत्रादिरूप [ज्योतिष्टोम, दर्श, पौर्णमास आदि] प्राकृत यज्ञों तथा [सौर-सत्रादि] वैकृत यज्ञोंद्वारा द्रव्य, यज्ञ और क्रियाके अधीश्वर श्रीविष्णुभगवान्का यजन किया ॥५१॥ तदनन्तर उन्होंने उचित समयपर वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित ऋत्विज् ब्राह्मणोंको शास्त्रानुसार बहुमूल्य दक्षिणा तथा गौ, पृथिवी और सुन्दरी कन्याएँ दीं ॥५२॥ तब उन महर्षियोंने पत्नीसंयाज और अवभृथस्नानके सम्पूर्ण कृत्य कराकर यजमानको आगे कर परशुरामजीके रचे हुए कुण्डमें स्नान किया ॥५३॥ स्नान करनेके अनन्तर वसुदेवजी और उनकी स्त्रियोंने बन्दीजनोंको बहुत-से

१. तस्मिन् महिष्यो मुदि० । २. हाः श० । ३. कुण्डलनूपुरैः । ४. नाः । ५. नानालं ।

ततः स्वलङ्कृतो वर्णानाश्वभ्योऽन्नेन पूजयत् ॥५४॥
बन्धून्सदारान्ससुतान्पारिबर्हेण भूयसा ।
विदर्भकोसलकुरून्काशिकेकयसृञ्जयान् ॥५५॥
सदस्यर्त्विक्सुरगणान्नृभूतपितृचारणान् ।
श्रीनिकेतमनुज्ञाप्य शंसन्तः प्रययुः क्रतुम् ॥५६॥
धृतराष्ट्रोऽनुजः पार्था भीष्मो द्रोणः पृथा यमौ ।
नारदो भगवान्व्यासः सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः ॥५७॥
बन्धून्परिष्वज्य यदून्सौहृदात्क्लिन्नचेतसः ।
ययुर्विरहकृच्छ्रेण स्वदेशांश्चापरे जनाः ॥५८॥
नन्दस्तु[2] सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः ।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीद्बन्धुवत्सलः ॥५९॥
वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य मनोरथमहार्णवम् ।
सुहृद्वृतः प्रीतमना नन्दमाह करे स्पृशन् ॥६०॥

अलङ्कार और वस्त्रादि दिये तथा फिर सुन्दर वस्त्रालङ्कार धारणकर वसुदेवजीने सब वर्णोंको और श्वानपर्य्यन्त समस्त जीवोंको अन्नसे सन्तुष्ट किया ॥५४॥ फिर अपने बन्धुओं, उनकी स्त्री और पुत्रों, तथा विदर्भ, कोसल, कुरु, काशी, केकय तथा सृञ्जय आदि देशोंके राजाओं, सदस्यों, ऋत्विजों, देवताओं, मनुष्यों, भूतों, पितरों और चारणोंको बहुत-सी सामग्री देकर विदा किया और वे भगवान् लक्ष्मीपतिकी आज्ञा ले यज्ञकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घरोंको चले गये ॥५५-५६॥ उस समय धृतराष्ट्र, विदुर, कुन्ती-पुत्र (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन), भीष्म, द्रोण, कुन्ती, नकुल-सहदेव, नारद, भगवान् व्यासदेव, तथा अन्य सुहृद्सम्बन्धी और बन्धुगण अपने बान्धव यादवोंका स्नेहार्द्र चित्तसे आलिङ्गन कर उनकी विरहव्यथासे व्याकुल हो अति कठिनतासे अपने-अपने देशोंको गये ॥५७-५८॥ किन्तु अपने सुहृद् यादवोंसे अत्यन्त प्रेम होनेके कारण गोपोंके सहित श्रीनन्दजी भगवान् कृष्ण, बलराम तथा उग्रसेन आदि यादवोंसे नाना प्रकारकी सामग्रियोंसे अत्यन्त सत्कृत हो कुछ दिन वहीं रहे ॥५९॥ तब, वसुदेवजीने सुगमतासे ही यज्ञविषयक मनोरथरूप महासमुद्रके पार हो अपने बन्धुजनोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नचित्तसे नन्दजीका हाथ पकड़कर कहा॥—॥६०॥

वसुदेव उवाच

भ्रातरीशकृतः पाशो नृणां यः स्नेहसंज्ञितः ।
तं दुस्त्यजमहं मन्ये शूराणामपि योगिनाम् ॥६१॥
अस्मास्वप्रतिकल्पेयं यत्कृताज्ञेषु सत्तमैः ।
मैत्र्यर्पिताफला वापि न निवर्तेत कर्हिचित् ॥६२॥
प्रागकल्पाच्च कुशलं भ्रातर्वो नाचरामहि ।
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः ॥६३॥
मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ।
स्वजनानुत बन्धून्वा न पश्यति ययान्धदृक् ॥६४॥

वसुदेवजी बोले—भैया नन्द ! भगवान्का रचा हुआ जो मनुष्योंका स्नेहनामक पाश है उसे त्यागना मैं अत्यन्त शूरवीर योगियोंके लिये भी कठिन समझता हूँ ॥६१॥ क्योंकि हम अज्ञों (कृतघ्नों) के प्रति तुम साधुशिरोमणिने जो अनुपम मित्रता दिखायी है, उसका यद्यपि हम कोई भी बदला नहीं दे सके तो भी वह कभी टूटनेवाली नहीं है ॥६२॥ भैया ! पहले तो हम [बन्दीगृहमें होनेके कारण] असमर्थ थे, इसलिये तुम्हारा कोई प्रिय नहीं कर सके और अब हमारे नेत्र श्रीमदसे ऐसे अन्धे हो गये हैं कि हम अपने सामने मौजूद होनेपर भी तुम्हें नहीं देखते ॥६३॥ हे मान देनेवाले मित्र ! कल्याणकामी पुरुषको तो भगवान् कभी राज्यलक्ष्मी न दे; क्योंकि उसके द्वारा अन्धा हुआ पुरुष अपने अनुगामी और बन्धुओंको भी नहीं देखता ॥६४॥

१. श्वानपरे । २. न्दश्च ।

श्रीशुक उवाच

एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥६५॥
नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन्यदुभिर्मानितोऽवसत् ॥६६॥
ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः ।
परार्ध्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥६७॥
वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः ।
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥६८॥
नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥६९॥
बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ।
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥७०॥
जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम् ।
यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम् ॥७१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार, प्रेमकी प्रबलतासे गद्गदचित्त हो वसुदेवजी नन्दजीके सौहार्द-का स्मरण कर नेत्रोंमें जल भरकर रोने लगे ॥६५॥ नन्दजी भी अपने सखाका प्रिय करनेके लिये कृष्ण और बलरामके प्रेमवश यादवोंसे सम्मानित हो आज-कल करते-करते वहाँ तीन मास रहे ॥६६॥ फिर श्रीनन्दजी गौओं और गोपबन्धुओंके सहित बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण और नाना प्रकारकी उत्तम भोग-सामग्रियोंसे पूर्ण हो वसुदेव, उग्रसेन, कृष्ण, उद्धव आदिद्वारा दिये हुए उपहारोंको ग्रहणकर यादवोंद्वारा विदा किये जानेपर अपने घरको चले ॥६७-६८॥ उस समय श्रीनन्दजी गोपगण और गोपियाँ—ये सब भगवान् कृष्णके चरणकमलोंमें लगे हुए अपने चित्तोंको वहाँसे निकालनेमें असमर्थ होकर ही मथुरा गये ॥६९॥

इस प्रकार सब बन्धुओंके विदा हो जानेपर जिनके भगवान् कृष्ण ही एकमात्र इष्टदेव हैं वे यादवगण भी वर्षाकालको समीप आया देख द्वारकापुरीको चले गये ॥७०॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने लोगोंको वसुदेवजीके यज्ञोत्सव और तीर्थयात्रामें जो सुहृज्जनोंका दर्शन आदि हुआ था वह सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[२] उत्तरार्धे
तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीति-
तमोऽध्यायः ॥८४॥

१. मयात्ताः स्वाश्रमान् ययुः । २. न्धे तीर्थ० ।

पचासीवाँ अध्याय

वसुदेवजीकी सर्वत्र भगवद्दृष्टि और भगवान्‌का अपनी माताको उसके मृतपुत्र लाकर देना ।

श्रीबादरायणिरुवाच

अथैकदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ ॥ १ ॥
मुनीनां स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् ।
तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत ॥ २ ॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन्सङ्कर्षण सनातन ।
जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधानपुरुषौ परौ ॥ ३ ॥
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ४ ॥
एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज ।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन्प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः ॥ ५ ॥
प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥ ६ ॥
कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥ ७ ॥
तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ।
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥ ८ ॥
दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक दिन वसुदेवजी अपने पुत्र बलराम और कृष्णचन्द्रके आकर प्रणाम करनेपर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद देकर कहने लगे ॥१॥ मुनियोंके मुखसे अपने पुत्रोंका प्रभाव सूचित करनेवाले वचन सुननेसे तथा उनके पराक्रमों-से उन्हें उनकी ईश्वरतामें विश्वास हो गया था, इसलिये वे उन्हें सम्बोधित करते हुए बोले ॥२॥ "हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे सङ्कर्षण ! हे सनातन ! आप दोनोंको मैं जगत्‌के कारणरूप प्रधान और पुरुषका भी कारण समझता हूँ ॥३॥ संसारमें जहाँ जिसके द्वारा जिससे जिसका जिसके लिये जो-जो जिस प्रकार जिस-जिस समय होता है वह सब प्रधान और पुरुषके प्रभु साक्षात् आप ही हैं ॥४॥ हे अधोक्षज ! हे आत्मन् ! अपने ही रचे हुए इस नाना प्रकारके जगत्‌में आप अपने चेतनस्वरूपसे प्रविष्ट होकर इसे जन्मादि विकाररहित जीव और प्राणरूपसे धारण करते हैं ॥५॥ जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले (क्रियाशक्तिरूप) प्राणादिमें जो शक्तियाँ हैं वे उनके परमकारण परमात्माकी ही हैं, क्योंकि वे अचेतन होनेसे चेतन परमात्माके सदृश न होनेके कारण परतन्त्र हैं अचेतन प्राण परमात्माकी प्रेरणासे ही चेष्टा करते हैं, इसलिये उनकी चेष्टा केवल चेष्टा-मात्र है, शक्ति परमेश्वरकी ही है ॥६॥ चन्द्रमाकी कान्ति, अग्निका तेज, सूर्यकी प्रभा, विद्युत्‌की सत्ता (स्फुरणमात्र अस्तित्व), पर्वतोंकी स्थिरता तथा पृथिवीकी धारणशक्तिरूप वृत्ति और गंधगुण—ये सब वास्तवमें आप ही हैं ॥७॥ हे ईश्वर ! जलमें तृप्त करने और जीवित रखनेकी शक्ति, उसका देवत्व और रसगुण तथा वायुमें क्रियाशक्ति, गति और उससे होनेवाले इन्द्रियबल, मनोबल एवं शारीरिक बल भी आपहीके हैं ॥ ८ ॥ दिशाओंका अवकाश और दिशाएँ आप ही हैं आकाश और उसका आश्रय शब्द तथा नाद (परा)

१. तद्वाक्यैर्जात० । २. जगतः प्रधान० । ३. स्तवेश्वर ।

नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥ ९ ॥

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवश्च तदनुग्रहः[1] ।

अवबोधो भवान्बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥१०॥

भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः ।

वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम् ॥११॥

नश्वरेष्विव भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् ।

यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥१२॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।

त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥१३॥

तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि[2] त्वयि विकल्पिताः ।

त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाव्यावहारिकः ॥१४॥

गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ।

गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥१५॥

यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।

स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥१६॥

असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।

स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदं जगत् ॥१७॥

युवां न नः सुतौ साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरौ ।

भूभारक्षत्रक्षपण[3] अवतीर्णौ तथात्थ ह ॥१८॥

तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य[4] पदारविन्द-

मापन्नसंसृतिभयापहमार्तबन्धो ।

वर्ण (पश्यन्ती) ओङ्कार (मध्यमा) और वर्णोंका विभाग करनेवाली (वैखरी) वाणी भी आप ही हैं ॥९॥ इन्द्रियाँ इन्द्रियोंकी विषय-प्रकाशिनी शक्ति और उनके अधिष्ठाता देव आप ही हैं तथा आप ही बुद्धिकी निश्चयात्मिका शक्ति और जीवकी शुद्ध स्मृति हैं ॥१०॥ भूतोंमें उनका कारण तामस अहङ्कार, इन्द्रियोंमें उनका कारण राजस अहङ्कार, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंमें उनका कारण सात्त्विक अहङ्कार और जीवोंके आवागमनकी कारणरूप माया भी आप ही हैं ॥११॥ जिस प्रकार मृत्तिका आदि द्रव्योंके विकार घट आदिमें मृत्तिका निरन्तर वर्तमान रहती है उसी प्रकार उपर्युक्त नश्वर पदार्थोंमें उनके कारणरूप आप अविनाशी और नित्य तत्त्व हैं ॥ १२ ॥ सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण और उनकी वृत्तियाँ महत्तत्त्वादि आप परब्रह्ममें योगमाया-से ही कल्पित हैं ॥१३॥ इसलिये ये भावविकार आपमें वास्तवमें नहीं हैं, जब आपमें इनकी कल्पना होती है उस समय आप भी इन विकारोंमें कारणरूप-से अनुगत प्रतीत होते हैं, अन्य समय निर्विकल्परूपसे केवल आप ही रह जाते हैं ॥१४॥ इस गुणप्रवाहरूप जगत्में आप सर्वात्माकी सूक्ष्म गतिको न जाननेके कारण अज्ञानी लोग अपने कर्मानुसार जन्म-मरणरूप संसारमें पड़ते हैं ॥१५॥ हे ईश्वर ! मुझे दैववश इन्द्रियादिकी सामर्थ्यसे युक्त दुर्लभ मनुष्यशरीर भी मिला किन्तु आपकी मायाके वशीभूत होकर अपने वास्तविक स्वार्थसे असावधान रहनेके कारण मेरी आयु यों ही बीत गयी ॥१६॥ देहमें 'यह मैं हूँ' और देहके सम्बन्धियोंमें 'ये मेरे हैं'—इस प्रकारके अभिमानरूप स्नेहपाशसे आपने इस सम्पूर्ण जगत्को बाँध रक्खा है ॥१७॥ आप दोनों मेरे पुत्र नहीं हैं वरन् जगत्के साक्षात् कारण प्रधान और पुरुषके भी अधीश्वर हैं । 'आपने पृथिवीके भारभूत राजाओंको मारनेके लिये ही अवतार लिया है' ऐसा आप पहले कह भी चुके हैं ॥१८॥ अतः हे दीनबन्धो ! अब मैं शरणागतोंको संसारभयसे मुक्त करनेवाले आपके चरणोंकी शरण हूँ, अब इस इन्द्रियलोलुपतासे मैं

१. इन्द्रियाणीन्द्रियाणां च देवाश्च त्वद० । २. ये हि । ३. क्षपणार्थाय । ४. ऽस्मि दार० ।

एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन
मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥१९॥

भर पाया जिसके कारण मुझे इस मरणशील शरीरमें आत्मबुद्धि और आप परमात्मामें पुत्रबुद्धि हुई ॥ १९ ॥

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ
संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।
नानातनूर्गगनवद्विदधज्जहासि
को वेद भूम्न उरुगायविभूतिमायाम् ॥२०॥

'आपने अजन्मा होकर भी अपने रचे हुए धर्मकी रक्षा करनेके लिये युग-युगमें (हमारे यहाँ) अवतार लिया है ।' ऐसा आपने सूतिकागृहमें हमसे कहा था आप आकाशके समान अनेक शरीर धारण करते और त्याग देते हैं । हे उरुगाय ! आपकी विभूतिरूपिणी मायाको कौन जान सकता है ?" ॥२०॥

श्रीशुक उवाच[1]

आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान्सात्वतर्षभः ।
प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥२१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! पिताके ये वचन सुन यदुश्रेष्ठ भगवान् कृष्णने अति नम्रतापूर्वक मधुरवाणीसे हँसते हुए कहा ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे ।
यन्नः पुत्रान्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥२२॥
अहं यूयमसावार्य[2] इमे च द्वारकौकसः ।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम् ॥२३॥
आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥२४॥
खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि ॥२५॥

श्रीभगवान् बोले—पिताजी ! आपने हम पुत्रोंको जो यह तत्त्वोपदेश दिया है सो हमें आपका यह कथन बहुत युक्तियुक्त मालूम होता है ॥२२॥ हे यदुश्रेष्ठ ! मैं, तुम, आर्य बलरामजी और ये समस्त द्वारकावासी यहाँ-तक कि सम्पूर्ण चराचर प्राणी भगवत्स्वरूप ही हैं—ऐसा समझना चाहिये ॥२३॥ जिस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पञ्च महाभूत अपने कार्य घटादिमें बड़े, छोटे, अधिक, एक और अनेकसे प्रतीत होते हैं उसी प्रकार स्वयंप्रकाश, नित्य और निर्गुण आत्मा भी अपने रचे हुए महत्तत्त्वादि गुणोंद्वारा उनके कार्यरूप मनुष्यादि शरीरोंमें एक होकर भी अनेक तथा अन्यवत् प्रतीत होता है ॥२४-२५॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजन्वसुदेव उदाहृतः[3] ।
श्रुत्वा विसृष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् ॥२६॥
अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता ।
श्रुत्वानीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥२७॥
कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान्कंसविहिंसितान् ।
स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना ॥२८॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर, उनकी बतायी हुई आत्माकी एकता-का निरूपण सुननेसे भेदबुद्धि नष्ट हो जानेके कारण वसुदेवजी अति प्रसन्न हो मौन हो गये ॥२६॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! तदनन्तर एकदिन सर्वदेवमयी देवकीजीको यह सुनकर कि मेरे पुत्र अपने गुरु सान्दीपनिजीके मरे हुए पुत्रोंको ले आये थे बड़ा विस्मय हुआ ॥२७॥ अतः वे कंसके मारे हुए अपने पुत्रोंका स्मरण कर अति शोकाकुल हुईं और अत्यन्त विह्वल हो नेत्रोंमें आँसू भर राम और कृष्णको सम्बोधन करके कहने लगीं ॥ २८ ॥

---

१. बादरायणिरुवाच । २. प्रियो ममाचार्य । ३. हृतम् ।

देवक्युवाच

राम रामाप्रमेयात्मन्कृष्ण योगेश्वरेश्वर ।
वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥२९॥
कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् ।
भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ किलाद्य मे ॥३०॥
यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥३१॥
चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा कालचोदितौ ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद्गुरवे गुरुदक्षिणाम् ॥३२॥
तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहतान्पुत्रान्कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥३३॥

ऋषिरुवाच

एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ।
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ॥३४॥
तस्मिन्प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड्
विश्वात्मदैवं सुतरां तथात्मनः ।
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः
सद्यः समुत्थाय[1] ननाम सान्वयः ॥३५॥
तयोः समानीय वरासनं मुदा
निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ।
दधार पादाववनिज्य तज्जलं
सवृन्द आब्रह्म पुनाद्यदम्बु ह ॥३६॥
समर्हयामास स तौ विभूतिभि-
र्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।
ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः[2]
स्वगात्रवित्तात्मसमर्पणेन च ॥३७॥
स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं
बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ।
उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः
प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम्[3] ॥३८॥

देवकीजी बोलीं—हे राम ! हे राम ! हे अप्रमेयात्मन् ! हे योगेश्वरेश्वर कृष्ण ! मैं जानती हूँ आप प्रजापतियोंके पति आदिपुरुष नारायण हैं ॥२९॥ आप दोनों कालक्रमसे जिनका पुरुषार्थ क्षीण हो गया है, जो शास्त्रमार्गका उल्लङ्घन करके चलनेवाले हैं तथा जो भूमिके लिये भाररूप हैं उन राजाओंका नाश करनेके लिये ही इस समय मेरे गर्भसे अवतीर्ण हुए हैं ॥३०॥ हे विश्वात्मन् ! हे आद्य ! जिनके मायारूप अंशांशसे उत्पन्न हुए गुणोंके लेशमात्र जगत्‌की उत्पत्ति और आदि होते हैं उन आपकी मैं शरण हूँ ॥३१॥ मैंने सुना है कि जब आपके गुरु सान्दीपनिजीने आपसे अपने बहुत दिन पहले मरे हुए पुत्रको लानेके लिये कहा तो आप दोनों गुरुदक्षिणारूप उस बालकको यमराजके यहाँसे ले आये थे ॥३२॥ हे योगेश्वरेश्वरो ! गुरुजीकी तरह आप मेरी इच्छा भी पूर्ण कीजिये । मैं कंसद्वारा मारे हुए अपने पुत्रोंको देखना चाहती हूँ, आप उन्हें ले आइये ॥३३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे भारत ! माताके इस प्रकार कहनेपर भगवान् राम और कृष्णने योगमायाका आश्रय ले सुतललोकमें प्रवेश किया ॥३४॥ जगत्‌के आत्मा और परमदेव तथा अपने भी इष्टदेव उन बलराम और कृष्णको सुतललोकमें आये देख दैत्यराजने उनके दर्शनसे आनन्दमें निमग्नचित्त हो तत्काल अपने कुटुम्बके सहित उठकर प्रणाम किया ॥३५॥ फिर अति प्रसन्नचित्तसे उन्हें श्रेष्ठ आसन दिया और जब महात्मा राम और कृष्ण उसपर सुखपूर्वक बैठ गये तो उनके चरण धोकर ब्रह्माजीपर्यन्त सभीको पवित्र करनेवाला वह चरणोदक अपने कुटुम्बसहित मस्तकपर धारण किया ॥३६॥ और उनका महामूल्य वस्त्र, आभूषण, चन्दन, ताम्बूल, दीपक एवं अमृत-तुल्य भोजन आदि सामग्रियोंसे तथा अपने पुत्र-पौत्र, धन और शरीरादिको अर्पणकर उनका पूजन किया ॥३७॥ हे राजन् ! फिर राजा बलिने भगवान्‌के चरणकमलोंको प्रेमार्द्रचित्तसे पकड़ लिया । उनके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर आये और वे शरीरमें पुलकित हो गद्गदवाणीसे कहने लगे ॥३८॥

१. स उत्था० । २. सधूपदीपा० । ३. क्षरः ।

बलिरुवाच

नमोऽनन्ताय बृंहते नमः कृष्णाय वेधसे ।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥३९॥

बलि बोले—[सम्पूर्ण विश्वको अपने फणपर धारण करनेवाले] बृहत्काय भगवान् अनन्तको तथा निखिल जगत्के रचयिता प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम है। [कपिल-रूपसे] सांख्य और [पतञ्जलिरूपसे] योगशास्त्रका विस्तार करनेवाले आप ब्रह्मरूप परमात्माको प्रणाम है ॥३९॥

दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम् ।
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥४०॥

जीवोंको आपलोगोंका दर्शन दुर्लभ है तो भी आपकी कृपासे सुलभ हो जाता है; क्योंकि आज कृपा करके ही आपने अपनी इच्छासे हम-जैसे रजोगुण-तमोगुणविशिष्ट जीवोंको भी दर्शन दिया ॥ ४० ॥

दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥४१॥
विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥४२॥
केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः ।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः ॥४३॥

हम तथा हमारे ही समान अन्य दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत और प्रमथनायक आदि जो विशुद्ध सत्त्वस्वरूप आप वेदमूर्तिसे नित्य वैर करनेवाले हैं उनमेंसे कुछ तो वैरसे, कितने ही भक्तिसे और कितने ही कामनासे उस पदको प्राप्त हुए हैं जिसे आपके समीप रहनेवाले सत्त्व-प्रधान देवता आदि भी नहीं पा सकते ॥ ४१—४३ ॥

इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥४४॥

हे योगेश्वरेश्वर ! 'आपकी योगमाया यही या इसी प्रकारकी है' इस विषयमें योगेश्वरगण भी प्रायः कुछ नहीं जान सकते, फिर हमारी तो बात ही क्या है ? ॥४४॥

तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्म-
त्पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः
शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि ॥४५॥

हे नाथ ! ऐसी कृपा कीजिये जिससे निरपेक्ष पुरुषोंके खोजनेयोग्य आपके चरणकमलरूप आश्रयसे अन्य गृहरूप अन्धकूपसे निकलकर तथा जगत्के एकमात्र आश्रय आपके चरणोंमें अनुरक्त हो शान्तभावसे अकेला अथवा सबके सखा साधुजनोंके साथ विचरूँ ॥४५॥

शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान्कुरु नः प्रभो ।
पुमान्यच्छ्रद्धयातिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥४६॥

हे जीवोंके ईश ! हे प्रभो ! आपके कहे हुए जिन आचरणोंका श्रद्धापूर्वक अवलम्बन लेनेसे पुरुष विधि-निषेधरूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है अपना वह आदेश हमसे कहिये और हमें निष्पाप कीजिये ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

आसन्मरीचेः षट्पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ।
देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम् ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—प्रथम (स्वायम्भुव) मन्वन्तरमें मरीचि प्रजापतिकी ऊर्णा नामवाली स्त्रीसे छः पुत्र उत्पन्न हुए । वे देवसदृश ऋषिकुमार प्रजापतिको कन्यासे सङ्गम करनेके लिये उद्यत देखकर हँसने लगे ॥४७॥

---

१. महते । २. चातिष्ठ० ।

तेनासुरीमगन्योनिमधुनावद्यकर्मणा ।
हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥४८॥
देवक्या उदरे जाता राजन्कंसविहिंसिताः ।
सा तान्छोचत्यात्मजान्स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ४९
इत एतान्प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये ।
ततः शापाद्विनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः ॥५०॥
स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद्घृणी ।
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥५१॥
इत्युक्त्वा तान्समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ।
पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ॥५२॥
तान्दृष्ट्वा बालकान्देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः ॥५३॥
अपाययत्स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुता ।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ॥५४॥
पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः ।
नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥५५॥
ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम् ॥५६॥
तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम् ।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप ॥५७॥
एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत ॥५८॥

सूत उवाच

य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ।

उस परिहासरूप दुष्कर्मके कारण [ब्रह्माजीके शाप देनेसे] वे बालक दैत्ययोनिको प्राप्त हुए। प्रथम वे हिरण्यकशिपुके यहाँ उत्पन्न हुए थे, फिर योगमायाके ले जानेसे उन्होंने देवकीके उदरसे जन्म लिया और हे राजन्! वहाँ वे कंसके हाथसे मारे गये। माता देवकी अपने उन बालकोंके लिये अति शोकातुरा है और वे इस समय तुम्हारे यहाँ हैं ॥४८-४९॥ हम माताका शोक दूर करनेके लिये इन्हें यहाँसे ले जायँगे और फिर ये शापमुक्त होकर सुखपूर्वक अपने लोकको चले जायँगे ॥५०॥ मेरी कृपासे स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृद् और घृणी—ये छहों बालक फिर सद्गति प्राप्त करेंगे ॥५१॥

ऐसा कह उन बालकोंको ले राम और कृष्ण राजा बलिसे पूजित हो द्वारकापुरीमें लौट आये और अपनी माताको वे पुत्र सौंप दिये ॥५२॥ उन्हें देखकर देवी देवकीके स्तनोंमें पुत्रस्नेहसे दूध उमड़ आया और उन्हें छातीसे लगा गोदमें लेकर वारम्वार उनका मस्तक सूँघने लगीं ॥५३॥ फिर जिससे सम्पूर्ण सृष्टि चलती है उस विष्णुभगवान्की मायासे मोहित हो पुत्रोंके स्पर्शसे आनन्दित हुई देवकीजीने उन्हें प्रेमपूर्वक स्तनपान कराया ॥५४॥ भगवान् कृष्णके पीनेसे बचे हुए उस अमृततुल्य दूधको पीकर तथा भगवान्के अङ्ग-सङ्गसे अपने देवता होनेका ज्ञान पाकर वे श्रीगोविन्द, देवकीजी, वसुदेवजी और बलभद्रजीको नमस्कार कर सब प्राणियोंके देखते-देखते देवलोकको चले गये ॥५५-५६॥

हे राजन्! अपने मरे हुए पुत्रोंका आना-जाना देखकर देवी देवकीजीको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने यह भगवान् कृष्णकी रची हुई माया ही समझी ॥५७॥ हे भारत! अनन्तवीर्य परमात्मा कृष्णके ऐसे ही अति अद्भुत अगणित चरित्र हैं ॥५८॥

श्रीसूतजी कहते हैं—जो पुरुष व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजीके वर्णन किये हुए तथा संसारके पापोंको नष्ट करनेवाले और भगवद्भक्तोंके कानोंको आनन्दित करनेवाले अमरकीर्ति भगवान् कृष्णके इस अद्भुत

१. मृतोपमं तत्तु पीत० ।

जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥५९॥

चरित्रको बारम्बार सुनता या सुनाता है वह भगवान्‌में चित्त लगाकर उनके कल्याणमय धामको प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[1] उत्तरार्धे
मृताग्रजानयनं नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥८५॥

छियासीवाँ अध्याय

सुभद्राहरण तथा भगवान्‌का मिथिलापुरीमें जाकर राजा जनक और श्रुतदेवको दर्शन देना ।

राजोवाच

ब्रह्मन्वेदितुमिच्छामः[2] स्वसारं रामकृष्णयोः ।
यथोपयेमे विजयो या ममासीत्पितामही ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—ब्रह्मन् ! भगवान् बलराम और कृष्णकी बहिन सुभद्रासे, जो मेरी पितामही थी, अर्जुनने किस प्रकार विवाह किया था ?—इस प्रसङ्गको मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः ।
गतः प्रभासमशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥ २ ॥
दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे ।
तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात् ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ महावीर अर्जुन तीर्थयात्राके निमित्तसे विचरते हुए प्रभासक्षेत्रमें पहुँचे । वहाँ उन्होंने सुना कि मेरे मामाकी पुत्री सुभद्राको श्रीबलरामजी दुर्योधनके साथ विवाहना चाहते हैं; परन्तु और सब इसमें सहमत नहीं हैं । तब उसे पानेकी इच्छासे त्रिदण्डी संन्यासीका रूप धारणकरके द्वारकापुरीमें पहुँचे ॥२-३॥

तत्र[3] वै वार्षिकान्मासानवात्सीत्स्वार्थसाधकः ।
पौरैः सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः ॥ ४ ॥

वहाँ, अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये वे वर्षाऋतुके चार मासपर्यन्त रहे । उस समय पुरवासियोंने तथा उनके ठहरनेका मर्म न जाननेवाले बलरामजीने उनका खूब सम्मान किया ॥ ४ ॥

एकदा गृहमानीय[4] आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् ।
श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥ ५ ॥

एक दिन बलरामजीने उन्हें अतिथिरूपसे निमन्त्रित कर और अपने घर ला अतिश्रद्धापूर्वक भिक्षान्न परोसा तब उन्होंने उसका भोग लगाया ॥ ५ ॥

सोऽपश्यत्तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम् ।
प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं[5] मनो दधे ॥ ६ ॥

वहाँ अर्जुनने वीरपुरुषोंका मन हरनेवाली तरुण अवस्थाकी एक कन्या देखी । उसे देखकर उनके नेत्र प्रसन्नतासे खिल गये और उन्होंने अपना प्रेमभावसे क्षुब्ध हुआ चित्त उसमें लगा दिया ॥ ६ ॥

सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयङ्गमम् ।
हसन्ती व्रीडितापाङ्गी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥ ७ ॥

उस कन्याने भी कामिनियोंके चित्तोंको चुरानेवाले वीरवर अर्जुनको देखकर उन्हें अपना पति बनानेकी इच्छा की और वह अपने नेत्र और चित्त उन्हींमें लगाकर सलज्ज कटाक्ष-विक्षेपके साथ हँसती हुई उनकी ओर देखने लगी ॥ ७ ॥

---

१. न्धे मृता० । २. मि । ३. तत्रासौ । ४. मानिन्ये । ५. सरक्षु० ।

तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः ।
न लेभे शं भ्रमच्चित्तः कामेनातिवलीयसा ॥ ८ ॥

महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ।
जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ॥ ९ ॥

रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान् ।
विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव ॥१०॥

तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः ।
गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चान्वशाम्यत ॥११॥

प्राहिणोत्पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः ।
महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीद्द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः ।
कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः ॥१३॥

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी ।
अनीहया गताहार्यनिर्वर्तितनिजक्रियः ॥१४॥

यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवादुपनमत्युत ।
नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः ॥१५॥

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः ।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥१६॥

तब मन-ही-मन उसीका अत्यन्त चिन्तन करते हुए वे उसको हर ले जानेका अवसर ढूँढ़ने लगे । उस समय महाबलवान् कामके वेगसे उनका चित्त ऐसा भ्रममें पड़ गया कि उन्हें बलरामजीके किये हुए सत्कारसे भी किसी प्रकारकी शान्ति न मिली ॥ ८ ॥

तदनन्तर, एक समय जब वह राजकुमारी देवयात्रा-महोत्सवके समय रथपर चढ़कर दुर्गसे बाहर निकली, उसके माता-पिता और श्रीकृष्णचन्द्रकी अनुमतिसे महारथी अर्जुन उसे हर ले गये ॥ ९ ॥ उस समय जिन शूरवीर सैनिकोंने उन्हें ऐसा करनेसे रोका उन्हें रथारूढ धनञ्जयने अपना गाण्डीव धनुष लेकर भगा दिया और सबके बहुत कुछ रोने-चिल्लानेपर भी उसे इस प्रकार हर ले गये जैसे सिंह अपने भागको ले जाता है ॥१०॥ यह समाचार पाकर बलरामजी पूर्णिमाके समय उमड़ते हुए समुद्रके समान क्षुब्ध हो उठे, किन्तु कृष्णचन्द्र तथा अन्य सुहृद्गणद्वारा पाँव पकड़कर समझाये जानेपर वे शान्त हो गये ॥११॥ तदनन्तर बलरामजीने प्रसन्न हो वर और वधूके लिये बहुत-सा धन, सामग्री, हाथी, रथ, घोड़े तथा दास और दासियाँ दहेजमें भेजे ॥१२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! श्रुतदेवनामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण भगवान् कृष्णका भक्त था । भगवान् कृष्णकी एकान्तभक्तिके कारण वह पूर्णकाम, शान्त, विषयाशासे रहित और आसक्तिशून्य था ॥ १३ ॥ वह विदेहदेशकी मिथिलानामक पुरीमें रहता था और गृहस्थ होकर भी उसे जो कुछ बिना उद्योगके मिल जाता उसीसे अपना निर्वाह करता था ॥ १४ ॥ दैववश उसे प्रत्येक दिन शरीरयात्रामात्र ही धन मिलता था, इससे अधिक किसी प्रकार नहीं मिलता था। इसलिये वह उतनेहीसे सन्तुष्ट होकर अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका यथोचित पालन करता था ॥१५॥

हे तात ! उसीके समान उस देशका राजा बहुलाश्व भी था; वह मैथिलवंशमें उत्पन्न और बड़ा ही अहंकारशून्य था । वे दोनों ही श्रीअच्युत-भगवान्‌के प्रिय भक्त थे ॥१६॥

१. भ्रातुरान्वितः । २. मत्ययम् ।

तयोः प्रसन्नो भगवान्दारुकेणाहृतं रथम् ।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान्प्रययौ प्रभुः ॥१७॥
नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः ।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ॥१८॥
तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ।
उपतस्थुः सार्घहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम् ॥१९॥
आनर्तधन्वकुरुजाङ्गलकङ्कमत्स्य-
पाञ्चालकुन्तिमधुकेकयकोसलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-
स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः ॥२०॥
तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः
क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ।
शृण्वन्दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं
गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान् ॥२१॥
तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप[1] ।
अभीयुर्[2]मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥२२॥
दृष्ट्वा त उत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः ।
कैर्बद्धाञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वांस्तथा मुनीन् ॥२३॥
स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ॥२४॥
न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत्[3]संहताञ्जली ॥२५॥
भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया ।

एक बार उन दोनोंपर प्रसन्न हो भगवान् कृष्ण दारुक सारथीद्वारा लाये हुए रथपर सवार हो कितने ही मुनीश्वरोंके साथ विदेहदेशको गये ॥ १७ ॥ वे ऋषिगण नारद, वामदेव, अत्रि, वेदव्यास, परशुराम, असित, अरुणि, मैं (शुकदेव), बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय और च्यवन आदि थे ॥१८॥ हे राजन् ! वे जहाँ-जहाँ पहुँचते वहीं-वहींके नागरिक लोग हाथमें पूजाकी सामग्री लिये इस प्रकार उपस्थित होते जैसे शुक्र, बृहस्पति आदि ग्रहगणके सहित सूर्यदेवके उदित होनेपर उनका पूजन किया जाता है ॥१९॥ हे राजन् ! उस समय आनर्त्त, धन्व, कुरुजाङ्गल, कङ्क, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोसल और अर्ण देशोंके तथा अन्य देशोंके भी नर-नारियोंने अपने नेत्रोंसे उनके उदार हास्य और मनोहर चितवनसे युक्त मुखकमलका पान किया ॥२०॥ तब अपने दर्शनसे जिनकी अज्ञानदृष्टि नष्ट हो गयी है उन लोगोंको अपनी कृपा-दृष्टिसे अभयदान और तत्त्वज्ञान देते हुए त्रिलोकवन्द्य भगवान् कृष्ण मार्गमें अपना देवताओं और मनुष्योंद्वारा गाया हुआ, दिशाओंको प्रकाशित करनेवाला और पापनाशक सुयश सुनते हुए धीरे-धीरे विदेहदेशमें पहुँच गये ॥२१॥

हे राजन् ! भगवान् कृष्णको आये हुए सुन वहाँके पुरवासी और देशवासी लोग अपने हाथोंमें नाना प्रकारकी पूजा-सामग्री लिये अति प्रसन्नतापूर्वक उनके सामने आये ॥२२ और पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्णको तथा जिनके विषयमें पहले सुन रखा था उन नारदादि मुनीश्वरोंको प्रसन्नवदन और हर्षित हृदयसे शिरपर हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥२३॥ जगद्गुरु भगवान् कृष्णको अपनेपर ही अनुग्रह करनेके लिये आये जान मिथिलानरेश और श्रुतदेव ब्राह्मणने प्रभुके चरणोंमें लोटकर प्रणाम किया ॥ २४ ॥ उस समय महाराज बहुलाश्व और विप्रवर श्रुतदेवने मुनीश्वरोंके सहित भगवान् कृष्णको आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये एक साथ ही हाथ जोड़कर निमन्त्रित किया ॥२५॥ भगवान्ने उन दोनोंहीकी प्रार्थना स्वीकारकर दोनोंहीका प्रिय करनेके लिये उन दोनोंहीके यह जाने

१. नृपाः । २. प्रतीयु० । ३. सन्नताः ।

उभयोराविशद्गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥२६॥
श्रोतुमप्यसतां दूराञ्जनकः स्वगृहागतान्।
आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान्महामनाः ॥२७॥
प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्राविलेक्षणः।
नत्वा तदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥२८॥
सकुटुम्बोऽवहन्मूर्ध्ना पूजयाञ्चक्र ईश्वरान्।
गन्धमाल्याम्बराकल्पधूपदीपार्घगोवृषैः ॥२९॥
वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान्।
पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशञ्छनकैर्मुदा ॥३०॥

राजोवाच

भवान्हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग्विभो।
अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥३१॥
स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान्।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥३२॥
को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद्विसृजेत्पुमान्।
निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ३३
योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥३४॥
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥३५॥
दिनानि कतिचिद्भूमन्गृहान्नो निवस द्विजैः।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ॥३६॥
इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः।

बिना कि वे दूसरेके घर भी जा रहे हैं, मुनिगणके सहित दो रूप हो दोनोंहीके घरोंमें प्रवेश किया ॥२६॥ तब बढ़ी हुई भक्ति और हृदयोल्लासके कारण जिनके नेत्रोंमें जल भर आया है उन महामनस्वी महाराज जनकने दुराचारी पुरुषोंको जिनका नाम सुनना भी कठिन है उन अपने घर आये हुए भगवान् कृष्ण और मुनीश्वरोंके सुखपूर्वक सुन्दर आसनोंपर बैठ जानेपर उन्हें अपने कुटुम्बसहित प्रणाम किया तथा उनके चरण धो वह चरणोदक मस्तकपर धारण किया और फिर उन प्रभुओंको गन्ध, माला, वस्त्र, अलङ्कार, धूप, दीप, अर्घ्य, गौ और बैल आदि समर्पण कर उनकी पूजा की ॥२७-२९॥ तदनन्तर, अन्नादिसे तृप्त हुए उन ब्राह्मणोंको मधुर वाणीसे तृप्त कर तथा अपनी गोदमें रक्खे हुए भगवान् कृष्णके चरणकमलोंको धीरे-धीरे दबाते हुए महाराज बहुलाश्वने प्रसन्नचित्तसे कहा ॥३०॥

राजाने कहा—हे विभो ! आप समस्त प्राणियोंके आत्मा और साक्षी तथा स्वयंप्रकाशस्वरूप हैं, इसीलिये आपने अपने चरणकमलोंका चिन्तन करनेवाले हमलोगोंको दर्शन दिया है ॥३१॥ आपने जो कहा है कि 'मुझे अपने अनन्य भक्तोंसे बढ़कर बलरामजी, लक्ष्मीजी और ब्रह्माजी भी प्रिय नहीं हैं' अपने इस वचनको सत्य करनेके लिये ही आप हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं ॥३२॥ आपके विषयमें यह बात जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष है जो आपके चरणकमलोंको भुला देगा। जो आप निष्किञ्चन और शान्त मुनीश्वरोंको अपना स्वरूप भी दे डालते हैं, जिन आपने यदुवंशमें अवतीर्ण होकर जन्म-मरणरूप संसारमें पड़े हुए प्राणियोंका संसारताप शान्त करनेके लिये त्रिलोकीके पापको नष्ट करनेवाला अपना सुयश फैलाया है, उन आप अकुण्ठबुद्धि तथा शान्तभावसे तप करनेवाले ऋषिवर नारायणदेवरूप भगवान् कृष्णको मैं नमस्कार करता हूँ ॥३३-३५॥ हे भूमन् ! आप इन द्विजगणोंके सहित कुछ दिन हमारे घर रहिये और अपनी चरणरज-से इस निमिकुलको पवित्र कीजिये ॥३६॥ राजा बहुलाश्वके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर लोकपालक

१. प्यथ तान्। २. जीवाना०। ३. जं वन्दित्वा विसृ०।

राजा बहुलाश्वकृत श्रीकृष्णपूजन

[पृष्ठ ६४६

उवास कुर्वन्कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ॥३७॥

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा ।
नत्वा मुनीन्सुसंहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त ह ॥३८॥
तृणपीठबृसीष्वेतानानीतेषूपवेश्य[1] सः ।
स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन्सभार्योऽवनिजे मुदा ॥३९॥
तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।
स्नापयाञ्चक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥४०॥

फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि-
मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुजैः ।
आराधयामास यथोपपन्नया
सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा[2] ॥४१॥
स तर्कयामास कुतो[3] ममान्वभूद्
गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः ।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः
कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ॥४२॥

सूपविष्टान्कृतातिथ्याञ्छ्रुतदेव उपस्थितः ।
सभार्यस्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः ॥४३॥

भगवान् कृष्ण मिथिलापुरीके नर-नारियोंका कल्याण करते हुए कुछ दिन वहीं रहे ॥३७॥

राजा जनकके समान इधर श्रुतदेव भी अपने घर आये हुए श्रीअच्युत और मुनीश्वरोंको नमस्कार कर अत्यन्त हर्षपूर्वक कपड़ेसे उनकी हवा करता हुआ नाचने लगा ॥३८॥ फिर लाये हुए तृण, पीढ़ा और कुशासनपर उनको बिठाकर स्वागत-प्रश्नादिसे उनका अभिनन्दन करते हुए अति हर्षपूर्वक स्त्रीसहित उनके चरण धोये ॥३९॥ और फिर महाभाग श्रुतदेवने उस चरणोदकसे कुटुम्बसहित अपनेको अभिषिक्त किया। भगवान‍्के चरणस्पर्शसे उसे महान् हर्ष हुआ और उसके सब मनोरथ पूर्ण हो गये ॥४०॥ तदनन्तर उसने फल, गन्ध-पुष्पादि पूजाकी सामग्री, खससे बसाये हुए सुमधुर जल, कस्तूरी, तुलसी, कुश, कमल, अनायास ही प्राप्त हुई पूजाकी सामग्री और सात्त्विक अन्नसे उनका पूजन किया ॥४१॥ श्रुतदेवने सोचा, 'गृहरूप अन्धकूपमें पड़े हुए मुझ अभागेको श्रीकृष्णचन्द्रका और जिनकी चरणरज सब तीर्थोंका आश्रय है और जो भगवान् कृष्णकी मङ्गलमयी मूर्तिके आश्रयस्थान-रूप हैं उन मुनीश्वरोंका समागम न जाने कैसे हो गया ? ॥४२॥ फिर आतिथ्य ग्रहणकर सुखपूर्वक बैठे हुए उन मुनीश्वरोंके सम्मुख स्त्री, स्वजन और पुत्रादिके सहित उपस्थित हो श्रुतदेव उनका चरण-स्पर्श कर कहने लगा ॥४३॥

श्रुतदेव उवाच

नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।
यर्हीदं[4] शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥४४॥
यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥४५॥
शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम्[5] ।

श्रुतदेव बोले—आप परमपुरुषने मुझे आज ही दर्शन दिया हो, सो बात नहीं है; बल्कि जबसे आपने अपनी शक्तियोंसे इस जगत‍्को रचकर इसमें अपनी सत्तारूपसे प्रवेश किया है तभीसे आप सबसे मिले हुए हैं ॥४४॥ जिस प्रकार सोया हुआ पुरुष, स्वप्नमें अविद्यावश अपने ही मनसे स्वप्न-जगत‍्की रचना कर उसमें अनुप्रविष्ट हुआ स्वयं भासता है उसी प्रकार आप भी अपनी मायासे इस जगत‍्को रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो नाना प्रकारसे भास रहे हैं ॥४५॥ जो पुरुष आपका निरन्तर श्रवण, कीर्तन, पूजन एवं अभिवन्दन करते हैं तथा जो आपसमें आपकी ही

१. वेशयन् । २. माल्यात् । ३. कृतं ममार्चनं गृहा० । ४. यदिदं । ५. चाभि० ।

नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥४६॥
हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम् ॥४७॥

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने
अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे
स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥४८॥

स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवाम हे[1] ।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचरः ॥४९॥

श्रीशुक उवाच

तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान्प्रणतार्तिहा ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह ॥५०॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान्विद्ध्यमून्मुनीन् ।
सञ्चरन्ति मया लोकान्पुनन्तः पादरेणुभिः ॥५१॥
देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥५२॥
ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषां प्राणिनामिह ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥५३॥
न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥५४॥
दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः ।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥५५॥

[1] ते ।

चर्चा किया करते हैं उन शुद्धचित्त पुरुषोंको आप हृदयमें दर्शन देते हैं ॥४६॥ किन्तु लौकिक-वैदिक कर्मोंके कारण जिनका चित्त विक्षिप्त हो रहा है उनके हृदयमें स्थित होकर भी आप उनसे बहुत दूर हैं। आप अन्तःकरणकी अहंकारादि शक्तियोंसे ग्रहण नहीं किये जा सकते तथापि जो आपके गुणगानसे सम्पन्न हैं उनके आप बहुत ही समीप रहते हैं ॥४७॥ अतः आत्मज्ञानियोंको अपना परमधाम देनेवाले, अनात्माभिमानियोंको आत्मासे भिन्न मरणशील संसारकी प्राप्ति करानेवाले, महत्तत्त्वादि कार्य और प्रकृतिरूप कारणका शासन करनेवाले तथा अपनी मायासे स्वयं अनाच्छादित किन्तु दूसरोंकी दृष्टि रोकनेवाले आप परमात्माको प्रणाम है ॥४८॥ हे देव ! वही आप अपने दास हम सबको आज्ञा दीजिये कि हम आपकी क्या सेवा करें ? प्रभो ! जबतक आप दृष्टिगोचर नहीं होते तभीतक लोगोंको क्लेश उठाना पड़ता है ॥४९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—श्रुतदेवका यह कथन सुन शरणागतभयभञ्जन भगवान्‌ने अपने हाथसे उसका हाथ पकड़कर हँसते हुए उससे कहा ॥५०॥

श्रीभगवान् बोले—हे ब्रह्मन् ! मेरे साथ इन मुनीश्वरोंको तुम अपने ऊपर कृपा करनेके लिये ही यहाँ आये समझो । ये अपनी चरणरजसे सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करते हुए विचरा करते हैं ॥५१॥ देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थादि तो दर्शन, स्पर्श और पूजनसे धीरे-धीरे बहुत समयमें पवित्र करते हैं परन्तु साधुगण केवल दृष्टिमात्रसे पवित्र कर देते हैं ॥५२॥ संसारमें ब्राह्मण जन्मसे ही सब प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, वह यदि तप, विद्या, सन्तोष और मेरी भक्तिसे युक्त हो तब तो कहना ही क्या है ? ॥ ५३ ॥ मुझे ब्राह्मणकी अपेक्षा तो यह अपना चतुर्भुजरूप भी प्रिय नहीं है, ब्राह्मण सर्ववेदमय है और मैं सर्वदेवमय हूँ॥५४॥ इस रहस्यको न जानकर गुणोंमें दोष देखनेवाले दुर्बुद्धि लोग गुरु, आत्मा और ब्राह्मणोंकी तथा मेरी अवहेलनाकर केवल प्रतिमामें ही पूज्य-बुद्धि करते हैं ॥ ५५ ॥

चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥५६॥

केवल ब्राह्मण ही मेरा साक्षात्कार करके चित्तमें यह निश्चय करता है कि यह चराचर जगत् और इसके कारण महत्तत्त्वादि पदार्थ मेरे ही रूप हैं ॥५६॥

तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान्ब्रह्मन्मच्छ्रद्धयार्चय ।
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥५७॥

इसलिये हे ब्रह्मन् ! इन ब्रह्मर्षियोंका 'ये मेरे ही रूप हैं' ऐसा विश्वास करके पूजन करो । इससे सहजहीमें मेरा पूजन भी हो जाता है, नहीं तो बड़ी-बड़ी सामग्रियोंसे भी मेरा अर्चन नहीं किया जा सकता ॥५७॥

श्रीशुक[1] उवाच

स इत्थं प्रभुणादिष्टः सहकृष्णान्द्विजोत्तमान् ।
आराध्यैकात्मभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम् ॥५८॥
एवं स्वभक्तयो राजन्भगवान्भक्तभक्तिमान् ।
उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥५९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! प्रभुका ऐसा आदेश पा वह श्रुतदेव और मिथिलापति बहुलाश्व श्रीकृष्णचन्द्रके सहित उन ब्राह्मणोंकी एकान्तभावसे आराधना कर परमपदको प्राप्त हुए ॥५८॥ हे राजन् ! भक्तोंके भक्त श्रीभगवान् इस प्रकार अपने दोनों भक्तोंका प्रिय करनेके लिये कुछ दिन मिथिलापुरीमें रह उन्हें सन्मार्गका उपदेश देकर फिर द्वारकाको लौट आये ॥५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
श्रुतदेवानुग्रहो नाम षडशीतितमोऽध्यायः ॥८६॥

सत्तासीवाँ अध्याय

वेदस्तुति ।

परीक्षिदुवाच[2]

ब्रह्मन्ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! जिसका साक्षात् वर्णन नहीं किया जा सकता तथा जो सत् (कारण) और असत् (कार्य) से परे तथा गुणरहित है उस ब्रह्मका प्रतिपादन साक्षात् गुणमयी श्रुतियाँ कैसे कर सकती हैं ? ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच[3]

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणाञ्जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥ २ ॥
सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! सर्वसमर्थ भगवान्ने शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेके लिये, पुनर्जन्मके लिये और अपनेको स्वर्गादि लोकोंके भोगकी प्राप्तिके लिये तथा मोक्षलाभके लिये जीवोंके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और प्राणोंकी रचना की है ॥ २ ॥ इस परब्रह्मपरायणा श्रुतिको पूर्वजोंके भी पूर्वज सनकादिने बुद्धि आदिद्वारा धारण किया है । जो पुरुष इसे श्रद्धापूर्वक धारण करता है वह देहादि उपाधियोंसे मुक्त होकर क्षेमस्वरूप परमपद प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

१. बादरायणिरुवाच । २. विष्णुरात उवाच । ३. ऋषिरुवाच ।

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ४ ॥
एकदा नारदो लोकान्पर्यटन्भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥ ५ ॥
यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥ ६ ॥
तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥ ७ ॥
तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥

इस विषयमें मैं श्रीनारायण और देवर्षि नारदका संवादरूप एक गाथा सुनाता हूँ जिसके साथ स्वयं श्रीनारायणका वक्तारूपसे सम्बन्ध है ॥ ४ ॥

एक दिन भगवान्के प्रिय भक्त देवर्षि नारद सम्पूर्ण लोकोंमें घूमते हुए आदिऋषि नारायणजीके दर्शनके लिये बद्रिकाश्रमको गये ॥ ५ ॥ जो इस भारतवर्षमें समस्त जीवोंके क्षेम और कल्याणके लिये कल्पके आरम्भसे धर्म, ज्ञान और शमपूर्वक तपस्यामें लगे हुए हैं ॥ ६ ॥ हे कुरुनन्दन ! वहाँ कलापग्राम-निवासी मुनिमण्डलीके बीचमें बैठे हुए श्रीनारायणसे नारदजीने अति विनयपूर्वक यही प्रश्न किया ॥ ७ ॥ तब भगवान् नारायणने उन सब ऋषियोंके सुनते हुए श्रीनारदजीको पूर्वकालीन जनलोकनिवासी महर्षियोंमें जो ब्रह्मविषयक मीमांसा हुई थी वह कह सुनायी ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ९ ॥
श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।
तत्र हायमभूत्प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि ॥१०॥
तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥११॥

श्रीभगवान् बोले—हे ब्रह्मपुत्र ! पूर्वकालमें एक बार जनलोकमें वहाँ रहनेवाले ब्रह्माके मानस पुत्र ऊर्ध्वरेता मुनीश्वरोंके यहाँ ब्रह्मसत्रका* अनुष्ठान हुआ ॥९॥ [यद्यपि तुम भी जनलोकमें ही रहते हो किन्तु] उस समय तुम श्वेतद्वीपाधिपति मेरे दिव्य विग्रह अनिरुद्धका दर्शन करनेके लिये श्वेतद्वीपको चले गये थे। वहाँ, उसी समय जिसमें श्रुतियाँ विराम लेती हैं उस ब्रह्मविचारका बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ। उस गोष्ठीमें भी यही प्रश्न रखा गया था जो कि तुमने मुझसे किया है ॥ १० ॥ यद्यपि सनकादि चारों ही भाई विद्या, तप और स्वभावमें समान हैं, उन चारोंहीकी दृष्टिमें शत्रु, मित्र और उदासीन एक-से हैं। तथापि अन्य सबने श्रवण करनेके इच्छुक होकर एक सनन्दनको ही वक्ता बनाया ॥ ११ ॥

सनन्दन उवाच

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ।
तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥१२॥

तब सनन्दनने कहा—जिस प्रकार सोये हुए सम्राट्को प्रातःकाल होनेपर उसके अनुचर बन्दीगण सुन्दर यश और पराक्रमका वर्णन करके जगाते हैं उसी प्रकार अपने रचे हुए इस निखिल

* जहाँ विद्या, ज्ञान आदिमें समान योग्यतावाले पुरुष एकको यजमान बनाकर और शेष सब ऋत्विक् आदि बनकर कर्म करते हैं वह 'कर्मसत्र' कहलाता है तथा जहाँ समान योग्यतावाले व्यक्ति एकको वक्ता बनाकर ब्रह्मका विचार करते हैं वह 'ब्रह्मसत्र' कहलाता है।

यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥१३॥

प्रपञ्चको शक्तियोंके सहित अपनेमें लीन करके सोये हुए परमात्माको प्रलयके अन्तमें श्रुतियाँ उनका प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंद्वारा* इस प्रकार जगाने लगीं ॥ १२-१३ ॥

श्रुतय ऊचुः

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥१४॥

श्रुतियाँ बोलीं—हे अजित ! आपकी जय हो, जय हो । स्थावर-जङ्गम शरीर जिनके आश्रय हैं उन सम्पूर्ण जीवोंकी उस अविद्याको आप दूर कीजिये जिसने दोषके लिये अर्थात् जीवोंके आनन्दादि गुणोंका आच्छादन करनेके लिये ही सत्त्वादि गुणोंको स्वीकार किया है क्योंकि आप स्वभावसे ही समस्त ऐश्वर्योंसे पूर्ण हैं । हे सम्पूर्ण शक्तियोंको जाग्रत् करनेवाले परमेश्वर ! वेद कभी मायाके साथ क्रीडा करनेवाले और कभी स्वस्वरूपमें स्थित रहनेवाले आप परमेश्वरका ही अनुसरण (प्रतिपादन) करता है[1] ॥ १४ ॥

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥१५॥

ऋषिगण इस प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण जगत्को आप परब्रह्मका ही स्वरूप समझते हैं; क्योंकि प्रलयकालमें सबका नाश हो जानेपर एकमात्र आप ही रह जाते हैं तथा जिस प्रकार घटादि विकारों (कार्यों) की उत्पत्ति और लय मिट्टीमें ही होते हैं उसी प्रकार आप निर्विकार परमेश्वरसे ही इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलय होते हैं । अतः मुनीश्वरगण मन और वाणीसे ग्रहण किये जानेवाले सम्पूर्ण जगत्को आपहीमें स्थित देखते हैं; क्योंकि मनुष्योंके कहीं भी रखे हुए चरण पृथिवीपर नहीं रखे हुए कैसे कहे जा सकते हैं ?[2] ॥ १५ ॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः

इसीलिये हे त्रिगुणमयी मायाके अधीश ! विवेकी पुरुषोंने सम्पूर्ण लोकोंके मलको दूर करनेवाले आपके कथामृतसिन्धुमें गोता लगाकर समस्त सन्तापोंको त्याग दिया है, फिर हे परमपुरुष ! आत्मज्ञानके द्वारा जिनके अन्तःकरणके रागादि धर्म और कालकृत जरा-मरणादि दोष दूर हो गये हैं ऐसे जो महात्माजन निरन्तर

* आगेके श्लोकोंमें जिन-जिन वेदवाक्योंका विवरण किया गया है वे श्रीधरस्वामीके मतानुसार फुटनोटमें दिये जाते हैं ।

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ य आत्मनि तिष्ठन् । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यः सर्वज्ञः सर्ववित् । इत्यादि ।

२. वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । इत्यादि ।

परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥१६॥

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा

महदहमादयोऽण्डमसृजन्यदनुग्रहतः ।

पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः

सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१७॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः

परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।

तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं

पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१८॥

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया

तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।

अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं

विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥१९॥

सुखानुभवरूप आपके स्वरूपको भजते हैं उनके विषयमें तो कहना ही क्या है ?[1] ॥ १६ ॥

यदि प्राणी [भजन आदिके द्वारा] आपका अनुसरण करते हैं तभी उनका जीवन सफल है; अन्यथा वे धौंकनीके समान व्यर्थ श्वास लेते हैं, [अर्थात् उनका जीवन व्यर्थ जाता है] क्योंकि जिनके अनुग्रहसे महत् और अहंकारादि ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं, जो इन अन्नमय आदि कोशोंमें पुरुषरूपसे अनुगत और उनकी अवधि हैं वे कार्य और कारणसे पर तथा सबका नाश होनेके बाद बच रहनेवाले सत्यस्वरूप परमात्मा आप ही हैं[2] ॥ १७ ॥

हे अनन्त ! ऋषियोंके सम्प्रदायोंमें जो स्थूल दृष्टिवाले हैं वे आपकी उदर अर्थात् मणिपूरचक्रमें रहनेवाले ब्रह्मरूपमें उपासना करते हैं तथा अरुणवंशी मुनिजन जिससे सब ओर जानेवाली नाडियाँ निकली हैं उस हृदयमें रहनेवाले दहरसंज्ञक आकाशरूप आप ब्रह्मकी उपासना करते हैं, क्योंकि उस हृदयसे ही आपका परमधाम अर्थात् आपका उपलब्धिस्थानरूप सुषुम्नामार्ग मस्तकपर्यन्त ऊपरको गया हुआ है जिसको प्राप्त होकर जीव फिर मृत्युके मुखमें नहीं पड़ते[3] ॥ १८ ॥

हे देव ! आप अपनी ही रची हुई देवता, मनुष्य और तिर्यक् आदि विचित्र योनियोंमें मानो कारणरूपसे प्रविष्ट होकर उन अपनी ही बनायी हुई देवता आदि आकृतियोंका अनुकरण करते हुए काष्ठमें प्रविष्ट हुए अग्निके समान उत्तमाधमभावसे प्रकट होते हैं । अतः ऐहिक और पारलौकिक कर्मभोगसे विरत हुए निर्मलबुद्धि महानुभाव इन मिथ्या रूपोंमें आपके सत्य, समान और एकरस स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं[4] ॥ १९ ॥

१. यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते । न कर्मणा लिप्यते पापकेन । तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते । तं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवम् किमहं पापमकरवम् । इत्यादि ।

२. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । इत्यादि ।

३. उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते, हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्मा हैवैता इत ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत्तच्छिरोऽश्रयत, यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ॥ इत्यादि ।

४. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ तथा—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । इत्यादि ।

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥२०॥

हे प्रभो! अपने ही कर्मोंद्वारा प्राप्त हुए इन मनुष्यादि शरीरोंमें विद्यमान कार्य-कारणरूप आवरणोंसे रहित जीवको तत्त्वज्ञानी पुरुष आप सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्माका अंश बतलाते हैं। इस प्रकार जीवतत्त्वके स्वरूपका निश्चय कर विवेकीजन संसारमें सम्पूर्ण वैदिक कर्मोंके क्षेत्र (समर्पणस्थान) और संसारसे मुक्त करनेवाले आपके चरणोंकी श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं[1] ॥२०॥

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥२१॥

हे ईश्वर! जो अत्यन्त दुर्बोध आत्मतत्त्वका ज्ञान करानेके लिये शरीर धारण करनेवाले आप श्रीहरिके चरित्ररूप अमृतमहासागरमें स्नान कर श्रमरहित हो गये हैं ऐसे कोई-कोई भक्तजन मुक्तिकी भी इच्छा नहीं रखते, [फिर इन्द्रादि पदकी तो बात ही क्या है? वे केवल अप्राप्तका ही त्याग करते हों ऐसी बात नहीं] आपके चरणकमलोंका हंसके समान सेवन करनेवाले भक्तमण्डलके संगसे वे अपने पूर्वप्राप्त घर-बार (लौकिक सुख) भी त्याग देते हैं[2] ॥ २१ ॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव-
च्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥२२॥

प्रभो! आपकी सेवाका साधन होकर आपका अनुसरण करनेवाला यह मनुष्यशरीर ही आत्मा, सुहृद् और प्रियजनके समान आचरण करनेवाला है। किन्तु खेद है कि इसे पाकर भी मनुष्य सर्वदा संमुख रहनेवाले अपने परम हितकारी प्रिय और आत्मारूप आपमें प्रेम नहीं करते, बल्कि उन देह-गेह आदि असत्पदार्थोंके ही लालन-पालनमें लगे रहकर अपना-अपना घात करते हैं, जिनकी वासनासे श्वान-शूकरादि निन्दित योनियोंको धारण करते हुए महान् भयपूर्ण संसारमें भ्रमते रहते हैं[3] ॥ २२ ॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो

हे नाथ! प्राण, मन और इन्द्रियोंका संयम कर दृढ योगका अभ्यास करनेवाले मुनिजन जिस पदकी हृदयमें उपासना करते हैं उसी पदको आपसे शत्रुता रखनेवाले असुरगण भी केवल स्मरणमात्रसे प्राप्त हो गये हैं। तथा जिनका हृदय आपकी शेषनागके समान विशाल और कोमल भुजाओंमें आसक्त

१. स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। तत्त्वमसि।
२. यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।
३. आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन। न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।

वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥२३॥

है वे परिच्छिन्न दृष्टिवाली स्त्रियाँ (गोपियां) और आपके चरणकमलका चिन्तन करनेवाली हम अपरिच्छिन्न दृष्टिवाली श्रुतियाँ भी आपकी दृष्टिमें समान ही हैं[1] ॥२३॥

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥२४॥

अहो ! जिनसे साक्षात् ब्रह्माजी और उनके पीछे [सनकादि निवृत्तिपरायण तथा मरीचि आदि प्रवृत्तिपरायण] दोनों प्रकारके देवगण उत्पन्न हुए हैं उन सकल सृष्टिके पूर्ववर्त्ती आपको इस संसारमें पीछेसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाला कौन पुरुष जान सकता है ? तथा जिस समय आप सम्पूर्ण प्रपञ्चको अपनेमें लीन कर शयन करते हैं उस समय सत् (आकाशादि स्थूल जगत्) असत् (सूक्ष्म महत्तत्त्वादि) एवं स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकारका शरीर तथा इन सबके आधारभूत कालका वेग और इनका बोध करानेवाला शास्त्र आदि कुछ भी नहीं रहता[2] ॥ २४ ॥

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥२५॥

जो असत्की उत्पत्ति और सत्का नाश मानते हैं तथा आत्मामें भेदका प्रतिपादन करते हैं एवं काम्य कर्मोंके फलको नित्य मानते हैं वे सब भ्रमसे आरोपित सिद्धान्तोंका ही प्रतिपादन करते हैं। पुरुष त्रिगुणमय है—ऐसा भेदज्ञान अज्ञानजनित ही है । आप अज्ञानसे परे हैं अतः ज्ञानस्वरूप आपमें ऐसा कोई भेदभाव नहीं है[3] ॥ २५ ॥

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया-

यह मनोविलासरूप त्रिगुणात्मक जगत् परमेश्वरसे भिन्न प्रतीत होनेवाले भोक्ता पुरुषपर्यन्त असत् होनेपर भी आपमें अधिष्ठित होनेके कारण सत्य-सा भासता है। इसीलिये आत्मज्ञानी पुरुष भी इस सम्पूर्ण जगत्को आत्मरूपसे सत्य मानते हैं। जैसे सुवर्णके तत्त्वको जाननेवाले लोग सुवर्णके विकार कुण्डलादिको सुवर्णरूप ही मानते हैं इसीसे उनका त्याग नहीं करते इसी प्रकार आत्मासे निर्मित और

१. आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । इत्यादि ।

२. यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव । अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति । इत्यादि ।

३. सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । असद्वा इदमग्र आसीत् । ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । अनीशया शोचति मुह्यमानः । अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म । एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ इत्यादि ।

स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥२६॥

आत्मासे ही व्याप्त यह सम्पूर्ण जगत् आत्मज्ञानियों-द्वारा आत्मरूप ही माना गया है[1] ॥ २६ ॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥२७॥

हे प्रभो ! आप समस्त जीवोंके आश्रयस्थान हैं—ऐसा जानकर जो पुरुष आपका सेवन करते हैं वे मृत्युके सिरपर अवहेलनापूर्वक पैर रख देते हैं। [अर्थात् वे जन्म-मरणरूप संसारको पारकर मुक्त हो जाते हैं] । जो आपमें प्रेम रखते हैं वे ही तीनों लोकोंको पवित्र करते हैं, जो आपसे विमुख हैं वे किसीको पवित्र नहीं कर सकते; वे विद्वान् भी हों तो भी आप उन्हें कर्मोंका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे पशुके समान बाँध देते हैं[2] ॥ २७ ॥

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥२८॥

आप मन, बुद्धि और इन्द्रियरूप करणोंसे रहित होकर भी स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् होनेके कारण समस्त करणोंकी शक्तिसे सदा सम्पन्न हैं। इन्द्रादि देवगण तथा ब्रह्मादि लोकपालगण अविद्याका आश्रय कर हव्य-कव्यादिका स्वयं भोग करते हुए आपको भी उपहार समर्पण करते हैं, जैसे देश-देशान्तरके अधिपति प्रजासे कर एकत्रित कर उसे स्वयं भोगते हुए सार्वभौम सम्राट्को भी अर्पण करते हैं। हे देव ! वे ब्रह्मादिक जिस-जिस कार्यमें नियुक्त किये गये हैं उस-उस कार्यमें कालरूप आपके भयसे निरन्तर सावधानतापूर्वक तत्पर रहते हैं[3] ॥ २८ ॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥२९॥

हे नित्यमुक्त ! जिस समय मायाके साथ उसकी ओर ईक्षणमात्र करनेसे ही आप मायातीत परमात्माकी क्रीडा होती है उस समय आपके अवलोकनमात्रसे जाग्रत् हुए कर्म या लिङ्गशरीरसे युक्त सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये जो आकाशकी भाँति सम, शून्यकी समता धारण करनेवाले तथा मन-वाणीके अगोचर हैं उन आप परमेश्वरकी दृष्टिमें कोई अपना या पराया नहीं हैं[4] ॥ २९ ॥

---

१. असतोऽधि मनोऽसृजत मनः प्रजापतिमसृजत प्रजापतिः प्रजा असृजत । तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्च ।

२. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । तथा—तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि । तस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम् । इत्यादि ।

३. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ तथा—भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ इत्यादि ।

४. यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति । इत्यादि ।

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-

स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।

अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्

सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥३०॥

हे नित्यस्वरूप ! यदि असंख्य देहधारी जीव नित्य और सर्वगत माने जायँ तो [आपहीके समान होनेके कारण] आपके द्वारा उनका नियन्त्रण किया जाना नहीं बन सकता । हाँ, यदि वे आपके समान न हों तो आप उनके नियामक हो सकते हैं । ये सम्पूर्ण जीव आपहीसे प्रकट हुए हैं, अतः कारणरूपसे इनका त्याग न करते हुए आप अवश्य ही इनके नियन्ता हैं । [किन्तु आप कैसे हैं ? यह नहीं कहा जा सकता] क्योंकि सभी मानी हुई वस्तुएँ दोषयुक्त होती हैं, अतः आप सर्वत्र समान हैं और 'हम जानते हैं' ऐसा माननेवालोंको वस्तुतः अज्ञात हैं[1] ।३०।

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-

रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।

त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे

सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥३१॥

जन्मरहित जो प्रकृति और पुरुष हैं उनका उत्पन्न होना नहीं बन सकता बल्कि उन दोनोंका अविद्याजनित संयोग (परस्पर अध्यास) होनेसे ही जलसे बुलबुलेके समान प्राणियोंका जन्म होता है। फिर अपने भिन्न-भिन्न नाम और गुणोंके सहित वे जीव मधुमें समस्त फूलोंके रसोंके समान एवं समुद्रमें नदियोंके समान आप उपाधिशून्य परमात्मामें ही लीन हो जाते हैं[2] ॥३१॥

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं

त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।

कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः

सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥

सभी जीव आपकी मायासे बारम्बार जन्म धारण करते हुए इस संसारचक्रमें चक्कर लगा रहे हैं—ऐसा जानकर बुद्धिमान् लोग संसारचक्रकी निवृत्ति करनेवाले आप परमेश्वरमें अत्यन्त भक्ति करते हैं । आपका भ्रुकुटिविलासरूप यह शीत, ग्रीष्म और वर्षा तीन भागवाला कालचक्र बारम्बार उन्हींको भय देता है जो आपकी शरण नहीं लेते । भला आपके अनुगत भक्तोंको जन्म-मरणरूप संसारका भय कैसे हो सकता है?[3] ॥३२॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं

य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।

हे अजन्मा परमेश्वर ! जिन्होंने अपनी इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें कर लिया है उन योगियोंद्वारा भी जिसका दमन नहीं किया जा सकता ऐसे अति चञ्चल चित्तरूप घोड़ेको जो अपने वशमें करनेका यत्न करते हैं वे गुरुचरणोंकी शरण त्यागकर अन्य उपायोंमें

१. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ अवचनेनैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूव । यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेषु ॥ इत्यादि ।

२. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ तथा—यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्समवहारमेकतां सङ्गमयन्ति ते तथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥ तथा—यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

३. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥

व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यक्तकर्णधरा जलधौ ॥३३॥

परिश्रम करनेवाले मनुष्य वैसे ही नाना प्रकारकी विपत्तियोंसे घिर जाते हैं जैसे बिना कर्णधारकी नावपर समुद्रमें यात्रा करनेवाले व्यापारी नाना प्रकारके कष्ट उठाते हैं[1] ॥३३॥

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥३४॥

आश्रितोंके आत्मा और सर्वानन्दमय आप परमात्माके रहते हुए पुरुषको स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, धाम, पृथिवी, प्राण और रथ आदिसे क्या लाभ है ? इस सत्य सिद्धान्तको न जाननेके कारण स्त्रीसुखमें ही रत रहनेवाले लोगोंको स्वभावसे ही नश्वर और स्वतः सारहीन इस संसारमें भला कौन सुखी कर सकता है[2] ? ॥३४॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥३५॥

जो ऐश्वर्यादिके मदसे रहित हैं, आपके चरण-कमलोंको हृदयमें धारण करनेवाले हैं तथा जिनका चरणोदक पापपुञ्जको नष्ट करनेवाला है वे मुनिजन इस पृथिवीतलपर अत्यन्त पुण्यमय तीर्थस्थान हैं। जो पुरुष एक बार भी आप नित्य सुखस्वरूप परमात्मामें चित्त लगाते हैं वे पुरुषोंके विवेक, वैराग्य, धैर्य, क्षमा तथा शान्ति आदि गुणोंका नाश करनेवाले घरोंमें फिर आसक्त नहीं होते[3] ॥३५॥

सत इदमुत्थितं
सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च
क्व च मृषा न तथोभययुक् ।

यदि कहें 'यह प्रपञ्च सत्‌से उत्पन्न हुआ है, इसलिये (सत्‌का कार्य होनेके कारण) स्वयं भी सत् है' तो यह अनुमान तर्कसे बाधित है।* इसके अतिरिक्त उपर्युक्त अनुमान कहीं-कहीं व्यभिचरित देखा जाता है [जैसे लाठीसे घड़ा फोड़नेमें लाठीसे उत्पन्न हुआ 'घड़ा फूटना' रूप कार्य अपने कारणभूत लाठीसे सर्वथा भिन्न है । यदि उपर्युक्त अनुमानमें कारणसे निमित्तकारण न लेकर उपादानकारण लेना अभीष्ट हो तो भी] उक्त अनुमान कहीं-कहीं असत्य प्रमाणित होता है†

१. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । आचार्यवान् पुरुषो वेद । नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुविज्ञानाय प्रेष्ठ । इत्यादि ।

२. परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

३. श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । इत्यादि ।

* अर्थात् 'सत्‌से प्रपञ्च उत्पन्न हुआ' इस कथनसे सिद्ध होता है कि 'सत्' अन्य है और उससे उत्पन्न प्रपञ्च अन्य है; क्योंकि अन्य ही अन्यसे उत्पन्न होता है, जैसे जलसे कमल ।

† जैसे रज्जुमें सर्प-बुद्धि । यहाँ रज्जु उपादान सत्य है तो भी सर्पप्रतीतिरूप मिथ्या कार्य होता देखा गया है; अतः उपर्युक्त अनुमानसे कार्य कभी सत् सिद्ध नहीं हो सकता ।

व्यवहृतये विकल्प

इषितोऽन्धपरम्परया

भ्रमयति भारती त

उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥३६॥

इसी तरह दो (ब्रह्म और माया) के संयोगसे उत्पन्न हुआ यह प्रपञ्च भी सत् नहीं है। अन्धपरम्परासे जो यह भ्रम चला आ रहा है, इसे केवल व्यवहार-निर्वाहके लिये व्यावहारिक सत्यके रूपमें स्वीकार किया गया है [यदि ऐसी बात है तो 'अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादि श्रुतिमें जो कर्म-फलको सत्य बताया गया है वह कैसे संगत हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं] हे भगवन्! गौणी लक्षणा आदि नाना वृत्तियोंसे [कर्मफलादिकी प्रशंसा करनेवाली] आपकी वेदरूपा वाणी कर्म-फलमें श्रद्धा रखनेवाले जड-बुद्धि पुरुषोंको मोहमें डाल रही है *॥३६॥[1]

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-

दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।

अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-

र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥

क्योंकि यह जगत् सृष्टिसे पहले नहीं था और न प्रलयके अनन्तर ही रहेगा, इसलिये यह सिद्ध होता है कि बीचमें भी यह एकरसस्वरूप आप परमेश्वरमें मिथ्या ही भासता है। इसीलिये इसका द्रव्य-जाति (मृत्तिका-लोहा आदि) और विकल्प (कार्य—घट-कुण्डल आदि) की समानतासे निरूपण किया जाता है। इस व्यर्थ मनोविलासमात्र जगत्‌को मूढलोग ही सत्य मानते हैं[2] ॥३७॥

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्

भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।

त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो

महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥३८॥

जिस समय जीव मायासे मोहित होकर अविद्याका आश्रय लेता है उस समय वह[अपने स्वरूपभूत आनन्दादि गुणोंके छिप जानेसे] गुणोंके कार्य देह-इन्द्रिय आदिका सेवन करता हुआ उन्हींकी सदृशताको प्राप्त होकर पश्चात् जन्म-मरणरूप संसारको पाता है। किन्तु आप सदा अपने नित्यप्राप्त ऐश्वर्यमें स्थित रहते हैं इसलिये उस मायाको वैसे ही छोड़ देते हैं जैसे सर्प केंचुलको छोड़ देता है;और अपरिमित ऐश्वर्यसे युक्त होकर अपनी अणिमादि अष्ट विभूतियुक्त महिमामें विराजमान होते हैं[3] ॥३८॥

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा

दुरधिगमोऽसतां हृदिगतोऽस्मृतकण्ठमणिः।

हे भगवन्! यदि मनुष्य संन्यासी होकर भी अपने हृदयमें स्थित कामकी मूलस्वरूपा वासनाओंको दूर नहीं करते तो उन असत् पुरुषोंको आपका प्राप्त होना वैसे ही अत्यन्त कठिन है जैसे गलेमें पड़ी हुई भी मणि भूल जानेपर नहीं मिलती। उन प्राणोंका ही

* अभिप्राय यह कि श्रुतिका तात्पर्य कर्मफलकी नित्यता बतानेमें नहीं है, अपि तु लक्षणासे उसके फलकी प्रशंसा करनेमें है। अन्यथा 'एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' इस श्रुतिसे विरोध होगा।

१. तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्। इत्यादि।

३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्। इत्यादि।

असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥३९॥

पोषण करनेवाले योगियोंको इस लोक और परलोकमें दोनों ही जगह आपसे दुःख प्राप्त होता है । इस लोकमें तो कभी न चूकनेवाले मृत्युरूप आपसे भय उठाना पड़ता है तथा परलोकमें जिनके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ है ऐसे आपसे भय लगा रहता है । [अर्थात् स्वरूप-ज्ञान न होनेके कारण निरन्तर पतन-का भय बना रहता है][1] ॥३९॥

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४०॥

हे षडैश्वर्यपूर्ण भगवन् ! आपके स्वरूपको जानने-वाला पुरुष आप कर्मफलदाता ईश्वरसे प्रकट हुए पुण्य-पापके फलरूप सुख-दुःखोंको नहीं भोगता तथा उस समय उसका देहाभिमानी पुरुषोंके लिये विहित विधि-निषेधरूप वेदवाणीकी ओर भी ध्यान नहीं रहता, क्योंकि जो मनुष्य प्रत्येक युगमें परम्परासे कही हुई आपकी लीला-कथाका कानोंद्वारा निरन्तर श्रवण करके आपको हृदयमें धारण कर लेता है उसके लिये आप मोक्षरूप गति होते हैं ॥४०॥

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥४१॥

हे भगवन् ! आपका अन्त स्वर्गादिके अधिपति इन्द्रादिने भी नहीं पाया; वे ही क्या ? अनन्त होनेके कारण आप स्वयं भी अपना अन्त नहीं जानते । जिस प्रकार आकाशमें वायुसे रजःकण उड़ते रहते हैं उसी प्रकार कालचक्रके द्वारा पृथिवी आदि आवरणोंके सहित अनन्त ब्रह्माण्डसमूह आपमें एक ही साथ घूम रहे हैं तथा आपहीमें पर्यवसान पानेवाली श्रुतियाँ स्थूल-सूक्ष्मादि अनात्मवस्तुओंका निषेध करती हुई अन्तमें आपहीमें पर्यवसित होकर सफल होती हैं[2] ॥४१॥

श्रीभगवानुवाच

इत्येतद्ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम् ॥४२॥
इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥४३॥
त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद श्रद्धयात्मानुशासनम् ।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥४४॥

श्रीभगवान् बोले—हे नारद ! इस प्रकार वेद-स्तुतिरूप आत्मतत्त्वका उपदेश सुन ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि सिद्धगणने आत्माके स्वरूपको जानकर सनन्दनजीका पूजन किया ॥४२॥ सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न हुए और आकाशमें विचरनेवाले उन महात्माओंने इस प्रकार सम्पूर्ण वेद पुराण और उपनिषदोंका सार-सर्वस्व निकाला था ॥४३॥ हे ब्रह्मपुत्र ! तुम भी मनुष्योंकी वासनाओंको भस्म करनेवाले इस आत्म-तत्त्वके उपदेशको श्रद्धापूर्वक हृदयमें धारणकर पृथिवीमें स्वेच्छापूर्वक विचरो ॥४४॥

श्रीशुक उवाच

एवं स ऋषिणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ऋषिवर नारायण-द्वारा इस प्रकार उपदेश किये जानेपर उसे श्रद्धापूर्वक

१. कामान्यः कामयते मन्यमानः स कर्मभिर्जायते तत्र तत्र ।
२. यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं भवच्च भविष्यच्च ।

पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥४५॥

ग्रहण कर ज्ञानी, पूर्णकाम, सुने हुए अर्थको धारण करनेवाले और नैष्ठिक ब्रह्मचारी नारदजीने कहा ॥४५॥

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्त्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥४६॥

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥४७॥

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥४८॥

इत्येतद्वर्णितं राजन्यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि श्रुतिश्चरेत् ॥४९॥

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं संपद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥५०॥

नारदजी बोले—जो समस्त प्राणियोंको मोक्ष देनेके लिये अति कमनीय कलावतार धारण करते हैं उन आप निर्मलकीर्ति भगवान् कृष्णको नमस्कार है ॥४६॥

इस प्रकार आदिऋषि नारायण और उनके शिष्योंको प्रणाम कर फिर वे नारदजी मेरे साक्षात् पिता महात्मा श्रीद्वैपायनके आश्रमको गये ॥४७॥ भगवान् व्यासजीसे भली प्रकार सम्मानित हो नारदजी आसनपर विराजमान हुए और उन्होंने श्रीनारायणके मुखसे जो कुछ सुना था वह सब उन्हें कह सुनाया ॥४८॥ हे राजन् ! इस प्रकार तुमने जो प्रश्न किया था उसके अनुसार 'जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता और जो गुणरहित है उस ब्रह्ममें भी श्रुतिकी गति जिस प्रकार होती है ?' सो सब मैंने तुम्हें सुना दिया ॥४९॥

[अब वेदस्तुतिका सार कहते हैं—] जो इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके विषयमें उत्प्रेक्षा (आलोचनात्मक संकल्प) करनेवाले हैं, जो प्रकृति और पुरुषके ईश्वर हैं; जिन्होंने इस ब्रह्माण्डकी रचना कर इसमें जीवके सहित उसके आत्मारूपसे प्रविष्ट हो भिन्न-भिन्न शरीरोंकी रचना की है और जो उनका पालन करते हैं; जिस प्रकार गाढ़ निद्रामें सोया हुआ पुरुष शरीरका अनुसन्धान छोड़ देता है उसी प्रकार जिन्हें पाकर जीव मायासे मुक्त हो जाता है उन अपने अखण्ड रूपमें स्थित रहकर जगत्की मूल कारण मायाका निरास करनेवाले अभयरूप श्रीहरिका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
नारदनारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

अठासीवाँ अध्याय

शम्भु-मोचन।

राजोवाच

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम्।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम्॥ १॥
एतद्वेदितुमिच्छामः सन्देहोऽत्र महान्हि नः।
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः॥ २॥

श्रीशुक उवाच

शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा॥ ३॥
ततो विकारा अभवन्षोडशामीषु कञ्चन।
उपधावन्विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम्॥ ४॥
हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत्॥ ५॥
निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः।
शृण्वन्भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम्॥ ६॥
स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः।
नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले॥ ७॥

श्रीभगवानुवाच

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥ ८॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया।

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—ब्रह्मन्! देवता, असुर और मनुष्योंमें जो लोग विषय-भोगहीन भगवान् शङ्करको भजते हैं वे तो प्रायः धनी और समस्त भोगसम्पन्न होते हैं और जो साक्षात् लक्ष्मीपति श्रीहरिका भजन करनेवाले होते हैं वे ऐसे धनी और भोगी नहीं होते, इसका क्या कारण है? ॥ १ ॥ भगवन्! इस प्रकार विरुद्ध स्वभाववाले देवताओंके उपासकोंको ऐसी विरुद्ध गति क्यों मिलती है? यह मैं जानना चाहता हूँ, मुझे इस विषयमें बड़ा सन्देह है ॥ २ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! निरन्तर अपनी मायाशक्तिसे सम्पन्न भगवान् सदाशिव गुणोंसे युक्त और त्रिविध अहंकारके अधिष्ठाता हैं; अहंकारके राजस, वैकारिक और तामस—ये तीन भेद हैं ॥ ३ ॥ उस त्रिविध अहंकारसे दश इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और एक मन—ये सोलह विकार हुए हैं। अतः इन सबके अधिष्ठाता देवताओंमेंसे किसी एककी उपासना करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण ऐश्वर्योंकी गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥ और श्रीहरि तो प्रकृतिसे परे साक्षात् पुराणपुरुष एवं निर्गुण हैं। वे सर्वज्ञ तथा सबके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं; उनका भजन करनेसे पुरुष निर्गुण हो जाता है ॥ ५ ॥

हे राजन्! तुम्हारे पितामह महाराज युधिष्ठिरने अश्वमेध-यज्ञ समाप्त हो जानेपर भागवतधर्मोंको सुनते हुए श्रीकृष्णचन्द्रसे यही बात पूछी थी ॥ ६ ॥ तब मनुष्योंके आत्यन्तिक कल्याणके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण हुए षडैश्वर्यसम्पन्न प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने प्रसन्नतापूर्वक सुननेके इच्छुक उन (युधिष्ठिरजी) से इस प्रकार कहा था ॥ ७ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसका सब धन धीरे-धीरे हर लेता हूँ। तब उसके बन्धुगण उसे निर्धन और दुःखपर दुःख उठाते देख छोड़ देते हैं ॥ ८ ॥ फिर जब बार-बार उद्योग करनेपर भी वह धन-संग्रह करनेमें समर्थ नहीं होता तब

मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥ ९ ॥
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान्भजते जनः ॥१०॥
ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान्विस्मरन्त्यवजानते ॥११॥

धनकी चेष्टासे विरक्त होकर वह मेरे भक्तोंसे मेल करता है, उस समय मैं उसपर कृपा करता हूँ ॥ ९ ॥ तब उसे परमसूक्ष्म, चिन्मात्र, सत्यस्वरूप और अनन्त ब्रह्मकी प्राप्ति होती है । इस प्रकार मेरी आराधना करना अत्यन्त कठिन है, इसीलिये लोग मुझे छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं ॥१०॥ उन शीघ्र ही प्रसन्न हो जानेवाले देवताओंसे वे राज्य और धन आदि वैभव पाकर उन्मत्त हो जाते हैं और इस प्रकार अति घमण्डी और उद्धत होकर उन वरदायक देवताओंका महत्त्व भूलकर उन्हींका अपमान करने लगते हैं ॥११॥

श्रीशुक उवाच

शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
सद्यःशापप्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥१२॥
अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाप सङ्कटम् ॥१३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—ये तीनों देव शाप और वरदान देनेमें समर्थ हैं; परन्तु इनमें महादेव और ब्रह्मा तो शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाले और शाप देनेवाले हैं किन्तु श्रीविष्णुभगवान् ऐसे नहीं हैं ॥१२॥ इस विषयमें इस प्राचीन इतिहासको उदाहरण दिया करते हैं कि भगवान् शङ्कर वृकासुरको वर देकर सङ्कटग्रस्त हो गये थे ॥१३॥

वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् ।
दृष्ट्वाशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥१४॥
स आह देवं गिरिशमुपाधावाशु सिद्ध्यसि ।
योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति॥१५॥
दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्वन्दिनोरिव ।
ऐश्वर्यमतुलं दत्त्वा तत आप सुसङ्कटम् ॥१६॥
इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत्स्वगात्रतः ।
केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानोऽग्निमुखं हरम् ॥१७॥

एक बार शकुनिके पुत्र दुष्टबुद्धि वृकासुरने मार्गमें देवर्षि नारदको जाते देख उनसे यह पूछा कि "त्रिदेवोंमें सबसे जल्दी प्रसन्न होनेवाले कौन हैं?" ॥१४॥ नारदजीने कहा—"तुम भगवान् शङ्करकी उपासना करो, इससे तुम्हारा मनोरथ शीघ्र ही सफल हो जायगा क्योंकि वे थोड़ेसे ही गुण या दोषसे तत्काल प्रसन्न या कुपित हो जाते हैं ॥१५॥ देखो, बन्दीजनके समान स्तुति करनेवाले रावण और बाणासुरसे प्रसन्न होकर उन्होंने उन्हें अतुल ऐश्वर्य दे दिया था और फिर उन्हें स्वयं भी उनके हाथसे सङ्कट उठाना पड़ा* ॥१६॥

नारदजीका ऐसा आदेश पा वह असुर केदार-क्षेत्रमें अपने शरीरके मांसका हवन करता हुआ अग्निमुख महादेवकी आराधना करने लगा ॥१७॥

* रावणने उनके निवासस्थान कैलासको उठा लिया और बाणासुरने उन्हें अपने नगरकी रक्षाका भार दिया तथा उन्हींके इष्टदेव श्रीकृष्णचन्द्रसे युद्ध कराया ।

देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात्सप्तमेऽहनि ।
शिरोऽवृश्चत्स्वधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् ॥१८॥
तदा महाकारुणिकः स धूर्जटि-
र्यथा वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात् ।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारय-
त्तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृतिः ॥१९॥
तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे
यथाभिकामं वितरामि ते वरम् ।
प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यता-
महो त्वयात्मा भृशमर्द्यते वृथा ॥२०॥
देवं स वव्रे पापीयान्वरं भूतभयावहम् ।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥२१॥
तच्छ्रुत्वा भगवान्रुद्रो दुर्मना इव भारत ।
ओमिति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा ॥२२॥
इत्युक्तः सोऽसुरो नूनं गौरीहरणलालसः ।
स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत्स्वकृताच्छिवः ॥२३॥
तेनोपसृष्टः संत्रस्तः पराधावत्सवेपथुः ।
यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक् ॥२४॥
अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन्सुरेश्वराः ।
ततो वैकुण्ठमगमद्भास्वरं तमसः परम् ॥२५॥
यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः ।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ॥२६॥

जब [छः दिनतक उपासना करनेपर भी] उसे इष्टदेवका दर्शन नहीं हुआ तो सातवें दिन अति उदास हो वह केदारतीर्थमें स्नान करनेसे भींगे हुए केशोंवाले अपने मस्तकको अपने ही खड्गसे काटनेको तैयार हुआ ॥१८॥ तब हमारे ही समान परम कारुणिक भगवान् शङ्कर अग्निकुण्डसे अग्निदेवके समान प्रकट हुए और अपनी भुजाओंसे उसकी दोनों बाहें पकड़कर शिर काटनेसे उसे रोका। भगवान् शङ्करका करस्पर्श होते ही वृकासुर फिर साङ्गोपाङ्ग पुष्ट और बलिष्ठ हो गया ॥ १९ ॥ तब श्रीमहादेवजीने उससे कहा—"हे प्रिय ! बस, अब बहुत हुआ। मैं तुझे वर देना चाहता हूँ, तुझे जो इच्छा हो सो वर माँग ले। मैं तो अपने शरणागत भक्तोंपर केवल जलमात्र अर्पण करनेसे प्रसन्न हो सकता हूँ, तू वृथा ही अपने शरीरको कष्ट दे रहा है" ॥२०॥

तब उस पापीने श्रीमहादेवजीसे यह सम्पूर्ण प्राणियोंको भय देनेवाला वर माँगा कि "मैं जिस-जिसके शिरपर अपना हाथ रख दूँ वही मर जाय" ॥२१॥ हे भारत ! यह सुनकर भगवान् रुद्रने कुछ अनमने हो सर्पको अमृत पिलानेके समान उससे हँसते हुए 'तथास्तु' कहकर वह वर दे दिया ॥२२॥

महादेवजीके 'तथास्तु' कहते ही वह असुर श्रीपार्वतीजीको हरनेकी इच्छासे और उस वरकी परीक्षा लेनेके लिये श्रीमहादेवजीके मस्तकपर ही अपना हाथ रखनेको उद्यत हुआ। तब शङ्करजीको अपने दिये हुए वरदानसे स्वयं ही अत्यन्त भय हुआ ॥२३॥ और उसके पीछे दौड़नेपर वे भयसे काँपते हुए स्वर्ग, पृथिवी और दिशाओंके अन्तपर्यन्त दौड़ते फिरे और फिर उत्तर दिशाकी ओर चले ॥२४॥ उस समय, उस संकटको दूर करनेका कोई उपाय न देख सब देवेश्वरगण चुप रह गये। अन्तमें, भगवान् शङ्कर अन्धकारसे परे निरन्तर प्रकाशमय वैकुण्ठधामको गये ॥२५॥ जहाँ शान्त और सबको अभय देनेवाले संन्यासियोंकी परमगति साक्षात् श्रीनारायण विराजमान रहते हैं तथा जिस स्थानपर पहुँचकर जीव फिर संसारसागरमें नहीं पड़ता ॥ २६ ॥

तं तथाव्यसनं दृष्ट्वा भगवान्वृजिनार्दनः ।
दूरात्प्रत्युदियाद्भूत्वा बटुको योगमायया ॥२७॥
मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वलन् ।
अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत् ॥२८॥

तब भयहारी भगवान् महादेवजीको वैसे संकटमें देख अपनी योगमायासे ब्रह्मचारीका रूप धारणकर दूरहीसे सम्मुख आने लगे ॥२७॥ वे मूँजकी मेखला, कृष्ण मृगचर्म, दण्ड तथा रुद्राक्षकी माला धारण किये थे और अपने तेजसे अग्निके समान देदीप्यमान एवं हाथमें कुशा लिये हुए थे, उन्होंने उस वृकासुरको विनीतके समान प्रणाम किया ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

शाकुनेय भवान्व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।
क्षणं विश्रम्यतां पुंस आत्मायं सर्वकामधुक् ॥२९॥
यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो ।
भण्यतां प्रायशः पुम्भिर्धृतैः स्वार्थान्समीहते ॥३०॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे शकुनिपुत्र ! तुम बड़े थके-से दीख पड़ते हो, किसलिये आज बहुत दूरतक चले आये हो ? अच्छा, कुछ देर विश्राम लो; देखो, मनुष्यका शरीर ही उसकी सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है ॥२९॥ हे समर्थ ! यदि तुम्हारा विचार हमारे सुनने योग्य हो तो कहो; क्योंकि संसारमें प्रायः सहायक पुरुषोंके द्वारा लोग अपना कार्य सिद्ध कर लेते हैं ॥३०॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा ।
गतक्लमोऽब्रवीत्तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥३१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—भगवान्के द्वारा इस प्रकार अमृतमय वचनोंसे पूछे जानेपर वृकासुरने श्रमहीन हो पहले जो कुछ किया था वह सब कह सुनाया ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ।
यो दक्षशापात्पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ॥३२॥
यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ ।
तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥३३॥
यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथञ्चिद्दानवर्षभ ।
तदैनं जह्यसद्वाचं न यद्वक्तानृतं पुनः ॥३४॥

श्रीभगवान्ने कहा—यदि यही बात है तो हमें तो महादेवजीकी बातका कोई विश्वास है नहीं, क्योंकि वे तो दक्षके शापसे पिशाचत्वको प्राप्त होकर भूत-प्रेतोंके ही अधीश्वर हो गये हैं ॥ ३२ ॥ हे दानवेन्द्र ! यदि तुम्हें जगद्गुरु श्रीशङ्करभगवान्के वाक्योंमें कुछ विश्वास है तो अभी अपने सिरपर हाथ रखकर परीक्षा कर लो ॥३३॥ हे दानवश्रेष्ठ ! यदि किसी भी प्रकार महादेवका वचन असत्य निकले तो तुम इस असत्य-वक्ता शङ्करको मार डालो, जिससे यह फिर कभी असत्य-भाषण न कर सके ॥ ३४ ॥

इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः ।
भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्न्यधात् ॥३५॥
अथापतद्भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात् ।
जयशब्दो नमःशब्दः साधुशब्दोऽभवद्दिवि ॥३६॥
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे ।

इस प्रकार भगवान्के विचित्र और कोमल वाक्योंसे बुद्धिभ्रम हो जानेके कारण उस कुबुद्धिने अपने सिरपर हाथ रक्खा ॥ ३५ ॥ ऐसा करते ही वह दैत्य तत्काल वज्राहतके समान शिर फट जानेसे गिर पड़ा । उस समय आकाशमें जयजयकार, नमस्कार और साधुवाद होने लगा ॥३६॥ पापी वृकासुरके मारे जाने-पर देव, ऋषि, पितृ और गन्धर्वगण फूलोंकी वर्षा

देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचितः सङ्कटाच्छिवः ॥३७॥
मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान्पुरुषोत्तमः ।
अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ॥३८॥
हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः ।
क्षेमी स्यात्किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ॥३९॥

करने लगे तथा महादेवजी भी सङ्कटमुक्त हो गये ॥३७॥ तब भगवान् पुरुषोत्तमने भयसे छूटे हुए महादेवजीसे कहा—"हे देवदेव महादेव ! यह दुष्ट अपने ही पापसे मारा गया है । महान् पुरुषोंका अपराध करनेवाला भला कौन जीव कुशलपूर्वक रह सकता है ? फिर साक्षात् जगद्गुरु विश्वेश्वरका ही अपराध करनेवालेके विषयमें तो कहना ही क्या है ?" ॥३८-३९॥

य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात्परमात्मनो हरेः ।
गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा
विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः ॥४०॥

जो मनुष्य मन और वाणी आदिकी विषय न होनेवाली शक्तियोंके समुद्र एवं प्रकृति आदिसे अतीत साक्षात् परमात्मा श्रीहरिके इस शम्भुमोचननामक चरित्रको कहता या सुनता है, वह संसारबन्धन और शत्रुओंके भयसे मुक्त हो जाता है ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे
रुद्रमोक्षणं नामाष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

नवासीवाँ अध्याय

भृगुकृत त्रिदेवपरीक्षा तथा भगवान्‌का महाकाल-पुरसे ब्राह्मणके मरे हुए बालकोंको लाना ।

श्रीशुक उवाच

सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत ।
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥ १ ॥
तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप ।
तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद्ब्रह्मणः सभाम् ॥२॥
न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।
तस्मै चुक्रोध भगवान्प्रज्वलन्स्वेन तेजसा ॥ ३ ॥
स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः ।
अशीशमद्यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणात्मभूः[1] ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार सरस्वती नदीके तटपर कुछ ऋषिगण यज्ञ कर रहे थे । उनमें इस विषयमें विचार चला कि ब्रह्मा, विष्णु और महादेव इन त्रिदेवोंमें सबसे बड़ा कौन है ? ॥ १ ॥ हे राजन् ! इस बातको जाननेके लिये उन्होंने ब्रह्माजीके पुत्र महर्षि भृगुको उनकी परीक्षा लेनेके लिये भेजा । तब भृगुजी पहले ब्रह्माजीकी सभामें गये ॥२॥ ब्रह्माजीके स्वभावकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने न तो उन्हें नमस्कार ही किया और न स्तुति ही की । तब भगवान् ब्रह्माजी अपने तेजसे प्रज्वलित हो उनपर अत्यन्त कुपित हुए ॥३॥ किन्तु अपने पुत्रके प्रति ही उत्पन्न हुए क्रोधको भगवान् ब्रह्माजीने अपने मनहीमें इस प्रकार शान्त कर दिया जैसे तेजस्तत्त्वसे ही उत्पन्न हुए जलसे अग्नि शान्त हो जाता है ॥४॥

[1] १. णा प्रभुः ।

ततः कैलासमगमत्स तं देवो महेश्वरः।
परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥ ५ ॥
नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह।
शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः ॥ ६ ॥

तदनन्तर वे कैलासको गये, तब अपने भाई महर्षि भृगुको आये देख श्रीमहादेवजी अति आनन्दित हो उठकर उन्हें आलिङ्गन करनेके लिये उद्यत हुए ॥५॥ किन्तु भृगुजीने 'तुम कुमार्गगामी हो [इसलिये मैं तुमसे मिलना नहीं चाहता]' ऐसा कहकर जब उनसे मिलनेकी अनिच्छा प्रगट की [अर्थात् उनका तिरस्कार किया] तो महादेवजीको बड़ा क्रोध हुआ और वे तीक्ष्ण दृष्टिसे देखते हुए त्रिशूल उठाकर उन्हें मारनेके लिये उद्यत हुए ॥६॥

पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा।
अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ॥ ७ ॥
शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताडयत्।
तत उत्थाय भगवान्सह लक्ष्म्या सतां गतिः ॥ ८ ॥
स्वतल्पादवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम्।
ओंह[1] ते स्वागतं ब्रह्मन्निषीदात्रासने क्षणम्।
अजानतामागतान्वः[2] क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ ९ ॥
अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने।
वज्रकर्कशमद्वक्षःस्पर्शेन परिपीडितौ।
इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन्स्वेन पाणिना ॥१०॥
पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्।
पादोदकेन भवतस्तार्थानां तीर्थकारिणा ॥११॥
अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम्।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥१२॥

तब देवी पार्वतीजीने उनके चरणोंपर गिरकर उन्हें प्रार्थनामयी वाणीसे शान्त किया। तदनन्तर भृगुजी वैकुण्ठधामको गये जहाँ श्रीविष्णुभगवान् रहते हैं ॥७॥ भगवान् लक्ष्मीजीकी गोदमें शिर रखकर लेटे हुए थे। भृगुजीने उनके वक्षःस्थलमें लात मारी। इससे साधुओंके एकमात्र गति श्रीहरि लक्ष्मीजीके सहित उठ बैठे और उन्होंने अपनी शय्यासे उतरकर मुनिवर भृगुको शिर झुकाकर प्रणाम किया और कहने लगे—"हे ब्रह्मन्! आपका स्वागत है। यहाँ एक क्षण आसनपर विराजिये। हमें आपके यहाँ पधारनेका कोई पता नहीं था; अतः हमारी धृष्टता क्षमा करें ॥८-९॥ हे महामुने! आपके चरणकमल अत्यन्त कोमल हैं और मेरा वक्षःस्थल वज्रके समान कठोर है, उसका स्पर्श होनेसे उनमें बहुत पीड़ा होती होगी" यों कहकर वे भृगुजीके चरणोंको अपने हाथसे दबाते हुए बोले—॥१०॥ "आपका चरणोदक तीर्थोंको भी पवित्र करनेवाला है, उससे आप वैकुण्ठलोकके सहित मुझे तथा मुझमें स्थित लोकपालोंको पवित्र कीजिये ॥११॥ भगवन्! आपके पादस्पर्शसे मेरे सब पाप नष्ट हो गये, अतः अब लक्ष्मीजी मेरे हृदयमें निरन्तर विराजमान रहेंगी। अब मैं लक्ष्मीजीका एकमात्र आश्रयस्थान हो गया हूँ" ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया[3] गिरा।
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ॥१३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान्‌के इस प्रकार गम्भीर वाणीसे कहनेपर भृगुजी अति आनन्दित और तृप्त हो मौन हो गये तथा भक्तिके उद्रेकसे उनका कण्ठ गद्गद हो गया और नेत्रोंमें जल भर आया ॥ १३ ॥

१. अहो। २. मागमनं क्षन्तु०। ३. गुरुस्तं सान्द्रया।

पुनश्च सत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
स्वानुभूतमशेषेण राजन्भृगुरवर्णयत् ॥१४॥
तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥१५॥
धर्मः साक्षाद्यतो ज्ञानं वैराग्यं च तदन्वितम् ।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद्यशश्चात्ममलापहम् ॥१६॥
मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।
अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ॥१७॥
सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः ।
भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥१८॥
त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः ।
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ॥१९॥

श्रीशुक[1] उवाच

एवं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये ।
पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ॥२०॥

सूत उवाच

इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगन्ध-
पीयूषं भवभयभित्परस्य पुंसः ।
सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं
पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥२१॥

श्रीशुक उवाच

एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।
जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥२२॥
विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ।
इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥२३॥

हे राजन् ! तदनन्तर उन्होंने पुनः यज्ञभूमिमें आकर वेदवादी मुनीश्वरगणके सामने अपना सारा अनुभव कह सुनाया ॥१४॥ वह सब वृत्तान्त सुनकर मुनीश्वरोंको अति विस्मय हुआ और उनका सन्देह दूर हो गया। तबसे वे उन सर्वश्रेष्ठ विष्णुभगवान्में ही विशेष श्रद्धा रखने लगे; जो शान्ति और अभयके उद्गमस्थान हैं ॥१५॥ जिनसे साक्षात् धर्म, आत्मज्ञान, उससे युक्त वैराग्य, आठ प्रकारकी सिद्धियाँ तथा चित्तकी मलिनताको दूर करनेवाला सुयश प्राप्त होता है ॥१६॥ जिन्हें शान्त, समचित्त, अकिञ्चन और सबको अभय देनेवाले साधुजनोंकी एकमात्र परम गति बतलाया गया है ॥१७॥ सत्त्व ही जिनकी प्रिय मूर्ति है, ब्राह्मण इष्टदेव हैं तथा निष्काम, शान्त और निपुण-बुद्धि पुरुष जिनका भजन करते हैं ॥१८॥ उनकी तीन मूर्तियाँ हैं राक्षस, असुर और देवगण। ये तीनों उनकी गुणमयी मायासे रची हुई हैं, इनमें सत्त्वमयी देवमूर्ति ही परमपुरुषार्थरूप उनकी प्राप्तिका साधन है ॥१९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! मनुष्योंका संशय दूर करनेके लिये सरस्वतीतीरनिवासी ब्राह्मणोंने ऐसा निर्णय कर परमपुरुष भगवान् विष्णुकी चरण-सेवा कर उनका परमपद प्राप्त किया ॥२०॥

श्रीसूतजी बोले—हे मुनिगण ! इस प्रकार व्यास-तनय श्रीशुकदेवजीके मुखकमलसे चुई हुई इस संसार-भयको दूर करनेवाले परमपुरुष श्रीहरिकी सुगन्धित सुयशसुधाका जो संसारपथका पथिक अपने श्रवण-पुटसे निरन्तर पान करता है वह संसारभ्रमणजनित श्रमसे मुक्त हो जाता है ॥२१॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे भारत ! कहते हैं एक बार द्वारकापुरीमें किसी ब्राह्मणकी स्त्रीका पुत्र जन्मकर पृथ्वीका स्पर्श होते ही मर गया ॥२२॥ तब उस ब्राह्मणने उस बालकके शवको ले जाकर राजा उग्रसेनके द्वारपर डाल दिया और अत्यन्त दीन हृदयसे आतुरतापूर्वक विलाप करते हुए इस प्रकार कहा—॥२३॥

१. बादरायणिरुवाच ।

ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।
क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात्पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ॥२४॥
हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥२५॥
एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च ।
विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥२६॥
तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित्केशवान्तिके ।
परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥२७॥
किंस्विद्ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः ।
राजन्यबन्धुरेते वै ब्राह्मणाः सत्रमासते ॥२८॥
धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।
ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥२९॥
अहं प्रजां वां भगवन्रक्षिष्ये दीनयोरिह ।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥३०॥

ब्राह्मण उवाच

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥३१॥
तत्कथं नु भवान्कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ।
चिकीर्षसि त्वं बालिश्यात्तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥३२॥

अर्जुन उवाच

नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन्न कृष्णः कार्ष्णिरेव च ।
अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥३३॥
मावमंस्था मम ब्रह्मन्वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम् ।
मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभो ॥३४॥
एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परंतप ।
जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥३५॥

"इस विप्रद्रोही, दुष्टबुद्धि, कृपण और विषयलोलुप क्षत्रियाधमके कर्मदोषसे ही मेरे बालककी मृत्यु हुई है ॥२४॥ जो प्रजा हिंसापरायण, दुःशील और अजितेन्द्रिय राजाका सेवन करती है वह दरिद्र और नित्य दुःखिता रहकर नाना प्रकारके क्लेश उठाती है" ॥२५॥ हे राजन् ! इसी प्रकार उस ब्राह्मणश्रेष्ठने अपने दूसरे और तीसरे बालकके भी जन्मते ही मरनेपर उन्हें राजद्वारपर डालकर यही बात कही ॥ २६ ॥ किसी समय जब उसका नवाँ बालक भी मर गया तो उसकी वही पुरानी गाथा सुन भगवान् कृष्णके पास बैठे हुए अर्जुनने उस ब्राह्मणसे कहा ॥२७॥ "हे ब्रह्मन् ! क्या आपके निवासस्थान इस द्वारकापुरीमें कोई धनुर्धर क्षत्रिय नहीं है ? क्या ये यादवगण यज्ञमें सम्मिलित हुए ब्राह्मण हैं ? ॥२८॥ जिनके राज्यमें ब्राह्मणगण धन, स्त्री और पुत्रादिसे वियुक्त होकर शोक करते हैं वे राजालोग क्षत्रियके वेषसे अपने प्राणोंका पोषण करनेवाले नटोंके समान ही जी रहे हैं ॥२९॥ हे भगवन् ! पुत्रवियोगसे अत्यन्त कातर आप दोनों स्त्री-पुरुषकी सन्तानका रक्षण मैं करूँगा और यदि इस प्रतिज्ञाको पूरी नहीं कर सकूँगा तो अग्निमें प्रवेश करके पापरहित हो जाऊँगा ॥३०॥

ब्राह्मणने कहा—हे अर्जुन ! श्रीबलरामजी, भगवान् कृष्ण, धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्न और जिनके समान और कोई भी रथी नहीं है वे अनिरुद्धजी भी यदि उनकी रक्षा नहीं कर पाते तो जगदीश्वरोंसे भी न हो सकनेवाले इस कर्मको तुम कैसे करना चाहते हो ? मुझे तुम्हारी बातें मूर्खोंकी-सी मालूम होती हैं, इससे मुझे इनपर विश्वास नहीं होता ॥३१-३२॥

अर्जुन बोले—हे ब्रह्मन् ! मैं बलराम या कृष्ण अथवा कृष्णपुत्र प्रद्युम्न नहीं हूँ । मेरा नाम 'अर्जुन' है जिसका [विश्वविख्यात] गाण्डीवनामक धनुष है ॥३३॥ हे विप्र ! श्रीमहादेवजीको भी सन्तुष्ट करनेवाले मेरे पराक्रमकी तुम अवज्ञा मत करो । हे प्रभो ! मैं युद्धमें मृत्युको भी परास्त करके तुम्हारे बालकोंको ले आऊँगा ॥३४॥

हे शत्रुदमन ! अर्जुनद्वारा इस प्रकार विश्वास दिलाये जानेपर वह ब्राह्मण अति प्रसन्न हो लोगोंसे अर्जुनके पुरुषार्थका वर्णन करता हुआ अपने घर चला गया ॥३५॥

प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः ।
पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥३६॥
स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य सज्यं गाण्डीवमाददे॥३७॥
न्यरुणत्सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः ।
तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ॥३८॥
ततः कुमारः संजातो विप्रपत्न्या रुदन्मुहुः ।
सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥३९॥
तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन्कृष्णसन्निधौ ।
मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ॥४०॥
न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।
यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेश्वरः ॥४१॥
धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।
दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ॥४२॥

जिस समय उसकी स्त्रीका प्रसवकाल उपस्थित हुआ उस समय उसने अति आतुर हो अर्जुनसे इस प्रकार कहा—"अर्जुन ! मेरी सन्तानको मृत्युके मुखसे बचाओ, बचाओ" ॥ ३६ ॥ तब अर्जुनने पवित्र जलसे आचमन कर श्रीमहादेवजीको नमस्कार किया और अपने दिव्यास्त्रोंको स्मरण कर प्रत्यञ्चा चढ़े हुए गाण्डीव-धनुषको हाथमें ले लिया ॥३७॥ और नाना प्रकारके अस्त्रमन्त्रोंसे युक्त बाणोंद्वारा उस सूतिकागृहको सब ओरसे ढँक दिया । इस प्रकार अर्जुनने इधर-उधर और ऊपर-नीचे मानों बाणोंका पिंजड़ा बना दिया ॥३८॥ तदनन्तर ब्राह्मणीके गर्भसे बालक उत्पन्न हुआ किन्तु वह बार-बार रोता हुआ तत्काल शरीरसहित आकाशमें अन्तर्द्धान हो गया ॥३९॥ तब उस ब्राह्मणने भगवान् कृष्णके पास [जाकर] अर्जुनकी निन्दा करते हुए कहा—"अहो ! मेरी मूर्खता तो देखो, जो मैंने इस नपुंसकके आत्म-प्रशंसायुक्त वचनोंमें विश्वास कर लिया ॥४०॥ जिसकी रक्षा प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, बलराम और कृष्ण आदि कोई भी नहीं कर सके उसे बचानेमें और कौन समर्थ हो सकता है ? ॥४१॥ जो दुर्बुद्धि दैवद्वारा अन्यत्र ले जाये गये बालकोंको मूर्खतावश फिर लौटा लाना चाहता है उस मिथ्यावादी अर्जुनको और उस अपने मुखसे ही अपनी प्रशंसा करनेवालेके गाण्डीवधनुषको धिक्कार है ! ॥४२॥

एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः ।
ययौ संयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान्यमः ॥४३॥
विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीम् ।
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ।
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ॥४४॥
ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः ।
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता[2] ॥४५॥

उस ब्राह्मणश्रेष्ठके इस प्रकार भला-बुरा कहनेपर अर्जुन योगबलसे संयमनीपुरीको गये जहाँ भगवान् यम रहते हैं ॥४३॥ वहाँ ब्राह्मणके बालकको न देखकर फिर वे हाथमें शस्त्र लिये इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, सोम, वायु और वरुण आदिकी पुरियोंको, अतलादि नीचेके लोकोंको तथा स्वर्गसे ऊपर महर्लोकादिको एवं अन्यान्य स्थानोंको गये ॥४४॥ अन्तमें ब्राह्मणके बालकको न पाकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न होनेके कारण उन्होंने अग्निमें प्रवेश करनेका विचार किया; तब भगवान् कृष्णने उन्हें ऐसा करनेसे मना करते हुए रोक लिया ॥४५॥

१. व्यास्त्राणि च संस्मृ० । २. षेधितः ।

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना ।
एते हि कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति॥४६॥

भगवान्ने कहा—"मैं तुम्हें ब्राह्मणके बालकोंको दिखाऊँगा, तुम इस प्रकार अपने आप ही अपनी अवज्ञा मत करो; ये सब लोग [जो तुम्हारी निन्दा कर रहे हैं] हमलोगोंकी विमल कीर्तिको स्थापित करेंगे" ॥४६॥

इति संभाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः ।
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥४७॥
सप्तद्वीपान् सप्तसिन्धून् सप्तसप्तगिरीनथ ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥४८॥
तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः ।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ॥४९॥
तान्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।
सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः ॥५०॥
तमः सुघोरं गहनं कृतं मह-
द्विदारयद्भूरितरेण रोचिषा ।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं
गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥५१॥
द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः-
परं[1] परं ज्योतिरनन्तपारम् ।
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः
प्रताडिताक्षो पिदधेऽक्षिणी उभे ॥५२॥
ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता
बलीयसैजद्बृहदूर्मिभूषणम्[2] ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं
भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥५३॥
तस्मिन्महाभीममनन्तमद्भुतं
सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः[3] ।
विभ्राजमानं द्विगुणोल्बणेक्षणं
सिताचलाभं शितिकण्ठ[4]जिह्वम् ॥५४॥
ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं
महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं
प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥५५॥

सर्वसमर्थ भगवान् कृष्ण अर्जुनसे इस प्रकार सम्भाषण कर उनके साथ अपने दिव्य रथपर आरूढ हो पश्चिम दिशाको चले ॥४७॥ उन्होंने सात-सात पर्वतोंवाले सात द्वीप, सात समुद्र और लोकालोक-पर्वतको लाँघकर महान् अन्धकारमें प्रवेश किया ॥४८॥ हे भरतश्रेष्ठ ! उस घोर अन्धकारमें उनके शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहकनामक घोड़े इधर-उधर भटकने लगे ॥४९॥ उन्हें उस अवस्थामें देखकर योगेश्वरोंके भी महान् ईश्वर भगवान् कृष्णने अपना सहस्र सूर्योंके समान देदीप्यमान सुदर्शनचक्र आगे-आगे कर दिया ॥५०॥ अपने अत्यधिक तेजसे उस घोर घने एवं महान् अन्धकारको विदीर्ण करता हुआ वह सुदर्शनचक्र मनके सदृश अति तीव्र गतिसे इस प्रकार अन्धकारमें प्रविष्ट हुआ जैसे धनुषकी डोरीसे छूटा हुआ रामबाण शत्रुसेनामें प्रविष्ट हुआ था ॥५१॥ चक्रद्वारा दिखाये हुए मार्गसे जाते हुए अर्जुनने अन्धकारके उस पार अति उत्तम और अनन्तपार व्यापक परम ज्योति देखकर अपनी चौंधियायी हुई दोनों आँखोंको मूँद लिया ॥५२॥ फिर उन्होंने प्रबल प्रभञ्जनसे कम्पायमान बड़ी-बड़ी तरङ्गोंवाले जलमें प्रवेश किया। वहाँ सहस्रों द्युतिमान् मणिमय स्तम्भोंसे सुशोभित और अतिशय देदीप्यमान एक अद्भुत भवन था ॥५३॥ उस भवनमें अति भयानक और आश्चर्यजनक, अपने सहस्र मस्तकोंकी मणियोंकी कान्तिसे शोभायमान, उनसे द्विगुण (दोसहस्र) उग्र नेत्रोंसे युक्त, कैलासपर्वतके सदृश श्वेतवर्ण, श्यामकण्ठ और काली जिह्वावाले शेषजी विराजमान थे ॥५४॥ अर्जुनने देखा कि उनके शरीरकी सुखमयी शय्यापर सर्वव्यापक महान् प्रभावशाली परम पुरुषोत्तम भगवान् विराजमान हैं, उनके शरीरकी कान्ति स्निग्ध मेघके समान है, उन्होंने मनोहर पीताम्बर धारण किया है तथा उनका मुखकमल सुप्रसन्न तथा नेत्र अति सुन्दर और विशाल हैं ॥५५॥

१. परात्परं । २. भीषणं । ३. द्युतिं । ४. ण्ठभूषणं ।

महामणिव्रातकिरीटकुण्डल-
प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं
श्रीवत्सलक्ष्म्या वनमालयावृतम् ॥५६॥
सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदै-
श्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाखिलर्धिभि-
र्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥५७॥

महामूल्य मणिसमूहसे सुशोभित उनके मुकुट और कुण्डलोंकी कान्तिसे उनकी असंख्य घुँघराली अलकावली चमक रही है; उनके आठ लम्बी-लम्बी सुन्दर भुजाएँ हैं तथा उनका वक्षःस्थल कौस्तुभमणि, श्रीवत्सकी शोभा और वनमालासे आवृत है ॥५६॥ और वे ब्रह्मादि लोकपालोंके अधीश्वर नन्द-सुनन्दादि अपने पार्षदों, मूर्तिमान् चक्रादि आयुधों तथा पुष्टि, श्री, कीर्ति और अजा—इन चार शक्तियों तथा सम्पूर्ण ऋद्धियोंसे सेवित हैं ॥५७॥

ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो[1]
जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभु-
र्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्जया गिरा ॥५८॥

तब भगवान् कृष्णने उन अपने ही स्वरूप श्रीअनन्त भगवान्को प्रणाम किया और उनके दर्शनसे भयान्वित हुए अर्जुनने भी उन्हें नमस्कार किया। इस प्रकार हाथ जोड़े खड़े हुए उन कृष्ण और अर्जुनसे ब्रह्मादि लोकपालोंके प्रभु सर्वव्यापक श्रीपुरुषोत्तम भगवान्ने मुसकाकर गम्भीर वाणीसे कहा ॥ ५८ ॥ मैंने तुम दोनोंको देखनेके लिये ही ब्राह्मणके बालकोंका हरण किया था। तुम दोनोंने धर्मकी रक्षाके लिये मेरी कलाओंसे पृथ्वीपर अवतार लिया है। अब तुम पृथ्वीके भारभूत असुर राजाओंका वध करके फिर मेरे ही पास शीघ्र आ जाओ ॥ ५९ ॥ तुम दोनों ऋषिवर नर और नारायण हो। यद्यपि तुम पूर्णकाम और परम श्रेष्ठ हो, तो भी जगत्की स्थिति और लोकसंग्रहके लिये धर्मका आचरण करो ॥ ६० ॥

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा
मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरा-
न्हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे[2] ॥५९॥
पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी ।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसंग्रहम् ॥६०॥
इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना[3] ।
ओमित्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान् ॥६१॥
न्यवर्ततां स्वकं धाम संप्रहृष्टौ यथागतम् ।
विप्राय ददतुः पुत्रान्यथारूपं यथावयः ॥६२॥
निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।
यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥६३॥
इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।
बुभुजे विषयान्ग्राम्यानीजे चात्यूर्जितैर्मखैः[4] ॥६४॥

भगवान् जगद्गुरुके इस प्रकार आज्ञा देनेपर वे श्रीकृष्ण और अर्जुन 'बहुत अच्छा' कह उन भूमा भगवान्को प्रणाम कर ब्राह्मणके बालकोंको ले अति आनन्द-पूर्वक जिस मार्गसे गये थे उसीसे फिर अपनी पुरीको लौट आये, तथा उस ब्राह्मणको उसके यथोचित वय और रूपसे युक्त बालक सौंप दिये ॥ ६१-६२ ॥ भगवान् विष्णुके उस परमधामको देखकर अर्जुनको अत्यन्त विस्मय हुआ और उन्होंने यह समझा कि मनुष्योंमें जो कुछ पुरुषार्थ है वह सब भगवान् कृष्णकी ही कृपाका फल है ॥ ६३ ॥ हे राजन्! इसी प्रकार नाना प्रकारके पौरुष दिखाते हुए भगवान् कृष्णने सम्पूर्ण ग्राम्य-विषयोंका भोग किया और बहुत-से यज्ञोंका भी अनुष्ठान किया ॥ ६४ ॥

१. जं तमच्युतं । २. स चाहं भूम्नां पर० । ३. नौ । ४. तथा प्रभू ।

प्रववर्षाखिलान्कामान्प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।
यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवाञ्छ्रैष्ठ्यमास्थितः ॥६५॥
हत्वा नृपानधर्मिष्ठान्घातयित्वार्जुनादिभिः ।
अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥६६॥

उन्होंने इन्द्रके समान श्रेष्ठता प्राप्त कर ब्राह्मणादि चारों वर्णोंकी सम्पूर्ण कामनाओंको यथासमय पूर्ण किया ॥ ६५ ॥ तथा अधार्मिक राजाओंको स्वयं मारकर एवं अर्जुनादिसे मरवाकर युधिष्ठिरादि धार्मिक राजाओं-से अनायास ही धर्मकी स्थापना करा दी ॥ ६६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे[1]
द्विजकुमारानयनं नाम एकोननवति-
तमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

नब्बेवाँ अध्याय

भगवान् कृष्णके लीलाविहारका संक्षिप्त वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

सुखं स्वपुर्यां निवसन्द्वारकायां श्रियः पतिः ।
सर्वसंपत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥ १ ॥
स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः ।
कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः ॥ २ ॥
नित्यं संकुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः ।
स्वलङ्कृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ॥ ३ ॥
उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ।
निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥ ४ ॥
रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः ।
तावद्विचित्ररूपोऽसौ तद्गृहेषु महर्द्धिषु ॥ ५ ॥
प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लारकुमुदाम्भोजरेणुभिः ।
वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु च ॥ ६ ॥
विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः ।
कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम् ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जिसकी सड़कें मद चूते हुए हाथी, वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित शूरवीर, सजे हुए घोड़े और सुवर्णसे देदीप्यमान रथोंसे नित्य खचाखच भरी रहती थीं, जिसमें सब ओर बाग-बगीचोंकी भरमार थी, जहाँ खिले हुए पादपसमूहों-पर बैठते हुए भ्रमरगण और पक्षियोंके कलरवसे सब ओर कोलाहल हो रहा था जो सब प्रकारकी सम्पदाओंसे पूर्ण थी, जिसमें उत्तम यदुवंशियोंका निवास था तथा अपने-अपने मन्दिरोंमें कन्दुकादिसे खेलती हुई विद्युत्के समान द्युतिमती, नवयौवनकी कान्तिसे सुशोभित और मनोहर वेषवाली कामिनियाँ जिसका सेवन करती थीं उस अपनी द्वारकापुरीमें सुखपूर्वक निवास करते हुए सोलहसहस्र पत्नियोंके एकमात्र पति लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण परमऐश्वर्यसे सम्पन्न उन-उन रानियोंके महलोंमें उतने ही विचित्र रूप धारणकर उनके साथ रमण किया करते थे ॥१–५॥ उन गृहोंमें खिले हुए नील पद्म, कह्लार, कुमुद और कमलके परागसे सुगन्धित जलाशय थे तथा उनमें विहङ्गमवृन्द कूज रहे थे । महान् ऐश्वर्यसम्पन्न श्रीहरि बावलियोंमें जलके आलोडन-पूर्वक अपनी प्रियाओंसे आलिङ्गित हो उनके कुचकुङ्कुमसे अपने शरीरको अनुलिप्त करते हुए क्रीडा करते थे ॥६-७॥

१. न्ये द्विजकुमाराहरणं ।

उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदङ्गपणवानकान् ।
वादयद्भिर्मुदा वीणां सूतमागधवन्दिभिः ॥ ८ ॥

उस समय गन्धर्वगण मृदङ्ग, पणव और आनक बाजे बजाकर उनका यशोगान करने लगते थे तथा सूत, मागध और बन्दीजन वीणा आदि बजाकर प्रसन्नतापूर्वक स्तुतिगान करते थे ॥ ८ ॥

सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स्म रेचकैः ।
प्रतिसिञ्चन्विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव ॥ ९ ॥

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः
सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः ।
कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगुह्य
जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुः ॥१०॥

कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्
क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः ।
सिञ्चन्मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो
रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ॥११॥

नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम् ।
क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः ॥१२॥

कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः ।
नर्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः ॥१३॥

ऊचुर्मुकुन्दैकधियो गिर उन्मत्तवज्जडम् ।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥१४॥

किसी समय भगवान्‌की रानियाँ हँसती-हँसती उन्हें पिचकारियोंसे भिगो देतीं। तब वे भी उन्हें भिगोते हुए इस प्रकार क्रीडा करने लगते जैसे यक्षिणियोंके साथ यक्षराज (कुबेर) ॥ ९ ॥ उस समय, वस्त्र भीग जानेके कारण जिनके कुच और ऊरुभाग दीखने लगे हैं तथा जिनके बृहत् केशपाशमें गुथे हुए फूल बिखर गये हैं वे कृष्णप्रियाएँ जब अपने प्रियतमको भिगोती हुई उनकी पिचकारी छीननेके लिये जातीं तो उनसे आलिङ्गन करनेके कारण उनके मुखकमल कामोद्दीपनकी सूचना देनेवाली मुसकानसे खिल उठते थे और उस समय वे अत्यन्त सुशोभित होती थीं ॥१०॥ इस प्रकार अपनी प्रियाओंके कुचकुङ्कुमसे जिनकी वनमाला अनुलिप्त हो गयी है, तथा क्रीडामें आसक्त होनेके कारण जिनकी खुली हुई घुँघराली अलकें हिल रही हैं, वे कृष्णचन्द्र भी उन युवतियोंको बारम्बार भिगोते और उनसे स्वयं भिगोये जाते हुए उनके साथ इस प्रकार विहार करते जैसे हथिनियोंके साथ उनसे घिरा हुआ गजराज ॥११॥ इस प्रकार क्रीडा कर चुकनेपर भगवान् कृष्ण और उनकी पत्नियाँ क्रीडाके लिये ही धारण किये अपने वस्त्र और अलङ्कारोंको जिनकी आजीविका केवल गाना-बजाना ही है, उन नट और नटियोंको दे डालते थे ॥ १२ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार विहार करते हुए भगवान् कृष्णकी गति, बोली, चितवन, मुसकान, परिहासोक्ति, विलास और विविध आलिङ्गनादिसे उन कामिनियोंकी मति हरी गयी ॥ १३ ॥ उन कृष्णप्राणा रानियोंने कमलनयन भगवान् कृष्णका ही चिन्तन करते हुए जड और उन्मत्तके समान जो शब्द कहे थे, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ, श्रवण करो ॥ १४ ॥

महिष्य ऊचुः

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः ।

रानियाँ बोलीं—अरी टिटिहरी ! इस रात्रिके समय जब कि गुप्तबोध भगवान् कृष्ण सोये हुए हैं तू क्यों नहीं सो जाती ? क्या तुझे नींद नहीं रही जो

१. वादिभिः । २. केलि० । ३. स्त्रिय ऊचुः ।

वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्भिन्नचेता
नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥१५॥
नेत्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धु-
स्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि ।
दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां
किं वा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम् ॥१६॥
भो भोः सदा निष्टनसे उदन्व-
न्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।
किं वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः
प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम् ॥१७॥
त्वं यक्ष्मणा बलवतासि गृहीत इन्दो
क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि ।
कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं
विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः ॥१८॥
किन्त्वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम् ।
गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ॥१९॥
मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं
श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान्ध्यायति प्रेमबद्धः ।
अत्युत्कण्ठः शबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः
स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः ॥२०॥
प्रियरावपदानि भाषसेऽमृत-
सञ्जीविकयानया गिरा ।
करवाणि किमद्य ते प्रियं
वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल ॥२१॥
न चलसि न वदस्युदारबुद्धे
क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।
अपि बत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिं
वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् ॥२२॥

इस प्रकार विलाप कर रही है ? हे सखि ! हमारे समान क्या तेरा हृदय भी कमलनयन भगवान् कृष्णके लीला-हास्यमय कटाक्षबाणसे अत्यन्त बिँध गया है ! ॥ १५ ॥ अरी चकवी ! तूने रात्रिके समय अपने नेत्र क्यों मूँद लिये हैं ? क्या अपने पतिको न देख पानेके कारण ही तू ऐसे करुणस्वरसे पुकार रही है ? क्या तू भी हमारे समान ही भगवान् कृष्णके दास्यभावको प्राप्त होकर उनके चरणकमलोंपर चढ़ायी हुई पुष्पमालाको अपने जूरेमें धारण करना चाहती है ? ॥ १६ ॥ हे समुद्र ! तुम सदा ही गर्जते रहते हो, तुम्हें नींद नहीं आती है ? क्या तुम्हें निरन्तर जागते रहनेका रोग लग गया है ! अथवा क्या भगवान् कृष्णने तुम्हारे कौस्तुभमणि आदि चिह्नोंको हर लिया है इसीसे तो तुम्हें हमलोगोंकी-सी यह दुस्तर अवस्था प्राप्त नहीं हुई ? ॥ १७ ॥ हे चन्द्र ! तुम अति दारुण क्षयरोगसे ग्रस्त हो, क्या इसीलिये अपनी किरणोंसे अन्धकारका नाश नहीं करते ? अथवा क्या हमारे समान ही श्रीकृष्णचन्द्रके रहस्य-भाषणोंको भूलकर उन्हींकी चिन्तासे क्षीण होकर तुम हमें मौन दीख पड़ते हो ? ॥ १८ ॥ हे मलयमारुत ! हमने तुम्हारा ऐसा क्या अप्रिय किया है जो तुम श्रीगोविन्दके कटाक्षबाणोंसे बिंधे हुए हमारे हृदयोंमें कामोद्वेगका सञ्चार करते हो ॥ १९ ॥ हे श्रीमन् मेघ ! तुम अवश्य ही श्रीयदुनाथके प्यारे हो । तुम भी हमारे ही समान उनके प्रेमपाशमें बँधकर उन श्रीवत्सलाञ्छन श्यामसुन्दरका ध्यान करते हो और हमारे ही समान अत्यन्त उत्कण्ठित तथा चिन्तासे मलिनहृदय हो बारम्बार उनका स्मरण करके आँसुओंकी धाराएँ बहाते हो ? सच है, उनका सम्बन्ध बारम्बार दुःख देनेवाला है ॥ २० ॥ हे कमनीयकण्ठ कोयल ! तू अपनी अमृत-सञ्जीविनी वाणीसे प्रियभाषी कृष्णचन्द्रके समान सुमधुर वचन बोल रही है । बता, अब हम तेरा क्या प्रिय करें ? ॥ २१ ॥ हे उदारबुद्धि भूधर ! तुम न डोलते हो, न बोलते हो, माल्रम होता है तुम किसी गहन विचारमें निमग्न हो । क्या हमारे समान तुम भी अपने [शिखररूप] स्तनोंपर वसुदेवनन्दन श्रीहरिके चरणकमल धारण करना चाहते हो ? ॥ २२ ॥

शुष्यद्ध्रदाः करशिता बत सिन्धुपत्न्यः
सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय इष्टभर्तुः ।
यद्वद्वयं मधुपतेः प्रणयावलोक-
मप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म॥२३॥

हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा।
किं वा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं
क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम् ॥

इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ॥२५॥
श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः ॥२६॥
याः सम्पर्यचरन्प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः ।
जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ॥२७॥
एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन्सतां गतिः ।
गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत्पदम् ॥२८॥
आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम् ।
आसन्षोडशसाहस्रं महिष्यश्च शताधिकम् ॥२९॥

हे समुद्रपत्नी नदियो ! इस ग्रीष्म ऋतुमें तुम्हारे कुण्ड सूख गये हैं और तुम्हारी पङ्कजश्री नष्ट हो गयी है; इस समय तुम बहुत ही कृश दीख पड़ती हो । मालूम होता है, जिस प्रकार अपने प्रियतम पति श्रीमाधवके प्रणयकटाक्षको न पाकर हृदय हर जानेसे हम अत्यन्त दीन-दुर्बल हो रही हैं उसी प्रकार तुम भी मेघद्वारा अपने प्रियतम समुद्रका जल न पानेसे ऐसी क्षीण हो गयी हो ॥ २३ ॥ हे हंस ! तुम्हारा स्वागत है, आओ, यहाँ बैठो और कुछ दुग्धपान करो । हे प्रिय ! हम समझती हैं तुम श्रीकृष्णचन्द्रके दूत हो; अच्छा, उनकी बातें तो सुनाओ, कहो, किसीके वश न होनेवाले वे प्रियतम कुशलसे तो हैं ? वे अस्थिरसौहार्द कृष्णचन्द्र क्या कभी पूर्वमें हमलोगोंसे कही हुई रहस्यकी बातें याद करते हैं ? जब वे ही हमारी कुछ परवा नहीं करते तो हम ही उन्हें क्यों भजें ? हे क्षुद्रके दूत ! जो हमलोगोंको वञ्चित कर अकेली उनके साथ रमण करती है उस लक्ष्मीको वहीं छोड़कर केवल उन काम-प्रद कृष्णको यहाँ बुलाओ । [यदि कहो कि वह तो उन्हें अनन्यभावसे भजनेवाली हैं तो] क्या सब स्त्रियोंमें एकमात्र वे ही अनन्यनिष्ठा हैं, हममेंसे कोई भी नहीं है ? ॥२४॥

हे राजन् ! इस प्रकार सर्वयोगेश्वरेश्वर भगवान् कृष्णमें किये जानेवाले ऐसे अनन्य प्रेमभावसे उन कृष्णप्रियाओंने परम पद प्राप्त किया ॥ २५ ॥ नाना प्रकारसे गान किया हुआ भगवान् कृष्णका सुयश [ऐसा मोहक है कि वह] श्रवण किये जाते ही बलात्कारसे स्त्रियोंका चित्त अपनी ओर खींच लेता है; फिर जिन्होंने उनका साक्षात् दर्शन किया उनका तो कहना ही क्या है ? ॥ २६ ॥ जिन बड़भागिनियोंने पति-बुद्धिसे जगद्गुरु भगवान् कृष्णकी चरण दबाने आदि प्रकारोंसे प्रेमपूर्वक सेवा की उनकी तपस्याका वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है ? ॥ २७ ॥

सत्पुरुषोंकी एकमात्र गति भगवान् कृष्णने वेदोक्त धर्मका इस प्रकार बारम्बार आचरण करते हुए यह दिखला दिया कि घर ही धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्तिका स्थान है ॥ २८ ॥ गृहस्थोंके परम धर्मका आचरण करनेवाले भगवान् कृष्णके सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ थीं ॥ २९ ॥

तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः ।
रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः ॥३०॥
एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् ।
यावत्य आत्मनो भार्या अमोघगतिरीश्वरः ॥३१॥
तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः ।
आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु ॥३२॥
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च दीप्तिमान्भानुरेव च ।
साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः ॥३३॥
पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः ।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ॥३४॥
एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः ।
प्रद्युम्न आसीत्प्रथमः पितृवद्रुक्मिणीसुतः ॥३५॥
स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।
तस्मात्सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागायुतबलान्वितः ॥३६॥
स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ।
वज्रस्तस्याभवद्यस्तु मौसलादवशेषितः ॥३७॥
प्रतिबाहुरभूत्तस्मात्सुबाहुस्तस्य चात्मजः ।
सुबाहोः शान्तसेनोऽभूच्छतसेनस्तु तत्सुतः ॥३८॥
न ह्येतस्मिन्कुले जाता अधना अबहुप्रजाः ।
अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे ॥३९॥
यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम् ।
संख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप ॥४०॥
तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च ।
आसन्यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम् ॥४१॥
संख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् ।
यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः ॥४२॥
देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः ।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥४३॥

हे राजन् ! उन स्त्रीरत्नोंमें जिन रुक्मिणी आदि आठ पटरानियोंका तथा उनके पुत्रोंका पहले क्रमशः वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त और भी भगवान् कृष्णकी जितनी स्त्रियाँ थीं उन सबमेंसे प्रत्येकके सत्यसङ्कल्प भगवान् कृष्णने दश-दश पुत्र उत्पन्न किये थे ॥ ३०-३१ ॥ हे राजन् ! उन महापराक्रमी कृष्णपुत्रोंमें अठारह महारथी और बड़े उदार यशस्वी थे । उनके नाम मैं बतलाता हूँ, श्रवण करो—॥ ३२ ॥ वे प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, दीप्तिमान्, भानु, साम्ब, मधु, बृहद्भानु, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, वेदबाहु, श्रुतदेव, सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि और न्यग्रोध थे ॥ ३३-३४ ॥ हे राजन् ! भगवान् मधुसूदनके इन सब पुत्रोंमें भी रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नजी ही सर्वश्रेष्ठ और अपने पिताके समान थे ॥ ३५ ॥ महारथी प्रद्युम्नजीने रुक्मीकी कन्यासे विवाह किया था; उससे उनके दश सहस्र हाथियोंके समान बलवान् अनिरुद्धनामक पुत्र हुआ ॥ ३६ ॥ उन रुक्मीके दौहित्र अनिरुद्धजीने अपने नानाकी पोतीसे विवाह किया । उससे उनके वज्रका जन्म हुआ जो कि [विप्रके शापसे यदुकुलका क्षय करनेवाले] मुसलसे अकेले ही बचे थे ॥ ३७ ॥ वज्रसे प्रतिबाहुका जन्म हुआ, उसके सुबाहु, सुबाहुके शान्तसेन और शान्तसेनके शतसेन-नामक पुत्र हुआ ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! इस कुलमें कोई पुरुष धनहीन, अल्पसन्तान, अल्पायु, अल्पवीर्य अथवा ब्राह्मणोंकी भक्तिसे शून्य नहीं हुआ ॥ ३९ ॥ हे नृप ! यदुवंशमें उत्पन्न हुए प्रसिद्ध पराक्रमी पुरुषों-की संख्या कोई दश सहस्र वर्षमें भी नहीं कर सकता ॥ ४० ॥ सुना जाता है कि यदुकुलमें उत्पन्न हुए बालकोंको शिक्षा देनेके लिये तीन करोड़ अट्ठासी सौ हजार (३८८०००००) आचार्य थे ॥ ४१ ॥ फिर, महात्मा यादवोंकी संख्या तो कर ही कौन सकता है जहाँ कई अयुत-अयुत लक्ष (१००००००००००००) वीरोंके साथ महाराज उग्रसेन विराजमान थे ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! पूर्वकालमें देवासुर सङ्ग्रामके समय जो भयङ्कर दैत्यगण मारे गये थे वे मनुष्योंमें उत्पन्न होकर अति दर्पपूर्वक प्रजाको पीडित करने लगे ॥ ४३ ॥

तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥४४॥
तेषां प्रमाणं भगवान्प्रभुत्वेनाभवद्धरिः ।
ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥४५॥
शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानादिकर्मसु ।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥४६॥
तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु
स्वःसरित्पादशौचं
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा
श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः ।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं
यत्कृतो गोत्रधर्मः
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं
कालचक्रायुधस्य ॥४७॥
जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपर्षत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् ॥४८॥
इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयात्त-
लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य
श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥४९॥
मर्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्द-
श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।

उनका निग्रह करनेके लिये श्रीहरिकी आज्ञासे देवताओंने यदुकुलमें अवतार लिया । हे राजन् ! उनके एक सौ एक कुल थे ॥ ४४ ॥ उनके प्रभुरूपसे श्रीहरि ही माननीय थे । जो यादवगण उनके अनुयायी थे वे सब खूब वृद्धिको प्राप्त हुए ॥ ४५ ॥ यादवगण भगवान् कृष्णमें ऐसे दत्तचित्त रहते थे कि उन्हें शयन, आसन, भ्रमण, वार्तालाप, क्रीडा और स्नानादि कृत्योंमें लगे हुए अपने शरीरोंका भी भान नहीं रहता था ॥ ४६ ॥

हे राजन् ! जिन्होंने यदुकुलमें जन्म लेकर अपने चरणोदकरूप गङ्गातीर्थको [अपने सुयश तीर्थसे] नीचा कर दिया है, जिनके शत्रु और मित्र दोनों समान-भावसे सरूपताको प्राप्त हुए, जिसके लिये सबलोग यत्न करते रहते हैं वह लक्ष्मी जिन श्रीअजितके आश्रय रहती है, जिनका नाम सुनने या कहनेसे सम्पूर्ण अमङ्गलोंको नष्ट करनेवाला है तथा जिन्होंने ऋषियोंके वंशमें धर्मका प्रचार किया है उन कालरूप सुदर्शनचक्रको धारण करनेवाले भगवान् कृष्णके लिये पृथिवीका भार उतारना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ४७ ॥ जो सब जीवोंके आश्रयस्थान, कहनेमात्रके लिये देवकीजीके गर्भसे जन्म लेनेवाले, यदुश्रेष्ठरूपी पार्षदोंसे सेवित, अपने भुजबलसे अधर्मका अन्त करनेवाले, चराचर जगत्का दुःख दूर करनेवाले और अपने मधुर मुसकानमय मुखारविन्दसे व्रजबालाओंका प्रेमोद्दीपन करनेवाले हैं उन भगवान् श्रीकृष्णकी सदा ही विजय है ॥ ४८ ॥

हे राजन् ! जिसे भगवान्के चरणकमलोंमें प्रेमकी इच्छा हो उसे चाहिये कि अपने ही स्थापित किये हुए धर्ममार्गकी रक्षा करनेके लिये लीलाशरीर धारण करनेवाले यदुश्रेष्ठ भगवान् कृष्णके चरित्रोंका, जो जगत्के कर्मबन्धनोंको लुप्त करनेवाले तथा भगवान्-के ही अनुरूप हैं, श्रवण करे ॥ ४९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णकी कमनीय कथाओंका नित्यप्रति अधिकाधिक श्रवण, कीर्तन और चिन्तन करनेसे मनुष्य उनके परमधामको प्राप्त हो जाता है जहाँ दुस्तर कालका

ॐ नमो नारायणाय

श्रीमद्भागवत
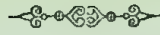
एकादश स्कन्ध
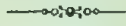
पहला अध्याय

यदुकुलको ऋषियोंका शाप ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीबादरायणिरुवाच

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ।
भुवोऽवतारयद्भारं जविष्ठं जनयन्कलिम् ॥ १ ॥

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान्निरहरत्क्षितिभारमीशः ॥ २ ॥

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद्यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥ ३ ॥

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत्कथञ्चि-
न्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।
अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥ ४ ॥

एवं व्यवसितो राजन्सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! बलरामजीके सहित तथा यादवोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने दैत्यों-को मारकर और [कौरव-पाण्डवोंमें] घोर युद्ध (महाभारत) कराकर पृथिवीका भार उतार दिया ॥१॥ कपट-द्यूत, अपमान और द्रौपदीके केश खींचने आदिके कारण जो अपने शत्रुओं (कौरवों) द्वारा अत्यन्त कुपित कर दिये गये थे उन पाण्डवोंको निमित्त बनाकर दोनों ओरसे युद्धमें आये हुए राजाओं-को मारकर भगवान्ने पृथिवीका भार हर लिया ॥२॥ अपनी भुजाओंसे सुरक्षित यादवोंद्वारा पृथिवीकी भारभूत अन्य राजाओंकी सेनाका संहार कराकर अप्रमेय भगवान् श्रीकृष्णने विचारा कि यद्यपि [दूसरोंकी दृष्टिमें] पृथिवीका भार उतर गया है तो भी मैं अभी उसे नहीं उतरेके समान ही समझता हूँ, क्योंकि अभी असह्य यादवकुल तो बना ही हुआ है ॥ ३ ॥ नित्य मेरे आश्रित रहनेवाले और वैभवसे उच्छृङ्खल हुए इस यदुकुलका दमन किसी दूसरेसे किसी तरह भी नहीं हो सकता । इसलिये बाँसोंके वनमें उत्पन्न हुए अग्निके समान इनमें पारस्परिक कलह उत्पन्न कर मैं शान्तिपूर्वक अपने धामको जाऊँगा ॥ ४ ॥ हे राजन् ! सत्यसङ्कल्प और सर्वसमर्थ परमेश्वर भगवान् कृष्णने इस प्रकार निश्चय कर ब्राह्मणोंके शापके बहाने अपने कुलका संहार किया ॥ ५ ॥

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् ।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥६॥
आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः ॥ ७ ॥

संसारके सौन्दर्यको तिरस्कृत करनेवाली अपनी मूर्तिसे लोगोंके नेत्रोंको तथा अपनी दिव्य वाणी (उपदेश) से उन वाणियोंका स्मरण करनेवाले भक्तजनोंके चित्तोंको अपने वशमें करके और अपने चरणचिह्नोंसे उनका दर्शन करनेवालोंकी अन्य क्रियाओंको रोककर तथा अपनी कविजनकीर्तित कमनीय कीर्तिका लोकमें इस विचारसे विस्तार कर कि 'इसके द्वारा लोग अनायास अज्ञानान्धकारके पार हो जायँगे' भगवान् अपने धामको चले गये ॥ ६-७ ॥

राजोवाच

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् ।
विप्रशापः कथमभूद्वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥ ८ ॥
यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम ।
कथमेकात्मनां भेद एतत्सर्वं वदस्व मे ॥ ९ ॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा–भगवन् ! जो बड़े ब्राह्मण-भक्त, उदार और नित्य गुरुजनोंकी सेवा करनेवाले थे तथा जिनका चित्त सदा कृष्णमें ही रत रहता था उन यादवोंको ब्राह्मणोंका शाप कैसे हुआ ? ॥ ८ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! वह शाप जैसा था और जो उसका कारण था तथा कैसे उन एकचित्त यादवोंमें फूट पड़ी ? ये सब बातें मुझसे कहिये ॥ ९ ॥

श्रीशुक[1] उवाच

बिभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन्भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले–हे राजन् ! जिसमें सम्पूर्ण सुन्दर सामग्रियोंका समावेश है ऐसा [अति सुन्दर] शरीर धारणकर पूर्णकाम होनेपर भी लोकमें अनेकों मङ्गलकृत्य करते हुए तथा श्रीद्वारकापुरीमें रहकर लीला-विहार करते हुए उदारकीर्ति भगवान् कृष्णने अपने कुलका नाश करनेकी इच्छा की, क्योंकि अब उनके लिये यही एक कार्य शेष रह गया था ॥ १० ॥

कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन्मुनयो विसृष्टाः[2] ॥११॥
विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः ॥१२॥

जो अपना गान करनेवाले जगत्‌के समस्त कलिमलको नष्ट करनेवाले हैं ऐसे अनेकों पुण्यप्रद मङ्गलमय कर्म करके जब भगवान् श्रीकृष्ण यदुराज वसुदेवजीके गृहमें [यदुकुल-संहारक] कालरूपसे निवास करने लगे उस समय [जो लोग भगवान्‌की इच्छासे उनकी लीलाओंमें सहायक होकर आये थे वे] विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ और नारद आदि मुनिजन भगवान्‌से विदा होकर [द्वारकासे निकट ही] पिण्डारकक्षेत्रमें जाकर रहने लगे ॥ ११-१२ ॥

क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः ।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत् ॥१३॥

[एक दिन] वहाँ खेलते हुए यदुवंशके कुछ उद्दण्ड राजकुमारोंने स्त्रीके लिये उचित वस्त्राभूषणोंसे

१. श्रीबादरायणिरुवाच । २. निसृष्टाः ।

ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम् ।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा ॥१४॥
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात्प्रब्रूतामोघदर्शनाः ।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित्सञ्जनयिष्यति ॥१५॥
एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप ।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम् ॥१६॥
तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम् ।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन्मुसलं खल्वयस्मयम्[1] ॥१७॥
किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः ।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥१८॥
तच्चोपनीय[2] सदसि परिम्लानमुखश्रियः ।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥१९॥
श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप ।
विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः ॥२०॥
तच्चूर्णयित्वा[3] मुसलं यदुराजः स आहुकः ।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम् ॥२१॥
कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः ।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन्किलैरकाः ॥२२॥
मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे ।
तस्योदरगतं लोहं[4] स शल्ये लुब्धकोऽकरोत् ॥२३॥

जाम्बवती-नन्दन साम्बका स्त्री-वेष बनाकर उन मुनीश्वरोंके पास जा अति विनीत पुरुषोंके समान उनके चरण छूकर पूछा—"हे विप्रगण ! यह श्यामलोचना सुन्दरी गर्भवती है; यह आपसे एक बात पूछना चाहती है, किन्तु स्वयं पूछनेमें इसे लज्जा मालूम होती है [अतः हमारे ही मुखसे यह प्रश्न करा रही है—] हे अमोघदर्शन मुनिगण ! यह पुत्रकामा बाला अब प्रसव करनेवाली है, आप बतलाइये यह कौन-सी सन्तान उत्पन्न करेगी [पुत्र या कन्या ?]" ॥ १३–१५ ॥ हे राजन् ! उनके द्वारा इस प्रकार धोखेमें डाले जानेपर मुनियोंने कुपित होकर कहा—"रे मन्दमति बालको ! यह तुम्हारे कुलका नाश करनेवाला एक मूसल जनेगी" ॥ १६ ॥ यह सुनते ही वे बालक अत्यन्त डर गये और उन्होंने तुरन्त ही साम्बका पेट खोलकर देखा तो वास्तवमें उसमें एक लोहेका मूसल मिला ॥१७॥ तब वे 'हम मन्द भाग्योंने क्या किया, लोग हमें क्या कहेंगे ?' इस प्रकार चिन्तासे घबराये हुए उस मूसलको लेकर घरको चले गये ॥ १८ ॥ तदनन्तर, जिनके मुखकी कान्ति अति मलिन हो गयी है ऐसे वे यादवकुमार उस मूसलको लेकर राजसभामें आये और समस्त यादवोंके समीप राजा उग्रसेनसे वह सारा प्रसङ्ग कह सुनाया ॥१९॥ हे राजन् ! ब्राह्मणोंका अमोघ शाप सुनकर और उस मूसलको देखकर समस्त द्वारकावासी विस्मित होकर भयसे व्याकुल हो गये ॥२०॥ तब यदुराज उग्रसेनने उस मूसलका चूरा कराकर उसे और बाकी बचे हुए लोहेके टुकड़ोंको समुद्रमें फेंकवा दिया ॥२१॥ उस लोहेके टुकड़ेको कोई मत्स्य निगल गया तथा मूसलका चूरा तरङ्गोंसे बहकर समुद्रतट-पर लग गया। उससे वहाँ एरका-वृक्ष उपज आये ॥२२॥ उस मत्स्यको दूसरी मछलियोंके साथ मछलीमारोंने समुद्रमें जाल फैलाकर पकड़ लिया और उसके पेटमें जो लोहेका टुकड़ा था उसे उस [जरानामक] व्याधने अपने बाणकी नोकपर लगा लिया ॥२३॥

१. खल्वयोमयम् । २. तं चोपनीय । ३. तं चूर्णयित्वा । ४. लौहं शलेषु लु० ।

भगवाञ्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा ।
कर्तुं नैच्छद्विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥२४॥

इन सब बातोंको जाननेवाले भगवान्ने उस विप्र-शापको बदलनेमें समर्थ होकर भी उसे अन्यथा करना न चाहा, प्रत्युत उन कालरूप प्रभुने उसका अनुमोदन ही किया ॥ २४ ॥
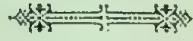
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

वसुदेवजीको देवर्षि नारदका उपदेश ।

श्रीशुक उवाच

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥ १ ॥
को नु राजन्निन्द्रियवान्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥ २ ॥
तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वसुदेव उवाच[1]

भगवन्भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥ ४ ॥
भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च ।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ ५ ॥
भजन्ति ये यथा देवान्[2]देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ ६ ॥
ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान्भागवतांस्तव ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुकुलनन्दन ! भगवान् कृष्णकी भुजाओंसे सुरक्षित द्वारकापुरीमें देवर्षि नारद श्रीकृष्णोपासनाकी लालसासे प्रायः सदा ही रहा करते थे ॥ १ ॥ हे राजन् ! सब ओर मृत्युसे घिरा हुआ ऐसा कौन इन्द्रियवान् प्राणी होगा जो भगवान् मुकुन्दके सुरवरसंसेव्य चरणकमलोंको न भजेगा ? ॥२॥ एक दिन अपने घर पधारे हुए देवर्षि नारदकी पूजा कर श्रीवसुदेवजी सुखपूर्वक आसनपर बैठे हुए देवर्षिको प्रणाम कर इस प्रकार कहने लगे ॥ ३ ॥

वसुदेवजी बोले—भगवन् ! पुत्रोंके लिये पिता-माताके और दीन-दुखियोंके लिये भगवत्परायण महात्माओंके आगमनके समान आपका आगमन समस्त पुरुषोंके कल्याणके लिये ही होता है ॥ ४ ॥ देवताओंके चरित्र प्राणियोंके सुख-दुःख दोनोंहीके कारण होते हैं परन्तु आप-जैसे भगवत्प्राण साधु-पुरुषोंके आचरण उनके सुखके ही हेतु होते हैं ॥५॥ देवताओंको जो पुरुष जिस प्रकार भजते हैं वे देवगण भी उन्हें वैसा ही फल देते हैं; वे तो छायाके समान कर्मोंका अनुसरण करनेवाले हैं, किन्तु साधुजन [स्वभावसे ही] दीनोंपर कृपा करनेवाले होते हैं ॥ ६ ॥ ब्रह्मन् ! [यद्यपि आपके दर्शनमात्रसे ही मैं पवित्र हो गया हूँ] तथापि आपसे भागवत-धर्मोंके

१. प्राचीन प्रतिमें 'वसुदेव उवाच' नहीं है । २. देवांस्तांस्तथैव विमत्सराः ।

याञ्छ्रुत्वाश्रद्धया मर्त्यो मुच्यते विश्वतो भयात् ॥ ७ ॥
अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम् ।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥
यथा विचित्रव्यसनाद्भवद्भिर्विश्वतोभयात् ।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता ।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥१०॥

नारद उवाच

सम्यगेतद्व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।
यत्पृच्छसे भागवतान्धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥११॥
श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ॥१२॥
त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥१३॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥१४॥
प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥१५॥
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्वेदपारगम्[2] ॥१६॥
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥१७॥

विषयमें पूछना चाहता हूँ, जिनका श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेसे मनुष्य सब प्रकारके भयसे मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥ मैंने देवमायासे मोहित होकर अपने पूर्व-जन्ममें मुक्तिप्रद भगवान्‌का सन्तानके लिये ही पूजन किया था, मोक्षके लिये नहीं ॥ ८ ॥ अतः हे सुव्रत ! हम आपको निमित्त बनाकर नाना प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण और सब ओर भयोंसे व्याप्त इस संसारसे जिस तरह अनायास ही मुक्त हो सकें ऐसा स्पष्ट उपदेश आप हमें दीजिये ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! बुद्धिमान् वसुदेवजीके इस प्रकार प्रश्न करनेपर भगवान्‌के गुणोंद्वारा भगवान्‌का स्मरण करा दिये जानेके कारण देवर्षि नारदजी प्रसन्न होकर उनसे बोले ॥ १० ॥

नारदजी बोले—हे यादवश्रेष्ठ ! आपका यह विचार बहुत ही उत्तम है, क्योंकि आप सबको पवित्र करनेवाले भागवत-धर्म पूछ रहे हैं ॥ ११ ॥ हे वसुदेव ! श्रवण, बार-बार पठन, स्मरण, आदर अथवा अनुमोदन किये जानेपर यह भागवत-धर्म विश्वके द्रोहियोंको भी तत्काल पवित्र कर देता है ॥ १२ ॥ जिनके नाम और लीलाओंके श्रवण-कीर्तन पवित्र करनेवाले हैं उन परम कल्याणकारी भगवान् नारायणका आज आपने मुझे स्मरण करा दिया है ! [यह मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है ।] ॥ १३ ॥ इस विषयमें महात्मा राजा विदेह और ऋषभ-पुत्रोंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ १४ ॥ स्वायम्भुवमनुके जो प्रियव्रतनामक पुत्र थे उनसे आग्नीध्रका जन्म हुआ, तथा आग्नीध्रके नाभि और नाभिके ऋषभजी हुए ॥ १५ ॥ कहते हैं, ऋषभजी भगवान् वासुदेवके अंश थे; उन्होंने मोक्षधर्मका उपदेश करनेके लिये ही अवतार लिया था । उनके सौ पुत्र थे और वे सभी वेदके पारगामी थे ॥ १६ ॥ उनमें सबसे बड़े भरतजी थे, जो भगवान् नारायणके परमभक्त थे । उन्हींके नामसे यह अद्भुत देश भारतवर्षनामसे विख्यात हुआ है * ॥ १७ ॥

१. सर्वतः । २. ब्रह्मपारगम् ।

* इससे पहले भारतवर्षको अजनाभखण्ड कहते थे । देखिये स्क० ५ अ० ७ श्लो० ३ ।

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम् ।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥१८॥
तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः ।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥१९॥
नवाभवन्महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः ।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥२०॥
कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥२१॥
एते वै भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम् ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन्महीम् ॥२२॥

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य-
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ॥२३॥

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः ॥२४॥
तान्दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान्महाभागवतान्नृपः ।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥२५॥
विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान् ।
प्रीतः सम्पूजयाञ्चक्र आसनस्थान्यथार्हतः ॥२६॥
तान्रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान्नव ।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥२७॥

विदेह उवाच

मन्ये भगवतः साक्षात्पार्षदान्वो मधुद्विषः ।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥२८॥
दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥२९॥

१. वपुषा ।

उन्होंने इस भुक्तभोगा पृथिवीको त्यागकर वनमें जा तपस्याद्वारा श्रीहरिकी उपासना की और तीन जन्म पश्चात् मोक्षपद प्राप्त किया ॥ १८ ॥ उन (शेष निन्यानवे) मेंसे नौ इस भूमण्डलके सब ओर नवों द्वीपोंके अधिपति हुए और इक्यासी कर्मतन्त्रोंके रचयिता ब्राह्मण हो गये ॥१९॥ तथा नौ परमार्थका निरूपण करनेवाले महाभाग मुनिवर हुए; वे आत्मविद्यामें श्रम करनेवाले, दिगम्बर और अध्यात्मविद्यामें कुशल थे ॥ २० ॥ [उनके नाम ये थे—] कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ॥ २१ ॥ ये सत् (व्यक्त) और असत् (अव्यक्त) रूप सम्पूर्ण संसारको अपनेसे अभिन्न भगवद्रूप देखते हुए पृथिवीपर विचरते थे ॥ २२ ॥ जिनकी स्वेच्छागतिकी कहीं रोक-टोक नहीं थी ऐसे ये जीवन्मुक्त महात्मा देवता, सिद्ध, साध्यगण, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागोंके लोकोंमें तथा मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओंके स्थानोंमें यथेच्छ विचरने लगे ॥ २३ ॥ एक बार वे अजनाभखण्ड (भारतवर्ष) में महात्मा राजा निमिके यहाँ, जो ऋषियोंद्वारा यज्ञ करा रहे थे, अचानक जा पहुँचे ॥ २४ ॥ उन सूर्यसदृश तेजस्वी महाभागवतोंको देखकर यजमान (राजा), ब्राह्मणगण और [मूर्तिमान् आहवनीयादि] अग्नि सब-के-सब खड़े हो गये ॥ २५ ॥ महाराज विदेहने उन्हें नारायणपरायण जानकर आसनोंपर विराजमान हुए उन मुनिगणका अति प्रेमपूर्वक यथायोग्य पूजन किया ॥२६॥ अपने शरीरके तेजके कारण ब्रह्माजीके पुत्रोंके समान सुशोभित उन नव योगीश्वरोंसे राजा जनकने अति प्रसन्न चित्तसे नम्रतापूर्वक पूछा ॥२७॥

विदेह बोले—भगवन् ! आपलोगोंको मैं साक्षात् भगवान् मधुसूदनके पार्षद ही समझता हूँ; क्योंकि भगवान् विष्णुके पार्षद संसारके प्राणियोंको पवित्र करनेके लिये घूमा करते हैं ॥ २८ ॥ जीवको प्रथम तो यह क्षणभङ्गुर मनुष्यशरीर ही मिलना दुर्लभ है, [क्योंकि यही मोक्षका साधन है] और उसमें भी भगवद्भक्तोंका दर्शन मिलना तो मैं और भी दुर्लभ समझता हूँ ॥२९॥

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामि भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन्क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।३०।
धर्मान्भागवतान्ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥३१॥

अतः हे निष्पाप महानुभावो ! मैं आपसे यह पूछता हूँ कि संसारमें आत्यन्तिक कल्याण किसमें है ? क्योंकि इस जगत्में महात्माओंका आधे क्षणका सत्सङ्ग भी मनुष्योंके लिये बड़े भारी खजानेके समान है ॥ ३० ॥ यदि हमारे सुननेके योग्य हों तो हमें उन भागवत-धर्मोंको सुनाइये जिनसे प्रसन्न होकर अजन्मा भगवान् अपने शरणागत भक्तको अपना स्वरूपतक दे डालते हैं ॥ ३१ ॥

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः।
प्रतिपूज्याब्रुवन्प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥३२॥

श्रीनारदजी बोले—हे वसुदेव ! निमिके इस प्रकार पूछनेपर उन महात्माओंने प्रसन्नतापूर्वक धन्यवाद देकर सभासद और ऋत्विजोंसहित राजा निमिसे इस प्रकार कहा—॥ ३२ ॥

कविरुवाच

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावा-
द्विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥३३॥
ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान्हि तान् ॥३४॥
यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥३५॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥३६॥
भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥

कविने कहा—हे राजन् ! इस संसारमें मैं तो भगवान् अच्युतके चरण-कमलोंकी नित्य उपासनाको ही सर्वथा भयशून्य मानता हूँ, जिससे कि असत् (देहादि) में आत्मभावनाके कारण जिनकी बुद्धि विचलित हो गयी है उनका भी सम्पूर्ण भय नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥ अज्ञ पुरुषोंको भी तुरन्त आत्मलाभ करानेके लिये जो उपाय भगवान्ने बतलाये हैं उन्हीं-को भागवत-धर्म समझो ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! उन (भागवतधर्मों) का आश्रय लेनेपर मनुष्य कभी प्रमादमें नहीं पड़ता—उसपर कभी विघ्नोंका आक्रमण नहीं होता । वह इस संसारमें आँख मूँदकर दौड़नेपर भी न तो कहीं फिसलता है और न कहीं गिरता ही है ॥ ३५ ॥ [इस धर्मका पालन करनेवालेको चाहिये कि] शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे अथवा अनुगत स्वभावसे जो कुछ कर्म करे वह सब परमात्मा नारायणके ही लिये है—इस प्रकार समर्पण कर दे ॥ ३६ ॥ जो पुरुष भगवान्से विमुख है उसको उनकी मायासे भगवान्के स्वरूपकी विस्मृति और [मैं देह हूँ—ऐसा] विपरीत ज्ञान होता है फिर आत्मातिरिक्त द्वितीय वस्तुकी सत्ताका अभिमान होनेसे भयकी प्राप्ति होती है; अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि अपने गुरुदेवमें ही इष्टबुद्धि करके उन श्रीहरिको ही अनन्य भक्तिभावसे भजे ॥ ३७ ॥

१. प्रपन्नायं भगवान्। २. श्च।

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत्कर्म सङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥३८॥

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥३९॥

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥४०॥

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥४१॥

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥४२॥

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥४३॥

राजोवाच

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम् ।
यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥४४॥

यह द्वैत-प्रपञ्च वास्तवमें न होनेपर भी इसी प्रकार परमार्थ-रूप भासता है जैसे स्वप्न और मनोरथके पदार्थ न होते हुए भी चिन्तन करनेवालेकी बुद्धिमें सत्यवत् प्रतीत होते हैं। अतः विचारवान्‌को चाहिये कि वह पहले कर्मोंके सङ्कल्प-विकल्प करनेवाले चित्तको रोके तभी उसे अभयपदकी प्राप्ति होगी ॥ ३८ ॥ तथा लोकमें जो चक्रपाणि भगवान् विष्णुके कल्याणकारी जन्म और कर्म हैं उन्हें सुनता हुआ एवं उनकी विचित्र लीलाओंके अनुसार रक्खे गये नामोंका निःसंकोच होकर गान करता हुआ असङ्गभावसे संसारमें विचरे ॥ ३९ ॥ इस प्रकारके व्रत (आचरण) वाला पुरुष अपने परम प्रिय प्रभुके नाम-संकीर्तनसे अनुराग उत्पन्न हो जाने-पर द्रवितचित्त होकर संसारकी परवा न कर कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाने लगता है और कभी उन्मत्तके समान नाच उठता है ॥ ४० ॥ आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि, नदियाँ और समुद्र जो कुछ भी हैं वे सब भगवान् हरिका शरीर ही हैं; अतः सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे ॥ ४१ ॥ जो भगवान्‌का भजन करता है उसको परमेश्वरमें प्रेम, उनके स्वरूपका अनुभव और अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—ये तीनों बातें एक साथ प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार भोजन करनेवालेको भोजनके प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति तीनों एक साथ हो जाती हैं ॥ ४२ ॥ इस प्रकार हे राजन् ! भगवान् अच्युतके चरणकमलोंका निरन्तर भजन करनेवाले भक्तको भगवत्प्रेम, विषयोंमें वैराग्य तथा भगवत्स्वरूपका बोध ये सब अवश्य प्राप्त होते हैं और फिर वह साक्षात् परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

राजा निमि बोले—अब आप भगवद्भक्तका वर्णन कीजिये। उसके जो धर्म हैं, मनुष्योंमें उसका जैसा स्वभाव होता है, वह जैसा आचरण करता है, जो कुछ बोलता है और जिन लक्षणोंके कारण वह भगवान्‌को प्रिय होता है [वह सब बतलाइये] ॥ ४४ ॥

हरिरुवाच

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥४५॥
ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥४६॥
अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥४७॥
गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः ॥४८॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥४९॥
न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥५०॥
न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥५३॥
भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।

हरि बोले—जो समस्त प्राणियोंमें वर्तमान आत्माके भगवद्भावको देखता है, [अर्थात् यह जानता है कि मैं परब्रह्मस्वरूप और सब पदार्थोंमें व्यापक हूँ] तथा जो अपने भगवत्स्वरूपमें ही समस्त प्राणियोंको (अध्यस्त) देखता है वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ॥ ४५ ॥ जो भगवान्से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, अज्ञानियोंपर कृपा और भगवान्से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है वह मध्यम है ॥ ४६ ॥ और जो भगवान्के अर्चा-विग्रह (प्रतिमा आदि) की पूजामें ही श्रद्धासे प्रवृत्त होता है, उनके भक्तोंकी अथवा अन्य किसीकी पूजामें प्रवृत्त नहीं होता वह साधारण भक्त कहा गया है ॥ ४७ ॥ इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण करता हुआ भी 'यह सब भगवान्की माया ही है' ऐसी दृष्टि रखकर जो न उनसे द्वेष करता है और न उन्हें पाकर खुश ही होता है, निश्चय ही वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ॥ ४८ ॥ जो हरिस्मरणमें तल्लीन रहनेके कारण क्रमशः देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिके सांसारिक धर्म जन्म-मरण, क्षुधा, भय, तृष्णा और परिश्रमादिसे मोहित नहीं होता वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥ कामना और कर्मके बीजों (वासनाओं) का जिसके चित्तमें उद्भव नहीं होता और एकमात्र भगवान् वासुदेवका ही जिसे सहारा है वह निश्चय ही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ॥ ५० ॥ जिसका जन्म अथवा कर्मसे तथा वर्ण, आश्रम अथवा जातिके कारण इस देहमें अहंभाव (मैंपन) नहीं होता वह अवश्य भगवान्को प्रिय होता है ॥ ५१ ॥ जिसका धनमें अथवा शरीरमें 'यह अपना है, यह पराया है' ऐसा भेद-भाव न हो, जो समस्त प्राणियोंमें समदृष्टि और शान्तचित्त हो, निश्चय ही वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ॥ ५२ ॥ त्रिभुवनके राज्य-वैभवके लिये भी जिसका भगवच्चिन्तन नहीं छूट सकता, भगवान्में ही मन लगाये रखनेवाले देवता आदि भी जिन्हें खोजा करते हैं उन भगवच्चरणारविन्दों [की सेवा] से जो आधे क्षण—आधे पलके लिये भी विचलित नहीं होता वह भगवद्भक्तोंमें अग्रगण्य है ॥ ५३ ॥ भगवान् विष्णुके उरुविक्रम (बड़े-बड़े डगोंवाले) चरणोंकी अँगुलियोंके नखरूप मणियोंकी शीतल कान्तिसे जिसका कामादि ताप

हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥५४॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥

शान्त हो गया है भगवान्‌की शरणमें पड़े हुए पुरुषोंके उस हृदयमें पुनः वह (ताप) कैसे हो सकता है ? [रात्रिमें] चन्द्रमाके उदय होनेपर भी क्या सूर्यका ताप ठहर सकता है ? ॥ ५४ ॥ जो विवश होकर अपना नाम उच्चारण किये जानेपर भी सम्पूर्ण पापसमूहको ध्वंस कर देते हैं, साक्षात् वे ही हरि प्रेमपाशसे अपने चरण-कमलोंके बँध जानेके कारण जिसके हृदयको कभी नहीं छोड़ते वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कहा गया है ॥ ५५ ॥
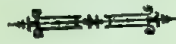
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

माया, मायासे पार होनेका उपाय तथा ब्रह्म और कर्मका निरूपण ।

राजोवाच

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।
मायां वेदितुमिच्छामि भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥
नानुतृप्ये जुषन्युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥ २ ॥

राजा निमिने कहा—भगवन् ! अब मैं बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहित कर देनेवाली परमेश्वर भगवान् विष्णुकी मायाको जानना चाहता हूँ; आपलोग उसका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥ भगवन् ! मैं संसारतापसे सन्तप्त एक मरणधर्मा मनुष्य हूँ, इसलिये जो उस तापको मिटानेकी एकमात्र ओषधि है, आपके मुखारविन्दसे निकले हुए उस हरिकथामृतरूपी वचनको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

अन्तरिक्ष उवाच

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥ ३ ॥
एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।
एकधा दशधात्मानं विभजञ्जुषते गुणान् ॥ ४ ॥
गुणैर्गुणान्स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥ ५ ॥

अन्तरिक्ष बोले—हे महाबाहो ! सर्वभूतात्मा आदिदेव नारायणने अपने ही स्वरूपभूत जीवोंके भोग और मोक्षके लिये अपने रचे हुए पञ्चभूतोंसे ही नाना प्रकारकी उत्कृष्ट और निकृष्ट भूतोंकी सृष्टि की है ॥ ३ ॥ इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंसे रचे हुए प्राणियोंमें स्वयं ही जीवरूपसे प्रविष्ट होकर वह अपनेको ही [मन-रूपसे] एक और [बाह्य-इन्द्रियरूपसे] दश भागोंमें विभक्त करके विषयोंका उपभोग करता है ॥ ४ ॥ जीव आत्माद्वारा प्रकाशित इन्द्रियोंसे उनके विषयोंको भोगता हुआ तथा इस उत्पन्न किये हुए शरीरादिको ही आत्मा मानता हुआ उसमें आसक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥ ६ ॥
इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥ ७ ॥
धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् ।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥ ८ ॥
शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि ।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन्प्रतपिष्यति ॥ ९ ॥
पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः ।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्धते वायुनेरितः ॥१०॥
संवर्तको[2] मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः ।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट् ॥११॥
ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप ।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः ॥१२॥
वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते ।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते ॥१३॥
हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ॥१४॥
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥१५॥
एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः भूयः[3] किं श्रोतुमिच्छसि ॥१६॥

और फिर यह देही अपनी कर्मेन्द्रियोंसे वासनायुक्त कर्म करता और उनके सुख-दुःखमय फल भोगता संसारमें भटकता रहता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार विवश होकर नाना प्रकारके दुःख देनेवाली कर्मफलरूप गतियोंको प्राप्त होता हुआ यह जीव महाप्रलयपर्यन्त जन्म-मरणको प्राप्त होता रहता है ॥ ७ ॥ फिर पञ्चभूतोंके प्रलयका समय उपस्थित होनेपर अनादि और अनन्त काल इस द्रव्यगुणात्मक (स्थूल-सूक्ष्मरूप) व्यक्त सृष्टिको [उसके कारण] अव्यक्तकी ओर खींच ले जाता है ॥ ८ ॥ उस समय पृथिवीपर सौ वर्षकी घोर अनावृष्टि होगी और उस कालमें जिनकी उष्णता बढ़ जायगी वे सूर्यनारायण तीनों लोकोंको तपाने लगेंगे ॥ ९ ॥ उस समय शेषनागके मुखसे निकला हुआ अग्नि वायुसे प्रेरित होकर पाताललोकसे आरम्भ कर सबको दग्ध करता हुआ ऊँची-ऊँची लपटोंसे चारों ओर फैल जाता है ॥ १० ॥ और संवर्तकनामक मेघ-समूह हाथीकी सूँड़के समान मोटी-मोटी धाराओंसे सौ वर्षतक वर्षा करता रहता है, जिससे कि यह समस्त ब्रह्माण्ड जलमें डूब जाता है ॥ ११ ॥ तब, हे राजन् ! बिना ईंधनके अग्निके समान विराट् पुरुष (ब्रह्मा) अपने ब्रह्माण्डशरीरको छोड़कर सूक्ष्मस्वरूप 'अव्यक्त' में लीन हो जाता है ॥ १२ ॥ वायुके द्वारा गन्ध खींच लिया जानेपर पृथिवी जलरूप हो जाती है और उस वायुसे ही रस खींच लिया जानेपर जल अग्निरूप हो जाता है ॥१३॥ फिर अन्धकारके द्वारा रूपरहित हुआ अग्नि वायुमें और अवकाशके द्वारा स्पर्शहीन हुआ वायु आकाशमें लीन हो जाता है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर, कालके द्वारा अपने गुण शब्दसे रहित होकर आकाश तामस अहङ्कारमें, इन्द्रियाँ राजस अहङ्कारमें और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंके साथ मन एवं बुद्धि सात्त्विक अहङ्कारमें लीन हो जाते हैं तथा अहङ्कार अपने गुणोंके सहित महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है [और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है] ॥ १५ ॥ यह हमने जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाली भगवान्की त्रिगुणमयी मायाका वर्णन किया, अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ १६ ॥

१. शतवर्षाण्यनावृष्टिः । २. सांवर्तकः । ३. किं भूयः ।

राजोवाच

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् ॥१७॥

राजा निमि बोले—हे महर्षे ! अब ऐसा उपदेश कीजिये जिससे बिना जीते हुए चित्तवाले पुरुषोंके लिये दुस्तर इस ईश्वरीय मायाको स्थूल बुद्धिवाले मनुष्य भी सुगमतासे पार कर जायँ ॥ १७ ॥

प्रबुद्ध उवाच

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।
पश्येत्पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥१८॥
नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥१९॥
एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥२०॥
तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥२१॥
तत्र भागवतान्धर्मान्शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥२२॥
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥२३॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥२४॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥२५॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।

प्रबुद्ध बोले—हे राजन् ! दुःखके नाश और सुखकी प्राप्तिके लिये स्त्री-पुरुष-सम्बन्धमें बँधकर कर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुषोंको जो विपरीत फल मिलता है उसे देखना चाहिये ॥ १८ ॥ निरन्तर दुःख देनेवाले इस धनसे, जो अति दुर्लभ और आत्माके लिये मृत्युरूप ही है, तथा अनित्य गृह, पुत्र, कुटुम्ब और पशु आदिको प्राप्त कर लेनेसे, लोगोंको क्या सुख मिल सकता है ? ॥ १९ ॥ मनुष्यको यह समझ लेना चाहिये कि यह लोक और परलोक दोनों कर्मजन्य और नाशवान् हैं तथा इनमें मण्डलेश्वर राजाओंकी भाँति समानके प्रति स्पर्द्धा (लागडाँट), उत्कृष्टके प्रति द्वेष और स्वयं उत्कृष्ट होनेपर पतनका भय लगा ही रहता है ॥ २० ॥ अतः अपने उत्तम श्रेयःसाधनके जिज्ञासुको चाहिये कि वह शाब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्ममें परिनिष्ठित शान्तचित्त गुरुकी शरण ले ॥ २१ ॥ फिर उन गुरुदेवको ही आत्मा और इष्टदेव मानता हुआ उन्हींसे भागवत-धर्मोंको सीखे, जिनका निष्कपट आचरण करनेसे स्वयं अपनेको दे डालनेवाले श्रीहरि प्रसन्न होते हैं ॥ २२ ॥ सबसे पहले मनकी सब ओरसे असङ्गता, फिर साधुजनोंका सङ्ग, सब प्राणियोंके प्रति यथोचित दया, मैत्री एवं विनयका भाव [अर्थात् दीन-हीन प्राणियोंपर दया, बराबरवालोंके साथ मैत्री और उत्तम महापुरुषोंके प्रति नम्रताका भाव] शौच, तप, तितिक्षा (द्वन्द्वोंको सहना), मौन (व्यर्थ वार्ता-वर्जन अथवा मननशीलता), स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें समानता, आत्मस्वरूप हरिको सर्वत्र देखना, एकान्तसेवन, अनिकेतता (गृह आदिमें ममत्व न रखना), पवित्र वस्त्र धारण करना, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तोष मानना, भगवत्सम्बन्धी शास्त्रोंमें श्रद्धा रखना, अन्य शास्त्रोंकी निन्दा न करना, मन, वाणी और कर्मका संयम, सत्यभाषण,

मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥२६॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥२७॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्[1] यत्परस्मै निवेदनम् ॥२८॥
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥३०॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ३१

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
गायन्ति[2] नृत्यन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥३२॥

इति भागवतान्धर्माञ्छिक्षन्भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥३३॥

राजोवाच

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवादिनः ॥३४॥

पिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च ।

शमदमादि, विचित्रलीलाविहारी भगवान्‌के जन्म, कर्म और गुणोंका श्रवण, कीर्तन और ध्यान, उन्हींके लिये समस्त चेष्टाएँ करना, यज्ञ, दान, तप, जप, आचार अथवा जो कुछ भी अपनेको प्रिय हो तथा स्त्री, पुत्र, गृह और प्राण ये सब परमात्माको अर्पण कर देना ॥ २३–२८ ॥ इसी प्रकार कृष्ण ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं उन पुरुषोंसे प्रेम करना, स्थावर-जङ्गम—दोनों प्रकारके जगत् तथा महात्मा और साधुओंकी सेवा करना, भगवान्‌के परमपावन गुणोंका परस्पर कथोपकथन करना, तथा जिससे आपसमें प्रेम, सन्तोष और शान्तिका विस्तार हो [उन सभी कर्मोंको सीखे] ॥ २९-३० ॥ इस प्रकार पापपुञ्जहारी भगवान् हरिका स्वयं स्मरण करते हुए तथा औरोंसे कराते हुए महात्मा भक्तजन [वैधी] भक्तिसे [प्रेमा] भक्तिका उदय होनेपर, पुलकित हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ ऐसा होनेपर वे अलौकिक पुरुष भगवान् अच्युतका ध्यान करके कभी रोते, कभी हँसते, कभी आनन्दित होते और कभी बड़बड़ाने लगते हैं; तथा कभी नाचते, कभी भगवद्‌गुण-गान करते और कभी उन अजन्मा प्रभुकी लीलाओंका चिन्तन करते हैं; तथा फिर परम उपरतिको प्राप्त होकर मौन हो जाते हैं ॥ ३२ ॥ इस प्रकार भागवत-धर्मोंका अभ्यास करते-करते उन धर्मोंसे उत्पन्न हुई प्रेमा-भक्तिके द्वारा नारायणपरायण होनेपर पुरुष अनायास इस दुस्तर मायाको पार कर लेता है ॥ ३३ ॥

राजा निमि बोले—हे मुनिगण ! आप ब्रह्मका निरूपण करनेवाले हैं, अतः आप हमें नारायणनामक परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका उपदेश कीजिये ॥३४॥

पिप्पलायन बोले—हे राजन् ! जो इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण तथा स्वयं कारणरहित हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंके अन्तर्गत और [साक्षीरूपसे] उनके

१. प्राणान् परस्मै च । २. नृत्यन्ति गायन्ति ।

देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥३५॥
नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥३६॥
सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥३७॥
नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥३८॥
अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।

बाहर भी हैं, तथा जिनके द्वारा संजीवित होकर देह, इन्द्रिय, प्राण और हृदय अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हींको तुम परम तत्त्व नारायण जानो ॥ ३५ ॥ जिस प्रकार चिनगारियाँ अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकतीं उसी प्रकार इस आत्म-तत्त्वमें न तो मनकी गति है और न वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी ही; तथा शब्द भी केवल निषेधवृत्तिके द्वारा (अनात्म-पदार्थोंका निषेध करते-करते) निषेधावधिरूपसे ही उसे अर्थापत्ति प्रमाणसे लक्षित करता है, क्योंकि निषेधावधिका [अर्थात् जो निषेध किये गये पदार्थोंका आधार हो उसका] अभाव होनेसे निषेधकी सिद्धि ही नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥ सृष्टिके आदिमें एक ब्रह्म ही था, वही सत्त्व, रज और तमरूपसे 'त्रिवृत्' (प्रधान) कहलाया। उसे [ज्ञानमय होनेसे] महत्तत्त्व, [क्रियात्मक होनेसे] सूत्र और [जीवकी उपाधि होनेसे] अहङ्कार कहते हैं; फिर वही महान् शक्तिवाला ब्रह्म ज्ञान (इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता), क्रिया (इन्द्रिय) और अर्थ (इन्द्रिय-विषयों) के रूपमें भासता है; इस प्रकार सत् (दृश्य) असत् (अदृश्य) तथा इसके परे जो कुछ है वह ब्रह्म ही भास रहा है ॥ ३७ ॥ उस परमात्माने कभी जन्म नहीं लिया और न वह कभी मरेगा। वह न तो बढ़ता है, और न घटता है, क्योंकि सर्वव्यापक, नित्य, अच्युत और ज्ञानस्वरूप है तथा समस्त परिवर्तनशील विकारों (बाल्य-यौवन आदि अवस्थाके शरीरों) का साक्षी है। जिस प्रकार एक ही प्राण इन्द्रिय-भेद (स्थान-भेद) से नाना विकल्पोंको प्राप्त हो रहा है [उसी प्रकार एक ही ब्रह्म विविधरूप प्रतीत होता है] ॥ ३८ ॥ अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज और अनिश्चित (स्वेदज) योनियोंमें जहाँ-तहाँ जिस प्रकार प्राण जीवका अनुसरण करता है [उसी प्रकार आत्मा भी सब अवस्थाओंमें साक्षीरूपसे स्थित हुआ असङ्ग रहता है]।

१. निधनविद्व्यभिचारिणाम् ।

सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥३९॥
यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि ।
तस्मिन्विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥४०॥

राजोवाच

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।
विधूय स्वानि कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥४१॥
एवं प्रश्नमृषीन्पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ।
नाब्रुवन्ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥४२॥

आविर्होत्र उवाच

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥४३॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥४४॥
नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥४५॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।

सुषुप्तिमें इन्द्रियगणके निश्चेष्ट और अहङ्कारके लीन हो जानेपर कूटस्थ आत्माके बिना तो उस अवस्थाकी स्मृति ही नहीं हो सकती ॥ ३९ ॥ जब कमलनाभ भगवान् विष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्तिकी इच्छासे बढ़ी हुई तीव्र भक्तिरूप अग्निके द्वारा जीव अपने चित्तके गुणकर्मसम्भूत मलोंको दग्ध कर देता है उस समय उसके शुद्ध हो जानेपर आत्मतत्त्व उसी प्रकार स्पष्ट भासने लगता है जिस प्रकार निर्मल नेत्रोंमें सूर्यका प्रकाश ॥ ४० ॥

राजा निमि बोले—हे मुनिगण ! अब आप मुझे कर्मयोगका उपदेश कीजिये, जिसके द्वारा शुद्ध हुआ मनुष्य अपने कर्मोंको त्यागकर परम नैष्कर्म्य (आत्यन्तिक निवृत्ति) को प्राप्त कर लेता है । एक बार पहले भी मैंने यही प्रश्न पिता इक्ष्वाकुके सामने ब्रह्माके पुत्र सनकादि ऋषियोंसे पूछा था, किन्तु उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, इसका क्या कारण था ? सो भी आप मुझसे कहिये ॥ ४१-४२ ॥

आविर्होत्र बोले—कर्म, अकर्म और विकर्म ये सब विषय वेदसे ही जाने जा सकते हैं, लौकिक पदार्थोंसे इनका ज्ञान नहीं हो सकता; और वेद भगवद्रूप है, उसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी मोहित हो जाते हैं, [इसी कारण सनकादिने उस समय तुमसे इस विषयमें कुछ नहीं कहा, क्योंकि तब तो तुम बालक ही थे] ॥ ४३ ॥ वेद परोक्षवाद[1] है । [कड़वी दवा पिलानेके लिये] जैसे बालकको [मीठी-मीठी बातें बनाकर अथवा मीठी चीजें देकर] फुसलाते हैं उसी प्रकार कर्मरूपी रोगको छुड़ानेके लिये ही उसमें कर्मरूपी औषधका विधान किया गया है ॥ ४४ ॥ जो अजितेन्द्रिय और अज्ञानी पुरुष वेदोक्त कर्मका आचरण नहीं करता वह विहित-कर्म-त्यागके पापसे बारम्बार जन्म-मरणको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥ वेदोक्त कर्मोंको ही निःसंगभावसे ईश्वरार्पणपूर्वक करता हुआ पुरुष नैष्कर्म्य-सिद्धि

१. आश्रयमृते । २. सवितुः प्रकाशः । ३. विधूयेहाशु ।

१. जहाँ किसी बातको छिपानेके लिये उसका अन्य प्रकारसे वर्णन किया जाता है उसे 'परोक्षवाद' कहते हैं ।

नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥४६॥
य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥४७॥
लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन सन्दर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मनः ॥४८॥
शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः ।
पिण्डं विशोध्य संन्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥४९॥
अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः ।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम्॥५०॥
पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः ।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥५१॥
साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ॥५२॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत्स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम्॥५३॥
आत्मानं तन्मयं ध्यायन्मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः ।
शेषामाधाय शिरसा स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥५४॥
एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥५५॥

(ज्ञानावस्था) को प्राप्त कर लेता है; वेदमें जो [स्वर्गादि मिलनेकी] फलश्रुति है वह केवल कर्ममें रुचि उत्पन्न करनेके लिये ही है ॥ ४६ ॥ जो शीघ्र ही परस्वरूप आत्माकी [अहङ्काररूप] हृदयग्रन्थिको खोलना चाहता हो उसे उचित है कि वह वेद-विधि तथा तन्त्रोक्त विधिसे नियमानुसार भगवान् केशवकी पूजा करे ॥ ४७ ॥ [सेवाके द्वारा] गुरुदेवकी कृपाका पात्र होकर उनकी बतलायी हुई विधिके अनुसार अपनी अभिमत मूर्तिके द्वारा महापुरुष नारायणकी पूजा करे ॥ ४८ ॥ प्रथम शरीर और अन्तःकरणको शुद्ध करके प्रतिमाके सम्मुख बैठकर प्राणायामादिके द्वारा नाडीशुद्धि करे और फिर अङ्गन्याससे अच्छी तरह देहरक्षा कर भगवान्का पूजन करे ॥ ४९ ॥ बाह्य-प्रतिमा अथवा हृदयमें, जहाँ भी पूजन करना हो, उसके लिये जो कुछ पूजन-सामग्री मिले उसको, पूजास्थानको तथा शरीरादिको पहले शुद्ध करे, फिर आसनपर जल छिड़ककर अर्घ्यपाद्य आदिके पात्रोंको यथास्थान रक्खे, तदनन्तर एकाग्रचित्त होकर अङ्गन्यास-करन्यास करनेके उपरान्त मूलमन्त्रके द्वारा प्रतिमाका पूजन करे ॥ ५०-५१ ॥ अपने-अपने उपास्यदेवकी अङ्ग (हृदयादि), उपाङ्ग (आयुधादि) और पार्षदसहित मूर्तिकी उसके मूलमन्त्रद्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, नाना वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माला, अक्षत[1], पुष्पहार, धूप, दीप और नैवेद्य आदिसे विधिवत् पूजा करे और फिर स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करके भगवान् हरिको नमस्कार करे ॥ ५२-५३ ॥ इस प्रकार अपने आत्माको भगवद्रूप विचारता हुआ भगवान्की प्रतिमाका पूजन करे, फिर निर्माल्यको शिरपर रक्खे और पूजित हुए भगवद्विग्रहको यथास्थान रख दे ॥ ५४ ॥ इस प्रकार अग्नि, सूर्य, जल, अतिथिमें अथवा अपने हृदयमें जो भगवान् श्रीहरिका पूजन करता है वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

१. याद्यैर्नानावासोविभूषणैः । २. श्रजेत् ।

१. अक्षतका उपयोग तिलकके लिये करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रमें विष्णुभगवान्की पूजामें अक्षतका निषेध किया है । 'नाक्षतैरर्चयेद्विष्णुं न केतक्या महेश्वरम्' (अक्षतोंसे विष्णुभगवान्की और केतकीसे शिवजीकी पूजा न करे)।

चौथा अध्याय

भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन ।

राजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

द्रुमिल[1] उवाच

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन्स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत्कथञ्चि-
त्कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः[2] ॥ २ ॥
भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥
यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो[3]
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥ ४ ॥
आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥ ५ ॥
धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां[4]
नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः ।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

राजा निमि बोले—[हे मुनीश्वरगण !] इस लोकमें श्रीहरिने स्वेच्छासे धारण किये हुए अपने जिन-जिन अवतारोंसे जो-जो लीलाएँ की हैं, कर रहे हैं अथवा करेंगे वे सब हमसे कहिये ॥ १ ॥

द्रुमिल बोले—हे राजन् ! जो पुरुष अनन्त भगवान्‌के अनन्त गुणोंकी गणना करना चाहता है वह मन्दबुद्धि है । सम्भव है, पृथिवीके रजःकणोंको किसी प्रकार किसी समय कोई गिन भी ले, परन्तु सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के गुणोंका कभी कोई पार नहीं पा सकता ॥ २ ॥ अपने रचे हुए पञ्चभूतोंके द्वारा ब्रह्माण्डरूप पुरकी रचना करके जब भगवान् आदिदेव नारायणने अपने अंशभूत जीवरूपसे उसमें प्रवेश किया तो उनका 'पुरुष' नाम हुआ ॥३॥ जिनके विराट् शरीरमें इस समस्त त्रिभुवनका समावेश है, जिनकी इन्द्रियोंसे देहधारियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, स्वरूपसे स्वतःसिद्ध ज्ञान (आत्मा), श्वास-प्रश्वाससे बल (देहशक्ति), ओज (इन्द्रियशक्ति) और क्रियाशक्ति तथा सत्त्वादि गुणोंसे स्थिति, उद्भव और लय होते हैं वे ही आदिकर्ता नारायण हैं ॥ ४ ॥ प्रथम जगत्‌की उत्पत्तिके लिये उनके रजोगुणके अंशसे ब्रह्मा हुए, फिर वे आदिपुरुष ही संसारकी स्थितिके लिये [अपने सत्त्वांशसे] धर्म और ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले यज्ञपति विष्णु तथा तमोगुणके अंशसे सर्ग-संहारक रुद्र हुए । इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे प्रजामें उत्पत्ति, पालन और संहार होते रहते हैं ॥ ५ ॥ धर्मकी पत्नी दक्ष-कन्या मूर्तिके गर्भसे भगवान्‌ने शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायणके रूपमें अवतार लिया, उन्होंने आत्मतत्त्वको लक्षित करानेवाला कर्मत्यागरूप कर्म (सांख्यनिष्ठा) का उपदेश किया और स्वयं भी उसीका आचरण किया । वे, जिनके चरणोंकी मुनिवर सेवा करते हैं, आजकल भी [बदरिकाश्रममें] विराजमान हैं ॥ ६ ॥

१. द्रुविड । २. सत्त्वधाम्नः । ३. निविष्टः । ४. मूर्त्या ।

इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति
कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः
स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७ ॥

'ये अपने घोर तपद्वारा मेरा पद छीनना चाहते हैं'—ऐसी आशङ्का करके इन्द्रने [उन्हें तपोभ्रष्ट करनेके लिये] कामदेवको उसके दल-बलके सहित नियुक्त किया; और उनकी महिमा न जाननेके कारण वह बदरिकाश्रममें जाकर अप्सरागण, वसन्त, मन्द-सुगन्ध वायु और स्त्रियोंके कटाक्ष-बाणोंसे उन्हें बींधनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ७ ॥

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः
प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ।
मा भैष्ट भो मदनमारुतदेववध्वो[1]
गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥ ८ ॥

इन्द्रकी कुचालको जानकर कुछ विस्मय न करते हुए आदिदेव नारायणने भयसे काँपते हुए उन कामादिसे हँसकर कहा—"हे मदन ! हे मन्दमलयमारुत ! हे देवाङ्गनाओ ! डरो मत; हमारा आतिथ्य स्वीकार करो; उसे ग्रहण किये बिना ही जाकर हमारा आश्रम सूना न करो" ॥ ८ ॥

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ।
नैतद्विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९ ॥

हे राजन् ! अभयदायक दयालु भगवान्के ऐसा कहनेपर लज्जासे शिर झुकाये हुए देवगण करुणस्वरसे इस प्रकार बोले—"हे विभो ! आप मायातीत और निर्विकार हैं तथा आत्माराम धीर पुरुष निरन्तर आपके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं; अतः आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है [कि स्वयं अविचल रहकर हम अपराधियोंके प्रति भी इतनी उदारताका परिचय दे रहे हैं] ॥ ९ ॥

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन्ददतः स्वभागा-
न्धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥ १० ॥

जो आपके ही सेवक हैं, उनके मार्गमें देवगण अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं, क्योंकि वे उनके धाम (स्वर्गलोक) को लाँघकर आपके परमपदको प्राप्त होते हैं । और उनके अतिरिक्त जो केवल कर्मकाण्डमें लगे रहकर यज्ञादिके द्वारा देवताओंको उनका भाग देते रहते हैं उन्हें कोई विघ्न नहीं होता, तथापि यदि आप उनकी रक्षा करने लगते हैं तो वे भक्तजन समस्त विघ्नोंके शिरपर पैर रख देते हैं [और अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट नहीं होते] ॥ १० ॥

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्व्यशैश्न्या-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित् ।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥ ११ ॥

तथा कुछ लोग [जो तपस्वी होनेपर भी आपके उपासक नहीं हैं] अपार समुद्रके समान भूख, प्यास, [शीत, ग्रीष्म और वर्षा] तीनों कालोंके गुण, वायु तथा रसना और शिश्नेन्द्रियके वेगोंको पार करके भी निष्फल क्रोधके वशमें हो जाते हैं मानो [समुद्र पार करके भी] गौके खुरबराबर गड्ढे में डूब जाते हैं और अपनी कठिन तपस्याको भी खो बैठते हैं" ॥ ११ ॥

[1] मा भैर्विभो ।

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः ।
दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः ॥१२॥
ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः ।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥१३॥
तानाह देवदेवेशः प्रणतान्प्रहसन्निव ।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम् ॥१४॥
ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः ।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥१५॥
इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ॥१६॥

देवताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर [उनका गर्व चूर्ण करनेके लिये] भगवान्‌ने उन्हें विचित्र वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित अद्भुत रूपलावण्यमयी अनेकों स्त्रियाँ अपने आश्रममें सेवा करती हुई दिखलायीं ॥ १२ ॥ साक्षात् लक्ष्मीजीके समान रूपवती उन स्त्रियोंको देखकर उनके रूप-लावण्यकी महिमासे कान्तिहीन हुए देवगण उनके अङ्गकी दिव्य गन्धसे मोहित हो गये ॥ १३ ॥ तब अति दीन हुए उन देवानुचरोंसे भगवान् हँसकर बोले—"इनमेंसे किसी एकको जो तुम्हारे अनुरूप हो, स्वीकार कर लो, वह स्वर्गलोककी भूषणरूप होगी" ॥ १४ ॥ तब वे देवदूत 'बहुत अच्छा' ऐसा कह भगवान्‌की आज्ञानुसार उनमेंसे अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशीको आगे कर प्रभुको प्रणाम करनेके उपरान्त स्वर्गलोकको चले गये ॥१५॥ स्वर्गमें पहुँचकर उन्होंने देवराज इन्द्रको प्रणाम कर सभामें सब देवताओंके सामने भगवान् नारायणका बल और प्रभाव कह सुनाया । उसे सुनकर इन्द्र अति भयभीत और विस्मित हुआ ॥ १६ ॥

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान्पिता नः ।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥१७॥
गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम् ।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात्प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥१८॥
संस्तुन्वतोऽब्धिपतिताञ्छ्रमणानृषींश्च
शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम् ।

इसी प्रकार हंसावतार लेकर भगवान् अच्युतने आत्मज्ञानका उपदेश किया । तथा दत्तात्रेय, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और हमारे पिता श्रीऋषभदेवजी—ये सब भी जगत्‌के कल्याणार्थ लिये हुए भगवान् विष्णुके कलावतार ही हैं । इनके अतिरिक्त हयग्रीव अवतारमें भगवान् मधुसूदनने वेदोंका उद्धार किया ॥ १७ ॥ प्रलयकालमें मत्स्यावतार लेकर मनु, पृथिवी और ओषधियोंकी रक्षा की । वराह-अवतारमें जलमें डूबी हुई पृथिवीका उद्धार करते समय दितिनन्दन हिरण्याक्षका वध किया, कूर्मावतारमें समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया तथा [हरि-अवतारमें] अपनी शरणमें आये हुए ग्राहग्रस्त आर्त गजराजका उद्धार किया ॥१८॥ [उन्हीं भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न अवतारोंमें] किसी समय समुद्रमें गिरकर स्तुति करते हुए तपस्यासे अत्यन्त क्षीण शरीरवाले ऋषियोंको बचाया [अथवा गोष्पदमात्र जलमें डूबते तथा स्तुति करते हुए बालखिल्यादि ऋषियोंका उद्धार किया], वृत्रवधके कारण ब्रह्महत्याके भयसे छिपे हुए इन्द्रकी

देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा
जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥१९॥
देवासुरे युधि च दैत्यपतीन्सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात्कलाभिः ।
भूत्वाथ वामन इमामहरद्बलेः क्ष्मां
याच्ञाछलेन समदाददितेः सुतेभ्यः ॥२०॥
निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन्सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ॥२१॥
भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हा-
ञ्छूद्रान्कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते॥२२॥
एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः ।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥२३॥

रक्षा की तथा दानवोंके द्वारा बन्दी बनाकर रक्खी हुई देवताओंकी अनाथ स्त्रियोंको छुड़ाया और नृसिंह-अवतारमें सज्जनोंको अभय करनेके लिये दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध किया ॥ १९ ॥ देवासुरसंग्राममें भगवान्‌ने देवताओंके लिये दैत्योंका वध करके विभिन्न मन्वन्तरोंमें अपनी शक्तिसे त्रिभुवनकी रक्षा की; फिर वामन-अवतार लेकर भिक्षाके छलसे इस पृथिवीको दैत्यराज बलिसे लेकर देवताओंको दे दिया ॥ २० ॥ भृगुकुलमें हैहयवंशको नष्ट करनेके लिये अग्निरूप परशुराम-अवतार लेकर उन्होंने इक्कीस बार पृथिवीको क्षत्रिय-हीन कर दिया; फिर जिन्होंने [रामावतारमें] समुद्रका सेतु बाँधा और लङ्काके सहित दशशीश रावणका नाश किया । संसारके मलको नष्ट करनेवाली निर्मल कीर्तिवाले उन श्रीसीतापतिकी सदा विजय है ॥ २१ ॥ भूमिका भार उतारनेके लिये अब वे ही अजन्मा हरि यदुकुलमें श्रीकृष्णरूपसे अवतीर्ण होकर ऐसे अद्भुत कर्म करेंगे जो देवताओंके लिये भी दुष्कर हैं । आगे बुद्धावतार लेकर यज्ञके अनधिकारियोंको अहिंसावादसे मोहित करेंगे और कलियुगके अन्तमें कल्कि-अवतार लेकर शूद्रजातिके राजाओंका वध करेंगे ॥ २२ ॥ हे महाबाहो ! अतुलकीर्ति विश्वनाथ भगवान् हरिके ऐसे ही अनेकों जन्म और कर्मोंका महात्माओंने वर्णन किया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और पूजाविधिका वर्णन ।

राजोवाच

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनाम् ॥ १ ॥

राजा निमिने पूछा—हे आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मुनिगण! जिनकी कामनाएँ शान्त नहीं हुई और इन्द्रियाँ भी जिनके वशमें नहीं हैं तथा जो प्रायः भगवान् हरिका भजन भी नहीं करते, उनकी क्या गति होती है? ॥ १ ॥

चमस उवाच

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २ ॥

चमस बोले—भगवान् आदिपुरुषके मुख, बाहु, जङ्घा और चरणोंसे सत्त्वादि गुणोंके अनुसार आश्रमोंके सहित पृथक्-पृथक् ब्राह्मणादि चार वर्ण उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाःपतन्त्यधः॥ ३ ॥
दूरेहरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः ।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ॥ ४ ॥
विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताःपदान्तिकम्।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥ ५ ॥
कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः॥६॥
रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्॥७॥
वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥ ८ ॥
श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान्खलाः ॥ ९ ॥
सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।

इन वर्णाश्रमोंमें उत्पन्न हुए जो लोग अपने उत्पत्तिस्थान आदिनारायणको नहीं भजते अथवा उनका अनादर करते हैं, वे अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर नीचे गिर जाते हैं ॥ ३ ॥ हाँ, जो कोई हरि-कथा अथवा हरिकीर्तनसे अनभिज्ञ हैं, वे पुरुष-स्त्री और शूद्रगण तो आप-जैसे भगवद्भक्तोंकी दयाके ही पात्र हैं । [अर्थात् उन्हें उनके अज्ञानसे निकालकर आपलोगोंको भगवद्भजनमें प्रवृत्त करना ही चाहिये ।] ॥ ४ ॥ बहुत-से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेदाध्ययन तथा यज्ञोपवीतादि संस्कारोंके कारण हरि-चरणोंकी सन्निधिका अधिकार पाकर भी वैदिक अर्थवादसे मोहित हो जाते हैं ॥ ५ ॥ कर्मका रहस्य न जानने-वाले तथा उद्धत और मूर्ख होकर भी अपनेको पण्डित माननेवाले वे लोग उस फलश्रुतिकी मधुर वाणीसे मोहित होकर बड़ी प्रसन्नतासे बहुत ही प्रिय लगनेवाली बातें कहा करते हैं ॥ ६ ॥ वे कर्माभिमानी-लोग रजोगुणकी अधिकतासे घोर सङ्कल्पवाले, बड़े कामी, सर्पके समान क्रोधी, पाखण्डी, अभिमानी और पापी होते हैं तथा भगवान् अच्युतके प्रिय भक्तोंकी हँसी किया करते हैं ॥ ७ ॥ वे स्त्रीलम्पट पुरुष, जिनमें प्रधानतः मैथुन ही सुख है ऐसे गृहोंमें आसक्त होकर परस्पर वहाँके भोगोंकी ही चर्चा किया करते हैं; वे लोग कर्मके रहस्यसे अनभिज्ञ होते हैं तथा अन्नदान, विधि और दक्षिणासे रहित यागादि करते हुए उदरपूर्तिके लिये पशुओंको मारते रहते हैं ॥ ८ ॥ धन, वैभव, अच्छा कुल, विद्या, दान, रूप, बल और कर्म आदिके गर्वसे अन्धी बुद्धिवाले विचारशून्य होकर वे दुष्ट भगवान्‌के सहित भगवद्भक्त महात्माओंका तिरस्कार करते हैं ॥ ९ ॥ क्योंकि, जो आकाशके समान समस्त देहधारियोंमें सर्वदा स्थित और उनके प्रिय आत्मा हैं, उन वेदवर्णित

१. स्थानभ्रष्टाः । २. मैथुन्यपरेषु । ३. स्व० ।

वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥१०॥
लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥११॥
धनं च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥१२॥
यद्घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥१३॥
ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून्द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥१४॥
द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन्बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः ॥१५॥
ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्।

भगवान्‌के विषयमें वे अज्ञजन कुछ नहीं सुनते; और बातचीतमें भी तरह-तरहकी कामनाओंकी ही चर्चा करते रहते हैं ॥ १० ॥ लोकमें स्त्री-प्रसंग तथा मांस-मद्यके सेवनमें जीवकी स्वभावसे ही सदा प्रवृत्ति है, शास्त्रोंमें उनके लिये कोई विधान नहीं है। अतः उन्हें क्रमशः विवाह, यज्ञ और सौत्रामणियज्ञमें सुराग्रहके द्वारा ग्रहण करनेकी व्यवस्था* है, वास्तवमें इनकी निवृत्ति ही इष्ट है ॥ ११ ॥ धनका भी एकमात्र फल धर्म ही है, जिससे कि विज्ञान (अपरोक्ष साक्षात्कार) के सहित ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उसके पश्चात् शान्ति मिलती है। परन्तु [शोक है कि] लोग उसका उपयोग घर-गृहस्थीके लिये ही करते हैं और [अपने शिरपर खड़ी हुई] इस शरीरकी दुस्तर मृत्युको नहीं देखते ॥ १२ ॥ सौत्रामणियज्ञमें मद्यका केवल सूँघ लेना ही विहित है, पीना नहीं; यज्ञादिमें पशुके आलभन (स्पर्श) का विधान है, हिंसा करनेका नहीं तथा केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ही स्त्री-प्रसंगमें प्रवृत्त होना चाहिये, विषय-सुखके कारण नहीं—इस विशुद्ध धर्मको वे मूर्ख नहीं जानते ॥ १३ ॥ इस यथार्थ तात्पर्यको न जाननेवाले जो दुष्ट अत्यन्त गर्वीले और अपनेमें अच्छेपनका अभिमान रखनेवाले हैं; तथा किसी लाभपर विश्वास करके पशुओंसे द्रोह करते हैं, उनके वध किये हुए वे पशु मरकर उन्हींको खाते हैं ॥ १४ ॥ इस अवश्य नष्ट होनेवाले शरीर [और एक दिन अवश्य छूट जानवाले धन] में स्नेह करके जो अन्य शरीरोंमें अवस्थित अपने ही आत्मा भगवान् श्रीहरिसे द्वेष करते हैं, वे अवश्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥ जिन्होंने [पूर्ण बोधके द्वारा] कैवल्यपदको तो प्राप्त नहीं किया, किन्तु जो मूढ़तासे पार हो चुके हैं, ऐसे

* व्यवस्थाका तात्पर्य इसी अध्यायके श्लोक १३-१४ में देखना चाहिये।

त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥१६॥

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः ।

सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः ॥१७॥

हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः ।

तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः ॥१८॥

अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्गमें फँसे हुए पुरुष एक क्षणको भी शान्ति नहीं पाते और अपने आप ही अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं ॥ १६ ॥ अज्ञान ~~(कर्म)~~ को ही ज्ञान समझनेवाले ये अशान्तात्मा आत्मघातीलोग कालके द्वारा अपने सम्पूर्ण मनोरथोंके नष्ट हो जानेसे अकृतकार्य होकर अत्यन्त दुःख भोगते हैं ॥ १७ ॥ ये भगवद्विरोधीलोग अत्यन्त कष्टसे प्राप्त हुए अपने गृह, पुत्र, मित्र और धन आदिको यहीं छोड़कर विवश हुए घोर अन्धकार (नरक) में पड़ते हैं ॥ १८ ॥

राजोवाच

कस्मिन्काले स भगवान् किंवर्णः कीदृशो नृभिः ।

नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥१९॥

राजा निमि बोले—भगवान्‌का किस समय (किस युगमें) कैसा वर्ण तथा कैसा स्वरूप होता है और किन-किन नामों और विधियोंसे उनकी पूजा होती है ? यह सब आप वर्णन कीजिये ॥ १९ ॥

करभाजन उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः ।

नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥२०॥

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः ।

कृष्णाजिनोपवीताक्षान्बिभ्रद्दण्डकमण्डलू[1] ॥२१॥

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः ।

यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥२२॥

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरो मनुः ।

ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥२३॥

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।

हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥२४॥

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।

यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥२५॥

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः ।

वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥२६॥

करभाजन बोले—हे राजन् ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चारों युगोंमें भगवान् भिन्न-भिन्न वर्ण, नाम और रूपवाले होते हैं, तथा उनकी पूजा भी भिन्न-भिन्न विधियोंसे ही होती है ॥ २० ॥ सत्ययुगमें भगवान् शुक्लवर्ण, चतुर्भुज, जटाजूटधारी तथा वल्कल, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत, रुद्राक्ष और दण्डकमण्डलु धारण करनेवाले होते हैं ॥ २१ ॥ उस समयके शान्त निर्वैर सहृदय और समदर्शीलोग उन भगवान् नारायणकी शम, दम और तपस्याके द्वारा उपासना करते हैं ॥ २२ ॥ उस समय उनका हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, मनु, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामोंसे सङ्कीर्तन किया जाता है ॥ २३ ॥ त्रेतायुगमें भगवान् रक्तवर्ण, चतुर्भुज, त्रिमेखलाधारी, सुनहले केशोंवाले, वेदत्रयीरूप और स्रुक्-स्रुवा आदि यज्ञपात्रोंसे सुशोभित होते हैं ॥ २४ ॥ उस समयके धर्मिष्ठ और ब्रह्मवादी पुरुष उन सर्वदेवमय भगवान् हरिका वेदत्रयीरूप कर्मकाण्ड-की विधिसे पूजन करते हैं ॥ २५ ॥ तथा वे विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं ॥ २६ ॥

१. दण्डकमण्डलुम् ।

द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः ।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥२७॥
तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥२८॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥२९॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने ।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥३०॥
इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु ॥३१॥
कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्[2] ।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥३२॥
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३३॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं[3]
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधाव-
द्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३४॥
एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान्युगवर्तिभिः ।
मनुजैरिज्यते राजञ्श्रेयसामीश्वरो हरिः ॥३५॥
कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते[4] ॥३६॥

द्वापरमें भगवान् श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, अपने चक्रादि आयुधोंसे युक्त तथा श्रीवत्सादि शारीरिक चिह्नोंसे और कौस्तुभादि बाह्य चिह्नोंसे सुशोभित होते हैं ॥ २७ ॥ हे राजन् ! इस प्रकारके उन [छत्र-चामर आदि] राजचिह्नोंसे युक्त परमपुरुषका वे परमात्माके जिज्ञासुलोग वैदिक और तान्त्रिक विधिसे अर्चन करते हैं ॥ २८ ॥ तथा हे राजन् ! 'वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं षडैश्वर्ययुक्त आपको प्रणाम है; ऋषिश्रेष्ठ नारायण, महापुरुष नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप एवं सर्वभूतात्मा आपको बारम्बार प्रणाम है' इस प्रकार अनेकों शास्त्रविधियोंसे द्वापरयुगमें जगदीश्वर-की स्तुति करते हैं। अब जिस प्रकार कलियुगमें भगवान्की उपासना होती है वह भी सुनो ॥२९-३१॥ उस समय कृष्णवर्ण, कृष्णकान्तिमय, साङ्गोपाङ्ग तथा आयुध और पार्षदोंसे युक्त भगवान् कृष्णकी बुद्धिमान्-लोग सङ्कीर्तनप्रधान यज्ञोंद्वारा पूजा करते हैं ॥३२॥ [तथा इस प्रकार स्तुति करते हैं—] 'हे शरणागत-पालक ! हे महापुरुष ! हम आपके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं जो सदा ध्यान करनेयोग्य, मायाकृत पराभव (मोह) को हरनेवाले, वाञ्छित फल देनेवाले, तीर्थस्वरूप, शिव और ब्रह्मादिसे वन्दित, शरणदायक, सेवकोंका दुःख दूर करनेवाले एवं संसार-समुद्रके लिये जहाजरूप हैं ॥ ३३ ॥ हे धर्मात्मन् ! हे महापुरुष ! पिता (दशरथ) के वचनोंसे सुरगणवाञ्छित दुस्त्यज राज्य-वैभवको छोड़कर जो वनको चले गये तथा प्रिया (सीताजी) के अभीष्ट कपटमृगके पीछे दौड़े। उन आपके चरणकमलोंकी हम वन्दना करते हैं' ॥ ३४ ॥ इस प्रकार भिन्न-भिन्न युगोंके लोग अपने-अपने युगके अनुरूप वर्ण, नाम और रूपादिसे समस्त पुरुषार्थोंके अधीश्वर श्रीहरिकी पूजा करते हैं ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! गुणज्ञ और सारग्राही सज्जन पुरुष सबसे अधिक कलियुगको ही प्रिय मानते हैं जिसमें भगवान्के नाम-सङ्कीर्तनसे ही सम्पूर्ण स्वार्थकी सिद्धि हो जाती है ॥ ३६ ॥

१. तथा । २. साङ्गोपाङ्गं सपार्षदम् । ३. राजलक्ष्मीम् । ४. ऽपि लभ्यते ।

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥३७॥
कृतादिषु प्रजा राजन्कलाविच्छन्ति सम्भवम् ।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥३८॥
क्वचित्क्वचिन्महाराज द्राविडेषु च भूरिशः[१] ।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ॥३९॥
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।
प्रायो भक्ता भविष्यन्ति[२] वासुदेवेऽमलाशयाः ॥४०॥
देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तुम् ॥४१॥
स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चि-
द्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥४२॥

नारद उवाच

धर्मान्भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः ।
जायन्तेयान्मुनीन्प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत् ॥४३॥
ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः ।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥४४॥
त्वमप्येतान्महाभाग धर्मान्भागवताञ्छ्रुतान् ।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम् ॥४५॥
युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत् ।
पुत्रतामगमद्यद्वां भगवानीश्वरो हरिः ॥४६॥
दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः[३] ।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः ॥४७॥

इस जन्म-मरणके चक्रमें पड़कर घूमते हुए प्राणियोंका इस (हरि-कीर्तन) से बढ़कर और कोई लाभ नहीं है; क्योंकि इससे संसार-बन्धन टूट जाता है और परम शान्ति प्राप्त होती है ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! सत्यादि युगोंमें रहनेवाले लोग भी इस कलियुगमें जन्म लेना चाहते हैं । इस कलिमें कितने ही भगवद्भक्त महापुरुष जहाँ-तहाँ जन्म लेंगे, उनमेंसे अधिकतर द्रविडदेशमें होंगे जहाँ कि ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, महापवित्र कावेरी, प्रतीची और महानदी आदि नदियाँ बहती हैं । हे राजन् ! जो लोग उन नदियोंका जल पीते हैं वे प्रायः शुद्धचित्त होकर भगवान् वासुदेवके भक्त हो जाते हैं ॥ ३८-४० ॥ हे राजन् ! जो समस्त कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी शरणमें जाता है वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण किसीका भी दास अथवा ऋणी नहीं रहता ॥ ४१ ॥ अनन्य-भावसे अपने चरणकमलोंका ही भजन करनेवाले अपने अनुरक्त भक्तसे यदि अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदयमें विराजमान प्रभु उन सबका मार्जन कर देते हैं ॥ ४२ ॥

श्रीनारदजी बोले—इस प्रकार भागवत-धर्मोंको सुनकर उपाध्यायोंके सहित मिथिलाधिपति महाराज निमिने उन जयन्तीनन्दन[१] योगीश्वरोंका पूजन किया ॥ ४३ ॥ फिर सब लोगोंके देखते-देखते वे सिद्धगण अन्तर्धान हो गये और राजाने उन धर्मोंका आचरण करके अन्तमें परमपद प्राप्त किया ॥ ४४ ॥ हे महाभाग वसुदेवजी ! तुम भी संसारसे असंग रहकर इन सुने हुए भागवत-धर्मोंमें श्रद्धापूर्वक स्थिर होनेसे परमगति प्राप्त करोगे ॥ ४५ ॥ तुम दोनों स्त्री-पुरुषोंके यशसे तो सारा संसार भरा हुआ है, क्योंकि त्रिलोकी-नाथ भगवान् हरि तुम्हारे पुत्र-भावको प्राप्त हुए हैं ॥ ४६ ॥ भगवान् कृष्णमें पुत्रस्नेह करते हुए उनको देखने, आलिङ्गन करने, वार्तालाप करने एवं साथ-साथ सोने, बैठने और भोजनादि करनेसे तुम दोनोंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लिया है ॥ ४७ ॥

१. भूयसः । २. भगवति । ३. सशय्यासनभोजनैः ।

१. जयन्ती उनकी माताका नाम था ।

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-[1]
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृतधियः[2] शयनासनादौ[3]
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥४८॥
मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे[4] ।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये ॥४९॥
भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम् ।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते ॥५०॥

जब वैरभावके कारण शिशुपाल, पौण्ड्र और शाल्वादि राजालोग सोने-बैठने आदिमें भी श्रीकृष्णचन्द्रकी गति, चितवन और चेष्टा आदिका ध्यान रहनेसे ही तच्चित्त रहनेके कारण उन्हींके समान हो गये तो जो उनके एकमात्र प्रेमी भक्त हैं उनकी तो बात ही क्या है ! ॥ ४८ ॥ माया-मानवरूपसे जिन्होंने अपने ऐश्वर्यको छिपा रक्खा है, उन परमपुरुष अव्यय और सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें तुम पुत्र-बुद्धि मत करो ॥ ४९ ॥ भूमिके भारभूत राजवेषधारी असुरोंके नाश और सज्जनोंकी रक्षाके लिये ही अवतार लेनेवाले इन श्रीकृष्णचन्द्रका यश मुक्तिके लिये ही संसारमें फैला है ॥ ५० ॥

श्रीशुक[5] उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः ।
देवकी च[6] महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥५१॥
इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद्यः समाहितः ।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! यह सुनकर महाभाग वसुदेवजी और परम सौभाग्यवती देवकीने अति विस्मित होकर अपना मोह छोड़ दिया ॥ ५१ ॥ जो कोई सावधान होकर इस पवित्र इतिहासको स्मरण रखता है, वह इस लोकमें मोहका नाश कर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

श्रीकृष्ण और उद्धवके संवादका प्रारम्भ ।

श्रीशुक[7] उवाच

अथ ब्रह्मात्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात् ।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥ १ ॥
इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः ॥ २ ॥
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धचारणगुह्यकाः ।
ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः ॥ ३ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार अपने पुत्रों, देवताओं और प्रजापतियोंके सहित ब्रह्माजी, भूतगणोंसे घिरे हुए भूतभावन भगवान् शङ्कर, मरुद्गणोंके सहित देवराज इन्द्र, बारहों आदित्य, आठों वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, अङ्गिरा, रुद्र, विश्वेदेव, साध्यगण, देवगण, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृगण, विद्याधर और किन्नर—ये सब मिलकर श्रीकृष्णचन्द्रको

१. शिशुपालशाल्वपौण्ड्रादयो । २. आकृतिधियः । ३. शयनासनादौ । ४. सर्वेश्वरे गुरौ । ५. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ६. तु । ७. श्रीबादरायणिरुवाच ।

द्वारकामुपसंजग्मुः सर्वे कृष्णदिदृक्षवः ।
वपुषा येन भगवान्नरलोकमनोरमः ।
यशो वितेने लोकेषु सर्वलोकमलापहम् ॥ ४ ॥
तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभिः ।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम् ॥ ५ ॥
स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम् ।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम् ॥ ६ ॥

देखनेके लिये द्वारकामें आये जिसके द्वारा नरलोक-मनोरम भगवान्‌ने सम्पूर्ण संसारके मलको हरनेवाला अपना परम पावन सुयश समस्त लोकोंमें फैलाया था ॥ १-४ ॥ वे सब महती समृद्धिसे सम्पन्न अत्यन्त देदीप्यमान द्वारकापुरीमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रकी अद्भुत छविको अतृप्त नेत्रोंसे निहारने लगे और स्वर्गोद्यान नन्दनवनमें उत्पन्न हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे यदुश्रेष्ठको आच्छादित करते हुए उन्होंने [इस प्रकार] विचित्र पद और अर्थयुक्त सुललित वाक्यावली-से जगन्नायक भगवान्‌की स्तुति की—॥ ५-६ ॥

देवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै-
र्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ ७ ॥
त्वं मायया त्रिगुणयात्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत्स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥ ८ ॥
शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात् ॥ ९ ॥
स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि-
र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥१०॥
यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ।

देवगण बोले—हे नाथ ! कर्ममय विकट बन्धनसे छूटनेके इच्छुक भावुक भक्तजन आपके जिन चरणार-विन्दोंका अपने हृदयके भीतर निरन्तर ध्यान करते हैं उन्हें हम बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वचनसे प्रणाम करते हैं ॥ ७ ॥ आप अपनी त्रिगुणमयी मायासे उसके गुणोंमें नियन्तारूपसे स्थित होकर इस अनिर्वचनीय प्रपञ्चकी रचना, पालन और संहार किया करते हैं, किन्तु हे अजित ! आप इन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते, क्योंकि आप अपने अखण्ड आनन्दमें निमग्न और रागादि दोषोंसे रहित हैं ॥ ८ ॥ हे सर्वश्रेष्ठ पूज्य प्रभो ! जिनके मन मलिन हैं उन लोगोंकी विद्या, शास्त्रश्रवण, स्वाध्याय, दान, तप और क्रियासे वैसी शुद्धि कदापि नहीं हो सकती जैसी कि आपके परम पावन यशके श्रवणद्वारा पुष्ट एवं बढ़ी हुई उत्तम श्रद्धासे सत्पुरुषोंकी शुद्धि होती है ॥ ९ ॥ हे भगवन् ! मुनिगण अपने कल्याणके लिये जिनका प्रेमार्द्र हृदयसे पूजन करते हैं, धीर सात्वतगण (वैष्णव-गण अथवा सात्वतवंशी यादव लोग) समान वैभव (सालोक्यादि) की प्राप्ति और स्वर्गके अतिक्रमणके लिये जिन्हें तीनों समय [वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार] व्यूहोंद्वारा पूजते हैं, याजकगण वेदत्रयीद्वारा बतायी हुई विधिसे अपने संयत हाथोंमें हविष्य लेकर यज्ञाग्निमें आहुति देते हुए जिनका चिन्तन करते हैं तथा आपकी

१. वितनुते लोके । २. आत्मविद्भिः ।

अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥११॥
पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः ।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात्सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः ॥१२॥
केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्
पादः पुनातु भगवन्भजतामघं नः ॥१३॥
नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥१४॥
अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥१५॥
त्वत्तः पुमान्समधिगम्य[1] यया स्ववीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥१६॥
तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।

मायाके जिज्ञासु योगिजन जिनका अध्यात्मयोगद्वारा ध्यान करते हैं और जो परम भागवतोंके एकमात्र परम इष्ट हैं, आपके वे चरणकमल हमारे समस्त अशुभको भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप हों ॥१०-११॥ हे विभो ! आपकी कुम्हलायी हुई वनमालासे भगवती श्रीलक्ष्मीजी यद्यपि सौतके समान डाह करती हैं [क्योंकि माला और लक्ष्मीजी दोनों एक ही स्थान—आपके वक्षःस्थलमें रहती हैं] तथापि [भक्तोंका प्रेमोपहार होनेके कारण] आप इस मालाद्वारा किया हुआ अर्चन-पूजन स्वीकार करते ही हैं । ऐसे आपके चरणकमल हमारे अशुभको भस्म करनेके लिये सदा अग्निस्वरूप हों ॥१२॥ हे भूमन् ! वामन अवतारमें तीन धाराओंमें बहनेवाली त्रिपथगामिनी श्रीगङ्गाजी जिसकी पताका थीं, तथा जो दानवोंको भय और देवताओंको अभय देनेवाला तथा साधुओंको स्वर्ग और दुष्टोंको नरकमें ले जानेवाला है ऐसा आपका वह तीन डगोंसे युक्त चरण आपको भजनेवाले हमलोगोंके पापोंका परिशोध करे ॥१३॥ काम-क्रोधादिके कारण जिनमें परस्पर सङ्घर्ष हुआ करता है वे ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देहधारी नाकमें नथे हुए बैलोंके समान जिन कालरूप और प्रकृति-पुरुषसे अतीत आपके वशीभूत हैं उन आप पुरुषोत्तमका चरणकमल हमारा कल्याण करे ॥ १४ ॥ आप ही इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण हैं, क्योंकि शास्त्रोंने आपहीको प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वका भी नियन्त्रण करनेवाला काल कहा है । शीत, ग्रीष्म और वर्षारूप तीन नाभियोंवाले, गम्भीर वेगवाले कालरूप आप पुरुषोत्तम ही इस सम्पूर्ण संसारका क्षय करनेमें प्रवृत्त हैं ॥ १५ ॥ आपकी प्रेरणासे ही यह अमोघवीर्य पुरुष प्रकृतिसे संयुक्त होकर महत्तत्त्व-रूप गर्भको स्थापित करता है और फिर त्रिगुणमयी मायाका अनुसरण करता हुआ वह महत्तत्त्व ही [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और मनरूप] सात आवरणोंसहित इस सुवर्ण-वर्ण ब्रह्माण्ड-की रचना करता है ॥ १६ ॥ अतः हे हृषीकेश ! आप सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के अधीश्वर हैं; इसीसे मायाके गुणवैषम्यके द्वारा उपस्थित हुए इन समस्त

१. समभिकृत्य ।

अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥१७॥

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥१८॥

विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम्[1]।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति ॥१९॥

बादरायणिरुवाच

इत्यभिष्टूय विबुधैः[2] सेशः शतधृतिर्हरिम् ।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो ।
त्वमस्माभिरशेषात्मंस्तत्तथैवोपपादितम् ॥२१॥
धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया ।
कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा ॥२२॥
अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद्रूपमनुत्तमम् ।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः ॥२३॥
यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ ।
शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः ॥२४॥
यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम ।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो ॥२५॥
नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम् ।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥२६॥

पदार्थोंको भोगते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होते, जब कि और लोग उनका स्वयं त्याग करके भी उनसे डरते रहते हैं ॥ १७ ॥ [आपकी निर्विकारताका कहाँतक वर्णन किया जाय ?] जिनके इन्द्रियग्रामको मन्द मुसकानयुक्त चितवनसे प्रदर्शित भाव-भङ्गीयुक्त भ्रुकुटियोंसे चलाये हुए सुरत-मन्त्र-परिपुष्ट कामबाणोंसे सोलह सहस्र रमणियाँ भी विद्ध नहीं कर सकीं ! ॥ १८ ॥ आपके कथामृतरूप जलके प्रवाहसे युक्त आपकी कीर्तिनदी तथा आपके पादप्रक्षालनके जलसे उत्पन्न श्रीगङ्गाजी दोनों त्रिलोकीकी पापराशिको धोनेमें समर्थ हैं, अतः सत्संगसेवी विवेकीजन श्रवणेन्द्रियद्वारा आपकी कीर्तिनदीमें और शरीरद्वारा श्रीगङ्गाजीमें गोता लगाते हुए इन दोनों ही तीर्थोंका सेवन करते रहते हैं ॥ १९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अन्य देवताओं-और श्रीमहादेवजीके सहित आकाशमें स्थित भगवान् ब्रह्माजी श्रीकृष्णचन्द्रकी इस प्रकार स्तुति कर उन्हें प्रणाम करके बोले ॥ २० ॥

श्रीब्रह्माजी बोले—हे सर्वात्मन् प्रभो ! पहले हमने ही आपसे भूमिका भार उतारनेके लिये प्रार्थना की थी, सो वह सब कार्य आपने यथोचितरूपसे सम्पन्न किया ॥ २१ ॥ आपने सत्यपरायण साधु पुरुषोंमें धर्मकी स्थापना भी कर दी और सम्पूर्ण लोकोंके मलको हरनेवाली अपनी कीर्तिका भी दशों दिशाओंमें विस्तार कर दिया ॥ २२ ॥ आपने यदुकुलमें अवतार लेकर इस अनुपम दिव्य स्वरूपको धारण कर जगत्के कल्याणके लिये उदार पराक्रमसे युक्त अनेकों कार्य किये हैं ॥२३॥ हे भगवन् ! आपके जो चरित्र हैं उनका श्रवण और कीर्तन करनेवाले साधु पुरुष कलियुगमें सुगमतासे ही अज्ञानान्धकारको पार कर जायँगे ॥२४॥ हे पुरुषोत्तम ! हे प्रभो ! आपको यदुवंशमें आविर्भूत हुए एक सौ पचीस वर्ष बीत चुके हैं ॥ २५ ॥ हे सर्वाधार ! अब देवताओंका कोई कार्य आपको करनेके लिये शेष नहीं रहा और विप्रशापसे आपका यह कुल भी अब नष्टप्राय हो गया है ॥ २६ ॥

१. शमलं निहन्तुम् । २. सुरैः ।

ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे ।
सलोकाँल्लोकपालान्नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान् ॥२७॥

इसलिये यदि आपकी इच्छा हो तो अपने परम धामको पधारिये और लोकोंके सहित अपने दास हम लोकपालोंका पालन कीजिये ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर ।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः ॥२८॥
तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम् ।
लोकं जिघृक्षद्रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः ॥२९॥
यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम् ।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति ॥३०॥
इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापतः ।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघ ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—हे देवेश्वर ! तुम जैसा कहते हो मैं भी वैसा ही निश्चय कर चुका हूँ । मैंने तुम लोगोंका सम्पूर्ण कार्य कर दिया और पृथिवीका भार भी उतार दिया । यह यादवकुल बल, विक्रम और वैभवसे उन्मत्त होकर संसारका ग्रास करना चाहता था, इसे मैंने इसी प्रकार रोक रक्खा है जैसे किनारा महासागरको रोके रहता है । इस उद्धत और बढ़े हुए यदुवंशका विनाश किये बिना यदि मैं चला जाऊँगा तो इस उच्छृङ्खल समुदायद्वारा यह समस्त लोक नष्ट हो जायगा । अब, ब्राह्मणोंके शापसे इसका नाश होनेहीवाला है, अतः हे ब्रह्मन् ! हे निष्पाप ! मैं भी इसका अन्त होनेपर तुम्हारे धामको जाऊँगा ॥ २८-३१ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम् ।
सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत ॥३२॥
अथ तस्यां महोत्पातान्द्वारवत्यां समुत्थितान् ।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान्समागतान् ॥३३॥

श्रीशुकदेवजी बोले—विश्वनाथ भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर देवताओंके सहित श्रीब्रह्माजी उनको प्रणाम करके अपने लोकको चले गये ॥ ३२ ॥ इसके अनन्तर, द्वारकापुरीमें नित्य नये महान् उत्पात होते देखकर अपने पास आये हुए बड़े-बूढ़ोंसे भगवान्‌ने कहा—॥ ३३ ॥

श्रीभगवानुवाच

एते वै सुमहोत्पाता ह्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः[1] ।
शापश्च नः कुलस्यासीद्ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः ॥३४॥
न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः ।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं[3] यास्यामोऽद्यैव मा चिरम् ॥३५॥
यत्र स्नात्वा दक्षशापाद्गृहीतो यक्ष्मणोडुराट् ।
विमुक्तः किल्बिषात्सद्यो भेजे भूयः कलोदयम् ॥३६॥
वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितॄन्सुरान् ।
भोजयित्वोशिजो विप्रान्नानागुणवतान्धसा ॥३७॥

श्रीभगवान् बोले—आजकल यहाँ सब ओरसे ये बड़े-बड़े उत्पात होते रहते हैं और हमारे कुलको ब्राह्मणोंका दुस्तर शाप भी लगा ही हुआ है । अतः हे आर्यगण ! यदि हम जीना चाहते हों तो मेरी सम्मतिमें अब हमको यहाँ नहीं रहना चाहिये । आओ, अब अधिक विलम्ब न करके आज ही परम-पवित्र प्रभासक्षेत्रको चलें, जिसमें स्नान करनेसे चन्द्रमा दक्षप्रजापतिके शापसे प्राप्त हुए क्षयरोगसे मुक्त हो गये थे और दोषमुक्त हो जानेके कारण उनकी कलाएँ फिर बढ़ने लगी थीं । हम भी उसीमें स्नान करके पितरों और देवताओंका तर्पण करेंगे और उत्साहपूर्वक नाना सुस्वादु व्यञ्जनोंसे उत्तम ब्राह्मणोंको भोजन

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । २. सर्वशः । ३. सुमहापुण्यम् ।
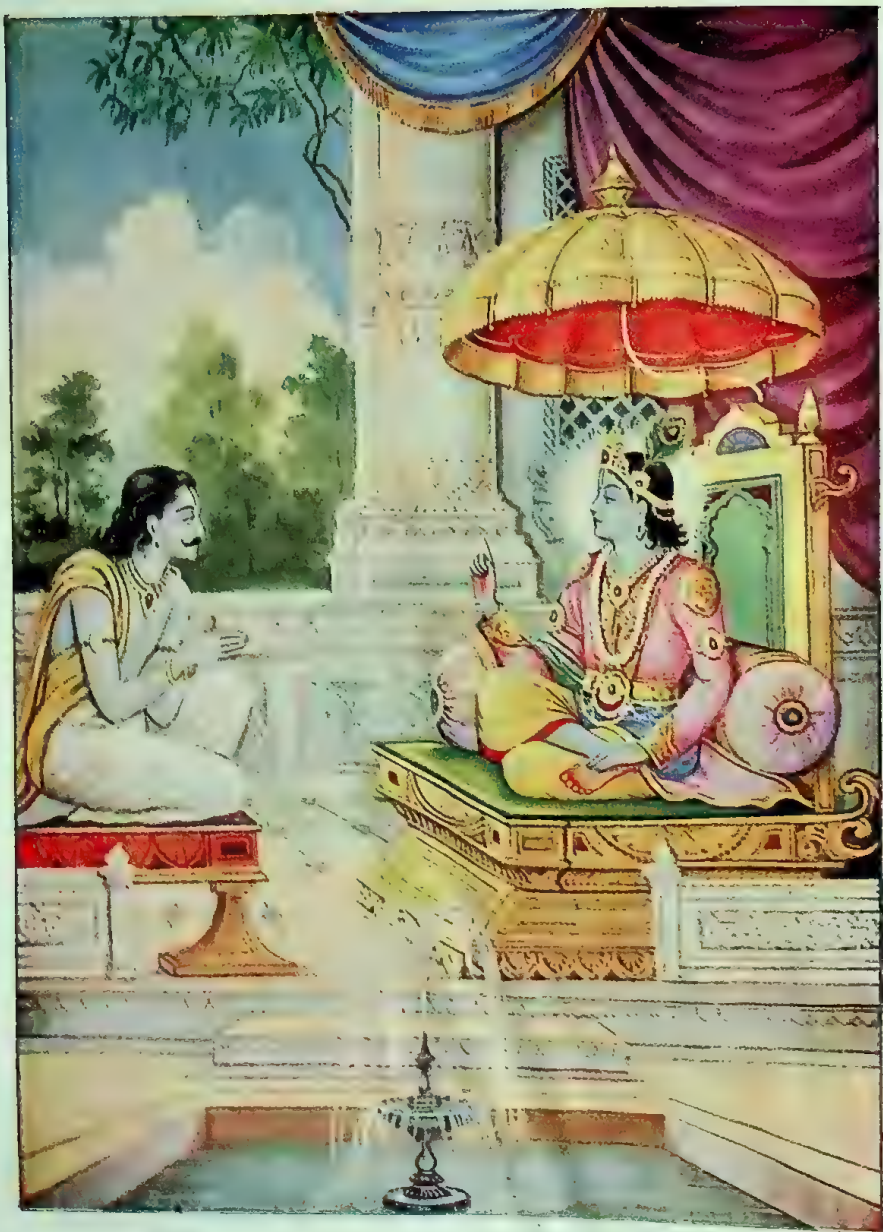
भक्त उद्धव और भगवान् श्रीकृष्ण

[पृष्ठ ७२१

तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै ।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम् ॥३८॥

करावेंगे । उस क्षेत्रमें श्रद्धापूर्वक सत्पात्रको दान देकर हम उस दानके द्वारा इन महान् सङ्कटोंको उसी प्रकार पार कर जायँगे जैसे [लोग] सुदृढ़ नौकामें बैठकर समुद्रके पार हो जाते हैं ॥ ३७-३८ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवतादिष्टा यादवाः कुलनन्दन[1] ।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान्समयूयुजन् ॥३९॥
तन्निरीक्ष्योद्धवो राजञ्छ्रुत्वा भगवतोदितम् ।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः ॥४०॥
विविक्त उपसङ्गम्य जगतामीश्वरेश्वरम् ।
प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत ॥४१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुकुलनन्दन राजा परीक्षित् ! भगवान्‌का ऐसा आदेश होनेपर प्रभासतीर्थ-को जानेके लिये यादव लोग अपने रथ आदि सजाने लगे ॥३९॥ यह सब तैयारियाँ देखकर, भगवान्‌की आज्ञा सुनकर और नित्यप्रतिके अरिष्टसूचक उत्पात देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके अनुगत भक्त उद्धवजी एकान्तमें जा जगत्‌के ईश्वर भगवान् कृष्णके चरणोंपर शिर रखकर प्रणाम करनेके अनन्तर हाथ जोड़कर उनसे कहने लगे ॥ ४०-४१ ॥

उद्धव[2] उवाच

देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन ।
संहृत्यैतत्कुलं नूनं लोकं सन्त्यक्ष्यते भवान् ।
विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः ॥४२॥
नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव ।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥४३॥
तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम् ।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहां[3] जनः ॥४४॥
शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु ।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेमहि ॥४५॥
त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥४६॥
वाताशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः ।

उद्धवजी बोले—जिनके सुयशका श्रवण और कीर्तन परम पवित्र है ऐसे हे देवदेवेश्वर ! हे योगेश्वर ! आपने समर्थ होकर भी जो ब्राह्मणोंके शापका प्रतिकार नहीं किया इससे हे प्रभो ! प्रतीत होता है कि इस कुलका संहार करके आप भी इस लोकको अवश्य छोड़ देंगे ॥ ४२ ॥ हे केशव ! मैं तो आपके चरणकमलोंको आधे क्षणके लिये भी छोड़ना नहीं चाहता, अतः हे नाथ ! मुझे भी अपने साथ अपने धामको ले चलिये ॥ ४३ ॥ हे कृष्ण ! आपकी क्रीडाएँ मनुष्योंका परम मङ्गल करनेवाली हैं, उस कर्णामृतका पान करके आपका भक्त अन्य समस्त इच्छाओंको त्याग देता है ॥ ४४ ॥ सोने, बैठने, घूमने, घरमें रहने और स्नान, क्रीडा तथा भोजन करने आदि समस्त व्यापारोंमें निरन्तर आपके साथ रहनेवाले आपके प्रेमी भक्त हमलोग अपने प्रिय आत्मारूप आपको कैसे छोड़ सकेंगे ? ॥ ४५ ॥ आपकी भोगी हुई माला, चन्दन, वस्त्र और अलङ्कारोंको धारण करने तथा आपका उच्छिष्ट (जूठन) भोजन करनेवाले हम आपके दास आपकी मायाको अवश्य जीत लेंगे ॥ ४६ ॥ जो वाताहारी (वायु भक्षण करनेवाले) ऊर्ध्वरेता और अध्यात्मविद्यामें श्रम करने-

१. कुरुनन्दन। २. प्राचीन प्रतिमें नहीं है। ३. त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ।

ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः ४७
वयं त्विह महायोगिन्भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ।
त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥४८॥
स्मरन्तः कीर्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च ।
गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम् ॥४९॥

वाले ऋषिगण हैं तथा जो निर्मलचित्त शान्त संन्यासी हैं वे आपके ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं ॥ ४७ ॥ किन्तु हे महायोगेश्वर ! हम तो इस कर्मकलापमें पड़े हुए ही आपके भक्तोंके साथ आपके चरित्र, बोलचाल, गति, मुसकान, चितवन, परिहास और माया-मानवरूपसे की हुई अन्यान्य चेष्टाओंकी परस्पर चर्चा, स्मरण तथा कीर्तन करके ही आपकी दुस्तर मायाको पार कर लेंगे ॥४८-४९॥

श्रीशुक उवाच

एवं विज्ञापितो राजन्भगवान्देवकीसुतः ।
एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत ॥५०॥

श्रीशुकदेवजी बोले--हे राजन् ! इस प्रकार निवेदन किये जानेपर भगवान् देवकीनन्दन अपने अनन्य और प्रिय भक्त उद्धवसे बोले ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

अवधूतोपाख्यानका प्रारम्भ ।

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे ।
ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः[2] ॥ १ ॥
मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः ।
तदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥ २ ॥
कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात् ।
समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥ ३ ॥
यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः ।
भविष्यत्यचिरात्साधो कलिनापि निराकृतः ॥ ४ ॥
न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ।
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥ ५ ॥
त्वं तु सर्वं[1] परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु[3] ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक्समदृग्विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले--हे महाभाग उद्धव ! तुम जो कुछ कहते हो, मैं वही करना चाहता हूँ; ब्रह्मा और महादेव आदि लोकपालगण मेरे गोलोकगमनके इच्छुक हैं ॥ १ ॥ मैंने यहाँ देवताओंका सम्पूर्ण कार्य समाप्त कर दिया है। इसीके लिये मैंने ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे अपने अंश बलदेवजीके साथ अवतार लिया था ॥ २ ॥ अब विप्रशापसे दग्ध हुआ यह कुल भी परस्परके युद्धसे नष्ट हो जायगा और इस द्वारकापुरीको आजसे सातवें दिन समुद्र डुबो देगा ॥ ३ ॥ तथा हे साधो ! जिस दिन मैं इस लोकको छोड़ दूँगा उसी दिनसे यह मङ्गलहीन होकर शीघ्र ही कलियुगसे अभिभूत हो जायगा ॥ ४ ॥ इस पृथिवीतलको मेरे छोड़ देनेपर फिर तुमको भी यहाँ नहीं रहना चाहिये, क्योंकि हे भद्र ! कलियुगमें प्रजाकी रुचि अधर्ममें ही होगी ॥ ५ ॥ अब तुम अपने कुटुम्बी बन्धुजनोंका सम्पूर्ण मोह छोड़कर मुझमें भलीभाँति चित्त लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए [स्वच्छन्दतापूर्वक] पृथिवीपर विचरो ॥ ६ ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । २. भिकाङ्क्षिताः । ३. स्वजनबन्धनम् ।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७ ॥
पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥ ८ ॥
तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९ ॥
ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥१०॥
दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः ॥११॥
सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।
पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप ।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम् ॥१३॥

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्न्यास योगात्मन्योगसम्भव ।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः सन्न्यासलक्षणः॥१४॥
त्यागोऽयं दुष्करो भूमन्कामानां विषयात्मभिः ।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः ॥१५॥

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे ।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥१६॥

मन, वाणी, नेत्र और कर्ण आदिसे यह जो कुछ प्रतीत होता है सब नाशवान् है । मनोमय होनेके कारण इसे तुम माया ही जानो ॥ ७ ॥ असंयतचित्त पुरुषको ही भेदबुद्धि होती है । वह गुण-दोषमय भ्रम ही है । उस गुण-दोषमयी बुद्धिके ही कर्म, अकर्म और विकर्मरूप भेद हैं । इसलिये चित्त और इन्द्रियोंका संयम कर इस जगत्को अपने आत्मामें और अपने व्यापक आत्माको मुझ परमात्मामें देखो ॥ ८-९ ॥ इस प्रकार ज्ञान और विज्ञानसे युक्त होनेपर तुम समस्त देहधारियोंके आत्मस्वरूप हो जाओगे तथा आत्मानुभवसे ही सन्तुष्ट होनेके कारण फिर विघ्नोंसे बाधित न होगे ॥ १० ॥ इस प्रकार गुण-दोष दोनों प्रकारकी बुद्धिसे छूटा हुआ पुरुष न तो दोष-दृष्टिसे निषिद्धका त्याग करता है और न गुण-बुद्धिसे विहित-का अनुष्ठान करता है; जिस प्रकार कि बालक ॥ ११ ॥ वह समस्त प्राणियोंका सुहृद् (शुभचिन्तक), शान्त और ज्ञान-विज्ञानके अटल निश्चयसे सम्पन्न होता है; तथा सम्पूर्ण जगत्को मेरा ही स्वरूप देखता हुआ फिर किसी विपत्तिमें नहीं पड़ता ॥ १२ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! भगवान्का ऐसा उपदेश सुनकर महान् भगवद्भक्त और आत्मतत्त्वके जिज्ञासु उद्धवजी अच्युतको प्रणाम करके इस प्रकार बोले ॥ १३ ॥

श्रीउद्धवजी बोले—हे योगेश्वर ! हे योगवेत्ताओं-के गुह्य निधि ! हे योगस्वरूप ! हे योगके उत्पत्तिस्थान ! आपने मेरे निःश्रेयस (मोक्ष) के लिये संन्यासरूप कर्म-त्यागका उपदेश किया ॥ १४ ॥ किन्तु हे भूमन्! हे सर्वात्मन् ! मेरा ऐसा विचार है कि विषयलोलुप लोगोंके लिये यह कामनाओंका त्याग कठिन है; विशेषतः आपमें जिनकी भक्ति नहीं है उनके लिये तो वह और भी दुःसाध्य है ॥ १५ ॥ हे नाथ ! ऐसा ही मैं भी हूँ। 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकारकी मूढ़ बुद्धिसे युक्त होकर मैं आपकी मायासे विरचित देह और स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियोंमें निमग्न हो गया हूँ । अतः हे भगवन् ! इस दासको संक्षेपसे कहे हुए इस संन्यासतत्त्वका इस प्रकार उपदेश कीजिये जिससे कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ ॥ १६ ॥

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे ।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥१७॥

हे भगवन् ! आप सत्यस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्मा ही हैं; आपसे अच्छा आत्मज्ञानका उपदेशक तो मुझे देवताओंमें भी दिखलायी नहीं देता । ये ब्रह्मा आदि समस्त देहधारी आपकी ही मायासे मुग्धचित्त होकर इन मायिक पदार्थोंको सत्य मान रहे हैं ॥ १७ ॥

तस्माद्भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।
निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥१८॥

अतः नाना प्रकारकी आपत्तियोंसे सन्तप्त होकर संसारसे खिन्नचित्त हुआ मैं निर्मल, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ, ईश्वर, कालादिसे अपरिच्छेद्य वैकुण्ठधाममें रहनेवाले तथा साक्षात् नरके सखा नारायणस्वरूप आपकी शरण आया हूँ ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः ।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥१९॥
आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।
यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥२०॥
पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः ।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥२१॥
एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः ।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥२२॥
अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥२३॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥२४॥
अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥२५॥

श्रीभगवान् बोले—संसारतत्त्वका आलोचन करनेवाले मनुष्य प्रायः स्वयं ही अपने चित्तकी अशुभ वासनाओंसे अपना उद्धार कर लेते हैं ॥ १९ ॥ [अपने हित या अहितको जाननेमें] समस्त प्राणियोंका आत्मा ही अपना गुरु है । उनमें भी मनुष्यका आत्मा तो विशेषरूपसे ऐसा ही है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा तुरन्त ही अपने श्रेयका निर्णय कर सकता है ॥ २० ॥ मनुष्योंमें भी जो बुद्धिमान् पुरुष सांख्ययोग (प्रकृति-पुरुष-विवेक) में कुशल हैं वे सर्वशक्तिसम्पन्न मेरे स्वरूपको भलीभाँति देख पाते हैं ॥ २१ ॥ मैंने एकपद, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद, बहुपद और पादहीनरूपसे नाना प्रकारके शरीरोंकी रचना की है, किन्तु उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय तो मनुष्य-शरीर ही है ॥ २२ ॥ क्योंकि संयतचित्त पुरुष इसी देहमें हेतु और फलका विचार करते हुए दिखायी देनेवाले गुण (बुद्धि आदि इन्द्रिय) रूप लिङ्गोंके द्वारा अनुमान करके मुझ अग्राह्यका अनुसन्धान करते हैं ॥ २३ ॥ इस विषयमें अवधूत और महान् तेजस्वी यदुके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उल्लेख किया जाता है ॥ २४ ॥ एक बार धर्मज्ञ राजा यदुने एक सर्वथा निर्भीक महाविद्वान् युवा अवस्थावाले अवधूतको विचरते देखकर पूछा—॥ २५ ॥

यदुरुवाच[3]

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा ।
यामासाद्य भवाँल्लोके विद्वांश्चरति बालवत् ॥२६॥

यदुने कहा—हे ब्रह्मन् ! कर्तापनके भावसे रहित आपको ऐसी विमल बुद्धि किस प्रकार और कहाँसे प्राप्त हुई जिसका आश्रय लेकर आप विद्वान् होकर भी बालकके समान [असङ्ग भावसे] विचरते हैं ॥ २६ ॥

१. रिह मुहुः । २. करुणम् । ३. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः ।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः ॥२७॥
त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः ।
न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥२८॥
जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना ।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः ॥२९॥
त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥३०॥

लोग प्रायः आयु, यश अथवा वैभवादिके हेतुसे ही अर्थ, धर्म, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासामें प्रवृत्त होते हैं ॥ २७ ॥ किन्तु आप तो समर्थ, विद्वान्, दक्ष, सुन्दर और मिष्टभाषी होकर भी जड, उन्मत्त अथवा पिशाचके समान न कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं ॥ २८ ॥ संसारमें सभी लोग लोभ और कामनाओंके दावानलसे जल रहे हैं किन्तु गङ्गाजलमें खड़े हुए गजराजके समान उस अग्निसे मुक्त होनेके कारण आप उससे सन्तप्त नहीं हैं ॥ २९ ॥ हे ब्रह्मन् ! हम पुत्र-कलत्रादि संसार-स्पर्शसे रहित एवं आत्मस्वरूपमें स्थित आपके आनन्दका कारण पूछते हैं, सो आप हमें बतलाइये ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा ।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—ब्राह्मणोंके भक्त और अच्छी बुद्धिवाले यदुके इस प्रकार पूछनेपर वे महाभाग द्विज-श्रेष्ठ प्रसन्न होकर उस विनयावनत राजासे कहने लगे ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन्बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु ॥३२॥
पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः ॥३३॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।
कुमारी शरकृत्सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥३४॥
एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।
शिक्षावृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥३५॥
यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥३६॥
भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः ।
तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥३७॥

अवधूत बोले—हे राजन् ! मेरे बहुत-से गुरु हैं जिनको मैंने अपनी बुद्धिसे ही स्वीकार किया है और जिनसे विवेक-बुद्धि पाकर मैं बन्धनरहित हुआ स्वच्छन्द विचरता हूँ; उनके नाम सुनो—॥ ३२ ॥ पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी (शहद ले जानेवाला), हरिण, मीन, पिङ्गला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी, बाण बनानेवाला, सर्प, ऊर्णनाभि (मकड़ी) और भृङ्गीकीट ॥ ३३-३४ ॥ हे राजन् ! मैंने इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया था और इन्हींसे शिक्षा ग्रहण करते हुए मैंने इस लोकमें अपनेको सुशिक्षित किया है ॥ ३५ ॥ अब हे ययातिनन्दन ! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, हे पुरुषसिंह ! वह सब मैं ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ३६ ॥ [पृथ्वीपर नाना प्रकारके आघात और उत्पात होते हैं, किन्तु वह सदा समभावयुक्त और शान्त रहती है, उसी प्रकार] दैवमायासे प्रेरित प्राणी यदि कष्ट भी पहुँचावें तब भी विद्वान्को चाहिये कि वह अपने मार्गसे विचलित न हो । यह धैर्य-व्रत मैंने पृथ्वीसे सीखा है ॥ ३७ ॥

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः ।
साधुः शिक्षेत भूभृतो नगशिष्यः परात्मताम् ॥३८॥
प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥३९॥
विषयेष्वाविशन्योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥४०॥
पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥४१॥

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥४२॥

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत्कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥४३॥
स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥४४॥
तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ।
सर्वभक्षोऽपि[1] युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥४५॥

साधुको चाहिये कि जिनकी सारी चेष्टाएँ सर्वदा दूसरोंके लिये हैं और जिनका प्रादुर्भाव केवल परोपकारके ही लिये हुआ है, उन पर्वत और वृक्षोंका शिष्य होकर उनसे परोपकार करना सीखे ॥ ३८ ॥ प्राणवायु जैसे केवल आहारमात्रकी इच्छा रखता है, किसी प्रकारके रूप, रस आदिकी उसे आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार योगीको चाहिये कि जिसमें ज्ञान नष्ट न हो और मन-वाणी भी विकृत न हों ऐसे [हित और मित] आहारसे ही सन्तुष्ट रहे, रसना आदि इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले पदार्थोंकी इच्छा न करे । तथा बाह्यवायु सर्वगामी होता हुआ भी जैसे स्वरूपसे सदा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार नाना प्रकारके विषयोंको ग्रहण करता हुआ भी योगी उनके गुण-दोषोंसे मुक्त रहकर उनमें लिप्त न हो । गन्धका वहन करता हुआ भी वायु जैसे सदा शुद्ध रहता है, उसी प्रकार इस पार्थिव शरीरमें रहनेके कारण इसके गुणोंका आश्रय लेकर भी आत्मज्ञानी पुरुष उनमें आसक्त न हो । [इस प्रकार मैंने प्राणवायुसे संयम और बाह्यवायुसे असंगता-की शिक्षा ली है] ॥ ३९—४१ ॥

[मैंने आकाशसे जो सीखा है वह बतलाता हूँ—] आत्मस्वरूपसे सबके अनुगत होनेके कारण ब्रह्म स्थावर-जङ्गम सभी उपाधियोंमें स्थित है । मुनिको चाहिये कि [मणियोंमें व्याप्त सूत्रके समान] उस सर्वगत आत्माकी व्याप्तिके द्वारा उसकी अपरिच्छिन्नता, असंगता और आकाशरूपताकी भावना करे ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार तेज, जल और अन्नमय पदार्थोंसे तथा वायुजनित मेघादिसे आच्छन्न हुआ भी आकाश उनसे अछूता रहता है उसी प्रकार आत्मा भी कालकृत गुणोंसे अलग है ॥ ४३ ॥ [जलसे मैंने जो सीखा है सो सुनो—] स्वभावसे ही शुद्ध, स्नेहयुक्त, मधुरभाषी और मनुष्योंके लिये तीर्थस्वरूप हुआ मुनि अपने साथियोंको दर्शन, स्पर्श और यशोगानसे ही जलके समान पवित्र कर देता है ॥ ४४ ॥ [अग्निसे मैंने यह शिक्षा ली है कि] जितेन्द्रिय मुनि अग्निके समान तेजस्वी, तपके कारण देदीप्यमान और अक्षोभ्य होता है; वह केवल उदररूप पात्र रखता है [अर्थात् जो कुछ मिलता है उसे पेटमें डाल लेता है, सञ्चय करके नहीं रखता] तथा

[1] सर्वभक्षो वियुक्तात्मा ।

क्वचिच्छन्नः क्वचित्स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम् ।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन्प्रागुत्तराशुभम् ॥४६॥
स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः ।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥४७॥

अग्निके समान सर्वभक्षी होकर भी संयतचित्त होता है; और [जिस प्रकार अग्नि कभी सामान्यरूपसे अव्यक्त और कभी विशेषरूपसे प्रकट रहता है उसी प्रकार] वह कभी गुप्त और कभी प्रकट होकर रहता है; एवं आत्मकल्याणकी इच्छावालोंसे सेवित होता है वह भिक्षा देनेवालोंके अतीत और आगामी अशुभों-को भस्म करता हुआ सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है। योगीको विचारना चाहिये कि भिन्न-भिन्न उपाधियों (काष्ठ-लोहादि) में प्रविष्ट हुआ अग्नि जैसे तद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार विभु आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए इस सत्-असद्रूप प्रपञ्चमें प्रविष्ट हुआ उपाधियोंके अनुसार चेष्टा करता है ॥४५-४७॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना[1] ॥४८॥
कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥४९॥

[मैंने चन्द्रमासे जो शिक्षा ली है सो सुनो—] अलक्ष्य-गति कालके प्रभावसे घटने-बढ़नेवाली चन्द्रमाकी कलाओंके समान जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त सारी अवस्थाएँ शरीरकी ही हैं, आत्माकी नहीं। अग्निकी शिखा जिस प्रकार निरन्तर क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है किन्तु यह भेद प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार जल-प्रवाहके समान वेगवाले कालके द्वारा भूतोंकी उत्पत्ति और नाश क्षण-क्षणमें होते रहते हैं; किन्तु वे अज्ञानवश दिखलायी नहीं देते ॥४८-४९॥

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं[2] विमुञ्चति ।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥५०॥
बुध्यते स्वेन भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः ।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥५१॥

[मैंने सूर्यसे जो सीखा है वह सुनो—] सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणोंसे पृथ्वीके जलको खींचकर समयानुसार उसे बरसा देता है, उसी प्रकार योगी गुणानुवर्तिनी इन्द्रियोंद्वारा त्रिगुणमय पदार्थोंको ग्रहण करता है और यथासमय उनका त्याग भी कर देता है, उनमें आसक्त नहीं होता। [योगीको विचारना चाहिये कि जलके पात्रोंमें प्रतिबिम्बित] सूर्यके समान व्यक्तिगत उपाधियोंके भेदसे ही स्थूल बुद्धिवाले लोगोंको आत्मा व्यक्तिविशेषमें स्थित-सा प्रतीत होता है। [वस्तुतः तो वह एक और अपरि-च्छिन्न ही है।] ॥ ५०-५१ ॥

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन्विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ॥५२॥

[मैंने कपोत (कबूतर) से यह सीखा है कि—] कभी किसीके साथ अधिक स्नेह अथवा संग न करना चाहिये नहीं तो दीन-बुद्धि कबूतरके समान क्लेश उठाना पड़ता है ॥५२॥

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः ॥५३॥

हे राजन्! एक कपोत किसी वनमें पेड़पर घोंसला बनाकर कुछ वर्षोंतक अपनी स्त्री कबूतरीके साथ उसमें रहा॥५३॥

१. नाव्यक्तमूर्त्तिना । २. यथाकाले ।

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः ॥५४॥
शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम् ।
मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥५५॥
यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता ।
तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥५६॥
कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते ।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती ॥५७॥
तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः ।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ॥५८॥
प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥५९॥
तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥६०॥
स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया ।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून्पुपुषतुः प्रजाः ॥६१॥
एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥६२॥
दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चिद्यदृच्छातो वनेचरः ।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके ॥६३॥
कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥६४॥
कपोती स्वात्मजान्वीक्ष्य बालकाजालसंवृतान् ।
तानभ्यधावत्क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता ॥६५॥

वे गृहस्थ और परस्परके प्रेमबन्धनसे बँधे हुए कबूतर-कबूतरी दृष्टिसे दृष्टि, अंगसे अंग और मनसे मन मिलाये हुए रहते थे ॥ ५४ ॥ [परस्पर] विश्वस्त होनेके कारण वे उस वन्य प्रदेशमें मिल-जुलकर एक साथ सोते, बैठते, घूमते, ठहरते तथा बातचीत, क्रीडा और भोजनादि करते ॥ ५५ ॥ हे राजन् ! अपनेको तृप्त करनेवाली अपनी कृपापात्री वह कबूतरी जब-जब जो कुछ चाहती, वह अजितेन्द्रिय कबूतर अत्यन्त कष्ट उठाकर भी, उसे वही वस्तु यथेच्छ लाकर देता ॥ ५६ ॥ समयानुसार उस कबूतरीको पहला गर्भ रहा और उस सतीने अपने स्वामीके निकट घोंसलेमें अण्डे दिये ॥ ५७ ॥ श्रीहरिकी अचिन्त्य शक्तिसे अवयवोंकी रचना होनेपर कुछ कालमें उनमेंसे सुकोमल शरीर और रोमोंवाले बच्चे हुए ॥ ५८ ॥ उनका शब्द सुनते और उनके कलरवसे आनन्दमग्न होते हुए उन पुत्रवत्सल दम्पतियोंने बड़े प्रेमसे उनका लालन-पालन किया ॥ ५९ ॥ उन प्रसन्नचित्त बच्चोंके सुकोमल स्पर्शवाले पंखोंसे, कलरवसे, बालचेष्टाओंसे और फुदकनेसे उन माता-पिताओंको बड़ा आनन्द होता था ॥ ६० ॥ इस प्रकार भगवान् विष्णुकी मायासे मोहित होकर परस्पर स्नेहबन्धनमें बँधे हुए और [निरन्तर उनके पालन-पोषणकी चिन्तासे] व्याकुल हुए वे कबूतर-कबूतरी अपनी सन्तान उन बच्चोंका पालन करते रहे ॥ ६१ ॥ एक दिन बड़े कुटुम्बवाले वे दोनों कबूतर-कबूतरी चारा लानेके लिये गये और चारेकी खोजमें बहुत देरतक उस वनमें इधर-उधर भटकते रहे ॥ ६२ ॥ इधर अकस्मात् एक वनवासी बहेलियेने उन कपोतशावकोंको घोंसलेके आसपास फिरते देखकर जाल फैलाकर पकड़ लिया ॥ ६३ ॥ इतनेमें अपनी सन्तानके पोषणमें अति उत्सुक रहने-वाले वे कपोत-कपोती भी, जो वनमें गये हुए थे, चारा लेकर अपने घोंसलेके समीप आये ॥ ६४ ॥ कबूतरी अपने बच्चोंको जालमें फँसे और दुःखसे चिल्लाते हुए देखकर स्वयं भी अत्यन्त दुःखित हो विलाप करती उनके पास दौड़ गयी ॥ ६५ ॥

१. राजन्नत्यर्थमनु० । २. प्रजापोषणसोत्सुकौ । ३. प्रजापोषण० ।

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया ।
स्वयं चावध्यत शिचा बद्धान्पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥६६॥
कपोतश्चात्मजान्बद्धानात्मनोऽप्यधिकान्प्रियान् ।
भार्यां चात्मसमां दीनो[1] विललापातिदुःखितः ॥६७॥
अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः ।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥६८॥
अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता ।
शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥६९॥
सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः ।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥७०॥
तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान्विचेष्टतः ।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥७१॥
तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम् ।
कपोतकान्कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ॥७२॥
एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्त्रिवत् ।
पुष्णन्कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥७३॥
यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥७४॥

इस प्रकार निरन्तर स्नेहबन्धनमें बँधी हुई और देवमायासे दीनचित्त हुई वह कबूतरी उन बच्चोंको बँधे देखकर बेसुध हो स्वयं भी उस जालमें फँस गयी ॥ ६६ ॥ तब वह कपोत अपने प्राणोंसे भी प्यारे बच्चों और प्राणप्रिया दुःखिता भार्याको जालमें फँसे देखकर अति दुःखित होकर विलाप करने लगा ॥ ६७ ॥ अहो ! मुझ भाग्यहीन मन्दमतिकी यह दुर्दशा तो देखो, जो मेरे संसार-सुखसे तृप्त और कृतार्थ हुए बिना ही मेरा यह अर्थ, धर्म, कामरूप त्रिवर्गका साधन बना-बनाया घर बिगड़ गया ! ॥ ६८ ॥ अहो ! मेरी सब प्रकार योग्य और आज्ञाकारिणी पतिव्रता पत्नी भी मुझे इस सूने घरमें अकेला छोड़कर अपने भोलेभाले बालकोंके साथ स्वर्ग सिधार रही है ॥ ६९ ॥ इस प्रकार जिसके स्त्री और बच्चे नष्ट हो रहे हैं ऐसा मैं अत्यन्त दीन और विधुर (स्त्रीहीन) होकर इस सूने घरमें अपने दुःखमय जीवनको किसलिये रखनेकी इच्छा करूँ ? ॥ ७० ॥ इस प्रकार जालमें फँसकर मृत्युग्रस्त हुए और [उससे छूटनेके लिये] प्रयत्न करते हुए उन स्त्री और बच्चोंको देखकर भी वह दीन और बुद्धिहीन कबूतर स्वयं भी उसीमें कूद पड़ा ॥ ७१ ॥ तब उस कुटुम्बी कबूतरको तथा कबूतरी और बच्चोंको पाकर अपनेको कृतकृत्य मानता हुआ वह निर्दयी बहेलिया अपने घर चला गया ॥ ७२ ॥ इस प्रकार जो व्यक्ति कुटुम्बी अशान्तचित्त और निरन्तर द्वन्द्वमें ही पड़ा रहता है वह अपने कुटुम्बके पालन-पोषणमें ही लगे रहनेसे उस पक्षीकी भाँति स्नेहबन्धनके कारण दीन होकर दुःख भोगता है ॥ ७३ ॥ खुले हुए मुक्तिद्वारके समान इस मनुष्य-देहको पाकर जो उस कपोतके समान घरमें आसक्त है उसे शास्त्रमें 'आरूढच्युत' (चढ़कर गिरा हुआ) कहा है ॥७४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

१. दीनाम् ।

आठवाँ अध्याय

अवधूतोपाख्यानका मध्य ।

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन्स्वर्गे नरक एव च ।
देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः ॥ १ ॥
ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २ ॥
शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः ।
यदि नोपनमेद्ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥
ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद्देहमकर्मकम् ।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४ ॥
मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५ ॥
समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः ।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः ।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ७ ॥
योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ८ ॥
स्तोकं स्तोकं ग्रसेद्ग्रासं देहो वर्तेत यावता ।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद्वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ॥ ९ ॥

अवधूत बोले--हे राजन् ! [मैंने अजगरसे जो सीखा है सो सुनो—] दुःखके समान इन्द्रियोंके सुख भी स्वर्ग अथवा नरकमें स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं, अतः बुद्धिमान् पुरुष उनकी इच्छा न करे ॥ १ ॥ मीठा हो या फीका, अधिक हो अथवा थोड़ा, जैसा टुकड़ा बिना माँगे अनायास ही मिल जाय उसीको अजगरके समान निरीहभावसे खा ले ॥ २ ॥ यदि भोजन न मिले तो प्रारब्धभोग समझकर अजगरके समान उसके लिये कोई प्रयत्न न करके बहुत कालतक निराहार ही पड़ा रहे ॥ ३ ॥ मनोबल, इन्द्रियबल और शारीरिक बलसे युक्त होकर भी निश्चेष्ट शरीरसे पड़ा रहे; बिना निद्राके भी सोया हुआ-सा रहे और इन्द्रिययुक्त होकर भी कोई व्यापार न करे ॥ ४ ॥

[अब समुद्रसे जो सीखा है वह सुनाता हूँ—] मुनिको निस्तरङ्ग समुद्रके समान शान्त-गम्भीर, अगम्य, अवेद्य, अनन्तपार और क्षोभरहित रहना चाहिये । जिस प्रकार नदियोंके कारण समुद्र नहीं बढ़ता [और न ग्रीष्मऋतुमें घटता ही है] उसी प्रकार नारायणपरायण योगीको भी पदार्थोंके मिलनेसे प्रसन्न और न मिलनेसे उदास न होना चाहिये ॥५-६॥ [अब, मैंने पतङ्गसे जो सीखा है सो सुनो—] पतङ्ग जैसे रूपपर मोहित होकर अग्निमें जल मरता है उसी प्रकार अजितेन्द्रिय पुरुष देवमायारूपिणी स्त्रीको देखकर उसके हाव-भावोंसे प्रलोभित होकर घोर अन्धकारमें पड़ता है ॥ ७ ॥ स्त्री, सुवर्ण-भूषण और वस्त्रादि मायिक पदार्थोंमें जो मूढ़ भोगबुद्धिसे फँसा हुआ है, वह विवेक-बुद्धिको खोकर पतङ्गकी भाँति नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

[मैंने मधुमक्षिकासे जो सीखा है वह कहता हूँ—] भिक्षुको चाहिये कि गृहस्थोंको किसी प्रकारका कष्ट न देते हुए माधुकरीवृत्तिका आश्रय ले और जितनेसे शरीरयात्राका निर्वाह हो जाय ऐसा थोड़ा-सा अन्न [कई घरोंसे माँगकर] खा ले* ॥ ९ ॥

* नहीं तो एक ही कमलके गन्धमें आसक्त हुआ भ्रमर जैसे रात्रिके समय उसमें बन्द हो जानेसे नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्वादवासनासे एक ही गृहस्थका अन्न खानेसे उसके सांसर्गिक मोहमें फँसकर यति भी नष्ट हो जायगा ।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥१०॥
सायन्तनं श्वस्तनं वा न सङ्गृह्णीत भिक्षितम् ।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही ॥११॥
सायन्तनं श्वस्तनं वा न सङ्गृह्णीत भिक्षुकः ।
मक्षिका इव सङ्गृह्णन्सह तेन विनश्यति ॥१२॥
पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि ।
स्पृशन्करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः ॥१३॥
नाधिगच्छेत्स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥१४॥
न[1] देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद्दुःखसञ्चितम् ।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥१५॥
सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः ।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥१६॥

भ्रमर जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पुष्पोंसे उनका सार ले लेता है उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुषको भी छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सार ले लेना चाहिये ॥ १० ॥ इसके अतिरिक्त यतिको चाहिये कि मधुमक्षिकाकी भाँति भिक्षामेंसे सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये सञ्चय करके न रक्खे; कर और उदरको ही पात्र बनावे [अर्थात् जितना हाथमें आ सके और पेटमें समा सके उतना ही अन्न ले] । भिक्षुकको सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये संग्रह नहीं करना चाहिये । नहीं तो अपने सञ्चित मधुके साथ जैसे मधुमक्षिका नष्ट होती है उसी प्रकार यति भी संग्रह करनेपर उस सङ्गृहीत पदार्थके साथ नष्ट हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

[मैंने हाथीसे जो सीखा है सो सुनो—] भिक्षुको उचित है कि पैरसे भी लकड़ीकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करे; यदि करेगा तो हथिनीके अङ्ग-संगसे जैसे हाथी बँध जाता है उसी प्रकार बँध जायगा * ॥ १३ ॥ बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि साक्षात् अपनी मृत्युरूप स्त्रीको कभी स्वीकार न करे, क्योंकि जो कोई स्त्री-संग करता है उसे सबल पुरुष उसी प्रकार मारते हैं जैसे [हथिनीके पीछे लगे हुए हाथीको] दूसरे हाथी मारते हैं ॥ १४ ॥

[मधुहारीसे यह सीखा है कि] लोभी पुरुष जिस पदार्थका बड़े दुःखसे संग्रह करते हैं उसे वे न तो स्वयं भोगते हैं और न किसी दूसरेको देते हैं; [मधुमक्षिकाओंके मधुको] मधुहारीकी भाँति उनके धनको भी कोई और अर्थवेत्ता ही भोगता है ॥ १५ ॥ मधुमक्षिकाओंके मधुको जैसे मधुहारी उनके सामने ही खाता है उसी प्रकार अति कष्टपूर्वक संग्रह किये हुए धनसे तरह-तरहके गृहोचित सुखोंकी आशा रखनेवाले गृहस्थोंके पदार्थोंको भिक्षु उनसे भी पहले भोगता है† ॥ १६ ॥

---

१. नो ।

* हाथी पकड़नेवाले तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेपर कागजकी हथिनी खड़ी कर देते हैं । उसे देखकर हाथी वहाँ आता है और गड्ढेमें गिरकर फँस जाता है ।

† क्योंकि गृहस्थके लिये स्वयं भोजन करनेसे पूर्व भिक्षु या ब्रह्मचारीको भोजन करानेका विधान है ।

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद्यतिर्वनचरः क्वचित् ।
शिक्षेत हरिणाद्बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥१७॥
नृत्यवादित्रगीतानि जुषन्ग्राम्याणि योषिताम् ।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥१८॥

[मैंने हरिणसे जो शिक्षा ली है वह सुनो—] वनवासी यतिको चाहिये कि कभी ग्राम्यगीतोंको न सुने; व्याधके गीतसे मोहित होकर बन्धनमें पड़े हुए हरिणसे इसकी शिक्षा ले ॥१७॥ स्त्रियोंके ग्राम्य गाने-बजाने और नृत्य देखने-सुननेसे हरिणीपुत्र ऋष्यशृङ्ग उनके वशीभूत होकर उनके हाथकी कठपुतली हो गये थे ॥१८॥

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः ।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥१९॥
इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः ।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥२०॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥२१॥

[मछलीसे मैंने यह सीखा है कि] बुद्धिहीन मत्स्य जैसे काँटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गँवा देता है उसी प्रकार रसलोलुप मनुष्य इस अत्यन्त बलवती जिह्वाके वशीभूत होकर मारा जाता है ॥१९॥ विवेकी पुरुष निराहार रहकर रसनाके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंको शीघ्र ही अपने वशमें कर लेते हैं, रसना तो अन्नत्यागसे और भी प्रबल हो जाती है; [अतः इसका जीतना अति कठिन है] परन्तु अन्य इन्द्रियोंको जीत लेनेपर भी जबतक मनुष्य रसनेन्द्रियको अपने वशमें न करे तबतक वह जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रसके जीतनेपर ही [इन्द्रियोंके] सब विषय जीते जा सकते हैं ॥२०-२१॥

पिङ्गला नाम वेश्यासीद्विदेहनगरे पुरा ।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥२२॥
सा स्वैरिण्येकदा कान्तं संङ्केत[1] उपनेष्यती ।
अभूत्काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥२३॥
मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान्पुरुषर्षभ ।
ताञ्छुल्कदान्वित्तवतः कान्तान्मेनेऽर्थकामुका ॥२४॥
आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी ।
अप्यन्यो वित्तवान्कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ॥२५॥

हे राजकुमार ! पूर्वकालमें विदेहनगरीमें पिङ्गला नामकी एक वेश्या थी । उससे भी मैंने जो कुछ सीखा है, वह सुनो ॥२२॥ एक दिन वह स्वेच्छाचारिणी किसी प्रेमीको अपने रमणस्थानमें लानेकी इच्छासे खूब बन-ठनकर बहुत देरतक अपने घरके द्वारपर खड़ी रही ॥२३॥ हे नरश्रेष्ठ ! वह अर्थलोलुपा गणिका जो कोई पुरुष उस मार्गसे निकलता उसीको देखकर समझती कि कोई बहुत धन देकर रमण करनेवाला धनवान् नागरिक होगा ॥२४॥ किन्तु उसके वहाँसे होकर निकल जानेपर वह वेश्या विचारती कि कोई और बहुत धन देनेवाला धनी पुरुष मेरे पास आता होगा ॥२५॥

---

१. सङ्केतमुपनेष्यति ।

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती[1] ।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं[2] समपद्यत ॥२६॥
तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः ।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ॥२७॥
तस्या[3] निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम ।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ॥२८॥
न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति ।
यथा[4] विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ॥२९॥

इसी प्रकारकी दुराशासे द्वारके पास खड़े-खड़े उसकी नींद जाती रही और कभी बाहर, कभी भीतर आते-जाते उसे आधीरात हो गयी ॥२६॥ धनकी दुराशासे प्रतीक्षा करते-करते जिसका मुख सूख गया है ऐसी उस व्याकुलचित्ता वेश्याको चिन्ताके कारण ही होनेवाला परम सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥२७॥ इस प्रकार चित्तमें वैराग्य उत्पन्न होनेपर उसने जो कुछ कहा, वह मुझसे सुनो । हे राजन् ! पुरुषके आशारूपी पाशके लिये वैराग्य खड्गके समान है ॥२८॥ हे तात ! जिसको वैराग्य नहीं है वह पुरुष कभी देहबन्धनको नहीं छोड़ सकता, जिस प्रकार कि विज्ञानहीन पुरुष ममताका त्याग नहीं कर सकता ॥२९॥

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः ।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा ॥३०॥
सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥३१॥
अहो मयात्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।
स्त्रैणान्नराद्यार्थतृषोऽनुशोच्या-
त्क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥३२॥
यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचारोमनखैः पिनद्धम् ।
क्षरन्नवद्वारमगारमेत-
द्विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥३३॥
विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः ।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात्काममच्युतात् ॥३४॥

पिङ्गला बोली—अहो ! मुझ इन्द्रिय-परायणाके मोहका विस्तार तो देखो जो मैं मूर्खा इन तुच्छ और असद्बुद्धि प्रेमियोंसे सुखकी कामना करती हूँ ॥३०॥ अरे ! मैं बड़ी बेसमझ हूँ, जो अपने समीप ही रमण करनेवाले तथा नित्य रति और धनके देनेवाले इन प्रियतम सत्पुरुष (परमेश्वर) को छोड़कर कामना-पूर्तिमें असमर्थ तथा दुःख, भय, राग, शोक और मोह आदि देनेवाले इन तुच्छ पुरुषोंको भजती हूँ ॥३१॥ अहो ! मैंने इस अति निन्दनीय आजीविका—वेश्यावृत्तिसे व्यर्थ ही अपने आत्माको सन्तप्त किया । हाय ! मैं इन स्त्रीलम्पट, अर्थलोलुप और अनुशोचनीय पुरुषोंद्वारा खरीदे हुए शरीरसे रति और धनकी इच्छा करती थी ! ॥३२॥ जो अस्थिमय टेढ़े-तिरछे बाँसों और थूनियोंसे बना हुआ है, त्वचा, रोम और नखोंसे आवृत है तथा नाशवान् और मलमूत्रसे भरा हुआ नौ द्वारोंवाला घररूप यह देह है उसका मेरे अतिरिक्त और कौन [कान्त समझकर] सेवन करेगी ॥३३॥ इस विदेहनगरीमें एक मैं ही ऐसी मूर्खा और दुष्टा हूँ जो इन आत्मप्रद अच्युत परमात्माको छोड़कर किसी अन्यसे अपनी कामना पूर्ण कराना चाहती हूँ ॥३४॥

१. लम्बिनी । २. निशीथः । ३. तथा । ४. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् ।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥३५॥
कियत्प्रियं ते व्यभजन्कामा ये कामदा नराः ।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः ॥३६॥
नूनं मे भगवान्प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा ।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः ॥३७॥
मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः ।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति ॥३८॥
तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः ।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम् ॥३९॥
सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती ।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥४०॥
संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् ।
ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥४१॥
आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात् ।
अप्रमत्त इदं पश्येद्ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥४२॥

ब्राह्मण[1] उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् ।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥४३॥
आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥४४॥

ये सब शरीरधारियोंके सुहृद्, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं, अब मैं इनके ही हाथ बिककर लक्ष्मीजीके समान इन्हींके साथ रमण करूँगी ॥३५॥ अरी ! ये जो भोग और भोगप्रद पुरुष हैं इन्होंने तेरा कितना प्रिय साधन किया ? अथवा और भी आदि-अन्तवाले पुरुष तथा कालसे भयभीत देवगण हैं वे भी अपनी भार्याओंको कितना सन्तुष्ट कर पाते हैं ? ॥३६॥ अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्मसे भगवान् विष्णु प्रसन्न हुए हैं जिससे कि इस दुराशासे मुझको ऐसा सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हुआ है ॥३७॥ यदि मेरा भाग्य मन्द होता तो मुझको ये कष्ट न उठाने पड़ते जो कि उस वैराग्यके हेतु हैं जिसके द्वारा मनुष्य गृह आदिके बन्धनको काटकर शान्ति लाभ करता है ॥३८॥ अतः अब मैं इस उपकारको शिरोधार्य कर विषयजनित दुराशाको छोड़ उस जगदीश्वरकी ही शरणमें जाती हूँ ॥३९॥ अब मैं सन्तोष और श्रद्धापूर्वक प्रारब्धवश जो कुछ मिलेगा उसीसे जीवननिर्वाह करती हुई इस आत्मरूप रमणके साथ ही सानन्द विहार करूँगी ॥४०॥ संसार-कूपमें पड़े हुए, विषय-वासनाओंसे नष्ट-दृष्टि और कालरूपी सर्पसे डसे हुए इस आत्मा (जीव) की रक्षा परमात्माको छोड़कर और कौन कर सकता है ? ॥४१॥ जिस समय जीव सम्पूर्ण विषयोंसे उपरत हो जाता है उस समय यह स्वयं ही अपना रक्षक हो जाता है । अतः प्रमादरहित होकर इस जगत्को निरन्तर कालरूपी सर्पसे ग्रस्त हुआ देखे ॥४२॥

अवधूत बोले–हे राजन् ! पिङ्गला वेश्या इस प्रकार निश्चय करके कान्तामिलाषाजनित दुराशाको छोड़कर, शान्तभावमें स्थित हो अपनी शय्यापर सो गयी ॥४३॥ आशा ही परम दुःख है और निराशा (निरपेक्षता) ही परम सुख है; क्योंकि देखो पिङ्गला कान्तकी आशा छोड़ देनेपर सुखपूर्वक सो गयी ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

नवाँ अध्याय

अवधूतोपाख्यानकी समाप्ति ।

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद्यत्प्रियतमं नृणाम् ।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान्यस्त्वकिञ्चनः ॥ १ ॥
सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः ।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥ २ ॥
न मे मानावमानौ[1] स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह[2] बालवत् ॥ ३ ॥
द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥ ४ ॥
क्वचित्कुमारी त्वात्मानं वृणानान्गृहमागतान् ।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥ ५ ॥
तेषामभ्यवहारार्थं शालीन्रहसि पार्थिव ।
अवघ्नत्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥
सा तज्जुगुप्सितं[3] मत्वा महती व्रीडिता ततः ।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान्द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥
उभयोरप्यभूद्घोषो ह्यवघ्नत्याः स्म शङ्खयोः ।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद्ध्वनिः ॥ ८ ॥

अवधूत बोले-[हे राजन् ! मैंने कुरर पक्षीसे यह सीखा है कि] मनुष्योंको जो-जो वस्तुएँ अत्यन्त प्यारी हैं उनका सञ्चय करना ही उनके दुःखका कारण है । ऐसा जानकर जो अकिञ्चनभावसे रहता है [अर्थात् कुछ भी संग्रह नहीं करता] वह असीम सुख पाता है ॥ १ ॥ एक कुरर पक्षीको, जो अपनी चोंचमें मांस लिये हुए था, बिना मांसवाले दूसरे बलवान् पक्षियोंने बहुत मारा, तब उसने उस मांसको छोड़कर ही शान्ति प्राप्त की ॥ २ ॥

[मैंने बालकसे जो शिक्षा ली है उसके कारण] मुझको मान या अपमानका कुछ विचार नहीं है और न घर या परिवारकी ही कोई चिन्ता है; मैं तो अपने आत्मामें ही क्रीड़ा करता हुआ और आत्मामें ही मग्न हुआ बालकके समान निःशङ्क विचरता हूँ ॥ ३ ॥ संसारमें दो प्रकारके व्यक्ति ही चिन्तासे रहित और परमानन्दपूर्ण होते हैं । एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट बालक और दूसरा जो गुणातीत हो गया हो ॥ ४ ॥

[मैंने कुमारीसे जो सीखा है वह सुनो—] एक बार एक कुमारी कन्याने अपने बन्धु-बान्धवोंके कहीं बाहर चले जानेके कारण अपनेको वरण करनेके लिये घर आये हुए लोगोंका आतिथ्य स्वयं ही किया ॥ ५ ॥ हे राजन् ! उनको भोजन करानेके लिये जब वह घरके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी तो उसकी शङ्खकी चूड़ियाँ बड़ा शब्द करने लगीं ॥ ६ ॥ उस शब्दको निन्दाजनक समझकर वह बड़ी लज्जित हुई* और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं, दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं ॥ ७ ॥ धान कूटनेपर उन दो-दोसे भी शब्द होने लगा, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ डाली । फिर एक-एक चूड़ीसे शब्द नहीं हुआ ॥ ८ ॥

---

१. मानापमानौ । २. आत्मरतो विचरामि । ३. तम् ।

* क्योंकि उससे उसका स्वयं धान कूटना सूचित होता था जो कि उसकी दरिद्रताका द्योतक था

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम ।
लोकाननुचरन्नेताँल्लोकतत्त्वविवित्सया[1] ॥ ९ ॥
वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव कङ्कणः ॥१०॥

हे अरिमर्दन ! लोकतत्त्वकी जिज्ञासासे पृथिवीपर विचरते हुए मैंने उससे यह शिक्षा ली कि बहुत लोगोंके एक साथ रहनेसे तो कलह होता है और दोके भी एकत्र रहनेसे आपसमें बातचीत तो होती ही है । अतः कुमारीकी चूड़ीके समान अकेला ही विचरे ॥९-१०॥

मन एकत्र संयुज्याज्जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥११॥

यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून् ।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥१२॥

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥१३॥

[मैंने बाण बनानेवालेसे यह शिक्षा ली है कि] वैराग्य और अभ्यासके द्वारा निरालस्यभावसे आसन और श्वासको जीतकर अपने वशमें किये हुए चित्तको एक ही लक्ष्य (परमात्मा) में लगा दे ॥११॥ उस परमानन्दरूप परमपदमें स्थित हुआ यह मन धीरे-धीरे कर्मरूपी धूलिको छोड़ देता है और फिर सत्त्वगुणके उद्रेकसे रज और तमको त्यागकर यह इन्धनरहित अग्निके समान शान्त हो जाता है ॥१२॥ इस प्रकार आत्मामें चित्तका निरोध हो जानेपर इसे बाहर-भीतर कहीं भी किसी पदार्थका भान नहीं होता । जिस प्रकार कि एक बाण बनानेवालेने बाण बनानेमें लगे रहनेके कारण पासहीसे होकर गयी हुई राजाकी सवारीको नहीं देखा था ॥१३॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः ।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥१४॥
गृहारम्भो हि दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥१५॥

[मैंने सर्पसे जो सीखा है, सो सुनो—] मुनिको चाहिये कि सर्पकी भाँति अकेला विचरे, किसी एक स्थानमें न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाह्य आचारोंसे अपनेको छिपाये रक्खे तथा अकेला और अल्पभाषी हो ॥१४॥ इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ और दुःखका ही कारण है । देखो, सर्प भी तो दूसरोंके घरोंमें रहकर सुखपूर्वक बढ़ता रहता है ॥१५॥

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया ।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ॥१६॥
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः[2] ॥१७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।

[मैंने मकड़ीसे यह शिक्षा ली है—] पूर्वकालमें अपनी मायासे रचे हुए इस जगत्को, कल्पका अन्त होनेपर, एकमात्र ईश्वर श्रीनारायणदेव ही कालरूपसे लय करके आत्माधार और सर्वाधिष्ठानरूपसे अकेले ही रह जाते हैं । अपने ही शक्तिरूप कालके द्वारा सत्त्वादि गुणोंके साम्यावस्थाको प्राप्त हो जानेपर, प्रधान और पुरुषके नियन्ता, समस्त परावर (अलौकिक एवं लौकिक) प्रपञ्चके परम कारण वे आदिपुरुष

१. लोकतत्त्वं विवित्सया । २. प्रधानः पुरुषेश्वरः ।

केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥१८॥

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।
संक्षोभयन्सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम ॥१९॥

तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं[1] सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।
यस्मिन्प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥२०॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः ।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥२१॥

यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया ।
स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥२२॥

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन्कुड्यां तेन प्रवेशितः ।
याति तत्सात्मतां राजन्पूर्वरूपमसन्त्यजन्[2] ॥२३॥

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः ।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥२४॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
बिंभ्रत्स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम् ।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥२५॥

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षितमाचितन्वन्[3] ।

कैवल्यरूपसे रह जाते हैं। हे शत्रुदमन! फिर वे विशुद्धविज्ञानानन्दघन निरुपाधिक भगवान् ही केवल अपनी शक्ति [काल] के द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मायाको क्षुब्ध करके पहले [क्रियाशक्तिप्रधान] सूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं। नाना प्रकारकी सृष्टि रचनेवाले उस सूत्रको गुणत्रयका कार्य कहते हैं, जिसमें कि यह सम्पूर्ण विश्व ओतप्रोत है तथा जिसके कारण जीवको संसार-बन्धन प्राप्त होता है ॥ १६-२० ॥ जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे मुखके द्वारा जाला फैलाकर उसमें विहार करनेके पश्चात् उसको निगल लेती है उसी प्रकार परमात्मा भी स्वयं अपनेमेंसे ही इस प्रपञ्चको फैलाकर फिर अपनेमें ही उसका लय कर लेते हैं ॥ २१ ॥

[मैंने भृङ्गी कीड़ेसे यह सीखा है कि] देहधारी जीव स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे जिस किसीमें भी सम्पूर्ण रूपसे अपने चित्तको लगा देता है अन्तमें वह तद्रूप हो जाता है; जिस प्रकार भृङ्गी कीटद्वारा अपने बिलमें बन्द किया हुआ कीड़ा भयसे उसीका ध्यान करते-करते अन्तमें अपने पूर्व रूपको न छोड़ता हुआ भी उसीके समान रूपवाला हो जाता है ॥ २२-२३ ॥

हे राजन्! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओंसे ऐसी-ऐसी शिक्षाएँ ली हैं; अब अपने शरीरसे मैंने जो शिक्षा ली है वह कहता हूँ, सुनो—॥ २४ ॥ मेरे विवेक और वैराग्यका हेतु यह शरीर भी मेरा गुरु है; उत्पत्ति और नाश ही इसके धर्म हैं तथा निरन्तर कष्ट पाना ही इसका उत्तरोत्तर फल है। यद्यपि मैं इससे तत्त्वचिन्तन करता हूँ, तो भी मेरा यह निश्चय है कि यह पराया [अर्थात् स्यार, कुत्ते आदिका भक्ष्य] है। इससे मैं असंग होकर विचरता हूँ ॥ २५ ॥ जिसकी प्रिय कामनाओंका विस्तार यानी संग्रह करनेवाला यह पुरुष स्त्री, पुत्र, धन, पशु, सेवक, गृह और अपने कुटुम्बियोंका पोषण करता है, बड़े-बड़े कष्ट उठाकर धन-सञ्चय करनेवाला

१. गुणां व्यक्तिम्। २. मपि त्यजन्। ३. यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन्।

स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः

सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा ॥२६॥

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा

शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।

घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-

र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥२७॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या

वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदंशमत्स्यान् ।

तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय

ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥२८॥

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते

मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-

न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥२९॥

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि ।

विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतिः ॥३०॥

न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम् ।

ब्रह्मैतदद्वितीयं हि गीयते बहुधर्षिभिः ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः ।

वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम् ॥३२॥

वह देह वृक्षके-से स्वभाववाला होनेके कारण [दुःखोंके आश्रयभूत] अन्य देहके लिये [कर्मरूपी] बीज बोकर अपनी आयु समाप्त होनेपर नाशको प्राप्त हो जाता है ॥ २६ ॥ जिस प्रकार बहुत-सी सपत्नियाँ (सौतें) गृहस्वामीको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं उसी प्रकार जीवको उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ पीडित करती रहती हैं । इसे रसना कभी एक ओर खींचती है, तो पिपासा दूसरी ओर । इसी प्रकार शिश्न अन्यत्र खींचता है तो त्वचा, उदर और श्रवणेन्द्रिय किसी और ही तरफ खींचने लगती हैं । ऐसे ही घ्राण एवं चञ्चल नेत्र दूसरी ही ओर खींचते हैं ॥ २७ ॥ भगवान्‌ने अपनी अजेय मायाशक्तिसे वृक्ष, सरीसृप, पशु, पक्षी, डाँस और मत्स्य आदि नाना प्रकारकी योनियाँ रचनेपर उनसे सन्तुष्ट न होकर जब ब्रह्मदर्शनकी योग्यतावाले इस पुरुष-शरीरको रचा तभी प्रसन्नता प्राप्त की । [अतः यह मनुष्य-देह ही सर्वश्रेष्ठ है ।] ॥ २८ ॥ यह मनुष्य-देह अनित्य होनेपर भी परम पुरुषार्थका साधन है । अतः अनेक जन्मोंके उपरान्त इस दुर्लभ नर-देहको पाकर बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि जबतक यह पुनः मृत्युके चंगुलमें न फँसे तबतक शीघ्र ही अपने निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर ले; क्योंकि विषय तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते हैं [इनका संग्रह करनेमें इस अमूल्य अवसरको न खोवे] ॥ २९ ॥ इस प्रकार हृदयमें वैराग्ययुक्त तथा ज्ञानालोकसे प्रकाशित हो मैं निरहङ्कार और निःसंग होकर इस भूमण्डलपर [स्वच्छन्द] विचरता हूँ ॥ ३० ॥ अकेले गुरुहीसे यथेष्ट और सुदृढ बोध नहीं हो सकता [उसके लिये स्वयं भी विचार करने-की आवश्यकता है] । देखो, एक ही अद्वितीय ब्रह्मका ऋषियोंने नाना प्रकारसे निरूपण किया है ॥ ३१ ॥

श्रीभगवान् कहते हैं—हे उद्धव ! वे गम्भीरबुद्धि ब्राह्मणश्रेष्ठ इस प्रकार यदुको उपदेश कर, उनसे विदा हो, उनके प्रणाम तथा पूजा आदि करनेपर प्रसन्नचित्तसे इच्छानुसार चले गये ॥ ३२ ॥

१. खगदन्दशूकान् । २. मृत्युयोगात् । ३. नहङ्कृतः । ४. सुस्थितम् । ५. वै ।

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः ।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥३३॥

इस प्रकार हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज राजा यदु अवधूतके उपदेशको सुनकर सर्वथा निःसंग होकर समदर्शी हो गये ॥ ३३ ॥
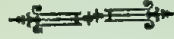
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशवाँ अध्याय

संसारका मिथ्यात्वनिरूपण ।

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥
अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ २ ॥
सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।
नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ ३ ॥
निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम् ॥ ४ ॥
यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित् ।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥ ५ ॥
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥
जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।
उदासीनः समं पश्यन्सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥ ७ ॥
विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मेरे कहे हुए अपने-अपने धर्मोंमें सावधान रहकर और मेरे ही आश्रित होकर अपने वर्ण, आश्रम और कुलके आचारोंका निष्काम बुद्धिसे आचरण करे ॥ १ ॥ स्वधर्मानुष्ठानसे शुद्धचित्त होकर यह देखे कि विषयलोलुप पुरुष जिन त्रिगुणमय कर्मोंको सत्य मानकर करते हैं उन सबका परिणाम विपरीत ही होता है ॥ २ ॥ सोये हुए पुरुषको [स्वप्नावस्थामें] दिखायी देनेवाले पदार्थ तथा चिन्तन करनेवालेके मनोरथ जैसे नानारूप होनेसे मिथ्या होते हैं उसी प्रकार त्रिगुणात्मिका भेद-बुद्धि भी मिथ्या ही है ॥ ३ ॥ मेरे परायण हुआ पुरुष निवृत्तिके लिये केवल नित्य-नैमित्तिक कर्म ही करे, प्रवृत्तिजनक काम्य कर्मोंको छोड़ दे और जिस समय आत्म-जिज्ञासा (ब्रह्म-विचार) में भलीभाँति प्रवृत्त हो जाय, उस समय कर्म-विधिकी परवा न करे ॥ ४ ॥ मेरा भक्त [सत्य, अहिंसा आदि] यमोंका निरन्तर सेवन करे और [शौच, सन्तोष आदि] नियमोंका भी समयानुसार यथाशक्ति पालन करे तथा मेरे स्वरूपके जाननेवाले, शान्त और साक्षात् मेरे ही स्वरूप गुरुदेवकी सदा प्रेम और श्रद्धासे उपासना करे ॥ ५ ॥ [उसे चाहिये कि] मान और मत्सरसे रहित, कार्यकुशल, ममताशून्य, दृढप्रेमी, उतावलापनसे रहित तथा आत्मतत्त्वका जिज्ञासु हो और परनिन्दा एवं व्यर्थ वचनसे दूर रहे ॥ ६ ॥ अपने परम धनरूप आत्माको सर्वत्र देखता हुआ समदर्शी होकर स्त्री, पुत्र, गृह, भूमि, स्वजन और धन आदिमें अनासक्त एवं ममताहीन होकर रहे ॥ ७ ॥ जिस प्रकार दाह्य काष्ठसे उसका दाहक और प्रकाशक अग्नि पृथक् होता है उसी

यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥
निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान्गुणान् ।
अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान्परः ॥ ९ ॥
योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्चिदात्मनः ॥१०॥
तस्माज्जिज्ञासयात्मानमात्मस्थं केवलं परम् ।
सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥११॥
आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः ॥१२॥
वैशारदी[1] सातिविशुद्धबुद्धि-
र्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम् ।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेत-
त्स्वयं च शाम्यत्यसमिद्यथाग्निः ॥१३॥
अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः ।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥१४॥
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥१५॥
एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः ।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥१६॥
अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत् ॥१७॥

प्रकार [दृश्यरूप] स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरसे उनका साक्षी स्वयंप्रकाश आत्मा विलक्षण (अत्यन्त भिन्न) है ॥ ८ ॥ काष्ठमें प्रविष्ट हुआ अग्नि जैसे ध्वंस, उत्पत्ति, सूक्ष्मता, महत्ता एवं अनेकता आदि काष्ठके गुणोंको ग्रहण कर लेता है वैसे ही जन्म-मरण आदि देहके धर्मोंको आत्मा ग्रहण कर लेता है; [वास्तवमें वे धर्म उसके नहीं हैं] ॥ ९ ॥ चेतनस्वरूप पुरुषका जो यह सत्त्वादि गुणोंसे बना हुआ शरीर है, इस जन्म-मरणरूप संसारको उसीके निमित्तसे समझना चाहिये ॥ १० ॥ इसलिये जिज्ञासापूर्वक अपने अन्तः-करणमें स्थित उस अद्वितीय परमात्माको जानकर क्रमशः [अन्य पदार्थोंमें हुई] इस सत्यत्व-बुद्धिको त्याग दे ॥ ११ ॥ आचार्य नीचेकी अरणि है, शिष्य ऊपरकी और उपदेश मध्यका मन्थन-काष्ठ है, तथा सुखप्रद ब्रह्म-विद्या उनकी सन्धि है ॥ १२ ॥ वह [ब्रह्मविद्यारूप] अति निपुण और विशुद्ध बुद्धि गुणोंसे उत्पन्न हुई मायाका ध्वंस कर देती है और फिर इस संसारके कारणरूप गुणोंका नाश करके इन्धनरहित अग्निके समान स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ १३ ॥

हे उद्धव ! यदि [जैमिनि आदि मुनियोंके मतानुसार] तुम कर्मोंके कर्ता और सुख-दुःखरूप फलोंके भोक्ता इन जीवोंका नानात्व तथा स्वर्गादि लोक, काल, कर्म-प्रतिपादक शास्त्र और आत्मा (जीव) की नित्यता स्वीकार करते हो; समस्त पदार्थोंकी स्थिति प्रवाहरूपसे नित्य और यथार्थ मानते हो अथवा [विज्ञानवादियोंके कथनानुसार] यह समझते हो कि घट, पट आदि बाह्य आकृतियोंके भेदसे उनके अनुसार बुद्धि ही उत्पन्न होती और बदलती रहती है, तो हे प्रिय ! इस प्रकार भी शरीर और संवत्सरादि कालावयवोंके सम्बन्धसे सम्पूर्ण देहधारियोंके जन्म, मरण आदि भाव निरन्तर होते रहने सिद्ध होते हैं और कर्मोंके कर्ता तथा सुख-दुःखादिके भोक्ता जीवकी पराधीनता यहाँ भी लक्षित होती है, तो फिर उस परवश जीवको लाभ ही क्या हो सकता है ? ॥ १४—१७ ॥

१. वशारदी ।

न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि ।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम् ॥१८॥
यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः ।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद्यथा ॥१९॥
को न्वर्थः[1] सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥२०॥
श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तरायकामत्वात्कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥२१॥
अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः ।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥२२॥
इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निजार्जितान् ॥२३॥
स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।
गन्धर्वैर्विहरन्मध्ये देवीनां[2] हृद्यवेषधृक् ॥२४॥
स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना ।
क्रीडन्न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥२५॥
तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कालचालितः ॥२६॥

[यदि कहो कि जो कर्मकुशल नहीं हैं उन्हें ही दुःख होता है तो ऐसा भी कोई नियम नहीं है क्योंकि] कर्मकुशल विद्वानोंको भी कुछ सुख नहीं होता और मूर्खको सदा दुःख ही नहीं भोगना पड़ता । [हम कर्मकुशल होनेसे सुखी हैं—यह] व्यर्थ अभिमान ही है । यद्यपि कुछ लोग सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके उपायको जानते हैं, तथापि वे भी उस उपायको नहीं जानते जिससे कि फिर मरना ही न पड़े ॥ १८-१९ ॥ जिस प्रकार वध-स्थान (फाँसी) पर ले जाये जाते हुए वध्य मनुष्यको मिष्टान्न और माला-चन्दन आदि कोई भी भोग्य पदार्थ सुखी नहीं कर सकता उसी प्रकार जिसकी मृत्यु समीप है, उसे कौन-सी सुख-सामग्री अथवा काम्य वस्तु प्रसन्न कर सकती है ? ॥ २० ॥ दृष्ट (लौकिक) सुखकी भाँति श्रुत (स्वर्गादिका) सुख भी परस्परकी स्पर्धा, असूया, नाश और क्षय आदिके कारण दोषयुक्त ही है तथा नाना प्रकारके विघ्नोंसे युक्त कामनाओंके कारण भी कृषिके समान निष्फल है ॥२१॥

यदि विघ्नोंसे प्रतिहत न होकर कोई धार्मिक कृत्य (यज्ञादि) सम्पन्न हो जाता है तो उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोकको भी जीव जिस प्रकार जाता है, वह सुनो—॥ २२ ॥ यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करके याजक स्वर्गलोकको जाता है और वहाँ अपने पुण्य-कर्मसे उपार्जित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है ॥ २३ ॥ अपने पुण्योंके द्वारा प्राप्त हुए शुभ्र विमानपर आरूढ हुआ वह मनोहर वेषधारी पुरुष सुर-सुन्दरियोंके साथ विहार करता है तथा गन्धर्वगण उसका गुणगान करते हैं ॥ २४ ॥ उस समय किङ्किणी-जालसे सुशोभित और इच्छानुसार गमन करनेवाले विमानपर चढ़कर वह देवताओंके विहारस्थल नन्दनादि उपवनोंमें अप्सराओंके साथ आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करता हुआ एक दिन अवश्य होनेवाले अपने पतनको नहीं जानता ॥ २५ ॥ जबतक पुण्य शेष रहता है तबतक वह स्वर्गलोकमें सुखभोग करता रहता है । पुण्य क्षीण होते ही, इच्छा न रहते हुए भी वह कालकी प्रेरणासे तुरन्त नीचे गिर जाता है ॥ २६ ॥

१. किन्त्वर्थः । २. देवानाम् ।

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः ।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥२७॥
पशूनविधिनालभ्य प्रेतभूतगणान्यजन् ।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥२८॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः ।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥२९॥
लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम् ।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः ॥३०॥
गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥३१॥
यावत्स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।
नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥३२॥
यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ।
य एतत्समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥३३॥
काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥३४॥

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः ।
गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो ॥३५॥
कथं वर्तेत विहरेत्कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ।

[यह तो कर्मके विधिपूर्वक निर्विघ्न समाप्त हो जानेसे होनेवाली गतिका वर्णन हुआ; किन्तु] यदि कोई जीव अधम पुरुषोंके कुसंगमें पड़कर अधर्मरत, अजितेन्द्रिय, स्वेच्छाचारी, कृपण, लोभी, स्त्रैण और प्राणिहिंसक होकर बिना विधिके ही पशुओंका वध करके भूत-प्रेत आदिको बलि देता है तो वह अवश्य ही परवश होकर नरकमें जाता है और अन्तमें घोर अन्धकार (अज्ञान) में पड़ता है ॥ २७-२८ ॥ इस शरीरसे, दुःख ही जिनका फल है ऐसे कर्मोंको करता हुआ पुरुष उन कर्मोंके द्वारा पुनः देह धारण करता है। अतः इससे इस मरणधर्मा जीवको क्या सुख मिल सकता है ? ॥ २९ ॥ [केवल मनुष्योंको ही नहीं] लोक और कल्पजीवी लोकपालोंको भी मुझसे भय है, तथा जिसकी आयु दो परार्ध है उस ब्रह्माको भी [कालरूप] मुझसे भय लगा रहता है ॥ ३० ॥ गुण (इन्द्रियाँ) कर्म करते हैं और [सत्त्व आदि] गुण गुणों (इन्द्रियों) को कर्ममें प्रवृत्त करते हैं। जीव तो अज्ञानवश इन्द्रियादिसे युक्त होकर [अर्थात् उनमें अहंबुद्धि करके उनके किये हुए] कर्मोंके फलोंको भोगता है ॥ ३१ ॥ जबतक [अहङ्कारादिरूपसे] गुणोंकी विषमावस्था रहती है तभीतक आत्माका नानात्व है; और जबतक आत्माका नानात्व है तभीतक पराधीनता है ॥ ३२ ॥ तथा जबतक पराधीनता है तभीतक ईश्वरसे भय है, अतः जो लोग इस कर्मकलापके उपासक हैं वे इसी प्रकार शोकाकुल हुए मोहको प्राप्त होते हैं ॥ ३३ ॥ हे उद्धव ! गुणोंका वैषम्य होनेपर काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि अनेकों नामोंद्वारा मेरा ही निरूपण किया जाता है ॥ ३४ ॥

उद्धवजी बोले—हे विभो ! देहके [कर्म और उसके फलादि] गुणोंमें रहता हुआ भी यह देहधारी जीव कैसे उनके बन्धनमें नहीं पड़ता और यदि [आकाशके समान] अनावृत होनेके कारण गुणोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है तो फिर वह उनमें बँध कैसे जाता है ? ॥ ३५ ॥ इस प्रकार गुणोंसे मुक्त हुआ पुरुष किस प्रकार रहता है, कैसे विहार करता है ? किन लक्षणोंसे जाना जाता है ? क्या

किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा ॥३६॥

खाता है ? क्या त्यागता है ? तथा किस प्रकार सोता, बैठता अथवा चलता है ? ॥ ३६ ॥

एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
नित्यबद्धो[1] नित्यमुक्त[2] एक एवेति मे भ्रमः ॥३७॥

हे अच्युत ! हे प्रश्नका यथार्थ उत्तर देनेवालोंमें श्रेष्ठ ! मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये और 'एक ही आत्मा नित्यबद्ध तथा नित्यमुक्त किस प्रकार है ?' मेरी इस शङ्काको निवृत्त कीजिये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
भगवदुद्धवसंवादे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

ग्यारहवाँ अध्याय

बद्ध, मुक्त और भक्तजनोंके लक्षण ।

श्रीभगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १ ॥
शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च मायया ।
स्वप्नो[3] यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥२॥
विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् ।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥ ३ ॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥ ४ ॥
अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ ५ ॥
सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! गुणोंके कारण ही मुझे बद्ध या मुक्त कहा जाता है, वस्तुतः नहीं; और गुण मायामूलक हैं; अतः वास्तवमें मेरा न बन्धन है न मोक्ष ॥ १ ॥ शोक, मोह, सुख, दुःख और देहकी उत्पत्ति सब मायाहीके कार्य हैं और यह संसार भी स्वप्नके समान बुद्धिजनित प्रतीति ही है, यह वास्तविक नहीं है ॥ २ ॥ हे उद्धव ! देहधारियोंके मोक्ष और बन्धनकी कारणभूता विद्या और अविद्याको भी मेरी मायासे रची हुई मेरी आद्या शक्तियाँ ही जानो ॥ ३ ॥ हे महामते ! मेरे अंशरूप एक ही जीवको अविद्यासे अनादि बन्धन और विद्यासे मोक्षकी प्राप्ति हुई है ॥ ४ ॥ हे तात ! अब मैं तुझसे एक ही धर्मीमें स्थित बद्ध और मुक्त इन दो विरुद्ध धर्मवालोंकी [अर्थात् जीव और ईश्वरकी] विलक्षणताका वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥ ये दोनों पक्षी (बद्ध जीव और मुक्त ईश्वर) समान (चेतनस्वरूप) और सखा (नित्य अवियुक्त) हैं तथा ये एक ही वृक्ष (शरीर) में स्वेच्छासे घोंसला बनाकर रहते हैं। उनमेंसे एक (जीव) तो उसके फलों (सुख-दुःखादि कर्मफलों) को खाता (भोगता) है और दूसरा (ईश्वर) निराहार (कर्म-फलादिसे असंग साक्षीमात्र) रहकर भी बल (ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्यादि) में पहलेसे अधिक है ॥ ६ ॥

१. नित्यमुक्तो । २. नित्यबद्धः । ३. स्वप्ने ।

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

जो निराहार है वह (ईश्वर) तो अपनेको और अपनेसे भिन्न प्रपञ्चादिको जानता है, किन्तु जो कर्मफलरूप पिप्पलान्नका भोक्ता है वह (जीव) नहीं जानता । इनमें जो अविद्यायुक्त (जीव) है वही नित्यबद्ध है और जो ज्ञानमय (ईश्वर) है वही नित्यमुक्त है ॥ ७ ॥

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान्स्वप्नाद्यथोत्थितः ।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग्यथा ॥ ८ ॥

स्वप्नावस्थासे उठे हुए व्यक्तिके समान विद्वान् देहस्थ होकर भी [देहाभिमान न होनेके कारण] देहस्थ नहीं होता और अज्ञानी स्वप्नद्रष्टाके समान देहस्थ न होकर भी देहस्थ रहता है; [अर्थात् देहका अभिमान करके देहजनित नाना आपत्तियोंको भोगता है] ॥ ८ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च ।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान्यस्त्वविक्रियः ॥ ९ ॥

अतः इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके तथा गुणोंके द्वारा गुणोंके गृहीत होनेपर भी विद्वान् कभी अहङ्कार नहीं करता [अर्थात् यह नहीं मानता कि मैं उनको ग्रहण करता हूँ] क्योंकि वह तो सर्वदा अविकारी है ॥ ९ ॥

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन्गुणभाव्येन कर्मणा ।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्ध्यते ॥१०॥

अज्ञानी पुरुष इस दैवाधीन शरीरके द्वारा गुणोंकी प्रेरणासे होते हुए कर्मोंमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसी भावना करके बँध जाता है ॥१०॥

एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने ।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥११॥
न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन्गुणान् ।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ॥१२॥
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः ।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद्विनिवर्तते ॥१३॥

इस प्रकार विवेकी पुरुष विरक्त रहकर सोने, बैठने, घूमने-फिरने, स्नान करने, देखने, छूने, सूँघने, भोजन करने और सुनने आदिमें गुणोंको ही कर्ता माननेसे बन्धनमें नहीं पड़ता; प्रत्युत प्रकृतिस्थ रहकर भी आकाश, सूर्य और वायुके समान असङ्ग ही रहता है । तथा असङ्ग-भावनासे तीक्ष्ण की हुई अपनी विमल बुद्धिसे समस्त संशयोंको काटकर स्वप्नसे जगे हुए पुरुषके समान नानात्वके भ्रमसे निवृत्त हो जाता है ॥११–१३॥

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तयः स[1] विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥१४॥

जिसके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ सङ्कल्पशून्य होती हैं, वह देहमें स्थित रहकर भी उसके गुणोंसे मुक्त है ॥१४॥

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद्यदृच्छया ।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ॥१५॥

जिसके शरीरको चाहे हिंसकलोग पीड़ा पहुँचावें और चाहे कभी कोई दैवयोगसे पूजनादि करने लगे, फिर भी वह विद्वान् किसी प्रकार विकृत नहीं होता ॥१५॥

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः ॥१६॥

गुण-दोषसे रहित समदर्शी मुनिको उचित है कि किसीके भला या बुरा कर्म करने अथवा वाणीसे भला या बुरा बोलनेपर न तो स्तुति ही करे और न निन्दा ही ॥१६॥

१. स तु मुक्तो वै दे० ।

न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥१७॥
शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥१८॥
गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥१९॥
यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्या-
द्वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥२०॥
एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥२१॥
यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥२२॥
श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन्सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन्कर्म जन्म चाभिनयन्मुहुः ॥२३॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन्मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥२४॥
सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥२५॥

मुनिको चाहिये कि किसी प्रकारका भला या बुरा कर्म न करे, न कुछ भला या बुरा कहे और न चित्तमें ही विचारे। ऐसी वृत्तिका अवलम्बन कर केवल आत्मामें ही रमण करता हुआ जडके समान विचरे ॥१७॥ जो पुरुष शब्द-ब्रह्म (वेद) का पारङ्गत होकर भी परब्रह्ममें परिनिष्ठित नहीं हुआ [अर्थात् समाधि आदिके द्वारा जिसने परमात्माका अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं किया] उसे दुग्धहीना गौको पालनेवालेके समान अपने श्रमके फलमें केवल परिश्रम ही हाथ लगता है ॥१८॥ हे प्रिय ! दूध देनेमें असमर्थ गौ, कुलटा स्त्री, पराधीन शरीर, असत् सन्तान, पापमय धन तथा मेरे गुणानुवादसे शून्य वाणीकी रक्षा तो दुःख-पर-दुःख उठानेवाला व्यक्ति ही करता है। [अर्थात् जो इनकी रक्षा करता है वह निरन्तर दुःखी रहता है] ॥१९॥ हे उद्धव ! जिसमें संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, गति एवं संहाररूप मेरे पवित्र कर्मोंका अथवा मेरे लीलावतारोंमें स्वेच्छासे धारण किये हुए जन्मोंका वर्णन न हो, उस निष्फल वाणीको धीर पुरुष कभी आश्रय न दे ॥२०॥

इस प्रकार आत्मजिज्ञासासे अपनेमें भेद-भ्रमका उच्छेद करके अपने निर्मल चित्तको मुझ सर्वव्यापी परमात्मामें समर्पण कर उपरत हो जाय ॥ २१ ॥ यदि तुम मनको परब्रह्ममें निश्चलता-पूर्वक स्थिर करनेमें असमर्थ हो तो निरपेक्ष होकर सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति मेरे ही लिये करो ॥२२॥

हे उद्धव ! श्रद्धालु पुरुष लोकोंको पवित्र करनेवाली मेरी अति कल्याणकारिणी कथाको सुननेसे, मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंका गान, स्मरण और बारम्बार अभिनय करनेसे तथा मेरे आश्रित रहकर अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्गका मेरे लिये ही आचरण करनेसे मुझ सनातन परमात्मामें निश्चल भक्ति प्राप्त कर लेता है ॥२४॥ सत्संगद्वारा प्राप्त की हुई मेरी भक्तिके द्वारा वह मेरा उपासक हो जाता है। और वह सत्पुरुषोंद्वारा दिखलाये हुए मेरे परमपदको सुगमतासे प्राप्त कर लेता है ॥ २५ ॥

१. यदा। २. कथाम्। ३. सुभद्राम्। ४. पावनीम्।

उद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः[1] प्रभो ।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत[2] कीदृशी सद्भिरादृता ॥२६॥
एतन्मे[3] पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो ।
प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥२७॥
त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः ।
अवतीर्णोऽसि भगवन्स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥२८॥

उद्धवजी बोले—हे उत्तम कीर्तिशाली प्रभो ! आपकी सम्मतिमें साधु किसको कहना चाहिये ? और साधुजन जिसका आदर करते हैं ऐसी आपके प्रति किस प्रकारकी भक्ति उपयोगमें लायी जाय ? ॥२६॥ हे पुरुषाध्यक्ष ! हे लोकेश्वर ! हे जगत्पते ! मुझ विनीत, अनुरक्त और शरणागत भक्तसे यह सब वर्णन कीजिये ॥२७॥ हे प्रभो ! आप परब्रह्म, चिदाकाशस्वरूप तथा प्रकृतिसे परे पुरुषरूप हैं । हे भगवन् ! आप अपनी इच्छासे ही यह पृथक् शरीर धारणकर अवतीर्ण हुए हैं ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥२९॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥३०॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥३१॥
आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः ॥३२॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥३३॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! जो समस्त देहधारियोंपर कृपा करता है, किसीसे वैर-भाव नहीं रखता, तथा क्षमाशील (प्रतिहिंसासे शून्य) है, सत्यशील, शुद्धचित्त, समदर्शी और सबका हितकारी है, जिसकी बुद्धि कामनाओंसे मारी नहीं गयी है, जो संयमी, मृदुलस्वभाव, सदाचारी और अकिञ्चन है, जो निःस्पृह, मिताहारी, शान्तचित्त, स्थिरबुद्धि, मेरा शरणागत, आत्मतत्त्वका मनन करनेवाला, प्रमादरहित, गम्भीर स्वभाववाला और धैर्यवान् है, जो देहके छः धर्मों (क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जन्म और मरण) को जीत चुका है, स्वयं मानकी इच्छा नहीं करता तथापि औरोंका मान करनेवाला है तथा समर्थ, मिलनसार, करुणामय और सम्यक् ज्ञानयुक्त है [—मेरी सम्मतिमें वह (इन २८ लक्षणोंवाला पुरुष) ही श्रेष्ठ साधु है] ॥२९–३१॥ [वेदरूप] मेरे द्वारा उपदेश किये गये अपने वर्णाश्रमादि धर्मोंके [पालनमें] गुण और [त्यागमें] दोष जानकर भी जो मेरे लिये उनकी उपेक्षा करके मुझे भजता है वह साधुओंमें श्रेष्ठ है ॥३२॥ 'मैं जो हूँ, जितना हूँ और जैसा हूँ', इस बातको जानते अथवा न जानते हुए भी जो अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं, मेरी सम्मतिमें वे ही मेरे परम भक्त हैं ॥३३॥

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्[4] ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥३४॥

मेरी प्रतिमा तथा मेरे भक्तजनोंके दर्शन, स्पर्श और पूजन, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति तथा विनीत-भावसे गुण और कर्मोंका कीर्तन करना, मेरी कथा सुननेमें

१. कीदृग्विधा विभो । २. त्वयि प्रयुज्येत । ३. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—'एतन्मे पुरुषेशाय प्रपन्नाय च कथ्यताम्' । ४. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥३५॥
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥३६॥
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥३७॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥३८॥
संमार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥३९॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥४०॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥४१॥
सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥४२॥
सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥४३॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥४४॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥४५॥
धिष्ण्येष्वेष्विति[1] मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत्समाहितः ॥४६॥

श्रद्धा रखना, मेरा ध्यान करना, जो कुछ प्राप्त हो मुझे निवेदन कर देना, दास्य-भावसे आत्मसमर्पण करना, मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंकी चर्चा करना, मेरे पर्वदिनोंको मनाना, गान, नृत्य, वाद्य और भक्तसमाजके साथ मेरे मन्दिरोंमें उत्सव करना, समस्त वार्षिक पर्वतिथियोंपर मेरे स्थानोंकी यात्रा और पूजनादि करना, वैदिकी अथवा तान्त्रिकी दीक्षा लेना, मेरे व्रत रखना, मेरी प्रतिमादिकी प्रतिष्ठामें श्रद्धा रखना, उद्यान (पुष्पवाटिका), उपवन (बगीचा), क्रीडागृह और मन्दिर आदिके निर्माणमें स्वतः अथवा औरोंके साथ मिलकर प्रयत्न करना, निष्कपट-भावसे दासके समान मार्जन-लेपन, जलसेचन और मण्डलावर्तन (सर्वतोभद्र-रचना) आदिके द्वारा मेरे मन्दिरकी सेवा करना, निर्मान तथा निष्कपट रहना और अपने किये हुए सेवादि कार्योंको किसीसे न कहना [हे उद्धव ! ये ही सब मेरी उत्तम भक्तिके लक्षण हैं] । इसके सिवा मेरे भक्तको चाहिये कि वह मुझे निवेदन किये हुए दीपक अथवा किसी अन्य पदार्थको अपने काममें न लावे ॥३४—४०॥ संसारमें जो-जो वस्तु अपनेको सबसे अधिक प्रिय और अच्छी लगती हो, उसी-उसीको मेरे अर्पण कर दे; ऐसा करनेसे वह अनन्त फल देनेवाली हो जाती है ॥ ४१ ॥ हे भद्र ! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथिवी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सब मेरी पूजाके आश्रय हैं ॥४२॥ वेदत्रयीद्वारा सूर्यमें, घृताहुतियोंद्वारा अग्निमें, आतिथ्य-द्वारा ब्राह्मणमें, चारे आदिके द्वारा गौमें, बन्धुवत् सत्कारके द्वारा वैष्णवमें, ध्याननिष्ठाद्वारा हृदयाकाशमें, मुख्य प्राणद्वारा वायुमें, जल-पुष्पादि सामग्रीद्वारा जलमें, गुप्त मन्त्रोंद्वारा मिट्टीकी वेदीमें, अनेक भोगोंद्वारा आत्मामें और समदृष्टिद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमें मुझ क्षेत्रज्ञ आत्माकी पूजा करे ॥४३—४५॥ इस प्रकार भिन्न-भिन्न बुद्धिसे उक्त स्थानोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त मेरे चतुर्भुज शान्त स्वरूपका ध्यान करते हुए समाहित चित्तसे मेरी पूजा करे ॥४६॥

१. ष्वेतेषु म० ।

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥४७॥

इस प्रकार जो पुरुष [यज्ञादि] इष्ट और [कूप, बावड़ी आदि] पूर्त कर्मोंद्वारा समाहित चित्तसे मेरा पूजन करता है वह मेरी उत्तम भक्ति प्राप्त करता है और निरन्तर साधु-सेवासे उसे मेरे स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है ॥४७॥

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सध्रयङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥४८॥

हे उद्धव ! सत्संगसहित भक्तियोगके अतिरिक्त [इस संसारसागरसे पार होनेका] और कोई उपाय है ही नहीं; क्योंकि मैं साधुजनोंका नित्य सहगामी और एकमात्र अवलम्बन हूँ ॥४८॥

अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन ।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा ॥४९॥

हे यदुनन्दन ! इसके बाद सुननेके इच्छुक तुमसे इस विषयसे भी अत्यन्त गूढ़ और गोपनीय रहस्य बताऊँगा, क्योंकि तुम मेरे अनन्य सेवक, सुहृद् और सखा हो ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
एकादशोऽध्यायः ॥११॥
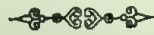
बारहवाँ अध्याय

सत्सङ्गकी महिमा और कर्मानुष्ठान तथा कर्मत्यागकी विधिका वर्णन।

श्रीभगवानुवाच

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ १ ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २ ॥
सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥ ३ ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन्युगेऽनघ ॥ ४ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥ ५ ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥ ६ ॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥ ७ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! सर्वसंगनिवारक सत्संगके द्वारा मैं जैसा वशीभूत होता हूँ, वैसा योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्ट, पूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम, नियम—किसीसे नहीं होता ॥ १-२ ॥ सत्संगके द्वारा ही भिन्न-भिन्न युगोंमें दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि राजस-तामस प्रकृतिके जीव, एवं वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मय दानव, विभीषण, सुग्रीव, हनूमान्, जाम्बवान्, गज, गृध्र, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञ-पत्नियाँ और ऐसे ही अन्यान्य अनेकों जन मेरे परम पदको प्राप्त हुए हैं ॥ ३—६ ॥ देखो गोपिकाएँ, गौएँ, यमलार्जुन एवं व्रजके अन्यान्य मृग आदि तथा और भी मन्दबुद्धि नाग एवं सिद्धगण,

१. यज्ञाः । २. युगे युगे ।

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ ८ ॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि॥ ९ ॥

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥१०॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥११॥

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमतस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥१२॥

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥१३॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥१४॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥१५॥

उद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर ।
न निवर्तत[1] आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः ॥१६॥

जिन्होंने न तो वेदोंको पढ़ा था, न महत्पुरुषोंकी उपासना की थी और न कोई व्रत या तप ही किया था, केवल सत्संगजनित मेरे भक्तिभावसे ही सुगमतापूर्वक मुझको प्राप्त हो गये, जिसको कि बड़े-बड़े साधनसम्पन्न प्रयत्नशील भी योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, श्रुतिके कथन और मनन तथा संन्यास आदि किसी उपायसे भी नहीं पा सकते ॥ ७–९ ॥ [हे उद्धव ! उन गोपियोंके प्रेमके विषयमें क्या कहा जाय ?] जिस समय श्वफल्क-पुत्र अक्रूरजी श्रीबलरामजीके साथ मुझे मथुरा ले आये उस समय परमप्रेमके कारण मुझमें अनुरक्त हुई उन गोपियोंको मेरे वियोगकी विषम व्यथाके कारण संसारमें अन्य कोई भी वस्तु सुखदायक न दीख पड़ी ॥१०॥ वृन्दावनमें स्थित मुझ प्रियतमके साथ जिन रात्रियोंको उन्होंने आधे क्षणके समान बिताया था, हे प्रिय ! वे ही रात्रियाँ मेरे बिना उन्हें एक-एक कल्पके समान हो गयीं ॥११॥ समाधिमें स्थित होकर मुनिजन तथा समुद्रमें मिल जानेपर नदियाँ जैसे अपने नाम और रूपको गँवा देती हैं उसी प्रकार अतिशय आसक्तिवश निरन्तर मुझमें ही मन लगे रहनेके कारण उन्हें अपने शरीरादिकी कोई भी सुधि नहीं रही थी ॥१२॥ मेरे [वास्तविक] स्वरूपको न जाननेवाली तथा रमण और जार-बुद्धिसे ही मेरी कामना करनेवाली उन सैकड़ों-हजारों अबलाओंने निरन्तर मेरा संग रहनेके कारण मुझे परब्रह्मरूपसे ही पा लिया ॥१३॥ अतः हे उद्धव ! अब तुम श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य और श्रुत—सबका परित्याग करके अनन्यभावसे समस्त देहधारियोंके आत्मस्वरूप एक मेरी ही शरणमें आ जाओ और मेरे आश्रित होकर सर्वथा निर्भय हो जाओ ॥१४-१५॥

उद्धवजी बोले—हे योगेश्वरोंके अधीश्वर ! आपका इतना उपदेश सुनकर भी अभी मेरे मनका सन्देह पूर्णतया निवृत्त नहीं होता है, जिससे कि मेरा चित्त भ्रमित हो रहा है [आप भलीभाँति समझाकर उसे दूर कीजिये] ॥१६॥

१. निवर्तेत ।

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
　　प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
　　मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥१७॥
यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा
　　बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते
　　तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥१८॥
एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो
　　घ्राणो रसो दृक्स्पर्शः श्रुतिश्च ।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः
　　सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ॥१९॥
अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनि-
　　रव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
　　बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥२०॥
यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
　　पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।
य एष संसारतरुः पुराणः
　　कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥२१॥
द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः
　　पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।

श्रीभगवान् बोले—आधार आदि चक्रोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है वे ही ये जीवनदाता परमेश्वर पहले परावाणीयुक्त प्राणके सहित गुहा (आधारचक्र) में प्रविष्ट हो [मणिपूर-चक्रमें आकर पश्यन्ती-नामक] मनोमय सूक्ष्म रूप धारण करते हैं तदनन्तर [विशुद्धि-चक्रमें मध्यमारूपसे परिणत होते हुए अन्तमें मुखके द्वारा] मात्रा, स्वर और वर्णरूप स्थूल (वैखरी) वाणी होकर प्रकट होते हैं ॥१७॥ जिस प्रकार आकाशमें ऊष्मारूपसे स्थित अव्यक्त अग्नि काष्ठके बलपूर्वक मथे जानेपर वायुकी सहायता पाकर पहले अणु (सूक्ष्म) रूपसे प्रकट होता है और फिर आहुतियों-द्वारा प्रचण्ड (स्थूल) रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार [परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी] वाणी-रूपसे यह मेरी (शब्दब्रह्मकी) ही अभिव्यक्ति होती है ॥ १८ ॥ इसी प्रकार वाणी, कर्म, गति, विसर्जन, घ्राण, रस, दर्शन, स्पर्श, श्रवण, सङ्कल्प (मन), विज्ञान (बुद्धि), अभिमान, सूत्र (महत्तत्त्व) और सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणके विकार—ये सब मेरे ही कार्य हैं ॥ १९ ॥ यह जीव (मायोपाधिक ईश्वर) इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमलका कारण है । यह आदिपुरुष पहले एक और अव्यक्त था । जिस प्रकार उर्वरा-भूमिमें पड़ा हुआ बीज [शाखा-पत्र-पुष्प आदि] अनेक रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार काल-गतिसे [मायाका आश्रय करनेपर] शक्तियोंका विभाग होनेसे यह परमात्मा भी नाना रूपोंसे प्रतीत होने लगता है ॥ २० ॥ जिस प्रकार तागोंके ताने-बानेमें वस्त्र ओत-प्रोत रहता है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मामें ही ओत-प्रोत है । यह जो सनातन संसार-वृक्ष है, कर्ममय है तथा [भोग और मोक्ष ही] इसके फूल और फल हैं ॥ २१ ॥ इस संसार-वृक्षके (पाप और पुण्य) दो बीज हैं, अनन्त (वासनाएँ) जड़ें हैं, तीन (गुण) तने हैं, पाँच (भूत) स्कन्ध हैं, पाँच (शब्दादि विषय) रस हैं, ग्यारह (इन्द्रियाँ) शाखाएँ हैं, (जीव और ईश्वर) दो पक्षी इसमें

दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥२२॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-
र्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥२३॥
एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥२४॥

घोंसला बनाकर रहते हैं, इसके (वात, पित्त और कफरूप) तीन वल्कल हैं और (सुख तथा दुःख) दो फल हैं; यह अति विशाल वृक्ष सूर्यमण्डलतक फैला हुआ है । [इसके आगे लोकातीत स्थान है । इसीसे मुक्त पुरुष सूर्यमण्डल भेदकर जाते हैं] ॥२२॥ जो ग्राम-निवासी गृहस्थरूप गृध्र हैं वे [नाना प्रकारके यज्ञादि कर्मोंके बन्धनमें फँसे रहनेके कारण] इसके [दुःखरूप] एक फलको भोगते हैं और जो वनवासी परमहंसरूप राजहंस हैं वे इसके [सुखरूप] दूसरे फलके भागी होते हैं । जो पुरुष गुरुओंके द्वारा इनमें नानारूपसे भासनेवाले एक मायामय प्रभुको जानता है वही इसको वास्तवमें जानता है ॥ २३ ॥ हे उद्धव ! इस प्रकार गुरुकी उपासनारूप अनन्य भक्तिके द्वारा तीक्ष्ण किये गये विद्यारूप कुठारसे धैर्य और सावधानतापूर्वक जीवभावका उच्छेद करके परमात्मस्वरूप हो जाओ और फिर उस विद्यारूप शस्त्रको भी त्याग दो [क्योंकि वृत्तिज्ञान भी अज्ञान ही है] ॥ २४ ॥
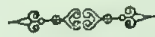
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

तेरहवाँ अध्याय

हंसोपाख्यान ।

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात्सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥ १ ॥
सत्त्वाद्धर्मो भवेद्वृद्धात्पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥ २ ॥
धर्मो रजस्तमो हन्यात्सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! सत्त्व, रज और तम—ये बुद्धिके गुण हैं, आत्माके नहीं; सत्त्वके द्वारा रज और तम दोनोंको जीते और फिर सत्त्व (मिश्र सत्त्व) की प्रवृत्तिको भी सत्त्व (शुद्ध सत्त्व) के द्वारा शान्त कर दे ॥ १ ॥ बढ़े हुए सत्त्वगुणके द्वारा ही पुरुषको मेरे भक्तिरूप धर्मकी प्राप्ति होती है । सत्त्वगुणकी वृद्धि सात्त्विक वस्तुओंके सेवनसे होती है और उनसे मेरे भक्तिरूप धर्ममें प्रवृत्ति होती है ॥ २ ॥ सत्त्वकी वृद्धिसे युक्त सर्वोत्तम धर्म रजोगुण और तमोगुणको नष्ट करता है और उन दोनोंका नाश होनेपर उनके द्वारा होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥ ४ ॥
तत्तत्सात्त्विकमेवैषां यद्यद्वृद्धाः प्रचक्षते ।
निन्दन्ति तामसं यत्तद्राजसं तदुपेक्षितम् ॥ ५ ॥
सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान्सत्त्वविवृद्धये ।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम्[2] ॥ ६ ॥
वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम् ।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥ ७ ॥

शास्त्र, जल, कुटुम्ब, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दश गुणोंके आविर्भावके कारण हैं ॥ ४ ॥ इनमेंसे जिन-जिनकी वृद्धजन प्रशंसा करते हैं वे-वे ही सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं वे तामस हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं वे राजस हैं ॥ ५ ॥ जबतक आत्मतत्त्वका अपरोक्ष ज्ञान और देहद्वय तथा उनके कारणभूत गुणोंकी निवृत्ति न हो तबतक सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये मनुष्यको सात्त्विक शास्त्रादिका ही सेवन करना चाहिये, उससे धर्मकी वृद्धि होती है और फिर उससे ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥ बाँसोंके सङ्घर्षसे उत्पन्न हुआ अग्नि जैसे उनके वनको भस्म करके ही शान्त होता है वैसे ही गुण-वैषम्यसे उत्पन्न हुआ देह भी वैसी ही क्रियावाला होकर [अर्थात् अपनेसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा गुणोंके सम्पूर्ण कार्यका लय करके] ही शान्त होता है ॥ ७ ॥

उद्धव उवाच

वदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान्पदमापदाम् ।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत्कथं श्वखराजवत् ॥ ८ ॥

श्रीउद्धवजी बोले—हे कृष्णचन्द्र ! प्रायः सभी लोग सांसारिक विषयोंको दुःखमय बतलाते हैं तथापि वे कुत्ते, गधे और बकरेके समान उनको क्यों भोगते रहते हैं ? ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि ।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः ॥ ९ ॥
रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः ।
ततः कामो गुणध्यानाद्दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः ॥१०॥
करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः ।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः ॥११॥
रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान्विक्षिप्तधीः पुनः ।

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! अविचारी पुरुषके चित्तमें जो 'मैं हूँ' ऐसी अन्यथा-बुद्धि उत्पन्न होती है उससे उसका वैकारिक (सत्त्वप्रधान) मन घोर रजोगुणकी ओर प्रवृत्त हो जाता है ॥ ९ ॥ चित्तके रजोयुक्त होनेपर अनेकों विकल्पोंके सहित सङ्कल्प उठते हैं और फिर गुणोंके चिन्तनसे उस मन्दमतिको नाना प्रकारकी दुःसह कामनाएँ आ घेरती हैं ॥१०॥ इस प्रकार रजोगुणके प्रबल प्रवाहमें पड़कर विमूढ़ हुआ वह अजितेन्द्रिय पुरुष कामनाओंके वशीभूत होकर नाना प्रकारके कर्मोंको, जो परिणाममें दुःखमय ही होते हैं, करता है ॥ ११ ॥ यद्यपि विवेकी पुरुष कभी-कभी रज-तमसे विक्षिप्तचित्त भी होता है तथापि दोषदृष्टिके द्वारा अपने विक्षिप्तचित्तको

१. तत्त० । २. हनी ।

अतन्द्रितो मनो युञ्जन्दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥१२॥

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।

अनिर्विण्णो यथाकालं[1] जितश्वासो जितासनः ॥१३॥

एतावान्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।

सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा ॥१४॥

सावधानतापूर्वक समाहित कर देनेसे वह उनमें आसक्त नहीं होता ॥ १२ ॥ [चित्त समाहित करनेके लिये साधकको चाहिये कि वह] सावधान और चिन्तारहित होकर नियत समयपर क्रमशः श्वास और आसनको जीतकर धीरे-धीरे मुझमें चित्त लगाकर योगका अभ्यास करे ॥ १३ ॥ मेरे शिष्य सनकादिने इसीको मुख्य योग कहा है कि जिससे चित्तको सब ओरसे खींचकर सर्वथा मुझमें ही लगा दिया जाय ॥ १४ ॥

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव ।

योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥१५॥

श्रीउद्धवजी बोले—हे केशव ! आपने जिस समय और जिस रूपसे सनकादिको योगका उपदेश किया था, उस रूपके विषयमें मैं जानना चाहता हूँ [कृपया बतलाइये] ॥ १५ ॥

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः ।

पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्॥१६॥

श्रीभगवान् बोले—एक बार ब्रह्माजीके मानस-पुत्र सनकादिने अपने पितासे योगकी सूक्ष्म पराकाष्ठा-के विषयमें प्रश्न किया ॥ १६ ॥

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो ।

कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः[2] ॥१७॥

सनकादिने कहा—प्रभो ! चित्त स्वभावसे ही गुणों (विषयों) में जाता है और गुण [वासनारूपसे] चित्तमें प्रवेश करते हैं, फिर इस संसार-सागरसे पार होकर मुक्ति-पद चाहनेवाला व्यक्ति इनको परस्पर कैसे पृथक् कर सकता है ? ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टो महादेवः स्वयंभूर्भूतभावनः ।

ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥१८॥

स मामचिन्तयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया ।

तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥१९॥

दृष्ट्वा मां त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।

ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति ॥२०॥

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ।

यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे ॥२१॥

श्रीभगवान् बोले—देवशिरोमणि भूतभावन श्रीब्रह्मा-जी, इस प्रकार पूछे जानेपर, कर्ममयी बुद्धि होनेके कारण बहुत कुछ विचार करनेपर भी प्रश्नका यथार्थ कारण न समझ सके ॥ १८ ॥ तब इस प्रश्नका पार पानेकी इच्छासे उन्होंने मेरा ध्यान किया । उस समय मैं हंसरूपसे उनके पास प्रकट हुआ ॥ १९ ॥ मुझे देखकर उन्होंने ब्रह्माजीको आगे कर मेरे समीप आ, मेरा चरणवन्दन करनेके अनन्तर पूछा कि आप कौन हैं ? ॥ २० ॥ हे उद्धव ! उस समय उन तत्त्वजिज्ञासु मुनियोंके इस प्रकार पूछनेपर मैंने उनसे जो कुछ कहा सो सुनो ॥ २१ ॥

---

१. यथाकामं । २. रतितीर्षया ।

वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः ।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥२२॥
पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः ।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः ॥२३॥
मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥२४॥
गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः ।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥२५॥
गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया ।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥२६॥
जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥२७॥
यर्हि[1] संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसाम् ॥२८॥
अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।

[मैंने कहा—] हे विप्रगण ! यदि तुम्हारा यह प्रश्न आत्माके विषयमें है तो आत्मवस्तु तो एक ही है, [उसमें किसी प्रकारका भी सजातीय-विजातीय अथवा स्वगत भेद नहीं है,] अतः तुमलोगोंका यह प्रश्न हो ही कैसे सकता है ? और इसका उत्तर देनेवाले मेरा भी क्या आश्रय हो सकता है ? [अर्थात् मैं भी निर्विशेषरूप होनेसे किस जाति, गुण अथवाऽव्यक्तिरूप विशेषका आश्रय लेकर इसका उत्तर दूँ ?] ॥२२॥ और यदि तुम पञ्चभूतात्मक शरीरसे ऐसा पूछते हो तो समस्त शरीर भी पञ्चभूतरूप होनेसे वास्तवमें अभिन्न ही हैं; अतः तुम्हारा यह प्रश्न कि 'आप कौन हैं ?' वाणीका आरम्भमात्र (व्यर्थ आडम्बर) ही है ॥२३॥ मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ प्रतीत होता है, निश्चय जानो वह सब मैं ही हूँ, मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं है ॥२४॥ हे पुत्रगण ! यह ठीक है कि चित्त विषयोंका अनुसरण करता है और विषय चित्तमें प्रवेश करते हैं; किन्तु वे दोनों विषय और चित्त [परस्पर संश्लिष्ट होते हुए भी] मेरे ही स्वरूपभूत जीवकी उपाधि ही हैं उसके स्वरूप या स्वभाव नहीं ॥२५॥ विषयोंका पुनः-पुनः सेवन करनेसे चित्त उनसे आविष्ट हो जाता है और फिर वासनारूपसे चित्तहीसे उनकी अभिव्यक्ति होती रहती है, इसलिये अपने शुद्धस्वरूपको मेरा ही रूप जानकर चित्त और विषयरूप दोनों उपाधियोंको त्याग देना चाहिये ॥२६॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये गुणवैषम्यके कारण हुई बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, इनके साक्षीरूपसे निश्चय किया हुआ जीव तो इनसे भिन्न ही है ॥२७॥ जीवको गुणवृत्ति प्रदान करनेवाला जो यह संसारबन्धन है उसे साक्षीरूप मुझ तुरीयमें स्थित होकर त्याग दे । इससे चित्त और गुणोंके परस्पर सम्बन्धका त्याग हो जायगा ॥२८॥ इस अहङ्कारजनित बन्धनको आत्माके लिये अनर्थका हेतु जाननेवाले विज्ञ पुरुषको चाहिये कि उसकी ओरसे उपरत

[1] यो हि ।

विद्वान्निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥२९॥

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।

जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः[1] स्वप्ने जागरणं यथा ॥३०॥

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता[2] भिदा ।

गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥३१॥

होकर मुझ तुरीयरूप आत्मामें स्थित हो सांसारिक चिन्ताको छोड़ दे ॥२९॥ जबतक युक्तियोंके द्वारा पुरुषकी भेदबुद्धि निवृत्त नहीं होती तबतक वह मूर्ख जागता हुआ भी सोतेके ही समान है; जिस प्रकार कि स्वप्नावस्थामें भी [विषयोंका अनुभव होनेके कारण] जागरणका भ्रम होता है ॥३०॥ क्योंकि आत्मासे अतिरिक्त अन्य सब पदार्थोंका अत्यन्त अभाव है इसलिये आत्ममायासे प्रतीत होनेवाले भेद (देहादि), उनकी गतियाँ (स्वर्गादि) और हेतु (कर्म) स्वप्नद्रष्टाके स्वाप्न प्रपञ्चके समान मिथ्या हैं ॥३१॥

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥३२॥

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था[3]
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः[4]।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥३३॥

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।
विज्ञानमेकमुरुधेव[5] विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥३४॥

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः ।
सन्दृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं[6] भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात् ॥३५॥

जो जागरण-कालमें अपनी समस्त इन्द्रियोंसे बाह्य क्षणिक पदार्थोंको भोगता है, स्वप्नमें वैसे ही वासनामय विषयोंका हृदयमें अनुभव करता है तथा सुषुप्तिमें उन सबका लय कर देता है, वह आत्मा एक है तथा तीनों अवस्थाओंकी स्मृतिसे युक्त होनेके कारण उनका साक्षी और इन्द्रियोंका नियामक है ॥३२॥ अतः विचारके द्वारा ऐसा निश्चय करके कि मनकी ये तीनों अवस्थाएँ मेरी मायाके गुणोंद्वारा मुझमें ही कल्पित हैं, अनुमान और आप्तोक्तियोंद्वारा तीक्ष्ण किये हुए ज्ञानरूपी खड्गसे सर्व संशयोंके आश्रयरूप अहङ्कारको काटकर अपने हृदयमें विराजमान मेरा भजन करो ॥३३॥ इस भ्रान्तिरूप जगत्को मनका विलासमात्र, दृश्य, नश्वर और अलातचक्रके समान अति चञ्चल जानना चाहिये । यह एक ही विज्ञान नानारूपसे भास रहा है । अतः गुणोंके परिणामसे हुआ यह [जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप] तीन प्रकारका विकल्प मायामय स्वप्नरूप ही है ॥३४॥ इस प्रकार मायिक प्रपञ्चसे दृष्टि हटाकर तृष्णारहित, मौन, निजानन्दपूर्ण और निश्चेष्ट हो जाय; फिर यद्यपि [आहारादिके समय] इसकी प्रतीति भी होगी, तथापि अवस्तु समझकर छोड़ा हुआ होनेके कारण यह भ्रम उत्पन्न न कर सकेगा; हाँ, देहपातपर्यन्त इसकी प्रतीति तो होती ही रहेगी ॥३५॥

१. स्वप्नयुक्तः । २. किंकृता । ३. स्थाम् । ४. श्रितार्थः । ५. विज्ञातमे० । ६. त्यक्तुम् ।

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥३६॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥३७॥
मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत्सांख्ययोगयोः।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया ॥३८॥
अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च ॥३९॥
मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः ॥४०॥
इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः ॥४१॥
तैरहं पूजितः सम्यक्संस्तुतः परमर्षिभिः।
प्रत्येयाय[1] स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः ॥४२॥

मदिरासे उन्मत्त हुआ पुरुष जैसे अपने शरीरपर ओढ़े हुए वस्त्रके दैववश रहने या गिरनेके विषयमें कुछ भी नहीं जानता वैसे ही सिद्ध पुरुषका यह नाशवान् शरीर बैठा हो या खड़ा हो उसे कुछ पता नहीं होता, क्योंकि वह अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर चुका है ॥३६॥ जबतक देहारम्भक प्रारब्धकर्म शेष रहता है तबतक यह दैवाधीन शरीर प्राणादिके सहित जीता रहता है; किन्तु समाधियोगमें आरूढ होकर तत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेपर विज्ञ पुरुष फिर प्रपञ्चसहित इस स्वप्नवत् शरीरमें आसक्त नहीं होता ॥३७॥ हे ब्राह्मणो ! मैंने तुमसे यह जो सांख्य और योगका परम गुह्य रहस्य है, कहा; तुम मुझे अपनेको धर्मोपदेश देनेके लिये आया हुआ साक्षात् यज्ञपुरुष नारायण जानो ॥३८॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति और दम—इन सबकी परम गति [अर्थात् अधिष्ठान] हूँ ॥३९॥ समता और असंगता आदि सम्पूर्ण गुण अपने परम प्रिय सुहृद् और आत्मा मुझ निर्गुण और निरपेक्षको ही भजते हैं। [अर्थात् इन सबका आश्रय भी मैं ही हूँ।] ॥४०॥ इस प्रकार मेरे वचनसे सन्देह दूर हो जानेपर उन सनकादि मुनियोंने अतिभक्तिपूर्वक मेरी पूजा कर स्तोत्रोंद्वारा मेरी स्तुति की ॥४१॥ इसके उपरान्त मैं उन श्रेष्ठ ऋषियोंद्वारा भली प्रकार पूजित और स्तुत होकर, ब्रह्मादिके देखते-देखते [अदृश्य होकर] अपने परम धामको चला आया ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

१. प्रतीयाय।

चौदहवाँ अध्याय

भक्तिकी महिमा तथा ध्यानयोगका वर्णन।

उद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥ १ ॥
भवतोदाहृतः स्वामिन्भक्तियोगोऽनपेक्षितः।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥ ३ ॥
तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन्सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥ ४ ॥
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥ ५ ॥
किन्देवाः किन्नरा नागा रक्षःकिम्पुरुषादयः।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥ ६ ॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥ ७ ॥
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित्पाखण्डमतयोऽपरे ॥ ८ ॥
मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥ ९ ॥

उद्धवजी बोले—हे श्रीकृष्णचन्द्र! ब्रह्मवादी महात्मागण श्रेयःसिद्धिके अनेक मार्ग बतलाते हैं, वे विकल्पसे (अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार) सभी श्रेष्ठ हैं या उन सबमें कोई एक ही प्रधान है? ॥ १ ॥ भगवन्! आपने तो निरपेक्ष (अहैतुक) भक्तियोगको ही प्रधान बतलाया है, जिसके अनुसार सब ओरसे आसक्ति छोड़कर आपहीमें मन लगाना चाहिये ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—काल-क्रमसे मेरी यह वेद-नामक वाणी प्रलयकालमें नष्ट हो गयी थी, जिसे इस सर्गके आरम्भमें मैंने ब्रह्माको सुनाया था तथा जिसमें मेरे भागवत-धर्मका ही निरूपण है ॥ ३ ॥ उस (ब्रह्मा) ने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको उसका उपदेश दिया और मनुसे भृगु आदि सात[1] ब्रह्मर्षियोंने उसे ग्रहण किया ॥ ४ ॥ तदनन्तर, अपने पितृगण उन महर्षियोंसे उनकी सन्तान देव, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किन्देव[2], किन्नर[3], नाग, राक्षस और किम्पुरुष[4] आदिने उस वेदविद्याको प्राप्त किया। उनके सत्त्व, रज और तमोगुणजनित स्वभाव अनेक प्रकारके हैं, जिनके कारण उन प्राणियोंमें तथा उनकी बुद्धियोंमें भी बहुत भेद हैं। अतः अपने-अपने स्वभावके अनुसार उन सबके भिन्न-भिन्न प्रकारके वचन निकलते हैं ॥ ५—७ ॥ इस प्रकृति-भेदके कारण ही परम्परासे किन्हीं-किन्हीं मनुष्योंके विचारोंमें भी भेद पड़ जाता है और कोई-कोई तो उनमें वेद-विरुद्ध पाखण्ड-मतावलम्बी भी हो जाते हैं ॥ ८ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ! मेरी मायासे मोहित बुद्धिवाले लोग अपने-अपने कर्म और रुचिके अनुसार कल्याण-मार्गका भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं ॥ ९ ॥

---

१. ताभिः।

---

१. भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु। २. श्रम और स्वेदादि दुर्गन्धसे रहित होनेके कारण जिनके विषयमें 'ये देवता हैं या मनुष्य' ऐसा सन्देह हो वे द्वीपान्तरनिवासी मनुष्य। ३. मुख तथा शरीरकी आकृतिसे कुछ-कुछ मनुष्यके समान प्राणी। ४. कुछ-कुछ पुरुषके समान प्रतीत होनेवाले वानरादि।

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ॥१०॥
केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान्यमान् ।
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः[3] ॥११॥
मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम् ॥१२॥
अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य[3] समचेतसः ।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१३॥
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥१४॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥१५॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥१६॥
निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥१७॥
बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥१८॥
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।

कोई धर्मको,[1] कोई यशको,[2] कोई कामको,[3] कोई सत्य और शम-दमादिको,[4] कोई ऐश्वर्यको[5] तथा कोई दान और भोगको[6] ही स्वार्थ (परमार्थ) बतलाते हैं ॥१०॥ कोई[7] यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियमादिको ही पुरुषार्थ बतलाते हैं। किन्तु इन कर्मोंसे जो लोक मिलते हैं वे आदि-अन्तवाले, परिणाममें दुःख देनेवाले, अन्ततोगत्वा मोहजनक, तुच्छ आनन्दवाले तथा शोकसे व्याप्त हैं ॥११॥ हे सभ्य ! सब ओरसे निरपेक्ष होकर मुझमें ही चित्त लगानेवाले, मुझहीमें लीन रहनेवाले पुरुषको जो सुख प्राप्त होता है, वह विषयलोलुप व्यक्तियोंको कैसे मिल सकता है ? ॥१२॥

जो अकिञ्चन, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि और मेरी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट है उसके लिये सब दिशाएँ सुखमयी ही हैं ॥१३॥ जिसने अपने चित्तको मुझमें ही लगा दिया है वह मुझको छोड़कर न ब्रह्मपद, न इन्द्रपद, न सार्वभौमराज्य, न समस्त भूमण्डलका आधिपत्य, न योगकी सिद्धियाँ और न मोक्षकी ही कामना करता है ॥१४॥ [इसलिये] हे उद्धव ! आप [भक्तलोग] मुझे जैसे प्रिय हैं वैसे तो न ब्रह्मा हैं, न शङ्कर हैं, न बलभद्र हैं, न लक्ष्मी हैं और न अपना आत्मा ही है ॥१५॥ जो निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और समदर्शी मुनि है उसके पीछे-पीछे तो मैं, इस दृष्टिसे कि इसकी चरण-रजसे पवित्र हो जाऊँगा, सदा फिरा करता हूँ ॥१६॥ मुझमें अनुरक्त, अकिञ्चन, शान्त, सर्वभूतहितकारी और कामनाओंसे रहितचित्त महात्मागण जिस आनन्दका अनुभव करते हैं, केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होनेवाले मेरे उस परमानन्दको और लोग नहीं जानते ॥१७॥

[यह तो मेरे उत्तम भक्तोंकी बात हुई] मेरा अजितेन्द्रिय भक्त भी विषयोंसे बाधित होनेपर प्रायः अपनी प्रौढ़ा भक्तिके प्रभावसे उन विषयोंके वशीभूत नहीं होता ॥१८॥ जिस प्रकार बढ़ा हुआ अग्नि इन्धनको जलाकर भस्म कर डालता है, हे उद्धव !

१. वै। २. शुचार्दिताः। ३. शुद्धस्य। ४. समदर्शिनम्।

१. पूर्वमीमांसक। २. साहित्यशास्त्रके आचार्य। ३. कामशास्त्री। ४. योगवेत्ता। ५. दण्डनीतिकार। ६. लोकायतिक। ७. कर्मयोगी।

तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥१९॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म[1] उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥२०॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥२१॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥२२॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥२३॥

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥२४॥
यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥२५॥
यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु[3] सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥२६॥

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥२७॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥२८॥
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥२९॥

उसी प्रकार मेरी भक्ति भी सम्पूर्ण पापराशिको पूर्णतया ध्वस्त कर देती है ॥१९॥ हे उद्धव ! मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त करा सकती है उस प्रकार तो न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है ॥२०॥ साधुजनोंका प्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभ हूँ; मेरी भक्ति चाण्डालादिको भी उनके जातीय दोषसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है ॥२१॥ मेरी भक्तिसे हीन पुरुषोंको सत्य और दयासे युक्त धर्म अथवा तपसे युक्त विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती ॥२२॥ बिना रोमाञ्च हुए, बिना चित्तके द्रवीभूत हुए, बिना आनन्दाश्रुओंका उद्रेक हुए तथा बिना भक्तिके अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है ? ॥२३॥ जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी निःसङ्कोच होकर उच्चस्वरसे गाने लगता है और कभी नाच उठता है—ऐसा मेरा परम भक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है ॥२४॥ जिस प्रकार अग्निसे तपाये जानेपर सुवर्ण मैलको त्याग देता है और अपने स्वच्छ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार मेरे भक्तियोगके द्वारा आत्मा भी कर्मवासनासे मुक्त होकर अपने स्वरूप मुझको प्राप्त हो जाता है ॥२५॥ जैसे-जैसे मेरी परम पावन कथाओंके श्रवण और कीर्तनसे चित्त परिमार्जित होता जाता है वैसे-वैसे ही वह अञ्जनयुक्त नेत्रोंके समान सूक्ष्म (वस्तु) तत्त्वका दर्शन करता जाता है ॥ २६ ॥ जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है । इसी प्रकार जो मेरा स्मरण करता है वह मुझमें लीन हो जाता है ॥ २७ ॥ इसलिये अन्य साधन स्वप्नके मनोरथोंके समान असच्चिन्तनमात्र हैं; अतः उन्हें छोड़कर मेरे चिन्तनसे शुद्ध हुए चित्तको मुझहीमें लगा दो ॥ २८ ॥ पुरुषको चाहिये कि वह धीरतापूर्वक स्त्री और स्त्रीसंगियोंका सङ्ग दूरसे ही त्यागकर निर्भय और निर्जन एकान्त स्थानमें बैठकर आलस्यरहित होकर मेरा चिन्तन करे ॥२९॥

१. धर्मो । २. योग । ३. तत्त्वसूक्ष्मम् ।

न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥३०॥

किसी अन्यके संगसे इस (मुमुक्षु) पुरुषको ऐसा क्लेश और बन्धन नहीं होता जैसा कि स्त्री अथवा उसके संगियोंके संगसे होता है ॥ ३० ॥

उद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं मे[1] वक्तुमर्हसि ॥३१॥

उद्धवजी बोले—हे कमलनयन ! मुमुक्षु पुरुषको जिस प्रकार, जिस रूपमें और जिस भावसे आपका ध्यान करना चाहिये वह ध्यान मुझे बतलाइये ? ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥३२॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥३३॥
हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत्स्वरम् ॥३४॥
एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् ।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग्जितानिलः ॥३५॥
हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥३६॥
कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ।
वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमङ्गलम् ॥३७॥
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घ[2]चारुचतुर्भुजम् ।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ॥३८॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥३९॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! सुखपूर्वक सम आसनसे शरीरको सीधा रखकर बैठे, हाथोंको गोदमें रक्खे और दृष्टिको नासिकाके अग्रभागमें स्थिर करे ॥३२॥ फिर क्रमसे पूरक, कुम्भक और रेचकद्वारा अथवा इससे उलटे क्रमसे [रेचक, कुम्भक और पूरक करके] नाड़ीकी शुद्धि करे और जितेन्द्रिय होकर शनैः-शनैः प्राणायामका अभ्यास करे ॥३३॥ [प्राणायाम दो प्रकारका है—सगर्भ और अगर्भ । उनमेंसे पहले सगर्भका वर्णन किया जाता है—] हृदयमें निहित कमलनाल-तुल्य ओङ्कारको प्राणके द्वारा ऊपरकी ओर ले जाकर उसमें घण्टानादसदृश स्वर स्थिर करे ॥ ३४ ॥ इस प्रकार नित्यप्रति तीन समय दश-दश बार ओङ्कारसहित ही प्राणायामका अभ्यास करे । ऐसा करनेसे एक माससे पहले ही साधक प्राण-वायुको जीत लेता है ॥ ३५ ॥ फिर अन्तः-करणमें स्थित ऊपरकी ओर नाल और नीचेको मुखवाले हृदय-कमलको ऊपरकी ओर मुखवाला, खिला हुआ तथा आठ पंखड़ियों और बीचकी कलीके सहित चिन्तन कर उसकी कलीमें क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी भावना करे तथा अग्निके मध्यमें जिसका ध्यान अत्यन्त मङ्गलमय है ऐसे मेरे इस रूपका ध्यान करे ॥ ३६-३७ ॥ जो अनुरूप अङ्गोंसे सुशोभित अति शान्त, सुन्दर मुख और दीर्घ, सुन्दर चार भुजाओंसे युक्त है, जिसकी ग्रीवा अति सुन्दर और सुघड़ है, कपोल सुन्दर हैं; अति मनोहर मुसकान है; जिसके समान श्रवण-पुट (कान) में मकराकार कुण्डल चमचमा रहे हैं; जो मेघके समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी और श्रीवत्स तथा लक्ष्मीजीका

१. त्वम् । २. दीर्घबाहुं च० ।

शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥४०॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥४१॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥४२॥
तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ।
नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥४३॥
तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥४४॥
एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि ।
विचष्टे मयि सर्वात्मञ्ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥४५॥
ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥४६॥

निवासस्थान है; जो शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और वनमालासे विभूषित है, जिसके चरण-कमल नूपुरोंसे सुशोभित हैं, जो कौस्तुभमणिकी आभासे सम्पन्न है, तथा जो सब ओरसे कान्तिमय किरीट, कटक, करधनी और अङ्गद (भुजबन्द) आदि आभूषणोंसे युक्त है; सर्वाङ्गसुन्दर और हृदयहारी है एवं जिसके मुख और नेत्र प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं उस मेरे सुकुमार शरीरका उसके सब अङ्गोंमें चित्त लगाते हुए, ध्यान करे ॥ ३८–४१ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे खींचकर, उस मनको बुद्धिरूपी सारथिकी सहायतासे सर्वाङ्गयुक्त मुझमें ही लगा दे ॥ ४२ ॥ सब ओर फैले हुए चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और फिर अन्य अङ्गोंका चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुसकानयुक्त मुखका ही ध्यान करे ॥ ४३ ॥ मुखारविन्दमें चित्तके स्थिर हो जानेपर उसे वहाँसे हटाकर आकाशमें स्थिर करे, तदनन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्धस्वरूपमें आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे ॥ ४४ ॥ इस प्रकार चित्तके वशीभूत हो जानेपर, जिस प्रकार एक ज्योतिमें दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार अपनेमें मुझको और मुझ सर्वात्मामें अपने आपको देखता है ॥ ४५ ॥ इस प्रकार तीव्र ध्यानयोगके द्वारा चित्तका संयम करनेवाले योगीके चित्तका द्रव्य, ज्ञान और कर्मसम्बन्धी भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

सिद्धियोंका वर्णन ।

श्रीभगवानुवाच

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ १ ॥

उद्धव उवाच

कया धारणया कास्वित्कथं वा सिद्धिरच्युत ।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान् ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ ३ ॥
अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाश्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥ ४ ॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः ॥ ५ ॥
अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन्दूरश्रवणदर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ ६ ॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम् ।
यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः ॥ ७ ॥
त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ।

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! जितेन्द्रिय, स्थिर-चित्त, श्वासको जीतनेवाले और मुझमें ही चित्त स्थिर रखनेवाले योगीको सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

उद्धवजी बोले—हे अच्युत ! योगियोंको सिद्धि देनेवाले आप ही हैं, अतः कृपया बतलाइये कि किस धारणासे किस प्रकार कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और सम्पूर्ण सिद्धियाँ कितनी हैं ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! धारणायोगके पारदर्शियोंने सब सिद्धियाँ अठारह बतलायी हैं, उनमेंसे आठमें मेरी प्रधानता है और दश गौणी अर्थात् सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होनेवाली हैं ॥ ३ ॥ अणिमा, महिमा और लघिमा शरीरकी सिद्धियाँ हैं, प्राप्ति नामकी सिद्धिका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे है, सुने (पारलौकिक) और देखे हुए (लौकिक) पदार्थोंका इच्छानुसार अनुभव कर लेना प्राकाश्य नामकी सिद्धि है तथा माया और उसके कार्योंको इच्छानुसार प्रेरित कर सकना ईशिता है ॥ ४ ॥ विषयोंमें [उनके समीपस्थ रहते हुए भी] आसक्त न होना वशिता है तथा इच्छित पदार्थोंकी जो चरम सीमाको प्राप्त कर लेता है [वह प्राकाम्य नामकी आठवीं सिद्धि है] । हे सौम्य ! ये आठ सिद्धियाँ मुझे स्वभावसे ही प्राप्त हैं ॥ ५ ॥ इस शरीरमें क्षुधा-पिपासा आदि छः ऊर्मियों (शारीरिक वेगों) का न होना, दूर-श्रवण तथा दूर-दर्शन, मनके समान शीघ्र-गति हो जाना, इच्छानुकूल रूप धारण कर लेना, अन्य शरीरमें प्रवेश कर जाना, स्वेच्छा-मृत्यु, देवाङ्गनाओंके साथ होनेवाली देवताओंकी क्रीडाओंका दर्शन, जैसे सङ्कल्प हो उसीका सिद्ध हो जाना, [जिसका कोई उल्लङ्घन न कर सके, ऐसी] आज्ञा और [लोकान्तरोंमें] बिना रोक-टोक गति—[ये दश सिद्धियाँ सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होती हैं] ॥ ६-७ ॥ [इनके अतिरिक्त] त्रिकालज्ञता, निर्द्वन्द्वता (शीत-उष्ण, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे अभिभूत न होना), दूसरेके

१- अष्टौ चौत्पत्तिका ।

अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥ ८ ॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः ।
यया धारणया या स्याद्यथा वा स्यान्निबोध मे ॥ ९ ॥
भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः ।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ॥१०॥
महत्यात्मन्मयि परे यथासंस्थं मनो दधत् ।
महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक् पृथक् ॥११॥
परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन् ।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात् ॥१२॥
धारयन्मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम् ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ॥१३॥
महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम् ।
प्राकाश्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः ॥१४॥
विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत्कालविग्रहे ।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रक्षेत्रज्ञचोदनाम् ॥१५॥
नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते ।
मनो मय्यादधद्योगी मद्धर्मा वशितामियात् ॥१६॥
निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन्विशदं मनः ।

चित्त आदिकी बात जान लेना, अग्नि, सूर्य, जल, विष आदिकी शक्तिको बाँध देना और किसीसे भी पराजित न होना [ये पाँच सिद्धियाँ और भी हैं] । ये योग-धारणकी सिद्धियाँ नाम-निर्देशपूर्वक बतायी गयी अब इनमेंसे जो सिद्धि जिस धारणासे और जिस प्रकारसे होती है—यह भी मुझसे जान लो ॥ ८-९ ॥ जो पुरुष तन्मात्रारूप मनको मुझ भूतसूक्ष्मोपाधिक (तन्मात्रारूप) परमात्मामें स्थिर करता है वह मेरा तन्मात्रोपासक 'अणिमा' नामकी सिद्धि प्राप्त करता है ॥१०॥ मुझ महत्तत्त्वरूप परमात्मामें मनकी महत्तत्त्वस्वरूपसे ही धारणा करनेवाला पुरुष 'महिमा' नामकी सिद्धि प्राप्त करता है । और इसी प्रकार [पञ्चभूतोपाधिक मुझमें मनको लगानेसे] पृथक्-पृथक् भूतोंकी 'महिमा' प्राप्त कर लेता है ॥११॥ [वायु आदि चार भूतोंके] परमाणुरूप उपाधिवाले मेरे स्वरूपमें चित्तको लगा देनेसे योगी कालकी सूक्ष्मतारूप* 'लघिमा' सिद्धिको प्राप्त करता है ॥१२॥ सात्त्विक अहङ्काररूप मुझ परमात्मामें चित्तकी धारणा करनेसे मेरा ध्यान करनेवाला योगी समस्त इन्द्रियोंका अधिष्ठातृस्वरूप 'प्राप्ति' नामक सिद्धि पाता है ॥१३॥ जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मामें अपने चित्तको स्थिर करता है वह मुझ अव्यक्तजन्माकी 'प्राकाश्य' नामक सर्वश्रेष्ठ सिद्धिको प्राप्त करता है ॥१४॥ जो त्रिगुणमयी मायाके स्वामी मुझ कालस्वरूप विष्णु-भगवान्में चित्तकी धारणा करता है वह क्षेत्र (शरीरादि) और क्षेत्रज्ञ (जीव) को अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकनारूप 'ईशित्व' सिद्धि पाता है [अर्थात् सृष्टि और संहारादि कर सकता है] ॥१५॥ जो योगी भगवत्-शब्दसे कहे गये मुझ 'तुरीय'संज्ञक नारायणमें मन लगा देता है वह मेरे स्वभावसे युक्त हुआ योगी 'वशिता' नामकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥ मुझ निर्गुण ब्रह्ममें ही अपने निर्मल चित्तको स्थिर करके योगी

१. धारयन् । २. क्षेत्रज्ञक्षेत्रचोदनात् । ३. तु तुर्याख्ये ।

* 'स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्' इस उक्तिके अनुसार एक परमाणुका भोग करनेवाला काल ही 'कालसूक्ष्मार्थ' है । अतः लघिमा सिद्धिको प्राप्त योगी अत्यन्त सूक्ष्मदेशावच्छिन्न आकाशरूप उपाधिवाला हो जाता है ।

परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥१७॥

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि ।

धारयञ्छ्वेततां[1] याति षडूर्मिरहितो नरः ॥१८॥

मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा[2] घोषमुद्वहन् ।

तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ ॥१९॥

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि ।

मां तत्र मनसा ध्यायन्विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक् ॥२०॥

मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना ।

मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ॥२१॥

यदा मन उपादाय यद्यद्रूपं बुभूषति ।

तत्तद्भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः ॥२२॥

परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत् ।

पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत् ॥२३॥

पार्ष्ण्यापीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु ।

आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम् ॥२४॥

विहरिष्यन्सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत् ।

विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः ॥२५॥

परमानन्दस्वरूपिणी 'प्राकाम्य' नामकी सिद्धि प्राप्त करता है, जिसके मिलनेपर सम्पूर्ण कामनाओंका अन्त हो जाता है ॥१७॥ हे उद्धव ! मुझ धर्ममय शुद्धस्वरूप श्वेतद्वीपाधिपतिमें चित्तकी धारणा करनेसे योगी [जन्म, मरण, क्षुधा, तृष्णा, शोक और मोहरूप] छः ऊर्मियोंसे मुक्त होकर शुद्धस्वरूपताको प्राप्त हो जाता है ॥१८॥ समष्टि-प्राणरूप मुझ आकाशात्मा परमात्मामें मनके द्वारा नादका चिन्तन करता हुआ जीव [दूर-श्रवणनामक सिद्धिसे] आकाशमें उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियोंकी बोलियोंको सुन सकता है ॥१९॥ नेत्रोंको सूर्यमें और सूर्यको नेत्रोंमें संयुक्त करके उन दोनोंके संयोगमें मन-ही-मन मेरा ध्यान करनेसे सूक्ष्मदर्शी योगी [दूरदर्शननामक सिद्धिसे] सारे संसारको देख सकता है ॥२०॥ मन और देहको उनके अनुगामी प्राणवायुसहित मुझमें भली प्रकार जोड़कर मेरी धारणा करनेसे ['मनोजव' नामक सिद्धि मिलती है जिसके प्रभावसे] जहाँ चित्त जाता है वहीं शरीर भी पहुँच जाता है ॥२१॥ मनको उपादान कारण बनाकर योगी जिस समय जैसे रूपवाला होना चाहता है वैसे ही मनोऽनुकूल रूपवाला हो जाता है, मुझमें की हुई योग-धारणाका बल ही उसके ऐसा होनेमें कारण है ॥२२॥ जो योगी पर-शरीरमें प्रवेश करना चाहे वह अपने आत्माकी उसमें भावना करे, ऐसा करनेसे बाह्य वायुरूप हुआ प्राण (प्राणप्रधान लिङ्गशरीरोपाधिक आत्मा), एक फूलसे दूसरे फूलमें जानेवाले भ्रमरकी भाँति, उसके शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जायगा ॥२३॥ [योगीको यदि शरीर छोड़ना हो तो] एड़ीके द्वारा गुदाद्वारको दबाकर प्राण-वायुको क्रमसे हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मूर्धामें ले जाकर फिर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा उसे ब्रह्मको प्राप्त कराकर शरीर त्याग दे ॥२४॥ देवताओंके विहारस्थलोंमें क्रीडा करनेकी इच्छा हो तो मुझमें स्थित शुद्ध-सत्त्वकी भावना करे, इससे सत्त्ववृत्तिरूपिणी सुरसुन्दरियाँ विमानादिके सहित उपस्थित हो जाती हैं ॥ २५ ॥

१. विष्ताम् । २. मनसः ।

यथा सङ्कल्पयेद्बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान् ।
मयि सत्ये मनो युञ्जंस्तथा तत्समुपाश्नुते ॥२६॥
यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान् ।
कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम ॥२७॥
मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः ।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता ॥२८॥
अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः ।
मद्योगश्रान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा ॥२९॥
मद्विभूतीरभिध्यायञ्छ्रीवत्सास्त्रविभूषिताः ।
ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः ॥३०॥
उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः ।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः ॥३१॥
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः ।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥३२॥
अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥३३॥
जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः ।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥३४॥
सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥३५॥

मुझ सत्यस्वरूपमें चित्तको स्थिर करके मेरा ध्यान करनेवाला पुरुष बुद्धिके द्वारा जिस समय जैसा सङ्कल्प करता है, उसे तत्काल वही प्राप्त हो जाता है ॥२६॥ जो पुरुष मुझ सर्वनियन्ता और नित्य-स्वाधीन परमात्माके स्वभावको प्राप्त हो जाता है, उसकी आज्ञाका भी मेरी आज्ञाके समान कहीं उल्लङ्घन नहीं हो सकता ॥२७॥ मेरी भक्तिके द्वारा जिस धारणापरायण योगीका चित्त शुद्ध हो गया है उसकी बुद्धि जन्म-मृत्यु आदि अदृष्ट विषयोंके ज्ञानसे मुक्त एवं त्रिकालदर्शिनी हो जाती है ॥२८॥ जैसे जल जल-जन्तुओंका नाश नहीं करता उसी प्रकार जिसका चित्त मुझमें लगे रहनेसे शिथिल हो गया है उसके योगमय शरीरका अग्नि आदि किसीसे नाश नहीं होता ॥२९॥ जो कोई श्रीवत्स और शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुधोंसे विभूषित तथा ध्वजा, छत्र, व्यजन आदिसे अलङ्कृत मेरे अवतारोंका ध्यान करता है वह अजेय हो जाता है ॥३०॥ इस प्रकार योग-धारणाके द्वारा मेरी उपासना करनेवाले मुनिको पूर्वोक्त समस्त सिद्धियाँ पूर्णतया प्राप्त हो जाती हैं ॥३१॥ जो जितेन्द्रिय, संयमी और प्राणको जीतनेवाला है, निरन्तर मेरी ही धारणा करनेवाले उस मुनिको ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो दुर्लभ हो ? ॥३२॥ [किन्तु] उत्तम योगाभ्यासके करते-करते जिसका चित्त मुझमें लग गया है उस योगीके लिये ये सिद्धियाँ व्यर्थ कालक्षेपकी कारण होनेसे विघ्नरूप ही कही गयी हैं ॥३३॥ इस लोकमें जन्म, ओषधि, तप और मन्त्र आदिसे प्राप्त होनेवाली जितनी सिद्धियाँ हैं उन सभीको पुरुष योगद्वारा प्राप्त कर सकता है, किन्तु योगकी गति (सारूप्य, सालोक्यादि मुक्ति) [मुझमें चित्त लगानेके सिवा] किसी अन्य साधनसे नहीं मिल सकती ॥३४॥ समस्त सिद्धियोंका तथा ब्रह्मवेत्ताओंके [बतलाये हुए] योग, सांख्य और धर्म आदि साधनोंका एकमात्र मैं ही हेतु, स्वामी और प्रभु हूँ ॥३५॥

१. यथा । २. तत्त्वे । ३. न कुतश्चित् । ४. शुद्धतत्त्वस्य । ५. मय्येव श्रा० । ६. तम् । ७. तान् ।

अहमात्मान्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम् ।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा ॥३६॥

जिस प्रकार गो-घटादि भूतोंमें पाँचों भूत बाहर-भीतर सब ओर स्वयं अवस्थित हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण आवरणोंसे रहित स्वयं मैं ही समस्त प्राणियोंका बाह्य (व्यापक) और आन्तर (अन्तर्यामी) आत्मा हूँ [अर्थात् द्रष्टा क्षेत्रज्ञ और दृश्य क्षेत्र दोनों मेरे ही स्वरूप हैं] ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥
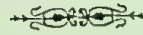
सोलहवाँ अध्याय

विभूतियोंका वर्णन ।

उद्धव उवाच

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम् ।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः ॥ १ ॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः ।
उपासते त्वां भगवन्याथातथ्येन ब्राह्मणाः ॥ २ ॥
येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः ।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद्वदस्व मे ॥ ३ ॥
गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन ।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते ॥ ४ ॥
याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते ।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५ ॥

उद्धवजी बोले—हे प्रभो ! आप साक्षात् अनादि, अनन्त और आवरणशून्य परब्रह्म हैं । तथा आप ही समस्त पदार्थोंकी रक्षा, नाश और उत्पत्तिके आदि कारण हैं ॥ १ ॥ आप समस्त ऊँच-नीच प्राणियोंमें स्थित हैं तथापि अशुद्धबुद्धि पुरुषोंके लिये आप सर्वथा दुर्विज्ञेय हैं; आपकी यथोचित उपासना तो ब्राह्मण ही करते हैं ॥ २ ॥ हे नाथ ! जिन-जिन भावोंके द्वारा आपकी भक्तिपूर्वक उपासना करके श्रेष्ठ महर्षिगण सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे सब आप मुझसे कहिये ॥३॥ हे भूतभावन ! आप प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, समस्त प्राणियोंमें आप गुप्तरूपसे लीला करते हैं । आप उन सबको देखते हैं, तथापि आपकी मायासे मोहित हुए वे आपको नहीं देख पाते ॥ ४ ॥ हे महाविभूते ! पृथिवी, स्वर्ग, पाताल तथा दिशान्तरोंमें आपके प्रभावसे युक्त आपकी जो-जो विभूतियाँ हैं वे सब आप मुझसे कहिये, मैं सम्पूर्ण तीर्थोंके आश्रयभूत आपके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम् ।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः ॥ ७ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे प्रश्नकर्त्ताओंमें श्रेष्ठ उद्धव ! कुरुक्षेत्रमें शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये तत्पर हुए अर्जुनने भी मुझसे यही प्रश्न किया था ॥ ६ ॥ 'मैं मारनेवाला हूँ, ये मरनेवाले हैं' ऐसी प्राकृत बुद्धिसे युक्त हो राज्यके लिये जातिबन्धुओंके वधको निन्दनीय पाप समझकर वह युद्धसे उपरत हो गया था ॥ ७ ॥

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः ।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि ॥ ८ ॥
अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः ।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥ ९ ॥
अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम् ।
गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः ॥१०॥
गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम् ।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः ॥११॥
हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत् ।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानिच्छन्दसामहम् ॥१२॥
इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट् ।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः ॥१३॥
ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः ।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु ॥१४॥
सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम् ।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितॄणामहमर्यमा ॥१५॥
मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम् ।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम् ॥१६॥
ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम् ।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम् ॥१७॥
उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम् ।
यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥१८॥
नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम् ।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ ॥१९॥
तीर्थानां स्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम् ।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम् ॥२०॥

उस समय जब उस युद्धक्षेत्रमें मैंने उस पुरुषसिंहको युक्तिपूर्वक समझाया तो उसने भी तुम्हारे समान ही यह प्रश्न मुझसे किया था ॥ ८ ॥ हे उद्धव ! मैं इन प्राणियोंका आत्मा, सुहृद् और स्वामी हूँ; ये सब भूत भी मैं ही हूँ और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लयका कारण भी मैं ही हूँ ॥ ९ ॥ गतिशीलोंमें गति, कलना (अपने अधीन) करनेवालोंमें काल, गुणोंमें समता तथा गुणियोंमें उनका स्वाभाविक गुण मैं हूँ ॥ १० ॥ गुणयुक्त वस्तुओंमें मैं सूत्रात्मा[1] हूँ, महानोंमें महत्तत्त्व[2] हूँ तथा सूक्ष्मोंमें जीव और दुर्जयोंमें मन हूँ ॥ ११ ॥ मैं वेदोंका [अध्यापक] हिरण्यगर्भ हूँ, मन्त्रोंमें त्रिवृत् ओङ्कार हूँ, अक्षरोंमें अकार हूँ तथा छन्दोंमें गायत्री हूँ ॥ १२ ॥ सम्पूर्ण देवताओंमें मैं इन्द्र हूँ, अष्ट वसुओंमें अग्नि हूँ, द्वादश आदित्योंमें विष्णु हूँ तथा ग्यारह रुद्रोंमें नीललोहित-नामक रुद्र हूँ ॥ १३ ॥ मैं ब्रह्मर्षियोंमें भृगु हूँ, राजर्षियोंमें मनु हूँ, देवर्षियोंमें नारद हूँ और धेनुओं (गौओं) में कामधेनु हूँ ॥ १४ ॥ सिद्धेश्वरोंमें मैं कपिल हूँ, पक्षियोंमें गरुड़ हूँ, प्रजापतियोंमें दक्ष हूँ और पितृगणमें अर्यमा हूँ ॥ १५ ॥ हे उद्धव ! मुझे दैत्योंमें दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्र और ओषधियोंमें सोम [अर्थात् नक्षत्रोंमें चन्द्रमा और ओषधियोंमें सोमरस] तथा यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर जानो ॥१६॥ मुझे गजराजोंमें ऐरावत, जलनिवासियोंमें उनका प्रभु वरुण, ताप देनेवाले और दीप्तिशालियोंमें सूर्य तथा मनुष्योंमें राजा हूँ ॥१७॥ मैं घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सुवर्ण, दण्डधारियोंमें यम और सर्पोंमें वासुकि हूँ ॥ १८ ॥ हे निष्पाप उद्धवजी ! मैं नागराजोंमें शेषनाग, सींग और डाढ़वाले जन्तुओंमें सिंह, आश्रमोंमें चतुर्थाश्रम (संन्यास) तथा वर्णोंमें आदिवर्ण (ब्राह्मण) हूँ ॥ १९ ॥ मैं तीर्थ और नदियोंमें गङ्गा, जलाशयोंमें समुद्र, अस्त्र-शस्त्रोंमें धनुष तथा धनुर्धरोंमें त्रिपुर-नाशक महादेवजी हूँ॥२०॥

१. मयि । २. प्रथमो ह्यहम् ।

१. क्रियाशक्तिप्रधान प्रथम कार्य । २. ज्ञानशक्तिप्रधान प्रथम कार्य ।

धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः ।
वनस्पतीनामश्वत्थ[1] ओषधीनामहं यवः[2] ॥२१॥
पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः ।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां[3] भगवानजः ॥२२॥
यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम् ।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः ॥२३॥
योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम् ।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम् ॥२४॥
स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः ।
नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम् ॥२५॥
धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः ।
गुह्यानां सूनृतं[4] मौनं मिथुनानामजस्त्वहम्[5] ॥२६॥
संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित् ॥२७॥
अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः ।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान् ॥२८॥
वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम् ।
किंपुरुषाणां हनुमान्विद्याध्राणां सुदर्शनः ॥२९॥
रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम् ।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम् ॥३०॥
व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः ।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३१॥
ओजः सहो बलवतां कर्माहं[6] विद्धि सात्त्वताम् ।

मैं निवास-स्थानोंमें सुमेरु, दुर्गम स्थानोंमें हिमालय, वनस्पतियोंमें अश्वत्थ (पीपल) और ओषधियोंमें यव हूँ ॥ २१ ॥ मैं पुरोहितोंमें वसिष्ठ, ब्रह्मिष्ठों (वेदवेत्ताओं) में बृहस्पति, समस्त सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिकेय और अग्रणियों (नेताओं) में भगवान् ब्रह्माजी हूँ ॥ २२ ॥ मैं यज्ञोंमें ब्रह्मयज्ञ, व्रतोंमें अहिंसा तथा शोधक पदार्थोंमें नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी और आत्मा हूँ ॥ २३ ॥ मैं योगोंमें मनोनिरोध, विजयसाधनोंमें मन्त्र, कौशलोंमें आन्वीक्षिकी (आत्मानात्मविवेक) विद्या और ख्यातिवादियोंमें विकल्प हूँ ॥ २४ ॥ मैं स्त्रियोंमें शतरूपा, पुरुषोंमें स्वायम्भुव मनु, मुनीश्वरोंमें नारायण और ब्रह्मचारियोंमें सनत्कुमार हूँ ॥ २५ ॥ मैं धर्मोंमें संन्यास*, अभयसाधनोंमें अन्तर्निष्ठा, गुह्योंमें मधुर वचन एवं मौन और मिथुनोंमें [स्त्री-पुरुष उभयरूप] प्रजापति हूँ ॥ २६ ॥ मैं सावधान रहनेवालोंमें संवत्सर, ऋतुओंमें चैत्र-वैशाख (वसन्त), मासोमें मार्गशीर्ष (अगहन) और नक्षत्रोंमें अभिजित् हूँ ॥ २७ ॥ मैं युगोंमें सत्ययुग, धीरों (विवेकियों)में देवल और असित मुनि, व्यासोंमें द्वैपायन तथा कवियोंमें मनस्वी शुक्राचार्य हूँ ॥ २८ ॥ मैं भगवानों† में वासुदेव, भागवतोंमें तुम (उद्धव), किंपुरुषोंमें हनुमान् और विद्याधरोंमें सुदर्शननामक विद्याधर हूँ ॥ २९ ॥ मैं रत्नोंमें पद्मराग, सुन्दर वस्तुओंमें कमल-कोश, तृणोंमें कुशा और हवियोंमें गो-घृत हूँ ॥ ३० ॥ मैं व्यवसायियोंमें लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति), छलियोंमें छल, तितिक्षुओंमें तितिक्षा और सत्त्वगुणियों-में सत्त्वगुण हूँ ॥ ३१ ॥ मैं बलवानोंमें उत्साह और पराक्रम, सात्त्वतों (भगवद्भक्तों) में भक्तियुक्त

---

१. मश्वत्थम् । २. यवाः । ३. सर्वसेनानामग्रणीर्भग० । ४. सौनृतम् । ५. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—'विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम्' । ६. कामः ।

* कर्म-संन्यास, अथवा एषणात्रयके त्यागद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान । बाह्य संन्यासकी मुख्यता आश्रमोंकी अपेक्षासे पहले श्लोक १९ में कह चुके हैं ।

† उत्पत्ति, लय, प्राणियोंका आना-जाना, विद्या और अविद्याके जाननेवालेको 'भगवान्' कहते हैं, जैसे कहा है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

सात्त्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥३२॥
विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम् ।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः ॥३३॥
अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः ।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः ॥३४॥
ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः ।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसङ्क्रमः ॥३५॥
गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम् ।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम् ॥३६॥
पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् ।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं[1] रजः सत्त्वं तमः परम् ॥३७॥
अहमेतत्प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः ।
मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना ।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥३८॥
संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया ।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः ॥३९॥
तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः ।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥४०॥
एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः सङ्क्षेपेण विभूतयः ।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते ॥४१॥
वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान्[3]यच्छेन्द्रियाणि च ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥४२॥
यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन्धिया यतिः ।
तस्य व्रतं तपो ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥४३॥

निष्काम कर्म तथा वैष्णवभक्तोंकी पूज्य नवमूर्तियों*में पहली वासुदेवनामक उत्तम मूर्ति हूँ ॥ ३२ ॥ मैं गन्धर्वोंमें विश्वावसु और अप्सराओंमें पूर्वचित्ति हूँ तथा पर्वतोंमें स्थिरता और पृथिवीमें गन्ध हूँ ॥ ३३ ॥ मैं जलमें रस, तेजस्वियोंमें महातेजस्वी अग्नि और सूर्य, चन्द्र, तारोंमें प्रभा तथा आकाशमें उसका परम गुण शब्द हूँ ॥ ३४ ॥ मैं ही ब्राह्मणभक्तोंमें बलि, वीरोंमें अर्जुन तथा प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश हूँ ॥ ३५ ॥ मैं ही गति, उक्ति, त्याग, ग्रहण, आनन्द और स्पर्शरूप हूँ तथा मैं ही आस्वाद, श्रवण और घ्राण हूँ । अतः मैं समस्त इन्द्रियोंका इन्द्रिय हूँ ॥ ३६ ॥ पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहङ्कार, महत्तत्त्व, पञ्च महाभूत, जीव, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम और ब्रह्म—ये सब भी मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥ यह तत्त्वोंकी गणना, लक्षणोंद्वारा उनका ज्ञान तथा उनका निश्चय भी मैं ही हूँ । ईश्वर-जीव, गुण-गुणी एवं सर्वात्मा सर्वरूप मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं नहीं है ॥३८॥ कालान्तरमें परमाणुओंको तो मैं गिन सकता हूँ, किन्तु करोड़ों ब्रह्माण्डोंको रचनेवाला मैं अपनी विभूतियोंको नहीं गिन सकता ॥३९॥ जिस-जिसमें तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पुरुषार्थ, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों वह मेरा ही अंश है ॥४०॥ ये सब विभूतियाँ मैंने तुमसे संक्षेपसे कह दी हैं; तथापि ये मनोविकार ही हैं क्योंकि वाणीसे कही जाती हैं । [अर्थात् ये परमार्थवस्तु नहीं हैं, क्योंकि वह तो मन-वाणीकी अविषय है, इनमें तो उसका केवल आभासमात्र है ।] ॥४१॥ वाणी, मन, प्राण और इन्द्रियोंको जीतो, बुद्धिको अपने आत्माके द्वारा जीतो; ऐसा करनेसे फिर इस आवागमनके चक्रमें न पड़ोगे ॥४२॥ जो विचारवान् बुद्धिके द्वारा वाणी और मनका पूर्णतया संयम नहीं करता उसका व्रत, तप और ज्ञान कच्चे घड़ेमें भरे हुए जलके समान क्षीण हो जाता है ॥४३॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध यहाँ नहीं है । २. ऽव्यक्तः । ३. प्राणम् ।

* वैष्णवोंकी पूज्य नव मूर्तियाँ ये हैं—
वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा ।

तस्मान्मनोवचःप्राणान्नियच्छेन्मत्परायणः ।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥४४॥

अतः मेरा भक्त मेरी भक्तियुक्त बुद्धिसे वाणी, मन और प्राणका संयम करे। ऐसा कर लेनेपर फिर उसे कुछ और करना नहीं रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है ॥४४॥
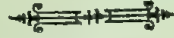
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥१६॥
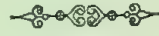
सत्रहवाँ अध्याय

वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण।

उद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥
यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत्।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तत्समाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥
पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव ॥ ३ ॥
स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन।
न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः ॥ ४ ॥
वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि।
सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः ॥ ५ ॥
कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति ॥ ६ ॥
तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो ॥ ७ ॥

उद्धवजी बोले—हे कमलनयन ! आपकी भक्ति ही जिसका स्वरूप है ऐसा जो धर्म आपने वर्णाश्रम-धर्मका आचरण करनेवाले तथा और भी (वर्णाश्रमाचारसे रहित) सब लोगोंके लिये कहा है उसके जिस प्रकार अनुष्ठान करनेसे आपमें मनुष्योंकी भक्ति हो सकती है, सो आप मुझसे कहिये ? ॥ १-२ ॥ हे प्रभो ! हे माधव ! आपने पूर्वकालमें हंसरूपसे ब्रह्माजीको जिस उत्तम धर्मका उपदेश किया था, हे शत्रुदमन ! अधिक काल हो जानेके कारण आपका वह अनुशासनरूप धर्म अब मर्त्यलोकमें प्रायः प्रचलित नहीं रहा ॥३-४॥ हे अच्युत ! इस पृथिवीतलपर और श्रीब्रह्माजीकी सभामें भी, जहाँ सम्पूर्ण वेद साक्षात् मूर्तिमान् होकर रहते हैं, आपके इस धर्मका वक्ता, निर्माता और रक्षक दूसरा कोई नहीं है ॥ ५ ॥ हे मधुसूदन ! इस धर्मके वक्ता, कर्ता और रक्षक आप जब इस पृथिवी-तलको छोड़कर चले जायँगे तब इस नष्टप्राय धर्मका और कौन उपदेश करेगा ? ॥ ६ ॥ अतः हे सर्वधर्मज्ञ प्रभो ! आपकी भक्तिरूप उस परम धर्मका जिसके लिये जैसा विधान है, सो आप मेरे प्रति कहिये ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान्हरिः।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने मुख्य सेवक उद्धवजीके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर, भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर लोगोंके कल्याणके लिये उन सनातन-धर्मोंका वर्णन करने लगे ॥ ८ ॥

१. वचोमनःप्राणान्। २. तन्ममा०। ३. तत्त्वतः सर्व०।

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम् ।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे ॥ ९ ॥
आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः ।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात्कृतयुगं विदुः ॥१०॥
वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् ।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥११॥
त्रेतामुखे[2] महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या[3] अहमासं त्रिवृन्मखः ॥१२॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥१३॥
गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम ।
वक्षःस्थानाद्वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः[4] ॥१४॥
वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः[5] ।
आसन्प्रकृतयो[6] नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥१५॥
शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥१६॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१७॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्[7] ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥१८॥
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! तुम्हारा यह प्रश्न अति धर्ममय है; वर्णाश्रमाचारयुक्त लोगोंके लिये आत्यन्तिक श्रेयःस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है, अतः तुम मुझसे उसका श्रवण करो ॥ ९ ॥ कल्पके आदिमें जो प्रथम कृतयुग हुआ उसमें मनुष्योंका हंस-नामक केवल एक ही वर्ण था; क्योंकि उस समय लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे, इसीलिये उसे 'कृतयुग' कहते हैं ॥१०॥ उस समय प्रणव ही वेद था और [तप, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणों-वाला] वृषभरूप मैं ही धर्म था तथा उस समयके निष्पाप और तपोनिष्ठ लोग मुझ हंस (शुद्ध) स्वरूप परमेश्वरकी उपासना करते थे ॥११॥ फिर हे महाभाग ! त्रेतायुगके आगमनपर मेरे ही हृदयसे मेरे श्वास-प्रश्वासके द्वारा [ऋक्, साम और यजुःरूप] वेदत्रयीका आविर्भाव हुआ और उस त्रयीविद्यासे [होता, अध्वर्यु और उद्गाताके कर्म] त्रिवृत्यज्ञरूपसे मैं प्रकट हुआ ॥१२॥ तथा विराट् पुरुषके मुख, भुजा, ऊरु और चरणोंसे क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी उत्पत्ति हुई, जिनकी पहचान अपने-अपने आचरणसे ही होती है ॥१३॥ इसी प्रकार मुझ विराट् पुरुषकी जङ्घासे गृहस्थ, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास—ये चार आश्रम प्रकट हुए ॥१४॥ इन वर्ण और आश्रमोंके लोगोंके स्वभाव भी इनके जन्मस्थानोंके अनुसार नीचोंसे नीच और उत्तमोंसे उत्तम बने हुए हैं ॥१५॥ शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण-वर्णके स्वभाव हैं ॥१६॥ तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता (ब्राह्मण-भक्ति) और ऐश्वर्य—ये क्षत्रियवर्णके स्वभाव हैं ॥ १७ ॥ आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा करना और धनसञ्चयसे सन्तुष्ट न होना—ये वैश्यवर्णके स्वभाव हैं ॥१८॥ ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपट भावसे सेवा करना

१. यस्मात् । २. त्रेतायुगे । ३. तत्र । ४. वक्षःस्थलाद्वने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः । ५. चारिणीः । ६. आसन्वै गतयो नृणां । ७. विप्रसेवनम् ।

तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१९॥

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च[1] स्वभावोऽन्तेवसायिनाम्[2] ॥२०॥

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥२१॥

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ।
वसन्गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः[3] ॥२२॥

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान्दधत् ॥२३॥

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे[4] च वाग्यतः ।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥२४॥

रेतो नावकिरेज्जातु[5] ब्रह्मव्रतधरः स्वयम् ।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत् ॥२५॥

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्छुचिः[6] ।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवाग्जपन् ॥२६॥

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥२७॥

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत् ।

और उसीसे जो कुछ मिल जाय उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्रवर्णके स्वभाव हैं ॥१९॥ अपवित्रता, मिथ्याभाषण, चोरी करना, नास्तिकता, व्यर्थ कलह करना, काम, क्रोध और तृष्णा—ये अन्त्यजोंके स्वभाव हैं ॥२०॥ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम-क्रोध-लोभसे रहित होना और प्राणियोंकी प्रिय और हितकारिणी चेष्टामें तत्पर रहना—ये सब वर्णोंके सामान्य धर्म हैं ॥२१॥ [अब चारों आश्रमोंमें पहले ब्रह्मचारीके धर्म बतलाते हैं—] जातकर्म आदि संस्कारोंके क्रमसे उपनयन-संस्काररूप दूसरा जन्म पाकर द्विज-कुमार (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्यवर्णका बालक) इन्द्रियदमनपूर्वक गुरुके घरमें रहता हुआ, गुरुद्वारा बुलाये जानेपर वेदका अध्ययन करे ॥२२॥ [ऐसे ब्रह्मचारीको चाहिये कि] मेखला, मृगचर्म, दण्ड, रुद्राक्षकी माला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु और स्वतः बढ़ी हुई जटाएँ धारण करे, [शौकीनीके लिये] दाँत और वस्त्रोंको न धोवे, रंगीन आसनपर न बैठे तथा कुशा धारण करे ॥२३॥ स्नान, भोजन, होम, जप और मूत्र-पुरीषोत्सर्गके समय मौन रहे तथा नख एवं कक्ष (बगल) और उपस्थके बालोंको भी न कटावे ॥२४॥ पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए स्वयं कभी वीर्यपात न करे और यदि कभी [असावधानतावश स्वप्नादिमें] हो जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायामपूर्वक गायत्रीका जप करे ॥२५॥ प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय मौन होकर गायत्रीका जप करे तथा पवित्र और एकाग्र होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओंकी उपासना एवं सन्ध्योपासन करे ॥२६॥ आचार्यको साक्षात् मेरा ही स्वरूप समझे, उसका कभी निरादर न करे और न कभी साधारण मनुष्य समझकर उसकी किसी बातकी उपेक्षा या अवहेलना ही करे, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है ॥२७॥ सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षा मिले अथवा और भी जो कुछ प्राप्त हो गुरुके आगे रख दे और

१. हर्षश्च । २. न्त्यावसायिनाम् । ३. चाग्यतः । ४. मन्त्रोचारे । ५. न विकिरेत् । ६. वृद्धान् सुरानपि ।

यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः ॥२८॥
शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत् ।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः ॥२९॥
एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद्भोगविवर्जितः ।
विद्या समाप्यते यावद्बिभ्रद्व्रतमखण्डितम् ॥३०॥
यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन्ब्रह्मविष्टपम् ।
गुरवे विन्यसेद्देहं[1] स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः ॥३१॥
अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम् ।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥३२॥
स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम् ।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥३३॥
शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपासनमार्जवम्[2] ।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासंभाष्यवर्जनम् ॥३४॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ॥३५॥
एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ॥३६॥
अथानन्तरमावेक्ष्यन्यथा जिज्ञासितागमः ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदितः ॥३७॥
गृहं वनं वोपविशेत्प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः ।

फिर उनकी आज्ञानुसार उसमेंसे लेकर संयमपूर्वक भोजन करे ॥२८॥ आचार्य यदि जाते हों तो उनके पीछे-पीछे जाय, शयन करते हों तो सावधानतापूर्वक थोड़ी ही दूरपर सोवे, थके हों तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों तो उनके आदेशकी प्रतीक्षामें हाथ जोड़े पास ही खड़ा रहे । इस प्रकार अत्यन्त नीचकी भाँति सेवा-शुश्रूषा करते हुए आचार्यकी आराधना करे ॥२९॥ इस प्रकार जबतक विद्या समाप्त न हो जाय तबतक सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर अखण्डित ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करता हुआ गुरुकुलमें रहे ॥३०॥ यदि ब्रह्मलोकको जानेकी इच्छासे इसे, जहाँ मूर्तिमान् वेद रहते हैं उस महर्लोकमें जानेकी इच्छा हो तो, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य लेकर यावज्जीवन वेदाध्ययन करनेके लिये गुरुको अपना शरीर समर्पित कर दे ॥३१॥ उस ब्रह्मतेजसे सम्पन्न तथा निष्पाप नैष्ठिक ब्रह्मचारीको चाहिये कि अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियोंमें मेरी अभिन्नभावसे उपासना करे ॥ ३२ ॥ जो गृहस्थ नहीं हैं उन (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासियों) को चाहिये कि स्त्रियोंको देखना, स्पर्श करना तथा उनसे बातचीत या हँसी-मसखरी आदि करना दूरसे ही त्याग दें, मैथुन करते हुए प्राणियोंकी ओर तो दृष्टिपाततक न करें ॥३३॥ हे यदुकुलनन्दन ! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थ-सेवन, जप, अस्पृश्य-अभक्ष्य एवं अवाच्यका त्याग, समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखना तथा मन, वाणी और शरीरका संयम—ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं ॥ ३४-३५ ॥ इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी होता है, तीव्र तपके द्वारा उसकी कर्मवासना दग्ध हो जानेके कारण चित्त निर्मल हो जानेसे वह मेरा भक्त हो जाता है [और अन्तमें परमपदको प्राप्त होता है] ॥ ३६ ॥ इसके अतिरिक्त यदि अपने इच्छित शास्त्रोंका अध्ययन समाप्त कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छा हो तो गुरुको दक्षिणा देकर उनकी अनुमतिसे स्नान आदि करे; [अर्थात् समावर्तन-संस्कार करके ब्रह्मचर्याश्रमको छोड़ दे] ॥ ३७॥ श्रेष्ठ ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके उपरान्त गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे अथवा [यदि विरक्त हो तो]

१. च न्यसेद्देहम् । २. सन्ध्योपास्तिर्मर्मार्चनम् ।

आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत् ॥३८॥
गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम् ।
यवीयसीं तु वयसा यां सवर्णामनुक्रमात् ॥३९॥
इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥४०॥
प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः ॥४१॥
ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥४२॥
शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठ-
न्नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥४३॥
समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम् ।
तानुद्धरिष्ये न चिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥४४॥
सर्वाः समुद्धरेद्राजा पितेव व्यसनात्प्रजाः ।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान् ॥४५॥
एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा ।

संन्यास ले ले । इस प्रकार एक आश्रमको छोड़कर अन्य आश्रम अवश्य ग्रहण करे; मेरा भक्त अन्यथा आचरण कभी न करे । [अर्थात् निराश्रमी रहकर स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त न हो] ॥ ३८ ॥ जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहता हो वह अपने अनुरूप निष्कलङ्क कुलकी तथा अवस्थामें अपनेसे छोटी क्रमशः सवर्णकी कन्यासे विवाह करे ॥ ३९ ॥ यज्ञ करना, पढ़ना और दान देना—ये धर्म तो सभी द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों) के लिये विहित हैं किन्तु दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना—ये केवल ब्राह्मण ही करे ॥ ४० ॥ इनमें भी प्रतिग्रह (दान लेने) को तप, तेज और यशका विघातक समझकर अन्य दो वृत्ति (अध्यापन और यज्ञ कराने) से ही जीविका-निर्वाह करे, अथवा यदि इनमें भी [परावलम्बन और दीनता आदि] दोष दिखलायी दे तो केवल शिलोञ्छवृत्तिसे ही रहे ॥४१॥ यह अति दुर्लभ ब्राह्मण-शरीर क्षुद्र विषय-भोगोंके लिये नहीं है, यह तो जीवनपर्यन्त कठिन तपस्या और अन्तमें अनन्त आनन्दरूप मोक्षका सम्पादन करनेके लिये ही है ॥ ४२ ॥ इस प्रकार जो ब्राह्मण सन्तोषपूर्वक शिलोञ्छवृत्तिसे रहकर अपने अति निर्मल महान् धर्मका निष्कामतासे आचरण करता है वह सर्वतोभावसे मुझे आत्मसमर्पण करके अनासक्त भावसे अपने घरमें ही रहता हुआ अन्तमें परम शान्तिरूप मोक्षपद प्राप्त कर लेता है ॥ ४३ ॥ जो कोई ऐसे आपत्तिग्रस्त भक्त ब्राह्मणको कष्टसे निकालते हैं उन्हें मैं भी समस्त विपत्तियोंसे बचा लेता हूँ जैसे कि समुद्रमें डूबते हुए पुरुषको नौका बचा लेती है ॥ ४४ ॥ विचारवान् राजाको चाहिये कि पिताके समान सम्पूर्ण प्रजाकी और स्वयं अपनी भी इसी प्रकार आपत्तिसे रक्षा करे जिस प्रकार कि यूथपति गजराज अपने यूथके अन्य गजों और स्वयं अपने आपको भी [अपनी ही बुद्धि और बलविक्रमसे] विपत्तियोंसे बचा लेता है ॥ ४५ ॥ ऐसा [धर्मपरायण] राजा इस लोकमें सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त होकर अन्त

१. शिल्पैः ।

विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते ॥४६॥

सीदन्विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत् ।
खड्गेन वापदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥४७॥

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययापदि ।
चरेद्वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥४८॥

शूद्रवृत्तिं[1] भजेद्वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम्[2] ।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥४९॥

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥५०॥

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।
धनेनापीडयन्भृत्यान्न्यायेनैवाहरेत्क्रतून् ॥५१॥

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत्कुटुम्ब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥५२॥

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥५३॥

समय सूर्य-सदृश प्रकाशमान विमानपर बैठकर स्वर्ग-लोकको जाता है और वहाँ इन्द्रके साथ सुख भोगता है ॥ ४६ ॥ जिस ब्राह्मणको अर्थ-कष्ट हो वह वैश्यवृत्तिद्वारा व्यापार आदिसे उसको पार करे और यदि फिर भी आपत्तिग्रस्त रहे तो खड्ग धारणकर क्षत्रियवृत्तिका अवलम्बन करे किन्तु किसी भी दशामें नीचसेवारूप श्वानवृत्तिका आश्रय न ले ॥४७॥ क्षत्रियको यदि दारिद्र्यसे कष्ट हो तो वह वैश्यवृत्तिसे, मृगया (शिकार) से अथवा ब्राह्मणवृत्ति (पढ़ाने) से निर्वाह करे किन्तु नीचसेवावृत्तिका आश्रय कभी न ले ॥ ४८ ॥ इसी प्रकार आपत्तिग्रस्त वैश्य शूद्र-वृत्तिरूप सेवाका और शूद्र [उच्च वर्णकी स्त्रीमें नीच वर्णके पुरुषसे उत्पन्न] 'कारु' नामक प्रतिलोम जातिकी चटाई बुनना आदि वृत्तियोंका आश्रय ले । [ये सब विधान आपत्कालके लिये ही हैं ।] आपत्तिसे मुक्त होनेपर अपने लिये निन्द्य निम्नवर्णोचित कर्मसे जीविका प्राप्त करनेका लोभ न करे ॥४९॥ गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वेदा-ध्ययन (ब्रह्मयज्ञ), स्वधाकार (पितृयज्ञ), स्वाहाकार (देवयज्ञ), बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ), तथा अन्नदान (अतिथियज्ञ) आदिके द्वारा मेरे ही रूप ऋषि, देव, पितर [मनुष्य] एवं अन्य समस्त प्राणियोंकी यथाशक्ति नित्य पूजा करता रहे ॥ ५० ॥ स्वयं बिना उद्यमके प्राप्त अथवा शुद्ध वृत्तिके द्वारा उपार्जित धनसे, अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता हो उन लोगोंको कष्ट न पहुँचाकर, न्यायपूर्वक यज्ञादि शुभ कर्म करता रहे ॥ ५१ ॥ अपने कुटुम्बमें ही आसक्त न हो जाय, बड़ा कुटुम्बी होनेपर भी भगवद्भजनमें प्रमाद न करे । बुद्धिमान् विवेकीको उचित है कि दृश्यमान प्रपञ्चके समान अदृश्य स्वर्गादिको भी नाशवान् जाने ॥ ५२ ॥ यह पुत्र, स्त्री और कुटुम्बादि-का संयोग [प्याऊपर इकट्ठे हुए] पथिकोंके संयोगके समान [आगमापायी] है । ये सब सम्बन्धी अपने शरीरके साथ ही छूट जाते हैं, जैसे स्वप्न केवल निद्राकी समाप्तितक ही रहता है ॥ ५३ ॥

१. शूद्रवृत्तिर्भवेद्वैश्यः । २. कारुकटक्रियः ।

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः ॥५४॥

ऐसा विचारकर मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि घरोंमें अतिथिके समान ममता और अहङ्कारसे रहित होकर रहें, आसक्तिवश उनमें लिप्त न हो जायँ ॥ ५४ ॥

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद्वनं वोपविशेत्प्रजावान्वा परिव्रजेत् ॥५५॥

गृहस्थोचित कर्मोंके द्वारा मेरा ही पूजन करता हुआ मेरी भक्तिसे युक्त होकर चाहे घरमें रहे चाहे वानप्रस्थ होकर वनमें बसे अथवा यदि पुत्रवान् हो तो [स्त्रीके पालन-पोषणका भार पुत्रको सौंपकर] संन्यास ले ले ॥ ५५ ॥

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥५६॥

किन्तु जो गृहमें आसक्त है, पुत्रैषणा और वित्तैषणासे व्याकुल है, स्त्रीलम्पट और मन्दमति है वह मूढ 'मैं हूँ—मेरा है' इस मोहबन्धनमें बँध जाता है ॥ ५६ ॥

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः ।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥५७॥
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्तस्ताननुध्यायन्मृतोऽन्धं विशते तमः ॥५८॥

वह सोचता है—'अहो ! मेरे माता-पिता बूढ़े हैं, स्त्री छोटी अवस्थाके बाल-बच्चोंवाली है, ये बच्चे मेरे बिना अति दीन, अनाथ और दुःखी होकर कैसे जीवेंगे ?' इस प्रकार गृहासक्तिसे विक्षिप्तचित्त हुआ यह मूढबुद्धि विषय-भोगोंसे कभी तृप्त न होकर उन्हींका चिन्तन करता हुआ अन्तमें एक दिन मरकर घोर अन्धकारमें पड़ता है ॥ ५७-५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अठारहवाँ अध्याय

वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म ।

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! जो वनमें (वानप्रस्थ-आश्रममें) प्रविष्ट होना चाहे वह अपनी स्त्रीको पुत्रोंके पास छोड़कर अथवा अपने ही साथ रखकर शान्तचित्तसे अपनी आयुके तीसरे भागको वनमें रहकर ही बितावे ॥ १ ॥

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ॥ २ ॥

वह वनके शुद्ध कन्द, मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करे, वल्कल-वस्त्र धारण करे अथवा तृण, पत्ते और मृगचर्मादिसे काम निकाल ले ॥ २ ॥

केशरोम[1]नखश्मश्रुमलानि विभृयाद्दतः ।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः ॥ ३ ॥

केश, रोम, नख और श्मश्रु (मूँछ-दाढ़ी) रूप शारीरिक मलको धारण किये रहे [क्षौर न करावे], दन्तधावन न करे, जलमें घुसकर नित्य त्रिकालस्नान करे और पृथिवीपर सोवे ॥ ३ ॥

१. लोम ।

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन्वर्षास्वासारषाड् जले ।
आकण्ठमग्नः शिशिर एवंवृत्तस्तपश्चरेत् ॥ ४ ॥
अग्निपक्वं समश्नीयात्कालपक्वमथापि वा ।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा ॥ ५ ॥
स्वयं संचिनुयात्सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् ।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम् ॥ ६ ॥
वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान्[1] ।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ॥ ७ ॥
अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च[2] पूर्ववत् ।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ॥ ८ ॥
एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः ।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम् ॥ ९ ॥
यस्त्वेतत्कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत् ।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद्बालिशः कोऽपरस्ततः ॥ १० ॥
यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः ।

ग्रीष्ममें पञ्चाग्नि तपे, वर्षाऋतुमें बरसती हुई धाराका आघात सहते हुए अभ्रावकाशनामक* व्रतका पालन करे, तथा शरद्‌ऋतुमें कण्ठपर्यन्त जलमें डूबा रहे—इस प्रकार घोर तपस्या करे ॥ ४ ॥ अग्निसे पके हुए [अन्न आदि] अथवा काल पाकर स्वयं पके हुए [फल आदि] को ओखलीमें अथवा पत्थरसे कूटकर या दाँतोंसे पीसकर खा ले ॥ ५ ॥ अपने उदर-पोषणके साधनभूत कन्द-मूलादिको स्वयं ही संग्रह करके लावे । देश, काल और बलको भलीभाँति जाननेवाला मुनि अन्य समय लाये हुए पदार्थका ग्रहण न करे† ॥ ६ ॥ वन्य कन्द-मूल आदिसे बनाये हुए चरु-पुरोडाशादिसे ही समयोचित आग्रयणादि कर्म करे । वानप्रस्थ हो जानेपर वेदविहित पशुओंद्वारा मेरा यजन न करे ॥ ७ ॥ हाँ, वेदवेत्ताओंने अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्यादिका तो मुनिके लिये पहलेहीके समान निरूपण किया है ॥ ८ ॥ इस प्रकार घोर तपस्याके कारण [मांस सूख जानेसे] जिसकी शिराएँ (नसें) दीखने लगी हों वह मुनि मुझ तपोमयकी आराधना करके ऋषिलोकादिमें जाकर फिर वहाँसे कालान्तरमें मुझको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥ जो कोई इस अति कष्टसाध्य मोक्षफलदायक तपको क्षुद्र फलों [स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदि] की कामनासे करता है उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ? ॥ १० ॥ वानप्रस्थी जिस समय अपने आश्रमके नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हो जाय और उसका शरीर वृद्धावस्थाके कारण काँपने लगे

१. कालचोदितम् । २. पौर्णमासः ।

* खुले मैदानमें रहकर वर्षाको अपने शरीरपर लेनेका नाम अभ्रावकाशव्रत है ।

† अर्थात् मुनि इस बातको जानकर कि अमुक पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये और कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं, स्वयं ही नवीन-नवीन कन्द-मूल-फल आदिका सञ्चय करे । देश-कालादिसे अनभिज्ञ अन्य जनोंके लाये हुए अथवा कालान्तरमें सञ्चय किये हुए पदार्थोंके सेवनसे व्याधि आदिके कारण तपस्यामें विघ्न होनेकी आशंका है ।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत्॥११॥

यदा कर्मविपाकेषु[1] लोकेषु निरयात्मसु।

विरागो जायते सम्यङ्[2] न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः॥१२॥

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे।

अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत्॥१३॥

विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः।

विघ्नान्[3]कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परम्॥१४॥

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम्।

त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत्किञ्चिदनापदि॥१५॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्[4]।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥१६॥

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम्।

न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद्यतिः॥१७॥

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान्वर्जयंश्चरेत्।

सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता॥१८॥

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः।

विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम्॥१९॥

तो अग्निको [भावनाद्वारा] अपने अन्तःकरणमें आरोपित कर मेरा स्मरण करता हुआ अग्निमें प्रवेश कर जाय। [यह विधान अविरक्तके लिये है]॥११॥ और यदि अपने कर्मोंके फलस्वरूप इन नरकतुल्य लोकोंमें उसको पूर्ण वैराग्य हो जाय तो आहवनीय आदि अग्नियोंको त्यागकर संन्यासी हो जाय॥१२॥ ऐसे विरक्त वानप्रस्थको चाहिये कि वेद-विधिके अनुसार [अष्टकाश्राद्धपूर्वक प्राजापत्ययज्ञसे] मेरा यजन करके अपना सर्वस्व ऋत्विक्‌को दे दे और अग्नियोंको अपने प्राणमें लीन करके निरपेक्ष होकर स्वच्छन्द विचरे॥१३॥ इस विचारसे कि 'यह हमारे लोकको लाँघकर परमधामको जायगा' देवगण स्त्री आदिका रूप धारणकर ब्राह्मणके संन्यास लेते समय विघ्न किया करते हैं। [अतः उस समय सावधान रहना चाहिये]॥१४॥ यतिको यदि वस्त्र-धारण करनेकी आवश्यकता हो तो एक कौपीन और जिससे कौपीन ढक जाय ऐसा एक और वस्त्र रक्खे और आपत्कालको छोड़कर दण्ड तथा कमण्डलुके अतिरिक्त और कोई वस्तु पास न रक्खे॥१५॥ पृथिवीको देखकर पैर रक्खे, वस्त्रसे छानकर जल पिये, सत्यभाषण करे और मनमें भलीभाँति विचार कर कोई काम करे॥१६॥ मौनरूप वाणीका दण्ड, निष्क्रियतारूप शरीरका दण्ड और प्राणायामरूप मनका दण्ड—ये तीनों दण्ड जिसके पास नहीं हैं वह केवल बाँसका दण्ड लेनेसे [त्रिदण्डी] संन्यासी नहीं हो सकता॥१७॥ [जातिच्युत अथवा गोघातक आदि] पतित लोगोंको छोड़कर चारों वर्णोंकी भिक्षा करे। अनिश्चित सात घरोंमें माँगे उनसे जो कुछ मिल जाय उससे ही सन्तुष्ट रहे॥१८॥ बस्तीके बाहर जलाशयपर जाकर जल छिड़ककर स्थलशुद्धि करे और [समयपर यदि कोई और भी आ जाय तो उसको भी] बाँटकर बचे हुए सम्पूर्ण अन्नको चुपचाप खा ले। [बचाकर न रक्खे और न अधिक माँगकर ही लावे]॥१९॥

१. धर्मविपाकेषु। २. ह्यस्य। ३. विभ्रम्। ४. जलं पिबेत्।

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शनः ॥२०॥
विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः ।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥२१॥
अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥२२॥
तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः ।
विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत्॥२३॥
पुरग्रामव्रजान्सार्थान्भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत् ।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम् ॥२४॥
वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ।
संसिध्यत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ॥२५॥
नैतद्वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति ।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात् ॥२६॥
यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम् ।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत्स्मरेत्॥२७॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः ।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥२८॥
बुधो बालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान्गोचर्यां नैगमश्चरेत्[२] ॥२९॥

अनासक्त, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मप्रेमी, धीर और समदर्शी होकर अकेला ही पृथिवीपर विचरे ॥ २० ॥ मुनिको चाहिये कि निर्जन और निर्भय देशमें रहे तथा मेरी भक्तिसे निर्मलचित्त होकर अपने आत्माका मेरे साथ अभेदपूर्वक चिन्तन करे ॥ २१ ॥ ज्ञाननिष्ठाके द्वारा अपने आत्माके बन्धन और मोक्षका इस प्रकार विचार करे कि इन्द्रियोंकी चञ्चलता ही बन्धन है तथा उनका संयम ही मोक्ष है ॥ २२ ॥ इसलिये मुनिको चाहिये कि छहो इन्द्रियों (मन एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रियों) को जीतकर और समस्त क्षुद्र कामनाओंको छोड़कर अन्तःकरणमें परमानन्दका अनुभव कर निरन्तर मेरी ही भावना करता हुआ स्वच्छन्द विचरे ॥ २३ ॥ केवल भिक्षाके लिये ही पुर, ग्राम, गोष्ठ और यात्रियोंके समुदायमें जाता हुआ पुण्य· देश (तीर्थस्थान आदि), नदी, पर्वत, वन और आश्रमादियुक्त भूखण्डमें विचरता रहे ॥ २४ ॥ भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियोंके स्थानोंसे ही ले, क्योंकि शिलोञ्छवृत्तिसे प्राप्त हुए अन्नके खानेसे बहुत शीघ्र ही शुद्धचित्त और निर्मोह हो जानेसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ २५ ॥ इस दृश्य-प्रपञ्चको कभी वास्तविक न समझे; क्योंकि यह नष्ट हो जाता है; इसमें अनासक्त रहकर लौकिक और पारलौकिक समस्त कामनाओं (काम्य कर्मों) से विरक्त हो जाय ॥ २६ ॥ आत्मामें जो मन, वाणी और प्राणका संघातरूप यह जगत् है वह सब माया ही है—इस प्रकार विचारद्वारा उसका बाध कर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय और फिर उसका स्मरण भी न करे ॥ २७ ॥ जो ज्ञाननिष्ठ हो, विरक्त हो अथवा किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न करनेवाला मेरा भक्त हो वह आश्रमादिको उनके लिङ्गों (चिह्नों) के सहित छोड़-कर वेद-शास्त्रके विधि-निषेधरूप बन्धनसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरे ॥ २८ ॥ वह बुद्धिमान् होकर भी बालकोंके समान क्रीडा करे, निपुण होकर भी जडवत् रहे, विद्वान् होकर भी उन्मत्त (पागल) के समान बातचीत करे और सब प्रकार शास्त्र-विधिको जानकर भी पशुवृत्तिसे रहे ॥ २९ ॥

१. सर्वान् । २. नैर्ममः ।

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः ।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित्पक्षं समाश्रयेत् ॥३०॥
नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥३१॥
एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥३२॥
अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥३३॥
आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम् ।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥३४॥
यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥३५॥
शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनयाचरेत् ।
अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥३६॥
न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता ।
आदेहान्तात्क्वचित् ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया ॥३७॥
दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान् ।

उसे चाहिये कि कर्मकाण्डके व्याख्यानादिरूप वेदवादमें प्रेम न रक्खे, पाखण्डी और केवल तर्कपरायण भी न हो तथा जहाँ कोरा वाद-विवाद हो वहाँ कोई पक्ष न ले ॥ ३० ॥ वह धीर पुरुष अन्य लोगोंसे उद्विग्न न हो और न औरोंको ही अपनेसे उद्विग्न होने दे, निन्दा आदिका सहन करे, किसीका अपमान न करे और इस शरीरके लिये पशुओंके समान किसीसे वैर न करे ॥ ३१ ॥ जैसे कि एक ही चन्द्रमाके भिन्न-भिन्न जलपात्रोंमें अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें और अपनेमें भी एक ही परमात्मा विराजमान है । तथा [अपने कारण पृथिवी-आदिरूपसे] समस्त देह भी एक ही है ॥ ३२ ॥ धीर पुरुष कभी-कभी समयपर भिक्षा न मिले तो दुःख न माने और मिल जाय तो प्रसन्न न हो, क्योंकि दोनों ही अवस्थाएँ दैवाधीन हैं ॥३३॥ प्राणरक्षा आवश्यक है, इसलिये आहारमात्रके लिये चेष्टा भी करे, क्योंकि प्राण रहेंगे तो तत्त्वचिन्तन होगा और उसके द्वारा आत्मस्वरूपको जान लेनेसे मोक्ष प्राप्त होगा ॥३४॥ विरक्त मुनिको उचित है कि दैववशात् जैसा आहार मिल जाय, अच्छा हो या बुरा, उसीको खा ले, इसी प्रकार वस्त्र और बिछौना भी जैसे मिलें, उन्हें ही स्वीकार कर ले ॥३५॥ ज्ञाननिष्ठ परमहंस शौच, आचमन, स्नान तथा अन्य नियमोंको भी शास्त्रविधिके अधीन होकर न करे, बल्कि मुझ ईश्वरके समान केवल लीलापूर्वक करता रहे ॥३६॥ उसके लिये यह विकल्परूप* प्रपञ्च नहीं रहता, वह तो मेरा साक्षात्कार होते ही नष्ट हो जाता है, प्रारब्धवश जबतक देह है तबतक [बाधित रूपमें ही] उसकी कभी-कभी प्रतीति होती है, उसके पतन होनेपर तो वह मुझमें ही मिल जाता है ॥३७॥ [यहाँतक सिद्ध ज्ञानीके धर्म कहे, अब जिज्ञासुके कर्तव्य बतलाते हैं—] जिस धीर पुरुषको इन अत्यन्त दुःखमय फलवाली विषय-वासनाओंसे

* भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें विकल्पका यह लक्षण किया है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जिसमें केवल शब्दज्ञान ही हो, शब्दसे बतलायी जानेवाली वस्तुका सर्वथा अभाव हो वह विकल्प है । यह संसार भी, जैसा कि श्रुति भी कहती है, वाचारम्भणमात्र अर्थात् शब्दजालरूप ही है, वस्तुतः कुछ नहीं है; इसलिये इसे भी विकल्प कहा है ।

अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत् ॥३८॥
तावत्परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः ।
यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥३९॥
यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥४०॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा ।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥४१॥
भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः ।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥४२॥
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥४३॥
इति मां यः स्वधर्मेण भजन्नित्यमनन्यभाक् ।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरात् ॥४४॥
भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥४५॥
इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो विरक्तः समुपैति माम् ॥४६॥
वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः ।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥४७॥

वैराग्य हो गया है और जिसे मेरे भागवत-धर्मोंकी भी जिज्ञासा नहीं है, वह किन्हीं विरक्त मुनिवरको गुरु मानकर उनकी शरण जाय ॥३८॥ उन गुरुदेवको मेरा ही रूप जानकर वह अति आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धासे तबतक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगा रहे जबतक कि उसको ब्रह्मज्ञान न हो जाय तथा गुरुकी कभी किसीसे निन्दा न करे ॥३९॥ जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छः शत्रुओंको नहीं जीता, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूप सारथी अति प्रचण्ड हो रहे हैं तथा जो ज्ञान और वैराग्यसे शून्य है तथापि संन्यासीके वेषसे पेट पालता है, वह यतिधर्मका घातक है और अपने यजनीय देवताओंको, अपनेको और अपने अन्तःकरणमें स्थित मुझको ठगता है । जिसकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं, ऐसा वह मूढ़ इहलोक और परलोक दोनों ओरसे मारा जाता है ॥४०-४१॥ शान्ति और अहिंसा यति (संन्यासी) के मुख्य धर्म हैं, तप और ईश्वरचिन्तन वानप्रस्थके धर्म हैं, प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ करना गृहस्थके मुख्य धर्म हैं तथा गुरु-सेवा ही ब्रह्मचारीका परम धर्म है ॥४२॥ ऋतुगामी गृहस्थके लिये भी ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष तथा भूत-दया—ये आवश्यक धर्म हैं और मेरी उपासना करना तो मनुष्यमात्रका परम धर्म है ॥४३॥ इस प्रकार स्वधर्मपालनके द्वारा जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना रखता हुआ अनन्यभावसे मेरा भजन करता है, वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति पाता है ॥४४॥ हे उद्धव ! मेरी अनपायिनी (जिसका कभी ह्रास नहीं होता, ऐसी) भक्तिके द्वारा वह सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी और सबके उत्पत्ति तथा लयस्थान एवं सबके कारणभूत मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥४५॥ इस प्रकार स्वधर्मपालनसे जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है और जो मेरे ऐश्वर्यको जान गया है, वह विरक्त पुरुष ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है ॥४६॥ वर्णाश्रमवालोंके लिये यह आचाररूप धर्म है । मेरी भक्तिसे युक्त होनेपर यही उनके परम निःश्रेयसका कारण हो जाता है ॥४७॥

१. पव्रजेत् । २. वनौकसाम् ।

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान्पृच्छति यच्च माम् ।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात्परम् ॥४८॥

हे साधो ! तुमने जो मुझसे पूछा था सो वह सब तुम्हारे प्रति कह दिया कि जिस प्रकार स्वधर्मका पालन करता हुआ भक्त मुझ परब्रह्मको प्राप्त होता है ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय

भक्तिके साधन और यम-नियमादिका वर्णन।

श्रीभगवानुवाच

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान्नानुमानिकः ।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत् ॥ १ ॥
ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः ।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥ २ ॥
ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः[१] पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम् ॥ ३ ॥
तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च ।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता ॥ ४ ॥
तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥ ५ ॥
ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि ।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥ ६ ॥
त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत् ।

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! जो [अपरोक्षानुभवरूप] विद्या और शास्त्रसे सम्पन्न एवं आत्मज्ञानी है, केवल आनुमानिक (परोक्षज्ञानवान्) ही नहीं है, वह यह जानकर कि 'यह सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्च और इसकी निवृत्तिका साधनरूप वृत्तिज्ञान मायामात्र हैं' उन्हें मुझमें लीन कर दे । [अर्थात् संसार और उसकी निवृत्तिके साधनरूप वृत्तिज्ञान—दोनोंको मुझमें अध्यस्त जाने ।] ॥ १ ॥ ज्ञानीका तो अभीष्ट पदार्थ, स्वार्थ (फल), उसका साधन तथा स्वर्ग-अपवर्ग सब कुछ मैं ही हूँ; उसको मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ प्रिय नहीं होता ॥ २ ॥ ज्ञान और विज्ञानसे परिपूर्ण सिद्ध पुरुष मेरे परम श्रेष्ठ पदको जानते हैं, इसीलिये ज्ञानी मुझको सबसे अधिक प्रिय है, क्योंकि ज्ञानके द्वारा वह निरन्तर मुझको अपने अन्तःकरणमें धारण करता है ॥ ३ ॥ तत्त्वज्ञानके एक अंशमात्रसे जो सिद्धि होती है वह तप, तीर्थ, जप, दान अथवा और भी किसी पवित्र साधनसे कभी नहीं हो सकती ॥ ४ ॥ इसलिये हे उद्धव ! ज्ञानके सहित अपने आत्मस्वरूपको जानकर तुम ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न हो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करो ॥ ५ ॥ ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञके द्वारा अपने अन्तःकरणमें आत्मारूप मेरा यजन करके मुनियोंने सिद्धिरूपसे मुझ सर्वयज्ञ-पतिको ही प्राप्त किया है ॥ ६ ॥ हे उद्धव ! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन त्रिविध विकारोंका समष्टिरूप शरीर जो तुममें आश्रित है, वह आदि और अन्तमें न रहनेके कारण मायाके

१. सम्बद्धाः । २. शुद्धिम् ।

जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-

राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये ॥ ७ ॥

अन्तर्गत ही है; इसके जो ये जन्म आदि होते हैं, इनसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध ? [तुम तो इसके अधिष्ठानमात्र हो] और असत् वस्तुका तो जैसा आदि और अन्त (असत्) होता है वैसा ही मध्य भी होता है ॥ ७ ॥

उद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैत-
द्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम् ॥ ८ ॥
तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
संतप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥
दष्टं जनं संपतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम् ।
समुद्धरैनं कृपयापवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव ॥१०॥

उद्धवजी बोले—हे विश्वेश्वर ! हे विश्वमूर्ते ! जिस प्रकार वैराग्य और विज्ञानसे युक्त यह सनातन और विशुद्ध ज्ञान सुदृढ़ हो जाय उसी प्रकार इसे स्पष्ट करके मुझे समझाइये तथा ब्रह्मादिक महापुरुष निरन्तर जिसकी खोजमें रहते हैं उस अपने भक्तियोगका भी वर्णन कीजिये ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! इस घोर संसार-मार्गमें तापत्रयसे पीडित होकर सन्ताप करनेवाले व्यक्तिके लिये आपके अमृतवर्षी चरणयुगलरूप छत्रके अतिरिक्त मुझे कोई और आश्रय दिखलायी नहीं देता ॥ ९ ॥ हे महानुभाव ! इस अन्धकूपमें पड़कर काल-व्यालसे डसे जानेपर भी क्षुद्र विषय-सुखकी तीव्र तृष्णासे व्याकुल हुए इस अपने दासका, कृपा करके, उद्धार कीजिये और अपने मोक्षप्रद वचनामृतसे इसे शान्त कीजिये ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्थमेतत्पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम् ।[1]
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥११॥
निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः ।
श्रुत्वा धर्मान्बहून्पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत ॥१२॥
तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान् ।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान्[2] ॥१३॥
नवैकादश पञ्च त्रीन्भावान्भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथैकमप्येषु[3] तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥१४॥
एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने पूर्वकालमें हम सब लोगोंके सामने ही यह प्रश्न इसी प्रकार धार्मिक-श्रेष्ठ पितामह भीष्मसे पूछा था ॥ ११ ॥ महाभारतका युद्ध समाप्त हो जानेपर अपने बन्धुओंके विनाशसे व्याकुल महाराज युधिष्ठिरने बहुत-से धर्मोंको सुननेके पश्चात् उन भीष्मजीसे मोक्ष-धर्मोंको पूछा था ॥ १२ ॥ देवव्रत (भीष्मजी) के मुखसे सुने हुए उन्हीं ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा और भक्तिसे युक्त मोक्ष-धर्मोंको मैं तुम्हें सुनाऊँगा ॥ १३ ॥ जिसके द्वारा समस्त प्राणियोंमें [पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्रारूप] नौ; मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ; पाँच भूत तथा तीन गुण—इन अट्ठाईस तत्त्वों और उनमें [अधिष्ठानरूपसे] अनुगत एक आत्मतत्त्वका भी साक्षात्कार करते हैं वही मेरा निश्चित ज्ञान है ॥ १४ ॥ और जब कि उस एक ही आत्मतत्त्वके निरन्तर अपरोक्षानुभवके कारण अन्य

१. प्राचीन प्रतिमें श्लोक ९ 'तापत्रयेणा'···से ११ वें श्लोकके पूर्वार्द्ध '···धर्मभृतां वरम् ।' तकका पाठ नहीं है ।
२. ज्ञानविज्ञानवैराग्य० । ३. ईक्षितान्वैकमप्येषु ।

स्थित्युत्पत्त्यप्ययान्पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥१५॥

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात्सृज्यं यदन्वियात्।
पुनस्तत्प्रतिसङ्क्रामे यच्छिष्येत तदेव सत्॥१६॥

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात्स विरज्यते॥१७॥

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्च्यादमङ्गलम्।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥१८॥

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्॥१९॥

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥२०॥

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥२१॥

मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥२२॥

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥२३॥

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते २४

यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते[1]॥२५॥

त्रिगुणात्मक भावोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि दिखलायी न दें तो यही विज्ञान है ॥ १५ ॥ जो महत्तत्त्वादि कार्यवर्गकी उत्पत्ति, प्रलय और स्थितिमें [उनके कारण और अधिष्ठानरूपसे] एक कार्यसे दूसरे कार्यके अन्तर्गत अनुस्यूत है, तथा उन सबका लय हो जानेपर भी जो बच रहता है वही सत् (ब्रह्म) है ॥ १६ ॥ शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान और ऐतिह्य (महाजनप्रसिद्धि) इन चारों प्रमाणोंमें अनवस्था होनेके कारण विज्ञानी पुरुष इस विकल्परूप संसारसे विरक्त हो जाता है ॥ १७ ॥ कर्म परिणामी हैं और उनसे प्राप्य ब्रह्मलोकतक जितने भी लोक हैं वे सभी विकारवान् होनेसे अमङ्गलरूप ही हैं, अतः विचारवान्को उचित है कि इस लोकके समान परलोकको भी नाशवान् जाने ॥ १८ ॥ हे अनघ ! मैंने भक्तियोगका तो तुमसे पहले ही वर्णन कर दिया है, परन्तु उस ओर तुम्हारी प्रीति बढ़ी हुई है इसलिये अब मैं तुम्हें अपनी भक्तिके परम साधन फिर बतलाता हूँ ॥ १९ ॥ मेरी अमृतमयी कथाओंमें श्रद्धा रखना, निरन्तर मेरा नाम-सङ्कीर्तन करना, मेरी पूजामें अत्यन्त तत्परता रखना, स्तुतियों-द्वारा मेरा स्तवन करना, मेरी सेवामें प्रेम रखना, सम्पूर्ण अङ्गोंसे मुझे प्रणाम करना, मेरे भक्तोंकी विशेषरूपसे पूजा करना, समस्त प्राणियोंमें मुझको देखना, मेरे ही लिये सम्पूर्ण अङ्गोंकी चेष्टा करना, वाणीद्वारा मेरे ही गुण गाना, मुझहीमें मन लगाना, सब कामनाओंको छोड़ देना, मेरे लिये धन, भोग और सुखको त्याग देना तथा जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाय उसे मेरे लिये ही करना—हे उद्धव ! इन्हीं धर्मोंका पालन करते हुए आत्मसमर्पण करनेवाले लोगोंके हृदयमें मेरी भक्तिका प्रादुर्भाव होता है; फिर भला उनको और किस पदार्थकी इच्छा रह सकती है ? ॥ २०–२४ ॥ इस प्रकार जब सत्त्वगुणके उद्रेकसे शान्त हुआ चित्त आत्मामें लगाया जाता है तो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य स्वयं प्राप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥

[1] वा प्रपद्यते ।

यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥२६॥
धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ॥२७॥

और यदि वही चित्त विकल्परूप संसारमें लगा दिया जाता है तो वह इन्द्रियोंके द्वारा उसीमें दौड़ता है । इस प्रकारके रजोगुणप्रधान और मिथ्या पदार्थोंमें प्रीति रखनेवाले चित्तको ही विपर्यय (अधर्मादिकी प्राप्ति) का हेतु जानो ॥ २६ ॥ जिससे मेरी भक्ति होती हो वही धर्म है, ऐकात्म्य-दर्शन ही ज्ञान है, गुण-रूप विषयोंमें अनासक्त रहना ही वैराग्य है और अणिमादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं ॥ २७ ॥

उद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन ।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो ॥२८॥
किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते ।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥२९॥
पुंसः किंस्विद्बलं श्रीमन्भगो लाभश्च केशव ।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥३०॥
कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः ।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित्को बन्धुरुत किं गृहम् ॥३१॥
क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः ।
एतान्प्रश्नान्मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते ॥३२॥

श्रीउद्धवजी बोले—हे शत्रुदमन ! यम कितने प्रकारके हैं ? तथा नियम कौन-कौनसे हैं ? हे कृष्ण ! हे प्रभो ! शम क्या है ? दम क्या है ? तितिक्षा क्या है ? और धैर्य किसे कहते हैं ? ॥ २८ ॥ दान क्या है ? तप क्या है ? और शूरवीरता क्या है ? सत्य और ऋत किसे कहते हैं ? त्याग क्या है ? इष्ट धन क्या है ? तथा यज्ञ और दक्षिणा किसे कहते हैं ? ॥ २९ ॥ हे श्रीमन् ! पुरुषका बल क्या है ? और हे केशव ! भग अर्थात् कल्याण तथा परम लाभ क्या है ? उत्तम विद्या, उत्तम लज्जा और उत्तम श्री क्या है ? तथा सुख और दुःख क्या है ? ॥३०॥ पण्डित कौन है ? मूर्ख किसे कहते हैं ? तथा सुमार्ग और कुमार्ग क्या हैं ? स्वर्ग क्या है ? नरक क्या है ? तथा बन्धु और घर क्या है ? ॥३१॥ धनवान् कौन है ? निर्धन कौन है ? कृपण किसको कहते हैं ? तथा ईश्वर [अर्थात् समर्थ और स्वाधीन] कौन है ? हे सत्पुरुषोंके प्रभो ! मेरे इन प्रश्नोंका वर्णन कीजिये और इनके विपरीत अशम आदिकी भी व्याख्या कीजिये ॥ ३२ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥३३॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥३४॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥३५॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), असंगता, ह्री (लज्जा) असञ्चय (आवश्यकतासे अधिक धन आदि न जोड़ना), आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन (वाक्यसंयम), स्थिरता, क्षमा और अभय; तथा [बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका] शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, मेरा पूजन, तीर्थ-भ्रमण, परोपकारके लिये चेष्टा, सन्तोष और गुरुसेवा—ये बारह-बारह यम और नियम कहे गये हैं, हे तात ! ये अपना पालन करनेवाले पुरुषकी सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं ॥३३-३५॥

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥३६॥
दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं[1] सत्यं च समदर्शनम् ॥३७॥
ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ॥३८॥
धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम् ॥३९॥
भगो मे[2] ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ॥४०॥
श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ॥४१॥
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥४२॥
नरकस्तम उन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥४३॥
दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ॥४४॥
एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः ।

बुद्धिका मुझमें लग जाना शम है, इन्द्रियदमनको दम कहते हैं, दुःख-सहनका नाम तितिक्षा है तथा जिह्वा और उपस्थेन्द्रियका निग्रह ही धैर्य है ॥ ३६ ॥ भूतद्रोहका त्याग ही परम दान है, कामनाओं (भोगों) का त्याग परम तप है, वासनामयी चित्त-वृत्तियोंको वशीभूत करना ही शूरवीरता है और सबमें समदर्शन ही परम सत्य है ॥ ३७ ॥ सत्य और मधुर वाणीको ही विद्वान् लोग ऋत कहते हैं, कर्मोंमें आसक्ति न रखना ही शौच है और [कर्मोंका] त्याग ही संन्यास कहा जाता है ॥ ३८ ॥ धर्म ही मनुष्योंका इष्ट धन है, परम ऐश्वर्यसम्पन्नोंमें श्रेष्ठ मैं [यज्ञपुरुष] ही यज्ञ हूँ, ज्ञानोपदेश ही वास्तविक दक्षिणा है और प्राणायाम ही परम बल है ॥ ३९ ॥ मेरा ऐश्वर्य ही भग है, मेरी उत्तम भक्तिका प्राप्त होना ही परम लाभ है, आत्मा और परमात्मामें भेद-बुद्धिका न रहना ही विद्या है तथा दुष्कर्मोंसे दूर रहना ही ह्री (लज्जा) है ॥४०॥ निरपेक्षता आदि गुण ही श्री हैं, सुख-दुःखसे परे हो जाना ही परम सुख है, विषय-सुखकी अपेक्षा ही दुःख है और जो बन्ध और मोक्षको जानता है वही पण्डित है ॥ ४१ ॥ देह आदिमें अहंबुद्धि (मैं-पन) रखनेवाला ही मूर्ख है, जिससे मेरी प्राप्ति होती है वही वास्तविक मार्ग है, जिससे चित्तमें विक्षेप हो वही कुमार्ग है और सत्त्वगुणका उदय होना ही स्वर्ग है ॥ ४२ ॥ तमोगुणका बढ़ना ही नरक है, तथा हे मित्र ! गुरुरूपसे मैं ही बन्धु हूँ, मनुष्य-शरीर ही घर है और गुणवान् ही सच्चा धनवान् है ॥ ४३ ॥ जो असन्तुष्ट है वही निर्धन है, जो अजितेन्द्रिय है वही कृपण (दीन) है, जो विषयोंमें अनासक्त है वही ईश्वर अर्थात् स्वाधीन है और [इसके विपरीत] जो विषयी है वही अनीश्वर अर्थात् पराधीन है। [इसी प्रकार अशम आदि अन्य विपर्ययोंके विषयमें समझना चाहिये] ॥४४॥ हे उद्धव ! इस प्रकार तुम्हारे समस्त प्रश्नोंका मैंने भलीभाँति निरूपण कर दिया। और गुण-दोषके

१. सत्यं शौर्यञ्च । २. महेश्वर ।

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥४५॥

लक्षणोंका अधिक क्या वर्णन किया जाय; इतनेहीमें समझ लो कि गुण-दोषका देखना ही दोष है और इन दोनोंका न देखना ही गुण है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

बीसवाँ अध्याय

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगका वर्णन ।

उद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥ १ ॥
वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् ।
द्रव्यदेशवयःकालान्स्वर्गं नरकमेव च ॥ २ ॥
गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव ।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥ ३ ॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥ ४ ॥
गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते[1] न हि स्वतः ।
निगमेनापवादश्च[2] भिदाया इति ह भ्रमः ॥ ५ ॥

उद्धवजी बोले—हे कमलनयन ! आपकी आज्ञारूप श्रुति भी विधि-निषेधरूप होनेसे कर्मोंके गुण और दोषोंको देखती ही है ॥ १ ॥ वह वर्णाश्रम-भेद, प्रतिलोमज [नीच जातिके पुरुषसे उच्च जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न हुई सन्तान] और अनुलोमज [उच्च जातिके पुरुषसे नीच जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न हुई सन्तान] तथा द्रव्य, देश, अवस्था, काल, स्वर्ग और नरकका भी विचार करती ही है ॥ २ ॥ तथा आपका विधि-निषेधमय वाक्यरूप वेद भी बिना गुणदोषमयी भेद-दृष्टिके किस प्रकार मनुष्योंका कल्याण कर सकता है ? ॥३॥ हे स्वामिन् ! अदृष्ट स्वर्ग-अपवर्ग आदि तथा साध्य-साधनके विषयमें आपका वाक्य वेद ही पितृगण, देवगण और मनुष्योंका श्रेष्ठ नेत्र (प्रामाणिक ज्ञान करानेवाला) है [क्योंकि अदृष्ट विषय जो स्वर्ग-अपवर्ग आदि हैं उनकी तथा साध्य और साधनकी उपलब्धि वेदहीसे होती है] ॥ ४ ॥ हे प्रभो ! यह गुण-दोषमयी भेद-दृष्टि तो आपकी आज्ञारूप श्रुतिसे ही प्राप्त होती है, यह स्वतःसिद्ध नहीं है; तथापि श्रुतिसे ही भेददृष्टिका बाध भी होता है । अतः [इस विरोधके कारण] मुझको भ्रम हो रहा है [कृपया उसे दूर कीजिये]॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥६॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—ये तीन योग (उपाय) मैंने ही कहे हैं; इनके अतिरिक्त [मोक्ष-प्राप्तिका] और कोई उपाय कहीं नहीं है ॥ ६ ॥

१. नियमात् । २. नियमेना ।

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥ ७ ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥८॥
तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ९ ॥
स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥१०॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥११॥
स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥१२॥
न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः ।
नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात्प्रमाद्यति ॥१३॥
एतद्विद्वान्पुरा[1] मृत्योरभवाय घटेत सः ।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥१४॥
छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥१५॥
अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्‌ध्वायुर्भयवेपथुः ।

कर्मोंसे विरक्त होकर उनका त्याग कर देनेवाले पुरुषोंके लिये ज्ञानयोग है और जिनको उनमें वैराग्य नहीं है उन सकाम पुरुषोंके लिये कर्मयोग है ॥ ७ ॥ इनके अतिरिक्त सौभाग्यवश जिसे मेरी कथा-श्रवण आदिमें श्रद्धा हो गयी है तथा जो न तो अति विरक्त है और न अति आसक्त, उस पुरुषके लिये भक्तियोग ही सिद्धि देनेवाला है ॥ ८ ॥ जबतक कि कर्मोंसे वैराग्य न हो अथवा मेरी कथा आदिके श्रवण-कथनमें श्रद्धा न हो तबतक कर्मोंको करता रहे ॥ ९ ॥ हे उद्धव ! जो पुरुष स्वधर्मका पालन करता हुआ कर्मफलकी आशा न रखकर यज्ञादि कर्म करता रहता है वह, यदि काम्य और निषिद्ध कर्म न करे, तो न स्वर्गको जाता है और न नरकको ॥१०॥ वह स्वधर्ममें तत्पर रहनेवाला पुरुष निष्पाप और पवित्र होकर इसी लोक (मनुष्यदेह) में रहते हुए अपने प्रारब्धानुसार या तो विशुद्ध आत्मज्ञान प्राप्त करता है या मेरी भक्ति पाता है ॥११॥ स्वर्गवासी देवगण तथा नारकी जीव दोनों ही इस मनुष्य-देहकी इच्छा करते हैं, क्योंकि यह ज्ञान और भक्तिके द्वारा मेरी प्राप्तिका साधक है और वे दोनों (स्वर्गीय एवं नारकी) देह मेरी प्राप्तिके साधक नहीं हैं ॥१२॥ किन्तु विवेकी पुरुषको चाहिये कि न तो स्वर्गीय गतिकी इच्छा करे, न नारकी गतिकी और न इस मनुष्य-शरीरकी ही पुनः प्राप्तिकी इच्छा करे, क्योंकि देहमें आस्था हो जानेसे मनुष्य [परमार्थ-साधनमें] प्रमाद करने लगता है ॥१३॥ देहपातके पूर्व ही सावधानता-पूर्वक यह जानकर कि यह मनुष्यदेह नाशवान् होने-पर भी परम पुरुषार्थका साधक है, इस देहसे अपुनर्भवरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करे॥१४॥ जिसमें घोंसला बनाया हुआ है ऐसे अपने निवासस्थानभूत [इस देहरूप] वृक्षको यमदूतोंद्वारा काटे जाते देख इसमें रहनेवाला जीवरूपी पक्षी इसे अनासक्तभावसे छोड़कर आनन्दपूर्वक चला जाता है ॥१५॥ दिन और रात हमारी आयुको काट रहे हैं—यह जानकर जो भयसे काँप

[1] एवं विद्वान् ।

मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥१६॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥१७॥

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥१८॥

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥१९॥

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः ।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥२०॥

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः ।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन्दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥२१॥

सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत्प्रसीदति ॥२२॥

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः ।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं[1] चिन्तितस्यानुचिन्तया॥२३॥

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया ।

रहा है वह व्यक्ति अपने परम आत्मस्वरूपको जान लेनेपर इसमें अनासक्त और [इसकी रक्षामें] चेष्टाहीन होकर शान्त हो जाता है ॥१६॥ यह मनुष्य-शरीर आद्य [अर्थात् समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदिकारण] है, यह [सुकर्मियोंको] सुलभ और [दुष्कर्मियोंको] अति दुर्लभ है, [संसार-सागरसे पार होनेके लिये] सुदृढ़ नौकारूप है, गुरु ही इसके कर्णधार हैं, तथा अनुकूल वायुरूप मेरे द्वारा ही प्रेरित होकर यह नौका पार लग जाती है—ऐसे इस शरीरको पाकर भी जो पुरुष संसार-समुद्रसे पार नहीं होता वह आत्मघाती ही है ॥१७॥ जिस समय कर्मकी प्रवृत्तिसे उदासीन और विरक्त हो जाय उस समय योगीको चाहिये कि इन्द्रियोंका संयम करके आत्मचिन्तनके अभ्यासद्वारा अपने चित्तको स्थिर करे ॥१८॥ जब स्थिर करते समय मन चञ्चल होकर इधर-उधर भटकने लगे तो उसे सावधानीसे अनुरोध-पूर्वक [अर्थात् उसकी इच्छाको कुछ-कुछ पूरी करते हुए] युक्तिसे अपने वशमें कर ले ॥१९॥ मनकी स्वच्छन्द गतिको खुली न छोड़े, बल्कि प्राण और इन्द्रियोंको जीतकर सात्त्विक बुद्धिद्वारा उसे अपने अधीन कर ले ॥२०॥ वशमें करनेयोग्य घोड़ेको अपने मनोभावका ज्ञाता बनाने [अर्थात् अपने मनोऽनुकूल उसको चलाने] की इच्छा रखनेवाला सवार जिस प्रकार उसे बार-बार फुसलाकर [इच्छानुसार जाने देकर और फिर लगाम खींचकर] अपने वशमें कर लेता है, उसी प्रकार यह अनुरोधपूर्वक मनका निग्रह करना भी परम योग माना गया है ॥२१॥ सांख्य-विधिसे सब पदार्थोंके उद्भव और प्रलयका अनुलोम-प्रतिलोम-क्रमसे तबतक चिन्तन करता रहे जबतक कि मन शान्त न हो जाय ॥२२॥ इस प्रकार गुरुके बतलाये हुए आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेनेवाले उदासीन और विरक्त पुरुषका चित्त उस चिन्तित [आत्मतत्त्व] का ही पुनः-पुनः चिन्तन करनेसे अपने दौरात्म्य (अनात्म-देहादिमें आत्म-बुद्धिसे उत्पन्न चित्तकी चञ्चलता) को छोड़ देता है ॥२३॥ यम आदि योग-साधनोंसे और आन्वीक्षिकी (ब्रह्म-विचारसम्बन्धिनी) विद्यासे अथवा

[1] दौर्भाग्यम् ।

ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं[1] स्मरेन्मनः ॥२४॥
यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥२५॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥२६॥
जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान्कामान्परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥२७॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥२८॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन[2] भजतो मासकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥२९॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥३०॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः[3] ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥३१॥
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥३२॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ॥३३॥
न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥३४॥
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्[4] ।

मेरी प्रतिमाकी उपासनासे मन परमात्माका स्मरण करता है ॥ २४ ॥ यदि प्रमादवश योगीसे कोई निन्दनीय कर्म हो जाय तो उसके पापका योगसे ही प्रायश्चित्त करे, उसके लिये किसी अन्य साधनका अवलम्बन न करे ॥२५॥ अपने-अपने अधिकारमें जो निष्ठा रखना है वही गुण बतलाया गया है। वेदमें गुण-दोषका विधान करके जन्मसे ही अशुद्ध [अर्थात् असत्प्रवृत्तिके कारण होनेवाले] पाप-कर्मोंके त्यागका नियम उनकी आसक्तिको छुड़ानेकी इच्छासे ही किया गया है ॥२६॥ जिसको मेरी कथाओंमें श्रद्धा है तथा अन्य कर्मोंसे वैराग्य है वह यद्यपि सम्पूर्ण कामनाओंको दुःखरूप जानता है तो भी उन्हें छोड़नेमें असमर्थ होता है। ऐसी स्थितिमें उसे चाहिये कि उन कर्मोंको परिणाममें दुःखमय जानकर उनकी निन्दा करते हुए उनका अनुष्ठान करे और श्रद्धासम्पन्न तथा दृढ निश्चयवाला होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करे ॥२७-२८॥ इस प्रकार पूर्वोक्त भक्तियोगसे मेरा निरन्तर भजन करनेवाले मुनिके हृदयमें मेरे स्थित होनेपर उसकी समस्त हृदयस्थित वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं॥२९॥ मुझ सर्वात्माका साक्षात्कार होनेपर, उसकी हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय निवृत्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥३०॥ इसीलिये मेरी भक्तिसे युक्त मत्परायण योगीके लिये ज्ञान और वैराग्य प्रायः श्रेयके साधक नहीं होते ॥३१॥ कर्मसे, तपसे, ज्ञानसे, वैराग्यसे, योगसे, दानधर्मसे तथा अन्यान्य श्रेय-साधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग अथवा मेरा परमधाम आदि प्राप्त होता है वह सब यदि इच्छा करे तो मेरा भक्त मेरी भक्तिके ही द्वारा सुगमतासे प्राप्त कर सकता है ॥३२-३३॥ किन्तु मुझमें अनन्य प्रेम रखनेवाले धीर और साधु भक्त मेरे देनेपर भी कैवल्य अथवा अपुनर्भव आदि किसीकी इच्छा भी नहीं करते ॥३४॥ निरपेक्षता अर्थात् निष्कामताको ही उत्कृष्ट एवं महान् निःश्रेयस कहा है, इसलिये

१. योगम् । २. विधिना यस्य भजतो मां महामते । ३. महात्मनः । ४. मकल्पकम् ।

तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥३५॥
न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥३६॥
एवमेतान्मयादिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ॥३७॥

निष्काम और निरपेक्ष पुरुषको ही मेरी भक्ति प्राप्त होती है ॥३५॥ मेरे अनन्य भक्तोंको और बुद्धिसे अतीत परम तत्त्वको प्राप्त हुए समदर्शी महात्माओंको गुण-दोष-दृष्टिसे होनेवाले विकार नहीं होते ॥३६॥ इस प्रकार जो मेरे बतलाये हुए मार्गों (उपायों) का अवलम्बन करते हैं वे मेरे क्षेममय धामको प्राप्त होते हैं और जो परब्रह्म है उसे भी जान लेते हैं ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ अध्याय

द्रव्य और देश आदिके गुण-दोषोंका वर्णन ।

श्रीभगवानुवाच

य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् ।
क्षुद्रान्कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥ १ ॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ २ ॥
शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु ।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ॥ ३ ॥
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ ।
दर्शितोऽयं मयाचारो धर्ममुद्वहतां धुरम् ॥ ४ ॥
भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्च धातवः[1] ।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मेरी प्राप्तिके भक्ति, ज्ञान और कर्मरूप तीनों मार्गोंको छोड़कर जो लोग अपनी अस्थिर इन्द्रियोंसे क्षुद्र भोगोंको भोगते हैं वे पुनः-पुनः आवागमनके चक्रमें पड़ते हैं ॥ १ ॥ अपने-अपने अधिकारमें जो दृढ़तापूर्वक स्थित रहना है, वही गुण है और इसके विपरीत [अनधिकार चेष्टा करना] ही दोष है । गुण और दोषका यही निश्चय है ॥ २ ॥ हे अनघ ! सब वस्तुओंके समान होनेपर भी द्रव्य (उपयोगमें लायी जानेवाली वस्तु) की विचिकित्साके लिये [अर्थात् 'यह योग्य है, यह अयोग्य है' इस प्रकार सन्देह करके उसके प्रति होनेवाली वासनामूलक स्वाभाविक प्रवृत्तिका संकोच करनेके लिये] शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभका विधान किया गया है । इनमें धर्मके लिये शुद्धि-अशुद्धिका विचार है* व्यवहारके लिये गुण-दोषका विधान है† तथा यात्राके लिये शुभ-अशुभका विचार है‡ । इस प्रकार केवल धर्मका भार ढोनेवाले लोगोंके लिये मैंने [मनु आदि रूपसे] यह आचारका मार्ग दिखलाया है ॥३-४॥ पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चभूत ही ब्रह्मासे लेकर स्थावर (पर्वत-वृक्ष आदि) पर्यन्त सभी प्राणियोंके शरीरोंके आरम्भक (उपादान कारण) हैं । तथा वे सभी मुझ आत्मासे युक्त हैं ॥५॥

---

१. भूम्यग्न्यम्ब्वनि० ।

* अर्थात् शुद्ध वस्तुके उपयोगसे धर्म होता है और अशुद्धसे अधर्म ।

† तात्पर्य यह कि गुणसे अर्थ-सिद्धि और दोषसे अनर्थकी प्राप्ति होती है ।

‡ जैसे यात्रामें आपत्कालके समय केवल प्राणरक्षाके लिये दोषयुक्त असत्-प्रतिग्रह लेनेमें भी अशुभ नहीं होता इत्यादि ।

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि ।
धातुषूद्धव कल्प्यन्त एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥ ६ ॥
देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम ।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥ ७ ॥
अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत् ।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम् ॥ ८ ॥
कर्मण्यो गुणवान्कालो द्रव्यतः स्वत एव वा ।
यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः ॥ ९ ॥
द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च ।
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाथवा ॥१०॥
शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने ।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः ॥११॥
धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम् ।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः ॥१२॥
अमेध्यलिप्तं यद्येन गन्धं लेपं व्यपोहति ।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते ॥१३॥

हे उद्धव! इन शरीरोंके धातु (उपादान कारण) समान होनेपर भी इनके शरीरोंके स्वार्थ (धर्माधर्मरूप पुरुषार्थ) की सिद्धिके लिये वेदने इनके भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंकी कल्पना की है ॥ ६ ॥ हे साधुशिरोमणि उद्धव! कर्मोंको नियमित (संकुचित) करनेके लिये ही मैंने देश-कालादि भाव और वस्तुओंके गुण-दोषोंका विधान किया है ॥७॥ देशोंमें जो देश कृष्णसार मृग और ब्राह्मण-भक्त पुरुषोंसे रहित है, वह अपवित्र होता है; कृष्णसार मृगयुक्त होनेपर भी सौराष्ट्र तथा कीकट (मगध-अङ्ग-बङ्ग-कलिङ्गादि) देश अपवित्र हैं, तथा जो भूमि असंस्कृत (म्लेच्छोंका वासस्थान) अथवा ऊसर होती है वह भी अपवित्र मानी गयी है ॥ ८ ॥ द्रव्य-संयोगसे अथवा स्वतः ही जिस कालमें कर्म हो सकते हों, वही शुद्ध है और जिसमें कर्म न हो सकते हों, कर्मके अयोग्य होनेसे वही काल अशुद्ध है ॥ ९ ॥ पदार्थोंकी शुद्धि और अशुद्धि द्रव्य, वचन, संस्कार, काल, महत्त्व अथवा अल्पत्वसे होती है* ॥ १० ॥ इसी प्रकार अपनी-अपनी शक्ति, अशक्ति, बुद्धि और वैभवके अनुसार भी आत्माके लिये जो अघकी प्राप्ति होती है वह भी देश और अवस्थाके अनुसार ही होती है ॥ ११ ॥ धान्य, काष्ठ, अस्थि (हड्डी-हाथीदाँत आदि), सूत, रस (मधु-लवणादि), तैजस (सुवर्ण, पारा आदि), चर्म और घटादि पार्थिव पदार्थोंकी शुद्धि काल, वायु, अग्नि, मृत्तिका एवं जलसे होती है। देश, काल और अवस्थाके अनुसार कहीं इनसे मिलाकर और कहीं इनमेंसे प्रत्येकसे अलग-अलग—दोनों प्रकारसे शुद्धि की जाती है ॥ १२ ॥ यदि किसी वस्तुमें कोई अशुद्ध पदार्थ लगा हो तो छीलनेसे अथवा मृत्तिका आदिके मलनेसे जब उस पदार्थकी गन्ध और लेप न रहे और वह वस्तु अपने पूर्वरूपमें आ जाय तो उसको शुद्ध समझना चाहिये ॥ १३ ॥

---

१. तथा ।

* जिस प्रकार पात्र जलसे शुद्ध और मूत्रादिसे अशुद्ध हो जाते हैं, किसी वस्तुकी शुद्धि अथवा अशुद्धिमें शंका होनेपर ब्राह्मण-वचनसे वह शुद्ध हो जाती है अन्यथा अशुद्ध रहती है, पुष्प आदि जल छिड़कनेसे शुद्ध और सूँघनेसे अशुद्ध माने जाते हैं, तत्कालका अन्न शुद्ध और बासी अशुद्ध होता है, तथा बड़े सरोवर और नदी आदिका जल शुद्ध और छोटे गड्ढोंका अशुद्ध माना जाता है; इस प्रकार क्रमसे द्रव्य, वचन आदिसे शुद्धि और अशुद्धि मानी जाती है ।

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद् द्विजः ॥१४॥
मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः ॥१५॥
क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः ।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ॥१६॥
समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम् ।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥१७॥
यतो यतो निवर्त्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥१८॥
विषयेषु गुणाध्यासात्पुंसः सङ्गस्ततो भवेत् ।
सङ्गात्तत्र भवेत्कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥१९॥
कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्त्तते ।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥२०॥

स्नान, दान, तप, अवस्था, सामर्थ्य, संस्कार, कर्म और मेरे स्मरणसे चित्त शुद्ध होता है; इस प्रकार शुद्ध होकर द्विजमात्रको विहित कर्मोंको करते रहना चाहिये ॥१४॥ [गुरु-मुखसे सुनकर] भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेनेसे मन्त्रकी और मेरे अर्पण कर देनेसे कर्मकी शुद्धि होती है; इसी प्रकार [देश, काल, पदार्थ, कर्ता, मन्त्र और कर्म—इन] छःके शुद्ध होनेसे धर्म और अशुद्ध होनेसे अधर्म होता है ॥१५॥ कहीं-कहीं विशेष शास्त्रविधिसे गुण भी दोष हो जाता है और दोष भी गुण हो जाता है ।* अतः देश, काल, जाति आदिका विचार करते हुए विशेष शास्त्रके बलसे जो एक ही वस्तुमें गुण-दोष-का नियम है, वह अपने अंशमें सामान्य शास्त्रद्वारा प्राप्त हुए गुण-दोष-विभागका बाध करनेवाला है ॥१६॥ इसलिये अपनी जातिके अनुरूप जो कर्म है वह स्वरूपसे सदोष होनेपर भी उसका आचरण करना पतितों (अन्त्यजों) के लिये पाप-जनक नहीं होता; क्योंकि जातिसे जो कर्मोंका सम्बन्ध विहित है, वह उसके लिये दोषकी बात नहीं है; अर्थात् उससे उसका पतन नहीं होता; जैसे पृथ्वीपर सोया हुआ मनुष्य नीचे नहीं गिरता ॥१७॥ [वास्तवमें शास्त्रका तात्पर्य तो निवृत्तिमें ही है;] जिस-जिस प्रवृत्तिसे मनुष्यका चित्त उपरत होता जाता है उसी-उसी ओरसे वह बन्धनमुक्त हो जाता है; मनुष्यके लिये यह (निवृत्ति) ही शोक, मोह और भयको हरनेवाला कल्याणमय धर्म है ॥१८॥ मनुष्य जब विषयोंमें गुण-बुद्धि करने लगता है तो उससे उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उनमें कामना होती है और कामनासे [उसमें विघात होनेपर] कलह उत्पन्न होता है ॥१९॥ कलहसे दुःसह क्रोध होता है और अज्ञान उस क्रोधका अनुगमन करता है तथा अज्ञानसे शीघ्र ही मनुष्यकी व्यापक स्मरण-शक्ति आवृत हो जाती है ॥२०॥

१. भवापहः ।

* अर्थात् एक शास्त्रविधिसे जो गुण है अन्यसे वही दोष हो जाता है और जो दोष है वही गुण हो जाता है । जैसे वेदाध्ययन ब्राह्मणका कर्तव्य है तथापि शूद्रको उसका अधिकार नहीं । और चर्म आदिका व्यवसाय करना ब्राह्मणके लिये त्याज्य है, किन्तु चर्मकारके लिये पाप नहीं है ।

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते ।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥२१॥
विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम् ।
वृक्षजीविकया जीवन्व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥२२॥
फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥२३॥
उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च ।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥२४॥
न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ।
कथं युञ्ज्यात्पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः ॥२५॥
एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः ।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥२६॥
कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः ।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते ॥२७॥
न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः ।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥२८॥
ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।
हिंसायां यदि रागः स्याद्यज्ञ एव न चोदना ॥२९॥

हे साधु उद्धव ! स्मरण-शक्ति (स्मृति) से हीन पुरुष शून्यवत् हो जाता है; फिर मृत अथवा मूर्च्छितके समान [संज्ञाहीन हो जानेसे] उसके स्वार्थ (परमार्थ) साधनका भी ह्रास हो जाता है ॥२१॥ इस प्रकार धौंकनीके समान श्वास लेता हुआ वह वृक्षवत् व्यर्थ जीवन व्यतीत करता है और विषयलम्पटताके कारण आत्मा और परमात्मा किसीको नहीं जानता ॥ २२ ॥ वेदकी फलश्रुतियाँ पुरुषके परम पुरुषार्थकी प्रतिपादक नहीं हैं, वे केवल सकाम और विषयी पुरुषोंको श्रेयकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये प्ररोचनामात्र ही हैं, जिस प्रकार कड़वी दवा पिलानेके लिये बालकको लोभ दिखाते हैं ॥२३॥ आत्माके लिये अनर्थरूप कामनाओं, प्राणों और कुटुम्बियोंमें तो मनुष्य जन्मसे ही आसक्त-चित्त होते हैं, इस प्रकार अपने वास्तविक स्वार्थको न जानकर जन्म-मरणरूप संसारमार्गमें भटकते तथा घोर अन्धकारमें पड़ते हुए उन दीन पुरुषोंको विज्ञ वेद फिर क्यों उसीमें प्रवृत्त करेगा ॥२४-२५॥ वेदके इस अभिप्रायको न जानकर कोई-कोई बुद्धिहीन पुरुष कर्मासक्तिके कारण कुसुमस्थानीय (आपात-रमणीय) फलश्रुतियोंको ही परमफल मान बैठे हैं । [परन्तु बात ऐसी नहीं है] क्योंकि वेदका मर्म जाननेवाले ऐसा नहीं कहते ॥२६॥ वे कामासक्त, कृपण और लोभी पुरुष पुष्पों (स्वर्गादि) को ही फल (परम पुरुषार्थ) मान लेते हैं और अग्निसाध्य (यज्ञादि) कर्मोंमें ही मुग्धकी भाँति लगे रहकर अन्तमें धूम-मार्गसे जाते हैं; वे अपने निज-धाम (निर्वाणपद) को प्राप्त नहीं हो सकते ॥२७॥ हे प्रियवर ! कर्म ही जिनका शस्त्र है ऐसे वे प्राणपोषक पुरुष अपने अन्तःकरणमें स्थित मुझको नहीं देख पाते, जिससे कि यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है; जिस प्रकार जिनकी आँखोंमें धुन्ध (कुहरा) छा जाती है वे लोग अपने समीपवर्ती पदार्थोंको भी नहीं देख सकते ॥२८॥ वे विषयी लोग मेरे इस गूढ़ अभिप्रायको नहीं जानते कि वेदमें हिंसा करनेकी प्रेरणा नहीं की गयी है बल्कि यदि किसीकी हिंसामें विशेष प्रवृत्ति हो तो वह केवल यज्ञमें पशु-आलभन करे, हिंसा न करे—ऐसा नियम* किया गया

* यह नियम इसी स्कन्धके अध्याय ५ श्लोक १३ में देखना चाहिये ।

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन्खलाः ॥३०॥

स्वप्नोपममम्पुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् ।
आशिषो हृदि सङ्कल्प्य त्यजन्त्यर्थान्यथा वणिक् ॥३१॥

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ।
उपासत इन्द्रमुख्यान्देवादीन्न तथैव माम् ॥३२॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः ॥३३॥

एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् ।
मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्तापि न रोचते ॥३४॥

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥३५॥

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥३६॥

है । [इस नियमका कोई विचार न करके] हिंसामें रत हुए वे दुष्ट अपने सुखकी इच्छासे पशुओंकी बलि देकर देवता, पितर और भूतपतियोंका यज्ञोंद्वारा यजन करते रहते हैं ॥२९-३०॥ वे लोग स्वप्नके समान असत्य और सुननेमें प्रिय लगनेवाले परलोक (स्वर्गादि) और उसके भोगोंके लिये मन-ही-मन संकल्प करके अधिक लाभकी आशासे मूलधनको भी गँवा देनेवाले व्यापारीके समान इस लोकमें [सकाम यज्ञोंद्वारा] व्यर्थ अपने धनका नाश करते हैं ॥३१॥ रज, सत्त्व, तम—इन तीनों गुणोंमें लगे हुए लोग अपने अनुरूप रज, सत्त्व और तमोगुणका सेवन करनेवाले इन्द्रादिक देवताओंकी ही उपासना करते हैं, वे उसी तरह मुझ गुणातीतकी उपासना नहीं करते ॥ ३२ ॥ 'यहाँ यज्ञोंद्वारा देवताओंका यजन करके हम स्वर्गलोकमें जाकर आनन्द भोगेंगे और फिर उसके पश्चात् इस लोकमें उच्च कुलमें जन्म लेकर बड़े भारी कुटुम्बी होंगे'—इस प्रकारके पुष्पित (चित्र-विचित्र) वाक्योंसे जिनका चित्त चञ्चल हो रहा है उन अभिमानी और अत्यन्त उद्दण्ड पुरुषोंको मेरी बात भी अच्छी नहीं लगती ॥३३-३४॥ वेदोंके कर्म, उपासना और ज्ञान तीन काण्ड हैं और वे ब्रह्म और आत्माकी एकता ही सिद्ध करते हैं; किन्तु मन्त्रद्रष्टा ऋषि परोक्षवादी हैं [वे विषयको स्पष्ट (खुले) शब्दोंमें नहीं कहते] और मुझे भी परोक्ष कथन ही प्रिय है [क्योंकि इससे गूढ़ वस्तु अनधिकारियोंके हाथ नहीं लगती] ॥३५॥ शब्द-ब्रह्म अत्यन्त दुर्बोध है, वह प्राणमय (परा), मनोमय (पश्यन्ती) और इन्द्रियमय (मध्यमा) तीन प्रकारका है तथा समुद्रके समान अनन्त-पार, गम्भीर और कठिनतासे पार किये जाने-योग्य [अर्थात् बुद्धिसे अगम्य] है* ॥ ३६ ॥

१. पितॄन् भूत० । २. यजन् यज्ञैर्यथा । ३. महाशीलाः । ४. चापि बद्धानां । ५. च मम प्रि० ।

* श्रुति कहती है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

अर्थ—वाक् अर्थात् शब्दब्रह्मके परिमित (परिगणित) रूप चार हैं [परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी]। इनको जो मनीषी (अन्तर्दृष्टिसे युक्त) ब्राह्मण हैं वे जानते हैं दूसरे नहीं; क्योंकि इनमेंसे तीन तो अन्तःकरणमें छिपे हुए हैं, वे अपने स्वरूपको व्यक्त नहीं करते, तथा वाणीके चौथे स्वरूप (वैखरी) को मनुष्यादि समस्त प्राणी केवल बोलते हैं, उसे तत्त्वतः जानते नहीं ।

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥३७॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद् घोषवान्प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥३८॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ।
ओङ्काराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम् ॥३९॥
विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥४०॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्टयतिजगद्विराट् ॥४१॥
किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥४२॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।
एतावान्सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति ॥४३॥

मुझ अनन्तशक्ति और व्यापक ब्रह्मने ही उसका विस्तार किया है । कमलनालगत सूक्ष्म तन्तुके समान वह पहले-पहल प्राणियोंके अन्तःकरण-में नादरूपसे प्रकट होता है [जो कान बन्द करनेपर सुनायी देता है] ॥३७॥ जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे मुखके द्वारा जाला उगलती [और फिर निगल लेती] है उसी प्रकार सूक्ष्म नादरूप उपादान कारणसे युक्त वेदमूर्ति एवं अमृतमय प्राणोपाधिक भगवान् हिरण्यगर्भ, स्पर्शादि वर्णोंका सङ्कल्प करनेवाले मनरूप निमित्त कारणद्वारा, हृदयाकाश-से, हृद्गत सूक्ष्म ॐकारसे व्यक्त हुए स्पर्श (क से म तक), स्वर (अ से औ तक), ऊष्मा (श, ष, स, ह) और अन्तःस्थ (य, र, ल, व) वर्णोंसे विभूषित हुई तथा उत्तरोत्तर चार-चार अधिक वर्णोंवाले छन्दोंके द्वारा विचित्र भाषाओंके रूपमें विस्तारको प्राप्त हुई नाना मार्गोंवाली अनन्त-पार बृहती (वैखरी वाणी) को स्वयं ही रचते और फिर अपनेमें लीन कर लेते हैं ॥३८–४०॥ [उन चार-चार अधिक वर्णों-वाले छन्दोंमेंसे कुछ ये हैं—] गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्दाः, अत्यष्टि, अतिजगती और विराट् ॥४१॥ वह बृहती [कर्मकाण्डमें] क्या विधान करती है, [उपासना-काण्डमें] क्या बतलाती है और [ज्ञानकाण्डमें] किसका अनुवाद करती हुई क्या विकल्प करती है ? उसके इस मर्मको संसारमें मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता ॥४२॥ वह (बृहती) मेरा ही विधान करती है, उपास्यरूपसे मेरा ही वर्णन करती है और आकाशादिरूपसे मेरा ही आरोप कर फिर मेरा ही बाध करती है । सम्पूर्ण वेदका यही अर्थ है—वह मेरा आश्रय लेकर भेदको मायामात्र बतलाता हुआ उसका निषेध करके अन्तमें शान्त हो जाता है ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

बाईसवाँ अध्याय

तत्त्वोंकी संख्या और पुरुष-प्रकृति-विवेक।

उद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश[1] संख्यातान्यृषिभिः प्रभो।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह[2] शुश्रुम ॥ १ ॥
केचित्षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम्।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ॥ २ ॥
केचित्सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥ ४ ॥
नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥ ५ ॥
यासां व्यतिकरादासीद्विकल्पो वदतां पदम्[3]।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनुशाम्यति ॥ ६ ॥
परस्परानुप्रवेशात्तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
[4]पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥ ७ ॥
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन्वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥ ८ ॥
पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम्।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥ ९ ॥
अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।

श्रीउद्धवजी बोले—हे प्रभो! हे विश्वेश्वर! ऋषियोंने कितने तत्त्व गिनाये हैं? आपने तो अभी नौ, ग्यारह, पाँच और तीन [इस प्रकार कुल अट्ठाईस] तत्त्व कहे हैं, जिन्हें कि हम सुन चुके हैं। किन्तु कोई छब्बीस, कोई पचीस, कोई सात, कोई नौ, कोई छः, कोई चार, कोई ग्यारह, कोई सत्रह, कोई सोलह और कोई तेरह तत्त्व बतलाते हैं। हे आयुष्मन्! ऋषिगण जिस अभिप्रायसे इतनी भिन्न-भिन्न संख्याएँ बतलाते हैं, सो आप मुझसे कहियें ॥ १—३ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव! इस विषयमें ब्राह्मणलोग जो कुछ कहते हैं वह सभी ठीक है, क्योंकि सब तत्त्व सब जगह अन्तर्भूत हैं। मेरी मायाका आश्रय लेकर कहनेवालोंके लिये भला कौन बात कहना कठिन है? ॥ ४ ॥ 'जैसा तुम कहते हो वह ठीक नहीं है, मैं जो कहता हूँ वही यथार्थ है'—इस प्रकार जगत्के हेतुके विषयमें विवाद करनेवालोंके उस वादमें अति कठिनतासे पार होने-योग्य मेरी सत्त्वादि शक्तियाँ ही कारण हैं ॥ ५ ॥ उन (शक्तियों) के क्षोभसे ही यह विकल्प-रूप प्रपञ्च वादी-प्रतिवादियोंके विवादका स्थान हुआ है। शम (चित्तशान्ति) और दम (इन्द्रियदमन) के स्थिर होनेपर यह शान्त हो जाता है और उसके साथ ही वाद-विवाद भी निवृत्त हो जाता है ॥ ६ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ! तत्त्वोंके परस्पर मिले हुए होनेके कारण वक्ताको जैसा बताना अभीष्ट है उसके अनुसार कार्य-कारणभावसे अथवा न्यूनता-अधिकताके विचारसे तत्त्वोंकी यह भिन्न-भिन्न संख्या है ॥ ७ ॥ कारणतत्त्व अथवा कार्यतत्त्वमें एक-एकमें दूसरे-दूसरे तत्त्व भी सम्मिलित दिखलायी देते हैं, इसलिये पूर्वापर (कारण-कार्य) रूपसे तत्त्वोंकी न्यूना-धिक संख्या चाहनेवाले वादियोंमें जिसने अपने मुखसे जैसा कहा है युक्तियुक्त होनेके कारण हम उसीको निश्चित मानकर स्वीकार कर लेते हैं ॥८-९॥ अनादि कालसे अविद्याग्रस्त हुए पुरुषको स्वयं ही आत्मज्ञान नहीं हो

१. देवेश। २. त्वमिति। ३. परम्। ४. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥१०॥
पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥११॥
प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥१२॥
सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव[2] च ॥१३॥
पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः ।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥१४॥
श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः ।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥१५॥
शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः ।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥१६॥
सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी ।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥१७॥
व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥१८॥
सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः[3] पञ्च खादयः ।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥१९॥
षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान् ।

सकता, अतः उसको ज्ञानोपदेश करनेके लिये किसी अन्य तत्त्वज्ञानीकी आवश्यकता है । [इसीलिये पचीस तत्त्वोंके अन्तर्गत जीवसे भिन्न स्वतः सर्वज्ञ परमेश्वरनामक एक और तत्त्वको सम्मिलित करके तत्त्वसंख्या छब्बीस हो जाती है ।] ॥१०॥ परन्तु, क्योंकि आत्मा और परमात्मामें अणुमात्र भी भेद नहीं है, इसलिये किसी अन्य पुरुषकी कल्पना करना भी सर्वथा व्यर्थ है [अतः तत्त्वसंख्या पचीस ही होनी चाहिये ।] और ज्ञान तो प्रकृतिके सत्त्वगुणका ही व्यापार है ॥११॥ तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है; अतः संसारकी स्थिति, सृष्टि और नाशके हेतुभूत सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही हैं, आत्माके नहीं ॥१२॥ सत्त्वगुण ज्ञान है, रजोगुण कर्म और तमोगुण ही अज्ञान कहा जाता है । इन तीनों गुणोंकी विषमताका हेतु ही काल है और स्वभाव ही महत्तत्त्व है । [यदि इन तीनों गुणोंको पृथक् मान लिया जाय तो तत्त्व-संख्या अट्ठाईस हो जाती है ।] ॥१३॥ मैंने पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—ये नौ तत्त्व कहे हैं ॥१४॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, घ्राण और रसना पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । हे प्रिय ! मन उभयेन्द्रियरूप है ॥१५॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं तथा चलना, बोलना, मूत्रत्याग, मलत्याग और शिल्प—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके व्यापार हैं ॥१६॥ सृष्टिके आरम्भमें इस जगत्की कार्य-कारणरूपिणी प्रकृति ही अपने सत्त्वादि गुणोंके द्वारा इन अवस्थाओंको धारण करती है, अव्यक्त पुरुष तो केवल उनका साक्षी बना रहता है ॥१७॥ पुरुषके साक्षित्वसे बल प्राप्त करके महत्तत्त्व आदि कारणतत्त्व परस्पर मिलकर विकारको प्राप्त होते हुए प्रकृतिके आश्रयसे इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं ॥१८॥ इस प्रकार सात ही तत्त्व माननेवालोंके विचारसे पाँच तो आकाशादि पञ्चभूत, एक ज्ञान (जीव) और एक इन (साक्ष्य और साक्षी) दोनोंका अधिष्ठान परमात्मा हैं । देह, इन्द्रिय, प्राणादि तो इन भूतोंसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥१९॥ और छः ही तत्त्व बतलानेवालोंके मतमें पाँच भूत और छठा जीवाभिन्न

१. प्रकृतेर्गुण० । २. तत्त्वमेव वा । ३. यत्रा० ।

तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत् ॥२०॥

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ।

जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥२१॥

संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।

पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥२२॥

तद्वत्षोडशसंख्यान आत्मैव मन उच्यते ।

भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥२३॥

एकादशत्व[1] आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।

अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥२४॥

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।

सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम् ॥२५॥

उद्धव उवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।

अन्योन्यापाश्रयात्कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः ॥२६॥

प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथात्मनि ।

एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ।

छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ[2] वचोभिर्नयनैपुणैः ॥२७॥

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः ।

त्वमेव ह्यात्ममायाया[3] गतिं वेत्थ न चापरः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ।

एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥२९॥

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।

परमात्मा है । वह परमात्मा ही अपनेसे उत्पन्न हुए इन भूतोंकी रचना करके उनमें जीवरूपसे स्थित हो गया है ॥२०॥ जो लोग चार ही कारण-तत्त्व बतलाते हैं उनके अनुसार तेज, जल और अन्न—ये आत्मासे उत्पन्न हुए हैं और उनसे अन्य सब कार्यरूप पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है ॥२१॥ सत्रहकी गणनामें पञ्च भूत, पञ्च तन्मात्रा, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन-सहित आत्मा—इस प्रकार कुल सत्रह तत्त्व हैं ॥२२॥ इसी प्रकार सोलह गिनानेमें आत्माको ही मन कहते हैं और तेरहकी गणनामें पञ्च भूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, जीवात्मा और परमात्मा—ये तेरह माने हैं ॥२३॥ ग्यारहकी संख्यामें आत्मा, पञ्च भूत और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं और नौकी संख्यामें आठ प्रकृतियाँ (पञ्च भूत, मन, बुद्धि और अहङ्कार)* तथा पुरुष—ये नौ माने गये हैं ॥२४॥ इस प्रकार ऋषियोंने नाना प्रकारसे तत्त्वोंकी गणना की है; युक्तियुक्त होनेके कारण वे सभी उचित हैं । विद्वानोंके लिये इसमें क्या बुराई है ? ॥२५॥

उद्धवजी बोले—हे कृष्ण ! यद्यपि स्वरूपसे प्रकृति और पुरुष दोनों परस्पर भिन्न हैं तथापि एक दूसरेके आश्रित होनेसे उनका भेद प्रतीत नहीं होता ॥२६॥ हे कमललोचन ! प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृति अभिन्न-से प्रतीत होते हैं । मेरे हृदयमें यह बड़ा भारी सन्देह है, सो हे सर्वज्ञ ! आप अपने तर्कप्रवीण वचनोंसे उसे दूर कीजिये ॥२७॥ हे प्रभो ! आपकी ही कृपा-कटाक्षसे जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी ही मायाशक्तिसे उस ज्ञानका ह्रास होता है । अपनी अद्भुत मायाकी विचित्र गतिको आप ही जानते हैं, आपके अतिरिक्त और कोई उसे नहीं जान सकता ॥२८॥

श्रीभगवान् बोले—हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धव ! प्रकृति और पुरुष इन दोनोंमें अत्यन्त भेद है । यह प्राकृत प्रपञ्च विकारवान् है, क्योंकि यह गुणोंके क्षोभका ही परिणाम है ॥२९॥ हे प्रियवर ! मेरी त्रिगुणात्मिका माया अपने गुणोंके द्वारा नाना प्रकारकी भेदबुद्धि

१. यह 'एकादशत्व······नवेत्यथ' श्लोक प्राचीन प्रतिमें नहीं है । २. देवेश । ३. ह्यात्मनो योगगतिं ।

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ (गीता ७ । ४)

वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत्　॥३०॥
दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे ।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ।
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥३१॥
योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः
प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः ।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
र्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥३२॥
आत्मा परिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥३३॥

उद्धव उवाच

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो ।
उच्चावचान्यथा देहान्गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥३४॥
तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः ।
न ह्येतत्प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः ॥३५॥

उत्पन्न कर देती है, वह विकारवती भेदबुद्धि अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपसे तीन प्रकारकी है ॥३०॥ जिस प्रकार [अध्यात्म] चक्षु-इन्द्रिय, [अधिभूत] रूप और [अधिदैव] नेत्र-गोलक-गत सूर्यका अंश—ये तीनों परस्पर एक-दूसरेके आश्रयसे सिद्ध होते हैं, किन्तु आकाशमें जो सूर्य भगवान् हैं वे स्वतःसिद्ध हैं, उसी प्रकार आत्मा, जो इन (भूतादि विकारों) से पृथक् है और इनका आदिकारण है, अपने स्वयं-सिद्ध प्रकाशसे इन समस्त प्रकाशोंका भी प्रकाशक है । इसी प्रकार त्वगादि, श्रवणादि, चक्षुरादि, जिह्वादि, नासिकादि और चित्तादि भी अध्यात्मादि भेदसे तीन-तीन हैं* ॥३१॥ गुण-क्षोभके कारण प्रकृतिमूलक महत्तत्त्वसे उत्पन्न हुआ यह अहङ्काररूप विकार वैकारिक (सात्त्विक), तामस और ऐन्द्रियिक (राजस) भेदसे तीन प्रकारका है । यह अहङ्कार ही मोह और विकल्परूप भेद-भावका मुख्य हेतु है ॥३२॥ आत्मा ज्ञानस्वरूप है और अस्ति-नास्ति (है-नहीं है, सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव अथवा सत्य-मिथ्या आदि) रूपसे होनेवाला यह विवाद भेद-दृष्टिके कारण वर्तमान है । यह यद्यपि व्यर्थ है तथापि जबतक पुरुष अपने स्वरूपभूत मुझसे विमुख रहता है, तबतक यह निवृत्त नहीं होता ॥३३॥

उद्धवजी बोले—हे प्रभो ! जो लोग आपसे विमुख हैं वे अपने कर्मोंके द्वारा जिस प्रकार उच्च और नीच योनियोंका ग्रहण और त्याग करते हैं, सो सब आप मुझसे कहिये । हे गोविन्द ! आत्मज्ञानसे शून्य पुरुषोंके लिये इसका चिन्तन करना भी अति कठिन है और इस लोकमें इस आत्मतत्त्वको जाननेवाले तो प्रायः हैं ही नहीं, क्योंकि सभी आपकी मोहिनी मायासे मोहित हो रहे हैं ॥३४-३५॥

१. मथाधिभूतमधिदैवमन्यत् । २. स्वतोऽसौ ।

* इन सबके अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव—ये तीन भेद क्रमशः इस प्रकार हैं—त्वचा, स्पर्श और वायु; श्रवण, शब्द और दिशा; चक्षु, रूप और सूर्य; जिह्वा, रस और वरुण; नासिका, गन्ध और अश्विनीकुमार; चित्त, चेतयितव्य और वासुदेव; मन, मन्तव्य और चन्द्रमा; अहङ्कार, अहंकर्त्तव्य और रुद्र तथा बुद्धि, बोद्धव्य और ब्रह्मा ।

श्रीभगवानुवाच

मनः कर्ममयं[1] नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥३६॥
ध्यायन्मनोऽनुविषयान्दृष्टान्वानुश्रुतानथ[2] ।
उद्यत्सीदत्कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनुशाम्यति ॥३७॥
विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत्स्मरेत्पुनः ।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः[3] ॥३८॥
जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ।
विषयस्वीकृतिं[4] प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥३९॥
स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति ॥४०॥
इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि ।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद्यथा ॥४१॥
नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च[5] ।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न[6] दृश्यते ॥४२॥
यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मनुष्योंका कर्ममय मन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त है । वही एक लोकसे दूसरे लोकमें जाता है और उससे भिन्न होनेपर भी [उसमें अहङ्कार-बद्ध होनेके कारण] आत्मा उसका अनुसरण करता है ॥३६॥ यह कर्माधीन मन देखे और कर्म-शास्त्रादिद्वारा सुने हुए विषयोंका ध्यान करता हुआ उन्हींके लिये उद्यत रहता है और उनमें लीन हो जाता है, इससे उसकी पूर्व-स्मृति नष्ट हो जाती है ॥३७॥ [अपने कर्मानुसार प्राप्त हुए देवादि-देहरूप] विषयमें अत्यन्त दृढ़ आस्था हो जानेसे जीव अपने पूर्व देहका स्मरण नहीं करता, यही किसी कारणसे देहकी अत्यन्त विस्मृति ही उसकी मृत्यु है ॥३८॥ हे उदार उद्धव ! प्राप्त हुए देहादि विषयोंको अहंभावद्वारा पूर्णतया स्वीकार कर लेना ही जीवका जन्म है, वास्तवमें जीवका कोई जन्म-मरण नहीं होता; ये जन्म आदि स्वप्न और मनोरथके समान ही हैं ॥३९॥ स्वप्न और मनोरथ भी ठीक ऐसे ही हैं । उनमें भी मनुष्य अपने पूर्व स्वरूपको भूल जाता है और पूर्वसिद्ध होता हुआ भी अपने आपको [उस अवस्थाके अनुसार] अपूर्व ही मानता है । [अर्थात् स्वप्नादिमें अपने आपको जैसा देखता है वैसा ही मान लेता है, अपनी जाग्रत्-कालकी स्थितिको भूल जाता है ।] ॥ ४० ॥ जिस प्रकार स्वप्नादिमें जीव असत् पदार्थोंका बनानेवाला होकर बाहर-भीतरके मिथ्या भेदोंकी रचना करता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके आश्रयरूप इस मनकी रचनासे आत्मामें उत्तम, मध्यम, अधम अथवा आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि त्रिविध भेद न होनेपर भी भासने लगते हैं तथा वह आत्मा बाह्य और आभ्यन्तर भेदका हेतु हो जाता है [अर्थात् बाह्य और आन्तरिक सुखादिका अनुभव करने लगता है] ॥४१॥ हे मित्र ! जिसकी गति अति दुर्बोध है, उसमें प्राणियोंके जन्म-मरण तो निरन्तर क्षण-क्षणमें होते रहते हैं, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण प्रतीत नहीं होते ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार [परिणामसे] ज्योतिकी, [गतिभेदसे] जलकी, [पकनेतक] फल

१. कर्ममयैर्नृणाम् । २. वाथ श्रुतांस्तथा । ३. विस्मितः । ४. स्वीकृतम् । ५. न भवन्ति भवन्ति च । ६. सूक्ष्मत्वन्तत्र ।

तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥४३॥

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम् ।

सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥४४॥

मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् ।

म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः ॥४५॥

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् ।

वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥४६॥

एता मनोरथमयीर्ह्यन्यस्योच्चावचास्तनूः ।

गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित्कश्चिज्जहाति च ॥४७॥

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ ।

न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥४८॥

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।

तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥४९॥

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् ।

तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥५०॥

सत्त्वसङ्गादृषीन्देवान्रजसासुरमानुषान् ।

तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥५१॥

नृत्यतो गायतः पश्यन्यथैवानुकरोति तान् ।

और [नष्ट होनेतक] वृक्षादिकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, उसी प्रकार कालके कारण समस्त प्राणियोंकी आयु और अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। [परन्तु वे सूक्ष्म होनेसे प्रतीत नहीं होतीं।] ॥ ४३ ॥ जिस प्रकार [सादृश्यके कारण] दीप-शिखाको 'यह वही दीपक है' और नदी-प्रवाहको 'यह वही जल है' ऐसा समझते हैं उसी प्रकार आयुको वृथा खोनेवाले पुरुषोंका 'यह वही मनुष्य है'—ऐसा कहना और समझना भूल ही है ॥ ४४ ॥ ऐसा अज्ञानी पुरुष भी अपने कर्मरूप हेतुसे न जन्म लेता है और न मरता है, क्योंकि वह अमर है। वास्तवमें काष्ठ-संयोगसे प्रकट और शान्त होते हुए अग्निके समान केवल भ्रान्तिसे ही उसके जन्म-मरण प्रतीत होते हैं ॥४५॥ गर्भ-प्रवेश, गर्भ-वृद्धि, जन्म, बाल्य, कौमार, यौवन, प्रौढावस्था, जरा और मृत्यु—ये नौ अवस्थाएँ शरीरकी ही हैं ॥ ४६ ॥ अपनेसे भिन्न शरीरकी इन मनोरथमयी उच्च और नीच अवस्थाओंको जीव अज्ञान-वश गुणोंके संगसे अपनी मान लेता है और कहीं-कहीं कभी [विवेक हो जानेसे] कोई इन्हें छोड़ भी देता है ॥४७॥ पिताको पुत्रके जन्मसे और पुत्रको पिताकी मृत्युसे अपने-अपने जन्म-मरणका अनुमान करना चाहिये। किन्तु इन जन्म-मरणरूपी धर्मोंका ज्ञाता इन दोनों धर्मोंसे युक्त नहीं है ॥ ४८ ॥ वृक्षके बोने और काटनेसे जो उसकी उत्पत्ति और नाशको जाननेवाला है वह साक्षी पुरुष जैसे उस वृक्षसे भिन्न होता है वैसे ही इस शरीरका साक्षी (आत्मा) भी इस शरीरसे भिन्न है ॥ ४९ ॥ इस प्रकारके विवेकसे रहित जो अज्ञानी पुरुष आत्माको प्रकृतिसे पृथक् उसके वास्तविक स्वरूपसे नहीं जानता वह विषयोंमें मोहित होकर जन्म-मरणरूप संसारमें पड़ा रहता है ॥५०॥ अपने कर्मोंके अनुसार आवागमनके चक्रमें भटकता हुआ वह अविवेकी जीव सात्त्विक कर्मोंके संयोगसे देव और ऋषियोनियोंमें, राजस कर्मोंसे असुर और मनुष्य-योनियोंमें तथा तामस कर्मोंसे भूत-प्रेत आदि तिर्यक्-योनियोंमें जन्मता रहता है ॥ ५१ ॥ जिस प्रकार नाचते और गाते हुओंको देखकर मनुष्य स्वयं भी

१. न्मादि ।

एवं बुद्धिगुणान्पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥५२॥

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।

चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥५३॥

यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा ।

स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥५४॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।

ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥५५॥

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।

आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥५६॥[1]

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथ[2] वा ।

ताडितः सन्निबद्धो[3] वा वृत्त्या[4] वा परिहापितः ॥५७॥

निष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः[5] ।

श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥५८॥

तान तोड़ने लगता है उसी प्रकार बुद्धिके गुणोंको देखकर आत्मा निष्क्रिय होकर भी उनका अनुकरण करनेके लिये बाध्य हो जाता है ॥ ५२ ॥ जैसे जलके चलनेसे उसमें प्रतिविम्बित वृक्ष भी चलते हुए माळूम पड़ते हैं, चारों ओर वेगसे घुमाये हुए नेत्रोंसे पृथिवी घूमती हुई-सी दिखलायी देती है तथा जैसे मनोरथोंद्वारा कल्पित और स्वप्नमें देखे हुए विषयोंका अनुभव मिथ्या होता है, वैसे ही हे दाशार्ह ! आत्माका विषयानुभवरूप संसार मिथ्या ही है ॥ ५३-५४ ॥ अतः [वस्तुतः] पदार्थोंके विद्यमान न रहनेपर भी विषयोंका चिन्तन करते रहनेके कारण संसारकी निवृत्ति नहीं होती; जैसे कि स्वप्नमें [वास्तविक विपत्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी] अनिष्टकी प्रतीति होती है ॥ ५५ ॥ इसलिये हे उद्धव ! इन असत् इन्द्रियोंसे विषयोंको मत भोगो; इस सम्पूर्ण संसार-भ्रमको आत्मस्वरूपके अज्ञानसे ही भासित समझो ॥ ५६ ॥ असाधु पुरुष तिरस्कार करें, अपमान करें, हँसें, निन्दा करें, मारें, बाँधें, आजीविकासे अलग कर दें, ऊपर थूक दें, अथवा मूत्र-त्याग करें; इस प्रकार अज्ञानियोंद्वारा अनेक प्रकारसे विचलित किये जानेपर भी अपने आत्यन्तिक श्रेयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको इन सम्पूर्ण कठिनाइयोंमें पड़नेपर भी स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिये । [अर्थात् भगवद्-भजनमें लगे रहकर क्रोधादिके वशीभूत न होना चाहिये ।] ॥५७-५८॥

उद्धव उवाच

यथैवमनुबुध्येयं वद नो[6] वदतां वर ।

सुदुःसहमिमं मन्य आत्मन्यसदतिक्रमम् ॥५९॥

विदुषामपि विश्वात्मन्प्रकृतिर्हि बलीयसी ।

ऋते त्वद्धर्मनिरताञ्छान्तांस्ते चरणालयान् ॥६०॥

उद्धवजी बोले—हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! दुष्ट पुरुषोंके अपमान आदि करनेपर विचलित न होना तो मुझे बड़ा कठिन जान पड़ता है; जिस प्रकार यह मेरी बुद्धिमें भलीभाँति आ जाय आप उसी प्रकार समझाकर कहिये ॥ ५९ ॥ हे विश्वात्मन् ! जो आपके ही धर्मोंमें निरत हैं और आपके चरणोंके आश्रित होकर शान्तचित्त हो गये हैं उनको छोड़कर अन्य विवेकी पुरुषोंके लिये भी मैं इसे कठिन ही समझता हूँ, क्योंकि यह मानव-प्रकृति बड़ी ही बलवती है ॥६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

१. आत्माग्रहणनिष्पन्नं पश्यन् वैकल्पिकं भ्रमम् । २. ऽपि वा । ३. सन्निरुद्धो । ४. भृत्या । ५. प्रकल्पितः । ६. भो ।

तेईसवाँ अध्याय

एक तितिक्षु ब्राह्मणका इतिहास ।

बादरायणिरुवाच

स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः ।
सभाजयन्भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ उद्धवजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर जिनके पराक्रम श्रवण करने योग्य हैं वे यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र अपने सेवकके प्रश्नकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥ २ ॥
न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः ।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥ ३ ॥
कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव ।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥ ४ ॥
केनचिद्भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः ।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम् ॥ ५ ॥
अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया ।
वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः ॥ ६ ॥
ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः ।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः ॥ ७ ॥
दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन्प्रियम् ॥ ८ ॥
तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः ।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः ॥ ९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे बृहस्पतिजीके शिष्य उद्धव ! इस संसारमें ऐसे साधु पुरुष प्रायः नहीं मिलते जो दुर्जनोंके दुर्वाक्य-बाणोंसे विद्ध होनेपर अपने आपको सँभाल सकें ॥ २ ॥ मर्मवेधी बाणोंसे विद्ध होकर भी मनुष्य ऐसा पीडित नहीं होता जैसा कि उसे दुष्ट जनोंके मर्मस्पर्शी कठोर वचनरूपी बाण पीडा पहुँचाते हैं ॥ ३ ॥ हे उद्धव ! इस प्रसंगमें एक अति पवित्र प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध है, उसका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ, खूब सावधान होकर सुनो ॥ ४ ॥ किसी भिक्षुने दुर्जनोंद्वारा सताये जानेपर उसे धैर्यपूर्वक अपने कर्मोंके फलरूपसे स्मरण करते हुए जो कुछ कहा था [वह इसमें बतलाया गया है] ॥ ५ ॥ उज्जयिनी-पुरीमें एक ब्राह्मण रहता था, जो अपनी सम्पत्तिके कारण बहुत बड़ा धनाढ्य था। वह कृषि-वाणिज्यादि व्यवसाय करता था और अत्यन्त कृपण, कामी, लोभी और बड़ा क्रोधी था ॥६॥ उसने जाति-भाइयों और अतिथियोंका वाणीमात्रसे भी सत्कार नहीं किया और धर्म-कर्मसे रहित गृहमें निवास करते हुए उसने अपने शरीरको भी सामयिक सुखोंसे वञ्चित कर रक्खा था ॥ ७ ॥ उस दुष्ट स्वभाववाले और कृपण ब्राह्मणके पुत्र, बन्धु, स्त्री, कन्या और नौकर-चाकर भी उससे दुःखी रहनेके कारण द्रोह करते थे और कभी उसका हित-साधन नहीं करते थे ॥ ८ ॥ इस प्रकार यक्षके समान धनकी रखवाली करनेवाले, दान और भोगसे रहित होनेके कारण दोनों लोकोंसे पतित उस ब्राह्मणसे पञ्चयज्ञके भागी देवगण कुपित हुए ॥ ९ ॥

१. शुक उवाच । २. वर्यः । ३. रुजन्ति । ४. असतां । ५. निजकर्मणः । ६. णाप्यनर्चिताः ।

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद ।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः ॥१०॥
ज्ञातयो जगृहुः किञ्चित्किञ्चिद्दस्यव उद्धव ।
दैवतः कालतः किञ्चिद्ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात् ॥११॥
स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः ।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥१२॥
तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥१३॥
स चाहेदमहो कष्टं वृथात्मा मेऽनुतापितः ।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः ॥१४॥
प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥१५॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः ।
लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥१६॥
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥१७॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥१८॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥१९॥

हे अति उदार उद्धव ! देवताओंका अपमान करनेसे उसका पूर्वपुण्य क्षीण हो गया तथा उसका अत्यन्त प्रयास और परिश्रमसे सञ्चित किया हुआ केवल पीडा देनेवाला सारा धन भी नष्ट हो गया ॥ १० ॥ उस ब्राह्मणाधमका कुछ धन तो उसके कुटुम्बियोंने छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये, कुछ दैव और कालसे नष्ट हो गया और कुछ राजा तथा अन्य मनुष्योंके कारण नष्ट हुआ ॥ ११ ॥ इस प्रकार धनके नष्ट हो जानेपर धर्म एवं उपभोगसे रहित और स्वजनोंसे तिरस्कृत उस ब्राह्मणको बड़ी भारी चिन्ता हुई ॥१२॥ धनके नाशसे जो सन्तप्त और खिन्न है तथा आँसुओंकी बाढ़के कारण जिसका गला भर आया है ऐसे उस ब्राह्मणको दीर्घकालतक चिन्ता करते-करते महान् वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥१३॥ वह [मन-ही-मन] कहने लगा—'ओह ! खेद है कि मैंने व्यर्थ ही इतने दिन अपने शरीरको सन्तप्त किया; जिस धनके लिये मैंने इतना कष्ट उठाया वह न धर्महीमें लगा और न काम (भोग) में ही ॥ १४ ॥ कृपण पुरुषोंके लिये धन प्रायः सुखका साधन नहीं होता । इस लोकमें तो वह उनके चित्तको [कमानेकी चिन्तासे] सन्तप्त करनेके लिये होता है और मरनेपर उनके नरकका कारण होता है [क्योंकि उससे धर्म तो होता ही नहीं है] ॥१५॥ जिस प्रकार थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्ग-सुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है उसी प्रकार तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यशको और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर देता है ॥१६॥ धनके उपार्जनमें और उपार्जन कर लेनेपर उसकी वृद्धि, रक्षा एवं व्यय करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें मनुष्योंको निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है ॥१७॥ चोरी, हिंसा, मिथ्या-भाषण, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा (होड़) और [स्त्री, द्यूत एवं मद्यके] व्यसन—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंको धनके कारणसे ही होते हैं; इसलिये कल्याणकी इच्छावाला पुरुष इस अर्थरूप अनर्थका दूरसे ही त्याग कर दे ॥१८-१९॥

१. तदभिध्यान० । २. णार्थः ।

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥२०॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥२१॥
लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्द्विजाग्र्यताम् ।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥२२॥
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥२३॥
देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन्बन्धूंश्च भागिनः ।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः ॥२४॥
व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम् ।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये ॥२५॥
कस्मात्संक्लिश्यते विद्वान्व्यर्थयार्थेहयासकृत् ।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ॥२६॥
किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥२७॥
नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः ॥२८॥
सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात्सिद्ध आत्मनि॥२९॥

भाई-बन्धु, स्त्री, माता-पिता तथा सुहृद्, जो स्नेह-बन्धनसे बँधकर बिल्कुल एक हुए रहते हैं, वे सब-के-सब एक कोड़ी (२०) कौड़ीके कारण अलग-अलग होकर तुरन्त ही शत्रु हो जाते हैं ॥२०॥ ये समस्त सम्बन्धी थोड़े-से भी धनके कारण क्षुब्ध और अत्यन्त क्रोधवश हो जाते हैं तथा तुरन्त एक-दूसरेको छोड़ देते हैं और डाहपूर्वक सम्पूर्ण स्नेहको भूलकर एक-दूसरेका सर्वनाश कर डालते हैं ॥ २१ ॥ जो इस देवदुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर और उसमें भी उत्तम ब्राह्मण होकर इसका अनादर करके अपने परम स्वार्थ (मोक्ष) का नाश करते हैं वे महानीच गतिको प्राप्त होते हैं ॥२२॥ स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के द्वाररूप इस मनुष्य-देहको पाकर कौन मनुष्य इस अनर्थोंके आश्रय धनमें आसक्ति करेगा ? ॥२३॥ जो मनुष्य देव, ऋषि, पितृगण, भूतगण, जातिवाले, कुटुम्बी और उस धनके अन्य भागियोंको अपना धन बाँटकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसे भोगता है वह यक्षके समान धनकी रक्षा करनेवाला कृपण पुरुष अवश्य अधोगतिको प्राप्त होता है ॥२४॥ मुझ उन्मत्तकी अवस्था और बल-पुरुषार्थ, जिनसे कि विवेकी लोग सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेते हैं, धन-सञ्चयकी व्यर्थ चेष्टामें नष्ट हो गये, अब मैं वृद्ध हो गया, क्या साधन करूँगा ? ॥२५॥ विवेकी पुरुष धनकी व्यर्थ तृष्णासे निरन्तर क्यों सन्तप्त होते हैं ? निश्चय ही यह संसार किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहा है ॥२६॥ यह मनुष्य-देह कालके गालमें पड़ा हुआ है; इसको धनसे, धन देनेवाले देवताओंसे, कामनाओंसे या कामनाओंको पूरी करनेवालोंसे तथा पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाले काम्य कर्मोंसे क्या लाभ ? ॥२७॥ अवश्य ही सर्वदेवमय भगवान् हरि मुझपर प्रसन्न हुए हैं, जिससे कि मैं इस दशाको प्राप्त हुआ और संसार-सागरसे अपनेको तारनेके लिये मुझे यह नौकारूप निर्वेद हुआ है ॥२८॥ अतः अब यदि आयु शेष रही तो अपने समस्त धर्मसाधनोंमें सावधान और चित्तमें सन्तुष्ट रह मैं शेष समयमें [तपस्याद्वारा] अपने शरीरको सुखा डालूँगा ॥ २९ ॥

१. काकणिकाः । २. शु स्पृधा घ्न० । ३. ज्ञातीनन्यांश्च । ४. ऽखिलार्थेषु यदि ।

तत्र मामनुमोदेरन्देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥३०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः ।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीञ्छान्तो भिक्षुरभून्मुनिः ॥३१॥
स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः ।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत् ॥३२॥
तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः ।
दृष्ट्वा पर्यभवन्भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः ॥३३॥
केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम् ।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन ॥३४॥
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः ।
अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे ॥३५॥
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि ।
यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत् ॥३६॥
तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः ।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद्बध्यतां बध्यतामिति ॥३७॥
क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः ।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत्स्वजनोज्झितः ॥३८॥
अहो एष महासारो धृतिमान्गिरिराडिव ।
मानेन साधयत्यर्थं बकवद्दृढनिश्चयः ॥३९॥

तीनों लोकोंके नायक देवगण मेरे इस सङ्कल्पका अनुमोदन करें । राजा खट्वाङ्गने तो एक मुहूर्तभरमें ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लिया था [मेरे लिये तो अभी बहुत समय बाकी है] ॥३०॥

श्रीभगवान् बोले—वह अवन्ति-देशवासी ब्राह्मण-श्रेष्ठ मनमें इस प्रकार निश्चय करके, अपने हृदयकी अहंता-ममतारूप ग्रन्थियोंको त्यागकर शान्त और मौन भिक्षु (संन्यासी) हो गया ॥३१॥ मन, इन्द्रिय और प्राणोंका संयम करके वह सब ओरसे अनासक्त हो पृथिवीतलपर विचरने लगा । केवल भिक्षाके लिये ही अलक्षितभावसे (अपनी उत्तमता प्रकट न करते हुए) नगर या ग्राममें जाता था ॥३२॥ हे भद्र ! उस वृद्ध अवधूत भिक्षुको देखकर कितने ही दुष्टलोग उसका नाना प्रकारसे अपमान करके उसे तंग करते थे ॥३३॥ कोई उसका दण्ड छीन लेता, कोई पात्र और कमण्डलु उठा ले जाता, कोई आसन, कोई अक्षमाला, कोई कन्था और कोई उसके वस्त्र ले भागता ॥३४॥ फिर उन्हें दिखलाते हुए देने लगते और [जब वह ले लेता तो] पुनः उस मुनिसे उन्हें छीन लेते । भिक्षा माँगकर जब बाहर नदीतटपर वह भोजन करने बैठता तो वे पापीलोग उसके ऊपर मूत देते और थूक देते । वह मौन था, इसलिये उससे कुछ बुलवानेकी चेष्टा करते और इसपर भी यदि वह न बोलता तो उसे पीटते ॥३५-३६॥ कोई-कोई 'यह चोर है'—ऐसा कहकर उसको डाँटते और कोई 'बाँधो, बाँधो'—ऐसा कहकर उसको रस्सीसे बाँधते ॥३७॥ कोई निरादरपूर्वक इस प्रकार कुवाक्य कहकरे उसकी निन्दा करते कि देखो, यह दुष्ट अब कैसा धर्मका ढोंग बनाये हुए है, धन नष्ट हो गया है और घरवालोंने इसे घरसे निकाल दिया है तो अब इसने यह वृत्ति ग्रहण कर ली है ॥३८॥ देखो तो, पर्वतराजके समान यह कैसा मोटा-मुष्टण्डा और अटल धैर्यवाला है; बगुलेके समान पक्का ढोंग रचकर यह गुपचुप अपना सब काम बना लेता है—इस प्रकार कहकर

१. पर्यभवंस्तत्र । २. पात्रकमण्डलू ।

इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति[1] च ।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥४०॥
एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं[2] दैहिकं च यत् ।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत ॥४१॥
परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः ।
पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥४२॥

द्विज उवाच[3]

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत् ॥४३॥
मनो गुणान्वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति ॥४४॥
अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामा-
ञ्जुषन्निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥४५॥
दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतानि कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥४६॥
समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम् ।
असंयतं[4] यस्य मनो विनश्यद्
दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः ॥४७॥
मनोवशेऽन्ये ह्यभवन्स्म[5] देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः ॥४८॥

कोई उस ब्राह्मणकी हँसी करता, कोई उसपर अधोवायु छोड़ता और कोई तोता, मैना आदि पालतू पक्षियोंकी भाँति उसको बाँधकर घरमें बन्द कर देता ॥३९-४०॥ इस प्रकार भौतिक, दैविक और दैहिक जैसे-जैसे दुःख उसपर पड़ते, उन सबको वह अपना अवश्य-भोक्तव्य प्रारब्ध समझकर भोगता रहता ॥४१॥ तथा धर्मसे गिरानेवाले उन अधमलोगोंसे पीडित होनेपर वह अपने धर्ममें सात्त्विक धैर्यपूर्वक स्थिर रहकर इस गाथाको गाया करता था—॥४२॥

ब्राह्मण कहता—ये स्वजन, देवगण, आत्मा, ग्रह, कर्म और काल आदि कोई भी मेरे सुख-दुःखके कारण नहीं हैं, इसका कारण तो एकमात्र मनको ही बतलाया जाता है जो कि इस संसार-चक्रको निरन्तर चलाया करता है ॥४३॥ यह अति बलवान् मन ही गुणोंकी वृत्तियोंको उत्पन्न करता है, उन्हींसे सात्त्विक, राजस और तामस नाना प्रकारके कर्म होते हैं तथा उन कर्मोंके अनुकूल ही जीवकी विविध गतियाँ होती हैं ॥४४॥ चेष्टा करनेवाले मनके साथ उसके नियन्ता-रूपसे वर्तमान होनेपर भी यह आत्मा निरीह (निष्क्रिय) है। यह हिरण्मय (विद्याशक्तिप्रधान) और मुझ जीवका सखा है तथा अलुप्तज्ञानसे केवल देखता रहता है। यह अपने द्योतक मनको ग्रहणकर नाना प्रकारके भोग भोगता हुआ गुणों (कर्मों) के संगसे बँधा रहता है ॥४५॥ दान, स्वधर्म (वर्णाश्रम-धर्म), नियम, यम, वेदाध्ययन, कर्म एवं शुभ व्रत—इन सबका अन्तिम फल मनोनिग्रह ही है और मनोनिग्रह ही परम योग है ॥४६॥ जिसका मन शान्त और समाहित है, बतलाओ, उसको दानादि कर्मोंकी क्या आवश्यकता है ? और जिसका मन असंयत होनेके कारण [आलस्य तथा विषय-वासनादिसे] नष्ट हो रहा है उसको इन दानादि शुभकर्मोंसे लाभ ही क्या है ? ॥४७॥ अन्य देवगण (इन्द्रियाँ) भी मनके ही वशमें हैं, मन उनमेंसे किसीके वशीभूत नहीं है। यह मन बलवान्से भी बलवान् अति भयङ्कर देव है। जो इसको अपने वशमें कर लेता है वही देवदेव (इन्द्रियोंको जीतनेवाला) है ॥ ४८ ॥

१. दुर्वादयन्ति । २. दैवञ्च । ३. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । ४. न संयतं । ५. ह्यभवंश्च ।

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित् ।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून्विमूढाः ॥४९॥
देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥५०॥
जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनश्चात्र हि भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित्संदशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥५१॥
दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचि-
त्क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥५२॥
आत्मा यदि स्यात्सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।
न ह्यात्मनोऽन्यद्यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥५३॥
ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।
ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥५४॥
कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।
देहस्त्वचित्पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम् ॥५५॥

इस दुर्जय, असह्यवेग और मर्मभेदी शत्रुको न जीतकर कितने ही मूढ़लोग इस संसारमें अन्य मनुष्योंके साथ व्यर्थ कलह करके उन्हें अपना मित्र, शत्रु अथवा उदासीन बना लेते हैं ॥४९॥ इस मनोमात्र देहमें अन्धबुद्धिलोग ममता और अहंतासे 'यह मैं हूँ और यह दूसरा है'—इस प्रकारका भेद-भ्रम करके अनन्त अज्ञानान्धकारमें पड़े भटकते रहते हैं ॥५०॥ यदि कोई मनुष्य सुख-दुःखका हेतु हो भी तो उससे आत्माका क्या सम्बन्ध? वह सुख-दुःख तो पृथ्वीके विकारभूत [अपने और दूसरेके] देहोंको ही होता है। यदि कोई [भोजनादिके समय] अपने ही दाँतोंसे अपनी जीभ काट ले तो उस वेदनाके लिये किसपर कोप करे ॥५१॥ यदि देवता ही दुःखके हेतु हों तो भी आत्माकी क्या हानि? वे दुःखादि तो उन विकारों (विकारके कर्ता तथा कर्मभूत इन्द्रियाभिमानी देवताओं) को ही होते हैं। यदि अपने ही शरीरका कोई एक अङ्ग दूसरे अङ्गपर प्रहार करे तो ऐसी अवस्थामें पुरुष किसपर क्रोध करे? ॥५२॥ यदि आत्मा ही सुख-दुःखका हेतु हो तो वह भी अपना आप ही है, कोई अन्य नहीं; क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ है नहीं और है तो मिथ्या है। इसलिये न सुख है, न दुःख, फिर क्रोध कैसा? ॥५३॥ यदि ग्रहोंको सुख-दुःखके निमित्त मानें तो उनसे भी अजन्मा आत्माकी क्या हानि? उनका प्रभाव भी जन्म-मरणशील देहपर ही होता है। और यह भी कहते हैं कि एक ग्रहकी दूसरे ग्रहपर दृष्टि पड़नेसे ग्रहको ही पीडा होती है, तो फिर उनसे अत्यन्त भिन्न पुरुष किसके प्रति क्रोध करे? ॥ ५४ ॥ यदि कर्म सुख-दुःखके हेतु हों तो उनसे आत्माका क्या प्रयोजन? क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड और अजड उभयरूप होनेपर हो सकते हैं।* किन्तु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षी-रूपसे रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मोंका कोई आश्रय ही नहीं है, फिर क्रोध किसपर करे? ॥ ५५ ॥

---

१. एव ।

* जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है उसीसे कर्म हो सकते हैं। अतः विकारयुक्त होनेके कारण उसे जड होना चाहिये और हिताहितका ज्ञान रहनेके कारण वह चेतन होनी चाहिये।

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥५६॥

न केनचित्क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य ।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥५७॥

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥५८॥

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम् ।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम् ॥५९॥

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः ।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः ॥६०॥

तस्मात्सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया ।
मय्यावेशितया युक्त एतावान्योगसंग्रहः ॥६१॥

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः ।
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन्द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥६२॥

यदि काल सुख-दुःखका हेतु हो तो उससे भी आत्माकी क्या हानि ? काल तो उसका ही अंश है । जिस प्रकार अग्नि अग्निको नहीं जला सकता और बर्फ बर्फको ठण्डा नहीं कर सकता [उसी प्रकार आत्माका अंशभूत काल उसके द्वन्द्व (सुख-दुःख) का कारण नहीं हो सकता] । फिर क्रोध किसपर किया जाय ? आत्माको तो किसी प्रकारका द्वन्द्व है नहीं ॥ ५६ ॥ उस प्रकृतिसे अतीत आत्माको कभी किसीके द्वारा किसी प्रकार भी सुख-दुःखका संसर्ग नहीं हो सकता, यह तो संसृतिरूप अहङ्कारमें ही प्रतीत होते हैं—जो ऐसा जान लेता है वह फिर किसी भौतिक पदार्थसे भय नहीं मानता ॥ ५७ ॥ इस प्रकार पूर्ववर्ती महर्षियोंद्वारा आश्रित इस परमात्मनिष्ठामें स्थित होकर भगवान् मुकुन्दके चरण-कमलोंकी सेवाके द्वारा ही मैं इस अनन्तपार अज्ञान-सागरको सुगमतासे पार कर लूँगा ॥ ५८ ॥

श्रीभगवान् बोले-इस प्रकार धन नष्ट हो जानेसे क्लेशरहित और विरक्त होकर घरबार छोड़ पृथिवीपर विचरनेवाला वह ब्राह्मण दुष्टजनोंसे तिरस्कृत होनेपर भी अपने धर्ममें अटल रहता और इस गाथाका गान करता था ॥ ५९ ॥ इस संसारमें पुरुषको सुख-दुःख देनेवाला कोई दूसरा नहीं है । यह उसके चित्तका भ्रम ही है । मित्र, उदासीन और शत्रुरूप संसार अज्ञानका ही रचा हुआ है ॥ ६० ॥ इसलिये हे तात ! मुझमें लगायी हुई बुद्धिके द्वारा अपनी सारी शक्ति लगाकर युक्तिपूर्वक मनका निग्रह करो; यही योगका सार-संग्रह है ॥ ६१ ॥ जो कोई भिक्षुद्वारा कही गयी इस ब्रह्मनिष्ठाको सावधानतापूर्वक सुनता अथवा सुनाता हुआ धारण करता है, वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके वशीभूत नहीं होता ॥ ६२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ अध्याय

सांख्ययोग ।

श्रीभगवानुवाच

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ।
यद्विज्ञाय पुमान्सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम् ॥ १ ॥
आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम् ।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥ २ ॥
तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत् ॥ ३ ॥
तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः[1] सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥ ४ ॥
तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन्गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च[2] ॥ ५ ॥
तेभ्यः समभवत्सूत्रं महान्सूत्रेण संयुतः ।
ततो विकुर्वतो जातो[3]ऽहङ्कारो यो विमोहनः ॥ ६ ॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥ ७ ॥
अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च ।
तैजसाद्देवता आसन्नेकादश च वैकृतात् ॥ ८ ॥
मया[4] सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः ।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९ ॥
तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ[5] ।
मम नाभ्यामभूत्पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥ १० ॥
सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
लोकान्सपालान्विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! अब मैं तुम्हारे प्रति प्राचीन आचार्योंद्वारा निश्चित सांख्ययोगका वर्णन करता हूँ, जिसको जान लेनेपर मनुष्य प्रपञ्च-भ्रमको तत्काल त्याग देता है ॥ १ ॥ प्रलयकाल तथा सत्ययुगके आरम्भमें जब कि लोग विवेकसम्पन्न थे, ज्ञान और उसके विषय अर्थात् द्रष्टा और दृश्य एक निर्विकल्प रूपमें ही थे ॥ २ ॥ फिर मन और वाणीसे अतीत वह एकमात्र निर्विकल्प सत्यस्वरूप ब्रह्म माया (दृश्य) और उसके प्रकाशरूपसे दो हो गया ॥ ३ ॥ उनमेंसे एक वस्तु (माया) को प्रकृति कहते हैं और वह कार्य-कारणरूपसे दो प्रकारकी है । तथा दूसरी वस्तु ज्ञान है वह पुरुष कहलाता है ॥ ४ ॥ जीवोंके अदृष्टानुसार मैंने प्रकृतिको क्षुब्ध किया । तब उससे सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण प्रकट हुए ॥ ५ ॥ उनसे क्रियाशक्तिसम्पन्न सूत्र हुआ और उससे ज्ञानशक्तिप्रधान महत्तत्त्व हुआ जो सूत्रसे मिला हुआ है; और उस विकार-युक्त महत्तत्त्वसे अहङ्कार हुआ जो जीवको मोहमें डालनेवाला है ॥ ६ ॥ वह अहङ्कार वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और तामस-भेदसे तीन प्रकारका है तथा पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय और मनका कारण होनेसे जड-चेतनमय है ॥ ७ ॥ तामस-अहङ्काररूप पञ्चतन्मात्राओंसे पञ्चभूत, तैजस (राजस) अहङ्कारसे इन्द्रियाँ और वैकृत (सात्त्विक) अहङ्कारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह[1] देवता प्रकट हुए ॥ ८ ॥ मेरेद्वारा प्रेरित होकर इन समस्त कारण-तत्त्वोंने परस्पर मिलकर मेरा आश्रयरूप यह उत्तम अण्ड बनाया ॥ ९ ॥ जलमें स्थित हो जानेपर उस अण्डमें मैं विराजमान हुआ, मेरी नाभिसे यह विश्व नामका कमल उत्पन्न हुआ और उससे स्वयम्भू ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई ॥ १० ॥ उस विश्वात्मा ब्रह्माने तपस्या की और मेरे अनुग्रहसे रजोगुणद्वारा लोकपालोंसहित भूः (पृथिवी), भुवः (अन्तरिक्ष), स्वः (स्वर्ग)—इन तीनों लोकोंकी रचना की ॥ ११ ॥

---

१. त्रिश्चोभयात्मिका । २. वा । ३. योऽहङ्कारो वि० । ४. तया । ५. सलिलसंस्थिते ।

---

१. पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह देवता हैं । पृष्ठ ७९० की टिप्पणीमें जिनका अधिदैवरूपसे वर्णन किया है उन्हें ही इन्द्रियाधिष्ठाता देवता समझना चाहिये ।

देवानामोक आसीत्स्वर्भूतानां च भुवः पदम् ।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात्परम् ॥१२॥
अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत्प्रभुः ।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ॥१३॥
योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ॥१४॥
मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत् ।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति ॥१५॥
अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति ।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च ॥१६॥
यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन् ।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः ॥१७॥
यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम् ।
आदिरन्तो यदा यस्य तत्सत्यमभिधीयते ॥१८॥
प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः ।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥१९॥
सर्गः प्रवर्तते तावत्पौर्वापर्येण नित्यशः ।
महान्गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम् ॥२०॥

स्वर्लोक देवताओंका निवासस्थान हुआ, भुवर्लोक भूतगणके लिये हुआ और भूर्लोकमें मनुष्य आदि प्राणी रहने लगे तथा सिद्धोंके रहनेके स्थान इन तीनोंसे ऊपर [महर्लोक, तपलोक आदि] हैं ॥ १२ ॥ उस जगत्प्रभु ब्रह्माने असुर और नागोंके लिये इस पृथिवीतलके नीचे अतल, वितल, सुतल आदि सात पाताल बनाये हैं । इन तीनों लोकोंमें त्रिगुणात्मक कर्मोंके अनुसार ही सम्पूर्ण गतियाँ होती हैं ॥१३॥ योग, तप और संन्यासके फलरूपसे महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक आदि उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है; तथा भक्तियोगसे मेरा परमधाम मिलता है ॥१४॥ मुझ कालरूप विधाताकी प्रेरणासे ही यह जगत् कर्मकलापमें पड़ा हुआ गुणोंके प्रवाहमें कभी उतराता और कभी डूबता है । [अर्थात् कभी शुभ कर्मवश उन्नत होता है और कभी पापवश अधोगतिमें पड़ता है] ॥ १५ ॥ अणु (छोटा), बृहत् (बड़ा), कृश (पतला) और स्थूल (मोटा)— जो-जो भी पदार्थ उत्पन्न होता है वह पुरुष और प्रकृति दोनोंसे मिलकर ही बनता है ॥ १६ ॥ जो पदार्थ जिसके आदि और अन्तमें रहता है उसके मध्यमें भी उसीकी सत्ता होती है और वही सत्य भी है, उसके विकार तो केवल व्यवहारके लिये ही होते हैं; जैसे कि सुवर्णके विकार कङ्कणादि और मृत्तिकाके विकार घड़ा आदि ॥ १७ ॥ जब किसी परम उपादान (कारण) के आश्रयसे किसी दूसरे कार्यरूप भावको पूर्व उपादान कारण उत्पन्न करता है, तो जो जिसके आदि और अन्तमें रहता है वही 'सत्य' कहा जाता है* ॥१८॥ इस कार्य-प्रपञ्चका उपादान प्रकृति है, इसका अधिष्ठान परमात्मा है और अभिव्यञ्जक (प्रकट करनेवाला) काल है । ये तीनों शुद्ध ब्रह्मरूप मैं ही हूँ । [क्योंकि मैं ही इन सबका आदि उपादान कारण हूँ] ॥१९॥ जबतक परमात्माकी दृष्टि रहती है और जबतक स्थितिका अन्त (प्रलय) नहीं आता तबतक जीवकृत कर्मोंके फलभोगके लिये पितृ-पुत्र-परम्परासे यह संसार निरन्तर चलता रहता है ॥२०॥

* जिस प्रकार मृत्पिण्ड अपनी उपादानभूत मृत्तिकाके द्वारा ही घटकी उत्पत्ति करता है, अतः घटके आदि और अन्तमें रहनेके कारण मृत्तिका ही सत्य है ।

विराण्मयासाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः ।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥२१॥
अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं[1] धानासु लीयते ।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥२२॥
अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे ।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥२३॥
रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे ।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु ॥२४॥
योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे ।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥२५॥
स लीयते महान्स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः ।
तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत्काले लीयतेऽव्यये ॥२६॥
कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे ।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥२७॥
एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः ।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः ॥२८॥
एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः[2] ।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया ॥२९॥

यह उत्पत्ति-नाशशील संसार जो विराट्रूपसे स्थित है प्रलयकालके आनेपर अपने सातों भुवनोंके सहित पञ्चत्व (नाश) रूप विशेष (विभाग)को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् इसके पञ्चीकृत भूत अपने-अपने कारणमें लीन होने लगते हैं ॥ २१ ॥ उस समय मर्त्य-शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें, भूमि गन्धमें, गन्ध जलमें, जल अपने गुण रसमें, रस तेजमें, तेज रूपमें, रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें तथा आकाश शब्दतन्मात्रामें लीन हो जाता है; और इन्द्रियाँ अपने कारणभूत राजस अहङ्कारमें लीन हो जाती हैं ॥ २२–२४॥ हे सौम्य ! राजस अहङ्कार अपने नियन्ता वैकारिक (सात्त्विक) अहङ्काररूप मनमें, शब्दतन्मात्रा पञ्च-भूतोंके कारणभूत तामस अहङ्कारमें और सम्पूर्ण जगत्को मोहित करनेमें समर्थ [तीनों प्रकारका] अहङ्कार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है ॥ २५ ॥ वह ज्ञान और क्रियाशक्तिसम्पन्न महत्तत्त्व अपने कारण गुणोंमें लीन हो जाता है और गुण अव्यक्त प्रकृतिमें तथा प्रकृति अपने प्रेरक अव्यय कालमें लीन हो जाती है ॥ २६ ॥ काल मायामय जीवमें तथा जीव मुझ अजन्मा आत्मामें लीन हो जाता है । आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित रहता है [उसका किसीमें लय नहीं होता] वह जगत्की सृष्टि और लयका अधिष्ठान तथा अवधिरूप है ॥ २७ ॥ इस प्रकार विचारपूर्वक देखनेवाले पुरुषके चित्तमें यह प्रपञ्च-भ्रम किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? और यदि उसकी स्फूर्ति हो भी जाय तो वह अधिक कालतक हृदयमें ठहर कैसे सकता है ? जिस प्रकार आकाशमण्डलमें सूर्यका उदय होनेपर अन्धकार नहीं ठहर सकता है ॥ २८ ॥ इस प्रकार कार्य-कारणके साक्षी मैंने तुम्हें अनुलोम-प्रतिलोम (सृष्टिसे प्रलय और प्रलयसे सृष्टितकके) क्रमसे संशयरूप हृदयग्रन्थिको खोलनेवाली यह सांख्यविधि बतायी है ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

१. मर्त्योऽन्नं । २. भेषजः ।

पचीसवाँ अध्याय

तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निरूपण ।

श्रीभगवानुवाच

गुणानामसमिश्राणां पुमान्येन यथा भवेत् ।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः ॥ १ ॥
शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः ।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ॥२॥
काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम् ।
मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥ ३ ॥
क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः ।
शोकमोहौ विषादार्ती निद्राशा भीरनुद्यमः ॥ ४ ॥
सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः ।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु ॥ ५ ॥
सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥ ६ ॥
धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥ ७ ॥
प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान्यर्हि गृहाश्रमे ।
स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥ ८ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे नरश्रेष्ठ उद्धव ! अलग-अलग गुणोंमेंसे जिस गुणके कारण पुरुष जैसी प्रकृतिका होता है उसका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ, श्रवण करो ॥ १ ॥ शम, दम, तितिक्षा, विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति (पूर्वापरका विचार रखना), सन्तोष, त्याग, विषयोंमें अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा, दान आदि* तथा आत्मरति [—ये सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं] ॥ २ ॥ इच्छा, प्रयत्न, अभिमान, तृष्णा, गर्व, देवताओंसे धन आदिकी याचना, भेदबुद्धि, विषयसुख, मदजनित उत्साह, अपनी प्रशंसामें प्रेम, हास्य, पुरुषार्थ, बल-(न्याय) पूर्वक उद्योग [—ये रजोगुणसे होते हैं] ॥ ३ ॥ क्रोध, लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, पीडा, निद्रा, आशा, भय और अनुद्योग [—इनका कारण तमोगुण है] ॥ ४ ॥ इस प्रकार क्रमसे यह सत्त्व-गुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियोंका प्रायः पृथक्-पृथक् वर्णन किया; अब उनके मेलसे होनेवाली वृत्तियों-को सुनो ॥ ५ ॥ हे उद्धव ! 'मैं हूँ, मेरा है' इस प्रकारकी बुद्धिमें तीनों गुणोंका समावेश है, [क्योंकि इससे 'मैं शान्त हूँ, मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ'—ऐसा तीनों प्रकारका व्यवहार हो सकता है ।] मन, शब्दादि विषय, इन्द्रियाँ और प्राण इन सबके मेलसे जो व्यवहार होता है उसमें तीनों गुणोंका समावेश होता है ॥ ६ ॥ जब पुरुष धर्म, अर्थ और काममें प्रवृत्त होता है तो यह भी तीनों गुणोंका सन्निपात (मेल) ही है, यह सन्निपात परिणाममें उसे श्रद्धा, रति और धनकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ७ ॥ जिस समय पुरुषकी सकाम कर्मानुष्ठानमें प्रीति हो, गृहस्थाश्रममें आसक्ति हो और अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता हो उस समय उसमें तीनों गुणोंका मेल ही समझना चाहिये ॥ ८ ॥

* यहाँ 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' इस धातुसूत्रके अनुसार दयाशब्दका दान अर्थ समझना चाहिये, अन्यथा पुनरुक्ति होगी । आदि शब्दसे विनय-सरलता आदि गुण जानने चाहिये ।

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥ ९ ॥
यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात्पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥१०॥
यदा आशिष आशास्य मां भजेत[1] स्वकर्मभिः ।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसामाशास्य तामसम् ॥११॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥१२॥
यदेतरौ जयेत्सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् ।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥१३॥
यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम् ।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया ॥१४॥
यदा जयेद्रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम् ।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाशया ॥१५॥
यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः ।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत्सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥१६॥
विकुर्वन्क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम् ।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ॥१७॥
सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम् ।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥१८॥

[इस प्रकार तीनों गुणोंके मेलसे होनेवाली वृत्तियोंको दिखाकर अब उनमेंसे प्रत्येकके प्राधान्यसे पुरुषका जैसा स्वभाव होता है वह बतलाते हैं—] सत्त्वगुणी पुरुषका शम-दमादि गुणोंसे, रजोगुणीका कामादिसे और तमोगुणीका क्रोधादिसे अनुमान करना चाहिये ॥ ९ ॥ जो पुरुष या स्त्री, जिस समय निष्काम होकर अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंद्वारा मेरा भजन करे तब उसे सत्त्वगुणी जानना चाहिये ॥१०॥ जब वह सकामतापूर्वक स्वकर्मोंसे मेरा भजन-पूजन करे तब रजोगुणी और जब हिंसा (शत्रुमारणादि) की इच्छासे मुझे भजे तब तमोगुणी समझे ॥११॥ सत्त्व, रज और तम—ये गुण जीवके हैं, मेरे नहीं; जिनके द्वारा भूतोंमें (शरीर अथवा अन्य भौतिक पदार्थोंमें) आसक्त हो जानेसे जीव बन्धनमें पड़ जाता है ॥१२॥ जिस समय प्रकाशमान, स्वच्छ और शान्त सत्त्वगुण रज और तमको दबाकर बढ़ता है उस समय पुरुष सुख, धर्म और ज्ञानादिसे सम्पन्न हो जाता है ॥१३॥ जिस समय आसक्ति और भेद-बुद्धिका कारण तथा प्रवृत्ति-स्वभाव रजोगुण तम और सत्त्वका पराभव करके बढ़ता है उस समय पुरुष दुःख, कर्म, यश और सम्पत्तिसे युक्त हो जाता है ॥१४॥ तथा जिस समय अज्ञान, आवरण और जडरूप तमोगुण रज और सत्त्वको जीतकर बढ़ता है उस समय पुरुष शोक, मोह, निद्रा, हिंसा और आशासे युक्त हो जाता है ॥१५॥ जब चित्त प्रसन्न हो, इन्द्रियाँ शान्त हों, देह निर्भय हो तथा मन अनासक्त हो तब समझो कि मेरी प्राप्तिके कारणरूप सत्त्वगुणका आविर्भाव हुआ है ॥१६॥ जब पुरुष क्रियासे विकृत हो जाय, बुद्धि चञ्चल हो उठे, ज्ञानेन्द्रियाँ अशान्त हो जायँ, शरीर अस्वस्थ हो और मन भ्रममें पड़ जाय तब रजोगुणकी प्रवृत्ति समझनी चाहिये ॥१७॥ जिस समय ज्ञानेन्द्रिय-जनित ज्ञानके ग्रहणमें असमर्थ और खिन्न होकर चित्त लीन होने लगे, मन शून्यवत् हो जाय तथा अज्ञान और ग्लानिकी वृद्धि हो तब तमोगुणको बढ़ा हुआ समझो ॥१८॥

[1] यजेत ।

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते ।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम् ॥१९॥
सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् ।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ॥२०॥
उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः ।
तमसाधोऽध आमुख्याद्रजसान्तरचारिणः ॥२१॥
सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः ।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः ॥२२॥
मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् ।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥२३॥
कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् ।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥२४॥
वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते ।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥२५॥
सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥२६॥
सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी ।

हे उद्धव ! सत्त्वगुणके बढ़नेपर देवताओंका बल बढ़ता है, रजोगुणके बढ़नेपर असुरोंका और तमोगुणके बढ़नेपर राक्षसोंका बल बढ़ता है ॥१९॥ सत्त्वगुणसे जीवकी जाग्रत्-अवस्था समझनी चाहिये, रजोगुणसे स्वप्न जानना चाहिये और तमोगुणसे सुषुप्ति माननी चाहिये । तथा तुरीय-अवस्था [जो कि शुद्ध और एकरस आत्मा ही है] इन तीनोंमें व्याप्त है ॥२०॥ [ब्रह्म तथा वेदाभ्यासमें तत्पर] ब्राह्मणलोग सत्त्वगुणके द्वारा उत्तरोत्तर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, तमोगुणसे पुरुषोंको स्थावरपर्यन्त अधोगति प्राप्त होती है तथा रजोगुणसे मनुष्य-शरीर मिलता है ॥२१॥ सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय लीन होने (मरने) वाले स्वर्गको, रजोगुणमें लीन होनेवाले मनुष्यलोकको तथा तमोगुणमें लीन होनेवाले नरकको जाते हैं और निर्गुण (त्रिगुणातीत जीवन्मुक्त) पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥२२॥ जो स्वकर्म फलको मेरे अर्पण करके अथवा निष्कामभावसे किया जाता है वह सात्त्विक होता है, फल-प्राप्तिके सङ्कल्पसे किया हुआ कर्म राजस होता है और हिंसा-दम्भादि-युक्त कर्म तामस होता है ॥२३॥ आत्माकी असंगताका ज्ञान सात्त्विक है, उसको कर्ता-भोक्ता जानना राजस है तथा [बालक और गूँगे आदिके समान] साधारण सांसारिक ज्ञान तामस है और मेरे स्वरूपका ज्ञान निर्गुण है ॥२४॥ वनमें रहना सात्त्विक निवास है, ग्राममें रहना राजस कहा जाता है और जूआ-घरका निवास तामस है तथा मेरे स्वरूपमें अथवा मेरे मन्दिरोंमें रहना निर्गुण है ॥२५॥ अनासक्त होकर कर्म करनेवाला सात्त्विक है, रागयुक्त होकर करनेवाला राजस माना गया है और पूर्वापर-विचारसे रहित होकर कर्म करनेवाला तामस है । तथा जो निरहङ्कार और मेरे आश्रित होकर कर्ममें प्रवृत्त होता है वह निर्गुण है ॥ २६ ॥ आत्मज्ञानकी श्रद्धा सात्त्विकी है, कर्मकी श्रद्धा राजसी है और जो श्रद्धा अधर्ममें

१. नरकं ।

तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥२७॥
पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम् ।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि ॥२८॥
सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम् ।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥२९॥
द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः ।
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥३०॥
सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः[1] ।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ ॥३१॥
एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः ।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः ।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥३२॥
तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥३३॥
निःसङ्गो मां भजेद्विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
रजस्तमश्चाभिजयेत्सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥३४॥
सत्त्वं चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः ।
सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ॥३५॥
जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः ।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत् ॥३६॥

होती है वह तामसी है । तथा मेरी सेवा-पूजाकी श्रद्धा निर्गुणा है ॥२७॥ पथ्य, पवित्र और अनायास प्राप्त हुआ आहार सात्त्विक माना गया है, रसनेन्द्रियको रुचिकर राजस होता है तथा दुःखदायी और अपवित्र आहार तामस है ॥२८॥ आत्मासे प्राप्त सुख सात्त्विक है, विषयोंसे प्राप्त राजस है तथा मोह और दीनतासे प्राप्त सुख तामस है और मुझसे प्राप्त होनेवाला सुख निर्गुण है ॥२९॥

इस प्रकार द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, श्रद्धा, अवस्था, क्रिया और निष्ठा—सभी त्रिगुणात्मक हैं ॥३०॥ हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धव ! पुरुष और प्रकृतिसे अधिष्ठित सभी देखे-सुने और बुद्धिद्वारा जाने गये पदार्थ त्रिगुणमय हैं ॥३१॥ हे सौम्य ! पुरुषको यह त्रिगुणमय संसार-बन्धन गुण-कर्मवश प्राप्त होता है । जो जीव इन चित्तजन्य गुणोंको भक्ति-योगद्वारा जीत लेता है, वह मुझमें निष्ठा करनेवाला भक्त मेरे स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ॥ ३२ ॥ अतः ज्ञान-विज्ञान-प्राप्तिके साधनरूप इस मानव-शरीरको पाकर विचारवान् पुरुष गुण-सङ्गका त्याग करके मेरा भजन करें ॥ ३३ ॥ विवेकी और मननशील पुरुषको चाहिये कि सत्त्वगुणके सेवनद्वारा रज और तमका पराभव करके इन्द्रियसंयमपूर्वक आसक्ति और प्रमादको छोड़कर मेरा भजन करे ॥३४॥ और फिर शान्तचित्त तथा निरपेक्ष होकर युक्तिपूर्वक सत्त्वगुणको भी जीते, तदनन्तर गुणोंसे मुक्त जीव अपने जीवत्वको छोड़कर मुझको प्राप्त हो जाता है ॥ ३५ ॥ इस प्रकार जीव लिङ्ग-शरीररूप अपनी उपाधि तथा अन्तःकरणजनित गुणोंसे छूटकर मुझ ब्रह्मकी प्राप्तिसे परिपूर्ण हो जाता है; और फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी प्रकारके विषयोंमें नहीं जाता ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

१. निष्ठिताः ।

छब्बीसवाँ अध्याय

ऐल-गीत।

श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥ १ ॥
गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः[1]।
वर्तमानोऽपि न पुमान्युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥
सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥ ३ ॥
ऐलः[2] सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।
उर्वशीविरहान्मुह्यन्निर्विण्णः शोकसंयमे[3] ॥ ४ ॥
त्यक्त्वात्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः ॥ ५ ॥
कामानतृप्तोऽनुजुषन्क्षुल्लकान्वर्षयामिनीः।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः ॥ ६ ॥

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः ॥ ७ ॥
नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया।
मुषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत ॥ ८ ॥
अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा[4] योषितां कृतः।

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव! मेरे लक्षणोंसे युक्त [अर्थात् मेरे स्वरूप-ज्ञानके साधन] इस मनुष्य-देहको पाकर जो मेरे भागवतधर्मोंमें स्थित रहता है वह अपने अन्तःकरणमें स्थित आनन्दस्वरूप मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १ ॥ ज्ञाननिष्ठाके द्वारा गुणमयी जीवावस्थासे मुक्त होकर यह पुरुष अवास्तविकरूपसे प्रतीत होते हुए मायामात्र गुणोंमें वर्तमान रहता हुआ भी उनके अवास्तविक (मिथ्या) गुणोंसे युक्त नहीं होता ॥ २ ॥ विषयसेवन और पेट-पालनमें ही मस्त रहनेवाले असत्-पुरुषोंका संग कभी न करे; उनका अनुगमन (सङ्ग) करनेवाला पुरुष अन्धेके पीछे जानेवाले अन्धेके समान घोर अन्धकारमें पड़ता है ॥ ३ ॥ महान् यशस्वी, राजराजेश्वर, इला-पुत्र महाराज पुरूरवाने उर्वशीके विरहसे मोहित होकर खेद करते हुए उस शोकका अन्त होनेपर इस प्रकार कहा था ॥ ४ ॥ अपनेको छोड़कर जाती हुई उस उर्वशीके पीछे राजा पुरूरवा व्याकुल होकर उन्मत्तके समान नग्नावस्थामें ही 'अरी! कठोर कामिनी! ठहर जा'—ऐसा कहते और रोते हुए दौड़े ॥ ५ ॥ उर्वशीमें आसक्तचित्त हुए पुरूरवाने क्षुद्र भोगोंको भोगते हुए अतृप्तभावसे वर्षोंतक, रात्रियोंको आते और जाते नहीं जाना ॥ ६ ॥

[वैराग्य होनेपर] **पुरूरवाने कहा**—ओह! मुझ काम-कलुषित चित्तके मोहका कैसा विस्तार है? स्त्रीके गलेमें हाथ डाले रहनेसे मैंने अपनी आयुके इतने दिन और रातोंको जाते हुए नहीं जाना ॥ ७ ॥ इसके मोहमें पड़कर मैंने यह भी नहीं जाना कि कब तो सूर्य उदय हुआ और कब अस्त! और न इसीका पता चला कि इतने वर्षोंके दिन कैसे निकल गये ॥ ८ ॥ ओह! मेरा कैसा भारी मोह है! जिसके कारण राजशिरोमणि और चक्रवर्ती होकर

१. ष्ववस्थितः। २. ऐडः। ३. शोकसंगरे। ४. यदसौ।

क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः ॥ ९ ॥
सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम् ।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद्रुदन् ॥१०॥
कुतस्तस्यानुभावः स्यात्तेज ईशत्वमेव वा ।
योऽन्वगच्छत्स्त्रियं यान्तीं खरवत्पादताडितः ॥११॥
किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥१२॥
स्वार्थस्याकोविदं धिङ् मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥१३॥
सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम् ।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥१४॥
पुंश्चल्यापहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥१५॥
बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः ॥१६॥
किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।
रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥१७॥
क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः॥१८॥
पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः ।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥१९॥
तस्मिन्कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।

भी मैंने अपनेको स्त्रीका क्रीडामृग (पालतू पशु अथवा पक्षी) बना दिया ॥ ९ ॥ राजपाटके सहित मुझ अपने स्वामीको तिनकेके समान त्यागकर जाती हुई स्त्रीके पीछे मैं उन्मत्तके समान नंगा और रोता हुआ चल दिया ! ॥ १० ॥ गधेकी तरह लात खाता हुआ भी जो पुरुष अपनेको त्यागकर जाती हुई स्त्रीके पीछे दौड़ा गया, उसका प्रभाव, तेज और स्वामित्व कहाँ ठहर सकता है ? ॥ ११ ॥ जिसका मन स्त्रियोंने चुरा लिया उसको विद्या, तप, दान, शास्त्राभ्यास, एकान्त-सेवन और मौन आदिसे क्या लाभ हुआ ? ॥ १२ ॥ अपने भले-बुरेको न जाननेवाले, पाण्डित्याभिमानी मुझ मूर्खको धिक्कार है ! जो राज-पद पाकर भी बैल और गधेके समान स्त्रियोंके वशीभूत हो गया ॥ १३ ॥ मैंने वर्षोंतक उर्वशीके अधर-रसका पान किया तथापि अग्नि जैसे आहुतियोंसे तृप्त नहीं होता वैसे ही मनसे उत्पन्न होनेवाली मेरी काम-वासना शान्त नहीं हुई ॥ १४ ॥ आत्माराम मुनियोंके प्रभु भगवान् अधोक्षजको छोड़कर कुलटाके [कटाक्षों] द्वारा चुराये गये चित्तको छुड़ानेमें अन्य कौन समर्थ है ? ॥ १५ ॥ उर्वशीने सत्य और सुन्दर वचन कह-कहकर मुझे समझाया भी तथापि मुझ अजितेन्द्रिय और दुर्मतिके मनका महामोह दूर नहीं होता ॥ १६ ॥ अथवा रज्जुके स्वरूपको न जाननेवाले बल्कि उसे सर्प समझनेवाले पुरुषका जिस प्रकार रज्जु कोई अपकार नहीं करती उसी प्रकार यदि मैं इन्द्रियोंको नहीं जीत सका तो इसमें उस (उर्वशी) ने मेरा क्या अपराध किया ? [यह तो सारा मेरा ही दोष है] ॥ १७ ॥ कहाँ तो यह अति मलिन और दुर्गन्ध आदिसे पूर्ण स्त्रीका अपवित्र शरीर और कहाँ सौहार्द-प्रेम आदि दिव्य गुण ? अविद्यासे ही इनका ऐसे शरीरमें अध्यास हो रहा है ॥ १८ ॥ यह शरीर क्या माता-पिताका धन है अथवा स्त्री, स्वामी, अग्नि, कुत्ते और गृध्रोंमेंसे किसीका है ? क्या यह अपना है या बन्धुओंका—इस प्रकार जिसके विषयमें कुछ भी निश्चय ही नहीं होता ॥ १९ ॥ ऐसे अपवित्र और अन्तमें घृणित दशाको प्राप्त होनेवाले शरीरमें भी

अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः ॥२०॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥२१॥
अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥२२॥
अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते ।
असम्प्रयुञ्जतः प्राणाञ्छाम्यति स्तिमितं मनः ॥२३॥
तस्मात्सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।
विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम्॥२४॥

'अहो, इस स्त्रीका मनोहर मुखारविन्द कैसी सुन्दर नासिका और मनोहर मुसकानसे युक्त है ?' ऐसी भावना करके मनुष्य आसक्त हो जाता है ? [यह कैसा अद्भुत मोह है !] ॥ २० ॥ त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु (नस), मेद, मज्जा और अस्थियोंके समूहरूप इस देहमें आसक्त पुरुषों और अति अपवित्र मल-मूत्रमें सुख माननेवाले कीड़ोंमें भला कितना अन्तर है ? ॥ २१ ॥ इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाला विवेकी पुरुष, स्त्री और स्त्रीलम्पटोंमें कभी आसक्त न हो, क्योंकि विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है; और किसी कारणसे नहीं ॥ २२ ॥ जो विषय कभी देखे या सुने नहीं होते उनसे चित्तमें उनकी वासना भी नहीं उठती, इसीलिये इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग न होने देनेवाले पुरुषका चित्त शिथिल होकर शान्त और स्थिर हो जाता है ॥ २३ ॥ अतएव इन्द्रियोंके द्वारा भी कभी स्त्री और स्त्रीलम्पटोंका सङ्ग न करना चाहिये । मनसहित इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका विश्वास तो विवेकी और बुद्धिसम्पन्न पुरुषोंको भी न करना चाहिये, फिर मुझ-जैसे कामान्ध और अज्ञानीकी तो बात ही क्या है ? ॥ २४ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन्नरदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय ।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥२५॥

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥२६॥
सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥२७॥
तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥२८॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! इस प्रकार कहता हुआ वह राजाधिराज पुरूरवा उर्वशीलोकको छोड़कर चला आया और अपने अन्तःकरणमें आत्मारूपसे स्थित मुझ परमात्माको जानकर तथा उस आत्मज्ञानसे मोहरहित होकर उपरत (शान्त) हो गया ॥ २५ ॥ इसलिये बुद्धिमान् पुरुष कुसंग छोड़कर सत्पुरुषोंमें अनुराग बढ़ावे, इससे वे सन्तजन अपने सदुपदेशोंसे उसके मनकी विषयासक्तिको छिन्न-भिन्न कर देंगे ॥२६॥ सन्तजन सदा निष्काम, मुझमें ही चित्त लगानेवाले, अत्यन्त शान्त, समदर्शी, ममताशून्य, अहङ्काररहित, द्वन्द्वहीन और अकिञ्चन होते हैं॥ २७ ॥ हे महाभाग उद्धवजी ! उन परम सौभाग्यवान् सन्तजनोंमें परस्पर नित्य मेरी कथा-वार्ता हुआ करती हैं, जो मनुष्योंके लिये हितकारिणी हैं और [श्रवणादिद्वारा] अपना सेवन करनेवाले लोगोंके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देती हैं ॥२८॥

१. सुमुखं । २. विण्मूत्रपूयैः ।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥२९॥
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥३०॥
यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा ॥३१॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥३२॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्[1] ॥३३॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः ।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥३४॥
वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिःस्पृहः ।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥३५॥

जो लोग मुझमें चित्त लगाकर श्रद्धा और आदरसहित उन कथाओंको सुनते, कहते और अनुमोदन करते हैं वे मुझमें अनन्यभक्ति प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥ मुझ अनन्त-गुण-सम्पन्न आनन्दानुभवस्वरूप परब्रह्ममें भक्ति प्राप्त कर लेनेवाले साधु पुरुषको और क्या पाना शेष रह जाता है ? ॥३०॥ जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेवाले पुरुषके शीत, भय और अन्धकार—तीनोंकी निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार साधु पुरुषोंका सेवन करनेसे पाप, संसारभय और अज्ञानादि कोई नहीं रहते ॥ ३१ ॥ इस भयङ्कर संसार-सागरमें डूबने-उतराने (नीची-ऊँची योनियोंमें जन्म लेने) वाले पुरुषोंके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्तचित्त साधुजन ही परम अवलम्ब हैं, जैसे जलमें डूबते हुओंके लिये नौका ॥३२॥ जैसे अन्न ही देहधारियोंका जीवन है, मैं ही दीन-दुखियोंका सहारा हूँ तथा परलोकमें जैसे धर्म ही मनुष्यका धन होता है, उसी प्रकार संसारसे भयभीत पुरुषोंके लिये सन्तजन ही परम आश्रय होते हैं ॥ ३३ ॥ आकाशमण्डलमें उदय हुआ सूर्य मनुष्यको केवल बाह्य नेत्र देता है, किन्तु सन्तजन उसे ज्ञानरूपी आन्तरिक नेत्र देते हैं । अतः सन्तजन देवता और बन्धुरूप हैं तथा वे सबके आत्मा और साक्षात् मेरे स्वरूप ही हैं ॥ ३४ ॥ हे उद्धव ! इस प्रकार उसी क्षणसे उर्वशीके देखनेकी इच्छा छोड़कर सुद्युम्ननन्दन राजा पुरूरवा अनासक्त और आत्माराम होकर इस पृथिवीतलपर विचरने लगा ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

[1] परम् ।

सत्ताईसवाँ अध्याय

क्रियायोगका वर्णन ।

उद्धव उवाच

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो ।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ ॥ १ ॥
एतद्वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम् ।
नारदो भगवान्व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः ॥ २ ॥
निःसृतं ते मुखाम्भोजाद्यदाह भगवानजः ।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान्भवः ॥ ३ ॥
एतद्वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम् ।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद ॥ ४ ॥
एतत्कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम् ।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥ ५ ॥

उद्धवजी बोले—हे सात्वतश्रेष्ठ प्रभो ! भक्तजन आपके जिस विग्रहमें जिस प्रकार आपकी उपासना करते हैं वह अपना आराधनरूप क्रियायोग आप मुझसे कहिये ॥ १ ॥ नारद, भगवान् व्यासदेव तथा अङ्गिराके पुत्र आचार्य बृहस्पति आदि मुनिगण आपके इस क्रियायोगको ही बारम्बार मनुष्योंके परम कल्याणका साधन बतलाते हैं ॥ २ ॥ आपके मुखारविन्दसे ही निकले हुए इस क्रियायोगको पहले ब्रह्माजीने अपने पुत्र भृगु आदिको और भगवान् शङ्करने पार्वतीजीको सुनाया था ॥ ३ ॥ हे मानद ! यह क्रियायोग समस्त वर्ण और आश्रमोंको अभिमत है तथा मैं इसे स्त्री और शूद्रादिके लिये भी परम कल्याणकारी समझता हूँ ॥ ४ ॥ हे कमलदललोचन ! हे जगदीश्वरोंके भी ईश्वर ! इस कर्मबन्धनके छुड़ानेवाले परम धर्मका आप अपने अनुरक्त भक्त मुझसे वर्णन कीजिये ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव ।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६ ॥
वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥ ७ ॥
यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः ।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥ ८ ॥
अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये[२] वाप्सु हृदि द्विजे ।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत्स्वगुरुं माममायया ॥ ९ ॥
पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये ।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना ॥१०॥
सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेना[३]चोदितानि मे ।
पूजां तैः कल्पयेत्सम्यक्सङ्कल्पः कर्मपावनीम् ॥११॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! इस अनन्तपार कर्मकाण्डका कोई अन्त नहीं है; अतः पूर्वापरक्रमसे मैं संक्षेपमें ही उसका वर्णन करता हूँ ॥ ६ ॥ मेरी पूजाकी वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र तीन विधियाँ हैं, इन तीनोंमेंसे जो भी अपनेको अनुकूल जान पड़े उसीसे मेरी उपासना करे ॥ ७ ॥ शास्त्रोक्त विधिसे यथासमय यज्ञोपवीत-संस्कारद्वारा द्विजत्व प्राप्त करके पुरुषको जिस प्रकार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिये वह तुम मुझसे सुनो ॥ ८ ॥ उपासकको उचित है कि निष्कपट-भावसे प्रतिमा, चबूतरा, अग्नि, सूर्य, जल, हृदय अथवा ब्राह्मणमें भक्तिपूर्वक यथोचित सामग्रीसे अपने गुरुरूप मेरी पूजा करे ॥ ९ ॥ प्रथम दन्तधावन करके शरीर-शुद्धिके लिये वैदिक अथवा तान्त्रिक मन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ मृत्तिकादि लगाकर स्नान करे ॥१०॥ सन्ध्यो-पासनादि कर्मोंका वेदने विधान किया है; अतः सत्य-सङ्कल्प पुरुषको चाहिये कि उनके द्वारा कर्मोंको पवित्र (कल्याण-साधक) बनानेवाली मेरी पूजा करे ॥११॥

१. यैतन्नि० । २. सूर्येऽप्सु हृदि वा द्विजः । ३. वेदमन्त्रोदितानि ।

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥१२॥
चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ॥१३॥
अस्थिरायां विकल्पः स्यात्स्थण्डिले तु भवेद्‌द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥१४॥
द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥१५॥
स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव[1] तूद्धव ।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः ॥१६॥
सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ॥१७॥
[2]भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ॥१८॥
शुचिः सम्भृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः ।
आसीनः प्रागुदग्वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः ॥१९॥
कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिना मृजेत् ।
कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत् ॥२०॥

मेरी प्रतिमा आठ प्रकारकी बतलायी गयी है—पत्थरकी, काष्ठकी, [लोहा-सोना-चाँदी आदि] धातुकी, चन्दनादि लेपकी, चित्रित की हुई, बालुकामयी, मनोमयी तथा मणिमयी ॥१२॥ विधिवत् प्राण-प्रतिष्ठा की हुई भगवान्‌की निवासस्थानरूप प्रतिमा चल और अचल दो प्रकारकी होती है । हे उद्धव ! स्थिर प्रतिमाके पूजनमें आवाहन अथवा विसर्जन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, अस्थिर प्रतिमामें चाहे करे चाहे न करे, परन्तु बालुकामयी प्रतिमामें आवाहन तथा विसर्जन दोनोंका करना आवश्यक है । लेपमयी और चित्रित प्रतिमाओंका केवल मार्जन करे, परन्तु और सबको स्नान करावे ॥१३-१४॥ भक्तको चाहिये कि जो सामग्री मिल जाय उसीसे निष्कपट होकर श्रद्धासहित मेरी प्रतिमाकी पूजा करे, अथवा अपने हृदयमें ही मनोमयी सामग्रीसे मानसिक उपासना करे ॥१५॥ हे उद्धव ! स्नान और वस्त्रालङ्कार तो [धातु अथवा पाषाण आदि-की] प्रतिमाके पूजनमें ही उपयोगी हैं, बालुकामयीमें मन्त्रोंद्वारा अङ्ग और प्रधान देवताओंकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये तथा अग्निमें घृत-मिश्रित शाकल्यादिसे उपासना करनी चाहिये ॥१६॥ सूर्यकी उपासनामें अर्घ्यदान करना उत्तम है तथा जलमें तर्पणादिसे मेरी उपासना करनी चाहिये । मेरे भक्तद्वारा श्रद्धापूर्वक दिया हुआ तो जल भी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥ भक्तहीन पुरुषके द्वारा समर्पित तो बहुमूल्य सामग्री भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती, फिर चन्दन, धूप, दीप, पुष्प और नैवेद्यादिकी तो बात ही क्या है ? ॥१८॥ स्नानादिसे पवित्र होकर पूजन-सामग्री एकत्र कर पूर्वकी ओर अग्रभाग करके बिछाये हुए कुशासनपर पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा यदि स्थिर प्रतिमा हो तो उसके सम्मुख बैठकर पूजन करे ॥१९॥ फिर विधिवत् करन्यास और अङ्गन्यास करके प्रतिमामें मन्त्रन्यास करे और हाथसे प्रतिमाका निर्माल्य (पूर्वसमर्पित सामग्री) हटाकर उसका मार्जन करे; तथा कलश और प्रोक्षणीपात्रका यथावत् संस्कार करे ॥२०॥

---

१. मेतद्धुद्धव । २. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च ।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत्॥२१॥
पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि दैशिकः ।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्॥२२॥
पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम ।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम्॥२३॥
तयात्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः ।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत्॥२४॥
पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान्प्रकल्पयेत् ।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वासनं मम ॥२५॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् ।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥२६॥
सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान् ।
मुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत् ॥२७॥
नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च ।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम् ॥२८॥
दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून्सुरान् ।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान्पूजयेत्प्रोक्षणादिभिः॥२९॥
चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥३०॥

तदनन्तर पूजा करनेवालेको चाहिये कि उस जलसे पूजा-स्थान, सामग्री और अपने शरीरका प्रोक्षण करे तथा पाद्य, अर्घ्य और आचमनके लिये तीन पात्रोंमें जल भरकर उनमें यथायोग्य शास्त्रविहित सामग्री डाले; [अर्थात् पाद्यपात्रमें श्यामाक, दूब, विष्णुक्रान्ता (वाराही-कन्द या गेंठी) और तुलसीदल आदि; अर्घ्यपात्रमें गन्ध, पुष्प, यव, कुश, तिल, सरसों और दूब—ये सब वस्तुएँ तथा आचमनपात्रमें जायफल, लवङ्ग आदि डाले] और फिर उन्हें क्रमशः हृन्मन्त्र, शिरोमन्त्र और शिखामन्त्रसे अभिमन्त्रित कर अन्तमें केवल गायत्रीमन्त्रसे अभिमन्त्रित करे ॥२१-२२॥ फिर प्राणवायु और जठराग्निसे शुद्ध हुए शरीरके भीतर हृदयकमलमें रहनेवाली मेरी जिस परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ जीवकलाकी सिद्धगण नादके अन्तमें[1] भावना करते हैं उसका ध्यान करे ॥२३॥ उस आत्मभूत जीवकलाके द्वारा व्याप्त पिण्डमें पहले मानसिक उपचारोंसे मेरी पूजा करे। फिर तन्मयभावसे आवाहन करके मुझे प्रतिमादिमें स्थापित करे और मन्त्रोंद्वारा अङ्गन्यास करके उसमें मेरा पूजन करे ॥२४॥ धर्म आदि नव-शक्तियोंसे[2] युक्त मेरे आसनकी कल्पना करे और उसमें अत्यन्त उज्ज्वल कर्णिका और केसरोंसहित अष्टदलकमलकी भावना करे तथा पाद्य, आचमनीय और अर्घ्य आदि उपचार प्रस्तुत कर भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये वैदिक तथा तान्त्रिक विधिसे मेरा पूजन करे ॥२५-२६॥ फिर सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्यशङ्ख, गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मुसल, कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा श्रीवत्स-चिह्नकी यथास्थान स्थापना करके उनकी पूजा करे ॥२७॥ तदनन्तर नन्द, सुनन्द, गरुड, चण्ड, प्रचण्ड, बल, महाबल, कुमुद, कुमुदेक्षण, दुर्गा, विनायक, व्यास, विष्वक्सेन, गुरुगण तथा देवगणको अपने-अपने स्थानमें स्थापित करके उनका प्रोक्षण आदि क्रमसे पूजन करे ॥२८-२९॥ यदि सामर्थ्य हो तो नित्यप्रति चन्दन, उशीर (खस), कर्पूर, कुङ्कुम और अगुरुद्वारा सुगन्धित जलसे स्वर्ण-

१. ओङ्कारकी पाँच कलाएँ हैं–अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद। इसके पश्चात् परात्पर ब्रह्म है।

२. इस आसनरूप पर्यङ्कके अग्निकोण आदि कोणोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—ये चार पाद हैं। अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य–ये पूर्वादि दिशाओंमें गात्र (डंडे) हैं तथा त्रिगुण पृष्ठभाग है। इनमें विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा–ये नौ शक्तियाँ हैं।

स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया ।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥३१॥
वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥३२॥
पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् ।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः ॥३३॥
गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥३४॥
अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यादि[1] पर्वणि स्युरुतान्वहम् ॥३५॥
विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः ।
अग्निमाधाय परितः समूहेत्पाणिनोदितम् ॥३६॥
परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि ।
प्रोक्षण्यासाद्य[2] द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम् ।३७।
तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम् ॥३८॥
स्फुरत्किरीटकटक[3]कटिसूत्रवराङ्गदम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥३९॥
ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषा[4]भिघृतानि च ।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं[5] हविः ॥४०॥
जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चावदानतः ।

घर्मानुवाक, महापुरुषविद्या, पुरुषसूक्त तथा सामवेदोक्त राजनादि मन्त्रोंका पाठ करता हुआ मुझको स्नान करावे ॥ ३०-३१ ॥ वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पत्र, माला, गन्ध और चन्दनादिसे मेरा भक्त यथोचित रीतिसे प्रेमपूर्वक मेरा श्रृङ्गार करे ॥३२॥ उपासकको उचित है कि श्रद्धापूर्वक पाद्य, आचमन, गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप और दीप आदि मुझको निवेदन करे ॥३३॥ और हो सके तो गुड़, खीर, घृत, पूरी, पूए, लड्डू, हलुआ, दही और दाल आदि विविध व्यञ्जनोंका नैवेद्य (भोग) समर्पण करे ॥३४॥ [शक्तिके अनुसार] नित्यप्रति, अथवा पर्व-दिनोंपर सुगन्धित तैल, उबटन, दर्पण, दन्तधावन, अभिषेक, भाँति-भाँतिके भोज्य एवं भक्ष्य पदार्थ तथा नृत्य, वाद्य और गान आदिसे मेरा उत्सव मनावे ॥३५॥ मेखला, गर्त और वेदीसे युक्त विधिविहित अग्निकुण्डमें अग्नि स्थापित करे और अपने हाथकी हवासे उसे प्रज्वलित करके एकत्रित करे ॥३६॥ फिर वेदीके चारों ओर कुशा बिछाकर उनका प्रोक्षण करे तथा विधिपूर्वक [समिधाओंका आधानरूप] अन्वाधानकर्म कर [अग्निके उत्तर-भागमें] होमोपयोगी सामग्री रख उसका प्रोक्षणीपात्रसे प्रोक्षण करे और अग्निमें मेरा [इस प्रकार] ध्यान करे ॥३७॥ जो तप्त सुवर्णके समान तेजोमय है, जिसकी चारों भुजाएँ शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे सुशोभित हैं, जो शान्त है तथा कमल-केसरके समान जिसके पीत वस्त्र हैं, जिसके दिव्य अङ्गोंमें यथास्थान किरीट, कङ्कण, करधनी और भुजबन्द झिलमिला रहे हैं तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्स, कान्तिमान् कौस्तुभमणि और वनमाला सुशोभित होती हैं, ऐसे मेरे रूपका ध्यान और पूजा कर घृतमें भीगी हुई समिधाओंकी आहुति दे और फिर आघार[1] और आज्यभाग नामकी दो-दो घृताहुतियाँ देकर घृतसे भीगे हुए शाकल्यकी आहुतियाँ दे ॥३८–४०॥ तदनन्तर मूलमन्त्र[2]से तथा पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंमेंसे प्रत्येकके द्वारा आहुति छोड़ता हुआ

१. अन्नादि गीतनृत्यादिं मत्पर्वणि यथार्हतः । २. प्रोक्ष्याद्भिराज्यद्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नावावहेत माम् । ३. मुकुट० । ४. हविष्याणि घृतानि च । ५. चाज्याप्लुतं ।

१. 'प्रजापतये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा' ये आघाराहुतियाँ हैं, तथा 'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा' ये आज्यभागाहुतियाँ हैं।
२. 'ॐ नमो नारायणाय' यह आठ अक्षरोंका मन्त्र मूलमन्त्र कहलाता है। अथवा आराधनाके पक्षमें पुरुषसूक्त ही मूलमन्त्र है।

धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टकृतं बुधः ॥४१॥

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत् ।

मूलमन्त्रं जपेद्ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥४२॥

दत्त्वाचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत् ।

मुखवासं सुरभिमत्ताम्बूलाद्यमथार्हयेत् ॥४३॥

उपगायन् गृणन्नृत्यन्कर्माण्यभिनयन्मम ।

मत्कथाः श्रावयञ्छृण्वन्मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥४४॥

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।

स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥४५॥

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।

प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥४६॥

इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् ।

उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत्पुनः ॥४७॥

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ।

सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥४८॥

एवं क्रियायोगपथैः पुमान्वैदिकतान्त्रिकैः ।

अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥४९॥

मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम् ।

पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान् ॥५०॥

पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम् ।

बुद्धिमान् उपासक पूजन-क्रमसे धर्मादि देवताओंके लिये मन्त्रोंद्वारा आहुति दे और स्विष्टकृत् हवन भी करे ॥४१॥

इस प्रकार पूजा और नमस्कार करके [नन्द-सुनन्दादि] पार्षदोंको बलि प्रदान करे और भगवान्‌का स्मरण करता हुआ भगवत्स्वरूप मूलमन्त्रका जप करे ॥४२॥ फिर भगवान्‌को आचमन कराकर उनका प्रसाद विष्वक्सेनको निवेदन करे तथा सुगन्धित ताम्बूल और मुखवास अर्पणकर अन्तमें पुनः पुष्पाञ्जलि-द्वारा पूजन करे ॥ ४३ ॥ मेरे कर्मोंका गान, कथन और अभिनय करता हुआ, प्रेमोन्मत्त होकर नाचता हुआ, मेरी कथाओंको सुनता और सुनाता हुआ एक मुहूर्तके लिये अवकाश ग्रहण करे ॥४४॥ पुराणोंके अथवा सर्वसाधारणमें प्रचलित नाना प्रकारके छोटे-बड़े स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करके कहे कि 'हे प्रभो, प्रसन्न होइये' और फिर दण्डकी भाँति पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम करे ॥४५॥ अपना शिर मेरे चरणोंमें रक्खे और अपने दोनों हाथोंसे—दायेंसे दायाँ और बायेंसे बायाँ—मेरे दोनों चरण पकड़कर कहे कि 'हे प्रभो ! मृत्युरूप ग्राहसे युक्त इस संसार-सागरसे डरे हुए मुझ शरणागतकी आप रक्षा कीजिये' ॥ ४६ ॥ इस प्रकार स्तुति कर मुझे समर्पण की हुई मालाको प्रसादरूपसे आदरपूर्वक अपने मस्तकपर रक्खे और यदि विसर्जन करना हो तो प्रतिमामें स्थापित ज्योतिको हृदयस्थ ज्योतिमें लीन करनारूप विसर्जन करे ॥४७॥ प्रतिमादिमें जिस समय और जहाँ उपासककी श्रद्धा हो तब और उसीमें मेरी उपासना करे, क्योंकि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें और अपने स्वरूपमें सर्वात्मभावसे विराजमान हूँ ॥४८॥

इस प्रकार वैदिक और तान्त्रिक क्रियायोगकी विधिसे उपासक मेरा पूजन करके लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारकी अभीष्ट सिद्धियाँ मेरेद्वारा पाता है ॥४९॥ उपासकको उचित है कि यदि शक्ति हो तो मेरी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करके सुदृढ़ देवालय बनवावे, सुन्दर पुष्पोद्यान लगवा दे और मेरी नैत्यिक पूजा, पर्वदिनोंपर विशेष यात्रा तथा वसन्त-महोत्सवादिके लिये क्षेत्र आदिका प्रबन्ध कर दे ॥५०॥ बड़े पर्वदिनोंपर अथवा नित्यप्रति पूजा और उत्सव आदि चालू रहनेके लिये

क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात् ॥५१॥
प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥५२॥
मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति ।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् ॥५३॥
यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः ।
वृत्तिं स जायते विड्भुग्वर्षाणामयुतायुतम् ॥५४॥
कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च ।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम् ॥५५॥

क्षेत्र, हाट (बाजार), पुर अथवा ग्रामके देनेसे दाताको मेरे समान ऐश्वर्य मिलता है ॥५१॥ प्रतिमा-प्रतिष्ठा करनेसे सार्वभौम राज्य, देवालय बनवानेसे त्रिलोकीका आधिपत्य (इन्द्रपद), पूजादि करनेसे ब्रह्मलोक और तीनों कर्म करनेसे मेरी समानताकी प्राप्ति होती है ॥५२॥ निष्काम भक्तियोगसे भक्त मुझे ही प्राप्त कर लेता है और जो कोई उपर्युक्त विधिसे मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्ति-योग प्राप्त होता है ॥५३॥ जो कोई अपनी दी हुई अथवा किसी औरकी दी हुई ब्राह्मण या देवताकी वृत्तिको हर लेता है वह लाख वर्षतक विष्ठाका कीड़ा होता है ॥५४॥ वृत्तिहरण आदि अनुचित कर्मका करनेवाला, सहायक, प्रेरक और अनुमोदक—ये चारों मरनेके अनन्तर उस कर्मके समान फलके भागी होते हैं और अधिक [सहायता, प्रेरणा तथा अनुमोदनरूप] कर्मका फल भी अधिक ही होता है ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अट्ठाईसवाँ अध्याय

परमार्थ-निरूपण ।

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १ ॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥ २ ॥
तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः ।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक्पुमान् ॥ ३ ॥
किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् ।

श्रीभगवान् बोले-हे उद्धव ! विचारवान् पुरुषको चाहिये कि प्रकृति और पुरुषके सहित इस विश्वको एकात्मक देखता हुआ किसीके स्वभाव अथवा कर्मकी न तो प्रशंसा ही करे और न निन्दा ही ॥ १ ॥ जो कोई दूसरोंके स्वभाव या कर्मोंकी स्तुति या निन्दा करता है वह असत् [द्वैत-प्रपञ्च] में अभिनिवेश (सत्यत्वबुद्धि) हो जानेसे शीघ्र ही परमार्थ-साधनसे पतित हो जाता है ॥ २ ॥ राजस अहङ्कारके कार्यरूप इन्द्रियोंके निद्राग्रस्त होनेपर शरीरस्थ जीव चेतनाशून्य होकर स्वप्नरूप माया अथवा सुषुप्तिरूप मृत्युको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार भेददर्शी पुरुष विक्षेप या लयको प्राप्त होकर स्वार्थ-साधनसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥ इस असत् द्वैतमें शुभ अथवा अशुभ क्या है ? और कितना है ? जो

१. क्रियायोगेन । २. यामाप्नोति ।

वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥ ४ ॥
छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः ।
एवं देहादयो भावा यच्छन्त्या मृत्युतो भयम् ॥ ५ ॥
आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥ ६ ॥
तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः ।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि ।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥ ७ ॥
एतद्विद्वान्मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम् ।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत् ॥ ८ ॥
प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा ।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह ॥ ९ ॥

कुछ वाणीसे कहा जाता अथवा मनसे चिन्तन किया जाता है वह सभी तो मिथ्या है ॥ ४ ॥ छाया, प्रतिध्वनि और आभास असत् होकर भी [सत्यवत् भासनेसे] जैसे कार्यकारी होते हैं, उसी प्रकार देह आदि उपाधियाँ भी मृत्युपर्यन्त नाना प्रकारसे भय देती रहती हैं ॥ ५ ॥ वह आत्मा ही यह विश्व है । वह प्रभु आत्मा ही [विश्वरूपसे] रचा जाता और [स्रष्टारूपसे] रचता है, वह विश्वात्मा ही रक्षित होता और रक्षा करता है तथा वह ईश्वर ही संहृत होता और संहार करता है ॥ ६ ॥ इसलिये आत्मासे भिन्न प्रतीत होनेवाले सारे भाव आत्मासे भिन्न किसी अन्य पदार्थद्वारा निरूपित नहीं हैं । आत्मामें यह [आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक] तीन प्रकारकी प्रतीति अकारण ही देखी गयी है । इस त्रिविध प्रतीतिको मायाकृत और गुणमयी ही समझो ॥ ७ ॥ इस प्रकार मेरी कही हुई ज्ञान-विज्ञानकी प्रवीणताको जानकर पुरुष लोकमें न किसीकी स्तुति करता है और न निन्दा ही । वह तो सूर्यके समान निर्लिप्त रहकर समानभावसे सर्वत्र विचरता रहता है ॥ ८ ॥ इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और अपने अनुभवसे इन अनात्म-पदार्थोंको आदि-अन्त-युक्त और असत् जानकर संसारमें असङ्ग होकर विचरे ॥ ९ ॥

उद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः ।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते ॥ १० ॥
आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः ।
अग्निवद्दारुवदचिद्देहः[2] कस्येह संसृतिः ॥ ११ ॥
यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् ।
संसारः[3] फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥ १२ ॥

उद्धवजी बोले—हे प्रभो ! यह प्रतीत होता हुआ प्रपञ्च न तो साक्षी आत्मामें है और न दृश्य देहमें ही; क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश है और देह जड है । तो फिर इसकी उपलब्धि किसको होती है ? ॥ १० ॥ आत्मा तो अग्निके समान अव्यय, निर्गुण, शुद्ध, स्वयंप्रकाश और अनावृत है तथा देह काष्ठवत् जड है; फिर यह संसार किसमें है ? [सो आप कहिये ।] ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! संसार सर्वथा असत् है, तथापि जबतक अविवेकी पुरुषका शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मनसे सम्बन्ध रहता है तबतक उसको यह सुख-दुःखरूप फलका देनेवाला होता है ॥ १२ ॥

१. मतिरा० । २. अग्निवद्दारुवद्देहः कस्य ह्या कस्य संसृतिः । ३. संसारफलवान् ।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य[1] स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥१३॥
यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥१४॥
शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च[2] नात्मनः ॥१५॥
देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः
संसार आधावति कालतन्त्रः ॥१६॥
अमूलमेतद्बहुरूपरूपितं
मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन-
च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः ॥१७॥
ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥१८॥
यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्ता-
त्पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥१९॥
विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ ।

स्वप्नमें प्राप्त हुए अनर्थके समान अत्यन्त असत् होते हुए भी, जो पुरुष इसके विषयोंका चिन्तन करता रहता है उससे यह संसार निवृत्त नहीं होता ॥१३॥ सोये हुए मनुष्यको जैसे स्वप्नावस्था बहुत-से अनर्थोंकी प्राप्ति करानेवाली होती है किन्तु जाग पड़नेपर फिर उसे उस (स्वप्नावस्था) से कोई मोह नहीं होता [उसी प्रकार अज्ञानावस्थामें मनुष्यको देहादि असत् पदार्थोंसे भय लगा रहता है, ज्ञानोदय हो जानेपर उसे कोई भय नहीं रहता ।] ॥ १४ ॥ शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह और स्पृहा (इच्छा) आदि तथा जन्म और मृत्यु—ये सब अज्ञानजनित अहङ्कारमें ही होते हैं, शुद्ध आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १५ ॥ देह, इन्द्रिय, प्राण और मन आदिका अभिमानी अन्तःकरण ही जीव है, वह गुण और कर्ममयी मूर्तिवाला है । उसीका सूत्र अथवा महान् आदि अनेक नामोंसे वर्णन किया गया है, वही कालाधीन होकर संसारमें ऊँच-नीच योनियोंमें जाता-आता है ॥ १६ ॥ अनेक रूपसे प्रतीत होनेवाले किन्तु निर्मूल मन, वाणी, प्राण, शरीर और कर्म आदिको गुरुकी उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किये हुए ज्ञान-खड्गसे काटकर मुनि तृष्णाहीन होकर पृथ्वीपर विचरता है ॥ १७ ॥ 'इस संसारके आदि और अन्तमें जो तत्त्व है मध्यमें भी केवल वही इसके प्रकाशक और उपादान-कारणरूपसे स्थित है'—इस प्रकारका विवेक ही ज्ञान है; तथा इसके निश्चयके निगम (वेद), तप (स्वधर्म), प्रत्यक्ष (अपना अनुभव), ऐतिह्य (उपदेश) और अनुमानादि प्रमाण साधन हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार सोनेकी वस्तुओंके बननेसे पूर्व और पश्चात् सोना अपने [बिना गढ़े हुए] स्वरूपमें रहता है तथा वही मध्यमें भी विविध नामोंसे व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार मैं भी इस दृश्यमान संसारका कारण होनेसे इसके आदि, अन्त और मध्यमें स्थित हूँ ॥१९॥ हे प्रिय ! जिस तुरीयके अन्वय-व्यतिरेकसे [जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप] तीन अवस्थाओंवाला

१. विषयांस्तस्य । २. मृत्युर्न वात्मनः ।

समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥२०॥
न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्य-
त्तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा ॥२१॥
अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एषः ।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥२२॥
एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन ।
छित्त्वात्मसन्देहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥२३॥
नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः ।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥२४॥
समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः ।
विक्षिप्यमाणैरुत किन्तु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥२५॥
यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥२६॥
तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।
मद्भक्तियोगेन दृढेन याव-
द्रजो निरस्येत मनःकषायः ॥२७॥
यथामयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन् ।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म

मन, [सत्त्व, रज, तम] तीनों गुण और कारण, कार्य तथा कर्ता—ये सभी सिद्ध होते हैं वही सत्यस्वरूप ब्रह्म है ॥ २० ॥ जो न तो उत्पत्तिसे पूर्व ही था और न लयके पश्चात् ही रहेगा । वह बीचमें भी कथनमात्रको ही है, क्योंकि जो पदार्थ किसी अन्यसे उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं वे वही (अपने उत्पादक और प्रकाशकरूप ही) होते हैं—ऐसी मेरी धारणा है ॥ २१ ॥ यह जो विकारसमुदायरूप राजस सर्ग विद्यमान न होनेपर भी भासता है वह स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है; अतः इन्द्रिय, विषय, मन और पञ्चभूतादि विचित्र रूपोंमें ब्रह्म ही भास रहा है ॥ २२ ॥ इस प्रकार ब्रह्मज्ञानके हेतुस्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा अनात्म-पदार्थोंके निपुण बाधसे अपने हृदयके सन्देहको भली प्रकार दूर करके आत्मानन्दसे तृप्त हो समस्त विषयकामनाओंसे उपरत हो जाय ॥२३॥ यह पार्थिव शरीर आत्मा नहीं है और इन्द्रियाँ उनके अधिष्ठाता देवता, प्राण, वायु, जल एवं अग्नि भी आत्मा नहीं हैं तथा अन्नमय मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, आकाश, पृथिवी और प्रकृतिमेंसे भी कोई आत्मा नहीं है, क्योंकि ये सभी जड़ हैं ॥ २४ ॥ जिसको मेरे स्वरूपका भलीभाँति ज्ञान हो गया है उसको गुणमयी इन्द्रियोंके समाहित होनेसे लाभ क्या और विक्षिप्त रहनेसे हानि क्या ? भला बादलोंके आने-जानेसे सूर्यको क्या लाभ अथवा क्या हानि है ? ॥२५॥ जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथिवीके गुणोंसे अथवा आने-जानेवाली ऋतुओंके गुणोंसे आकाश लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार अहङ्कारसे अतीत अक्षर आत्मतत्त्व संसारके कारणरूप सत्त्व, रज और तमके मलसे मलिन नहीं होता ॥ २६ ॥ तथापि जबतक कि मेरे दृढ भक्तियोगद्वारा मनका मलरूप रजोगुण निकल न जाय तबतक इन मायारचित गुणोंका संग त्यागना ही चाहिये ॥ २७ ॥

जिस प्रकार भली प्रकार चिकित्सा न किया गया रोग बार-बार उभरकर मनुष्यको कष्ट पहुँचाता है, उसी प्रकार वासना और कर्मोंके परिपाकसे रहित

१. एव । २. भवेन्न ह्यविवि० ।

कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥२८॥
कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥२९॥
करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात् ।
न तत्र विद्वान्प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥३०॥
तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत्किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥३१॥
यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥३२॥
पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्तते तत्पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥३३॥
यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न[2] तु सद्विधत्ते[3] ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥३४॥
एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे[4]
येनेपिता वागसवश्चरन्ति ॥३५॥
एतावानात्मसंमोहो यद्विकल्पस्तु केवले ।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ॥३६॥

तथा [स्त्री-पुत्रादि] सबमें आसक्त हुआ मन अधूरे योगीको भ्रष्ट कर देता है ॥ २८ ॥ जो देवताओंद्वारा उपस्थित किये हुए मनुष्यरूपी विघ्नोंसे बाधित होकर कुयोगी (मार्गच्युत) हो जाते हैं वे अपने पूर्वाभ्यासके कारण फिर योगमें ही प्रवृत्त होते हैं, कर्मादिमें नहीं ॥ २९ ॥ यह जीव किसी अन्यहीकी प्रेरणासे मरणपर्यन्त कर्म करता रहता है, तथापि [अविवेकी तो अपनेको कर्त्ता मानकर उनमें बँध जाता है, परन्तु] विवेकी पुरुष आत्मानन्दके अनुभवसे तृष्णाहीन हो जानेके कारण लौकिक विषयोंमें रहता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता ॥ ३० ॥ जिसकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें स्थित है वह ठहरते, बैठते, चलते, सोते, मल-मूत्र त्याग करते, भोजन करते अथवा और कोई स्वाभाविक क्रिया करते हुए भी अपने शरीरको नहीं जानता ॥३१॥ यदि विद्वान् इन्द्रियोंके किसी बाह्य असत् विषयको देखता है तो नाना प्रकारके अनुमानोंसे उसे आत्मासे भिन्न वास्तविक नहीं मानता, जिस प्रकार सोकर उठनेपर लीन हुए स्वप्नके पदार्थोंको कोई भी सत्य नहीं मानता ॥३२॥ हे प्रियवर ! नाना प्रकारके गुण और कर्मोंसे युक्त जिन देह और इन्द्रिय आदि अज्ञानजन्य पदार्थोंको वह पहले आत्मासे मिले हुए मानता था, अब वे आत्मनिरीक्षणसे ही निवृत्त हो जाते हैं । तथा आत्माका तो न ग्रहण होता है और न त्याग ॥३३॥ जिस प्रकार सूर्योदय मनुष्योंके नेत्रोंके आवरणरूप अन्धकारको हटा देता है, किसी पदार्थकी रचना नहीं करता, उसी प्रकार मेरा सुदृढ एवं सम्यक् ज्ञान मानवबुद्धिके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता है ॥३४॥ यह आत्मा स्वयंप्रकाश, अजन्मा, अप्रमेय, महानुभवस्वरूप, सर्वानुभवस्वरूप, एक और अद्वितीय है । तथा वाणीका अविषय होनेके कारण जब वाणी उसे न पाकर निवृत्त हो जाती है उस समय भी इसीकी प्रेरणासे वाणी और प्राण अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं ॥३५॥

अभिन्न आत्मामें जो विकल्प मानना है वही चित्तका बड़ा भारी मोह है, क्योंकि इस (विकल्प) का भी अपने आत्मस्वरूप मनके अतिरिक्त और कोई अवलम्ब नहीं है॥३६॥

१. इति । २. विहन्यात् । ३. संविधत्ते । ४. विरामः ।

यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् ।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ॥३७॥
योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः ।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥३८॥
योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः ।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत् ॥३९॥
कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्तनादिभिः ।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः ॥४०॥
केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥
न हि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥४२॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत्कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्योगमुत्सृज्य मत्परः ॥४३॥
योगचर्यामिमां योगी विचरन्मदपाश्रयः ।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥४४॥

नाम और रूपके द्वारा ग्रहण किया जानेवाला जो पाञ्चभौतिक द्वैत है वह बाधित नहीं है—इस सिद्धान्तको स्वीकार कर अपनेको पण्डित माननेवाले मीमांसकोंको यह वेदान्तकथित ब्रह्मात्मवाद व्यर्थ (अकारण) ही अर्थवाद प्रतीत होता है * [तत्त्व-ज्ञानियोंको ऐसी प्रतीति नहीं होती]† ॥ ३७ ॥ योग-साधनके पूर्ण होनेसे पूर्व ही यदि किसी साधकका शरीर अकस्मात् उत्पन्न हुई व्याधिसे पीडित हो जाय तो उसके लिये ये उपाय कहे हैं—॥३८॥ किन्हीं उपद्रवोंको योगधारणासे, किन्हींको धारणायुक्त आसनसे और किन्हींको तप, मन्त्र तथा ओषधिसे शान्त करे ॥३९॥ किन्हीं अशुभप्रद दोषोंको मेरे निरन्तर ध्यानसे, किन्हींको नाम-संकीर्तन आदिसे और किन्हींको योगेश्वरोंका अनुवर्तन (सेवन) करके शनैः-शनैः नष्ट कर दे ॥४०॥ कोई-कोई धीर योगिजन इस देहको विविध उपायोंसे सुदृढ और युवावस्थामें स्थिर करके फिर [अणिमादि] सिद्धिके लिये योगसाधन करते हैं ॥४१॥ चतुर पुरुषको इस मार्गका अवलम्बन नहीं करना चाहिये; यह तो व्यर्थ प्रयासमात्र है, क्योंकि वृक्षमें लगे हुए फलके समान यह शरीर तो नाशवान् ही है ॥४२॥ नित्यप्रति योगसाधन करनेवाले योगीका शरीर यदि सुदृढ भी हो जाय तो भी मुझे भजनेवाला बुद्धिमान् पुरुष साधनको छोड़कर उसीमें सन्तुष्ट होकर न बैठ जाय ॥४३॥ जो निष्काम और स्वानन्दानुभव करनेवाला योगी मेरा आश्रय लेकर इस प्रकार योगसाधनमें लगा रहता है उसको कोई विघ्न उपस्थित नहीं होते ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

१. धारणादिभिः । २. दूरतः । ३. मदपाश्रयः ।

* मीमांसक कहते हैं—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे स्पष्ट प्रतीत होनेवाला यह प्रपञ्च बाधित (मिथ्या) नहीं हो सकता, इसलिये द्वैत सत्य है । वेदान्तमें जो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंद्वारा ब्रह्म और आत्माके एकत्वका प्रतिपादन है, वह यज्ञादिके कर्ता यजमानकी स्तुतिमें तात्पर्य रखनेवाला होनेसे अर्थवाद है; क्योंकि जीवका ईश्वर होना प्रत्यक्ष बाधित है । जैसे—आदित्यो यूपः (यूप आदित्य है) इस श्रुति-वाक्यमें यूपका सूर्य होना प्रत्यक्ष बाधित है; इसलिये यह वाक्य यूपगत उज्ज्वलत्व आदि गुणोंको लेकर उसकी प्रशंसामात्रमें तात्पर्य रखनेके कारण अर्थवाद है ।

† ज्ञानी कहते हैं—वेदान्तगत अद्वैतप्रतिपादक वचनोंकी यज्ञादि-विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता नहीं है; इसलिये वे अर्थवाद नहीं हैं; क्योंकि विधिशेष ही अर्थवाद होते हैं । इसके अतिरिक्त नामरूपात्मक होनेसे तथा स्वप्नके समान असत्य होनेके कारण भी प्रपञ्च बाधित ही है । 'वाचारम्भणं विकारः' इत्यादि श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है ।

उन्तीसवाँ अध्याय

भागवत-धर्म-निरूपण और उद्धवजीका बदरिकाश्रम-गमन।

उद्धव उवाच

सुदुस्तरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः।
यथाञ्जसा पुमान्सिद्ध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत ॥ १ ॥

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥ २ ॥

अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥ ३ ॥

किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत्सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥ ४ ॥

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद्विसृजेत को नु।
को वा भजेत्किमपि विस्मृतयेऽनुभूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः ॥ ५ ॥

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥ ६ ॥

उद्धवजी बोले—हे अच्युत ! इस योगचर्याको तो मैं अजितेन्द्रिय पुरुषके लिये अति दुःसाध्य समझता हूँ। अतः आप स्पष्टतया मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे लोग अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर लें ॥ १ ॥ हे कमललोचन ! मनको एकाग्र करनेमें लगे हुए योगिजन उसके निग्रह करनेमें अत्यन्त दुर्बल हो जानेके कारण प्रायः उदास रहा करते हैं ॥ २ ॥ इसीलिये, हे अरविन्दाक्ष ! हे विश्वेश्वर ! सारग्राही विवेकीजन अनायास ही आपके परम आनन्ददायक चरणकमलोंका आश्रय लेते हैं किन्तु जो योगकर्मोंके कारण अभिमानी हो रहे हैं वे आपकी मायासे मारे हुए हैं, उन्हें कभी सुख नहीं मिल सकता ॥ ३ ॥ हे सर्वसुहृद् अच्युत ! यदि आप अपने अनन्यशरण दासोंके अधीन हो जाते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्योंकि जिनके चरणकमलोंमें स्वयं ब्रह्मा आदि लोकपालगण भी अपने दीप्तिशाली मुकुट घिसा करते हैं उन्हीं आपने रामावतारमें वानरोंसे मित्रता की थी ! ॥ ४ ॥ अपने भक्तपर किये हुए आपके उपकारोंको जानकर भी ऐसा कौन पुरुष होगा जो सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा, प्रियतम, ईश्वर एवं शरणागतोंको सब कुछ देनेवाले प्रभु आपको भूल जायगा ? अथवा ऐसा कौन विचारवान् होगा जो परिणाममें मोह उत्पन्न करनेवाले और केवल भोगके ही साधन तुच्छ भोगोंकी इच्छा करेगा ? और फिर आपके चरण-रजका सेवन करनेवाले हमलोगोंके लिये दुर्लभ भी क्या है ? ॥ ५ ॥ हे ईश्वर ! जो आचार्य और अन्तर्यामीरूपसे शरीरधारियोंका बाह्य और आन्तरिक मल दूर करके उन्हें अपने स्वरूपका साक्षात्कार कराते हैं उन आपके उपकारोंका बदला विवेकी ब्रह्मवेत्तागण ब्रह्माके समान आयु पाकर भी नहीं चुका सकते; वे तो आपके उपकारोंका स्मरण करके ही मन-ही-मन प्रसन्न हुआ करते हैं ॥ ६ ॥

१. सुदुश्चराम्। २. अथा०। ३. न्त्यविरतिं।

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा
पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः ।
गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो
जगाद सप्रेममनोहरस्मितः ॥ ७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उद्धवके इस प्रकार अत्यन्त प्रेमपूर्वक पूछनेपर जगत् जिनकी क्रीडाकी सामग्री है और जो अपनी मायाशक्तिसे त्रिदेवरूप होकर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं, वे ईश्वरोंके भी ईश्वर मधुर-मधुर मुसकाते हुए प्रेमपूर्वक बोले ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान्सुमङ्गलान्[१] ।
याञ्छ्रद्धया चरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥ ८ ॥
कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥ ९ ॥
देशान्पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥१०॥
पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।
कारयेद्गीतनृत्याद्यैर्[२]महाराजविभूतिभिः ॥११॥
मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं[३] यथा खममलाशयः ॥१२॥
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ।
सभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥१३॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः ॥१४॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥१५॥
विसृज्य स्मयमानान्स्वान्दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।

श्रीभगवान्ने कहा—हे तात ! मैं तुम्हें अपने अत्यन्त मङ्गलमय [भागवत-] धर्म सुनाता हूँ जिनका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य [संसाररूप] दुर्जय मृत्युको जीत लेता है ॥ ८ ॥ निरन्तर मुझहीमें मन और चित्तको लगाये रहनेवाला तथा जिसके आत्मा और मनका मेरे धर्मोंमें ही अनुराग हो गया है वह पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मोंको धीरे-धीरे मेरे ही लिये करता रहे ॥ ९ ॥ जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों उन पुण्यस्थानोंमें रहे और देवता, असुर अथवा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हुए हैं उनके आचरणोंका अनुसरण करे ॥१०॥ पर्वदिनोंपर अकेला ही अथवा सबके साथ मिलकर नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजोचित ठाट-बाटसे मेरी यात्रा आदिके महोत्सव करावे ॥११॥ निर्मलचित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंमें और अपने आपमें मुझ आत्माको ही आकाशके समान निरावरण-रूपसे बाहर-भीतर व्याप्त देखे ॥१२॥ हे महातेजस्वी उद्धव ! इस प्रकार केवल ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर जो समस्त प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण-भक्त, सूर्य और स्फुलिङ्ग (चिनगारी) तथा कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है वही पण्डित माना गया है ॥१३-१४॥ अधिक समयतक सब पुरुषोंमें निरन्तर मेरी ही भावना करनेसे मनुष्यके स्पर्धा, असूया (पर-निन्दा), तिरस्कार और अहङ्कार आदि दोष दूर हो जाते हैं ॥ १५ ॥ अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको, 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टिको तथा लोकलज्जाको छोड़कर

१. महाफलान् । २. नृत्यगीताद्यैर्म० । ३. चात्मस्थम् ।

प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥१६॥
यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥१७॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया ।
परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्तसंशयः ॥१८॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥१९॥
न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः ॥२०॥
यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् ।
तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम ॥२१॥
एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥२२॥
एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः ।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥२३॥
अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् ।
एतद्विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥२४॥
सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत् ।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२५॥
य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात्सुपुष्कलम् ।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥२६॥
य एतत्समधीयीत पवित्रं परमं शुचि ।

कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी पृथिवीपर गिरकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे ॥ १६ ॥ जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना न हो तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके समस्त व्यापारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे ॥ १७ ॥ इस प्रकार सर्वत्र आत्म-बुद्धिरूप ब्रह्मविद्याके द्वारा उसे सब कुछ ब्रह्ममय प्रतीत होने लगता है । ऐसी दृष्टि हो जानेपर सर्वथा निःसन्देह होकर उपरत हो जाय, [फिर लौकिक-वैदिक किसी प्रकारके कर्म-कलापमें न पड़े] ॥१८॥ मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी ही भावना करना—इसीको मैं अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझता हूँ ॥ १९ ॥ हे प्रिय उद्धव ! आरम्भ कर देनेके उपरान्त फिर मेरे इस धर्मका [किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे] अणुमात्र भी ध्वंस नहीं होता, क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इस निष्काम धर्मका भलीभाँति निश्चय किया है ॥ २० ॥

हे साधुश्रेष्ठ ! [अवश्यम्भावी मृत्यु आदि] भयसे व्यर्थ भागने-रोने आदिके समान जो-जो निरर्थक प्रयास है वह भी यदि मुझ परमात्माको फलाभावके लिये [अर्थात् निष्कामभावसे] अर्पण कर दिया जाय तो वह भी [मेरी प्राप्तिका साधक] धर्म ही है ॥ २१ ॥ मनुष्य जो इस असत् और नाशवान् मनुष्य-शरीरके द्वारा मुझ अजर-अमर परमात्माको प्राप्त कर लेता है यही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है ॥ २२ ॥ इस प्रकार मैंने तुम्हें देवताओंको भी दुर्लभ यह ब्रह्मवादका सम्पूर्ण सारसंग्रह संक्षेप और विस्तारसे सुना दिया ॥ २३ ॥ हे उद्धव ! मैंने स्पष्ट युक्तियोंसे युक्त यह ज्ञान तुमसे बारम्बार कहा है । इसको जान लेनेपर पुरुष निःसन्देह होकर मुक्त हो जाता है ॥ २४ ॥ मैंने तुम्हारे प्रश्नका भली प्रकार विवेचन कर दिया । जो पुरुष हमारे इस प्रश्नोत्तरको ध्यानपूर्वक मनन करके धारण करेगा वह वेदोंके भी परम रहस्य सनातन परब्रह्मको प्राप्त कर लेगा ॥ २५ ॥ जो मनुष्य मेरे भक्तोंको इसे भलीभाँति स्पष्ट करके समझावेगा उस ज्ञानदाताको मैं अपना आत्मसमर्पण कर दूँगा ॥ २६ ॥ जो पुरुष इस परम पवित्र प्रसङ्गका शुद्धतापूर्वक नित्यप्रति सम्यक् प्रकारसे

१. कर्मभिः । २. मर्त्यो वाप्नोति ।

स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥२७॥
य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः ।
मयि भक्तिं परां कुर्वन्कर्मभिर्न स बध्यते ॥२८॥
अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे संमवधारितम्[1] ।
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः ॥२९॥
नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च ।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥३०॥
एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च ।
साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम् ॥३१॥
नैतद्विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥३२॥
ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे ।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥३३॥
मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥३४॥

अध्ययन करेगा, वह ज्ञानरूपी दीपकसे मेरा साक्षात्कार करके पवित्र हो जायगा ॥ २७ ॥ जो कोई एकाग्र-चित्तसे इसे श्रद्धापूर्वक नित्य सुनेगा वह मेरी परा भक्ति प्राप्त करके फिर कर्म-बन्धनमें नहीं पड़ेगा ॥ २८ ॥ हे सखे उद्धव ! तुमने ब्रह्मका स्वरूप भली-भाँति समझ लिया न ? और तुम्हारे चित्तका मोह और शोक तो दूर हो गया न ? ॥ २९ ॥ तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, दुष्ट प्रकृति, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले, भक्तिहीन और नम्रताहीन पुरुषोंको कभी मत सुनाना ॥ ३० ॥ जो इन दोषोंसे रहित हो, ब्राह्मण-भक्त हो, प्रेमी हो, साधु-स्वभाव हो और पवित्र चरित्र हो उससे तथा स्त्री और शूद्रोंसे भी, यदि उनकी मुझमें भक्ति हो तो इस प्रसङ्गको कहना चाहिये ॥ ३१ ॥ जिस प्रकार अमृतपान कर लेनेपर और कुछ पीना नहीं रहता उसी प्रकार इसका ज्ञान लेनेपर जिज्ञासुको और कुछ जानना नहीं रहता ॥ ३२ ॥ हे तात ! ज्ञान, कर्म, योग, वाणिज्य और राज-दण्डादिसे मनुष्योंको जो [मोक्ष, धर्म, काम और अर्थरूप] फल प्राप्त होता है वह चारों प्रकारका फल तुम-जैसे अनन्य भक्तोंके लिये मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥ जिस समय मनुष्य समस्त कर्म छोड़कर मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय मैं उसे विशिष्ट बना देना चाहता हूँ, इससे वह मोक्षरूप अमरपदको पाकर मेरा ही स्वरूप हो जाता है ॥ ३४ ॥

श्रीशुक उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमश्लोकवचो निशम्य ।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥३५॥
विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन्बहु मन्यमानः ।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम् ॥३६॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्णचन्द्रसे इस प्रकार योगमार्गका उपदेश पानेपर उनके वचन सुनकर उद्धवजीकी आँखोंमें आँसू भर आये, प्रेमके कारण उनका गला रुक गया और वे कुछ न बोल सके; केवल हाथ जोड़े रह गये ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! फिर धैर्यपूर्वक प्रेमावेशसे विह्वल हुए अपने चित्तको रोककर उद्धवजी अपनेको बड़भागी मानते हुए, भगवान् यदुनाथके चरणोंपर शिर रखकर उनसे हाथ जोड़कर बोले—॥ ३६ ॥

उद्धव उवाच

विद्रावितो मोहमहान्धकारो[2]
य आश्रितो मे तव सन्निधानात् ।

उद्धवजी बोले—हे ब्रह्माजीके भी उत्पत्तिकर्ता प्रभो ! मैंने जिस मोहमय (घोर) अन्धकारको आश्रय दे रक्खा था वह आपके सहवाससे भाग गया । अग्निके

१. समुपधारितम् । २. मोहमयोऽन्धकारः ।

विभावसोः किन्नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य[1] ॥३७॥
प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः ।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यत्समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥३८॥
वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥३९॥
नमोऽस्तु ते महायोगिन्प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥४०॥

समीप पहुँच जानेपर भी क्या शीत, अन्धकार और भय आदि ठहर सकते हैं ? ॥ ३७ ॥ हे प्रभो ! [जिसे आपकी मोहिनी मायाने हर लिया था] आपने कृपा करके वह ज्ञानदीपक मुझ सेवकको फिर लौटा दिया । आपके किये हुए इस अनुग्रहको जानकर भी ऐसा कौन होगा जो आपके चरण-कमलोंका आश्रय छोड़कर किसी औरकी शरणमें जायगा ॥ ३८ ॥ आपने अपनी मायासे सृष्टि-वृद्धिके लिये जो दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक और सात्वतवंशी यादवोंमें मेरा सुदृढ स्नेह-पाश फैला रक्खा था उसे आज आपने आत्म-बोधरूपी तीक्ष्ण खड्गसे काट डाला ॥ ३९ ॥ हे महायोगिन् ! आपको नमस्कार है; अब आप मुझ शरणागतको ऐसी आज्ञा दीजिये जिससे आपके चरण-कमलोंमें मेरी अविचल भक्ति हो ॥ ४० ॥

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम् ।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः ॥४१॥
ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः ।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक्सुखनिःस्पृहः ॥४२॥
तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः ।
शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥४३॥
मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन् ।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव ।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम् ॥४४॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मेरी आज्ञासे अब तुम बदरीनारायणनामक मेरे आश्रमको जाओ । वहाँ मेरे चरणकमलोंसे उत्पन्न गङ्गाजीके अति पुनीत जलके स्नान और पानसे तुम पवित्र हो जाओगे ॥ ४१ ॥ अलकनन्दाके दर्शनोंसे तुम्हारे समस्त पाप दूर हो जायँगे । हे प्रियवर ! वहाँ तुम वल्कल-वस्त्र धारणकर वनके कन्द, मूल, फल भोजन करते हुए निःस्पृह वृत्तिसे सुखपूर्वक रहना ॥ ४२ ॥ तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करते हुए, सुशील और जितेन्द्रिय होकर शान्तचित्त हो एकाग्र बुद्धिसे ज्ञान और विज्ञानसे युक्त रहना ॥ ४३ ॥ मुझसे तुम्हें जो कुछ शिक्षा मिली है उसका अच्छी तरह विचारपूर्वक अनुभव करते हुए तथा मुझहीमें वाणी और चित्तको लगाते हुए मेरे धर्मोंमें ही तत्पर रहना । ऐसा करते रहनेसे तुम तीनों गुणोंकी गतिको लाँघकर अन्तमें मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो जाओगे ॥ ४४ ॥

श्रीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जिनका ज्ञान संसार-भ्रमको हर लेनेवाला है उन श्रीकृष्ण-चन्द्रके ऐसा कहनेपर उद्धवजीने उठकर उनकी परिक्रमा की और उनके चरणोंपर अपना शिर रख

१. न्त्यजस्रम् ।

शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
न्र्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे ॥४५॥
सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः ।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः ॥४६॥
ततस्तं[1]मन्तर्हृदि सन्निवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम् ।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
तपः समास्थाय हरेरगाद्गतिम् ॥४७॥
य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम् ।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयासेव्य जगद्विमुच्यते ॥४८॥
भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद्वेदसारम् ।
अमृतमुदधितश्चापाययद्भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥४९॥

दिया; वे द्वन्द्वोंसे परे थे तो भी वहाँसे चलते समय उनका चित्त प्रेमवश भर आया और अपने नेत्रोंकी अश्रुधारासे उन्होंने भगवान्‌के चरण भिगो दिये ॥४५॥ जिनके स्नेहको छोड़ना अत्यन्त कठिन है उन श्रीकृष्णके वियोग होनेसे वे व्याकुल हो गये, तथा उन्हें एकाएकी न छोड़ सकनेके कारण उन्होंने अति आतुर होकर स्वामीकी चरणपादुकाएँ ले लीं और उन्हें अपने शिरपर रखकर बारम्बार प्रणाम करनेके अनन्तर जैसे-तैसे अपना मन मसोसकर वहाँसे चले ॥४६॥ महाभागवत उद्धवजी हृदयमें भगवान्‌की दिव्य छवि धारण किये बदरिकाश्रम पहुँचे और वहाँ संसारके एकमात्र सुहृद् श्रीहरिके आदेशानुसार तपोमय आचरण करते हुए अन्तमें परमगतिको प्राप्त हुए ॥४७॥ योगेश्वर जिनके चरणोंकी सेवा करते हैं उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्रने आनन्द-समुद्रसे उत्पन्न हुआ यह ज्ञानामृत अपने अनन्य भक्त उद्धवको सुनाया। जो पुरुष इसका श्रद्धापूर्वक थोड़ा-सा भी सेवन करता है [वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है; अधिक क्या] जगत् ही उसके सङ्गसे मुक्त हो जाता है ॥४८॥ जिन वेदप्रकाशक भगवान्‌ने संसारभयको दूर करनेके लिये फूलोंसे साररूप मधुको निकाल लेनेवाले भ्रमरके समान एक तो समस्त वेद-वेदान्तोंका साररूप यह ज्ञान-विज्ञानका सार निकाला और दूसरा समुद्रसे अमृत निकाला तथा इन्हें अपने [निवृत्तिमार्गी और प्रवृत्तिमार्गी] भक्तोंको पिलाया उन श्रीकृष्णनामक परम श्रेष्ठ आदिपुरुषको मैं प्रणाम करता हूँ ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

१. तमाद्यं हृदि ।

तीसवाँ अध्याय

यदुवंश-विनाश ।

राजोवाच

ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम् ।
द्वारवत्यां किमकरोद्भगवान्भूतभावनः ॥ १ ॥
ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः ।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत् ॥ २ ॥
प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न शेकुः
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत्सतामात्मलग्नम् ।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किन्तु मानं कवीनां[१]
दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः ॥ ३ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! महान् भगवद्भक्त उद्धवजीके वनको चले जानेपर भूतभावन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने द्वारकामें क्या किया ? ॥ १ ॥ उन यदुकुलभूषणने ब्रह्मशापसे अपने कुलके ग्रस्त हो जानेपर समस्त नेत्रों (इन्द्रियों) को सुख देनेवाले अपने शरीरको किस प्रकार त्यागा ? ॥ २ ॥ जिसमें लगे हुए नेत्रोंको स्त्रियाँ नहीं मोड़ सकीं, कर्णमार्गसे भीतर प्रविष्ट होनेपर जो सज्जनोंके चित्तमें गड़-सा जाता है, फिर वहाँसे नहीं निकलता, जिसकी शोभा [वर्णित होनेपर] कवियोंका मान बढ़ाती है, इसके लिये तो कहना ही क्या है ? उनकी वाणीको भी आनन्दित करती है तथा जिसे अर्जुनके रथपर विराजमान देखकर युद्धमें मरनेवाले योद्धाओंको सारूप्य-मुक्ति प्राप्त हुई, [उस अति अद्भुत शरीरको भगवान्‌ने कैसे छोड़ा ?]॥ ३॥

श्रीशुक उवाच

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान्समुत्थितान् ।
दृष्ट्वासीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! श्रीकृष्णचन्द्रने आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्षमें महान् उत्पातोंको उठते देखकर सुधर्मा नामकी सभामें बैठे हुए यादवोंसे कहा ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः ।
मुहूर्त्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुङ्गवाः ॥ ५ ॥
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः ।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक्सरस्वती ॥ ६ ॥
तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः ।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः ॥ ७ ॥
ब्राह्मणांस्तु महाभागान्कृतस्वस्त्ययना वयम् ।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८ ॥
विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम् ।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥ ९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे यादवश्रेष्ठगण ! द्वारकापुरीमें होनेवाले ये महान् उत्पात मानो यमराजकी ध्वजा ही हैं; अब हमको यहाँ एक क्षणभर भी नहीं ठहरना चाहिये ॥ ५ ॥ स्त्री, बालक और बड़े-बूढ़ोंको तो यहाँसे शङ्खोद्धार-क्षेत्रको जाने दो और हम सब लोग प्रभासक्षेत्रको चलेंगे जहाँ कि पश्चिमकी ओर बहनेवाली सरस्वती नदी है ॥ ६ ॥ उस तीर्थमें स्नान करके पवित्र हो हम उपवास करेंगे और एकाग्रचित्तसे स्नान, चन्दन आदि सामग्रियोंसे देवताओंका पूजन करेंगे ॥ ७ ॥ तदनन्तर स्वस्तिवाचन हो चुकनेपर हम गौ, भूमि, सुवर्ण, वस्त्र, गज, अश्व, रथ और गृह आदिसे महाभाग ब्राह्मणोंका सत्कार करेंगे ॥ ८ ॥ यह विधि हमारे अरिष्टका नाश करनेवाली और अत्युत्तम मङ्गलकारिणी है । देवता, ब्राह्मण और गौओंकी पूजा ही प्राणियोंके जन्मका परम लाभ है ॥ ९ ॥

१. कीर्त्यमानां ।

इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः ।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः ॥१०॥
तस्मिन्भगवतादिष्टं यदुदेवेन यादवाः ।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम् ॥११॥
ततस्तस्मिन्महापानं पपुर्मैरेयकं मधु ।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥१२॥
महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम् ।
कृष्णमायाविमूढानां सङ्घर्षः सुमहानभूत् ॥१३॥
युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः ।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥१४॥

पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः
खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।
मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहञ्छरैर्दद्भिरिव द्विपा वने ॥१५॥
प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्सरा-
वक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी ।
सुभद्रसङ्ग्रामजितौ सुदारुणौ
गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः ॥१६॥
अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः
सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता
जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम् ॥१७॥
दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता
मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः ।
विसर्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च
मिथस्ततस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम् ॥१८॥
पुत्रा अयुध्यन्पितृभिर्भ्रातृभिश्च
स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भि-
र्ज्ञातींस्त्वहन् ज्ञातय एव मूढाः ॥१९॥

भगवान् मधुसूदनके इस कथनको सुनकर सब वृद्ध यादवोंने उसका अनुमोदन किया और तुरन्त नौकाओंसे समुद्र पार करके रथोंद्वारा प्रभास-क्षेत्रको चल दिये ॥१०॥ वहाँ भगवान् यदुनाथके आदेशको सब यादवोंने परम श्रद्धा और भक्तिसे समस्त मङ्गल-कृत्योंके सहित पालन किया ॥११॥ फिर प्रारब्धवश बुद्धि भ्रष्ट हो जानेके कारण उन्होंने जिसके पीनेसे बुद्धि ठिकाने नहीं रहती उस मैरेयक नामकी अति सुरस महा-मदिराका पान किया ॥१२॥ उस तीव्र मदिरासे उन्मत्त हुए और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी मायासे मोहित हुए उन गर्वीले वीरोंमें परस्पर बड़ा भारी झगड़ा छिड़ गया ॥१३॥ उस समय अति क्रोधावेशसे वे आततायी धनुष-बाण, खड्ग, भाला, गदा, तोमर और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे वहाँ समुद्र-तटपर लड़ने लगे ॥१४॥

फहराती हुई पताकाओंवाले रथों, हाथियों, गधों, ऊँटों, बैलों, भैंसों, खच्चरों और मनुष्योंके सहित परस्पर भिड़कर वे मदोन्मत्त यादव वनमें दन्त-प्रहार करके लड़ते हुए हाथियोंके समान आपसमें लड़ने लगे ॥१५॥ उस युद्धमें प्रद्युम्न और साम्ब, अक्रूर और भोज, अनिरुद्ध और सात्यकि, दारुण योद्धा सुभद्र और संग्रामजित्, [श्रीकृष्णचन्द्रका भाई और उनका पुत्र] दोनों गद तथा सुमित्र और सुरथ—ये सब वीर परस्पर अत्यन्त मत्सरपूर्वक भिड़ गये ॥१६॥ इनके सिवा निशठ, उल्मुक, सहस्रजित्, शतजित् और भानु आदि जो अन्य वीर थे वे भी भगवान्‌की मायासे मोहित और मदसे अन्धे होकर परस्पर एक दूसरेको मारने लगे ॥१७॥ दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुकुर और कुन्ति आदि कुलोंके लोग परस्पर स्नेह छोड़कर लड़ने लगे ॥१८॥ तब [मदिरापानसे] उन्मत्त हो पुत्र पितासे, [भाई] भाईसे, [मामा] भानजोंसे, [नाना] धेवतोंसे, [भतीजे] चाचाओंसे तथा [भानजे] मामाओंसे लड़ने लगे । इसी प्रकार मित्रोंसे मित्र और बन्धुओंसे बन्धु भिड़ गये तथा सजातीयगण अपने सजातीयोंपर प्रहार करने लगे ॥१९॥

शरेषु क्षीयमाणेषु भज्यमानेषु धन्वसु ।
शस्त्रेषु क्षीयमाणेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः ॥२०॥
ता वज्रकल्पा ह्यभवन्परिघा मुष्टिना भृताः[1] ।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तं च ते ॥२१॥
प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः ।
हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः[2] ॥२२॥
अथ तावपि सङ्क्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन ।
एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि ॥२३॥
ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम् ।
स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम् ॥२४॥
एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः ।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः ॥२५॥

अन्तमें, बाणोंके समाप्त हो जानेपर, धनुषोंके टूट जानेपर और अन्य समस्त शस्त्रोंके भी क्षीण हो जानेपर उन्होंने मुट्ठियोंसे [समुद्रतटपर उगे मूसलके चूर्णसे ही उत्पन्न हुए] सरकण्डोंको उखाड़ा ॥२०॥ उनकी मुट्ठियोंमें आते ही वे सरकण्डे लोह-दण्ड और वज्रके समान हो गये। वे उनसे उन्हींसे प्रहार करने लगे और जब श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें रोका तो वे उन्हें भी मारनेको दौड़े ॥२१॥ हे राजन्! उन मूढबुद्धि आततायियोंने बलरामजीको भी अपना शत्रु मानकर उन्हें मारनेके विचारसे आक्रमण किया ॥२२॥ हे कुरुनन्दन परीक्षित्! तब कृष्ण और बलराम भी क्रोधमें भरकर युद्धभूमिमें घूमते हुए उन सरकण्डों और मुट्ठीरूप लोह-दण्डोंसे उनपर प्रहार करने लगे ॥२३॥ बाँसोंके वनको जिस प्रकार दावानल भस्म कर देता है उसी प्रकार ब्रह्मशापसे ग्रस्त और श्रीकृष्णचन्द्रकी मायासे विमोहित उन यादवोंके स्पर्धाजनित क्रोधने उनका ध्वंस कर दिया ॥२४॥ इस प्रकार अपने समस्त स्वजनोंके नष्ट हो जानेपर भगवान्ने विचार किया कि अब तो पृथिवीका रहा-सहा भार भी उतर गया ॥ २५ ॥

रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम् ।
तत्याज लोकं[3] मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि ॥२६॥
रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः ।
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम् ॥२७॥
बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया ।
दिशो वितिमिराः कुर्वन्विधूम इव पावकः ॥२८॥
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम् ।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम् ॥२९॥
सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम् ।

बलरामजीने भी समुद्र-तटपर परमपुरुषके चिन्तन-रूप योगका आश्रय ले अपने आत्माको आत्मा (उसके शुद्धस्वरूप) में स्थित कर अपना मनुष्य-शरीर छोड़ दिया ॥ २६ ॥ इस प्रकार बलरामजीको परमपदप्राप्ति देखकर भगवान् देवकीनन्दन अति देदीप्यमान चतुर्भुज रूप धारण कर अपनी दिव्य कान्तिसे दसों दिशाओं-को अन्धकारहीन करते हुए धूम्रहीन अग्निके समान सुशोभित हो एक पीपलके वृक्षकी छायामें पृथिवीपर शान्तभावसे मौन होकर बैठ गये ॥२७-२८॥ उस समय भगवान्का परम मङ्गलमय स्वरूप मेघके समान श्यामवर्ण तथा श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित एवं दो रेशमी पीताम्बरोंसे विभूषित होनेके कारण तपाये हुए सुवर्ण-सा कान्तिमान् हो रहा था ॥ २९ ॥ जो मनोहर मुसकानयुक्त मुखारविन्द-वाला, नील अलकावलीसे सुशोभित, कमलदलके समान

१. धृताः । २. न्नापतन्नाततायिनः । ३. लोकमाविश्य ।

पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥३०॥
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकाङ्गदैः ।
हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम् ॥३१॥
वनमालापरीताङ्गं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः ।
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम् ॥३२॥
मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा ।
मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ॥३३॥
चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः ।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः ॥३४॥
अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन ।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ ॥३५॥
यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम् ।
वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो ॥३६॥
तन्माशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम् ।
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम् ॥३७॥
यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये ।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥३८॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे ।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥३९॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा ।

सुन्दर नेत्रोंसे युक्त तथा झिलमिलाते हुए मकराकृत कुण्डलोंवाला था ॥ ३० ॥ [वह मङ्गलमय विग्रह] करधनी, यज्ञोपवीत, मुकुट, कङ्कण, भुजबन्द, हार, नूपुर, अंगूठियों और कौस्तुभमणिसे सुशोभित था ॥ ३१ ॥ उसके सर्वाङ्गमें वनमाला सुशोभित थी तथा शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म आदि आयुध मूर्तिमान् होकर सेवामें उपस्थित थे । उस समय वह भगवन्मूर्ति अपना अरुण कमल-सदृश वाम चरण दाहिनी जङ्घापर रखकर विराजमान थी ॥ ३२ ॥

तब जरा नामके व्याधने, जिसने कि [मछलीके पेटसे प्राप्त हुए] मूसलके बचे हुए टुकड़ेसे अपने बाणकी गाँसी बनायी थी, मृगके मुख-जैसे आकारवाले भगवान्‌के चरणको दूरसे मृग समझकर [उसी बाणसे] वेध दिया ॥ ३३ ॥ पास जानेपर उन चतुर्भुजमूर्ति महापुरुषको देखकर वह अपराधी होनेके कारण भयसे काँपता हुआ दैत्यदलन भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़ा ॥३४॥ [और कहने लगा—] "हे मधुसूदन ! मुझ पापीसे अनजानमें यह अपराध हो गया है । हे उत्तम-श्लोक ! हे अनघ ! मैं आपका अपराधी हूँ, कृपा करके क्षमा करें ॥ ३५ ॥ हे विष्णो ! हे प्रभो ! जिनका स्मरण मनुष्योंके अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाला कहा जाता है, हाय ! उन्हीं आपका मैंने अहित किया ॥ ३६ ॥ हे वैकुण्ठ ! मैं निरपराध मृगोंको मारनेवाला महापापी हूँ, आप शीघ्र ही मुझे मार डालिये, जिससे कि फिर मुझसे महापुरुषोंका ऐसा अपराध न हो ॥ ३७ ॥ जिनकी आत्मयोगरचित सृष्टिको ब्रह्माजी और उनके पुत्र रुद्र आदि भी, जो सम्पूर्ण विद्याओंके पारदर्शी हैं, नहीं जानते, क्योंकि उनकी दृष्टि भी आपकी मायासे आवृत है; फिर हम तो स्वभावसे ही पापयोनि हैं—हम उसके विषयमें क्या कह सकते हैं ?" ॥ ३८ ॥

श्रीभगवान् बोले-अरे जरा ! तू मत डर, खड़ा हो, यह सब तो मेरी ही इच्छासे हुआ है । अब तू मेरी आज्ञासे पुण्यवानोंके प्राप्यस्थान स्वर्गको जा ॥३९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं-स्वेच्छाशरीरधारी श्रीकृष्ण-चन्द्रका ऐसा आदेश पाकर वह व्याध भगवान्‌की

त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ ॥४०॥
दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम् ।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ ॥४१॥
तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं
ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम् ।
स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः ॥४२॥
अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो
दृष्टिः प्रणष्टा तमसि प्रविष्टा ।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं
यथा निशायामुडुपे प्रणष्टे ॥४३॥
इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः ।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः ॥४४॥
तमन्वगच्छन्दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च ।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः ॥४५॥
गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः ।
सङ्कर्षणस्य निर्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम् ॥४६॥
द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः ।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥४७॥
स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः ।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ ॥४८॥
त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः ।
मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥४९॥
इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम् ॥५०॥

तीन परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम करनेके अनन्तर विमानपर चढ़कर स्वर्गको चला गया ॥ ४० ॥ इधर, भगवान्‌का सारथि दारुक उनके चरणचिह्नोंको खोजता हुआ उनका पता पाकर तुलसीकी गन्धयुक्त वायुको सूँघता हुआ उसी ओर चला ॥ ४१ ॥ वहाँ अपने स्वामीको अश्वत्थ-वृक्षके नीचे आसन लगाये तीव्र तेजोमय मूर्तिमान् आयुधोंसे घिरे हुए देखकर वह रथसे उतर पड़ा, उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह प्रेमातुर हो उनके चरणोंमें गिर पड़ा ॥४२॥ [वह कहने लगा—] "हे प्रभो ! रात्रिमें चन्द्रमाके अस्त हो जानेसे जैसी दशा होती है उसी प्रकार आपके चरणकमलोंको न देख पानेसे मेरी दृष्टि नष्ट और घोर अन्धकारसे आच्छादित हो गयी है। मैं दिशाओंको नहीं जानता और न मुझे शान्ति ही मिलती है" ॥ ४३ ॥ हे राजेन्द्र ! जिस समय सारथि ऐसा कह रहा था उसी समय भगवान्‌का गरुडचिह्न-सुशोभित रथ घोड़ोंके सहित उसके देखते-देखते आकाशमें उड़ गया ॥ ४४ ॥ और फिर उसके पीछे भगवान्‌के दिव्य आयुध भी चले गये। यह सब देखकर अति विस्मित हुए सारथिसे जनार्दन श्रीकृष्ण-चन्द्र बोले—॥ ४५ ॥ "हे सूत ! अब तुम द्वारकापुरीको जाओ और हमारे बन्धु-बान्धवोंको यादवोंके पारस्परिक विध्वंस, बलरामजीकी परमगति और मेरी दशाका वृत्तान्त सुनाओ ॥ ४६ ॥ अब तुमलोगोंको अपने बन्धु-बान्धवोंसहित द्वारकामें नहीं रहना चाहिये, क्योंकि मेरी त्यागी हुई उस यदुपुरीको समुद्र डुबो देगा ॥ ४७ ॥ सब लोग अपने-अपने धन, कुटुम्ब और मेरे माता-पिता आदिको लेकर अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थ चले जायँ ॥ ४८ ॥ और तुम तो मेरे भागवत-धर्मोंका आचरण करते हुए ज्ञाननिष्ठ और निरपेक्ष होकर इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको मेरी मायाकी रचना समझो और शान्तिको प्राप्त होओ" ॥ ४९ ॥ भगवान्‌के ये वचन सुनकर दारुक बारम्बार उनकी परिक्रमा कर और चरणोंमें शिर रख प्रणाम करनेके अनन्तर अति उदास मनसे द्वारकापुरीको चला गया ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

इकतीसवाँ अध्याय

श्रीभगवान्‌का स्वधाम-गमन ।

श्रीशुक उवाच

अथ तत्रागमद्ब्रह्मा भवान्या च समं भवः ।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः ॥ १ ॥
पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
चारणा यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः ॥ २ ॥
द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः ।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च ॥ ३ ॥
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः ।
कुर्वन्तः सङ्कुलं राजन्भक्त्या परमया युताः ॥ ४ ॥
भगवान्पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः ।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥ ५ ॥
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत्स्वकम् ॥ ६ ॥
दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात् ।
सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः ॥ ७ ॥
देवादयो ब्रह्ममुख्या न[1] विशन्तं स्वधामनि ।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः ॥ ८ ॥
सौदामन्या[2] यथाकाशे यान्त्या[3] हित्वाभ्रमण्डलम् ।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः ॥ ९ ॥
ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः ।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा ॥१०॥

राजन्परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।
सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते ॥११॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तदनन्तर ब्रह्माजी, भवानीके सहित भगवान् शङ्कर, इन्द्रादि देवगण, प्रजापतियोंके सहित मुनिजन, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, चारण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, अप्सरा और द्विजगण आदि भगवान्‌के परमधामगमनको देखनेके लिये परम उत्सुक होकर उनके जन्म और कर्मोंका गान एवं कथन करते हुए वहाँ आये । वे अपने विमानोंसे सम्पूर्ण आकाशको परिपूर्ण करते हुए परमभक्तिपूर्वक भगवान्‌पर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ १—४ ॥ सर्वव्यापक भगवान्‌ने पितामह ब्रह्माजी और अपनी अन्यान्य विभूतियोंको देखकर अपने आत्माको स्वरूपमें स्थित कर अपने नेत्रकमल मूँद लिये ॥ ५ ॥ धारणा और ध्यानके लिये अति मङ्गलरूप अपने लोकाभिराम दिव्य शरीरको योगाग्निसे भस्म किये बिना ही भगवान्‌ने अपने धाममें प्रवेश किया ॥ ६ ॥ उस समय स्वर्गलोकमें नगाड़े बजने लगे और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी । हे राजन् ! भगवान्‌के साथ ही इस लोकसे सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और लक्ष्मी भी चली गयीं ॥ ७ ॥ ब्रह्मा आदि देवता उन अविज्ञेयगति भगवान् कृष्णको अपने धाममें प्रवेश करते हुए न देख सके इससे वे अति विस्मित हुए ॥ ८ ॥ जिस प्रकार एक बादलमेंसे दूसरेमें जाती हुई विद्युत्‌की गति मनुष्योंको दिखलायी नहीं देती उसी प्रकार देवताओंको भगवान्‌की गति न दीख पड़ी ॥ ९ ॥ भगवान्‌की इस योगगतिको देखकर अति आश्चर्यान्वित हुए ब्रह्मा और रुद्र आदि उनकी प्रशंसा करते अपने-अपने लोकोंको चले गये ॥१०॥ हे राजन् ! इस प्रकार परमात्माकी देहधारियोंके समान की हुई जन्म और मरण आदि क्रियाओंको तुम नटकी मायामयी लीलाओंके समान ही समझो । वे इस जगत्‌को अपने आपहीसे रचकर इसमें प्रवेश करके विहार करते हैं और अन्तमें इसे अपनेहीमें लीन करके अपनी महिमामें स्थित हो जाते हैं ॥११॥

---

१. निविशन्तम् । २. सौदामिनी । ३. याति ।

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम्।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥१२॥
तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये-
ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत्प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं
मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥१३॥
य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम् ।
प्रयतः कीर्तयेद्भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥१४॥
दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः ।
पतित्वा चरणावस्रैर्न्यषिञ्चत्कृष्णविच्युतः ॥१५॥
कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप ।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्च्छिताः ॥१६॥
तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः[1] ।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम् ॥१७॥
देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम् ॥१८॥
प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः ।
उपगुह्य पतींस्तात[2] चितामारुरुहुः स्त्रियः ॥१९॥

जो मृत्युद्वारा यमलोकको ले जाये गये हुए गुरुपुत्रको वहाँसे उस मर्त्यशरीरके साथ ही ले आये तथा जिन शरणप्रद प्रभुने गर्भमें ब्रह्मास्त्रसे दग्ध होते हुए तुम्हारी रक्षा करके तुम्हें सकुशल बाहर निकाला, युद्धमें कालके भी काल महादेवजीको परास्त किया और अत्यन्त अपराधी व्याधको सदेह स्वर्गलोक भेज दिया, क्या वे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ थे ? ॥१२॥ तथापि उन प्रभुने, जो सर्वशक्तिधारी होनेके कारण सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके अनन्य कारण हैं, आत्मनिष्ठ पुरुषोंको यह गति दिखलानेके लिये कि इस मर्त्य-शरीरका कोई प्रयोजन नहीं है, अपने लीलामय मानव-देहको अवशिष्ट रखना नहीं चाहा। [अन्यथा आत्मनिष्ठ पुरुष भी दिव्यगतिकी उपेक्षा कर योगबलसे शरीरको स्थिर रख मर्त्यभोगोंको भोगते रहनेका प्रयत्न करने लगेंगे।] ॥१३॥ जो पुरुष प्रातःकाल उठकर श्रीकृष्णचन्द्रके परमपद-प्रयाणकी इस कथाको नियम-पूर्वक भक्तिके साथ पढ़ेगा वह उसी सर्वोत्तम गतिको प्राप्त हो जायगा ॥१४॥

इधर, कृष्ण-विरहसे व्याकुल हुआ दारुक द्वारकामें आया और अति विह्वल होकर राजा उग्रसेन और वसुदेवजीके चरणोंमें गिरकर उन्हें आँसुओंसे भिगोने लगा ॥१५॥ हे राजन् ! तदनन्तर उसने उन्हें सम्पूर्ण यदुवंशियोंके विनाशका समाचार कह सुनाया। इसको सुनते ही सब लोग उद्विग्नचित्त होकर शोकसे मूर्च्छित हो गये और तुरन्त ही भगवान् कृष्णके वियोगसे व्याकुल होकर शिर पीटते हुए जहाँ अपने बन्धु-बान्धव मरे पड़े थे वहाँ पहुँच गये ॥१६-१७॥ देवकी, रोहिणी तथा वसुदेवजी अपने दोनों पुत्र कृष्ण और बलरामको न देखकर चेतनाशून्य होकर गिर पड़े और उन्होंने भगवद्विरहसे आतुर होकर वहीं अपने प्राण छोड़ दिये। अपने-अपने स्वामियोंके शरीरोंको हृदयसे लगाकर स्त्रियाँ चिताओंपर चढ़ गयीं,

१. कृष्ण कृष्णेति विह्वलाः। २. स्ता वै०।

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन् ।
वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन्हरेः स्नुषाः ।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः २०
अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः ।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः॥२१॥
बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम् ।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः ॥२२॥
द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत्क्षणात् ।
वर्जयित्वा म[1]हाराज श्रीमद्भगवदालयम् ॥२३॥
नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान्मधुसूदनः ।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम् ॥२४॥
स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान्धनञ्जयः ।
इन्द्रप्रस्थं स[2]मावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत् ॥२५॥
श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः ।
त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम् ॥२६॥
य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२७॥
इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥२८॥

बलरामजीकी स्त्रियोंने उनके देहका आलिङ्गन करके अग्निमें प्रवेश किया, वसुदेवजीकी स्त्रियाँ उनके शरीरको लेकर चितामें चढ़ गयीं, भगवान्‌की पुत्र-वधुओंने प्रद्युम्नादिके साथ अग्निमें प्रवेश किया तथा भगवान् कृष्णचन्द्रकी रुक्मिणी आदि पटरानियाँ तद्गतचित्तसे उन्हींका स्मरण करती हुई अग्निमें प्रविष्ट हो गयीं ॥१८–२०॥ अर्जुन अपने परमप्रिय सखा भगवान् कृष्णके विरहसे अत्यन्त दुःखी हुए, किन्तु उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके ही दिये हुए (गीतोक्त) सदुपदेशसे अपनेको धैर्य बँधाया ॥ २१ ॥ फिर जिनका वंश नष्ट हो गया था उन मृत-बन्धुओंके लिये क्रमशः अर्जुनने शास्त्रविधिसे समस्त और्ध्वदैहिक कृत्य कराये ॥२२॥ हे महाराज ! श्रीहरिके त्याग देनेपर भगवान्‌के मन्दिरको छोड़कर शेष सम्पूर्ण द्वारकापुरीको समुद्रने एक क्षणमें डुबो दिया ॥२३॥ उस मन्दिरमें भगवान् मधुसूदन सदैव विराजते हैं; वह स्मरणमात्रसे समस्त अशुभोंका नाश करनेवाला और सम्पूर्ण मङ्गलोंमें अत्यन्त मङ्गलमय है ॥२४॥ तदनन्तर मरनेसे बचे हुए स्त्री, बालक और वृद्धोंको साथ लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये और वहाँ अनिरुद्धके पुत्र वज्रका राज्याभिषेक किया ॥२५॥ हे राजन् ! तुम्हारे पितामह पाण्डवगण, अर्जुनसे अपने सुहृद् यादवोंके नाशका समाचार सुनकर, अपने वंशधर तुमको राज्यपदपर अभिषिक्त करके महापथको चले गये ॥२६॥ जो मनुष्य देवाधिदेव भगवान् विष्णुके इन दिव्य जन्म और कर्मोंका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥२७॥ इस प्रकार यहाँ तथा अन्य ग्रन्थोंमें कहे एवं सुने हुए भगवान् श्रीहरिके इस अति मनोहर अवतारके पराक्रम तथा बाल-चरित्रोंको, जो परम कल्याणकारक हैं, सुनकर उनका गान करते रहनेसे मनुष्य परमहंसोंके गतिस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रमें परम भक्ति प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

समाप्तोऽयमेकादशः स्कन्धः ।

१. महाभाग । २. समाविश्य ।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीमद्भागवत

द्वादश स्कन्ध

सगुणो निर्गुणो भावः शून्याशून्यात्मकस्तथा ।
लीलाविलासो यस्यैव तं वन्दे बालवत्सपम् ।।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवत

द्वादश स्कन्ध

पहला अध्याय

कलियुगके राजवंशोंका वर्णन ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

राजोवाच

स्वधामानुगते कृष्णे यदुवंशविभूषणे ।
कस्य वंशोऽभवत्पृथ्व्यामेतदाचक्ष्व मे मुने ॥ १ ॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे मुने ! यदुवंशविभूषण भगवान् कृष्णके निजधाम पधारनेपर इस पृथिवीतलमें किसका वंश हुआ ? यह हमें सुनाइये ॥१॥

श्रीशुक उवाच

योऽन्त्यः पुरञ्जयो नाम भाव्यो वार्हद्रथो नृप ।
तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम् ॥ २ ॥
प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्ता यत्पालकः सुतः ।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः ॥ ३ ॥
नन्दिवर्धनस्तत्पुत्रः पञ्च प्रद्योतना इमे ।
अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः ॥ ४ ॥
शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः ।
क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः ॥ ५ ॥
विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति ।
दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः ॥ ६ ॥
नन्दिवर्धन आजेयो महानन्दिः सुतस्ततः ।
शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ ७ ॥
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः ।
महानन्दिसुतो राजञ्छूद्रीगर्भोद्भवो बली ॥ ८ ॥
महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् ।
ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः ॥ ९ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! महाराज बृहद्रथके वंशका जो पुरञ्जयनामक अन्तिम राजा होगा उसका मन्त्री शुनक अपने स्वामीको मारकर उसके स्थानपर अपने पुत्र प्रद्योतको राजा बनावेगा । उसका पुत्र पालक होगा, तथा पालकका पुत्र विशाखयूप, विशाखयूपका राजक और राजकका पुत्र नन्दिवर्धन होगा । ये पाँच प्रद्योतवंशी राजे एक सौ अड़तीस वर्षतक पृथिवीका राज्य भोगेंगे ॥२—४॥ तदनन्तर शिशुनागनामक राजा होगा, उसके काकवर्ण, काकवर्णके क्षेमधर्मा तथा क्षेमधर्माके क्षेत्रज्ञनामक पुत्र होगा ॥५॥ फिर क्षेत्रज्ञके विधिसार, विधिसारके अजातशत्रु, अजातशत्रुके दर्भक और दर्भकके अजयनामक पुत्र होगा ॥६॥ तथा अजयका पुत्र नन्दिवर्धन और नन्दिवर्धनका पुत्र महानन्दि होगा । हे कुरुश्रेष्ठ ! ये दश शिशुनागवंशी राजे कलियुगमें तीन सौ साठ वर्ष पृथिवीका राज्य भोगेंगे । हे राजन् ! फिर शूद्राके गर्भसे उत्पन्न हुआ महापद्मसंख्यक धनका स्वामी कोई महानन्दिका पुत्र महाबली नन्द क्षत्रियोंका नाश करनेवाला होगा । तबसे राजालोग शूद्रप्राय और अधार्मिक हो जायँगे ॥७—९॥

१. क० । २. भाव्यो । ३. जयोऽभवत् । ४. न्दिस्तु तत्सुतः । ५. भौम० । ६. ञ्छूद्रागर्भो० ।

स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लङ्घितशासनः ।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः ॥१०॥
तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्यप्रमुखाः सुताः ।
य इमां भोक्ष्यन्ति महीं राजानः स्म शतं समाः॥११॥
नव नन्दान्द्विजः कश्चित्प्रपन्नानुद्धरिष्यति ।
तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ॥१२॥
स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति ।
तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धनः ॥१३॥
सुयशा भविता तस्य सङ्गतः सुयशःसुतः ।
शालिशूकस्ततस्तस्य सोमशर्मा भविष्यति ॥१४॥
शतधन्वा ततस्तस्य[1] भविता तद्बृहद्रथः ।
मौर्या ह्येते दश नृपाः सप्त त्रिंशच्छतोत्तरम् ॥१५॥
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह ।
अग्निमित्रस्ततस्तस्मात्सुज्येष्ठोऽथ[3] भविष्यति ॥१६॥
वसुमित्रो भद्रकश्च पुलिन्दो भविता ततः ।
ततो घोषः सुतस्तस्माद्वज्रमित्रो भविष्यति ॥१७॥
ततो भागवतस्तस्माद्देवभूतिरिति[4] श्रुतः ।
शुङ्गा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम् ॥१८॥
ततः कण्वानियं भूमिर्यास्यत्यल्पगुणान्नृप ।
शुङ्गं हत्वा देवभूतिं कण्वोऽमात्यस्तु कामिनम्॥१९॥
स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवो महामतिः[5] ।
तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य[6] नारायणः सुतः ।
नारायणस्य भविता सुशर्मा नाम विश्रुतः ॥२०॥
काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां च कलौ युगे ॥२१॥

हे राजन् ! दूसरे परशुरामजीके समान, क्षत्रियोंका नाश करनेवाला वह महापद्मका धनी नन्द पृथिवीका एकच्छत्र शासन करेगा उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकेगा ॥१०॥ उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र होंगे, जो राजा होकर सौ वर्षतक इस पृथिवीका पालन करेंगे ॥११॥ फिर अपनेमें विश्वास करनेवाले उन नौ नन्दोंको कोई [चाणक्यनामक] ब्राह्मण समूल नष्ट कर देगा । तब उनका उच्छेद हो जानेपर इस पृथिवी-का कलियुगमें मौर्यवंशी नृपतिगण पालन करेंगे॥ १२ ॥ वह ब्राह्मण ही पहले-पहल चन्द्रगुप्त मौर्यको राज्यपर अभिषिक्त करेगा । चन्द्रगुप्तका पुत्र वारिसार और वारिसारका अशोकवर्धन होगा ॥१३॥ फिर अशोक-वर्धनका सुयशा, सुयशाका सङ्गत, सङ्गतका शालिशूक, शालिशूकका सोमशर्मा, सोमशर्माका शतधन्वा और शतधन्वाका पुत्र बृहद्रथ होगा । हे कुरुकुलोत्पन्न राजा परीक्षित् ! ये दश मौर्यवंशीय नरेश कलियुगमें एक सौ तीस वर्ष पृथिवीका राज्य-शासन करेंगे । [तदनन्तर राजा बृहद्रथका सेनापति पुष्पमित्र जिसका दूसरा नाम शुङ्ग होगा । अपने स्वामीको मारकर स्वयं राजा बन बैठेगा] । उसका पुत्र अग्निमित्र होगा और उसके सुज्येष्ठनामक पुत्र होगा ॥१४—१६॥ फिर क्रमशः वसुमित्र, भद्रक और पुलिन्दनामक राजा होंगे; तथा पुलिन्दके घोष, घोषके वज्रमित्र, वज्रमित्रके भागवत और भागवतके देवभूतिनामक पुत्र होगा । ये दश शुङ्गवंशीय भूपाल सौ वर्षसे भी अधिक पृथिवीका पालन करेंगे ॥१७-१८॥

हे नृप ! फिर यह भूमि अल्पगुणवान् कण्व नरेशोंके हाथमें चली जायगी । हे राजन् ! अपने स्त्रीलम्पट स्वामी शुङ्गवंशीय देवभूतिको मारकर उसका मतिमान् मन्त्री वसुदेव कण्व स्वयं राज्यशासन करेगा । उसका पुत्र भूमित्र होगा, भूमित्रका पुत्र नारायण होगा तथा नारायणके सुशर्मानामसे विख्यात पुत्र होगा ॥१९-२०॥ ये कण्ववंशी चार नृपतिगण कलियुगमें तीन सौ पैंतालीस वर्ष पृथिवीका शासन करेंगे ॥२१॥

१. तश्चापि तत्सुतः । २. सुत० । ३. ऽथ भविता ततः । ४. तिः कुरूद्वह । ५. महीपतिः । ६. स्ततो ना० ।

हत्वा काण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली ।
गां भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयः कञ्चित्कालमसत्तमः ॥२२॥
कृष्णनामाथ तद्भ्राता भविता पृथिवीपतिः ।
श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः ॥२३॥
लम्बोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माच्चिबिलको नृपः ।
मेघस्वातिश्चिबिलकादटमानस्तु तस्य च ॥२४॥
अनिष्टकर्मा हालेयस्तलकस्तस्य चात्मजः ।
पुरीषभीरुस्तत्पुत्रस्ततो राजा सुनन्दनः ॥२५॥
चकोरो नवमो यत्र शिवस्वातिररिन्दम ।
तस्यापि गोमतीपुत्रः पुरीमान्भविता ततः ॥२६॥
मेदःशिराः शिवस्कन्दो यज्ञश्रीस्तत्सुतस्ततः ।
विजयस्तत्सुतो भाव्यश्चन्द्रविज्ञः सलोमधिः ॥२७॥

हे राजन् ! फिर कण्ववंशी सुशर्माको मारकर उसका भृत्य अन्ध्रजातीय बलिनामक अत्यन्त दुष्ट शूद्र कुछ काल स्वयं ही पृथिवीको भोगेगा ॥ २२ ॥ उसके पश्चात् उसका भाई कृष्ण पृथिवीपति होगा । उसका पुत्र श्रीशान्तकर्ण और श्रीशान्तकर्णका पुत्र पौर्णमास होगा ॥२३॥ पौर्णमासका पुत्र लम्बोदर, लम्बोदरका राजा चिबिलक, चिबिलकका मेघस्वाति, मेघस्वातिका अटमान, अटमानका अनिष्टकर्मा, उसका हालेय, हालेयका पुत्र तलक, तलकका पुरीषभीरु और पुरीषभीरुका पुत्र राजा सुनन्दन होगा ॥२४-२५॥ हे शत्रुदमन ! फिर सुनन्दनके चकोर, चकोरके नव पुत्र राजा होंगे, जिनमें नवाँ शिवस्वाति होगा, शिवस्वातिके गोमतीपुत्र और उसके पुरीमान्नामक पुत्र होगा ॥२६॥ फिर पुरीमान्के मेदःशिरा, उसके शिवस्कन्द, शिवस्कन्दके यज्ञश्री, यज्ञश्रीके विजय, विजयके चन्द्रविज्ञ और चन्द्रविज्ञके सलोमधिनामक पुत्र होगा ॥२७॥ हे कुरुनन्दन ! ये तीस राजागण चार सौ छप्पन वर्ष पृथिवीका राज्य भोगेंगे ॥२८॥

एते त्रिंशन्नृपतयश्चत्वार्यब्दशतानि च ।
षट्पञ्चाशच्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति कुरुनन्दन ॥२८॥
सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्दभिनो नृपाः ।
कङ्काः षोडशभूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपाः ॥२९॥
ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः ।
भूयो दश गुरुण्डाश्च मौना एकादशैव तु ॥३०॥
एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च ।
नवाधिकां च नवतिं मौना एकादश क्षितिम् ॥३१॥
भोक्ष्यन्त्यब्दशतान्यङ्ग त्रीणि तैः संस्थिते ततः ।
किलिकिलायां नृपतयो भूतनन्दोऽथ वङ्गिरिः ॥३२॥
शिशुर्नन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः ।
इत्येते वै वर्षशतं भविष्यन्त्यधिकानि षट् ॥३३॥
तेषां त्रयोदश सुता भवितारश्च बाह्लिकाः ।
पुष्पमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च ॥३४॥
एककाला इमे भूपाः सप्तान्ध्राः सप्त कोशलाः ।
विदूरपतयो भाव्या निषधास्तत एव हि ॥३५॥

तदनन्तर, अवभृतिपुरीके रहनेवाले अत्यन्त लोलुप सात आभीर, दश गर्दभी और सोलह कङ्कजातीय नरेश होंगे ॥२९॥ उनके पश्चात् आठ यवन, चौदह तुरुष्क, दश गुरुण्ड और ग्यारह मौनजातीय पृथिवीपति होंगे ॥३०॥ [मौनोंके अतिरिक्त] ये सब राजे एक हजार निन्यानवे वर्ष पृथिवीका भोग करेंगे । किन्तु ग्यारह मौननरेश तीन सौ वर्ष राज्य भोगेंगे । फिर मौनोंका अन्त होनेपर किलिकिलानामक नगरीमें क्रमशः भूतनन्द, वङ्गिरि, वङ्गिरिका भाई शिशुनन्दि तथा यशोनन्दि और प्रवीरक—ये राजालोग एक सौ छः वर्ष राज्यशासन करेंगे ॥३१—३३॥ इनके बाह्लिकसंज्ञक तेरह पुत्र होंगे । उनके पश्चात् पुष्पमित्रनामक क्षत्रिय और उसका पुत्र दुर्मित्र पृथिवीका भोग करेंगे ॥३४॥ हे राजन् ! इन बाह्लिकवंशीय राजाओंमेंसे एक समय ही सात अन्ध्रदेशके और सात कोशलदेशके अधिपति होंगे; तथा कुछ विदूरपति और कुछ निषधनरेश होंगे ॥३५॥

१. भविष्यत्यवनीपतिः । २. सिद्धस्वा० । ३. वीर्यः । ४. नन्दश्च । ५. प्रवर्तकः । ६. पुष्पनिद्रो । ७. नैष० ।

मगधानां तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरञ्जयः ।
करिष्यत्यपरो वर्णान्पुलिन्दयदुमद्रकान् ॥३६॥
प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः ।
वीर्यवान्क्षत्रमुत्साद्य पद्मावत्यां स वै पुरि ।
अनुगङ्गामाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥३७॥
सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूरा अर्बुदमालवाः ।
व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः॥३८॥
सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम् ।
भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्या म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः ।३९।
तुल्यकाला इमे राजन्म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः ।
एतेऽधर्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः ॥४०॥
स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः ।
उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः ॥४१॥
असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसावृताः ।
प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः ॥४२॥
तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः ।
अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः ॥४३॥

मगधदेशमें विश्वस्फूर्जि[1]नामक राजा होगा; वह पूर्वोक्त पुरञ्जयके अतिरिक्त दूसरे पुरञ्जयके नामसे विख्यात होगा और पुलिन्द, यदु एवं मद्रदेशवासी ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंको आचारभ्रष्ट करके म्लेच्छप्राय कर डालेगा ॥ ३६ ॥ वह महाबलवान् दुर्बुद्धि राजा क्षत्रियोंको निकालकर पद्मावतीपुरीमें ब्राह्मणादि वर्णोंकी कमी करके अधिकांश शूद्र-प्रजाकी स्थापना करेगा और हरिद्वारसे प्रयागपर्यन्त भूमिको भली प्रकार सुरक्षित कर भोगेगा ॥३७॥ फिर सुराष्ट्र, अवन्ती, आभीर, शूर, अर्बुद और मालवदेशीय ब्राह्मणगण संस्कारशून्य हो जायँगे और राजालोग शूद्रप्राय हो जायँगे॥ ३८ ॥ तथा सिन्धुतट, चन्द्रभागा, कौन्तीपुरी और काश्मीर-मण्डलको शूद्र तथा संस्कारशून्य एवं ब्रह्मतेजोहीन द्विज एवं म्लेच्छादि भोगेंगे ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! ये म्लेच्छप्राय नृपतिगण एक ही समयमें होंगे । ये अधर्म और असत्यमें तत्पर, अल्पदानी और अत्यन्त क्रोधी होंगे ॥ ४० ॥ ये लोग स्त्री, बालक, गौ और द्विजोंकी हत्या करनेवाले, परस्त्री और परधनके लोलुप, क्षण-क्षणमें प्रसन्न और कुपित होनेवाले अल्पवीर्य और अल्पायु, संस्कारशून्य, क्रियारहित एवं रजोगुण-तमोगुणसे भरे होंगे । वे राजारूपी म्लेच्छ अपनी प्रजाको लूटकर भक्षण कर जायँगे ॥ ४१-४२ ॥ ऐसे राजाओंके अधिकारमें रहनेवाले और वैसा ही आचरण तथा कथन करनेवाले देश एवं वहाँके निवासी परस्पर एक दूसरेसे तथा राजाओंसे पीडित होकर क्षयको प्राप्त हो जायँगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

१. विस्फूर्जितपु० ।

दूसरा अध्याय

कलिधर्मनिरूपण ।

श्रीशुक उवाच

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया ।
कालेन बलिना राजन्नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः ॥ १ ॥
वित्तमेव कलौ नॄणां जन्माचारगुणोदयः ।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि ॥ २ ॥
दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके ।
स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि ॥ ३ ॥
लिङ्गमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम् ।
अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः ॥ ४ ॥
अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु ।
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम् ॥ ५ ॥
दूरेवार्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम् ।
उदरम्भरता स्वार्थः सत्यत्वे धार्ष्ट्यमेव हि ॥ ६ ॥
दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्मसेवनम् ।
एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले ॥ ७ ॥
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः ।
प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः ॥ ८ ॥
आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम् ।
शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ॥ ९ ॥
अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः ।
शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योन्यतः प्रजाः ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! फिर प्रबल कालके प्रभावसे दिन-दिन धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया, आयु, बल और स्मृतिका क्षय होने लगेगा ॥ १ ॥ कलियुगमें धन ही मनुष्योंकी कुलीनता, आचार और गुणोंके उदयका कारण होगा तथा बल ही धर्म और न्यायकी व्यवस्थाका कारण होगा ॥ २ ॥ उस समय दाम्पत्यधर्ममें पारस्परिक रुचि, व्यवहारमें कपट, स्त्री और पुरुषोंकी श्रेष्ठतामें रतिचातुर्य और ब्राह्मणत्वमें यज्ञोपवीत ही प्रमुख कारण समझा जायगा ॥ ३ ॥ भिन्न-भिन्न आश्रमोंकी पहचान और एक आश्रमसे दूसरे आश्रमको स्वीकार करनेमें उन आश्रमोंके चिह्न ही हेतु होंगे, घूस देनेकी असमर्थता होनेपर न्यायमें हार उठानी पड़ेगी और वाणीकी चपलता ही पाण्डित्यका चिह्न होगी ॥ ४ ॥ इसी प्रकार धनहीनता असाधुताका, दम्भ ही साधुत्वका, स्वीकार कर लेना विवाहका और केवल स्नान कर लेना ही शरीरको अलङ्कृत करनेका हेतु होगा ॥ ५ ॥ उस समय दूरवर्ती जलाशय ही तीर्थ माने जायँगे, केशोंको सजाना ही सौन्दर्यका कारण होगा, केवल पेट पालना ही स्वार्थ होगा और धृष्टता (निःसंकोच होकर बातें बनाना) ही सत्यताका चिह्न समझा जायगा ॥ ६ ॥ अपने कुटुम्बका पालन करना—यही बड़ी चतुरता होगी और यशके लिये ही धर्मका सेवन किया जायगा ।

इस प्रकार जब सम्पूर्ण भूमण्डल दुष्ट प्रजाओंसे व्याप्त हो जायगा और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंमेंसे जो शक्तिशाली होगा वही राजा होने लगेगा, उस समय लोभी, क्रूर और लुटेरोंके-से आचरणवाले राजाओंद्वारा धन और स्त्रियोंके हर लिये जानेसे प्रजाजन पर्वत और वनोंमें चले जायँगे तथा वहाँ शाक, मूल, मांस, मधु, फल, फूल और गुठली आदि खाकर अपना निर्वाह करेंगे ॥ ७–९ ॥ उनमेंसे बहुतसे प्रजाजन अनावृष्टि और दुष्काल तथा राजकरसे पीडित होकर तथा बहुतसे शीत, वायु, घाम, वर्षा तथा हिम-से और आपसमें झगड़कर नष्ट हो जायँगे ॥१०॥

क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव संतप्स्यन्ते च चिन्तया।
त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम् ॥११॥

हे राजन्! क्षुधा, पिपासा, व्याधि, चिन्ता और दुःखोंसे घिरे रहनेके कारण कलियुगमें मनुष्योंकी परमायु केवल बीस-तीस वर्षकी होगी ॥ ११ ॥

क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः।
वर्णाश्रमवतां धर्मे नष्टे वेदपथे नृणाम् ॥१२॥
पाखण्डप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु।
चौर्यानृतवृथाहिंसानानावृत्तिषु वै नृषु ॥१३॥
शूद्रप्रायेषु वर्णेषुच्छागप्रायासु धेनुषु।
गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु ॥१४॥
अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु।
विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु ॥१५॥
इत्थं कलौ गतप्राये जने[2] तु खरधर्मिणि।
धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति ॥१६॥

इस प्रकार कलियुगके दोषसे जब देहधारियोंके शरीर छोटे होने लगेंगे, वर्णाश्रमधर्मवालोंका वेदमार्ग नष्ट हो जायगा ॥ १२ ॥ धर्ममें पाखण्डकी प्रधानता हो जायगी, राजालोग चोरोंके समान हो जायँगे, लोग चोरी, असत्य और वृथा हिंसा आदि नाना प्रकारके कुकर्मोंसे अपनी आजीविका करने लगेंगे ॥ १३ ॥ सब वर्ण शूद्रप्राय हो जायँगे, गौएँ बकरियोंके समान हो जायँगी, सब आश्रम गृहस्थोंके समान आचरण करने लगेंगे और स्त्रीके सम्बन्धी ही अपने सम्बन्धी माने जाने लगेंगे ॥ १४ ॥ सम्पूर्ण वनस्पतियाँ छोटी-छोटी हो जायँगी, सभी वृक्ष शमीके समान छोटे हो जायँगे, मेघोंमें बिजली ही अधिक रह जायगी तथा गृह [अतिथिसत्कारादि धर्मोंसे रहित होकर] शून्यप्राय हो जायँगे ॥ १५ ॥ इस प्रकार जब लोगोंमें असह्य चेष्टाकी प्रवृत्ति करनेवाले कलियुगकी समाप्तिका समय होगा तब श्रीभगवान् धर्मकी रक्षाके लिये सत्त्वगुणसे युक्त होकर अवतार धारण करेंगे ॥ १६ ॥

चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः।
धर्मत्राणाय साधूनां जन्मकर्मापनुत्तये ॥१७॥

चराचरगुरु सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीविष्णुभगवान्‌का अवतार धर्मकी रक्षा एवं साधु पुरुषोंके जन्म और कर्मके बन्धनको काटनेके लिये हुआ करता है ॥ १७ ॥

शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ॥१८॥

वे कल्किभगवान् ग्रामश्रेष्ठ शम्भलमें रहनेवाले विप्रवर महात्मा विष्णुयशाके यहाँ अवतीर्ण होंगे ॥ १८ ॥

अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः।
असिनासाधुदमनमष्टैश्वर्यगुणान्वितः ॥१९॥
विचरन्नाशुना[3] क्षोण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः।
नृपलिङ्गच्छदो दस्यून्कोटिशो निहनिष्यति ॥२०॥

वे अणिमादि आठ ऐश्वर्योंसे युक्त जगत्पति कल्किभगवान् देवदत्तनामक एक शीघ्रगामी अश्वपर आरूढ हो तलवारसे दुष्टोंका दमन करेंगे ॥ १९ ॥ वे अतुलित तेजस्वी कल्किभगवान् उस शीघ्रगामी अश्वपर चढ़कर पृथिवीपर घूम-घूमकर नृपवेषसे छिपे हुए करोड़ों दस्युओंका संहार करेंगे ॥ २० ॥

अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विशदानि वै।
वासुदेवाङ्गरागातिपुण्यगन्धानिलस्पृशाम्।
पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु ॥२१॥

इस प्रकार सम्पूर्ण दस्युओंके मारे जानेपर श्रीवासुदेवभगवान्‌के अङ्गोंमें लगे हुए अङ्गरागकी पवित्र गन्धसे सुवासित वायुका स्पर्श पाकर उन पुरवासी और जनपदवासियोंके चित्त अत्यन्त निर्मल हो जायँगे ॥ २१ ॥

१. सन्तप्स्यन्ते। २. नेषु खरधर्मिषु। ३. न्नसिना।

तेषां प्रजाविसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति ।
वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्तौ हृदि स्थिते ॥२२॥
यदावतीर्णो भगवान्कल्किर्धर्मपतिर्हरिः ।
कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी ॥२३॥
यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती ।
एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति तत्कृतम् ॥२४॥

फिर सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेवके हृदयमें विराजमान होनेपर उनकी सन्तति उत्तरोत्तर स्थूलकाय होने लगेगी ॥ २२ ॥ जिस समय धर्मरक्षक हरि-भगवान् कल्किका अवतार होगा तबसे सत्ययुगका आरम्भ हो जायगा और प्रजाकी सन्तान सात्त्विक होने लगेगी ॥ २३ ॥ जिस समय चन्द्रमा, सूर्य और पुष्य नक्षत्रके बृहस्पति—ये तीनों ग्रह एक राशिपर आ जाते हैं उस समय सत्ययुग बर्तने लगता है ॥२४॥

ये[१]ऽतीता वर्तमाना ये भविष्यन्ति च पार्थिवाः ।
ते त उद्देशतः प्रोक्ता वंशीयाः सोमसूर्ययोः[२] ॥२५॥
आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् ।
एतद्वर्षसहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम् ॥२६॥
सप्तर्षीणां तु यौ[३] पूर्वौ दृश्येते उदितौ दिवि ।
तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत्समं निशि ॥२७॥
तेनैत ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम् ।
ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः॥२८॥

हे राजन् ! सूर्य और चन्द्रवंशके जो-जो नृपतिगण पहले हो चुके हैं, जो इस समय वर्तमान हैं और जो भविष्यमें होंगे उन सबका मैंने तुमसे संक्षेपमें वर्णन कर दिया ॥ २५ ॥ तुम्हारे जन्मसे लेकर राजा नन्दके राज्याभिषेकपर्यन्त एक हजार एक सौ पन्द्रह वर्ष लगेंगे ॥२६॥ आकाशमें सप्तर्षियोंमेंसे जो दो तारे पहले उदित होते दिखायी देते हैं उनके बीचमें दक्षिणोत्तर रेखापर समभागमें अश्विनी आदिमेंसे जो एक नक्षत्र दिखायी देता है, उसके सहित ये सप्तर्षि मनुष्योंके सौ वर्षतक उसी स्थितिमें रहते है । आजकल तुम्हारे समयमें वे सप्तर्षि मघाका आश्रय लेकर स्थित हैं ॥ २७-२८ ॥

विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः ।
तदाविशत्कलिर्लोकं पापे यद्रमते जनः ॥२९॥
यावत्स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः ।
तावत्कलिर्वै पृथिवीं पराक्रान्तुं न चाशकत् ॥३०॥
यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि ।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः ॥३१॥
यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः ।
तदा नन्दात्प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति ॥३२॥
यस्मिन्कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि ।
प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः ॥३३॥
दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम् ।

जिस समय भगवान् विष्णुका कृष्णनामक शुद्ध-सत्त्वमय विग्रह परम धाममें सिधारा था तभीसे जिसमें मनुष्य पापमें तत्पर हो जाते हैं उस कलियुगने संसारमें प्रवेश किया है ॥ २९ ॥ जबतक लक्ष्मीपति भगवान् कृष्ण अपने चरणकमलोंसे पृथिवीको स्पर्श करते रहे तबतक कलियुग पृथिवीपर अपना पराक्रम नहीं प्रकट कर सका ॥ ३० ॥ जबसे सप्तर्षिगण मघा नक्षत्रपर आये हैं तभीसे बारह सौ दिव्यवर्ष रहनेवाला कलियुग प्रवृत्त हुआ है ॥ ३१ ॥ जिस समय ये सप्तर्षि मघासे पूर्वाषाढा नक्षत्रमें जायँगे उस समय राजा नन्दका राज्य रहेगा, तभीसे यह कलियुग बढ़ने लगेगा ॥ ३२ ॥ पुराविदोंका कथन है कि जिस दिन भगवान् कृष्ण दिव्यधामको पधारे थे उसी दिनसे कलियुगका आगमन हुआ है ॥ ३३ ॥ हे राजन् ! एक सहस्र दिव्यवर्षोंके बीतनेके बाद चतुर्थ

१. अतीता । २. सूर्यसोमयोः । ३. पूर्वौ यौ ।

भविष्यति यदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम् ॥३४॥

(कलि) युगका अन्त होनेपर जब मनुष्योंका चित्त आत्मस्वरूपका प्रकाश करनेवाला हो जायगा उस समय सत्ययुगका पुनः आगमन होगा ॥ ३४ ॥

इत्येष मानवो वंशो यथा संख्यायते भुवि ।
तथा विट्शूद्रविप्राणां तास्ता ज्ञेया युगे युगे ॥३५॥
एतेषां नामलिङ्गानां पुरुषाणां महात्मनाम् ।
कथामात्रावशिष्टानां कीर्तिरेव स्थिता भुवि ॥३६॥
देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः ।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥३७॥
ताविहैत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ ।
वर्णाश्रमयुतं धर्मं पूर्ववत्प्रथयिष्यतः ॥३८॥
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते ॥३९॥
राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथापरे ।
भूमौ ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः ॥४०॥
कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि यस्य च ।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥४१॥
कथं सेयमखण्डा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता[1] ।
मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा[2] वंशजस्य वा ॥४२॥
तेजोऽबन्नमयं कायं गृहीत्वात्मतया बुधाः ।
महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः ॥४३॥
ये ये भूपतयो राजन्भुञ्जते भुवमोजसा ।
कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च ॥४४॥

हे राजन् ! जिस प्रकार लोकमें इस मनुवंशकी गणना की जाती है उसी प्रकार युग-युगमें वैश्य, शूद्र और ब्राह्मणोंके वंशोंकी भी परम्परा समझ लेनी चाहिये ॥ ३५ ॥ जिनकी कथामात्र ही शेष रह गयी है ऐसे नामहीसे पहचाने जानेवाले इन महात्माओंकी अब पृथिवीमें केवल कीर्ति ही स्थिर रही है ॥ ३६ ॥ इस समय शन्तनुके भाई देवापि और इक्ष्वाकुकुलोद्भव महाराज मरु महान् योगबलसे सम्पन्न हुए कलापग्राममें स्थित हैं ॥ ३७ ॥ ये दोनों कलिके अन्तमें यहाँ आकर श्रीवासुदेवभगवान्‌की प्रेरणासे वर्णाश्रम-युक्त धर्मकी पहलेकी भाँति स्थापना करेंगे ॥ ३८ ॥ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चारों युग पृथिवी-पर इसी क्रमसे प्राणियोंमें बर्तते रहते हैं ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! मेरे कहे हुए ये समस्त नृपतिगण तथा अन्य राजालोग भी इस पृथिवीमें ममता करके अन्तमें इसे छोड़कर नाशको प्राप्त हो गये हैं ॥ ४० ॥ अहो ! जिसका नाम राजा है और जिसकी अन्तमें [सड़ जानेपर] कृमि, [किसीसे खा लिये जानेपर] विष्ठा तथा [जला डालनेपर] भस्म संज्ञा हो जाती है उस शरीरके लिये जो अन्य प्राणियोंसे द्रोह करता है क्या वह अपने स्वार्थको जानता है ? अर्थात् नहीं जानता क्योंकि इससे तो उसे नरकहीमें जाना पड़ता है ॥४१॥ 'जिस अखण्ड भूमण्डलको मेरे पूर्वजोंने शासित किया था वह मेरेसहित मेरे वंशधर पुत्र और पौत्रोंपर कैसे रह सकेगी ?' ॥ ४२ ॥ इस प्रकार तेज, अप् और अन्नके विकाररूप इस शरीरको आत्मा मानते हुए और पृथिवीको अपनी समझते हुए वे मूढ़ राजालोग इन दोनोंहीको छोड़कर अन्तमें लीन हो गये ॥४३॥ हे राजन् ! जो-जो राजा इस भूमण्डलको बड़े उत्साहसे भोगते हैं उन सभीको कालने कथाओंमें केवल नाममात्र शेष रख दिया है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

१. शासितो । २. राजन्यास्त्वाधिपस्य ।

तीसरा अध्याय

राजमदके दोष, चारों युगोंके धर्म और कलिकालमें हरिनामकीर्तनके माहात्म्यका वर्णन।

श्रीशुक उवाच

दृष्ट्वात्मनि जये[1] व्यग्रान्नृपान्हसति भूरियम्।
अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः॥ १॥
काम एष नरेन्द्राणां मोघः स्याद्विदुषामपि।
येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः॥ २॥
पूर्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः।
ततः सचिवपौराप्तकरीन्द्रानस्य[2] कण्टकान्॥ ३॥
एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलाम्।
इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम्॥ ४॥
समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम्॥ ५॥
यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह।
गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः॥ ६॥
मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातॄणां चापि विग्रहः।
जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसाम्॥ ७॥
ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः।
स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः॥ ८॥
पृथुः पुरूरवा गाधिर्नहुषो[3] भरतोऽर्जुनः।
मान्धाता सगरो रामः खट्वाङ्गो धुन्धुहा रघुः॥ ९॥
तृणबिन्दुर्ययातिश्च शर्यातिः शन्तनुर्गयः।
भगीरथः कुवलयाश्वः ककुत्स्थो नैषधो नृगः॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! अपनेको जीतनेके लिये व्यग्र हुए राजाओंको देखकर यह पृथिवी हँसती है कि 'अहो! ये मृत्युके खिलौनेरूप नृपतिगण मुझे जीतना चाहते हैं!'॥ १॥ विद्वान् राजाओंको भी यह विजय-कामना व्यर्थ ही हुआ करती है, जिसके वशीभूत होकर ये नृपतिगण पानीके बुलबुलेके समान अत्यन्त अस्थिर इस शरीरमें विश्वास करते हैं॥२॥ 'हम पहले षड्वर्गको जीतेंगे; फिर राजमन्त्रियोंको स्वाधीन कर विजयके विरोधी अमात्य, पुरवासी, आप्त-पुरुष और गजराजोंपर अधिकार जमावेंगे॥ ३॥ इसी प्रकार क्रमशः हम समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथिवीको जीत लेंगे।' हृदयमें ऐसी ही अनेकों आशाएँ बाँधकर ये अपने समीपवर्ती कालको नहीं देखते॥ ४॥ इनमेंसे कोई-कोई तो समुद्रसे घिरी हुई मुझको जीतकर फिर [अन्य देशोंपर आधिपत्य स्थापित करनेके लिये] बड़े उत्साहसे समुद्र पार करते हैं। किन्तु मनोजयके सामने इस पृथिवी-विजयका क्या मूल्य है? क्योंकि मनको वशमें कर लेनेसे तो मुक्ति प्राप्त हो सकती है॥ ५॥ हे कुरुनन्दन! पृथिवी कहती है 'जिसे त्यागकर मनु और मनुपुत्र भी जैसे आये थे वैसे ही खाली हाथ चले गये उसी मुझको ये मूढमति युद्धमें जीतना चाहते हैं॥ ६॥ देखो, जिनका चित्त राज्यमें आसक्त है उन दुष्टोंमें मेरे लिये पिता-पुत्रका और भाई-भाईका झगड़ा खड़ा हो जाता है॥ ७॥ 'रे मूढ! यह सम्पूर्ण पृथिवी मेरी ही है, तेरी नहीं' इस प्रकार कहकर एक-दूसरेसे स्पर्धा करते हुए राजा-लोग आपसमें मेरे लिये ही प्रहार करते हैं और मारे जाते हैं॥ ८॥ पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुष, भरत, सहस्रार्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वाङ्ग, धुन्धुमार, रघु॥९॥ तृणबिन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व, ककुत्स्थ, नैषध (नल), नृग॥ १०॥

---

१. यव्यग्रा०। २. नश्वकण्ट०। ३. भरतो नहुषो।

हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः ।
नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः ॥११॥
अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेश्वराः ।
सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः ॥१२॥
ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिणः ।
कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृता विभो ॥१३॥
कथा इमास्ते कथिता महीयसां
विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो
वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥१४॥
यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः
संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥१५॥

हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, लोकोंको रुलानेवाला रावण, नमुचि, शम्बर, भौमासुर, हिरण्याक्ष और तारक ॥११॥ तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से दैत्य और राजालोग जो सभी बड़े ऐश्वर्यसम्पन्न, सर्वज्ञ, शूरवीर, सबको जीतनेवाले और किसीसे भी पराजित न होनेवाले थे ॥१२॥ उन मरणधर्मा राजाओंने मुझमें अत्यन्त ममता की थी, किन्तु कराल कालने उनके मनोरथ पूर्ण होनेसे पहले ही उन्हें नष्ट कर दिया, अब उनकी केवल कथामात्र शेष रह गयी है ॥ १३ ॥ हे राजन् ! जो लोकमें अपनी कीर्तिका विस्तार कर पञ्चत्वको प्राप्त हो गये उन महापुरुषोंकी यह कथा मैंने ज्ञान और वैराग्यका वर्णन करनेकी इच्छासे ही तुम्हें सुनायी है । किन्तु यह सब वाणीका विलासमात्र ही है, परमार्थ नहीं ॥ १४ ॥ इस लोकमें श्रीउत्तमश्लोक भगवान्‌के जिस गुणानुवादका निरन्तर गान किया जाता है वही सम्पूर्ण अमङ्गलोंको नष्ट करनेवाला है । जिस पुरुषको भगवान् कृष्णकी निर्मल भक्तिकी इच्छा हो वह नित्य-प्रति उसीका श्रवण करे ॥ १५ ॥

राजोवाच

केनोपायेन भगवन्कलेर्दोषान्कलौ जनाः ।
विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने ॥१६॥
युगानि युगधर्मांश्च मानं प्रलयकल्पयोः ।
कालस्येश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मनः ॥१७॥

राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे भगवन् ! हे मुने ! कलियुगमें कलिके बढ़े हुए दोषोंको लोग किस प्रकार दूर करेंगे, सो आप मुझसे कहिये ॥ १६ ॥ इसके सिवा युग, युगोंके धर्म, प्रलय और स्थितिकालका प्रमाण तथा परमेश्वर भगवान् विष्णुकी कालमूर्त्तिके स्वरूपका भी वर्णन कीजिये ॥ १७ ॥

श्रीशुक उवाच

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः[3] ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥१८॥
सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥१९॥
त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः ।
अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः ॥२०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! सत्ययुगमें उस समयके लोगोंसे धारण किया हुआ धर्म चार चरणोंसे युक्त रहता है; सत्य, दया, तप और दान—ये ही भगवान् धर्मके चार चरण हैं ॥ १८ ॥ उस समयके पुरुष सन्तोषी, कारुणिक, सुहृद्, शान्त, जितेन्द्रिय, सहनशील, आत्माराम, समदर्शी और प्रायः आत्माभ्यासमें लगे रहनेवाले होते हैं ॥ १९ ॥ त्रेतायुगमें असत्य, हिंसा, असन्तोष और विग्रह—इन अधर्मके चार चरणोंसे धीरे-धीरे धर्मके चरणोंका चतुर्थांश क्षीण हो जाता है ॥ २० ॥

१. नरेश्वराः । २. हितायुः। ३. ष्पादो जनै० । ४. सुमहाजनाः ।

तदा क्रियातपोनिष्ठा नातिहिंस्रो न लम्पटाः ।
त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप ॥२१॥

हे राजन्! उस समयके ब्राह्मणप्रधान वर्ण कर्मकाण्ड और तपस्यामें तत्पर, अत्यन्त हिंसा और लम्पटतासे रहित, अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्गका सेवन करनेवाले और वैदिक मार्गमें कुशल होते हैं ॥ २१ ॥

तपःसत्यदयादानेष्वर्धं ह्रसति द्वापरे ।
हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः ॥२२॥

फिर द्वापरमें हिंसा, असन्तोष, असत्य और द्वेष—इन अधर्मके चरणोंसे तप, सत्य, दया और दानका आधा-आधा भाग क्षीण हो जाता है ॥ २२ ॥

यशस्विनो महाशीलाः स्वाध्यायाध्ययने रताः ।
आढ्याः कुटुम्बिनो हृष्टा वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तराः ॥२३॥

उस समयके क्षत्रिय और ब्राह्मणप्रधान वर्ण बड़े यशस्वी, उदार, स्वाध्याय और अध्ययनमें तत्पर, धनाढ्य, कुटुम्बी और प्रसन्न रहनेवाले होते हैं ॥ २३ ॥

कला तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्महेतुभिः ।
एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति ॥२४॥

किन्तु इस कलियुगमें बढ़ते हुए अधर्मके कारणोंसे धर्मके चरणोंका केवल चतुर्थांश रह जाता है; और वह भी क्षीण होता हुआ अन्तमें नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

तस्मिँल्लुब्धा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः ।
दुर्भगा भूरितर्षाश्च शूद्रदासोत्तराः प्रजाः ॥२५॥

इस युगमें शूद्र और दासप्रधान प्रजा अत्यन्त लोलुप, दुराचारिणी, निर्दय, व्यर्थ वैर करनेवाली, अभागिनी और अधिक कामनावाली होती है ॥ २५ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः ।
कालसञ्चोदितास्ते वै परिवर्तन्त आत्मनि ॥२६॥

प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च ।
तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद्रुचिः ॥२७॥

यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम् ।
तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन् ॥२८॥

यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः ।
कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः ॥२९॥

यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम् ।
शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः ॥३०॥

यस्मात्क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः ।
कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः ॥३१॥

पुरुषमें सत्त्व, रज और तम——ये तीनों गुण देखे जाते हैं और वे कालकी प्रेरणासे चित्तमें परिवर्तित होते रहते हैं ॥ २६ ॥ जिस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सत्त्वमें स्थित होती हैं उस समय सत्ययुग समझना चाहिये, जिससे पुरुषकी ज्ञान और तपमें रुचि होती है ॥ २७ ॥ हे बुद्धिमन्! जब देहधारियोंकी प्रीति धर्म, अर्थ और काममें होती है उस समय रजःप्रधान त्रेतायुग समझो ॥ २८ ॥ जिस समय लोभ, असन्तोष, मान, दम्भ और मत्सर आदि वर्तमान हों तथा काम्य कर्मोंकी प्रवृत्ति हो उस समय रजस्तमःप्रधान द्वापर युग समझना चाहिये ॥ २९ ॥ और जब कपट, असत्य, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय और दीनताका प्रसार हो तब तमोमय कलियुग माना जाता है ॥ ३० ॥ जिसमें कि लोग मन्ददृष्टि, मन्दभाग्य, बहुत अधिक खानेवाले, कामी और धनहीन हो जायँगे तथा स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी और असाध्वी हो जायँगी ॥ ३१ ॥

१. सा। २. त्तमाः। ३. नश्यति। ४. द्रा दा०। ५. संयोजि०। ६. यदा कर्मसु काम्येषु भक्तिर्यशसि देहिनाम्। ७. नीत बुद्धिमान्।

दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पाखण्डदूषिताः ।
राजानश्च प्रजाभक्षाः शिश्नोदरपरा[1] द्विजाः ॥३२॥
अव्रता बटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः ।
तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः ॥३३॥
ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः ।
शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः ॥३४॥
पणयिष्यन्ति वै क्षुद्राः किराटाः[2] कूटकारिणः ।
अनापद्यपि मंस्यन्ते वार्तां साधुजुगुप्सिताम् ॥३५॥
पतिं त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम् ।
भृत्यं विपन्नं पतयः कौलं गाश्चापयस्विनीः ॥३६॥
पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन्[3]हित्वा सौरतसौहृदाः ।
ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः ॥३७॥
शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः ।
धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥३८॥
नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्शिताः ।
निरन्ने भूतले राजन्ननावृष्टिभयातुराः ॥३९॥
वासोऽन्नपानशयनव्यवायस्नानभूषणैः ।
हीनाः पिशाचसन्दर्शा भविष्यन्ति कलौ प्रजाः ॥४०॥
कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः ।
त्यक्ष्यन्ति च प्रियान्प्राणान्हनिष्यन्ति स्वकानपि ॥४१॥
न रक्षिष्यन्ति मनुजाः स्थविरौ पितरावपि ।

देशोंमें लुटेरोंकी अधिकता होगी, वेद पाखण्डमार्गोंसे दूषित हो जायगा, राजालोग प्रजाओंको भक्षण करने लगेंगे, ब्राह्मण कामवृत्ति और उदरकी पूर्तिमें लग जायँगे ॥ ३२ ॥ ब्रह्मचारी व्रतहीन और शौचशून्य हो जायँगे, गृहस्थलोग भीख माँगने लगेंगे, तपस्वी ग्रामके भीतर रहने लगेंगे, संन्यासीलोग अत्यन्त अर्थलोलुप हो जायँगे ॥ ३३ ॥ तथा स्त्रियाँ छोटे शरीरवाली, अधिक भोजन करनेवाली, अनेकों सन्तानवाली, निर्लज्ज, सदा कटु भाषण करनेवाली तथा चोरी, कपट और अत्यन्त दुःसाहस करनेवाली हो जायँगी ॥ ३४ ॥ बनियेलोग नीच विचारवाले होकर लोगोंको ठगते हुए क्रय-विक्रयका काम करेंगे तथा आपत्तिकाल न होनेपर भी निन्दित आजीविकाको ही श्रेष्ठ मानेंगे ॥ ३५ ॥ सेवकलोग धनहीन हो जानेपर अपने सर्वोत्तम स्वामीको भी त्याग देंगे और स्वामी रोगादिके कारण काम करनेमें असमर्थ हो जानेपर अपनी कुलपरम्परासे आये हुए सेवकको भी छोड़ देंगे । इसी प्रकार दूध न देनेवाली गौको भी त्याग देंगे ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! कलियुगमें मैथुनके कारण प्रीति करनेवाले और स्त्रीपरायण दीन पुरुष अपने पिता, भाई, सुहृद् और जातिवालोंको छोड़कर साली और सालोंसे सलाह करेंगे ॥ ३७ ॥ शूद्रगण तपस्वियोंके वेषसे जीवननिर्वाह करते हुए दान लेंगे और धर्मको न जाननेवाले लोग ऊँचे आसनोंपर बैठकर धर्मका उपदेश करेंगे ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! कलियुगमें पृथिवीतलमें अन्नका अभाव हो जानेपर अनावृष्टिके भयसे व्याकुल और दुर्भिक्ष तथा राजकरसे पीड़ित होकर नित्य उद्विग्नचित्त हुई प्रजा वस्त्र, अन्न, जल, शयन, मैथुन, स्नान और भूषणादिसे रहित होकर पिशाचके समान दीखने लगेगी ॥ ३९-४० ॥ उस समय लोग बीस कौड़ीमात्र धनके लिये भी झगड़ा ठानकर सुहृद्भावको तिलाञ्जलि दे अपने सगे-सम्बन्धियोंको मारेंगे और अपने प्रिय प्राणोंको भी त्याग देंगे ॥ ४१ ॥ कलियुगके क्षुद्राशय मनुष्य शिश्नोदरपरायण होकर अपने वृद्ध माता-

१. रपरायणाः । २. राताः कूट० । ३. पितॄन् भ्रातॄन्सु० । ४. हि ।

पुत्रान्सर्वार्थकुशलान्क्षुद्राः शिश्नोदरम्भराः ॥४२॥
कलौ न राजञ्जगतां परं गुरुं
त्रिलोकनाथानतपादपङ्कजम् ।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं
यक्ष्यन्ति पाखण्डविभिन्नचेतसः ॥४३॥
यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन्स्खलन्वा विवशो गृणन्पुमान् ।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥४४॥
पुंसां कलिकृतान्दोषान्द्रव्यदेशात्मसम्भवान् ।
सर्वान्हरति चित्तस्थो भगवान्पुरुषोत्तमः ॥४५॥
श्रुतः सङ्कीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा ।
नृणां धुनोति भगवान्हृत्स्थो जन्मायुताशुभम् ॥४६॥
यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम् ।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम् ॥४७॥
विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥४८॥
तस्मात्सर्वात्मना राजन्हृदिस्थं कुरु केशवम् ।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम् ॥४९॥
म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान्परमेश्वरः ।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः ॥५०॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः ।

पिताकी भी रक्षा नहीं करेंगे और पिता अपने सब कार्योंमें कुशल पुत्रोंकी भी रक्षा नहीं करेंगे ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! कलियुगमें वेदविरुद्ध पाखण्ड-मार्गोंसे विक्षिप्तचित्त हुए पुरुष प्रायः जिनके चरणकमलोंमें इन्द्रादि त्रिलोकाधिपति मस्तक झुकाते हैं उन जगत्के परम गुरु श्रीअच्युतभगवान्की पूजा नहीं करेंगे ॥ ४३ ॥ मरनेके समय अत्यन्त आतुर हुआ पुरुष परवश होकर गिरते-पड़ते भी जिनका नाम लेनेसे सब प्रकारके कर्मबन्धनोंसे छूटकर उत्तम गति प्राप्त कर लेता है, उन भगवान्की पूजा लोग कलियुगमें नहीं करेंगे ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! अन्तःकरणमें स्थित हुए भगवान् पुरुषोत्तम मनुष्योंके द्रव्य, देश या अन्तःकरणसे होनेवाले सम्पूर्ण कलिकल्मषोंको हर लेते हैं ॥ ४५ ॥ श्रीहरि अपना श्रवण, कीर्तन, ध्यान, पूजन अथवा आदर करनेपर हृदयमें स्थित हो मनुष्योंके दस हजार जन्मोंके दोषोंको भी दूर कर देते हैं ॥ ४६ ॥ जिस प्रकार सुवर्णमें प्रविष्ट हुआ अग्नि ताँबे आदि अन्य धातुओंके संसर्गसे प्राप्त हुए उसके दुर्वर्ण (मल) को नष्ट कर देता है उसी प्रकार चित्तमें प्रकट हुए श्रीविष्णु योगियोंकी अशुभ-वासनाको नष्ट कर डालते हैं ॥ ४७ ॥ हृदयमें श्रीअनन्तभगवान्के विराजमान होनेपर चित्त जिस प्रकार अत्यन्त शुद्ध हो जाता है वैसा विद्या, तप, प्राणायाम, मैत्री, तीर्थस्नान, व्रत, दान अथवा जप आदि किसीसे भी नहीं होता ॥ ४८ ॥ अतः हे राजन् ! अब मरनेके समय तुम सावधान होकर सब प्रकार श्रीकेशवको अपने हृदयमें विराजमान करो; इससे तुम परमगतिको प्राप्त हो जाओगे ॥ ४९ ॥ हे तात ! मुमूर्षु पुरुषोंको भगवान् परमेश्वरका ही ध्यान करना चाहिये; इससे वे सर्वाधार सर्वात्मा उसे अपने स्वरूपमें लीन कर लेते हैं ॥ ५० ॥ हे राजन् ! दोषोंके भाण्डार इस कलियुगमें यह एक बहुत बड़ा गुण है कि इसमें श्रीकृष्णचन्द्रका

१. भार्याश्च कुलजां क्षुद्राः । २. नराः । ३. म्रिय० । ४. याति । ५. सर्वसम्भवः ।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥५१॥

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥५२॥

कीर्तनमात्र करनेसे ही पुरुष सब प्रकारके बन्धनोंसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ५१ ॥ सत्ययुगमें श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंद्वारा उनका यजन करनेसे और द्वापरमें भगवान्‌की पूजा करनेसे जो फल प्राप्त होता है कलियुगमें वह सब श्रीहरिनामकीर्तनसे ही मिल जाता है ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे[1]
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

चार प्रकारके प्रलयका वर्णन ।

श्रीशुक उवाच

कालस्ते परमाण्वादिर्द्विपरार्धावधिर्नृप ।
कथितो युगमानं च शृणु कल्पलयावपि ॥ १ ॥
चतुर्युगसहस्रं च[2] ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशांपते ॥ २ ॥
तदन्ते प्रलयस्तावान्ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता ।
त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥ ३ ॥
एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।
शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः[3] ॥ ४ ॥
द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥ ५ ॥
एष प्राकृतिको राजन्प्रलयो यत्र लीयते ।
आण्डकोशस्तु सङ्घातो विघात उपसादिते ॥ ६ ॥
पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन्न वर्षति ।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! [तुम्हारे प्रश्नानुसार] मैं परमाणुसे लेकर परार्द्धपर्यन्त काल और चारों युगोंके प्रमाणका वर्णन पहले (तृतीय स्कन्धमें) कर चुका हूँ; अब कल्प और प्रलयका भी विवरण सुनो ॥ १ ॥ हे राजन् ! ब्रह्माका दिन एक सहस्र चतुर्युगका कहा जाता है । उसीको कल्प कहते हैं, जिसमें क्रमशः चौदह मनु बीत जाते हैं ॥ २ ॥ उसके अन्तमें उतने ही प्रमाणका प्रलय होता है, जिसे ब्रह्माकी रात्रि कहते हैं और जिसमें इन तीनों लोकोंका प्रलय हो जाता है ॥ ३ ॥ यह नैमित्तिक प्रलय कहलाता है, जिसमें विश्वस्रष्टा स्वयम्भूसहित भगवान् शेषशायी नारायण सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें लीन करके शयन करते हैं ॥ ४ ॥ परमेष्ठी भगवान् ब्रह्माजीकी आयुके दो परार्द्ध बीत जानेपर [महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—ये] सात प्रकृतियाँ लीन हो जाती हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् ! यह प्राकृत प्रलय है, जिसमें प्रलयका कारण उपस्थित होनेपर भूतोंका सङ्घातरूप ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें लीन हो जाता है ॥ ६ ॥ हे राजन् ! उस समय मेघगण सौ वर्षतक पृथिवीपर जल नहीं बरसाते । अतः अन्नका अभाव

१. न्धे युगानुवर्णनं तृती० । २. तु । ३. विश्वभूः ।

तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्षमाणाः क्षुधार्दिताः ॥ ७ ॥
क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः ।
सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्तको रविः ॥ ८ ॥
रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति ।
ततः संवर्तको वह्निः सङ्कर्षणमुखोत्थितः ॥ ९ ॥
दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान्भूविवरानथ ।
उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः ॥१०॥
दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् ।
ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम् ॥११॥
परः सांवर्तको वाति धूम्रं खं रजसावृतम् ।
ततो मेघकुलान्यङ्ग चित्रवर्णान्यनेकशः ॥१२॥
शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः ।
तत एकोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरान्तरम् ॥१३॥
तदा भूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उपप्लवे ।
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ॥१४॥
अपां रसमथो तेजस्ता लीयन्तेऽथ नीरसाः ।
ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा ॥१५॥
लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम् ।
स वै विशति खं राजंस्ततश्च नभसो गुणम् ॥१६॥
शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते ।
तैजसश्चेन्द्रियाण्यङ्ग देवान्वैकारिको गुणैः ॥१७॥
महान्ग्रसत्यहङ्कारं गुणाः सत्त्वादयश्च तम् ।
ग्रसतेऽव्याकृतं राजन्गुणान्कालेन चोदितम् ॥१८॥
न तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः ।
अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम् ॥१९॥

हो जानेसे प्रजाजन भूखसे व्याकुल होकर एक-दूसरेको खाते हुए शनैः-शनैः कालकृत उपद्रवसे पीडित हो क्षीण हो जाते हैं। फिर प्रलयकालीन सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समुद्र, शरीर और पृथिवीके सम्पूर्ण रसको सुखा डालता है और उसे [वृष्टिरूपसे] छोड़ता नहीं है। फिर शेषजीके मुखसे निकला हुआ संवर्तक अग्नि वायुके वेगसे बढ़कर जनशून्य हुए तल-अतल आदि सम्पूर्ण भूविवरोंको जला डालता है। उस समय सूर्य और अग्निकी ज्वालाओंसे ऊपर-नीचे तथा सब ओरसे दग्ध हुआ ब्रह्माण्ड जले हुए उपलेके समान जान पड़ता है। तदनन्तर धूलि और धूएँसे भरे हुए आकाशमें सौ वर्षसे भी अधिक कालतक अत्यन्त प्रचण्ड प्रलयकालीन पवन चलता है। फिर अनेकों प्रकारके चित्र-विचित्र मेघ सौ वर्षतक वर्षा करते हुए भयङ्कर शब्दसे गर्जना करते हैं। उस समय ब्रह्माण्ड-विवरके अन्तर्गत सम्पूर्ण विश्व एकार्णव—जलमग्न हो जाता है ॥ ७–१३ ॥

इस प्रकार जलप्रलय होनेपर पृथिवीके गुण गन्धको जल ग्रस लेता है तथा गन्धके ग्रस लिये जानेपर पृथिवीका प्रलय हो जाता है ॥१४॥ फिर जलका गुण रस तेजमें लीन हो जाता है और वह रसहीन होकर नष्ट हो जाता है। तदनन्तर तेजके गुण रूपको वायु निगल लेता है और तेज रूपरहित होकर वायुमें लीन हो जाता है। फिर वायुके गुणको आकाश ग्रस लेता है और वह आकाशमें लीन हो जाता है। हे राजन्! फिर आकाशके गुण शब्दको भूतोंका कारण तामस अहङ्कार अपनेमें लीन कर लेता है; अतः आकाशका उसीमें लय हो जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियोंको उनकी वृत्तियोंके सहित तैजस अहङ्कार और इन्द्रियाधिष्ठातृदेवताओंको वैकारिक अहङ्कार ग्रस लेता है ॥ १५–१७ ॥ तदनन्तर त्रिविध अहङ्कारको महत्तत्त्व और महत्तत्त्वको सत्त्वादि गुण निगल जाते हैं तथा कालसे प्रेरित हुआ अव्याकृत गुणोंको ग्रस लेता है ॥१८॥ वह अव्यक्त, अनादि, अनन्त, नित्य, सबका कारण और अविनाशी है; उस समय उसमें कालके अवयवरूप दिन-रात आदिसे किसी प्रकारके परिणामादि विकार नहीं होते ॥१९॥

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं
तमो रजो वा महदादयोऽमी।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा
न सन्निवेशः खलु लोककल्पः ॥२०॥
न स्वप्नजाग्रन्न च तत्सुषुप्तं
न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः।
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं
तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥२१॥
लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा।
शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः ॥२२॥
बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२३॥
दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग्भवेत्।
एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् ॥२४॥
बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते।
मायामात्रमिदं राजन्नानात्वं प्रत्यगात्मनि ॥२५॥
यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात्[1] ॥२६॥
सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह।
विनार्थेन प्रतीयेरन्पटस्येवाङ्ग तन्तवः ॥२७॥
यत्सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः।

जिसमें वाणी, मन, सत्त्व, रजोगुण, तमोगुण और वे महत्तत्त्वादि विकार, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और देवता तथा यह सम्पूर्ण लोकरचना आदि कुछ भी नहीं है ॥२०॥ जहाँ स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति [—ये तीन अवस्थाएँ] नहीं हैं तथा आकाश, जल, पृथिवी, वायु, अग्नि और सूर्यका भी अभाव है और जो सोये हुएके समान शून्यवत् और अचिन्तनीय है; विज्ञजन उस अव्यक्तको ही जगत्का मूलभूत तत्त्व बतलाते हैं ॥२१॥ यह प्राकृत प्रलय उसी समय हुआ करता है जब कालसे तिरस्कृत हुई पुरुष और प्रकृतिकी शक्तियाँ विवश होकर लीन हो जाती हैं ॥२२॥

[अब मोक्षरूप आत्यन्तिक प्रलयका वर्णन करते हैं—] बुद्धि, इन्द्रिय और विषयोंके रूपमें उनका अधिष्ठान ज्ञान ही भास रहा है। जो वस्तु आदि-अन्तवाली है वह सत्य नहीं है; क्योंकि वह दृश्य है और अपने अधिष्ठानसे पृथक् उसकी सत्ता नहीं है ॥२३॥ जिस प्रकार दीपक, नेत्र और रूप तेजसे भिन्न नहीं होते उसी प्रकार बुद्धि, इन्द्रियाँ और तन्मात्राएँ अपनेसे अत्यन्त पृथक् अपने अधिष्ठान सत्यस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं* ॥२४॥ हे राजन्! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी ही कही गयी हैं। इसलिये अन्तरात्मामें जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप नानात्व है वह ब्रह्ममें केवल मायामात्र है ॥२५॥ जिस प्रकार आकाशमें मेघ कभी होते और कभी नहीं होते हैं उसी प्रकार ब्रह्ममें यह सावयव जगत् उत्पत्ति और प्रलयके क्रमसे कभी होता है और कभी नहीं होता ॥२६॥ हे तात! जगत्में सभी सावयव पदार्थोंके कारणरूप अवयव सत्य माने गये हैं, क्योंकि कपड़ेके कारणरूप तन्तुओंकी भाँति कार्यरूप अवयवीसे अलग भी कारणरूप अवयवोंकी स्थिति देखी जाती है ॥२७॥ सामान्य (कारण) और विशेष (कार्य) रूपसे जो भेद[2] (नानात्व) की

१. श्वं सम्भवत्युदया०।

* क्योंकि कार्य या अध्यस्त वस्तुकी सत्ता अपने कारण या अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होती किन्तु कारण या अधिष्ठान उससे सर्वथा पृथक् होता है; जैसे रज्जुमें अध्यस्त सर्प रज्जुसे पृथक् नहीं होता किन्तु रज्जुका उस सर्पसे कभी कोई संग नहीं होता।

अन्योन्यापाश्रयात्सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२८॥
विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा ।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत्[1]॥२९॥
न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान्यदि मन्यते ।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव[2] ॥३०॥

यथा हिरण्यं बहुधा समीयते[3]
नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु ।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो
व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः ॥३१॥
यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः[4] ।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ॥३२॥
घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥३३॥
यदैवमेतेन विवेकहेतिना
मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम् ।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते
तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग सम्प्लवम् ॥३४॥
नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप ।
उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥३५॥

उपलब्धि होती है, वह परस्पर एक-दूसरेके आश्रित होनेके कारण भ्रमरूप होती है, क्योंकि जो कुछ आदि-अन्तवान् होता है वह सब मिथ्या होता है ॥२८॥ यह प्रपञ्चरूप विकार यद्यपि प्रतीत होता है तो भी प्रत्यगात्मासे भिन्न अणुमात्र भी इसकी सत्ताका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। यदि इसकी सत्ता मानी जाय तो यह चिद्रूप आत्माके समान ही सत्य सिद्ध होगा ॥२९॥ किन्तु वस्तुमें अनेकता नहीं है; यदि कोई अज्ञ पुरुष उसकी अनेकता मानता है तो उसका मानना घटाकाश और महाकाशमें, आकाशस्थित सूर्य और जलमें प्रतिविम्बित सूर्यमें अथवा आन्तरिक वायु और बाह्य वायुमें नानात्व माननेके समान है ॥३०॥ जिस प्रकार व्यवहारमें सुवर्ण भिन्न-भिन्न रचनाओंके भेदसे [कटक-कुण्डलादि] अनेकरूपसे मनुष्यों-द्वारा प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार लोग भगवान् अधोक्षजकी लौकिक और वैदिक वाक्योंद्वारा तरह-तरहसे व्याख्या करते हैं ॥३१॥ जिस प्रकार सूर्यसे उत्पन्न और सूर्यहीसे प्रकाशित हुआ मेघ सूर्यके अंशभूत नेत्रके लिये सूर्यदर्शनमें प्रतिबन्धक हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मका कार्य और ब्रह्महीसे प्रकाशित होने-वाला अहङ्कार ब्रह्मके अंशभूत आत्माके लिये ब्रह्मदर्शन-में प्रतिबन्धक हो जाता है ॥३२॥ जिस समय सूर्यसे प्रकट हुआ मेघ फट जाता है उस समय नेत्र अपने स्वरूपभूत सूर्यको देख लेता है; उसी प्रकार जिस समय आत्माकी उपाधिरूप अहङ्कार विचारसे नष्ट हो जाता है उस समय उसे अपने स्वरूपकी स्मृति हो जाती है ॥३३॥ हे प्रिय ! इस प्रकार जिस समय इस विवेकरूप खड्गसे यह जीव अपने अहङ्काररूप मायामय बन्धनको काटकर ब्रह्मात्मभावसे स्थित हो जाता है उस अवस्थाको इस प्रपञ्चका आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है ॥३४॥

[अब नित्य प्रलयका वर्णन करते हैं—] हे शत्रुदमन ! कुछ सूक्ष्म विचारको जाननेवाले पुरुष ब्रह्मादि सम्पूर्ण भूतोंके हर समय उत्पत्ति और प्रलय होते बतलाते हैं ॥ ३५ ॥

१. आत्मवान् । २. योरपि । ३. प्रतीयते । ४. चाक्षुषं तमः ।

कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा ।
परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥३६॥

अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना ।
अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव ॥३७॥

नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः ।
आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी ॥३८॥

एताः कुरुश्रेष्ठ जगद्विधातु-
र्नारायणस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
लीलाकथास्ते कथिताः समासतः
कात्स्न्र्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः ॥३९॥
संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ॥४०॥
पुराणसंहितामेतामृषिर्नारायणोऽव्ययः ।
नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः ॥४१॥
स वै मह्यं महाराज भगवान्बादरायणः ।
इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम् ॥४२॥
एतां वक्ष्यत्यसौ सूत ऋषिभ्यो नैमिषालये ।
दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ सम्पृष्टः शौनकादिभिः ॥४३॥

जिस प्रकार नदीप्रवाह अथवा दीपशिखा आदि परिणामी पदार्थोंकी क्षण-क्षणमें बदलनेवाली दशाएँ उनके पल-पलमें होनेवाले जन्म और नाशकी कारण होती हैं उसी प्रकार कालस्रोतके वेगसे क्षीण होनेवाले देहादि भी क्षण-क्षणमें बनते-बिगड़ते रहते हैं ॥ ३६ ॥ आकाशमें चलनेवाले तारोंकी गतिके समान वे अवस्थाएँ भगवान्‌के स्वरूपभूत आदि-अन्तरहित कालके कारण नहीं दीख पड़तीं ॥३७॥ इस प्रकार मैंने तुमसे नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक चारों प्रकारके प्रलयोंका वर्णन कर दिया । हे राजन् ! इस कालकी गति ऐसी ही है ॥३८॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! सर्वान्तर्यामी विश्वविधाता श्रीनारायण-की यह लीलाकथा मैंने संक्षेपमें तुम्हें सुना दी; इसको पूर्णतया वर्णन करनेमें तो ब्रह्माजी भी समर्थ नहीं हैं ॥३९॥ हे राजन् ! अत्यन्त दुस्तर संसारसागरसे पार होनेके इच्छुक और नाना प्रकारके दुःखरूप दावानल-से सन्तप्त पुरुषके लिये भगवान् पुरुषोत्तमके लीलाकथा-रसका सेवन करनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ॥४०॥ इस पुराणसंहिताको पहले अविनाशी ऋषिवर नारायणने देवर्षि नारदसे कहा था और नारदजीने कृष्णद्वैपायन व्यासको सुनाया ॥४१॥ हे महाराज ! फिर भगवान् बादरायणने इस वेदानुकूल संहिताको अति प्रसन्न होकर मुझसे कहा ॥४२॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! अब भविष्यमें नैमिषारण्य-क्षेत्रमें दीर्घकालीन यज्ञके समय पूछे जानेपर वे सूतजी इसे शौनकादि ऋषियोंको सुनावेंगे ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे[1]
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

१. न्धे परमार्थविनिर्णयो नाम ।

पाँचवाँ अध्याय

परमार्थनिरूपण।

श्रीशुक उवाच

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान्हरिः ।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥ १ ॥
त्वं तु राजन्मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि ।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥ २ ॥
न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान् ।
बीजाङ्कुरवद्देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः ॥ ३ ॥
स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम् ।
यस्मात्पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः ॥ ४ ॥
घटे भिन्ने यथाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥ ५ ॥
मनः सृजति वै देहान्गुणान्कर्माणि चात्मनः[1] ।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥ ६ ॥
स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते[2] ।
ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः ।
रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति ॥ ७ ॥
न तत्रात्मा स्वयंज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः ।

श्रीशुकदेवजी बोले—इस श्रीमद्भागवतपुराणमें बारम्बार विश्वात्मा भगवान् हरिका ही वर्णन किया जाता है, जिनकी रजोवृत्तिरूप प्रसन्नतासे ब्रह्माजी और तमोमय क्रोधसे रुद्रका जन्म हुआ है ॥१॥ हे राजन्! तुम 'मैं मरूँगा' इस पशुबुद्धिको त्याग दो, क्योंकि देहके समान तुम पहले नहीं थे और अब उत्पन्न हुए हो, ऐसी बात नहीं है, इसलिये तुम नाशको भी प्राप्त न होगे ॥२॥ जिस तरह बीजसे अङ्कुर और अङ्कुरसे बीज उत्पन्न होता है उस प्रकार तुम इस समय उत्पन्न होकर अब पुत्र-पौत्रादिके रूपमें पुनः उत्पन्न न होगे [क्योंकि बीजसे अङ्कुरकी भाँति देहसे देह उत्पन्न होता है, आत्मा नहीं] । तुम तो, काष्ठमें व्याप्त हुआ अग्नि जैसे काष्ठसे सर्वथा पृथक् होता है उसी प्रकार [शरीरमें व्याप्त होकर भी] शरीरसे सर्वथा पृथक् आत्मा हो ॥ ३ ॥ आत्मा जिस प्रकार स्वप्नमें अपने शिरका कट जाना तथा मृत्यु आदि देखता है उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें भी इस देहके मरणादि देखा करता है; अतः वह अजन्मा और अमर है ॥४॥ जिस प्रकार घड़ेके टूट जानेपर घटाकाश पहलेहीके समान फिर महाकाशरूप हो जाता है उसी प्रकार देहके नष्ट होनेपर जीव फिर ब्रह्मरूप हो जाता है ॥५॥ इस आत्माके लिये मन ही देह, गुण और कर्मादिकी रचना किया करता है; तथा उस मनको माया रचती है और उस मायारूप उपाधिके कारण ही जीवको जन्म-मरणरूप संसारकी प्राप्ति होती है ॥६॥ जबतक तैल, तैलपात्र, बत्ती और अग्निका संयोग रहता है तभीतक दीपकका दीपकत्व है; उसी प्रकार यह संसार भी देहसम्बन्धके रहनेतक ही रहता है और रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणकी वृत्तियोंसे क्रमशः उत्पन्न, स्थित और नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥ किन्तु [जिस प्रकार दीपकके नाशसे तत्त्वरूप तेजका नाश नहीं होता उसी प्रकार] संसारका नाश होनेपर भी स्वयंप्रकाश आत्माका नाश नहीं होता, वह

[1] गुणकर्माणि । [2] तावद्दीप० ।

आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥ ८ ॥

तो व्यक्त और अव्यक्तसे परे, आकाशके समान सबका आधार, निश्चल और अनन्त है ॥८॥

एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो ।
बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ॥ ९ ॥
चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः ।
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम् ॥१०॥

अतः हे राजन् ! तुम भगवान् वासुदेवका चिन्तन करते हुए द्रष्टा-दृश्यविषयक अन्वय-व्यतिरेकके विचार-से युक्त अपनी बुद्धिके द्वारा देहादि उपाधिमें स्थित अपने आत्माका स्वयं ही चिन्तन करो ॥९॥ ऐसा करनेसे ब्राह्मणके वाक्यसे प्रेरित हुआ तक्षक तुम्हें दग्ध नहीं कर सकेगा, क्योंकि मृत्युके कारणभूत जो सर्पदंशादि हैं वे मृत्युके मृत्युरूप ईश्वरका ध्वंस नहीं कर सकते ॥१०॥

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥११॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥१२॥

'जो मैं हूँ वही परमपदरूप ब्रह्म है और जो परमपदरूप ब्रह्म है वही मैं हूँ' इस प्रकार विचार करते हुए अपने आत्माको निष्कल परमात्मामें स्थित कर लेनेपर तुम अपने पैरोंमें काटते हुए जिह्वासे ओठ चाटनेवाले तक्षकको एवं अपने शरीर और सम्पूर्ण विश्वको भी अपने आत्मासे पृथक् नहीं देखोगे ॥११-१२॥

एतत्ते कथितं तात यथात्मा पृष्टवान्नृप ।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥१३॥

हे राजन् ! तुमने सर्वात्मा श्रीहरिकी लीलाओंके विषयमें जैसा मुझसे प्रश्न किया था वह सब मैंने तुम्हें सुना दिया, अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥१३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे[3] ब्रह्मोपदेशो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

छठा अध्याय

परीक्षित्का देहत्याग, जनमेजयका सर्पसत्र तथा वेदके शाखाभेदोंका वर्णन ।

सूत उवाच

एतन्निशम्य मुनिनाभिहितं परीक्षिद्
व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन ।
तत्पादमूलमुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना
बद्धाञ्जलिस्तमिदमाह स विष्णुरातः ॥ १ ॥

श्रीसूतजी बोले—हे मुने ! सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना स्वरूप समझनेवाले समदर्शी व्यासनन्दन मुनिवर श्रीशुकदेवजीका यह कथन सुन विष्णुरात महाराज परीक्षित्ने उनके चरणकमलोंमें अपना मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे यों कहने लगे ॥१॥

राजोवाच

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना ।
श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः ॥ २ ॥

राजा परीक्षित् बोले—भगवन् ! आपने करुणार्द्र-चित्त होकर मुझे आदि-अन्तशून्य साक्षात् श्रीहरिका चरित सुनाया है; इससे मैं कृतकृत्य और अत्यन्त अनुगृहीत हो गया हूँ ॥२॥

नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम् ।
अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः ॥ ३ ॥

त्रिविध तापसे सन्तप्त हुए अज्ञानी जीवोंपर भगवत्प्राण महानुभावोंका जो स्वभावतः अनुग्रह होता है उसे मैं कुछ आश्चर्यजनक नहीं समझता ॥३॥

१. वासुजत्प्रभुः । २. यदात्मा । ३. न्धे प्रलयप्रमाणलक्षणं । ४. पद्मसुप० । ५. स्तदिद० । ६. परीक्षिदुवाच । ७. दृभगवान्मधुसूदनः । ८. तमिदं ।

पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम् ।
यस्यां खलूत्तमश्लोको भगवाननुवर्ण्यते ॥ ४ ॥
भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् ।
प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ॥ ५ ॥
अनुजानीहि मां ब्रह्मन्वाचं यच्छाम्यधोक्षजे ।
मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून् ॥ ६ ॥
अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया ।
भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम् ॥ ७ ॥

हमने आपके मुखारविन्दसे यह पुराणसंहिता सुनी, जिसमें सर्वत्र उत्तमश्लोक श्रीहरिका ही बारम्बार वर्णन किया जाता है ॥४॥ भगवन्! आपने मुझे निश्चयपूर्वक निर्भय स्थान दिखा दिया है, जिससे ब्रह्मनिर्वाणमें प्रविष्ट हो गया हूँ, अतः अब मैं तक्षकादि मृत्युओंसे तनिक भी भय नहीं मानता ॥५॥ हे ब्रह्मन्! अब मुझे आज्ञा दीजिये; मैं वाणीका संयम (मौनधारण) करूँगा और काम-वासनासे रहित हुआ अपना चित्त श्रीअधोक्षजभगवान्‌में लगाकर अब प्राणत्याग करूँगा ॥६॥ आपने ज्ञान-विज्ञानमें मेरी स्थिति कराकर मेरा अज्ञान दूर करके भगवान्‌का अति मङ्गलमय स्वरूप दिखा दिया है ॥७॥

सूत उवाच

इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान्बादरायणिः ।
जगाम भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः ॥ ८ ॥
परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मानमात्मना ।
समाधाय परं दध्यावस्पन्दासुर्यथा तरुः ॥ ९ ॥
प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः ।
ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः ॥१०॥
तक्षकः प्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना ।
हन्तुकामो नृपं गच्छन्ददर्श पथि कश्यपम् ॥११॥
तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्य विषहारिणम् ।
द्विजरूपप्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम् ॥१२॥
ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना ।
बभूव भस्मसात्सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥१३॥
हाहाकारो महानासीद्भुवि खे दिक्षु सर्वतः ।
विस्मिता ह्यभवन्सर्वे देवासुरनरादयः ॥१४॥
देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः ।
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः ॥१५॥

श्रीसूतजी कहते हैं—राजा परीक्षित्‌के ऐसा कहनेपर भगवान् शुकदेवजी उन्हें आज्ञा दे राजासे पूजित हो अन्य भिक्षुओंके साथ वहाँसे चले गये ॥८॥ तब सब प्रकारके संशयोंसे रहित, आसक्तिशून्य, ब्रह्मनिष्ठ, महायोगी राजर्षि परीक्षित् भी श्रीगङ्गाजीके पूर्वतटपर कुशासनके ऊपर उत्तराभिमुख बैठे और अपने चित्तको आत्मामें समाहित कर वृक्षके समान प्राणस्पन्दशून्य हो परमात्माके ध्यानमें लीन हो गये ॥९-१०॥ हे द्विजगण! तब कुपित हुए मुनिकुमार (शृङ्गीऋषि) का भेजा हुआ तक्षक सर्प राजाको मारनेके लिये चला। उस समय उसने मार्गमें विष हरनेवाले कश्यप-नामक ब्राह्मणको देखा तब स्वेच्छारूपधारी तक्षकने बहुत-सा धन देकर उसे लौटा दिया और स्वयं ब्राह्मण-वेषसे छिपकर राजाको डस लिया ॥११-१२॥

तब, सबके देखते-देखते ब्रह्मभूत राजर्षि परीक्षित्‌का शरीर तुरन्त ही सर्पकी विषाग्निसे जलकर भस्म हो गया ॥१३॥ इससे पृथिवी, आकाश और दिशाओंमें सब ओर महान् हाहाकार होने लगा तथा देवता, असुर और मनुष्यादि सभी अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गये ॥१४॥ आकाशमें देवदुन्दुभियोंका घोष होने लगा, गन्धर्व और अप्सरागण गान करने लगे तथा देवतालोग 'साधु-साधु' कहकर फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥१५॥

जनमेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम् ।
यथा जुहाव सङ्क्रुद्धो नागान्सत्रे सह द्विजैः ॥१६॥

अपने पिताको तक्षकद्वारा डसा गया सुन राजा जनमेजयने अत्यन्त कुपित हो ब्राह्मणोंके साथ मिलकर यज्ञमें विधिपूर्वक सर्पोंको हवन करना आरम्भ किया ॥१६॥

सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान्महोरगान् ।
दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ ॥१७॥

उस सर्पयज्ञमें बड़े-बड़े सर्पोंको प्रज्वलित अग्निमें भस्म होते देख तक्षकने भयभीत होकर इन्द्रकी शरण ली ॥१७॥

अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान् ।
उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्येतोरगाधमः ॥१८॥

तब राजा जनमेजयने वहाँ तक्षकको आया न देख ऋत्विजोंसे कहा—"आपलोग सर्पाधम तक्षकको क्यों नहीं जलाते हैं ?" ॥१८॥

तं गोपायति राजेन्द्र शक्रः शरणमागतम् ।
तेन संस्तम्भितः सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ ॥१९॥

[ऋत्विजोंने कहा—] "महाराज ! उसे शरणमें आया जान इन्द्र रक्षा कर रहे हैं; उनके रोकनेसे ही वह सर्प अग्निमें नहीं गिरता है" ॥१९॥

पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः ।
सहेन्द्रस्तक्षको विप्रा नाग्नौ किमिति पात्यते ॥२०॥

यह सुन उदारबुद्धि परीक्षित्‌नन्दनने कहा—"हे विप्रगण ! तब आपलोग इन्द्रके सहित ही तक्षकको अग्निमें क्यों नहीं गिरा देते ?" ॥२०॥

तच्छ्रुत्वा जुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे ।
तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्वता ॥२१॥

राजाका यह कथन सुनकर ब्राह्मणोंने इन्द्रसहित तक्षकका यज्ञमें आवाहन किया। वे बोले—"हे तक्षक ! तुम मरुद्गणके साथ रहनेवाले इन्द्रके सहित तुरन्त ही इस अग्निमें गिरो" ॥२१॥

इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः ।
बभूव सम्भ्रान्तमतिः सविमानः सतक्षकः ॥२२॥

इस प्रकार ब्राह्मणोंके कहे हुए इन आकर्षण-वाक्योंसे इन्द्र अपने स्थानसे विचलित हो गया और अपने विमान तथा तक्षकके सहित घबड़ा गया ॥२२॥

तं पतन्तं विमानेन सहतक्षकमम्बरात् ।
विलोक्याङ्गिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः ॥२३॥

इन्द्रको विमान और तक्षकके सहित आकाशसे गिरते देख अङ्गिरानन्दन बृहस्पतिजीने राजा जनमेजयसे कहा—॥२३॥

नैष त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हति सर्पराट्[3] ।
अनेन पीतममृतमथवा अजरामरः[4] ॥२४॥

"हे राजन् ! यह सर्पराज तुमसे मारा नहीं जा सकता; क्योंकि इसने अमृत-पान किया है; इसलिये यह अजर-अमर है ॥२४॥

जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा ।
राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः ॥२५॥

जीवका जीवन-मरण और गति अपने ही कर्मसे होती है; अतः किसी अन्यको कोई और सुख-दुःख देनेवाला नहीं है ॥२५॥

सर्पचौराग्निविद्युद्भ्यः क्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप ।
पञ्चत्वमृच्छते जन्तुर्भुङ्क्त आरब्धकर्म तत्[6] ॥२६॥

हे नृप ! मनुष्य जो सर्प, चोर, अग्नि, बिजली, क्षुधा, तृषा अथवा व्याधि आदिके कारण मृत्युको प्राप्त होता है, वह अपना प्रारब्धकर्म ही भोगता है ॥२६॥

तस्मात्सत्रमिदं राजन्संस्थीयेताभिचारिकम् ।
सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते ॥२७॥

सब मनुष्योंके द्वारा अपना-अपना प्रारब्ध ही भोगा जाता है अतः हे राजन् ! तुम इस हिंसामय यज्ञको अब बन्द करो । देखो, इसमें कितने निरपराध सर्प दग्ध हो गये हैं' ॥२७॥

---

१. यथा दशन्ति पन्नगाः । २. तत्रैव च भ्रान्त० । ३. पन्नगः । ४. रोऽमरः । ५. सारिवद्वयम्बुविद्यु० । ६. च ।

सूत उवाच

इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानयन्वचः ।
सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिम् ॥२८॥
सैषा विष्णोर्महामायाबाध्ययालक्षणा यया ।
मुह्यन्त्यस्यैवात्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः ॥२९॥

न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता
मायात्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः ।
न यद्विवादो विविधस्तदाश्रयो
मनश्च सङ्कल्पविकल्पवृत्ति यत् ॥३०॥
न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं
श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्त्वहम्[1] ।
तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं
निषिध्य चोर्मीन्विरमेत्स्वयं मुनिः[2] ॥३१॥
परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः[3] ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः ॥३२॥

त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम् ।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥३३॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥३४॥
नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यत्पादाम्बुरुहध्यानात्संहितामध्यगामिमाम् ॥३५॥

सूतजी बोले—महर्षि बृहस्पतिजीके ऐसा कहनेपर वे उनके कथनका मान करते हुए 'बहुत अच्छा' कह, सर्पसत्रसे उपरत हो गये और बृहस्पतिजीका पूजन किया ॥२८॥ यह भगवान् विष्णुकी अलक्ष्य महामाया ही है, जिस अबाधनीया [माया] से भगवान् विष्णुके ही अंशभूत जीव सत्त्वादि गुणोंकी वृत्तियोंद्वारा इन भौतिक देहादिमें मोहित हो जाते हैं ॥२९॥ 'यह पुरुष मायावी है' ऐसी धारणा होनेपर बुद्धिमें जो 'माया' स्फुरित होती है वह आत्मवादियोंद्वारा आत्मतत्त्वका विचार करते समय जिस भगवान् विष्णुके निकट निर्भयतापूर्वक नहीं रह सकती तथा जहाँ मायाके आश्रित अनेक प्रकारका विवाद और सङ्कल्प-विकल्पमय वृत्तिवाला मन भी नहीं है ॥३०॥ जहाँ सृष्टि रचनेवाले कारणोंके सहित रची जानेवाली वस्तु एवं उन दोनोंका परम साध्य फल—इनमेंसे कोई भी नहीं है तथा जहाँ जीवभाव और तीनों गुणोंसे युक्त अहङ्कार भी नहीं है; इस प्रकार जो बाध्य-बाधकभावसे रहित है उस परमात्माके स्वरूपमें मुनिजन इन अहङ्कारादि ऊर्मियोंका बाध करके लीन हो जायँ ॥३१॥ जिनका परमात्माके सिवा और किसीमें प्रेम नहीं है और जो 'नेति-नेति' वाक्यद्वारा अनात्मवस्तुका निषेध करनेमें तत्पर रहते हैं वे विवेकी पुरुष उसीको भगवान् विष्णुका परमपद बतलाते हैं तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणको वशीभूत करनेवाले विद्वानोंने अनात्म-भावनाको त्यागकर एकाग्रचित्तसे चिन्तन करते हुए उसीको ध्येयरूपसे स्वीकार किया है ॥३२॥ जिन पुरुषोंमें देहगेहसम्बन्धिनी अहंता-ममतारूप दुर्जनता नहीं है वे ही विष्णुभगवान्के इस परमपदको प्राप्त कर सकते हैं ॥३३॥ [जिसे इस परमपदको पानेकी इच्छा हो वह] दूसरोंके दुर्वचनोंको सहन करे, कभी किसीका अपमान न करे और इस शरीरका आश्रय लेकर किसीके साथ वैर न करे ॥३४॥ जिनके चरणकमलोंका चिन्तन करनेसे मैंने इस पुराण-संहिताको प्राप्त किया है उन अकुण्ठमति भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासको नमस्कार है ॥३५॥

---

१. तः स्वयम् । २. भोगान् विरमेत तन्मुनिः । ३. त्यसदु० ।

शौनक उवाच

पैलादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः ।
वेदाश्च कतिधा व्यस्ता एतत्सौम्याभिधेहि नः ॥३६॥

सूत उवाच

समाहितात्मनो ब्रह्मन्ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ॥३७॥
यदुपासनया ब्रह्मन्योगिनो मलमात्मनः ।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥३८॥
ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् ।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥३९॥
शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक् ।
येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥४०॥
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥४१॥
तस्य ह्यासंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह ।
धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ॥४२॥
ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः ।
अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम् ॥४३॥
तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः ।
सव्याहृतिकान्सोङ्कारांश्चातुर्होत्रविवक्षया ॥४४॥
पुत्रानध्यापयत्तांस्तु ब्रह्मर्षीन्ब्रह्मकोविदान् ।

१. तांश्च महर्षीन् ।

शौनकजी बोले—हे सौम्य ! व्यासजीके शिष्य महात्मा पैल आदि वेदाचार्योंने वेदोंका किस प्रकार विभाग किया, सो आप हमसे कहिये ॥३६॥

सूतजीने कहा—हे ब्रह्मन् ! परमेष्ठी भगवान् ब्रह्माजीके एकाग्रचित्त होनेपर उनके हृदयाकाशमें एक प्रकारका शब्द हुआ जिसका श्रवणेन्द्रियकी वृत्ति रुक जानेपर हम सबको भी अनुभव हो सकता है ॥३७॥ और हे ब्रह्मन् ! जिसकी उपासना करनेसे योगिजन अपने अन्तःकरणका द्रव्य, क्रिया और कारकरूप मल नष्ट करके अपुनर्जन्मरूप मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं ॥३८॥ उस नादसे तीन मात्राओंवाला ओङ्कार प्रकट हुआ, जिसकी उत्पत्ति किसीको ज्ञात नहीं है, जो स्वयंप्रकाश है तथा जो परमात्मा भगवान् ब्रह्मका लिङ्ग अर्थात् बोध करानेवाला है ॥३९॥ जो श्रवण-शक्तिके लीन हो जानेपर भी इस अव्यक्त ओङ्कारको सुनता है और जो सुषुप्ति आदिमें इन्द्रियोंके न रहनेपर भी उनके अभावको ग्रहण करता है [वही परमात्मा है] । जिसके द्वारा वैखरी वाणी अभिव्यञ्जित होती है तथा जिस ओङ्कारकी हृदयाकाशमें आत्माहीसे अभिव्यक्ति होती है ॥४०॥ यह अपने आश्रय परमात्मा ब्रह्मका साक्षात् वाचक है और यही सम्पूर्ण मन्त्र, उपनिषद् और वेदोंका सनातन बीज है ॥४१॥

हे भृगुनन्दन ! उस ओङ्कारके अ, उ, म्—ये तीन वर्ण हैं जो क्रमशः [सत्त्व, रज, तम—ये] तीन गुण, [ऋग्, यजुः, साम—ये] तीन नाम, [भूः, भुवः, स्वः—ये] तीन अर्थ और [जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये] तीन वृत्तियाँ—इस प्रकार तीन भाव धारण करते हैं ॥ ४२ ॥ फिर भगवान् ब्रह्माजीने उस ॐकारसे ही अन्तस्थ (य र ल व), ऊष्म (श ष स ह), स्वर ('अ'से 'औ'तक), स्पर्श ('क'से 'म'तक) तथा ह्रस्व और दीर्घादि लक्षणोंसे युक्त अक्षरसमाम्नाय (सम्पूर्ण वर्णसमूह) उत्पन्न किया ॥४३॥ उस वर्णमालाद्वारा भगवान् ब्रह्माजीने अपने चार मुखोंसे होता, अध्वर्यु आदि चारों ऋत्विजोंके कर्म बतानेके लिये वे चारों वेद वेदाध्ययनमें कुशल अपने पुत्र ब्रह्मर्षि मरीचि आदिको व्याहृति और ओङ्कारके

ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन् ॥४५॥
ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः ।
चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः ॥४६॥
क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान्दुर्मेधान्वीक्ष्य कालतः ।
वेदान्ब्रह्मर्षयो व्यस्यन्हृदिस्थाच्युतचोदिताः ॥४७॥
अस्मिन्नप्यन्तरे[1] ब्रह्मन्भगवाँल्लोकभावनः ।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये ॥४८॥
पराशरात्सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः ।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥४९॥
ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः ।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्[2]मणिगणा इव ॥५०॥
तासां[3] स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः ।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः ॥५१॥
पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह ।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं[4] यजुर्गणम् ॥५२॥
साम्नां[5] जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् ।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ॥५३॥
पैलः स्वसंहितामूच इन्द्रप्र[6]मितये मुनिः ।
बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम् ५४
चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव ।
पराशरायाग्निमित्रे इन्द्रप्र[7]मितिरात्मवान् ॥५५॥
अध्यापयत्संहितां स्वां माण्डूकेयमृषिं कविम् ।
तस्य शिष्यो देवमित्रः सौभर्यादिभ्य ऊचिवान्॥५६॥
शाकल्यस्तत्सुतः स्वां तु पञ्चधा व्यस्य संहिताम् ।
वात्स्यमु[8]द्गलशालीयगोखल्यशिशिरेष्वधात् ॥५७॥

सहित पढ़ाये । और उन धर्मोपदेष्टा मुनीश्वरोंने उन्हें अपने पुत्रोंको सिखाया ॥४४-४५॥ फिर वे परम्परासे उनके ब्रह्मचर्यव्रतशील शिष्य-प्रशिष्योंद्वारा चारों युगोंमें प्रवृत्त होते रहे; तथा द्वापरके आदिमें महर्षियोंने उनका विस्तार किया ॥ ४६ ॥ उस समय कालगतिसे मनुष्योंको अल्पायु, अल्पवीर्य और मन्दमति देखकर ही उन ब्रह्मर्षियोंने हृदयस्थित श्रीहरिकी प्रेरणासे वेदोंका विभाग किया था ॥ ४७ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस मन्वन्तरमें भी ब्रह्मा, महादेव आदि लोकपालोंके प्रार्थना करनेपर लोकभावन भगवान् हरि धर्मकी रक्षाके लिये अपनी अंशांशकलासे पराशरजीद्वारा सत्यवतीके उदरसे वेदव्यासरूपमें प्रकट हुए और हे महाभाग ! उन्होंने एक वेदके चार विभाग किये ॥ ४८-४९ ॥ उन्होंने मणिसमूहमेंसे भिन्न-भिन्न जातिकी मणियोंका सङ्ग्रह करनेके समान वैदिक मन्त्र-समूहमेंसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंद्वारा ऋगादि मन्त्रोंकी राशि अलग करके उन मन्त्रोंसे ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार संहिताएँ बनायीं ॥ ५० ॥ हे ब्रह्मन् ! महामति भगवान् व्यासजीने अपने चार शिष्योंको बुलाकर उनमेंसे एक-एकको एक-एक संहिता दी ॥ ५१ ॥ उन्होंने बह्वृचनामक पहली संहिता (ऋग्वेदसंहिता) पैलको पढ़ायी, वैशम्पायनसे यजुर्वेदनामक संहिता कही ॥५२॥ सामश्रुतियोंकी छन्दोगनामक संहिता जैमिनिको सुनायी और अपने सुमन्तुनामक शिष्यको अथर्वाङ्गिरसी संहिता दी ॥ ५३ ॥

मुनिवर पैलने अपनी संहिता इन्द्रप्रमिति और बाष्कलको सुनायी । बाष्कलने अपनी संहिताके चार विभाग कर अपने शिष्य बोध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर और अग्निमित्रसे कहे । तथा आत्मज्ञानी इन्द्रप्रमितिने अपनी संहिता परम बुद्धिमान् माण्डूकेय ऋषिको पढ़ायी और माण्डूकेयके शिष्य देवमित्रने उसे सौभरि आदिको सुनाया ॥५४—५६॥ माण्डूकेयके पुत्र शाकल्यने अपनी संहिताको पाँच भागोंमें विभक्त कर उसे वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य और शिशिरको पढ़ाया॥ ५७॥

१. तस्मिन् । २. सूत्रे । ३. ततः । ४. माख्यं । ५. सामानि जैमिनेः प्रा० । ६. प्रम० । ७. प्रमति० । ८. मौद्गलशालीयगाधिने शिशिरेऽप्यधात् ।

जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम् ।
बलाकपैजवैतालविरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥५८॥
बाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो वालखिल्याख्यसंहिताम् ।
चक्रे बालायनिर्भज्यः कासारश्चैव तां दधुः ॥५९॥
बह्वृचाः संहिता ह्येता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः ।
श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६०॥
वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन् ।
यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहःक्षपणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥६१॥
याज्ञवल्क्यश्च[2] तच्छिष्य आहाहो भगवन्कियत् ।
चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् ॥६२॥
इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया ।
विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति ॥६३॥
देवरातसुतः सोऽपिच्छर्दित्वा यजुषां गणम्[3] ।
ततो गतो[4]ऽथ मुनयो ददृशुस्तान्यजुर्गणान् ॥६४॥
यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाददुः ।
तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन्सुपेशलाः ॥६५॥
याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मंश्छन्दांस्यधिगवेषयन् ।
गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थे[5]ऽर्कमीश्वरम् ॥६६॥

शाकल्यके शिष्य मुनिवर जातूकर्ण्यने अपनी संहिताको [तीन भागोंमें विभक्त कर उसके व्याख्यानरूप] निरुक्तके सहित अपने शिष्य बलाक, पैज, वैताल और विरजको दिया॥ ५८ ॥ बाष्कलके पुत्र बाष्कलिने उक्त सब शाखाओंसे एक वालखिल्यनामक शाखा रची और उसे बालायनि, भज्य एवं कासारने पढ़ा ॥ ५९ ॥ इस प्रकार इन-इन ऋषियोंने ऋग्वेद-संहिताको धारण किया; इन वेदोंके विस्तारको सुनकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥

हे मुने ! वैशम्पायनके शिष्य चरकाध्वर्यु थे । उन्होंने अपने गुरुकी ब्रह्महत्याको दूर करनेवाले व्रतका आचरण किया ॥ ६१ ॥ तब उनके एक शिष्य याज्ञवल्क्यने कहा—"हे भगवन् ! इन अल्पवीर्य ब्राह्मणोंके किये हुए व्रतसे ऐसा क्या लाभ है ? मैं अकेला ही दुश्चर व्रतका आचरण करूँगा" ॥ ६२ ॥ याज्ञवल्क्यके ऐसा कहनेपर गुरुने क्रुद्ध होकर कहा—"मुझे ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले तुझ-जैसे शिष्यसे कोई प्रयोजन नहीं है; तू तुरन्त ही मुझसे पढ़ी हुई विद्या त्याग दे और यहाँसे चला जा" ॥ ६३ ॥ तब देवरातका पुत्र याज्ञवल्क्य उन यजुःश्रुतियोंको वमन कर वहाँसे चला गया । इतनेहीमें जब अन्य मुनियोंने वे यजुःश्रुतियाँ देखीं तो लोलुपतासे तीतर होकर उन्हें ग्रहण कर लिया । इससे वह सुरम्य यजुःशाखा तैत्तिरीय कहलायी॥६४-६५॥ हे ब्रह्मन् ! तब याज्ञवल्क्यने, जो गुरुजीके भी पास न हों ऐसी यजुःश्रुतियोंको प्राप्त करनेके लिये सूर्यभगवान्की आराधना आरम्भ की ॥ ६६ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

ॐ नमो भगवत आदित्यायाखिलजगतामात्मस्वरूपेण कालस्वरूपेण चतुर्विधभूतनिकायानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामन्तर्हृदयेषु[6] बहिरपि चाकाश इवोपाधिनाव्यवधीयमानो भगवानेक एव क्षणलव-

याज्ञवल्क्य बोले—ॐ भगवान् आदित्यको नमस्कार है; जो अकेले ही ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त [जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज] चार प्रकारके प्राणियोंके भीतर हृदयमें सम्पूर्ण जगत्के आत्मारूपसे और बाहर क्षण, लव, निमेष आदि अवयवोंसे बढ़े हुए संवत्सरसमूहरूप कालस्वरूपसे स्थित होकर

१. वाताय० । २. क्यस्तु । ३. गणान् । ४. गत्वाथ । ५. सोप० । ६. दिव ।

निमेषावयवोपचितसंवत्सरगणेनापामादानविसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति ॥६७॥

घटादि उपाधियोंके बाहर-भीतर व्याप्त आकाशके समान अलिप्त रहकर जलका ग्रहण और त्याग करते हुए इस लोकयात्राका वहन करते हैं ॥ ६७ ॥

यदुह[1] वाव विबुधर्षभ सवितरदस्तपत्यनुसवनमहरहराम्नायविधिनोपतिष्ठमानानामखिलदुरितवृजिनबीजावभर्जनभगवतः समभिधीमहि तपनमण्डलम् ॥६८॥

हे देवश्रेष्ठ भगवान् सूर्य ! नित्यप्रति प्रातः, मध्याह्न और सायङ्कालमें वेदविधिसे उपासना करनेवाले पुरुषोंके पापकर्मोंसे प्राप्त हुए सम्पूर्ण दुःख-बीजोंको भून डालनेवाले आपका जो यह तेजोमण्डल देदीप्यमान हो रहा है उसका हम ध्यान करते हैं ॥ ६८ ॥

य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिकेतनानां मनइन्द्रियासुगणाननात्मनः स्वयमात्मान्तर्यामी प्रचोदयति ॥६९॥

जो अपने आश्रित रहनेवाले स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके जडरूप मन, इन्द्रिय और प्राणादिको स्वयं सबके आत्मा और अन्तर्यामीरूपसे प्रेरित करते हैं [उन आपको हम नमस्कार करते हैं] ॥ ६९ ॥*

य एवेमं लोकमतिकरालवदनान्धकारसंज्ञाजगरग्रहगिलितं[2] मृतकमिव विचेतनमवलोक्यानुकम्पया परमकारुणिक ईक्षयैवोत्थाप्याहरहरनुसवनं श्रेयसि स्वधर्माख्यात्मावस्थाने प्रवर्तयत्यवनिपतिरिवासाधूनां भयमुदीरयन्नटति ॥७०॥

जो अत्यन्त करुणामय प्रभु इस लोकको अन्धकारनामक अति भयङ्कर मुखवाले अजगरके मुखमें पड़कर मृतकके समान चेतनाशून्य देख करुणावश अपनी दृष्टिमात्रसे ही उठाकर उसे नित्यप्रति तीनों कालोमें अपने कल्याणकारी धर्मरूप आत्मस्थितिमें प्रवृत्त करते हैं और राजाके समान दुष्ट पुरुषोंको भय देते हुए सर्वत्र विचरते हैं ॥ ७० ॥

परित आशापालैस्तत्र तत्र कमलकोशाञ्जलिभिरुपहृतार्हणः ॥७१॥

जिन्हें दिक्पालगण चारों ओरसे जहाँ-तहाँ अपनी कमलकोशसदृश अञ्जलियोंसे अर्घ्य समर्पण करते हैं ॥ ७१॥

अथ ह भगवंस्तव चरणनलिनयुगलं त्रिभुवनगुरुभिर्वन्दितमहमयातयामयजुःकाम उपसरामीति ॥७२॥

हे भगवन् ! उन्हीं आपके त्रिलोकगुरु-वन्दित[3] चरणकमलयुगलकी मैं अयातयाम यजुःश्रुतियोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे शरण लेता हूँ ॥७२॥

सूत उवाच

एवं स्तुतः स भगवान्वाजिरूपधरो हरिः ।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात्प्रसादितः ॥७३॥
यजुर्भिरकरोच्छाखा दशपञ्चशतैर्विभुः ।
जगृहुर्वाजसन्न्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः ॥७४॥
जैमिनेः सामगस्यासीत्सुमन्तुस्तनयो मुनिः[4] ।
सुन्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम् ॥७५॥

सूतजी बोले—हे मुनिगण ! इस प्रकार स्तुति की जानेपर अश्वरूपधारी भगवान् सूर्यने प्रसन्न होकर उन मुनिश्रेष्ठको अयातयाम यजुःश्रुतियाँ प्रदान कीं ॥ ७३ ॥ फिर भगवान् याज्ञवल्क्यने उन असंख्य यजुःश्रुतियोंसे पन्द्रह शाखाओंकी रचना की। उन वाजसनेयी शाखाओंको कण्व और माध्यन्दिन आदि मुनीश्वरोंने पढ़ा ॥ ७४ ॥

सामसंहिताका अध्ययन करनेवाले जैमिनिके सुमन्तुनामक एक पुत्र था और उसका पुत्र सुन्वान् था। उन दोनोंको उन्होंने एक-एक संहिता पढ़ायी ॥ ७५ ॥

---

१. यद्दुत । २. ग्रहीतं । ३. भिरभिव० । ४. नेः ।

* ६७, ६८, ६९—इन तीनों वाक्योंद्वारा क्रमशः गायत्रीमन्त्रके 'तत्सवितुर्वरेण्यम्', 'भर्गो देवस्य धीमहि' और 'धियो यो नः प्रचोदयात्'—इन तीन चरणोंकी व्याख्या करते हुए भगवान् सूर्यकी स्तुति की गयी है

सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान् ।
सहस्रसंहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः ॥७६॥
हिरण्यनाभः कौशल्यः पौष्यञ्जिश्च सुकर्मणः ।
शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः ॥७७॥
उदीच्याः सामगाः शिष्या आसन्पञ्चशतानि वै ।
पौष्यञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च प्राच्यान्प्रचक्षते ॥७८॥
लौगाक्षिर्माङ्गलिः[1] कुल्यः कुसीदः कुक्षिरेव च ।
पौष्यञ्जिशिष्या जगृहुः संहितास्ते[2] शतं शतम् ॥७९॥
कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशतिसंहिताः ।
शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषा आवन्त्य आत्मवान् ॥८०॥

जैमिनिजीका एक सुकर्मानामक शिष्य था। उस द्विजश्रेष्ठने सामवेदरूप महावृक्षके भिन्न-भिन्न मन्त्रोंसे सामश्रुतियोंके एक सहस्र शाखाभेद किये ॥७६॥ उन शाखाओंको सुकर्माके शिष्य कोशल-निवासी हिरण्यनाभ, पौष्यञ्जि और वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आवन्त्यने ग्रहण किया ॥७७॥ पौष्यञ्जि और आवन्त्यके पाँच सौ शिष्य उत्तरदिशामें रहकर सामगान करनेवाले थे। [इस प्रकार यद्यपि वे सभी उदीच्य सामग थे तथापि] उन्हें प्राच्य सामग भी कहते हैं ॥७८॥ लौगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुसीद और कुक्षि—इन पौष्यञ्जिके शिष्योंमेंसे प्रत्येकने सौ-सौ संहिताएँ पढ़ीं ॥७९॥ हिरण्यनाभके शिष्य कृतने अपने शिष्योंको चौबीस संहिताएँ पढ़ायीं तथा शेष संहिताएँ आत्मज्ञ आवन्त्यने अपने शिष्योंको दीं ॥८०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे वेदशाखा-
प्रणयनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सातवाँ अध्याय

अथर्ववेदशाखा तथा पुराणके लक्षणोंका वर्णन ।

सूत उवाच

अथर्ववित्सुमन्तुश्च शिष्यमध्यापयत्स्वकाम्[3] ।
संहितां सोऽपि पथ्याय वेददर्शाय चोक्तवान् ॥ १ ॥
शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिर्मोदोषः पिप्पलायनिः ।
वेददर्शस्य शिष्यास्ते पथ्यशिष्यानथो शृणु ॥ २ ॥
कुमुदः शुनको ब्रह्मन्जाजलिश्चाप्यथर्ववित् ।
बभ्रुः शिष्योऽथाङ्गिरसः सैन्धवायन एव च ।
अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्यास्तथापरे ॥ ३ ॥
नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपाङ्गिरसादयः ।
एत आथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान्मुने ॥ ४ ॥

श्रीसूतजी बोले—हे मुनिगण ! अथर्ववेदके ज्ञाता सुमन्तु ऋषिने अपनी संहिता [कबन्धनामक] अपने शिष्यको पढ़ायी और उसने [उसके दो विभाग कर उन्हें] अपने शिष्य पथ्य और वेददर्शको पढ़ाया ॥ १ ॥ शौक्लायनि, ब्रह्मबलि, मोदोष और पिप्पलायनि—ये वेददर्शके शिष्य थे। अब पथ्यके शिष्योंको सुनो ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् ! वे अथर्ववेदके ज्ञाता कुमुद, शुनक और जाजलि थे। शुनकके बभ्रु और सैन्धवायननामक दो शिष्य थे; उन्होंने शुनकसे दो संहिताएँ पढ़ीं। उनके शिष्य सावर्ण्य आदि हुए ॥ ३ ॥ उनके पीछे नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प, कश्यप और आङ्गिरस आदि हुए। हे मुने ! ये सब अथर्ववेदके आचार्य थे अब पौराणिकोंके विषयमें सुनो ॥ ४ ॥

---

१. लौकाक्षिर्लाङ्ग० । २. ता द्विशतं । ३. ष्यानध्यापयत् स्वकान् ।

त्र्य्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः ।
वैशम्पायनहारीतौ षड्वै पौराणिका इमे ॥ ५ ॥
अधीयन्त व्यासशिष्यात्संहितां मत्पितुर्मुखात् ।
एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगाम् ॥ ६ ॥
कश्यपोऽहं च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः ।
अधीमहि व्यासशिष्याच्चतस्रो मूलसंहिताः ॥ ७ ॥
पुराणलक्षणं ब्रह्मन्ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम् ।
शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः ॥ ८ ॥
सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥ ९ ॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन्महदल्पव्यवस्थया ॥१०॥
अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥११॥
पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम् ॥१२॥
वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥१३॥
रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥१४॥
मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः[3] ।
ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥१५॥
राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।

त्र्य्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन और हारीत—ये छः पौराणिक हैं ॥ ५ ॥ इनमेंसे प्रत्येकने व्यासजीके शिष्य मेरे पिताजीसे एक-एक पुराणसंहिता पढ़ी थी और छहोंके शिष्य मैंने वे सब संहिताएँ पढ़ी हैं ॥ ६ ॥ कश्यप, मैं, सावर्णि और परशुरामके शिष्य अकृतव्रण—हम चारोंने व्यासजीके शिष्यसे चार मूल संहिताएँ पढ़ी थीं ॥ ७ ॥ हे ब्रह्मन् ! अब, वेद और शास्त्रके अनुसार ब्रह्मर्षियोंके बताये हुए पुराणके लक्षणोंको सावधान होकर सुनो ॥ ८ ॥

विश्वका सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, मन्वन्तर, वंश, वंशोंके चरित, संस्था (प्रलय), हेतु (ऊति) और अपाश्रय—जो इन दश लक्षणोंसे युक्त हो उसे विद्वान्लोग पुराण कहते हैं; हे ब्रह्मन् ! कितने ही ऋषि महापुराण और अल्पपुराणकी व्यवस्थासे पाँच लक्षणोंवाले ग्रन्थको भी पुराण मानते हैं, ॥ ९-१० ॥ मूलप्रकृतिके गुणोंका क्षोभ होनेपर उससे महत्तत्त्व, त्रिविध अहङ्कार, भूततन्मात्रा, इन्द्रिय तथा विषयोंकी उत्पत्ति होनेको 'सर्ग' कहते हैं ॥११॥ जिस प्रकार बीजसे बीजकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार ईश्वरसे अनुगृहीत इन महत्तत्त्वादिसे जो पूर्वजन्मकी वासनाओंसे युक्त चराचर जीवसमूह उत्पन्न होता है उसे 'विसर्ग' कहते हैं ॥ १२ ॥ जङ्गम प्राणियोंकी स्वाभाविक जीविका स्थावर भूत हैं। उनमें मनुष्योंकी जीविका कुछ तो कामवश अपनेही-द्वारा निश्चित की गयी है और कुछ शास्त्राज्ञासे नियत की हुई है ॥ १३ ॥ भगवान् जो युग-युगमें तिर्यक्, मनुष्य, ऋषि और देवताओंमें अवतार लेकर लीला करते हैं वही विश्वकी 'रक्षा' है, क्योंकि उन अवतारोंसे वेदविरोधियोंका नाश हो जाता है ॥ १४ ॥ मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान्का अंशावतार—ये छः मिलकर 'मन्वन्तर' कहलाते हैं ॥ १५ ॥ ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए राजा और उनकी भूत, भविष्य एवं वर्तमानकालीन सन्ततिको 'वंश'

१. शिंशपायन० । २. सपुत्राश्च० । ३. राः ।

वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ॥१६॥
नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धास्य स्वभावतः ॥१७॥
हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः ।
यं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥१८॥
व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥१९॥
पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु ।
बीजादिपञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम् ॥२०॥
विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम् ।
योगेन वा तदात्मानं वेदेहाया निवर्तते ॥२१॥
एवंलक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः ।
मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च ॥२२॥
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् ।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम् ॥२३॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् ।
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्॥२४॥
ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः ।
शिष्यशिष्यप्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविवर्धनम् ॥२५॥

तथा उनके और उनके वंशधरोंके चरित्रोंको 'वंशानुचरित' कहते हैं ॥१६॥ इस विश्वका जो नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक चार प्रकारका स्वाभाविक प्रलय होता है उसीको विद्वान्लोग 'संस्था' कहते हैं ॥१७॥ जिसे [चैतन्यप्रधान होनेसे] कोई अनुशयी और [उपाधिप्रधानताकी दृष्टिसे] कोई अव्याकृत कहते हैं वह अविद्यावश कर्म करनेवाला जीव ही इस सर्गादिका 'हेतु' है ॥ १८ ॥ जीवकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन मायामयी तीनों वृत्तियोंमें जिसका [विश्व, तैजस और प्राज्ञरूपसे] अन्वय तथा तुरीयरूपसे व्यतिरेक है वह ब्रह्म ही 'अपाश्रय' है ॥ १९ ॥ जिस प्रकार घटादि नाम-रूपात्मक पदार्थोंमें उनकी कारणभूत मृत्तिका सद्रूपसे व्याप्त रहती है और पृथक् भी रहती है उसी प्रकार जो जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त सम्पूर्ण अवस्थाओंमें [अधिष्ठानरूपसे] व्याप्त और [साक्षीरूपसे] पृथक् रहता है [वह ब्रह्म ही 'अपाश्रय' है] ॥ २० ॥ जिस समय चित्त सात्त्विकादि तीनों प्रकारकी वृत्तियोंको त्यागकर स्वयं ही शान्त हो जाता है अथवा योगाभ्याससे शान्त हो जाता है उस समय वह आत्मतत्त्वको जान लेता और अविद्याजनित कर्मप्रवृत्तिसे निवृत्त हो जाता है ॥ २१ ॥

हे मुनिगण ! पुरातत्त्ववेत्ताओंने ऐसे लक्षणोंसे युक्त छोटे-बड़े अठारह पुराण बताये हैं ॥ २२ ॥ वे अठारह पुराण ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव, शैव, लैङ्ग, गारुड, नारदीय, भागवत, आग्नेय, स्कान्द, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, वामन, वाराह, मात्स्य, कौर्म और ब्रह्माण्ड नामवाले हैं ॥ २३-२४ ॥ हे ब्रह्मन् ! व्यासजीके शिष्योंके शिष्य और उनके भी प्रशिष्योंका किया हुआ यह श्रोताओंके ब्रह्मतेजको बढ़ानेवाला वैदिक शाखाओंका विस्तार मैंने तुम्हें सुना दिया ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे[2]
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

१. ह्मन्नेतत्समा० । २. न्धे वेदशाखाप्रणयनं ।

आठवाँ अध्याय

मार्कण्डेयजीकी तपस्या और उन्हें वर मिलना।

शौनक उवाच

सूत जीव चिरं साधो वद नो वदतां वर।
तमस्यपारे भ्रमतां नृणां त्वं पारदर्शनः ॥ १ ॥
आहुश्चिरायुषमृषिं मृकण्डतनयं जनाः।
यः कल्पान्ते उर्वरितो येन ग्रस्तमिदं जगत् ॥ २ ॥
स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन्भार्गवर्षभः।
नैवाधुनापि भूतानां सम्प्लवः कोऽपि जायते ॥ ३ ॥
एक एवार्णवे भ्राम्यन्ददर्श पुरुषं किल।
वटपत्रपुटे तोकं शयानं त्वेकमद्भुतम् ॥ ४ ॥
एष नः संशयो भूयान्सूत कौतूहलं यतः।
तं नश्छिन्धि महायोगिन्पुराणेष्वपि सम्मतः ॥ ५ ॥

शौनकजी बोले—हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ सूतजी! आप चिरञ्जीवी हों। हे साधो! आप संसाररूप अपार अन्धकारमें भटकते हुए पुरुषोंको मार्ग दिखानेवाले हैं; अतः अब आप [हम जो कुछ पूछते हैं सो] कहिये ॥ १ ॥ जो इस सम्पूर्ण जगत्को ग्रस लेता है उस प्रलयकालमें भी शेष रहनेवाले ऋषिवर मार्कण्डेयको लोग चिरायु बतलाते हैं ॥ २ ॥ किन्तु वे भृगुश्रेष्ठ तो इसी कल्पमें हमारे ही कुलमें उत्पन्न हुए थे; और उनके जन्मसे लेकर अबतक प्राणियोंका किसी भी प्रकारका प्रलय हुआ नहीं है ॥ ३ ॥ [तथापि उनके विषयमें सुना जाता है कि] उन्होंने प्रलयकालीन समुद्रमें अकेले ही विचरते हुए एक अति विचित्र बालरूप पुरुषको वटपत्रके दोनेमें सोये देखा ॥ ४ ॥ हे सूतजी! यह हमें बड़ा भारी सन्देह हो रहा है, जिससे इस विषयको सुननेके लिये हमें अत्यन्त उत्कण्ठा हो रही है। हे महायोगिन्! आप पुराणवेत्ताओंमें माननीय हैं, अतः हमारे इस संशयका छेदन कीजिये ॥ ५ ॥

सूत उवाच

प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः।
नारायणकथा यत्र गीता कलिमलापहा ॥ ६ ॥
प्राप्तद्विजातिसंस्कारो मार्कण्डेयः पितुः क्रमात्।
छन्दांस्यधीत्य धर्मेण तपःस्वाध्यायसंयुतः ॥ ७ ॥
बृहद्व्रतधरः शान्तो जटिलो वल्कलाम्बरः।
बिभ्रत्कमण्डलुं दण्डमुपवीतं समेखलम् ॥ ८ ॥
कृष्णाजिनं साक्षसूत्रं कुशांश्च नियमर्द्धये।
अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्चयन्सन्ध्ययोर्हरिम् ॥ ९ ॥
सायंप्रातः स गुरवे भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यतः।
बुभुजे गुर्वनुज्ञातः सकृन्नो[1] चेदुपोषितः ॥१०॥

श्रीसूतजी बोले—हे महर्षे! आपने यह सम्पूर्ण लोकोंका भ्रम दूर करनेवाला प्रश्न किया है, जिसके प्रसङ्गमें श्रीनारायणकी कलिकल्मषनाशिनी कथाका गान किया गया है ॥ ६ ॥ जब मार्कण्डेयजीने अपने पितासे अन्य संस्कारोंके क्रमसे यज्ञोपवीत संस्कार प्राप्त किया तो वे तप और स्वाध्यायसे युक्त हो संयमपूर्वक नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धारणकर धर्मानुसार वेदाध्ययन करते हुए अपने नियम (व्रत) की पूर्णताके लिये जटा, वल्कल-वस्त्र, कमण्डलु, दण्ड, यज्ञोपवीत, मेखला, कृष्ण मृगचर्म, अक्षमाला और कुशाओंको धारणकर दोनों सन्ध्याओंके समय अग्नि, सूर्य, गुरु, ब्राह्मण और अपने आत्मामें श्रीहरिकी आराधना करते हुए प्रातः और सायङ्काल भिक्षा लाकर अपने गुरुदेवको समर्पण कर देते और उनके आज्ञा देनेपर केवल एक समय मौन होकर भोजन करते, नहीं तो उपवास ही कर जाते ॥ ७—१० ॥

१- वोत्तमः।

एवं तपःस्वाध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम् ।
आराधयन्हृषीकेशं जिग्ये मृत्युं सुदुर्जयम् ॥११॥
ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च ये परे ।
नृदेवपितृभूतानि तेनासन्नतिविस्मिताः ॥१२॥
इत्थं बृहद्व्रतधरस्तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
दध्यावधोक्षजं योगी ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना ॥१३॥
तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं महायोगेन योगिनः ।
व्यतीयाय महान्कालो मन्वन्तरषडात्मकः ॥१४॥
एतत्पुरन्दरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन्किलान्तरे ।
तपोविशङ्कितो ब्रह्मन्नारेभे तद्विघातनम् ॥१५॥
गन्धर्वाप्सरसः कामं वसन्तमलयानिलौ ।
मुनये प्रेषयामास रजस्तोकमदौ तथा ॥१६॥
ते वै तदाश्रयं जग्मुर्हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे[2] ।
पुष्पभद्रा नदी यत्र चित्राख्या च शिला विभो ॥१७॥
तदा[3]श्रमपदं पुण्यं पुण्यद्रुमलताञ्चितम् ।
पुण्यद्विजकुलाकीर्णं पुण्यामलजलाशयम् ॥१८॥
मत्तभ्रमरसङ्गीतं मत्तकोकिलकूजितम् ।
मत्तबर्हिनटाटोपं मत्तद्विजकुलाकुलम् ॥१९॥
वायुः प्रविष्ट आदाय हिमनिर्झरशीकरान् ।
सुमनोभिः परिष्वक्तो ववावुत्तम्भयन्स्मरम् ॥२०॥
उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्रः प्रवालस्तवकालिभिः ।
गोपद्रुमलताजालैस्तत्रासीत्कु[4]सुमाकरः ॥२१॥
अन्वीयमानो गन्धर्वैर्गीतवादित्रयूथकैः ।
अदृश्यतात्तचापेषुः स्वःस्त्रीयूथपतिः स्मरः ॥२२॥

हे शौनकजी ! इस प्रकार तप और स्वाध्यायमें तत्पर रहकर हजारों-लाखों वर्षतक श्रीहृषीकेश भगवान्‌की आराधना करते हुए उन्होंने अत्यन्त दुर्जय मृत्युको भी जीत लिया ॥ ११ ॥ उनके इस मृत्युविजयसे ब्रह्मा, भृगु, महादेव, दक्ष, ब्रह्माजीके अन्यान्य पुत्र तथा मनुष्य, देवता, पितृगण एवं अन्य सब प्राणियोंको भी अत्यन्त आश्चर्य हुआ ॥ १२ ॥ इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको धारण करनेवाले वे योगिराज तप, स्वाध्याय और संयमद्वारा राग-द्वेषादि मलोंसे मुक्त हुए अन्तःकरणद्वारा श्रीअधोक्षज भगवान्‌का ध्यान करने लगे ॥ १३ ॥ उन योगिराजको इस प्रकार महायोगसे अपने चित्तका नियमन करते-करते छः मन्वन्तरका महान् काल व्यतीत हो गया ॥ १४ ॥ इस सातवें मन्वन्तरके लगनेपर जब इन्द्रको इस बातका पता लगा तो उनके तपसे सन्दिग्ध हो उसने उसे खण्डित करनेका उद्योग आरम्भ किया ॥ १५ ॥

तब उसने मार्कण्डेयजीके पास गन्धर्व, अप्सरा, कामदेव, वसन्तऋतु, मलयमारुत और रजोगुणके प्रियपुत्र लोभ और मद भेज दिये ॥ १६ ॥ हे भगवन् ! वे सब-के-सब हिमालयके उत्तरकिनारे जहाँ पुष्पभद्रा नदी और चित्रानामक शिला थी उस मार्कण्डेयजीके आश्रमपर गये ॥ १७ ॥ वह पवित्र आश्रम पवित्र वृक्ष और लताओंसे सम्पन्न, पवित्र पक्षिसमूहसे पूर्ण और पवित्र एवं निर्मल जलाशयोंसे युक्त था ॥ १८ ॥ उसमें मतवाले भौंरे गुञ्जार रहे थे, मत्त कोकिलकी कुहू-कुहू ध्वनि हो रही थी, मत्त मयूररूपी नटोंका मनोहर नृत्य हो रहा था तथा मतवाले पक्षियोंके समुदायसे वह आश्रम भरा हुआ था ॥ १९ ॥ वहाँ शीतल झरनोंके जलकणसे युक्त वायुने प्रवेश किया और सुगन्धित पुष्पोंका आलिङ्गन कर वहाँ बहता हुआ कामोद्दीपन करने लगा ॥ २० ॥ तथा निशाकरके उदयसे युक्त प्रदोषकाल उपस्थित होनेपर नवीन पल्लवोंके गुच्छोंवाले वृक्ष, द्रुम और लतासमूहसे उपलक्षित वसन्तऋतुका आविर्भाव हुआ ॥ २१ ॥ फिर गाने-बजानेवाले गन्धर्वसमूहके सहित हाथमें धनुष-बाण लिये देवाङ्गनाओंका नायक कामदेव दिखायी दिया ॥ २२ ॥

१. भवो भृगुः । २. रम् । ३. तस्या० । ४. त्सुषमा० ।

हुत्वाग्निं समुपासीनं ददृशुः शक्रकिङ्कराः ।
मीलिताक्षं दुराधर्षं मूर्तिमन्तमिवानलम् ॥२३॥
ननृतुस्तस्य पुरतः स्त्रियोऽथो गायका जगुः ।
मृदङ्गवीणापणवैर्वाद्यं चक्रुर्मनोरमम् ॥२४॥
सन्दधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पञ्चमुखं तदा ।
मधुर्मनो रजस्तोक इन्द्रभृत्या व्यकम्पयन् ॥२५॥
क्रीडन्त्याः पुञ्जिकस्थल्याः कन्दुकैः स्तनगौरवात् ।
भृशमुद्विग्नमध्यायाः केशविस्रंसितस्रजः ॥२६॥
इतस्ततो भ्रमद्दृष्टेश्चलन्त्या अनुकन्दुकम् ।
वायुर्जहार तद्वासः सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम् ॥२७॥
विससर्ज तदा बाणं मत्वा तं स्वजितं स्मरः ।
सर्वं तत्राभवन्मोघमनीशस्य यथोद्यमः ॥२८॥
त इत्थमपकुर्वन्तो मुनेस्तत्तेजसा मुने ।
दह्यमाना निववृतुः प्रबोध्याहिमिवार्भकाः ॥२९॥
इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन्धर्षितोऽपि महामुनिः ।
यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि ॥३०॥
दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान्स्वराट् ।
श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात्परम् ॥३१॥
तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।
अनुग्रहायाविरासीन्नरनारायणो हरिः ॥३२॥
तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ
चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ ।

तब उन इन्द्रके किङ्करोंने अग्निहोत्रके अनन्तर नेत्र मूँदे बैठे हुए मूर्तिमान् अग्निके समान अत्यन्त दुर्धर्ष श्रीमार्कण्डेयजीको देखा ॥ २३ ॥ उन्हें देखकर अप्सराओंने उनके सामने नाचना और गन्धर्वोंने गाना आरम्भ किया तथा मृदङ्ग, वीणा एवं पणवादिसे अति मनोहर बाजा बजाया ॥ २४ ॥ फिर कामदेवने अपने धनुषपर [शोषण, दीपन, सम्मोहन, तापन और उन्मादन-नामक] पाँच मुखवाला अस्त्र चढ़ाया, तथा वसन्त और लोभ आदि इन्द्रके अन्य सेवक भी मार्कण्डेयजीके मनको विचलित करने लगे ॥ २५ ॥ हे मुने ! उस समय स्तनके भारसे जिसका कटिप्रदेश अत्यन्त लचक रहा था उस पुञ्जिकस्थली अप्सराके गेंद खेलते-खेलते उसके केशपाशसे फूलोंकी माला खिसक गयी ॥२६॥ वह अप्सरा अपनी चञ्चल चितवनसे इधर-उधर निहारती गेंदके पीछे दौड़ रही थी; इतनेहीमें उसकी करधनी टूट गयी और वायुने उसके महीन वस्त्रको उड़ा दिया ॥ २७ ॥ तब कामदेवने मार्कण्डेयजीको अपने अधीन हुए समझ बाण छोड़ा; परन्तु भाग्यहीन-के उद्यमके समान वह सब प्रयत्न व्यर्थ ही रहा ॥२८॥ हे मुने ! मार्कण्डेयजीका इस प्रकार अपकार करनेसे वे उनके तेजसे दग्ध होने लगे और जिस प्रकार बालक सर्पको जगाकर भाग जाता है उसी प्रकार भयभीत होकर लौट आये ॥ २९ ॥ हे ब्रह्मन् ! श्रीमार्कण्डेयजी, इन्द्रके अनुचरोंद्वारा इस प्रकार विचलित किये जानेपर भी जो अहङ्कारके वशीभूत नहीं हुए सो महापुरुषोंके लिये यह कोई विचित्र बात नहीं है ॥३०॥

इधर, भगवान् इन्द्र कामदेवको अपने साथियोंके सहित निस्तेज हुआ देख और उसके मुखसे ब्रह्मर्षि मार्कण्डेयजीका प्रभाव सुन अत्यन्त विस्मित हुए ॥३१॥ तब मार्कण्डेयजीको तप, स्वाध्याय और संयमद्वारा चित्तको इस प्रकार संयत करते देख भगवान् नर-नारायण उनपर अनुग्रह करनेके लिये प्रकट हुए ॥३२॥ वे दोनों सुरवरवन्दित नर-नारायण चतुर्भुज तथा शुक्ल और कृष्णवर्ण थे। उनके नेत्र कमलके समान थे।

१. तमुपा० ।

पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत्
कमण्डलुं दण्डमृजुं च वैणवम् ॥३३॥
पद्माक्षमालामुत जन्तुमार्जनं
वेदं च साक्षात्तप एव रूपिणौ।
तपत्तडिद्वर्णपिशङ्गरोचिषा
प्रांशू दधानौ विबुधर्षभार्चितौ ॥३४॥

ते वै भगवतो रूपे नरनारायणावृषी।
दृष्ट्वोत्थायादरेणोच्चैर्ननामाङ्गेन दण्डवत् ॥३५॥
स तत्सन्दर्शनानन्दनिर्वृतात्मेन्द्रियाशयः।
हृष्टरोमाश्रुपूर्णाक्षो न सेहे तावुदीक्षितुम् ॥३६॥
उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व औत्सुक्यादाश्लिषन्निव।
नमो नम इतीशानौ बभाषे गद्गदाक्षरैः[3] ॥३७॥
तयोरासनमादाय पादयोरवनिज्य च।
अर्हणेनानुलेपेन धूपमाल्यैरपूजयत् ॥३८॥
सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनी।
पुनरानम्य पादाभ्यां गरिष्ठाविदमब्रवीत् ॥३९॥

मार्कण्डेय उवाच

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः
संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च
स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः ॥४०॥
मूर्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः
क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै।

वे कृष्ण मृगचर्म और वल्कल-वस्त्र धारण किये हुए थे। वे अपने हाथमें पवित्री, गलेमें तीन-तीन (नौ) तन्तुओंवाला यज्ञोपवीत, हाथमें कमण्डलु, बाँसका सीधा दण्ड, पद्माक्ष (कमलगट्टों) की माला, जीवोंको हटानेके लिये वस्त्रकी कूँची और वेद धारण किये हुए थे तथा वे चमचमाती हुई बिजलीके समान पिशङ्गवर्ण कान्तिसे युक्त होनेके कारण साक्षात् मूर्तिमान् तप ही जान पड़ते थे और कदमें ऊँचे थे ॥३३-३४॥

हे मुनिगण ! भगवान्के स्वरूपभूत उन नर-नारायण ऋषियोंको देखकर मार्कण्डेयजीने बड़े आदरसे उठकर दण्डवत्-प्रणाम किया ॥३५॥ प्रभुके दिव्य दर्शनके आनन्दसे उनके शरीर, इन्द्रिय और मन अत्यन्त शान्तिमग्न हो गये; तथा शरीरमें रोमाञ्च और नेत्रोंमें जल भर आनेके कारण वे उन दोनोंकी ओर देख भी न सके ॥३६॥ फिर मानो आलिङ्गन ही कर लेंगे इस प्रकार अति उत्कण्ठासे उठकर अति विनयपूर्वक हाथ जोड़े हुए वे उन परमेश्वरोंसे गद्गदवाणीमें 'नमस्कार है, नमस्कार है' ऐसा कहने लगे ॥३७॥ तदनन्तर उन्हें आसन देकर उनके पाँव पखारे और नाना प्रकारके अर्घ्य, अनुलेपन, धूप और माला आदिसे उनकी पूजा की ॥३८॥ फिर सुखपूर्वक आसनपर बैठे हुए उन प्रसादप्रवण और पूज्यतम मुनीश्वरोंके चरणोंमें पुनः प्रणामकर वे इस प्रकार कहने लगे ॥३९॥

श्रीमार्कण्डेयजी बोले—हे प्रभो ! मैं आपकी महिमाका क्या वर्णन करूँ ? अहो ! आपकी प्रेरणासे ही देहधारियोंके प्राण चेष्टा करते हैं, जिनके कारण ही वाणी, मन और इन्द्रियोंमें चेष्टा होने लगती है। [यही नहीं] ब्रह्मा और शिवके प्राणादिककी प्रवृत्ति भी आपके ही अधीन है। [इस प्रकार परम स्वतन्त्र होकर भी] आप अपना भजन करनेवालोंके आत्माके बन्धु हैं [अन्य माता-पितादिक केवल शरीरके ही सम्बन्धी हैं] ॥४०॥ हे प्रभो ! जिस प्रकार आपने मत्स्य-कूर्मादि अन्य अवतार केवल विश्वकी रक्षाके लिये ही धारण किये हैं उसी प्रकार आपकी ये दोनों मूर्तियाँ

१. वीक्ष्यो० ।२. प्राह। ३. रम्।

नाना त्रिभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं
सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः ॥४१॥
तस्यावितुः स्थिरचरेशितुरङ्घ्रिमूलं
यत्स्थं न कर्मगुणकालरुजः स्पृशन्ति।
यद्वै स्तुवन्ति निनमन्ति यजन्त्यभीक्ष्णं
ध्यायन्ति वेदहृदया मुनयस्तदाप्त्यै ॥४२॥
नान्यं तवाङ्घ्र्युपनयादपवर्गमूर्तेः
क्षेमं जनस्य परितोभिय ईश विद्मः।
ब्रह्मा बिभेत्यलमतो द्विपरार्धधिष्ण्यः
कालस्य ते किमुत तत्कृतभौतिकानाम् ॥४३॥
तद्वै भजाम्यृतधियस्तव पादमूलं
हित्वेदमात्मच्छदि चात्मगुरोः परस्य।
देहाद्यपार्थमसदन्त्यमभिज्ञमात्रं
विन्देत ते तर्हि सर्वमनीषितार्थम् ॥४४॥
सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो
मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै
नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम् ॥४५॥
तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां
शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजन्ति।
यत्सात्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं
लोको यतोऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत् ॥४६॥
तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने
विश्वाय विश्वगुरवे परदैवताय।

भी त्रिलोकीके कल्याण, उसकी दुःखनिवृत्ति और मृत्युको जीतनेके लिये ही हैं। आप मकड़ीके समान इस सम्पूर्ण विश्वको अपनेहीसे रचकर अपनेहीमें लीन कर लेते हैं ॥४१॥ जिन्हें पानेके लिये वेदका मर्म जाननेवाले मुनिजन उनका निरन्तर स्तवन, वन्दन, पूजन और ध्यान किया करते हैं, जिनके आश्रित पुरुषोंको कर्म, गुण और कालजनित क्लेश स्पर्श भी नहीं कर सकते, चराचरका नियमन और पालन करनेवाले आपके उन चरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ ॥४२॥ हे ईश! जिनकी दो परार्द्धपर्यन्त स्थिति रहती है वे ब्रह्माजी भी आपके [भ्रुकुटिविलासरूप] कालसे डरते हैं; फिर उनके रचे हुए अन्य भौतिक प्राणियोंका तो कहना ही क्या है? अतः सब ओरसे भयभीत रहनेवाले प्राणियोंके लिये मोक्षस्वरूप आपके चरणोंकी शरणमें जानेसे बढ़कर और कोई कल्याणकारी स्थान हम नहीं जानते हैं ॥४३॥ अतः आत्मस्वरूपको आच्छादित करनेवाले इन देह आदि निष्फल, असत्य, नाशवान् एवं प्रतीतिमात्र पदार्थोंको त्यागकर मैं अपने गुरु सत्यज्ञानस्वरूप आप परमेश्वरके पादमूलका ही भजन करता हूँ। यदि पुरुष आपका भजन करता है तो वह अपने इच्छित पदार्थोंको भी आपसे ही प्राप्त कर लेता है ॥४४॥ हे ईश! हे आत्मबन्धो! यद्यपि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों ही गुण आपकी मूर्तियाँ हैं, और इनसे आप इस जगत्की उत्पत्ति स्थिति एवं लयकी हेतुभूत मायामय लीलाओंको धारण करते हैं, तथापि मनुष्योंको शान्ति प्रदान करनेवाली आपकी सत्त्वमयी मूर्ति ही है—जिनसे दुःख, मोह और भय प्राप्त होते हैं वे [रजोगुण-तमोगुणविशिष्ट] अन्य मूर्तियाँ उन्हें शान्ति नहीं दे सकतीं ॥४५॥ इसलिये हे भगवन्! विचक्षण पुरुष आपकी [नारायणनामक] शुद्ध मूर्तिका तथा आपके भक्तोंकी परमप्रिय [नरनामक] शुद्ध मूर्तिका ही भजन करते हैं, क्योंकि भक्तजन, जिससे वैकुण्ठादि लोकोंकी प्राप्ति होकर अभय और आत्मानन्दकी उपलब्धि होती है उस सत्त्वमयस्वरूपको ही प्राप्त करना चाहते हैं—अन्य (रजोगुण-तमोगुण) को नहीं ॥४६॥ अतः जो सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप, जगद्गुरु, परमदेव, शुद्धस्वरूप, वाणीके

नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय
हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय ॥४७॥
यं वै न वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः
सन्तं स्वखेष्वसुषु हृद्यपि दृक्पथेषु ।
तन्मायययावृतमतिः स उ एव साक्षा-
दौद्यस्तवाखिलगुरोरुपसाद्य वेदम् ॥४८॥
यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं
मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः ।
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं
वन्दे महापुरुषमात्मनि गूढबोधम् ॥४९॥

नियामक और वेदमार्गके प्रवर्त्तक हैं उन भगवान् नारायण और नरश्रेष्ठ नर ऋषिको नमस्कार है ॥४७॥ आपकी मायासे मोहित बुद्धिवाला पुरुष अपने इन्द्रिय, प्राण, हृदय और दृष्टिगोचर पदार्थोंमें विद्यमान रहनेपर भी जिन्हें कपटयुक्त इन्द्रियोंसे विक्षिप्त-चित्त हो जानेके कारण नहीं देख पाता, उन्हीं आपको वही पुरुष (जो पहले अज्ञ था) आप अखिल गुरु परमेश्वरके द्वारा प्रवर्तित वेदका ज्ञान प्राप्त करके साक्षात् जान लेता है ॥४८॥ जिनके स्वरूपके रहस्यको प्रकट करनेवाला ज्ञान वेदमें वर्णित है। तथा जिनके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले ब्रह्मा और महादेव आदि मनीषिगण भी मोहको प्राप्त हो जाते हैं, सम्पूर्ण मतोंके अनुकूल रूप और स्वभाववाले तथा देहादिमें छिपे हुए विशुद्ध विज्ञानस्वरूप उन महापुरुषको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४९॥
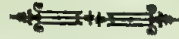
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे-
ऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥
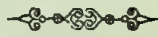
नवाँ अध्याय

मार्कण्डेयजीका माया-दर्शन ।

सूत उवाच

संस्तुतो भगवानित्थं मार्कण्डेयेन धीमता ।
नारायणो नरसखः प्रीत आह भृगूद्वहम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

भो भो ब्रह्मर्षिवर्योसि सिद्ध आत्मसमाधिना ।
मयि भक्त्यानपायिन्या तपःस्वाध्यायसंयमैः ॥ २ ॥
वयं ते परितुष्टाः स्म त्वद्बृहद्व्रतचर्यया ।
वरं प्रतीच्छ भद्रं ते वरदेशादभीप्सितम् ॥ ३ ॥

ऋषिरुवाच

जितं ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराच्युत ।

श्रीसूतजी बोले—हे मुनिगण ! परम बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीद्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर नरके सखा भगवान् नारायणने प्रसन्न होकर उन भृगुनन्दनसे कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ ! तुम चित्तकी एकाग्रता, मुझमें होनेवाले अक्षुण्ण भक्तिभाव और तप, स्वाध्याय एवं संयमद्वारा सिद्ध हो गये हो ॥ २ ॥ तुम्हारे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यके कारण हम तुमसे बहुत सन्तुष्ट हैं। तुम्हारा कल्याण हो; मुझ वरदायकोंके ईश्वरसे तुम अपना अभीष्ट वर माँग लो ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय ऋषि बोले—हे देवदेवेश्वर ! हे शरणागतदुःखहारी श्रीअच्युत ! आपने वर देनेको कहा

१. सुखेष्व० । २. दन्यस्तवा० । ३. पा० । ४. जप० । ५. वरदोऽसि त्वदीप्सितम् ।

वरेणैतावतालं नो यद्भवान्समदृश्यत ॥ ४ ॥
गृहीत्वाजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम् ।
मनसा योगपक्वेन स भवान्मेऽक्षगोचरः ॥ ५ ॥
अथाप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे ।
द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदाम् ॥ ६ ॥

सो यह आपका बड़प्पन है किन्तु जब स्वयं आपका ही दर्शन हो गया तो हमें इन वरोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ४ ॥ ब्रह्मादिक देवगण भी केवल अपने योगपक्व मनसे ही जिनके श्रीसम्पन्न चरणकमलोंका दर्शनकर कृतार्थ हो गये हैं वे ही आप साक्षात् मेरे नयनोंके विषय हुए ! ॥ ५ ॥ तथापि हे पवित्रकीर्तियोंके शिरोमणे ! हे कमलदललोचन ! मैं आपकी उस मायाको देखना चाहता हूँ जिससे मोहित होकर लोकपालोंके सहित यह सम्पूर्ण लोक सत्य वस्तु (ब्रह्म) में भेद देख रहा है ॥ ६ ॥

सूत उवाच

इतीडितोऽर्चितः काममृषिणा भगवान्मुने ।
तथेति स स्मयन्प्रागाद्बदर्याश्रममीश्वरः ॥ ७ ॥
तमेव चिन्तयन्नर्थमृषिः स्वाश्रम एव सः ।
वसन्नग्न्यर्कसोमाम्बुभूवायुवियदात्मसु ॥ ८ ॥
ध्यायन्सर्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत् ।
क्वचित्पूजां विसस्मार प्रेमप्रसरसम्प्लुतः[2] ॥ ९ ॥

सूतजी बोले—हे मुने ! मुनिवर मार्कण्डेयजीसे इस प्रकार यथेच्छ स्तुत और पूजित हो भगवान् परमेश्वर 'बहुत अच्छा' कह मुसकाते हुए बदरिकाश्रमको चले गये ॥ ७ ॥ तब वे ऋषिश्रेष्ठ अपने आश्रममें ही रहकर उन भगवान्का ही चिन्तन करते हुए सूर्य, चन्द्रमा, जल, पृथिवी, वायु, आकाश और चित्तमें सर्वत्र श्रीहरिका ही ध्यान करते हुए उनकी भावमय पदार्थोंसे मानसिक पूजा करने लगे, तथा किसी समय वे प्रेमके प्रवाहमें डूबकर भगवान्की पूजा करना भी भूल गये ॥ ८-९ ॥

तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ[3] पुष्पभद्रातटे मुनेः ।
उपासीनस्य सन्ध्यायां ब्रह्मन्वायुरभून्महान् ॥ १० ॥
तं चण्डशब्दं समुदीरयन्तं
बलाहका अन्वभवन्करालाः ।
अक्षस्थविष्ठा मुमुचुस्तडिद्भिः
स्वनन्त उच्चैरभिवर्षधाराः ॥ ११ ॥
ततो व्यदृश्यन्त चतुःसमुद्राः
समन्ततः क्ष्मातलमाग्रसन्तः ।
समीरवेगोर्मिभिरुग्रनक्र-
महाभयावर्तगभीरघोषाः ॥ १२ ॥
अन्तर्बहिश्चाद्भिरतिद्युभिः खरैः
शतह्रदाभीरुपतापितं जगत् ।

हे भृगुश्रेष्ठ ! एक बार सन्ध्याके समय वे पुष्पभद्रा नदीके तीरपर उपासनामें बैठे थे । हे ब्रह्मन् ! इसी समय वहाँ बड़ा प्रचण्ड पवन चलने लगा ॥ १० ॥ उस प्रचण्ड शब्द करनेवाले वायुके पीछे भयङ्कर मेघ उमड़ आये और बिजलीकी कड़कके साथ खूब गर्ज-गर्जकर रथके अक्ष (पहियेके छिद्रमें लगे हुए डण्डे)के समान जलकी मोटी-मोटी धाराएँ बरसाने लगे ॥ ११ ॥ फिर जिनमें अति उग्र नाके और भयानक भँवर दीख पड़ते थे ऐसे अति गम्भीर घोषवाले चारों समुद्र वायुके वेगसे उठती हुई तरङ्गोंसे चारों ओरसे पृथ्वीको ग्रसते हुए दिखायी देने लगे ॥ १२ ॥ उस समय बाहर-भीतरसे स्वर्गको भी डुबा देनेवाले जलसे, प्रचण्ड पवनसे तथा बिजलियोंसे अपनेसहित [अण्डज, स्वेदज, जरायुज, और उद्भिज्ज] चारों

१. युक्तेन । २. भक्ति० । ३. मुनि० । ४. रविद्यु० ।

चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनि-
र्जलाप्लुतां क्ष्मां विमनाः समत्रसत् ॥१३॥
तस्यैवमुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणः
प्रभञ्जनाघूर्णितवार्महार्णवः ।
आपूर्यमाणो वरषद्भिरम्बुदैः
क्ष्मामप्यधाद्द्वीपवर्षाद्रिभिः समम् ॥१४॥
सक्ष्मान्तरिक्षं सदिवं सभागणं
त्रैलोक्यमासीत्सह दिग्भिराप्लुतम् ।
स एक एवोर्वरितो महामुनि-
र्बभ्राम विक्षिप्य जटा जडान्धवत् ॥१५॥
क्षुत्तृट्परीतो मकरैस्तिमिङ्गिलै-
रुपद्रुतो वीचिनभस्वता हतः ।
तमस्यपारे पतितो भ्रमन्दिशो
न वेद खं गां च परिश्रमेषितः ॥१६॥

प्रकारके जगत्को व्याकुल और पृथिवीको जलमें डूबती देख मार्कण्डेयजी अति खिन्न और भयभीत हुए ॥१३॥ उनके इस प्रकार देखते-देखते ऊँची-ऊँची तरङ्गोंके कारण भयानक और जिसमें आँधीके कारण जल उछल रहा था उस प्रलयकालीन महासमुद्रने बरसते हुए मेघोंसे उमड़कर द्वीप, वर्ष और पर्वतोंके सहित सम्पूर्ण भूमण्डलको चारों ओरसे ढक लिया ॥ १४ ॥ इस प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, ग्रहगण और दिशाओंके सहित सम्पूर्ण त्रिलोकी जलमें डूब गयी; बस एकमात्र महामुनि मार्कण्डेयजी ही बच रहे, जो अपनी जटाएँ फैलाकर पागल और अन्धेके समान घूमने लगे ॥ १५ ॥ वे भूख-प्याससे व्याकुल, मकर एवं तिमिङ्गिलोंसे पीडित तथा तरङ्ग और आँधीसे उपहत हो अपार अन्धकारमें गिर गये तथा दिशा-विदिशाओंमें भटकते हुए अत्यन्त थक जानेसे उन्हें पृथिवी और आकाशका भी ज्ञान नहीं रहा ॥ १६ ॥

क्वचिद्गतो महावर्ते तरलैस्ताडितः क्वचित् ।
यादोभिर्भक्ष्यते क्वापि स्वयमन्योन्यघातिभिः ॥१७॥
क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहं क्वचिद्दुःखं सुखं भयम् ।
क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति व्याध्यादिभिरुतार्दितः ॥१८॥
अयुतायुतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च ।
व्यतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन्विष्णुमायावृतात्मनः ॥१९॥

वे कभी बड़े भारी भँवरमें पड़ जाते, कभी तरल तरङ्गोंसे ताडित होते और कभी स्वयं आपसमें ही एक दूसरेका घात करनेवाले जलजन्तुओंके शिकार बन जाते ॥ १७ ॥ कभी शोक, कभी मोह, कभी दुःख-सुख या भय और कभी मृत्युके मुखमें पड़ जाते तथा कभी भाँति-भाँतिकी व्याधियोंसे पीडित होते ॥ १८ ॥ इस प्रकार भगवान्की मायासे मोहित होकर उस प्रलयसमुद्रमें भटकते-भटकते उन्हें सैकड़ों, हजारों एवं लाखों वर्ष बीत गये ॥ १९ ॥

स कदाचिद्भ्रमंस्तस्मिन्पृथिव्याः ककुदि द्विजः ।
न्यग्रोधपोतं ददृशे फलपल्लवशोभितम् ॥२०॥
प्रागुत्तरस्यां शाखायां तस्यापि ददृशे शिशुम् ।
शयानं पर्णपुटके ग्रसन्तं प्रभया तमः ॥२१॥
महामरकतश्यामं श्रीमद्वदनपङ्कजम् ।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं सुनासं सुन्दरभ्रुवम् ॥२२॥

एक दिन उन द्विजश्रेष्ठने उस प्रलयसमुद्रमें घूमते-घूमते एक पृथिवीके टीलेपर फल और नवीन पत्तोंसे सुशोभित एक छोटे-से वटवृक्षको देखा ॥ २० ॥ उसके उत्तर-पूर्वकी शाखापर एक पत्रपुटमें उन्होंने एक बालकको सोये हुए देखा, जो अपनी कान्तिसे मानो अन्धकारको ग्रस रहा था ॥ २१ ॥ वह महामरकतमणिके समान श्यामवर्ण था, उसका मुखकमल अत्यन्त शोभायमान था, ग्रीवा शङ्खके समान थी, वक्षःस्थल विशाल था तथा नासिका अति मनोहर और भौंहें अत्यन्त सुन्दर थीं ॥२२॥

१. जलप्लु० । २. वर्षद्भि० । ३. वोद्वरि० । ४. परितो । ५. क्वचिन्मायामहावर्ते । ६. रुपद्रुतः । ७. अतीयु० ।

मार्कण्डेय मुनि

चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम् । मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः ॥

[पृष्ठ ८७७

श्वासैजदलकाभातं कम्बुश्रीकर्णदाडिमम् ।
विद्रुमाधरभासेषच्छोणायितसुधास्मितम् ॥२३॥
पद्मगर्भारुणापाङ्गं हृद्यहासावलोकनम् ।
श्वासैजद्वलिसंविग्ननिम्ननाभिदलोदरम् ॥२४॥
चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम् ।
मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः॥२५॥
तद्दर्शनाद्वीतपरिश्रमो मुदा
प्रोत्फुल्लहृत्पद्मविलोचनाम्बुजः ।
प्रहृष्टरोमाद्भुतभावशङ्कितः
प्रष्टुं पुरस्तं प्रससार बालकम् ॥२६॥
तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः
सोऽन्तःशरीरं मशको यथाविशत् ।
तत्राप्यदो न्यस्तमचष्ट कृत्स्नशो
यथा पुरामुह्यदतीव विस्मितः ॥२७॥
खं रोदसी भगणानद्रिसागरा-
न्द्वीपान्सवर्षान्ककुभः सुरासुरान् ।
वनानि देशान्सरितः पुराकरान्
खेटान्व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः ॥२८॥
महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ
कालं च नानायुगकल्पकल्पनम् ।
यत्किञ्चिदन्यद्व्यवहारकारणं
ददर्श विश्वं सदिवावभासितम् ॥२९॥
हिमालयं पुष्पवहां च तां नदीं
निजाश्रमं तत्र ऋषीनपश्यत् ।
विश्वं विपश्यञ्छ्वसिताच्छिशोर्वै
बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ ॥३०॥
तस्मिन्पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं
वटं च तत्पर्णपुटे शयानम् ।

वह श्वास लेनेमें हिलती हुई अलकोंसे सुशोभित था, उसके शङ्खके समान भीतरसे वलयाकार कानोंमें दाडिम (अनार) के पुष्प विराजमान थे तथा उसकी सुधासदृश मुसकान विद्रुममय अधरोंकी आभा पाकर कुछ अरुणवर्ण-सी हो रही थी ॥ २३ ॥ उसके नेत्रोंके कोये कमलके भीतरी भागके समान लाल-लाल थे, चितवन मनोहर मुसकानसे सुशोभित थी तथा गम्भीर नाभिसे युक्त उसका पीपलके पत्तेके समान पेट श्वाससे हिलती हुई वलियोंके कारण चञ्चल हो रहा था ॥२४॥ उस बालकको, अपने पैरको सुन्दर अँगुलियोंवाले हाथोंसे ऊपरको ले जाकर मुखमें रखकर चूसते देख वे द्विजराज बड़े विस्मित हुए ॥ २५ ॥

उसके दर्शनमात्रसे उनका सारा परिश्रम जाता रहा, उनके हृदय तथा नेत्रकमल आनन्दसे खिल गये, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, उसके विचित्रभावसे शङ्कित हो वे जैसे ही उससे प्रश्न करनेके लिये उसके सामने गये वैसे ही उस बालकके श्वाससे वे भृगुनन्दन मार्कण्डेयजी मच्छरके समान उसके उदरमें चले गये । वहाँ उन्होंने यह सारा जगत् वैसा ही देखा जैसा प्रलयसे पूर्व बाहर देखा था; इससे वे अत्यन्त विस्मित होकर मोहित हो गये ॥ २६-२७ ॥ आकाश, स्वर्ग-पृथिवी, ग्रहगण, पर्वत, सागर, द्वीप, वर्ष, दिशाएँ, देवता, असुर, वन, देश, नदियाँ, पुर, आकर (खान), खेट (किसानोंके गाँव), घोष (पशुशालाएँ), आश्रम, वर्ण और उनकी वृत्तियाँ ॥ २८ ॥ पञ्च महाभूत, भौतिक पदार्थ, नाना युग और कल्पकी कल्पनाओंसे युक्त काल तथा और जो कुछ भी व्यवहारका कारण है उसके सहित सम्पूर्ण विश्वको उन्होंने वहाँ परमार्थ (सत्य) के समान भासमान देखा ॥ २९ ॥ इसी प्रकार उन्होंने वहाँ हिमालय पर्वत, पुष्पभद्रा नदी, अपना आश्रम और उसमें रहनेवाले समस्त ऋषिगण भी देखे । इस प्रकार सारे जगत्को देखकर उस बालकके श्वास छोड़ते ही वे बाहर निकलकर प्रलयसमुद्रमें गिर पड़े ॥ ३० ॥ तथा उस पृथिवीके टीलेपर उगा हुआ वह वटवृक्ष और उसके पत्तेके दोनेमें सोया हुआ वह

---

१. श्वासोर्जद्वलि० । २. विधाय । ३. पुनस्तम् । ४. कानि कालम् । ५. यत्र । ६. तन्नवाब्धौ ।

तोकं च तत्प्रेमसुधास्मितेन
निरीक्षितोऽपाङ्गनिरीक्षणेन ॥३१॥
अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां धिष्ठितं[1] हृदि ।
अभ्ययादतिसङ्क्लिष्टः परिष्वक्तुमधोक्षजम् ॥३२॥
तावत्स भगवान्साक्षाद्योगाधीशो गुहाशयः ।
अन्तर्दधे ऋषेः सद्यो यथेहानीशनिर्मिता[2] ॥३३॥
तमन्वथ वटो ब्रह्मन्सलिलं लोकसम्प्लवः ।
तिरोधायि क्षणादस्य स्वाश्रमे पूर्ववत्स्थितः ॥३४॥

बालक भी देखा। फिर उस बालकद्वारा प्रेमामृतमयी मुसकानके सहित कटाक्षदृष्टिसे देखे जानेपर अपने नेत्रोंद्वारा हृदयमें बसे हुए उस शिशुको देखकर उन अधोक्षज भगवान्‌का आलिङ्गन करनेके लिये वे अत्यन्त क्लेशसे आगे बढ़े ॥ ३१-३२ ॥ इतनेहीमें, जैसे भाग्यहीनकी की हुई सारी क्रीडा व्यर्थ होती है उसी प्रकार वे सर्वान्तर्यामी साक्षात् भगवान् योगेश्वर उन ऋषिश्रेष्ठके सामनेसे अन्तर्धान हो गये ॥ ३३ ॥ और हे ब्रह्मन् ! उनके साथ ही वह वटवृक्ष तथा लोकोंको डुबानेवाला जल भी तत्काल लीन हो गया और मार्कण्डेयजी पूर्ववत् अपने आश्रममें स्थित हो गये ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे माया-[3]
दर्शनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दसवाँ अध्याय

मार्कण्डेयजीको भगवान् शङ्करका वरदान।

सूत उवाच

स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम् ।
वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच[4]

प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलं ते प्रपन्नाभयदं हरे ।
यन्माययापि विबुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाशया[5] ॥ २ ॥

सूत उवाच

तमेवं[6] निभृतात्मानं वृषेण दिवि पर्यटन् ।
रुद्राण्या भगवान्रुद्रो ददर्श स्वगणैर्वृतः ॥ ३ ॥
अथोमा तमृषिं वीक्ष्य गिरिशं समभाषत ।
पश्येमं भगवन्विप्रं निभृतात्मेन्द्रियाशयम् ॥ ४ ॥

श्रीसूतजी बोले— हे मुने ! श्रीनारायणके रचे हुए इस योगमायाके वैभवको देखकर मुनिवर मार्कण्डेयने उन्हींकी शरण ली ॥ १ ॥

श्रीमार्कण्डेयजी बोले—हे हरे ! बड़े-बड़े ज्ञानी भी ज्ञानके समान प्रकाशित होनेवाली जिनकी मायासे मोहित हो जाते हैं उन आपके शरणागतोंको अभय देनेवाले चरणकमलोंकी मैं शरण लेता हूँ ॥ २ ॥

श्रीसूतजी कहते हैं—तब इस प्रकार एकाग्रचित्त हुए उन मुनिश्रेष्ठको पार्वतीजीके सहित नन्दीपर आरूढ हो अपने गणोंसे घिरकर स्वर्गलोकमें विचरते हुए श्रीमहादेवजीने देखा ॥ ३ ॥ उन ऋषिश्रेष्ठको देखकर श्रीपार्वतीजीने भगवान् शङ्करसे कहा—भगवन् ! वायुके न रहनेपर तथा मत्स्यसमूहके शान्त हो जानेपर जैसे समुद्र निश्चल हो जाता है उसी प्रकार जिसके

१. हृदि धिष्ठितम् । २. धे च सद्योऽसौ यथे० । ३. मार्कण्डेयोपाख्याने नव० । ४. ऋषिरुवाच । ५. कालकाश० ।
६. तमित्थम् ।

निभृतोदझषव्रातं वातापाये यथार्णवम् ।
कुर्वस्य तपसः साक्षात्संसिद्धिं सिद्धिदो भवान् ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान्पुरुषेऽव्यये ॥ ६ ॥
अथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना ।
अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥ ७ ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा तमुपेयाय भगवान्स सतां गतिः ।
ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम् ॥ ८ ॥
तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः ।
न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च ॥ ९ ॥
भगवांस्तदभिज्ञाय गिरीशो योगमायया ।
आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः ॥१०॥
आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तडित्पिङ्गजटाधरम् ।
त्र्यक्षं दशभुजं[1] प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम् ॥११॥
व्याघ्रचर्माम्बरं शूलधनुरिष्वसिचर्मभिः[2] ।
अक्षमालाडमरुककपालपरशून् सह ॥१२॥
बिभ्राणं सहसा भातं विचक्ष्य हृदि विस्मितः ।
किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः ॥१३॥
नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयागतम् ।
रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं[3] ननाम शिरसा मुनिः ॥१४॥

देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण जीते गये हैं ऐसे इस ब्राह्मण-को देखिये और इसके तपका फल प्रत्यक्ष सिद्ध कीजिये, क्योंकि आप सब प्रकारकी सिद्धियाँ देनेवाले हैं ॥ ४-५॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—ये ब्रह्मर्षि कभी भोगोंकी इच्छा नहीं करते; और तो क्या ये मोक्ष भी नहीं चाहते हैं, क्योंकि इन्होंने अविनाशी भगवान् पुरुषोत्तमकी पराभक्ति प्राप्त कर ली है ॥ ६ ॥ हे भवानि ! तो भी मैं इन साधुश्रेष्ठके साथ कुछ वार्तालाप करूँगा, क्योंकि साधुजनोंका समागम होना ही पुरुषोंके लिये सबसे बड़ा लाभ है ॥ ७ ॥

श्रीसूतजी बोले— ऐसा कहकर सब विद्याओंके प्रवर्त्तक, सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रभु और साधुजनोंके एकमात्र आश्रय भगवान् शङ्कर उनके पास आये ॥ ८ ॥ किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरणकी वृत्तियोंको रोक लिया था उन मार्कण्डेयजीको अपने शरीर या संसारकी भी कोई सुधि नहीं थी । इसलिये उन्हें जगत्‌के आत्मारूप साक्षात् ईश्वर उन महादेव और पार्वतीके आगमनका कुछ भी पता न चला ॥ ९ ॥ सर्वसमर्थ भगवान् शङ्कर यह सारा रहस्य जानकर, वायु जैसे छिद्र (खाली स्थान) में घुस जाता है उसी प्रकार योगमायासे उनके हृदयाकाशमें घुस गये ॥ १० ॥

तब बिजलीके समान पिङ्गलवर्ण-जटाधारी तीन नेत्र और दश भुजाओंवाले, उदय होते हुए सूर्यके समान तेजस्वी, उन्नतकाय, व्याघ्रचर्मधारी तथा त्रिशूल, धनुष, बाण, खड्ग और ढालके सहित अक्षमाला, डमरू, कपाल और परशु धारण करनेवाले भगवान् शङ्करको अपने अन्तःकरणमें आकर सहसा प्रकट हुए देख मुनिवर मार्कण्डेयजी बड़े विस्मित हुए और 'यह कौन है ? कहाँसे आ गया' ऐसा सोचते हुए समाधिसे उपरत हो गये ॥ ११—१३ ॥ आँखें खोलनेपर उन्होंने त्रिलोकीके एकमात्र गुरु भगवान् शङ्करको वहाँ पार्वतीजी और अपने गणोंके सहित आये हुए देखा । तब मुनिवर मार्कण्डेयने उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ १४ ॥

१. त्र्यक्षमष्टभुजम् । २. तोमरैः । ३. त्रिलोक्यैक० ।

तस्मै सपर्यां व्यदधात्सगणाय सहोमया।[1]
स्वागतासनपाद्यार्घ्यगन्धस्रग्धूपदीपकैः ॥१५॥
आह चात्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो।
करवाम किमीशान येनेदं निर्वृतं जगत् ॥१६॥
नमः शिवाय शान्ताय[2] सत्त्वाय प्रमृडाय च।
रजोजुषे[3]ऽप्यघोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे ॥१७॥

और स्वागत, आसन, पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, माला, धूप तथा दीपकादिसे पार्वतीजी और गणोंके सहित उनकी पूजा की ॥ १५ ॥ फिर कहने लगे—"हे विभो ! हे ईश ! जिनसे इस सम्पूर्ण जगत्को सुख प्राप्त होता है और जो अपने प्रभावसे सब प्रकार पूर्णकाम हैं ऐसे आपका हम क्या प्रिय कार्य करें ? ॥ १६ ॥ जो निर्गुण, शान्त, सबको सुख देनेवाले सत्त्वस्वरूप तथा रजोगुण-तमोगुणसे युक्त होनेपर भी अघोर हैं ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ" ॥ १७ ॥

सूत उवाच

एवं स्तुतः स भगवानादिदेवः[4] सतां गतिः।
परितुष्टः[5] प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत ॥१८॥

श्रीसूतजी बोले—मार्कण्डेयजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर वे साधुपुरुषोंके एकमात्र आश्रय आदिदेव भगवान् शङ्कर अत्यन्त सन्तुष्ट होकर प्रसन्नचित्तसे हँसते हुए उनसे इस प्रकार कहने लगे ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच[6]

वरं वृणीष्व नः कामं वरदेशा वयं त्रयः।
अमोघं दर्शनं येषां मर्त्यो यद्विन्दतेऽमृतम् ॥१९॥
ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः।
एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः ॥२०॥
सलोका लोकपालास्तान्वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते।[7]
अहं च भगवान्ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः ॥२१॥
न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते।
नात्मनश्च जनस्यापि तद्युष्मान्वयमीमहि ॥२२॥
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः।
ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः ॥२३॥
ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो येऽस्मद्रूपं त्रयीमयम्।

श्रीभगवान् बोले—हे मुने ! जिनका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता और जिनसे मनुष्यको अमरपद प्राप्त होता है ऐसे हम तीनों (ब्रह्मा, विष्णु और महादेव) वरदानियोंमें प्रधान हैं; अतः तुम हमसे अपना अभीष्ट वर माँग लो ॥ १९ ॥ जो ब्राह्मण साधुस्वभाव, शान्त, निःसंग, प्राणियोंपर कृपा करनेवाले, हमारे अनन्य भक्त, वैरहीन और समदर्शी होते हैं ॥ २० ॥ उनकी लोकोंके सहित सम्पूर्ण लोकपालगण वन्दना, पूजा और उपासना किया करते हैं। केवल वे ही नहीं बल्कि मैं, भगवान् ब्रह्मा और साक्षात् भगवान् विष्णु भी उनको भजते रहते हैं ॥ २१ ॥ क्योंकि वे मुझमें, विष्णुमें, ब्रह्माजीमें, अपनेमें और अन्य जनसमुदायमें भी अणुमात्र भी भेद नहीं देखते हैं; इसीलिये हम आपलोगोंको भजते हैं ॥ २२ ॥ केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं है और केवल चेतनाशून्य (जड) देवता (देवमूर्तियाँ) ही [आप-जैसे सन्तजन उनसे भी बढ़कर तीर्थ और देवता हैं] देवता नहीं हैं, क्योंकि वे तो बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं परन्तु आप दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं ॥ २३ ॥ जो चित्तकी एकाग्रता, तप, स्वाध्याय और संयमादिसे हमारे वेदत्रयीमय

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'तस्मै······सहोमया' इस श्लोकार्धके स्थानमें 'विमुच्यात्मसमाधानं तपसा नियमैर्यमैः' ऐसा पाठ है, इसके सिवा वर्तमान प्रतिमें जो २५वीं संख्याका 'श्रवणाद्दर्शना०······किन्तु सम्भाषणादिभिः' यह श्लोक है। इसको वहाँ न पढ़कर यहाँ ही ('विमुच्या०······यमैः' इसके बाद) पढ़ा गया है। इसके पश्चात् 'स्वागतासन······' इत्यादि श्लोकोंका पाठ है। २. देवाय नित्याय प्रमृ०। ३. जुषे च घो०। ४. वान्महादेवः ५. प्राचीनप्रतिमें 'परितुष्टः······भाषत।' इस श्लोकार्धके स्थानमें 'उवाच······परवचो देवदेवो महेश्वरः।' ऐसा पाठ है। ६. श्रीमहादेव उवाच। ७. लाश्च न मा विन्दन्त्युपासितुम्।

विश्रुत्यात्मसमाधानतपःस्वाध्यायसंयमैः ॥२४॥

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि महापातकिनोऽपि वः ।
शुध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु सम्भाषणादिभिः ॥२५॥

सूत उवाच

इति चन्द्रललामस्य धर्मगुह्योपबृंहितम् ।
वचोऽमृतायनमृषिर्नातृप्यत्कर्णयोः पिबन् ॥२६॥
स चिरं मायया विष्णोर्भ्रामितः कर्शितो[1] भृशम् ।
शिववागमृतध्वस्तक्लेशपुञ्जस्तमब्रवीत् ॥२७॥

ऋषिरुवाच

अहो ईश्वरलीलेयं[2] दुर्विभाव्या शरीरिणाम् ।
यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवन्ति जगदीश्वराः ॥२८॥
धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम् ।
आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च ॥२९॥
नैतावता भगवतः स्वमायामयवृत्तिभिः ।
न दुष्येतानुभावस्तैर्मायिनः[3] कुहकं यथा ॥३०॥
सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनानुप्रविश्य यः ।
गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्तेव स्वप्नदृग्यथा ॥३१॥
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने ।
केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ॥३२॥
कं वृणे नु परं भूमन्वरं त्वद्वरदर्शनात् ।
यद्दर्शनात्पूर्णकामः सत्यकामः[4] पुमान्भवेत् ॥३३॥
वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात्कामाभिवर्षणात् ।
भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि ॥३४॥

शरीरको धारण करते हैं उन ब्राह्मणोंको हम नमस्कार करते हैं ॥ २४ ॥ आपलोगोंके श्रवण अथवा दर्शनसे भी महापापी चाण्डालतक पवित्र हो जाते हैं, फिर आपसे सम्भाषण करनेपर तो कहना ही क्या है ? ॥ २५ ॥

सूतजी बोले—हे शौनक ! चन्द्रभूषण श्रीशङ्करका धर्मके रहस्यसे पूर्ण ऐसा अमृतमय वचन श्रवणपुटसे पान करते हुए मुनिवर मार्कण्डेयको तृप्ति नहीं हुई ॥ २६ ॥ वे चिरकालसे भगवान् विष्णुकी मायासे भ्रमित होते रहनेके कारण अत्यन्त थक गये थे । अतः अब श्रीशङ्करके वचनामृतसे क्लेशपुञ्जके क्षीण हो जानेपर उनसे कहने लगे ॥ २७ ॥

मार्कण्डेयजी बोले—अहो ! परमेश्वरकी यह लीला सभी देहधारियोंके लिये अत्यन्त दुर्बोध है, जिससे आप-जैसे जगदीश्वर भी शासन करने योग्य मुझ-सरीखे जीवोंकी वन्दना और स्तुति कर रहे हैं ॥२८॥ धर्मोपदेशक लोग अन्य प्राणियोंको धर्मका ग्रहण करानेके लिये ही धर्मका आचरण और अनुमोदन करते हैं तथा आचरणमें लाये जाते हुए धर्मकी प्रशंसा किया करते हैं ॥२९॥ भगवन् ! अपनी मायामयी वृत्तियोंको स्वीकार करके इन (नमस्कारादि) के करनेसे आपका प्रभाव इसी प्रकार दूषित नहीं हो सकता जैसे मायावीकी मायासे उसके प्रभावमें कोई अन्तर नहीं आता ॥३०॥ जो स्वप्नद्रष्टाके समान, इस सम्पूर्ण विश्वको अपने मनसे ही रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो गुणोंकी की हुई क्रियाओंसे स्वयं कर्ताके समान प्रतीत होते हैं, उन त्रिगुणात्मक होकर भी गुणोंके नियन्ता, केवल, अद्वितीय, ब्रह्मस्वरूप जगद्गुरु श्रीभगवान्को नमस्कार है ॥ ३१-३२ ॥ हे भूमन् ! जिनके दर्शनमात्रसे पुरुष सर्वानन्दमय और आप्तकाम हो जाता है उन प्रियदर्शन आपसे मैं दूसरा क्या वर माँगूँ ? ॥३३॥ तो भी सम्पूर्ण कामनाओंकी वर्षा करनेवाले आप पूर्ण प्रभुसे एक यही वर माँगता हूँ कि भगवान्में, उनके भक्तोंमें और आपमें मेरी अविचल भक्ति हो ॥३४॥

१. कृशितो । २. रचर्येयं । ३. यिनां । ४. सैषो देवः ।

सूत उवाच

इत्यर्चितोऽभिष्टुतश्च मुनिना सूक्तया गिरा ।
तमाह भगवाञ्छर्वः शर्वया चाभिनन्दितः ॥३५॥
कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे ।
आकल्पान्ताद्यशः पुण्यमजरामरता तथा ॥३६॥
ज्ञानं त्रैकालिकं[2] ब्रह्मन्विज्ञानं च विरक्तिमत् ।
ब्रह्मवर्चस्विनो भूयात्पुराणाचार्यतास्तु ते ॥३७॥

सूत उवाच

एवं वरान्स मुनये दत्त्वागात्त्र्यक्ष[3] ईश्वरः ।
देव्यै तत्कर्म कथयन्ननुभूतं पुरामुना ॥३८॥
सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तमः ।
विचरत्यधुनाप्यद्धा हरावेकान्ततां गतः ॥३९॥
अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम् ॥४०॥
एतत्केचिदविद्वांसो मायासंसृतिमात्मनः ।
अनाद्यावर्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते ॥४१॥
य एवमेतद्भृगुवर्य वर्णितं
रथाङ्गपाणेरनुभावभावितम् ।
संश्रावयेत्संशृणुयादु[5] तावुभौ
तयोर्न कर्माशयसंसृतिर्भवेत् ॥४२॥

श्रीसूतजी बोले—मार्कण्डेयजीद्वारा सुमधुरवाणीसे इस प्रकार पूजित और स्तुत हो भगवान् शङ्करने श्रीपार्वतीजीकी सम्मतिसे इस प्रकार कहा—॥३५॥ "हे महर्षे ! तुम्हारी भगवान् अधोक्षजमें भक्ति है, इसलिये तुम्हारी यह सारी कामना पूर्ण होगी तथा तुम्हें कल्पान्तस्थायी यश, पुण्य और अजरामरता प्राप्त होगी ॥३६॥ हे ब्रह्मन् ! तुम ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो । तुम्हें त्रैकालिक ज्ञान, वैराग्ययुक्त विज्ञान और पुराणका आचार्यत्व भी प्राप्त हो" ॥३७॥

श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुने ! मार्कण्डेयजीको इस प्रकार वर देकर भगवान् त्रिलोचन पार्वतीजीको उनके कर्म और जो कुछ उन्होंने पहले अनुभव किया था वह सब सुनाते हुए वहाँसे चले गये ॥३८॥ तथा भृगुश्रेष्ठ मार्कण्डेयजी भी महान् योगसम्पत्ति प्राप्त कर अब भी श्रीभगवान्में अनन्यभावसे अनुरक्त होकर विचरते हैं ॥३९॥ इस प्रकार मतिमान् मार्कण्डेयजीने जो भगवान्की मायाका अति अद्भुत वैभव अनुभव किया था वह सब मैंने तुम्हें सुना दिया ॥४०॥ हे मुने ! यह भगवान्की आकस्मिक माया थी । [इसीसे वटपत्रशायी भगवान्के श्वास-प्रश्वासद्वारा सात बार उनके उदरमें जाने और प्रलयकालका अनुभव करनेसे उनकी सात कल्पपर्यन्त स्थिति मानी गयी है ।] परन्तु इस रहस्यको न जाननेवाले कितने ही लोग भगवान्की किसी कालमें मार्कण्डेयजीको दिखानेके लिये रची हुई इस मायिक लीलाको अनादि (अनियत) कालतक क्रमशः सात बार हुआ प्रलय ही बतलाते हैं ॥४१॥ हे भृगुश्रेष्ठ ! इस प्रकार वर्णन किये हुए भगवान्के प्रभावसे प्रभावित इस चरित्रको जो पुरुष सुनाता और जो सुनता है उन दोनों ही को कर्मवासनाओंसे जन्ममरणरूप संसार-चक्रकी प्राप्ति नहीं होती ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

१. व० । २. त्रिका० । ३. यात्र्य० । ४. न्ति० । ५. यः श्रा० ।

ग्यारहवाँ अध्याय

भगवान्के अङ्ग, उपाङ्ग और आयुधोंका तथा प्रत्येक मासमें रहनेवाले सूर्यके गणोंका वर्णन ।

शौनक उवाच

अथेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुवित्तमम् ।
समस्ततन्त्रराद्धान्ते भवान्भागवत तत्त्ववित् ॥ १ ॥
तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः ।
अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथा च यैः ॥ २ ॥
तन्नो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं बुभुत्सताम् ।
येन क्रियानैपुणेन मर्त्यो यायादमर्त्यताम् ॥ ३ ॥

शौनकजी बोले--हे परम भागवत सूतजी ! आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके सिद्धान्तविषयक गूढ़ तत्त्व जानते हैं; अतः बहुज्ञोंमें श्रेष्ठ आपसे हम यह बात पूछना चाहते हैं ॥ १ ॥ हे सूत ! आपका शुभ हो । पाञ्चरात्रादि तन्त्र-शास्त्रके जाननेवाले लोग केवल श्रीलक्ष्मीपतिकी आराधना करनेमें जिन-जिन तत्त्वोंसे जिस-जिस प्रकार उनके [चरणादि] अङ्ग, [गरुडादि] उपाङ्ग [सुदर्शनादि] आयुध और [कौस्तुभादि] आभूषणोंकी कल्पना करते हैं, वह सब हम क्रियायोगके जिज्ञासुओंसे वर्णन कीजिये, जिससे क्रियायोगकी कुशलताद्वारा मरणधर्मा मनुष्य अमरपद प्राप्त कर सके ॥२-३॥

सूत उवाच

नमस्कृत्य गुरून्वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि ।
या[1]ः प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः[2] ॥ ४ ॥
मायाद्यैर्नवभिस्तत्त्वैः स विकारमयो विराट् ।
निर्मितो दृश्यते यत्र सचित्के भुवनत्रयम् ॥ ५ ॥
एतद्वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः ।
नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः ॥६॥
प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः ।
तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः ॥ ७ ॥
लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः ।
रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्धजाः ॥ ८ ॥
यावानयं वै[3] पुरुषो यावत्या संस्थया मितः ।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया ॥ ९ ॥

श्रीसूतजी बोले—हे मुने ! अब मैं गुरुदेवको नमस्कार कर, जिनका ब्रह्मा आदि आचार्योंने वेद और शास्त्रोंद्वारा निरूपण किया है, भगवान् विष्णुकी उन विभूतियोंका वर्णन करता हूँ ॥४॥ भगवान्के जिस चेतनाधिष्ठित विश्वरूपमें यह सम्पूर्ण त्रिलोकी दिखायी देती है [ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चभूतरूप सोलह] विकारोंसे युक्त वह विराट् पुरुष प्रकृति आदि (प्रकृति, सूत्र, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रारूप) नौ तत्त्वोंसे बना है ॥५॥ यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस विराट् पुरुषका ही रूप है । उस प्रभुके पृथिवी चरण हैं तथा स्वर्ग शिर, आकाश नाभि, सूर्य नेत्र, वायु नासिका और दिशाएँ कान हैं ॥ ६ ॥ इसी प्रकार उस ईश्वरके प्रजापति उपस्थ, मृत्यु गुदा, लोकपालगण भुजाएँ, चन्द्रमा मन और यमराज भौंहें हैं ॥ ७ ॥ उस भूमा प्रभुके ऊपरका ओठ लज्जा, नीचेका ओठ लोभ, चन्द्रिका दाँत, भ्रम मुसकान, वृक्ष रोमावली और मेघ केशकलाप हैं ॥८॥

हे शौनकजी ! जिस प्रकार यह [व्यष्टि] पुरुष अपने परिमाणसे [सात बालिस्तका] है उसी प्रकार वह महापुरुष भी लोकस्थितिसे [अपनी सात बालिस्तका] है ॥९॥

१. तथैव ये । २. या वेदतन्त्राभ्यां प्रोक्ता आचा० । ३. हि ।

कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः ।
तत्प्रभा व्यापिनी साक्षाच्छ्रीवत्समुरसा विभुः ॥१०॥
स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत् ।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत्स्वरम् ॥११॥
बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो[1] मकरकुण्डले ।
मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकाभयङ्करम्[2] ॥१२॥
अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः ।
धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते ॥१३॥
ओजःसहोबलयुतं मुख्यंतत्त्वं[3] गदां दधत् ।
अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम् ॥१४॥
नभोनिभं नभस्तत्त्वमसिं चर्म तमोमयम् ।
कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम् ॥१५॥
इन्द्रियाणि शरानाहुराकूतीरस्य स्यन्दनम् ।
तन्मात्राण्यस्याभिव्यक्तिं मुद्रयार्थक्रियात्मताम्॥१६॥
मण्डलं देवयजनं दीक्षासंस्कार आत्मनः ।
परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः ॥१७॥
भगवान्भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन् ।
धर्मं यशश्च भगवांश्चामरव्यजनेऽभजत् ॥१८॥
आतपत्रं तु वैकुण्ठं द्विजा धामाकुतोभयम् ।
त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम् ॥१९॥
अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः ।
विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्षदाधिपः ।
नन्दादयोऽष्टौ द्वाःस्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः ॥२०॥
वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम् ।

वे अजन्मा प्रभु अपनी विशुद्ध आत्मज्योतिको कौस्तुभ-रूपसे तथा उसकी जो सर्वव्यापिनी प्रभा है, उसे श्रीवत्स-रूपसे अपने वक्षःस्थलपर धारण करते हैं ॥१०॥ उन्होंने अपनी नानागुणमयी मायाको वनमालारूपसे धारण किया है तथा वे छन्दोमय आच्छादनवस्त्र और त्रिवृत्स्वर (ओङ्कार) रूप यज्ञोपवीत पहने हुए हैं ॥११॥ वे देवदेव सांख्य और योगरूप मकराकार कुण्डल तथा सम्पूर्ण लोकोंको अभय करनेवाला ब्रह्म-पदरूप मुकुट धारण किये हुए हैं ॥१२॥ अव्याकृत (मूल प्रकृति) ही उनका अनन्त (शेषनाग) नामक आसन है, जिसपर वे विराजमान हैं तथा धर्म-ज्ञानादि-से युक्त सत्त्वगुण ही भगवान्‌का पद्म कहा गया है ॥१३॥ वे मानसिक, ऐन्द्रियिक और शारीरिक शक्तिसे युक्त प्राणतत्त्वरूप गदा, जलतत्त्वरूप शङ्ख, तेजस्तत्त्वरूप सुदर्शन चक्र, आकाशके समान नीलवर्ण आकाशतत्त्व-रूप खड्ग, अन्धकाररूप चर्म (ढाल), कालरूप शार्ङ्ग-धनुष तथा कर्मरूप तरकश धारण किये हुए हैं॥१४-१५॥ इन्द्रियोंको भगवान्‌के बाण कहते हैं, क्रियाशक्तियुक्त मनको उनका रथ बतलाते हैं और तन्मात्राओंको उनके रथका बाहरी दिखलायी देनेवाला भाग कहते हैं तथा अभय आदि मुद्राओंसे उनकी तदनुकूल क्रियाशीलताका वर्णन करते हैं ॥१६॥ सूर्य या अग्निमण्डलको भगवान्‌की पूजाका स्थान, चित्तकी शुद्धि-को मन्त्रदीक्षा तथा अपने पापोंके नाश करनेको भगवान्‌की सेवा समझना चाहिये ॥१७॥ हे द्विजो ! भगवान्‌ने 'भग शब्दके अर्थ [ऐश्वर्य आदि छः गुणों] को अपने क्रीडाकमलरूपसे, धर्म और यशको चमर और व्यजन-रूपसे तथा अपने निर्भय धाम वैकुण्ठको छत्ररूपसे धारण किया है। वेदत्रयरूप गरुड उन यज्ञपुरुषका वहन कर रहा है ॥१८-१९॥ चिद्रूप साक्षात् परमात्मा हरिकी अविचल शक्ति ही भगवती लक्ष्मी है। भगवान्‌के पार्षदोंके नायक सर्वत्र विख्यात विष्वक्सेन ही पाञ्चरात्र आदि आगमरूप हैं तथा अणिमादि आठ सिद्धियाँ ही भगवान्‌के नन्दादि आठ द्वारपाल हैं ॥२०॥ हे ब्रह्मन् ! वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार मूर्तियोंसे

१. दिव्ये । २. कनमस्कृतम् । ३. ख्यं तत्त्वं ।

अनिरुद्ध इति ब्रह्मन्मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते ॥२१॥

स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः ।
अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान्परिभाव्यते ॥२२॥

अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम् ।
बिभर्ति स्म चतुर्मूर्तिर्भगवान्हरिरीश्वरः ॥२३॥

द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक्
स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत् ।
सृजति हरति पातीत्याख्ययानावृताक्षो
विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः ॥२४॥

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रु-
ग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत-
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान् ॥२५॥

य इदं कल्य उत्थाय महापुरुषलक्षणम् ।
तच्चित्तः[1]प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेद गुहाशयम् ॥२६॥

शौनक उवाच

शुको यदाह भगवान्विष्णुराताय शृण्वते ।
सौरो गणो मासि मासि नाना वसति सप्तकः ॥२७॥

तेषां नामानि कर्माणि संयुक्तानामधीश्वरैः[2] ।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः ॥२८॥

भगवान् स्वयं स्थित हैं; इसलिये वे इन चार व्यूहोंके रूपमें उपासनीय कहे गये हैं ॥२१॥ वे ही विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय—इन चार वृत्तियोंद्वारा क्रमशः अर्थ (बाह्य विषय), इन्द्रिय (मन), आशय (विषय और मन—दोनोंके संस्कारसे युक्त अज्ञान) और ज्ञान (साक्षी) रूपसे भावना किये जाते हैं ॥२२॥ इस प्रकार अङ्ग, उपाङ्ग, आयुध और आभूषणोंसे युक्त चतुर्व्यूहरूप षडैश्वर्यसम्पन्न भगवान् श्रीहरि [विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीयरूप] चार स्वरूप धारण करते हैं ॥ २३ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! वे भगवान् वेदोंके उद्भवस्थान, स्वयंप्रकाश और अपनी महिमासे परिपूर्ण हैं । वे अपनी मायासे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन नामोंको धारण करके इस जगत्‌की रचना, पालन और संहार करते हैं । उनका ज्ञान कभी आवृत नहीं होता, ऐसा होते हुए भी शास्त्रोंमें उनका भिन्नके समान वर्णन किया गया है; किन्तु अपने भक्तोंको वे आत्मस्वरूपसे प्राप्त होते हैं ॥२४॥ हे श्रीकृष्ण ! हे अर्जुनके सखे ! हे वृष्णिश्रेष्ठ ! हे पृथिवीके भारभूत भूपालोंके वंशको भस्म करनेवाले ! हे अक्षुण्ण-पराक्रम ! हे गोविन्द ! हे गोपाङ्गनाओंके समूह और नारदादि भक्तोंद्वारा कीर्तित पवित्र कीर्तिवाले गोपाल ! हे श्रवणमङ्गल ! आप हम सेवकोंकी रक्षा कीजिये ॥२५॥ हे शौनकजी ! जो पुरुष प्रातःकाल उठकर स्नानादि-से पवित्र हो भगवान्‌में चित्त लगाकर परम पुरुष परमात्माके इस स्वरूपवर्णनका जप करेगा वह अपने अन्तःकरणमें विराजमान परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त कर लेगा ॥२६॥

शौनकजी बोले—हे सूतजी ! राजा परीक्षित्‌के श्रवण करते समय भगवान् श्रीशुकदेवजीने [पञ्चम स्कन्धमें] जो प्रत्येक मासमें बदलनेवाला सूर्यका [ऋषि, गन्धर्व, नाग, अप्सरा, यक्ष, राक्षस और देवताओंका] सात-सातका गण बतलाया था, अपने-अपने स्वामियों (सूर्यों) से युक्त उन सबके नाम और कर्म हमें सुनाइये, क्योंकि हमें सूर्यस्वरूप श्रीहरि-के व्यूहका वर्णन सुननेके लिये बड़ी श्रद्धा है ॥२७-२८॥

१. यः । २. नियु० ।

सूत उवाच

अनाद्यविद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनाम् ।
निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं लोकेषु परिवर्तते ॥२९॥
एक एव हि लोकानां सूर्य आत्मादिकृद्धरिः ।
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितः ॥३०॥
कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः ।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन्नवधोक्तोऽजया हरिः ॥३१॥
मध्वादिषु द्वादशसु भगवान्कालरूपधृक् ।
लोकतन्त्राय चरति पृथग्द्वादशभिर्गणैः ॥३२॥
धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने ।
पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी ॥३३॥
अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली ।
नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम् ॥३४॥
मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः ।
रथस्वन इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी ॥३५॥
वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्यस्तथा हुहूः ।
शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी ॥३६॥
इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथाङ्गिराः ।
प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी ॥३७॥
विवस्वानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः ।
अनुम्लोचा शङ्खपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी ॥३८॥

सूतजी बोले—सम्पूर्ण देहधारियोंके आत्मा भगवान् विष्णुकी अनादि अविद्यासे रचा हुआ लोकोंके व्यवहारको प्रवृत्त करनेवाला सूर्य सब लोकोंमें घूमा करता है ॥ २९ ॥ सम्पूर्ण लोकोंके आत्मा और आदिकर्ता एकमात्र श्रीहरि ही सूर्य हैं। सम्पूर्ण वैदिक क्रियाओंके मूल होनेके कारण ऋषियोंने उन्हींको अनेक प्रकारसे कहा है ॥३०॥ हे ब्रह्मन् ! उन श्रीहरिका मायाकी उपाधिके कारण ही काल, देश, क्रिया (यज्ञादिका अनुष्ठान), कर्ता, करण (स्रुगादि), कर्म (यागादि), वेदमन्त्र, द्रव्य (व्रीहि आदि) और फलरूपसे नौ प्रकारका वर्णन किया गया है ॥३१॥ वे कालरूपधारी भगवान् सूर्य लोकयात्राकी प्रवृत्तिके लिये चैत्रादि बारह महीनोंमें अपने भिन्न-भिन्न बारह गणोंके साथ घूमा करते हैं ॥३२॥

हे शौनकजी ! धातानामक सूर्य, कृतस्थली अप्सरा, हेति राक्षस, वासुकि सर्प, रथकृत् यक्ष, पुलस्त्य ऋषि और तुम्बुरु गन्धर्व—ये [अपने-अपने कार्यमें तत्पर रहकर] चैत्र मास व्यतीत करते हैं ॥३३॥ तथा अर्यमानामक सूर्य, पुलह ऋषि, अथौजा यक्ष, प्रहेति राक्षस, पुञ्जिकस्थली अप्सरा, नारद गन्धर्व और कच्छनीर सर्प वैशाख मासको बिताते हैं ॥३४॥

मित्रनामक सूर्य, अत्रि ऋषि, पौरुषेय राक्षस, तक्षक सर्प, मेनका अप्सरा, हाहा गन्धर्व और रथस्वन यक्ष ज्येष्ठ मासको व्यतीत करते हैं ॥३५॥ तथा वसिष्ठ ऋषि, वरुणनामक सूर्य, रम्भा अप्सरा, सहजन्य यक्ष, हूहू गन्धर्व, शुक्र नाग और चित्रस्वन राक्षस आषाढ़ मासको बिताते हैं ॥३६॥

इन्द्रनामक सूर्य, विश्वावसु गन्धर्व, श्रोता यक्ष, एलापत्र नाग, अङ्गिरा ऋषि, प्रम्लोचा अप्सरा और वर्य राक्षस—ये श्रावण मासको चलाते हैं ॥३७॥ तथा विवस्वान्नामक सूर्य, उग्रसेन गन्धर्व, व्याघ्र राक्षस, आसारण यक्ष, भृगु ऋषि, अनुम्लोचा अप्सरा और शङ्खपाल नाग भाद्रपद मासकी समाप्ति करते हैं ॥३८॥

१. यन्ति ते ।

पूषा धनञ्जयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा ।
घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी ॥३९॥
क्रतुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनजित्तथा ।
विश्व ऐरावतश्चैव तपस्याख्यं नयन्त्यमी ॥४०॥
अथांशुः कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेनस्तथोर्वशी ।
विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी ॥४१॥
भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण आयुश्च पञ्चमः ।
कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पुष्यमासं नयन्त्यमी ॥४२॥
त्वष्टा ऋचीकतनयः[1] कम्बलश्च तिलोत्तमा ।
ब्रह्मापेतोऽथ[2] शतजिद्धृतराष्ट्र इषम्भराः ॥४३॥
विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् ।
विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी ॥४४॥
एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः ।
स्मरतां सन्ध्ययोर्नॄणां हरन्त्यंहो दिने दिने ॥४५॥
द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै ।
चरन्समन्तात्तनुते परत्रेह च सन्मतिम् ॥४६॥
सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिङ्गैर्ऋषयः संस्तुवन्त्यमुम् ।
गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः ॥४७॥
उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः ।
चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैर्ऋताः बलशालिनः ॥४८॥
वालखिल्याः[3] सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।

पूषानामक सूर्य, धनञ्जय नाग, वात राक्षस, सुषेण गन्धर्व, सुरुचि यक्ष, घृताची अप्सरा और गौतम ऋषि माघ मासका निर्वाह करते हैं ॥३९॥ तथा क्रतुनामक यक्ष, वर्चा राक्षस, भरद्वाज ऋषि, पर्जन्य सूर्य, सेनजित् अप्सरा, विश्व गन्धर्व और ऐरावतनामक सर्प फाल्गुन मासको बिताते हैं ॥४०॥

फिर अंशुनामक सूर्य, कश्यप ऋषि, तार्क्ष्य यक्ष, ऋतसेन गन्धर्व, उर्वशी अप्सरा, विद्युच्छत्रु राक्षस और महाशङ्ख नाग मार्गशीर्ष मासकी समाप्ति करते हैं ॥४१॥ तथा भगनामक सूर्य, स्फूर्ज राक्षस, अरिष्टनेमि गन्धर्व, ऊर्ण यक्ष, आयु ऋषि, कर्कोटक नाग एवं पूर्वचित्ति अप्सरा पौष मासका अन्त करते हैं ॥४२॥

इसी प्रकार त्वष्टानामक सूर्य, जमदग्नि ऋषि, कम्बल नाग, तिलोत्तमा अप्सरा, ब्रह्मापेत राक्षस, शतजित् यक्ष और धृतराष्ट्र गन्धर्व आश्विन मासका भरण करनेवाले हैं ॥४३॥ तथा विष्णुनामक सूर्य, अश्वतर नाग, रम्भा अप्सरा, सूर्यवर्चा गन्धर्व, सत्यजित् यक्ष, विश्वामित्र ऋषि और मखापेत राक्षस—ये कार्तिक मासका निर्वाह करते हैं ॥४४॥

हे मुने ! ये सूर्यरूप भगवान् विष्णुकी विभूतियाँ हैं, जो नित्यप्रति दोनों सन्ध्याओंमें अपना स्मरण करनेवाले पुरुषोंके सम्पूर्ण पाप नष्ट कर देती हैं ॥ ४५ ॥ ये सूर्यदेव अपने छः गणोंके सहित बारहों मासोंमें सर्वत्र विचरते हुए इस लोक और परलोकमें सुमतिका विस्तार करते हैं ॥ ४६ ॥ ऋषिलोग सूर्यका प्रतिपादन करनेवाली साम, ऋक् और यजुर्वेदकी श्रुतियोंसे इनका स्तवन करते हैं, गन्धर्वगण उनका सुयश गान करते हैं और अप्सराएँ उनके सामने नृत्य करती हैं ॥ ४७ ॥ नागगण रथको दृढ़तासे बाँधते हैं, यक्ष रथका साज सजाते हैं तथा बलशाली राक्षसगण रथको पीछेसे ढकेलते हैं ॥ ४८ ॥ वालखिल्यनामक साठ हजार निर्मलस्वभाव ब्रह्मर्षिगण सूर्यकी ओर मुख करके

१. रिची० । २. ब्रह्मपोतो । ३. लि० ।

पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम्॥४९॥

उनके आगे-आगे चलते हैं और स्तोत्रोंद्वारा भगवान् सूर्यकी स्तुति करते हैं। [इनमें परिवर्तन नहीं होता] ॥ ४९ ॥

एवं ह्यनादिनिधनो भगवान्हरिरीश्वरः।
कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यजः ॥५०॥

इस प्रकार आद्यन्तहीन अजन्मा भगवान् हरि कल्प-कल्पमें स्वयं ही अपना विभाग करके लोकोंका पालन करते हैं ॥ ५० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे आदित्य-
व्यूहविवरणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

बारहवाँ अध्याय

श्रीमद्भागवतमें कहे हुए विषयोंका संक्षिप्त विवरण।

सूत[1] उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्ये सनातनान्॥ १ ॥

श्रीसूतजी बोले—हरिभक्तिरूप महान् धर्मको नमस्कार है; जगत्कर्ता भगवान् कृष्ण [अथवा ग्रन्थकार भगवान् कृष्णद्वैपायन] को नमस्कार है। अब मैं ब्राह्मणोंको नमस्कार कर [इस ग्रन्थमें कहे हुए] सनातन धर्मोंका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

एतद्वः कथितं विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम्।
भवद्भिर्यदहं पृष्टो नराणां पुरुषोचितम्॥ २ ॥

हे विप्रगण ! आपलोगोंने मुझसे जो प्रश्न किया था उसके अनुसार मैंने भगवान् विष्णुका यह मनुष्योंके पुरुषार्थका साधनभूत अति अद्भुत चरित्र सुना दिया ॥ २ ॥

अत्र सङ्कीर्तितः[2] साक्षात्सर्वपापहरो हरिः।
नारायणो हृषीकेशो भगवान्सात्वतां पतिः॥ ३ ॥

इसमें सब पापोंको दूर करनेवाले, इन्द्रियादिके प्रवर्त्तक, भक्तप्रतिपालक, साक्षात् भगवान् नारायण श्रीहरिका ही कीर्तन किया गया है ॥ ३ ॥

अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम्।
ज्ञानं च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम्॥ ४ ॥

[अब प्रथम स्कन्धके विषय बतलाते हैं—] इस ग्रन्थमें संसारकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान निर्गुण परब्रह्मका तथा उसका साक्षात्कार करानेवाले अपरोक्षज्ञानके सहित तत्त्वज्ञानका निरूपण किया गया है ॥ ४ ॥

भक्तियोगः[3] समाख्यातो वैराग्यं च तदाश्रयम्।
पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव[4] च॥ ५ ॥

फिर साध्यसाधनरूप भक्तियोग और उसके आश्रित रहनेवाले वैराग्यका तथा परीक्षित्की कथा और नारदाख्यानका वर्णन किया है ॥ ५ ॥

प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रशापात्परीक्षितः।
शुकस्य ब्रह्मर्षभस्य[5] संवादश्च परीक्षितः॥ ६ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणके शापसे राजर्षि परीक्षित्का प्रायोपवेश (अनशनव्रत) और परीक्षित्के साथ ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ शुकदेवजीका संवाद कहा है ॥ ६ ॥

---

१. प्राचीन प्रतिमें 'सूत उवाच' यह अंश 'नमो धर्माय……सनातनान्' इस श्लोकके बाद है। २. सङ्कीर्त्यते। ३. गश्च व्याख्यातो। ४. धर्मसंस्थानमेव। ५. ब्रह्मवर्यस्य।

योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः ।
अवतारानुगीतं च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः[1] ॥ ७ ॥
विदुरोद्धवसंवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः ।
पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः ॥ ८ ॥
ततः प्राकृतिकः सर्गः सप्त वैकृतिकाश्च ये ।
ततो ब्रह्माण्डसम्भूतिर्वैराजः पुरुषो यतः ॥ ९ ॥
कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य गतिः पद्मसमुद्भवः ।
भुव उद्धरणेऽम्भोधेर्हिरण्याक्षवधो यथा ॥१०॥
ऊर्ध्वतिर्यगवाक्सर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च ।
अर्धनारीनरस्याथ यतः स्वायम्भुवो मनुः ॥११॥
शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमा ।
सन्तानो[2] धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः ॥१२॥
अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः ।
देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता ॥१३॥
नवब्रह्मसमुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम् ।
ध्रुवस्य चरितं पश्चात्पृथोः प्राचीनबर्हिषः ॥१४॥
नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं द्विजाः ।
नाभेस्ततोऽनुचरितमृषभस्य भरतस्य च ॥१५॥
द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम् ।
ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः ॥१६॥
दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्रीणां च सन्ततिः ।
यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः ॥१७॥
त्वाष्ट्रस्य जन्म निधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः ।

[दूसरे स्कन्धमें] योगधारणासे ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्ति, नारद और ब्रह्माजीके संवाद, अवतार-चरित्र तथा महदादि क्रमसे प्रधानसे उत्पन्न सृष्टिका वर्णन किया गया है ॥ ७ ॥ [तृतीय स्कन्धमें] विदुर और उद्धवजीका, फिर विदुर और मैत्रेयजीका संवाद, पुराणसंहिताविषयक प्रश्न, प्रलयकालमें परमात्माकी स्थिति ॥ ८ ॥ तत्पश्चात् गुणक्षोभरूप प्राकृत सर्ग, फिर महत्तत्त्वादि सात विकृति और उनसे उत्पन्न सृष्टि, फिर जिसमें विराट्पुरुष व्याप्त है उस ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति ॥ ९ ॥ स्थूल-सूक्ष्म कालका स्वरूप, पद्मकी उत्पत्ति, पृथिवीको समुद्रसे निकालते समय जिस प्रकार हिरण्याक्षका वध किया गया था वह वृत्तान्त ॥ १० ॥ ऊर्ध्व (देवता), तिर्यक् (पशु-पक्षी आदि) और अवाक्-सर्ग (मनुष्योंकी उत्पत्ति), रुद्रसर्ग, जिससे स्वायम्भुव-मनु और स्त्रियोंकी अत्युत्तम आद्या प्रकृति शतरूपाका जन्म हुआ था उस अर्धनारीनरस्वरूपकी उत्पत्ति, कर्दम प्रजापतिका चरित्र, उनसे मुनियोंकी धर्म-पत्नियोंका जन्म, महात्मा भगवान् कपिलका अवतार और मतिमान् कपिलजीके साथ देवहूतिका संवाद [—ये सब विषय कहे गये हैं] तथा मरीचि आदि नौ प्रजापतियोंकी उत्पत्ति, दक्षप्रजापतिके यज्ञका विध्वंस, ध्रुवका चरित्र तथा पृथु और प्राचीनबर्हिष्की कथा और नारदजीका संवाद [—ये चतुर्थ स्कन्धके विषय हैं] । फिर प्रियव्रतका उपाख्यान तथा नाभि, ऋषभ और भरतके चरित्र, द्वीप, वर्ष, समुद्र, पर्वत एवं नदियोंका वर्णन, ज्योतिश्चक्रका विस्तार और पाताल तथा नरककी स्थिति [—ये सब पञ्चम स्कन्धमें कहे गये हैं] ॥ ११—१६ ॥

हे द्विजगण ! [षष्ठ स्कन्धमें] प्रचेताओंसे दक्षका जन्म, उनकी पुत्रियोंकी सन्तान, उनसे देवता, असुर, मनुष्य, तिर्यक्, पर्वत और पक्षी आदिका जन्म ॥ १७ ॥ वृत्रासुरके जन्म और निधन तथा [सप्तम स्कन्धमें] दितिपुत्र हिरण्यकशिपु

१. सर्वा प्राधानिकी गतिः । २. नं ।

दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः ॥१८॥
मन्वन्तरानुकथनं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम् ।
मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः ॥१९॥
कौर्मं धान्वन्तरं मात्स्यं वामनं च जगत्पतेः ।
क्षीरोदमथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसाम् ॥२०॥
देवासुरमहायुद्धं राजवंशानुकीर्तनम् ।
इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशः सुद्युम्नस्य महात्मनः ॥२१॥
इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च ।
सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृगादयः ॥२२॥
सौकन्यं चाथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः ।
खट्वाङ्गस्य च मान्धातुः सौभरेः सगरस्य च ॥२३॥
रामस्य कोसलेन्द्रस्य चरितं किल्बिषापहम् ।
निमेरङ्गपरित्यागो जनकानां च सम्भवः ॥२४॥
रामस्य भार्गवेन्द्रस्य निःक्षत्रीकरणं[1] भुवः ।
ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च ॥२५॥
दौष्यन्तेर्भरतस्यापि शन्तनोस्तत्सुतस्य[2] च ।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्तितः ॥२६॥
यत्रावतीर्णो भगवान्कृष्णाख्यो जगदीश्वरः ।
वसुदेवगृहे जन्म ततो वृद्धिश्च गोकुले ॥२७॥
तस्य कर्माण्यपाराणि कीर्तितान्यसुरद्विषः ।
पूतनासुपयःपानं शकटोच्चाटनं शिशोः ॥२८॥
तृणावर्तस्य निष्पेषस्तथैव बकवत्सयोः ।
धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च संक्षयः ॥२९॥
गोपानां च परित्राणं दावाग्नेः परिसर्पतः[3] ।
दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नन्दमोक्षणम् ॥३०॥
व्रतचर्या तु कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः ।
प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणां चानुतापनम् ॥३१॥

और हिरण्याक्ष एवं दैत्यराज महात्मा प्रह्लादका चरित्र [—ये सब विषय वर्णन किये गये हैं] ॥ १८ ॥ [अष्टम स्कन्धमें] मन्वन्तरोंकी कथा, गजेन्द्रमोक्ष, भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें होनेवाले जगत्पति भगवान् विष्णुके कूर्म, मत्स्य, नृसिंह, वामन और हयग्रीवादि अवतार, अमृत-प्राप्तिके लिये देवताओंका समुद्र-मन्थन और देवासुरसङ्ग्राम [तथा नवममें] राजवंशोंका वर्णन, इक्ष्वाकुका जन्म, उसका वंश, महात्मा सुद्युम्नका चरित्र तथा इला और ताराके उपाख्यान कहे गये हैं। और यहीं सूर्यवंशका वृत्तान्त, शशादादि और नृग आदि नृपतियोंका वर्णन, सुकन्याका चरित्र, शर्याति, मतिमान् ककुत्स्थ, खट्वाङ्ग, मान्धाता, सौभरि, सगर तथा कोसलेन्द्र भगवान् रामका सर्वपापापहारी चरित्र भी है। [इसी स्कन्धमें] निमिका देहत्याग, जनकोंकी उत्पत्ति ॥ १९–२४ ॥ भृगुनाथ परशुरामजीका पृथिवीको क्षत्रियहीन करना, चन्द्रवंशमें उत्पन्न हुए पुरूरवा, ययाति, नहुष, दुष्यन्तकुमार भरत, शन्तनु और उनके पुत्र भीष्मका वृत्तान्त कहा है। तथा यहीं ययातिके ज्येष्ठ पुत्र यदुके वंशका भी वर्णन है, जिसमें भगवान् जगदीश्वर कृष्णनामसे अवतीर्ण हुए थे और वसुदेवजीके घर उत्पन्न होकर गोकुलमें बड़े हुए थे ॥ २५–२७ ॥

[दशम स्कन्धमें] उन असुरद्वेषी भगवान् कृष्णके अपार कर्म कहे गये हैं। [उनमेंसे मुख्य-मुख्य ये हैं—] पूतनाके प्राणरूप दुग्धको पीना, शैशवावस्थामें ही छकड़ा उलट देना ॥ २८ ॥ तृणावर्तको चूर्ण करना और वैसे ही बकासुर, वत्सासुर और बन्धुओंसहित धेनुकासुर तथा प्रलम्बासुरको मारना ॥ २९ ॥ चारों ओरसे बढ़ते हुए दावानलसे गोपोंकी रक्षा करना, कालियनागका दमन, नन्दजीको अजगरके मुखसे छुड़ाना ॥ ३० ॥ गोपकन्याओंका कात्यायनीव्रत, जिसमें उनके यम-नियमादिसे श्रीअच्युत प्रसन्न हुए थे; यज्ञपत्नियोंपर भगवान्का अनुग्रह, ब्राह्मणोंका पश्चात्ताप ॥ ३१ ॥

१. त्रीकर० । २. तस्य । ३. मोक्षणम् ।

गोवर्धनोद्धारणं च शक्रस्य सुरभेरथ ।
यज्ञाभिषेकं कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु ॥३२॥
शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः ।
अक्रूरागमनं पश्चात्प्रस्थानं रामकृष्णयोः ॥३३॥
व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः ।
गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां च यो वधः ॥३४॥
मृतस्यानयनं सूनोः पुनः सान्दीपनेर्गुरोः ।
मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यत्प्रियम् ।
कृतमुद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः ॥३५॥
जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः ।
घातनं यवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम् ॥३६॥
आदानं पारिजातस्य सुधर्मायाः सुरालयात् ।
रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः ॥३७॥
हरस्य जृम्भणं युद्धे बाणस्य भुजकृन्तनम् ।
प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणं च यत् ॥३८॥
चैद्यपौण्ड्रकशाल्वानां दन्तवक्त्रस्य दुर्मतेः ।
शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पञ्चजनादयः ॥३९॥
माहात्म्यं च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम् ।
भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान् ॥४०॥
विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च ।
उद्धवस्य च संवादो वासुदेवस्य चाद्भुतः ॥४१॥
यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः ।
ततो मर्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः ॥४२॥
युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः ।
चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा ॥४३॥

गोवर्धनोद्धार, फिर इन्द्र और कामधेनुद्वारा किये हुए कृष्णचन्द्रके पूजन और अभिषेक तथा रात्रिके समय गोपाङ्गनाओंके साथ रासक्रीडा ॥३२॥ दुर्बुद्धि शङ्खचूड, अरिष्टासुर और केशीका वध; अक्रूरका आगमन, फिर बलराम और कृष्णचन्द्रका मथुराको प्रस्थान ॥३३॥ व्रजबालाओंका विलाप, भगवान्‌का मथुरानिरीक्षण; कुवलयापीड हाथी, मुष्टिक और चाणूरादि मल्ल तथा कंसका वध; गुरु सान्दीपनिके मृतपुत्रको पुनः ले आना ॥३४॥ और हे द्विजगण! मथुरामें रहते हुए उद्धव और बलरामजीके सहित भगवान्‌ने जो यदुवंशका प्रिय किया था वह सब ॥३५॥ जरासन्धकी लायी हुई सेनाका कई बार वध करना, कालयवनको मरवाना, द्वारकापुरी बसाना ॥३६॥ स्वर्गलोकसे कल्पवृक्ष और सुधर्मा सभाको ले आना, युद्धमें शत्रुओंका संहार कर श्रीहरिका रुक्मिणीको हर लाना ॥३७॥ [उषाहरणके समय] युद्धमें महादेवजीका जमुहाई लेने लगना और भगवान्‌का बाणासुरकी भुजाओंको काट डालना, प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी भौमासुरको मारकर [सोलह सहस्र] कन्याओंको हर लाना ॥३८॥ शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व और दुर्बुद्धि दन्तवक्त्रका तथा और भी जो शम्बरासुर, द्विविद, पीठ, मुर और पञ्चजन आदि असुर थे उन सबका प्रभाव और वध, काशीको जलाना तथा पाण्डवोंको निमित्त बनाकर भूमिका भार उतारना [ये सब विषय दशम स्कन्धमें कहे गये हैं] ॥३९-४०॥

[फिर एकादश स्कन्धमें] विप्रशापके मिससे अपने कुलका संहार करना, भगवान् कृष्ण और उद्धवका अति अद्भुत संवाद ॥४१॥ जिसमें सम्पूर्ण आत्मविद्या और धर्मके निर्णयका निरूपण किया गया है और फिर अपने योगबलसे भगवान्‌का मर्त्यलोकको त्याग देना ॥४२॥ [तथा द्वादश स्कन्धमें] युगोंके लक्षण, उनके अनुसार वृत्ति, कलियुगमें मनुष्यकी विपरीत गति, चार प्रकारका प्रलय, [प्राकृतिकी, नैमित्तिकी और नित्या] तीन प्रकारकी उत्पत्ति ॥४३॥

१. प्रस्थितं । २. कर्म० ।

देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य[1] धीमतः ।
शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा ।
महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः ॥४४॥
इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठा यत्पृष्टोऽहमिहास्मि वः ।
लीलावतारकर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः ॥४५॥
पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये[2] नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥४६॥
सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥४७॥
मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥४८॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥४९॥
न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं
यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः ॥५०॥
स वाग्विसर्गो[3] जनताघसम्प्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥५१॥

परम बुद्धिमान् राजर्षि परीक्षित्का देहत्याग, व्यासजीका किया हुआ वैदिक शाखाओंका विस्तार, मार्कण्डेयजीकी सुन्दर कथा, परमपुरुष परमात्माके अङ्गोपाङ्गकी कल्पना तथा विश्वात्मा सूर्यनारायणके व्यूह [ये सब विषय कहे गये हैं] ॥४४॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! आप लोगोंने यहाँ मुझसे जो कुछ पूछा था वह सब मैंने सुना दिया । इसमें सब प्रकार भगवान्के लीलावतारोंमें किये हुए कर्मोंका ही कीर्तन किया गया है ॥४५॥

कोई भी मनुष्य, यदि गिरते, ठोकर खाते, दुःखसे पीडित होते अथवा छींकते हुए भी विवश होकर उच्चस्वरसे 'हरये नमः' ऐसा कहे तो वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥४६॥ जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको और प्रचण्ड पवन मेघमालाको छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार भगवान् अनन्तका कीर्तन तथा उनके प्रभावका श्रवण किये जानेपर वे उन लोगोंके हृदयमें प्रविष्ट होकर उनके सम्पूर्ण दुःख दूर कर देते हैं ॥४७॥ जिससे भगवान् अधोक्षजका कथन नहीं किया जाता वह वाणी वृथा है तथा वह कथा भी सर्वथा मिथ्या है । जिससे भगवान्के गुणोंका उदय होता है वही वाणी सत्य है और वही परम मङ्गलमयी एवं पवित्र है ॥४८॥ जिससे भगवान् उत्तमश्लोकका सुयश गान किया जाता है वही वचन सुन्दर, मनोहर, नित्यनूतन, मनको निरन्तर आनन्दित करनेवाला और मनुष्योंके शोकसमुद्रको सुखानेवाला होता है ॥४९॥ जिसमें संसारको पवित्र करनेवाला श्रीहरिका सुयश तनिक भी नहीं गाया गया वह वचन, कैसा ही विचित्र-पद-विभूषित क्यों न हो, केवल काकरूप नीच पुरुषोंसे सेवित तीर्थके समान है; हंसरूप ज्ञानी पुरुष उसका सेवन नहीं करते । निर्मलस्वभाव साधुजन तो वहीं रहते हैं जहाँ श्रीअच्युतका वर्णन होता है ॥५०॥ जिसके प्रत्येक श्लोकमें, भले ही उसकी रचना सुसम्बद्ध न हो, श्रीअनन्तके सुयशसे युक्त नाम रहते हैं, वह वाक्य-रचना लोगोंके पापपुञ्जको नष्ट करनेवाली होती है तथा साधुपुरुष उसीको सुनते, गाते और वर्णन करते हैं ॥५१॥

---

१. दत्तस्य । २. हरयेऽस्तु नमश्चोच्चै० । ३. विप्र० ।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम् ॥५२॥
यशःश्रियामेव परिश्रमः परो
वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-
र्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः ॥५३॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥५४॥
यूयं द्विजाग्र्या बत भूरिभागा
यच्छश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम् ।
नारायणं देवमदेवमीश-
मजस्रभावा भजताविवेश्य ॥५५॥
अहं च संस्मारित आत्मतत्त्वं
श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात् ।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः
सदस्यृषीणां महतां च शृण्वताम् ॥५६॥

जिसमें कर्मोंका सर्वथा अभाव है, ऐसा निर्दोष एवं पूर्ण आत्मज्ञान भी यदि भगवद्भक्तिसे शून्य हो तो शोभा नहीं पाता, फिर जिसका फल भगवान्‌को अर्पित नहीं किया गया वह कर्म तो चाहे कैसा भी उत्तम क्यों न हो—शोभा पा ही कैसे सकता है ? क्योंकि वह तो [साधन और फलकालमें] सर्वदा ही दुःखमय होता है ॥५२॥ वर्णाश्रमधर्मका आचरण, तप और शास्त्रश्रवणादिमें जो महान् परिश्रम किया जाता है उससे यश और श्रीकी ही प्राप्ति होती है; किन्तु भगवान् श्रीधरके चरणकमलोंकी निरन्तर स्मृति तो श्रीहरिके गुणानुवादके श्रवण आदि-से ही रह सकती है ॥५३॥ वह भगवान् कृष्णचन्द्रके चरणारविन्दकी सदा रहनेवाली स्मृति सम्पूर्ण अमङ्गलों-को नष्ट कर देती है, शान्तिका विस्तार करती है तथा चित्तशुद्धि, ईश्वरभक्ति और अनुभवज्ञान तथा वैराग्यके सहित तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करा देती है ॥५४॥ अहो विप्रवर ! आप बड़े भाग्यशाली हैं, जो अपने अन्तःकरणमें जिनका दूसरा कोई शासक देवता नहीं है उन सर्वनियन्ता, सर्वात्मा, श्रीनारायणको सर्वदा दृढ़तासे स्थापित कर भक्तिभावसे उनका निरन्तर भजन करते रहते हैं ॥५५॥ और मुझे भी उस आत्मतत्त्वका स्मरण करा दिया जो मैंने पूर्वकालमें प्रायोपवेश करते हुए राजा परीक्षित्‌की सभामें श्रवण करनेवाले महर्षियोंके सामने परमर्षि शुकदेवजीके मुखसे सुना था ॥५६॥

एतद्वः कथितं विप्राः कथनीयोरुकर्मणः ।
माहात्म्यं वासुदेवस्य सर्वाशुभविनाशनम् ॥५७॥
य एवं श्रावयेन्नित्यं यामं क्षणमनन्यधीः ।
श्रद्धावान्योऽनुशृणुयात्पुनात्यात्मानमेव सः ॥५८॥
द्वादश्यामेकादश्यां वा शृण्वन्नायुष्यवान्भवेत् ।
पठत्यनश्नन्प्रयतस्ततो भवत्यपातकी ॥५९॥
पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान् ।
उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात् ॥६०॥

हे विप्रगण ! जिनके महान् कर्म अत्यन्त कथनीय हैं, उन भगवान् वासुदेवका यह सम्पूर्ण अशुभोंको नष्ट करनेवाला माहात्म्य मैंने तुमसे कहा ॥५७॥ जो पुरुष इसे एक प्रहर अथवा एक क्षण भी इस प्रकार अनन्य चित्तसे सुनाता अथवा श्रद्धापूर्वक सुनता है वह अवश्य ही अपने चित्तको पवित्र कर लेता है ॥५८॥ इसका द्वादशी अथवा एकादशीके दिन श्रवण करनेसे पुरुष दीर्घायु हो जाता है और यदि संयमपूर्वक निराहार रहकर पाठ करे तो पापरहित हो जाता है ॥५९॥ इस संहिताका पुष्कर, मथुरा अथवा द्वारकापुरीमें जितेन्द्रिय होकर उपवासपूर्वक पाठ करनेसे मनुष्य सब प्रकारके भयसे छूट जाता है ॥ ६० ॥

१. मनन्यमी० । २. तां सर्वो ।

देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः ।
यच्छन्ति कामान्गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्तनात्॥६१॥
ऋचो यजूंषि सामानि द्विजोऽधीत्यानुविन्दते।
मधुकुल्या घृतकुल्याः पयःकुल्याश्च तत्फलम् ॥६२॥
पुराणसंहितामेतामधीत्य प्रयतो द्विजः ।
प्रोक्तं भगवता यत्तु तत्पदं परमं व्रजेत् ॥६३॥
विप्रोऽधीत्याप्नुयात्प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम् ।
वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात् ॥६४॥

कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो
हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम् ।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्तिः
परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गैः ॥६५॥
तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं
जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिम् ।
द्युपतिभिरजशक्रशङ्कराद्यै-
र्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि ॥६६॥
उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्म-
न्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय[1] ।
भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने
सुरऋषभाय नमः सनातनाय ॥६७॥
स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥६८॥

इसका कीर्तन करनेपर देवता, मुनि, सिद्ध, पितर, मनुष्य और राजालोग इस ग्रन्थका कथन या श्रवण करनेवाले पुरुषको उसके सम्पूर्ण इच्छित पदार्थ दे देते हैं ॥ ६१ ॥ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके पढ़नेपर द्विजको जो क्रमशः मधुकुल्या (मधुकी नदी), घृतकुल्या और पयःकुल्याकी प्राप्ति होती है वह सब फल इसके अध्ययनसे भी मिल जाता है ॥ ६२ ॥ हे द्विजगण ! इस पुराणसंहिताको एकाग्रचित्तसे पढ़नेपर पुरुष उस परम पदको प्राप्त होता है जिसका साक्षात् भगवान्ने वर्णन किया है ॥६३॥ इसका अध्ययन करनेसे ब्राह्मणको बुद्धिकी, क्षत्रियोंको समुद्रपर्यन्त भूमण्डलकी और वैश्यको कोषाधिपत्यकी प्राप्ति होती है तथा शूद्र सब प्रकारके पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ६४ ॥

अन्य ग्रन्थोंमें कलिकलुषसमूहका नाश करनेवाले श्रीहरिका बारम्बार गान नहीं किया गया है, किन्तु इस भागवतपुराणमें तो पद-पदपर कथाओंके प्रसङ्गसे भगवान् विश्वमूर्तिका ही वर्णन किया गया है ॥६५॥ जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले रजोगुणादि जिनकी शक्तियाँ हैं, ब्रह्मा, इन्द्र और महादेव आदि देव-लोकाधिपति भी जिनके माहात्म्यको पूर्णतया नहीं जानते उन अजन्मा और अनन्त आत्मतत्त्वरूप श्रीअच्युतको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६६ ॥ जिन्होंने अपनेहीमें बढ़ी हुई प्रकृति आदि नौ शक्तियोंसे स्थावर-जङ्गमके आश्रयभूत इस जगत्की रचना की है उन एकमात्र ज्ञानस्वरूप देवश्रेष्ठ सनातन पुरुषको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६७ ॥

जिन्होंने चित्तके आत्मानन्दमें डूब जानेसे भेद-भावको सर्वथा त्याग दिया था, तो भी भगवान्की ललाम लीलाओंसे जिनकी आत्मानन्दजनित स्थिरता आकर्षित हो गयी और लोगोंपर अनुग्रह करके जिन्होंने [अपने उपदेशद्वारा] इस परमार्थप्रकाशक भागवत-पुराणका प्रसार किया उन सर्वपापापहारी व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धार्थनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

१. न्युपनमितस्थिर० ।

तेरहवाँ अध्याय

भिन्न-भिन्न पुराणोंकी श्लोक-संख्या और श्रीमद्भागवतका महत्त्व।

सूत उवाच

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥१॥
पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद्वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥२॥
पुराणसंख्यासम्भूतिमस्य वाच्यप्रयोजने।
दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेश्च निबोधत॥३॥
ब्राह्मं दशसहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च।
श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम्॥४॥
दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः।
मार्कण्डं नव वाह्नं च दशपञ्च चतुःशतम्॥५॥
चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च।
दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लिङ्गमेकादशैव तु॥६॥
चतुर्विंशति वाराहमेकाशीतिसहस्रकम्।
स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दश कीर्तितम्॥७॥
कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्दश।
एकोनविंशत्सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु॥८॥
एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः।
तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते॥९॥

सूतजी बोले—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण जिसकी दिव्य स्तोत्रोंसे स्तुति करते हैं तथा सामगान करनेवाले ऋषि अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदोंसे जिसका गान करते हैं; योगिजन ध्यान-द्वारा स्थिर करके उसीमें लगाये हुए चित्तसे जिसका साक्षात्कार करते हैं; तथा देवता और असुरगण भी जिसका अन्त नहीं जानते उस देवको नमस्कार है॥१॥ पीठपर घूमते हुए अमन्द (भारी) मन्दराचलकी शिलाओंकी नोकोंसे खुजलाये जानेके कारण जो कुछ निद्रित-से हो गये हैं उन कूर्मरूपधारी भगवान्‌के श्वास-वायु तुम्हारी रक्षा करें, जिनके संस्कारलेशका अनुवर्तन करनेसे जलकी तरङ्गों (ज्वार-भाँटों) के रूपमें समुद्रका चढ़ना और उतरना आजतक बन्द नहीं हुआ है॥२॥

हे शौनकजी! अब पुराणोंकी संख्या और उनकी सम्भूति (समाहार), श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय, प्रयोजन, दान तथा दान और पाठादिका माहात्म्य सुनो॥३॥ ब्रह्मपुराण दश सहस्र श्लोक है तथा पद्मपुराण पचपन हजार, श्रीविष्णुपुराण तेईस हजार और शैवपुराण चौबीस हजार श्लोक है॥४॥ श्रीमद्भागवत अठारह हजार, नारदपुराण पचीस हजार, मार्कण्डेयपुराण नौ हजार, अग्निपुराण पन्द्रह हजार चार सौ,॥५॥ भविष्यपुराण चौदह हजार पाँच सौ, ब्रह्मवैवर्त अठारह हजार, लिङ्गपुराण ग्यारह हजार॥६॥ वाराहपुराण चौबीस हजार, स्कन्दपुराण इक्यासी हजार एक सौ तथा वामनपुराण दश हजार श्लोकका कहा है॥७॥ कूर्मपुराण सत्रह सहस्र श्लोकका कहा जाता है तथा मत्स्यपुराण चौदह हजार, गरुडपुराण उन्नीस हजार और ब्रह्माण्डपुराण बारह हजार श्लोकका है॥८॥ इस प्रकार सम्पूर्ण पुराणसमूह चार लाख श्लोकका है, उनमेंसे श्रीमद्भागवतपुराण अठारह हजार श्लोकका माना जाता है॥९॥

१. प्राचीन प्रतिमें 'यं ब्रह्मा'''''''''विश्राम्यति' ये श्लोक (नं० १ और २) यहाँ नहीं पढ़े गये हैं। वर्तमान प्रतिमें जो उन्नीसवाँ श्लोक है उसके बाद (अर्थात् '''''''''धीमहि' ॥१९॥ के आगे) उक्त दोनों श्लोकोंका उल्लेख है।

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे ।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात्सम्प्रकाशितम् ॥१०॥
आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम् ।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ॥११॥
सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥१२॥
प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम् ।
ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम् ॥१३॥
राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे ।
यावन्न दृश्यते साक्षाच्छ्रीमद्भागवतं परम् ॥१४॥
सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥१५॥
निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥१६॥
क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा ।
तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः ॥१७॥
श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन्पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन्विपठन्विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः १८
कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा ।

यह भागवतपुराण सबसे पहले भगवान् विष्णुने अपने नाभिकमलपर बैठे हुए संसारभयसे भीत ब्रह्माजीसे अति करुणापूर्वक कहा था ॥ १० ॥ यह आदि, अन्त और मध्यमें वैराग्यपूर्ण कथाओंसे युक्त तथा श्रीहरिकी लीला और कथामृतसमूहसे साधु एवं सुरसमुदायको आनन्दित करनेवाला है ॥ ११ ॥ सम्पूर्ण वेदान्तोंकी सारभूत जो ब्रह्म और आत्माकी एकतारूप अद्वितीय वस्तु (परब्रह्म) है वही इसका विषय है तथा उसके आश्रयसे प्राप्त होनेवाला कैवल्य मोक्ष इसका प्रयोजन है ॥ १२ ॥

जो पुरुष भाद्रपदमासकी पूर्णिमाको श्रीमद्भागवतको सुवर्णसिंहासनपर रखकर उसका दान करता है वह परमगति प्राप्त करता है ॥ १३ ॥ जबतक अमृतसागर श्रीमद्भागवतका श्रवण नहीं किया जाता तभीतक सत्पुरुषोंकी सभामें अन्य पुराण शोभा पाते हैं ॥१४॥ श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण वेदान्तों (उपनिषदों) का सार माना जाता है; जो पुरुष उसके रसामृतसे छका हुआ है उसकी कहीं अन्यत्र प्रीति नहीं हो सकती ॥ १५ ॥ जिस प्रकार नदियोंमें गङ्गा, देवताओंमें विष्णु और वैष्णवोंमें भगवान् शङ्कर सर्वश्रेष्ठ हैं उसी प्रकार पुराणोंमें यह सर्वोत्तम है ॥१६॥ हे द्विजगण ! जैसे सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें काशी अत्युत्तम है उसी प्रकार पुराणोंमें श्रीमद्भागवतका आसन सबसे ऊँचा है ॥१७॥ श्रीमद्भागवतपुराण अत्यन्त निर्मल है, वह वैष्णवोंको अत्यन्त प्रिय है, इसमें परमहंसोंको प्राप्त होनेयोग्य अति विशुद्ध परम ज्ञानका वर्णन किया गया है तथा ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके सहित नैष्कर्म्य (कर्मत्याग) का निरूपण किया है । इसका भक्तिभावसे श्रवण, पाठ और मनन करनेवाला पुरुष मोक्षपद प्राप्त कर लेता है ॥१८॥

जिसने सबसे पहले इस अतुलित ज्ञानप्रदीपको ब्रह्माजीके प्रति प्रकट किया, फिर ब्रह्मारूपसे नारदजीको और नारदरूपसे मुनिवर व्यासजीको उपदेश

योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥१९॥
नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे ।
य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे ॥२०॥
योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे ।
संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत् ॥२१॥
भवे[1] भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते ।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ॥२२॥
नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥२३॥

किया तथा व्यासरूपसे योगिराज शुकदेवजीको और शुकदेवरूपसे अति करुणावश राजा परीक्षित्को सुनाया उस शुद्ध, निर्मल, शोकरहित एवं अमृत परम सत्यका हम ध्यान करते हैं ॥ १९ ॥ जिन्होंने अत्यन्त कृपा करके मोक्षकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्माजीको यह ग्रन्थ सुनाया था उन सर्वसाक्षी भगवान् वासुदेवको नमस्कार है ॥ २० ॥ जिन्होंने संसारसर्पसे डसे हुए राजा परीक्षित्को उससे छुड़ाया उन ब्रह्मस्वरूप योगिराज शुकदेवजीको नमस्कार है ॥२१॥ हे देवेश्वर ! हे प्रभो ! आप हमारे स्वामी हैं; अतः ऐसा कीजिये जिससे जन्म-जन्ममें आपके चरणकमलोंमें हमारी भक्ति बनी रहे ॥२२॥ जिनका नामसङ्कीर्तन सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला है और जिन्हें किया हुआ प्रणाम सम्पूर्ण दुःखोंको शान्त कर देता है, उन परमात्मा श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां
पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

समाप्तोऽयं द्वादशः स्कन्धः
सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
तेन त्वदङ्घ्रिकमले रतिं मे यच्छ शाश्वतीम् ॥

[1] प्राचीन प्रतिमें 'भवे भवे'········'हरिं परम् ॥' ये दो (बाईसवाँ और तेईसवाँ) श्लोक नहीं हैं ।

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

संस्कृतकी कुछ सानुवाद पुस्तकें

ईशावास्योपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५०, मूल्य .... ≡)
केनोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य .... ||)
कठोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य .... ||-)
मुण्डकोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य .... |≡)
प्रश्नोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य .... |≡)
उपर्युक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें [उपनिषद्भाष्य खण्ड १] हिन्दी-अनुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, मूल्य .... २|-)
माण्डूक्योपनिषद्–श्रीगौडपादीय कारिकासहित, सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, मू० १)
ऐतरेयोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १०४, मूल्य .... |=)
तैत्तिरीयोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य .... |||-)
उपर्युक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें, [उपनिषद्भाष्य खण्ड २] हिन्दी-अनुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, मूल्य .... २|=)
छान्दोग्योपनिषद्–सा० शाङ्करभाष्यसहित, पृष्ठ ९८४, स० [उपनिषद्भाष्य खण्ड३] ३|||)
श्वेताश्वतरोपनिषद्–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, पृष्ठ २५६, मूल्य .... |||=)
श्रीविष्णुपुराण–सानुवाद, पृष्ठ ५५०, चित्र ८, मूल्य २||) बढ़िया जिल्द .... २|||)
भागवतस्तुतिसंग्रह–अनुवाद, कथाप्रसङ्ग और शब्दकोषसहित, चित्र ११ रंगीन, ३ सादे; पृष्ठ ६६६, सजिल्द .... २|)
अध्यात्मरामायण–सानुवाद, बड़ा आकार, पृष्ठ ४०२, चित्र ८, मूल्य १|||), स० २)
मुमुक्षुसर्वस्वसार–भाषासहित, पृष्ठ ४१४, मूल्य |||-) सजिल्द .... १-)
श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्ध—सानुवाद, सचित्र, पृ० ४२०, मूल्य |||) सजिल्द १)
श्रीभगवन्नामकौमुदी–हिन्दी-अनुवादसहित, पृष्ठ ३३६, बहुरंगे ६ चित्र, मूल्य .... ||=)
विष्णुसहस्रनाम–सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २७५, मूल्य .... ||=)
सूक्तिसुधाकर–सुन्दर श्लोकसंग्रह, सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २७६, मूल्य .... ||=)
श्रुतिरत्नावली–चुनी हुई श्रुतियाँ, सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य .... ||)
स्तोत्ररत्नावली–चुने हुए स्तोत्र, हिन्दी-अनुवादसहित, ४ चित्र, पृष्ठ २३०, मूल्य ||)
विवेकचूडामणि–सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८५, मूल्य |-) सजिल्द .... ||)
प्रेमदर्शन–नारद-भक्ति-सूत्रकी प्रेममयी विस्तृत टीका, ३ रंगीन चित्र, पृष्ठ २०८, मूल्य |-)
गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला–सानुवाद, कर्मकाण्डकी पुस्तक, पृष्ठ २८२, मूल्य .... |-)
प्रबोधसुधाकर–सानुवाद, दो चित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य .... ≡)||
अपरोक्षानुभूति–स्वामी शङ्कराचार्यकृत, सानुवाद, पृष्ठ ४८, सचित्र, मूल्य .... =)||
शतश्लोकी–स्वामी शङ्कराचार्यकृत, सानुवाद, पृष्ठ ६४, मूल्य .... =)
मनुस्मृति–दूसरा अध्याय सार्थ, पृष्ठ ५६, मूल्य .... -)||
मूलरामायण–सानुवाद, एक बहुरंगा चित्र, पृष्ठ २४, मूल्य .... -)|
गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र–सानुवाद, एक बहुरंगा चित्र, पृष्ठ ३२, मूल्य .... -)
रामगीता–(अध्यात्मरामायणान्तर्गत) टीकासहित पृष्ठ ४६, मूल्य ....)|||
प्रश्नोत्तरी–स्वामी शङ्कराचार्यकृत, सटीक, पृष्ठ २६, मूल्य ....)||
नारद-भक्ति-सूत्र–संक्षिप्त सरल अर्थ, पृष्ठ २४, मूल्य ....)|
सप्तश्लोकी गीता–अर्थसहित, पृष्ठ ६, मूल्य .... आधा पैसा

मिलनेका पता—

गीताप्रेस, गोरखपुर ।